श्रमण भगवान् महावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में

प्रश्नव्याकरण सूत्र

(आश्रव और संवर का गंभीर विवेचन)

[मूल, संस्कृतच्छाया, पदार्थ, मूलार्थ, विस्तृत व्याख्या]

व्याख्याकार :

संस्कृत-प्राकृतविशारद पं० श्री हेमचन्द्र जी महाराज

सम्पादक :

प्रवचनभूषण पं० श्री अमर मुनि जी महाराज

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

पुस्तक :

प्रश्नव्याकरण सूत्र



प्रकाशन :

वीर निर्वाण दिवस (२४६६)

विक्रम सं० २०३० दीपावली

नवंबर : १६७३



टीकाकार :

पं० श्री हेमचन्द्र जी महाराज



संपादक :

प्रवचनभूषण श्री अमर मुनिजी



प्रकाशक :

सन्मति ज्ञान पीठ, लोहामंडी, आगरा–२



मुद्रक :

रामनारायण मेड़तवाल,

श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस

राजा की मंडी, आगरा–२



मूल्य :

बीस रुपये मात्र



प्रकाशकीय

श्वेताम्बर-स्थानकवासी जैन परम्परा में महामहिम स्व. आचार्यदेव श्री आत्माराम जी महाराज, आगम साहित्य के ख्यातिप्राप्त महान् अभ्यासी थे। आपने अनेक आगमों पर विवेचनाप्रधान विस्तृत टीकाएं लिखी हैं। आगमों पर राष्ट्रभाषा हिन्दी में टीकाएं लिखने में ही उन्होंने अपने बौद्धिक जीवन का अधिकांश समय व्यतीत किया था। उनकी आगमसेवाएँ जैन इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगी।

आचार्य श्री के महान् शिष्य पं० श्री हेमचन्द्र जी महाराज भी जैन जगत् के एक विशिष्ट प्रतिभाशाली मनीषी हैं। संस्कृत, तथा आगमशास्त्र के आप भी गंभीर विद्वान् हैं। आपके द्वारा भी समाज की साहित्यिक सेवा कुछ कम नहीं हुई है। प्रश्नव्याकरण सूत्र का प्रस्तुत आदर्श संस्करण भी आप की ही विलक्षण बौद्धिक शक्ति का चमत्कार है। इतनी विस्तृत व्याख्या के साथ प्रश्नव्याकरण का यह श्रेष्ठ रूप, हमारी जानकारी में, पहली बार ही जनता के समक्ष आ रहा है।

श्रद्धेय पं० श्री पद्मचन्द्रजी (भण्डारी जी महाराज) के सत्प्रयत्न, उत्साह एवं प्रेरणा से उनके महनीय गुरुदेव की यह कृति प्रकाश में आ सकी है। वस्तुतः उक्त प्रकाशन के द्वारा एक सुयोग्य शिष्य ने अपने श्रद्धेय महान् गुरु का अमुक अंश में गुरुऋण अदा किया है। भण्डारी महाराज ने यत्र तत्र जैन धर्म के गौरव का उल्लेखनीय प्रचार एव प्रसार किया है। यह साहित्यसेवा भी उनकी उसी स्वर्णिम कर्मभृंखला की एक दिव्य प्रभास्वर कड़ी है। आपश्री के सुयोग्य शिष्य मधुर प्रवक्ता प्रवचनभूषण श्री अमर मुनि जी तो हमारी समाज के एक महान् गौरव-रत्न हैं। उन्होंने सम्पादन आदि का महान् दायित्व बड़ी शान के साथ निभाया है। अपने दादा गुरुजी के प्रति उनकी यह सेवा वस्तुतः महनीय एवं अभिनन्दनीय है।

सन्मति ज्ञानपीठ के ऊपर श्रद्धेय मुनिद्वय की कृपा प्रारम्भ से ही रहती आई है। इस बार भी यह सेवा हमें समर्पित कर ज्ञानपीठ को उपकृत किया है। भविष्य में भी अन्य कोई सेवा आपसे प्राप्त कर हमें प्रसन्नता होगी।

तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दी के आयोजन चल रहे हैं। अनेक साहित्यिक प्रकाशन हुए हैं, और हो रहे हैं। यह विराट प्रकाशन भी उसी शृंखला की एक अमूल्य भेंट है। गतवर्ष साध्वीरत्न दर्शनाचार्य श्री चंदना जी द्वारा संपादित उत्तराध्ययन सूत्र का ज्ञानपीठ से प्रकाशन हुआ था, जिसका प्रबुद्ध विचारकों एवं पाठकों ने हार्दिक स्वागत किया है। आशा है, यह प्रकाशन भी तद-नुसार ही विद्वज्जगत में समादृत होगा।

प्रकाशन बहुत शीघ्रता में हुआ है। विद्युत्संकट से मुद्रण आदि की व्यवस्था में भी काफी अवरोध हुआ है। अतः अपेक्षित सौन्दर्य हम नहीं साध पाये। फिर भी जो है, वह सुन्दर है। एतदर्थ हम श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस के स्वामी श्री रामनारायन मेड़तवाल के आभारी हैं।

—सोनाराम जैन
मंत्री: सन्मति ज्ञानपीठ

सम्पादकीय

जैन वाङ्मय में आगमसाहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसमें भी अंग-साहित्य का महत्त्व तो और भी अधिक है। अंग का अर्थ ही है वह मूल केन्द्र, जिसमें से उपांग आदि अन्य आगम साहित्य विकसित एवं पल्लवित हुआ है।

प्रश्न व्याकरणसूत्र अंगसूत्रों में दसवा महत्त्वपूर्ण अंग शास्त्र है। इसमें हिंसा आदि पांच आश्रवों तथा अहिंसा आदि पाँच संवरों का इतना स्फुट एवं विशद वर्णन है, जिसमें साधक जीवन के मूलभूत प्रश्नों की सरलतम एवं सुन्दरतम व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रमुख विद्वानों से लेकर साधारण जिज्ञासु तक भी प्रश्नव्याकरण के अध्ययन से अपने जीवन का यथार्थ लक्ष्यबोध प्राप्त कर सकते हैं।

मेरे परमश्रद्धेय परमगुरु (बाबागुरु) पं० श्री हेमचन्द्रजी महाराज एक महान् मनीषी विद्वान् सन्त हैं। अपने परमाराध्य गुरुदेव, जैन धर्म दिवाकर, जैनागम रत्नाकर श्रद्धेय पूज्यपाद आचार्यदेव स्व. श्री आत्मारामजी म. के सांनिध्य में आपने आगम-साहित्य का गंभीर अध्ययन किया है, साथ ही गुरुदेव के साहित्यनिर्माण कार्य में भी उल्लेखनीय योगदान दिया है। आपका संस्कृत प्राकृत साहित्य का पाण्डित्य अद्भुत है। आपने बहुत समय पहले प्रश्न व्याकरण सूत्र पर, स्व. आचार्य देव की शैली में ही 'सुबोधिनी' नामक एक बहुत सुन्दर एवं विस्तृत व्याख्या लिखी थी। मेरे श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव (श्री पद्मचन्द्र जी भण्डारी) की इच्छा थी कि वह महत्त्वपूर्ण कृति आधुनिक पद्धति से पुनः परिष्कृत होकर जिज्ञासु जनता के समक्ष आए, ताकि सर्व-साधारण जिज्ञासुजन उससे यथोचित लाभ उठा सकें।

गुरुदेव की प्रेरणा से मैंने यत्किंचित् सेवा करने का उपक्रम किया है। मैं क्या हूँ, कुछ भी नही हूं। फिर भी गुरुदेव के आशीर्वाद से कुछ कर पाया हूँ, इसी में मेरे मन को सन्तोष है। प्रस्तुत उपक्रम में मेरा अपना क्या है? जो कुछ है, वह सब श्रद्धेय पूज्य प्रगुरु जी का ही है। श्री कृष्ण ने गिरिराज गोवर्धन उठाया, साथी ग्वाल बालों ने भी अपनी-अपनी लाठियां, अंगुलियां छुआ दी। बस, ऐसा ही और इतना ही मेरा भी कुछ है, जिसे मैं अपना कह सकता हूँ।

श्रद्धेय राष्ट्रसन्त, उपाध्याय, कविरत्न श्री अमरमुनि जी महाराज की सेवा में मेरे गुरुदेव ने प्रकाशन आदि के सबन्ध में अपनी मंगल भावना प्रगट की, तो अस्वस्थ होते हुए भी उन्होंने अपनी स्वीकृति दी। गुरुदेव के साथ उपाध्याय श्री जी का सहज स्नेह है, वह सर्वविदित है। प्रारम्भ से ही गुरुदेव का उपाध्याय श्री जी के प्रति सुमधुर, सहज श्रद्धाभाव रहा है। इस स्थिति में गुरुदेव को इन्कार कैसे मिल सकता था। अस्तु सन्मति ज्ञानपीठसे प्रकाशन शुरू हुआ। इस महनीयकृति को सर्वाङ्ग-सुन्दर एवं सर्वजनोपयोगी रूप देने मे उपाध्याय श्री जी का जो महत्त्वपूर्ण योगदान है, वह हम सभी को सदा स्मरणीय रहेगा। उपाध्याय श्री जी अस्वस्थ रहे हैं, अतः पं० मुनि श्री नेमिचन्द्र जी का जो बहुमूल्य आदर्श सहयोग मिला है, वह भी सादर समुल्लेखनीय है। श्रद्धेय मुनिद्वय का यदि समय पर सहयोग प्राप्त न होता, तो जो कुछ विशिष्टता पाठक देख रहे है, वह नही प्राप्त हो सकती थी। मैं एतदर्थं मुनिद्वय के प्रति शिरसा मनसा प्रणत हूं, साथ ही कृतज्ञ भी। आशा रखता हूँ, भविष्य में भी मेरी संभावित प्रवृत्तियों में आप श्री का यथावसर उचित सहयोग एवं सहकार मुझे मिलता रहेगा।

मैं सन्मति ज्ञानपीठ के संचालकों और व्यवस्थापकों को धन्यवाद दिए बिना कैसे रह सकता हूँ, जिन्होंने इस विशाल शास्त्र को इतना शीघ्र, साथ ही इतने उत्तम एवं मनोहर रूप मे प्रकाशित कर जिज्ञासु पाठकों तक पहुँचाने का युगानुरूप प्रयत्न किया है। साथ ही अन्य सहयोगियों की सेवाएँ भी मेरे स्मृतिकक्ष में चिरस्मरणीय रहेंगी।

प्रस्तुत संस्करण का मूल्यांकन तो प्रबुद्ध पाठक ही करेंगे। उन्हें यह सब अधिकांश मे पसन्द ही आएगा। संभव है, कुछ नापन्द जैसा भी हो, तो वह सब मेरा है, मुझे सहर्ष लौटा दें। मैं क्या हूँ, क्या जानता हूं। मैं तो इस पथ का एक बालयात्री हूँ। आज का ही नही, युगानुयुग का एक सत्य है, 'सर्वः सर्वं न जानाति'— मैं इसे सादर स्वीकार करता हूँ।

—अमर मुनि

प्र स्ता व ना

उपाध्याय अमर मुनि

प्राचीन भारतीय तत्त्वचिन्तन दो धाराओं मे प्रवाहित हुआ है—'श्रुति' और 'श्रुत'। श्रुति, वेदों की वह पुरातन सज्ञा है, जो ब्राह्मण संस्कृति से सम्बन्धित प्राचीन वैदिक विचारधारा और उत्तरकालीन शैव, वैष्णव आदि धर्म परम्पराओं का मूलाधार है। और श्रुत, श्रमण संस्कृति की प्रमुख धारा के रूप में मान्य जैन विचार-परम्परा का मूल स्रोत है। श्रुति और श्रुत में शब्दतः एवं अर्थतः इतना अधिक साम्य है कि जिस पर से सामान्यतः सहृदय पाठक को भारतीय चिन्तन पद्धति का, मूल मे कहीं कोई एक ही उद्गम, प्रतिभासित होने लगता है।

श्रुति और श्रुत दोनों का ही 'श्रवण' से सम्बन्ध है। जो सुनने में आता है, वह श्रुत है,[1] और वही भाववाचक मात्र श्रवण श्रुति है। अभिधा के परिप्रेक्ष में सीधा और स्पष्ट अर्थ है इनका—'शब्द।'[2] किन्तु श्रुत और श्रुति का इतना ही अर्थ अभीष्ट नहीं है। लक्षणा के प्रकाश में इनका अर्थ है, वह 'शब्द', जो यथार्थ हो, प्रमाण हो और हो जनमंगलकारी। प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान प्रमाणों के अनन्तर जो आगमरूप शब्द प्रमाण आता है,[3] वही यह श्रुत और श्रुति है। श्रमण और ब्राह्मण दोनों ही परम्पराओं के मान्य आचार्यों ने यथार्थ ज्ञाता, वीतराग आप्त पुरुषों के विश्वजनीन, मंगलमय, यथार्थ तत्त्व वचनों को ही 'शब्दप्रमाण' की कोटि में

१—श्रुत शब्द : कर्मसाधनश्च १।६।२ श्रूयते स्मेति श्रुतम्।

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक

२ श्रूयते आत्मना तदिति श्रुतं शब्दः।

—विशेषावश्यक भाष्य-मलधारीया वृत्ति

३ - (क) पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवमे, आगमे।

—भगवती शतक ५ उद्देश ४

(ख) प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा : प्रमाणानि।

—न्यायदर्शन १।१।३

माना है।[४] अतः अपनी-अपनी परम्परागत मान्यता एवं धारणा के अनुसार शब्द-प्रमाणस्वरूप श्रुत और श्रुति दोनो ही प्रकार के मौलिक साहित्य में आप्त पुरुषों के विशिष्ट वचनों का संकलन ही अभीष्ट है, साधारण रथ्यापुरुषों के वचनों का नही, जो हर किसी गली कूचे के रागद्वेषाभिभूत लोगों के कहे हुए हों। अपनी अपनी परम्परा के सभी महापुरुषों को आप्त कहा जाता है। पर, यह बात दूसरी है कि सत्य की कसौटी पर परखते समय किस के वचन खरे उतरते हैं, और किसके नही।

जैनदर्शन शब्द प्रमाण के रूप में श्रुत का अर्थ 'आप्तपुरुषों के वचन' तक ही सीमित नही रखता है। वह श्रुत से श्रुतज्ञान तक पहुंचा है। शब्दरूप श्रुत को वह केवल उपचार से प्रमाण मानता है, निश्चय में नहीं। शब्द जड है, अतः वह कैसे प्रमाणकोटि मे आ सकता है। यदि जड़ पदार्थ प्रमाण हो सकते हैं तो फिर घट पटादि सभी जड़ पदार्थ प्रमाण कोटि में आ जाएँगे। आचार्य वादिदेव ने अपने प्रमाण-नयतत्त्वालोक (४। १-२) में इसी दृष्टि से कहा है कि आप्तवचनों से आविर्भूत होने वाला अर्थसंवेदन ही वस्तुतः आगम अर्थात् शास्त्र है। आप्तवचनों को जो शब्द-प्रमाणरूप आगम कहा जाता है, वह मात्र उपचारकथन है। 'आप्तवचनादाविर्भूत-मर्थसंवेदनमागमः।' 'उपचारादाप्तवचनं च।'

इसी संन्दर्भ में तत्त्वार्थ भाष्य के सुप्रसिद्ध टीकाकार श्रीसिद्धसेन गणीने अपनी टीका (१-२०) मे कहा है कि इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला ग्रन्थानुसारी विज्ञान श्रुत है। श्रुतं....इन्द्रियमनोनिमित्तं ग्रन्थानुसारि विज्ञानं यत्....।'

४—(क) आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम्॥

—न्यायावतारसूत्र ६

(ख) श्रुतशब्दो जहत्स्वार्थवृत्ती रूढिवशात् कुशलशब्दवत्।

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक १।२०।१

(ग) आप्तोपदेशः शब्दः।

—न्यायदर्शन १।१।७

(घ) आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा।

—न्यायदर्शन-वात्स्यायन भाष्य १।१।७

(ङ) आप्तो रागादिवियुतः, तस्य वचनमिति।

—तत्त्वार्थ भाष्य-सिद्धसेनीया वृत्ति १—२०

(च) अभिधेयं वस्तु यथाऽवस्थितं यो जानीते यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्तः।

—प्रमाण नयतत्त्वालोक ४-४

जैन श्रुत साहित्य

जैन परम्परा का श्रुत साहित्य प्राचीनकाल में अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य- इस प्रकार दो रूपों में विस्तृत हुआ है।[५] अंग प्रविष्ट श्रुत वह है, जो अर्थतः परमर्षि तीर्थकर देवों द्वारा कहा गया है और तदनन्तर तीर्थकरों के साक्षात् शिष्य श्रुत केवली गणधरों द्वारा सूत्र रूप में रचा गया है।[६]

अंगबाह्य श्रुत वह है, जो गणधरों के बाद विशुद्धागम विशिष्टबुद्धिशक्ति-सम्पन्न आचार्यों के द्वारा काल एवं संहनन आदि दोषों के कारण अल्पबुद्धि शिष्यों के अनुग्रह के लिए रचा गया है।[७]

अंग प्रविष्ट श्रुत, जिसे गणनायक आचार्यों का सर्वस्व होने के कारण 'गणि-पिटक'[८] भी कहा जाता है, बारह प्रकार का है :[९]

(१) आयार (आचार)
(२) सूयगड (सूत्रकृत)
(३) ठाण (स्थान)

५—तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-अंगपविट्ठं अंगबाहिरं च।

—नन्दी सूत्र, श्रुतज्ञानप्रकरण

६—(क) यद् भगवद्भिः सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः परमर्षिभिरर्हद्भिस्तत्स्वाभाव्यात्परम-शुभस्य च प्रवचनप्रतिष्ठापनफलस्य तीर्थकरनामकर्मणोऽनुभावादुक्तं भग-वच्छिष्यैरतिशयवद्भिरुत्तमातिशयवाग्बुद्धिसंपन्नैर्गणधरैर्दृब्धं तदङ्गप्रविष्टम्।

—तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य १।२०

७—गणधरानन्तर्यादिभिस्त्वत्यन्तविशुद्धागमैः परमप्रकृष्टवाङ्मतिशक्तिभिराचार्यैः कालसंहननायुर्दोषादल्पशक्तीनां शिष्याणामनुग्रहाय यत्प्रोक्तं तदङ्गबाह्यम्।

— तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य १-२०

८—(क) दुवालसंगं गणिपिडगं।

—अनुयोग द्वार, प्रमाण प्रकरण

(ख) गणी आचार्यस्तस्य पिटकं—सर्वस्वं गणिपिटकम्।

—मलधारगच्छीय हेमचन्द्रसूरि, अनुयोगद्वारटीका

९—अंगपविट्ठं दुवालसविहं पण्णत्तं, तं जहा—आयारो १, सूयगडो २, ठाणं ३, समवाओ ४, विवाहपण्णत्ती ५, नायाधम्मकहाओ ६, उवासगदसाओ ७, अंतग-डदसाओ ८, अणुत्तरोववाइयदसाओ ९, पण्हावागरणाइं १०, विवागसुयं ११, दिट्ठिवाओ १२

—नन्दी सूत्र, श्रुतज्ञान प्रकरण

(४) समवाय (समवाय)
(५) वियाहपन्नत्ति (व्याख्या प्रज्ञप्ति) व्याख्या प्रज्ञप्ति के लिए अपर-
 नाम 'भगवती' भी प्रचलित है।
(६) नाया धम्मकहा (ज्ञाता (त) धर्मकथा)
(७) उवासगदसा (उपासक दशा)
(८) अंतगडदशा (अन्तकृद् (त) दशा)
(९) अनुत्तरोववाइयदसा (अनुत्तरोपपातिकदशा)
(१०) पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरणानि)
(११) विवागसुय (विपाक सूत्र)
(१२) दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद या दृष्टिपात)

दृष्टिवाद के लिए तत्त्वार्थभाष्य में 'दृष्टिपात' शब्द का प्रयोग किया गया है।[१०] प्राकृत 'दिट्ठिवाओ' के दृष्टिवाद तथा दृष्टिपात—दोनों ही संस्कृत रूप हो सकते हैं। दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका रूप पांच प्रकारों में से पूर्वगत प्रकार में उत्पाद आदि चौदह पूर्व सम्मिलत हैं। दृष्टिवाद अंग (पूर्वगत) भगवान् महावीर से १००० वर्ष बाद विच्छिन्न हो गया।[११]

प्रथमतः आवश्यक तथा आवश्यक व्यतिरिक्त के रूप में अंगबाह्य श्रुत विभक्त है[१२] और आवश्यकव्यतिरिक्त औपपातिक, राजप्रश्नीय, प्रज्ञापना आदि तथा निशीथ व्यवहार, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि तथा अन्य अनेक प्रकीर्णक सूत्रों के रूप में वर्णित है।[१३]

अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य रूप सभी आगमों के प्राचीन रूपों में काल वैषम्य के कारण काफी परिवर्तन हुआ है। कुछ घटा भी है, कुछ बढ़ा भी है। स्थानांग, समवायांग और नन्दी सूत्र आदि में आगमों के अध्ययन एवं विषय आदि का जो निरू-

---

१० दृष्टिपातः।

—तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य १।२०

११—(क) एगं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसिज्जिस्सइ। —भगवती २०।८

(ख) वोलीणम्मि सहस्से, वरिसाण वीरमोक्खगमणाओ।
 उत्तरवायगवसभे, पुव्वगयस्स भवे छेदो ॥८०१॥

—तित्थोगाली

१२ –अगबाहिरं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—आवस्सयं च आवस्सयवइरित्तं च।

—नन्दी सूत्र, श्रुतज्ञान प्रकरण

१३—नन्दी सूत्र, श्रुतज्ञान प्रकरण

पण है, उसके अनुरूप कितने ही आगमों की प्राचीन स्वरूपस्थिति वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

काफी लम्बे समय तक श्रुतसाहित्य भिक्षुसंघ ने कंठस्थ ही रखा, लिखा नहीं। क्योंकि भिक्षुओं को लिखने का निषेध था। अतः चिरकाल तक कण्ठस्थ रहे श्रुतवचनों में हेर फेर हो जाना स्वाभाविक है।[१४] भगवान महावीर के ९८० अथवा ९९३ वर्ष बाद वलभी (सौराष्ट्र) में श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के तत्त्वावधान में, निरन्तर विच्छिन्न एवं परिवर्तित होता हुआ श्रुत पुस्तकारूढ़ हुआ,[१५] और तब कहीं जाकर श्रुतसाहित्य में कुछ अपवादों को छोड़ कर बड़े हेर फेर होने का क्रम अवरुद्ध हो सका, जिसके फलस्वरूप आगमसाहित्य को वर्तमान मे उपलब्ध स्थिररूपता मिली।

प्राचीन लुप्त प्रश्न व्याकरण

प्रश्न व्याकरण सूत्र का स्थान अंगप्रविष्ट श्रुत में है। यह दशवां अंग है। समवायांग सूत्र और नन्दी सूत्र तथा अनुयोगद्वार सूत्र में प्रश्न व्याकरण के लिए

---

१४ (क) पोत्थएसु घेप्पंतएसु असंजमो भवइ।

—दशवैकालिक चूर्णि पृ० २१

(ख) जत्तिय मेत्ता वारा बंधति, मुंचति य जत्तिया वारा।
जति अक्खराणि लिहति व, तति लहुगा जं च आवज्जे।

—निशीथ भाष्य ४००४

(ग) इह च प्राय. सूत्रादर्शेषु नानाविधानि सूत्राणि दृश्यन्ते, न च टीकासंवादी एकोऽप्यादर्शः समुपलब्धः, अत एकमादर्शमङ्गीकृत्यास्माभिर्विवरणं क्रियत इति, एतदवगम्य सूत्रविसंवाददर्शनाच्चित्तव्यामोहो न विधेय इति।

—शीलांकाचार्य, सूत्रकृतांग वृत्ति, मुद्रितपत्र ३३६-१

(घ) वाचनानामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धितः।
सूत्राणामतिगाम्भीर्याद् मतभेदाच्च कुत्रचित्॥२॥

— आचार्य अभयदेव, स्थानांगवृत्ति, प्रारम्भ

१५—(क) समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सव्वदुक्खपहीणस्स नववाससयाइं विइक्कंताइं दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ। वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ।

—कल्पसूत्र, महावीर चरित्राधिकार

(ख) वलहिपुरम्मि नयरे, देवड्ढिपमुहेण समणसंघेण।
पुत्थइ आगमु लिहिओ, नयसय असीआओ वीराओ॥

अर्थात् ईस्वी ४५३, मतान्तर से ई० ४६६ —एक प्राचीन गाथा

'पण्हावागरणाइं'' के रूप में बहुवचन का प्रयोग है, जिसका संस्कृत रूप 'प्रश्न-व्याकरणानि' होता है। वर्तमान में उपलब्ध प्रश्न व्याकरण सूत्र के उपसंहार में एक वचन का ही प्रयोग है—'पण्हावागरणे ।' तत्त्वार्थस्वोपज्ञभाष्य में भी 'प्रश्न-व्याकरणम्' इस प्रकार एकवचनान्त का ही प्रयोग है। दिगम्बर परम्परा के धवला तथा राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में भी एकवचनान्त 'पण्हवायरणं' 'प्रश्न व्याकरणम्' प्रयोग ही प्रचलित है। 'स्थान' अंग सूत्र के दशम स्थान में प्रश्न व्याकरण का नाम 'पण्हावागरणदसा' बतलाया है, जिसका संस्कृत रूप टीकाकार आचार्य अभय देव ने 'प्रश्नव्याकरणदशा' किया है। परन्तु यह नाम अन्यत्र अधिक प्रचलित नही हो पाया।

दिगम्बर परम्परा के धवला आदि में 'पण्हवायरणं' नाम है, जब कि श्वेताम्बर परम्परा के समवायांग आदि में 'पण्हावागरणाइं'' है। 'पण्ह' के लिए 'पण्हा' के रूप में दीर्घ आकारान्त प्रयोग क्यों किया गया, कुछ स्पष्ट नहीं होता। संस्कृत टीकाओं तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थो मे संस्कृत रूप 'प्रश्नव्याकरण' ही मिलता है। हाँ समवायांग वृत्ति मे आचार्य अभय देव ने 'नाया धम्मकहा' का संस्कृत रूप 'ज्ञातधर्मकथा' न बनाकर 'ज्ञाताधर्मकथा' बनाया है और 'ज्ञाता' की आकारान्तता के लिए तर्क दिया है कि संज्ञा शब्द होने से दीर्घत्व है—'ज्ञाता धर्म-कथा दीर्घत्व संज्ञात्वात् ।' परन्तु अपने उक्त तर्क के आधार पर 'पण्हावागरणाइं'' का 'प्रश्ना व्याकरणानि' न लिखकर 'प्रश्नव्याकरणानि' रूप ही लिखा है। ऐसा क्यों है, यह विचारणीय है। प्राकृत पर अपभ्रंश की छाया ही परिलक्षित होती है।

प्रश्न व्याकरण का अर्थ है—प्रश्नों का व्याकरण अर्थात् निर्वचन, उत्तर एवं निर्णय।[१६] यहाँ नामान्तर्गत 'प्रश्न' शब्द सामान्य प्रश्न के अर्थ में नही है। प्राचीन लुप्त प्रश्न व्याकरण की जो दर्पण प्रश्न, अंगुष्ठ प्रश्न, बाहु प्रश्न आदि (दर्पण, जल, वस्त्र, अंगूठे का नख, तलवार आदि मे मन्त्र बल से दैवी शक्ति का अवतरण कर भविष्य का ज्ञान करना आदि) से सम्बन्धित विषयचर्चा नन्दी सूत्र आदि में उपलब्ध है, उसके अनुसार 'प्रश्न' शब्द मंत्रविद्या एवं निमित्त शास्त्र आदि के विषयविशेष से सम्बन्ध रखता है। अस्तु, प्राचीन परम्परा के अनुसार विचित्र विद्यातिशय अर्थात् चम-

---

१६—(क) पण्हो त्ति पुच्छा, पडिवयणं वागरणं प्रश्नोत्तरमित्यर्थः।

—नन्दी चूर्णि

(ख) प्रश्नः प्रतीतस्तन्निर्वचनं व्याकरणं, बहुत्वाद् बहुवचनम्।

—आचार्य हरिभद्र, नन्दीवृत्ति

त्कारी प्रश्नों का व्याकरण जिस सूत्र मे वर्णित है, वह प्रश्नव्याकरण है।[१७] वर्तमान मे उपलब्ध प्रश्न व्याकरण में तो ऐसी कोई चर्चा नही है। अतः यहाँ प्रश्न व्याकरण का यदि सामान्यतः विचार चर्चा रूप 'जिज्ञासा'[१८] अर्थ किया जाए तो ठीक है। अहिंसा-हिंसा एवं सत्य-असत्य आदि धर्माधर्मरूप विषयों की चर्चा जिस सूत्र में है, वह प्रश्न व्याकरण है। इस दृष्टि से वर्तमान में उपलब्ध 'प्रश्न व्याकरण' का नाम भी सार्थक हो सकता है।

प्राचीन प्रश्न व्याकरण एक महान् विराटकाय अंग सूत्र था। उसके पदो की गणना लाखों की संख्या में थी। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार प्रश्न व्याकरण के ६२ लाख १६ हजार पद होते हैं।[१९] दिगम्बर परम्परा पदों की संख्या ६३ लाख १६

---

१७ (क) पण्हावागरणेसु णं···अंगुट्ठपसिणाइं, बाहुपसिणाइं, अद्दागपसिणाइं, अन्ने वि विचित्ता विज्जाइसया, नागसुवण्णेहिं सद्धिं दिव्वा संवाया आघविज्जंति।

—नन्दीसूत्र, श्रुतज्ञान प्रकरण

(ख) अद्दागंगुट्ठ-बाहु-असि-मणि-खोम-आइच्चमासियाणं, विविहमहापसिण-विज्जा-मणपसिणविज्जा-देवयपयोगपहाणगुणप्पगासियाणं सब्भूयदुगुणप्पभावनरगणमइविम्हयकराणं····।

—समवायांग सूत्र, सूत्र १४५

(ग) या पुनर्विद्या मंत्रा वा विधिना जप्यमानाः पृष्टा एव शुभाशुभं कथयन्ति ···।

—नन्दी सूत्र, मलयगिरिवृत्ति

(घ) णागा सुवण्णा अण्णे य भवणवासिणो ते विज्जामंतागरिसित्ता आगता साधुणा सह संवदंति-जल्पं करेंति।

—नन्दी चूर्णि

(ङ) अन्ये विद्यातिशयाः स्तम्भ-स्तोभ-वशीकरण-विद्वेषी-करणोच्चाटनादयः।

—समवायांगवृत्ति

(च) प्रश्नविद्या यकाभिः क्षौमकादिषु देवतावतारः क्रियते।

—स्थानांग, अभयदेवीयावृत्ति १० स्थान

१८—प्रश्नः प्रतीतः तद्विषयं निर्वचनं व्याकरणम्।

—नन्दी सूत्र, मलयगिरिवृत्ति

१९—(क) पदग्गं बाणउतिलक्खा सोलस य सहस्सा।

—नन्दी चूर्णि

(ख) द्विनवतिर्लक्षाणि षोडश च सहस्राणि।

—समवायांगवृत्ति

हजार मानती है ।[20] वर्तमान में प्रचलित प्रश्न व्याकरण की श्लोक संख्या १२५६ के लगभग है । एक श्लोक ३२ अक्षर का माना जाता है ।

समवायांग और नन्दी सूत्र में प्रश्न व्याकरण के ४५ अध्ययन बतलाए हैं ।[21] अनेक संख्यक श्लोकों एवं निर्युक्तियों आदि का भी उल्लेख है ।[22] इसके विपरीत स्थानांग सूत्र मे प्रश्न व्याकरण सूत्र के केवल दश अध्ययनों का ही उल्लेख है—उपमा, संख्या, ऋषिभाषित, आचार्य भाषित, महावीरभाषित, क्षोमक प्रश्न, कोमल प्रश्न, अद्दाग प्रश्न, अंगुष्ठ प्रश्न और बाहु प्रश्न ।[23]

वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरण में उक्त दश अध्ययनो में का एक भी अध्ययन नहीं है । नन्दी आदि सूत्रों में भी जहाँ प्रश्नव्याकरण की चर्चा है, वहा अगुष्ठ प्रश्न तथा बाहु प्रश्न आदि का तो उल्लेख है, किन्तु स्थानांग में निर्दिष्ट उपमा, संख्या, ऋषिभाषित आदि का कोई उल्लेख नहीं है ।[24] हाँ, समवायांग में प्रत्येकबुद्धभाषित, आचार्य भाषित और महावीरभाषित का एक संक्षिप्त सा उल्लेख अवश्य मिलता है, पर वह भी विषय के रूप मे है, किसी स्वतन्त्र अध्ययन

---

२० —पण्हवायरणं णाम अंगं तेणउदिलक्ख-सोलससहस्सपदेहि ।

—धवला, भाग १, पृ० १०४

२१—(क) पणयालीसं अज्झयणा, पणयालीसं उद्देसणकाला, पणयालीसं समुद्देसणकाला ।

—नन्दी सूत्र

(ख) पणयालीसं उद्देसणकाला, पणयालीसं समुद्देसणकाला ।

—समवायांग सूत्र, १४५

(ग) यद्यपीहाध्ययनानां दशत्वाद् दशैवोद्देशनकाला भवन्ति तथाऽपि वाचनान्तरापेक्षया पञ्चचत्वारिंशदिति संभाव्यते ।

—समवायागवृत्ति

२२—···संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ··· ।

—नन्दी सूत्र

२३—पण्हावागरणदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—उवमा, संखा, इसिभासियाइं, महावीरभासियाइं, खोमगपसिणाइं, कोमलपसिणाइं, अंगुट्ठपसिणाइं, बाहुपसिणाइं ।

—समवायाग, सूत्र १४५

२४—प्रश्नव्याकरणदशा इहोक्तरूपा न, दृश्यमाना तु पञ्चाश्रव पञ्चसंवरात्मिका ।

—स्थानांग—अभयदेवीया वृत्ति, १० स्थान

के रूप में नही ।[२५] लगता है, प्रश्न व्याकरण सूत्र के विषय तथा अध्ययन आदि के सम्बन्ध मे बहुत प्राचीनकाल से ही कोई एक निश्चित धारणा नहीं रही है। कहीं स्थानांग आदि सूत्रों के संकलन काल में वाचना भेद से प्रश्न व्याकरण के विभिन्न रूप तो प्रचलित नही थे ? लगता तो ऐसा ही है।

दिगम्बर परम्परा के धवला आदि ग्रन्थों मे प्रश्न व्याकरण का विषय बताते हुए कहा है कि प्रश्न व्याकरण में आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी, इन चार कथाओं का वर्णन है। आक्षेपणी में छह द्रव्य और नौ तत्वों का वर्णन है। विक्षेपणी मे परमत की एकान्त दृष्टियों का पहले प्रतिपादन कर अनन्तर स्वमत अर्थात् जिनधर्म को स्थापना की जाती है। सवेदनी कथा पुण्यफल की कथा है, जिसमें तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव एवं विद्याधरों की ऋद्धि का वर्णन है। निर्वेदनी मे पापफल की कथा है, अतः उस मे नरक, तिर्यंच, कुमानुष योनियों का एवं जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना, दरिद्रता आदि का वर्णन है।

और यह प्रश्नव्याकरण अंग प्रश्नों के अनुसार हत, नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और सख्या का भी निरूपण करता है।[२६]

२५—ससमयपरसमयपण्णवयपत्तेयबुद्धविविहत्यभासाभासियाणं, अइसयगुण-उवसमणाणप्पगारआयरियभासियाणं, वित्थरेणं वीरमहेसीहिं विविहवित्थर-भासियाणं।

—समवायांग सूत्र, १४५

२६—अक्खेवणी विक्खेवणी संवेयणी णिव्वेयणी चेदि चउव्विहाओ कहाओ वण्णेदि। तत्थ अक्खेवणी णाम छद्दव्व-णव पयत्थाणं सरूवं दिगंतर-समयांतर-णिराकरणं सुद्धि करेंतो परूवेदि।

विक्खेवणी णाम परसमएण ससमयं दूसंती पच्छा दिगंतरसुद्धिं करेंतो ससमयं थावंती छद्दव्व-णवपयत्थे परूवेदि।

संवेयणी णाम पुण्णफलसंकहा। काणि पुण्णफलाणि ? तित्थयर-गणहर-रिसि-चक्कवट्टि-बलदेव-वासुदेव-सुर-विज्जाहररिद्धीओ।

णिव्वेयणी णाम पावफलसंकहा। काणि पावफलाणि ? णिरय-तिरिय-कुमाणुसजोणीसु जाइ-जरा-मरण-वाहि-वेयणा-दालिद्दादीणि। ससारसरीर-भोगेसु वेरग्गुप्पाइणी णिव्वेयणी णाम ···।

पण्हादो हद-नट्ठ-मुट्ठि-चिंता-लाहालाह-सुह-दुक्ख-जीविय-मरण-जय-पराजय-णाम-दव्वायु-संखं च परूवेदि।

—धवला, भाग १ पृ० १०७-८

दिगम्बर परम्परा में भी प्रश्न व्याकरण का जो नष्ट, मुष्टि आदि चमत्कारी विषय प्रतिपादित किया है, यह श्वेताम्बर परम्परा के समवायांग तथा नन्दी सूत्र आदि से मिलता है। दिगम्बर परम्परा अंग साहित्य का विच्छेद मानती है, अतः वर्तमान में उसके यहाँ आचारांग आदि अंग तथा औपपातिक आदि अंग बाह्य आगमों में से कोई भी आगम नहीं है। अतः प्रश्न व्याकरण भी नहीं है, जिस पर कुछ विचार-चर्चा की जा सके। श्वेताम्बर परम्परा में एक प्रश्नव्याकरण वर्तमान में भी उपलब्ध है, पर उस में उल्लिखित विषयों जैसा कोई विषय नहीं है।

एक प्रश्न ?

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में प्राचीन प्रश्न व्याकरण सूत्र का जो विषय बताया है, उसके सम्बन्ध में एक प्रश्न उभरता है। ज्योतिष, मन्त्र, तन्त्र आदि से सम्बन्धित शास्त्रों को जैन परम्परा पापश्रुत मानती है।[२७] और पापश्रुत के प्रयोग जैन भिक्षु के लिए निषिद्ध हैं।[२८] फिर वीतराग, अध्यात्म पुरुष तीर्थंकर ऐसे निषिद्ध विषयों का एक शास्त्र के रूप में इतना विस्तृत प्रतिपादन क्यों करते हैं? क्या उन की ही अपनी परिभाषा में ये सब पापश्रुत में नहीं आते हैं? इस प्रकार के सांसारिक विषयों के प्रतिपादक चमत्कारी शास्त्रों से अध्यात्म साधना के साधक को क्या लाभ हो सकता है? साधक के लिए तो वही शास्त्र शास्त्र है, जिसे श्रवण कर अन्तरात्मा में तप, क्षमा, अहिंसा आदि विशुद्ध भावों का जागरण हो।[२९] यदि ऐसा कुछ नहीं होता है तो वह ज्योतिष आदि अन्य लौकिक विषयों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र, भले ही कुछ और हो, धर्मशास्त्र तो बिल्कुल नहीं हो

२७—(क) नवविहे पावसुयपसंगे पण्णत्ते, तं जहा—
उप्पाए, नेमित्तए, मंते, आइक्खए, तिगिच्छीए।
कलावरण-अन्नाणे, मिच्छापावयणे त्ति य ॥

—स्थानांग ९ स्थान

(ख) पापोपादानहेतुः श्रुतं शास्त्रं पापश्रुतम्।

—स्थानांग वृत्ति, ९ स्थान

(ग) समवायांग २९ वाँ समवाय

२८—(क) सूत्रकृतांग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, द्वितीय अध्ययन

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, १६।७-८

२९—जं सोच्चा पडिवज्जंति,
तवं खंतिमहिंसयं।

—उत्तराध्ययन ३।८

सकता। बहुत कुछ विचार चिन्तन करने पर भी यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है। हालां कि टीकाकारों ने संघ रक्षा आदि कारणविशेष के नाम पर पापश्रुत से सम्बन्धित उक्त सब विषयों का खुलकर समर्थन किया है।[30]

वर्तमान प्रश्न व्याकरण

प्राचीन प्रश्नव्याकरण कब लुप्त हुआ, निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। आगमों को पुस्तकारूढ करने वाले आचार्य देवर्द्धि गणी ने इस सम्बन्ध में कुछ भी सूचना नहीं दी है। समवायांग आदि में जिस प्रश्न व्याकरण का उल्लेख है, वह उनके समक्ष विद्यमान था, या प्राचीन श्रुति परम्परा से जैसा चलता चला आ रहा था वैसा ही ज्यों का त्यों श्रुतविषय समवायांग आदि में लिख दिया गया, कुछ स्पष्ट नहीं होता। हां, इतना स्पष्ट है, वर्तमान प्रश्न व्याकरण के विषय की तत्कालीन आगमों में कोई चर्चा नहीं है।

आचार्य जिनदास महत्तर ने शक संवत् ५०० की समाप्ति पर नन्दी सूत्र पर चूर्णि की रचना की है।[31] उसमें सर्वप्रथम वर्तमान प्रश्नव्याकरण के विषय से सम्बन्धित पांच संवर आदि का उल्लेख है।[32] इस उल्लेख के बाद फिर वही परम्परागत एक सौ आठ अंगुष्ठ प्रश्न और बाहु प्रश्न आदि का वर्णन किया है। लगता है, जिनदास गणी के समक्ष प्राचीन प्रश्न व्याकरण नहीं था। उसके विषय की चर्चा उन्होंने केवल परम्परापालन की दृष्टि से करदी है। वास्तविक प्रश्न व्याकरण उनके समक्ष प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण ही था, जिसके संवर आदि विषय का उन्होंने सर्व प्रथम उल्लेख किया है। इसका अर्थ यह है कि शक संवत् ५०० से पूर्व ही कभी प्रस्तुत प्रश्न व्याकरण सूत्र का निर्माण एवं प्रचार-प्रसार हो चुका था और उसे अंग साहित्य में मान्यता मिल चुकी थी।

प्रश्न व्याकरण का विषय परिवर्तन क्यों ?

प्राचीन प्रश्न व्याकरण के ज्योतिष, मन्त्र, तन्त्र, विद्यातिशय आदि विषयों का परिवर्तन कर आश्रव तथा संवर रूप नवीन विषयों का क्यों संकलन किया गया,

---

३०—सर्वमपि पापश्रुतं संयतेन पुष्टालंबनेन आसेव्यमानमपापश्रुतमेवेति।
—स्थानांग वृत्ति ९ वां स्थान

३१—सकराजातो पंचसु वर्षशतेसु नन्द्यध्ययनचूर्णी समाप्ता।
—नन्दी चूर्णि, उपसंहार

३२—पण्हावागरणे अंगे पंचसंवरादिका व्याख्येया, परप्पवादिणो य अंगुट्ठ-बाहुपसि-णादियाणं पसिणाणं अट्ठुत्तरं सतं····
—नन्दी चूर्णि

इस का समाधान करते हुए वृत्तिकार आचार्य अभय देव कहते हैं कि वर्तमान समय का कोई अनधिकारी व्यक्ति सूत्रप्रतिपादित चमत्कारी विद्याओं का दुरुपयोग न करे, इस दृष्टि से उत्तर काल में गीतार्थ आचार्यों ने इस प्रकार की सब विद्याएँ प्रश्न व्याकरण सूत्र में से निकाल दी और उनके स्थान में केवल आश्रव तथा संवर का समावेश कर दिया गया।[33] प्रस्तुत प्रश्न व्याकरण के दूसरे टीकाकार आचार्य ज्ञान-विमल भी ऐसा ही उल्लेख करते हैं।[34] परन्तु यह समाधान वस्तुतः कुछ अर्थ रखता है क्या? प्रश्न है कि वीतराग तीर्थंकर देवों ने पहले तो ऐसे विषय का निरूपण ही क्यों किया, जिसको बाद में हेयत्वेन निकालना पड़ा। दूसरे किसी प्राचीन ग्रन्थ के मूल विषय को निकालकर उसके स्थान में नवीन विषय डाल देने का उत्तरवर्ती आचार्यों को क्या अधिकार था? इससे तो प्राचीन शास्त्रों की प्रामाणिकता ही सन्देहकोटि में आजाती है। यदि पहले के कुछ आचार्यों को यह अधिकार प्राप्त था, तो क्या वर्तमान में भी किसी को ऐसा कोई अन्य परिवर्तन करने का अधिकार हो सकता है?

रचयिता कौन?

अंग साहित्य का निरूपण अर्थरूप में तीर्थंकर अर्हन्त करते हैं। गणधर उसी अर्थ-रूप भाव को सूत्ररूप में शब्दबद्ध करते है।[35] इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि तीर्थंकर

३३—प्रश्नानां—विद्याविशेषाणां यानि व्याकरणानि तेषां प्रतिपादनपरा दशा—दशाध्ययनप्रतिबद्धाः ग्रन्थपद्धतय इति प्रश्नव्याकरणदशाः। अयं च व्युत्पत्त्यर्थो-ऽस्य पूर्वकालेऽभूत्। इदानीं त्वाश्रवपञ्चक-संवरपञ्चकव्याकृतेरेवेहोपलभ्यते, अतिशयानां पूर्वाचार्यैरैदंयुगीनानामपुष्टालम्बनप्रतिषेविपुरुषापेक्षयोत्तारितत्वादिति।

—प्रश्नव्याकरणवृत्ति, प्रारम्भ

३४—प्रश्नाः अङ्गुष्ठादि प्रश्नविद्यास्ता व्याक्रियन्ते अभिधीयन्ते अस्मिन्निति प्रश्न-व्याकरणम् एतादृशं अगं पूर्वकालेऽभूत्। इदानीं तु आश्रव-संवरपञ्चक-व्याकृतिरेव लभ्यते। पूर्वाचार्यैरैदंयुगीनपुरुषाणां तथाविधहीनहीनतर-पाण्डित्यबल-बुद्धिवीर्यापेक्षया पुष्टालम्बनमुद्दिश्य प्रश्नादिविद्यास्थाने पञ्चा-श्रव-संवररूपं समुत्तारितम्।

—प्रश्नव्याकरण टीका, प्रारंभ

३५—(क) अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गुंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ॥

—आवश्यक निर्युक्ति, गा० १९२

(ख) भावसुदस्स अत्थपदाणं च तित्थयरो कत्ता।...दव्वसुदस्स गोदमो कत्ता।

—धवला, भाग १ पृ० ६५

केवल विश्वजनीन स्वपरहितकर भावों का प्रवचन करते हैं, शास्त्र या ग्रन्थ रूप में कोई रचना नहीं करते। तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट भावों को ग्रहण कर गणधर उन्हें आचारांग आदि शास्त्रों का रूप देते हैं। अतः गणधर ही वस्तुतः अंगशास्त्रों के रचयिता हैं। अंगोत्तर साहित्य, जिसे अंगबाह्य कहा जाता है, उसकी रचना यथावसर एवं यथा प्रसंग उत्तरकालीन श्रुतधर आचार्य करते है।

प्राचीन प्रश्न व्याकरण का सम्बन्ध भले ही गणधरों से जोड़ा जा सकता है। परन्तु वर्तमान प्रश्न व्याकरण सूत्र, जो स्पष्टतः ही पश्चात्कालीन रचना है, उसका रचनाकार के रूप में गणधरों से कैसे सम्बन्ध हो सकता है? फिर भी शास्त्र के प्रारम्भ में ही आर्य जम्बू को सम्बोधित किया गया है, अतः टीकाकारों ने प्रश्न व्याकरण का उनके साक्षात् गुरु गणधर सुधर्मा से सम्बन्ध जोड़ दिया है।[३६] आचार्य अभय देव ने अपनी टीका में, पुस्तकांतर से प्रश्न व्याकरण का जो उपोद् घात दिया है, उसमें उपोद्-घातकार ने प्रवक्ता के रूप में सुधर्मा गणधर का ही उल्लेख किया है। परन्तु सूत्र की शैली, जटिल प्राकृत भाषा तथा सुधर्मा स्वामी के बाद का काल—ये सब स्पष्टतः निषेध करते है कि प्रस्तुत रचना सुधर्मा स्वामी की नहीं है, अपितु पश्चाद्भावी किसी अन्य स्थविर की है। सुधर्मा और जम्बू के संवादरूप में पुरातन शैली का अनुकरणमात्र किया है रचनाकार अज्ञातनामा स्थविर ने। अब रहा प्रश्न विषय का। आश्रव और संवर ही हेय एवं उपादेय के रूप में जैनसाधना के केन्द्र विन्दु हैं, जो भावतः तीर्थंकर द्वारा प्रतिपाद्य होने के नाते परंपरा से आ ही रहे हैं, इसमें दो मत नहीं हैं।

श्रुतस्कन्ध एक या दो ?

प्रस्तुत प्रश्न व्याकरण के दश अध्ययन हैं। दश अध्ययनों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है। एक प्रकार तो वर्तमान में प्रचलित है, जहाँ प्रश्नव्याकरण सूत्र का एक ही श्रुतस्कन्ध माना गया है, और उसके दश अध्ययन बताए हैं। प्रस्तुत सूत्र के उपसंहारवचन में स्पष्ट कहा है—पण्हावागरणे णं एगो सुयक्खंधो दस अज्झयणा। नन्दी और समवायांग सूत्र में भी प्रश्न व्याकरण का एक ही श्रुतस्कन्ध मान्य है।

३६—पञ्चमगणनायकः श्री सुधर्मास्वामी सूत्रतो जम्बूस्वामिनं प्रति प्रणयनं चिकीर्षुः सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनप्रतिपादनपरां 'जम्बू' इत्यामंत्रणपदपूर्वां 'इणमो' इत्यादिगाथामाह—।

—प्रश्नव्याकरण, अभयदेवीया वृत्ति

परन्तु आचार्य अभय देव ने अपनी वृत्ति में पुस्तकान्तर से जो उपोद्‌घात उद्‌धृत किया है उसमें प्रश्नव्याकरण के दो श्रुतस्कन्ध बताए हैं—आश्रवद्वार और संवर द्वार। तथा प्रत्येक श्रुतस्कन्ध के पाँच-पाँच अध्ययन सूचित किए हैं—"दो सुयक्खंधा पण्णत्ता—आसववारा य संवरदारा य। पढमस्सणं सुयक्खंधस्स···पंच अज्झयणा"।···दोच्चस्सणं सुयक्खंधस्स · पंच अज्झयणा"··· । उपोद्‌घात का उक्त कथन आचार्य अभय देव के समय मे मान्य नहीं था, अत: वे लिखते हैं कि दो श्रुतस्कन्ध की नहीं, एक श्रुतस्कन्ध की मान्यता ही रूढ़ है—"यावेवं द्विश्रुतस्कन्धतोक्ता ऽस्य सा न रूढा, एकश्रुतस्कन्धताया एव रूढत्वात्।" मेरे विचार मे दो श्रुतस्कन्ध की मान्यता ही तर्कसंगत है। जब आश्रव और संवर दो भिन्न विषय हैं तो तदनुसार दो श्रुतस्कन्ध ही होने चाहिएँ, एक नही। पता नहीं, एक श्रुतस्कन्ध की मान्यता किस आधार पर प्रचलित हो गई।

रचना शैली और प्रतिपाद्य

प्रस्तुत वर्तमान प्रश्न व्याकरण की रचना पद्धति काफी सुघटित है, कतिपय अन्य आगमों की तरह विकीर्ण नहीं है। आश्रव प्रकरण में हिंसादि प्रत्येक आश्रव के तीस-तीस नाम बताए हैं। इनके कटु परिणामों का भी विस्तार से वर्णन है। अहिंसा आदि प्रत्येक संवर का निरूपण भी काफी विस्तार और उपयोगिता से वर्णित है। उक्त आश्रव एवं संवर के वर्णन पर से अध्येता के अन्तर्मन में निर्वेदन और संवेदन की, निवृत्तिऔर प्रवृत्ति की, तथा असंयम और संयम की यथोचित अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रिया ठीक तरह से जागृत हो जाती है।

आश्रव संवर के निरूपण के साथ तत्कालीन दार्शनिक मत, दण्डनीति, अनेक आर्य अनार्य देश, गृहजीवन, कला, उद्योग, पशु, पक्षी, भोग, विलास, शिल्पी कर्मकर, भवनों के विभिन्न रूप, वाहन, समुद्रयात्रा, म्लेच्छ जातियां, स्त्री-पुरुष के लक्षण, ऐतिहासिक व्यक्ति, साधु चर्या, युद्ध आदि विविध विषयों का वर्णन भी काफी महत्त्वपूर्ण है। एक प्रकार से तत्कालीन प्राचीन लोकसंस्कृति का एक स्पष्ट चित्र मनश्चक्षुओं के समक्ष उपस्थित हो जाता है। आज के शोधार्थी छात्र प्रश्न व्याकरण में से प्राचीन भारतीय इतिहास से सम्बन्धित विपुल सामग्री प्राप्त कर सकते हैं।

प्रश्न व्याकरण की भाषा अर्धमागधी प्राकृत है। पर, वह समासबहुल होने से अतीव जटिल होगई है। प्राकृत का साधारण अभ्यासी तो ठीक तरह से समझ भी नहीं सकता। संस्कृत या हिन्दी की टीकाओं के बिना प्रश्न व्याकरण के भावों को समझ लेना सरल नहीं है। कुछ स्थानों पर तो ऐसा लगता है कि जिज्ञासु पाठक को सरलता से सीधा अर्थबोध न कराकर स्पष्ट ही पाण्डित्यबोध कराया जा रहा है, जिसकी यहाँ कोई अपेक्षा नहीं है।

और तो और, समर्थ वृत्तिकार आचार्य अभयदेव ने भी अपनी वृत्ति के प्रारम्भ मे लिखा है कि "इस शास्त्र की प्राय: कूट पुस्तकें (हस्त-लेख) मिलती हैं। हम अज्ञ है और यह शास्त्र बहुत गंभीर है, अतः विचारपूर्वक ही सूत्रार्थ की योजना करना चाहिए।[३७]" और वृत्ति की समाप्ति पर पुनः आचार्य ने लिखा है कि शास्त्रीय आम्नाय (परम्परा) से रहित हमारे जैसे व्यक्तियों के लिए इस शास्त्र का बोध करना कठिन है। अतः हमने यहाँ जो और जैसे अर्थ किए हैं, वे ही ठीक हैं— ऐसा नही समझ लेना चाहिए।'[३८] आचार्य अभय देव के उक्त उल्लेखों पर से प्रतिध्वनित होता है कि आगमों का शब्दशरीर व्यवस्थित नही था। अर्थबोध की परम्परा भी अस्तव्यस्त हो चुकी थी। उपलब्ध प्रतियां भी विश्वसनीय नही थीं, तभी तो वे कहते है—'प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि।'

आश्रव और संवर

वर्तमान जैन आगम साहित्य में प्रस्तुत प्रश्न व्याकरण सूत्र का अपना एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाम ही कितना अर्थगंभीर है—'प्रश्नव्याकरण अर्थात् प्रश्नों का व्याकरण, समाधान, उत्तर। जिस प्रकार तन के रोगों का प्रश्न मानव के समक्ष अनादि काल से एक जटिल प्रश्न रहा है, उसी प्रकार साधक के समक्ष मन के रोगों का प्रश्न भी है। तन के रोगों से भी अधिक भयकर हैं मन के रोग। तन के रोग तो अधिक से अधिक एक जन्म तक ही पीड़ा देते है, अगले जन्मों तक तो ज्वरादिरूप देहरोग आत्मा के पीछे नहीं दौडते हैं, शरीर के साथ यही-के-यही रह जाते है। परन्तु मन के रोग तो जन्म-जन्मान्तरों तक पीछे दौडते रहते है। अतीत में अनादि अनन्त काल से आत्मा को पीडित करते रहे हैं, और यदि समय पर नही संभला गया, उचित प्रतिकार नहीं किया गया, तो भविष्य में भी अनन्ता-

---

३७—अज्ञा वयं शास्त्रमिदं गभीरं,
प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि।
सूत्रं व्यवस्थाप्यमतो विमृश्य,
व्याख्यानकल्पादित एव नैव॥

३८ परेषां दुर्लक्ष्या भवति हि विवक्षा स्फुटमिदं,
विशेषाद् वृद्धानामतुलवचनज्ञानमहसाम्।
निराम्नायाधीभिः पुनरतितरां मादृशजनैः,
ततः शास्त्रार्थं मे वचनमनघं दुर्लभमिह॥ ३॥
ततः सिद्धान्ततत्त्वज्ञैः, स्वयमूह्य सुयत्नतः।
न पुनरस्मदाख्यात, एव ग्राह्यो नियोगतः॥ ४॥

नन्त काल तक मन के रोग इसी प्रकार उत्पीडित करते रहेंगे । एक क्षण के लिए भी आत्मा को शान्तिलाभ नहीं होने देंगे ।

प्रस्तुत प्रश्न व्याकरण सूत्र में मन के रोगों की सही चिकित्सा का विधान है । प्रथम आश्रव खण्ड में रोगों का वर्णन है । रोग हैं, अन्तर्मन के विकार हिंसा, असत्य, स्तेय-चौर्य, अब्रह्मचर्य-कामविकार, और परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा, आसक्ति, लोभ, तृष्णा, गृद्धि ।

प्रथम खण्ड में रोगों का स्वरूप और उन के द्वारा होने वाले दुःखों एवं पीडाओं का उल्लेख है । द्वितीय संवर खण्ड में अहिंसा, सत्य, अस्तेय-अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह के स्वरूप का एवं उनके सुखद प्रतिफलों का वर्णन है । आगम की भाषा में हिंसादि पाँच प्रकारों को आश्रव कहा जाता है । आश्रव, अर्थात् नवीन कर्मप्रवाह का आत्मा के क्षेत्र में प्रविष्ट होने का द्वार[३९] । और अहिंसा, सत्य आदि पाँच को संवर कहा जाता है । संवर, अर्थात् आत्म क्षेत्र में प्रविष्ट होने वाले कर्मप्रवाह का निरोध ।[४०] आश्रव संसार का हेतु है और संवर मोक्ष का, अतः आश्रव तथा संवर के वर्णन में ही समग्र जिन प्रवचन का साराश, निष्यन्द अर्थात् निचोड़ आ जाता है ।[४१] जिस साधक ने आश्रव और संवर के स्वरूप को समझ लिया, उसने एक प्रकार से साधना का समग्र तत्त्व ही अधिगत कर लिया ।

३९—पुण्यपापागमद्वारलक्षण आस्रवः ।१६। पुण्यपापलक्षणस्य कर्मण आगमनद्वारमास्रव इत्युच्यते । आस्रव इवास्रवः । क उपमार्थः ? यथा महोदधेः सलिलमापगामुखैरहरहरापूर्यते तथा मिथ्यादर्शनादिद्वारानुप्रविष्टैः कर्मभिरनिशमात्मा समापूर्यत इति मिथ्यादर्शनादिद्वारमास्रवः ।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक १।४।१६

४०—आस्रवनिरोधलक्षणः संवरः ।१८। पूर्वोक्तानामास्रवद्वाराणां शुभपरिणामवशान्निरोधः संवरः । संवर इव संवरः । क उपमार्थः ? यथा सुगुप्तसुसंवृतद्वारकपाटं पुरं सुरक्षितं दुरासदमरातिभिर्भवति, तथा सुगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रात्मनः सुसंवृतेन्द्रियकषाययोगस्य अभिनवकर्मागमद्वारसंवरणात् संवरः

—तत्त्वार्थराजवार्तिक १।४।१८

४१—(क) अण्हयसंवरविणिच्छयं पवयणस्स निस्संदं ।

—प्रश्नव्याकरण, पीठिका, १

(ख) आस्रवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम् ।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ॥

—आचार्य हेमचन्द्र, वीतरागस्तोत्र १९।६

आश्रव और संवर की चर्चा अन्य आगमों में भी है। किन्तु जितना क्रमबद्ध व्यवस्थित वर्णन प्रस्तुत प्रश्न व्याकरण सूत्र मे है, उतना अन्यत्र नही है। यही कारण है कि प्रश्न व्याकरण पर अनेक टीकाएँ, निबन्ध आदि लिखे गए हैं। वर्तमान मे छोटे-बड़े अनेक संस्करण प्रकाशित हुए है, प्रकाशित हो रहे हैं। सब की अपनी-अपनी विशेषताएँ है, मैं किसी को छोटा या बड़ा, हीन या महान् नही बताना चाहता। परन्तु प्रस्तुत संस्करण के सम्बन्ध में अवश्य कुछ प्रकाश डालना चाहता हूँ।

प्रस्तुत संस्करण

प्रस्तुत सस्करण प्रश्न व्याकरण का एक विराटकाय सस्करण है। सर्वप्रथम शुद्ध मूल पाठ है, तदनन्तर संस्कृतच्छाया, पदान्वयार्थ और मूलार्थ है, जिनसे मूल का शब्दश: अर्थबोध हो जाता है। साधारण पाठक भी पदान्वयार्थ और मूलार्थ पर से मूल पाठ को अच्छी तरह लगा सकता है, मूल का अभिप्राय ग्रहण कर सकता है। अन्त मे विस्तृत व्याख्या है। राष्ट्र भाषा हिन्दी में इतनी विशिष्ट एवं विशाल व्याख्या प्रश्न व्याकरण सूत्र पर अभी तक अन्य कोई नही लिखी गई। अनेक हेतु, तर्क, उद्धरण तथा दृष्टान्त आदि से प्रश्न व्याकरण की मूल भावना को स्पष्ट करने का, यह एक अभूतपूर्व महान् प्रयत्न है। व्याख्या में यत्र तत्र लेखक की मौलिक प्रतिभा के परिदर्शन होते है। प्रस्तुत संस्करण की अपनी एक पृथक् विशिष्टता है, तो वह इस की महती व्याख्या ही है, जिसमें व्याख्याकार का गहन एवं विस्तृत अध्ययन, दार्शनिक चिन्तन एवं मर्मोद्घाटक प्रगाढ पाण्डित्य प्रतिबिम्बित हुआ है।

प्रस्तुत संस्करण के व्याख्याकार और सम्पादक

प्रस्तुत संस्करण के मूल संपादक एवं व्याख्याकार, मेरे अभिन्न स्नेही सुहृद् पं० श्री हेमचन्द्र जी महाराज हैं। संस्कृत, प्राकृत भाषाओं का उनका अध्ययन गंभीर एवं व्यापक है। व्याकरण की मर्मज्ञता तो उनकी सब ओर सुप्रसिद्ध रही है। जैन धर्म-दिवाकर, महामहिम स्व० आचार्य देव श्री आत्माराम जी महाराज के श्रीचरणों में जब से दीक्षा ली, तभी से अध्ययन मे संलग्न हुए, और निरन्तर अपने अध्ययन को सूक्ष्म, गंभीर एवं व्यापक बनाते गए। स्व० आचार्य देव स्वयं भी एक महान् आगमाभ्यासी एवं चिन्तक थे। अपने युग में वे आगमों के एक सर्वमान्य, लब्ध-प्रतिष्ठ अध्येता एवं प्रवक्ता माने जाते थे। आगमसागर का उन्होंने तलस्पर्शी अवगाहन किया था। अनुयोग द्वार, आचारांग, स्थानांग, उत्तराध्ययन आदि अनेक गंभीर एवं गूढ कहे जाने वाले आगमों पर उन्होंने हिन्दी टीकाएँ लिखी है, जो विद्वज्जगत् में समादरणीय हुई हैं। आचार्य जी की विवेचनशैली स्पष्ट, अर्थबोधक एवं हृदयग्राहिणी है। इसी हेतु के गुणकाम में उन्हें जैन संघ ने 'जैनागमरत्नाकर' के महनीय पद से समलंकृत किया था। गुरुदेव की दिग्ज्योति प्रिय शिष्य पर

भी अवतरित हुई। आचार्य देव के साहित्यनिर्माण में भी पण्डित जी का बहु योगदान है। उन की बौद्धिक सेवा आचार्य देव के साहित्य के साथ, चिरस्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत प्रश्न व्याकरण का सम्पादन एवं विवेचन भी विद्वान् मुनि श्री जी ने अपने गुरुदेव आचार्यश्री जी के चरणचिन्हों पर ही रूपायित किया है। वही संस्कृत च्छाया, पदार्थ, मूलार्थ और व्याख्या। वही सरल सुबोध भाषा और भावधारा। लगता है, जैसे गुरु की प्रतिभाज्योति शिष्य में संक्रान्त हो गई है। शिष्य में गुरु की आत्मा प्रतिबिम्बित होती ही है।

मेरे शिष्यवत् श्रद्धासिक्त स्नेही पं० मुनि श्री पद्मचन्द्र जी, जो भण्डारीजी उपनाम से सर्वतः सुविश्रुत हैं उनकी काफी समय से इच्छा थी कि अपने गुरुदेव की यह रचना जनता के समक्ष आए। यह लेखन बहुत समय पहले कभी लिखा गया था। अपने सौम्य स्वभाव के कारण उन्होंने (पं० हेम चन्द्रजी ने) इसके प्रकाशन की दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया। फलतः यह महनीय रचना यों ही रखी रही। पण्डित जी के प्रिय शिष्य श्री भण्डारी जी के अन्तर्मन में भावना जगी कि यह विराट शास्त्र आधुनिक शैली से पुनः संपादित होकर प्रकाश में आए। मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि भंडारी जी की उक्त मंगल भावना ने आज मुद्रारूप से मूर्त रूप लिया है। और यह सब हुआ है उन्हीं के प्रिय शिष्य प्रवचनभूषण पं० श्री अमर मुनिजी के द्वारा। श्री अमर मुनिजी व्याख्याकार पं० श्री हेमचन्द्र जी के प्रशिष्य (पौत्र शिष्य) हैं। श्री अमर मुनिजी एक महान् कर्मठ, सौम्य, विचारक एवं जिनशासनरसिक तरुण मुनि हैं। सेवा की तो जीवित प्रतिमूर्ति ही हैं वे। सन् १९ के जयपुर वर्षावास में अस्वस्थता के समय उन्होंने जो मेरी उदात्त सेवा-परिचर्या की है, वह मेरे स्मृतिकोष की सुरक्षित निधि है। वस्तुतः अमर मुनिजी में अपने पूर्व गुरुजनों की संस्कारधारा प्रवाहित है, जो उन्हें यशस्वी बनाती रही है और बनाती रहेगी।

प्रश्न व्याकरण सूत्र का प्रस्तुत संस्करण, जिसमें अनेक महनीय मुनिवरों एवं भक्त श्रावकों की भावना, श्रम एवं सहयोग की मंगलश्री जुड़ी हुई है, एक अतीव सुन्दर संस्करण है। अतः प्रबुद्ध विद्वान् तथा साधारण जिज्ञासु, दोनों ही इससे यथोचित लाभ उठा सकते हैं। मैं आशा ही नहीं, विश्वास के साथ कह सकता हूँ—'आगम साहित्य साधना के प्रशस्त क्षेत्र में यह सुरुचिर संस्करण चिरस्मरणीय रहेगा।'

● ●



पं० श्री हेमचन्द्र जी महाराज

पंक्ति में हुआ करते थे। हंसराज उन श्रोताओं में से थे, जिनका मन वक्ता के वचनों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया करता है। पूर्वजन्मोपार्जित पुण्य जागा, राग भागा, वैराग्य तरंगित हुआ और १८ दिन तक प्रवचन-पीयूष का पान कर अठारहवां वर्ष आरम्भ होते ही आप लुधियाना आगए और यहाँ आकर सन्तशिरोमणि श्रद्धेय श्री जयराम दास जी महाराज के दर्शन करते ही उनका वैराग्य-रंग और भी पक्का हो गया, विरक्त मन साधु-दीक्षा के लिये आकुल हो उठा। परन्तु दीक्षा के लिये माता-पिता की आज्ञा अनिवार्य थी, पर झोली में पड़े रत्न को कौन छोड़ना चाहता है। माता-पिता की असहमति और दादा की सहमति का संघर्ष कुछ दिन चला, अन्त में दादा जी की सहमति का आधार लेकर आप लुधियाना लौट आए और श्रद्धेय श्री जयराम दास जी महाराज से अध्यात्म-पथ पर चलने के लिए आश्रय देने की प्रार्थना की।

श्री जयराम दास जी महाराज दूरदर्शी एवं भविष्य के प्रति सजग रहने वाले साधना-सम्पन्न सन्त थे। उन्होंने लुधियानानिवासी स्वर्गीय मंगूमल जी, स्वर्गीय लाहौरीराम जी और श्रावक श्रेष्ठ लाला नौराताराम जी की उपस्थिति में लुधियाना और फिलौर के बीच विहार-मार्ग पर एक वृक्ष के नीचे इनकी अध्यात्म-साधना की कामना को पूर्ण कर इन्हें कृतकृत्य किया और साधुवेष में इन्हें साथ लेकर राहों की ओर विहार कर दिया। राहों पहुंच कर इन्हें आत्मोत्थान के लिए श्री आत्माराम जी महाराज के अध्यात्म-आलोक के पावन नेश्राय में रखकर वे चल दिये अपने अभीष्ट पथ पर। साधु-जीवन में प्रवेश करते ही 'हंसराज' 'हेमचन्द्र' बने और साधना की अग्नि में तप कर निखरते हुए चन्द्र से चमकने लगे।

स्वाध्याय-साधना आरम्भ हुई, संस्कृत का पाण्डित्य चमकने लगा, प्राकृत पर पूर्ण अधिकार हुआ और आचार्य श्री की महती अनुकम्पा से शास्त्र-सिन्धु के गम्भीर तल तक पहुंच कर ज्ञान-रत्नों की उपलब्धि होने लगी। आचार्य श्री के चरणानुगामी बन कर चलते हुए 'छायेवान्वगच्छत्' की उक्ति चरितार्थ करने लगे।

दिल्ली में उपाध्याय श्री अमर मुनि जी महाराज जैसे प्रतिभाशाली महर्षी के साथ पंडित श्री बेचरदासजी जैसे जैनागमों के प्रकाण्ड पण्डित से किए गए स्वाध्याय ने जैन समाज को दो महान् विद्वान् सन्त प्रदान किये। आप श्री जी की विद्वत्ता को परखते हुए ही सम्वत् १९९३ होशियारपुर में चतुर्विध संघ के सम्मुख आचार्य श्री काशीराम जी महाराज ने आपको 'संस्कृत प्राकृत विशारद' पद से विभूषित किया।

आचार्यश्री के लुधियाना में निवास के अनन्तर आप भी उनकी सेवा में ही रहने लगे, स्वाध्याय करते के साथ-साथ स्वाध्याय-साधना करवाते हुए। श्रद्धेय

भण्डारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज जैसे सुयोग्य शिष्य को पाकर आपकी विद्यालता पुष्पित एवं विकसित होने लगी। पंजाब प्रान्त में अधिकतर श्रमण और श्रमणी वर्ग की प्राकृत-ज्ञान की समृद्धि पं० श्री हेमचन्द्र जी महाराज की ही तो देन है। आपके पौत्र शिष्य प्रवचनभूषण श्री अमर मुनि जी महाराज पर भी आपकी विद्यासाधना का परम्परित प्रभाव विद्यमान है।

प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण सूत्र जैन-सिद्धान्तों का, पांच आस्रवों और पांच संवरों का विश्लेषण करने वाला मानो मूल सूत्र है। इसकी व्याख्या आपके प्रखर पाण्डित्यपादप का ही सुन्दर अमृतोपम फल है। जिसका आध्यात्मिक आस्वादन समाज को नई आध्यात्मिक शक्ति और नई आत्मचेतना देगा, यह मेरा अक्षय विश्वास है।

आजकल आपका स्थविर जीवन लुधियाना में ही व्यतीत हो रहा है, जैन समाज की श्रद्धा-प्रतिष्ठा पर आसीन होकर। आपका तपोमय जीवन नव जीवन दे रहा है, अध्यात्म-जीवन के पथिकों को।

—तिलकधर शास्त्री
सम्पादक—आत्मरश्मि, लुधियाना (पंजाब)

प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रकाशन में सहयोगी

उदार दानदाता

५०००) श्री शहजादा राम जी एडवोकेट
M/s रामनारायण शिवजी राम आढ़ती, गिदड़वाहामण्डी एण्ड मुजफ्फरनगर

२१००) श्री अनन्तराम मलेरीराम जी आढ़ती, सफीदोंमण्डी

११००) श्री दीवानचन्द विनोदकुमार जैन, गिदड़वाहामण्डी

११००) लाला कबूलचन्द्र जुगमन्दर लाल जैन, पदमपुर मण्डी

११००) श्री धनपतराम जी जैन, श्री गंगानगर

११००) श्री बनारसीदास कृष्णचन्द्र जैन, मलोट मण्डी

११००) ला० दौलतराम छोगमल जैन, अबोहर मण्डी

११००) श्री चमनलाल धर्मचन्द जैन, संगरिया मण्डी

११००) श्री नरेन्द्र कुमार जैन, एडवोकेट, मुक्तसर

५००) लाला रौनकराम पारसमल जैन, रामांमण्डी

५००) श्री रामजीदास जैन, भिन्ड (मध्य प्रदेश)

अनुक्रमणिका

द्वितीयखंड : संवरद्वार





श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र

उपोद्घात

सूत्रपरिचय

विश्व के समस्त प्राणी सुख के अभिलाषी हैं, कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता। परन्तु समस्त प्राणियों की, विशेषतः मानव की प्रवृत्तियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है, कि मनुष्य प्रायः इन्द्रियों और मन के विषयों तथा पदार्थों में सुख मानकर प्रवृत्ति करता है। नतीजा यह होता है, कि इन्द्रियविषयों, मनोविषयों तथा पदार्थों से होने वाले क्षणिक सुख के नष्ट होते ही पुनः दुःख की परम्परा चल पड़ती है, सुख और शान्ति दूरातिदूर होती जाती है। अतः यह प्रश्न होना स्वाभाविक है, कि सुख के साधनों और शान्ति के मार्ग को अपनाने पर भी दुःख और अशान्ति क्यों मिलती है? यदि अपनाए हुए ये साधन और उपाय दुःख और अशान्ति के जनक हैं, तो वास्तविक और स्थायी सुख-शान्ति के साधन और उपाय कौन-कौन से हैं? और दुःखों के उत्पन्न करने, बढ़ाने और दुःखजनित अशुभ फल के मुख्य कारण कौन-कौन-से हैं? जीवन के ये और इन सरीखे अन्य अनेक ज्वलन्त प्रश्नों की व्याख्या को ही प्रश्नव्याकरण सूत्र की पृष्ठभूमि समझना चाहिये।

क्योंकि प्रश्नव्याकरण सूत्र में वर्णित पांच आश्रवद्वार और पांच संवरद्वार जीवन के इन्हीं मूल प्रश्नों के उत्तर हैं। पांच आश्रव जीवन में दुःखों को बढ़ाने वाले हैं। पांच आश्रवों के फलस्वरूप जीव नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्मों का बंध करता है, और उनके कारण बार-बार विविध शुभाशुभ गतियों और योनियों में परिभ्रमण करके दुःख उठाता है। दूसरी ओर पांच संवर जीवन में स्थायी सुख को बढ़ाने वाले हैं। संवर की विधिवत् साधना-आराधना करके मनुष्य मोक्षसुख को प्राप्त कर लेता है।

इसलिए जीवन के सुखदुःख से सम्बन्धित इन ज्वलन्त प्रश्नों के समाधान के रूप में जो व्याख्या की गई है, उसमें ही वर्तमान में 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' नाम की सार्थकता समझनी चाहिये।

यद्यपि नन्दी सूत्र में प्रश्नव्याकरणसूत्र की जो संक्षिप्त विषय-सूची दी गई है, उसमें अंगुष्ठादि-प्रश्नविद्याओं के प्रतिपादन का उल्लेख है, जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। प्रश्नव्याकरण की प्राचीन व्युत्पत्ति इसी प्रकार की गई है—

'प्रश्नाः—अङ्गुष्ठादिप्रश्नविद्यास्ता व्याक्रियन्ते-अभिधीयन्ते अस्मिन्निति प्रश्नव्याकरणम् ।'

'जिसमें अंगुष्ठादि प्रश्नविद्याओं का प्रतिपादन किया गया है, उसे प्रश्न-व्याकरण कहते हैं।'

वर्तमान काल में पांच आश्रव और पांच संवर का वर्णन ही दश अध्ययनों में मिलता है। इस सूत्र का दूसरा नाम 'प्रश्नव्याकरण दशा' भी मिलता है। उसका तात्पर्य यह है, कि यह सूत्र दश अध्ययनों में विभक्त है, इसमें पांच आश्रव द्वार हैं और पांच संवर द्वार हैं। इस कारण इस सूत्र के नाम के साथ 'दशा' शब्द जोड़ा गया है। पूर्वाचार्यों ने वर्तमान युग के मानवों की शक्ति, बुद्धि और वीर्य की हीनता और न्यूनता की अपेक्षा से प्रश्नादि विद्याओं के बदले इसमें जीवन के वास्तविक प्रश्नों की मीमांसा के रूप में आश्रवों और संवरों का विवेचन अवतरित कर दिया है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र दसवां अंग सूत्र है। अंगसूत्रों का प्ररूपण या अर्थकथन सीधे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा किया गया है, बाद में गणधरों ने इन्हें शब्दों में संकलित-ग्रथित किया है। इसलिए इस सूत्र का बड़ा महत्त्व है। जो शास्त्र जीवों को अज्ञान और मोहवश अनेक दुःखों की परम्परा में उलझते देखकर उनके प्रति परम दया और हितबुद्धि से प्रेरित होकर स्वयं तीर्थंकर प्रभु के मुखारविन्द से प्राप्त है, उसकी महत्ता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। फिर भी प्रत्येक शास्त्र के प्रारम्भ में चार प्रकार का अनुबन्ध बताना आवश्यक होता है, ताकि पाठक और श्रोता को उस शास्त्र की उपादेयता मालूम हो जाय।

किसी भी शास्त्र के प्ररूपण की प्रवृत्ति के विषय में सर्वतोमुखी ज्ञान होना जरूरी है और इसे ही अनुबन्ध कहा जाता है। यह अनुबन्ध चार प्रकार का होता है—विषय, अधिकारी, सम्बन्ध और प्रयोजन।

इस शास्त्र में कौन-कौन-से विषयों का वर्णन है? यह पहले कहा जा चुका है। इस सूत्र के अधिकारी श्रमण और श्रद्धालु श्रोता हैं। जो मनुष्य रात-दिन आरम्भ-समारम्भ में और परिग्रह बढ़ाने में ही रचापचा रहता है, वह इस सूत्र के पठन और श्रवण का अधिकारी नहीं हो सकता। सम्बन्ध—इस सूत्र के साथ उपायोपेयभाव या प्रेर्य प्रेरक-भाव है। यह शास्त्र प्रेरक है—अनिष्ट (हेय) से दूर हटाने और इष्ट (उपादेय) में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देने वाला है, और जिस व्यक्ति को प्रेरणा दी जाती है, वह प्रेर्य है। इसी प्रकार यह शास्त्र दुःखनिवृत्ति का तथा

सुख में प्रवृत्ति का उपाय बतलाता है, और जिसे उपाय बतलाया जाता है, वह उपेय व्यक्ति है। इस शास्त्र का मुख्य प्रयोजन जीवों को अपनी अज्ञानदशा से क्षणिक वैषयिक एवं पदार्थजन्य सुखों से होने वाले दुःखों की परम्परा को अवगत करा कर स्थायी और अविनाशी मोक्ष सुख की ओर प्रवृत्त कराना है। इसी प्रयोजन को आगे मूलसूत्र में स्पष्ट किया गया है। मतलब यह है, कि संसारी जीव हेय (आश्रवों) को हेय समझकर उपादेय (संवरों) में प्रवृत्त हों, यही इस शास्त्र की रचना का मुख्य प्रयोजन है।

प्रस्तुत शास्त्र की रचना कब और कैसे ?

प्रस्तुत शास्त्र की प्ररूपणा और रचना कब और कैसे हुई, इस सम्बन्ध में ज्ञातासूत्र के प्रथम अध्ययन में वर्णित सन्दर्भ के आधार पर निम्नोक्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है—

प्राचीन काल में अंगदेश (वर्तमान में बिहार प्रान्त के एक प्रदेश) की राजधानी चम्पा नाम की नगरी थी। वहाँ महाप्रतापी सम्राट कोणिक राज्य करता था।

एक बार भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य स्थविर गणधर आर्य सुधर्मास्वामी अपने जम्बू आदि पांच सौ शिष्यों के साथ अनेक गांवों और नगरों में विचरण करते हुए तथा तप और संयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए उस नगरी के बाहर पूर्णभद्र नामक उद्यान में पधारे, आकर विराजे।

मुनिपुंगव श्री सुधर्मास्वामी का पदार्पण सुनकर सम्राट कोणिक और चम्पानगरी की प्रजा अतीव आनन्दित हुई। वह उनके दर्शन और प्रवचन-श्रवण के लिए बरसाती नदी की भांति उमड़ पड़ी। और प्रवचन सुनकर वापिस लौट गई।

उसके पश्चात् आर्य सुधर्मास्वामी के प्रधान शिष्य आर्य जम्बू स्वामी ने विनयपूर्वक गुरुदेव से प्रश्न किया—"भंते ! मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा प्ररूपित नौवें अंग अनुत्तरोपपातिक सूत्र का वर्णन तो आपके श्रीमुख से श्रवण कर लिया, अब कृपा करके यह फरमाइये, कि उन श्रमण भगवान् महावीर प्रभु ने दशवें अंग प्रश्नव्याकरणसूत्र में किन-किन विषयों का प्रतिपादन किया है।"

इसके उत्तर में आर्य सुधर्मास्वामी ने कहा—'आयुष्मन् जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दशवें अंग प्रश्नव्याकरण सूत्र को आश्रवद्वार और संवर द्वार—इन दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त करके दश अध्ययनों में प्ररूपित किया है। पहले के पांच अध्ययनों में पांच आश्रवों का और पिछले पांच अध्ययनों में पांच संवरों का क्रमशः वर्णन किया है।

पुनः आर्य जम्बूस्वामी ने पूछा—"स्वामिन् ! प्रथम श्रुतस्कन्ध में श्रमण भगवान् महावीर ने किन-किन विषयों का किस प्रकार प्ररूपण किया है ?" इसके उत्तर में आर्य सुधर्मास्वामी ने कहा—सो, सुनो !

मूलपाठ

जम्बू ![1] इणमो अण्हय-संवरविणिच्छयं पवयणस्स निस्संदं।
वोच्छामि णिच्छयत्थं सुहासियत्थं महेसीहिं ॥१॥

संस्कृत-छाया

जम्बू ! इदमास्नवसंवरविनिश्चयं प्रवचनस्य निस्यन्दम् ।
वक्ष्यामि निश्चयार्थं सुभाषितार्थं महर्षिभिः ॥१॥

पदार्थान्वय–(जम्बू) हे जम्बू ! (महेसीहिं) महर्षि तीर्थंकरों ने, (सुहासियत्थं) जिसका अर्थ भलीभांति बताया है, (अण्हयसंवरविणिच्छयं) जिसमें आश्रव और संवर का विशेष रूप से निश्चय किया गया है, ऐसे (पवयणस्स निस्संदं) प्रवचन के निस्यन्द-निचोड़ अर्थात् साररसरूप (इणमो) इस शास्त्र को, (णिच्छयत्थं) निश्चय करने के लिए अथवा मोक्ष के प्रयोजन के लिए, (वोच्छामि) कहूंगा।

मूलार्थ हे जम्बू ! इस प्रश्नव्याकरण सूत्र को, जिसमें आश्रव और संवर का विशेष विवेचन है, जिसका अर्थरूप से प्ररूपण श्रमण भगवान् महावीर ने किया है, और महर्षि गणधरों ने जिसका सूत्र रूप से संकलन किया है, जो द्वादशांग आगम का सारभूत रस है, मैं निश्चय के लिए या मोक्षप्राप्ति के प्रयोजन के लिए कहूंगा।

व्याख्या

किसी भी शास्त्र या ग्रन्थ की उपादेयता में पांच निमित्त होते हैं—(१) पूर्वापर सम्बन्ध, (२) उसका प्रतिपाद्य विषय, (३) उसकी सुलभ प्राप्ति (४) आप्त द्वारा उसकी रचना एवं (५) इष्ट प्रयोजन।

जिस शास्त्र में पूर्वापर सम्बन्ध नहीं होता, वह उन्मत्त के असम्बद्ध वचन की तरह आदरणीय नहीं होता। जिस शास्त्र में वास्तविक वस्तु का वर्णन न होकर 'आकाश के फूलों का सेहरा बांध कर वन्ध्या पुत्र विवाह करने जा रहा है' इत्यादि वाक्यों की तरह ऊटपटांग बातें लिखी गई हों या जिसमें जीवन की वास्तविक समस्या को हल करने वाली बातें न हों, वह शास्त्र भी उपादेय नहीं होता। इसी तरह जिस शास्त्र में प्रतिपादित विषय सर्वसुलभ या बोधगम्य न होकर 'तक्षकसर्प के मस्तक में रही हुई मणि का आभूषण बना कर पहनने से सब प्रकार के ज्वर नष्ट हो जाते हैं' के समान दुर्गम और दुरूह उपाय बताए गए हों, उसे भी सज्जन नहीं अपनाते। इसी प्रकार जो शास्त्र या ग्रन्थ निःस्वार्थ हितोपदेष्टा आप्त पुरुषों के द्वारा रचित नहीं होता, वह भी कोई रास्ते चलता मनचला किन्हीं बालकों से यह कहे, कि

[1] किसी प्रति में इससे पूर्व मंगलाचरण के रूप में 'नमो अरिहंताणं' भी मिलता है।

'बच्चो ! दौड़ो ! दौड़ो ! उस ताड़ के नीचे लड्डुओं का ढेर पड़ा है' इत्यादि वाक्यों की तरह विश्वसनीय नहीं होता। और न ही 'पुत्रोत्पत्ति के लिए माता के साथ विवाह करो'; या 'सुखवृद्धि के लिए दूसरों को लूटो-खसोटो और मारो'; इत्यादि वचनों की तरह अनिष्ट प्रयोजन वाले प्रवचन सत्पुरुषों द्वारा ग्राह्य होते हैं।

परन्तु इस शास्त्र में शास्त्र की उपादेयता के बारे में बताए गए पूर्वोक्त पांचों निमित्त पाये जाते हैं, जो इस मूलगाथा से स्पष्ट है। मूलगाथा में उक्त 'अण्हयसंवरविणिच्छयं' पद से पूर्वापर सम्बन्ध तथा इसमें प्रतिपाद्य विषय का संकेत किया गया है। इस शास्त्र में उपर्युक्त पद के अनुसार आश्रवों और संवरों का विस्तृत और स्पष्ट वर्णन किया गया है, जिसे पढ़-सुन कर प्रत्येक व्यक्ति आसानी से हृदयगम कर सकता है। और सुलभता से आश्रवों से वियुक्ति और संवरधर्म की प्राप्ति कर सकता है। इसी प्रकार 'महेसिहिं सुहासियत्थं' पद से यह शास्त्र वीतरागी सर्व जीवहितैषी आप्त पुरुषों द्वारा प्रतिपादित सिद्ध होता है और 'णिच्छयत्थं' पद से मोक्षप्राप्ति रूप इष्ट प्रयोजन भी सूचित किया गया है। इस प्रकार इस शास्त्र की उपादेयता में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता।

आश्रय—'आ—समन्तात् श्रवन्ति—प्रविशन्ति कर्माणि येन स आश्रवः'— इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिन कारणों से आत्मा में कर्म चारों ओर से प्रविष्ट होते हैं, उसे आश्रव कहते हैं। इसे एक दृष्टान्त द्वारा समझना ठीक होगा—

समुद्र के अगाध जल पर कोई नाव तैर रही है, सहसा उसमें छिद्र हो जाय तो चारों ओर से उसमें जल आने लगता है। इसी प्रकार यह संसार समुद्र के समान अथाह है, इसमें कार्माण वर्गणा के रूप में कर्मरूपी पानी लबालब भरा हुआ है,आत्मा रूपी नौका इसमें तैरना चाहती है, परन्तु उसमें हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन और परिग्रह ये पांच आश्रवरूपी पांच बड़े-बड़े छेद हो गये हैं, उन छेदों से कर्मरूपी जल चारों ओर से सतत घुसता रहता है, वह आत्मारूपी नौका को डुबा रहा है। मतलब यह है, कि आश्रवरूपी छेदों के द्वारा कर्मजल आत्मारूपी नौका में भर जाने से उसका डूब जाना निश्चित है।

संवर—'संव्रियन्ते निरुध्यन्ते कर्मकारणानि येन भावेन स संवरः'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'आत्मा के जिस परिणाम से आत्मा में आते (प्रविष्ट होते) कर्म रुक जाय, अथवा कर्मों का आश्रव (आगमन) जिससे बंद हो जाय, उसे संवर कहते हैं।

उदाहरण के तौर पर—जब आत्मा अपने समिति, गुप्ति, व्रत, अनुप्रेक्षा आदि शुभ परिणामों से उन आश्रवरूपी छेदों को बंद कर देता है, रोक देता है, तो कर्मरूपी जल आत्मारूपी नौका में नहीं भर सकता और वह आत्मनौका सहीसलामत

संसारसमुद्र को पार करके अपने गन्तव्यस्थल—मोक्ष में पहुँच सकती है। फिर वह डूबती नहीं।

अण्हयसंवरविणिच्छयं—आश्रवों और संवरों के भेदों और उनके अशुभ-शुभ फलों द्वारा उनके स्वरूपों का विशेष स्पष्टरूप से इस शास्त्र में निर्णय किया गया है। जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के लिए हेय और उपादेय का निर्णय कर सके।

प्रसंगवश यहाँ आश्रव और संवर के मुख्य भेद तथा द्रव्य और भाव रूप से उनके प्रकार भी बतलाते हैं—

आश्रव के मुख्य भेद पांच हैं—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह। इन पांचों आश्रवों के दो प्रकार हैं—द्रव्याश्रव और भावाश्रव। कर्मपुद्गलों का आना द्रव्याश्रव कहलाता है और आत्मा के जिन परिणामों से कर्मपुद्गल आते हैं, उन रागद्वेषादिरूप परिणामों—भावों को भावाश्रव कहते हैं। इसी प्रकार संवर के भी मुख्य भेद पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन पांचों संवरों के भी दो प्रकार हैं—द्रव्यसंवर और भावसंवर। आते हुए कर्मों का रुक जाना द्रव्यसंवर कहलाता है और आत्मा के जिन शुद्ध परिणामों से आते हुए कर्म रुक जाते हैं, उन समिति-गुप्ति आदि परिणामों को भावसंवर कहते हैं।

पवयणस्स निस्संदं—इस पद से इस शास्त्र की महत्ता बताई गई है, कि यह शास्त्र केवल वचन ही नहीं, प्रवचन है। प्रवचन किसी न किसी विशेष उद्देश्य को लेकर दिया जाता है, वह निश्चित सिद्धान्तों के अनुरूप होता है। साथ ही यह शास्त्र प्रवचन ही नहीं, प्रवचन का निस्यन्द यानी निचोड़ है। श्रमण भगवान् महावीर द्वारा कथित द्वादशांगरूप आगमों को प्रवचन कहते हैं। यह शास्त्र उस का सारभूत तत्त्व है। खजूर आदि फलों में जैसे उनकी गुठली, छिलके आदि निःसार होते हैं और उनका रस ही सारभूत होता है; वही शरीर में बल, बुद्धि और वीर्य की वृद्धि करता है, वैसे ही यह सूत्र द्वादशांगी ज्ञान का सार है। चूँकि ज्ञान का सार आचरण है। उत्तम आचरण करने से और ज्ञान द्वारा आश्रवों से निवृत्त और संवर में प्रवृत्त होने से आत्मा में बल, वीर्य और आनन्द की वृद्धि होती है, जिससे आगे चल कर मोक्षरूप उत्तम फल की प्राप्ति होती है। कहा भी है—

'सामाइयमाइयं सुयनाणं जाव बिंदुसाराओ।
तस्स वि सारो चरणं, सारो चरणस्स निव्वाणं॥'

सामायिक से लेकर बिन्दुसारपर्यन्त द्वादशांगीरूप श्रुतज्ञान है। उसका सार चारित्र है, और चारित्र का भी सार निर्वाण है।

सुहासियत्थं महेसीहिं—इस पद से शास्त्र को आप्तपुरुषों द्वारा भाषित बतला कर इसकी विश्वसनीयता व्यक्त की है। जगत् के समस्त जीवों के हितैषी वीतराग

महर्षियों द्वारा इस शास्त्र का अर्थरूप में प्रतिपादन किया गया है, उसी की सूत्र रूप में रचना अतिशयज्ञानी गणधर करते है। कहा भी है—"अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं," अर्थात्—अर्हन्तदेव उस समय की लोकप्रचलित भाषा (अर्धमागधी) में अर्थरूप से विषय का प्रतिपादन करते हैं, उसी को कुशलतापूर्वक द्वादशांगी आगम के रूप में प्रबुद्ध गणधर शब्दबद्ध करते हैं। पूर्वोक्त पद के द्वारा गणधर आर्य सुधर्मास्वामी ने वीतराग द्वारा प्ररूपित बता कर प्रस्तुत शास्त्र की विश्वसनीयता और अपनी नम्रता प्रगट कर दी है।

वोच्छामि—इस पद के द्वारा आर्य सुधर्मास्वामी ने भगवद्भाषित प्रवचन को शास्त्ररूप में संकलित करने की प्रतिज्ञा की है।

णिच्छयत्थं—इस पद से दो अर्थ सूचित होते हैं—एक तो यह कि इस शास्त्र को पढ़-सुनकर हेय-उपादेय का निश्चय करने के लिए'—'आश्रवों को छोड़ने और संवरों को अपनाने का निश्चय करने के लिए', दूसरा यह कि 'निर्गतः कर्मणां चयो निश्चयो मोक्षस्तदर्थं तत्प्राप्तये' यानी जिसमें से कर्मों का संचय निकल गया है, उस मोक्ष की प्राप्ति के लिये। इस पद से शास्त्ररचना का प्रयोजन भी स्पष्ट हो जाता है।

जीवन के लिए दुःखदायक, दुःखद फल प्राप्त कराने वाले और दुःखों की परम्परा बढ़ाने वाले तथा दुःखों के कारण कर्मों के बन्ध को लेकर नाना योनियों और गतियों में बार-बार भ्रमण कराने वाले कौन हैं ? इसका संक्षिप्त उत्तर है—आश्रव। अब विस्तार से इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए इस सूत्र मे सर्वप्रथम आश्रवों का निरूपण करते हैं—

मूलपाठ

पंचविहो पण्णत्तो जिणेहिं इह अण्हओ अणादीओ।
हिंसा १ मोस २ मदत्तं ३ अबंभं ४ परिग्गहं ५ चेव ॥२॥

संस्कृत-छाया

पंचविधः प्रज्ञप्तो जिनैरिहास्नवोऽनादिकः।
हिंसा मृषाऽदत्तमब्रह्म परिग्रहश्चैव ॥२॥

पदार्थान्वय—(इह) इस आगम में अथवा इस संसार में, (अण्हओ) आश्रव (हिंसा) प्राणिवध, (मोस) मृषावाद-असत्य, (अदत्तं) चोरी, (अबंभं) अब्रह्मचर्य, मैथुन (परिग्गहं) परिग्रह, इस प्रकार (जिणेहिं) जिनेन्द्र देवों ने, (पंचविहो) पांच प्रकार का (चेव) ही, (पण्णत्तो) कहा है, और यह (अणादीओ) अनादि है।

मूलार्थ—इस सूत्र में अथवा इस संसार में जिनेन्द्र देवों ने आश्रव

बोलते, जिससे सरकार द्वारा कानूनन दण्डित हो, लोकव्यवहार में निन्दित हो, देश, जाति और जनता में परस्पर फूट और वैमनस्य पैदा हो जाए।

मनुष्य की कुलीनता या महानता की परीक्षा उसके वचनों पर से हो जाती है। जिसका वचन सत्यगुण से युक्त होता है, वह मानव संसार में देवतुल्य माना जाता है। उसका निर्मल धवल यश संसार में फैल जाता है तथा उसके वचन से प्राणी अपने कल्याण की कामना करते हैं और वे उसके वचनामृत को उसी तरह सुनने को लालायित रहते हैं, जिस तरह मेघगर्जना को सुनने के लिए मोर उत्सुक रहता है।

जिन वचनों के बोलने से प्राणियों को पीड़ा पहुँचती है,वे भी असत्य के अन्तर्गत हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में बताया है—'असदभिधानमनृतम्' अर्थात् कषायवश प्राणियों को पीड़ा देने वाले असद्—अप्रशस्त वचन बोलना भी असत्य है। इसलिए कल्याणकारी पुरुष को सदा सत्य, हित, मित और प्रिय बोलना चाहिये। ऐसे सत्यभाषी नरश्रेष्ठ ही संसार में वन्दनीय, पूजनीय और स्वपर-कल्याणकर्ता होता है।

अदत्तादान—किसी की वस्तु उसकी अनुमति के बगैर या दिये बिना ग्रहण कर लेना अदत्तादान है। इसे लोक-व्यवहार में चोरी कहते हैं। चोरी केवल दूसरे के अर्थ या पदार्थों की ही नहीं होती, अपितु नाम, अधिकार, उपयोग या भावों की भी होती है।

चोरी करने वाला हमेशा भयभीत रहता है, क्योंकि उसे हर समय प्राण जाने की शंका चोरी करने से पहले और बाद में बनी रहती है। भय ही पापकर्म के बंध का कारण है। संसार में जितने भी पापकार्य हैं, सब में अन्दर ही अन्दर भय छिपा हुआ होता है। प्रारम्भ में जब मनुष्य पापकर्म करता है, तब आत्मा में एक प्रकार के अव्यक्त भय का संचार होता है। इसलिए किसी व्यक्ति की गिरी हुई, पड़ी हुई, बिना दी हुई या अनुमति न दी हुई वस्तु—जिसके हम स्वामी न हों, कदापि ग्रहण नहीं करनी चाहिये।

आज विश्व में जो अशान्ति मची हुई है, वह इसी (अदत्तादान) दोष का दुष्परिणाम है। निर्बल मनुष्य की वस्तु (सम्पत्ति या साधन) सबल छीनना-झपटना और जबरन अपने अधिकार में कर लेना चाहता है, यही विश्व में विषमता, द्वन्द्व और कलह का कारण है, यही मुकद्दमेबाजी का कारण है। पहले और अब जितने भी कलह हुए हैं या हो रहे हैं, वे सब इसी पाप के कुफल हैं। यदि संसार वीतराग-वचनामृत के अनुसार चलने लगे और इस आश्रव का त्याग करे तो विश्व में सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य हो जाय, सभी सुख-चैन की बंसी बजाते हुए स्वपर कल्याण में रत हो जाय। मगर यह सब अनुचित लोभ, अनीति, बेईमानी और धांधेबाजी का त्याग करने पर ही हो सकता है।

अब्रह्म— मन, वचन और काया से कामवासना का सेवन करना, शीलभंग करना या मैथुन करना अब्रह्मचर्य है। यह भी अधर्म का मूल, महादोषों की जीवन में वृद्धि करने वाला, आत्मा के पतन का जनक एवं श्रेयोमार्ग (मोक्षपथ) में बड़ा विघ्न है। पाँचों इन्द्रियों में स्पर्शनेन्द्रिय महा-बलवान है। जिन महापुरुषों ने इसे अपने वश में कर लिया, वे जगद्वन्द्य हुए हैं। जगत् का उद्धार भी उन्हीं पूर्ण ब्रह्मचारियों द्वारा हुआ है।

यही कारण है, कि साधु मुनियों को इस अब्रह्मचर्य का मन, वचन और काया से कृत, कारित, अनुमोदित रूप से सर्वथा त्याग करना अनिवार्य होता है। लेकिन गृहस्थ इसका सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। उसे इसकी मर्यादा करनी जरूरी है। यानी वह स्वदारसंतोष परदारविरमण के रूप में इस (ब्रह्मचर्य) व्रत का पालन करता है। विधिवत् जिसके साथ पाणिग्रहण किया है, उसके सिवाय समस्त स्त्रियों के साथ वह मैथुन सेवन का त्याग करता है। अपनी धर्मपत्नी के साथ भी अमर्यादित रूप से वासना सेवन नहीं करता। इस प्रकार आंशिकरूप से इस आश्रव को छोड़कर मर्यादित ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहस्थ श्रावक भी परम्परा से मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

परिग्रह— किसी पदार्थ का मूर्च्छा-ममतापूर्वक ग्रहण करना या उस पर ममत्व रखना परिग्रह है।

परिग्रह के मुख्य दो भेद है - अन्तरंग और बाह्य। आत्मा की शुद्ध परिणति के सिवाय जितने भी विकार भाव, (मिथ्यात्व, राग, द्वेष, कषाय, मोह आदि) हैं, वे सब अन्तरंग परिग्रह हैं। इस शरीर और शरीर से सम्बद्ध जितने भी बाह्य पदार्थ हैं— फिर वे चाहे जड़ हों या चेतन (स्त्री, पुत्र, दास-दासी, धन, धान्य, मकान, सोना, चांदी, लोहा आदि धातु, नकद रूपये आदि) वे सब बाह्य परिग्रह हैं।

आत्मा को संसार में जन्म-मरण के चक्कर दिलाने वाला वस्तुतः परिग्रह ही है। संसार में जन्म, मृत्यु, बुढापा आदि से होने वाले दुःखों से संतप्त होकर साधुमुनिवर पाप-पोषक व पाप-परम्परावर्द्धक इस परिग्रह आश्रव का सर्वथा त्याग करते हैं।

यद्यपि[1] साधु मुनिराज भी अपने संयम-निर्वाह, लज्जा-निवारण आदि के

---

१ जंपि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुच्छणं।
तंपि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥
—दशवैकालिकसूत्र अ. ६, गा. २०, २१

लिए कुछ धर्मोपकरण रखते हैं, किन्तु वे परिग्रह में शुमार नहीं हैं। क्योंकि परिग्रह तो ममता, मूर्च्छा होने पर होता है, साधुजन उन पर ममत्व नहीं रखते। अतः निर्द्वन्द्व, निर्भीक, निराकुल और निश्चिंत रहते हैं। वे असीम सुखशान्ति का अनुभव करते हैं। उन्हें इष्ट वस्तु के वियोग और अनिष्ट वस्तु के संयोग में बेचैनी नहीं होती। उन्हें किसी बात का भय और खतरा नहीं होता। वे किसी धनिक और सत्ताधारी की गुलामी या चापलूसी नहीं करते। वे स्व-पर कल्याण साधना में रत रहते हैं। ऐसे निःस्पृह और निष्परिग्रही साधु ही परिग्रह के दलदल में फँसे हुए अशान्त और व्याकुल प्राणियों को ममता से समता की ओर लाकर स्थायी सुखशांति से लाभान्वित कर सकते हैं। वे गृहस्थ श्रावकों को परिग्रह का परिमाण (मर्यादा-सीमा) करने की प्रेरणा देते हैं।

वास्तव में देखा जाय, तो धनादि वस्तुओं में लुब्ध सांसारिक लोग धनादि साधन जुटाने, बढ़ाने, रक्षा करने तथा भविष्य में उन वस्तुओं की प्राप्ति की लालसा में एवं जिनके पास अधिक परिग्रह है, उनसे ईर्ष्या करने, कलह करने आदि में अनेक प्रकार से हिंसा करते हैं, असत्य बोलते हैं, बेईमानी और अनीति करते हैं, चोरी, डकैती, लूट, झूठ, फरेब आदि करते हैं। धन, सत्ता आदि वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए वे नीति-अनीति, कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म की परवाह न करते हुए अनेक प्रकार के हथकंडे रचते हैं, रात-दिन इसी धुन में लगे रहते हैं। फिर चाहे उन्हें इस प्रकार धनादि साधन जुटाने में अहर्निश चिन्ता, दुःख, रोग, कलह, वैमनस्य, भय और अप्रतिष्ठा का सामना ही क्यों न करना पड़े। वे यह नहीं सोचते, कि धन, सत्ता या अन्य जितने भी सुखसाधन प्राप्त हुए हैं, वे सब पूर्वोपार्जित पुण्य के फल हैं। पुण्य क्षीण होते ही ये सब बादलों की छाया के समान अदृश्य हो जायेंगे। हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि जो कल करोड़ों की सम्पत्ति का मालिक था, वही आज दर-दर का भिखारी बना हुआ है; जो आज राष्ट्र के शासनसूत्रों को संभाले हुए है, कल पद के समाप्त होते ही उसे कुर्सी से उतार दिया जाता है, तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। आज जो स्वस्थ, सुन्दर और सुडौल शरीर पर इतराता है, कल वही शरीर के रोगग्रस्त, घिनौना और दयनीय बन जाने पर आंसू बहाता है।

जैन सिद्धान्त की दृष्टि से सोचा जाय तो धन, सुख के साधन, स्वस्थ शरीर आदि सब पूर्वकृत पुण्य से प्राप्त होते हैं। परन्तु जब पुण्य समाप्त हो जाता है या होने लगता है, और दानधर्मादि करके नया पुण्य भी उपार्जित नहीं होता है, तो इन सब इष्ट वस्तुओं का या तो वियोग हो जाता है या वे ही वस्तुएँ अनिष्ट रूप में बदल जाती हैं। धन खत्म होने लगता है या धन के कारण मुकद्दमेबाजी, चिन्ता, जान को खतरा, चोरी-डकैती आदि के भय लग जाते हैं। फिर मनुष्य उसे मोह की बढ़ी-

बड़ी तिजोरियों में बड़े-बड़े खंभाती ताले लगा कर रखेगा तो भी रह नहीं सकेगा। स्वस्थ और सुडौल शरीर भी रोगग्रस्त हो जाता है। साधनों के लिए आपस में कलह होने लगेंगे या प्राप्त इष्ट साधन भी अनिष्ट के रूप में बदल जायेंगे, उनका दुरुपयोग होने लगेगा।

अतः इन सबको रोकने में यदि कोई समर्थ है, तो वह है धर्म। धर्म सेवन रूपी जल से पुण्यरूपी वृक्ष को सींचते रहेंगे तो ये इष्ट साधन टिके भी रहेंगे और इनका दुरुपयोग न होने से वे अनिष्ट के रूप में भी नहीं बदलेंगे। और अन्त में, इन्हीं धन, शरीर आदि इष्ट साधनों द्वारा मोक्षप्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करके मोक्ष-फल भी प्राप्त किया जा सकेगा।

इतना समझते हुए भी जो कामभोगों में आसक्त हो कर बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह को अनाप-सनाप तौर से बढ़ाता रहेगा, परिग्रह की लालसा में डूबा रहेगा, वह अपने हाथ में आए हुए मानव जीवनरूप चिन्तामणिरत्न को खो बैठेगा और सदा पछताएगा, बार-बार चतुर्गति वाले संसार वन में भटकता रहेगा और जन्म-मरण के दुःख उठायेगा। साथ ही वह परिग्रहलालसा के कारण इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग के रूप में अनेक दुःखों को जन्म-जन्मान्तर में भोगता रहेगा।

यदि साधु की तरह कोई व्यक्ति पूर्णतया परिग्रहवृत्ति का त्याग न कर सके, तो कम से कम परिग्रह की सीमा (मर्यादा) करके अनुचित लोभ—लालसा का त्याग करे, अन्याय-अनीति से धन या साधन उपार्जित करने का त्याग तो अवश्यमेव करे और शुभकर्मवशात् प्राप्त धन या साधनों में ही सतुष्ट रहे, अधिक धन या साधनों के स्वामियों को देखकर मन में उनके प्रति ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, संघर्ष, या प्रतिस्पर्धा की भावना जरा भी न लाए। संतोष रखकर कम से कम साधनों से मस्ती के साथ जीवननिर्वाह करने का अभ्यास हो जाने से मनुष्य को स्वतः ही अपरिग्रह का आनन्द मिलेगा, चिन्ताओं, लालसाओं और दुविधाओं से दूर रहकर वह निश्चिंतता से आत्मचिन्तन कर सकेगा, धर्मध्यान में लीन हो सकेगा और स्वस्थतापूर्वक धर्माचरण करके मोक्षसुख का साक्षात्कार कर सकेगा। इसलिए अच्छी बात तो यह होगी, कि यदि किसी के पास पूर्वकृत पुण्य के फलस्वरूप धन या साधन के रूप में परिग्रह है भी तो उसे वह साधनहीनों, असहायों, दीनदुःखियों, अनाथों, विधवाओं, अपाहिजों को उदारता से दान दे, सहायता करे, धर्मपरायण त्यागी महापुरुषों की प्रेरणा से चल रही सुसंस्थाओं को कर्त्तव्य भाव से प्रेरित होकर दे, निर्धन बालकों की शिक्षा-दीक्षा और संस्कारवृद्धि के कार्यों में उसे लगाए।

अन्यथा, मूर्च्छापूर्वक संचित धन या साधन के रूप में परिग्रह अनेक प्रकार के पापों को जन्म देगा, जीवन को हिंसा, झूठ, दम्भ, व्यभिचार, दुर्व्यसन आदि अनेक दुर्गुणों का अड्डा बना देगा, और एक दिन आसक्ति करके संचित किया

हुआ यह नाशवान परिग्रह अवश्य ही धोखा देकर चला जायगा, फिर पछताने के सिवाय मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकेगा। अतः इस का दानादि धर्म के पालन के रूप में सदुपयोग कर लेना चाहिए।

गाथा में उक्त 'च' और 'एव' शब्द—इस गाथा में जो 'च' शब्द है, वह समुच्चय के लिए है। इसी कारण 'अब्रह्म और परिग्रह' इन दोनों का समुच्चय-संयोजन करने के लिए 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है। और 'एव' शब्द अवधारणार्थक है, निश्चय अर्थ में है। यानी 'एव' शब्द से यह सूचित किया गया है, कि हिंसा आदि भेदों से ही आश्रव ५ प्रकार का है, लेकिन प्रकारान्तर से इसके अनेक भेद हो सकते हैं। इसलिए प्रसंगवश अब हम आश्रव के उन ४२ भेदों को बताते हैं।

आश्रव के ४२ भेद—प्रकारान्तर से आश्रव के ४२ भेद भी होते हैं; एक गाथा में उसका दिग्दर्शन कराया जाता है—

'इंदिय-कसाय-अव्वय-किरिया पण-चउर-पंच-पणवीसा॥
जोगा तिन्नेव भवे बायाला आसवो होइ॥'

अर्थात्—'५ इन्द्रियाँ, ४ कषाय, ५ अव्रत, २५ क्रियाएँ और ३ योग; इस प्रकार आश्रव के ४२ भेद होते हैं।'

पांच इन्द्रियाँ—पांच इन्द्रियाँ आश्रव तभी कहलाती हैं, जब वे विषयों के मैदान में बेलगाम खुल्ली छोड़ दी जांय। पांच इन्द्रियां इस प्रकार हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

चार कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों कषाय कर्मों के आगमन के कारण होने से आश्रव कहे गए हैं।

पांच अव्रत—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य (मैथुन) और परिग्रह। इन पांचों का विवेचन तो प्रस्तुत सूत्र में विस्तार से किया है।

पच्चीस[1] क्रियाएँ—१ कायिकी, २ आधिकरणिकी, ३ प्राद्वेषिकी, ४ पारितापनिकी, ५ प्राणातिपातिकी, ६ आरंभिकी, ७ पारिग्रहिकी, ८ मायाप्रत्ययिकी, ९ मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी, १० अप्रत्याख्यानिकी, ११ दार्शनिकी, १२ स्पार्शनिकी, १३ प्रातीत्यिकी, १४ सामन्तोपनिपातिकी १५ नैसृष्टिकी, १६ स्वाहस्तिकी, १७ आनयनिकी, १८ वैदारणिकी, १९ अनाभोगिकी, २० अनवकांक्षाप्रत्ययिकी २१ प्रायोगिकी, २२ सामुदायिकी, २३ प्रेम (राग) प्रत्ययिकी, २४ द्वेषप्रत्ययिकी, २५-ऐर्यापथिकी। ये पच्चीस क्रियाएँ कर्मों के आगमन की कारण होने से आश्रव कही गई हैं।

---

१ इन क्रियाओं का विशेष विवरण स्थानांगसूत्र स्थान ५ उ० २ तथा स्थान २ उ. १ में देखें।

प्रथम आश्रवद्वार : अधर्म द्वार



प्रथम अध्ययन : हिंसा-आश्रव

आश्रवों का समुच्चयरूप से निरूपण पढ़ने के बाद सहसा शंका होती है कि प्रथम आश्रव किस प्रकार का है ? उसका स्वरूप क्या है ? उसके क्या-क्या कुफल हैं ? अतः इसके उत्तर में यहाँ से प्रथम आश्रव द्वार प्रारम्भ करते हैं—

प्रतिपाद्य विषय का वर्गीकरण

मूलपाठ

जारिसओ, जंनामा जह य कओ जारिसं फलं देति[1] ।
जे वि य करेंति पावा पाणवहं तं निसामेह ॥३॥

संस्कृत-छाया

यादृशको यन्नामा यथा च कृतो यादृशं फलं ददाति ।
येऽपि च कुर्वन्ति पापाः, प्राणवधं तं निशामयत ॥३॥

पदार्थान्वय—(जारिसओ) जिस प्रकार का उसका स्वरूप है, (जंनामा) जो जो उसके नाम हैं, (जह य कओ) जैसे किया जाता है, (जारिसं) जैसा, (फलं) दुःख रूप फल, (देति) देता है, (जे वि य) और जो भी, (पावा) पापीजीव (करेंति) उसका सेवन करते है, (तं) उस, (पाणवहं) प्राणवध के बारे में (निसामेह)- मेरा कथन सुनो ।

मूलार्थ—श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं—हे जम्बू ! प्राणवध (हिंसा) का क्या स्वरूप है ? उसके कौन-कौन से नाम हैं ? वह जिस तरह से किया जाता है तथा वह जो फल देता है, और जो-जो पापी जीव उसे करते हैं, उन सबको सुनो ।

व्याख्या

इस गाथा मे प्रथम आश्रवद्वार में वर्णनीय प्राणवध (हिंसा) आश्रव के सम्बन्ध

---

१ किसी किसी प्रति में 'दिति' शब्द मिलता है ।

में क्या-क्या बातें, किस-किस रूप में बताई जाएँगी, इसका निरूपण किया गया है। इस गाथा में वर्णनीय विषय के वर्णन का ढंग बताया गया है, ताकि पाठक को प्रस्तुत विषय आसानी से झटपट हृदयंगम हो सके। तत्त्वार्थसूत्र में किसी भी विषय का स्पष्टरूप से ज्ञान प्राप्त करने के लिए सूत्र बताया गया है—'निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः' अर्थात्—किसी वस्तु के स्पष्ट ज्ञान के लिए उसका नाम व स्वरूप क्या है ? उसका स्वामी या कर्त्ता कौन है ? उसके लिए साधन कौन-कौन-से हैं ? उसका अधिकरण क्या है ? उसकी स्थिति कितनी है ? इसी प्रकार यहाँ भी विषय का स्पष्टरूप से परिज्ञान कराने के लिए विषयसूची के रूप में वर्णनीय विषय का संक्षेप में स्पष्ट बोध कराया गया है।

किसी भी विषय का स्पष्ट बोध कराने के लिए निम्नोक्त पांच बातों का वर्णन तो अत्यावश्यक है—(१) प्रतिपाद्य विषय का स्वरूप, (२) उसके नाम, (३) साधन (जिस साधन से वह वस्तु निष्पन्न होती हो, वह साधन या कारण कहलाता है) (४) कर्त्ता और (५) उसका फल।

प्रस्तुत गाथा में प्रतिपाद्य विषय है—प्राणवध (हिंसा), अतः इसमें प्राणवध का स्वरूप, इसके विविध नामों, इसके साधनों, इसके कर्त्ताओं, एवं इसके फलों का वर्णन इस गाथा में सूचित किया गया है। 'जारिसओ' शब्द से प्राणवध का स्वरूप क्या है ? 'जंनामा' शब्द से उसके क्या-क्या नाम हैं ? 'जह य कओ' इस पद से उसके साधन कौन-कौन-से हैं ? 'जारिसं फलं देति' इस पद से उसके फल क्या-क्या हैं ? 'जे वि य करेंति पावा' इस पद से उसके कर्ता या स्वामी कौन-कौन हैं ? इस प्रकार कहकर शास्त्रकार ने इस तरीके से वर्णनीय विषय का बोध करा दिया।

इस तरीके से वर्णनीय विषय के बोध कराने का स्पष्ट प्रयोजन यह है कि जब आत्मा हिंसा के स्वरूप, उसके परिवार, उसके कारणों, उसके कर्त्ताओं और उसके कटुफलों को जानकर नरक तिर्यञ्चगति के भयंकर दुःखों से बचने के लिए इन सबको छोड़ने का प्रयत्न करेगा, तब निर्द्वन्द्व, निर्भीक और निराकुल होकर सुख-शान्ति और आत्मानन्द का अनुभव करेगा तथा अन्त में मोक्ष पद प्राप्त करेगा।

'पाणवहं तं निसामेह'—इस गाथा में 'पाणवहं' के बदले 'जीववहं' क्यों नहीं कहा गया, जिससे स्पष्टतया ज्ञान हो जाता ? इसका समाधान यह है कि जीव अमूर्त और नित्य है। इसे शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, पानी बहा या गला नहीं सकता, हवा सुखा या उड़ा नहीं सकती, इसलिए जीव का वध असम्भव जानकर 'पाणवहं' कहा है। क्योंकि प्राणों के अनित्य और नाशवान होने से उनका वध होना सम्भव है।

प्राणवध शब्द से केवल श्वासोच्छ्वास का घात अर्थ ही नहीं लेना चाहिए, अपितु निम्नोक्त दस ही प्राणों में से किसी भी प्राण के घात का अर्थ लेना चाहिए। दस प्रकार के प्राण ये हैं—

पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च,
उच्छ्वास - निःश्वासमथान्यदायुः ।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्,
तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥

अर्थात्—'तीर्थंकरों ने प्राण १० प्रकार के कहे हैं—श्रोत्रेन्द्रिय, बलप्राण, चक्षुरिन्द्रिय बलप्राण, घ्राणेन्द्रिय बलप्राण, रसनेन्द्रिय-बलप्राण, स्पर्शनेन्द्रियबलप्राण, मनोबलप्राण, वचनबलप्राण, कायबलप्राण, श्वासोच्छ्वास-बलप्राण और आयुष्य बलप्राण। इन दसो में से किसी का भी वियोग करना हिंसा है।'

एक बात और स्पष्ट कर दूं—प्राणवध शब्द से सिर्फ प्राणों का वियोग या नाश करना अर्थ ही नहीं लेना चाहिए, अपितु दस प्राणों में से किसी भी प्राण को चोट पहुंचाना, हानि पहुंचाना, पीड़ा देना, डुबाना, जलाना, दबाना, विकास मे रुकावट डालना, आपस में टकराना, फैंकना, पीटना, श्वास रोक देना, जान से मार डालना, बेहोश कर देना, दुःखित कर देना, हैरान-परेशान करना, भगाना, थकाना आदि सब प्राणघातक क्रियाएं प्राणवध के अन्तर्गत आ जाती है।

जे वि करेंति पावा—इस वाक्य से अनात्मवाद का खंडन करके आत्मा की सिद्धि की गई है। क्योंकि जो पापी आत्मा होगा, वही प्राणवधरूप आश्रव में प्रवृत्त होगा। धर्म-निष्ठ आत्मा या पुण्यशाली आत्मा इस आश्रव मे प्रवृत्त होने से पहले विचार करेगा। क्योंकि चार्वाक दर्शन यह मानता है, कि शरीर या प्राण आदि जो कुछ भी यहां दिखाई देते है, वही आत्मा है, इसके सिवाय कोई आत्मा नही है। तथा इस शरीर और प्राण के राख हो जाने पर फिर आना-जाना नहीं होता, वह शरीर या प्राण पंचभूतो में ही मिल जाता हैं। परन्तु आत्मा नामक अलग तत्त्व न होता तो कोई भी व्यक्ति किसी की हिंसा बेखटके करता और उसे उस पाप के फलस्वरूप नरकादि गतियों मे जाने का कोई खतरा नही रहता। परन्तु आत्मा शरीरादि से अलग है और वह नित्य है, इसलिए विविध योनियों में तथा अपने शुभाशुभ कर्म के फलस्वरूप शुभाशुभ गतियों मे जाती है।

फलं वेति—इस वाक्य से बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद का खंडन करके जैन दर्शन के कर्मवाद की पुष्टि की गई है। क्योंकि आत्मा क्षण-क्षण में बदलने वाली हो तो पहले क्षण जिसने हिंसा की, वह आत्मा दूसरे क्षण नहीं रहेगी। दूसरे क्षण दूसरी आत्मा बन जाएगी। इसलिए अगर कोई कार्य उस आत्मा ने किया है, तो उसके क्षणविध्वंसी होने मे कृतकर्म के फल का नाश हो जायगा, और जो नहीं किया है, वह उसके गले पड़ जाएगा। इसलिए क्षणिकवाद मानने पर कर्म और उसके फल की व्यवस्था नहीं होगी।

हिंसा का स्वरूप

पूर्वोक्त गाथा में वर्णनीय विषयों के वर्णन का वर्गीकरण करके उनका क्रम बताया

गया था। अब क्रमशः प्रत्येक का वर्णन करते हैं। सर्वप्रथम प्राणवध के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

मूलपाठ

पाणवहो नाम एस निच्चं जिणेहिं भणिओ—पावो चंडो रुद्दो खुद्दो साहसिओ अणारिओ णिग्घिणो णिस्संसो महब्भओ पइभओ अइभओ बीहणओ तासणओ अणज्जो उव्वेयणओ य णिरवयक्खो णिद्धम्मो णिप्पिवासो णिक्कलुणो णिरयवासगमणनिधणो मोहमहब्भयपयट्टओ मरणविमणस्सो। पढमं अधम्मदारं ॥ सू. १॥

संस्कृतछाया

प्राणवधो नाम एष नित्यं जिनैर्भणितः—पापश्चण्डो रुद्रः क्षुद्रः साहसिकोऽनार्यो निर्घृणो नृशंसो महाभयः प्रतिभयोऽतिभयो भापनकस्त्रासनकोऽन्याय्य उद्वेजनकश्च निरपेक्षो (निरवकांक्षो) निर्धर्मो निष्पिपासो निष्करुणो निरयवासगमननिधनो मोहमहाभयप्रवर्तकः (प्रकर्षकः प्रवर्द्धकः) मरणवैमनस्यः। प्रथममधर्मद्वारम् ॥ सू. १॥

पदार्थान्वय—(एस) यह (पाणवहो नाम) प्राणवध नाम (निच्चं) नित्य (जिणेहिं) जिनेन्द्रों द्वारा (भणिओ) कहा गया है। यह इस प्रकार है—(पावो) पापरूप, (चंडो) चण्ड—अतिकोपजनक, (रुद्दो) रुद्र, (खुद्दो) क्षुद्र, (साहसिओ) साहस से होने वाला अथवा सहसा यानी बिना विचारे होने वाला, (अणारिओ) अनार्य-म्लेच्छ आदि का कार्य (णिग्घिणो) घृणारहित, (णिस्संसो) नृशंस-निर्दयतापूर्ण, (महब्भओ) महाभयजनक, (पइभओ) प्रत्येक प्राणी को भयप्रदायक, (अइभओ) अतिभयप्रद, (बीहणओ) भय दिखाने वाला, (तासणओ) त्रास—पीड़ा देने वाला, (अणज्जो) अन्यायकारी, (उव्वेयणओ य) और उद्वेग—क्षोभ पैदा करने वाला, (णिरवयक्खो) किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखने वाला, (णिद्धम्मो) धर्मरहित (णिप्पिवासो) ऐसा कुकृत्य, जिसमें पिपासा शान्त ही न हो, अथवा प्रेम-पिपासा से रहित, (णिक्कलुणो) करुणारहित, (णिरयवासगमणनिधणो) जिसका अन्तिम परिणाम नरकवास करना ही है, (मोहमहब्भयपयट्टओ) मोहरूपी महाभय में प्रवृत्त करने वाला अथवा मोह तथा महाभय को बढ़ाने वाला और (मरणविमणस्सो) मरण के समय आत्मा को उन्मना-खिन्न करने वाला अथवा मरण से आत्मा में दीनता पैदा करने वाला, या मरने वाले जीव के मरण के साथ वैमनस्य पैदा करने वाला यह (पढमं) पहला (अधम्मदारं) अधर्मद्वार—आस्रवद्वार है।

मूलार्थ—जिनेन्द्रदेव ने प्राणवध (हिंसा) का स्वरूप इस प्रकार से

बताया है—यह प्राणवध, १ पापरूप है, २ अत्यन्त क्रोध पैदा करने के कारण चण्ड है, ३ नीचातिनीच लोगों का कृत्य होने से क्षुद्र है, ४ रौद्रध्यान से होने के कारण रुद्र है, ५ अत्यन्त साहस का कार्य होने से अथवा सहसा किये जाने के कारण साहसिक है, ६ म्लेच्छ आदि लोगों का कार्य होने से अनार्य है, ७ इसके करने में पाप से घृणा न होने के कारण निघृंण है, ८ अमानुषिक कर्म होने के कारण नृशंस है, ६ अत्यन्त भयजनक होने से महाभय है, १० प्रत्येक प्राणी के लिए भयदायक होने से अथवा दूसरों को भय दिखाने वाले के मन में भी प्रतिभय पैदा करने वाला होने से प्रतिभय है, ११ अतिभय जनक होने से अतिभय है, १२ दूसरों के मन में डर बिठाने वाला होने से भयानक-भयोत्पादक भी है, १३ दूसरों को पीड़ित करने, हैरान करने या सताने वाला कृत्य होने से त्रासनक भी है, १४ अन्यायकारी कृत्य होने से अन्याय्य है, १५ उद्वेग—चंचलता पैदा करने वाला होने से उद्वेजनक है, १६ इस क्रिया के करते समय परलोक या दूसरे प्राणियों की या समाज, राष्ट्र आदि की कोई अपेक्षा (परवाह) नहीं की जाती, यह बेखटके की जाती है, इसलिए निरपेक्ष है, १७ इसमें धर्म का नामोनिशान नहीं है, इसलिए निर्धर्म-धर्मरहित है; १८ इस कृत्य के करने में दयारूप पिपासा नहीं होती; इस कृत्य के करने वाले के स्वार्थ की प्यास किसी भी तरह नहीं बुझती, इसलिए निष्पिपास भी है, १९ इस कृत्य के करने में हृदय से करुणा निकल जाती है, इसलिए निष्करुण-करुणारहित है, २० इस कुकृत्य का अन्तिम नतीजा (फल) नरक गमन होने से इसे निरयवासगमननिधन कहा है, २१ मोह-कृत्यमूढ़ता और महाभय में प्रवृत्त करने वाला होने से अथवा यह कृत्य कर्त्ता में मूढ़ता व महाभय बढ़ाने वाला होने से मोहमहाभयप्रवर्त्तक या मोहमहाभयप्रवर्द्धक भी है, २२ यह कृत्य वध्य प्राणी के मन में मृत्यु के समय वैमनस्य (वैर) पैदा करने वाला होने से अथवा वधकर्ता की आत्मा को मृत्यु के समय विमना-खिन्न बना देने वाला होने से या मृत्यु के समय परस्पर वैमनस्य पैदा करने वाला होने से 'मरणवैमनस्य' है।

व्याख्या

इस प्रथम सूत्र में जिनेन्द्रदेव ने विभिन्न पहलुओं और दृष्टिकोणों से प्राणवध (हिंसा) का स्वरूप बताया है। अब क्रमशः प्रत्येक का विशदरूप से विवेचन करते हैं—

पाप—प्राणवध को 'पाप' इसलिए कहा गया है कि इससे पापकर्म की प्रकृतियों का बन्ध होता है, तथा असत्य, चोरी आदि अनेक पापों का जनक भी है।

चण्ड—इसे चण्ड इसलिए कहा गया है कि यह उग्र क्रोध, उत्कट अभिमान, अत्यन्त माया और बेहद लोभ के कारण होता है।

रुद्र—भयंकर रौद्र ध्यान हो, तभी यह दुष्कर्म होता है अथवा यह दुष्कर्म रौद्र (भयंकर) बना देने वाला है, इसलिए 'रुद्र' कहा गया है।

क्षुद्र—जो रातदिन छल, धोखा द्रोह, मारपीट, कत्ल आदि में लगे रहते हैं, उनका यह कुकृत्य होने से, अथवा नीचातिनीच कृत्य होने से इसे क्षुद्रकर्म कहा है।

साहसिक—यह कार्य करने वाला कुछ भी सोचता-विचारता नहीं, और सहसा-एकदम किसी पर टूट पड़ता है या गर्दन पर छुरी चला देता है, अथवा यह कुकृत्य अत्यन्त दुःसाहस का है, इसलिए इसे साहसिक कहा है।

अनार्य—इस कुकर्म के करने में निन्द्य-पाप कार्यों में लगे हुए म्लेच्छ लोग ही प्रवृत्त होते हैं, इसलिए इसे अनार्य कर्म कहा है।

निर्घृण—इस कृत्य के करने में पाप अर्थात् अधर्म से किसी बात की नफरत नहीं होती, इसलिए इसे निर्घृण कर्म कहा है।

नृशंस—यह क्रूर कर्म अमानुषिक—मानवता को तिलाञ्जलि देकर किया जाता है, इसलिए इसे नृशंस कर्म भी कहा है।

महाभय—प्राणिवध से प्राणियों में बड़ा भारी भय व्याप्त हो जाता है, इसलिए इसे 'महाभय' कहा है।

प्रतिभय—यह ऐसा भयंकर कृत्य है कि प्रत्येक प्राणी के दिल में भय पैदा कर देता है। मारने वाले के मन में भी भय बना रहता है, कि कहीं यह अथवा इसके सम्बन्धी जान गये तो मुझ से बदला लिये बिना न रहेंगे; इस दृष्टि से इस कर्म को 'प्रतिभय' कहा है।

अतिभय—मौत का भय सब भयों से बढ़कर होता है। प्राणवध मृत्यु के भय का कारण होने से इसे 'अतिभय' भी कहा गया है।

भयानक—जहाँ प्राणिवध होता है, वहाँ वह सभी प्राणियों को भयभीत कर देता है, अतः इसे 'भयानक' कहा है।

त्रासनक—प्राणिवध जब किया जाता है तो उसमें वध्य प्राणी को सताया, मारा-पीटा या हैरान-परेशान किया जाता है, उसे भूखा-प्यासा रखकर पीड़ा भी दी जाती है, इसलिए त्रासजनक होने से इसे 'त्रासनक' भी कहा गया है।

अन्याय्य—दूसरे के प्राण लेना या दूसरे के प्राणों को पीड़ा पहुँचाना अन्याय है। किसी का शोषण करना, उसे थोड़ा-सा देकर या बिल्कुल न देकर बदले में अत्यधिक काम लेना, जबर्दस्ती किसी का धन या पदार्थ हड़प जाना, छीन लेना, जीवों को सताना, उनकी सुखशान्ति में खलल पहुँचाना, उन्हें किसी भी तरह से दुःखी करना आदि सब अन्याय हैं। इसे यों भी कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी, कि अन्याय की

जितनी भी प्रवृत्तियां होती है, वे सब की सब हिंसामयी हैं। अन्याय और प्राणवध दोनों का चोली-दामन-सा अविनाभाव सम्बन्ध है। किसी को भी किसी प्राणी के प्राण लेने या सताने का अधिकार नहीं है, इसलिए अधिकारबाह्य कर्म होने के कारण अथवा मानवता, दया, 'जीओ और जीने दो' की भावना आदि न्यायमार्ग के विरुद्ध होने के कारण इसे अन्याय्य-अन्याययुक्त कहा है।

उद्वेजनक—जिस समय प्राणी का वध किया जाता है, उस समय उसके चित्त मे क्षोभ पैदा होता है, उसका रोम-रोम कांप उठता है, सारा शरीर सामना करने के लिए चंचल हो उठता है, इसलिए इसे उद्वेजनक-उद्वेगजनक कहा है।

निरपेक्ष—प्राणिवध करने में वधकर्ता को परलोक या दूसरे के प्राण की अपेक्षा—परवाह नहीं रहती, वह समाज और राष्ट्र की भी तथा नीति-नियमों की भी अवहेलना कर देता है; इसलिए इसे निरपेक्ष ठीक ही कहा है।

निर्धर्म—इस क्रिया में श्रुत और चारित्ररूप धर्म अथवा समाज को धारण पोषण करने वाली धर्ममर्यादा का सर्वथा अभाव है। दुर्गति में गिरने से बचाने की क्षमता धर्म में होती है, वह इसमें नहीं है, इसलिए इसे निर्धर्म-धर्मविहीन कहा है।

निष्पिपास—प्रेमरूप पिपासा से चित्त शून्य होने पर ही प्राणिवध किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्राणिवध करने से कर्त्ता की स्वार्थ-पिपासा किसी तरह भी शान्त नही होती, इस कारण इसे 'निष्पिपास' कहा है।

निष्करुण—इस कृत्य में करुणा का नामोनिशान भी नही होता, इसलिए इसे निष्करुण कहा है।

निरयवासगमननिधन—प्राणवध का अन्तिम परिणाम नरक का अतिथि बन कर वहां चिरकाल तक अवर्णनीय दुःखों का अनुभव करना है, इसलिए कार्य-कारण भाव को लेकर प्राणवध को 'निरयवासगमननिधन' कहा है।

मोहमहाभय प्रवर्तक (प्रवर्द्धक)—इस दुष्कर्म के करने से मोह-मोहनीयकर्म के महाभय में जीव प्रवृत्त होता है या मूढ़ता और महाभय को यह दुष्कर्म बढ़ावा देता है। मतलब यह है, कि इस दुष्कर्म को करने वाले तामसिक जीव के जीवन में अनेक जन्मो तक मूढ़ता छाई रहती है। उसे मोह-मूढ़तावश सन्मार्ग नही मिलता, दीर्घकाल तक मोहकर्मवश जन्म-मरण करके अनेक गतियों में चक्कर काटना पड़ता है। यह दुष्कर्म जन्ममरणरूप महाभय को बढ़ाता है और बारबार मोह-मूढ़ता मे यह प्रवृत्त भी होता रहता है, इसी कारण इसे मोहमहाभयप्रवर्त्तक (प्रवर्द्धक) कहा है।

मरणवैमनस्य—मृत्यु के समय प्राणिवध मनुष्य को दीन बना देता है। वह मारने वाले से गिड़गिड़ाकर उसके पैरों मे पड़ कर प्राणों की भीख मांगता है। इसलिए मृत्यु के समय विमना (दीन) बना देने वाला होने से अथवा मृत्यु के समय

वध्य प्राणी के मन में वधकर्ता के प्रति वैमनस्य (वैरभाव) पैदा करने वाला होने से अथवा मृत्यु और परस्पर वैमनस्य का कारण होने से प्राणवध को 'मरणवैमनस्य' कहा है।

पूर्वापर सम्बन्ध—इस सूत्रपाठ से पहले की गाथा में प्राणवध का निरूपण करने के लिए स्वरूप आदि ५ द्वारों का क्रम बताया गया है। उनमें से प्रथम द्वार के रूप में इस सूत्र में प्राणवध के स्वरूप का वर्णन किया गया है। प्राणवध के स्वरूप को बताने के लिए यहाँ प्रायः कार्य-कारण भाव को लेकर २२ पद दिये गये हैं। इनका पूर्वापर सम्बन्ध इस प्रकार है—प्राणवध (हिंसा) पापरूप है, इसलिए क्रोधादि कषायों में उग्रता पैदा होती है, इसके कारण रौद्रता और क्षुद्रता पैदा होती है, और सहसा किसी प्राणी पर वह टूट पड़ता है। ऐसा निन्द्य कर्म अनार्य ही करता है। अनार्य वे है, जो हिंसा से ही अपनी जीविका चलाते है, जीवों को मार कर उनका मांस आदि बेचते हैं, और ऐसे घृणित पदार्थों का स्वयं सेवन भी करते है। आर्य वे है, जो हिंसा आदि निन्दनीय और त्याज्य प्रवृत्तियों से दूर ही रहते हैं, अपने सामने हिंसा होने नही देते, हिंसा होते देखकर जिनकी आत्मा कांप उठती है और जो दया से द्रवित हो उठते हैं। ऐसे व्यक्ति यहां और आगे भी सुखी होते हैं। इसके विपरीत जहाँ अनार्यता होती है, वहाँ पाप और परलोक का कोई खटका नहीं होता, और इन्सानियत को ठुकरा कर दिनरात बेखटके अमानुषिक हत्या आदि कुकृत्य किए जाते हैं। यही कारण है, कि प्राणिवध प्राणियों में महाभय पैदा कर देता है, यही नहीं ; मारने वालों में भी मरने वाले या उसके सम्बन्धियों द्वारा बदला लेने और खुद को मार देने का प्रतिभय भी पैदा करता है। साथ ही मौत का अत्यन्त दारुण भय भी इससे पैदा होता है। मौत से भय का कारण यह है, कि जीवों को मारने से पहले बुरी तरह से सताया, मारा-पीटा या पेलन किया जाता है, जो अत्यन्त त्रासजनक है ; या उन पर अन्याय किया जाता है, जो मारने-पीटने से भी बढ़कर दुःख है।

प्राणियों पर अन्याय करते समय व्यक्ति यह नहीं सोचता, कि मैं आज सबल होकर दुर्बलों, अस्वस्थ रोगी, लाचारों या मंद बुद्धिजनों पर उनकी विवशता का लाभ उठाकर अन्याय कर रहा हूँ, कल दूसरी शक्ति मुझ पर भी हावी होकर यदि इसी सिक्के में भुगतान करेगी यानी मुझसे बदला लेगी, मुझ पर अन्याय व जुल्म करेगी, उस समय मेरी क्या दशा होगी ? परन्तु अन्यायी व्यक्ति उस समय इस बात से आंखें मूंद लेता है, उसके कान इन सभी बातों को सुनने से इन्कार कर देते हैं। वह यह नहीं सोचता कि ऐसे वे हिंसाकृत्य प्राणियों के दिल में उद्वेग पैदा कर देते हैं, मृत्यु के डर से या मृत्यु का नाम सुनते मात्र से उनका हृदय सिहर उठता है। परन्तु अन्यायपरायण व्यक्ति को दूसरों के प्राणों की या भविष्य में दुर्गति से आने की

कोई चिन्ता नहीं होती। उसे कोई परवाह नहीं रहती कि समाज और राष्ट्र में इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ? इसलिए वह धर्मकार्य से कोसों दूर हो जाता है। रात-दिन पाप कार्य में पड़े रहने से उसका हृदय प्राणियों के प्रति प्रेमपिपासा से शून्य हो जाता है, अपने स्वार्थ की प्यास भी वह बुझा नही पाता। इस प्रकार निर्दय और निष्करुण होकर वह हिंसापरायण जीव अन्त में नरक का ही मेहमान बनता है। क्योंकि इस दुष्कर्म के करते रहने से उसकी बुद्धि पर मूढ़ता का पर्दा पड़ जाता है। वह सोच ही नही पाता, कि इस दुष्कर्म का फल कितना दारुण और असीम वेदना के रूप में मुझे भोगना पड़ेगा। इसलिए मोहकर्म की वृद्धि होने से वह बार-बार मूढ़तावश इस दुष्कर्म में प्रवृत्त होता है और विविध दुर्गतियों में अपने जन्ममरण के महाभय में वृद्धि करता रहता है। किन्तु जब मौत की घड़ी आती है, उस समय वह अपने किये हुए बुरे कर्मों को याद कर-करके रोता है, दीन-हीन बन जाता है, गिड़-गिड़ाकर प्रभु से प्राणों की याचना करता है, उस समय उसकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती है, उसकी आँखों के आगे अंधेरा छा जाता है, वह बेमन से ही मृत्यु को स्वीकार करता है। परन्तु मूढतावश यह अपने द्वारा किन्ही प्राणियों को मारते समय यह नही सोचता कि इन प्राणियों की मृत्यु से इनके सम्बन्धियों में कितना वैमनस्य पैदा होगा और वे मुझसे बदले में पाई-पाई वसूल करेंगे, या ये प्राणी मरते समय अपने मन में मेरे प्रति वैमनस्य (वैरभाव) संजोकर दूसरी योनि में जाकर बदला लेंगे।

इस प्रकार प्राणवध परस्पर अनेक पापक्रियाओं से जुड़ा हुआ है, और वे क्रियाएं भी उत्तरोत्तर एक के बाद एक होती चली जाती हैं। इस प्रकार प्राणवध (हिंसा) का स्वरूप समझाने के साथ उसकी भयंकरता, उसका दूरगामी दुष्परिणाम और उसकी परम्परा से वास्तविक सुख की हानि भी बता दी है। अतः इसका स्वरूप समझकर इसे छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए।

'नाम' और 'च' शब्द—इस सूत्र में 'नाम' शब्द जो आया है, वह केवल वाक्य की सुन्दरता बढ़ाने के लिए है और 'च' शब्द समुच्चय बोधक है।

हिंसा के पर्यायवाची नाम

पूर्व सूत्र में हिंसा के स्वरूप का वर्णन किया गया था, अब दूसरे नाम द्वार के रूप मे उसके समानार्थक नामों का उल्लेख करते हैं—

मूलपाठ

तस्स य नामाणि इमाणि गोण्णाणि होंति तीसं, तं जहा—१ पाणवहं, २ उम्मूलणा सरीराओ, ३ अवीसंभो, ४ हिंसविहिंसा, तहा ५ अकिच्चं च, ६ घायणा, ७ मारणा य, ८ वहणा,

९ उद्दवणा, १० तिवायणा य, ११ आरंभसमारंभो, १२ आउयकम्मस्सुवद्दवो भेयणिट्ठवणगालणा य संवट्टगसंखेवो, १३ मच्चू, १४ असंजमो, १५ कडगमद्दणं, १६ वोरमणं, १७ परभवसंकामकारओ, १८ दुग्गतिप्पवाओ, १९ पावकोवो य, २० पावलोभो, २१ छविच्छेओ, २२ जीवियंतकरणो, २३ भयंकरो, २४ अणकरो, २५ वज्जो,[१] २६ परितावण-अण्हओ, २७ विणासो, २८ निज्जवणा,[२] २९ लुंपणा, ३० गुणाणं विराहण त्ति वि य तस्स एवमादीणि णामधेज्जाणि होंति तीसं पाणवहस्स कलुसस्स कडुयफलदेसगाइं ॥ सू० २॥

संस्कृत-छाया

तस्य च नामानि इमानि गौणानि भवन्ति त्रिंशत्, तद्यथा—१ प्राणवधः, २ उन्मूलना शरीराद्, ३ अविश्रम्भः, ४ हिंसाविहिंसा (हिंस्यविहिंसा, हिंस्रविहिंसा) तथा ५ अकृत्यं च, ६ घातना, ७ मारणा च, ८ वधना, ९ उपद्रवणा (अपद्रवणा), १० त्रिपातना च, ११ आरम्भ-समारम्भः, १२ आयुःकर्मणः उपद्रवो भेदनिष्ठापनगालनाश्च संवर्त्तकसंक्षेपः, १३ मृत्युः, १४ असंयमः, १५ कटकमर्दनं, १६ व्युपरमणं, १७ परभवसंक्रमकारकः, १८ दुर्गतिप्रपातः, १९ पापकोपश्च, २० पापलोभः, २१ छविच्छेदः, २२ जीवितान्तकरणः, २३ भयंकरः, २४ ऋणकरश्च, २५ वज्रः (वर्ज्यः), २६ परितापनास्रवः, २७ विनाशः, २८ निर्यापना, २९ लोपना, ३० गुणानां विराधनेत्यपि च तस्यैवमादीनि नामधेयानि भवन्ति त्रिंशत् प्राणवधस्य कलुषस्य कटुकफलदेशकानि ॥सू० २॥

पदार्थान्वय—(तस्स य) और उस प्राणवध के, (गोण्णाणि) गुणनिष्पन्न, (इमाणि) ये, (तीसं) तीस, (नामाणि) नाम, (होंति) होते हैं। (तंजहा) वे इस प्रकार हैं—(पाणवहं) प्राणों का वध, (सरीराओ उम्मूलणा) शरीर से उन्मूलन कर देना—उखाड़ डालना, (अवीसंभो) अविश्वास, (हिंसविहिंसा) हिंस्य जीवों या हिंस्य प्राणियों की विशेष रूप से हिंसा करना, (तहा अकिच्चं च) इसी प्रकार हिंस्य (वध्य) जीवों के प्रति अकृत्य-बुरा कार्य, (घायणा) घात करना, (मारणा य) और मारना,

---

१ 'पावकओ' पाठ भी कहीं-कहीं मिलता है।

२ कहीं-कहीं 'निव्वावणा' पाठ भी है।

(वहणा) वध करना, (उद्दवणा) उपद्रव करना, (तिवायणा य) मन, वचन और काया इन तीनों द्वारा प्राणों का अतिपात-पृथक् करना, (आरंभ-समारंभो) आरम्भ से जीवों का विघात करना, (आउयकम्मस्सुवद्दवो भेयनिट्ठवणगालणा य संवट्टगसंखेवो) आयुष्य कर्म का विच्छेद करना, आयु का भेदन करना, आयुष्य की समाप्ति करना या गला देना तथा संवर्त्तक (प्राणवायु-श्वासोच्छ्वास) का संक्षेप-ह्रास कर देना—दम घोट देना, (मच्चू) मृत्यु, (असंजमो) असंयम, (कडगमद्दणं) सेना से जीवों का मर्दन करना, कुचल डालना, (वोरमणं) प्राणों से जीव का पृथक् करना, (परभवसंकामकारओ) जीव को परभव (दूसरे जन्म) में संक्रमण-गमन कराने वाला, (दुग्गतिप्पवाओ) दुर्गति में गिराने वाला, (पावकोवो य) अत्यन्त पापकर्म का जनक कोप, (पावलोभो) पाप कर्म का जनक उत्कट लोभ, (छविच्छेओ) शरीर के अंगोपांगों का छेदन करने वाला, (जीवियंतकरणो) जीवन का अन्त करने वाला, (भयंकरो) भयंकर, (अणकरो य) पापकर्म रूप ऋण का कर्त्ता, (वज्जो) वज्र के समान कठोर अथवा वर्जनीय (निषिद्ध), अथवा 'सावज्जो' पाठान्तर के अनुसार सावद्य पापयुक्त, (परितावण अण्हओ) परिताप (पीड़ा) देने वाला आश्रव, (विनासो) विनाश, (निज्जवणा) प्राणों के वियोग का हेतु अथवा जीवन-यापन से रहित करने वाला, अथवा 'निज्झवणो' पाठान्तर के अनुसार शुभध्यान से रहित करने वाला, (लुंपणा) प्राणों का लोप (खात्मा) करने वाला, (गुणाणं विराहणत्ति विय) और गुणों की विराधना-नाश भी है। (एवमादीणि) इत्यादि रूप से, (तस्स) उस, (कलुसस्स) कलुषता पैदा करने वाले, (पाणवहस्स) प्राणवध के, (तीसं नामधेज्जाणि) तीस नाम, (होंति) होते हैं; (कडुयफलदेसगाइं) जो कटुफल देने वाले हैं।

मूलार्थ—प्राणवध (हिंसा) नामक आश्रव के तीस गुणनिष्पन्न (सार्थक) नाम हैं, वे इस प्रकार हैं—१ प्राणवध, २ शरीर से प्राणों का उन्मूलन, ३ अविश्वास, ४ हिंस्य जीवों की विहिंसा, ५ अकृत्य-कुकर्म, ६ घात, ७ मारण, ८ वध, ९ उपद्रव १० त्रिपातन—मन-वचन-काया द्वारा प्राणों का अतिपात—वियोग, ११ आरम्भ-समारम्भ १२ आयुःकर्मविच्छेद, आयुष्यभेदन-समाप्ति-गालन तथा संवर्तकसंक्षेप—प्राणवायु का ह्रास करना—दम घोटना, १३ मृत्यु, १४ असंयम, १५ सेना से जीवों का मर्दन, १६ प्राणों से जीव का पृथक्करण, १७ परभव-गमनकारक, १८ दुर्गति में गिराने वाला, १९ उत्कट पापजनक कोप, २० उत्कट पापजनक लोभ २१ अंगोपांगविच्छेद, २२ जीवन का अन्त करने वाला, २३ भयंकर, २४ पापरूप ऋण का कर्त्ता, २५ वज्र के समान कठोर अथवा वर्जनीय या सावद्यकर्म, २६ परितापरूप आश्रव, २७ विनाश २८ प्राणवियोग का कारण या जीवनयापन से रहित करने वाला, अथवा शुभध्यान से रहित करने वाला २९ प्राणों का लोप करने वाला या प्राणों का लुटेरा, और

९ उद्दवणा, १० तिवायणा य, ११ आरंभसमारंभो, १२ आउयकम्मस्सुवद्दवो भेयणिट्ठवणगालणा य संवट्टगसंखेवो, १३ मच्चू, १४ असंजमो, १५ कडगमद्दणं, १६ वोरमणं, १७ परभवसंकामकारओ, १८ दुग्गतिप्पवाओ, १९ पावकोवो य, २० पावलोभो, २१ छविच्छेओ, २२ जीवियंतकरणो, २३ भयंकरो, २४ अणकरो, २५ वज्जो,[1] २६ परितावण-अण्हओ, २७ विणासो, २८ निज्जवणा,[2] २९ लुंपणा, ३० गुणाणं विराहण त्ति वि य तस्स एवमादीणि णामधेज्जाणि होंति तीसं पाणवहस्स कलुसस्स कडुयफलदेसगाइं ॥ सू० २॥

संस्कृत-छाया

तस्य च नामानि इमानि गौणानि भवन्ति त्रिंशत्, तद्यथा—१ प्राणवधः, २ उन्मूलना शरीराद्, ३ अविश्रम्भः, ४ हिंसाविहिंसा (हिंस्यविहिंसा, हिंस्रविहिंसा) तथा ५ अकृत्यं च, ६ घातना, ७ मारणा च, ८ वधना, ९ उपद्रवणा (अपद्रवणा), १० त्रिपातना च, ११ आरम्भ-समारम्भः, १२ आयुःकर्मणः उपद्रवो भेदनिष्ठापनगालनाश्च संवर्त्तकसंक्षेपः, १३ मृत्युः, १४ असंयमः, १५ कटगमर्दनं, १६ व्युपरमणं, १७ परभवसंक्रमकारकः, १८ दुर्गतिप्रपातः, १९ पापकोपश्च, २० पापलोभः, २१ छविच्छेदः, २२ जीवितान्तकरणः, २३ भयंकरः, २४ ऋणकरश्च, २५ वज्रः (वर्ज्यः), २६ परितापनास्त्रवः, २७ विनाशः, २८ निर्यापना, २९ लोपना, ३० गुणानां विराधनेत्यपि च तस्यैवमादीनि नामधेयानि भवन्ति त्रिंशत् प्राणवधस्य कलुषस्य कटुकफलदेशकानि ॥सू० २॥

पदार्थान्वय—(तस्स य) और उस प्राणवध के, (गोण्णाणि) गुणनिष्पन्न, (इमाणि) ये, (तीसं) तीस, (नामाणि) नाम, (होंति) होते हैं। (तंजहा) वे इस प्रकार हैं—(पाणवहं) प्राणों का वध, (सरीराओ उम्मूलणा) शरीर से उन्मूलन कर देना—उखाड़ डालना, (अवीसंभो) अविश्वास, (हिंसविहिंसा) हिंस्य जीवों या हिंस्र प्राणियों की विशेष रूप से हिंसा करना, (तहा अकिच्चं च) इसी प्रकार हिंस्य (वध्य) जीवों के प्रति अकृत्य-बुरा कार्य, (घायणा) घात करना, (मारणा य) और मारना,

---

१ 'वायज्जो' पाठ भी कहीं-कहीं मिलता है।

२ कहीं-कहीं 'निज्जवणो' पाठ भी है।

(वहणा) वध करना, (उद्दवणा) उपद्रव करना, (तिवायणा य) मन, वचन और काया इन तीनों द्वारा प्राणों का अतिपात-पृथक् करना, (आरंभ-समारंभो) आरम्भ से जीवों का विघात करना, (आउयकम्मस्सुवद्दवो भेयनिट्ठवणगालणा य संवट्टगसंखेवो) आयुष्य कर्म का विच्छेद करना, आयु का भेदन करना, आयुष्य की समाप्ति करना या गला देना तथा संवर्तक (प्राणवायु-श्वासोच्छ्वास) का संक्षेप-ह्रास कर देना—दम घोट देना, (मच्चू) मृत्यु, (असंजमो) असंयम, (कडगमद्दणं) सेना से जीवों का मर्दन करना, कुचल डालना, (वोरमणं) प्राणों से जीव का पृथक् करना, (परभवसंकामकारओ) जीव को परभव (दूसरे जन्म) में संक्रमण-गमन कराने वाला, (दुग्गतिप्पवाओ) दुर्गति में गिराने वाला, (पावकोवो य) अत्यन्त पापकर्म का जनक कोप, (पावलोभो) पाप कर्म का जनक उत्कट लोभ, (छविच्छेओ) शरीर के अंगोपांगों का छेदन करने वाला, (जीवियंतकरणो) जीवन का अन्त करने वाला, (भयंकरो) भयंकर, (अणकरो य) पापकर्म रूप ऋण का कर्ता, (वज्जो) वज्र के समान कठोर अथवा वर्जनीय (निषिद्ध), अथवा 'सावज्जो' पाठान्तर के अनुसार सावद्य पापयुक्त, (परितावण अण्हओ) परिताप (पीड़ा) देने वाला आश्रव, (विनासो) विनाश, (निज्जवणा) प्राणों के वियोग का हेतु अथवा जीवन-यापन से रहित करने वाला, अथवा 'निज्झवणो' पाठान्तर के अनुसार शुभध्यान से रहित करने वाला, (लुंपणा) प्राणों का लोप (खात्मा) करने वाला, (गुणाणं विराहणत्ति विय) और गुणों की विराधना-नाश भी है। (एवमादीणि) इत्यादि रूप से, (तस्स) उस, (कलुसस्स) कलुषता पैदा करने वाले, (पाणवहस्स) प्राणवध के, (तीसं नामधेज्जाणि) तीस नाम, (होंति) होते हैं; (कडुयफलदेसगाइं) जो कटुफल देने वाले हैं।

मूलार्थ—प्राणवध (हिंसा) नामक आश्रव के तीस गुणनिष्पन्न (सार्थक) नाम हैं, वे इस प्रकार हैं-१ प्राणवध, २ शरीर से प्राणों का उन्मूलन, ३ अविश्वास, ४ हिंस्य जीवों की विहिंसा, ५ अकृत्य-कुकर्म, ६ घात, ७ मारण, ८ वध, ९ उपद्रव १० त्रिपातन—मन-वचन-काया द्वारा प्राणों का अतिपात—वियोग, ११ आरम्भ-समारम्भ १२ आयुःकर्मविच्छेद, आयुष्यभेदन-समाप्ति-गालन तथा संवर्तकसंक्षेप—प्राणवायु का ह्रास करना—दम घोटना, १३ मृत्यु, १४ असंयम, १५ सेना से जीवों का मर्दन, १६ प्राणों से जीव का पृथक्करण, १७ परभव-गमनकारक, १८ दुर्गति में गिराने वाला, १९ उत्कट पापजनक कोप, २० उत्कट पापजनक लोभ २१ अंगोपांगविच्छेद, २२ जीवन का अन्त करने वाला, २३ भयंकर, २४ पापरूप ऋण का कर्त्ता, २५ वज्र के समान कठोर अथवा वर्जनीय या सावद्यकर्म, २६ परितापरूप आश्रव, २७ विनाश २८ प्राणवियोग का कारण या जीवनयापन से रहित करने वाला, अथवा शुभध्यान से रहित करने वाला २९ प्राणों का लोप करने वाला या प्राणों का लुटेरा, और

३० क्षमा, दया, करुणा, सहानुभूति आदि मानवीय गुणों का विराधक—नाशक इत्यादि। इस प्रकार जीवन में कलुषता पैदा करने वाले प्राणवध नामक आश्रव के ये तीस नाम हैं, जो कड़वे फल देने वाले हैं।

व्याख्या

इस सूत्र मे प्राणवध (हिंसा) के अपने नाम को सार्थक करने वाले और हिंसा के वास्तविक अवगुणों को बताने वाले ३० नाम बताये गये हैं। गौण शब्द से एक अर्थ यह भी द्योतित होता है कि ये सब नाम तो गौण हैं, मुख्य नाम तो प्राणवध या हिंसा है।

कलुष—प्राणवध वास्तव में जीवन को काला कर देता है, हृदय में सदा ही यह कलुषित भाव पैदा करता रहता है, इसके कारण चित्त में कभी शुद्ध या शुभ भाव पैदा नहीं होते। यह आर्तध्यान और रौद्रध्यान के ही भंवरजाल में रात-दिन फंसाता रहता है, इससे शुद्धभावना का मन में पैदा होना दुष्कर है। इसलिए प्राणवध को कलुष कहा गया है।

कटुकफलदेशक—प्राणवध (हिंसा) के ये तीसों ही नाम पापकर्म के बन्धन के के कारण हैं, और पापकर्म का फल सदा कड़वा ही होता है, इसका फल कभी मीठा नहीं होता। वह भोगते समय सदैव बड़ा ही अरुचिकर, ग्लानिकारक और दुःखदायक लगता है। इसलिए इन तीसों को ही शास्त्रकार ने कड़वे फल देने वाले या कटुफल की ओर ले जाने वाले—दुर्गति में ले जाने वाले कहे हैं। केवल परलोक में ही नहीं, इस लोक में भी प्राणवध से अनेक शारीरिक रोग, मानसिक शोक, संताप तथा इष्ट वस्तु या व्यक्ति के वियोग का दुःख मिलता है। इसके अतिरिक्त समाज या मृत प्राणी के परिवार में भी प्राणिवध की प्रतिक्रिया तीव्ररूप में होती है, कई बार तो मारने वाले को भी ऐसा मारा-पीटा जाता है कि उसे छटी का दूध याद आ जाता है, कई दफा तो हत्यारे को लोग जान से भी मार डालते हैं। सरकार को पता लग जाने पर उसे जेल में तरह-तरह की यातनाएँ देने के अलावा आजीवन कारावास या मौत की सजा दी जाती है। समाज ऐसे हत्यारे को कभी अच्छी निगाहों से नहीं देखता, उसे सदा निन्दनीय समझा जाता है, समाज मे उसे कभी सम्मान नहीं मिलता। इस प्रकार वह सदा अपमानित जीवन व्यतीत करता है। ये सब प्राणवध के या इसी प्रकार के कुकृत्य के कड़वे फल नहीं, तो और क्या हैं? यही कारण है, कि प्राणवध या इसके समान प्रवृत्ति के द्योतक जितने भी नाम हैं, वे सब हिंसक को कड़वे फल चखाते हैं।

१–प्राणवध—अज्ञान और मोह मे अन्धे होकर किसी भी प्राणी के प्राणों का नाश करना प्राणवध है। पांच इन्द्रियाँ, मनोबल, वचनबल, कायबल, आयु श्वासोच्छ्वास, इन दस प्राणों में से किसी भी प्राण को चोट पहुँचाना, सताना, पीड़ा देना, काटना, पीटना या बिलकुल नष्ट कर देना प्राणवध है। फिर यह प्राणवध किसी भी प्रयोजन

से क्यों न किया गया हो, हिंसा ही है। कई लोग अपने लिए पुत्र, धन, साधन आदि की प्राप्ति की कामनावश निरापराध मूक प्राणियों के प्राण हरण कर लेते हैं। वे यों कहा करते हैं, कि हमने जिस प्राणी को काली, चण्डी, दुर्गा आदि देवी के आगे चढ़ा दिया, उसे देवी माता स्वर्ग में पहुंचा देगी। जो जगज्जननी माता है, वह मनुष्य के समान बकरे आदि पशुओं की भी माता है। क्या माता अपने ही पुत्रों का भक्षण करेगी ? या अपने सामने उसका वध होते हुए देखेगी ? और फिर दूसरे प्राणियों को मार कर या दुःखी करके पुत्रादि सुख की कामना कैसे फलीभूत हो सकती है ? पर अज्ञान, मोह और स्वार्थ के वश देवी-देवों के नाम पर यह प्राणिवध संसार में भयंकररूप से चल रहा है।

२–शरीर से उन्मूलन—जैसे वृक्ष को जड़ से उखाड़ा जाता है, वैसे ही शरीर से जीव को उखाड़ डालना उन्मूलन है। वृक्ष को जड़ से उखाड़ डालने पर वह कभी फलताफूलता नहीं, उसके सब अंग सूखकर खत्म हो जाते हैं, उसी प्रकार शरीर से जीव को उखाड़ने-निकालने पर उसके अंगोपांग भी अपने आप खत्म हो जाते हैं, इन्द्रियां, मन, वचन और शरीर आदि सब निश्चेष्ट और निर्जीव होकर पड़ जाते हैं। वे फिर कदापि फलते-फूलते नहीं।

कई लोग कहा करते हैं, कि आत्मा तो अजर-अमर, अविनाशी और शाश्वत है, उसे शरीर से अलग करने में कौन-सा नुकसान प्राणी को हुआ ? इसके उत्तर में ज्ञानी पुरुषों का कहना है, कि प्रत्येक प्राणी को शरीर और शरीर के आश्रित इन्द्रिय, मन, वचन, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य आदि पर ममत्व है, उसके शरीर के साथ वह आत्मा बंधी हुई होने से उसके छूटने का तथा उससे छूटने से होने वाली भयंकर हानि (धर्मपालन, परोपकार, पुण्यादि कार्य आदि कुछ भी न होने की हानि) का अत्यन्त दुःख होता है। यह दुःख उस प्राणी को वैसे ही होता है, जैसे किसी व्यक्ति द्वारा कमाये हुए धन को कोई जबरन छीन-झपट या चुरा कर ले जाय तब होता है।

इसीलिए शरीर से जीव का उन्मूलन दूसरों के लिए अत्यन्त हानिकारक होने से वर्जनीय है और वह पाप है।

३–अविसंभ-अविश्वास—हिंसा करने वाला जीवों के लिए अविश्वसनीय होता है। उसका कोई भी विश्वास नहीं, कि वह कब किसी को मार बैठे, आ दबोचे या अनिष्ट कर डाले। जैसे चूहे बिल्ली का कदापि विश्वास नहीं करते, कि इसके पास जाने पर यह हमें प्यार से पुचकारेगी या मारेगी नहीं, वैसे ही संसार में हिंसक प्राणी के प्रति मनुष्य ही क्या, कोई भी प्राणी विश्वास नहीं करता। हिंसक की आकृति से ही प्राणी पहिचान लेते हैं और उसके पास जाने से हिचकते हैं। इसलिए हिंसक व्यक्ति के द्वारा की जाने वाली हिंसा प्राणियों में अविश्वास, शंका, भय और संकोच पैदा करने वाली होने से इसे अविसंभ या अविश्वास कहा गया है। वास्तव में अहिंसक

सबका विश्वासपात्र होता है, उसकी शरण में आकर बैठने में किसी को आशंका या भीति नही होती ; जबकि हिंसक से सभी प्राणी भयभीत, शंकाकुल और अविश्वासी रहते हैं। इसलिए अहिंसा विश्वास का और हिंसा अविश्वास का कारण है।

४–हिंस्यविहिंसा-हिंसाविहिंसा—जिनकी हिंसा की जाती है, वे हिंस्य जीव कहलाते हैं, उनकी विशेष हिंसा करना यानी उन्हें बार-बार सताना, पीड़ा देना 'हिंस्यविहिंसा' है। इसी का एक रूप बनता है—'हिंस्रविहिंसा'। जिसका अर्थ होता है—जो हिंस्र जीव हैं, हिंसक जीव हैं, उनकी विशेष प्रकार से हिंसा करना। इसी का तीसरा रूप होता है—'हिंसाविहिंसा' ; जिसका अर्थ होता है—हिंसा पर हिंसा करना ; पुनः-पुनः हिंसा करना।

पहले रूप पर विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है, कि संसार मे कोई भी प्राणी हिंस्य नहीं है, किसी दूसरे के द्वारा वध करने योग्य नहीं है। किसी को क्या अधिकार है, कि किसी का प्राण-हरण करे या किसी के शरीर का नाश करे ? सभी प्राणी अपने आप मे स्वतंत्र हैं। वे अपने ही आयुष्यबल से जीते हैं और अपने आयुष्यबल के नष्ट हो जाने पर मर जाते हैं। वे अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार योनि, शरीर, प्राण आदि प्राप्त करते हैं, और उन्हें प्राणप्रण से बचाने और सुख देने की कोशिश करते हैं। किसी को उनके इस कार्य में खलल पहुँचाने का हक नही। इसलिए किसी दूसरे प्राणी को हिंस्य मानकर उसकी विशेष प्रकार से हिंसा करना प्राणिवध ही है। कई लोग यों कहा करते हैं, कि ये बकरे या मछलियाँ आदि जन्तु तो मनुष्य के खाने के लिए ही हैं, ये मेंढक तो बरसात के बाद यों ही खत्म हो जायेंगे, इन्हें मारकर खाने में कौन-सा पाप है ? अगर बकरों आदि को नहीं खाया जायेगा, तो ये बढ़ते ही जायेंगे, इन्हें पालना-पोसना और रखना भी दूभर हो जाएगा। परन्तु उन महाशयों से कोई पूछे कि सिंह यदि यह कहे कि ये मनुष्य तो हमारे खाने के लिए ही हैं, तो क्या इसे पसंद करेंगे ? तब तो कहेंगे, कि यह क्या समझता है ? समझदारी के ठेकेदार मांसभक्षी मानव जब दूसरे प्राणी को जिला नहीं सकते, तब उन्हे क्या अधिकार है उन्हें मारने का ? किन्तु ऐसे हठाग्रही कब मानते हैं। वे तो उन पशुओं या जलचरों को अपना भक्ष्य मानकर उन्हें तेल की कड़ाही में तल कर या आग में भूनकर विशेष प्रकार से हिंसा करते हैं। कई जगह भंगी लोग सूअरों को पालते हैं और उन्हें ज्यों के त्यों जीवित ही आग की लपटों में झोंक देते हैं। उनकी करुण चित्कार से उनका दिल जरा भी द्रवित नहीं होता। कहने पर वे उत्तर देते हैं, ये तो इसी प्रकार से भूनकर खाने के लिए हैं। इसी को कहते हैं—हिंस्य की विशेष प्रकार से—बुरी तरह से हिंसा करना। इस निर्दयता की कोई हद है ! इसके दूसरे रूप का अर्थ हिंस्र अर्थात् हिंसक प्राणियों की विशेष प्रकार से हिंसा करना होता है। कई लोग यों कहते हैं, कि हम बकरे, मछली, सूअर, मृग आदि निर्दोष

प्राणियों को नही मारते, हम तो उन्हें मारते है, जो मनुष्यों और पशुओं के लिए हानिकारक है, या जो उन्हें मार डालते हैं। ऐसे हिंसक जीवो—सिंह, सर्प, व्याघ्र, आदि को मारने में कौन-सा पाप है ? हम तो उन सिंहादि क्रूर प्राणियों को मारकर मनुष्य की रक्षा या सेवा करते हैं। उनसे पूछा जाए, कि यदि हिंसक कहलाने वाले जीव मार डालने योग्य हैं, तब तो आप भी मार डालने योग्य हैं, क्योंकि आप भी उन सिंहादि जीवों कि हिंसा करने के कारण हिंसक ठहरते हैं। वे यह नही सोचते, कि इन सिंह आदि हिंसक कहलाने वाले जीवों ने पूर्व जन्म में कृत हिंसा आदि पापकर्मों के कारण ही ऐसी निन्दनीय योनि पाई है, कि वे हिंसा-अहिंसा का विचार नही करते। परन्तु हम तो विचारवान हैं, हिंसा-अहिंसा को समझने वाले है, हम उत्तम मानवयोनि पाकर भी ऐसे निन्दनीय कर्म इस योनि में करेंगे, तो हमे भी भविष्य मे सिंहादि की योनि ही मिलेगी। परन्तु वे ऐसा विचार कतई नहीं करते, बल्कि सिंह आदि अन्य जन्तुओं को विशेष तरीके से घेर कर मारते हैं, इस कारण प्राणिवध का एक नाम हिंसाविहिंसा भी है।

इसके तीसरे रूप का अर्थ—हिंसा पर हिंसा करना होता है। यानी किसी ने किसी पर प्रहार किया तो उस पर उसकी हत्या कर देना हिंसाविहिंसा है। कई लोग कहते हैं—'जो हमारी हिंसा करता है, उसका जवाब हिंसा से देना तो नीति है।' परन्तु वास्तव में यह धर्मलक्षी नीति नही है। यह तो घातक नीति है। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' इस घातक नीति से कभी सुख और शान्ति नहीं बढ़ती। इससे तो हिंसा-प्रतिहिंसा की ही परम्परा बढ़ती है। हिंसा की प्रतिक्रिया के रूप में प्रतिहिंसा उससे भी भयंकर होती है। इसलिए हिंसा के बदले में जिन्होंने प्रेम किया, वे ही जगद्वन्द्य बने है, उनसे ही सुखशान्ति की समस्या हल हुई है। परन्तु जिन्होंने हिंसा के बदले में प्रतिहिंसा की उन्होंने जगत् में वैर को बढ़ाया। इसीलिए हिंसा-विहिंसा पापरूप है।

इसका अर्थ हिंसा को विहिंसा किया जाय तो प्रश्न होता है, कि हिंसा तो अपने आप में मूर्तरूप (रूपी) न होने से उसकी क्या हिंसा हो सकती है ? इसके उत्तर में ज्ञानीपुरुष कहते हैं, कि यहाँ आशय यही है, कि हिंसा से होने वाली आत्महिंसा भी विहिंसा है। इस प्रकार 'हिंसाविहिंसा' शब्द संगत अर्थ का सूचक है।

५—अकृत्य—ससार में जितने भी कुकृत्य हैं, उन सबमें प्रधान कुकृत्य हिंसा है—प्राणिवध है, इसलिए इसे 'अकृत्य' कहा गया है। इसी प्रकार जितने भी कुकृत्य हैं, उन सब मे हिंसा छिपी हुई है।

६—घातना—किसी भी प्रकार की चोट पहुँचाना, टक्कर लगाना, उठते-बैठते, चलते-फिरते, किसी चीज को उठाते-रखते असावधानी से किसी जीव को कुचल देना, उसके प्राणों को हानि पहुँचाना, घात करना है। यह भी हिंसा का पर्याय है।

७–मारणा—मारपीट करना, लात-घूसे मारना, कौड़ों से, लाठी से, चाबुक से किसी पशु या मनुष्य पर प्रहार करना 'मारणा' है। अथवा किसी भी तरह अपनी असावधानी से जीवों का घात करना भी मारणा है।

८–वधना—किसी प्राणी के प्राणों को पीड़ा पहुंचाना वध है अथवा अपनी जिह्वालोलुपतावश या क्षणिक सुख के लिए बेचारे निरपराध प्राणियों का हनन करना, धर्म के नाम से या देवीदेवों की भक्ति के नाम पर पशुओं का बलिदान करना, अपने मौजशौक, वस्त्र या चमड़े की चीजों के लिए मूक पशुओं की हिंसा करना भी वध है। अपनी उदरपूर्ति के लिए निर्दोष अन्न-फल आदि पदार्थों को छोड़कर अपवित्र मांस, मत्स्य आदि का सेवन करने के लिए निर्दोष पशुओं का वध करना या वध को प्रोत्साहन देना भी वध है।

९–उपद्रवणा—वन में आग लगाकर या शौक के लिए अथवा कुतूहलवश भैंसे, मुर्गे, साड आदि को परस्पर लड़ाना उपद्रव है। ऐसे उपद्रव प्राणियों के लिए पीड़ा के कारण होते है, इसलिए ये प्राणिवध के समान ही हैं। अथवा कहीं आग लगाना, दंगा-फिसाद करना या पत्थरबाजी करना या आपस में लाठी, शस्त्र आदि से लड़ना इत्यादि सब उपद्रव हैं, ये भी हिंसा के भाई हैं।

१०–त्रिपातना या निपातना—किसी जीव के मन, वचन और काया का अतिपात—वियोग करना अथवा आयु, शरीर और प्राणों से वियुक्त—पृथक् कर देना त्रिपातना है। अथवा मन,वचन, काया के द्वारा प्राणों को जीव से पृथक् कर देना निपातना है। मन, वचन, काया, इन्द्रिय आदि सब प्राण के ही प्रकार हैं, इसलिए निपातना प्राणवध की ही सहोदरी बहन है।

११–आरम्भ-समारम्भ—मकान बनाना, खेती करना, कारखाना चलाना, उद्योग-धंधा करना, व्यापार करना या रसोई बनाना आदि छोटे-बड़े अनेक कार्यों में स्थावर जीवों की हिंसा होती ही है, कई बार त्रस जीवों की भी हिंसा होती है। इसे शास्त्रीय परिभाषा में आरम्भ कहते हैं, ऐसे किसी भी आरम्भ से होने वाला समारम्भ—जीवविघात आरम्भ-समारम्भ कहलाता है। आरम्भ-समारम्भ भी प्राणिवध का कारण होने से उसका पर्यायवाची बताया गया है।

कोई कह सकता है, कि आरम्भ-समारम्भ के बिना तो गृहस्थ जीवन में एक दिन भी चलना कठिन है, फिर गृहस्थ तो हिंसा से बिलकुल छूट नहीं सकता? हां, यह ठीक है, कि आरम्भ के बिना गृहस्थ की गाड़ी नहीं चल सकती। लेकिन उसके लिए शास्त्रकारों ने उसकी सीमा बताई है। गृहस्थ से आरम्भजा हिंसा सर्वथा छूट नहीं सकती। परन्तु अल्प-आरम्भ से गृहस्थ अपना जीवन यापन करता है। वह महारम्भ (अनाप-सनाप आरम्भ या ऐसे आरम्भ के कार्यों का ठेका या व्यवसाय) नहीं पर सकता। तत्त्वार्थसूत्र में बताया है—'बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः' महारम्भ

और महापरिग्रह नरकायु के बंध का कारण है। इसलिए महाव्रती साधु तो आरम्भ से सर्वथा मुक्त होता है, जबकि गृहस्थ-श्रावक अल्पारम्भी होता है। परन्तु लक्ष्य और मनोरथ तो श्रावक का भी एक दिन उस आरम्भ से भी सर्वथा मुक्त होने का होता है। आखिर आरम्भ हिंसा का कारण तो है ही।

१२—आयुकर्म का उपद्रव-भेदन-निष्ठापन-गालन और संवर्तक संक्षेप—आयुष्य कर्म को विष, शस्त्र आदि से उपद्रवित कर देना, (संकट में डाल देना) भिन्न कर देना (टुकड़े-टुकड़े करके अलग कर देना), समाप्त कर देना, गला देना तथा श्वासोच्छ्वास (प्राणवायु) का ह्रास कर देना—दम घोट देना भी प्राणवध है। इसलिए इन सबको प्राणवध के पारिवारिक बताए हैं, यह उचित ही है।

कई लोग यहाँ शंका उठाते हैं, कि आयुष्य कर्म तो जितना बंधा हुआ है, उसे उतने समय तक भोगना ही पड़ेगा, यानी उतने काल तक वह उस शरीर में रहेगा ही, फिर आयुष्य के तोड़ने, समाप्त करने या क्षीण करने में कोई कैसे समर्थ हो सकता है? ज्ञानीपुरुष इसका समाधान यों करते हैं, कि आयुष्य कर्म एक बार बंध जाने पर भी सोपक्रमी आयुष्य निमित्तविशेष से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, निरुपक्रमी नहीं टूटता। निरुपक्रमी आयु नारकी, देव, चरमशरीरी या तीर्थंकर जैसे महापुरुषों की होती है। इसलिए जो आयुष्य बंधा हुआ है, उसे अकाल में ही किसी प्रकार के उपद्रव से संकट में डाल कर नष्ट कर देना, अकाल में ही आयुष्य को क्षीण कर देना, या तलवार आदि शस्त्र से न मार कर निर्वातस्थान में बंद करके दम घोट कर मार डालना, बिजली के करेंट आदि से खत्म कर देना, आयु कर्म का उपद्रव, भेदन-गालन-निष्ठापन-संवर्तक-संक्षेप आदि है, और ये सब प्राणवध के ही अंगोपांग हैं, इसलिए प्राणवध के समानार्थक बतलाए गए हैं। संवर्तक-संक्षेपक का एक अर्थ सर्वबल, सामर्थ्य, शक्ति आदि का ह्रास कर देना—क्षीण कर देना भी किया गया है। किसी की ताकत को खत्म करने के लिए भूखे-प्यासे रखना, जहर देना, रोगी बना देना, कोड़ों वगैरह से मारपीट करना आदि उपाय बहुत से निर्दयी व्यक्ति अजमाते हैं। अतः ये सब हिंसा के ही प्रकार हैं।

तीस संख्या की पूर्ति के लिए शास्त्रकार ने इन सब समानार्थक शब्दों को एकत्र करके सबका यह एक नाम रख दिया है।

१३—मृत्यु—किसी को जान से मार डालना, जीवन से रहित कर देना या परलोक पहुँचा देना मृत्यु है। मृत्यु वैसे तो एक न एक दिन प्रत्येक प्राणी की होती ही है, परन्तु उस स्वाभाविक मृत्यु के अतिरिक्त किन्हीं हिंसाजनक साधनों से किसी प्राणी की मृत्यु में निमित्त बनने अथवा उसे मरणशरण कर देने, काल के मुँह में पहुँचा देने वाली मौत हिंसा का परिणाम होने से प्राणिवध की पर्यायवाची बनती है। इसलिए मृत्यु को भी प्राणिवध के समकक्ष बताया है। मौत के नाम से भी प्राणी

कांपते हैं, तो उस मृत्यु को साक्षात् ला देना या मार डालने का भय दिखाना कितना भयंकर और दुःखजनक होता है।

१४–असंयम—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इन सभी प्रकार के स्थावर और त्रस जीवों के साथ यतना, सावधानी या विवेकपूर्वक व्यवहार न करने से या स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों के शरीर (मिट्टी, पानी, हवा अग्नि और वनस्पति) का अनावश्यक, निरर्थक एवं अनाप-सनाप, बेमर्यादा और बेखटके उपयोग करने से प्राणिवध रूप असंयम होता है। यानी इन पर संयम न रखना प्राणिवध का कारण होने से असंयम को भी प्राणिवध का पर्यायवाची कहा गया है। अथवा दूसरी तरह से असंयम का यों भी अर्थ हो सकता है, कि शरीर, मन, वचन, प्राण, इन्द्रिय आदि को व्रत, नियम, तप, जप, त्याग, प्रत्याख्यान, सामायिक, ध्यान, स्वाध्याय, धर्माचरण या धर्मक्रिया आदि में न लगाए रखने से ये सब खुले (अनियंत्रित) होकर बेखटके हिंसाजन्य प्रवृत्ति करते हैं, वही असंयम है। इस प्रकार असंयम हिंसा का जनक होने से इसे भी प्राणिवध का भाई मान लिया गया।

एक व्यक्ति किसी समय हिंसा नहीं कर रहा है, बगुले की तरह निश्चेष्ट है, अपनी इन्द्रियों और मन को निश्चेष्ट बनाकर बैठा है, अथवा शोकमग्न या रुग्ण आदि होने के कारण घर में बैठा है, किन्तु उसने संकल्पी हिंसा करने का त्याग नहीं किया है, हिंसा से विरत नहीं हुआ है, तो उसे हिंसा का पाप लगता रहेगा। इस दृष्टि से असंयम का अर्थ हिंसा से अविरति भी होता है।

१५–कटकमर्दन—सेना लेकर आक्रमण करके जीवों का मर्दन करना, कुचल डालना या रौंद डालना अथवा मसल डालना कटकमर्दन है। अथवा युद्ध में झोंक कर या लड़ाकर उनका चकनाचूर करा देना भी कटकमर्दन कहलाता है। कई बार राष्ट्रों के राष्ट्रनायक अपने विजेता बनने के नशे में अथवा अपनी राज्यवृद्धि की लिप्सा के कारण या सत्ता को टिकाए रखने के लिए अनावश्यक और अकारण ही दूसरे देश पर चढ़ाई कर देते हैं और अपनी उस स्वार्थ सिद्धि के लिए निर्दोष सेना को अपरिमित संख्या में झोंक देते हैं। निर्दोष सेना मारी जाती है या वह उन राष्ट्रनायकों का आदेश पाकर निर्दोष प्रजा को भी कुचलने, लूटने, आग लगाने पर उतारू हो जाती है, वहाँ की बहन-बेटियों के साथ जबरन बलात्कार करके उन्हें मौत के मुंह में धकेल देती है, यह महाहिंसा कटकमर्दन ही है। वैसे भी देखा जाय तो युद्ध में असंख्य प्राणियों का वध होता है। इसीलिए पंचमहाव्रती साधु इससे सर्वथा दूर रहते हैं। व्रतधारी श्रावक यदि शासक हो और राष्ट्र की सुरक्षा के लिए, अन्याय का प्रतिकार करने के लिए, विवश होकर उसे शत्रुशासक के साथ युद्ध करना ही पड़े तो वह जहाँ तक हो सके उसे टालने का यत्न करता है, निरुपाय हो जाने पर ही

वह युद्ध करता है। फिर भी उसमें मर्यादित हिंसा तो होती ही है। इसलिए कटक-मर्दन को प्राणिवध का पर्यायवाची कहा गया है।

१६–व्युपरमण—प्राणों से उपरत करना—रहित करना व्युपरमण है। यह भी प्राणवध का ही भाई है।

१७–परभव संक्रामकारक—परभव—दूसरे जन्म में पहुंचाने वाला पर-भवसंक्रमणकारक कहलाता है। प्राणों का नाश करने या होने पर ही जीव इस भव को छोड़कर परभव में गमन करता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को अपना जमाजमाया घर छुड़ा कर दूसरे नये घर में जाने को विवश कर देने पर उसे अत्यन्त दुःख होता है, क्योंकि उसे नये घर में जाने के लिए पहले तो नया घर बनाना या ढूंढना पड़ेगा, उसके बाद सारा सामान उठाकर यहाँ से वहाँ ले जाना पड़ेगा। इसी प्रकार किसी प्राणी को इहभव रूपी घर को छुड़ाकर परभवरूपी नवगृह में जाने से मोह-ममत्ववश अत्यन्त दुःख होता है, और यह परभव पहुंचाना भी प्राणी के प्राणों को बुरी तरह से नष्ट करने या मारने पर ही होता है। इसलिए अत्यन्त दुःखकारक होने से परभवसंक्रामकारक को भी प्राणवध के समान कहा गया है।

१८–दुर्गतिप्रपात—दुर्गति—नरक तिर्यञ्चरूप दुष्टगति के गड्ढे में गिराने वाला होने से प्राणवध को दुर्गतिप्रपात कहा गया है। कई धर्मान्ध लोग यह कहते हैं, कि यज्ञ में पशुओं का होमना—वध करना हिंसा नहीं है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इस धर्मसूत्र को प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि यह हिंसा हिंसा ही नहीं, तो हमें दुर्गति क्यों मिलेगी ? परन्तु हिंसा, चाहे वह वैदिकी हो या अवैदिकी ; वह तो परप्राणिवध-रूप होती है, इसलिए दुर्गति का कारण अवश्य होगी। जिसमें धर्म के नाम पर भोले-भाले लोगों को अमुक स्वार्थ का प्रलोभन देकर निर्दोष-निरपराध पशुओं का वध तो साधारण हिंसा से भी बढ़कर है। अतः हिंसा दुर्गतिपात का कारण होने से दुर्गति-प्रपात को इसका पर्यायवाची बताया गया।

१९–पापकोप—पाप को प्रकुपित करने या उत्तेजित करने वाला पापकोप है। हिंसा भी पाप को उत्तेजित करने—बढ़ावा देने वाली होती है, इसलिए इसका नाम पापकोप ठीक ही रखा है। अथवा प्राणवध के पापरूप होने से और कोपकारी होने से दोनों को मिलाकर इसका नाम पापकोप रखा गया है।

२०–पापलोभ या पापल—जो प्राणी को पाप में लुब्ध कर देता है, पाप में रचापचा देता है, वह पापलोभ है। प्राणिवध आत्मा को पाप में लुब्ध करा देने वाला अथवा लोभी बना देने वाला होने से इसका पापलोभ नाम यथार्थ दिया गया है। अथवा पाप यानी अपुण्य को प्राणी के साथ चिपकाने वाला होने से भी इसे पापलोभ ठीक ही कहा गया है। वास्तव में प्राणिवध वधकर्ता को पापकर्म से संश्लिष्ट कर

देता है। अथवा पापरूप उत्कट लोभ का कारण होने से भी प्राणिवध का एक नाम 'पापलोभ' भी हो सकता है। कहा भी है—'लोभ पाप का बाप बखाना'। धन के उत्कृष्ट लोभी धन के लोभ में पागल होकर दूसरों का गला काटते, दूसरों को मार डालते या शोषण करते देर नहीं लगाते। राज्यलोभी राजा लोग अकारण ही दूसरे राज्य पर आक्रमण करते हैं, इसी प्रकार पदप्रतिष्ठालोभी मानव भी मंत्री आदि पद को प्राप्त करने या अधिकार पाने की धुन में दूसरों को खत्म कराने, तोड़फोड़ या दंगे कराकर हजारों के प्राण खतरे में डालने से नहीं चूकते। यही कारण है, कि जितने भी हिंसा के कार्य दिखाई देते हैं, उनके पीछे लोभ—उत्कृष्ट लोभ की ही प्रेरणा होती है। इसलिए पापरूप उत्कट लोभ को प्राणिवध का सगा भाई कहें, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। अथवा इसका पाठान्तर 'पापलः' भी मिलता है, जिसका अर्थ है—पापों को लाने वाला। यह भी ठीक नाम है, इसका।

२१—छविच्छेद—छवि यानी शरीर का छेदन करना—काटना छविच्छेद है। शरीर को काट डालना भी प्राणवधरूप होने से प्राणवध का पर्यायवाची है। अथवा इसका अर्थ छवि यानी अंगोपांगों का छेदन करना भी है। प्राणियों के अंगोपांगों को अपने मौजशौक के लिए काट डालना भी उनके लिए बहुत पीड़ादायी होता है। कई बार राजा लोग अपने सत्ता के मद में आकर गुलामों के अंगभंग करवा डालते, उनकी आँखें निकलवा दी जातीं, उनके नाक-कान काट लिये जाते या उनके हाथ पैर कटवा डालते, उनकी चमड़ी उधेड़ ली जाती। इस प्रकार उन्हें मृत्यु से भी बढ़कर असह्य यातनाएँ दी जाती थी। कई क्रूर राजा सिर्फ अपने मनोरंजन के लिए मनुष्यों को नदी या तालाब में डुबा कर उनको तड़फते देख आनन्द मनाते थे, या हाथियों आदि को पहाड़ से नीचे खाई में गिरवा देते जिससे उनके अंगभंग हो जाते, वे असह्य पीड़ा से रिब-रिब कर मर जाते, और उनकी करुण चित्कार सुनकर वे नराधम आनन्द मनाते। प्रत्येक प्राणी को अपना-अपना शरीर या अंगोपांग प्रिय होता है, उनकी रक्षा के लिए वह जीजान से प्रयत्न करता है, उसके पोषण की चिन्ता में रातदिन एक कर देता है। परन्तु जब कोई नरपिशाच जब उनकी सुखकामना के आधार शरीर या अंगोपांग को उससे छीनने या नष्ट करने का प्रयत्न करता है, तो उसे अपार वेदना होती है। वह उस समय तड़फता है, छटपटाता है और बचने का भरसक प्रयास करता है, किन्तु अत्याचारी नरपिशाच उसकी करुण पुकार न सुनकर अपनी सुखवासना को ही सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। इसलिए छविच्छेद को प्राणवध का पर्यायवाची कहा गया है।

२२—जीवितान्तकरण—जीवन का अन्त कर देना भी प्राणवध का एक अंग है। प्राणधारण करने का अन्त कर देना भी जीवितान्तकरण है। वास्तव में जीवन सबको अत्यन्त प्यारा होता है, कोई अपने जीवन को सहसा छोड़ना नहीं चाहता,

किन्तु जब उसको अपने जीवन से कोई वियुक्त करता है, तो उसे अत्यन्त दुःख होता है, यही हिंसा का जनक है।

२३–भयंकर—भयंकर का अर्थ है—भय पैदा करने वाला। वध के नाम से ही प्राणी डर के मारे कांप उठता है। जिसका वध किया जाता है, उसे तो भय लगता ही है, साथ ही वध करने वाले के मन में भी यह भय बैठ जाता है, कि कही यह सामना करके मुझे मार न बैठे। कही यह मुझ पर प्रहार न कर दे। अथवा इसके रिश्तेदार कहीं मुझे जान से न मार डालें। साथ ही उसके मन में यह भी भय पैदा हो जाता है, कि मुझे इस हत्या के फलस्वरूप नरक में जाना पड़ेगा, या परलोक में यह प्राणी मुझसे किसी न किसी रूप में बदला जरूर लेगा। उस समय मैं क्या करूँगा ? इस तरह प्राणिवध चारों ओर भय ही भय पैदा करने वाला होने के कारण इसका भयंकर नाम ठीक ही है।

२४–ऋणकर—प्राणिवधपापरूप ऋण को चुकाते समय—फल भोगते समय बड़ा ही दुःखी होना पड़ता है। प्राणवध के फलस्वरूप व्यक्ति पापरूपी ऋण का बोझ ढोता रहता है। पापरूपी ऋण के फलस्वरूप व्यक्ति इस लोक में भी दरिद्र, दुःखी, शारीरिक-मानसिक व्यथाओं से पीड़ित, रोग, शोक आदि से संतप्त रहता है। ये सब कष्ट तो उस ऋण के ब्याज के तौर पर हैं। परलोक में भी इस कठोर ऋण के कारण नरक आदि में छेदन-भेदन आदि असह्य यातनाएँ और तिर्यंचगति में भी भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि के नाना दुःख भोगने पड़ते हैं, जो उस ऋण के कुफल हैं। इसलिए प्राणिवध को ऋणकर ठीक ही कहा है।

२५–वज्र या वर्ज्य अथवा सावद्य—प्राणिवध वज्र के समान बड़ा कठोर है। जिसका प्राणवध किया जाता है, उसे वह वज्र के समान अति कठोर लगता है। प्राणवध उसे सुहाता नहीं। प्राणी का कोमल हृदय इसे सह नही सकता, वह कांप उठता है। इसलिए इसे 'वज्र' कहा है। इसका एक संस्कृत रूप वर्ज्य भी होता है, जिसका अर्थ है वर्जनीय। मानो प्राणिवध हमेशा से महापुरुषों—तीर्थंकरों द्वारा वर्जनीय होता है, निषिद्ध होता है, इसलिए इसे 'वर्ज्य' कहा। साथ ही इसका पाठांतर 'सावज्ज' भी मिलता है, जिसका अर्थ होता है—पाप से युक्त कर्म। हिंसा पापयुक्त कर्म होने से इसे सावद्य कहा, यह ठीक ही है।

२६–परितापाश्रव—परितापकारी मृषावाद आदि अन्य आश्रव इस आश्रव से होते हैं, इसलिए प्राणिवध को परितापाश्रव कहा। अथवा यह आश्रव दूसरे मृषावाद आदि आश्रवों की अपेक्षा अधिक परिताप (संताप) देने वाला होने से इसे परितापाश्रव कहा। वास्तव में मृषावाद आदि आश्रवों के सेवन से दूसरों को इतनी पीड़ा नहीं होती, सीधी चोट नहीं पहुँचती, जितनी प्राणवध नामक इस आश्रव से दूसरों को

पीड़ा होती है, उन पर सीधी चोट लगती है, इसलिए इसे 'परितापाश्रव' यथार्थ ही कहा है।

२७–विनाश—प्राणियों का इसमें द्रव्य और भाव दोनों ही तरह से नाश होता है, इसलिए इसे विनाश कहा है। द्रव्य से विनाश तो प्राणों या शरीरादि का होता है, भाव से मरते समय मरने वाले जीव में प्रायः आर्त्तध्यान एवं मारने वाले के प्रति रौद्रध्यान पैदा होता है, साथ ही मारने वाले के मन में भी क्रूर भाव पैदा होते हैं, इसलिए द्रव्य और भाव से स्वपर विनाश का कारण होने से प्राणिवध को 'विनाश' भी कहा है।

२८–निर्यापना अथवा नियातना—जीवन-यापन से रहित कर देना निर्यापना है। जब प्राणों को निकाल दिया जाता है, तो प्राणी अपनी जिंदगी से हाथ धो बैठता है, वह फिर अधिक देर तक अपना जीवन नहीं बिता सकता। अथवा जीवनयापन का अर्थ सुख से चल रही जीविका से रहित कर देना, किसी की जीविका को उखाड़ देना भी हो सकता है। किसी की जीविका का उच्छेद (वृत्तिच्छेद) कर देना भी उसके प्राण लेने के समान भयंकर दुःखदायी होता है। इसलिए इन दोनों दृष्टियों से निर्यापना हिंसा की कारण होने से हिंसा की ही बहिन है। अथवा इसका एकरूप नियातना होता है—जिसका अर्थ होता है, जिसमें नितरां—निरंतर यातना ही यातना हो। हिंसा के कारण हिंसक प्राणी को सतत यातना का ही अनुभव होता है। इसलिए नियातना भी हिंसा की कारण होने से इसकी समानार्थक है। इसी प्रकार कहीं-कहीं इसका संस्कृत रूपान्तर 'निर्यतना' भी होता है, जिसका अर्थ है—कर्म में किसी प्रकार की भी यतना-सावधानी-अप्रमत्तता नहीं रहती, सर्वथा निकल जाती है। हिंसा में किसी प्रकार की यतना तो रहती ही नहीं, पर मन, शरीर, वाणी, इन्द्रिय आदि किसी भी अंग पर संयम या नियंत्रण भी हिंसा करते समय नहीं रहता। इसलिए हिंसा का एक नाम 'निर्यतना' भी है। इसका एक पाठान्तर मिलता है—'निज्झवणो' जिसका अर्थ है—निर्ध्यापन करना—यानी धर्मध्यान, शुक्लध्यान रूप शुभ ध्यानों को छुड़ाने वाला। प्राणिवध करने वाले का ध्यान हमेशा आर्त्त और रौद्र रहता है, धर्मध्यान तो उसके पास भी नहीं फटकता। यह भी प्राणिवध के कारण होता है, इसलिए 'निर्ध्यापन' भी इसके समकक्ष है।

२९–लोपना—जिसमें प्राणों का लोप (खात्मा) कर दिया जाता हो, वह लोपना है। अथवा प्राणों की लुम्पना-लूट करने वाली होने से यह लोपना है। प्राणिवध में भी प्राणों का लोप किया जाता है, इसलिए लोपना भी प्राणिवध की सगी बहिन है।

३०–विराधना—आत्मा के ज्ञानादि गुणों की इसमें विराधना होती है—क्षति होती है, इसलिए विराधना भी आत्म-भाव की हिंसा का ही काम करती है।

द्रव्यहिंसा से भावहिंसा कई गुना बढ़कर होती है। दूसरों की हिंसा करने, सताने, जलाने या मारने की दुर्भावना वाला प्राणी जब उन पर शस्त्र, आग या पत्थर आदि फेंकता है, तो उस समय उन प्राणियों का हानि-लाभ या रक्षा-विनाश अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के अधीन होने से उसके फेंके हुए शस्त्रादि से हानि हो भी या न भी हो, किन्तु उसकी उक्त कषायमयी परिणति या दुर्भावना के कारण उसकी अपनी भावहिंसा या आत्महिंसा तो हो ही गई। मूल में तो भावहिंसा ही पापकर्म के बन्ध की कारण है, द्रव्यहिंसा तो प्राणघात आदि की क्रियामात्र है। जहाँ भावहिंसा नहीं होती, वहाँ केवल द्रव्य हिंसा से पापकर्म का बन्ध नहीं होता। जो मुनि महात्मा उपयोगपूर्वक चलते हैं, उनके पैर के नीचे अकस्मात् कोई जीव आकर दब जाय या कुचल जाय, तो भी उनको मारने या सताने की भावना न होने से वहाँ भावहिंसा नहीं होती, केवल द्रव्यहिंसा होती है, जो पापकर्म के बन्ध की कारण नहीं है। प्रमाण के लिए देखिये यह पाठ—

"उच्चालिदम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमणट्ठाणे।
आवधेज्ज कुलिंगो वा, मरेज्ज वा तज्जोगमासज्ज॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समए।
मुच्छा परिग्गहोत्ति अज्झप्पमाणदो भणिदो॥"

अर्थात्—'ईर्यासमितिपूर्वक चलने वाले साधु के आहारादि के निमित्त गमन करते समय पैर उठाने पर यदि कोई त्रसजन्तु अकस्मात् पैर के नीचे आकर दब जाय या उसके योग से मर जाय, तो भी उसके निमित्त से उस साधु को जरा (सूक्ष्म) भी बन्ध होना आगम में नहीं बताया है। क्योंकि उसके परिणाम उस जीव को मारने या सताने के नहीं थे, ईर्यासमितियुक्त चलने के थे। वास्तव में मूर्च्छारूप आत्मपरिणाम ही परिग्रह है, बन्ध है।'[1]

इस प्रकार सर्वत्र हिंसा के परिणामों से ही हिंसाजन्य पापकर्म का बन्ध होता है।

तंदुलमत्स्य जीवों की वधरूप क्रिया (द्रव्यहिंसा) बिलकुल नहीं करता, लेकिन उसके परिणाम जीवों को निगलने व मारने के होने से वह मर कर अपने उन हिंसा रूप परिणामों (भावहिंसा) के कारण सातवें नरक का मेहमान बनता है। इसलिए भावहिंसा ही पापकर्म के बन्ध की कारण है। भावहिंसा आत्मा के ज्ञानादि

१—इसके लिए और भी प्रमाण देखिये—"अणगारस्स णं भंते भावियप्पणो पुरो दुहओ जुगमायाए पेहाए रीयं रीयमाणस्स पायस्स अहे कुक्कुडपोए वा वट्टापोए वा कुलिंगच्छाए वा परियावज्जेज्जा, तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ संपराइया किरिया कज्जइ ?' 'गोयमा ! अणगारस्स णं भावियप्पणो जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ,नो संपराइया किरिया कज्जइ।' 'से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? जहा सत्तमसए संवुडुद्देसए जाव अट्ठो निक्खित्तो।"

—भगवतीसूत्र, शतक १८ उ० ८, सूत्र १.

अत्ताणे, असरणे, अणाहे, अबंधवे, कम्मनिगल-बद्धे, अकुसलपरिणाममंदबुद्धिजणदुव्विजाणए, पुढविमए, पुढविसंसिए, जलमए, जलगए, अणलाणिलतणवणस्सइ-गणनिस्सिए य तम्मयतज्जिए चेव तदाहारे, तप्परिणयवण्ण-गंधरसफासवोंदिरूवे अचक्खुसे चक्खुसे य तसकाइए असंखे, थावरकाए य सुहुम-बायर-पत्तेय-सरीरनामसाधारणे अणंते हणंति अविजाणओ य परिजाणओ य जीवे इमेहिं विविहेहिं कारणेहिं-किं ते ?

करिसण-पोक्खरिणी-वावि- वप्पिणि-कूव-सर-तलाग-चिति-वेदिया-खातिया (खाइयं) - आराम - विहार-थूभ-पागार-दार-गोउर-अट्टालग-चरिया-सेउ-संकम - पासाय- विकप्प-भवण-घर-सरण - लयण- आवण - चेइय-देवकुल-चित्तसभा-पवा-आयतणा-वसह-भूमिघर-मंडवाण य कए भायणभंडोवगरणस्स विविहस्स अट्ठाए पुढवि हिंसंति मंदबुद्धिया ।

जलं च मज्जणय-पाण-भोयण-वत्थधोवण-सोयमादिएहिं ।

पयण-पयावण-जलावण-विदंसणेहिं अगणिं ।

सुप्प-वियण-तालयंट-परियुनक-हुणमुह (पेहुणमुह)-करयल-सग्ग (साग) पत्त-वत्थ एवमादिएहिं अणिलं ।

अगार - परिया (वाडिया) र—भक्ख-भोयण-सयणासण-फलक - मुसल - उखल -तत - विततातोज्ज-वहण-वाहण -मंडव-विविह भवण-तोरण - विडंग-देवकुल - जालयद्धचंद - निज्जूहग-चंदसालिय-वेतिय-णिस्सेणि-दोणि-चंगेरी - खील-मंडक (मेढग)-सभा-पवा-वसह-गंध-मल्लाणुलेवणंबर-जुय - नंगल (मे) मइय-कुलिय-संदण - सीया-रह-सगड-जाण-जोग्ग-अट्टालग-चरिअ-दार-गोपुर - फलिह (हा)-जंतसूलिय (या)-लउड - मुसंढि (मुसुंढि)-सयग्घी—बहुपहरणा-वरणुवक्खराण कए, अण्णेहि य एवमाइए-

हिं बहुहिं कारणसएहिं हिंसंति ते तरुगणे भणिता अभणिता (भणिए य) एवमादी ।

सत्ते सत्तपरिवज्जिया उवहणंति दढमूढा दारुणमती कोहा माणा माया लोभा हासा रती अरती सोय वेदत्थ जीयधम्मत्थ-कामहेउ सवसा अवसा अट्ठाए अणट्ठाए य तसपाणे थावरे य हिंसंति ।

मंदबुद्धी सवसा हणंति, अवसा हणंति, सवसा अवसा दुहओ हणंति । अट्ठा हणंति, अणट्ठा हणंति, अट्ठा अणट्ठा दुहओ हणंति । हस्सा हणंति, वेरा हणंति, रती (य) हणंति, हस्सा वेरारती हणंति । कुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति, कुद्धा लुद्धा मुद्धा हणंति । अत्था हणंति, धम्मा हणंति, कामा हणंति, अत्था धम्मा कामा हणंति ॥सू० ३॥

संस्कृत-छाया

तं च पुनः कुर्वन्ति केचित् पापाः असंयता अविरता अनिभृतपरिणाम-दुष्प्रयोगाः प्राणवधं भयंकरं बहुविधं बहुप्रकारं परदुःखोत्पादनप्रसक्ता एतेषु त्रसस्थावरेषु जीवेषु प्रतिनिविष्टाः, किंतत् ?

पाठीन - तिमि-तिमिंगलाऽनेकझष-विविधजातिमंडूक-द्विविधकच्छप-नक्रचक्र-मकरद्विविध - ग्राहसंढ-ग्राह - विलियेष्टक - मंडुक-सीमाकार-पुलक-सुंसुमार-बहुप्रकारान् जलचरविधानकृतांश्चैवमादीन् ।

कुरंग-रुरु-सरभ - चमर-संबरो-रभ्र - शशक-प्रशय-गोण-रोहित-हय-गज-खर-करभ-खड्गि-वानर-गवय-वृक-शृगाल- कोल-मार्जार - कोलशुनक-श्रीकन्दलक-आवर्त्त-कोकंतिक-गोकर्ण-मृग-महिष-व्याघ्र-छगल-द्वीपिक-श्वान-तरक्ष-अक्ष-भल्ल-शार्दूल-सिंह-चिल्लण (चित्रल)-चतुष्पदविधानकृतांश्चैव-मादीन् ।

अजगर-गोणस-वराह - मुकुलि-काकोदर-दर्भपुष्प-आसालिक-महोरग-उरगविधानकृतांश्चैवमादीन् ।

क्षारल-शरम्ब-सेह-सल्लक-गोध - उन्दर-नकुल - शरट-जाहक-मंगुस-खाडहिल - वातुत्पतिका (वातोत्पत्तिका) गृहगोधिका: (गृहकोकिलिकाः) सरिसृपगणांश्चैवमादीन् ।

कादम्बक - बक - बलाका - सारस - आडा - सेतीक - कुलल-वंजुल-पारिप्लव - कीर (कीव)—शकुन - दीपिका - (पिपीलिका) -हंस-धृतराष्ट्र-पवमास (कभास) - कुटीक्रोश - क्रौंच - दकतुण्ड - ढेलि (णि) कालग-सूचीमुख - कपिल-पिंगल - (पिंगलाक्षक) - काक-कारण्ड (करण्ड)-चक्रवाक-उत्क्रोश-गरुड़-पिंगुल-शुक-बर्हि-मदनसाला (शाला) - नंदीमुख-नन्दमानक-कोरंक-भृंगारक-कोणालक-जीवजीवक-तित्तिर-वर्त्तक - लावक- कपिंजलक-कपोतक-पारावतक-चटक-ढिंक-कुर्कुटक-मसर (वेसर)-मयूरक-चकोरक-ह्रदपौण्डरीक (शालक)-करक-चिरल्ल (चीरल्ल)-श्येन-वायस-विहग-(विहंग)-मेनाशित्-चास-(चाष) -वल्गुलि-चर्मस्थिल-विततपक्षि-समुद्गपक्षि-खचर-विधानकृतांश्चैवमादीन् ।

जलस्थलखचारिणस्तु (श्च) पञ्चेन्द्रियान् पशुगणान् द्विकत्रि-कचतुरिन्द्रियान् विविधान् जीवान् प्रियजीवितान् मरणदुःखप्रतिकूलान् वराकान् घ्नन्ति बहुसंक्लिष्टकर्म्माणः ।

एभिर्विविधैः कारणैः, किं तत् ? चर्म-वसा-मांस-मेदः-शोणित-यकृत्-फिप्फिस-मस्तुलिंग-हृदयान्त्रपित्तफोफस-दंतार्थम्, अस्थि-मज्जा-नख-नयन-कर्ण-स्नायु-नासिका- धमनी-शृंग - दंष्ट्रा - पिच्छ-विष-विषाण - बालहेतोः, हिंसंति च ।

भ्रमरमधुकरीगणान् रसेषु गृद्धाः, तथैव त्रीन्द्रियान् शरीरोपकरणार्थं कृपणान्, द्वीन्द्रियान् बहून् वस्त्रोपगृहपरिमण्डनार्थम् ।

अन्यैश्चैवमादिभिः बहुभिः कारणशतैरबुधा इह हिंसन्ति त्रसान् प्राणान्, इमांश्चैकेन्द्रियान् बहून् वराकान् त्रसांश्चान्यांस्तदाश्रितांश्चैव तनुशरीरान्, समारंभन्ते ।

अत्राणान्, अशरणान्, अनाथान्, अबान्धवान्, कर्मनिगडबद्धान्, अकुशलपरिणाममंदबुद्धिजन-दुर्विज्ञेयान्, पृथिवीमयान्, पृथिवीसंश्रितान्, जल-मयान् जलगतान्, अनलानिल - तृणवनस्पतिगणनिश्रितांश्च तन्मयतज्जी-वांश्चैव तदाधारान् (तदाहारान्) तत्परिणतवर्णगन्धरसस्पर्शशरीररूपान् अचाक्षुषांश्चाक्षुषांश्च त्रसकायान् असंख्यान् स्थावरकायांश्च सूक्ष्मबादर-प्रत्येकशरीरनामसाधारणांश्चानन्तान् घ्नन्ति अविजानतश्च परिजानतश्च जीवान् एभिर्विविधैः कारणैः, किं तत् ?

कर्षण-पुष्करिणी-वापी - वप्र-कूप-सरस्तडाग-चिति-वेदिका-खातिका-आराम-विहार-स्तूप-प्राकार-द्वार-गोपुर-अट्टालक-चरिका-सेतु-संक्रम-प्रासाद-विकल्प-भवन-गृह-शरण-लयन-आपण-चैत्य-देवकुल-चित्रसभा-प्रपा- आयतन-

ावसथ-भूमिगृह-मंडपानां च कृते, भाजन-भाण्डोपकरणस्य विविधस्यार्थाय
ृथिवीं हिंसन्ति मंदबुद्धिकाः ।

जलं च मज्जनक-पान-भोजन-वस्त्रधावन-शौचादिभिः ।

पचन-पाचन ज्वालन-विदर्शनैरग्निं ।

सूर्प्प-व्यजन-तालवृन्त- (मयूरांग) 'पृथुनक-हुणमुख- करतल-सगंपत्र-
वस्त्रादिभिरनिलं ।

आगार - परिचार (प्रतिचार)-भक्ष्य - भोजन - शयनासन - फलक-
मुशलोदूखल-ततविततातोद्य - वहन - वाहन-मण्डप - विविध भवन- तोरण-
विटंग - देवकुल - जालकार्द्धचन्द्र - निर्यूह (निर्व्यूह) - चन्द्र - शालिका-
वेदिका - निःश्रेणि - द्रोणी - चङ्गेरी - कील-मुण्डका (मेढक) - सभा-प्रपा-
वसथ-गन्धमाल्यानुलेपाम्बर-युग-लांगल - मे (म) तिक - कुलिक - स्यन्दन-
शिबिका - रथ-शकट - यान - युग्याट्टालक-चरिका-द्वार-गोपुर-परिघा-यंत्र-
शूलिका-लकुट-मुशुण्डि-शतघ्नी बहुप्रहरणाऽवरणोपस्कराणां कृते, अन्यैश्चैव-
मादिभिर्बहुभिः कारणशतैर्हिंसन्ति तांस्तरुगणान् ।

भणितानभणितांश्चैवमादीन् सत्त्वान् सत्त्वपरिवर्जितानुपघ्नन्ति
दृढ-मूढा दारुणमतयः क्रोधान्मानान्मायाया लोभात् हास्यरत्यरतिशोकात्
वेदार्थी (वेदार्थ) जीव (जीत) धर्मार्थकामहेतोः स्ववशा अवशा अर्थायानर्थाय
च त्रसप्राणान् स्थावरांश्च हिंसन्ति ।

मन्दबुद्धयः सवशा घ्नन्ति, अवशा घ्नन्ति, स्ववशा अव:
घ्नन्ति, अर्थाय घ्नन्ति, अनर्थाय घ्नन्ति, अर्थायानर्थाय द्विधा घ्नन्ति,
घ्नन्ति, वैराद् घ्नन्ति, रतेर्घ्नन्ति, हास्यवैररतिभ्यो घ्नन्ति, क्रुद्धा
लुब्धा घ्नन्ति, मुग्धा घ्नन्ति, क्रुद्धा मुग्धा लुब्धा घ्नन्ति, अर्थाद्
धर्माद् घ्नन्ति, कामाद् घ्नन्ति, अर्थाद् धर्मात्कामाद् घ्नन्ति ॥सू०॥३

पदार्थान्वय—(पुण च केवि) और फिर कई (पावा) पापी (
असंयमी (अविरया) पापक्रिया से अविरत, (अणिहुय परिणामदुप्पयोगी)
परिणामों में मन-वचन-काया को दुष्प्रयुक्त करने वाले, (परदुक्खोपाय
परदुःखोत्पादन में तत्पर, (इमेहिं) इन (तसथावरेहिं) त्रस और स्थावर,
जीवों में, (पडिणिविट्ठा) द्वेषभाव रखने वाले, (तं) पूर्वसूत्र
विभिन्न नाम बता चुके हैं, उस, (भयंकरं) भयंकर, (बहुविहं) अनेक
वाले, (बहुप्पगारं) अनेक प्रकार के (पाणवहे) प्राणिवध को (करेंति
हैं। (किं ते ?) वे प्राणवध किन-किनका किस लिए करते हैं ?
तिमितिमिंगल-अणेग झस-विविहजातिमंडुक्क - दुविहकच्छभ - णक्कचक्कम
सुसंढ-विविहगाह-दिलिवेढय-मंडुय-सीमागार - पुलक - सुंसुमार बहुप्पगारा

विहाणाकए य एवमादी) पाठीन नामका मत्स्य, तिमि-बड़ामत्स्य, तिमिंगल नामक महामत्स्य, विविध प्रकार की छोटी मछलियां, अनेक जाति के मेंढक, दो प्रकार के कछुए, नक्रचक्र नाम के जलजंतु, दो प्रकार के मगर, मूढ़सढ नामक मत्स्य, ग्राह (घड़ियाल), पूंछ से लपेट लेने वाले विलिवेष्टक नामक ग्राह, मंडूक, सीमाकार, और पुलक ये पाँचों ग्राह-विशेष के भेद, सुंसुमार नामक जलचर जन्तु इत्यादि ये और ऐसे बहुत से प्रकार के जलचर जीवों का प्राणवध करते हैं, जिनके अनेक भेद बताए हैं। तथा (कुरंग-रुरु-सरभ-चमर-संबर-उरब्भ-ससय-पसय-गोण-रोहिय-हय-गय-खर-करभ-खग्गी-वानर-गवय-विग-सियाल - कोल - मज्जार - कोलसुणग-सिरियगवलगावत्त-कोंकतिय-मिय-महिस-वियग्घ-छगल-दीविय-साण - तरच्छ-अच्छ - भल्ल - सद्दूल-सीह-चिल्लल-चउप्पयविहाणा कए य एवमादी) कुरंग-हिरण, रुरु जाति का मृग, अष्टापद नाम के लोकप्रसिद्ध जंगली पशु, चमरी गाय, सांभर, भेड़, खरगोश, प्रशय नामक दो खुरों वाले जंगली जानवर, बैल, रोहित नामक चौपाया जानवर, घोड़ा, हाथी, गधा, ऊँट, गेंडा, बंदर, रोज नामक जंगली गाय-गवय, भेड़िया, गीदड़, चूहे की सी आकृति वाला कोल नामक जन्तु, बिलाव, बड़ा सूअर, श्रीकंदल तथा आवर्त्त नामक एक-खुरवाले पशु, रात में कों कों करने वाला कोंकतिक नामक जानवर, दो खुरवाला गोकर्ण नाम का पशुविशेष, मृग, भैंसा, बाघ, बकरा, चीता, कुत्ता, विज्जू-जरख, रींछ, भालू, शार्दूल, (बब्बरशेर), सिंह, चिल्लल नामक वन्य जन्तु-विशेष, ये और ऐसे सब चतुष्पद जीवों के अनेक प्रकार होते हैं, जिनके प्रकार पहले बता चुके हैं। ये सब चौपाये जानवरों के भेद हैं। इस प्रकार चौपाये जानवरों की पूर्वोक्त क्रूर लोग हिंसा करते हैं (४) तथा (अयगरगोणसवराह-मउलि काओदर-दब्भ-पुप्फ-आसालिय-महोरगोरगविहाणकए य एवमादी) अजगर, बिना फन वाले सर्प, दृष्टि-विष सर्प, परड़ (काकोदर) नामक सांप, दर्वीकर सर्प या दर्भपुष्प नामक सर्प, आसालिक नामक बड़े सर्प, महोरग (बहुत बड़े सर्प), ये सब पेट के बल गति करने वाले उरःपरिसर्प हैं, जिनके अनेक प्रकार बतलाए गए हैं। इन पेट और भुजा के बल पर रेंग कर या सरक कर चलने वाले सर्प जाति के विशिष्ट जन्तुओं का प्राणवध वे क्रूर लोग करते हैं। तथा (छारल-सरंब-सेह-सल्लग-गोधा-उंदर-णउल-सरड-जाहग-मंगुस-खाडहिल-चाउप्पाइया छिरोलिया-सिरिसिवगणे एवमादी) भुजाओं से चलने वाले क्षारल, सरम्ब, सेहला—जिसके शरीर पर चारों ओर कांटे होते हैं, जो गोल और काला होता है, शल्यक (सीसोलिया), गोह, चूहा, नेवला, गिरगिट, केंकड़ा, कांटों से आवृत शरीर वाला जाहक, छछूंदर, गिलहरी, वातोत्पत्तिक या चार पैरों से चलने वाले चातुष्पदिक भुजपरिसर्प जन्तु जो भुजा से सरक कर चलते हैं, छिपकली इत्यादि ये और इन जैसे अनेक भुजपरिसर्प जीवों का प्राणवध वे क्रूरकर्मा करते हैं। तथा (कादंबक-बक-बलाका-सारस-आडा-सेतीय-कुलल-वंजुल-पारिप्पव-कीर

(य)-सउण-दीविय (पीपोलिय) हंस-धत्तरिट्ठग (पय) भास-कुलीकोस-कुंच-दगतुंड-ढेलि (णि) यालग-सूयीमुह-कविल-पिंगल (क्खग)-कारंडग-चक्कवाग-उक्कोस-गरुल-पिंगुल-सुय-बरहिण-मयणसाल-नंदीमुह-नंदमाणग - कोरंक - भिंगारग - कोणालग-जीवजीवक-तित्तिर-वट्टग-लावक-कपिंजल - कयोतक-पारेवयग - चडग (चिडिग)-ढिंक-कुक्कुड-वेसर-मयूरग-चउरग-हयपोंडरीय-करक-ची (चो) रल्ल-सेण-वायस-विह (हं) ग-भिणासि-चास-वग्गुलि-चम्मट्ठिल-विततपक्खि-समुग्गपक्खि-खहयरविहाणाकए एवमावी) हंस, बगुला, बलाका - बगुली, सारस, आडी व सेतीका नामक जलपक्षी, लाल पैरों वाले कुलल नामक हंस, खंजन, चंचल जाति के पारिप्लव, सुग्गे या कोवपक्षी, टिटहरी नामक शकुन, वेवी नाम की मादापक्षी, सफेद पंख वाले हंस, काली चोंच वाले धृतराष्ट्र नाम के हंस, काले मुंह वाले पवभास या भास नामक पक्षी, कुटीक्रोश, क्रौंच, जलमुर्गी, ढेलिकालग नामक जलचरपक्षी या ढेणीकालक, वैया नामक पक्षी, सुगरी, कपिल, पिंगल या पिंगलाक्ष - पहाड़ी कौआ, कारंडक नामक जलचरपक्षी, चकवा, कुरर, गरुड़, लाल तोता, लालमुंह वाला तोता, पिच्छ वाले मोर, मैना, नंदीमुख, भूमिवर्ती दो अंगुलभर के शरीर वाला-नंदमानक, कोरंक, भृंगारक, चौकोर आकृति वाले कोणालक, जीवजीवक, चकोर, तीतर, बतक, बटेर-लावा, कमेड़ी, कपिंजल, कबूतर, विशेष प्रकार के कपोत, चिड़िया, पानी पर चलने वाले ढिंक, गिद्ध, मुर्गा, वेसरया, पिच्छरहित मोर, चतुर चकोर, हृदपुण्डरीक, करक-द्रह में पैदा होने वाला, चीरिलिक या चीरल्ल नामक पक्षिविशेष, बाज, कौआ, विहंग नामक पक्षीविशेष, भेनाशित, चास, वल्गुली, चमगीदड़, विततपक्षी और समुद्ग पक्षी—जो मनुष्य क्षेत्र से बाहर रहते हैं; इस प्रकार जिन आकाशचारी या उड़ने वाले पक्षियों के यहाँ नाम बताए गए हैं, वे और इन जैसे और भी पक्षियों का ये क्रूरकर्मा लोग प्राणवध करते हैं।

इस प्रकार (जलथलखहचारिणो) जल, स्थल और आकाश में चलने वाले, (पंचेंदिय) पंचेन्द्रिय, (पसुगणे) पशुगणों का, (बियतियचउरिंदिए) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, और चतुरिन्द्रिय, (विविहे) नाना प्रकार के, (पियजीविए) अपनी जिंदगी को अत्यन्त प्यारी समझने वाले, (मरणदुक्खपडिकूले) मृत्यु के दुःख से बिलकुल खिलाफ, (वराए) बेचारे, (जीवे) जीवों का ये (बहुसंकिलिट्ठकम्मा) अत्यन्त दुष्टकर्म वाले प्राणी (इमेहिं विविहेहिं कारणेहिं) इन विविध प्रयोजनों से, (हणंति) वध करते हैं। (किते ?) वे प्रयोजन कौन-कौन से हैं ?) चम्म-वसा-मंस-मेय-सोणिय-जगफिप्फिस-मत्थुलुंग-हिययंत-पित्तफोप्फस-दंतट्ठा) चमड़े, चर्बी, मांस, मेदा, रक्त, जिगर, फेफड़े, दिमाग-भेजे, हृदय, आंतों, पित्त-फोफस-यानी शरीर का एक भाग-फुप्फुस

और दांतों के लिये, तथा (अट्ठिमिंज-नह-नयण-कण्ण-ण्हारुणि-नक्क-धमणि-सिंग-दाढि-पिच्छ-विस-विसाण-वालहेउं) हड्डी, मज्जा, नख, आंख, कान, स्नायु - नसों - रगों, नाक, धमनियों-नाडियों, सींग, दाढ़, पिच्छ, विष, हाथीदांत और केशों के लिए मारते हैं। (य) और, (रसेसु गिद्धा) रसों में आसक्त लोलुप प्राणी (भमरमधुकरीगणे) भौंरो और मधुमक्खियों की (हिंसंति) हिंसा करते हैं। (तहेव) इसी प्रकार, (वत्थोहरपरिमंडणट्ठा) घर में सोने, नहाने, शौच जाने, वस्त्रादि का प्रसाधन (शृंगार) करने, भोजन बनाने, भोजन करने, पानी रखने आदि के गृहों-उपगृहों का खासतौर से रंगरोगन करने या सुशोभित करने के लिए, (सरीरोवगरणट्ठाए) शरीर और अन्य साधनों को संस्कारित करने या शुद्ध करने या मांजने धोने के लिए, (किवणे) दयनीय (बहवे) बहुत से (तेइंदिए) तीन इन्द्रियों वाले जीवों, (बेइंदिए) दो इन्द्रियों वाले प्राणियों को मारते हैं। (य) और, (एवमादिएहिं) ये और इसी प्रकार के (अण्णेहिं) अन्य, (बहूहिं) बहुत से, (कारणसतेहिं) सैंकड़ों कारणो से, (अबुहा) अज्ञानी जीव (इह) इस लोक में, (तसे पाणे) त्रस प्राणियों को, (हिंसंति) हिंसा करते हैं। (य) और (बहवे) बहुत से (वराए) बेचारे दीन, (इसे) इन सामने दिखाई देने वाले, (एगिंदिए) एकेन्द्रिय (पाणे) जीवों का, (य) और (तदस्सिए) उन एकेन्द्रिय जीवों के आश्रित (चेव) ही, (अण्णे) दूसरे, (तणुसरीरे) बहुत छोटे शरीर वाले, (तसे) त्रसजीवों का, (समारंभंति) नाश कर डालते हैं। इसी तरह (अत्ताणे) सुरक्षारहित, (असरणे) शरणहीन, (अणाहे) अनाथ, (अबांधवे) बन्धुजनरहित, (कम्मनिगलबद्धे) कर्मों की बेड़ियों से जकड़े हुए, (अकुसल परिणाम मंदबुद्धि जण-दुव्विजाणए) मिथ्यात्व के उदय से अशुभ परिणाम वालों तथा मंदबुद्धिलोगों द्वारा मुश्किल से जाने जा सकने योग्य जीवन वालों (पुढवीमए) पृथ्वीमयशरीर वालो ; (पुढवीसंसिए) पृथ्वी के आश्रित रहने वाले अलसिया आदि त्रस जीवों, एवं (जलमए) जलमयशरीरवालों (जलगए) जल के आश्रित रहने वाले फुंहारे आदि जीवों , (अणलाणिलतणवस्सइगणनिस्सिए) अग्नि, वायु, तृण और वनस्पतिगण के आश्रित रहने वाले त्रस जीवों (य) और (तम्मयतज्जिए चेव) उन्हीं अग्नि, वायु, वनस्पति आदि के ही विकार जन्य, जो उन्हीं में रहते हैं, उन्हें, तथा अग्नि आदि की योनियों वाले जीवों, (तदाहारे) उन्हीं के आधार पर रहने वालों या पृथ्वी आदि का ही आहार करने वालों, (तप्परिणय-वण्णगंधरसफासबोदिरूवे) उन्हीं पृथ्वी आदि के रूप में परिणत वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शमय शरीर वालों, (अचक्खुसे) आंखों से नहीं दिखाई देने वालों (य) और (चक्खुसे) आंखों से दिखाई देने वालों, (असंखे तसकाइए) असंख्य त्रसकायिक जीवों (य) तथा (सुहमबायर पत्तेयसरीर नामसाधारणे अणंते थावरकाए) सूक्ष्म, बादर, प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर वाले अनंत स्थावर कायिक जीवों का, (अविजाणओ) अपने दुःख को नहीं जानने वाले (य) और (विजाणओ)

जानने वाले, (जीव) जीवों का (इमेहिं) आगे बताए जाने वाले इन (विविहेहिं) विभिन्न, (कारणेहिं) कारणों से (हणंति) घात करते है ।

(किं ते ?) वे कारण कौन-कौन-से हैं ? (करिसण-पोक्खरिणी-वावि-वप्पिणि-कूव-सर-तलाग-चिति-वेइया-खातिय-आराम-विहार-थूभ-पागार-दार-गोउर-अट्टालग-चरिया-सेतु-संकम-पासाय-विकप्प-भवण-घर-सरण-लेण-आवण-चेइय-देवकुल-चित्तसभा-पवा-आयतणा-वसह-भूमिघर-मंडवाण कए) खेती या खेत, पुष्करणी - छोटा तालाब-पोखर, बावड़ी, क्यारियाँ, कुंआ, तालाब, कमलसरोवर, चिता, वेदिका, खाई, बाग, बौद्धविहार या मठ, स्तूप, कोट, द्वार, नगर का सदर दरवाजा, अटारी, नगर और कोट के बीच में आठ हाथ चौड़ा मार्ग, पुल, विकट स्थान से उतरने का मार्ग, राजभवन-महल, बंगला, या प्रासाद के अन्तर्गत मकान, भवन-पक्का घर, मामूली घर, तृणकुटीर-झौंपड़ी, पर्वतीय आवासस्थल, बाजार, यक्षादि की प्रतिमा के स्थान, देवालय - शिखर-बद्धदेव-भवन, चित्रों से सुसज्जित सभामण्डप, प्याऊ, देवायतन - देवस्थान, तापसों का आश्रम, भूमिगृह-तलघर या भौंयरा, छाया के लिए कपड़े के तम्बू - मंडप के लिए, (य) और, (विविहस्स) अनेक प्रकार के (भायण भंडोवगरणस्स) सोना-चांदी, ताम्बा, पीतल आदि धातुओं के बर्तनों तथा मिट्टी के अनेक किस्म के बर्तनों एवं नमक मिर्च आदि बेचने की सामग्री.रूप (किराना) तथा ऊखल मूसल आदि साधनरूप उपकरणों के (अट्ठाए) निमित्त, (मंद बुद्धिया) मंदबुद्धिवाले लोग, (पुढविं) पृथ्वीकायिक जीवों की, (हिंसंति) हिंसा करते है । (य) और, (मज्जणय-पाण-भोयण-वत्थ-धोवण-सोयमादिएहिं) स्नान, पान, भोजन,वस्त्र धोने और शौच (सफाई मांजने, धोने, कुल्ला करने,टट्टी जाने आदि) आदि कारणों से (जलं) जलकायिक जीवों का (य) तथा (पयणपयावण जलावण-विदंसणेहिं)पकाने, पकवाने, जलाने,उजाला करने आदि कारणो से (अगणिं) अग्निकाय के जीवों का, तथा (सुप्प-वियण-तालयंट-परियुनक-हुणमुह - करयल-सगपत्त-वत्थ एवमादिएहिं) सूप (छाज), पंखों, ताड़ के पत्तों के पंखे, मोरपंख, कागज आदि के पन्ने, मुंह,हाथ, सगंवृक्ष के पत्ते,वस्त्र आदि से (हवा करके) (अणिलं) वायुकायिकजीवों का घात करते हैं । तथा (अगार-परि (डि) यार-भक्ख-भोयण-सयणासण-फलक-मुसल-उखल-तत-विततातोज्ज-वहण-वाहण-मंडव-विविहभवण-तोरण-विटंग-देवकुल-जालयद्धचंद-निज्जुहग - चंदसालिय - वेतिय -निस्सेणि-दोणि-चंगेरी-खील-मंडव-समावसह-गंधमल्ला-णुलेवणंबर-जुय-नंगल-मेइय-कुलिय-संदन - सीया-रह-सगड-जाणजोग्ग-अट्टालग-चरिअ-दार-गोपुर-फलिह-जंत-सूलिया-लउड-मुसंढि-सयग्धी-बहुपहरणा-वरणुवक्खराण कए) घर, तलवार आदि का म्यान, मोदक आदि भक्ष्यवस्तु, चावल आदि भोजन, शय्या, आसन (खाट या पलंग) लकड़ी का तख्त (पट्टा), मूसल, ऊखल, वीणा आदि वाद्य, ढोल, नगाड़े आदि बाजे, जहाज, गाड़ी आदि सवारी, लता आदि का मंडप, अनेक प्रकार के भवन (ईमारतें), तोरण, कबूतरों के बैठने का स्थान, देवालय, झरोखे, विशेष

किस्म की सीढ़ियां,दरवाजे पर अगल-बगल में निकले हुए लकड़ी के कंगूरे,चौबारा,वेदी निसैनी, नाव, बड़ी टोकरी, कील (खूंटियां), रावटी या रेसा (कपड़े की पटकुटी), सभा, प्याऊ, मठ, सुगन्धित चूर्ण (पाउडर), फूलों की माला और चन्दन आदि का लेप, कपड़े, जूड़ा (जूआ), हल, खेत को जोतने के बाद भूमि को सम करने वाला औजार (सुहागा), हल की तरह का खेती का औजार, विशेष प्रकार का रथ, पालकी, रथ, बैलगाड़ी, यान-एक विशेष प्रकार की घोड़ा आदि के जुतने से चलने वाली गाड़ी, अटारी, नगर और प्राकार के बीच का आठ हाथ का मार्ग, द्वार, नगर का सदर दरवाजा, आगल, रेंहट या खाई को ढकने के लिए अरघट्ट आदि यंत्र, शूली, लाठी, बंदूक, तोप, तलवार आदि बहुत प्रहार करने के शस्त्र, ढाल, कवच आदि आवरण, एवं मंच, पलंग, मकान आदि उपकरणों—साधनों के लिए, (एवमादिएहिं) ये और इसी प्रकार के (अण्णेहिं) अन्य, (बहूहिं) बहुत से, (कारणसएहिं) सैकड़ों कारणों —प्रयोजनों को लेकर (ते) उन (तरुगणे) वृक्षों के समूह (उपलक्षण से अन्य वनस्पतिकायिक जीवों) की (हिंसंति) हिंसा करते हैं। (एवमादी) इस प्रकार और भी, (भणिता) कहे हुए (अभणिए य) अथवा नहीं कहे हुए, (सत्तपरिवज्जिया) शक्ति हीन, (सत्ते) प्राणियों का, (दढमूढा) पापकर्म में दृढ़ और मूढ़ अथवा वज्रमूर्ख, (दारुणमती) कठोर बुद्धि वाले जीव (उवहणंति) घात करते हैं। किस कारण से मारते हैं ? (कोहा) क्रोध, द्वेष और ईर्ष्या के वश, (माणा) अभिमान के वश, (माया) कपटवश, (लोहा) लोभवश, (हास-रती-अरती-सोय-वेदत्थ-जीय कामत्थधम्महेउ) हास्य के वश, रति,अरति और शोक के वश, वेद अर्थात् स्त्री वेद, पुरुषवेद व नपुंसकवेद में से किसी वेद के उदय होने पर उस की पूर्ति के लिए, अथवा 'वेदत्थ' पाठ होने से 'वेदोक्त अनुष्ठान के लिए' यह अर्थ भी निकलता है। जीने की कामना के लिए, काम भोग की वाञ्छापूर्ति के लिए, अर्थ के लिए और कुलजाति आदि के तथाकथित धर्म पालन के लिए या धर्म के नाम पर बताई हुई क्रिया के हेतु; (सवसा) स्वाधीन (अवसा) या पराधीन होकर, (अट्ठा) प्रयोजन से (य) और (अणट्ठाए) बिना ही प्रयोजन के, (तसपाणे) त्रसजीवों (य) और (थावरे) स्थावरजीवों की (हिंसंति) हिंसा करते हैं।

(मंदबुद्धी सवसा हणंति) मंदबुद्धि वाले अज्ञजन स्वाधीन होकर मारते हैं, (अवसा हणंति) पराधीन होकर मारते हैं, (सवसा अवसा दुहओ हणंति) स्वतंत्र व परतंत्र होकर दोनों प्रकार से मारते हैं, (अट्ठा हणंति) प्रयोजनवश मारते हैं, (अणट्ठा हणंति) बिना प्रयोजन के मारते हैं (अट्ठा अणट्ठा दुहओ हणंति) प्रयोजन व निष्प्रयोजन दोनों तरह से मारते हैं, (हस्सा हणंति) हंसी में मारते हैं, (वेरा हणंति) शत्रुतावश मारते हैं, (रती हणंति) भोगों में रति (आसक्ति) के कारण से मारते हैं, (हस्सवेररतीय हणंति) कई हंसी, वैर और रति इन तीनों कारणों से मारते हैं, (कुद्धा हणंति) कई क्रुद्ध होकर मारते हैं,(लुद्धा हणंति) कई लुब्ध यानी किसी चीज में

आसक्त होकर मारते हैं, (मुद्धा हणंति) कई किसी पर मुग्ध (फिदा) होकर मारते हैं या मूढ बन कर मारते हैं (कुद्धा लुद्धा मुद्धा हणंति) कई क्रोधी, लुब्ध और मुग्ध होकर मारते हैं, (अत्था हणंति) कई अर्थ के निमित्त से मारते हैं, (धम्मा हणंति) कई धर्म के नाम पर मारते हैं; (कामा हणंति) कई कामभोग के लिए मारते हैं, (अत्था धम्मा कामा हणंति) कई अर्थ—धनसम्पत्ति, धर्म और काम को लेकर मारते हैं।

मूलार्थ—कई पापिष्ठ, असंयमी, पाप क्रिया से अविरत, मन वचन काया को अनुपशान्त परिणामों में दुष्प्रयुक्त करने वाले, दूसरों को दुःख देने में उद्यत इन आगे कहे जाने वाले त्रस और स्थावर जीवों के द्वेषी लोग पूर्वसूत्रोक्त अनेक प्रकार के उस भयंकर प्राणिवध को करते हैं।

वे जिन-जिन प्राणियों का और जिस-जिस प्रयोजन से वध करते हैं; उनके नाम इस प्रकार है—पाठीन, तिमि, तिमिंगल (महामत्स्य), विविध प्रकार की छोटी मछलियाँ, अनेक जाति के मेंढक, दो प्रकार के कछुए, नक्रों का समूह, दो तरह के मगरमच्छ, मूढसंढ नामक मत्स्य, ग्राह (घड़ियाल), दिलिवेष्टक, मंदूक, सीमाकार और पुलक ये पांचों प्रकार के ग्राह, सुंसुमार—शिशुमार इत्यादि ये और ऐसे अनेक प्रकार के जलचरजीवों का वे वध करते हैं।

तथा हिरण, रुरु नामक मृग, अष्टापद नामक लोकप्रसिद्ध जंगली पशु, चमरी गाय, सांभर, भेड़, खरगोश, प्रशय नामक दो खुरों वाले जंगली जानवर, बैल, रोहित नामक चौपाया जानवर, घोड़ा, हाथी, गधा, ऊंट, गेंडा, बंदर, रोजनामक जंगली गाय (गवय), भेड़िया, गीदड़, चूहे की-सी आकृति वाला कोल, बिलाव, बड़ा सूअर, श्रीकंदल और आवर्त्त नामक एकखुर वाले पशु, लोमड़ी या रात में 'कों कों' करने वाला कोंकतिक नामक जंगली जानवर, दो खुरवाला गोकर्ण, मृग, भैंसा, बाघ, बकरा, चीता, कुत्ता, विज्जू (जरख), रींछ, भालू, शार्दूल (केसरी सिंह), सिंह और चिल्लल इत्यादि ; ये और इस प्रकार के और भी अनेक प्रकार के चौपाये जीवों को वे मारते हैं।

इसी प्रकार अजगर, विना फन वाले सर्प, दृष्टिविषसर्प, परड़, दर्वीकर, दर्भ पुष्पसर्प, असालिक सर्प, महोरग (विशाल काय सांप) ; इत्यादि नानाविध पेट के बल चलने वाले उरःपरिसर्प जानवर हैं। इन सब सर्प जातीय प्राणियों का वे क्रूरकर्मा वध करते हैं।

इसी प्रकार क्षारल, सरम्ब, सेहला (कांटेदार काला जीव), शल्यक, गोह, चूहा, नेवला, गिरगिट, कॅकड़ा, जाहक, छछुंदर, गिलहरी, वातोत्पत्तिक

और छिपकली आदि नाना प्रकार के चातुष्पदिक और भुजाओं से सरक कर चलने वाले भुजपरिसर्प प्राणी होते हैं, जिनका वध वे अधम करते हैं।

तथा हंस, बगुला, बगुली, सारस, आडी व सेतीका नामक जलपक्षी, लालपैरों वाले कुलल हंस, खंजन, पारिप्लव, सुग्गे या कीव पक्षी, टिटहरी, देवी नाम की मादापक्षी, सफेद पंखवाले हंस, काली चोंच वाले धृतराष्ट्र हंस, काले मुंह वाले पवभास या भासपक्षी, कुटीक्रोश, क्रौंच (कुररी), जलमुर्गी, ढेलिकालग (ढेणिकालक), सूचीमुख (बैया पक्षी) सुगरी, कपिल, कारंडक, पिंगल या पिंगलाक्ष-पहाड़ी कौआ, चकवा, कुरर, गरुड, लाल तोता, लाल मुंह वाला तोता, पिच्छ वाले मोर, मैना, नंदीमुख, नंदमाणक, कोरंक, भृंगारक,कोणालक, जीवजीवक, चकोर, तीतर, बतक, लावा (बटेर), कमेड़ी, कपिंजल, कबूतर, विशेष जाति का कबूतर, चिड़िया, ढिक (पानी पर चलने वाले), गिद्ध, मुर्गा, बेसर, बिना पिच्छ का मोर, चकोर, ह्रदपुंडरीक, करक, बाज, कौआ, विहंग नामक पक्षी, भेनाशित, चास, वल्गुली-बागल, चमगीदड़ इत्यादि नानाविध आकाशचारी या पंखों के बल उड़ने वाले ये तथा और भी अनेक पक्षी होते हैं, जिनका वे निर्दय लोग वध करते है।

इसी प्रकार उपर्युक्त जलचर,स्थलचर-चौपाये, उरःपरिसर्प भुजपरिसर्प और खेचरपक्षी ; इन पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चगति के प्राणियों को, तथा दो इन्द्रियों वाले, तीन इन्द्रियों वाले नाना प्रकार के विकलेन्द्रिय त्रस जीव, जिनको अपना जीवन अत्यन्त प्रिय है, जो मृत्यु के दुःख को कतई नहीं चाहते ; उन बेचारे दीन जीवों की ये दुष्टकर्म करने वाले दुरात्मा आगे बताए जाने वाले निम्नोक्त विविध कारणों—प्रयोजनों से हिंसा करते है।

वे प्रयोजन कौन-कौन से हैं, यह बता रहे हैं—उनमें से कई तो चमड़े, चर्बी, मांस, मेदा, रक्त, जिगर, फेफड़े, भेजा (दिमाग), हृदय, आंतों, पित्त, फोफस (फुप्फुस) और दांतों के लिए उन निरपराध जीवों का प्राणवध करते हैं। तथा कई हड्डी, मज्जा, नख, आँखें, कानों, स्नायुओं-नसों (रगों), नाक, धमनियों (नाड़ियों), सींगों, दाढ़, पिच्छ, विष, हाथीदांत और केशों के (प्राप्त करने के) लिए उनका प्राणनाश करते हैं।

और कई रसलोलुप अधम शहद प्राप्त करने के लोभ में भौंरों और मधुमक्खियों का प्राणवध कर देते है।

इसी तरह कई मूढ़ अपने वस्त्रों को रंगने या बढ़िया बनाने एवं घर में सोने, नहाने, शौच जाने, वस्त्रादि का प्रसाधन (शृंगार) करने, भोजन बनाने, पानी रखने आदि के उपगृहों को खासतौरसे रंगरोगनकरने या सुशोभितकरने के लिए एवं कई अपने शरीर और अन्य साधनों को संस्कारित करने, मांजने,

धोने या साफ करने के लिए दीन-हीन अगणित तीन इन्द्रियों और दो इन्द्रिय वाले जीवों की हिंसा करते हैं। इसी प्रकार के दूसरे बहुत-से सैंकड़ों कारणों से अज्ञानी जीव इस लोक में बेचारे त्रसजीवों का वध कर डालते है। इसी प्रकार बहुत-से अज्ञानी जीव बेचारे इन एकेन्द्रिय जीवों का और उन एकेन्द्रिय जीवों के ही आश्रित बहुत से सूक्ष्म शरीर वाले त्रसजीवों का नाश कर डालते हैं।

वे एकेन्द्रिय जीव सुरक्षारहित, अशरण, अनाथ, बन्धुजनरहित, कर्मों की बेड़ियों से जकड़े हुए होते हैं, मिथ्यात्वी होने से उनके परिणाम शुभ नहीं होते, मंदबुद्धि प्राणियों को उनके अस्तित्व का ज्ञान दुष्कर होता है। उनमें पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर पृथ्वीमय होता है, उनके आश्रित कई अलसिया आदि त्रसजीव होते हैं; अप्काय के जीवों का शरीर जलमय होता है, उसके आश्रित फुंआरे वगैरह बहुत-से त्रस जन्तु रहते है, तथा अग्नि, वायु और वनस्पति आदि का शरीर भी क्रमशः अग्निमय, वायुमय और वनस्पतिमय होता है, उनके आश्रित रहने वाले या उन्हीं के ही विकार से उत्पन्न कई जन्तु होते हैं। ये सब एकेन्द्रिय जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के ही आधार पर या आहार पर रहते हैं, और पृथ्वी आदि के रूप में ही परिणत वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शमय शरीर धारण करके रहते है। इनमें कई सूक्ष्म है, जो आँखों से दिखाई नहीं देते; कई आँखों से दिखाई देते हैं। ऐसे त्रसकायिक जीव असंख्य होते हैं। और स्थावर कायिक जीव सूक्ष्म, बादर, प्रत्येक और साधारण शरीर के भेद से अनन्त हैं। इनमें से कई जीव अपने विनाश के दुःख को स्पष्ट महसूस करते है और कई स्पष्ट महसूस नहीं करते। मोहान्ध जीव आगे बताये जाने वाले इन विविध कारणों—प्रयोजनों से उनका संहार करते है। वे प्रयोजन इस प्रकार हैं—

कृषिकर्म, पुष्करिणी, बावड़ी, खेत, क्यारी, कुंआ, तालाब, कमलों वाला सरोवर, चिता, वेदिका, खाई, बाग, बौद्ध-विहार या मठ, स्तूप, कोट, द्वार, नगर का सदर दरवाजा, अटारी, नगर और कोट के बीच का आठ हाथ का मार्ग, पुल, उबड़खाबड़ जगह से उतरने का रास्ता, राजमहल, बंगला या प्रासाद के अन्तर्गत मकान, भवन (पक्काघर), तृणकुटीर या झौंपड़ी, मामूली घर, गुफा, बाजार, यक्षादि की प्रतिमा का स्थान, शिखर वाले देवालय (मन्दिर), चित्रों से सुसज्जित सभामण्डप, प्याऊ, देवायतन, तापसों का आश्रम या मठ, भूमिगृह, और मण्डप (तम्बू) के लिए तथा अनेक प्रकार के सोने, चांदी, तांबा, पीतल आदि धातुओं के अनेक किस्म के वर्तनों एवं नमक मिर्च आदि बेचने के साधनों (किराने)

तथा ऊखल मूसल आदि अनेक उपकरणों के लिए मन्द बुद्धि लोग पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करते हैं।

स्नान, पान, भोजन, वस्त्रप्रक्षालन तथा शौच आदि कार्यों के लिए जलकायिक जीवों की हिंसा करते हैं।

एवं पकाने, पकवाने, जलाने और उजाला करने आदि कामों के लिए अग्निकायिक जीवों की हिंसा करते हैं।

सूप (छाज), पंखों, ताड़पत्र के पंखों, मोर पंख के पंखों, कागज आदि के पन्ने, मुंह, हथेली सर्गवृक्ष के पत्ते और वस्त्र आदि साधनों से वायुकायिक जीवों की हिंसा करते हैं।

तथा मकान, तलवार वगैरह का म्यान, मोदक आदि भक्ष्यवस्तु, भोजन, शय्या, आसन, लकड़ी के पट्टे, ऊखल, मूसल, वीणा आदि तार वाले बाजे, ढोल-नगाड़े आदि चमड़े से मढ़े हुए बाजे, अन्य बाजे, जहाज, गाड़ी आदि सवारी, लता आदि का मंडप, अनेक प्रकार के भवन (इमारतें), तोरण, कबूतरों के बैठने का स्थान, देवालय, झरोखे, विशेष किस्म की सीढ़ियां, दरवाजे पर अगल बगल में निकले हुए लकड़ी के कंगूरे, चौबारा, वेदी, निसैनी, नाव, बड़ी टोकरी, कील (खूंटियाँ), रावटी (खेमा), सभा, प्याऊ, मठ, सुगन्धित चूर्ण (पाउडर), फूलों की माला और चंदन आदि का लेप, कपड़े, जूड़ा-जूआ, हल, खेत जोतने के बाद भूमि को सम करने वाला औजार (सुहागा), हल की तरह का खेती का औजार, विशेष प्रकार का रथ, पालकी, रथ, बैलगाड़ी, यान (घोड़ा आदि के जुतने से चलने वाली सवारी), एक तरह की पालकी, अटारी, नगर और प्राकार के बीच का ८ हाथ चौड़ा रास्ता, द्वार, नगर का सदर दरवाजा, आगल, अरघट आदि यंत्र, शूली, लाठी, बंदूक, तोप, अन्य हथियार, ढाल, कवच आदि आवरण, मंच आदि उपकरणों—साधनों के लिए, इन और ऐसे ही दूसरे बहुत से सैकड़ों कारणों—प्रयोजनों से वे उन तरुगणों (उपलक्षण से वनस्पतिकायिक जीवों) की हिंसा करते हैं।

इस प्रकार और भी ऊपर कहे हुए या नहीं कहे हुए शक्तिहीन प्राणियों का पापकर्म में दृढ़, मूढ व कठोरमति जीव घात करते हैं। उनमें से कई तो क्रोध के वश, कई मान के वश, कई माया के वश, कई लोभ के वश, कई हंसी, रति, अरति और शोक के वश, कई स्त्री आदि वेद का उदय होने पर उसकी पूर्ति के लिए, अथवा वेदोक्त अनुष्ठान के लिए, जीने की कामना से प्रेरित होकर कामभोग की इच्छा पूरी करने के लिए, अर्थ के लिए और कुल जाति आदि के तथाकथित धर्म के पालन के लिए या धर्म के नाम पर

वताई हुई क्रिया के हेतु स्वाधीन होकर या पराधीन होकर, प्रयोजन से या निष्प्रयोजन त्रसजीवों और स्थावर जीवों की हिंसा करते हैं।

कई मंदमति अज्ञजन इन्हें स्वाधीन होकर मारते हैं, कई पराधीन होकर मारते है, कई स्वाधीन और पराधीन होकर दोनों तरह से मारते हैं, कई प्रयोजनवश मारते है, कई बिना ही प्रयोजन के मारते हैं, कई प्रयोजन और निष्प्रयोजन दोनों तरह से मारते हैं, कई हास्यवश मारते हैं, कई वैर (अदावत) के कारण मारते है, कई भोगों में रति (आसक्ति) के कारण मारते है, कई हंसी, वैर और रति तीनों कारणों से मारते हैं, कई क्रुद्ध होकर मारते हैं, कई लुब्ध (आसक्त) होकर मारते है, कई मुग्ध (फिदा) होकर मारते है, कई क्रुद्ध, लुब्ध और मुग्ध होकर मारते हैं, कई अर्थ के निमित्त से मारते हैं, कई धर्म के नाम पर मारते हैं, कई कामभोग के लिए मारते हैं, कई अर्थ, धर्म और काम तीनों के निमित्त से मारते हैं।

व्याख्या

तीन बातें—प्रस्तुत सूत्रपाठ में मुख्यतया तीन बातों पर प्रकाश डाला गया है—

(१) हिंसक जीवों के स्वभाव पर, (२) जिन जीवों की हिंसा की जाती है, उनके नामोल्लेख पर, (३) हिंसा के कारण, प्रयोजन या निमित्त पर।

हिंसक जीवों का स्वभाव—हिंसाकर्त्ता जीवों के स्वभाव का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि इस लोक और परलोक में सर्वत्र दु.ख देने वाली, अनेक भेद-प्रभेदयुक्त भयंकर हिंसा मे वे ही प्रवृत्त होते हैं, जिनकी आत्मा पापानुबन्धी पापकर्म के उदय से रातदिन पाप मे ही मग्न रहती है ; जो केवल इन्द्रियों और मन के ही गुलाम हैं, जिन्हें संयम (नियंत्रण) नाम की कोई चीज नहीं सुहाती, पापकार्यों से विरत न होने के कारण जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, त्याग, तप, सुध्यान, भावना आदि से कोसों दूर रहते हैं, जिनके मन में कभी शान्त परिणाम नहीं आते और उन अशान्त परिणामो के कारण जिनके मन, वचन और काया दुष्प्रवृत्तियों में बेरोकटोक भटकते रहते है, इस कारण जो सदा अज्ञान, मोह और प्रमाद में ग्रस्त रहते हैं।

हिंसा किए जाने वाले जीव—शास्त्रकार ने पञ्चेन्द्रिय से लेकर क्रमशः एकेन्द्रिय तक के जीवो का नामोल्लेख करके स्पष्ट समझा दिया है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चजीवों मे स्थलचर (चतुष्पद, चौपाये), उरःपरिसर्प और भुजपरिसर्प, जलचर-मत्स्य आदि और खेचर-पक्षियो के क्रमशः नाम खोल कर तथा चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, एवं पृथ्वीकाय आदि स्थावर जीवों का सामान्यतया उल्लेख करके यह बता दिया है कि कोई भी व्यक्ति इस भ्रम में न रहे कि हम पञ्चेन्द्रियों और उनमें भी मनुष्यों को ही इस संसार में जीने का अधिकार है। मनुष्य के सिवाय अन्य सब

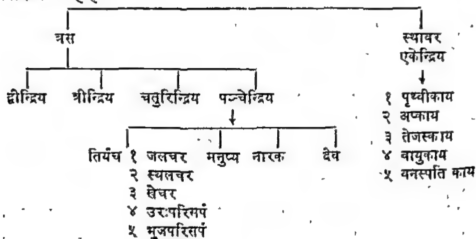
प्राणी मनुष्य के मौजशौक या वैषयिक सुख कामना की पूर्ति के लिए हैं। उन जीवों को भी जीने का अधिकार है। अपनी आत्मा के समान उन्हें भी सुख और दुःख का संवेदन होता है, उन्हे भी मरने का दुःख अतीव पीड़ा पहुंचाता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, इन एकेन्द्रिय प्राणियों में चाहे चेतना सुषुप्त या मूर्च्छित हो, परन्तु है अवश्य। वैदिक धर्ममान्य स्मृतिशास्त्र में भी इसे माना है—

'अन्तःप्रज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः।
शारीरजैः कर्मदोषैर्यान्ति स्थावरतां नरः॥'

'ये स्थावर जीव भी सुख और दुःख के संवेदन से युक्त और अन्तश्चेतना वाले होते हैं। मनुष्य शरीरजन्य कर्म-दोषों के कारण स्थावर योनियों को प्राप्त करता है।'

मनुष्य संसार के सभी प्राणियो में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ माना जाता है। उसकी ज्येष्ठता और श्रेष्ठता तभी सार्थक हो सकती है, जब वह अपने से निम्न और अविकसित चेतना वाले या अल्पविकसित चेतनाशील प्राणियों के प्रति करुणा, सहानुभूति, वत्सलता, और आत्मीयता का व्यवहार करे। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने उन प्राणियों की दयनीयता का सजीव चित्र खींचकर संसार के श्रेष्ठ प्राणी—मनुष्य का ध्यान आकर्षित किया है कि "वे बेचारे अत्राण हैं, अशरण हैं, अनाथ हैं, अबांधव है, अपने पूर्वकृत कर्मों की बेड़ियों से जकड़े हुए हैं, मिथ्यात्ववश अकुशल परिणामी हैं, साधारण मंदबुद्धि मानव इनके अस्तित्व की उपेक्षाकर देता है। इसी प्रकार तिर्यञ्च-पचेन्द्रिय (जलस्थलनभचारी) जीवों और विकलेन्द्रिय (दो-तीन-चार इन्द्रियों वाले) जीवों की भी दयनीयदशा का वर्णन करते हुए कहा है—इन्हें अपनी जिंदगी प्यारी है, ये मरने के दुःख के खिलाफ हैं, दीनहीन हैं और अनेक प्रकार के संक्लिष्ट कर्मों से बंधे हुए हैं।

समस्त संसारी जीवों का मोटे तौर से स्वरूप समझने के लिए हम नीचे एक तालिका दे रहे हैं—



यद्यपि प्रस्तुत सूत्रपाठ में तिर्यञ्चगति के एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों के नाम गिनाये है, तथापि स्पष्ट समझने के लिए हम संक्षेप मे इनकी व्याख्या कर देते हैं—

तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय के ५ भेद हैं—जलचर, स्थलचर, खेचर, उरःपरिसर्प और भुजपरिसर्प।

जलचर वे है, जो जल मे ही चलते हैं, स्थल पर जिनका जीवन टिक नही सकता, जल के सहारे से ही जो अपना जीवन टिकाते हैं। वे न आकाश मे उड़ सकते है, न स्थल पर चल सकते है। जैसे मछली, मगरमच्छ, घड़ियाल आदि जलचारी जन्तु।

स्थलचर वे हैं, जो इस जमीन पर ही चल सकते हैं, न वे उड़ सकते हैं और न वे जल मे चल सकते हैं; जैसे हाथी, घोड़ा, गधा, बैल, गाय, हिरण आदि चौपाये जानवर।

उरःपरिसर्प वे हैं, जो पेट के बल रेंग कर या सरककर चलते है, यद्यपि वे चलते जमीन पर ही है, किन्तु चौपाये जानवरो की तरह पैरों के बल नही चल सकते। जैसे अजगर, सर्प, महासर्प आदि। ये न आकाश मे उड़ सकते है, न जल में चल सकते हैं। हां, कुछ सांप तैर जरूर लेते है।

भुजपरिसर्प वे हैं, जो भुजाओं के बल गति करते है। वे न तो उड सकते हैं, न जल में चल सकते हैं। जैसे—चूहा, नेवला, गिरगिट, गिलहरी आदि। यद्यपि ये भी भूचर हैं, तथापि चौपाये जानवरो की तरह पैरों से नही चलते।

खेचर वे हैं, जो आकाश मे या जमीन से ऊपर उड़ने वाले प्राणी है। यद्यपि ये जमीन पर उतरते हैं, टिकते हैं, परन्तु खासतौर से ये अपने पंखों के बल पर आकाश में उड़ते है। इसलिए इन्हे पक्षी कहा है। जैसे कबूतर, चिड़िया, हंस, बाज, कौआ, मोर, चकोर, तीतर आदि।

ये पाँचों ही प्रकार के तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय कहलाते है।

चतुरिन्द्रिय वे जीव है, जिनके स्पर्शनेन्द्रिय (शरीर-त्वचा), रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय ये चार इन्द्रियाँ हो। जैसे—भौरा, टिड्डी, मधुमक्खी आदि।

त्रीन्द्रिय जीव वे है, जिनके स्पर्शन, रसन और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हों। जैसे—चीटी, मकौड़े, कीड़े आदि।

द्वीन्द्रिय जीव वे है, जिनके स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय ये दो ही इन्द्रियाँ हों। जैसे—शंख, सीप, अलसिया, लट आदि। पंचेन्द्रिय से लेकर द्वीन्द्रिय तक त्रस जीव कहलाते है।

एकेन्द्रिय जीव वे है, जिनके सिर्फ एक ही स्पर्शनेन्द्रिय हो। जैसे—

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिक जीव। ये पांचो स्थावर[1] जीव कहलाते हैं।

पृथ्वीकायिक जीव वे हैं, जिनका शरीर ही पृथ्वीमय है, पृथ्वी का ही बना हुआ है। जहाँ जैसा पृथ्वी का रंग (रूप), रस (स्वाद), गंध (खुशबू या बदबू), और स्पर्श होगा, वैसा और तद्रूप ही उन जीवों का शरीर होगा। जैसे—मिट्टी, मुरड़, हिंगुल, हडताल, हिरमच, नमक, पत्थर, रत्न, मणिमाणिक्य, अभ्रक शिला आदि।

अप्कायिक जीव वे हैं, जिनका शरीर ही जलमय है, जल का ही बना हुआ है। जहाँ जैसा जल का रंग (रूप) गंध, रस (स्वाद) और स्पर्श (ठंडा या गर्म आदि) होगा वैसा और तद्रूप ही उन जीवों का शरीर होगा। जैसे कुए, तालाव, बावड़ी, समुद्र, नदी, झरना, बरसात आदि का पानी।

तेजस्कायिक जीव वे है, जिनका शरीर ही अग्निमय है, अग्नि का ही बना हुआ है। अग्नि का रूप, गध और स्पर्श जहाँ जैसा होगा, वहाँ वैसा और तद्रूप ही उन जीवों का शरीर होगा। जैसे—आग, ज्वाला, अंगारे, चिनगारी आदि।

वायुकायिक जीव वे हैं, जिनका शरीर ही वायुरूप है, हवा का ही बना हुआ है। वायु का वर्ण, गंध, रस और स्पर्श जहाँ जैसा होगा, वहाँ उन जीवों का शरीर भी वैसा तद्रूप होगा। जैसे—उक्कलियावात, मंडलियावात, घनवात, तनुवात, शुद्ध-वात आदि।

वनस्पतिकायिक जीव वे हैं, जिनका शरीर ही वनस्पतिमय है, वनस्पति का ही बना हुआ है। जहाँ जैसा भी रंग (रूप), रस, (स्वाद), गंध और स्पर्श होगा, वहाँ उन जीवो का शरीर भी वैसा और उसी रूप में परिणत हो जायगा। जैसे विविध शाक, भाजी, फल, आम, नीम, जामुन आदि के पेड़, पौधे, फूल, ईख, कपास, विविध प्रकार के धान्य, आदि।

ये पाचों एकेन्द्रिय और स्थावर जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय वे हैं, जो काटे नहीं कटते, मारे नहीं मरते। वे अपनी आयु पूर्ण करके ही मरते है। इन्हें किसी आधार की आवश्यकता नहीं रहती। ये सारे लोक में ठसाठस भरे हैं। इनका रास्ता कोई दीवार या प्रतिबन्ध रोक नहीं सकते।

बादर एकेन्द्रिय वे हैं, जो दूसरों को रोकते हैं, स्वयं भी दूसरे से रोके जाते हैं, जो शस्त्र से कट सकते हैं।

वनस्पतिकायिक जीवों के इन भेदों के अलावा दो भेद और हैं—प्रत्येक वन-स्पतिकाय और साधारण वनस्पतिकाय। जो एक शरीर का एक ही स्वामी हो, वह प्रत्येक वनस्पतिकाय कहलाता है जैसे—फल, बीज, अन्न आदि। और जहाँ एक ही शरीर

१　इनका विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के प्रथम पद में देखें। —संपादक

में अनन्त जीव रहते है या एक शरीर के अनन्त जीव स्वामी हैं, एक ही साथ जन्म लेते हैं, एक ही साथ मरते हैं, एक ही साथ श्वासोच्छ्वास लेते हैं, उन्हें साधारण वनस्पति-काय कहते हैं। जैसे—जमीकंद, आलू, रतालु आदि। इसके अलावा पृथ्वीकाय आदि के जीवों के आश्रित बहुत से जीव रहते हैं, वे त्रस कहलाते हैं। उनमे कई तो आँखों से दिखाई देते है, कई नही दिखाई देते। माईक्रॉसकोप आदि यंत्रों या खुर्दबीनों से देखने पर वे चलते फिरते नजर आते हैं। जैसे जल के आश्रित फुंआरे आदि, हवा के आश्रित कीटाणु, मिट्टी के आश्रित कीट, वनस्पति के आश्रित कीटाणु आदि।

जीवों के भेद और नाम बताने का प्रयोजन—कई लोग यह प्रश्न उठाते हैं कि यहाँ हिंसा के प्रकरण मे जीवों के भेद और नाम बताने की क्या आवश्यकता थी ? इसके उत्तर मे ज्ञानी पुरुषों का कहना है कि जब तक कोई व्यक्ति जीवों का स्वरूप, उनके भेद और नाम, तथा उनके रहने के स्थान नहीं जान लेगा, तब तक वह उनकी हिंसा से कैसे विरत होगा ? हिंसा और अहिंसा तो प्राणियों को लेकर ही होती है ! जिसे इस संसार के चेतनाशील जीवों का पता नहीं, वह अपने जीवन की तरह दूसरों के अस्तित्व या जीवन को बचाने का प्रयत्न भी कैसे करेगा ? जब वह जान जायगा कि इन प्राणियों में भी मेरी ही तरह की-सी चेतना है, तभी वह इनकी हिंसा करने से रुकेगा। दूसरी बात यह है कि जीव-अजीव के विवेक से रहित मूढ़ लोग किन-किन जीवो की कैसे-कैसे और किस-किस प्रयोजन से हिंसा कर बैठते है, यह बताने के लिए यहाँ जीवों के स्वरूप, भेद और नाम बताना शास्त्रकार को अभीष्ट है। तीसरी बात यह है कि कई प्राचीन मतवादी गाय आदि में आत्मा नहीं मानते थे, वे कहते थे—Cow has no soul. (गाय मे आत्मा नही होती।), इसी प्रकार आज भी बंगाल आदि प्रान्तों में मछली को जलतरोई मानकर उसके खाने से कोई परहेज नही करते; चीनी लोग तो कई जलजन्तुओं को कच्चे ही चबा जाते है तथा जैन सिद्धान्तों से अनभिज्ञ अन्य धर्म सम्प्रदाय के बहुत-से लोग मिट्टी, पानी, हवा, अग्नि, वनस्पति आदि मे चेतना या जीवन नहीं मानते, उन्हें स्पष्ट रूप से बताने के लिए भी त्रस की तरह स्थावर जीवों का वर्णन करना आवश्यक था।

जीव का लक्षण और उनमें चेतना का प्रमाण—'उवओगलक्खणो जीवो'—जिसमे उपयोग हो यानी ज्ञान और दर्शन का उपयोग हो, जानने और विशेष प्रकार से देखने—चिन्तनपूर्वक जानने की शक्ति हो, जिसे सुख और दुःख का संवेदन होता हो उसे जीव कहते हैं। प्रत्येक जीव में चाहे वह सूक्ष्म से सूक्ष्म निगोद का ही जीव क्यों न हो, चेतना विद्यमान रहती है। उसी चेतना के कारण उसमें प्राण टिकते है, शरीर के अंगोपांग, इन्द्रियाँ और मन काम करते हैं। यह बात दूसरी है कि किसी जीव मे चेतना अव्यक्त व सुषुप्त होती है, किसी मे कुछ कम जागृत होती है, किसी में विशेष जागृत होती है। यह तो चेतना के अल्प विकास और अधिक विकास का अन्तर है।

परन्तु चेतना सब जीवों में अवश्य रहेगी। चाहे किसी जीव का दर्शन और ज्ञान कितना ही आवृत क्यों न हो जाय, फिर भी उसके आठ रुचक प्रदेश तो खुले रहते हैं। कहने का मतलब है कि ऐसा कभी नहीं होता कि वह जिंदा रहे, लेकिन उसमें चैतन्य कतई न रहे। जब चैतन्य मृत्यु होने से निकल जाता है तो वह निश्चेतन या निर्जीव हो जाता है। अतः एकेन्द्रिय जीव से लेकर पञ्चेन्द्रिय जीव तक में चैतन्य जब तक रहता है, तब तक उसमें जीवत्व रहता है, उसमे आत्मा रहती है। जितने भी जीव हैं, उनमें आत्मा जरूर होती है।

पृथ्वीकाय के जीवो मे चेतना होने का सबूत यह है कि खान आदि मे से शिलाएँ या चट्टानें तोड़कर निकाल लेने और चूरा डालने के कई महीनों के बाद वहाँ पहले की तरह पुनः शिलाएँ बन जाती हैं। यह वृद्धि क्या बिना चेतना के हो सकती है। जिस मिट्टी को सूर्य की किरणों का या प्राणियों का आवागमन के कारण स्पर्श होता रहता है, वह तो अचेतन हो जाती है, लेकिन जो नीचे से खोदकर निकाली जाती है, वह सजीव होती है, उसका लेप लगाने पर वह जहर को चूस लेती है, घाव को ठीक कर देती है, उसे खाद और पानी मिलने पर उससे अनाज, पेड़-पौधे आदि उग जाते हैं। क्या यह मिट्टी की जीवनी शक्ति का चिह्न नही है। इसी प्रकार जलकायिक जीवों में भी चेतना होने का प्रमाण यह है कि पानी की पट्टी बांध देने पर वह रोगी को स्वस्थ कर देता है, घाव पर पानी की पट्टी लगातार बांधने पर वह मवाद आदि को साफकर उसे चूस लेता है। यह उसकी जीवनी शक्ति का चमत्कार नहीं तो क्या है ? अग्निकाय और वायुकाय में भी चेतनाशक्ति मौजूद है, तभी तो अगर कोई न बुझाए या रोक न लगाए तो वे अपने आप आगे से आगे बढते जाते हैं। वनस्पतिकाय मे चेतना और सुखदु:खादि का संवेदन अनुभव से, शास्त्रों से और वर्तमानकाल के वनस्पति विज्ञानवेत्ताओं द्वारा प्रत्यक्ष से भी सिद्ध है। वृक्ष श्वास लेते हैं और छोड़ते हैं। दिन मे उनकी छाया में बैठने पर वे ऑक्सिजन (स्वास्थ्यवर्धक प्राणवायु) छोड़ते हैं और मनुष्य के मुंह से निकलने वाले कार्बन को ग्रहण करते है। मनुष्य के लिए ऑक्सिजन लाभदायक होता है, वृक्षों के लिए कार्बन। इसी प्रकार अफ्रीका आदि देशों में कई पेड़ ऐसे पाये गये हैं जो जहरीला धुंआ या गैस छोड़ते हैं, जिससे पास आने वाला दम घुटकर मर जाता है। कई ऐसे वृक्ष भी वहाँ पाये गये हैं, जो पास में आने वाले मनुष्य या पशु आदि को नीचे झुक कर पकड़ लेते हैं और उसे चूसकर छोड़ देते हैं। कई पेड़ ऐसे भी पाये गये हैं, जो अपने पत्तो पर किसी कीड़े या पक्षी आदि को बैठते ही उसे दोने की तरह बंद कर लेते हैं, वह प्राणी उसी में फस कर मर जाता है। कई पेड़ों के पत्ते करवत की तरह तीखे होते हैं, वे प्राणी के पास में आते ही उसके अंग को चीर डालते हैं। लाजवंती (छुइ मुई) नाम की वनस्पति छूते ही सिकुड़ जाती है। फिर वनस्पतियों को बढ़ते और फैलते हम देखते हैं। यह बातें क्या जड़ में पाई जा सकती है ? क्या ये बातें वनस्पति में चेतनता—सजीवता के प्रमाण नहीं हैं ?

कुछ वर्षों पहले बंगाल के वनस्पति विज्ञान के आचार्य जगदीशचन्द्र वसु ने बम्बई में प्रदर्शनी लगाकर वनस्पति मे सुख और दुःख के संवेदन का होना प्रत्यक्ष सिद्ध कर बताया था। उन्होंने दर्शकों से कहा कि मैं इस वनस्पति को गाली देता हूं, फिर प्रशंसा करता हूं; देखना इसकी इस पर क्या प्रतिक्रिया होती है ? उन्होने पहले गाली दी तो वह एकाएक मुरझा गई। फिर उसकी प्रशसा की तो वह खिल उठी। यह वनस्पति मे जीवन का प्रत्यक्ष सबूत है।

इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय त्रस प्राणियों में चेतना प्रत्यक्ष दिखाई देती है; वे बिना किसी की प्रेरणा के स्वतंत्र गति करते हैं, कष्ट देने पर तड़-फते है, धूप से छाया मे उठाकर रखो तो सुखी होते है; उनको छूने या उन पर प्रहार करने से वे एकदम छटपटा उठते है, दुःखी होते हैं। चाहे वे बोल न सकें या अपनी वेदना को व्यक्त न कर सकें; किन्तु उनकी चेष्टाओं से तो प्रत्यक्ष जाना जा सकता है। इसलिए इनके सजीव होने में तो कोई संदेह ही नही है।

इससे आगे अधिक विकसित चैतन्य वाले तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीव है, जिनके भेद और नाम विस्तार से शास्त्रकार ने बताए ही है। उनकी चेतना तो प्रत्यक्ष देखी जा सकती है; उनमें से बहुत से तो अपनी अव्यक्त भाषा मे अपने सुख-दुःख के संवेदन को व्यक्त भी करते है। पालतू पशु ही नही, क्रूर से क्रूर माने जाने वाले सिंह सर्प आदि जानवर भी उन्हे सुख पहुंचाने वाले उपकारी के प्रति कृतज्ञ होकर अपनी हिंसावृत्ति तक छोड़ देते हैं, मित्रवत् बन जाते है। जब उन्हे कोई मारता, पीटता, सताता या हैरान करता है तो वे बदला लेने या सामना करने को तैयार हो जाते है। यह सुख और दुःख के संवेदन की स्पष्ट प्रतिक्रिया उनमे देखी जा सकती है। तब क्या यह कहने की कोई गुंजाइश रह जाती है कि इन पूर्वोक्त विविध तिर्यञ्च पचेन्द्रिय जीवों मे चैतन्य या जीवनशक्ति नहीं है ?

चेतना के विकास का तारतम्य—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सब जीवों में चेतना विद्यमान होने पर भी उसके विकास मे उत्तरोत्तर न्यूनाधिकता पाई जाती है; विकास की न्यूनाधिकता का कारण उनमें प्राण और इन्द्रियों की न्यूना-धिकता है। जैसे एकेन्द्रिय मे सिर्फ एक स्पर्शनेन्द्रिय ही है, इसलिए प्राण भी शरीर, स्पर्शनेन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य ये ४ ही हैं। द्रव्यमन न होने के कारण उन जीवों में चेतना अव्यक्त, सुषुप्त या मूर्च्छित रहती है। अत्यन्त अविकसित चेतना है। उससे बढकर चेतना का विकास द्वीन्द्रिय में होता है, उसमें स्पर्शनेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय होने से रसनेन्द्रिय और वचन ये दो प्राण बढ़ गए। एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय जीवों मे थोडी-सी ज्यादा विकसित चेतना है। त्रीन्द्रिय जीवों में स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय बल प्राण अधिक होने से तथा चतुरिन्द्रिय मे पहले की अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण अधिक होने से उत्तरोत्तर चेतना का विकास

बढ़ा है। इसके बाद तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय में पांचों इन्द्रियां होने से जो संज्ञी (समनस्क) हैं, उनमे दसों ही प्राण होने से उनकी चेतना पहले के चारों कोटि के जीवों से अधिकतम विकसित होती है। जिसकी चेतना जितनी अधिक विकसित होती है, उसे सुख और दुःख का संवेदन उतना ही अधिक होता है, और निम्न कोटि के जीवों की अपेक्षा उनमे ज्ञान, समझ व अपने हिताहित को पहिचानने की बुद्धि अधिकतम होती है।

जिन जीवो की चेतना जितनी अधिक विकसित होती है, उनकी हिंसा करने में हिंसाकर्ता में क्रूरता उतनी ही ज्यादा होती है, इसलिए उसकी हिंसा से पाप कर्म का बंध भी प्रबल होता है। कहने का मतलब यह है कि एकेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीवों की हिंसा मे पाप कर्म का बन्ध अधिक, त्रीन्द्रिय की हिंसा में उससे अधिक, और चतुरिन्द्रिय जीवों की हिंसा मे उससे भी अधिक पाप कर्म का बन्ध होता है; तथा पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा में अधिकतम पाप कर्म का बन्ध होता है। इसका अर्थ यह नही है कि एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से पाप कर्म का बन्ध नही होता। हिंसा की तीव्रता-मन्दता जीवों की चेतना के तीव्र मन्द विकास पर और हिंसाकर्ता के परिणामों की तीव्रता-मन्दता पर निर्भर है।

प्राणिवध करने के प्रयोजनों या कारणों पर विचार—शास्त्रकार ने मूलपाठ में पचेन्द्रिय से एकेन्द्रिय तक के जीवों की हिंसा के जिन-जिन प्रयोजनों पर प्रकाश डाला है, वे तो स्पष्ट हैं। खासतौर से पञ्चेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा चमड़े, मास आदि के लिए होती है, विकलेन्द्रिय जीवों की हिंसा शरीर, वस्त्र, घर आदि विविध वस्तुओं को सुशोभित करने या कई दवाइयाँ बनाने आदि के लिए की जाती है; और एकेन्द्रिय जीवों का हिंसा खान पान, शय्या, वस्त्र, जीवनोपयोगी विवध साधनों, मकानात बनाने एवं खेती, व्यापार आदि धंधों में या बाग बगीचे आदि के निमित्त से की जाती है।

हिंसा के प्रयोजनों या कारणों के बताने का उद्देश्य यही है कि मानव इन कारणों से जहाँ तक हो सके दूर रहे, इनसे बचने की कोशिश करे; कम से कम आवश्यकताओं से काम चलाए, अत्यन्त सात्त्विक और सादा जीवन बिताए; जीवननिर्वाह के साधनों में कटौती करे। क्योंकि जीवन में जितनी अधिक हिंसा बढ़ेगी, उतना ही उसके अपने लिए दुःख की परम्परा बढ़ेगी, आत्मा की उन्नति में उतने ही विघ्न बढ़ेंगे, भविष्य में हिंसा की उस अधिकता के फलस्वरूप विकास प्राप्त होने का मार्ग अवरुद्ध हो जायगा। सच कहूँ तो वह हिंसा उन जीवों की हिंसा नहीं, एक तरह से अपनी ही आत्महिंसा होगी। परन्तु मनुष्य की बुद्धि पर आज भौतिकवाद एवं स्वार्थ का पर्दा पड़ जाने के कारण वह अंधाधुंध प्रवृत्ति करता है, हिंसा-अहिंसा का कोई विचार नहीं करता, दूसरे प्राणियों की जिंदगियों का खयाल ही प्रायः नहीं करता, अपने सुख साधनों को जुटाने के लिए वह दूसरो के सुखों की परवाह नहीं करता। इस प्रकार की आपा-

धापी में उसे विवेक का प्रकाश देने वाले शास्त्र के पाठ कितने उपकारी होते हैं। अज्ञानी जीवों द्वारा अपनी छोटी-सी जिंदगी के लिए या थोड़े-से जीने के लिए दूसरे सुखाभिलाषी प्राणियों पर किन-किन अधम प्रयोजन वश कहर बरसाया जाता है, उनके प्राणों को लूटा-खसोटा जाता है; इसका कच्चा चिट्ठा शास्त्रकार ने मूलपाठ में खोलकर रख दिया है।

पञ्चेन्द्रिय प्राणियों का वध करने का सर्वप्रथम प्रयोजन चमड़ा है। आजकल चमड़े का व्यापार व आयात-निर्यात हद से ज्यादा बढ़ गया है। इसके लिए बड़े-बड़े अद्यतन मशीनों वाले कत्लखाने खोले जाते हैं, जिनमें प्रतिदिन हजारों की संख्या में पशु निर्दयतापूर्वक काटे जाते हैं। उनका चमडा विदेशो मे जाता है अथवा देश में चमड़े की चीजें बनाने के कारखानो में जाता है। वहाँ चमड़े के बूट, बटुए, सूटकेश, मोजे, ओवरकोट, पट्टे, कमरबंद, घड़ी के पट्टे, आदि विविध लुभावनी वस्तुएँ बनकर बाजारो मे आती है। भोले भाले ग्राहक उन चमचमाती हुई चीजों को देखकर खुश होकर खरीदते है। वे यह नही सोचते कि चमड़े की इन वस्तुओ के बनाने मे चमड़ा कहाँ से और कैसे आया है? बल्कि कई बार तो गर्भवती भेड़ बकरियो को कत्ल करके उनके बच्चो को बेरहमी से मार कर मुलायम चमड़ा प्राप्त किया जाता है, जिसे कुमलेदर व काफलेदर कहते हैं। उस मुलायम चमड़े की बनी वस्तुएँ कई मूढ़ ग्राहक खुश होकर खरीदते है। इसी प्रकार मृगछाला या बाघंबर के लिए हिरण व बाघ को मारा जाता है। इसीलिए शास्त्रकार ने सबसे पहले चमड़े के लिए भयंकर हिंसा का जिक्र किया है।

चर्बी के लिए आजकल बड़े शहरों में पशुओं को कत्ल किया जाता है। वह चर्बी मशीनों के पट्टों पर लगाई जाती है। कपड़ों को फाइन बनाने के लिए चर्बी की पालिश की जाती है। साबुन बनाने में भी चर्बी का इस्तेमाल होता है। यही नही, घी के बदले आजकल बड़े-बड़े शहरों में चर्बी को तपा कर उसे टीन में जमा कर बेचा जाता है। पता नही, लोग इसके पीछे होने वाले पंचेन्द्रियवध को क्यों नहीं सोचते! कई दवाइयो में भी चर्बी पड़ने लगी है।

यही हाल मांसाहार का है। पहले की अपेक्षा अब लोग मास खाने के शौकीन ज्यादा होते जा रहे हैं। अंडों को तो निर्जीव मानने और आलू के समान समझकर धड़ल्ले से खाने लग गये है। अंडा किसी पेड़ का फल नहीं है और न जमीन में ही पैदा होता है। है वह मुर्गी के पेट का ही बच्चा और पंचेन्द्रिय जीव। अंडा निर्जीव होता तो मुर्गी के पेट मे आता ही कैसे? है तो वह सजीव ही। हाँ, यह हो सकता है कि उसको हिलाने वगैरह से जीव च्युत हो गया हो। परन्तु है वह मुर्गी के रज, रस, रक्त आदि से उत्पन्न, घिनौना पदार्थ ही! मांसभोजियो की संख्या बढने से कत्लखाने बढ़ते

जा रहे है। इससे अन्न की बचत होती हो, यह बात भी नहीं दिखाई देती। मांसभोजी मांस तो जिह्वा की तृप्ति के लिए खाते हैं, उधर अन्न भी उतना ही खाते हैं। मत्स्याहार भी बढ़ता जा रहा है। इस पंचेन्द्रिय वध का अभिशाप यह हुआ है कि भारत में दुधारु पशुओं की संख्या दिन-ब-दिन कम होती जा रही है, प्रायः निःसत्त्व, निर्बल और रजोतमोगुणी संतान पैदा होती जाती है।

रक्त का भी उपयोग काफी मात्रा में बढ गया है। कई लोग अपने शरीर को मजबूत और ताकतवर बनाने के लिए बंदर का खून चढ़वाते हैं। कई जगह रक्त का पेय पदार्थ की तरह उपयोग होता है। वस्त्रादि रंगने में भी उसका उपयोग कहीं कहीं होता है। मोरिस से आने वाली शक्कर या चीनी खून से साफ की जाती थी, ऐसा सुनने मे आया है। कई दवाइयों या इंजेक्शनों में रक्त का मिश्रण किया जाता है।

इसी प्रकार हड्डी, जिगर, फेफड़े, मस्तिष्क, हृदय, आतें, पित्त, मज्जा, नख, आँखें, कान, नसें, दांत, दाढ़, नाक, नाड़ियाँ, सींग, पंख, विष, हाथीदांत और केशों के लिए भी निर्दोष पंचेन्द्रिय जीवो का वध किया जाता है। जैसे हाथ के चूड़े वगैरह बनाने के हेतु हाथीदांत के लिए हाथी को घेरा जाता है,उसे फंसाया जाता है, और मारा जाता है। केशो के लिए सूअर, चमरी गाय आदि का, सींगों की वस्तु बटन आदि के लिए हिरनो का, विष के लिए सांपों का वध कर देते हैं। पंखों के लिए अनेक रंगबिरंगे पक्षियो का, पिच्छो के लिए मोर का, पित्त के लिए गाय का, इत्यादि विविध प्रयोजनो के लिए हिंसक लोग प्राणिवध करते हैं।

रसलोलुप लोग चतुरिन्द्रिय प्राणी—भौरों और मधुमक्खियो का नाश कर देते हैं, वे शहद पाने के लिए ही ऐसा करते है। एक छत्ते में से शहद लेने में अनेक मधुमक्खियों का घात हो जाता है।

शरीर को संस्कारित करने के लिए कई लोग त्रीन्द्रिय जीवो का घात करते हैं। रेशमी वस्त्र बनाने के लिए शहतूत के कीड़े आदि का वध किया जाता है। वस्त्रादि को रंगने, पालिश करने आदि के लिए भी त्रीन्द्रिय जीवों का वध होता है।

इसी प्रकार मंदबुद्धि लोग बाग, बावडी घर, मंडप, भवन, बाजार, अटारी, पुल, स्तूप, मठ, विहार, आश्रम, द्वार आदि बनाने के लिए पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करते है, स्नानादि कार्यों के लिए अप्काय के जीवों का, पकाने-पकवाने, जलाने, उजाला करने आदि कार्यों के लिए अग्निकायिक जीवों का घात करते हैं, सूप, पंखे, वस्त्र, हथेली, वस्त्र आदि से वायुकायिक जीवो का वध करते हैं, तथा विविध भोजन, मंडप, तोरण, भवन, बैलगाड़ी, छोटी सवारी, रथ आदि बनाने के लिए वनस्पतिकायिक जीवों का संहार होता है।

यद्यपि गृहस्थ, चाहे वह व्रतधारी श्रावक भी हो, एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से सर्वथा विरत नहीं हो सकता। उसको अपनी गृहस्थी चलाने के लिए मकान वगैरह

बनाना पड़ता है, अनाज भी संग्रह रखना पड़ता है, भोजनादि भी करना पड़ता है तथापि गृहस्थ इसमें संकल्पजा हिंसा का सर्वथा त्याग करता है और आरम्भजा आदि मे विवेक रखता है।

हिंसा के पीछे प्रेरणा—शास्त्रकार आगे यह बताते हैं कि वे मंदबुद्धि अज्ञानी जीव जो हिंसा करते हैं, उसके पीछे क्या-क्या प्रेरणा गर्भित है ? वे दृढमूढ और भयकर बुद्धि के लोग क्रोध से, मान से, माया से,लोभ से, हंसी से, रति-अरति से, शोक से, कामवासना से, धर्म, अर्थ, काम और जीवनरक्षा से प्रेरित होकर त्रसस्थावर जीवों का घात करते है।

हिंसा किस परिस्थिति में करते हैं ?—वे मंदबुद्धि लोग किस परिस्थितिवश हिंसा करते है, यह सूत्रपाठ के अन्त मे बताया गया है—"कभी स्वाधीन, कभी विवश, कभी स्वाधीन भी पराधीन भी दोनों परिस्थितियो मे, कभी प्रयोजनवश, कभी निष्प्रयोजन, कभी वैरवश, कभी हास्यवश, कभी रतिवश होकर, कभी इन तीनों के वश होकर, कभी क्रुद्ध होकर, कभी लुब्ध होकर, कभी मुग्ध होकर, कभी तीनों ही हालतों मे, कभी अर्थ के कारण, कभी तथाकथित धर्मक्रिया के कारण, कभी काम के कारण, कभी धर्म, अर्थ और काम तीनों के कारण प्राणवध करते है।

इस प्रकार इस सूत्रपाठ मे कैसा व्यक्ति, किन-किन जीवों की, किन-किन प्रयोजनो व कारणो से एवं किससे प्रेरित होकर, किस परिस्थिति में हिंसा करता है ? यह सारी बातें स्पष्ट करदी है।

'पुण' और 'च' शब्द—सूत्रपाठ मे जो 'पुण' शब्द है, वह केवल उच्चारण के लिए है और जितने भी 'य' शब्द है, वे सब समुच्चयार्थक हैं।

हिंसा के कर्ता और दुष्परिणाम

तृतीय द्वार में हिंसा किन-किन जीवों की, किन-किन कारणों से की जाती है ? यह बता दिया। अब चौथे द्वार मे कौन-कौन व्यक्ति हिंसा करते हैं और हिंसा का क्या-क्या फल होता है, इसका विस्तृत वर्णन करते हैं :—

मूलपाठ

कयरे ते ? जे ते सोयरिया मच्छबंधा साउणिया वाहा कूरकम्मा, वाउरिया दीवित-बंधणप्पओग-तप्पगलजाल-वीरल्लगायसीदब्भवागुराकूडछेलिया (छेलि) - हत्था हरिएसा, साउणिया य वीदंसगपासहत्था वणचरगा लुद्धगा महुघाया पोतघाया एणीयारा पोसणीयारा सर-दह-दीहिअ-तलाग-पल्लल-

परिगालण-मलण-सोत्तवंधण - सलिलासयसोसगा विसगरस्स य दायगा उत्तणवल्लर-दवग्गिणिद्दय-पलीवगा कूरकम्मकारी इमे य वहवे मिलक्खुजातीया। के ते ? सक-जवण-सवर-वब्बर-गाय - मुरुंडोद-भडग- तित्तिय - पक्कणिय - कुलक्ख-गोड-सीहल-पारस-कोंचंध-दविल-बिल्लल-पुलिंद-अरोस-डोंव-पोक्कण-गंधहारग-वहलीय - जल्ल- रोम- मास- वउस- मलया- चुंचुया य चूलिया-कोंकणगा (ग)-कणग-सेय-मेता (मेत)-पण्हव - मालव - महुअर-आभासिय-अणक्ख (क्क)- चीण - ल्हासिय-खस - खासिया-नेहुर-(नेट्ठुर) - मरहट्ठ-मुट्ठिअ-आरब - डोबिलग - कुहण-केकय-हूण-रोमग-रुरु-मरुया (गा)-चिलाय-विसयवासी य पावमतिणो।

जलयर - थलयर - सणप्फतोरग - खहचर - संडासतोंड-जीवोवघायजीवी सण्णी य असण्णिणो य पज्जत्ते अपज्जत्ते य असुभलेसपरिणामे एते अण्णे य एवमादी करेंति पाणाइवायकरणं।

पावा पावभिगमा (पावमई) पावरुई पाणवहकयरती पाणवहरूवाणुट्ठाणा पाणवहकहासु अभिरमंता तुट्ठा पावं करेत्तु (सु) होंति य वहुप्पगारं।

तस्स य पावस्स फलविवागं अयाणमाणा वड्ढंति महब्भयं अविस्सामवेयणं दीहकालबहुदुक्खसंकडं नरयतिरिक्खजोणिं। इओ आउक्खए चुया असुभकम्मबहुला उववज्जंति नरएसु हुलियं (तं) महालएसु वयरामय-कुड्ड-रुंद-निस्संधि-दारविरहिय-निमद्दव-भूमितल-खरामरिस-विसमणिरयघरचारएसु महोसिण-सया-पतत्त-दुग्गंध-विस्स - उव्वेयजणगेसु वीभच्छदरिसणिज्जेसु य निच्चं हिमपडलसीयलेसु कालोभासेसु य भीमगंभीरलोम - हरिसणेसु, णिरभिरामेसु निप्पडियारवाहिरोगजरापीलिएसु अतीवनिच्चं-धकारतिमिस्सेसु पतिभएसु ववगयगहचंदसूरणक्खत्तजोइसेसु मेय-

वसा-मंसपडल-पोच्चड-पूय -रुहिरुक्किण्ण-विलीण-चिक्कणरसिया-वावण्णकुहियचिक्खल्लकद्दमेसु कुकूलानल-पलित्तजालमुम्मुर-असिक्खुरकरवत्तधारासुनिसियविच्छुयडंकविनिवातोवम्मफरिस-अतिदुस्सहेसु य अत्ताणाऽसरणकडुयदुक्खपरितावणेसु अणुबद्ध-निरंतरवेयणेसु जमपुरिससंकुलेसु ।

तत्थ य अंतोमुहुत्तलद्धिभवपच्चएणं निव्वत्तेंति उ ते सरीरं हुंडं बीभच्छदरिसणिज्जं बीहणगं अट्ठिण्हारुणहरोमवज्जियं असुभगं दुक्खविसहं, तत्तो य पज्जत्तिमुवगया इंदिएहिं पंचहिं वेदेंति वेदणं असुहाए वेयणाए उज्जलवलविउल-कक्खड-खरफरुस-पयंड-घोर-बीहणगदारुणाए, किं ते ? कंदुमहाकुंभिए पयण-पउलण-तवग-तलण-भट्ठ-भज्जणाणि य लोहकडाहुक्कड्ढणाणि य कोट्टबलिकरणकोट्टणाणि य सामलितिक्खग्ग-लोहकंटक-अभि-सरणापसारणाणि फालणविदारणाणि य अवकोडगबंधणाणि लट्ठिसयतालणाणि य गलगंबलुल्लंबणाणि सूलग्गभेयणाणि य आएस-पवंचणाणि खिंसणविमाणणाणि विघुट्ठपणिज्जणाणि वज्झसय-मातिकाणि य एवं ते ॥

संस्कृत-छाया

कतरे ते ? ये ते शौकरिका मत्स्यबन्धाः शाकुनिका व्याधाः क्रूर-कर्म्माणो, वागुरिका द्वीपिक-बन्धनप्रयोग-तत्प्रगलजाल-वीरल्लका (श्येना)ऽऽयसी दर्भवागुरा कूटछेलिकाहस्ता हरिकेशाः,शाकुनिकाश्च विदंशकपाशहस्ता वनचरका लुब्धका मधुघाता पोतघाता एणीचाराः पोयणीचाराः (प्रैणीचाराः) सरोह्रव-दीर्घिका- तडाग- पल्वल-परिगालन- मलन-स्रोतोबंधन-सलिलाशय-शोषका,विषगरलस्य चदायका उत्तृणवल्लरवदाग्निनिर्दयप्रदीपकाःक्रूरकर्म्म-कारिण इमे च बहवो म्लेच्छजातीयाः, के ते ? शक-यवन-शबर-बर्ब्बर-काय-मुरंडोद-भडक-तित्तिक-पक्वणिक-कुलाक्ष-गौड़-सिंहल-पारस-क्रौंच-अन्ध-द्रविड़-बिल्वल-पुलिंद-अरोष-डोंब-पोक्कण-गंधहारक-बहलीक-जल्ल-रोम-मास (ष)-बकुश-मलयाश्चुञ्चुकाश्च चूलिकाः कोंकणकाः कनकाः सेत-मेद-पह्लव-मालव-मधुकर-आमाषिक-अणक्क (नक्ष)-चीन-ल्हासिक-खस-खासिका-नेहुर-

(निष्ठुर)-महाराष्ट्र-मौष्टिक-आरव-डो (ड्) बिलक-कुहूण (कुहुण)-केकय-हूण-रोमक-रुरु-मरुकाश्चिलातविषयवासिनश्च पापमतयः ।

जलचर-स्थलचर- सनखपदोरग-खेचर-संदंश-तुण्डजीवोपघातजीविनः संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च पर्याप्ता अपर्याप्ताश्चाशुभलेश्यापरिणामा एते अन्ये चैवमादयः कुर्वन्ति प्राणातिपातकरणम् ।

पापाः पापाभिगमा (पापमतयः) पापरुचयः प्राणवधकृतरतिकाः प्राणवधरूपानुष्ठानाः प्राणवधकथासु अभिरममाणास्तुष्टाः पापं कृत्वा (सुखमिति) भवन्ति च बहुप्रकारम् ।

तस्य च पापस्य फलविपाकमजानन्तो वर्धयन्ति महाभयामविश्राम-वेदनां दीर्घकालबहुदुःखसंकटां नरकतिर्यग्योनिम् । इत आयुःक्षये च्युता अशुभकर्मबहुला उत्पद्यन्ते नरकेषु त्वरितं महालयेषु वज्रमय-कुड्य-रुन्द-निस्सन्धि-द्वारविरहित-निर्मार्दव-भूमितल-खरामर्श-विषम - निरयगृहचारकेषु महोष्ण-सदाप्रतप्त-दुर्गन्ध-विश्रोद्वेगजनकेषु बीभत्सदर्शनीयेषु च नित्यं हिम-पटलशीतलेषु कालावभासेषु च भीमगम्भीरलोमहर्षणेषु निरभिरामेषु निष्प्रतीकारव्याधिरोगजरापीडितेषु अतीवनित्यान्धकारतिमिस्रेषु प्रतिभयेषु व्यपगत-ग्रह-चन्द्र-सूर्य-नक्षत्र-ज्योतिष्केषु मेदो-वसा-मांसपटलातिनिविड़पूय-(त) रुधिरोत्कीर्णविलीनचिक्कणरसिका - व्यापन्न - कुथित-चिक्खिलकर्दमेषु कुकूलानलप्रदीप्तज्वाला - मुर्मुराऽसिक्षुर -करपत्रधारासुनिशितवृश्चिकदंश-विनिपातौपम्य स्पर्शातिदुःसहेषु च अत्राणाशरणकटुकदुःखपरितापनेषु अनुबद्ध-निरन्तरवेदनेषु यमपुरुषसंकुलेषु ।

तत्र चान्तर्मुहूर्त्तलब्धिभवप्रत्ययेन निर्वर्त्तयन्ति तु ते शरीरं हुण्डं बीभत्सदर्शनीयं भापनकमस्थिस्नायुनखरोमवर्जितमशुभकं दुःखविषहं, ततश्च पर्याप्तिमुपगता इन्द्रियैः पंचभिर्वेदयन्ति वेदनां अशुभया वेदनया-उज्ज्वलबल-विपुल-कर्कश-खरस्पर्श-प्रचण्ड-घोरभीषणकदारुणया, किं तत् ? कन्दु-महाकुम्भी-पचन-प्रज्वलन-तपक-तलन-भ्राष्ट्रभर्जनानि च लोहकटाहो-त्क्वथनानि च कोट्ट (क्रीड़ा) बलिकरणकोट्टनानि, शाल्मलितीक्ष्णाग्रलोह-कंटकाभिसरणापसरणानि स्फाटनविदारणानि च अवकोट्ट (ट) कबन्धनानि यष्टिशतताड़नानि च गलकंबलोल्लंबनानि (ल्लुंठनानि) शूलाग्रभेदनानि च आदेशप्रपं (पं) चनानि खिसनविमाननानि विघुष्टप्रणयनानि वध्यशतमातृ-काणि एवं ते ।

पदार्थान्वय—(ते) वे हिंसक (कयरे) कौन-कौन हैं ?, (जे) जो हिंसक हैं, (ते) वे आगे कहे अनुसार हैं—(सोयरिया) सूअर का शिकार करने वाले, (मच्छबंधा)

मछलियों को जाल में पकड़ने वाले मच्छीमार-धीवर, (साउणिया) पक्षियों का शिकार करने वाले—बहेलिये, (वाहा) व्याध—हिरणों का शिकार करने वाले, (कूरकम्मा) क्रूर कर्म करने वाले, (दीवियबंधणप्पओग-तप्पगल-जाल-वीरल्लगायसी-दब्भवागुरा-कूडछेलियहत्था हरिएसा) ऐसे चाण्डालविशेष जो चीतों को साथ में रखकर हिरनों को मारने के लिए बंधनों का प्रयोग करते हैं, मछलियों को पकड़ने के लिए छोटी नाव, वंसी—जिसके मुंह पर लोहे का कांटा लगा रहता है, तथा जाल रखते हैं, जो बाज आदि पक्षियों या मृग आदि को मारने के लिए लोह का या नारियल की जटा (दर्भ) का बना हुआ फंदा या गुलेल आदि रखते हैं, और सिंह आदि हिंस्र जानवरों को पकड़ने के लिए जो हाथ में नकली बकरी आदि छलपूर्वक रखते हैं, (य) तथा (वीदंसगपासहत्था) जिस बाज आदि एक पक्षी से अन्य पक्षी पकड़ लिये जाते हैं, ऐसा जाल हाथ में रखने वाले, (वणचरगा) भील आदि वनचर, (लुद्धया) व्याध-शिकारी, (महुघाया) शहद के लिए छत्तों को नष्ट कर मधुमक्खियों का घात करने वाले, (पोतघाया) पक्षियों के छोटे-छोटे बच्चों का घात करने वाले, (एणीयारा) हिरनों को पकड़ने के लिए हिरनी को साथ में लिए घूमने वाले (पोसणीयारा) हिरनों को पालने वाले, (सर-दह-दीहिअ-तलाग-पल्लल-परिगालण-मलण-सोत्तबंधण-सलिलासयसोसगा) सरोवर, झील, बावड़ी, बड़ा तालाब और तलैया का शंख, सीप, मछली आदि की प्राप्ति के लिए जल निकाल कर, जल का मर्दन कर, जल का प्रवेश रोक कर-यानी बांध या पाल बांधकर जलाशयों को सुखाने वाले, (विसगरस्स दायगा) विष या काल-कूट, अथवा दूसरे द्रव्य के साथ मिला हुआ विष देने वाले; (उत्तण वल्लरदवग्गिणिद्दयपलीवगा) ताजी उगी हुई हरी घास के खेतों को निर्दयता-पूर्वक दावाग्नि लगा कर जला डालने वाले (कूरकम्मकारी) क्रूर कर्म करने वाले (य) और (बहवे) बहुत से (मिलक्खुजातीया) म्लेच्छ जाति के लोग; (ते) वे (के) कौन-कौन हैं ? वे निम्नोक्त प्रकार के हैं—(सक-जवण-सबर-बब्बर-काय-मुरुंडोद-भडग-तित्तिय-पक्कणिय-कुलक्ख-गोड-सींहल-पारस-कोंचंध-दविल-बिल्लल-पुलिंद-अरोस-डोंब-पोक्कण-गंधहारक-बहलीय-जल्ल-रोम-मास-बउस-मलया) शक (टर्की निवासी), यवन (जावा द्वीप के), शबर (भील जाति के), बर्बर (अफ्रीका आदि के नरभक्षी लोग अथवा बारबरी) काय, मुरुण्ड, उद, भडग, तित्तिक (तातार), पक्कणिका (शबरी से पैदा हुए) कुलाक्ष, गौड़ (उड़ीसा के गौड़ देशीय), सिंहल (लंका वासी), पारस (फारसी), क्रौंच (जर्मन), अन्ध (आन्ध्रवासी), द्राविड़ (तामिलनाडवासी), बिल्वल, पुलीन्द्र, अरोष (रूसी), डोंब (डोम-चांडाल), पोक्कण, गंधारदेशवासी (काबुलवासी), बहलीक, (वाली द्वीप के), जल्ल, रोम (रोमन), भास या माष, बकुश, मलय (मलाबार के) (य) और चुंचुया) चुञ्चुक, (चूलिया) चूलिक, (कोंकणगा) कोंकण देश के,(सेय-मेता)

श्वेत रंग के सेत, मेद (मेवाड़ या मेद देश के), (पण्हव-मालव-महुअर-आभासिय-अणक्क (पल)-चीण-ल्हासिय-खस-खासिया) पल्हव-(पश्तोभाषी पेशावरी), मालव देश के, मधुकर, आभाषिक, अनक्ष या अणक्क (छोटी नाक वाले), चीनी, ल्हासिक (ल्हासा-तिब्बत के निवासी), खस (ईरानी), खासिक (खासी जाति के लोग), (नेहर-निट्ठुर-मरहट्ठ-मुट्ठिअ-आरब-डोबिलग-कुहण - केकय-हूण-रोमग-रुरु-मरुगा) नेहर (चेरापुंजी वासी) (निट्ठुर=निष्ठुर), महाराष्ट्रीयन), मौष्टिक, आरब (अरब देश के), डोब्लिक, कुहण (कोहकाफ पर्वतीय अथवा फ्रांसवासी), केकय (हिरात), हूण (यूनानी), रोमक (रोमवासी), रुरु, मरुक (रेगिस्तानी (य) और (चिलाय विसयवासी) किरात या म्लेच्छ देश के निवासी (पावमतिणो) ये पापबुद्धि वाले लोग तथा (जलयर-थलयर-सणफतोरग-खहचर-संडासतोंडजीयोवघायजीवी) जलचर, स्थलचर (चौपाये जानवर, मनुष्य आदि), नखसहित पैर वाले-सिंह आदि, पेट के बल चलने वाले सर्प आदि तथा खेचर (उड़ने वाले पक्षी आदि), और संडासी के समान मुख वाले पक्षी आदि, इन सब जीवों का घात करके अपनी जीविका करने वाले (सण्णी) जिनका मन दीर्घकाल से संज्ञाओं में परिणत है, इस प्रकार के संज्ञी (य) और (असण्णिणो) संज्ञी से भिन्न, (पज्जत्ता) पर्याप्ति वाले, (य) और (अपज्जत्ता) अपर्याप्तक (असुभलेस्स परिणामा) अशुभ लेश्याओं और अशुभ परिणामों वाले, (एते) ये (य) और (एवमादी) इसी प्रकार के, (अण्णे) दूसरे, (पापा) पापी, (पावाभिगमा) पाप को उपादेय मानने वाले, (पावमई) जिनकी बुद्धि पाप में ही रत है, (पावरुई) जिनकी रुचि पाप में ही है, (पाणवहकयरती) जिनकी प्राणिवध में ही प्रीति लगी हुई है, (पाणवहरूवाणुट्ठाणा) जिनके सब कार्य प्राणिवधरूप हैं, (पाणवहकहासु अभिरमंता) प्राणिवध (शिकार, कत्ल, हत्या, संहार आदि) की कथाओं-कहानियों में आनंद मानने वाले, (पावं) प्राणवधरूप पाप को, (करेत्तु) करके (बहुप्पगारं) अनेक तरह से, (तुट्ठा) संतुष्ट (होंति) होते हैं। [अथवा प्राणवधरूप पाप करते-कराते देखकर सुख मानते हुए बहुत प्रकार की जीववध की क्रियाओं के करने-कराने में खुश रहते हैं], (पाणाइवायकरणं) प्राणिवधरूप क्रिया, (करेंति) करते हैं।

(य) और (तस्स) उस (पावस्स) पाप के (फलविवागं) फलविपाक को, (अयाणमाणा) नहीं जानते हुए (महब्भयं) अत्यन्त भयावनी, (अविस्सामवेयणं) निरंतर वेदना वाली, (दीहकालबहुदुक्खसंकडं), चिरकाल तक अनेक दुःखों से व्याप्त, (नरयतिरिक्ख जोणिं) नरकयोनि तथा तिर्यंचयोनि को, (वड्ढेंति) बढाते हैं। (इओ) यहाँ से, (आउक्खए) आयु के क्षय होने पर (चुया) च्युत होकर-मरकर, (असुभकम्म-बहुला) अधिक अशुभ कर्मों वाले ये जीव (हुलितं) शीघ्र (महान्तएसु) अतिविस्तीर्ण क्षेत्रों वाले या अत्यन्त दीर्घ आयुष्य वाले, (नरएसु) नरकों में (उववज्जंति) उत्पन्न

होते हैं, (वयरामय-कुड्ड-रुंद-निस्संधि-दारविरहिय-निमद्दव - भूमितल - खरामरिस-विसमणिरयघरचारएसु) जिन नरकगृह रूपी बंदीघरों-नारकीय जीवों के उत्पत्ति स्थानों की दीवारें वज्रमय हैं, विस्तीर्ण हैं, द्वाररहित हैं, जहाँ का भूमितल बड़ा ही कठोर है, उसका स्पर्श भी अत्यन्त खुरदरा है, तथा जो ऊबड़-खाबड़ हैं (महोसिण-सयापतत्त-दुग्गंध-विस्सउव्वेय-जणगेसु) जो नरकावास बड़े ही उष्ण (गर्म) हैं, सदा अत्यन्त तपे रहते हैं, भयंकर दुर्गन्ध से सड़े रहते हैं और उद्वेगजनक हैं; (बीभच्छ-दरिसणिज्जेसु) जो देखने में अत्यन्त बीभत्स (घृणाजनक) हैं, (णिच्चं हिमपडलसीयलेसु) जो हमेशा बर्फ की चट्टान के समान ठंडे हैं; (कालोभासेसु) जो काली प्रभा वाले हैं (य) और (भीमगंभीरलोमहरिसणिज्जेसु) भयंकर और गंभीर होने से रोमांच पैदा कर देने वाले हैं (णिरभिरामेसु) जो अत्यन्त असुन्दर-कुरूप हैं; (निप्पडियार-वाहिरोगजरापीलिएसु) जहाँ असाध्य कोढ़ आदि व्याधियों तथा शूल आदि रोगों एवं बुढ़ापे से लोग पीड़ित रहते हैं, (अतीव निच्चंधकारतिमिस्सेसु) जो नित्य गाढ़ अन्धकार-समूह से घिरे रहते हैं, (पतिभएसु) जहाँ प्रत्येक प्राणी या वस्तु से भय ही भय बना रहता है; (ववगयगह चंद सूर णक्खत्तजोइसेसु) जहाँ ग्रह, नक्षत्र, तारे, चन्द्रमा और सूर्य नहीं हैं, (मेय-वसा-मंसपडल-पोच्चडपूय-रुहिरुविकण्ण-विलीण-चिक्कण-रसियावावण्णकुहिय चिक्खल्लकद्दमेसु) जहाँ मेद, चर्बी, मांस के ढेर तथा अत्यन्त घने पीप और रक्त से सने हुए और फैले हुए चिकने घिनौने शरीर के रसविशेष से बिगड़ा हुआ और सड़ा हुआ गाढ़ा और मैला चिपचिप करता हुआ कीचड़ और दलदल है; (कुकूलानलपलित्त जाल मुम्मुर असिक्खुरकरवत्तधारासुनिसित बिच्छुयडंक निवातोवम्म फरिस अतिदुस्सहेसु) जिनका स्पर्श कंडे की आग, धधकती हुई ज्वाला, उड़ती हुई चिनगारियों तथा तलवार, छुरे, करौत की तीखी धार एवं तीखे बिच्छू के डंक लगने के समान अत्यन्त दुःसह है; (अत्ताणासरणकडुय दुक्ख परितावणेसु) जहाँ रक्षा और शरण से रहित नारकीय जीवों को अत्यन्त कटु दुःख से संताप होता है; (अणुबद्ध निरंतर वेयणेसु) जहाँ एक के बाद एक वेदना लगातार लगी ही रहती है, (जमपुरिससंकुलेसु) जहाँ दक्षिण दिक्पाल के पुरुष-अम्बावरीष आदि असुरजातीय यमदेव घेरे रहते हैं।

(य) और (तत्थ) उन नरकों में उत्पन्न होने पर (अंतोमुहुत्तलद्धि भवपच्चएण) अन्तर्मुहूर्त में वैक्रियलब्धि और भवप्रत्यय से (नरक में जन्म लेकर) (ते) वे पापी नारकीय जीव (बीभच्छ दरिसणिज्जं) देखने में अत्यन्त घृणाजनक, (बीहणयं) भयावना (अट्ठि-ण्हारु-णह-रोमवज्जियं) हड्डी, नसों, नख और रोम से रहित, (असुभगंध दुक्खविसहं) दुर्गन्ध वाले और दुःख को सहने वाले; अथवा पाठान्तर (असुभदुविसहं) अशुभ और दुःख सहने के योग्य, (हुंडं) हुंडक संस्थान वाले, (सरीरं) शरीर को

निव्वत्तेंति) निष्पन्न कर लेते हैं। (य) और (तत्तो) शरीर ग्रहण कर लेने के बाद (पज्जत्तिमुवगया) पर्याप्ति को प्राप्त हुए वे नारकीय जीव, (पंचहिं इंदियेहिं) पांचों इन्द्रियों द्वारा (असुभाए) अशुभरूप (उज्जल-बल-विउल-उक्कड-खरफरसपयंडघोर बीहणगदारुणाए वेयणाए) उज्ज्वल, बलवती, विपुल-समस्त शरीर व्यापी, उत्कट और कर्कशस्पर्श वाली, प्रचण्ड, घोर भयानक व अत्यन्त दारुण-पीड़ाजनक वेदना से (वेयणं) दुःखों का अनुभव करते हैं, (किं ते ?) वे दुःख कौन-कौन-से हैं ? (कंदु-महाकुंभिय-पयण-पउलण-तवग-तलण-भट्ट-भज्जणाणि) लोहे की छोटी व बड़ी कड़ाही में पकाना, उबालना, तवे पर तलना और भाड़ में भूंजना,(य) और (लोहकडाहुवकड्ढणाणि) लोहे के कड़ाह में डाल कर काढ़ा बनाना यानी खूब उबालना, (य) तथा (कोट्टबलिकरण कोट्टणाणि) जैसे अज्ञ हिंसक देवियों के सामने प्राणी को बलि देते समय जबरन कूटते हैं, वैसे ही बलि चढ़ाना और कूटना। (सामलितिक्खग्ग लोहकंटक-अभिसरणापसरणाणि) सेमल वृक्ष के तीखे मुंह वाले लोहे के कांटों पर फैलाना और हटाना; (फालणविदारणाणि) चमड़ी फाड़ना और करौत वगैरह से चीरना (य) और (अवकोडकबंधणाणि) भुजाओं और सिर को पीछे से बांधना, (लट्ठिसय-तालणाणि) सैकड़ों लाठियों से पीटना (य) तथा (गलगंबलुल्लंबणाणि) गले के बल लट का देना यानी गले में फांसी डाल कर लटका देना; (य) एवं (सूलग्गभेयणाणि) शूलों की नोक से छेदना, (आएसपवंचणाणि) झूठी बात कह कर ठगना, (खिंसन-विमाणणाणि) डांटना, धमकाना और अपमान करना, (विघुट्ठपणिज्जणाणि) 'इन जीवों ने ये महापाप किये हैं, उनका फल ये भोगें' ऐसी घोषणा करके वध्यभूमि को ले जाना (य) और (वज्झसयमातिकाणि) सैकड़ों वध्य स्थानों—मारने के स्थानों की जननी रूप—उत्पत्ति स्थान के समान, दुःखों का (एवं) उक्त प्रकार से (ते) वे पापकर्म करने वाले जीव अनुभव करते हैं।

मूलार्थ वे हिंसा करने वाले पापिष्ठ जीव कौन-कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं कि वे इस प्रकार हैं—

सूअर का शिकार करने वाले, धीवर, पक्षियों का शिकार करने वाले-बहेलिए, हिरणों के शिकारी, क्रूर कर्म करने वाले कसाई, चीते आदि जीवों को पकड़ने के साधन रखने वाले, हिरनों का शिकार करने के साधन रखने वाले, मछलियों को पकड़ने के साधन रखने वाले मछुए, बाज आदि पक्षियों या मृग आदि को मारने के लिए लोहे का या दर्भ का फंदा या गुलेल आदि रखते हैं, सिंह आदि को पकड़ने के लिए झूठ-मूठ नकली बकरी रखते हैं, चाण्डाल-विशेष, एक पक्षी से अन्य पक्षियों को पकड़ने हेतु जाल हाथ में रखने वाले, भील आदि जंगल में घूमने वाले, व्याध, शहद के लिए मधुमक्खियों का नाश करने

वाले, पक्षियों के बच्चों को मारने वाले, हिरनों को पकड़ने के लिए हिरनी को साथ लिए घूमने वाले, हिरनों को पालने वाले, सरोवर, झील या नद, बावड़ी, बड़ा तालाब ताल या तलैया में से शंख, सीप, मछलियाँ आदि प्राप्त करने के लिए इनका पानी निकाल कर, जल का मर्दनकर, जल के स्रोत पाल या बांध आदि से बंद कर जलाशयों को सुखाने वाले, जीवों को मारने के लिए सामान्य विष या कालकूट विष या विषमिश्रित दवा आदि देने वाले, ताजी घास के स्थानों में निर्दयता पूर्वक आग लगा देने वाले, ऐसे नृशंस कर्म करने वाले लोग और बहुत से म्लेच्छजाति के लोग हिंसक होते है।

म्लेच्छजाति के लोग कौन-कौन होते हैं ? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं— शक, यवन, शबर, बर्बर, काय मुरुंड, उद, भडक, तित्तिक, पक्वणिक, कुलाक्ष, गोड़, सिंहल, पारस, क्रौंच, आन्ध्र, द्राविड़, बिल्वल, पुलिन्द्र, अरोष, डोंब, पोक्कण, गन्धहारक (कंधारवासी), बहलीक, जल्ल, रोम, माष, बकुश, मलय, चुञ्चुक, चूलिक, कोंकणक, मेद, पल्लव, मालव, आभाषिक, अणक्क, चीन, ल्हासिक, खस, खासिक, नेहूर (नेट्टूर या निष्ठुर) महाराष्ट्र, मौष्टिक, आरब, डोबिलिक, कुहण, कैकय, हूण, रोमक, रुरु, मुरुक और चिलात नामक म्लेच्छदेश के निवासी—ये सब पापमय बुद्धि वाले म्लेच्छजातीय मनुष्य हैं।

तथा मगर, घड़ियाल आदि जलचर जीव, स्थलचर (चौपाये जानवर व मनुष्य), नखसहित पैर वाले सिंह आदि पशु, पेट से चलने वाले सर्पादि प्राणी, तथा आकाश में उड़ने वाले गिद्ध आदि खेचर पक्षी, इन सब जीवों का घात करके अपनी रोजी चलाते है। इनमें कई संज्ञी होते है, जिनका मन दीर्घकाल से संज्ञाओं में परिणत होता है, कई इससे भिन्न असंज्ञी होते है (अथवा जो मनसहित है, वे संज्ञी होते है, जो मनरहित है, वे असंज्ञी), लेकिन जब इनके शरीर और भाषा बनकर पूर्ण हो जाते है, पर्याप्त हो जाते हैं, तभी इनमें हिंसा करने की शक्ति होती है, अपर्याप्त अवस्था में नहीं; (अथवा कई पर्याप्तलब्धि सम्पन्न होकर हिंसा करते है और कई अपनी पर्याप्तियो को पूर्ण किये बिना ही मर जाते है, वे अपर्याप्त होते हैं) तथा वे अशुभ लेश्याओं और अशुभ परिणामों वाले होते हैं, ये और इस प्रकार के और भी पापी जीव होते है, जो पाप को ही अपनाने योग्य मानते है, पाप में ही रुचि रखते है, प्राणिवध करने-कराने में ही मस्त रहते हैं, जिनके सब आचरण ही हिंसामय होते हैं, जो प्राणिवध की रसप्रद कथाओं में ही आनन्द मानते हैं। ये सब जीव प्राणवधरूप पाप अनेक प्रकार से करके संतुष्ट होते हैं। इस प्रकार ये प्राणवध की क्रियाएं करते रहते है।

उस हिंसा रूप पाप के फल को नहीं जानते हुए ये अत्यन्त भयावनी, निरन्तर वेदना वाली, दीर्घकाल तक दारुण दुःखों से भरी हुई नरकयोनि और तिर्यञ्चयोनि को बढ़ाते हैं।

वहाँ से आयुष्य पूर्ण हो जाने पर च्युत हो (मर) कर वे अत्यन्त अशुभ कर्मों वाले जीव शीघ्र ही उन नरकों में उत्पन्न होते हैं, जहाँ का क्षेत्र बहुत बड़ा है और आयु सागरों की लम्बी है, जिन नरकागार रूपी कारागारों (चारकों) में वे रहते है, उनकी दीवारें वज्रमयी हैं, वे बड़े लम्बे-चौड़े हैं, द्वार रहित हैं, वहाँ का भूमितल अत्यन्त सख्त है और उसका स्पर्श अत्यन्त खुरदरा है, वह बहुत ही ऊबड़ खाबड़ है, वे नरकावास बड़े ही उष्ण और सदा अत्यन्त तपे हुए रहते हैं, वे महादुर्गन्ध से सड़े रहते हैं और उद्वेगजनक (ऊबा देने वाले) है। वे देखने में अत्यन्त बीभत्स हैं, वे बर्फ के ढेर के समान सदा ठंडे और काली प्रभा वाले है। अत्यन्त भयंकर और गहरे होने से उन्हें देखते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं, वे दिखने में अत्यन्त खराब (कुरूप) हैं, जहाँ लोग असाध्य कुष्ट आदि व्याधियों और शूल आदि बीमारियों व ज्वर, जरा आदि से पीड़ित रहते हैं, वे सदा गाढ़ अन्धकार समूह से घिरे रहते हैं, जहाँ प्रत्येक प्राणी या वस्तु से भय बना रहता है, जहाँ सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे नहीं है, जहाँ गाढ़ा चिपचिपा-सा दलदलरूप कीचड़ है, जो मेद, चर्बी, पीप, रुधिर और मांस के पिंडों से व्याप्त है, जिसके कारण वह बड़े घिनौने एवं चिकने शरीर के रसविशेष से विगड़ा हुआ, बदबूदार और सड़ा हुआ है। जिन नरकागारों का स्पर्श कंडे की आग, धधकती हुई ज्वाला, राख मिली हुई अग्नि, उछलती हुई चिनगारियां तथा तलवार, छुरे और करौत की तीखी धार एवं बिच्छू के डंक लगने के समान अत्यन्त दुःसह्य है, जहां रक्षा और शरण से रहित नारकीय जीवों को अत्यन्त दारुण दुःख के कारण संताप होता है, जहाँ लगातार एक के बाद एक वेदना होती रहती है, और जहाँ दक्षिण दिक्पाल यम के सेवक अम्बावरीष आदि जाति के असुरकुमार देव सदा घेरे रहते हैं।

उक्त नरकों में उत्पन्न होने पर वे नारकीय जीव अन्तर्मुहूर्त में वैक्रिय-लब्धि और भव प्रत्यय के कारण देखने में अत्यन्त बुरे, डरावने, हड्डियों, नखों, नसों और रोमों से रहित, दुर्गन्धमय, अत्यन्त दुःसह्य हुंडक शरीर को धारण कर लेते हैं। शरीर ग्रहण कर लेने के बाद आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन छह पर्याप्तियों को पूर्णतया प्राप्त करके वे नारक जीव पांचों इन्द्रियों द्वारा अशुभ, उज्ज्वल-तीव्र, बलशाली, प्रचुर, सारे शरीर में व्याप्त, उत्कट, तीक्ष्ण स्पर्श वाली, प्रचंड, घोर डरावनी दारुण वेदना से जन्य दुःखों का अनुभव करते है।

वे दुःख कौन-कौन से हैं ? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं - लोहे की छोटी व बड़ी कड़ाही में पकाना, उबालना, तवे पर तलना, भाड़ में भूंजना, लोहे की कड़ाही में खूब उबाल कर काढ़ा बनाना, अज्ञानी मनुष्य जैसे देवी के आगे जीवों की बलि देते हैं, वैसे ही अंगों को काटना और पीटना, सेमलवृक्ष के तीखे नोकदार लोहे के कांटों पर फैलाना और घसीटना, फाड़ना और चीरना, भुजाओं और सिर को पीछे से उलटे बांध देना, सैंकड़ों लाठियों से पीटना, गले में फांसी लगाकर लटका देना, शूलों की नोंक से छेदना, झूठी बात कहकर ठगना, डांटना, धमकाना और अपमान करना ; इन जीवों ने अमुक महापाप किये हैं, यों जोर-जोर से चिल्लाते हुए वध्यभूमि (कत्लगाह) को ले जाना इत्यादि, सैंकड़ों वध्यभूमियों में जैसे दुःख उत्पन्न होते है उन दुःखों को वे नारक सदा भोगते रहते हैं।

व्याख्या

इस सूत्रपाठ में शास्त्रकार ने हिंसा करने वाले जीवों और हिंसा के दुःखद फलों का पर्याप्त उल्लेख किया है। वस्तुतः हिंसा करने वाले हिंसा करने में प्रवृत्त होते समय यह नही सोच पाते कि इस क्रिया का फल क्या होगा ? फल भोगते समय मुझे कितना दुःख उठाना पड़ेगा ? उस समय मेरे उस दारुण दुःख मे कौन हिस्सेदार होगा ? कौन मुझे आश्वासन देगा ? कौन शरण देकर उस समय मुझे दुःखों से बचाएगा ? कितने लम्बे अरसे तक मुझे नरक की भयंकर काल कोठरियों में सड़ना पड़ेगा ? उस समय मेरी कितनी विवशता होगी ? इन सब प्रश्नों का समाधान करने के लिए शास्त्रकार ने 'फलविवागं अयाणमाणा' आदि पदों से स्पष्ट वर्णन किया है और हिंसा के कटु फलो का स्पष्ट उल्लेख भी।

हिंसकों की मुख्य तीन कोटियाँ—हिंसा करने वाले प्राणियों, खासकर मनुष्यों को तीन कोटियों में विभक्त किया जा सकता है—पहली कोटि में वे आते हैं, जो अपनी जीविका (रोजी) के लिए हिंसा करते हैं, दूसरी कोटि मे वे हैं, जो अपने आमोद प्रमोद के लिए हिंसा करते है, और तीसरी कोटि में वे आते हैं जो रसलोलुपतावश सिर्फ खाने के लिए हिंसा करते हैं, करवाते है या करने में समर्थक बनते है।

शास्त्रकार ने प्रस्तुत सूत्रपाठ में सर्वप्रथम हिंसा से अपनी आजीविका चलाने वाले प्रथम कोटि के व्यक्तियों का निरूपण किया है। वे हैं—सूअर पाल कर मारने वाले, मछलिया पकड़ने वाले, बहेलिए, शिकारी, जंगली जानवरों का शिकार करने के लिए अनेक प्रकार के साधन लिए हुए घूमने वाले, शहद पाने के लिए मधुमक्खियों का नाश करने वाले, चिड़िया के बच्चों को पकड़ कर मारने वाले, जलाशयों को

मे तलवारो से लड़ाया जाता था, और इस खेल को देखने के लिए बड़े-बड़े अमीर उमराव व शासक आदि बैठते थे। जब तलवार से लहुलुहान होकर एक आदमी गिर जाता और मर जाता तो बड़े जोर से चिल्ला-चिल्ला कर खुशी मनाई जाती थी। यह बहुत भयंकर क्रूर प्रथा थी। इसी प्रकार भारतवर्ष में मुर्गों, सांडो, भैंसों आदि को आपस मे लड़ाने का कई राजाओं, ठाकुरो और उमरावों को शौक था। अपनी क्षणिक तृप्ति और मनोविनोद के लिए इस प्रकार दूसरों के प्राणों को मौत के मुंह में धकेलना कितना बुरा और पापकर्म है। हिंसा के कार्यों को रसपूर्वक देखना और उनका अनुमोदन करना भी हिंसा के समान पाप है। अतः वे भी सावधान होकर हिंसा को प्रोत्साहन देते हैं तो इसी कोटि में आ जाते है।

हिंसादि पाप कार्यों का उपदेश देने वाले भी उस पापकर्म के करने वालों से अधिक पाप बंध कर लेते हैं। यज्ञ, पशुबलि या जानवर की कुर्बानी का उपदेश भी हजारों को पापकर्म में प्रवृत्त कर देता है। एक बार कोई दुष्कर्म किसी पापोपदेशक के उपदेश से प्रचलित हो जाता है तो वह लम्बे अर्से तक चलता रहता है। इसलिए पापमय परम्परा का उपदेशक भी इसी दूसरी कोटि के हिंसकों में आता है। परन्तु शायद ऐसे पाप-कर्मकारी व्यक्ति अपने बड़प्पन, धन, सत्ता और ऐश्वर्य के नशे में चूर होकर ऐसे निर्बल प्राणियों की आवाज नही सुनते हैं। यही कारण है कि शास्त्रकार ने उनकी मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए मूलपाठ में बताया है—"पावा पावाभिगमा पावरुई पाणवहकयरती पाणवहरूवाणुट्ठाणा पाणवहकहासु अभिरमंता तुट्ठा पावं करेत्तु होंति बहुप्पगारं।" अर्थात्—"वे पापिष्ठजन पापकर्म को ही उपादेय समझते हैं, पापकर्म में ही रुचि रखते हैं, प्राणिवध में ही उनकी प्रीति होती है, वे प्राणिवध रूप आचरण (शिकार, पशुयुद्ध, पशुवलि, प्राणिसंहार आदि) में रात-दिन मस्त रहते हैं, प्राणिवध (शिकार, युद्ध या प्राणिसंहार) की कहानियाँ सुनने-पढने में प्रसन्न रहते हैं, बहुत प्रकार से ऐसे प्राणिवध रूप पापकर्म करने मे संतुष्ट रहते हैं।" ऐसे बुद्धि के दिवालिये सचमुच दया के पात्र हैं। क्योंकि वे अपनी भारतीय अहिंसा-प्रधान संस्कृति को भूलकर अनार्य संस्कृति को अपना बैठे हैं। यही कारण है, ऐसे शासनकर्त्ताओं का प्रभाव 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत के अनुसार उनकी प्रजा पर भी पड़ा। जहाँ-जहाँ शासकों ने इस प्रकार के क्रूरकर्म किये वहाँ-वहाँ की जनता भी वैसी ही क्रूर, बर्बर, अत्याचारी, पाशविक और लूटमार करने वाली बन गई, खून का बदला खून से लेने की परम्परा उनमे पीढ़ी-दर-पीढ़ी मे चल पड़ी, मांसभक्षण करने और किसी निर्दोष प्राणी को मारने में उन्हें कोई हिचक न रही।

तीसरी कोटि के निकृष्ट वे लोग हैं, जो केवल अपनी जिह्वा के स्वाद के लिए निर्दोष प्राणियों का वध करते हैं, कराते हैं, या करने में निमित्त बनते है। उनका

कहना है—संसार मे बकरे आदि जितने जानवर है, वे सब मनुष्यों के खाने के लिए है। परन्तु मासभोजियों की यह दलील थोथी और स्वार्थभरी है। यही दलील अगर सिंह आदि जानवर करें कि मनुष्य हमारे खाने के लिए पैदा हुए हैं, तो क्या वे मासभोजी इसे स्वीकार करेंगे ? फिर अपने पेट भरने के लिए मास से भी बढकर ताकत देने वाली सात्त्विक चीजें छोडकर मांस जैसे घृणित, अपवित्र, पापजनक, अल्पशक्तिदायक पदार्थ को अपनाने मे कौन-सी बुद्धिमानी है ? जल से उत्पन्न (आबी) अन्न, फल आदि पवित्र, सात्त्विक शक्तिप्रद, स्वास्थ्यवर्द्धक पदार्थों को छोड़ कर रजोवीर्य से उत्पन्न (पेशावी) दूपित, अपवित्र (नापाक), तामसिक, स्वास्थ्य-नाशक, काम क्रोधादि तमोगुणवर्द्धक मास को अपनाना रत्न को छोड़कर काच को अपनाने के समान है।

मास वैसे भी मानवप्रकृति के अनुकूल नही है। मानवशरीर की रचना यह बता रही है कि वह शाकाहारी है, मासाहारी नही। मासाहारी प्राणियो की शरीररचना शाकाहारियों से भिन्न है। बिल्ली, कुत्ते आदि मासाहारी जानवरो की आँखें पीली, चमकीली, दात नुकीले तथा पंजे तीखे होते है, वे जीभ से पानी पीते हैं, जबकि गाय बैल आदि शाकाहारी प्राणियों की आँखे काली व दात चपटे होते हैं, उनके पैर के पजे नुकीले नही होते, न वे जीभ द्वारा लपलपा कर पानी पीते हैं। अत मनुष्य की शरीररचना शाकाहारियों के समान है। मांसाहारी मे शक्ति और कार्यक्षमता उतनी नही होती, जितनी शाकाहारी में होती है, हाँ, क्रूरता और उत्तेजना मासाहारी मे ज्यादा होती है। इससे यह सिद्ध है कि मांसभोजन मनुष्य के लिए अहितकर, प्रकृतिविरुद्ध और स्वास्थ्यनाशक है। इस दृष्टि से जो मांस-भोजन के लिए निर्दोप प्राणियो का वध करते है या करने मे निमित्त बनते है, उनको भी उसके भयकर कटुफल भोगने पड़ते है।

आत्महित की दृष्टि से देखा जाय तो मांसाहारियों को मांस पशुपक्षियों के के घात से प्राप्त होता है। जिन पशुपक्षियों को मारा जाता है, वे भी मनुष्य के जैसे ही प्राणी हैं, उन्हे भी सुख-दुःख का हमारे समान ही सवेदन होता है। वे भी हमारी ही तरह निरंतर अपने प्राणों की रक्षा करने मे लगे रहते है। उन अनाथ, असहाय, बेकसूर, निर्बल और निर्दोप पशुपक्षियों को मनुष्य अपनी क्षणिक जिह्वा-तृप्ति के लिए मार डाले, यह कितनी नादानी है। कितनी बेहयाई और निर्दयता है। जो पशुजाति मनुष्य की प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से उपकारी है, गाय, भैंस, बकरी आदि दूध-घी देकर, ऊँट-घोड़ा आदि सवारी देकर या बोझा ढोकर, गधा आदि बोझ

होकर मनुष्य जाति की कीमती सेवा करते हैं, जीते जी भी अपने शरीर से कितनी ही चीजें देते है, मरने के बाद भी चमड़ा, हड्डी आदि देकर मानवजाति के लिए उपकारी बनते हैं। उनसे इस बहुमूल्य सेवा लेने के बदले मनुष्य को उनका कृतज्ञ होना चाहिए, उनकी रक्षा करनी चाहिए, उसके बजाय उनका वध करना कितनी कृतघ्नता और नीचता है। कितना विश्वासघात है। पक्षीगण सड़ी गली चीजों को खाकर वायुशुद्धि करते हैं, बदले में कुछ नही चाहते। उन निःस्वार्थ सेवा करने वाले पक्षियों को मार डालना कितना अन्याय है। मनुष्य जाति की तरह वे भी सृष्टि के अलंकार है। इसलिए पशुजाति के उपकारों के बदले में अपनी अधम लालसा को पूर्ण करने के लिए उनके प्राणों का संहार करना उचित नहीं। यह अनधिकार चेष्टा है।

इसलिए पूर्वोक्त तीनों कोटि के हिंसकों का इस मूलपाठ में स्पष्टतया उल्लेख करके परोक्ष रूप से यह भी ध्वनित किया है कि ऐसे म्लेच्छ जातीय अनार्य जनों के दुःसंग से भी दूर रहना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो अनार्यप्रधान देश हैं, जहाँ के अधिकांश लोग हिंसक हैं, बर्बर हैं, मांसादि हेय वस्तुओं का सेवन करने वाले हैं, धर्म-अधर्म के विवेक से शून्य है, उन देशों में या उन अनार्यों के पड़ौस में आत्महितैषियों व धर्मात्मा पुरुषों का रहना उचित नहीं। क्योंकि वहां के गंदे वातावरण का असर प्रायः उनकी आत्मा पर भी हो सकता है। कईबार उन धर्मात्मा और अहिंसक लोगों को भी उस देश में या अनार्यों के पड़ौस में रहने के कारण परोक्ष-रूप से अनुमोदन का भागी बनना पड़ता है, अथवा उनकी कोमलमति संतान पर भी उनके दुष्कृत्यों के कुसंस्कार पड़ सकते हैं। संगति का प्रभाव बड़ा बलवान होता है। धुरंधर विद्वानों और घोर तपस्या करने वालों पर भी अकस्मात् उन निमित्तों या दुःसंगों का असर होता और उनका पतन होता देखा गया है। एक बार जहाँ उन हिंसादि दुष्कृत्यों का चेप लगा कि फिर वह क्रम आगे से आगे चलता जाता है। उसका संभलना मुश्किल हो जाता है। जैसे पर्वत से नीचे फिसलने वाला मनुष्य नीचे से नीचे लुढ़कता-गिरता चला जाता है, वैसे ही एक दिन जो अहिंसक था, वह भी पतित होता चला जाता है और पक्का हिंसक बन जाता है।

हिंसा का भयंकर दुष्परिणाम—इसीलिए शास्त्रकार ने मूलपाठ में इस भयंकर हिंसा से बचने और दूसरों को बचाने के हेतु हिंसा के भयंकर कुफल बताये हैं, जो प्रत्येक हिंसाकर्त्ता को भोगने ही पड़ेंगे। उसमें कोई रियायत नहीं होगी, चाहे फिर हिंसा करने वाला मनुष्य किसी भी उच्चकुल, उच्चजाति, उच्चधर्म, उच्चराष्ट्र या प्रान्त का ही क्यों न हो। जहर को कोई भी कुलीन व्यक्ति खाए या अकुलीन, जान कर खाए या अजाने में, उसका दुष्परिणाम मृत्यु के रूप में उसे

भोगना ही पड़ता है, इसी प्रकार हिंसा को चाहे कुलीन करे या अकुलीन, जान कर करे या बिना जाने करे, उसका भी दुष्फल उसे नरक और तिर्यञ्च योनि की प्राप्ति के रूप मे भोगना ही पड़ेगा । यही कारण है कि शास्त्रकार मूलपाठ मे स्पष्ट कर देते है—**'तस्स य पावस्स फलविवागं अयाणमाणा वड्ढंति·······नरयतिरिक्खजोणिं ।'** अर्थात् हिंसा करने वाले, उस पाप के फल को जानते हुओ की तो बात ही क्या, नही जानते हुए भी महाभयंकर, अनवरत वेदनापूर्ण और दीर्घकाल तक अनेक दुःखों से व्याप्त नरक और तिर्यच योनियों की अपने लिए वृद्धि करते रहते हैं । वे अशुभ कर्मों की बहुतायत के कारण आयुष्य क्षीण होने पर मर कर विविध नरकों में उत्पन्न होते हैं । आगे उन नरकागारों की भयंकरता, दु.खबहुलता और असुन्दरता का विशद वर्णन शास्त्रकार करते है । उसके बाद उन नरकागारों मे वे कैसा वीभत्स, भयावना और कुरूप शरीर पाते हैं, इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है । और इसके बाद नरकों में किस प्रकार से पीड़ा दी जाती है ? अथवा अपने पूर्वकृत दुष्कर्मों के फलस्वरूप नरकगत जीव किस-किस प्रकार से दुःखित और पीडित होते है ? इसका भी वर्णन स्पष्ट है । यह वर्णन पदार्थान्वय और मूलार्थ में हम कर आये है, इसलिए यहाँ नहीं कर रहे है ।

नरकभूमियाँ कहाँ और कौन-कौन-सी हैं ?

प्रश्न होता है कि नारकीय जीवों के वे निवासस्थान (नरकभूमियाँ) कहाँ पर है ? वे कितने हैं ? किस प्रकार से वे सब अवस्थित है ? इन प्रश्नों के उत्तर में हम अन्य शास्त्रो के आधार पर यहाँ वर्णन प्रस्तुत करते हैं—

आप जैन दृष्टि से १४ रज्जुपरिमाण लोक का नकशा अपने सामने खोल कर रखिए । लोक की परिभाषा जैन दृष्टि से यह है—जहाँ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गल और जीवास्तिकाय—ये ६ द्रव्य पाये जायँ, वह लोक है । यह लोक किसी का बनाया हुआ नहीं है, अपितु अनादि-अनन्त है । इस अनन्त लोक के तीन विभाग है—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक । ऊर्ध्वलोक मे ज्योतिषी और वैमानिक देव हैं, मध्यलोक मे तिर्यञ्च, मनुष्य और व्यन्तर तथा भवनपति देवों का निवास है और अधोलोक में नारकीय जीव है । इन तीनो लोकों की ऊँचाई-लम्बाई कुल मिल-मिलाकर १४ रज्जुपरिमाण है । जिसमें से सात रज्जु-परिमाण से कुछ कम लम्बाई-ऊँचाई ऊर्ध्वलोक की है, पूरे सात रज्जु लम्बाई-ऊँचाई अधोलोक की है और बाकी की करीब एक रज्जु से भी कम लम्बाई मध्यलोक की है ।

नरक के जीवों का निवास अधोलोक मे ही है, जहाँ निम्नोक्त सात भूमियाँ सात नरको के रूप में क्रमशः एक के नीचे दूसरी अवस्थित है—१ रत्नप्रभा,

२ शर्कराप्रभा, ३ बालुका प्रभा, ४ पंकप्रभा, ५ धूमप्रभा, ६ तमःप्रभा और ७ तमस्तमः प्रभा। इन सात नरक भूमियों में कुल प्रस्तार (पटल या पाथड़े) ४९ है। पहली भूमि में १३, दूसरी में ११, तीसरी में ९, चौथी में ७, पांचवी में ५, छठी में ३ और सातवी मे १ प्रस्तार है। इस तरह कुल ४९ प्रस्तार होते है, जहाँ नारक जीवों के चारक (बंदीगृह की तरह)—उत्पत्ति स्थान हैं, नरकागार हैं। ये नरकागार आजन्म कारागार वाले कैदियों की अंधेरी कोठरियों से या काले पानी की सजा से किसी तरह भी कम नही हैं, बल्कि उनसे भी कई गुने भयंकर, दुर्गन्धमय, अन्धकारमय और सड़ान वाले हैं। तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार—('नित्याशुभतरलेश्यापरिणाम-देह वेदना-विक्रियाः' 'संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः') वे नारक जीव नित्य अशुभतर लेश्या, बुरे से बुरे परिणाम, भयंकर से भयंकर शारीरिक वेदना और वैक्रियलब्धि-वशात् बार-बार काटने-पीटने, छेदने और यातना पाने से अत्यन्त संक्लिष्ट रहते हैं, तीसरी नरक तक परमाधार्मिक असुरों के द्वारा प्रेरित और पीड़ित किये जाने पर वे बार-बार दुःखी होते हैं। सचमुच नरक के इतने भयंकर दुःखों का वर्णन सुनकर रोम-रोम काप उठता है।

वैसे तो विभिन्न धर्म के शास्त्रों या ग्रन्थों को सुनने पर यह पता लग ही जाता है कि नरक कितना भयंकर और दुःखों का सागर है। मगर सुन लेने पर भी आदमी तब तक उस पर ध्यान नही देता, जब तक उसे अनुभव न हो जाय या ठोकर न लग जाय, इसीलिए 'अयाणमाणा' शब्द केवल सुनकर पता लगाने के अर्थ में नहीं, अपितु अपने या दूसरों पर आ पड़ने वाले दुःखों को देखकर प्रत्यक्ष महसूस करने के अर्थ मे ही अधिक संगत है। स्वर्ग-नरक की बातें तो कसाई, आदिवासी, भील या मांसभोजी हिंसक भी सुनते हैं, पर उनके धर्मशास्त्रों में कहीं-कहीं पशुबलि, कुर्बानी, मांसाहार, शिकार के रूप में विधान भी मिलता है, इसलिए दूसरे धर्मों वाले उपर्युक्त व्यक्ति स्वर्ग-नरक की बातें सुन लेने पर भी धर्म के रूप में, देव देवियों को प्रसन्न करने और तुच्छ स्वार्थ को सिद्ध करने की दृष्टि से अमुक हिंसा कार्य को बुरा नहीं समझते। इसीलिए वीतराग निःस्पृह महर्षि तीर्थंकर देव तो किसी भी जीव के प्रति अन्याय या पक्षपात न करते हुए स्पष्ट रूप से हिंसा के कुफल का प्रतिपादन करते हैं।

नरक के अस्तित्व की सिद्धि

कई नास्तिक लोगों का कहना है कि "स्वर्ग-नरक कुछ भी नहीं है, ये सब गप्पें हैं। नरक में होने वाली पीड़ा अज्ञजन भय बतलाने के लिए है, क्योंकि स्वर्ग में होने वाले सुख प्रलोभन देने के लिए है। हम न तो स्वर्ग के लोभ में अहिंसा को पकड़ सकते हैं और न नरक (दोजख) के भय से हिंसा को छोड़ सकते हैं। जब नर

जीओ, सुख से जीओ, कर्ज करके घी पीओ, शरीर के राख हो जाने पर न कोई कहीं आता है न जाता है। यह शरीर या आत्मा जो कुछ भी इसे कहो, यहीं का यहीं धरा रह जाता है।" ऐसी मिथ्या मान्यता के कारण भोले-भाले मनुष्य ऐसे लोगों के चक्कर में आकर हिंसा करने में बेखटके प्रवृत्त हो जाते हैं।

अगर स्वर्ग, नरक आदि न होते तो फिर किसी को स्वपर कल्याण की साधना या अहिंसा, सत्य आदि का पालन करने की जरूरत ही क्या रहती ? फिर तो कोई भी मनुष्य अच्छे कर्म में, परोपकार में प्रवृत्त ही क्यों होगा ? और क्यों वह कुत्ते, बिल्ली आदि की तिर्यञ्च योनि को पाना चाहेगा ? परन्तु यह एक निर्विवाद बात है कि आत्मा की यह यात्रा तब तक समाप्त नहीं होती, जब तक जन्ममरण का चक्र समाप्त न हो, यानी मुक्ति प्राप्त न हो। इसलिए आत्मा को अपने अच्छे कर्मों के कारण स्वर्ग और बुरे कर्मों के कारण नरक या तिर्यंचगति का मिलना अवश्यम्भावी है। जीवन की यह यात्रा जन्मजन्मान्तरों तक चलती रहती है।

नरक में इतनी भयंकर सजा वास्तविकता है, गप्प नहीं !

नरक के दुःखों को गप्प मानने वालों से यह पूछा जाय कि यहाँ कोई किसी की हत्या करता है तो उसमें एक-दो मिनट ही लगते हैं, परन्तु उस एक-दो मिनट के दुष्कृत्य के बदले में उसे आजीवन कारावास या मौत की सजा मिलती है। इतनी लम्बी अवधि की सजा थोड़ी देर में हत्या करने वाले को मिलती है तो जिन्दगी भर पशुपक्षियों की गर्दनों पर जो छुरियाँ फिराता रहे, जो अनेक क्रूरकर्म करे, उसे कितनी लम्बी अवधि की और कितनी कठोर सजा मिलनी चाहिये ? यही कारण है कि नरक की लम्बी से लम्बी अवधि ३३ सागरोपम काल की है और पहली से लेकर सातवीं नरक तक उत्तरोत्तर दारुण दुःखों के रूप में वहाँ भयंकर सजाएँ मिलती हैं। इसी का समाजविज्ञानसिद्ध विश्लेषण व चित्रण शास्त्रकार ने मूल पाठ में किया है।

नरक गति में हिंसा के कुफल

पिछले सूत्रपाठ में हिंसकों के नाम तथा हिंसा के दुष्परिणामस्वरूप नरकागार-प्राप्ति का विशद निरूपण किया गया, अब इस अगले सूत्रपाठ में उसी का—हिंसा के दुष्परिणामों का ही विस्तृत वर्णन किया जा रहा है :—

मूलपाठ

पुव्वकम्मकयसंचओवतत्ता निरयग्गिमहग्गिसंपलित्ता गाढदुक्खं महब्भयं कक्कसं असायं सारीरं माणसं च तिव्वं दुविहं वेदेंति वेयणं,

पावकम्मकारी बहूणि पलिओवमसागरोवमाणि कलुणं पालेंति ते, अहाउयं जमकातियतासिता य सद्दं करेंति भीया ।

किं ते ? 'अविभाय सामि भाय वप्प ताय जितवं मुय मे मरामि, दुब्बलो वाहिपीलिओ अहं, किं दाणिऽसि, एवं दारुणो निद्दओ य मा देहि मे पहारे, उस्सासेतं (एयं) मुहुत्तयं मे देहि, पसायं करेह, मा रुस, वीसमामि, गेविज्जं मुयह मे,मरामि, गाढं तण्हाइओ अहं, देहि पाणीयं ।' हंता (ताहंतंपिय) पिय इमं जलं विमलं सीयलं ति घेत्तूण य नरयपाला तवियं तउयं से देंति कलसेण अंजलीसु । दट्ठूण य तं पवेवियंगोवंगा अंसुपगलंतपप्पुयच्छा छिण्णा तण्हाइयम्ह कलुणाणि जंपमाणा विप्पेक्खंता दिसोदिसि अत्ताणा असरणा अणाहा अबांधवा बंधुविप्पहीणा विपलायंति य मिगा इव वेगेण भयुव्विग्गा, घेत्तूण य बला पलायमाणाणं निरणुकंपा मुहं विहाडेत्तुं लोहडंडेहिं कलकलं ण्हं वयणंसि छुभंति, केइ जमकाइया हसंता । तेण दड्ढा संतो रसंति भीमाइं विस्सराइं रुवंति य कलुणगाइं पारेवयगा (इ) व एवं पलवित-विलाव-कलुणाकंदियबहुरुन्नरुदियसद्दो परिदे (वे) वियरुद्धबद्धयनारकारवसंकुलो णीसिट्ठो; रसिय-भणिय - कुविय - उक्कइय - निरयपालतज्जियं गेण्ह कम पहर छिंद भिंद उप्पाडेहुक्खणाहि कत्ताहि विकत्ताहि य भुज्जो (भंज) हण विहण विच्छुभोच्छुभ आकड्ढ विकड्ढ किं ण जंपसि ? सराहि पावकम्माइं (कियाइं) दुक्कयाइं एवं वयणमहप्पगब्भो (सं) पडिसुयसद्दसंकुलो उत्तासओ सया निरयगोयराण महाणगरडज्झमाणसरिसो निग्घोसो सुच्चए अणिट्ठो तहि नेरइयाणं जाइज्जंताणं जायणाहिं । किं ते ? असिवण—दब्भयण - जंतपत्थर - सूइतल - क्खारवावि - कलकलंतवेयरणि - कलंब - वालुया-जलियगुहनिरुंभणं उसिणोसिण - कंटइल्ल - दुग्गमरहजोयणतत्तलोहमग्ग (पह) गमण-वाहणाणि इमेहिं विवि-

हेहिं आयुहेहिं । किं ते ? मोग्गर-मुसुंढि - करकय - सत्ति - हल-गय - मुसल - चक्क - कोंत - तोमर- सूल - लउल - भिंडिमाल-सब (द्द द्ध) ल - पट्टिस - चम्मेट्ठ - दुहण - मुट्ठिय - असि - खेडग - खग्ग - चाव - नाराय - कणक - कप्पिणि- वासि-परसु-कंटक (टंक)-तिक्ख-निम्मला अण्णेहि य एवमादिएहिं असुभेहिं वेउव्विएहि पहरणसतेहिं अणुबद्धतिव्ववेरा परोप्परवेयणं उदीरेंति अभिहणंता । तत्थ य मोग्गरपहारचुण्णिय - मुसुंढिसंभग्गमहित-देहा जंतोवपीलणफुरंतकप्पिया के इत्थ सचम्मका विगत्ता णिम्मूलु-लूण कण्णोट्ठणासिका छिण्णहत्थपादा (तत्थ य) असि - करकय-तिक्ख - कोंत - परसुप्पहार - फालियवासी - संतच्छितंगमंगा कलकलमाणखारपरिसित्तगाढ - डज्झंतगत्त - कुंतग्गभिण्ण - जज्जरियसव्वदेहा विलोलंति महीतले विसूणियंगमंगा, तत्थ य विग - सुणग - सियाल - काक - मज्जार - सरभ - दीविय - वियग्घ - सद्दूल - सीह - दप्पिय-खुहाभिभूतेहिं णिच्चकालमण-सिएहिं घोरा रसमाणभीमरूवेहिं अक्कमित्ता दढदाढा - गाढडक्क कड्ढिय - सुतिक्ख - नहफालियउद्धदेहा विच्छिप्पंते समंतओ विमुक्कसंधिबंधणा वियंगमंगा कंक-कुरर-गिद्ध-घोरकट्ठवायसगणेहि य पुणो खरथिरदढणक्ख - लोहतुंडेहिं ओवदि (ति) त्ता पक्खा-हय-तिक्खणक्खविकिन्न - जिब्भंछिय - नयण - निद्द (द्ध) ओ-लुग्गविगतवयणा उक्कोसंता य उप्पयंता निपतंता भमंता ।

संस्कृत-छाया

पूर्वकर्मकृतसंचयोपतप्ता निरयाग्निमहाग्निसंप्रदीप्ता गाढदुःखां महाभयां कर्कशामसातां शारीरीं मानसीं च तीव्रां द्विविधां वेदयन्ति वेदनां पापकर्मकारिणो बहूनि पल्योपमसागरोपमाणि करुणं पालयन्ति ते यथायुष्कं यमकायिकत्रासिताश्च शब्दं कुर्वन्ति भीताः । किं तत् ? अविभाव्य ! स्वामिन् ! भ्रातः ! पितः ! तात ! जितवन् ! मुञ्च मां, म्रिये, दुर्बलो व्याधि-पीड़ितोऽहम् किमिदानीमस्मि ! एवं दारुणो निर्दयो (भूत्वा) मा देहि मे

प्रहारान् ! उच्छ्वासमेकं मुहूर्त्तकं मे देहि, प्रसादं कुरु, मा रुष्य, विश्रमामि, ग्रैवेयकं मुञ्च मे, म्रिये, गाढं तृष्णार्दितोऽहं दत्त पानीयं। हन्त ! (ततोऽहं देहि) 'पिबेदं जलं विमलं शीतलमिति' गृहीत्वा च नरकपालास्तप्तं त्रपुकं तस्मै ददति कलशेनाऽञ्जलिषु। दृष्ट्वा च तत्प्रवेपितांगोपांगाः प्रगलदश्रु-प्रप्लुताक्षाश्छिन्ना तृष्णा अस्माकमिति (तृष्णार्दिताः स्म इति) करुणानि जल्पन्तो विप्रेक्षमाणा दिशोदिशमत्राणा अशरणा अनाथा अबान्धवा बन्धु-विप्रहीणा विपलायन्ते च मृगा इव वेगेन भयोद्विग्नाः, गृहीत्वा च बलात् पलायमानानां निरनुकम्पा मुखं विघाट्य लोहदण्डैः कल-कलं किल वदने क्षिपन्ति, केचिद्यमकायिका हसन्तस्तेन दग्धाः सन्तो रसन्ति भीमानि विस्व-राणि रुदन्ति च करुणकानि पारापतका इव, एवं प्रलपित-विलाप करुणा-क्रन्दितबहुरुन्नरुदितशब्दः परिदेवित (वेपित) रुद्धबद्धक नारकारवसंकुलो निःसृष्टो, रसित-भणित-कूजितोत्कूजित-निरयपालतर्जितं गृहाण, क्रम, प्रहर, छिंद, भिंद, उत्पाटय, उत्खनय, कृन्त, विकृन्त च भूयो (भञ्ज) हन विहन (जहि विजहि) विक्षिप, उत्क्षिप, आकर्ष, विकर्ष, किं न जल्पसि ? स्मर पापकर्माणि कृतानि, दुष्कृतानि, एवं वच (द) नमहाप्रगल्भः (सं) प्रति-श्रुतशब्दसंकुल उत्त्रासकः सदा निरयगोचराणां दह्यमानमहानगरसदृशो निर्घोषः श्रूयतेऽनिष्टस्तत्र नैरयिकाणां यात्यमानानां यातनाभिः। कास्ताः ? असिवन-दर्भवन-यंत्र प्रस्तर-शूचीतल-क्षारवापी-कलकलायमानवैतरणीकदम्ब-वालुकाज्वलितगुहानिरोधनरुष्णोष्णकण्टकवद्दुर्गमरथयोजनतप्तलोहमार्ग (पथ) गमनवाहनानि, एभिर्विविधैरायुधैः, कानि तानि ? मुद्गर-मुसुण्ढि-क्रकच-शक्ति-हल-गदा-मुशल-चक्र-कुन्त-तोमर-शूल-लकुट-भिण्डिमाल - सब-(द्ध) ल-पट्टिश-चर्मेष्ट-द्रुघण-मौष्टिकासि-खेटक-खड्ग-चाप-नाराच - कणक-कर्त्तनी (कल्पनी)-वासी-परशु-कण्टक-(टंक) तीक्ष्णनिर्मलैरन्यैश्चैवमादिभिर-शुभैर्वैक्रियैः प्रहरणशतैरनुबद्धतीव्रवैरा. परस्परं वेदनामुदीरयन्ति, अभि-घ्नन्तः। तत्र च मुद्गरप्रहार-चूर्णित-मुसुण्ढिसंभग्नमथितदेहा यंत्रोपपीडन-स्फुरत्कल्पिताः केचिदत्र सचर्मका विकृत्ता निर्मूलोन्मूलनकर्णोष्ठनासिका-च्छिन्नहस्तपादा असिक्रकचतीक्ष्णकुन्तपरशुप्रहारस्फाटितवासी-संतक्षितांगो-पांगा. कलकलायमानक्षारपरिसिक्तगाढदह्यमानगात्र-कुन्ताग्रभिन्न-जर्जरित-सर्वदेहा विलुलं (ठं) ति महीतले विसूनिता-(विलूनिता) ङ्गोपाङ्गा। तत्र च वृक-श्व-शृगाल-काक-मार्जार-शरभ-द्वीपिक-व्याघ्र-शार्दूल-सिंह - दर्पित - क्षुधाभिभूतैर्नित्यकालमनशितैर्घोरा रसद्भिर्भीमरूपैराक्रम्य दृढदंष्ट्रागाढदष्ट-कृष्टसुतीक्ष्ण - नखस्फाटितोद्धर्व देहा विक्षिप्यन्ते समन्ततो

विमुक्तसंधिबन्धना व्यङ्गिताङ्गाः कंक-कुरर-गृद्ध-घोरकष्टवायसगणैश्च पुनः खरस्थिरदृढनखलोहतुण्डैरवपत्य पक्षाहततीक्ष्ण-नखविकीर्ण जिह्वाच्छित्त (ञ्छित्त) नयन निर्दयावरुग्णविगतवदना उत्क्रोशन्तश्चोत्पतन्तो निपतन्तो भ्रमन्तः ।

पदार्थान्वय—(पुव्वकम्मकयसंचओवतत्ता) पूर्वभव में किये हुए कर्मों के संचय से संतप्त (निरयग्गिमहग्गि संपलित्ता) महाग्नि के समान नरक की आग से अत्यन्त जलते हुए वे (पावकम्मकारी) पाप कर्म करने वाले नरक के जीव, (गाढ दुक्खं) उत्कट दुःखरूप, (महब्भयं) अत्यन्त भयानक, (कक्कसं) कठोर (असायं) असातावेदनीय-कर्म के उदय से जनित, (सारीरं) शरीरसम्बन्धी, (च) और (माणसं) मनसम्बन्धी, (दुविहं) दो प्रकार की, (तिव्वं) तीव्र, (वेयणं) वेदना को (वेदेंति) भोगते हैं। तथा (ते) वे नारकीय जीव (बहूणि) बहुत लम्बी, (पलिओवमसागरोवमाणि) पल्योपम एवं सागरोपमकाल प्रमाण, (अहाउयं) बांधी हुई आयु को, (कलुणं) दीनता से, (पालेंति) पार करते हैं—बिताते हैं; (य) और, (यमकातियतासिता) यमकायिक दक्षिण-दिक्पालदेवनिकाय के आश्रित अम्ब आदि असुरों द्वारा सताये गए वे (भीया) भयभीत होकर (सद्दं) आर्त्तनाद, (करेंति) करते हैं। (ते) वह आर्त्तनाद (किं) किस तरह का होता है? (अविभाय) हे प्रतापी! (सामि) हे स्वामिन्! (भाय) हे भाई, (वप्प) हे बाप! (ताय) ओ तात! (जितवं) हे विजयी! (मुय मे, मरामि) मुझे छोड़ दो, मैं मर गया! (दाणिं) इस समय (अहं) मैं, (किं) कितना, (दुव्बलो) दुर्बल तथा (वाहिपीलिओ) रोग से पीड़ित (असि) हूँ। (एवं) इस प्रकार, (दारुणो) कठोरचित्त (य) और (निद्दओ) निर्दय होकर (मा दे हि मे पहारे) मुझ पर चोटें प्रहार मत दो! (मे) मुझे (मुहुत्तयं) एक मुहूर्त्त तक, उस्सासेत) श्वास लेने दो; (पसायं) कृपा (करेह) करो, (मा रुस) मुज पर गुस्सा मत करो, (वीसमामि) जरा विश्राम लेता हूँ, (मे) मेरी (गेवेज्जं) गर्दन को, (मुयह) छोड़ दो, (अहं) मैं, (गाढं तण्हाइयो) अत्यन्त प्यास से पीड़ित हूँ, (मे) मुझे (पानी-यं) पानी (देह) दो" नारकीय जीवों के ऐसा कहने पर यमपुरुष कहते है—(हंता) लो नारक! (इमं) इस (विमलं) स्वच्छ, (सीतलं) ठंडे (जलं) पानी को (पिय) पी लो, (इति) ऐसा कहकर (नरयपाला) नरकपाल, (कलसेण) कलश में से (तवियं) तपे हुए (तउयं) सीसे को, (घेत्तूण) लेकर) (से) उसकी (अंजलीसु) हथेली पर (देंति) उंडेलते हैं—देते हैं। (य) और (तं) उसे (दट्ठूण) देखकर, (पवेवियंगोवंगा) नारकों के अंगोपांग सिहर उठते हैं, (अंसुपगलंतपप्पुयच्छा) बहते हुए आँसुओं से उनकी आँखें डबडबा आती हैं, और (अम्ह) 'बस हमारी, (तण्हा) प्यास, (छिण्णा) बुझ गई' (इय) इस प्रकार से (कलुणाणि) करुणापूर्ण दीनवचन (जंपमाणा) कहते हुए (दिसोदिसिं) एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर, (विप्पेक्खंता) नजर दौड़ाते हुए,

(अत्ताणा) रक्षाहीन, (असरणा) शरणहीन, (अणाहा) अनाथ, (अबांधवा) बान्धवों से रहित, (बंधुविप्पहीणा) स्वजनों से रहित (भउव्विग्गा) भय से घबराये हुए, (मिगा इव) हिरणों की तरह, (वेगेण) जोर से (विपलायंति) भागने लगते हैं। तब (णिरणुकंपा) निर्दयी (हसंता) हंसते हुए (केइ) कई (जम काइया) यमपुरुष (बला) जबर्दस्ती उन्हें (घेत्तूण) पकड़ कर (पलायमाणाणं) भागते हुए नारकियों के (मुहं) मुंह को, (लोहदंडेहिं) लोहे के डंडों से, (विहाडेत्तु) खोलकर (कलकलं) उबलते हुए सीसे को (वयणंसि) उनके मुंह में (छुभंति) उंड़ेल देते हैं। (तेण) उससे (दड्ढा संतो) जले हुए वे (रसंति) चिल्लाते हैं (य) और (पारेवयगा व) कबूतरों की तरह (भीमाइं) भयंकर, (विस्सराइं) बुरे स्वर से (कलुणगाइं) दीनता-पूर्वक (रुवंति) रोते हैं, (एवं) इस प्रकार, (पलवितविलावकलुणाकंदियबहुरुन्नरुदियसद्दो) प्रलाप, विलाप (आर्तनाद) दीनतापूर्वक गला फाड़ कर रोने, बहुत देर तक अरण्यरोदन एवं सिसकियां भरकर रोने की आवाज से युक्त, (परिवेपित-देविय बद्ध-रुद्धय नारकारवसंकुलो) कांपते हुए या जोर-जोर से दुःख प्रकट करते हुए, रोके हुए, और बंधे हुए नारकों द्वारा मचाए हुए शोर से व्याप्त, और जोर-जोर से इस प्रकार चिल्लाते हुए नारकीय जीव को, (रसिय- भणिय-कुविय-उक्कइय-निरयपालतज्जियं) चिल्लाते हुए, स्पष्ट धमकाते हुए, कोप करते हुए, जोर-जोर से शोर मचाते हुए नरकपालों की डांट पड़ती है – (गेण्ह क्कम पहर छिंद भिंद उप्पाडेहुक्खणाहि कत्ताहि विकत्ताहि य भुज्जो (भुंज) हण-विहण विच्छुभोच्छुभ आकड्ढ विकड्ढ) इसे पकड़ो, इस पर पैर रख कर चले जाओ, इसे पीटो, छेदन करो, इसके टुकड़े-टुकड़े कर डालो, उखाड़ डालो, इसकी आंखें वगैरह निकाल लो, कैंची से इसके नाक कान काट लो, विशेष प्रकार से कतर डालो और फिर (अथवा इसे भून डालो) इसे मारो, जोर से मारो, इधर-उधर फेंक दो, ऊपर उछाल दो, सामने से खींचो, उलटा खींचो, (किं ण जंपसि) अब क्यों नहीं बोलता है ? (पाव) 'अरे पापी ! (दुक्कयाइं कम्माइं सराहि) अपने दुष्कृत-पाप-कर्मों को याद कर', (एवं) इस प्रकार (वयणमहप्पगब्भो) यमपुरुषों के बोलने से फैला हुआ शोर (पडिसुय सद्दसंकुलो) और उसकी प्रतिध्वनि के गूंजने से व्याप्त (सया) सदा, (नरयगोयराण) नरक निवासियों को (तासओ) त्रास पहुंचाने वाला, (जायणाहिं) यातनाओं-पीड़ाओं से, (जाइज्जताणं) यंत्रणा (पीड़ा) पाते हुए (नेरइयाणं) नारक-जीवों का, (महाणगरडज्झमाणसरिसो) जलते हुए महानगर के शोर के समान, (अणिट्ठो) अनिष्ट-अप्रिय, (निग्घोसो) महाघोष-हल्ला-गुल्ला (तहियं तहिं) वहां नरक में (सुव्वए) सुनाई देता है। (ते) वे यातनाएं, (किं) कौन-कौन-सी हैं ? (असिवण-दब्भवण-जंतपत्थर-सूइतलखारवावि-कलकलंतवेयरणि-कलंबवालुया-जलियगुहनिरुंभणं) तलवार की धार के समान तीखे पत्तों के वन में, डाभ-कुश के वन में, घरट्ट आदि पत्थरों पर, ऊपर मुंह की हुई सुइयों के समान भूतल पर, खारे रसों से भरी हुई बावड़ियों में, उबलते हुए सीसे से भरी हुई वैतरणी

नदी में कदंब के फूल के आकार की बनी हुई तीखी रेत पर, जलती हुई गुफाओं में नारकियों को फेंक कर या धकेल कर, (उसिणोसिण-कंटइल्ल-दुग्गमरहजोयणतत्तलोह-मग्ग (पह) गमणवाहणाणि) गर्मागर्म कांटों वाले तथा अत्यन्त वजनदार होने के कारण कठिनाई से चलने वाले रथ में जोत कर, तपे हुए लोहे के रास्ते पर चलाकर एवं बैलों की तरह बहुत वजन लाद कर चलाये जाकर, (इमेहिं) इन आगे कहे जाने वाले, (विविहेहिं) अनेक प्रकार के, (आयुहेहिं) हथियारों से नारकी परस्पर एकदूसरे को पीड़ा देते हैं। (ते) वे हथियार, (किं) कौन-कौन-से हैं ? (मोग्गर-मुसुंढि-करकय-सत्ति-हल-गय-मुसल-चक्क-कोंत-तोमर-सूल-लउड-भिंडिमाल-सद्ध (ब) ल-पट्टिस-चम्मेट्ठ-दुहण-मुट्ठिय-असि-खेडग-खग्ग-चाव-नाराय-कणक-कप्पणि-वासी-परसु-टंक (कंटक)-तिक्ख निम्मला) मुद्गर, मुसुंढि, करौत, त्रिशूल, हल, गदा, मूसल, चक्र, बर्छी, तोमर (तबर), शूली (बल्लम), लाठी, भिंडीमाल (गोफन) भाला, पट्टिस (एक प्रकार का अस्त्र), चमड़े से वेष्टित पत्थर, द्रुघण (तोप या विशेष प्रकार का मुद्गर), हथोड़ा, कटारी, ढाल, तलवार, धनुष, बाण, नली वाला बाण, कैंची, वसूला, कुल्हाडा, बल्लम तथा तीखी नोक या धार वाले चमचमाते हुए शस्त्रों, (य) तथा (एवमादिएहिं) ये और इसी प्रकार के (अण्णेहिं) दूसरे, (असुभेहिं) पाप के निदानभूत अशुभ, (विउव्विएहिं) इन्हीं में से सुधार कर या बिगाड़ कर कृत्रिम या अकृत्रिम तरीकों से बने हुए (पहरणसतेहिं) सैकड़ों शस्त्रों से, (अभिहणंता) सीधा प्रहार करते हुए, (अणुबद्धतिव्ववेरा) निरन्तर तीव्र वैरभाव धारण किए हुए वे नारकीय जीव, (परोप्पर-वेयणं) पूर्व वैर भाव स्मरण कर करके परस्पर पीड़ा को, (उदीरेंति) उकसाते हैं, (य) और (तत्थ) वहां (मोग्गरपहारचुण्णिय-मुसंढिसंभग्ग-महितदेहा) मुद्गरों के प्रहार से उनके शरीर चूरचूर कर दिये जाते हैं, मुसुण्ढियों से शरीर जर्जर करके दही की तरह मथ दिया जाता है, (जंतोवपीलणफुरंतकप्पिया) कोल्हू वगैरह यंत्रों से पैरने के कारण फड़फड़ाते हुए उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं, (केइत्थ) कई नारकियों को यहां, (सचम्मका विगत्ता) चमड़ीसहित विकृत कर दिया जाता है अथवा चमड़ी खींचकर उधेड़ ली जाती है, (णिम्मूलुल्लूण कण्णोट्ठनासिका) कान, ओठ और नाक जड़मूल से काट दिये जाते हैं, (छिण्णहत्थपादा) हाथ-पैर काट लिये जाते हैं, (असिकरकयतिक्खकोंतपरसुप्पहारफालियवासीसंतच्छियंगमंगा) उनके अंग-अंग तलवार, करौत, तीखे भालों, कुल्हाड़ी के प्रहार से फाड़ दिये जाते हैं और वसूले से छील दिये जाते हैं, (कलकलमाणखारपरिसित्तगाढ़डज्झंतगत्त-कुंतग्गभिण्ण-जज्जरिय-सव्वदेहा) उनके शरीर पर कलकल करता हुआ गर्मागर्म खार सींचा जाता है, जिससे शरीर जल जाता है, फिर भालों की नोंक से उसके टुकड़े-टुकड़े किये जाते हैं, इस प्रकार उनका सारे शरीर का कचूमर निकाल दिया जाता है, (विमूणियंगमंगा) उनका

(अत्ताणा) रक्षाहीन, (असरणा) शरणहीन, (अणाहा) अनाथ, (अबांधवा) बान्धवों से रहित, (बंधुविप्पहीणा) स्वजनों से रहित (भउव्विग्गा) भय से घबराये हुए, (मिगा इव) हिरणों की तरह, (वेगेण) जोर से (विपलायंति) भागने लगते हैं। तब (णिरणुकंपा) निर्दयी (हसंता) हंसते हुए (केइ) कई (जम काइया) यमपुरुष (बला) जबर्दस्ती उन्हें (घेत्तूण) पकड़ कर (पलायमाणाणं) भागते हुए नारकियों के (मुहं) मुंह को, (लोहडंडेहिं) लोहे के डंडों से, (विहाडेत्तु) खोलकर (फलफलं) उबलते हुए सीसे को (वयणंसि) उनके मुंह में (छुभंति) उंड़ेल देते हैं। (तेण) उससे (दड्ढा संतो) जले हुए वे (रसंति) चिल्लाते हैं (य) और (पारेवयगा व) कबूतरों की तरह (भीमाइं) भयंकर, (विस्सराइं) बुरे स्वर से (कलुणगाइं) दीनता-पूर्वक (रुवंति) रोते हैं, (एवं) इस प्रकार, (पलवितविलायकलुणाकंदियबहुरुन्नरुदियसद्दो) प्रलाप, विलाप (आर्त्तनाद) दीनतापूर्वक गला फाड़ कर रोने, बहुत देर तक अरण्यरोदन एवं सिसकियां भरकर रोने की आवाज से युक्त, (परिवेवित-वेविय रुद्ध-बद्धय नारकारवसंकुलो) कांपते हुए या जोर-जोर से दुःख प्रकट करते हुए, रोके हुए, और बंधे हुए नारकों द्वारा मचाए हुए शोर से व्याप्त, और जोर-जोर से इस प्रकार चिल्लाते हुए नारकीय जीव को, (रसिय- भणिय-कुविय-उक्कइय-निरयपालतज्जियं) चिल्लाते हुए, स्पष्ट धमकाते हुए, कोप करते हुए, जोर-जोर से शोर मचाते हुए नरकपालों की डांट पड़ती है – (गेण्ह क्कम पहर छिंद भिंद उप्पाडेहुक्खणाहि कत्ताहि विकत्ताहि य भुज्जो (भुंज) हण-विहण विच्छुभोच्छुभ आकड्ढ विकड्ढ) इसे पकड़ो, इस पर पैर रख कर चले जाओ, इसे पीटो, छेदन करो, इसके टुकड़े-टुकड़े कर डालो, उखाड़ डालो, इसकी आंखें वगैरह निकाल लो, कैंची से इसके नाक-कान काट लो, विशेष प्रकार से कतर डालो और फिर (अथवा इसे भून डालो) इसे मारो, जोर से मारो, इधर-उधर फेंक दो, ऊपर उछाल दो, सामने से खींचो, उलटा खींचो, (किं ण जंपसि) अब क्यों नहीं बोलता है ? (पाव) 'अरे पापी ! (दुक्कयाइं कम्माइं सराहि) अपने दुष्कृत-पाप-कर्मों को याद कर', (एवं) इस प्रकार (वयणमहप्पगब्भो) यमपुरुषों के बोलने से फैला हुआ शोर -(पडिसुय सद्दसंकुलो) और उसकी प्रतिध्वनि के गूंजने से व्याप्त (सया) सदा, (नरयगोयराण) नरक निवासियों को (तासओ) त्रास पहुंचाने वाला, (जायणाहिं) यातनाओं-पीड़ाओं से, (जाइज्जताणं) यंत्रणा (पीड़ा) पाते हुए (नेरइयाणं) नारक-जीवों का, (महाणगरडज्झमाणसरिसो) जलते हुए महानगर के शोर के समान, (अणिट्ठो) अनिष्ट-अप्रिय, (निग्घोसो) महाघोष-हल्ला-गुल्ला (तहियं तहिं) वहाँ नरक में (सुच्चए) सुनाई देता है। (ते) वे यातनाएँ, (किं) कौन-कौन-सी हैं ? (असिवण-दब्भवण-जंतपत्थर-सूइतलक्खारवावि-कलकलंतवेयरणि-कलंबवालुया-जलिय-गुहनिरुंभणं) तलवार की धार के समान तीखे पत्तों के वन में, दर्भ-कुश के वन में, घरट्ट आदि पत्थरों पर, ऊपर मुंह की हुई सुइयों के समान भूतल पर, खारे रसों से भरी हुई बावड़ियों में, उबलते हुए सीसे से भरी हुई वैतरणी

नदी में कदंब के फूल के आकार की बनी हुई तीखी रेत पर, जलती हुई गुफाओं में नारकियों को फेंक कर या धकेल कर, (उसिणोसिण-कंटइल्ल-दुग्गमरहजोयणतत्तलोह-मग्ग (पह) गमणवाहणाणि) गर्मागर्म कांटों वाले तथा अत्यन्त वजनदार होने के कारण कठिनाई से चलने वाले रथ में जोत कर, तपे हुए लोहे के रास्ते पर चलाकर एवं बैलों की तरह बहुत वजन लाद कर चलाये जाकर, (इमेहिं) इन आगे कहे जाने वाले, (विविहेहिं) अनेक प्रकार के, (आयुहेहिं) हथियारों से नारकी परस्पर एकदूसरे को पीड़ा देते हैं। (ते) वे हथियार, (किं) कौन-कौन-से हैं ? (मोग्गर-मुसुंढि-करकय-सत्ति-हल-गय-मुसल-चक्क-कोंत-तोमर-सूल-लउड-भिंडिमाल-सद्ध (ब) ल-पट्टिस-चम्मेट्ठ-दुहण-मुट्ठिय-असि-खेडग-खग्ग-चाव-नाराय-कणक-कप्पणि-वासी-परसु-टंक (कंटक)-तिक्ख निम्मला) मुद्गर, मुसुंढि, करौत, त्रिशूल, हल, गदा, मूसल, चक्र, बर्छी, तोमर (तबर), शूली (बल्लम), लाठी, भिंडीमाल (गोफन) भाला, पट्टिस (एक प्रकार का अस्त्र), चमड़े से वेष्टित पत्थर, द्रुघण (तोप या विशेष प्रकार का मुद्गर), हथोड़ा, कटारी, ढाल, तलवार, धनुष, बाण, नली वाला बाण, कैंची, वसूला, कुल्हाडा, बल्लम तथा तीखी नोक या धार वाले चमचमाते हुए शस्त्रों, (य) तथा (एवमादिएहिं) ये और इसी प्रकार के (अण्णेहिं) दूसरे, (असुभेहिं) पाप के निदानभूत अशुभ, (विउव्विएहिं) इन्हीं में से सुधार कर या बिगाड़ कर कृत्रिम या अकृत्रिम तरीकों से बने हुए (पहरणसतेहिं) सैकड़ों शस्त्रों से, (अभिहणंता) सीधा प्रहार करते हुए, (अणुबद्धतिव्ववेरा) निरन्तर तीव्र वैरभाव धारण किए हुए वे नारकीय जीव, (परोप्पर-वेयणं) पूर्व वैर भाव स्मरण कर करके परस्पर पीड़ा को, (उदीरेंति) उकसाते हैं, (य) और (तत्थ) वहाँ (मोग्गरपहारचुण्णिय-मुसंढिसंभग्ग-महितदेहा) मुद्गरों के प्रहार से उनके शरीर चूरचूर कर दिये जाते हैं, मुसुण्ढियों से शरीर जर्जर करके दही की तरह मथ दिया जाता है, (जंतोवपीलणफुरंतकप्पिया) कोल्हू वगैरह यंत्रों से पेरने के कारण फड़फड़ाते हुए उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं, (केइत्थ) कई नारकियों को यहाँ, (सचम्मका विगत्ता) चमड़ीसहित विकृत कर दिया जाता है अथवा चमड़ी खींचकर उधेड़ ली जाती है, (णिम्मूलुल्लूण कण्णोट्ठनासिका) कान, ओठ और नाक जड़ मूल से काट दिये जाते हैं, (छिण्णहत्थपादा) हाथ-पैर काट लिये जाते हैं, (असिकरकयतिक्खकोंतपरसुप्पहारफालियवासीसंतच्छियंगमंगा) उनके अंग-अंग तलवार, करौत, तीखे भालों, कुल्हाड़ी के प्रहार से फाड़ दिये जाते हैं और वसूले से छील दिये जाते हैं, (कलकलमाणखारपरिसित्तगाढ़डज्झंतगत्त-कुंतग्गभिण्ण-जज्जरिय-सव्वदेहा) उनके शरीर पर कलकल करता हुआ गर्मागर्म खार सींचा जाता है, जिससे शरीर जल जाता है, फिर भालों की नोंक से उसके टुकड़े-टुकड़े किये जाते हैं, इस प्रकार उनका सारे शरीर का कचूमर निकाल दिया जाता है, (विलुणियंगमंगा) उनका

अंग-अंग सूज जाता है, ऐसी स्थिति में बेचारे नारकीय जीव (महीतले) पृथ्वीतल—जमीन पर, (विलोलंति) लोटते फिरते हैं।

(य) और (तत्य) वहाँ (णिच्चकालं) हर समय (अणसिएहिं) बिना खाए हुए—भूखे ही रहने वाले, (घोरा) भयंकर, (रसमाणभीमरूवे) आवाजें करते हुए, डरावने रूप वाले वे, (विग-सुणग-सियाल-काक-मज्जार-सरभ-दीविय-वियग्घ-सद्दूल-सीह-दप्पिय खुहाभिभूतेहिं) अत्यन्त भूख से सताए हुए मतवाले भेड़िये, शिकारी कुत्ते, सियार, कौए, बिलाव, अष्टापद, चीते, बाघ, केसरी सिंह और सिंह, (अक्कमित्ता) उन पर हमला करके (दढदाढा-गाढडक्क-कड्ढियसुतिक्खणह-फालियउद्धदेहा) अपनी मजबूत दाढ़ों से नारकों के शरीर के ऊपरी हिस्से को जोर से काटते हैं, फिर उन्हें खींचते हैं तथा अत्यन्त तीखे नखों से उसे फाड़ देते हैं, फिर उन्हें (समंतओ) चारों ओर, (विच्छिपंते) फेंक देते हैं, (विमुक्कसंधिबंधणा) जिससे उनके शरीर के जोड़ और बंधन ढीले हो जाते हैं, (वियंगमंगा) अंग-अंग विकृत या पृथक् कर दिये जाते हैं (य) और (पुणो) फिर (खरथिरदढणक्खलोहतुंडेहिं) तीखी और मजबूत डाढ़, नख और लोहे के समान नुकीली चोंच वाले, (कंक-कुरर-गिद्ध-घोरकट्ठ-वायसगणेहिं) कंक, कुरर (क्रौंच), गिद्ध, अत्यन्त कष्ट देने वाले जंगली कौओं के झुंड के झुंड, (ओवतित्ता) उन पर टूट पड़ते हैं (पक्खाहयतिक्खणक्खविकिन्नजिब्भंछियनयणनिद्द (ढ) ओलुग्गविगतवयणा) वे उन नारकों को अपने पंखों से ताड़ित करते हैं, तीखे नखों से जीभ खींच लेते हैं, उनकी आँखें निकाल लेते हैं तथा निर्दयतापूर्वक उन्हें अस्वस्थ करके उनका चेहरा बिगाड़ देते हैं, जिसके कारण वे (उक्कोसंता) जोर-जोर से रोते-चिल्लाते हैं, कोसते हैं, (उप्पयंता) उछलते हैं, (निपतंता) नीचे गिरते हैं, (य) और (भमंता) इधर से उधर घूमते हैं।

मूलार्थ—पूर्वजन्मों में उपार्जित कर्मों के संचय से संतप्त महाग्नि के समान नरक की प्रचंड आग में अत्यन्त जलते हुए वे पापकर्मकरने वाले नरक के जीव उत्कट दुःखरूप, महाभयंकर, कठोर एवं असाता वेदनीयकर्म के उदय से जनित शारीरिक एवं मानसिक दो प्रकार की तीव्र वेदना भोगते है। तथा वे नारकीय जीव बहुत लम्बी पल्योपम एवं सागरोपम काल तक की बांधी हुई अपनी आयु दीनतापूर्वक बिताते है। इस लम्बी अवधि तक वे दक्षिण दिक्पाल देव के आश्रित अम्ब आदि यमकायिक असुरों द्वारा सताए जाते हुए भयभीत होकर आर्तनाद करते है।

वह आर्त्तनाद किस प्रकार का होता है ? ऐसा पूछने पर शास्त्रकार कहते हैं—"हे प्रतापी पुरुष ! हे स्वामिन् ! हे भाई ! ओ पिता ! अय तात ! हे जयशील ! मुझे छोड़ दो, मैं दुर्बल और व्याधियों से पीड़ित हूं, मर रहा हूं।

हाय रे ! अब क्या होगा ? हे कठोर,निर्दय होकर इस प्रकार मुझ पर प्रहार मत करो ! मुझे क्षणभर (मुहूर्त्त मात्र) दम लेने दो, कृपा करो, क्रोध मत करो,. मैं जरा विश्राम ले लूं,मेरी गर्दन में पड़ी हुई फांसी खोल दो, मैं मरा जा रहा हूं, प्यास से अत्यन्त पीड़ित हूँ, मुझे पानी पिला दो।" नारकीय जीवों द्वारा इस प्रकार कहने पर वे यमपुरुष असुरकुमारदेव कहते है—'ले नारक ! यह साफ और ठंडा पानी पीले।' यो कहते हुए वे नरकपाल तपे हुए सीसे को लेकर कलश में से नारकी की अंजलि में उंड़ेलते है। उसे देखकर नारकीय जीवों के अंगोपांग सिहर उठते हैं,उनकी आँखें आंसुओं से भर आती हैं और वे कहते है— 'बस, हमारी प्यास बुझ गई।' इस तरह करुणापूर्ण वचन बोलते हुए वे एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर झांकते हुए अरक्षित, अशरण, अनाथ, अबान्धव और स्वजनरहित होकर हिरणों की तरह भय से घबराए हुए तेजी से भागते हैं। उन भागते हुए नारकियों को कई निर्दय यमपुरुष हँसते हुए जबरन पकड़कर, लोहे के डंडों से उनका मुंह खोलकर कलकल उबलते हुए सीसे को उनके मुंह में उंड़ेल देते है। उससे जले हुए वे नारकीय चिल्लाते हैं,कबूतरों की तरह भयंकर करुणापूर्ण बेसुरा रुदन करते है। इस प्रकार बडबड़ाने, विलाप करने, दीनतापूर्वक गला फाड़कर रोने, अत्यन्त अरण्यरोदन करने, और सिसकियां भर कर रोने की आवाज से युक्त एवं थर्राते हुए या जोर-जोर से दुःख प्रगट करते हुए, रोके हुए और बंधे हुए नारकियों के द्वारा स्पष्ट निकले हुए शब्दों को सुनकर चिल्लाते,स्पष्ट धमकाते,कोप करते और जोर-जोर से शोर मचाते हुए यमपालों की डांट पड़ती है 'पकड़ लो इसे, इस पर पैर रखकर लांघ जाओ, इसे पीटो, छेद डालो, इसके टुकड़े-टुकड़े कर डालो, इसे उखाड़ डालो, इसकी आँखें वगैरह निकाल लो, कैंची से इसके नाक, कान काट डालो, इसे अच्छी तरह नोच डालो भून डालो या इसे फिर मारो, खूब मारो, इधर-उधर फेंक दो, ऊपर उछाल दो, सामने से खींचो, उलटा खींचो; अब क्यों नहीं बोलता है ? अरे पापी ! अपने किये हुए दुष्कर्मों—पाप कर्मों को याद कर।"

इस प्रकार यमपुरुषों द्वारा बोलने से फैला हुआ शोर, और उसकी प्रतिध्वनि के गूंजने से व्याप्त नरकवासियों को सदा त्रास पहुँचाने वाला तथा विविध प्रकार की यातनाओं से पीड़ित होते हुए नारकों का जलते हुए महानगर के घोष के समान अनिष्ट—अप्रिय महाघोष (हल्ला गुल्ला) वहाँ (नरक में) सुनाई देता है। वे यातनाएँ कौन-कौन सी हैं ? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं – तलवार की धार के समान तीखे पत्तों के वन में, कुश के वन में, घरट्ट आदि पत्थरों पर, ऊपर मुख की हुई सूइयों वाले भूतल पर, खारे रसों

से भरी हुई बावड़ियों में, उबलते हुए सीसे से भरी हुई वैतरणी नदी में, कदम्ब के फूल के समान आकार वाली तीक्ष्ण रेत पर और धधकती हुई गुफाओं में नारकियों को फेंक कर या धकेल कर, गर्मा गर्म कंटीले तथा अत्यन्त वजनदार होने के कारण कठिनाई से चलने वाले रथ में जोत कर,तपे हुए लोहे के मार्ग पर चला कर एवं बैलों की तरह दूसरों द्वारा बहुत वजन लादकर चलाये जाकर तथा इन आगे कहे जाने वाले अनेक प्रकार के हथियारों से नारकी परस्पर एक दूसरे को पीड़ा देते हैं।

वे हथियार कौन-कौन से हैं ? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं— 'मुद्गर, मुसुंढि,करौत, त्रिशूल, हल, गदा, मूसल, चक्र, भाला, तोमर (तवर), शूली (वल्लम), लाठी, भिंडीमाल (गोफन), बरछी, पट्टिस नामक एक प्रहरण, चमड़े से लपेटा हुआ एक प्रकार का पाषाण, द्रुघण (तोप या विशेष प्रकार का मुद्गर), हथौड़ा, तलवार या कटार, ढाल, दुधारी तलवार, धनुष, बाण, नली वाला बाण, कैंची, वसूला, कुल्हाड़ा, कांटेदार शस्त्र, तथा तीखी नोक या पैनी धार वाले चमचमाते हुए हथियारों व और भी अनेक प्रकार के सैकड़ों अशुभ आयुधों से, जो कि कृत्रिम या अकृत्रिम तरीकों से विक्रिया के द्वारा बना लिए जाते हे, सीधे प्रहार करते हुए, निरन्तर तीव्र वैरभाव धारण किये हुए वे नारकीय जीव, पूर्व वैर का स्मरण करके परस्पर एक दूसरे को पीड़ा के लिए उकसाते है।

इसी प्रकार वहाँ मुद्गरों के प्रहार से नारकियों के शरीर चूर-चूर कर दिये जाते हैं, मुसुंढि नामक शस्त्र से शरीर जर्जर कर दिया जाता है, दही की तरह उनका शरीर मथ दिया जाता है, कोल्हू वगैरह यंत्रों में पीलने से वे थर्राते हैं तो उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं, यहाँ कई नारकियों को चमड़ी उधेड़ कर विकृत कर दिया जाता है, उनके नाक, कान और ओठ जड़मूल से काट लिये जाते हैं, हाथ पैर काट लिये जाते हैं, उनका प्रत्येक अंग तलवार, करौत, तीखे भालों और कुल्हाड़ों के प्रहार से फाड़ दिया जाता हैं और वसूले से छील दिया जाता है, उनके शरीर पर कलकल करता हुआ गर्मागर्म खार सींचा जाता है, जिससे शरीर जल जाता है, फिर भालों की नोंक से उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं, इस प्रकार उनके सारे शरीर का कचूमर निकाल दिया जाता है, उनका अंग-अंग सूज जाता है। ऐसी स्थिति में वे बेचारे नारकीय जीव जमीन पर लुढक जाते हैं, निढाल होकर भूमि पर गिर जाते हैं।

वहाँ पर हमेशा मानो बिना खाये हुए रहने वाले, भूख से पीड़ित मदोन्मत्त भेड़िये, शिकारी कुत्ते, गीदड़, कौए, बिलाव, अष्टापद, चीते, बाघ

केसरी शेर और सिंह, घोर आवाजें करते हुए भयावना रूप धारण करके उन नारकियों पर टूट पड़ते हैं और अपनी मजबूत दाढ़ों से नारकों के शरीर के ऊपरी हिस्से को जोर से काटते हैं, फिर उसे खींचते हैं, अत्यन्त पैने नुकीले नखों से फाड़ डालते हैं और तब इधर-उधर चारों ओर फेंक देते हैं, जिससे उनके शरीर के जोड़ और बन्धन ढीले हो जाते हैं, उनके अंग-अंग विकृत या पृथक् कर दिये जाते हैं। उसके बाद तीखी मजबूत दाढ़, नख और लोहे के समान नुकीली चोंच वाले कंक, टिटहरी, गिद्ध तथा घोर कष्ट देने वाले कौओं के झुंड उन पर टूट पड़ते हैं और अपने पंखों से उन्हें घायल कर देते हैं, तीखे नखों से उनकी जीभ खींच लेते है और आँखे निकाल लेते है तथा निर्दयतापूर्वक उनके मुंह को नोचते और कुरेदते हैं। इसके कारण वे जोर-जोर से चिल्लाते है, कोसते है, उछलते है, नीचे गिरते हैं और इधर से उधर चक्कर लगाते हैं।

व्याख्या

यह मूलपाठ पूर्व सूत्र के ही आगे का पाठ है। इसमे पूर्ववर्णित हिंसा के महा-भयकर फल का उसी सिलसिले मे निरूपण किया गया है। पूर्वपाठ मे हिंसा करने वालो के नामों का उल्लेख करने के साथ-साथ हिंसा रूप दुष्कर्म के फलस्वरूप नरकागारों और वहां दी जाने वाली भयंकर यातनाओं का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत मूलपाठ में नरको मे नारकियो को दी जाने वाली तीव्र यातनाएँ, उनके कारण नारकियों मे होने वाली प्रतिक्रिया, नरकपालों द्वारा उनकी पुकार के बदले में उनके पूर्व कुकर्मों की याद दिला-दिला कर भयंकर से भयकर पीड़ाएँ देने के विविध तरीकों, पीड़ाएँ देने के लिए विविध शस्त्रों और उनके प्रहारो के विविध ढंग एवं नरक मे वैक्रियजन्य विविध हिंस्र पशुपक्षियों द्वारा नारकियों के शरीर को क्षत-विक्षत करने आदि का स्पष्ट वर्णन शास्त्रकार ने किया है। इन नरकयातनाओं के वर्णन को पढ़ने-सुनने वाले के भी रौंगटे खड़े हो जाते हैं तो फिर जिन्हें इन यातनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है,या इस दुनिया में भी मनुष्य और तिर्यञ्चयोनि पाए हुए जीवों की विविध दुःखद यातनाओं का दर्शन हुआ है या होता रहता है, वे स्वय अनुमान लगा सकते हैं कि नरक के दुःख कितने भयंकर है और किस-किस प्रकार से प्राप्त होते है ? हिंसा करने वाले व्यक्ति यहां चाहे समाज, राष्ट्र या सरकार की नजरो से बच जायें, यहां चाहे वे सरकार की आंखों मे धूल झोंक कर अपने को निर्दोष साबित कर दें अथवा समाज या सरकार पर दबाव डालकर पशुपक्षियों की हत्या का खुल्ला परवाना पा लें, किन्तु अपने दुष्कर्मों की आंखों से बच नही सकते, उनके हिसाब में कोई गड़बड़ नहीं हो सकती, उनका फल भोगना अवश्यम्भावी है। मनुष्य न चाहे तो भी उसके दुष्कर्म

बलात् उसे नरक या तिर्यञ्च योनि में धकेल देते हैं या खीच ले जाते हैं। दुष्कर्म किसी के लिए भी रियायत नहीं करते। चाहे वह राजा हो, सेठ हो, ब्राह्मण हो, अनपढ हो, या पढ़ा लिखा हो, मंत्री हो या अध्यक्ष हो, अगर वह हिंसा जैसा दुष्कर्म करता है तो उसका दुष्परिणाम उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है।

यही कारण है कि विश्वहितैषी ज्ञानी आप्तजनों ने जगत् के जीवों को दुःखों की परम्परा में लिपटे देख कर, उन पर दया लाकर उन दुःखों के कारणों और दुःख के बीज बोने से बचने के हेतु नरकतिर्यञ्चगमनरूप विविध दुष्परिणामों को स्पष्ट रूप में बता दिया है।

प्रस्तुत मूलपाठ मे नारकियों को होने वाली तीव्र वेदना और यमकायिकों द्वारा दी हुई विविध यातनाओ का स्पष्ट निरूपण है। साथ ही नारकियों के मन-वचन-काया द्वारा उस पीड़ा के कारण होने वाली तीव्र प्रतिक्रिया का भी वर्णन किया गया है। अन्त मे, नरक के हिंस्र पशुपक्षियों द्वारा भी यातना पर यातना दिये जाने का स्पष्ट उल्लेख है।

कटुफल का कारण—इतने भयंकर दुष्परिणाम का आखिर कोई न कोई कारण जरूर है। कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'पुव्वकम्मकयसंचयोवतत्ता'—वे नारकी जीव पूर्व जन्मों में उपार्जित दुष्कर्मों के संचय के कारण यहां सदा संतप्त रहते है। इस शब्द से कर्म करने और उसका फल भोगने में जीवों की स्वतंत्रता और उनके पुनर्जन्म का अस्तित्व द्योतित होता है। जो लोग यह कहते हैं कि ईश्वर ही जीवों को कर्म कराता है, और वही उनका फल भुगवाता है, यह बात असंगत लगती है। क्योकि ईश्वर अगर जीवों से कर्म करवाता है या कर्म करने की स्वतन्त्रता देता है तो फिर वह पक्षपाती ठहरेगा, क्योंकि एक को शुभकर्म करने और एक को अशुभ कर्म करने की प्रेरणा क्यों देता है? सबको ईश्वर शुभकर्म करने या कर्म क्षय करने की प्रेरणा क्यों नहीं देता? क्यो एक को चोर बनाता है, एक को साहूकार? यह ईश्वर को कर्ता-धर्ता मानने से बहुत बडा आक्षेप आता है। और फल भुगवाते समय भी वह सबको स्वर्ग या मोक्ष मे क्यों नही भेज देता? वह तो दयालु है। इसीलिए वैदिक धर्म के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ भगवद्गीता में स्पष्ट कहा है—

'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

अर्थात्—'ईश्वर लोक (जगत् के जीवो) का कर्तृत्व नहीं करता, न कर्मों की प्रेरणा ही करता है, और न ही कर्मों के फल का संयोग कराता है। यह संसार तो जीवो की अपनी-अपनी (कर्म) प्रकृति के अनुसार प्रवृत्त होता है।'

जहाँ ईश्वर या खुदा को कर्मफल भुगवाने वाला माना जाता है, वहाँ मनुष्य बेखटके दुष्कर्म करता रहता है, उसे चिन्ता नही होती कि मुझे इसका कुफल मिलेगा या दण्ड मिलेगा। वह इसी भ्रम मे रहता है कि फल भोगने के समय ईश्वर से मिन्नतें कर लूंगा, उसकी खुशामद करके, उसकी स्तुति या प्रार्थना करके उसके सामने अपराधों या पापों को स्वीकार करके उसे मना लूगा और उस कुफल से बच जाऊगा। ईश्वर को इस तरह अगर खुश कर लिया जाता तो संसार मे किसी को सदाचार या अहिंसा आदि के पालन की जरूरत ही नहीं रहती। परन्तु ईश्वर इस तरह कदापि प्रसन्न नही होता। वह रागी, मोही या द्वेषी नही है, वह तो वीतराग है और संसार से अलिप्त है। इसलिए हिंसारूप पाप कर्म अगर कोई करेगा तो उसके दुष्परिणाम भोगने के समय उसे संतप्त और पीडित होना ही पडेगा, उस समय कोई मिन्नत, प्रार्थना या स्तुति काम नही आएगी।

कई लोगों का यह कहना है कि इससे आगे पुनर्जन्म है ही नही। यह शरीर यही समाप्त हो जाता है। मनुष्य के कर्मों का फैसला कयामत के दिन ईश्वर करता है, उस दिन सब आत्माएं (रूहें) ईश्वर के निर्णय को स्वीकार करके, उन्हें प्रसन्न करके अपराध से बरी हो जायेंगी। परन्तु यह भी भयंकर भ्रान्ति है। आजकल के पुनर्जन्म-विज्ञानवेत्ताओं द्वारा प्रमाणित प्रत्यक्ष घटनाओं से पुनर्जन्म सिद्ध है। जिस धर्म या मजहब वाले लोग पुनर्जन्म को नही मानते थे, उन्हे भी इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के कारण इसे मानना पड़ता है। अनुमान प्रमाण से भी पुनर्जन्म सिद्ध होता है। क्योंकि यदि पुनर्जन्म (इस जीवन के आगे कोई और जन्म) न होता तो फिर धर्म पालन करने की, शुभ कर्म करने की या कर्मक्षय के लिए साधना करने की जरूरत ही क्या रहती? हिंसा आदि दुष्कर्म करने वाले और अहिंसा आदि सद्धर्म का आचरण करने वाले दोनों एक समान होते, दोनों को समान ही फल मिलता। परन्तु ऐसा होना असंभव है। अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य या देवगति मे जाता है, वह पुनर्जन्म होने के कारण ही। अन्यथा, कई लोग, जो यहाँ शुभ कर्म करते है या धर्माचरण करते हैं, फिर भी दुःखी, निर्धन या पीड़ित रहते हैं, उन्हें उस शुभाचरण या धर्माचरण का सुफल तत्काल या इस जन्म मे नही मिलता है तो आगे के जन्म में तो मिलेगा ही। इसी आशा से वे ऐसा करते हैं। इसलिए पुनर्जन्म स्वतः ही सिद्ध है।

हाँ, यह बात जरूर है, एक जिंदगी के सारे शुभाशुभ कर्मों का जत्था इकट्ठा होने पर जिस प्रकार के कर्मों की संख्या अधिक होती है या प्रबलता होती है, उसी के अनुसार भविष्य में उसकी गति और आयु का बन्ध होता है।

इसीलिए प्राणी को पूर्व कर्म के संचय से संतप्त कहा है। यानी पूर्वजन्मों के कर्मों की टोटल मिलने पर जिन कर्मों की संख्या अधिक होती है उसके अनुसार ही

प्राणी को गति,आयु, योनि आदि प्राप्त होती है। यहाँ नारकियो को जो नरकभूमि मिलती हैं और नरक में इतना भयंकर दुःख मिलता है, वह सब पूर्व जन्मकृत अशुभ कर्मों के जत्थे के कारण ही है।

कई कर्म ऐसे होते है, जिनका फल तुरन्त या इसी जन्म में ही मिल जाता है। कई कर्म ऐसे होते हैं जिनका फल दूसरे जन्म में या अनेक जन्म के बाद मिलता है। गति कर्म और आयु कर्म का फल सदा अगले जन्म में मिला करता है। जैसी गति या योनि मिलती है, उसी के अनुसार उसे शुभ या अशुभ फल भी मिलता है।

साराश यह है कि जीव स्वयं ही अपने मन-वचन-काया की प्रवृत्ति के कारण कर्मबन्ध करता है और अन्तिम समय में कर्मों के जत्थे के अनुसार उसे गति व योनि मिलती है, और तदनुसार ही उसे सुफल या दुष्फल भोगना पड़ता है।

कर्मबन्ध के प्रकार—प्रसगवश हम यहाँ कर्मबन्ध के प्रकारों का भी संक्षेप में परिचय दे देते है। कर्मबन्ध के ४ प्रकार हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग (रस) बन्ध और प्रदेशबन्ध। प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। जैसे नीम की प्रकृति कड़वी और ईख की प्रकृति मीठी है,वैसे ही कर्मो की प्रकृति जीव के ज्ञान आदि शक्तियों को रोकने की है। प्रकृतिबन्ध मन-वचन-काया की प्रवृत्ति (व्यापार) से होता है। प्रकृतिबन्ध मूलतः आठ प्रकार का है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय। उत्तर प्रकृतियाँ १४८ है।

कर्म करते समय संसारी जीवो के समय-समय में अनन्त कर्मपरमाणुओं का बन्ध होना प्रदेशबन्ध कहलाता है। यह भी मन-वचन-काया की प्रवृत्ति (व्यापार) से होता है। कहा भी है—

'जोगा पयडिपदेसा ठिइ-अणुभागा कषायदो होंति।'

यानी योग (मन-वचन-काया के व्यापार) से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होता है तथा कषाय (क्रोधादि) से स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है।

क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायो से बंधे हुए कर्मों में स्थिति (अमुक समय तक कर्मों की आत्मा के साथ टिके रहने की अवधि) का बन्ध होना, स्थितिबन्ध कहलाता है। जैसे जहाँ चिकनाई हो, वहाँ धूल ज्यादा देर तक चिपकी रहती है, जहाँ चिकनाई न हो वहाँ धूल तुरन्त खिर जाती है या उड़ जाती है, वैसे ही आत्मा पर कषायों की चिकनाई जितनी न्यूनाधिक होगी, उतनी अवधि तक आत्मा के साथ कर्मरज लगी रहती है। कषाय तीव्र होता है तो दीर्घकाल की स्थिति, मंद होता है तो थोड़े काल की और मध्यम होता है तो मध्यम स्थिति का बन्ध होता है।

कर्मों में शुभाशुभफल देने की तीव्रता-मंदता रूप शक्ति का बधना अनुभागबन्ध है। अनुभागबन्ध भी कषायों के अनुसार ही होता है। तीव्र कषाय होगा तो तीव्र अनुभागबन्ध होगा, मध्यम होगा तो मध्यम और मन्दकषाय होगा तो मंद अनुभागबन्ध होगा।

इन चारों प्रकार के कर्मबन्धों के जत्थे के अनुसार किसी भी जीव को शुभा-शुभ गति, योनि और तदनुकूल ही सुखदु:खादि रूप फल प्राप्त होते है।

नारकीय जीवों को भी इन चारों प्रकार के कर्मबन्धों के जत्थे के फलस्वरूप अशुभ भयंकर नरकगति, नरकयोनि और नरकायु मिलती है तथा तदनुकूल ही अपार दु:ख, शारीरिक-मानसिक तीव्र वेदना, भयंकर से भयंकर यातनाएँ मिलती है। जिसका विशद वर्णन शास्त्रकार ने मूलपाठ में स्वयं किया है।

नारकों की लम्बी स्थिति—इस मनुष्य लोक में भी देखा जाता है कि जो जितना बड़ा अपराध करता है, उसे उतनी ही लम्बी जेल की सजा और वह भी सख्त सजा दी जाती है। इसी प्रकार जो जितना बड़ा अपराध या महापाप करता है, उसे उतनी ही लम्बी अवधि की सजा नरक के रूप मे मिलती है। इसीलिए पूर्वोक्त सातों नरकों की स्थिति भी क्रमशः अधिकाधिक होती गई है। नीचे सात नरकों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति की तालिका दी जा रही है—

जघन्यस्थिति १० हजार वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति	
प्रथम नरकभूमि रत्नप्रभा	१	सागरोपम
दूसरी नरकभूमि शर्कराप्रभा	३	"
तीसरी नरकभूमि वालुकाप्रभा	७	"
चौथी नरकभूमि पंकप्रभा	१०	"
पांचवीं नरकभूमि धूमप्रभा	१७	"
छठी नरकभूमि तमः प्रभा	२२	"
सातवीं नरकभूमि तमस्तमः प्रभा	३३	"

असंख्यात वर्षों का एक पल्योपम काल होता है और दश क्रोड़ा-क्रोड़ पल्योपम का एक सागरोपम काल होता है। इतने लम्बे समय तक नारकी जीवों को नरक में लाजमी रहना होता है, और सतत छेदन—भेदन आदि के महान् दु:खों को सहना पड़ता है। इतनी लम्बी नरक की सजा के दौरान नारकी जीव वहाँ से कहीं भाग कर छूट नही सकता, और न आत्महत्या ही कर सकता है। क्योंकि नरक के जीवों का आयुष्य वीच मे किसी भी कारण से टूटता नही है। आयुष्य का बंध पूर्व जन्म से जितनी अवधि तक का होता है, उससे एक क्षण भी कम नही हो सकता, उतनी अवधि तक भोगना अनिवार्य होता है।

इसीलिए शास्त्रकार ने बताया है—'**बहूणि पलिओवम सागरोवमाणि कलुणं पालेंति ते अहाउयं।**' अर्थात् वे नारकी जीव बहुत पल्योपम और सागरोपमों तक की आयु दीनतापूर्वक रिब रिब कर बिताते हैं।'

नरकपालों द्वारा नारकों को दी जाने वाली यातनाएँ—मनुष्य लोक में जब कोई चोरी या हत्या जैसा भयंकर अपराध करता है तो पुलिस वाले उसे पकड़कर थाने

में ले जाते हैं और उससे अपना अपराध स्वीकार करवाने के लिए निर्दयता से मारते, पीटते और सताते हैं। इसी प्रकार जेलखाने में कैदियों को भी भयंकर यातनाएँ दी जाती हैं। वैसे ही नरक में कुछ असुरकुमार जाति के देव है, जो इन नारकों को अपने पूर्वकृत अपराधो की याद दिला दिलाकर भयंकर से भयकर यातना देते हैं। वे बड़ी बेरहमी से उन्हें विविध शस्त्रों से मारते, पीटते है, उनके अंगोपांगों को काट डालते हैं, शरीर के टुकड़े-टुकडे कर देते हैं, उन्हें पैरों से कुचलते हैं, मार-मार उनकी चमड़ी उधेड़ देते हैं, शरीर सूजा डालते हैं, क्रूर पशु पक्षियों के आगे उन्हें डाल देते हैं, वे उन्हे मुर्दा समझ कर उन पर बुरी तरह टूट पड़ते हैं, उन्हें नोचते है, शरीर की बोटी-बोटी काट खाते है। इन सब दु:खो से घबराकर जब वे आर्तनाद करते हैं, दीन-भाव से हाथ जोड़कर उन परमाधर्मी असुरों से छोड़ देने की प्रार्थना करते हैं, उनके आगे पुकार करते हैं, प्यास बुझाने के लिए पानी मांगते हैं तो वे पहले तो उन्हें डांटते, धमकाते है और उन पर क्रोध बरसाते हैं। फिर उनकी अंजलि में गर्मा-गर्म खौलता हुआ सीसा उंडेल देते है। वे बेचारे इसे पीते नही, अपितु हाय हाय करके थर्राते हुए,डरते हुए, हिरणो की तरह इधर-उधर भागने लगते हैं। परन्तु ये परमाधामी फिर भी पकड़कर उनके मुंह को लोहे के डडे से खोलकर खौलता हुआ सीसा उनके मुंह में डाल देते हैं। उन्हें अपने किये कर्मों की याद दिला दिलाकर भयंकर से भयकर अमानुषिक यातना देते है।

यह वर्णन इतना स्पष्ट है कि इसे ज्यादा समझाने की जरूरत नही।

ये यमकायिक नरकपाल देव, जिन्हें वर्तमान भाषा में यमदूत भी कहा जा सकता है, बड़े ही अधामिक वृत्ति के क्रूरातिक्रूर परिणाम वाले रौद्रध्यानी होते हैं। इन्हे नारकों को यातना पाते देखने में और उन्हें यातना देने मे बड़ा आनन्द आता है। ये यम नामक दक्षिण दिशा के रक्षक देव के सेवक होते है; अम्ब, अम्बरीष आदि नाम के असुरकुमार जाति के ये देव होते है। इन्हें परमाधामी या परमाधार्मिक भी कहते है। ये अपने इन अशुभ परिणामों के कारण मर कर अशुभगति मे जाते हैं।

ये तीसरी नरकभूमि तक जाते है और वहाँ के नारकियों को दुःख पहुंचाने के लिए कमर कसे रहते हैं। ये स्वयं वैक्रियलब्धि से नाना रूप बनाकर या भयावने पशु आदि के रूप धारण करके अथवा नाना प्रकार के शस्त्र-अस्त्र बनाकर नारकियों को निरन्तर बेरहमी से सताते रहते है। तथा नारकियों को भी पूर्व जन्मो के वैर की याद दिला-दिलाकर परस्पर लड़ाते-भिड़ाते रहते हैं। इसीलिए मूलपाठ मे बताया गया है— "सराहि पाव कम्माइं दुक्कयाइं" अर्थात्—"अरे पापी, अपने किये हुए बुरे पाप कर्मों का स्मरण कर।" क्या असुरदेवो द्वारा इस प्रकार याद दिलाने से वे अपने पूर्वकृत दुष्कृत्यों का स्मरण कर लेते हैं? इसके उत्तर मे यही कहना है कि देवो और नारकों को जन्म लेते ही भव प्रत्यय अवधिज्ञान हो जाता है। अवधिज्ञान से इन्द्रियो की सहायता

के विना अमुक अवधि (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की) तक की वात जानी व देखी जा सकती है। यद्यपि वह अवधि ज्ञान मिथ्या दृष्टि नारकों को विभंग ज्ञानरूप होता है और बहुत ही थोड़े क्षेत्र का होता है। पहली नरकभूमिके नारक ४ कोस तक का क्षेत्र अवधि ज्ञान द्वारा जान या देख सकते है, दूसरी नरकभूमि के साढ़े तीन कोस तक, तीसरी के ३ कोस तक, चौथी नरकभूमि के २॥ कोस तक, पांचवी के दो कोस क्षेत्र तक, छठी के १॥ कोस क्षेत्र तक और सातवीं नरक पृथ्वी के नारक १ कोस क्षेत्र तक की बात को जान-देख सकते हैं। यही कारण है कि उन्हें पूर्व जन्म के पाप कर्मों की स्मृति हो जाती है। पूर्व जन्म के शुभ कार्यों का उन्हे स्मरण नही होता; सिर्फ अशुभ-कार्यों या वातों का ही स्मरण उन्हे होता है। इसीलिए 'सराहि' (स्मरण कर) पद कहा।

नारक स्वय अपने कृतकर्मों का दुष्फल स्वयं नही भोगना चाहता। हर साधारण व्यक्ति दुष्कृत्य के फल से बचने का प्रयत्न करता है। वह चाहता है, मुझे अपने कुकर्मों का फल न मिले। इसलिए वे परमाधामी यमकायिक देव नारकियो को भयंकर से भयंकर सजा देते है और उन्हें उकसा-उकसाकर लड़ाते हैं, नाना प्रकार की यातना देने में वे कोई कोरकसर नहीं छोड़ते।

नारकों द्वारा परस्पर दी जाने वाली यातनाएँ—तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—**'परस्परोदीरितदुःखाः'** नारकीय जीव पुराने वैर, झगड़े, दुर्व्यवहार आदि का जन्म से प्राप्त विकृत अवधिज्ञान (विभंगज्ञान) के प्रभाव से स्मरण करते हैं और एक दूसरे को मारने-पीटने लगते है। वे पूर्वजन्म का वैर स्मरण करके उसे शान्त करने की अपेक्षा तीव्र क्रोधावेश में आकर वैर वसूल करते हैं। एक नारकी शस्त्र बन जाता है, दूसरा उसे उठाकर मारता है। विक्रिया लब्धि के प्रभाव से कोई कड़ाही बन जाता है, कोई अग्नि और कोई तेल बन जाता है और उस गर्मा-गर्म तेल मे कोई किसी को उठाकर फैंक देता है। इस प्रकार नारकियों को प्राप्त अवधि ज्ञान और विक्रियालब्धि उन्ही के मरने-मारने के काम आती है। यानी इन दोनों से वे एक दूसरे को निरंतर कष्ट देने में लगे ही रहते है। ये दोनों लब्धियाँ नारकों के लिए वरदान के बजाय अभिशाप रूप बनती है। क्योंकि नरक में शरीर आदि जितनी भी वस्तुएँ मिलती हैं, वे सबकी सब असाता की ही निमित्त होती हैं, उत्तम निमित्तों को पाकर भी वे अपने लिए दु ख का बीज बोते है, एक दूसरे के लिए दुःख को उभाड़ते है। पुरानी तुच्छ बातों को याद करके कुरेदते रहते हैं और एक दूसरे को भड़काकर परस्पर गुत्थमगुत्था हो जाते है। इस प्रकार नारक लोग दु:ख की परम्परा बढ़ाकर, तीव्र क्रोध के वशीभूत होकर, असहिष्णु बनकर निरन्तर दुःख ही दु:ख में सारी जिंदगी बिताते हैं। यही बात शास्त्रकार ने सूचित की है—

'अणुबद्धतिव्ववेरा परोप्परं वेयणं उदीरेंति अभिहणंता।'

विक्रिया द्वारा शस्त्रादि निर्माण क्यों और कैसे ?—नरक में जितने साधन मिलते हैं, वे अपने दुःख के बढ़ाने वाले होते हैं। वैक्रिय लब्धि नारकों को मिल है, देवों को भी। परन्तु नारकों को वह मिलती है, उनके लिए अभिशाप के रूप ही। क्योंकि वे उसके प्रभाव से शस्त्रादि बनाकर परस्पर लड़ते हैं और दुःख पाते हैं।

विक्रिया दो प्रकार की होती है—पृथक् विक्रिया और अपृथक् विक्रिया पृथक् विक्रिया देवों को प्राप्त होती है, जिसके प्रभाव से देव एक साथ अनेक शरी बना सकते हैं। नारकों को अपृथक् विक्रिया प्राप्त होती है, जिसके प्रभाव से वे अ शरीर से एक समय में एक ही विक्रिया कर सकते हैं और वह भी अशुभरूप विक्रि ही। विक्रियारूप शरीर मूल शरीर से दुगुनी अवगाहना वाला बना सकते हैं। अय अपने शरीर को हिंसक प्राणी के रूप में या शस्त्र के रूप मे बदल सकते हैं। य बात 'असुभेहिं वेउव्विएहिं' (अशुभ विक्रियाओं द्वारा) पदों से सूचित होती है। यद्य नारकी जीव शुभ विक्रिया करना चाहते हैं, लेकिन होती है—अशुभ विक्रिया ही यह उस नरकभूमि का प्रभाव है।

अम्ब, अम्बरीप आदि असुरकुमार जाति के नरकपाल देव अपने शरीर एक समय मे अनेक आकार वाले शरीर या शस्त्रादि बना सकते हैं, लेकिन वे तीस नरकभूमि के आगे नही जा सकते। जबकि नीचे की नरकभूमियों में उत्तरोत्त अधिकाधिक दुःख होता है। सवाल होता है कि वहाँ पर तो ये नरकपाल देव हो नही, फिर कौन दुःख या यातनाएँ उन्हें देता है ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार ने नर मे जो शस्त्रास्त्रों के नाम गिनाए हैं या पशु पक्षियों के नामो का उल्लेख किया है, सब वहाँ होते नही, परन्तु ये सब नारकों की विक्रिया के रूप हैं। वैक्रिय लब्धि द्वा नारकी इन्हे स्वयं बनाते हैं और परस्पर एक दूसरे को दुःखी करते हैं; नारक दूसरे नारकों को वहाँ (चौथी नरकभूमि से ७ वी तक) यातनाएँ देते हैं। कोई नार करौतरूप बन जाता है, कोई तलवार रूप; कोई नारकी गिद्ध बन जाता है तो को कौआ। इस प्रकार एक दूसरे को पीड़ा देने मे तत्पर रहते है।

वैक्रियलब्धि होने के कारण उन नारकियों के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दि जाने पर भी, कोल्हू में पीलकर उनके तमाम अंग चूर-चूर कर दिये जाने पर भी रेत के समान भुरभुरे कर देने पर भी, वे पुनः ज्यों के त्यों पारे के समान जुड जाते हैं वैसे के वैसे मिल जाते हैं। उनकी अकाल मृत्यु नही होती। इसलिए शरीर के कित ही टुकड़े कर दिये जाँय, अंग तोड़मरोड़ दिये जांय या चमड़ी उधेड़ दी जाय, अथव लहुलुहान कर दिया जाय, या काटा पीटा या छेदा जाए, या छुरी आदि उनके पेट में झोंक दी जाय, फिर भी जब तक का उनका आयुष्य बंधा है, तब तक वे मरते नहीं इसीलिए तो वहाँ बार-बार यातनाएँ प्राप्त होती रहती हैं। एक बार शरीर के टुकड़े करते ही, या छुरा भोंकते ही जैसे यहाँ मनुष्य के प्राणपखेरू उड़ जाते हैं, वैसे नारक

जीवों का प्राणान्त नही होता । इसलिए एक ही बार मरणान्त कष्ट पाकर भी उनके प्राणों का अन्त नही होता ; इसलिए बारबार वे अपनी जिन्दगी मे ऐसे मरणान्तक कष्ट पाते रहते हैं ।

क्षेत्रकृत दुःख—नारकों को नरक में नरकपालों के निमित्त से, परस्पर नारकों के निमित्त से,तो भयंकर शारीरिक एवं मानसिक दु:ख होता ही है, परन्तु क्षेत्रकृत दु ख भी कम नही है । ऐसा तो होता नही कि नरकायु का बंध होने पर उसे नरक का क्षेत्र न मिले । वह तो अवश्यम्भावी है । जीवों की हिंसा करने वाले प्राणी को रौद्र-ध्यान के कारण नरकायु का बध होता है । जिसके कारण उसे नरक का महादुःखद क्षेत्र मिलता है । उस क्षेत्र से निकल कर वह बाहर कही नही जा सकता । अपनी जिन्दगी की लम्बी अवधि विताने के बाद ही नारकी उस क्षेत्र से छुटकारा पा सकता है ।

नरक के क्षेत्र की भयंकरता का इस सूत्रपाठ से पहले के सूत्रपाठ मे स्पष्ट वर्णन किया जा चुका है । फिर भी उस क्षेत्र की दु.खदता को वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की दृष्टि से तथा दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, स्वाद्य, और नस्य की दृष्टि से टटोलें तो हमें स्पष्ट आभास हो जायगा । नरक की भूमि का रूप बडा ही भौंडा, भद्दा और विकृत है । वहाँ कोई सुन्दरता, रमणीयता या मनोहारिता नहीं है । कोई बाग बगीचे वहाँ नहीं, कोई व्यवस्थित मकान नही, न कोई वहाँ प्रकाश है या सुन्दर रंग बिरंगी चीजे ही हैं, जिन्हें देखकर आंखो को शान्ति या सुख मिले । नरकभूमि का दृश्य अत्यन्त भद्दा है । यहाँ ऊवड़खावड, भयंकर भूमि है । कोई दरवाजे नही, सर्वत्र अंधेरा ही अंधेरा है, काला ही काला । अपने महापाप को द्योतित करने वाला यह रंग है । यहाँ के रस का तो पूछना ही क्या ? हालाहल विप से भी अधिक बुरा रस यहाँ होता है । कोई भी स्वादिप्ट मीठी या चरपरी वस्तु यहाँ नही होती,जिसे चख कर जीभ को तृप्त किया जा सके । स्वाद्य वस्तु तो यहाँ कोई है ही नहीं । सभी वस्तुएँ नीरस और अत्यन्त खराव होती हैं । शब्द तो नारकभूमि में सदा कर्णकटु ही सुनने को मिलते हैं । नारकों की चीखों, पुकारों से तथा चिल्लाहट,रोने, हाहाकार मचाने,गला फाड़कर रोने के शोर से और इसकी प्रतिध्वनि एवं नरकपालों के भयंकर कर्कश शब्द से नरक हर समय भरा रहता है । नरक मे कोमल, मधुर, प्रिय, मनोहर, आदरजनक, संगीतमय शब्दों का काम ही क्या ?

यहाँ की भूमि का स्पर्श हजारों-हजार विच्छुओं के एक साथ डंक मारने पर जितना दुःखद होता है, उससे भी अधिक दु.खप्रद है । असिपत्र, वैतरणी नदी, रेत आदि का स्पर्श तीक्ष्ण,गर्म और अत्यन्त खुरदरा है । कोमल और गुदगुदा स्पर्श तो यहाँ किसी भी चीज का नही है । दीवारें हैं तो विलकुल कठोर वज्रमयी, नीचे का भूमितल

है तो वह भी अत्यन्त खुरदरा और ऊबड़खाबड़ है। किसी भी वस्तु के स्पर्श से यहाँ सुखानुभव नहीं होता।

और यहाँ के गंध का तो कहना ही क्या ? यहाँ इतनी दुर्गन्ध, सड़ान और बदबूदार रास्ते हैं कि मारे बदबू के नाक फट जाय। सातवी नरकभूमि की मिट्टी का एक कण भी यदि इस मध्य लोक में आ जाय तो उसकी दुर्गन्ध से (बदबूदार तेज गैस से) २४½ कोस (४६ मील) तक के जीव मर जायेंगे। पहले नरक के प्रथम पटल की मिट्टी की गन्ध में आधाकोस (१ मील) दूर तक की मारक शक्ति है, दूसरे पटल (पाथड़े) की मिट्टी में १ कोस (२ मील)—इस प्रकार आगे के एक-एक पटल की गंध में उत्तरोत्तर एक-एक मील (यानी आध-आध कोस) अधिक दूरी तक मारने की शक्ति है। सातवी नरकभूमि का पटल ४६ वाँ होने से उसकी मिट्टी की गंध में ४६ मील (२४॥ कोस) दूर तक मनुष्यतिर्यंचों को मारने की शक्ति है। सुगन्ध का तो वहाँ नामोनिशान ही नही है, तब वहाँ की गन्ध से सुखानुभव कैसे हो सकता है।

इन चारों की कसौटी पर नरकभूमियों को कस लेने के बाद नरकभूमियों के बारे में निर्विवाद कहा जा सकता है, कि वहाँ नारको को क्षेत्रकृत दु:ख भी अपार हैं।

तीनों प्रकार के दुःखों की नारकों पर प्रतिक्रिया—पूर्वोक्त स्वजातिकृत, नरकपालकृत और क्षेत्रगत—इन तीनों प्रकार के दुःखो की बहुत ही तीव्र प्रतिक्रिया नारकों पर होती है। वे पीड़ा के मारे कराहते हैं, चीखते हैं, चिल्लाते हैं, शोर मचाते है, रोते हैं, बहुत प्रकार से आरजू मिन्नतें करते है, करुणापूर्ण स्वर मे पुकार करते हैं, दया की भीख मागते है। इतने पर भी जब कोई नहीं सुनता और उन्हें आश्वासन नही देता तो वे भय के मारे घबरा कर इधर उधर भागने और नरकपालों के चंगुल से छूटने का प्रयत्न करते हैं, मगर वे नरकपाल तो उन्हें जबरन पकड़ कर उनके मुंह में गर्मागर्म सीसा उंडेल देते है ; उनके द्वारा विभिन्न प्रकार से सताये जाने पर या मारे पीटे जाने या अंग भंग किये जाने पर वे फिर दीन-हीन होकर कातरभाव से चारों दिशाओं में झांकते है, मानो कोई उन्हे बचा ले, उनके चंगुल से छुड़ा दे। पर वे अशरण, अबांधव, अनाथ नारक अधिकाधिक त्रस्त और पीड़ित किये जाते हैं ; विवश पराधीन होकर वे नरकपालो के कहे अनुसार विविध यातनाएँ मन मसोस कर चुपचाप सहते जाते हैं, कभी-कभी करुण आर्त्तनाद व विलाप करते हैं। इस प्रकार सारी लम्बी जिन्दगी वे निरन्तर दुःख के मारे रोते-धोते और आर्त्तध्यान करते हुए बिताते हैं। इस सतत आर्त्तध्यान के कारण वे पुराने अशुभ कर्मों को तो क्षय नहीं कर पाते ; नये कर्म और बाध लेते हैं, परस्पर बैर की परम्परा बढा कर वे रौद्रध्यानी भी सदा बने रहते हैं। रातदिन मार काट, दुःख और यातना के बीच रहते-रहते उनका जीवन भी परमाधामियों की तरह क्रूर, कठोर, निर्दय, परस्पर लड़ाकू, वैरग्रस्त और अज्ञानमय बन जाता है। नारक जीव इन विविध यातनाओं और दुःखों के मारे

किंकर्तव्य विमूढ़ होकर जीवन से ऊब कर कभी आक्रन्दन करते हैं,कभी नीचे गिरते है, कभी चक्कर लगाते है, कभी ऊपर को उछलते है। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—

"उक्कोसंता य उप्पयंता निपतंता भमंता।" नारको में से जिसके शरीर की जितनी ऊँचाई होती है, वह उतना ही ऊँचा उछल सकता है। जैसे सातवीं नरक-भूमि के नारको के शरीर की उत्कृष्ट ऊँचाई ५०० धनुप है, छठी की २५० धनुप है, पाचवी की १२५ धनुप, चौथी की ६२॥, तीसरी की ३१। धनुप, दूसरी की १५॥= धनुप अर्थात् १५ धनुप २ हाथ १२ अगुल और पहली की ७ धनुप ३ हाथ ६ अगुल ऊँचाई है, तो वह नारक उतना ही ऊँचा उछल सकता है, जितनी ऊँचाई की उसकी नरकभूमि की सीमा हो।

नारको की इन सव प्रतिक्रियाओ का वर्णन शास्त्रकार ने स्वयमेव मूलपाठ मे किया है।

ये सव हिंसा के वुरे नतीजे हैं, जिनके कारण नरकगति मे पैदा होकर नाना प्रकार की यातनाएँ वहुत दीर्घकाल तक भोगनी पडती हैं। यह सव वताकर शास्त्रकार ने हिंसा से वचने की प्रेरणा परोक्षरूप से दे दी है।

तिर्यंचगति और मनुष्यगति में हिंसा के कुफल

नरकगति मे हिंसा के कुफलों का वर्णन पूर्वोक्त सूत्रपाठ मे करने के वाद अव शास्त्रकार तिर्यञ्च गति और मनुष्यगति में कुफलस्वरूप क्या-क्या यातनाएँ सहनी पड़ती हैं, इसका निरूपण करते है—

मूलपाठ

पुव्वकम्मोदयोवगता पच्छाणुसएण डज्झमाणा णिंदंता पुरेकडाइं कम्माइं पावगाइं तहिं तहिं तारिसाणि ओसण्ण-चिक्कणाइं दुक्खाइं अणुभवित्ता, तत्तो य आउक्खएण उव्वट्टिया समाणा वहवे गच्छंति तिरियवसहिं दुक्खुत्तारं सुदारुणं जम्मण-मरणजरावाहिपरियट्टणारहट्टं जल-थल-खहचरपरोप्परविहिंसण-पवंचं, इमं च जगपागडं वरागा दुक्खं पावेंति दीहकालं। किं ते ? सीउण्ह-तण्हा-खुह-वेयणअप्पईकार-अडविजम्मण-णिच्चभउ-व्विग्गवास-जग्गण-वह-वंधण-ताडणंकण-निवायण-अट्ठिभंजण-नासा-भेय-प्पहारदूमण-छविच्छेयण - अभिओगपावण - कसंकुसारनिवाय-दमणाणि, वाहणाणि य, मायापितिविप्पयोग-सोयपरिपीलणाणि य, सत्थग्गि-विसाभिघाय-गलगवलावणमारणाणि य, गलजालु-

च्छिप्पणाणि य, प (ओ) उलणविकप्पणाणि य, जावज्जीविग-वंधणाणि, पंजरनिरोहणाणि य, सयूहनिद्धाडणाणि य,धमणाणि य, दोहणाणि य, कुदंडगलवंधणाणि य, वाडगपरिवारणाणि य, पंकजल-निमज्जणाणि य, वारिप्पवेसणाणि य, ओवायणिभंगविसम-णिवडणदवग्गिजालदहणाइ (याइं) य । एवं ते दुक्खसयसंपलित्ता नरगाओ आगया इहं सावसेसकम्मा तिरिक्खपंचेंदिएसु पावंति पावकारी कम्माणि पमाय-राग-दोस-बहुसंचियाइं अतीव अस्साय-कक्कसाइं ।

भमर-मसग-मच्छिमाइएसु य जाइकुलकोडिसयसहस्सेहिं नवहिं चउरिंदियाण तहिं तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुहवंता कालं संखि (खे) ज्जं (ज्जकं) भमंति नेरइयसमाणतिव्वदुक्खा फरिस-रसण-घाण-चक्खुसहिया । तहेव तेइंदिएसु कुंथु-पिप्पी-लिया-अंधिकादिकेसु य जातिकुलकोडिसयसहस्सेहिं अट्ठहिं अणूणगे (ए) हिं तेइंदियाण तहिं तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुहवंता कालं संखिज्जगं भमंति नेरइयसमाणतिव्वदुक्खा फरिसरसणघाण-संपउत्ता । गंडूलय-जलूय-किमिय-चंदणग-मादिएसु य जातिकुल-कोडिसयसहस्सेहिं सत्तहिं अणूणएहिं वेइंदियाण तहिं तहिं चेव जम्मणमरणाणि अणुहवंता कालं संखिज्जकं भमंति नेरइयसमा-णतिव्वदुक्खा फरिसरसणसंपउत्ता । पत्ता एगिंदियत्तणं पि य पुढवि-जल-जलण-मारुय-वणप्फतिसुहुमवायरं च पज्जत्तमपज्जत्तं पत्तेयसरीरणामसाहारणं च, पत्तेयसरीरजीवेसु (जीविएसु) तत्थ वि कालमसंखेज्जं (ज्जगं) भमंति, अणंतकालं च अणंतकाए फासिंदियभावसंपउत्ता दुक्खसमुदयं इमं अणिट्ठं पावं (विं) ति पुणो पुणो तहिं तहिं जेव परभवतरुगणगहणे ॥

कोद्दाल-कुलिय-दालण-सलिल-मलण - खुंभण-रुंभण-अण-लाणिल-विविहसत्थघट्टण-परोप्पराभिहणण-मारण - विराहणाणि

य अकामकाइं परप्पओगोदीरणाहि य कज्जपओयणेहि य पेस्स-पसुनिमित्त-ओसहाहार-माइएहिं उक्खणण-उक्कत्थण-पयण-कोट्टण-पीसण-पिट्टण-भज्जण - गालण - आमोडण-सडण-फुडण-भंजण-छेयण-तच्छण-विलुंचण-पत्तज्झोडण-अग्गिदहणाइयाइं, एवं ते भवपरंपरादुक्खसमणुबद्धा अडंति संसारे बीहणकरे जीवा पाणाइवायनिरया अणंतकालं, जे वि य इह माणुसत्तणं आगया कहिं वि नरगा उवट्टिया अधन्ना ते वि य दीसंति पायसो विकय-विगलरूवा खुज्जा वडभा य वामणा य वहिरा काणा कुंटा पंगुला विगला य मूका य मंमणा य अंधयगा एगचक्खू विणिहय-संचिल्लया (सपिसल्लया) वाहिरोगपीलिय-अप्पाउय-सत्थवज्झ-वाला कुलक्खणुक्किन्नदेहा दुब्बल-कुसंघयण-कुप्पमाण-कुसंठिया कुरूवा किविणा य हीणा हीणसत्ता णिच्चं सोक्खपरिवज्जिया असुहदुक्खभागी णरगाओ उवट्टित्ता इहं सावसेसकम्मा (उवट्टा समाणा)।

एवं णरगं तिरिक्खजोणिं कुमाणुसत्तं च हिंडमाणा पावंति अणताइं दुक्खाइं पावकारी। एसो सो पाणवहस्स फलविवागो इहलोइओ पारलोइओ अप्पसुहो वहुदुक्खो महब्भयो वहुरयप्प-गाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चती, न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति एवमाहंसु, नायकुलनंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरनामधेज्जो कहइ (कहेसि य) पाणवहस्स फल-विवागं, एसो सो पाणवहो चंडो रुद्दो खुद्दो अणारिओ निग्घिणो निसंसो महब्भओ बीहणओ तासणओ अणज्जो (अण-ज्जाओ) उव्वेयणओ य णिरवयक्खो निद्धम्मो निप्पिवासो निक्क-लुणो निरयवासगमणनिधणो मोहमहब्भयपवड्ढओ मरणवेमणसो।

पढमं अहम्मदारं समत्तं ति वेमि ॥१॥

संस्कृत-छाया

पूर्वकर्मोदयोपगताः पश्चादनुशयेन दह्यमाना निन्दन्तः पुराकृतानि कर्माणि पापकानि तत्र तत्र तादृशानि अवसन्नचिक्कणानि दुःखानि अनुभूय ततश्चायुःक्षयेणोद्वृत्ताः सन्तो बहवो गच्छन्ति तिर्यग्वसतिं दुःखोत्तारां सुदारुणां, जन्ममरणजराव्याधिपरिवर्त्तनारघट्टां जल-स्थल-खेचरपरस्पर-विहिंसनप्रपञ्चां, इदं च जगत्प्रकटं वराका दुःखं प्राप्नुवन्ति दीर्घकालम्। किं तत् ?,शीतोष्ण-तृष्णा-क्षुद् वेदनाऽप्रतीकाराऽटवीजन्म-नित्यभयोद्विग्नवास-जागरण-वध-बंधन-ताड़नाङ्कन - निपातनास्थिभञ्जन - नासाभेद-प्रहार-दवन छविच्छेदनाभियोगप्रापण-कशांकुशारानिपात-दमनानि वाहनानि च मातृ-पितृविप्रयोग-श्रोतःपरिपीडनानि शस्त्राग्नि-विषाभिघात-गलगवलावलन-मारणानि च, गलजालोत्क्षेपणानि प्रज्वलनविकल्पनानि च यावज्जीविक-बंधनानि पंजरनिरोधनानि च स्वयूथनिर्घाटनानि धमनानि च दोहनानि च कुदण्डगलबन्धनानि वाटकपरिवारणानि पंकजलनिमज्जनानि च वारिप्रवेश-नानि चावपातनिभंग-विषमनिपतन-दवाग्निज्वाला-दहनानि (त्यादि) च। एवं ते दुःखशतसंप्रदीप्ता नरकादागता इह सावशेष-कर्म्माणः तिर्यक्पञ्चेन्द्रि-येषु प्राप्नुवन्ति पापकारिणः कर्माणि प्रमाद-राग-द्वेष-बहुसंचितानि अतीवा-सातकर्कशानि।

भ्रमर-मशक-मक्षिकादिषु च जातिकुलकोटिशतसहस्रेषु नवसु चतुरिन्द्रियाणां तत्र तत्र चैव जन्ममरणान्यनुभवन्तः कालं संख्येयकं भ्रमन्ति नैरयिकसमानतीव्रदुःखाः स्पर्श-रसन-घ्राणचक्षुःसहिताः। तथैव त्रीन्द्रियेषु कुन्थुपिपीलिकान्धिकादिकेषु च जातिकुलकोटिशतसहस्रेषु अष्टस्वन्यूनकेषु त्रीन्द्रियाणां तत्र तत्र चैव जन्ममरणान्यनुभवन्तः कालं संख्येयकं भ्रमन्ति नैरयिकसमान-तीव्रदुःखाः स्पर्श-रसन-घ्राणसंप्रयुक्ताः। गण्डूलक-जलौक-कृमिक-चन्दनकादिकेषु च जातिकुलकोटिशतसहस्रेषु सप्तस्वन्यूनकेषु द्वीन्द्रियाणां तत्र तत्र चैव जन्ममरणान्यनुभवन्तः कालं संख्येयकं भ्रमन्ति नैरयिकसमानतीव्रदुःखाः स्पर्शरसनसंप्रयुक्ताः। प्राप्ता एकेन्द्रियत्वमपि पृथिवी-जल-ज्वलन-मारुत-वनस्पति सूक्ष्मबादरं च पर्याप्तमपर्याप्तं प्रत्येक-शरीरनाम साधारणं च, प्रत्येकशरीरजीवितेषु (जीवेषु) च तत्रापि कालम-संख्येयकं भ्रमन्ति, अनन्तकालं चानन्तकाये स्पर्शेन्द्रियभावसम्प्रयुक्ता दुःख-समुदयमिदमनिष्टं प्राप्नुवन्ति पुनः पुनस्तत्र तत्र चैव परभवतरुगणगहने।

कुद्दाल-कुलिक-दारण-सलिलमलन-क्षोभण - रोधनानलानिल-विविध-शस्त्रघट्टन-परस्पराभिहनन-मारण-विराधनानि चाकामिकानि परप्रयोगो-

दीरणाभिश्च कार्यप्रयोजनैश्च प्रेष्यपशुनिमित्तौषधाहारादिकैरुत्खनन-उत्क्वथन-पचन-कुट्टन-पेषण-पिट्टन-भर्जन - गालनामोटन - शटन-स्फुटन-भञ्जन-छेदन-तक्षण विलुञ्चन-पत्रझोडनाग्निदहनादिकानि। एवं ते भव-परम्परा-दुःखसमनुबद्धा अटन्ति संसारे भयंकरे जीवाः प्राणातिपातनिरता अनन्तकालं। येऽपि चेह मनुष्यत्वमागताः कथमपि नरकादुद्वृत्ता अध-न्यास्तेऽपि च दृश्यन्ते प्रायशो विकृतविकलरूपाः कुब्जा वटभाश्च वामनाश्च बधिराः काणाः कण्टाः पंगुला विकलाश्च मूकाश्च मन्मनाश्चान्धका एकचक्षु विनिहताः संचिल्लकाः (सपिशाचा) व्याधि-रोगपीड़िताऽल्पायुष्क-शस्त्रवध्यबालाः कुलक्षणोत्कीर्णदेहा दुर्बल-कुसंहनन - कुप्रमाण-कुसंस्थिताः कुरूपाः कृपणाश्च हीना हीनसत्वा नित्यं सौख्यपरिवर्जिता अशुभदुःखभागिनः नरकादुद्वृत्ता इह सावशेषकर्माणः। (उद्धताः सन्तः)।

एवं नरकतिर्यग्योनिं कुमनुष्यत्वं चाधिगच्छन्तः प्राप्नुवन्त्यनंतानि पापकारिणः। एष स प्राणवधस्य फलविपाकः इहलौकिकः पारलौकिकोऽल्प-सुखो बहुदुःखो महाभयो बहुरजःप्रगाढो दारुणः कर्कशोऽसातो वर्षसहस्रै-र्मुच्यते, न चावेदयित्वा अस्ति खलु मोक्ष इत्येवमाख्यातवान् ज्ञातकुलनन्दनो महात्मा जिनस्तु वीरवरनामधेयः कथितवांश्च प्राणवधस्य फलविपाकम्। एष स प्राणवधश्चण्डो रुद्रः क्षुद्रोऽनार्यो निर्घृणो नृशंसो महाभयो भयंकर-स्त्रासनकोऽन्याय्यः (अथवा अनर्जुकः) उद्वेजनको निरवकांक्षो निर्द्धर्मो निष्पिपासो निष्करुणो निरयवासगमननिधनो मोहमहाभयप्रवर्द्धको मरण-वैमनस्यः।

प्रथममधर्मद्वारं समाप्तमिति ब्रवीमि ॥१॥

पदार्थान्वय—(पुव्वकम्मोदयोवगता) पूर्वकर्म के उदय से युक्त (पच्छाणुसएण) पश्चात्ताप से, (डज्झमाणा, जलते हुए (पुरेकडाइं) पूर्वजन्म में किये हुए, (पावगाइं) पापकर्मों को, णिंदंता) निन्दा करते हुए (तहिं तहिं) उन-उन रत्नप्रभा आदि नरक भूमियों में (तारिसाणि) अमुक-अमुक प्रकार के, (ओसन्नचिक्कणाइं) अत्यन्त चिकने, नहीं छूट सकने योग्य, निकाचित) (दुक्खाइं) दुःखों का (अणुभवित्ता) अनुभव करके (य) और (आउक्खएण) आयुष्य का क्षय होने पर (तत्तो) नरक से (उव्वट्टिया समाणा) निकले हुए (बहवे) बहुत से जीव (दुक्खुत्तारं) दुःख से पार की जाने वाली (सुदारुणं) अत्यन्त कठोर, जम्मणमरणजरावाहिपरियट्टणारहट्टं) जिसमें रहट के समान जन्म, मृत्यु बुढ़ापे और व्याधि का परिवर्तनचक्र चल रहा है, (जल-थल-खहचर-परोप्पर-विहिंसणपवंचं) जिसमें जलचर, स्थलचर, और खेचर जीवों की परस्पर विविध हिंसाओं का प्रसार है, ऐसी (तिरियवसहिं) तिर्यञ्च योनि में (गच्छंति) पहुँचते हैं। (च) और वहाँ, (वरागा) बेचारे दीन हीन वे प्राणी, (इमं) इस प्रत्यक्ष दृश्यमान, (जगपागडं) जगत्प्रसिद्ध (दुक्खं) दुःख को

(दीहकालं) दीर्घकाल तक (पावेंति) पाते हैं। (किं ते ?) वे दुःख कौन-कौन हैं? वे निम्न प्रकार के हैं (सीउण्ह-तण्हा-खुह-वेयण-अप्पईकार-अडविजम्मणणिच्चभउ-विग्गवास - जग्गण - वह - बंधण - ताडणंकण - निवायण - अट्ठिभंजण - नासाभेयण-प्पहारदूमण - छविछेयण - अभिओगपावण - कसंकुसार - निवायदमणाणि) सर्दी, गर्मी, भूख और प्यास की वेदना, प्रतीकाररहितता, घोर जंगल में जन्म लेना, मृगादि पशुओं का नित्य भय से घबराते रहना, जागना, पीटना, बांधा जाना, मारा जाना, तपी हुई लोहे की सलाई आदि से चिह्न करना, खड्डे आदि में फेंक देना, हड्डी तोड़ देना, नाक कान छेदना, प्रहार करना, संताप देना, शरीर के अंगोपांग काट देना, जबर्दस्ती काम में लगाना, चाबुक से पीटना, अंकुश और आर (डंडे के अग्रभाग में लगी हुई नुकीली कील) से छेदना, सजा देने के लिए दमन करना) (य) और (वाहणाणि) भार लादना,(मायापितिविप्पओगसोयपरिपीलणाणि) माता-पिता से वियोग कर देना या वियोग होना तथा नाक और मुँह आदि के छिद्रों में रस्सी (नकेल) डालकर मजबूती से बांधकर पीड़ा देना, (य) और (सत्यग्गि-विसाभिघाय-गलगवल-आवलणमारणाणि) शस्त्र, अग्नि या विष से खत्म कर देना तथा गले और सींग को मोड़ना और मारना, अथवा गलकंबल को मोड़कर मारना, (गलजालु च्छिप्पणाणि) बंसी (मछली पकड़ने का कांटा) और जाल से मछली आदि को पकड़ कर जल से बाहर निकालना, (य) तथा (पउलणविकप्पणाणि) अग्नि पर भूनना और काटना, (य) और (यावज्जीविगबंधणाणि) जिंदगीभर बांधे रखना, (य) एवं (पंजरनिरो-हणाणि) पींजरे में बंद कर देना, (सयूहनिद्धाडणाणि) अपने टोले से निकाल देना, (य) और (धमणाणि) भैंस आदि को फूंका लगाना, (य) तथा (दोहणाणि) दूहना (कुदंडगलबंधणाणि) गले में डंडा बांधना, (वाडकपरिवारणाणि) बाड़े में घिरे रखना (य) और (पंकजल निमज्जणाणि) कीचड़ के गंदे पानी में डुबोना (य) और (वारि-प्पवेसणाणि) पानी में घुसाना (य) तथा (ओवायणिभंगविसमनिवडण दवग्गिजालदहणाइ-याइ) खड्डों में गिर जाने से अंग-भंग हो जाना तथा पहाड़ आदि के ऊबड़खाबड़ स्थानों से गिर पड़ना और दावाग्नि की लपटों से झुलस जाना इत्यादि दुःख हैं। (एवं) इस प्रकार, (ते) प्राणियों का वध करने वाले वे (पापकारी) पापकर्मकर्ता, (दुक्खसयसंपलित्ता) सैकड़ों दुःखों से जले हुए (नरगाओ) नरक से (आगया) आए हुए (इह) इस तिर्यंचगति में, (सावसेसकम्मा) भोगने से शेष बचे हुए कर्म वाले (तिरिक्ख-पंचेंदिएसु) तिर्यंचपंचेन्द्रियों में, (पमाय राग-दोस बहुसंचियाइं) प्रमाद, राग और द्वेष के कारण बहुत से संचित किये गए, (अतीवअस्सायकक्कसाइं) अत्यन्त कठोर दुःख देने वाले (कम्माइं) कर्मजन्यदुःखों को (पावंति) पाते हैं।

(य) तथा (चउरिंदियाण) चार इन्द्रियों वाले जीवों की (भमर-मसग-मच्छि-माइएसु) भौंरे, मच्छर और मक्खी आदि की योनियों में, (नवहिं जाइकुलकोडिसय-

सहस्सेहिं) नौ लाख जन्म लेने के कुलों (उत्पत्ति स्थानो) में,(तहिं तहिं चेव) उन-उनें में ही, (जम्मणमरणाणि) जन्म-मरण का, (अणुहवंता) अनुभव करते हुए, (नेरइय-समाणतिव्वदुक्खा) नारकों के समान तीव्र दुःखों से युक्त (फरिस-रसण-घाण-चक्खु-सहिया) स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु सहित चार इन्द्रियों वाले जीव, (संखेज्जकं) संख्यात, (कालं) काल तक, (भमंति) भ्रमण करते हैं। (तहेव) उसी प्रकार, (तेइंदिएसु) तीन इन्द्रियों वाले जीवों में, (तेइंदियाण) तीन इन्द्रियों वाले (कुंथु-पिप्पीलया-अंधिकादिकेसु) कुंथुआ, चींटी, अंधिक आदि जीवों की योनियों में जन्म लेने के (अणूणएहिं) पूरे (अट्ठहिं) आठ, (जाइकुलकोडिसयसहस्सेहिं) लाख कुलकोटि के उत्पत्ति स्थान हैं (तहिं तहिं चेव) उन-उन में ही (जम्मणमरणाणि) जन्म-मरण का, (अणुहवंता) अनुभव करते हुए (नेरइयसमाणतिव्वदुक्खा) नारकों के समान ही तीव्र दुःख वाले,(फरिसरसणघाणसंपउत्ता) स्पर्शन, रसन और घ्राण से युक्त तीन इन्द्रियों वाले जीव, (संखेज्जयं कालं) संख्यातकाल तक, (भमंति) भ्रमण करते हैं। (य) तथा (बेइंदियाण) दो इन्द्रिय वाले जीवों के, (गंडूलयजलूयकिमिय चंदणगमादिएसु) गिंडोले (गेंडुए), अलसिए, जोक, घोंघे आदि में जन्म लेने के, (अणूणएहिं) पूरे, (सत्तजाइ-कुलकोडिसयसहस्सेसु) सात लाख जीवों के उत्पत्ति स्थान हैं, (तहिं तहिं चेव) उन-उनमें ही, (जम्मणमरणाणि) जन्ममरण का, (अणुहवंता) अनुभव करते हुए, नेरइय-समाण तिव्व दुक्खा) नारक जीवों के समान तीव्र दुःखो से युक्त (फरिसरसणसंपउत्ता) स्पर्शन और रसना इन्द्रिय से युक्त दो इन्द्रियों वाले जीव (संखिज्जकं कालं) संख्यात काल तक (भमंति) भ्रमण करते हैं। (य) और (एगिंदियत्तणंपि) एकेन्द्रियत्व (पत्ता) प्राप्त किये हुए (पुढवी-जल-जलण-मारुय-वणप्फति) पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय के जीव हैं। इनमें से प्रत्येक के (सुहुमबायरं) सूक्ष्म और बादर भेद हैं, (य) तथा (पज्जत्तं अपज्जत्त) पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद भी होते है, तथैव वनस्पतिके (पत्तेयसरीरणाम) प्रत्येक शरीर नाम कर्म वाले प्रत्येक शरीरी जीव (च) और (साहारणं) साधारण नामकर्म वाले साधारणशरीरी जीव, इस प्रकार दो भेद और भी हैं। (य) और (तत्थ वि) उनमें भी जो (पत्तेयसरीरजीविएसु) प्रत्येक शरीर में रहने वाले जीव हैं, उनमें, (असंखेज्जकं) असंख्यात, (कालं) कालतक (च) और (अनंतकाए) साधारण शरीरों में, (अणंतकालं) अनन्त काल तक (भमंति) भ्रमण करते हैं। (फासिंदियभावसंपउत्ता) स्पर्शनेन्द्रिय पर्याय को पाये हुए एकेन्द्रिय जीव, (पुणो पुणो) बारबार (परभवतरुगणगहणे) उत्कृष्टकाल तक दूसरे भवों में उत्पत्ति के स्थानरूप वृक्षादि समूह से गहन, (तहिं तहिं चेव) उसी एकेन्द्रिय पर्याय में, (इमं) इस आगे कहे जाने वाले (अणिट्ठं) अनिष्ट, (दुक्खसमुदयं) दुःख समूह को, (पावंति) पाते रहते हैं। (कोद्दाल-कुलिय-दालण-सलिलमलण-खुंभण-रुंभण-अणलाणिल-विविहसत्थ-घट्टण-परोप्पराभिहणण-मारणविराहणाणि) कुल्हाड़े और हलसे भूमिका

चीरना जल का मलना और रोकना, अग्नि तथा वायु का अनेक प्रकार के शस्त्रों से टकराना, परस्पर आघात से मारना तथा विराधना— संताप देना (य) और (अकाम-काइं) अवांछनीय, (परप्पओगोदीरणाहिं) अपने से अतिरिक्त जनों के द्वारा व्यर्थ ही दुःख पैदा करना, (कज्जपओयणेहिं) आवश्यक प्रयोजन से, (पेस्स पसुनिमित्त ओसहाहारमाइएहिं) नौकर चाकर तथा गाय, बैल आदि पशुओं के निमित्त औषध या आहार आदि के लिए, (उक्खणणउक्कत्थण-पयण-कोट्टण-पीसण-पिट्टण-भज्जण-गालण-आमोडण-सडण-फुडण-भंजण-छेयण-विलुंचण-पत्तज्झोडण-अग्गिदहणाइयाइं) खोदना, वृक्षादि की छाल अलग करना, पकाना, कूटना, पीसना, दलना, पीटना, भूनना, छानना, मोडना, सड़ना, स्वतः टूट जाना, मसलना या कुचलना, छेदना, छीलना, रोओं का उखाड़ना, पत्ते आदि का तोड़ना या झड़ जाना, अग्नि में जला देना आदि, (इमं) इस, (अनिट्ठं) अनिष्ट (दुक्खसमुदयं) दुःख-समूह को, (पाविंति) पाते हैं। (एवं) इस प्रकार, (भवपरंपरादुक्खसमणुबद्धा) जन्म-परम्परा से निरन्तर दुःख वाले, (पाणाइवायनिरया) प्राणिवध में तत्पर, (ते) वे (जीवा) हिंसक जीव, (बोहणकरे) भयंकर, (संसारे) संसार में, (अणंतकालं) अनन्त काल तक, (अडंति) घूमते रहते हैं (य) और (नरगा उवट्टिया) नरक से निकले हुए (जे वि) जिन लोगों ने, (कहिं वि) किसी तरह भी, (इह) इस मर्त्यलोक में (माणुसत्तणं) मनुष्यत्व को, (आगया) प्राप्त कर लिया है, (तेवि) वे भी, (पायसो) बहुत करके, (अधन्ना) भाग्यहीन (विगयविकलरूपा) विकृत और विकल रूप वाले, (खुज्जा) कुबड़े, (वडभा) जिनके शरीर का ऊपरी हिस्सा टेढा हो (य) तथा (वामणा) बौने, (य) तथा (बहिरा) बहरे, (काणा) काने, (कुंटा) टूंटे, विकृत हाथ वाले, पंगुला पंगु-पांगले (य) तथा (विगला) विकलांग (अपाहिज) (य) तथा (मूका) मूक-गूंगे, (संमणा) मन मन शब्द करने वाले या तुतलाने वाले, (य) और (अंधयगा) अंधे, (एगचक्खूविणिहय-संचिल्लया) जिनकी एक आंख फूट गई है, वे, और चपटे नेत्र वाले अथवा (संपिसल्लया) पिशाचग्रस्त, (वाहिरोगपीलिय-अप्पाउय-सत्थवज्झबाला) कुष्ठ आदि व्याधियों और ज्वरादि रोगों से पीड़ित, अथवा विशेष प्रकार की आधि-मानसिक-व्यथा और कुष्ठ,ज्वर आदि रोगों से पीड़ित, अल्पायु,शस्त्रों से मारे जाने वाले अज्ञानी जन (मूर्ख), (कुलक्खणुक्किण्णदेहा) कुलक्षणों से व्याप्त देह वाले, (दुब्बल-कुसंघयण-कुप्पमाण-कुसंठिया) दुर्बल, खराब संहनन (शरीर के कद) वाले, शरीर के न्यूनाधिक प्रमाण वाले, शरीर की भद्दी रचना—खराब डौलडौल वाले, (कुरूवा) कुरूप, (किविणा) रंक या कंजूस, (य) और (हीणा) जाति आदि से हीन-नीच, (हीणसत्ता) अल्प सत्त्व-पराक्रम वाले, (निच्चं) सदा, (सोक्खपरिवज्जिया) सुखों से वंचित, (असुहदुक्खभागी) अत्यन्त अशुभ परिणाम वाले दुःखों के भागी, (नरगाओ) नरक से

(उवट्टिया) निकले हुए तथा (सावसेसकम्मा) बचे हुए कर्मों वाले जीव, (इहं) इस लोक में, (एवं) इस प्रकार, (पापकारी) प्राणवधरूप पाप करने वाले, (नरगं) नरक, (तिरिक्खजोणिं) तिर्यञ्चयोनि (च) और (कुमाणुसत्तं) कुमानुष पर्याय में (हिंडमाणा) भ्रमण करते हुए (अणंताइं) अनन्त (दुक्खाइं) दुःखों को (पावंति) पाते हैं। (एसो) यह, (सो) वह पूर्वोक्त (पाणवहस्स) प्राणवध-हिंसा के, (फलविवागो) फल का विपाक, (इहलोइओ) इस लोकसम्बन्धी (पारलोइओ) व परलोकसम्बन्धी (अप्पसुहो) अल्प-सुख देने वाला, और (बहुदुक्खो) भोगते समय महादुःखदायी है, (महब्भओ) वह महाभय रूप है, (बहुरयप्पगाढो) बहुत-सी कर्मरज से प्रगाढ़ है (दारुणो) रौद्र, (कक्कसो) कठोर, (असाओ) असाता वेदनीय रूप—दुःखरूप, (वाससहस्सेहिं) हजारों वर्षों में जाकर, (मुच्चति) छूटता है। (य) और, 'जिसे (अवेदयित्ता) बिना भोगे, (हु) निश्चय ही, (मोक्खो) छुटकारा, (न अत्थित्ति) नहीं होता है।' इस प्रकार (नायकुलनंदणो) ज्ञातृकुल के नंदन, (महप्पा) महात्मा, (वीरवरनामधेज्जो) जिनका प्रधान नाम 'वीर'—महावीर है, (जिणो) जिनेन्द्र ने (उ) निश्चय से (पाणवहस्स) हिंसा के, (फलविवागं) फल के विपाक को, (कहेसि) कहा है। (सो) वह, (एसो) यह, (पाणवहो) प्राणिवध, (चंडो) तीव्रकोपरूप, (रुद्दो) रौद्र-रुद्र (खुद्दो) क्षुद्र जीवों का कार्य, (अणारियं) अनार्य लोगों द्वारा किया जाने वाला, (निग्घिणो) घृणा से रहित, (निसंसो) नृशंस कार्य, (महब्भओ) महाभय का हेतु, (बीहणओ) भयंकर, (तासणओ) त्रास देने वाला, (अणज्जो) अन्यायरूप अथवा (अणज्जाओ) सरलता (ऋजुता) से रहित, (उव्वेयणओ) उद्वेग पैदा करने वाला, (य) तथा (निरवयक्खो) दूसरे के प्राणों की अपेक्षा—पर्वाह नहीं करने वाला, (निद्धम्मो) धर्म से रहित, (निप्पिवासो) स्नेहपिपासा से रहित, (निक्कलुणो) करुणा से रहित, (निरयवासगमणनिधणो) नरकावास में गमन ही जिसका आखिरी परिणाम है, (मोहमहब्भयपवड्ढओ) मोहरूपी महाभय की वृद्धि करके अज्ञानता तथा महाभय को बढ़ाने वाला (मरणवेमणसो) मरण से होने वाली दीनता पैदा करने वाला है।

इस प्रकार (पढमं) पहला, (अहम्मदारं) प्राणवध नामक अधर्म द्वार (समत्तं) समाप्त हुआ, (तिबेमि) ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—इस प्रकार के पूर्व कर्म के उदय को प्राप्त, पश्चात्ताप से जलते हुए, पूर्वजन्म में किए हुए पाप कर्मों की निन्दा करते हुए, उन उन रत्नप्रभा आदि नरक भूमियों में वैसे-वैसे अत्यन्त चिकने-नहीं छूट सकने योग्य-निकाचित दुःखों को भोग कर आयुष्य का क्षय होने पर नरकों से निकले हुए बहुत-से जीव, मुश्किल से पार की जाने वाली अत्यन्त

कठोर और रेंहट के समान जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि के परिवर्त के चक्कर वाली तथा जलचर, स्थलचर, और खेचर जीवों की पारस्प रिक हिंसा के प्रपंच वाली तिर्यञ्च योनि में पहुँचते है। और वहां वेचारे दीन-हीन प्राणी इस प्रत्यक्ष दृश्यमान व जगत्प्रसिद्ध दुःख को बहुत लम्बे समय तक पाते हैं।

वे दुःख कौन-कौन से है? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं वे दुःख इस प्रकार हैं—सर्दी, गर्मी, भूख और प्यास की वेदना, प्रतीकार रहितता, घोर जंगल में जन्म ग्रहण, मृगादि पशु अवस्था में सदा घबराते रहना, जागना, मारा जाना, बाँधा जाना, पीटा जाना, तपी हुई लोहे की सलाई आदि से दागा जाना, खड्डे आदि में फेंका जाना, हड्डी का तोड़ा जाना, नाक तथा कान का छेदा जाना, प्रहार किया जाना, संताप दिया जाना शरीर के अंगोपांगों का काटा जाना, जबर्दस्ती काम में लगाना, चाबुक से पीटा जाना, अंकुश और आरा—डण्डे के अग्रभाग में लगी हुई नुकीली कील भौंकना, सजा आदि के लिए दमन करना, भार लादा जाना, माता-पिता से वियोग करा देना, या वियोग हो जाना, नाक-मुंह आदि के छिद्रों में मजबूती से रस्सी या नकेल डाल कर पीड़ा देना तथा शस्त्र, अग्नि या विष के द्वारा खत्म कर देना, गले और सींग को मोड़ देना और मारना, अथवा गलकंबल को मोड़ कर प्रहार करना, वंसी (मछली पकड़ने का कांटा) और जाल से मछली आदि को पकड़ कर पानी से बाहर निकालना तथा आग पर भूनना और काटना, जीवन भर बाँधे रखना, पींजरे में डाल कर बन्द कर देना, अपने टोले से अलग निकाल देना, भैंस आदि को फूंका लगाना, दूहना, गले में दुःखदायी डण्डा बांध देना, बाड़े में रोके रखना, कीचड़ से सने गन्दे जल में डुबोना, पानी में प्रवेश कराना, खड्डों में गिर जाने से अंग-भंग हो जाना तथा पर्वत आदि ऊबड़-खाबड़ जगहों से गिर पड़ना, दावाग्नि की लपटों से झुलस जाना, इत्यादि दुःख तिर्यञ्चगति के हैं। इस प्रकार प्राणियों का वध करने वाले वे पापकर्मकारी नरकगति में सैंकड़ों दुःखों से जले हुए नरकगति से भोगने से बचे हुए शेष कर्मों को भोगने के लिए इस तिर्यञ्चगति में आकर तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों में प्रमाद, राग और द्वेष के कारण बहुत-से संचित किए हुए अत्यन्त कठोर दुःख देने वाले कर्मजनित दुःखों को पाते है।

यहां वे चार इन्द्रियों वाले जीवों की भौंरे, मच्छर और मक्खी आदि योनियों में, नौ लाख जन्म लेने के कुलों में जन्म-मरण का अनुभव करते हुए नारकियों के समान तीव्र दुःखों से युक्त स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु—इन चार इन्द्रियों सहित चतुरिन्द्रिय जीव संख्यातकाल तक

परिभ्रमण करते रहते है। इसी प्रकार तीन इन्द्रियों वाले कुंथुआ, चींटी, अंघिया आदि जीवों की योनियों में पूरे आठ लाख जन्म लेने के कुलकोटि-स्थान है, उनमें जन्म-मरण का अनुभव करते हुए नारकों के समान तीव्र दुःख वाले स्पर्शन, रसन और घ्राण से युक्त तीन इन्द्रियों वाले जीव संख्यात काल तक भ्रमण करते रहते है। तथा दो इन्द्रियों वाले जीवों के गिडौले (गेंडुए), अलसिए, जोंक, घोंघे आदि योनियों में जन्म लेने के पूरे सात लाख कुलकोटि (उत्पत्तिस्थान) है। उन में जन्ममृत्यु का अनुभव करते हुए नारकों के समान तीव्र दुःखों से परिपूर्ण स्पर्शन और रसन—इन दो इन्द्रियों से युक्त जीव संख्यात काल तक परिभ्रमण करते रहते हैं। इसी प्रकार एकेन्द्रिय पर्याय को प्राप्त पृथ्वी, जल, अग्नि,वायु और वनस्पति—ये ५ प्रकार के जीव है। इनमें से प्रत्येक के सूक्ष्म और बादर दो भेद हैं। फिर इन दसों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक नाम के दो भेद और होते हैं। तथा वनस्पति के प्रत्येक शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न प्रत्येक शरीरी एवं साधारण शरीर-नाम कर्म के उदय से उत्पन्न साधारण शरीरी, इस तरह दो भेद और भी है। और इनमें से जो प्रत्येक अर्थात् भिन्न-भिन्न शरीर में जीने वाले पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वन-स्पति के जीव हैं, उनमें वे असंख्यात काल तक परि-भ्रमण करते रहते हैं तथा साधारण वनस्पति में अनन्तकाल तक भ्रमण करते हैं। केवल स्पर्शनेन्द्रिय को पाए हुए वे एकेन्द्रियजीव बार-बार उन्हीं-उन्हीं एकेन्द्रियपर्यायों में वृक्ष गण या वन आदि में दूसरे भवों में जन्म लेकर आगे कहे जाने वाले इस अनिष्ट दुःखसमूह को पाते रहते है—

कुल्हाड़े और हल से भूमि को विदारण करना, जल का मथना और रोकना,अग्नि और वायु का अनेक प्रकार के स्व-परकाय आदिशस्त्रो से टकराना, परस्पर चोट लगा कर मारना तथा विराधना और संताप देना, अनचाही और निरर्थक दूसरों की शरीरादि प्रवृत्ति के लिए अथवा आवश्यक प्रयोजनों से नौकर चाकरों या गाय बैल आदि पशुओं के निमित्त एवं औषध व आहार आदि के लिए जड़ से खोदना, वृक्षादि की छाल अलग करना, आग में पकाना, कूटना, पीसना, पीटना, भूनना, छानना, मोड़ना, सड़ना, टुकड़े-टुकड़े हो जाना, मसल या कुचल देना, छेदना, छीलना, रोओं का उखाड़ा जाना, पत्तों-फूलों आदि का झाड़ा जाना—तोड़ा जाना, आग जलाना आदि।

इस प्रकार जन्मपरम्पराओं में लगातार दुःखों से सम्बद्ध होकर प्राणिवध करने में संलग्न वे हिंसक जीव इस भीषण संसार में अनन्तकाल तक चक्कर खाते रहते हैं। नरक से निकले हुए जीव बड़ी कठिनाई से किसी भी तरह मनुष्य पर्याय को पा भी लेते है, तो भी वे प्रायः भाग्यहीन, विकृत

(भौंडे भद्दे) अंग और रूप वाले, कुबड़ें, शरीर के ऊपरी हिस्से में टेढ़े
बौने, बहरे, काने, टूँटे, लंगड़े, अपाहिज, गूंगे, तुतलाने वाले या मम
करने वाले, अंधे, एक आँख से हीन, व चिपटी आँख वाले, पिशाच से ग्र
कोढ़ आदि किसी व्याधि व ज्वर आदि किसी रोग से पीड़ित, कम उम्र व
शस्त्र आदि द्वारा चोट खाए हुए या मारे जाने योग्य, मूर्ख, शरीर पर अ
कुलक्षणों से व्याप्त, दुर्बल, बुरे कद वाले (बहुत ही छोटे या बहुत ही
या बहुत ही लम्बे कद के), शरीर के बुरे संहनन और बुरे संस्थान (डौलड
ढांचे) वाले, कुरूप, कृपण या रंक, जाति आदि से हीन, और हीन परा
वाले, सदैव सुखों से वंचित और अशुभ परिणाम वाले दुःख के भागी
दिखाई देते हैं।

इस प्रकार नरक से निकले हुए तथा बचे हुए शेष कर्मों से युक्त
लोक में प्राणिवधरूप पाप कर्म करने वाले वे जीव नरक, तिर्यञ्चयोनि
कुमनुष्य पर्याय में भ्रमण करते हुए अनन्त दुःखों को पाते रहते हैं।

अतः उपर्युक्त प्राणवध-हिंसा का फल-विपाक (भोग) इस मनुष्य भव
और पर भव में अल्पसुख और बहुत दुःख वाला है, महा भय पैदा करने वा
गाढ़ कर्मरूपी रज से युक्त है, अत्यन्त दारुण, अत्यन्त कठोर एवं अत्य
असात-दुःख को देने वाला है, हजारों वर्षों में छूटता है। इसे बिना भोगे
छुटकारा नहीं होता। प्राणिवध का ऐसा फलविपाक ज्ञातकुलनंदन महा
वीरवर (महावीर) नाम वाले श्री जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

जिस का फलविपाक इतना भयंकर है, ऐसा वह पूर्वोक्त प्राणवध त
क्रोधरूप है, रौद्रध्यान से उत्पन्न है, अधम मनुष्यों का कार्य है, अनार्य पु
द्वारा आचरणीय है, घृणारहित नृशंस, महाभयों का हेतु, भयंकर, त्रासदाय
अन्यायरूप या सरलता से शून्य कार्य है, तथा उद्वेग पैदा करने वाला, दू
के प्राणों की परवाह न करने वाला, धर्म से रहित, स्नेहपिपासा से शून्य, करु
से हीन है, इसका अन्तिम परिणाम नरकावास में जाना ही है, यह मोह
महाभय को बढ़ाने वाला एवं मृत्यु के समय दीनता पैदा करने वाला है।
प्रकार पहला अधर्मद्वार समाप्त हुआ; ऐसा मैं कहता हूं।

व्याख्या

चतुर्थ सूत्र के इस शेष मूलपाठ में तिर्यञ्चगति और मनुष्यगति में हिंसा
फलस्वरूप होने वाले भयंकर दुःखों का निरूपण किया गया है। यह तो असंदिग्ध
से कहा जा सकता है कि नरकगति में हिंसक जीवों को असह्य यातनाएँ सहनी पड़
हैं। उन अपार दुःखों के बीज उस प्राणी के पूर्वकृत पापकर्म ही है, जो उस प्रा

ने जाने-अजाने स्वयं बोए है। इसीलिए मूलपाठ मे कहा गया है—'पुव्व कम्मोदयोवगता' अर्थात् पूर्वकृत कर्मों के उदय को प्राप्त।

फल भोगते समय पश्चात्ताप—जिस समय जीव हिंसा आदि पापकर्म करता है, उस समय वह भविष्य का विचार नहीं करता, उसकी बुद्धि पर अज्ञान और मोह का पर्दा पड़ा रहता है, जिसके कारण वह दूरदर्शिता से उस कर्म के भावी नतीजे पर बिलकुल नही सोचता। किन्तु जब वे ही कर्म उदय मे आते हैं और उसे उनका कटु फल भोगने को विवश होना पडता है, तब उसे अपने किये हुए कर्मों पर ग्लानि पैदा होती है, मन मे घोर पश्चात्ताप होता है, फलतः वह अपने आप की भी निन्दा करने लगता है; इससे उसके पापकर्म कुछ हलके अवश्य हो जाते हैं। हिंसक जीवों की इसी मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'**पुव्वकम्मोदयोवगता पच्छाणुसएण डज्झमाणा णिदंता पुरेकडाइं कम्माइं पावगाइं**'; अर्थात्-पूर्वकृत कर्मों के उदय मे आने पर—फल भुगवाने के लिए उद्यत होने पर—अपने पूर्वकृत पापकर्मों की निन्दा करते हुए वे पश्चात्ताप की आग में जलते हैं।

किन्तु पश्चात्ताप करते हुए भी वे बेचारे नारकीय जीव रत्नप्रभा आदि नरक भूमियो में अत्यन्त चिकने, जिनको भोगे बिना छुटकारा ही नहीं हो सकता; ऐसे निकाचित कर्मों के बन्ध के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले दु.खो का अनुभव करते हैं। इसी बात को शास्त्रकार स्पष्ट करते है—'**तहिं तहिं तारिसाणि ओसण्णचिक्कणाइं दुक्खाइं अणुभवित्ता।**'

नरकगति के बाद तिर्यञ्चगति में आगमन—सवाल यह उठता है कि वे नारकीय जीव आयुष्यक्षय हो जाने पर नरक से पुनः नरक में क्यों नही जाते? जैन सिद्धान्त की दृष्टि से इसका समाधान यह है कि नारक जीव नरक का आयुष्य क्षय हो जाने के पश्चात् नरक से निकल कर सीधा पुनः नरक में नही जा सकता। हाँ, मनुष्यगति या तिर्यञ्चगति में जन्म लेकर बाद में नरक में जा सकता है। इसी प्रकार देवगति के देव अपनी आयु क्षीण हो जाने के बाद देवलोक से च्यव (मर) कर सीधे नरक में पैदा नही होते और न वे पुनः सीधे देवपर्याय ही धारण कर सकते हैं। यही कारण है कि शास्त्रकार ने मूलपाठ मे बताया है—'**तत्तो आउक्खएण उव्वट्टिया समाणा बहवे गच्छंति तिरियवसहिं।**' अर्थात्—'आयुष्य का क्षय हो जाने पर नरक से निकले हुए बहुत-से जीव तिर्यञ्चयोनि मे पहुंचते है।' इस सूत्रपाठ में 'बहवे' शब्द स्पष्ट सूचित करता है कि नरक से निकले हुए अधिकाश जीव तिर्यञ्चयोनि को ही प्राप्त करते हैं। प्रश्न होता है कि कुछ थोड़े से नारक, जो तिर्यञ्च गति में नहीं जाते, वे कहाँ जाते है? सिद्धान्त की दृष्टि से इसका उत्तर यह है कि प्रायः तो तिर्यञ्चयोनि में या दुर्भागी मनुष्य कुलों में जन्म लेते हैं; कुछ विरले जीव ही ऐसे बचते है जिनके लिए यह सिद्धान्त है कि पहली नरकपृथ्वी से लेकर तीसरी नरकपृथ्वी तक के नारक मर

कर तीर्थंकर तक हो सकते हैं ; चौथी नरकभूमि से मर कर नारक केवलज्ञानी हो सकते हैं, पाचवीं नरकभूमि से मर कर नारक मुनिव्रतधारी हो सकते हैं, छठी नरकभूमि से मर कर नारक श्रावकव्रती-अणुव्रती श्रावक हो सकते हैं और सातवीं नरकपृथ्वी के नारक मर कर सम्यक्त्वी संज्ञी तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय हो सकते है ।

इसका आशय यह है कि जीवहिंसा करने वाले जीव पहले तो मरकर अति-रौद्रध्यानवश नरक में जाते हैं, फिर वहां भी रातदिन सतत नाना दु:खों और यातनाओं से पीड़ित होने के कारण वे धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान की बात तो सोच ही नहीं सकते हैं, अपनी आत्मा का भान भी उन्हें नहीं होता । इस कारण दुःखों से संक्लिष्ट होकर वे उनसे बचने के लिए आर्तध्यान-रौद्रध्यान के अलावा माया भी करते हैं। इसी कारण वे मर कर प्रायः तिर्यञ्चयोनि में पैदा होते हैं । बहुत विरले नारक ऐसे होते हैं,जिन्हें अपने पूर्व मनुष्यभव में ही क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हो गया हो, वे वहां शान्तभाव-समताभाव में रहकर दुःखों को भोगते है, और विशुद्ध पश्चात्ताप तथा आत्मनिन्दा करके अपने कर्मों का क्षय करते हैं । वे ही थोड़े-से नरकगत जीव वहां की आयुष्यस्थिति पूर्ण हो जाने के पश्चात् वहां से मरकर तीर्थंकर, केवली, मुनिव्रती, श्रावक या सम्यक्त्वी होते हैं । अधिकांश तो तिर्यञ्चयोनि में ही पैदा होते हैं ।

तिर्यञ्चयोनि का स्वरूप—तिर्यञ्चगति में भी नरक के समान दीर्घकाल तक दुःख भोगना पड़ता है । इतना अन्तर अवश्य है कि नरकगति के जितने क्षेत्रकृत, कालकृत और परस्परकृत दुःख तिर्यंचगति में नहीं होते । परन्तु नरकगति में नरकभूमियों मे रहने वाले समस्त नारकीय जीवों के वैक्रियलब्धि होती है, इस कारण वे भयंकर से भयंकर शारीरिक दुःख पाने और सह लेने के बाद वापिस उनका शरीर पुनः वैसा का वैसा तैयार हो जाता है, बिखरा हुआ पारा जैसे पुनः मिल जाता है, वैसे ही उनका शरीर पुनः मिल जाता है ; अतः अकाल मे ही उनका मरण नही होता । जिसका जितना आयुष्य बंधा हुआ होगा, वह नारक उतना पूर्ण आयुष्य भोग कर ही मृत्यु पाता है, पहले नही । मगर तिर्यञ्चयोनि में ऐसा नहीं होता । यहां वैक्रिय शरीर जन्म से प्राप्त नही होता । इसलिए तिर्यञ्चगति के जीवों का शरीर अंगभग होने या घातक चोट आदि लगने पर अकाल में ही कालकवलित हो जाता है । वहां शरीर के अंगोपांगो का शीघ्र जुड़ना होता नही ; या कटा हुआ अवयव प्रायः पुनः मिलता नहीं । इसी कारण शास्त्रकार तिर्यञ्चगति के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते है—'तिरियवसहिं दुक्खुत्तारं सुदारुणं जम्मणमरणजरावाहिपरियट्टणारहट्टं जलथल-खहचर-परोप्परविहिंसणपवंचं'; अर्थात्—तिर्यञ्चयोनि दुःख से पार की जाने वाली व अत्यन्त भयंकर है, जिसमें रेंहट के समान जन्म, मरण, बुढ़ापे और व्याधियों के चक्र चलते रहते हैं और जहां जलचर, स्थलचर, खेचर आदि जीवों में परस्पर हिंसा-प्रतिहिंसा का प्रपंच चलता रहता है ।'

नरकगति में जैसे मृत्यु की अवधि निश्चित होती है, वैसे तिर्यञ्चगति में मृत्यु की अवधि पूर्णतः निश्चित नहीं होती ; और न नारकों की तरह तिर्यञ्चों का जन्म ही खतरे से रहित होता है। कई तिर्यञ्च पशु पक्षी या विकलेन्द्रिय जीव तो जन्म लेते ही तुरन्त मर जाते है। मा के गर्भ में, अंडे के खोल में, या वृक्षों के खोखले में अथवा मकानों मे विविध छिद्रवाली जगहों या गुफा, खोह आदि जगहों में वही के वही खत्म हो जाते है या दूसरे जानवरों या मनुष्यों द्वारा खत्म कर दिये जाते हैं। उनकी सुरक्षा की कोई गारंटी नहीं होती। तिर्यंचगति मे बार-बार उसी-उसी योनि मे जन्म और मृत्यु का चक्र चलता रहता है, बुढ़ापे और व्याधियों के दौर भी चलते रहते है। बैल आदि पशु बुढापा आने पर या बीमारियो से घिर जाने पर असहाय, पराधीन और विवश हो जाता है, फिर भी उसका स्वार्थी मालिक निर्दयता-पूर्वक बेचारे उस मूक प्राणी से काम लेता रहता है, वह उसे मारता-पीटता भी है। उसे बीमारी मे कोई दवा देने वाला नहीं रहता, न उसे अपने जन्मदाता माता-पिता ही बड़ी उम्र में कोई मदद करते है। प्रायः उसका अपने माता-पिता से वियोग हो जाता है। क्योंकि बड़ा होते ही मालिक उसे दूसरे के हाथों बेच देता है। इसलिए तिर्यञ्चगति में असहायता, अनाथता, अशरणता, अरक्षा, पराधीनता का भयंकर दुःख है। इसके सिवाय जलचर आदि जीवों में परस्पर एक दूसरे के घात-प्रतिघात की परम्परा चलती रहती है ; जिसके कारण रातदिन प्राणों के वियोग का खतरा बना रहता है। इस खतरे से बचने का कोई उपाय भी तो उन तिर्यञ्चजीवों के पास नहीं ; जहाँ बैठकर, रहकर या छिपकर अथवा आश्रय लेकर वे त्राण पा सकें। जल में छोटी मछली को बड़ी मछली निगल जाती है, बड़ी मछली को भी मगरमच्छ आदि निगल जाते हैं, इसी प्रकार सर्प को मोर अथवा नेवला, चूहे को बिल्ली, बकरी को सिंह, कबूतर को बाज देखते ही पकड़ लेता है ; इन निर्बलों के पास सबलों से बचने का कोई उपाय या स्थान भी नहीं होता। इसलिए यह निरुपायता तिर्यंचों को मन मार कर सहनी पड़ती है। इसी कारण तिर्यञ्चगति अत्यन्त दारुण और दुःख से पार करने योग्य बताई है।

तिर्यञ्च योनि में प्राप्त होने वाले दुःख—नरकभूमियों के दुःखों के प्रत्यक्ष न होने से कदाचित् कोई बुद्धिजीवी उन्हें मानने से इन्कार कर दे, परन्तु तिर्यञ्च योनियों में प्राप्त होने वाले भयंकर से भयंकर दुःख तो सारे संसार के सामने प्रत्यक्ष हैं, अनुभव सिद्ध हैं और जगत् मे प्रसिद्ध हैं। अतः तिर्यञ्चगति में होने वाले दुःखों से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। इसी बात को स्पष्ट करते हुए मूलपाठ में कहा है—'इमं च जगपागडं वरागा दुक्खं पावेंति दीहकालं।' अर्थात्—'बेचारे वे दीन हीन प्राणी दीर्घकाल तक इस प्रत्यक्ष दृश्यमान और जगत्प्रसिद्ध दुःख को पाते हैं।'

तिर्यञ्चयोनि मे किस-किस प्रकार से और कैसे-कैसे दुःख मिलते हैं ? इसका

स्पष्ट वर्णन शास्त्रकार ने मूलपाठ में किया है, अतः इसके बारे में विशेष स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। 'सीउण्हं' से लेकर 'दवग्गिजालदहणाइयाइं' य तक का पाठ तिर्यञ्चयोनि के दु:खों की कहानी अपने आप कह रहा है, और ये सारे और इसी से मिलते जुलते अन्य सैकड़ों दुःख तिर्यञ्च योनि के जीवों पर आ पड़ते हम सब देखते हैं।

विविध दुःखों से पीड़ित तिर्यञ्चों द्वारा नये दुःखदायक कठोर कर्मों का उपार्जन—यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अत्यन्त दुःख में प्राणी भान भूल जाता है, उसे अपनी आत्मा का बोध होना तो दूर रहा; अपने भविष्य के बारे में भी कोई चिन्तन नहीं होता ; और न अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए कोई उपाय ही सूझता है। नरकगति के सैकड़ों घोरातिघोर दारुण दुःखों से प्रज्वलित होकर एवं पूर्व कर्मों में भोगने से बचे हुए कर्मों का जत्था साथ लेकर तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय योनियों में आए हुए पापात्मा जीव भी यहाँ पूर्व अभ्यास, संस्कार, अज्ञान और मोहवश तथा प्रमाद,राग (मोह), और द्वेष के कारण अत्यन्त दुःखजनक और कठोर बहुत-से कर्मों का संचय-उपार्जन कर लेते हैं। इसी बात को शास्त्रकार स्पष्ट करते है—'**एवं ते दुक्खसयसंपलित्ता नरगाओ आगया इहं सावसेसकम्मा तिरिक्खपंचेंदिएसु पावंति पावकारी कम्माणि पमाय-राग-दोस-बहुसंचियाइं अतीव अस्सायकक्कसाइं।**' आशय यह है कि अनेक दुःखों से घिरे होने के कारण पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनि में भी जीव पुराने कर्मों को क्षय तो कर नहीं पाता; क्योंकि वह दुःखों को हायतोबा मचाते हुए आर्त्त रौद्रध्यानग्रस्त होकर भोगता या सहता है। इस कारण अज्ञान, राग, द्वेष या प्रमादवश नये कर्मों का जत्था इकट्ठा कर लेता है। दुष्कर्मों की परम्परा जहाँ एक बार चली कि वह फिर विविध योनियों में या कुगतियों में जाने के बाद भी अपने परिवार को बढ़ाती ही है, घटाती नहीं। निष्कर्ष यह है कि वह पूर्व कर्मों का भुगतान तो कर ही नहीं पाता, और नये कर्मों का जत्था संचित कर लेता है। जिन्हें भोगना बड़ा दुष्कर और कठिन होता है। जैसे कोई कर्जदार अपने साहूकार से लिए कर्ज का मूलधन तो चुका ही नहीं पाए, अपितु लाचार होकर और नया कर्ज सिर पर चढ़ा ले तो उसे कर्ज चुकाना कितना कष्टकारक और अप्रिय लगता है, वैसे ही नरक से तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में आया हुआ जीव भी पुराने दुष्कर्मों का कर्ज तो अभी तक चुका नहीं पाया, किन्तु प्रमाद राग द्वेष आदि विकारों के वशीभूत होकर अशुभ कर्मों का नया कर्ज और सिर पर चढ़ा लेता है।

कर्मों के अतिसंचय के कारण—प्रस्तुत पाठ में 'पमाय-राग-दोस-बहुसंचियाइं' कहा है। उसका आशय यह है कि कर्मों का बहुत-सा संचय प्रमाद, राग और द्वेष के कारण होता है। प्रमाद के ५ भेद हैं—मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। मद बढ़ाने वाले जितने भी पदार्थ हैं, वे सब के सब सुबुद्धि को लुप्त कर देते हैं,

इसलिए कहीं-कहीं 'मद' के बदले मद्य (मदिरा) शब्द भी मिलता है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों में लुब्ध होकर प्राणी आत्मभान भूल जाता है, उसे विषयो का इतना नशा चढ़ जाता है कि वह उसमें चूर होकर अहिंसा आदि कर्त्तव्यों को भूल जाता है। क्रोधादि चार कषायों में भी हिंसा एवं क्रूरता का भाव बढ़ जाता है। द्रव्य निद्रा में भी मनुष्य आलस्यवश हो जाता है, अतः अहिंसा का स्वरूप जानते हुए भी पुरुषार्थ नहीं कर पाता। भावनिद्रा तो और भी भयंकर है, उसमे तो मनुष्य बात-बात पर असावधान होकर गलतियाँ करता है, पद-पद पर गफलत के कारण भूलें कर बैठता है। कहीं-कही 'निद्रा' के बदले 'निन्दा' शब्द भी मिलता है; परन्तु निन्दा, चुगली, गाली, अपशब्द प्रयोग आदि सब वाणी के प्रयोग मे असावधानी के कारण होते हैं, इसलिए निद्रा मे ही निन्दा का समावेश हो जाता है। अब रही विकथा। वह स्त्री विकथा, भक्त (भोजन) विकथा, राजविकथा और देशविकथा के भेद से ४ प्रकार की हैं। ये चारों विकथाएँ जीवन में राग-द्वेष आदि विकार पैदा करती हैं, इसलिए कर्मबन्ध की कारण हैं। यही कारण है कि ये पांचो प्रकार के प्रमाद कर्मों का बहुत अधिकमात्रा में और शीघ्र बंध करते है।

इसी प्रकार राग और द्वेष भी कर्मों को शीघ्र और अतिमात्रा मे संचित करने के कारण है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है— **रागो य दोसो विय कम्मबीयं** 'राग और द्वेष ये दोनों कर्मो के बीज हैं।' मोह, स्वार्थ, अविवेक, मूढता, लोभ, तृष्णा, लालसा, लोलुपता, आसक्ति, माया, मूर्च्छा, दुःसंग आदि सब राग के ही परिवार हैं। और क्रोध, घृणा, वैर, विरोध, दुश्मनी, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, डाह (मत्सर), अभिमान, प्रतिस्पर्धा, नीचा दिखाने या दूसरों को गिराने या सताने की भावना, ये सब द्वेष के के परिवार हैं। राग और द्वेष अपने परिवारसहित तीव्र गति से भयंकर से भयंकर दुष्कर्मों का बंध करते हैं। हिंसा में भी राग, द्वेष और कषाय ही निमित्त होते हैं।

तिर्यञ्च योनि के मुख्य भेद—शास्त्रकार ने तिर्यञ्चयोनि के मुख्य पाँच भेद बताए है—पचेन्द्रिय तिर्यञ्च, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय। पञ्चेन्द्रिय में नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव चारों प्रकार हैं। उनमें से सिर्फ जलचर, स्थलचर, खेचर, उरःपरिसर्प और भुजपरिसर्प ये पांच प्रकार के पशुपक्षी आदि की ही गणना तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में होती है, बाकी के एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीवों की गणना एकान्त तिर्यञ्च में ही होती है। मतलब यह है कि तिर्यञ्च योनि का परिवार बहुत ही लंबा चौड़ा है।

तिर्यञ्चयोनियों की कुलकोटियाँ—उच्च या नीच गोत्रों के प्रकृतिविशेष के उदय से प्राप्त होने वाले वंशों को कुल कहते हैं। उन कुलों के समूह या कुलों की विभिन्न श्रेणियों (दर्जों) को कोटि कहते हैं। वास्तव में यहाँ 'कुल कोटि' शब्द जीवों के उत्पत्ति स्थान के प्रकारों या किस्मों के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। जैसे तिर्यञ्च

पंचेन्द्रिय के मुख्य ५ भेद तो बता दिये, लेकिन किस भेद में किस किस्म की तिर्यञ्च-योनि में कोई जीव पैदा हुआ, इसका पता कुलकोटि से लग जाता है। यही कारण है कि शास्त्रों में विभिन्न प्रकार के तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों तथा एकेन्द्रियों से लेकर चतुरिन्द्रियों (चार इन्द्रियों वाले जीवों) तक की कुलकोटियों की निश्चित संख्या बता दी गई है। वह क्रमशः इस प्रकार है—

जलचर तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीवों की कुलकोटियाँ	१२॥ लाख
स्थलचरों में चतुष्पद पंचेन्द्रिय ,, ,, ,,	१० लाख
,, ,, उरपरिसर्प ,, ,, ,,	१० लाख
,, ,, भुजपरिसर्प ,, ,, ,,	९ लाख
खेचर (पक्षिगण) पंचेन्द्रिय ,, ,, ,,	१२ लाख
चार इन्द्रियों वाले जीवों की कुलकोटियाँ	९ लाख
तीन ,, ,, ,, ,, ,,	८ लाख
दो ,, ,, ,, ,, ,,	७ लाख
एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक जीवों की कुलकोटियाँ	१२ लाख
,, ,, अप्कायिक ,, ,,	७ लाख
,, ,, अग्निकायिक ,, ,,	३ लाख
,, ,, वायुकायिक ,, ,,	७ लाख
,, ,, वनस्पतिकायिक ,, ,,	२८ लाख
	कुल योग १३४½ लाख

इनके साथ मनुष्यों की १२ लाख, देवों की २६ लाख और नारकों की २५ लाख कुलकोटियाँ मिलाने से संसार के समस्त जीवों की कुलकोटियाँ[1] एक करोड़ साढ़े सत्तानवें लाख होती हैं।

नरक भूमियों से आयुष्य पूर्ण करके प्रायः पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की जलचर आदि विभिन्न किस्मों की पूर्वोक्त ५३॥ लाख योनियों में वह नरक से आया हुआ जीव पैदा होता है और मरता है। तत्पश्चात् क्रमशः स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियों वाले जीवों की ९ लाख कुलकोटियों में परिभ्रमण करता है। फिर स्पर्शन, रसन और घ्राण इन तीन इन्द्रियों वाले जीवों की ८ लाख कुल कोटियों में भ्रमण

---

१ देखिए संग्रहिणी गाथा—

एगिंदिएसु पंचसु बारस सत्त तिय सत्त अट्ठवीसा य।
विगलेसु सत्त अट्ठ नव, जल-खह-चउप्पय-उरगभुयगे ॥१॥
अद्धतेरस बारस दस दस नवगं नरामरे नरए।
बारस छव्वीस पणवीस हुंति कुलकोडिसयसहस्साइं ॥२॥ —सम्पादक

करता है, तदनन्तर स्पर्शन और रसन इन दो इन्द्रियों वाले जीवों की ७ लाख कुल-कोटियों मे जन्म मरण के चक्कर काटता है, उसके बाद सिर्फ स्पर्शनेन्द्रिय को पाए हुए पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीवों की पूर्वोक्त ५७ लाख कुल कोटियों में बारबार जन्म-मरण पाता रहता है।

विकलेन्द्रिय और एकेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनियों के दुःख—पञ्चेन्द्रिय तिर्यच-योनियो में नरकगति के सदृश दुःखानुभव करने के बाद शेष दुष्कर्मो का फल भोगने के लिए वहाँ से निकल कर चतुरिन्द्रिय जीव योनियों में जन्म लेते हैं। चार इन्द्रियों वाले भौंरे, टिड्डी, मक्खी, मच्छर आदि की विविध योनियो मे जीव बारबार उन्ही-उन्ही योनियों मे जन्म-मरण का दु ख भोगते हुए संख्यात काल तक भ्रमण करते हैं। उनके दुःख भी नैरयिकों के समान अत्यन्त तीव्र हैं। उसके पश्चात् हजारों वर्षो तक चार इन्द्रियों वाले जीवो की पर्यायो को बिताकर शेष पाप कर्मों को भोगने के लिए वहाँ से निकल कर तीन इन्द्रियों वाले जीवों की पर्याय धारण करते है, वहाँ भी हजारो (संख्यात) वर्ष तक जन्म-मरण के चक्कर लगाता है। तत्पश्चात् नरक के सदृश तीव्र दु खों को सह कर वह जीव शेष कर्मो को भोगने के लिए द्वीन्द्रिय पर्याय को धारण करता है, जहाँ हजारो वर्षों तक नरकसदृश असीम पीड़ा का अनुभव करता है। इतने दीर्घकाल तक उस हिंसा के कटुफल को भोगने पर भी बाकी बचे हुए दुष्कर्मो को भोगने के लिए वह एकेन्द्रिय जाति में जन्म लेता है, जहाँ उसकी चेतना सुषुप्त यामूर्च्छित होती है। उस अव्यक्त चेतनावस्था मे उसे कर्म के केवल सुख-दुःख रूप फल का यत्किञ्चित् भान होता है। उसका वह ज्ञान भी अक्षर के अनन्तवें भाग जितना ही होता है। एके-न्द्रिय जीव बेहोश हुए आदमी के समान अचेत अवस्था में पड़े रहते है। वहा भी बार-बार उन्ही-उन्ही योनियो में जन्म लेकर और मर कर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में असंख्यात काल तक और वनस्पतिकाय में अनन्त काल तक नारक के समान असीम और अवांछनीय दु ख पाते है।

एकेन्द्रिय जीवों के भेद-प्रभेद का स्पष्टीकरण—एकेन्द्रिय जीवों के मुख्य भेद पांच है—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। इन पाचों के सूक्ष्म और बादर के भेद से दो प्रकार है। इनका स्वरूप हम इसी चौथे सूत्र के पूर्व मूलपाठ की व्याख्या में बता आए है। इन पूर्वोक्त १० भेदों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक रूप से दो भेद हैं। जिनका शरीर आदि पूर्ण बन जाता है, वे पर्याप्तक और जिनका शरीर पूर्ण नही बन पाया या नहीं बनेगा, वे अपर्याप्तिक कहलाते है। अपर्याप्तक के भी दो भेद हैं—निर्वृ त्ति अपर्याप्तक और लब्धि अपर्याप्तक। जिनका शरीर अभी तक पूर्ण नही हुआ, किन्तु उसमें पूर्ण होने की योग्यता है, उन्हें निर्वृ त्ति अपर्याप्तक कहते हैं और जिनका शरीर पूर्ण होने से पहले ही मरण हो जाता है, उन्हें लब्धि-अपर्याप्तक कहते हैं।

वनस्पतिकायिक जीवों के इनके अतिरिक्त दो भेद और हैं—प्रत्येक वनस्पतिकाय और साधारण वनस्पतिकाय। जिस वृक्ष, फूल, फल आदि वनस्पति के एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, उसे प्रत्येक वनस्पतिकाय और जिस वनस्पति के एक ही शरीर मे अनन्त जीव रहते हैं,अनन्त जीव मालिक हैं और ये एक ही साथ जन्म लेते हैं, श्वास लेते-छोडते हैं, आहार लेते हैं व मरते हैं; उन्हें साधारण वनस्पतिकाय कहते हैं। 'प्रत्येक शरीर नाम', नामकर्म की ६३ प्रकृतियो में से एक प्रकृति है, उसके उदय से उत्पन्न शरीर वाले जीव को, प्रत्येक शरीरी कहते हैं। इसीलिए शास्त्र के मूलपाठ में कहा है—'पत्तेय सरीर नाम'। प्रत्येक शरीरी वनस्पति के जीवों के भिन्न-भिन्न शरीर होते हैं। इसके भी दो भेद हैं—सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक। जहां एक वनस्पति वृक्ष, लता आदि के आश्रित अलग-अलग वनस्पतियां (पत्ते, फूल, फल आदि के रूप मे) रहती हों और उनका अपना अस्तित्व व व्यक्तित्व अलग-अलग हो, वहां सप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीरी वनस्पति समझना चाहिये। जैसे सम्पूर्ण वृक्ष का स्वामी एक जीव होने पर भी उसके मूल (जड), कन्द (जड़ के ऊपर लगने वाला आलू सूरण आदि), त्वचा (छाल), कोंपल, पत्ता, शाखा, फूल, फल और बीज—इन सब में अलग-अलग जीव है, इनके स्वामी भी अलग-अलग हैं, शरीर भी भिन्न-भिन्न है; किन्तु जब इनको तोड़ा जाता है तो इनका (एक समान चिकना) एक-सा भंग हो, तब वह वनस्पति सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहलाती है, यदि उसका भंग खुर्दरा, टेढा मेढा टुकड़े के रूप में हो, तब उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहना चाहिये। कहा भी है—

> कंदे-मूले-छल्ली-पवाल-साल-दल-कुसुमे।
> समभंगे सति अणंता, असमे सदि होंति पत्तेया॥

अर्थात्—'कंद, मूल, त्वचा, कोंपल, शाखा, पत्ता और फूल, इनका समान भंग हो तो ये अनन्तकाय (सप्रतिष्ठित प्रत्येक) होते हैं, और जब इनका समान भंग न हो, तब अप्रतिष्ठित प्रत्येक होते हैं।'

साधारणशरीरी वनस्पति का लक्षण इस प्रकार है—

> 'साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
> साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं॥'

अर्थात्—एक शरीर में एक साथ उत्पन्न हुए अनन्त साधारण जीवों का जहां एक साथ एक सरीखा आहार होता हो, इनके शरीर और इन्द्रियों की रचना, पर्याप्ति भी एक सरीखी और एक साथ होती हो, श्वासोच्छ्वास भी सदृश और एक साथ होता हो, यही साधारण जीवों का सामान्य लक्षण बताया गया है।

प्रत्येक शरीरी जीवन मे वह जीव असंख्यात काल तक भ्रमण करता है। इनमें पृथ्वीकाय, जलकाय अग्निकाय, वायुकाय और प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीवों की गणना

हो जाती है। साधारण वनस्पतिकाय (अनन्तकाय) में अनन्तकाल तक भ्रमण करता है। इसे ही स्पष्ट किया गया है—'पत्तेयसरीरजीविएसु कालमसंखेज्जग भमति......... अणंतकाए अणंतकालं।'

एकेन्द्रियपर्याय में प्राप्त होने वाले दुःख—कई लोग, जो जैन सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हैं, यों कह दिया करते है कि "पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति में हमे तो कोई चैतन्य या जीव दिखाई नही देता। जब इनमें चेतना (आत्मा) ही नहीं है, तब इनके लिए क्या सुख और क्या दुःख, सब एक समान है। अगर इन्हे सुख-दुःख का अनुभव होता तो ये दुःख देने वाले का प्रतीकार—सामना करते और सुख देने वाले पर आशीर्वाद बरसाते !" इसका यों तो हम पूर्वसूत्र की व्याख्या में स्पष्ट समाधान कर आए हैं कि इनमे जीव कैसे हैं और इनमें सुख-दुःख का संवेदन तथा अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रिया कैसे होती है ? एकेन्द्रिय जीवों का अस्तित्व जब स्पष्ट है तो उनमे चैतन्य होते हुए भी सुख-दुःख का संवेदन न हो, यह कैसे संभव है ? किन्तु वहां चैतन्य अव्यक्त, मूर्च्छित या सुषुप्त होने के कारण आम आदमी को उनके संवेदन का व्यक्तरूप मे पता नही लगता। मगर आजकल के वैज्ञानिकों ने विविध दूरवीक्षण यंत्रों, साधनों और औजारों द्वारा इसका पता लगा लिया है और उन्होने सिद्ध कर दिया है कि इनके अदर भी सुख-दुःख का संवेदन और अनुकूल प्रतिकूल प्रतिक्रिया होती है। अग्नि की प्रतिक्रिया ज्वालामुखी तथा भड़कती हुई लपटो के रूप में, पानी की प्रतिक्रिया बाढ के रूप में, हवा की प्रतिक्रिया तूफान और आंधी वगैरह के रूप में, पृथ्वी की प्रतिक्रिया भूकंप और पाषाणपात के रूप में तथा वनस्पति की प्रतिक्रिया जहरीली गैस, धुंआ आदि के रूप मे या संगीत या वाद्य सुनाने से फसल की उपज में वृद्धि आदि के रूप मे देखी जा सकती है। इन एकेन्द्रिय जीवों के पास केवल शरीर है, भाषा, द्रव्यमन या अन्य इन्द्रियां आदि नही है, जिससे वे गहराई से चिन्तन कर सकें, संसार के अन्य जीवो के व्यवहार को देख-सुन सकें अथवा अपने भावों को स्पष्ट व्यक्त कर सकें। अगर कोई गहराई से सोचे और इनकी क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं का का गम्भीर अध्ययन करे तो निःसंदेह उसे एकेन्द्रिय जीवों के संवेदनों का पता लगे बिना न रहेगा। इसीलिए सर्वज्ञ तीर्थङ्करों के द्वारा प्राप्त प्ररूपणा के आधार पर ज्ञानी शास्त्रकार स्पष्ट कहते हैं—'**फासिंदियभावसंपउत्ता दुक्खसमुदयं इमं अणिट्ठं पावंति पुणो-पुणो तहिं-तहिं चेव " कुद्दाल-कुलियदालण ... " अगिदहणाइयाइं।**" मूलार्थ मे हम इन सबका अर्थ स्पष्ट कर आए हैं। इसलिए और अधिक लिखने की आवश्यकता न समझकर इतना ही कहना उचित समझते हैं कि इन एकेन्द्रिय जीवों को प्राप्त होने वाला दुःख नारकों और त्रस जीवों से किसी कदर कम नही होता। एकेन्द्रिय जीवों की कुल ५७ लाख कुलकोटियों (उत्पत्ति स्थानों) मे अनन्तकाल तक

जन्ममरण के प्रवाह में बहते रहना, क्या कम दुःखकारी है ? किसी भी व्यक्त चेतनाशील जीव को इतने लम्बे समय तक एक ही प्रकार के एकेन्द्रिय जीवयोनियों में रहने की सजा दी जाय तो उसके लिए वह कितनी भयंकर, कितनी दुःसह्य और कितनी दुःखकर होगी ? इसी पर से एकेन्द्रिय जीवों के वचनागोचर दुःखों का अनुमान लगाया जा सकता है ! नरक भूमियों में प्राप्त होने वाले दुःख नारकों द्वारा शब्दों से व्यक्त किये जा सकते हैं, लेकिन एकेन्द्रिय जीव तो शब्दों से भी अपने दुःखों को व्यक्त नहीं कर सकते। इन पूर्वोक्त दुःखों के सिवाय सबसे भयंकर दुःख तो संसार में जन्म-मरण का है, जिसे वे सदा-सर्वदा भोगते रहते हैं। इसीलिए संसार के समस्त प्राणियों में अधमाधम पर्याय एकेन्द्रिय की मानी गई है। जैसे किसी मनुष्य को चाबुक, लाठी आदि से लगातार मारने पर वह मार खाते-खाते जब सह नहीं सकता तो बेहोश होकर गिर जाता है। यद्यपि बेहोश अवस्था भी अत्यन्त दुःख से होती है, परन्तु बेहोशी की हालत में भी दुःख तो मौजूद रहता है, लेकिन व्यक्तरूप से उसे महसूस नहीं होता। यही हाल एकेन्द्रिय जीवों का और खासकर अनन्तकायिक निगोद के जीवों का है, जो बार-बार जन्म-मरण करने से उत्पन्न हुए दारुण दुःखों का अनुभव करते-करते अचेत-से रहते हैं। इसलिए इनका भी दुःख नारकों के समान तीव्र है।

दूसरी बात यह है कि वे बड़े हिंसक जीव नरक से निकल कर तिर्यञ्च योनि में और उसमें भी त्रसपर्याय में उन शेष कर्मों के फलभोग के लिए दो हजार सागरोपम से कुछ अधिक काल तक रह सकते हैं। इस अवधि से अधिक त्रसपर्याय में कोई भी जीव नहीं रह सकता। फिर तो उसे अपने शेष कर्मों को भोगने के लिए एकेन्द्रिय (स्थावर) पर्याय की ही शरण लेनी पड़ती है। उसमें भी पृथ्वीकाय आदि चारों स्थावरों में असंख्यात काल तक रह कर फिर साधारण वनस्पतिकाय में ही वह अपना डेरा जमा लेता है; जहाँ से अनन्त काल तक उसका निकलना दुष्कर होता है। इस पर से यह सहज ही समझा जा सकता है कि अनन्तकाल तक जन्म-मरण का दुःख कितना भयंकर दर्दनाक होता है।

मनुष्यपर्याय पाकर भी सुख नहीं—हिंसा आदि भयङ्कर दुष्कर्मों का सेवन करके आत्मा अपनी अनन्तज्ञानादि शक्तियों को नष्ट कर लेता है और उन दुष्कर्मों का फल भोगने के लिए नरक में जाता है, वहाँ पर उनका फल पूरा न भोग सकने के कारण तिर्यञ्चगति में विविध योनियों में भटकता है; किन्तु कदाचित् किसी पुण्यकर्म के उदय से उन बाकी रहे कर्मों का फल भोगने के लिए बड़ी कठिनाई से मनुष्यगति में आ जाय और मनुष्यपर्याय को पा ले तो वहाँ भी दुर्भाग्यदशा प्रायः उसका पल्ला नहीं छोड़ती। इसी बात को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

' **अधन्ना ते वि य दीसंति पायसो विकयविगलरूवा ...... सावसेसकम्मा उवट्टा समाणा।**' मूलार्थ में हम इसे स्पष्ट कर आए है। इसका निष्कर्ष यह है कि मनुष्य जन्म पाकर भी वे प्रायः रोग, शोक, दुःख, दारिद्रय, विकलांगता, दुर्बलता, मूर्खता आदि-आदि अनेक दुःखों से घिरे रहते हैं। मनुष्य जन्म पाकर भी ऐसे जीव प्रायः सद्बोध नही प्राप्त कर सकते। वे एक के बाद एक दुःख का अन्त करने मे ही सतत लगे रहते है और इसी उधेड़ बुन में अपनी सारी जिंदगी पूरी कर देते हैं। इसीलिए मनुष्यजन्म पाने से भी उन्हें कोई लाभ नहीं होता। पूर्वकृत अशुभ कर्मों मे से शेष बचे हुए कर्मों का फल भोगने में ही सारी जिंदगी व्यतीत हो जाती है। वह मनुष्य-जन्म मे नये अशुभ कर्मों को रोक नही पाता; क्योकि अज्ञान और मोह का इतना घना अंधेरा उसके मन और बुद्धि पर छाया रहता है कि वह नवीन अशुभ कर्मों को आने से रोकने के बजाय और अधिक कर्मदल इकट्ठे कर लेता है। उसे शरीर भी इतना सबल और मनोबलशाली नही मिलता कि वह तपश्चर्या करके तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की उत्साहपूर्वक निर्मल आराधना करके अपने जीवन मे पूर्व उपार्जित कर्मों को सर्वथा क्षय कर सके और नवीन कर्मो के प्रवाह को रोक सके। यही कारण है कि फिर वह अपने लिए जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण करने की सामग्री जुटा लेता है और बरबस फिर से उसकी अनन्त जन्म-मरण की यात्रा शुरू हो जाती है। इसीलिए शास्त्रकार आगे स्पष्ट कहते है—"**एवं णरगं तिरिक्खजोणिं कुमाणुसत्तं च हिंडमाणा पावंति अणंताइं दुक्खाइं पावकारी।**" अर्थात् वे हिंसादि पापकर्म करने वाले इस (पूर्वोक्त) प्रकार से नरकों में, तिर्यञ्चयोनियों में और कुमनुष्यपर्याय में चक्कर लगाते हुए अनन्त दुःखों को पाते रहते हैं।

'प्रायशः' शब्द का स्पष्टीकरण—मनुष्यपर्याय को पाने वाले जीवों में से कुछ ऐसे भी होते है; जो नरक से निकल कर सीधे मनुष्यपर्याय में तीर्थङ्कर, केवलज्ञानी, *मुनिव्रतधारी, श्रावकव्रती, या सम्यक्त्वी होते हैं; वे मनुष्यपर्याय मे दुर्भाग्य के शिकार* नही होते और जिस प्रकार की कुमनुष्यत्वप्राप्ति का शास्त्रकार ने चित्रण किया है, उस प्रकार की स्थिति से कहीं अधिक अच्छी स्थिति वे प्राप्त करते हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने मूलपाठ में स्पष्ट कर दिया है—'**ते वि य दीसंति पायसो विकयविगल-रूवा ......**।' इस 'पायसो' शब्द से यह स्पष्ट हो गया कि नरक से आकर मनुष्य पर्याय प्राप्त करने वालों में तीर्थंकरादि कुछ आत्मा इसके अपवाद हैं, जो अंधे, लंगड़े, अपाहिज, रोगी, दुर्बल, निर्धन आदि भाग्यहीनता से ग्रस्त नही होते।

कर्मफल भोगे बिना छुटकारा नहीं—कोई भी कर्म हो, वह अपना फल अवश्य देता है। हिंसा आदि दुष्कर्मों से रौद्र आदि परिणाम होते हैं और रौद्र आदि परिणामों से निकाचित रूप से कर्मबन्ध होता है, जिसे भोगे बिना कोई छुटकारा नही। वे तीर्थंकर

मुनि, चक्रवर्ती या राजा-महाराजा तक को भी नहीं छोड़ते, मामूली आदमी की तो बात ही क्या है ? जैन इतिहास मे आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के जीवन का एक ज्वलन्त उदाहरण इस विषय मे प्रस्तुत किया जा सकता है। लाभान्तराय कर्म के उदय के कारण उन्हें एक वर्ष मुनि के योग्य कल्पनीय आहार नहीं मिला, इस कारण उन्हे एक वर्ष तक अपना अभिग्रह तप करना पड़ा। इसी प्रकार राजा श्रेणिक ने रौद्र-ध्यानवश निकाचित रूप से नरकगति का बंध कर लिया था। उसके पश्चात् उन्होंने क्षायिक सम्यक्त्व भी प्राप्त किया, भविष्य में तीर्थंकर नामकर्म भी उपार्जित किया, लेकिन उन्हें नरकगति में अवश्य जाना पड़ा। मतलब यह है कि रौद्र परिणामवश, ऐसे गाढ रूप से बांधे हुए कर्मों का फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है। इसी बात को शास्त्रकार ने स्पष्ट किया है—'न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो त्ति।'

प्राणवध के दुष्परिणामों की भयंकरता—पूर्वोक्त मूलपाठ के द्वारा हिंसा के कटुफलों का स्पष्टीकरण करने के बाद शास्त्रकार निष्कर्ष रूप में प्राणवध (हिंसा) की भयंकरता संक्षेप में बताते हैं—"एसो सो पाणवहस्स फलविवागो''''''' वाससहस्सेहिं मुच्चती।'''''एसो सो पाणवहो चंडो रुद्दो '''''' मरणवेमणसो।' इसका अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है, जिसे मूलार्थ में हम दे आए हैं। हिंसा के भयंकर फलों का निष्कर्ष बताने के साथ-साथ हिंसा की भयंकरता और कठोरता का वर्णन जो प्रारम्भ में किया था, उस का ही दुबारा पुनरुक्ति करके भी चौथे सूत्र के प्रथम अधर्म द्वार के उपसंहार के रूप में निरूपण किया है। दुबारा उसी बात को दोहराने के पीछे यही आशय प्रतीत होता है, कि हिंसा की निकृष्टता या अकर्त्तव्यता की बात जनता के मन मे जम जाय। हिंसा आदि की अनाचरणीयता या निकृष्टता की बात किसी व्यक्ति के दिल-दिमाग में जब अच्छी तरह ठस जाती है तो वह पुनः उस निकृष्ट बात की ओर नहीं झुकता; उसमें प्रवृत्त नहीं होता। यही कारण है कि शास्त्रकार ने हिंसा के स्वरूप वाले पाठ को, जो प्रारम्भ मे दिया गया था, उपसंहार में पुनः दोहराया है।

एवमाहंसु नायकुलनंदणो—हिंसा के इस भयंकर फलविपाक का निरूपण कोई कपोलकल्पित नहीं है, और न किसी राह चलते मनचले द्वारा ही बताया गया है, न शास्त्रकार की अपनी मनगढंत बातें हैं। सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी ने ही ऐसा कहा है। जो लोग यह कहते हैं कि यह शास्त्र किसी पुरुष का रचा हुआ नहीं है, या किसी मनुष्य का कहा हुआ नहीं है, यह तो सीधा ईश्वर के द्वारा कथित और रचित है, इस अपौरुषेयवाद का भी 'एवमाहंसु नायकुलनंदणो' कहकर खण्डन कर दिया है। साथ ही इस बात का भी समाधान कर दिया है कि ये गंडूखाने की गप्पें नहीं हैं, वास्तविक तथ्यपूर्ण बातें हैं और एक प्रामाणिक, सर्वप्राणिहितैषी, आप्तपुरुष, सर्वज्ञ द्वारा निरूपित है। ऐसा कहकर शास्त्रकार ने विनय भक्तिवश अपनी

न्यूनता भी प्रदर्शित कर दी है। जो आप्तपुरुष होते हैं, वे माता-पिता की तरह जगत् के जीवों के हितैषी होते हैं और उनमें किसी प्रकार का राग, द्वेष या पक्षपात नहीं होता कि किसी भी प्राणी के लिए वे गलत, झूठी, अहितकर या दुःखकर बात कहें। वे जो कुछ कहते है, जगत् के जीवों के प्रति वात्सल्य और करुणा से प्रेरित होकर एकान्त हित की बात ही कहते हैं। इसीलिए यहाँ भगवान् महावीर के लिए वास्तविक विशेषणों का प्रयोग किया गया है—**'नायकुलनंदणो महप्पा जिणो उ वीरवर नामधेज्जो।'** अर्थात् ज्ञातकुल-नन्दन, महात्मा, जिन (वीतराग), वीरों में श्रेष्ठ महावीर नाम के तीर्थंकर ने ऐसा कहा है।'

'त्तिबेमि' शब्द—श्रीसुधर्मास्वामी अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी से कह रहे हैं कि वत्स ! जैसा मैंने श्रमण भगवान् महावीर से इस अध्ययन का वस्तुतत्त्व सुना था, वैसा ही सूत्ररूप में संकलन करके तुम्हारे सामने कहता हूं। मैं ये वचन तीर्थंकर के उपदेश के आधार पर कहता हूं, अपनी बुद्धि की कल्पना से नहीं। इस कथन से गुरु-भक्ति, शास्त्र की प्रामाणिकता, और सर्वज्ञोक्त वचन की जगत् के लिए उपकारकता सिद्ध की गई है। अपना अभिमान छोड़कर नम्रतापूर्वक गुरु की अधीनता स्वीकार करने की बात भी इस पद से ध्वनित की गई है।

इस प्रकार प्रश्न व्याकरण सूत्र का यह प्रथम अधर्म द्वार समाप्त हुआ। प्रश्न व्याकरण सूत्र में प्रथम आश्रव द्वार की 'सुबोधिनी' नामक हिन्दी व्याख्या भी सम्पूर्ण हुई।



द्वितीय अध्ययन : मृषावाद-आश्रव

प्रथम अध्ययन में प्राणवध (प्राणातिपात) का विस्तार से सांगोपाग निरूपण किया गया। किन्तु वह प्राणवध (हिंसा) मृषावाद के द्वारा होता है; क्योंकि मृषा-वाद भी क्रोध, लोभ, भय और हास्य से सम्पन्न होता है। क्रोधादि ही भावहिंसा के मुख्य कारण हैं। द्रव्यहिंसा भी क्रोध, लोभ या भय आदि के निमित्त से होती है। अतः प्रसंगवश अब मृषावाद का निरूपण करते हैं—

मृषावाद का स्वरूप

मूलपाठ

इह खलु जम्बू ! बितियं च अलियवयणं लहुसग-लहुचवल-भणियं भयंकरं दुहकरं अयसकरं वेरकारगं अरतिरतिरागदोस-मण-संकिलेस - वियरणं अलियं नियडिसातिजोयबहुलं नीयजण-निसेवियं निस्संसं अपच्चयकारकं परमसाहुगरहणिज्जं परपीला-कारकं परमकिण्हलेस्ससहियं दुग्गइविणिवायविवढ्डणं भवपुण-ब्भवकरं चिरपरिचियमणुगतं दुरंतं कित्तियं बितियं अधम्मदारं ॥सू० ५॥

संस्कृतच्छाया

इह खलु जम्बू ! द्वितीयं चालीकवचनं लघुस्वक-लघुचपलभणितं, भयङ्करं दुःखकरं अयशस्करं वैरकारकमरतिरतिराग - द्वेषमनःसंक्लेश-वितरणमलीकं निकृतिसाति(अविश्रम्भ)योगबहुलं नीचजननिषेवितं नृशंसं (निःशंसं) अप्रत्ययकारकं परमसाधुगर्हणीयं, परपीड़ाकारकं, परमकृष्ण-लेश्यासहितं दुर्गतिविनिपातविवर्द्धनं भवपुनर्भवकरं चिरपरिचितमनुगतं दुरंतं कीर्तितं द्वितीयमधर्म-द्वारम् ॥सू० ५॥

पदार्थान्वय—(इह) इस शास्त्र में, (खलु) वास्तव में, (जंबू) हे जम्बू !

(बितियं) दूसरा आश्रवद्वार (अलियवयणं) मृषावाद—असत्य भाषण है। यह (लहुसग-लहुचवलभणियं) जिनकी आत्मा गुणगौरव से हीन है, तथा जो उतावले और चंचल हैं, उन्हीं के द्वारा बोला जाता है, (भयंकरं) स्व-पर में भय पैदा करने वाला है, (दुहकरं) दुःख का कर्ता है, (अयसकरं) अपकीर्ति (बदनामी) करने वाला है, (वेर-कारगं) वैर पैदा करने वाला है, (अरतिरतिरागदोसमणसंकिलेसवियरणं) अरति, रति, राग, द्वेष और मानसिक क्लेश को देने वाला, (अलियं) झूठ, निष्फल या शुभ फल से रहित, (नियडिसातिजोयबहुलं) धूर्तता और अविश्वसनीय वचनों से प्रचुर, (नीयजणसेवियं) जाति आदि से नीच-हीन लोगों द्वारा सेवित, (निस्संसं) नृशंस, (क्रूर) अथवा प्रशंसारहित, (अपच्चयकारकं) अविश्वासजनक, (परमसाहुगरहणिज्जं) योग, ध्यान आदि से उत्कृष्ट साधुओं द्वारा निन्दनीय, (परपीलाकारकं) दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाला, (परमकिण्हलेस्ससहियं) परम कृष्णलेश्या से युक्त, (दुग्गइविणिवाय-विवड्ढणं) दुर्गति में पतन की वृद्धि करने वाला, (भवपुणब्भवकरं) संसार में पुनः पुनः जन्म-पुनर्जन्म कराने वाला, (चिरपरिचियं) अनादिकाल से जीव का अभ्यस्त या परिचित, (अणुगतं) निरन्तर प्राप्त और (दुरंतं) कठिनता से अन्त होने योग्य, अथवा अत्यन्त दारुण फल वाला है, ऐसा (बितियं) दूसरा (अधम्मदारं) अधर्म-आश्रव-द्वार, (कित्तियं) कहा गया है।

मूलार्थ—श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं—हे जम्बू ! मृषावाद दूसरा अधर्मद्वार है। यह मृषावाद गुणगौरव से रहित हीन आत्माओं एवं उतावले और अतिचंचल लोगों द्वारा बोला जाता है। अपने और दूसरों में भय पैदा करने वाला है, दुःखजनक है, संसार में अपकीर्ति (बदनामी) का जनक है, वैर पैदा कराने वाला है, रति-अरति, राग और द्वेष रूपी मानसिक संक्लेशों को पैदा करने वाला है, शुभ फल की दृष्टि से निष्फल या झूठ है, धूर्तता मायाचारी और अविश्वसनीय वचन से भरपूर है, जाति, कुल आचरण आदि से हीन लोगों द्वारा ही सेवित होता है, प्रशंसारहित या क्रूर है, अविश्वास का जनक है, महापुरुष या साधुजनों द्वारा गर्हित—निन्दनीय है, पर (जिसके लिए झूठ बोला जाता है,) उसको पीड़ा देने वाला है, उत्कट कृष्णलेश्या से युक्त है, दुर्गति में पतन की वृद्धि करने वाला है, संसार में बार-बार जन्म-पुनर्जन्म आदि कराने वाला है, अनादिकाल से जीवों का परिचित-अभ्यस्त है, मिथ्यात्व अविरति आदि के प्रवाह के साथ लगातार लगा रहने वाला है, दारुण फल वाला होने से बड़ी मुश्किल से अन्त किया जाने वाला है। इस प्रकार दूसरे अधर्म (आश्रव) द्वार-मृषावाद का निरूपण किया गया है।

व्याख्या

प्राणवध नामक प्रथम आश्रवद्वार का वर्णन कर चुकने पर अब शास्त्रकार 'मृपावाद' नामक द्वितीय आश्रवद्वार का निरूपण करते है। जिस प्रकार प्रथम आश्रव का वर्णन स्वरूप, नाम, साधन, कर्ता और फल इन पांच द्वारों में वर्गीकरण करके किया गया है उसी प्रकार द्वितीय आश्रव का वर्णन भी क्रमशः पांच द्वारों द्वारा शास्त्रकार करना चाहते है। अतः प्रसगवश सर्वप्रथम शास्त्रकार मृपावाद के स्वरूप का निरूपण करते है।

अलियवयणं—मिथ्यावचन को अलीकवचन कहते है। व्यक्ति जब मन में यथार्थ से विपरीत सोचता है,तभी उसके वचन मे झूठ प्रगट होता है। इसलिए अयथार्थ विचार का सम्बन्ध अयथार्थ भापण के साथ अवश्यम्भावी है।

लहुसग-लहुचवलभणियं—लघु का अर्थ हलका, हीन या तुच्छ होता है। जिनकी आत्मा लघु है यानी बात-बात में ढिलमिल हो जाती है, जो अपनी बात के धनी नही होते—जरा-जरासी देर में कहकर बदल जाते हैं, वे गुण और गौरव से हीन व्यक्ति लघुस्वक (हीन आत्माएँ) हैं ; साथ ही जो झटपट किसी बात को सोचे-विचारे बिना कह डालते है या चचलतावश कुछ भी बोल देते है, ऐसे हीनात्मा तथा उतावले और चंचल व्यक्तिओ द्वारा ही मृपावाद बोला जाता है।

भयंकरं—असत्य बोलने वाले व्यक्ति के मन में अपने-आप भय पैदा होता है कि "कही मेरी कलई खुल गई तो, कहीं मेरा झूठ साबित हो गया तो, क्या होगा !" इस प्रकार डर के मारे उसके हाथ-पैर कांपने लगते हैं। साथ ही असत्य भापण परम धर्मात्मा पुरुषों, परहिततत्पर साधु महात्माओं तक को भी पलभर में भयग्रस्त कर देता है। झूठे लोगों द्वारा किये गए मिथ्या दोपारोपण ने सुदर्शन सेठ सरीखे अतिधर्मात्मा पुरुषों और निर्मलचित्त साधुमहात्माओं को बड़े भयकर दुश्चक्र मे डाला है। बड़े-बड़े प्रतिष्ठित लोगों ने मिथ्या अपवाद के डर से आत्महत्या तक करली है। अतः यह असंदिग्धरूप से कहा जा सकता है कि असत्य बड़ा भयंकर और तमाम पापों का जनक है।

दुहकरं—असत्य वचन स्वयं बोलने वाले को और जिसके लिए वह बोला जाता है उसको, दोनों को दु:ख देने वाला है। असत्य बोल कर या असत्याचरण करके व्यक्ति किसी आपत्ति या दुःख से बच जायेगा या वह खूब पैसा कमा लेगा, यह निरा भ्रम है। जो चीज अन्तरायकर्म के क्षयोपशम द्वारा प्राप्त होने वाली है, वह झूठ बोल कर कैसे प्राप्त की जा सकेगी ? या जो आफत या विपत्ति असातावेदनीय कर्म के उदय से आने वाली है, वह असत्य के बल पर कैसे टाली जा सकेगी ? अतएव असत्यवचन सदैव दुःख का जनक रहा है और रहेगा। वर्तमान में झूठ का

बोलवाला होने से कई लोग यह कहा करते हैं कि सत्य बोलने वाले को तो अनेक कष्ट सहने पड़ते है, इसलिए असत्य दुःखकर न होकर सत्य ही दुःखकर लगता है। परन्तु यह क्षणिक सुख की भ्रान्ति के कारण कहा गया है। सत्यवादी को प्रारम्भ में कदाचित् कुछ समय के लिए झूठे और धोखेबाज लोगों के बीच रहकर थोड़ा-सा कष्ट या आर्थिक हानि का सामना भले ही करना पड़े, लेकिन सदा के लिए उस पर दुःख के बादल छाये नहीं रहेंगे, वे जल्दी ही छँट जायेंगे, और सत्य का सूर्य चमक उठेगा। सत्य भाषण का सुखद फल अवश्य ही मिलेगा। इसलिए शास्त्र में असत्य को दुःखकर ठीक ही कहा है। सत्य ही अन्त में विजयी और सुख का कारण बनता है।

अयसकरं—असत्य अपयश बढाता है। असत्य बोलने वाले की समाज और राष्ट्र में कोई प्रतिष्ठा नहीं होती, लोग उसे अच्छी निगाहों से नहीं देखते। बड़े से बड़े इज्जतदार और यशस्वी पुरुष एक बार जब असत्य बोलकर सुखी और समृद्ध बनना चाहते हैं; तभी उनकी सर्वत्र अपकीर्ति होती है, वे अपने मुंह पर सदा के लिए कालिख पोत लेते हैं। धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने पक्ष के लोगों के दबाव में आकर 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा' कहा, तभी से उनकी वास्तविक कीर्ति पर पानी फिर गया। इसलिए मृषावाद अयशःकारक है।

वेरकारगं—कुलपरम्परा से चली आई हुई मैत्री को ध्वस्त कर परस्पर शत्रुता पैदा करने वाला यदि कोई उपाय संसार में है तो वह केवल 'असत्यवचन' है। मर्मस्पर्शी वचन, अपशब्द, गाली, निन्दा, चुगली, अप्रिय या बुरे वचन आदि सभी असत्य में शुमार हैं। जो दूसरे को चोट पहुंचने वाले, दुर्भावना से प्रयुक्त वचन हैं, वे सब आपस में वैर बंधाने वाले हैं। हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है कि सर्वप्रथम मामूली कटु वचन से ही लड़ाई शुरू होती है, बाद में वह उग्ररूप धारण कर लेती है, और अन्त में, यह वैरपरम्परा पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है।

अरति-रति-राग-दोस-मणसंकिलेसवियरणं—अरति (अप्रिय वस्तुओं या बातों से मन का उच्चाट), रति (प्रियवस्तुओं-इन्द्रियविषयों में रुचि), राग (धन स्त्री पुत्र आदि सांसारिक पदार्थों के प्रति मोह, ममत्व), द्वेष (अप्रिय वस्तुओं से घृणा, विरोध आदि) ये सब मन के संक्लिष्ट परिणाम हैं। इन्हें पैदा करने में मुख्य कारण असत्यवचन है। किसी सच्चे और भावुक आदमी पर मिथ्या दोषारोपण लगते ही उसके चित्त में उद्वेग या उच्चाट पैदा हो जाता है। फिर किसी अच्छी वस्तु पर भी उसका चित्त नहीं लगता। विषयों में आसक्ति बढ़ाने वाली या कामोत्तेजक कहानियां शृंगाररस को पुष्ट करती हैं; ऐसे कामोत्तेजक कामनेटी साहित्य में मिथ्या कल्पनाओं द्वारा लोगों का चित्त विषयों के प्रति आकृष्ट हो जाता है, उसी में निरंतर वे निमग्न रहते हैं, इससे फिर राग, मोह और द्वेष बढ़ता है। असत्य के कारण पैदा हुए अप्रियता से

कई लोगों में परस्पर द्वंषभाव पैदा हो जाता है, जो काफी वर्षों तक चलता रहता है। असत्य और अतिरंजित कल्पनाओं से मन उस वस्तु के प्रति मोहित और आसक्त हो जाता है। उसके न मिलने पर मन में सक्लेश होता है। पूर्वोक्त चारों ही विकार मानसिक संक्लेश पैदा करने वाले हैं। इसलिए असत्य वचन मन के क्लेश को बढ़ाता है।

अलियं—असत्यवचन सदैव अशुभफल देता है! इसलिए असत्य भाषण शुभ-फल की अपेक्षा से निष्फल है।

नियडिसातिजोयबहुलं—असत्य स्वयं ही झूठ, फरेब, धोखेबाजी, धूर्तता, दम्भ और मायाजाल से भरा हुआ होता है। उससे कदापि किसी को सरल बनने की प्रेरणा नहीं मिलती। इसलिए असत्य धूर्तता, दम्भ, अविश्वसनीयता और जाल-साजी से भरा होता है। दूसरों को ठगने, धोखा देने या दूसरों को अपने जाल में फंसाने के लिए मनुष्य असत्य का आश्रय लेता है। अपने द्वारा बोले हुए एक झूठ को सत्य सिद्ध करने के लिए मनुष्य व्यर्थ ही अनेक असत्यों व बनावट-दिखावट का सहारा लेता है। इसीलिए असत्य को धूर्तता, अविश्वास आदि का घर कहा है। मनुष्य झूठी कसमे खाकर, असत्य को सत्य का जामा पहना कर सत्य साबित करना चाहता है; मगर वास्तविकता कभी छिप नहीं सकती है। अतः किसी ने ठीक ही कहा है—

"सचाई छिप नहीं सकती बनावट के उसूलों से।
कि खुशबू आ नहीं सकती, कभी कागज के फूलों से॥"

नीयजणनिसेवियं—मनुष्य की कुलीनता या उच्च जाति एवं कुल आदि की पहिचान वचन से होती है। दुराचारी, असभ्य, कुसंस्कारी और पापात्मा मनुष्य नीचजन कहलाते हैं और ये नीचजन बात-बात में झूठ बोलते हैं, कटु और असभ्य शब्दों का प्रयोग करते हैं। हीन आचार-विचारों के जमे हुए कुसंस्कार ही नीचजनों को असत्य की ओर प्रेरित करते हैं। सदाचारी, सुसभ्य, धर्मात्मा और सुसंस्कारी मनुष्य उच्चजन कहलाते हैं। उच्चजनों की वाणी मधुर, संयत, सभ्य और सत्यपूर्ण होती है। उनकी वाणी में दम्भ, झूठ, फरेब, मायाजाल या धूर्तता का पुट नहीं होता। यही कारण है कि नीचजन ही असत्य का सेवन करते हैं, वे संकट में और आनन्द में हर समय असत्य को ही उपादेय समझते हैं। वे यही समझते हैं कि सत्य से जीवन दुःखी होता है, असत्य ही जीवन मे सुख का मूल है। जबकि उच्चजन संकट में भी असत्य का सहारा नहीं लेते।

निस्संसं—असत्य भाषण नृशंस (घातक) मनुष्य का शस्त्र है। क्रूर मनुष्य अपने नीच हृदय की प्यास झूठफरेब का जाल रच कर बुझाता है। अपनी नृशंसता

छिपाने के लिए यह किसी को झूठा अश्वासन देता है, किसी से कपटपूर्वक मधुर बोलता है, किसी को झूठ बोलकर फंसाता और सताता है। पापात्माओं के लिए नीतिकार कहते हैं—'मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्' दुष्ट आत्माओं के मन में कुछ और रहता है, वचन से वे कुछ और ही बात प्रगट करते हैं और शरीर की चेष्टाएँ दूसरी ही तरह की दिखाते हैं। यानी नृशंस के मन-वचन-शरीर सब में असत्यता ही भरी रहती है। इसीलिए असत्य को नृशंस कहा है। अथवा इसका दूसरा रूप बनता है—'निःशंस', जिसका अर्थ होता है—प्रशंसा से रहित। असत्य की कोई भी प्रशंसा नहीं करता। स्वयं असत्यवादी भी उसकी सार्वजनिकरूप में प्रशंसा कभी नहीं करता। इसलिए असत्य सदा अप्रशंसनीय है।

अपच्चयकारकं—असत्य सदा अप्रतीति पैदा करने वाला होता है। असत्यभाषी पर किसी को प्रतीति या विश्वास नहीं होता। ऐसा व्यक्ति कदाचित् सत्य भी बोलता हो, तो भी उस पर भरोसा नहीं बैठता। असत्यभाषण करने वाले को कोई जिम्मेवारी नहीं सौंपी जाती; कोई आर्थिक कार्य नहीं दिया जाता; उसके साथ लेनदेन का व्यवहार करने में भी लोगों को संकोच होता है। इसलिए असत्य अविश्वास की खान है, अप्रतीति पैदा करने वाला है।

संसार के सब कार्य या व्यवहार विश्वास के बल पर चलते हैं, लोग अपनी धनसम्पत्ति को विश्वास करके ही किसी के पास धरोहर रखते हैं या बैंक में जमा कराते हैं। सत्यवचन ही विश्वासजनक होता है। सांसारिक या पारमार्थिक जितने भी कार्य हैं, वे सब विश्वासजनक सत्य पर आधारित हैं। क्या परिवार, क्या समाज और क्या राष्ट्र सर्वत्र पारस्परिक विश्वासजनक सत्य के आधार पर ही सारी सन्धियां, सम्बन्ध, लेनदेन, सहयोग के आदान-प्रदान आदि होते हैं। उनमें जहाँ जरा भी असत्य आया या एकबार भी किसी को असत्यता का आभास हुआ कि वहाँ अविश्वास की कुल्हाड़ी पड़ जाती है, जो जमे हुए विश्वास को उखाड़ देती है। पति-पत्नी में परस्पर असत्य-वचन से मन फट जाता है, अविश्वास पैदा हो जाता है। इसलिए असत्य विश्वासघात करने वाला और अविश्वसनीय है। सत्य ही विश्वास पैदा करने के लिए अमोघ अस्त्र है।

परमसाहुगरहणिज्जं—असत्य उत्तम पुरुषों और विश्व हितैषी साधु-महात्माओं द्वारा सदा ही निन्दनीय और गर्हित होता है। असत्य उनके द्वारा इसलिए निन्दित है कि असत्य से जीवन के समस्त व्यवहार ठप्प हो जाते हैं, उन्नति रुक जाती है, धार्मिक उत्थान में विघ्न आ जाता है, सुख शान्ति लुप्त हो जाती है, विश्वास उठ जाता है। इसलिए वे हमेशा इस निन्दनीय असत्यमार्ग से दूर रहने का उपदेश देते हैं। जो उनके उपदेश से इस निन्द्य असत्य पथ को छोड़ देता है, वह सुखी, शान्त, स्वस्थ, निर्भय,

विश्वस्त और आत्मविकास का पथिक बन जाता है। इसीलिए असत्य उत्तम जनों और साधुओं द्वारा निन्दनीय है।

परपीलाकारकं—यह तो सर्व विदित है कि असत्य वचन से प्राणियो की हैरानी परेशानी बढ जाती है, जिसके प्रति असत्याचरण किया जाता है, उसके दिल को सख्त चोट पहुंचती है। जितने भी पीड़ाकारी वचन—(मारो, काटो आदि आदेश कारक या काना, दुष्ट, चोर आदि सम्बोधन कारक वचन) है, वे सब असत्य में ही समाविष्ट हैं, इसलिए असत्य वचन परपीड़ाकारी है। कठोर, कर्कश, हिंसाकारी, छेदकारक, भेद (फूट) डालने वाली, मर्मस्पर्शी या अपशब्दमयी व्यंग्यमयी वाणी दूसरों को सदा दु.ख और पीड़ा ही पहुंचाती है। प्रिय, हित, मित और सत्य वचन ही सबको शान्ति पहुंचाते हैं।

परमकिण्हलेस्ससहियं - अत्यन्त दुष्ट परिणाम ही परमकृष्णलेश्यारूप हैं। असत्य वचन और आचरण करने वाले के मन मे परमकृष्णलेश्या की सभावना है। क्योंकि जब मन में अत्यन्त दुष्ट परिणाम होते है, तभी व्यक्ति सच्ची बात को विपरीत बनाने के लिए असत्य वचन का सहारा लेता है। परमकृष्णलेश्यारूप दुष्ट परिणामों के कारण जीव दुर्गति मे जाता है। यदि उस समय उसके आयु का बंध हो जाय तो वह अवश्य ही नरकगति का पथिक बन जाता है। जहाँ उसे असंख्य वर्षों (सागरोपम-काल) तक नरक के दुःखों मे पड़े रहना पड़ता है। पर यह होता है केवल जरा-से काल्पनिक स्वार्थ या सुखानुभव करने के लिए, अथवा क्षणिक कषाय के आवेश में आकर असत्य वचन बोलने पर ! इसलिए असत्य वचन परमकृष्णलेश्यायुक्त बनता है और जीव को नरकगामी बना देता है।

कषाय के उदय के अनुसार मन, वचन काया की जो प्रवृत्ति होती है, उसे लेश्या कहते हैं। वास्तव मे देखा जाय तो लेश्या का सीधा सम्बन्ध मन से है। वचन और शरीर तो उसी के पीछे चलते हैं। इसलिए कषायसहित मन की तरंगो को ही लेश्या कहना चाहिए। कषाय के दो प्रकार है—अप्रशस्त और प्रशस्त। अतः मन मे जिस-जिस प्रकार के शुभ या अशुभ कषायों की तरंगें उठेंगी, लेश्या भी उस-उस प्रकार की शुभाशुभ बनती जायगी। कृष्णलेश्या अत्यन्त रौद्ररूप है। मन में भयंकर, क्रूर और तीव्र परिणाम होने पर ही कृष्णलेश्या होती है। परमकृष्णलेश्या तो क्रूरातिक्रूर परिणाम होने पर होती है, जो असत्य भाषी में मृषानुबंधी रौद्रध्यानवश होनी संभव है। इसलिए असत्य को 'परमकृष्णलेश्यासहित' बताया, वह ठीक ही है।

दुग्गइविणिवायविवड्ढणं—चूंकि असत्य परमकृष्णलेश्या रूप होता है, इसलिए दुर्गतियों—नरक तिर्यंच गतियों—में जन्ममरण की वृद्धि करने वाला है। असत्यभाषी परमकृष्णलेश्या के वश दुर्गति का बंध कर लेता है। परन्तु उस बंध में वृद्धि तय होती

है, जब एकबार असत्य-आचरण करके किसी ने दुर्गति का बंध कर लिया, फिर बार-बार असत्य का सेवन करे तो वह दुर्गति के अपने पूर्व बंध में और भी वृद्धि कर लेता है। अथवा पहले असत्य सेवन के कारण जिसके प्रथम नरक की एक सागरोपम की स्थिति का बन्ध हुआ तो फिर पुनः पुनः असत्य सेवन कर वह उस स्थिति (कालावधि) को और बढ़ा लेता है। यानी दूसरे और तीसरे आदि आगे के नरकों में जाने की सामग्री जुटा लेता है।

यद्यपि आयुकर्म का बन्ध समस्त आयु के त्रिभागों में से किसी एक त्रिभाग में एकबार हो जाता है; लेकिन बाद में समय-समय पर बंधने वाले समयप्रबद्धों (एक समय में बंधने वाले) आठों कर्मों का बंटवारा होता रहता है। जब शुभ परिणामों से बन्ध होता है तब शुभ प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि होती है। और जब अशुभ परिणामों से बंध होता है तब अशुभ प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि होती है। इस दृष्टि से असत्य सेवन पहले की बंधी हुई दुर्गति की स्थिति को भी बढ़ाता है।

इस पद का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि असत्य दुर्गति में गिरने को बढ़ावा—प्रोत्साहन देता है। जब मनुष्य असत्य बोलता है तो बिना सोचे-समझे और निःशंक होकर बोलता है, बल्कि वह असत्य की ही बारबार तारीफ करता है और मन ही मन असत्य से अपना काम बना लेने में पूरा विश्वास रखता है, इस कारण दुर्गति गर्त में होने वाले पतन को उसके व्यवहार से बढ़ावा मिलता है।

भवपुणब्भवकरं—असत्य संसार में बारबार जन्म कराने वाला है। अक्सर देखा जाता है कि एकबार जिस आत्मा का पतन हो जाता है, उसे उसके फलस्वरूप नरकतिर्यंचादि कुगतियों व कुयोनियों में से किसी में जन्म लेना पड़ता है। वहां के खराब निमित्तों से उसकी आत्मा और अधिक पतित होती जाती है, उसे आत्म-विकास के मुख्य साधन या निमित्त वहां मिलते ही नहीं। फलतः उसकी आत्मा धर्माचरण से शून्य होकर बार-बार उन्हीं-उन्हीं योनियों में जन्ममरण के भंवरजाल में गोते खाती रहती है। इसलिए असत्य जन्म जन्मान्तर का लगातार तांता लगाने में बहुत बड़ा कारण है।

चिरपरिचियं—असत्य चिरकाल से जीव का परिचित है। क्योंकि नरक और तिर्यञ्चगतियों में तो सत्य का नाम भी सुनने को नहीं मिला। वहां तो प्रवाहरूप से अनादिकाल से मिथ्यात्वरूपी अन्धकार में ही आत्मा डूबा रहा, उसे सत्यरूपी सूर्य के दर्शन हुए ही नहीं। इसी प्रकार वर्तमान काल में जो असत्य सेवन करेगा, उसे आगामी काल में असत्य के फलस्वरूप सत्य के दर्शन होने कठिन होंगे; वह असत्य में ही लिपटा रहेगा। इसीलिए असत्य को जीव का चिरपरिचित या दीर्घकाल से अभ्यस्त कहा है।

अणुगयं—असत्य जीव का परम्परागत साथी भी रहा है, क्योंकि नरक, तिर्यञ्च

या कुमनुष्यपर्याय में आत्मा अनादिकाल से मिथ्यात्व, अविरति आदि प्रवाहों मे वहता रहा; इसलिए वहाँ सत्य का अनुगामी या साथी बनना तो कठिन ही था। अतः मिथ्यात्व आदि के सतत प्रवाहो में असत्य ही जीव का अनुगामी रहा, साथी बना और अब भी है। इससे एकबार दोस्ती कर लेने पर पिंड छुड़ाना बड़ा ही कठिन और दुर्वार होता है।

दुरन्तं—असत्य का अन्त करना बड़ा ही दुष्कर है। अथवा असत्य का अन्त यानी परिणाम कई सागरोपमों पर्यन्त दुःखद और बुरा ही होता है। इस लोक मे भी असत्य के परिणामस्वरूप शासकों द्वारा जिह्वाछेद, देश निकाला या गधे पर बिठा कर नगर मे घुमाना आदि कठोर दण्ड दिया जाता है, समाज में भी उसकी निन्दा और बदनामी होती है। परलोक में भी उसे नीच गति और नीच कुल आदि अधम स्थान मिलते है,जहाँ संख्यातीत समय तक उसे नाना प्रकार के दुःखों और यातनाओं को विवश होकर भोगना पड़ता है। इसीलिए असत्य को दुरन्त अर्थात् दुःखान्त या दुष्परिणामी कहना यथार्थ है।

इस प्रकार द्वितीय अधर्मद्वार यानी पाप के उपाय-असत्य के स्वरूप का का निरूपण किया गया है।

मृषावाद के पर्यायवाची नाम

मृषावाद के स्वरूप का वर्णन करने के बाद अब शास्त्रकार क्रमप्राप्त मृषावाद के पर्यायवाची नामो का उल्लेख करते है—

मूलपाठ

तस्स य णामाणि गोण्णाणि होंति तीसं, तंजहा-१ अलियं, २ सढं, ३ अणज्जं, ४ मायामोसो, ५ असंतकं, ६ कूडकवडम-वत्थुगं च, ७ निरत्थयमवत्थयं च, ८ विद्देसगरहणिज्जं, ९ अणुज्जुकं, १० ककणा य, ११ वंचणा य, १२ मिच्छापच्छा-कडं च, १३ साती उ १४ उच्छन्नं (उच्छुत्तं), १५ उक्कूलं च, १६ अट्टं १७ अब्भक्खाणं च, १८ किव्विसं, १९ वलयं, २० गहणं च, २१ मम्मणं च, २२ नूमं, २३ नियर्ी, २३ अपच्चओ, २५ असमओ, २६ असच्चसंधत्तणं, २७ विवक्खो, २८ अ (उ) वहीयं (आणाइयं) २९ उवहिअसुद्धं, ३० अवलोवोत्ति। अवि य तस्स (बिइयस्स) (इमाणि) एयाणि एवमादीणि

(एवमाइयाणि एयाणि) नामधेज्जाणि होंति तीसं सावज्जस्स अलियस्स वय (इ) जोगस्स अणेगाइं ॥ सू० ६ ॥

संस्कृतच्छाया

तस्य च नामानि गौणानि (गुण्यानि) भवन्ति त्रिंशत् ; तद्यथा— १ अलीकं, २ शठं, ३ अन्याय्यं (अनार्यं), ४ मायामृषा, ५ असत्कं, ६ कूटकपटावस्तुकं ७ निरर्थकमपार्थकं च, ८ विद्वेष-गर्हणीयं, ९ अनृजुकं, १० कल्कना च, ११ वंचना च, १२ मिथ्यापश्चात्कृतं च, १३ सातिस्तु, १४ अपच्छन्नं (उच्छन्नं, उत्सूत्रं), १५ उत्कूलं च, १६ आर्त्तं, १७ अभ्याख्यानं, १८ किल्विषं, १९ वलयं, २१ गहनं च, २१ मन्मनं च, २२ नुमं (पिधानं), २३ निकृतिः, २४ अप्रत्ययः, २५ असमयः (असम्मतः) २६ असत्यसंधत्वं, २७ विपक्षः, २८ उपधीक (आज्ञातिगं, अपधीकं) २९ उपध्यशुद्धं, ३० अवलोपः इति । अपि च तस्य (द्वितीयस्य) (इमानि) एतान्येवमादीनि (एवमादिकानि एतानि) नामधेयानि भवन्ति त्रिंशत् सावद्यस्यालीकस्य वचोयोगस्यानेकानि ॥ सू० ६ ॥

पदार्थान्वय—(य) और, (तस्स) उस असत्य के (गोण्णाणि) गुणनिष्पन्न-सार्थक, (तीस) तीस, (णामाणि) नाम (होंति) होते हैं। (तंजहा) वे इस प्रकार हैं— (अलियं) अलीक, (सढं) शठ-शाठ्य-धूर्तता, (अणज्जं) अनार्य लोगों का कर्म अथवा अन्याययुक्त, (मायामोसो) माया-कपट-सहित मृषा-झूठ अर्थात् दम्भ, (असंतकं), असत् (अविद्यमान) या अप्रशस्तपदार्थों का कथन करना, (कूडकवडमवत्थु) दूसरों को ठगने के लिए हीनाधिक कहना, वचन-विपर्यास करना, अविद्यमान वस्तु का कथन करना, (निरत्थयमवत्थयं) सत्य अर्थ से हीन, सत्य-अर्थशून्य बोलना, (विद्देसगरहणिज्जं) विद्वेष या डाह के कारण दूसरे के प्रति निन्दामय वचन बोलना, (अणुज्जुकं) सरलतारहित वक्रतापूर्वक कथन, (ककणा य) माया या पाप का वचन कहना, (य) तथा (वंचणा) ठगना, धोखा देना, (मिच्छापच्छाकडं) मिथ्यारूप होने से न्यायवादियों द्वारा पीछे किया गया या छोड़ा गया, (अथवा मिथ्यारूप वचन और बाद में पीठ पीछे से अवर्णवाद बोलना) (साती उ) अविश्वासरूप, (उच्छन्नं) अपने दोषों और दूसरे के गुणों को ढांकने वाला वचन, अथवा (उच्छुत्तं) उत्सूत्रप्ररूपण करना—शास्त्र से न्यूनाधिक या विपरीत प्ररूपण करना (च) और (उक्कूलं) न्याय मार्ग से भ्रष्ट करने वाला या न्यायरूप नदीप्रवाह के तट से अलग करने वाला वचन (च) और (अट्टं) आर्त्त-पीड़ित का वचन, (च) और (अब्भक्खाणं) मिथ्या दोषारोपण करना, (किब्बिसं) पापजनक वचन, (वलयं) चूड़ी के समान बात को गोलमोल या घुमाफिरा कर कहना-

(च) और (गहणं) गहन-गूढ़ वचन, जिसकी थाह का पता न लग सके, ऐसा वचन, (च) और (मम्मणं) अस्पष्ट वचन, (नूमं) दूसरे के गुणों को ढांकने के लिए ढक्कन के समान आच्छादनरूप वचन, (निययी) अपनी मायाचारी को छिपाने का वचन, (अपच्चओ) अप्रतीतिजनक वचन, (असमओ) समय-सिद्धान्त से विपरीत वचन या शिष्ट पुरुषों द्वारा असम्मत वचन, (असच्चसंधत्तणं) असत्य से मेल खाता हुआ वचन अथवा असत्य संधा-अभिप्रायरूप, प्रतिज्ञारूप वचन, (विवक्खो) सत्य अथवा धर्म से विपक्ष वचन, (उवहीयं) उपधि-माया पर आधारित वचन अथवा (अवहीयं) तुच्छ बुद्धि से कहा गया वचन, (उवहि असुद्ध) कपट से युक्त सावद्य अशुद्ध वचन, (अवलोवो) वस्तु की वास्तविकता को छिपाने-लोप करने वाला वचन, (इति) इस प्रकार (अपि च) और भी (तस्स) उसके, (बिइयस्स) द्वितीय आश्रवद्वार के (एयाणि-इमाणि) ये (एवमादीणि) ऐसे ही और भी (तस्स) उसके (तीसं) तीस (नामधेज्जाणि) नाम हैं उस, (सावद्य-पापरूप, (अलियस्स) असत्य, (वयजोगस्स) वचनयोग के, (अणेगाइं) अनेक नाम (होंति) हैं।

मूलार्थ—उस असत्य वचन के गुणनिष्पन्न (सार्थक) तीस नाम हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) अलीक-मिथ्यावचन, (२) शठ-शठजनों द्वारा आचरित शाठ्यवचनरूप असत्य (३) अनार्य मनुष्यों का कर्म या अन्याययुक्त असत्य, (४) कपटसहित झूठ (५) असत् (अविद्यमान) या अप्रशस्त वस्तुओं का कथन, असत्य, (६) कूट-कपट, अवस्तु नामक असत्य, (७) निरर्थक और गलत अर्थ वाला असत्य, (७) विद्वेष से परनिन्दारूप कथन वाला विद्वेषगर्हणीय नामक असत्य (९) टेढ़ा या व्यंग्य पूर्ण बोलना-अनृजुक नामक असत्य, (१०) मायारूप या पापरूप कल्कना नामक असत्य, (११) धोखेबाजीरूप वंचना नामक असत्य, (१२) न्यायवादियों द्वारा छोड़े हुए मिथ्यावचनरूप मिथ्यापश्चात्कृत नामक असत्य, (१३) अविश्वस्त वचन रूप साति नामक असत्य, (१४) अपने और दूसरे के गुणों को ढंकने वाले वचनों से युक्त उच्छन्न या अपच्छन्न नामक असत्य अथवा सूत्रविरुद्ध प्ररूपणारूप उत्सूत्र नामक असत्य, (१५) न्यायमार्ग की मर्यादा को लांघकर बोलने या न्याय पथ से भ्रष्ट कर देने वाला उत्कूल नामक असत्य, (१६) आर्त्त-पीड़ित मनुष्य के वचन रूप आर्त नाम का असत्य, (१७) सहसा किसी पर मिथ्या दोषारोपण करना, अभ्याख्यान नामक असत्य, (१८) पापजनकवचनरूप किल्विष नाम का असत्य, (१९) गोल-मोल बात करने को वलय नामक असत्य कहते हैं, (२०) गूढ़ बातें करना, जो किसी की समझ में न आवें ऐसा वचन, गहन नामक असत्य है, (२१) अस्पष्ट वचनरूप मम्मण नाम का असत्य (२२) दूसरे के गुणों को ढक देने के रूप में 'नूम' नामक असत्य, (२३) अपनी मायाचारी को छिपाने वाला निकृति नामक असत्य (२४) अप्रीतिकर वचन के रूप में अप्रत्यय

नामक असत्य (२५) ऐसा वचन, जो सिद्धान्त या शिष्टजनों से सम्मत न हो, वह असंमत या असमय नामक असत्य, (२६) झूठी प्रतिज्ञा करने या कसमें खाने के रूप में असत्य संधत्व नायक असत्य है, अथवा असत्य से मेलखाता या असत्य अभिप्राय वाला वचन भी असत्य संधत्व है (२७) धर्म या शिष्ट पुरुषों के प्रति विपक्षी वचन विपक्ष नामक असत्य है, (२८) माया पर आधारित वचन उपधि नाम का, या तुच्छबुद्धि से कहा गया वचन, अपधी नाम का असत्य है, (२९) कपटयुक्त सावद्य अशुद्ध शब्दों का कथन उपध्यशुद्ध नामक असत्य है। और (३०) वस्तु के सद्भाव का लोप करने वाला वचन अपलोप नामक असत्य है।

इस प्रकार उस द्वितीय आश्रव द्वार मृषावाद (असत्य) के ये तीस नाम हैं। तथा उस पापरूप असत्य वचन योग के ऐसे ही और भी अनेक नाम होते हैं।

व्याख्या

प्रस्तुत सूत्रपाठ में असत्य के गुणनिष्पन्न एवं असत्य के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले सार्थक तीस नाम बतलाए हैं। अन्त में, यह भी कह दिया है कि इसके केवल ३० नाम ही न समझ लेने चाहिए, अपितु और भी अनेक नाम हो सकते हैं। जो वचन सावद्य (पापरूप) एवं असत्य अर्थ के प्रतिपादक हों, उन सबको असत्य समझ लेना चाहिए। इसी को शास्त्रकार स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'एवमाईणि अणेगाइं तस्स सावज्जस्स अलियस्स वयजोगस्स नामधेज्जाणि होंति।'

असत्य शब्द का अर्थ—'सद्भ्यो हितं सत्यं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो प्राणिमात्र के लिए सर्वथा और सर्वदा हितकर हो, वह सत्य है; और सत्य से जो विरोधी-विपरीत हो, वह असत्य है। इसी प्रकार सत्य का एक अर्थ यह भी है कि 'जैसा देखा हो, जैसा सुना हो, जैसा सोचा-समझा हो, जैसा अनुमान किया हो, मन-वचन-काया से प्राणिहित को सामने रखकर वैसा ही प्रगट करना।' इससे विपरीत कथन असत्य है। जैसे विद्यमान पदार्थ को अविद्यमान कहना तथैव अविद्यमान को विद्यमान कहना असत्य है। इसी प्रकार सुनी, देखी, सोची-समझी कुछ और बात हो किन्तु कहना कुछ और हो; यह भी असत्य है। अपनी बात को, अपने भावों को छिपाना भी असत्य है; गोलमोल, अस्पष्ट, द्वयर्थक-गूढ या निरर्थक वचन कहना भी असत्य है। इसी प्रकार धूर्तता, धोखा, छल या वंचना की दृष्टि से, किसी को ठगने और अपने जाल में फंसाने की नीयत से मीठा बोलना भी असत्य है, दूसरों को पीड़ा या हानि पहुँचाने वाली वाणी या ऐसी तथ्यपूर्ण बात भी,जिससे प्राणि-हिंसा की संभावना हो, जिस वचन से अशान्ति, उपद्रव, झगड़े या वैमनस्य पैदा होता हो, वह वचन भी

अहितकर होने से सच कहे जाने पर भी परिभाषा के अनुसार असत्य में गिना जाता है। निन्दा, गाली, अपनी प्रशंसा, चुगली, ईर्ष्या, दूसरों पर दोषारोपण, क्रोध, या अभिमानपूर्वक डींग मारने, दूसरे को नीचा दिखाने या बदनाम करने के लिए बोले जाने वाले शब्दों में अतिशयोक्ति—बढ़ा-चढ़ा कर कहने की वृत्ति—आ जाती है, इसलिए ये सब असत्य के अन्दर ही गतार्थ हो जाते हैं। हास्य के वश, रोष के वश, लोभ या स्वार्थ के वश मनुष्य न कहने योग्य बात कह जाता है, वह भी असत्य है। इसी प्रकार किसी को वचन देकर बाद में बदल जाना, मुकर जाना, विश्वासघात करना, सत्य को छिपाना, प्रतिज्ञा करके इन्कार कर जाना, आदि सभी असत्य में शुमार हैं। मतलब यह है कि जो वचन सभी प्राणियों के लिए हितकर न हो, जिससे अपने आपका मन भी भय, क्षोभ आदि मानसिक संक्लेश में पड़े, उसे असत्य समझ लेना चाहिये।

नीचे हम शास्त्रकार के द्वारा उल्लिखित असत्य के ३० नामों का आशय क्या है? इसके ये पर्यायवाची शब्द क्यों है? इसका क्रमशः विश्लेपण करते हैं—

अलियं—मिथ्या कथन का नाम अलीक है। मनुष्य क्रोध, लोभ, हास्य, भय, स्वार्थ, द्वेष, ईर्ष्या आदि के वश झूठ बोल देता है। उसका इन विकारों के अधीन होकर बोलना स्वपर के लिए हितकर नहीं होता। वह दोनों को हानि पहुंचाने वाला होता है। इसलिए 'अलीक' को मृषावाद का भाई कहने में कोई अत्युक्ति नहीं।

सढं—कई बार मनुष्य अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए दूसरो के साथ शठता—दुष्टता से भरे वचनों का प्रयोग करता है। वह समझता है कि इस प्रकार के दुर्वचन या धमकी भरे वचन, अथवा डांट-फटकार के वचन से मैं दूसरों पर रौब गांठकर, अपनी धाक जमा कर, या दूसरों को कायल करके अपना मतलब सिद्ध कर लूंगा; मगर उसके वे दुष्टवचन, जिनमें असत्य का जहर मिला होता है, दूसरे को पीड़ा तो पहुँचाते ही हैं, उसके स्वयं के लिए भी हितकर नहीं होते। इससे भयंकर कर्मबन्ध होते हैं। इसलिए शठ या शाठ्य को असत्य का पर्यायवाची यथार्थ ही कहा है। वास्तव में शठतापूर्ण वचनों से किसी पर स्थायी प्रभाव नहीं डाला जा सकता और न सुख शान्ति ही प्राप्त की जा सकती है। इससे तो प्रायः वैर विद्वेष की परम्परा ही बढ़ती है।

कई लोगों का कहना है कि 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' इस नीति के अनुसार संसार में चलने वाला सुखी रहता है। परन्तु यह नीति धर्मलक्षी सच्ची नीति नहीं है। किसी ने शठता की, उसे के बदले में यदि दूसरा भी शठता करता है तो उससे समस्या का वास्तविक हल नहीं होता। बल्कि कई बार तो समस्या उलझ

नामक असत्य (२५) ऐसा वचन, जो सिद्धान्त या शिष्टजनों से सम्मत न हो, वह असंमत या असमय नामक असत्य, (२६) झूठी प्रतिज्ञा करने या कसमें खाने के रूप में असत्य संधत्व नायक असत्य है, अथवा असत्य से मेलखाता या असत्य अभिप्राय वाला वचन भी असत्य संधत्व है (२७) धर्म या शिष्ट पुरुषों के प्रति विपक्षी वचन विपक्ष नामक असत्य है, (२८) माया पर आधारित वचन उपधि नाम का, या तुच्छबुद्धि से कहा गया वचन, अपधी नाम का असत्य है, (२९) कपटयुक्त सावद्य अशुद्ध शब्दों का कथन उपध्यशुद्ध नामक असत्य है। और (३०) वस्तु के सद्भाव का लोप करने वाला वचन अपलोप नामक असत्य है।

इस प्रकार उस द्वितीय आश्रव द्वार मृषावाद (असत्य) के ये तीस नाम हैं। तथा उस पापरूप असत्य वचन योग के ऐसे ही और भी अनेक नाम होते हैं।

व्याख्या

प्रस्तुत सूत्रपाठ में असत्य के गुणनिष्पन्न एवं असत्य के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले सार्थक तीस नाम बतलाए हैं। अन्त में, यह भी कह दिया है कि इसके केवल ३० नाम ही न समझ लेने चाहिए, अपितु और भी अनेक नाम हो सकते हैं। जो वचन सावद्य (पापरूप) एवं असत्य अर्थ के प्रतिपादक हों, उन सबको असत्य समझ लेना चाहिए। इसी को शास्त्रकार स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'एवमादीणि अणेगाइं तस्स सावज्जस्स अलियस्स वयजोगस्स नामधेज्जाणि होंति।'

असत्य शब्द का अर्थ—'सद्भ्यो हितं सत्यं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो प्राणिमात्र के लिए सर्वथा और सर्वदा हितकर हो, वह सत्य है; और सत्य से जो विरोधी-विपरीत हो, वह असत्य है। इसी प्रकार सत्य का एक अर्थ यह भी है कि 'जैसा देखा हो, जैसा सुना हो, जैसा सोचा-समझा हो, जैसा अनुमान किया हो, मन-वचन-काया से प्राणिहित को सामने रखकर वैसा ही प्रगट करना।' इससे विपरीत कथन असत्य है। जैसे विद्यमान पदार्थ को अविद्यमान कहना तथैव अविद्यमान को विद्यमान कहना असत्य है। इसी प्रकार सुनी, देखी, सोची-समझी कुछ और बात हो किन्तु कहना कुछ और हो; यह भी असत्य है। अपनी बात को, अपने भावों को छिपाना भी असत्य है; गोलमोल, अस्पष्ट, द्वयर्थक-गूढ या निरर्थक वचन कहना भी असत्य है। इसी प्रकार धूर्तता, धोखा, छल या वंचना की दृष्टि से, किसी को ठगने और अपने जाल में फंसाने की नीयत से मीठा बोलना भी असत्य है, दूसरों को पीड़ा या हानि पहुँचाने वाली वाणी या ऐसी तथ्यपूर्ण बात भी, जिससे प्राणि-हिंसा की संभावना हो, जिस वचन से अशान्ति, उपद्रव, झगड़े या वैमनस्य पैदा होता हो, वह वचन भी

अहितकर होने से सच कहे जाने पर भी परिभाषा के अनुसार असत्य में गिना जाता है। निन्दा, गाली, अपनी प्रशंसा, चुगली, ईर्ष्या, दूसरों पर दोषारोपण, क्रोध, या अभिमानपूर्वक डींग मारने, दूसरे को नीचा दिखाने या बदनाम करने के लिए बोले जाने वाले शब्दों में अतिशयोक्ति—बढ़ा-चढ़ा कर कहने की वृत्ति—आ जाती है, इसलिए ये सब असत्य के अन्दर ही गतार्थ हो जाते हैं। हास्य के वश, रोष के वश, लोभ या स्वार्थ के वश मनुष्य न कहने योग्य बात कह जाता है, वह भी असत्य है। इसी प्रकार किसी को वचन देकर बाद में बदल जाना, मुकर जाना, विश्वासघात करना, सत्य को छिपाना, प्रतिज्ञा करके इन्कार कर जाना, आदि सभी असत्य में शुमार हैं। मतलब यह है कि जो वचन सभी प्राणियों के लिए हितकर न हो, जिससे अपने आपका मन भी भय, क्षोभ आदि मानसिक संक्लेश में पड़े, उसे असत्य समझ लेना चाहिये।

नीचे हम शास्त्रकार के द्वारा उल्लिखित असत्य के ३० नामों का आशय क्या है? इसके ये पर्यायवाची शब्द क्यों है? इसका क्रमशः विश्लेषण करते हैं—

अलियं—मिथ्या कथन का नाम अलीक है। मनुष्य क्रोध, लोभ, हास्य, भय, स्वार्थ, द्वेष, ईर्ष्या आदि के वश झूठ बोल देता है। उसका इन विकारों के अधीन होकर बोलना स्वपर के लिए हितकर नही होता। वह दोनों को हानि पहुंचाने वाला होता है। इसलिए 'अलीक' को मृषावाद का भाई कहने में कोई अत्युक्ति नहीं।

सढं—कई बार मनुष्य अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए दूसरों के साथ शठता—दुष्टता से भरे वचनों का प्रयोग करता है। वह समझता है कि इस प्रकार के दुर्वचन या धमकी भरे वचन, अथवा डांट-फटकार के वचन से मैं दूसरों पर रौब गांठकर, अपनी धाक जमा कर, या दूसरों को कायल करके अपना मतलब सिद्ध कर लूंगा; मगर उसके वे दुष्टवचन, जिनमें असत्य का जहर मिला होता है, दूसरे को पीड़ा तो पहुंचाते ही हैं, उसके स्वयं के लिए भी हितकर नहीं होते। इससे भयंकर कर्मबन्ध होते हैं। इसलिए शठ या शाठ्य को असत्य का पर्यायवाची यथार्थ ही कहा है। वास्तव में शठतापूर्ण वचनों से किसी पर स्थायी प्रभाव नही डाला जा सकता और न सुख शान्ति ही प्राप्त की जा सकती है। इससे तो प्रायः वैर विद्वेष की परम्परा ही बढ़ती है।

कई लोगों का कहना है कि 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' इस नीति के अनुसार संसार में चलने वाला सुखी रहता है। परन्तु यह नीति धर्मलक्षी सच्ची नीति नही है। किसी ने शठता की, उसे के बदले में यदि दूसरा भी शठता करता है तो उससे समस्या का वास्तविक हल नही होता। बल्कि कई बार तो समस्या उलझ

जाती हैं और वैर, द्वेष, छल, दुष्टता और हिंसात्मक संघर्ष की परम्परा बढ़ती जाती है। अतः इस दुर्नीति के बदले 'शठे सत्यं समाचरेत्' वाली सुनीति को अपनाना ही श्रेयस्कर है।

अणज्जं—असत्य वस्तुतः अनार्य कर्म है; आर्यकर्म नहीं। अनार्य लोग प्रायः अपना व्यवहार धोखा, छल, फरेब, मायाजाल, बे-ईमानी, ठगी, चकमा आदि के सहारे चलाते हैं, वे सत्य को पास ही नही फटकने देते। असत्य ही उन्हें जन्मघुट्टी में मिला होता है; असत्य पर ही उनका भरोसा, श्रद्धा, बल, दारोमदार, आधार या विश्वास होता है। रातदिन असत्य का ही चिन्तन और अभ्यास उन्हें अनार्य बना देता है। आर्यत्व के संस्कार उन्हें मिल ही नही पाते। इसलिए अनार्यो द्वारा आचरित होने के कारण अथवा अनार्यों का कर्म होने के कारण असत्य को अनार्य ठीक ही कहा है। आर्य सत्यनिष्ठ और समस्त हेय कार्यों से दूर रहेगा। हिंसा, असत्य आदि भी हेय कार्य हैं, इसलिए अनार्य व्यक्ति ही सत्य को दबा कर असत्य का आचरण करने का दु साहस करता है।

मायामोसो—माया और मृषा (झूठ) दोनों जब घुलमिल जाते है, तब उनकी शक्ति दुगुनी हो जाती है। फिर 'एक तो करेला, फिर नीम का चढ़ा' इस कहावत के अनुसार असत्य बहुत ही जोरशोर से फलता-फूलता है। खुल्लमखुल्ला असत्य बोलने की अपेक्षा उस पर सत्य का मुलम्मा चढ़ा कर कपट और दम्भ से युक्त असत्य बोलना तो और भी ज्यादा खतरनाक है। मायाचार (दम्भ, दिखावे) के साथ असत्य भाषण भी व्यक्ति तब ही करता है, जब दूसरों को वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ रखने का इरादा होता है, अथवा अपनी निन्दनीय वासना पूरी करने की लालसा होती है। कई लोग अपने स्वार्थ या लोभ में अंधे होकर व्यापार के क्षेत्र में ऐसा किया करते हैं। ग्राहक जब उनसे पूछता है कि इसके दाम आप अधिक तो नहीं बता रहे हैं? तब वह प्रायः जवाब देता है—"ज्यादा ले सो छोरा-छोरी खाय, ज्यादा ले सो गाय खाय।" इस कथन से ग्राहक तो यह समझता है कि दूकानदार कसम खाकर कह रहा है कि 'जो ज्यादा ले वह गौ को खाए या लड़के-लड़की को खाए।' परन्तु बात कुछ और ही होती है। वह यह 'कि छोरा-छोरी खाय या गाय खाय', यानी गाय के खाते में या लड़के-लड़की के खाते में जमा किए जाते हैं। वे गाय या लड़के-लड़की के लिए खर्च किये जाते हैं। यह है कपटसहित मिथ्यावचन का रूप। कई विवाह सम्बन्ध कराने वाले दलाल भी ऐसा कपटमिश्रित झूठ का प्रयोग किया करते हैं। एक दलाल लड़की वाले के यहाँ एक ८० साल के बूढ़े का रिश्ता (सगाई सम्बन्ध) तय करने गया तो वहाँ उससे पूछा—लड़का कितने साल का है, जिसकी सगाई तुम मेरी कन्या के साथ करना चाहते हो? तब उसने उत्तर दिया—'उगणीसा, बीसा, बीसा, इक्कीसा-एसी एसी

के हैं। यानी '१६-२०—२०-२१ ऐसा-ऐसा कहते है।' कन्या के पिता ने सोचा-'लड़की के लिए २०-२१ साल का जवान वर मिलता है तो सगाई तय कर ली जाय।' उसने दलाल से कहा—हमारी लड़की के साथ उस लड़के का रिश्ता पक्का। लो ये रुपये भेंट के!' यों कहकर उन्होंने दलाल को काफी रुपये दिये। इधर बूढ़े वरराज से भी उसने काफी रुपये ऐंठे ही थे। विवाह में फेरों के समय जब बूढ़े वरराज घोड़ी पर बैठ कर दुल्हे बनकर आए तो कन्यापक्ष के लोग आश्चर्य में पड़ गए। आपस में कानाफूसी करने लगे—'यह वर तो ८० साल का बूढा है। क्या इसी के साथ लड़की का रिश्ता तय हुआ है?' संयोगवश धूर्त दलाल भी वही आया हुआ था। उससे लड़की के पिता ने पूछा—'अरे! तुम तो लड़का २०-२१ साल का बता रहे थे, यह तो ८० साल से कम का नहीं जँचता। क्या बात है?' तब उसने रहस्य खोला 'कि मैंने जो कहा था, उन्हें जोड़कर देखलो, मैंने कुछ झूठ बोला है क्या! १६-२०-२० और २१ चारो मिलकर संख्या पूरी ८० होती है। इसीलिए मैंने अन्त मे कहा भी था कि एसी एसी के हैं। यानी ८०-८० कहते है।' कन्या के पिता ने दलाल को खूब डाटा फटकारा; पर अब क्या हो सकता था? आखिर वह रो-धो कर रह गए और लड़की बूढ़े के साथ व्याहनी पड़ी। यह था मायापूर्वक मृषा वचन का प्रयोग! यह कोरे असत्य से भी कई गुना अधिक खतरनाक होता है। इसी प्रकार कुछ लोग ऊपर से वैराग्य की बातें करके, संन्यास या साधु के वेष का ढोल दिखाकर लोगो को त्याग की ओट में खूब फंसा लेते हैं। मधुर और शास्त्रीय वचनों का वे ऐसा जाल रचते हैं कि आगन्तुक आकर्षित होकर उनके चंगुल में फंस ही जाता है। और जो कुछ भी द्रव्य होता है, वह उन्हे दे बैठता है। यह है मायासहित वचनचातुरी, जो असत्य को भी मात कर देती है। इसलिए मायामृषा को असत्य की दादी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नही होगी।

असंतक—असत् यानी अविद्यमान वस्तु का प्रतिपादन विद्यमान के रूप में करना असत्क कहलाता है, अथवा अप्रशस्त का बखान करना भी असत्क कहलाता है। क्योंकि असत् शब्द के दो अर्थ हैं—अविद्यमान और अप्रशस्त। जो चीज विद्यमान न हो उसे विद्यमान बतलाना तो मिथ्यावचन है ही, खराब वस्तु की बढ़ाचढ़ा कर तारीफ करना भी असत्यमिश्रित कथन होने से असत्यवचन ही है। वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य कई बार स्वार्थवश या अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिहाज से अपनी स्थिति को वैसी न होते हुए भी बढ़ाचढ़ा कर बताता है अथवा किसी में कोई गुण न होने पर भी उसमें उस गुण का अस्तित्व बतलाता है, यह सरासर झूठ है। कई दफा दूकानदार अपनी वस्तु को बेचने के लिहाज से वह वस्तु

खराब हो, तो भी उसकी खूब तारीफ करके ग्राहक के गले मढ़ देता है। यह भी असत्य और बे-ईमानी का ही एक प्रकार है।

कूडकवडमवत्थु—इस पद में तीन शब्द है, उनको मिला कर एक पद कर दिया गया है—कूट, कपट और अवस्तु। दूसरो को ठगने के लिए हीनाधिक कहना कूटवचन है, वचन का विपर्यास-विपरीतता कर देना यानी आशय को बदल देना कपट है। किसी ने किसी से कहा कि मुझे फलां दिन तुमने ५०) रु. देने को कहा था, तब वह कहे कि 'मैंने कब कहा था ? मैंने तो फलां चीज के बदले में ५०) रु. देने को कहा था।' इस प्रकार वचन को या कहने के आशय को रद्दोबदल कर देना कपट कहलाता है। इसी तरह जिस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है, उसका प्रतिपादन करना अवस्तु कथन है। जैसे कोई कहे कि—'उस वंध्यापुत्र से मैं कल मिला था।' वन्ध्या के पुत्र होता ही नही, तब उससे मिलना तो दूर रहा। इस प्रकार अस्तित्व-हीन वस्तु का कथन करना अवस्तु है। शास्त्रकार ने इन तीनों वचनों में थोड़ा-बहुत अन्तर होने के कारण तीनों को सम्मिलित करके एक नाम से असत्य के पर्यायवाची शब्द के रूप में गिनाया है।

वर्तमान राजनीति और समाज एवं राष्ट्र की नीति बहुत दूषित हो गई है। वह धर्मलक्षी नीति न रहकर कूटनीति बन गई है। यही कारण है कि राष्ट्र-राष्ट्र में, राष्ट्रीय सरकार और जनता में, समाज और उसके सदस्यों में परस्पर अविश्वास, आशंका, अशान्ति बढ़ती जा रही है। कूटनीति के कारण न उसके आचरण करने वाले को ही शान्ति मिलती है और न जनता को ही। व्यापारिक जगत् मे भी वचन देकर बदल जाना, बे-ईमानी, मिलावट और धोखाधड़ी करना आम बात हो गई है। इसीलिए कूट, कपट और अवस्तु को शास्त्रकार ने असत्य की कोटि में बताया है।

मगर एक बात निश्चित है कि कोई व्यक्ति चाहे जितनी कूटनीति को अपना ले, एक न एक दिन उसकी कलई खुले बिना नही रहती। चाहे वह व्यापारी हो, चाहे राजनीतिज्ञ हो, और चाहे वह भ्रष्टाचारी नेता ही क्यों न हो, अधिक दिन तक कोई भी व्यक्ति जनता, समाज या राष्ट्र की आँखो मे धूल नही झोंक सकता। जब उसकी कूटनीति की पोल खुलती है तो वह ऐसे गिर जाता है, जैसे आसमान से कोई चीज गिरी हो। वह जनता की नजरों में गिर जाता है, समाज और परिवार में उसकी इज्जत खत्म हो जाती है; वह कही का भी नहीं रहता। लाभ से कई गुनी हानि उसे उठानी पड़ती है, मानसिक परेशानी होती है, सो अलग।

आजकल कई धर्मसम्प्रदाय के लोग भी अपना मतलब सिद्ध करने के लिए

शास्त्रवचनों का उलटफेर कर देते हैं। उदाहरण के तौर पर मनुस्मृति में एक श्लोक आता है—

'न मांसभक्षणे दोषो न च मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥

इसका अर्थ अनाचारी लोग ऐसा करते है—'मांस भक्षण में, मद्यपान में और मैथुन सेवन में कोई दोष नहीं है। यह तो जीवों की प्रवृत्ति है। इससे निवृत्ति करना-त्याग करना, महाफलदायी है।'

भला, यह सोचिए कि जिसके सेवन करने में कोई पाप नहीं, उसके त्याग करने में कौन-सा महाफल होगा ? जब इनको पापकार्य ही नही माना है, तो इनका त्याग करने से कौन-से पुण्यफल की प्राप्ति होगी ? यह तो हुआ वचन का विपर्यास ! अब देखिए इस श्लोक का उसी सम्प्रदाय के धर्मात्मा पापभीरु लोगों द्वारा किया गया सिद्धान्तानुकूल वास्तविक अर्थ—

वे **'न मांसभक्षणेऽदोषः'** ऐसा वास्तविक पाठ मान कर अर्थ करते है कि "मांसभक्षण करने में दोष नहीं है, ऐसी बात नही, अवश्य ही दोष है। इसी प्रकार मद्यपान और मैथुन मे भी जरूर दोष है। मगर क्षुद्रजीवों की ऐसी प्रवृत्ति है। इनसे निवृत्त होना ही महाफलदायक है।" निष्कर्ष यह है कि वचनविपर्यास करने से वह असत्य एक ही व्यक्ति तक सीमित नही रहता ; उसकी परम्परा समाज, राष्ट्र और उस सम्प्रदाय में हजारों वर्षों तक चलती रहती है।

इसी प्रकार भगवद् गीता में एक वाक्य आता है—'मद्याजी मां नमस्कुरु।' उसका वास्तविक अर्थ तो होता है—'मेरा पुजारी बनकर मुझे नमस्कार कर।' परन्तु शराबी, कबाबी लोग अपने मतलब के लिए उसमें उलटफेर करके-'मद्य+आजी = मद्याजी'—इस प्रकार विपरीत पदच्छेद करके अर्थ करने लगे—'मद्य पीकर, बकरे की बलि देकर मुझे नमस्कार करो।'

इस प्रकार करना आत्मवंचना तो है ही, सारी समाज को उसी असत्य की राह पर ले जाने वाला भयंकर कुकृत्य भी है।

अवास्तविक बातों का प्रतिपादन करना भी अवस्तु नामक असत्य है। कई लोगों को यह आदत होती है कि वे बातों के ऐसे पुछल्ले बांधेंगे या हवाई किले बनाएँगे, जिनका कोई अतापता नहीं होता। ऐसी बेसिरपैर की बे-बुनियाद बातें असत्य की ही कोटि में आती हैं।

निरत्थयमवत्थयं—निरर्थक और अर्थहीन शब्दों का उच्चारण करना भी असत्य है। निष्प्रयोजन बडबडाने या बातों के गुब्बारे छोड़ने से कोई मतलब हल नही होता। कई बार ऐसी बेमतलब की बातों से आपस में झगड़े और सिरफुटौव्वल

भी हो जाते हैं; ऐसे बातूनी लोगों में कभी-कभी परस्पर तू-तूमैं-मैं भी हो जाती है और वाक्युद्ध का अखाड़ा जम जाता है। कई बार निरर्थक बकझक और बखबख करने से क्रोधादि कषायों और वैर व द्वेष की परम्परा बढ़ जाती है। कामकथा, भोजनकथा, स्त्रीकथा, क्रूर राजनैतिककथा, एवं राष्ट्रीय कानून की कथा भी अर्थहीन, वासना-वर्द्धक, कलहकारक एवं पापोत्तेजक बन जाती है। निरर्थक बातों में अधिकतर अति-शयोक्तिरूप असत्य का मिश्रण होने से यह भी असत्य की ही कोटि में है। इसी प्रकार वे वचन, जिनका अर्थ सुनने वाले के समक्ष में न आए या सुनने वाला एक के बदले दूसरा अर्थ समझ ले, अपार्थक वचन हैं, और असत्य हैं।

विद्दे सगरहणिज्जं—विद्वेष का कारण होने से निन्दनीय या परनिन्दाकारी वचन भी असत्य माना गया है। क्योंकि मन में किसी के प्रति विद्वेष होने के कारण व्यक्ति को बोलने का भान नहीं रहता; वह आवेश में आकर अंटसंट बक देता है, जिसके प्रति उसके मन में द्वेष है, उसके लिए यद्वातद्वा बोलने अथवा उसमें अविद्यमान दुर्गुणों को प्रगट करने लगता है। यह असत्य का ही एक प्रकार है। लोकनिन्दनीय बातों का उप-देश देना भी असत् होने से असत्य है। जैसे शाक्तसम्प्रदाय के तंत्रग्रन्थ में बताया गया है—'मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु' ('माता की योनि छोड़कर सभी स्त्रियों के साथ रमण करे।') ऐसी लोकनिन्दनीय, धर्मविरुद्ध और शास्त्रनिन्द्य बातें घोर असत्य की पोषक हैं।

अणुज्जकं—वक्र (सरलता रहित) बोलना या किसी बात को टेढ़ेमेढ़े घुमाकर कहना, जिससे सुनने वाले उसकी असलियत को न समझ सकें। प्रायः धोखेबाज या ठग लोग बात को घुमा फिराकर ऐसे ढंग से कहते हैं, जिससे सुनने वाले आदमी के मन पर उसकी सचाई की छाप पड़ जाती है और इस तरह बात ही बात में वह लोगों को चकमा देकर पलायन हो जाता है। कई लोग दुगुना सोना बना देने या दुगुने नोट बना देने की बात कहकर लोगों को झांसे में डालने के लिए पहले थोड़ा-सा अधिक सोना उसके दिये हुए सोने के साथ रखकर उसके हृदय में विश्वास जमा देते हैं, फिर जब वह लोभ में आकर अधिक सोना बन जाने की धुन में अपने सोने के सब गहने उनके पास ले आता है तो वे कोई-न-कोई बहाना बनाकर वह सोना लेकर नौ दो ग्यारह हो जाते हैं। यह वक्रतापूर्वक बोलने का नतीजा है! यह भयंकर असत्य है, इसलिए इसे असत्य का पर्यायवाची बताया गया है।

कक्कणा—मायामय या पापमय वचन कल्कना है। कल्कना इसलिए असत्य की बहन है कि इसमें वचन के साथ माया, छल या कपट मिले रहते हैं। अथवा इसके साथ पापकारक कर्मों के सावद्य उपदेश का पुट रहता है। इसलिए ये दोनों ही प्रकार

के कल्कनामय वचन असत्यरूप है। जितने भी पापजनक या मायाचारपूर्वक वचन हैं, वे सबके सब असत्य की कोटि में आते है।

वंचणा—ठगाई के वचन बोलना या दूसरों को ठगने की दृष्टि से वचन बोलना, वंचना है। वंचना इसलिए असत्य का अंग बन जाती हैं कि दूसरों को ठगने के लिए कहे गए वचनों में काफी असत्य का अंश मिला रहता है। और ठगे जाने वाले को बाद में उन वचनों से अत्यन्त पीड़ा होती है,मन में सख्त चोट लगती है। कई लोग ऐसी बोगस कंपनी या फर्म सजाकर बैठ जाते है कि जहां माल बिलकुल नही होता; केवल खाली डिब्बे या टीन सजाए हुए पड़े रहते हैं। आने वाले व्यापारी के साथ वे कंपनी के आफिसर ऐसे ढंग से बातें करते हैं कि "आप इतनी रकम जमा करा दीजिए, हम आपको अमुक जगह का 'सोल एजेंट' बना देते है, आपको माल बेचने के पीछे इतना कमीशन मिलता रहेगा।" बेचारा व्यापारी उनके चक्कर में आ कर रुपये दे देता है। परन्तु बाद में न माल व्यापारी के पास पहुंचता है और न पत्र ही। व्यापारी घबड़ा कर जब वापिस वहां आता है, तब तक तो वह कंपनी ही वहां से गायब हो जाती है। इस प्रकार झूठे वादे, झूठे आश्वासन या झूठे प्रलोभन देकर या सब्जबाग दिखाकर किसी को अपनी ठगी का शिकार बनाना वंचना है, जो सरासर असत्य है। वंचनामय वचन बोलने वाला स्वयं तो अपनी आत्म-वंचना कर ही लेता है, दूसरे चाहे उसके वचनों से वंचित हों, या न हों।

मिच्छापच्छाकडं—मिथ्या रूप होने से न्यायवादियों द्वारा पीछे किया हुआ—छोड़ा हुआ वचन 'मिथ्या पश्चात्कृत' वचन कहलाता है। यह असत्य का अंग इसलिए माना गया है कि इसमें अधिकतर वाग्जाल में फंसाने की ही प्रक्रिया होती है,वाणी से ऐसे सब्जबाग दिखाये जाते हैं कि सामने वाला आदमी उसकी बात को सच्ची मानकर फंस जाता है, लेकिन बाद में जब नजदीक आता है तो उसकी बात के अनुसार कुछ नही पाता है, इससे निराश होकर वापिस लौट जाता है। जैसे रेगिस्तान में प्यासे हिरन को दूर से पानी का सरोवर भरा हुआ दिखता है, लेकिन पास में जाने पर उसे केवल सूखी रेत ही मिलती है। इससे वह निराश होकर वापिस लौट जाता है, वैसे ही वाणी के द्वारा सब्जबाग दिखाने वालों या आश्वासन वचनों से आसमानी किले बांधने वालों के पास आने वाले लोगो को हताश होकर वापिस लौट जाना पड़ता है। यह भी एक प्रकार की धोखा धड़ी है; जिसमें असत्य का बाहुल्य होता है। इस प्रकार के असत्य में मिथ्याभाषण तो होता ही है, दूसरों को निराशा होने से पीछे लौट जाने की पीड़ाकारी प्रतिक्रिया भी होती है; जिससे इसकी भयंकरता बढ़ जाती है।

इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि किसी के बारे में उसके पीछे झूठमूठ

ही उसके अवगुणों का कथन करना । यानी किसी की पीठ पीछे से झूठी निन्दा करना या चुगली करना मिथ्यापश्चात्कृत है। कई लोगो की यह आदत होती है कि वे सामने तो अपना काम निकालने के लिए 'हां, जी हां' करेंगे या उसकी प्रशंसा करेंगे; किन्तु उसके चले जाने या सामने से ओझल हो जाने पर उसकी भरपेट निन्दा करेंगे, उसके अवगुणो का झूठ-मूठ ही ढिंढोरा पीटते फिरेंगे । यह आदत असत्यवादिता को बढ़ावा देने वाली है । इसलिए 'मिथ्या पश्चात्कृत' को असत्य का भाई मानना अनुचित नही होगा ।

सातो—अविश्वास पैदा करने वाला वचन साती कहलाता है । असत्य स्वयमेव अविश्वास पैदा करने वाला होता है । असत्य से परस्पर समाज, जाति, परिवार और राष्ट्र में बहुत जल्दी अविश्वास पैदा हो जाता है; जो दो हृदयों को परस्पर जोड़ने के बजाय तोड़ देता है । विश्वास का उच्छेद करने का कारण होने से 'साती' असत्य का ही एक रूप है ।

उच्छन्नं—अपने दोषों और दूसरों के गुणो को ढकने के लिए आच्छादनरूप वचनप्रयोग उच्छन्न है । जहां-जहां गुप्तता है, छिपाना है, वहां-वहां असत्य है । मनुष्य उसी चीज को छिपाता है, जो लोकनिन्द्य, शास्त्रनिषिद्ध और अनाचरणीय बात या व्यवहार हो । अथवा द्वेषवश भी दूसरो के गुणों पर पर्दा डाल देता है,उन्हें यथार्थरूप से प्रगट नही करता है। वह सोचता है, कि अगर अमुक व्यक्ति के गुणों को व्यक्त करूंगा तो लोगों में उसकी ख्याति व प्रभाव फैलेगा, उसकी प्रशसा और प्रसिद्धि होगी । इस तेजोद्वेष के वश वह किसी भी गुणी के गुण को व्यक्त नही करता; यह अन्याय है, जो पाप रूप है । वास्तव में 'प्रकटं पुण्यं प्रच्छन्नं पापम्' इस न्याय के अनुसार जो भी कपट के वश प्रच्छन्न-गुप्त रखा जाता है, वह पाप है । इसलिए उच्छन्न वचन भी पापरूप होने के कारण असत्यमय है और असत्य का साथी है ।

इसके बदले किसी-किसी प्रति में 'उच्छुत्त' शब्द मिलता है, उसका अर्थ है— सूत्रविरुद्ध प्ररूपण करना । शास्त्र या सिद्धान्त के आशय के विरुद्ध अपनी ही स्वच्छन्द कल्पना से या स्वार्थभावना [illegible] होकर किसी [illegible] करना उत्सूत्र-वचन कहलाता है, जो [illegible] निकट है । [illegible] असत्य के निकट इसलिए होता है कि [illegible] चलाया जा[illegible] या सूत्र के द्वारा उसकी पुष्टि की जाती है

उपकूलं—नदी [illegible] (तटों) की [illegible] भी शान्त [illegible] से [illegible] करती है, [illegible] की [illegible] है, तब [illegible], पीछे

मनुष्यों में हाहाकार मचा देती है। इसी प्रकार मनुष्य की वाणी भी जब-तक सत्य और न्याय की तट-मर्यादाओं में होकर बहती है, तब तक वह संसार के लिए जीवनदायिनी बनी रहती है, परन्तु जब वह मर्यादाओं को लाघ कर सीमा तोड़ देती है, तब स्वपर के लिए हानिकारक और परपीड़ादायिनी बन जाती है। इसीलिए उत्कूल वचन वे हैं जो सत्य और न्याय की मर्यादाओं से हटकर स्वच्छन्दता और असत्यता का रूप धारण कर लेते हैं। उत्कूल वचन असत्य का साथी इसलिए कहलाता है,कि यह मनुष्य को नीति, न्याय, धर्म और सत्य से भ्रष्ट करने वाला है। चंचलचित्त पुरुष ही ऐसे उत्कूलवचनों का सहारा लेते हैं। धीर पुरुष तो कितनी ही विपत्ति क्यों न आए, न्यायमार्ग से भ्रष्ट करने वाले उद्‌गार नही निकालते।

अट्टं—जब मनुष्य किसी गहरी चिन्ता में डूबा हुआ होता है, किसी आफत से घिरा हुआ होता है, किसी इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग से पीड़ित होता है अथवा किसी वैषयिक सुख की तीव्र लालसा से प्रेरित होकर उसे पाने के लिए रातदिन तड़फता रहता है, तब उसके मुख से निकलने वाले वचन प्रायः असत्यरूप होते हैं। क्योंकि इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ाचिन्तन और निदान प्राप्ति-लालसा इन चारों प्रकार के आर्त्तध्यानों मे निमग्न व्यक्ति को वास्तविकता का उस समय भान ही नहीं रहता। वह शोक और दुःख में अपने स्वभाव से हट जाता है। यही कारण है कि आर्त्त वचन सत्य से विकल होने के कारण असत्य के ही साथी हैं।

अब्भक्खाणं—दूसरों पर मिथ्या दोषारोपण करना अभ्याख्यान नामक असत्य है। अभ्याख्यान असत्य यों है कि अभ्याख्यान के समय व्यक्ति द्वेषवश होता है और जो दोष दूसरों में नही हैं, उन्हें अपनी कल्पना से लगा कर झूठमूठ उसे लांछित करता है। किसी पर झूठा कलंक लगाते समय व्यक्ति पहले उसके बारे में कोई छानबीन नही करता, बिना ही विचार किये उस पर आरोप लगा देता है। इससे दूसरे व्यक्ति की प्रतिष्ठा खत्म हो जाती है, लोगों में वह बदनाम हो जाता है। आम जनता की नजरों मे वह गिर जाता है। स्वाभिमानी मनुष्य तो इस मिथ्यापवाद से लांछित और अप्रतिष्ठित होकर तिलमिलाने लगता है। कई बार तो वह इसके सदमे के कारण आत्महत्या तक कर बैठता है। इसलिए अभ्याख्यान में असत्य का जहर होने के कारण नरहत्या का भयंकर पाप भी संभव है। इस कारण अभ्याख्यान भी असत्य का दाहिना हाथ है।

किब्बिसं—किल्विष यानी पाप का हेतु होने से इसे किल्विष भी कहा गया है। पहले कहा जा चुका है कि असत्य अनेक पापों का जनक है। असत्य के साथ क्रोध, अभिमान, राग, द्वेष, काम, लोभ, मोह, हिंसा आदि भयंकर पाप भी जुड़े हुए हैं। एक असत्य को छिपाने के लिए असत्यवादी अनेक असत्यों का, हिंसादि

भयंकर पापों का आश्रय लेता है। इसलिए निःसंदेह कहा जा सकता है कि असत्य किल्विष—पापों की वृद्धि में निमित्त है। इसलिए इसे भी असत्य का पर्यायवाची बताया गया है। किल्विष अपराध को भी कहते हैं। असत्य अपने साथ हिंसा, क्रोध, राग-द्वेष, कलह, लोभ आदि अनेक अपराधों को ले आता है। वैसे असत्य भी स्वयं आप में एक अपराध है किन्तु वह दूसरे अपराधों का कारण होने से उसे किल्विष कहा गया है। किल्विष रोग को भी कहते हैं। आत्मा के साथ अनादिकाल से राग-द्वेष, कर्म आदि रोग लगे हुए हैं, उनका कारण होने से भी असत्य को किल्विष कहा गया है।

वलय—कंगन या कड़े को वलय कहते है। वह जैसे गोल होता है, वैसे ही गोलमोल वचन बोलना, असली बात को छिपाने के लिए कपटपूर्वक गोलमोल बात कहना, वलय नामक असत्य है। वलय असत्य का साथी इसलिए माना गया है कि इसमे जैसी बात होती है या जैसी बात देखी-सुनी या की है, वैसी ही उसी रूप में नहीं कही जाती; वह घुमा फिरा कर मायापूर्वक छिपा कर दूसरे रूप में बताई जाती है। सत्य सरल और स्पष्ट होता है, उसमें छिपाव, दुराव या बनावट, दिखावट नहीं होती, जबकि वलयवचन में ये सब होती हैं। इसलिए वलयवचन असत्य का ही साथी है।

गहणं—जिसके अन्तिम परिणाम की थाह न लग सके, उसे गहन नामक असत्य कहते हैं। वचन का प्रयोग अपनी बात दूसरों को स्पष्ट और सरल रूप से समझाने के लिए होता है। यदि वचन प्रयोग से अपनी बात का दूसरों को स्पष्ट बोध न हो तो वह सत्य नहीं कहलाता। गूढ़ वचन बोलने से या द्वयर्थक वचन बोलने से सुनने वाला उसे स्पष्ट न समझ सकने के कारण अपनी बुद्धि के अनुसार कई बार गलत अर्थ लगा लेता है, जिससे विसंवाद बढ़ जाता है। गलतफहमी के कारण कई बार तो भयंकर झगड़े भी होते देखे जाते हैं। गहन, गूढ, संदिग्ध या द्वयर्थक शब्दों का प्रयोग असत्य का कारण इसलिए भी है कि उससे दूसरों का अहित ही अधिक होता है; मानसिक संक्लेश और अशान्ति भी बढ़ जाती है। उदाहरण के तौर पर धर्मराज युधिष्ठिर ने, महाभारत के समय द्रोणाचार्य के साहस को तोड़ने के लिए 'अश्वत्थामा हतो, नरो वा कुंजरो वा' ऐसे द्वयर्थक शब्द का प्रयोग किया था। इसका अर्थ द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामा के मरने का समझ गए, और उनका साहस टूट गया, वे पुत्रशोक में विह्वल होकर लड़ना छोड़ बैठे, फलतः मारे गए। प्रायः कपटी लोग ही दूसरों को भ्रम मे डालने या गलतफहमी के शिकार बनाने के लिए ऐसे गहन शब्दों का प्रयोग किया करते हैं।

मम्मणं—अस्पष्ट रूप से किसी बात को कहना मन्मन नाम का असत्य है। किसी बात को स्पष्ट न कहने के कारण कई बार सुनने वाले उसका आशय नहीं

समझ पाते या विपरीत समझ लेते है। जानबूझ कर अस्पष्ट कहना हृदय की कालिमा को प्रगट करना है। स्वच्छ हृदय वाले अपने मन की बात साफ-साफ कह दिया करते हैं। सत्य स्वच्छ और स्पष्ट होता है, जबकि असत्य अस्वच्छ और अस्पष्ट। इसलिए मन्मनरूप अस्पष्ट वचन भी असत्य के ही अन्तर्गत है।

हाँ, जिनको स्वाभाविक रूप से बौखलाने, तुतलाने की आदत है, जिनका उच्चारण स्वाभाविक ही अस्पष्ट है, उनके द्वारा बोला गया अस्पष्ट वचन असत्य नही समझना चाहिए। माया, वक्रता आदि से जिनका अन्तःकरण कलुषित है, उन्ही का 'हूं हूं', 'ऊँ ऊँ' या 'ना ना' इत्यादि रूप में कहा हुआ अस्पष्ट वचन ही असत्य समझना चाहिए।

नूमं—यथार्थ बात को आच्छादन करने वाला वचन 'नूम' नामक असत्य है। असली बात पर पर्दा डाल कर लोगों को अंधेरे में रखना, धोखा देना, किसी चीज पर ढकना लगा कर बंद कर देने की तरह किसी बात को माया का ढकना लगाकर हृदय मे बद कर देना भी एक प्रकार का छल है। इसलिए इसे भी असत्य का साथी बताया गया है।

जैसे किसी चीज को डाट या ढक्कन लगाकर किसी पात्र में बंद करके रख देने से वह चीज अंदर ही अदर सड़ जाती है, उसमे कीड़े कुलबुलाने लगते है, इसी प्रकार किसी सच्ची बात को भी कपट वृत्ति से मन में बंद करके रख देने से वह अंदर ही अंदर गंदी होने लगती है, उसकी दुर्गन्ध बाहर फैलने लगती है, उसमें क्रोध, द्वेष, अभिमान आदि के कीड़े कुलबुलाने लगते है।

> पाप छिपाये ना छिपें, छिपें तो मोटा भाग।
> दाबी दूबी ना रहे, रुई लपेटी आग॥

इस कहावत के अनुसार बात आखिर फूटे बिना नही रहती। और जब वह फूटती है तो उसे छिपाने वाले व्यक्ति की प्रतिष्ठा, गौरव, यश, और आजतक की हुई सेवा या उपार्जित कीर्ति सब धूल में मिल जाती है। इसलिए सच्ची बात को कपट से छिपाकर रखना नूम नामक भयंकर असत्य है। कषायों की तीव्रता होती है, तभी मनुष्य ऐसा दुष्कृत्य करता है।

नियडी—दूसरों को वंचित करने (धोखा देने) की दृष्टि से जो वचन बोला जाता है, उसे निकृति नामक असत्य कहते हैं। दूसरे के हित का उच्छेद करने वाला या दूसरे की जीविका या अन्य किसी आर्थिक हित, ज्ञानवृद्धि, सदाचार आदि आत्मिकहित का विध्वंस करने वाला वचन भी निकृति कहलाता है। अथवा अपने आर्थिक या अन्य किसी निहित स्वार्थ की अभिलाषा से परवंचना करना—दूसरों को धोखा देना आदि को भी निकृति कह सकते हैं। जिस वचन में परवंचना, परहित का

उच्छेद, दूसरों के कल्याण का नाश निहित है, वह वचन असत्य है । इसलिए निकृति को भी असत्य की सहचारिणी बताया गया है ।

अपच्चओ—अप्रतीतिजनक वचन अप्रत्यय नामक असत्य कहलाता है । किसी के वचन के प्रति अप्रतीति तब होती है, जब पहले कई बार कहे हुए वचनों का पालन उसने न किया हो । एक बार जब किसी के वचनों पर लोगों को अप्रतीति या अविश्वास हो जाता है तो सहसा उसके वचनों पर पुनः प्रतीति नहीं होती, विश्वास नहीं जमता, चाहे वह हजार कसमें क्यों न खाए । वह प्रतीति तो उसके अपने कहे हुए वचन के या वादे के अनुसार कर दिखाने से ही होती है । असत्य अपने-आप में भी अप्रतीति का जनक है । ऐसे अप्रतीतिजनक वचन से हानि यह होती है कि एक व्यक्ति के वचन के प्रति हुई अप्रतीति, अन्य सत्यवादी सज्जनों के वचनों के प्रति भी जनता की अप्रतीति का कारण बनती है । इसलिए अप्रत्यय वचन को असत्य का सहोदर कहना अनुचित नहीं है । अप्रतीतिजनक वचन का प्रयोग करने वाले के वचन चाहे कितने ही मधुर, प्रिय और आश्वासनदायक हों, आकाशकुसुम की तरह निरर्थक हैं ।

असमओ—जो वचन सदाचार से रहित हो, अथवा सिद्धान्त से विरुद्ध हो, उसे 'असमय' नामक असत्य कहते हैं । समय सदाचार और सिद्धान्त को भी कहते हैं । जिन वचनों में सदाचार का पुट न हो और जो सिद्धान्त के अनुकूल न हों, वे चाहे जितनी लच्छेदार, प्राञ्जल एवं वजनदार भाषा में ही क्यों न कहे गए हों, चाहे जितने विद्वत्ता-पूर्ण भी क्यों न हों, वे प्राणियों के अहित के पोषक होने से असत्य से युक्त हैं; इसलिए असमय वचन को असत्य वचन का साथी कहना समीचीन है । सदाचारयुक्त या सिद्धान्तानुकूल वचन यदि थोड़े से, या टूटे फूटे शब्दों में भी कहा जाता है तो उसका असर श्रोताओं पर जादू-सा होता है ; वह विरोधियों के हृदय को भी छू लेता है, दुराचारियों और पापियों के हृदय को भी झकझोर कर बदल देता है, किन्तु अनाचारपोषक, पापोत्तेजक या सिद्धान्तविरुद्ध अन्याययुक्त वचन लच्छेदार और व्यवस्थित रूप से कहा जाने पर भी श्रोताओं के हृदय पर उचित प्रभाव नहीं डाल पाता; विरोधियों को बदल नहीं सकता ।

अथवा 'असंमओ' पाठान्तर का संस्कृत में असम्मत रूप होता है । जिसका अर्थ होता है, जो धर्माचार से या शिष्टपुरुषों द्वारा असम्मत वचन हो । शिष्टजन धर्ममर्यादाओं या धर्माचार से पुट वाले वचन कहते हैं । जो उपदेश या वचन धर्ममर्यादाओं या सम्यक् आचार से विपरीत हो, वह असत्य का पोषक है । अतः असत्य का पोषक होने से 'असम्मत' वचन को भी असत्य भाषण के समान बताया गया है ।

असच्चसंधत्तणं—संधा अभिप्राय या प्रतिज्ञा को कहते हैं, कहीं-कहीं संधा का

अर्थ मेल भी किया जाता है। अतः 'असत्यसंधत्व' शब्द का अर्थ हुआ—जिस वचन में असत्य अभिप्राय निहित हो, अथवा जो असत्य प्रतिज्ञा से युक्त वचन हो, या असत्य से मेल खाता हुआ वचन हो। जिस वचनप्रयोग के पीछे अभिप्राय गलत हो, वह वचन जनहितकर न होने के कारण असत्य है। कई व्यक्ति खराब दृष्टिकोण से किसी के प्रति व्यग्य या ताने के रूप में वचनप्रयोग करना भी परपीड़ाजनक होने से असत्य में ही शुमार है। जैसे किसी व्यभिचारी से कहना कि 'आइए, महात्मन् !' किसी अपकारी से या किसी सेठ से अपना मतलब गाठने के लिए चापलूसी या खशामद भरे मीठे वचन वोलना भी असत्यसंधत्व है। क्योंकि किसी की चापलूसी करते समय उस व्यक्ति मे जो गुण नही हैं, उनको भी बढा-चढा कर कहा जाता है। जैसे कई भाट या कवि लोग राजाओं की विरुदावलियां या यशोगाथाएँ गाते समय पुरस्कार पाने के लालच से कहते थे— आप इन्द्र है, आप वरुण हैं, आप कुबेर हैं, आप सूर्य के दूसरे अवतार है, आदि। ऐसी चाटुकारी करते समय व्यक्ति स्वार्थ या लोभ मे आकर उसके वास्तविक गुणों-अवगुणों का विचार नही करता, इसलिए ऐसे वचन या विपरीत दृष्टिकोण से कहे गए वचन असत्यगर्भित होने से असत्य ही हैं। इसी प्रकार असत्य से सम्बन्धित या मेल खाने वाले वचन कहना भी असत्यसंधत्व है। क्योंकि ऐसे वचनों मे सत्य नही होता, केवल सत्य का आभास होता है। इसलिए ऐसे सत्याभासी वचन भी असत्यसंधत्व में आ जाते है। इसी तरह असत्य प्रतिज्ञा लेना भी असत्य संधत्व है। कई दफा व्यक्ति आवेश में आकर प्रतिज्ञा तो ले बैठता है, किन्तु उसका पालन नहीं करता। अथवा प्रतिज्ञा भी लेता है तो केवल दिखावे के लिए या झूठे आश्वासन देने के लिए। उसका पालन नही करता या उस पर दृढ़ नही रहता। वात-वात में तोड़ वैठता है। कई लोग संकल्प करते हैं, लेकिन जरा-सा कोई दवाव पडा या लोभ आया, अथवा स्वार्थ ने मुँह खोला, भय अथवा आफत ने घेरा डाला कि संकल्प से हट गए, तोड़ डाला संकल्प को ! इसी प्रकार किसी को कोई वचन देकर उसका पालन न करना भी असत्यसंधत्व है। ये सब प्रकार असत्य में गतार्थ हो जाते है, इसीलिए असत्य के ही साथी है।

विवक्खो—जो वचन सत्य और सिद्धान्त का या धर्म और पुण्य का विपक्ष है—विरोधी है, वह विपक्ष नामक असत्य है। सिद्धान्त और सत्य के विरुद्ध वचन भी वास्तव में असत्य रूप हैं। इसलिए विपक्ष में असत्य का आश्रय होने से वह भी असत्य का अनुचर ही है। जैसे कई नास्तिक लोग कह देते हैं कि 'स्वर्ग नरक नही हैं, ये सब कोरी कपोलकल्पनाएँ हैं।' यह वचन सत्य और सिद्धान्त से विपरीत होने से विपक्ष असत्य है। इसी प्रकार अनेकान्त सिद्धान्त को छोड़कर सिर्फ

एकान्त दृष्टि से कथन करना भी विपक्ष असत्य है। जैसे किसी ने कह दिया—'दान मत करो। क्योंकि दान पुण्यवर्द्धक है और पुण्य सर्वथा हेय है, उसे छोड़े विना मोक्ष नहीं होगा।' इस वचन में पुण्य एवं दान का सर्वथा निषेध ऐकान्तिक है, अनेकान्त सिद्धान्त का विरोधी है, सत्य का विपक्षी है। इसलिए यह विपक्ष वचन असत्यरूप है। आत्मा में तीन परिणतियाँ (भाव या परिणाम) होती हैं—शुद्ध, शुभ और अशुभ। शुद्ध परिणति तब होती है, जब आत्मा आत्मस्वरूप के ही मनन-चिन्तन-ध्यान में तल्लीन रहता है। जब आत्मा परोपकार, दान, हितोपदेश आदि शुभ कार्यों में लगा रहता है तब शुभ परिणति होती है, और जब आत्मा आर्त-रौद्रध्यान में तथा इन्द्रिय-विषयों में मग्न रहता है तब अशुभपरिणति होती है। जब तक आत्मा में शुद्ध वीतराग परिणति न हो, तब तक शुभ परिणति में उसे स्थिर रखना ही श्रेयस्कर है। अन्यथा वह शुद्ध में जायगा नहीं, शुभ से रोक रहे हो, तब अशुभ परिणति के सिवाय कहां जाएगा ? इसलिए दान-पुण्य आदि का सर्वथा ऐकांतिक निषेध कर देना, विपक्ष नामक असत्य वचन है। इसलिए निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को लक्ष्य में रखकर वचन बोलना सत्य है। जहां दोनों में से एक के प्रति भी लक्ष्य न रखा जाय या सिर्फ एक को लेकर ही कथन किया जाय, वहाँ एकान्त पक्ष का आश्रय होने से विपक्ष नामक असत्य है।

अवहीयं या उवहीयं—दुर्बुद्धि रखकर वचन बोलना अपधीक नामक असत्य है। दुर्बुद्धि रखकर किसी वचन को कहने से वक्ता की दुर्बुद्धि का पता चल जाता है। दुर्बुद्धिपूर्वक वचन बोलना दूसरे के लिए हितकर नहीं होता, इसलिए वह असत्य-रूप होता है। इसी कारण अपधीक नामक वचन को असत्य में बताया है। अथवा उपधीक रूप भी है; जिसका अर्थ होता है—उपधि यानी माया का आधारभूत जो वचन हो। मायापूर्वक वचन बोलने से सुनने वाले को उस पर अविश्वास, शंका और असद् भाव पैदा होते हैं। किसी-किसी प्रति में 'आणाइयं' पाठ भी मिलता है। जिसका अर्थ होता है—वीतराग जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला वचन कहना 'आज्ञातिग' नामक असत्य है। वीतराग की आज्ञा जिन कार्यों को करने की है, उनका उल्लंघन करना, शास्त्रीय बातों का मनमाना सिद्धान्त-विरुद्ध अर्थ करना, एक तरह से असत्य रूप होने से 'आज्ञातिग' को भी असत्य का साथी माना गया है।

उवहि असुद्ध—उपधि यानी माया से अशुद्ध कथन उपध्यशुद्ध कहलाता है। छल कपट करके शब्द और अर्थ दोनों ही अशुद्ध बोलना असत्यरूप होने से उपध्यशुद्ध वचन को भी असत्य का सहचारी मान लिया है। अशुद्ध शब्द प्रयुक्त होने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है, और अशुद्ध अर्थ कहना तो स्पष्ट रूप से हानिकारक है ही।

अवलोयो—विद्यमान वस्तु को लोपरूप-अभाव रूप से कथन करना अवलोप

नामक असत्य है। अथवा शास्त्र में निरूपित किसी वस्तु का सर्वथा अपलाप करना भी अवलोप है। यह भी भयकर असत्य है। सामान्य रूप से असत्य बोलने की अपेक्षा सैद्धान्तिक असत्य ज्यादा भयंकर होता है। क्योकि उससे अनन्तकाल तक संसार के जन्ममरण के चक्र में घूमना होता है। शास्त्र की यदि कोई बात समझ में न आती हो तो 'तत्त्वं केवलिगम्यं' कहकर उसे छोड़ देना चाहिए। मगर शास्त्रविहित वस्तु का सर्वथा लोप या निषेध कर देना, यह असत्य की कोटि मे माना जाएगा।

अणेगाइं—इस प्रकार पूर्वोक्त रूप से असत्य के ३० नामों का उल्लेख शास्त्र कार ने किया है। साथ ही 'अणेगाइं' शब्द से यह भी स्पष्ट अभिव्यक्त कर दिया है कि असत्य के इस प्रकार के और भी अनेक नाम हो सकते है, और वे है भी।

असत्यवादी कौन और किस प्रयोजन से ?

इस तरह नाम द्वार में असत्य के ३० नामों का स्पष्ट उल्लेख कर देने के बाद अब शास्त्रकार यह बतलाते है कि असत्य कौन-कौन बोलते हैं और किस प्रयोजन से व किस प्रकार से बोलते हैं ?

मूलपाठ

तं च पुण वदंति केइ अलियं पावा, असंजया, अविरया, कवड-कुटिल-कडुय-चडुलभावा, कुद्धा, लुद्धा, भया य,हस्सट्ठिया य, सक्खी, चोरा, चारभडा, खंडरक्खा,जियजूयकारा य, गहियगहणा, कक्क-गुरुगकारगा, कुलिंगी, उवहिया, वाणियगा य, कूडतुलकूड-माणी, कूडकाहावणोपजीविया, पडगारका, कलाया, कारुइज्जा, वंचणपरा, चारिय-चाटुयार-नगरगोत्तिय-परियारगा, दुट्ठवायि-सूयक - अणवल - भणिया य, पुव्वकालियवयणदच्छा, साहसिका, लहुस्सगा, असच्चा, गारविया, असच्चट्ठावणाहिचित्ता, उच्चच्छंदा, अणिग्गहा, अणियता, छंदेण मुक्कवाया भवंति, अलियाहिं जे अविरया।

अवरे नत्थिकवाइणो वामलोकवादी भणंति-सुण्णं ति, नत्थि जीवो, न जाइ इह परे वा लोए, न य किंचिवि फुसति पुन्नपावं, नत्थि फलं सुकयदुक्कयाणं, पंचमहाभूतियं सरीरं भासंति ह ! वातजोगजुत्तं। पंच य खंधे भणंति केई, मणं च मणजीविका वदंति, वाउजीवोत्ति एवमाहंसु, सरीरं सादियं सनिधणं इहभवे

एकान्त दृष्टि से कथन करना भी विपक्ष असत्य है। जैसे किसी ने कह दिया—'दान मत करो। क्योंकि दान पुण्यवर्द्धक है और पुण्य सर्वथा हेय है, उसे छोड़े बिना मोक्ष नहीं होगा।' इस वचन में पुण्य एवं दान का सर्वथा निषेध ऐकान्तिक है, अनेकान्त सिद्धान्त का विरोधी है, सत्य का विपक्षी है। इसलिए यह विपक्ष वचन असत्यरूप है। आत्मा में तीन परिणतियाँ (भाव या परिणाम) होती हैं—शुद्ध, शुभ और अशुभ। शुद्ध परिणति तब होती है, जब आत्मा आत्मस्वरूप के ही मनन-चिन्तन-ध्यान मे तल्लीन रहता है। जब आत्मा परोपकार, दान, हितोपदेश आदि शुभ कार्यों में लगा रहता है तब शुभ परिणति होती है, और जब आत्मा आर्त-रौद्रध्यान में तथा इन्द्रिय-विषयों में मग्न रहता है तब अशुभपरिणति होती है। जब तक आत्मा में शुद्ध वीतराग परिणति न हो, तब तक शुभ परिणति में उसे स्थिर रखना ही श्रेयस्कर है। अन्यथा वह शुद्ध में जायगा नहीं, शुभ से रोक रहे हो, तब अशुभ परिणति के सिवाय कहां जाएगा? इसलिए दान-पुण्य आदि का सर्वथा ऐकान्तिक निषेध कर देना, विपक्ष नामक असत्य वचन है। इसलिए निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को लक्ष्य में रखकर वचन बोलना सत्य है। जहां दोनो में से एक के प्रति भी लक्ष्य न रखा जाय या सिर्फ एक को लेकर ही कथन किया जाय, वहाँ एकान्त पक्ष का आश्रय होने से विपक्ष नामक असत्य है।

अवहीयं या उवहीयं—दुर्बुद्धि रखकर वचन बोलना अपधीक नामक असत्य है। दुर्बुद्धि रखकर किसी वचन को कहने से वक्ता की दुर्बुद्धि का पता चल जाता है। दुर्बुद्धिपूर्वक वचन बोलना दूसरे के लिए हितकर नहीं होता, इसलिए वह असत्य-रूप होता है। इसी कारण अपधीक नामक वचन को असत्य में बताया है। अथवा उपधीक रूप भी है; जिसका अर्थ होता है—उपधि यानी माया का आधारभूत जो वचन हो। मायापूर्वक वचन बोलने से सुनने वाले को उस पर अविश्वास, शंका और असद् भाव पैदा होते हैं। किसी-किसी प्रति में 'आणाइयं' पाठ भी मिलता है। जिसका अर्थ होता है—वीतराग जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला वचन कहना 'आज्ञातिग' नामक असत्य है। वीतराग की आज्ञा जिन कार्यों को करने की है, उनका उल्लंघन करना, शास्त्रीय बातों का मनमाना सिद्धान्त-विरुद्ध अर्थ करना, एक तरह से असत्य रूप होने से 'आज्ञातिग' को भी असत्य का साथी माना गया है।

उवहि असुद्ध—उपधि यानी माया से अशुद्ध कथन उपध्यशुद्ध कहलाता है। छल कपट करके शब्द और अर्थ दोनों ही अशुद्ध बोलना असत्यरूप होने से उपध्यशुद्ध वचन को भी असत्य का सहचारी मान लिया है। अशुद्ध शब्द प्रयुक्त होने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है, और अशुद्ध अर्थ कहना तो स्पष्ट रूप से हानिकारक है ही।

अवलोयो—विद्यमान वस्तु को लोपरूप-अभाव रूप मे कथन करना अवलोप

नामक असत्य है। अथवा शास्त्र में निरूपित किसी वस्तु का सर्वथा अपलाप करना भी अवलोप है। यह भी भयंकर असत्य है। सामान्य रूप से असत्य बोलने की अपेक्षा सैद्धान्तिक असत्य ज्यादा भयंकर होता है। क्योंकि उससे अनन्तकाल तक संसार के जन्ममरण के चक्र में घूमना होता है। शास्त्र की यदि कोई बात समझ में न आती हो तो 'तत्त्वं केवलिगम्यं' कहकर उसे छोड़ देना चाहिए। मगर शास्त्रविहित वस्तु का सर्वथा लोप या निषेध कर देना, यह असत्य की कोटि में माना जाएगा।

अणेगाइं—इस प्रकार पूर्वोक्त रूप से असत्य के ३० नामों का उल्लेख शास्त्रकार ने किया है। साथ ही 'अणेगाइं' शब्द से यह भी स्पष्ट अभिव्यक्त कर दिया है कि असत्य के इस प्रकार के और भी अनेक नाम हो सकते हैं, और वे हैं भी।

असत्यवादी कौन और किस प्रयोजन से ?

इस तरह नाम द्वार में असत्य के ३० नामों का स्पष्ट उल्लेख कर देने के बाद अब शास्त्रकार यह बतलाते है कि असत्य कौन-कौन बोलते हैं और किस प्रयोजन से व किस प्रकार से बोलते है ?

मूलपाठ

तं च पुण वदंति केइ अलियं पावा, असंजया, अविरया, कवड-कुटिल-कडुय-चडुलभावा, कुद्धा, लुद्धा, भया य,हस्सट्ठिया य, सक्खी, चोरा, चारभडा, खंडरक्खा,जियजूयकारा य, गहियगहणा, कक्क-गुरुगकारगा, कुलिंगी, उवहिया, वाणियगा य, कूडतुलकूडमाणी, कूडकाहावणोपजीविया, पडगारका, कलाया, कारुइज्जा, वंचणपरा, चारिय-चाटुयार-नगरगोत्तिय-परियारगा, दुट्ठवायिसूयक - अणबल - भणिया य, पुव्वकालियवयणदच्छा, साहसिका, लहुस्सगा, असच्चा, गारविया, असच्चट्ठावणाहिचित्ता, उच्चच्छंदा, अणिग्गहा, अणियता, छंदेण मुक्कवाया भवंति, अलियाहिं जे अविरया।

अवरे नत्थिकवाइणो वामलोकवादी भणंति-सुण्णं ति, नत्थि जीवो, न जाइ इह परे वा लोए, न य किंचिवि फुसति पुन्नपावं, नत्थि फलं सुकयदुक्कयाणं, पंचमहाभूतियं सरीरं भासंति ह! वातजोगजुत्तं। पंच य खंधे भणंति केई, मणं च मणजीविका वदंति, वाउजीवोत्ति एवमाहंसु, सरीरं सादियं सनिधणं इहभवे

एगे भवे तस्स विप्पणासंमि सव्वनासोत्ति एवं जंपंति मुसावादी। तम्हा दाणवयपोसहाणं तवसंजमबंभचेरकल्लाणमाइयाणं नत्थि फलं, नवि य पाणवहे अलियवयणं, न चेव चोरिक्ककरणं, परदारसेवणं वा, सपरिग्गहपावकम्मकरणं पि नत्थि किंचि, न नेरइयतिरियमणुयाण जोणी, न देवलोको वा अत्थि, न य अत्थि सिद्धिगमणं, अम्मापियरो नत्थि, नवि अत्थि पुरिसकारो, पच्चक्खाणमवि नत्थि, नवि अत्थि कालमच्चू य, अरिहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा नत्थि, नेवत्थि केइ रिसओ, धम्माधम्मफलं च नवि अत्थि किंचि बहुयं च थोवगं वा, तम्हा एवं विजाणिऊण जहा सुबहु इंदियाणुकूले सव्वविसएसु वट्टह, नत्थि काइ किरिया वा अकिरिया वा, एवं भणंति नत्थिकवादिणो वामलोगवादी।

इमं पि बितियं कुदंसणं असब्भाववाइणो पण्णवेंति मूढा-संभूतो अंडकाओ लोगो सयंभुणा सयं च निम्मिओ, एवं एयं अलियं (पयंपंति) पयावइणा इस्सरेण य कयं ति केइ, एवं विण्हु[1]-मयं कसिणमेव य जगं (ति) केई, एवमेके वदंति मोसं-एगो आया अकारको (अ) वेदको य सुकयस्स दुक्कयस्स य करणाणि कारणाणि सव्वहा सव्वहिं च निच्चो य निक्किओ निग्गुणो य अणुवलेवओ (अन्नो लेवउ) त्ति वि य एवमाहंसु असब्भावं, जं पि इहं किंचि जीवलोके दीसइ सुकयं वा दुकयं वा एयं जदिच्छाए वा सहावेण वावि दइवतप्पभावओ वावि भवति, न (त) त्थेथ (थं) किंचि कयकं तत्तं लक्खणविहाणं नियती (ए) कारि (यं) या, एवं केइ जंपंति इड्ढिरससायगारवपरा, बहवे (धम्म) करणालसा परूवेंति धम्मविमंसएण मोसं, अवरे अहम्मओ रायदुट्ठं अब्भक्खाणं भणंति अलियं-चोरोत्ति अचोरयं करेंतं, डामरिउ त्ति वि य एमेव उदासीणं, दुस्सीलोत्ति य परदारं गच्छति त्ति मइलिति सीलकलियं अयं वि

१ किसी प्रति में 'विण्हुमयं' ऐसा पाठ भी है। —सम्पादक

गुरुतप्पओ, अण्णे एमेव भणंति उवाहणंता मित्तकलत्ताइं सेवंति, अयं पि लुत्तधम्मो, इमो वि विस्संभघायओ पावकम्मकारी अकम्मकारी अगम्मगामी, अयं दुरप्पा बहुएसु य पावगेसु जुत्तो त्ति एवं जंपंति मच्छरी, भद्दके वा गुणकित्तिनेहपरलोगनिप्पिवासा, एवं ते अलियवयणदच्छा परदोसुप्पायणपसत्ता वेढेंति। अक्खतियबीएण अप्पाणं कम्मबंधणेण, मुहरी असमिक्खियप्पलावी निक्खेवे अवहरंति, परस्स अत्थंमि गढियगिद्धा अभिजुंजंति य परं असंतएहिं, लुद्धा य करेंति कूडसक्खित्तणं, असच्चा अत्थालियं च कन्नालियं च भोमालियं च तह गवालियं च गरुयं भणंति अहरगतिगमणं। अन्नंपि य जातिरूवकुलसीलपच्चयं मायाणिपु (गु) णं, चवलपिसुणं परमट्ठभेदकमसंतकं विद्देसमणत्थकारकं, पावकम्ममूलं दुद्दिट्ठं दुस्सुयं अमुणियं णिल्लज्जं लोकगरहणिज्जं वहबंधपरिकिलेसबहुलं,जरामरणदुक्खसोयनिम्मं (नेमं), असुद्धपरिणामसंकिलिट्ठं भणंति, अलियाहिसंधिसंनिविट्ठा असंतगुणुदीरका य संतगुणनासका य हिंसाभूतोवघातितं अलियसंपउत्ता वयणं सावज्जमकुसलं साहुगरहणिज्जं अधम्मजणणं भणंति अणभिगयपुन्नपावा। पुणो य अहिकरणकिरियापवत्तका बहुविहं अणत्थं अवमद्दं अप्पणो परस्स य करेंति। एमेव जंपमाणा महिससूकरे य साहिंति घायगाणं, ससयपसय-रोहिए य साहिंति वागुराणं, तित्तिरवट्टकलावके य कविंजल-कवोयके य साहिंति साउणीणं, झसमगरकच्छभे य साहिंति मच्छियाणं, संखंके खुल्लए य साहिंति मगराणं, अयगरगोणसमंडलिदव्वीकरे मउली य साहिंति वालवीणं (वायलियाणं), गोहासेहगसल्लगसरडगे य साहिंति लुद्धगाणं, गयकुलवानरकुले या साहिंति पासियाणं, सुकबरहिणमयणसालकोइलहंसकुले सारसे य साहिंति पोसगाणं, वधबंधजायणं च साहिंति गोम्मियाणं, धणधन्नगवेलए य साहिंति तक्कराणं, गामागरनगर-

पट्टणे य साहिति चारियाणं, पारघाइयपंथघातियाओ साहंति य गंठिभेयाएणं, कयं च चोरियं नगरगोत्तियाणं, लंछण-निल्लंछण-धमण-दुहण-पोसण-वणण-दुमणवाहणादियाइं साहिंति बहूणि गोमियाणं, धातुमणिसिलप्पवालरयणागरे य साहिंति आगरीणं, पुप्फविहिं फलविहिं च साहिंति मालियाणं, अग्घमहुकोसए य साहिंति वणचराणं, जंताइं विसाइं मूलकम्मं आहेवण (आहिव्वण)-आविंधण-आभिओग-मंतोसहिप्पओगे चोरियपरदारगमणबहुपाव-कम्मकरणं उक्खंधे गामघातियाओ वणदहण-तलागभेयणाणि बुद्धिविसविणासणाणि वसीकरणमादियाइं भयमरणकिलेसदोसजण-णाणि भाववहुसंकिलिट्ठमलिणाणि भूतघातोवघातियाइं (असच्चाइं) ताइं हिंसकाइं वयणाइं उदाहरंति । पुट्ठा वा अपुट्ठा वा परतत्तिय-वावड़ा य असमिक्खिय भासिणो उवदिसंति सहसा उट्टा गोणा गवया दमंतु, परिणयवया अस्सा हत्थी गवेलगकुक्कडा य किज्जंतु, किणावेध य विक्केह पयह य सयणस्स देह पिय (ध) य, दासि-दासभयकभाइल्लका य सिस्सा य पेसकजणो कम्मकरा य (किंकरा) य एए सयणपरिजणो य कीस अच्छंति । भारिया भे करित्तु (करेंतु) कम्मं, गहणाइं वणाइं खेत्तखिलभूमिवल्लराइं उत्तणघणसंकडाइं डज्झंतु, सूडिज्जंतु य रुक्खा, भिज्जंतु जंतभंडाइयस्स उवहिस्स कार-णाए, बहुविहस्स य अट्ठाए उच्छू दुज्जंतु, पीलिज्जंतु य तिला, पयावेह य इट्टकाउ मम घरट्ठयाए, खेताइं कसह कसावेह य, लहुं गाम-आगर नगर खेडग कब्बडे निवेसेह, अडवीदेसेसु विपुलसीमे पुप्फा-णि य फलाणि य कंदमूलाइं कालउत्ताइं गेण्हेह, करेह संचयं परि-जणट्ठयाए, साली वीही जवा य लुच्चंतु मलिज्जंतु उप्पणिज्जंतु य लहुं च पविसंतु य कोट्ठागारं, अप्पमहउक्कोसगा य हंमंतु पोय-सत्था सेणा णिज्जाउ, जाउ डमरं, घोरा वट्टंतु य संगामा, पवहंतु य सगडवाहणाइं, उवणयणं चोलगं विवाहो जन्नो अमुगम्मि उ होउ

दिवसेसु करणेसु मुहुत्तेसु नक्खत्तेसु तिहिसु य, अज्ज होउ ण्हवणं मुदितं बहुखज्जपिज्जकलियं कोतुकं विण्हावणकं, संतिकम्माणि कुणह ससिरविगहोवरागविसमेसु सज्जणपरियणस्स य नियकस्स य जीवियस्स परिरक्खणट्ठयाए पडिसीसकाइं च देह, देह य सीसोवहारे विविहोसहिमज्जमंसभक्खन्नपाणमल्लाणुलेवणपईवजलिउज्जलसुगंधिधूवावकारपुप्फफलसमिद्धे पायच्छित्ते करेह, पाणाइवायकरणेणं बहुविहेणं विवरीउप्पाय-दुस्सुमिण-पावसउण-असोमग्गहचरिय-अमंगलनिमित्तपडिघायहेउं वित्तिच्छेयं करेह, मा देह किंचि दाणं,सुट्ठु हओ सुट्ठु हओ,सुट्ठु छिन्नो भिन्नत्ति उवदिसंता एवंविहं करेति-अलियं मणेण वायाए कम्मुणा य अकुसला अणज्जा अलियाणा अलियधम्मणिरया, अलियासु कहासु अभिरमंता, तुट्ठा अलियं करेत्तु होंति य बहुप्पयारं ॥ सू० ७ ॥

संस्कृत-छाया

तं च पुनर्वदन्ति केचिदलिकं पापा असंयता अविरताः कपट-कुटिल-कटुक-चटुलभावाः क्रुद्धा लुब्धा भयाच्च हास्यार्थिकाश्च साक्षिणश्चौराश्चार-भटाः खण्ड (शुल्क) रक्षा जितद्यूतकाराश्च गृहीत-ग्रहणाः कल्कगुरुककारकाः कुलिंगिन औपधिका वाणिजकाः कूटतुलकूटमानिनः कूटकार्षापणोपजीविनः पटकारकाः कलादाः कारुकीयाः वञ्चनपराश्चारिक-चाटुकार-नगरगुप्तिक-परिचारका दुष्टवादिसूचकर्णबलभणिताश्च, पूर्वकालिकवचनदक्षाः, साहसिका, लघुस्वका असत्या गौरविका असत्यस्थापनाधिचित्ता उच्च-च्छन्दा अनिग्रहा अनियताश्छन्देन मुक्तवाचो भवन्ति, अलीकाद् ये अविरता।

अपरे नास्तिकवादिनो वामलोकवादिनो भणन्ति - शून्यमिति, नास्ति जीवो, न यातीह परे वा लोके, न किञ्चिदपि स्पृशति पुण्य-पापं, नास्ति फलं सुकृतदुष्कृतानां, पंचमहाभूतिकं शरीरं भाषन्ते ह वात-योगयुक्तम्। पञ्च च स्कन्धान् भणन्ति केचित्, मनश्च मनोजीविका वदन्ति, वायुर्जीव इत्येवमाहुः। शरीरं सादिकं सनिधनं इह भव एको भवः तस्य विप्र-णाशे सर्वनाश इति, एवं जल्पन्ति मृषावादिनः। तस्माद्दानव्रतपौषधानां तपः-संयमब्रह्मचर्यकल्याणादिकानां नास्ति फलं, नाऽपि प्राणवधोऽलीकवचनं, न

चैव चौर्यकरणं परदारसेवनं वा, सपरिग्रहपापकर्मकरणमपि नास्ति, न नैरयिकतिर्यङ्मनुजानां योनिः, न देवलोको वाऽस्ति,न चाऽस्ति सिद्धिगमनम् अम्बापितरौ न स्तः, नाऽप्यस्ति पुरुषकारः, प्रत्याख्यानमपि नास्ति, नाऽप्यस्ति कालमृत्युश्चार्हन्तश्चक्रवर्तिनो बलदेवा वासुदेवा न संति, नैव सन्ति केऽपि ऋषयो, धर्माधर्मफलं च नाऽप्यस्ति किञ्चिद् बहुकं च स्तोकं वा। तस्मादेवं विज्ञाय यथा सुबहु इन्द्रियानुकूलेषु सर्वविषयेषु वर्तध्वम्, नास्ति काचित् क्रिया वाऽक्रिया वा, एवं भणन्ति नास्तिकवादिनो वामलोकवादिनः।

इदमपि द्वितीयं कुदर्शनमसद्भाववादिनः प्रज्ञापयन्ति मूढाः- संभूतोऽण्डकाल्लोकः स्वयम्भुवा स्वयं च निर्मितः, एवमेतदलीकं प्रजल्पन्ति प्रजापतिनेश्वरेण च कृतमिति केचित्, एवं विष्णुमयं (विष्णुकृतं) कृत्स्नमेव च जगदिति केचित्;एवमेके वदन्ति मृषां—एक आत्मा अकारकोऽवेदकश्च सुकृतस्य दुष्कृतस्य च करणानि कारणानि सर्वथा सर्वैः (सर्वत्र) च नित्यश्च निष्क्रियो निर्गुणश्चानुलेपक इत्यपि चैवमाहुरसद्भावम्, यदपीह किञ्चिज्जीवलोके दृश्यते सुकृतं वा दुष्कृतं वा एतद् यदृच्छया वा स्वभावेन वाऽपि दैवतप्रभावतो वाऽपि भवति, तत्रेत्थं (नास्त्यत्र) किञ्चित्कृतकं तत्त्वं लक्षणविधानं नियतिः कारिका,नियत्या कारितम्,एवं केचिज्जल्पन्ति ऋद्धिरससातगौरवपरा बहवः धर्मकरणालसाः प्ररूपयन्ति धर्मविमर्शकेन मृषा। अपरेऽधर्मतो राजदुष्टमभ्याख्यानं भणन्ति—अलिकं,चौर इति अचौर्यं कुर्वन्तं, डामरिक इत्यपि चैवमेवोदासीन, दुःशील इति च परदारं गच्छतीति मलिनयन्ति शीलकलितमयमपि गुरुतल्पगः, अन्य एवमेव भणन्त्युपघ्नन्तो मित्रकलत्राणि सेवन्ते, अयमपि लुप्तधर्मः,अयमपि विश्रम्भघातकः पापकर्मकारी अकर्मकारी अगम्यगामी, अयं दुरात्मा बहुभिः पापकैर्युक्त इत्येवं जल्पन्ति मत्सरिणः, भद्रके वा गुणकीर्तिस्नेहपरलोकनिष्पिपासाः। एवं ते अलिकवचनदक्षाः परदोषोत्पादनप्रसक्ता वेष्टयन्ति, अक्षतिकबीजेन आत्मानं कर्मबन्धनेन मुखारयःअसमीक्षितप्रलापिनो निक्षेपानपहरन्ति, परस्यार्थे ग्रथितगृद्धा अभियुञ्जते च परमसत्कैः, लुब्धाश्च कुर्वन्ति कूटसाक्षित्वं, असत्या अर्थालीकं च कन्यालीकं च भूम्यलीकं च गवालीकं च गुरुकं भणन्त्यधरगतिगमनं, अन्यदपि च जातिरूपकुलशीलप्रत्यय मायानिपुणं (निर्गुणं) चपलपिशुनं परमार्थभेदकमसत्कं विद्वेष्यमनर्थकारकं पापकर्ममूलं दुर्दृष्टं दुःश्रुतमज्ञानं निर्लज्जं लोकगर्हणीयं वधबन्धपरिक्लेशबहुलं जरामरणदुःखशोकनिम्म (नेम) मशुद्धपरिणामसंक्लिष्टं भणन्ति,

अलीकाभिसंधिसंनिविष्टा असद्गुणोदीरकाश्च सद्गुणनाशकाश्च हिंसाभूतोपघातिकं संप्रयुक्तालीका वचनं सावद्यमकुशलं साधुगर्हणीयमधर्मजननं भणन्ति अनभिगतपुण्यपापाः,पुनश्चाधिकरणक्रियाप्रवर्त्तका बहुविधमनर्थमपमर्दमात्मन परस्य च कुर्वन्ति,एवमेव जल्पन्तो महिषान् शूकरांश्च साधयन्ति घातकानाम्, शशकप्रशकरोहितांश्च साधयन्ति वागुराणां,तित्तिरवर्त्तकलावकांश्च कपिञ्जल-कपोतकांश्च साधयन्ति शाकुनिकानां, झषमकरकच्छपांश्च साधयन्ति मात्स्यकानां, शंखकान् (शंखांकान्) क्षुल्लकांश्च साधयन्ति मकराणां (मार्गिणां), अजगर-गोनस-मण्डलि-दर्वीकरान् मुकुलिनश्च साधयन्ति (व्यालपिनां) व्यालपानां, गोधा-सेहक-शल्यक-शरटकांश्च साधयन्ति लुब्धकानां, गजकुलवानरकुलानि च साधयन्ति पाशिकानां, शुक-र्बाहण-मदनशाल-कोकिल-हंसकुलानि सारसांश्च साधयन्ति पोषकानां, वधबन्धयातनं च साधयन्ति गौल्मिकानां, धनधान्यगवेलकांश्च साधयन्ति तस्कराणां, ग्रामाकरनगरपत्तनानि साधयन्ति चारिकाणां, पारघातिक-पथिघातिकांश्च साधयन्ति ग्रन्थिभेदानां, कृतां च चौरिकां नगरगुप्तिकानां, लाञ्छन-निर्लाञ्छन-ध्मान-दोहन-पोषण-वञ्चन-दुवन-वाहनादिकानि साधयन्ति बहूनि गोमतां (गोमिकानां), धातुमणिशिला (मणशिला) प्रवाल-रत्नाकरांश्च साधयन्ति आकरिणां,पुष्पविधिं फलविधिं च साधयन्ति मालिकानां, अर्घमधुकोशकांश्च साधयन्ति वनचराणां, यंत्राणि विषानि मूलकर्माऽक्षेपण (आह्वित्य) (आवेधन) आभियोग्यमन्त्रौषधिप्रयोगान् चौरिकापरदारगमनबहुपापकर्मकरणमवस्कन्दा ग्रामघातिका वनदहन-तडागभेदनानि बुद्धिविषय-विनाशनानि वशीकरणादिकानि भयमरणक्लेश-द्वेषजननानि भावबहुसंक्लिष्टमलिनानि भूतघातोपघातकानि, सत्यान्यपि तानि हिंसकानि वचनान्युदाहरन्ति पृष्टा वा अपृष्टा वा परतृप्तिव्यापृताश्च असमीक्षितभाषिण उपदिशन्ति—उष्ट्रा गोणा गवया दम्यन्ताम्,परिणतवयसो अश्वा हस्तिनो गवेलक-कुक्कुटाश्च क्रीयन्तां, क्रापयेत च विक्रीणीध्वं, पचत च स्वजनाय, दत्त पिबत, दासी-दास-भृतक-भागिनश्च शिष्याश्च प्रेष्यकजनः कर्मकराश्च किंकराश्चैते स्वजनपरिजनश्च कस्मादासते, भार्याश्च भवतः कुर्वन्तु कर्म, गहनानि वनानि क्षेत्रखिलभूमिवल्लराणि उत्तृणघनसंकटानि दह्यन्तां, सूदन्ताञ्च वृक्षा, भिद्यन्तां यंत्रभाण्डादिकस्योपधेः कारणाय बहुविधस्यार्थाय, ईक्षवो दूयन्तां,पीड्यन्ताञ्च तिलाः, पाचयत च ईष्टका मम गृहार्थं, क्षेत्राणि कृषत कर्षयत च,लघु ग्रामाकरनगरखेटककर्बटादीनि निवेशयत,अटवी-

देशेषु विपुलसीमानि पुष्पाणि च फलानि कंदमूलानि कालप्राप्तानि गृह्णीत, कुरुत सञ्चयं परिजनार्थं, शालयो व्रीहयो यवाश्च लूयन्तां, मल्यन्तामुत्पूयन्तां च, लघु च प्रविशन्तु च कोष्ठागारं, अल्पमहोत्कृष्टकाश्च हन्यतां पोतसार्थाः, सेना निर्यातु यातु डमरं, घोरा वर्तन्तु च संग्रामाः, प्रवहन्तु च शकटवाहनानि, उपनयनं चोलकं विवाहो यज्ञोऽमुकेषु च भवतु दिवसेषु करणेषु मुहूर्तेषु नक्षत्रेषु तिथिषु च, अद्य भवतु स्नपनं मुदितं बहुखाद्यपेयकलितं कौतुकं विस्नापकं शान्तिकर्माणि कुरुत शशिरविग्रहोपरागविषमेषु । स्वजनपरिजनस्य च निजकस्य च जीवितस्य परिरक्षणार्थाय प्रतिशीर्षकाणि च दत्त, दत्त च शीर्षोपहारान् विविधौषधिमद्यमांसभक्ष्यान्नपानमाल्यानुलेपनप्रदीपज्वलितोज्ज्वलसुगन्धिधूपापकारपुष्पफलसमृद्धान्, प्रायश्चित्तानि कुरुत प्राणातिपातकरणेन बहुविधेन विपरीतोत्पातदुःस्वप्न-पापशकुनासौम्यग्रहचरितामंगलनिमित्त-प्रतिघातहेतुं, वृत्तिच्छेदं कुरुत, मा दत्त किंचिद्दानं, 'सुष्ठु हतः सुष्ठु हतः' सुष्ठु छिन्नो भिन्न इति, उपदिशन्त एवंविधं कुर्वन्ति-अलीकं मनसा वाचा कर्मणा च अकुशला अनार्या अलीकाज्ञा अलीकधर्मनिरता अलीकासु कथासु अभिरममाणास्तुष्टा अलीकं कृत्वा भवन्ति च बहुप्रकारम् ।। (सू० ७)

पदार्थान्वय—(पुण य) और (जे) जो (केइ) कई (पावा) पापी (असंजया) असंयत, (अविरया) अविरत, पापकर्मों का त्याग न करने वाले, व्रतरहित, (कवड-कुडिलकडुयचडुलभावा) कपट, कुटिल, कटुक और चंचल भाव वाले, (कुद्धा) क्रोधी, (लुद्धा) लोभी (भया य) भय के कारण (हस्सट्ठिया) हास्य के लिए (य) और (सक्खी) साक्षी-गवाही देने वाले, (चोरा) चोर, (चार-भडा) गुप्तचर और भट-योद्धा, (खण्ड-रक्खा) चुंगी के कर्मचारी या जकात अथवा कर वसूल करने वाले, (य) और (जियजूयकारा) हारे हुए जुआरी, (गहियगहणा) गिरवी रखने वाले (कक्ककुरुगकारगा) मायापूर्वक अत्यन्त बढ़ाचढ़ा कर बोलने वाले, (कुलिंगी) मिथ्यामत वाले वेषधारी (य) और (उवहिया) मायाचारी (वाणियगा) वाणिज्य-व्यवसाय करने वाले, (कूडतुलकूडमाणी) झूठा तोलने और झूठा नापने वाले, (कूडकाहावणोवजीवी) खोटे सिक्कों से आजीविका चलाने वाले, (पडगारा) जुलाहे, (कलाया) सुनार, (कारुइज्जा) कपड़े पर छापने वाले छीपे, बढ़ई, दर्जी आदि कारीगर, (वंचणपरा) ठगाई करने वाले, (चारिय चाडुयार नगर गोत्तिय परिचारगा) हेराफेरी करने वाले, गुलामखोर (चापलूस), कोटवाल और व्यभिचारी (य) तथा (दुट्ठवाइ सूयग अणबल भणिया) झूठे का पक्ष लेने वाले या अपशब्द व गाली बकने वाले, चुगलखोर और बलपूर्वक

कर्ज लेने वाले तथा 'हमें द्रव्य दो', इस प्रकार बोलने वाले, (पुव्वकालियवयणदच्छा) किसी के कहने से पहले ही उसके अभिप्राय को जानने में कुशल, (साहसिका) बिना विचारे एकदम कह देने वाले, (लहुस्सगा) तुच्छ आत्माएँ, (असच्चा) सज्जनों के लिए अहितकारक, (असट्ठावणाहिचित्ता) असत्य अर्थों की स्थापना में दत्तचित्त, (उच्चछंदा) अपने को बड़ा मानने वाले, (अणिग्गहा) स्वच्छन्दाचारी, किसी के अनुशासन में न चलने वाले, (अणियता) नियमनिष्ठा से रहित—अव्यवस्थित, (छंदेण मुक्कवाया) हम ही सिद्धवादी हैं, इस तरह की मनमानी बातें कहने वाले, अथवा मनमाना वचन-प्रयोग करने वाले, ये सब (अलियाहिं अविरया) असत्यवचन से अविरतजन (तं) उस पूर्वोक्त (अलियं) असत्य को (वदंति) बोलते हैं। (अवरे) दूसरे (नत्थिकवाइणो) नास्तिकवादी (वामलोकवादी) लोक के स्वरूप का विपरीत कथन करने वाले (भणंति) कहते हैं कि जगत् शून्य है; (नत्थि जीवो) जीव-आत्मा नहीं है, (न जाइ इह परेवा लोए) इस (मनुष्य) लोक में अथवा पर (देवादि) लोक में (जीव) नहीं जाता, (य) और वह (न) न (किंचि वि) जरा भी, (पुन्नपावं) पुण्य और पाप को (फुसइ) छूता-बांधता है, (नत्थि फलं सुकयदुक्कयाणं) सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) का सुख-दुःख-रूप फल भी नहीं है, (सरीरं पंचमहाभूतियं भासंति ह वातजोगजुत्तं) प्राणवायु के योग से सब क्रिया में प्रवृत्ति करने वाले इस शरीर को पंचमहाभूतों से बना हुआ कहते हैं। (य) तथा) (केइ) कई (बौद्धमतावलम्बी) आत्मा को (पंच) पांच (खंधे) स्कन्ध-रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार रूप) (भणंति) कहते हैं, (य) और (मणजीविका) मन को ही जीव-आत्मा-मानने वाले, (मणं) पाच स्कन्धों के अलावा एक मन को (वदंति) बताते हैं; (वाउजीवोत्ति) कोई श्वासोच्छ्वास ही जीव (आत्मा) है, (एवमाहंसु) ऐसा कहते हैं। (य) तथा (सरीरं) शरीर (सादियं) आदिमान् और (सनिधणं) विनाशयुक्त है; (इह) यहाँ प्रत्यक्ष (भवे) जन्म ही (एगो भवो) एक ही भव है (तस्स) इस का (विप्पणासंमि) विविध प्रकार से नाश होने पर, (सव्वनासोत्ति) आत्मा का सर्वनाश हो जाता है, (एवं) ऐसा (मुसावादी) असत्यवादी (जंपंति) कहते हैं। क्योंकि शरीर सादि सान्त है, (तम्हा) इसलिए (दाणवयपोसहाणं) दान, व्रतपालन, और पौषध का तथा (तवसंजमबंभचेरकल्लाणमाइयाणं) तप, संयम, ब्रह्मचर्य आदि कल्याणकारी कर्मों का (फलं) फल (नत्थि) नहीं है (य) और (पाणवहे) प्राणवध, (अलियवयणं) असत्य वचन (अवि) भी (न) कोई माने नहीं रखते, अथवा अशुभदायक नहीं हैं, (चोरिक्करणं) चोरी करना (य) अथवा (परदारसेवणं) परस्त्री-गमन करना (न एव) कोई चीज ही नहीं हैं या अशुभफलदायक ही नहीं हैं; (सपरिग्गहपावकम्मकरणंपि) परिग्रह के सहित और भी जो पापकर्म हैं, वे भी, (नत्थि किंचि) कुछ भी नहीं हैं,

अथवा सुख-दुःख के जरा भी साधन नहीं है। (नेरइय-तिरिय-मणुयाणजोणी) नारको, तिर्यंचों और मनुष्यों की योनियां—उत्पत्तिस्थान, (न) नहीं हैं (व) अथवा (न देवलोको अत्थि) न देवलोक ही कोई है (य) और (न) न ही (सिद्धिगमणं) मुक्तिगति (अत्थि) है। (अम्मापियरो) माता-पिता (नत्थि) नहीं होते, (पुरिसकारो वि) पुरुषार्थ भी, (न अत्थि) कोई चीज नहीं है, (पच्चक्खाणमवि) प्रत्याख्यान-त्याग भी, (नत्थि) नहीं है, (य) और (कालमच्चू) काल (मृतमपिच्यादि) तथा मृत्यु भी (न अत्थि) नहीं है। (अरिहंता) अर्हन्त देवाधिदेव तीर्थंकर (चक्कवट्टी) चक्रवर्ती, (बलदेवा) बलदेव तथा (वासुदेवा) वासुदेव नारायण (नत्थि) नहीं हैं, (केई) कोई (रिसओ) ऋषि-मुनि, (नेयत्थि) नहीं हैं। (च) तथा (बहुयं) बहुत (वा) अथवा (थोवगं) थोड़ा (किंचि) कुछ भी (धम्माधम्मफलमवि) धर्म और अधर्म का फल भी, (नत्थि) नहीं है। (तम्हा) इसलिए (एवं) उक्त प्रकार से वस्तुस्वरूप को, (विजाणिऊण) जान कर (जहा) जिस तरह (इंदियानुकूलेसु) अपनी इन्द्रियों के अनुकूल, (सव्वविसएसु) सभी विषयों में (सुबहु) अच्छी तरह यथेष्ट (वट्टह) प्रवृत्ति करो। (कोइ किरिया) कोई (शुभ) क्रियाएँ (वा) अथवा (अकिरिया) निन्द्य क्रियाएँ (नत्थि) नहीं हैं। (एवं) इस प्रकार (वामलोकवादी) लोक के स्वरूप को विपरीत बताने वाले (नत्थिकवादिणो) नास्तिकवादी (भणंति) कहते हैं। (असब्भावबाइणो) असत् वस्तु का निरूपण करने वाले, (मूढा) मूढ लोग (इमं) इस आगे कहे जाने वाले (बितियं) दूसरे (कुदंसणं) कुदर्शन, मिथ्यामत का (पण्णवेंति) प्ररूपण करते हैं कि (लोगो) यह संसार (अंडगाओ) अंडे से, (संभूतो) पैदा हुआ है, (च) और (सयंभुणा) ब्रह्मा ने इसे (सयं) स्वयं (निम्मिओ) बनाया है। (एवं) इसी प्रकार (एयं) यह आगे कहा जाने वाला (अलियं) असत्य वचन है— (पज्जावइणा इस्सरेण) प्रजापति ईश्वर ने (कयं ति) संसार रचा है, ऐसा (केइ) कई लोग कहते हैं। (एवं) इसी प्रकार (कसिणमेव जगं) सारा जगत् (विण्हुमयं विण्हुमयं) विष्णु द्वारा रचित है अथवा विष्णुमय है, ऐसा (केई) कई लोग कहते हैं। (एवं) इसी प्रकार (एगे) कई लोग (मोसं वदंति) झूठ बोलते हैं कि (एगो आया) आत्मा एक ही है, वही सारे संसार में व्याप्त है। (सांख्यमत वालों का कहना है—) आत्मा (सुकयस्स) पुण्य का (य) और (दुक्कयस्स) पाप का, (अकारको) कर्ता नहीं है, किन्तु (उनके फल का) (वेदको) भोक्ता है, (अथवा पुण्यपाप के फल का भी अवेदक—भोगने वाला नहीं है।) (य) और (करणानि) इन्द्रियां (कारणाणि) उनके कारण (सव्वहा) सर्वथा (सव्वहिं) सब देश और सब काल में अलग नहीं हैं (य) तथा (निच्चो) आत्मा नित्य है, (निक्किओ) निष्क्रिय (क्रियारहित) (निग्गुणो) निर्गुण—त्रिगुणातीत (य) और (अणुवलेवोत्ति य) कर्मों से निर्लेप भी है, (एवं) इस प्रकार (असब्भावं) असत्य बात को (आहंसु) कहते हैं, (जंपि) जो भी (किंचि) कुछ (इहं) इस (जीवलोए) मर्त्यलोक में (सुहयं, सुह

(वा) अथवा (दुक्कयं) पाप (दीसइ) दिखाई देता है, (एवं) इस प्रकार की सब चीजें (जदिच्छाए) अपने आप ही - यदृच्छा से, (वा) अथवा (सहावेण वि) स्वभाव से भी (वा) अथवा (दइवतप्पभावओ वि) दैव के प्रभाव से भी (भवति) होती है। (एत्थ) इस लोक में (किंचि) कोई (तत्तं) तत्त्व—पदार्थ (कयकं) किसी का किया—बनाया हुआ (नत्थि) नहीं है, (लक्खणविहाणं) वस्तु के लक्षणों और प्रकारों की (कारिया) करने-बनाने-वाली (नियती) नियति-भवितव्यता (होनहार) है। अथवा (नियतीए कारियं) नियति ने ही बनाए हैं—कराए हैं।] (एवं) इस प्रकार (केई) कई (इड्ढिरससातगारवपरा) ऋद्धिगौरव रसगौरव और साता गौरव में तत्पर (बहवे) बहुत से (धम्मकरणालसा) धर्माचरण करने में आलसी (धम्मविमंसएण) धर्मविचार की अपेक्षा से (मोसं) मिथ्या (परूवेंति) प्ररूपण करते हैं। (अवरे) दूसरे (अहम्मओ) अधर्म को स्वीकार करके, (रायदुट्ठं) शासकविरुद्ध (अलियं अब्भक्खाणं) झूठा दोषा-रोपण (भणेंति) करते हैं, (अचोरयं करेंतं) चोरी नहीं करने वाले को, (चोरोत्ति) यह चोर है, ऐसा (य) और (एमेव) इसी प्रकार (उदासीणं) प्रपञ्चों से उदासीन, लड़ाई-झगड़ों से दूर तटस्थ व्यक्ति को, (डामरिउ त्ति) यह लड़ाई करने वाला है, ऐसा (य) तथा (सीलकलियं) शीलसम्पन्न परस्त्रीत्यागी को (दुस्सीलोत्ति) दुःशील है, इसलिए (परदारं गच्छतित्ति) परस्त्रीगमन करता है, इस तरह, (मइलंति) दूषित करते हैं, बदनाम करते हैं, (अयं) यह (गुरुतप्पओ वि) गुरुपत्नी के साथ अनुचित सम्बन्ध रखने वाला भी है, इस तरह दोष लगाते हैं। (अण्णे) दूसरे लोग (एमेव) यों ही व्यर्थ ही (उवाहणंता) उसकी आजीविका, कीर्ति आदि नष्ट करते हुए (भणंति) कहते हैं कि ये (मित्तकलत्ताइं) मित्र की पत्नियों का (सेवंति) सेवन करते हैं। इतना ही नहीं, (अयं) यह (लुत्तधम्मो) धर्मशून्य भी है, (इमो) यह (विस्संभघायओ) विश्वासघाती है, (पावकम्मकारी) पापकर्म करने वाला, (अकम्मकारी) न करने योग्य कामों को करने वाला है, (अगम्मगामी) भगिनी, पुत्री, पुत्रवधू आदि अगम्य के साथ गमन—सहवास करने वाला है (य) और (अयं) यह (दुरप्पा) दुरात्मा (बहुएसु पावगेसु) बहुत से पापों से, (जुत्तोत्ति) युक्त है, (एवं) इस प्रकार (मच्छरी) ईर्ष्यालु व्यक्ति (जंपंति) बकते हैं। (भद्दके) भद्र (भोले) स्वभाव वाले मनुष्य के (गुणकित्तिनेहपरलोगनिप्पिवासा) गुण, कीर्ति, स्नेह व परभव की कोई परवाह न करने वाले (ते) वे असत्यवादी (अलियवयणदच्छा) असत्य बोलने में चतुर, (परदोसुप्पायणपसत्ता) दूसरों में दोषों को बताने में जुटे (मुहरी) अपने हुए मुख को अपना दुश्मन बनाये हुए, (असमिक्खियप्पलावा) बिना विचारे सहसा बोल देने वाले (एवं) इस प्रकार से, (अक्खतियबीएण) अक्षयदुःख के बीजरूप कम्मबंधणेण) कर्मबन्धन से (अप्पाणं) अपनी आत्मा को, (वेढेंति) लपेट लेते हैं—जकड़ लेते हैं। (परस्स अत्थंमि)

अथवा सुख-दुःख के जरा भी साधन नहीं है। (नेरइय-तिरिय-मणुयाणजोणी) नारकों, तिर्यंचों और मनुष्यों की योनियां—उत्पत्तिस्थान, (न) नहीं हैं (व) अथवा (न देवलोको अत्थि) न देवलोक ही कोई है (य) और (न) न ही (सिद्धिगमणं) मुक्तिगति (अत्थि) है। (अम्मापियरो) माता-पिता (नत्थि) नहीं होते, (पुरिसकारो वि) पुरुषार्थ भी, (न अत्थि) कोई चीज नहीं है, (पच्चक्खाणमवि) प्रत्याख्यान-त्याग भी, (नत्थि) नहीं है, (य) और (कालमच्चू) काल (मृतमपिप्यादि) तथा मृत्यु भी (न अत्थि) नहीं है। (अरिहंता) अर्हन्त देवाधिदेव तीर्थंकर (चक्कवट्टी) चक्रवर्ती, (बलदेवा) बलदेव तथा (वासुदेवा) वासुदेव नारायण (नत्थि) नहीं हैं, (केई) कोई (रिसओ) ऋषि-मुनि, (नेवत्थि) नहीं हैं। (च) तथा (बहुयं) बहुत (वा) अथवा (थोवगं) थोड़ा (किंचि) कुछ भी (धम्माधम्मफलमवि) धर्म और अधर्म का फल भी, (नत्थि) नहीं है। (तम्हा) इसलिए (एवं) उक्त प्रकार से वस्तुस्वरूप को, (विजाणिऊण) जान कर (जहा) जिस तरह (इंदियानुकूलेसु) अपनी इन्द्रियों के अनुकूल, (सव्वविसएसु) सभी विषयों में (सुबहु) अच्छी तरह यथेष्ट (वट्टह) प्रवृत्ति करो। (काइ किरिया) कोई (शुभ) क्रियाएँ (वा) अथवा (अकिरिया) निन्द्य क्रियाएँ (नत्थि) नहीं हैं। (एवं) इस प्रकार (वामलोकवादी) लोक के स्वरूप को विपरीत बताने वाले (नत्थिकवादिणो) नास्तिकवादी (भणंति) कहते हैं। (असब्भाववाइणो) असत् वस्तु का निरूपण करने वाले, (मूढा) मूढ लोग (इमं) इस आगे कहे जाने वाले (वितियं) दूसरे (कुदंसणं) कुदर्शन, मिथ्यामत का (पण्णवेंति) प्ररूपण करते हैं कि (लोगो) यह संसार (अंडगाओ) अंडे से, (संभूतो) पैदा हुआ है, (च) और (सयंभुणा) ब्रह्मा ने इसे (सयं) स्वयं (निम्मिओ) बनाया है। (एवं) इसी प्रकार (एयं) यह आगे कहा जाने वाला (अलियं) असत्य वचन है— (पज्जावइणा इस्सरेण) प्रजापति ईश्वर ने (कयं ति) संसार रचा है, ऐसा (केइ) कई लोग कहते हैं। (एवं) इसी प्रकार (कसिणमेव जगं) सारा जगत् (विण्हुकयं विण्हुमयं) विष्णु द्वारा रचित है अथवा विष्णुमय है, ऐसा (केई) कई लोग कहते हैं। (एवं) इसी प्रकार (एगे) कई लोग (मोसं वदंति) झूठ बोलते हैं कि (एगो आया) आत्मा एक ही है, वही सारे संसार में व्याप्त है। (सांख्यमत वालों का कहना है—) आत्मा (सुकयस्स) पुण्य का (य) और (दुक्कयस्स) पाप का, (अकारको) कर्त्ता नहीं है, किन्तु (उनके फल का) (वेदको) भोक्ता है, (अथवा पुण्यपाप के फल का भी अवेदक—भोगने वाला नहीं है।) (य) और (करणाणि) इन्द्रियां (कारणाणि) उनके कारण (सव्वहा) सर्वथा (सव्वहिं) सब देश और सब काल में अलग नहीं हैं (य) तथा (णिच्चो) आत्मा नित्य है, (निक्किओ) निष्क्रिय (क्रियारहित) (निग्गुणो) निर्गुण—त्रिगुणातीत (य) और (अणुवलेवोत्ति वि य) कर्मों से निर्लेप भी है, (एवं) इस प्रकार (असब्भावं) असत्य बात को (आहंसु) कहते हैं, (जंपि) जो भी किंचि) कुछ (इहं) इस (जीवलोए) मर्त्यलोक में (सुकयं) पुण्य

(वा) अथवा (दुक्कयं) पाप (दीसइ) दिखाई देता है, (एवं) इस प्रकार की सब चीजें (जदिच्छाए) अपने आप ही - यदृच्छा से, (वा) अथवा (सहावेण वि) स्वभाव से भी (वा) अथवा (दइवतप्पभावओ वि) दैव के प्रभाव से भी (भवति) होती है। (एत्थ) इस लोक में (किंचि) कोई (तत्तं) तत्त्व—पदार्थ (कयकं) किसी का किया—बनाया हुआ (नत्थि) नहीं है, (लक्खणविहाणं) वस्तु के लक्षणों और प्रकारों की (कारिया) करने-बनाने-वाली (नियती) नियति-भवितव्यता (होनहार) है। अथवा (नियतीए कारियं) नियति ने ही बनाए हैं—कराए हैं।] (एवं) इस प्रकार (केई) कई (इड्ढिरससातगारवपरा) ऋद्धिगौरव रसगौरव और साता गौरव में तत्पर (बहवे) बहुत से (धम्मकरणालसा) धर्माचरण करने में आलसी (धम्मविमसएण) धर्मविचार की अपेक्षा से (मोसं) मिथ्या (परूवेंति) प्ररूपण करते हैं। (अवरे) दूसरे (अहम्मओ) अधर्म को स्वीकार करके, (रायदुट्ठं) शासकविरुद्ध (अलियं अब्भक्खाणं) झूठा दोषारोपण (भणंति) करते हैं, (अचोरयं करेंतं) चोरी नहीं करने वाले को, (चोरोत्ति) यह चोर है, ऐसा (य) और (एमेव) इसी प्रकार (उदासीणं) प्रपञ्चों से उदासीन, लड़ाई-झगड़ों से दूर तटस्थ व्यक्ति को, (डामरिउ त्ति) यह लड़ाई करने वाला है, ऐसा (य) तथा (सीलकलियं) शीलसम्पन्न परस्त्रीत्यागी को (दुस्सीलोत्ति) दुःशील है, इसलिए (परदारं गच्छतित्ति) परस्त्रीगमन करता है, इस तरह, (मइलंति) दूषित करते है, बदनाम करते हैं, (अयं) यह (गुरुतप्पओ वि) गुरुपत्नी के साथ अनुचित सम्बन्ध रखने वाला भी है, इस तरह दोष लगाते हैं। (अण्णे) दूसरे लोग (एमेव) यों ही व्यर्थ ही (उवाहणंता) उसकी आजीविका, कीर्ति आदि नष्ट करते हुए (भणंति) कहते हैं कि ये (मित्तकलत्ताइं) मित्र की पत्नियों का (सेवंति) सेवन करते हैं। इतना ही नहीं, (अयं) यह (लुत्तधम्मो) धर्मशून्य भी है, (इमो) यह (विस्संभघायओ) विश्वासघाती है, (पावकम्मकारी) पापकर्म करने वाला, (अकम्मकारी) न करने योग्य कामों को करने वाला है, (अगम्मगामी) भगिनी, पुत्री, पुत्रवधू आदि अगम्य के साथ गमन—सहवास करने वाला है (य) और (अयं) यह (दुरप्पा) दुरात्मा (बहुएसु पापगेसु) बहुत से पापों से, (जुत्तोत्ति) युक्त है, (एवं) इस प्रकार (मच्छरी) ईर्ष्यालु व्यक्ति (जंपंति) बकते हैं। (भद्दके) भद्र (भोले) स्वभाव वाले मनुष्य के (गुणकित्तिनेहपरलोगनिप्पिवासा) गुण, कीर्ति, स्नेह व परभव की कोई परवाह न करने वाले ,(ते) वे असत्यवादी (अलियवयणदच्छा) असत्य बोलने में चतुर, (परदोसुप्पायणपसत्ता) दूसरों में दोषों को बताने में जुटे (मुहरी) अपने हुए मुख को अपना दुश्मन बनाये हुए, (असमिक्खियप्पलावा) बिना विचारे सहसा बोल देने वाले (एवं) इस प्रकार से, (अक्खतियबीएण) अक्षयदुःख के बीजरूप कम्मबंधणेण) कर्मबन्धन से (अप्पाणं) अपनी आत्मा को, (वेढेंति) लपेट लेते हैं—जकड़ लेते हैं। (परस्स अत्थंमि)

(वणचराणं) भील आदि जंगल में घूमने वाले वनचरों को (अग्घमहुकोसए) बहुमूल्य शहद के छत्ते (साहिति) बतलाते हैं। (जंताइं) (मारण-मोहन-उच्चाटन आदि के लिए यंत्रलेखन (विसाई) विषों (मूलकम्मं) गर्भपात आदि के लिए जड़ी बूटियों या जड़ों के प्रयोग से सम्बन्धित, (आहेवणआभियोगमंतोसहिप्पओगे) मंत्रादि द्वारा नगर में क्षोभ, या फूट पैदा कर देना, अथवा धनादि को मंत्र के जोर से खींच लेना, द्रव्य और भाव से वशीकरण मंत्रों व औषधियों के प्रयोगरूप (चोरिय-परदारगमण - बहुपावकम्मकरणं) चोरी, परस्त्रीगमन आदि बहुत से पापकर्मों के करने की प्रेरणा से सम्बन्धित, (उक्खंधे) छल से शत्रुसेना की ताकत तोड़ देने या कुचल डालने, (वणदहण-तलाग-भेयणाणि) जंगल में आग लगाने तथा तालाब सुखाने के सम्बन्ध में (बुद्धिविसयविणासणाणि) बुद्धि तथा स्पर्श आदि विषयों के विनाशक, (वसीकरणमाविंयाइं) वशीकरणादि रूप (भयमरणकिलेसदोसजणाणि) भय, मृत्यु, क्लेश और दोष के जनक, (भावबहुसंकिलिट्ठमलिणाणि) बहुत संक्लिष्ट भावों से मलिन, (भूतघातोवघातियाइं) प्राणियों के घात और उपघात करने वाले (सच्चाइंपि) सच्चे (तथ्ययुक्त) होने पर भी (ताइं) उन (हिंसकाइं) हिंसाजनक (वयणाइं) वचनों को (उदाहरंति) बोलते हैं। (य) और (पुट्ठा) पूछे जाने पर (वा) अथवा (अपुट्ठा) बिना पूछे ही (परतत्तियवावड़ा) दूसरों के काम की व्यर्थ चिंता में डूबे रहने वाले (असमिक्खियभासिणो) बिना सोचे विचारे बोलने वाले (सहसा) अकस्मात्—एकदम बिना मतलब के (उवदिसंति) उपदेश देने लगते हैं कि—(उट्टा) ऊंटों, (गोणा) गाय-बैलों, (गवया) रोझों या नीलगायों का (दमंतु) दमन करो—वश में करो, (परिणत-वया) वयस्क तरुण (अस्सा) घोड़ों, (हत्थी) हाथियों (य) और (गवेलककुक्कुडा) गायों, मेंढ़ों और मुर्गों को (किज्जंतु) खरीदो, (य) और (किणावेह) खरीदवाओ, (विक्केह) बेच दो (च) (सयणस्स) अपने पारिवारिक लोगों के लिए (पयह) पकाओ, (देह) उनको देदो, (पियय) शराब आदि पीओ, पिलाओ, (दासीदास - भयक-भाइल्लका) दासी, दास, नौकर तथा हिस्सेदार, (य) और (सिस्सा) शिष्य-चेले, (पेसकजणो) बाहर भेजे जाने वाले नौकर, (कम्मकरा) कर्मचारी, (य) तथा (किंकरा) सेवक (य) एवं (सयणपरिजणो) स्वजन—कुटुम्बीजन तथा परिजन-रागेसम्बन्धी (कीस) क्यों, (किसलिए) (अच्छंति) बेकार बैठे हैं ? (भे) आपको, (भारिया) पत्नियाँ (कम्मं) काम (करेन्तु) करें। (गहणाइं वणाई) घने जंगल, (खेत्तखिलभूमिवल्लराइं) अनाज बोने के खेत, बिना जोती हुई भूमि और वल्लर—घोर जंगल या मैदान, (उत्तणघणसकडाइं) बहुत लम्बे लम्बे और घने घास से भर गये हैं, (डज्झंतु) इन्हें जला डालो, (य) तथा (सूडिज्जंतु) कटवा डालो। (जंतभंडाइयस्स) कोल्हू आदि यंत्रों, कुंडी आदि बर्तनों अथवा गाड़ी आदि बनाने, (य) तथा (बहुविहस्स उवहिस्स) हल आदि बहुत प्रकार के उपकरणों साधनों के (अट्ठाए) प्रयोजन के लिए (रुक्खा)

पेड़ों को (भिज्जंतु) काट डालो, (य) और (उच्छू) गन्नों को (दुज्जंतु) उखाड़ लो, (य) एवं (तिला) तिलों को (पीलिज्जंतु) घानी में पीर डालो। (य) तथा (मम) मेरे (घरट्ठयाए) घर के लिए (इट्टकाओ) ईंटें, (पयावेह) पकवा लो, (खेत्ताइं) खेतों को (कसह) जोतो, (य) और, (कसावेह) जुतवाओ, (अडवीदेसेसु) जंगलप्रदेशों में (विउलसीमे) विशाल सीमा वाले, (गाम-नगर-खेड-कव्वडे) गाँव, नगर, खेड़े (छोटे गाँव) कब्बड-कस्बे (लहुं) झटपट, (निवेसेह) बसाओ, अर्थात् इन्हें मनुष्यों के रहने लायक बस्ती में बदल डालो। (य) और (कालपत्ताइं) पके हुए या खिले हुए (पुप्फाणि) फूल फलाणि) फल (य) और (कंदमूलाइं) कंदमूलों को (गेण्हह) ग्रहण कर लो, (परिजणट्ठयाए) सगे-सम्बन्धियों के लिए, (संचय) इन्हें इकट्ठे (करेह) कर लो। (य) और (साली) धान, (वीही) गेहूं आदि अनाज (य) और (जवा) जौ (लुच्चंतु) काट लिये जायें, (मलिज्जंतु) क्यारों में इन्हें मर्दन किये जायें, (य) और (उप्पणिज्जंतु) साफ किये जायें, (य) और (लहुं) जल्दी (कोट्ठागारं) कोठार-कोठे में, (पविसंतु) भर दिये जायें, (य) तथा (अप्पमहउक्कोसगा) छोटे, मझले और बड़े (पोयसत्था) जहाजों के सार्थवाह या शिशुसमूह (हंमंतु) मार दिये जांय। (य) तथा (सेणा सेना (णिज्जाउ) कूच करे, चढाई करने निकले, (डमरं) कलह (जाउ) पैदा हो, (घोरा) भयंकर, (सगामा) युद्ध (वट्टंतु) होने दो (य) और (सगडवाहणाइं) गाड़ी, रथ आदि सवारियाँ (पवहंतु) चढ़ाओ या खूब चलाओ, (उवणयणं) उपनयन—यज्ञोपवीत संस्कार, (चोलगं) चूडाकर्म (चोटी रखने का) संस्कार—मुंडनसंस्कार (विवाहो) विवाह, (जन्नो) यज्ञ (अमुगम्मि) अमुक (दिवसेसु) दिनों में, (करणेसु) करणों में, (मुहुत्तेसु) मुहूर्तों में, (नक्खत्तेसु) नक्षत्रों में (य और (तिहिसु) तिथियों में (होउ) हो। (य) और (अज्ज) आज (मुदितं) आमोद-प्रमोदपूर्वक (बहुखज्जपिज्जकलियं) बहुत-सी मिठाइयाँ आदि खाने एवं पीने के पदार्थों से युक्त अथवा प्रचुर मद्य, मांस आदि सहित, (ण्हवणं) सौभाग्य तथा पुत्र आदि के लिए वधू आदि का स्नान तथा (कौतुकं) डोरा बांधना, राख की पोटली आदि न्योछावर करना आदि विधिवाला कौतुक (होउ) हो। (य) तथा (ससिरविगहोवरागविसमेसु) चन्द्र और सूर्य के ग्रहण तथा दुःस्वप्न आदि के होने पर (विण्हायणकं) विविध मंत्रादि से संस्कारित जल से स्नान तथा (संतिकम्माणि) शान्तिकर्म (कुणह) करो (य) तथा (सजणपरियणस्स) कुटुम्बीजन और सगे-सम्बन्धियों को (य) तथा (नियकस्स जीवियस्स) अपने जीवन की (परिरक्खणट्ठयाए) सुरक्षा के लिए (पडिसीसकाइं) अपने सिर के प्रतीक आटे आदि के बने हुए सिर (देह) चण्डी आदि देवियों को भेंट चढ़ाओ (च) और (विविहोसहिमज्जमंसभक्खन्नपाणमल्लाणुलेवण-पईवजलिउज्जल सुगंधिधूवावकारपुप्फफल-समिद्धे) अनेक प्रकार की वनस्पतियों, मद्य, मांस, मिठाइयों (भक्ष्य), अन्न, पान, पुष्पमाला, चंदनादि लेपन, उबटन आदि, तथा दीपक जलाने,

सुगन्धित धूप आदि देने एवं फूलों व फलों से परिपूर्ण विधि से (सीसोवहारे) बकरे आदि पशुओं के सिरों की बलि (देह) दो, (य) और (बहुविहेण) नाना प्रकार की, (पाणाइवायकरणेणं) हिंसा करके (विवरीउप्पायदुस्सुमिण-पावसउण-असोमग्गहचरिय-अमंगल-निमित्तपडिघायहेउं) अशुभसूचक उत्पात, प्रकृतिविकार, खोटे स्वप्न, बुरे शकुन, क्रूरग्रह की चाल, अमंगलनिमित्तसूचक अंगस्फुरण आदि के फल को नष्ट करने के लिए (पायच्छित्तं) पापोपशमनार्थ प्रायश्चित्त (करेह) करो। (वित्तिच्छेयं करेह) आजीविका को नष्ट कर डालो, (मा देह किंचि दाणं) किसी को कुछ भी दान मत दो, (सुट्ठु हओ सुट्ठु हओ) अच्छा हुआ, मारा गया, अच्छा हुआ, मारा गया! (सुट्ठु छिन्नो) अच्छा हुआ काट डाला गया, (भिन्नो) टुकड़े हो गए, (इति) इस प्रकार (उवदिसंता) किसी के बिना ही पूछे उपदेश करते हुए या कहते हुए मनुष्य (मणेण) मन से, (वायाए) वाणी से, (य) और (कम्मुणा) कर्म से (एवंविहं) इस प्रकार के (अलियं) द्रव्य से सत्य होते हुए भी प्राणिहिंसा का कारण होने से असत्य भाषण, (करेंति) करते हैं। (वे कौन ?) (अकुसला) हिंसक और अहिंसक या कहने और न कहने योग्य, वचन के रहस्य को समझने में अचतुर (अणज्जा) अनार्य (अलियाणा) मिथ्याशास्त्रों को मानने वाले। (अलियधम्मणिरया) असत्यधर्म में आसक्त, (अलियासु कहासु अभिरमंता) आत्मगुणों को घटाने वाली पापोत्तेजक झूठी कहानियों—(उपन्यासों नाटकों आदि) में आनन्द मानने वाले, (बहुप्पगारं या) नाना प्रकार से (अलियं) मिथ्याभाषण (करेत्तु) करके (तुट्ठा, संतुष्ट (होंति) होते हैं।

मूलार्थ—कई पापिष्ठ, संयमहीन, व्रतरहित अथवा पापकर्मों से अविरत, कपटी, कुटिल, कटु और चंचल स्वभाव के, क्रोधी, लोभी, भयातुर, हंसी-मखौल करने वाले, गवाही देने वाले, चोर, गुप्तचर (जासूस या भेदिये), भट (योद्धा), चुंगी के कर्मचारी अथवा कर, जकात वगैरह वसूल करने वाले, हारे हुए जुआरी, गिरवी (बंधक) रखने वाले, मायाचारी, कपटपूर्वक नाना कुवेषों के धारक, कपटी, वाणिज्य-व्यवसाय करने वाले, खोटा तौल और खोटा नाप करने या रखने वाले, खोटे सिक्कों से रोजी चलाने वाले, जुलाहे, सुनार तथा छीपे आदि कारीगर, ठगाई करने वाले, चोरी करने वाले, खुशामदखोर तथा कोतवाल एवं व्यभिचारी दुष्टवादी, चुगलखोर और कर्जदार, किसी के बोलने से पहले ही उसके अभिप्राय को ताड़ने में कुशल, भूत और भविष्य काल की बातों को बताने में प्रवीण, बिना विचारे बोलने वाले, कमीने (नीच आत्माएं), सत्पुरुषों के लिए अहितकारक ऋद्धि, रस और साता के गर्व में चूर, असत्य अर्थ की स्थापना करने में

दत्तचित्त, अपने आपको सर्वोत्कृष्ट मानने वाले स्वच्छन्दाचारी, किसी के अनुशासन में न चलने वाले, नियमनिष्ठा से रहित, अस्थिर, अव्यवस्थित, मनमाना वकने वाले या अपने को ही सिद्धवादी कहने वाले मनचले, ये सव असत्य बोलने से अविरतजन पूर्वोक्त असत्य बोलते हैं।

लोक के स्वरूप को विपरीत कहने वाले दूसरे नास्तिकवादी कहते है —यह जगत् शून्य है, जीव (आत्मा) नहीं है। वह इस भव—मनुष्यभव में, अथवा देवादि परभव में नहीं जाता, और न किञ्चित् पुण्य-पाप का ही स्पर्श करता है। पुण्य और पाप का सुख और दुःख-रूप फल भी नही है। पांच महाभूतों से बना हुआ यह शरीर है, जो प्राणवायु के योग से सव क्रियाएँ करता है। कुछ लोगों की यह मान्यता है कि श्वासोच्छ्वास की हवा ही जीव है। बौद्धों का यह कहना है कि आत्मा रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पंचस्कन्धरूप है। कई मन को ही जीव (आत्मा) मानने वाले पांच स्कन्धो के अलावा एक मन को जीव ठहराते है। तथा ऐसा कहते हैं कि यह शरीर सादि और सान्त (नश्वर) है। इसी एक ही पर्याय-रूप एक भव (जन्म) में अनेक कारणों से उसका नाश हो जाता है। शरीर का नाश होने पर आत्मा का भी सर्वनाश हो जाता है, इस प्रकार मृषावादी कहते हैं। शरीर सादि, सान्त है, इसलिए दान, व्रताचरण, पौषध तथा तप, संयम, ब्रह्मचर्य आदि कल्याणकारी कार्यों का फल भी नहीं है। प्राण-वध (हिंसा) और असत्यवचन भी अशुभफलदायक नहीं हैं। चोरी अथवा परस्त्रीगमन भी अशुभफल के हेतु नहीं हैं। परिग्रह और इसके अतिरिक्त जो भी पापकर्म हैं, वे भी कुछ भी नहीं है, अर्थात् जरा भी सुख-दुःख के हेतु नहीं है। नारकों, तिर्यंचों और मनुष्यों की योनियां नही हैं और न देवलोक ही है। तथा सिद्धगति (मुक्ति) भी नहीं है। माता-पिता नहीं हैं। पुरुषार्थ भी कोई चीज नहीं है, प्रत्याख्यान-त्याग भी नहीं है, भूत, भविष्य और वर्तमानकाल नहीं है और न मृत्यु ही है। अरिहन्त, चक्रवर्ती, वलदेव और वासुदेव (नारायण) इस संसार में कोई नहीं है। कोई ऋषि-मुनि भी नही हैं। धर्म-अधर्म का फल भी थोड़ा या बहुत कुछ भी नहीं है इसलिए पूर्वोक्त प्रकार से वस्तुस्वरूप को जान कर अपनी इन्द्रियों के अनुकूल सभी विषयों में खूब डट कर मनचाही प्रवृत्ति करो। कोई भी शुभ क्रियाएँ या निन्द्य अक्रियाएँ

सुगन्धित धूप आदि देने एवं फूलों व फलों से परिपूर्ण विधि से (सीसोवहारे) बकरे आदि पशुओं के सिरों की बलि (देह) दो, (य) और (बहुविहेण) नाना प्रकार की, (पाणाइवायकरणेणं) हिंसा करके (विवरीउप्पायदुस्सुमिण-पावसउण-असोमग्गहचरिय-अमंगल-निमित्तपडिघायहेउं) अशुभसूचक उत्पात, प्रकृतिविकार, खोटे स्वप्न, बुरे शकुन, क्रूरग्रह की चाल, अमंगलनिमित्तसूचक अंगस्फुरण आदि के फल को नष्ट करने के लिए (पायच्छित्तं) पापोपशमनार्थ प्रायश्चित्त (करेह) करो। (वित्तिच्छेयं करेह) आजीविका को नष्ट कर डालो, (मा देह किंचि दाणं) किसी को कुछ भी दान मत दो, (सुट्ठु हओ सुट्ठु हओ) अच्छा हुआ, मारा गया, अच्छा हुआ, मारा गया! (सुट्ठु छिन्नो) अच्छा हुआ काट डाला गया, (भिन्नो) टुकड़े हो गए, (इति) इस प्रकार (उवदिसंता) किसी के बिना ही पूछे उपदेश करते हुए या कहते हुए मनुष्य (मणेण) मन से, (वायाए) वाणी से, (य) और (कम्मुणा) कर्म से (एवंविहं) इस प्रकार के (अलियं) द्रव्य से सत्य होते हुए भी प्राणिहिंसा का कारण होने से असत्य भाषण, (करेंति) करते हैं। (वे कौन ?) (अकुसला) हिंसक और अहिंसक या कहने और न कहने योग्य, वचन के रहस्य को समझने में अचतुर (अणज्जा) अनार्य (अलियाणा) मिथ्याशास्त्रों को मानने वाले। (अलियधम्मणिरया) असत्यधर्म में आसक्त, (अलियासु कहासु अभिरमंता) आत्मगुणों को घटाने वाली पापोत्तेजक झूठी कहानियों—(उपन्यासों नाटकों आदि) में आनन्द मानने वाले, (बहुप्पगारं च) नाना प्रकार से (अलियं) मिथ्याभाषण (करेत्तु) करके (तुट्ठा, संतुष्ट (होंति) होते हैं।

मूलार्थ—कई पापिष्ठ, संयमहीन, व्रतरहित अथवा पापकर्मों से अविरत, कपटी, कुटिल, कटु और चंचल स्वभाव के, क्रोधी, लोभी, भयातुर, हंसी-मखौल करने वाले, गवाही देने वाले, चोर, गुप्तचर (जासूस या भेदिये), भट (योद्धा), चुंगी के कर्मचारी अथवा कर, जकात वगैरह वसूल करने वाले, हारे हुए जुआरी, गिरवी (बंधक) रखने वाले, मायाचारी, कपटपूर्वक नाना कुवेषों के धारक, कपटी, वाणिज्य-व्यवसाय करने वाले, खोटा तौल और खोटा नाप करने या रखने वाले, खोटे सिक्कों से रोजी चलाने वाले, जुलाहे, सुनार तथा छीपे आदि कारीगर, ठगाई करने वाले, चोरी करने वाले, खुशामदखोर, तथा कोतवाल एवं व्यभिचारी दुष्टवादी, चुगलखोर और कर्जदार, किसी के बोलने से पहले ही उसके अभिप्राय को ताड़ने में कुशल, भूत और भविष्य काल की बातों को बताने में प्रवीण, बिना विचारे बोलने वाले, कमीने (नीच आत्माएं), सत्पुरुषों के लिए अहितकारक ऋद्धि, रस और साता के गर्व में चूर, असत्य अर्थ की स्थापना करने में

दत्तचित्त, अपने आपको सर्वोत्कृष्ट मानने वाले स्वच्छन्दाचारी, किसी के अनुशासन में न चलने वाले, नियमनिष्ठा से रहित, अस्थिर, अव्यवस्थित, मनमाना बकने वाले या अपने को ही सिद्धवादी कहने वाले मनचले, ये सब असत्य बोलने से अविरतजन पूर्वोक्त असत्य बोलते है।

लोक के स्वरूप को विपरीत कहने वाले दूसरे नास्तिकवादी कहते हैं —यह जगत् शून्य है, जीव (आत्मा) नहीं हैं। वह इस भव—मनुष्यभव में, अथवा देवादि परभव में नही जाता, और न किञ्चित् पुण्य-पाप का ही स्पर्श करता है। पुण्य और पाप का सुख और दुःख-रूप फल भी नहीं है। पांच महाभूतो से बना हुआ यह शरीर है, जो प्राणवायु के योग से सब क्रियाएँ करता है। कुछ लोगों की यह मान्यता है कि श्वासोच्छ्वास की हवा ही जीव है। बौद्धों का यह कहना है कि आत्मा रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पंचस्कन्धरूप है। कई मन को ही जीव (आत्मा) मानने वाले पांच स्कन्धों के अलावा एक मन को जीव ठहराते है। तथा ऐसा कहते है कि यह शरीर सादि और सान्त (नश्वर) है। इसी एक ही पर्याय-रूप एक भव (जन्म) मे अनेक कारणों से उसका नाश हो जाता है। शरीर का नाश होने पर आत्मा का भी सर्वनाश हो जाता है, इस प्रकार मृषावादी कहते हैं। शरीर सादि, सान्त है, इसलिए दान, व्रताचरण, पौषध तथा तप, संयम, ब्रह्मचर्य आदि कल्याणकारी कार्यों का फल भी नही है। प्राण-वध (हिंसा) और असत्यवचन भी अशुभफलदायक नही हैं। चोरी अथवा परस्त्रीगमन भी अशुभफल के हेतु नहीं हैं। परिग्रह और इसके अतिरिक्त जो भी पापकर्म हैं, वे भी कुछ भी नहीं हैं, अर्थात् जरा भी सुख-दुःख के हेतु नहीं है। नारकों, तिर्यंचों और मनुष्यों की योनियां नहीं है और न देवलोक ही है। तथा सिद्धगति (मुक्ति) भी नहीं है। माता-पिता नहीं है। पुरुषार्थ भी कोई चीज नही है, प्रत्याख्यान-त्याग भी नही है, भूत, भविष्य और वर्तमानकाल नहीं है और न मृत्यु ही है। अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव (नारायण) इस संसार में कोई नहीं है। कोई ऋषि-मुनि भी नही हैं। धर्म-अधर्म का फल भी थोड़ा या बहुत कुछ भी नही है। इसलिए पूर्वोक्त प्रकार से वस्तुस्वरूप को जान कर अपनी इन्द्रियों के अनुकूल सभी विषयों में खूब डट कर मनचाही प्रवृत्ति करो। कोई भी शुभ क्रियाएँ या निन्द्य अक्रियाएँ

नहीं है। लोक के स्वरूप का विपरीत वर्णन करते हुए नास्तिकवादी इस प्रकार से कहते है।

असत् पदार्थों का निरूपण करने वाले बहुत से मूढ़ लोग इस आगे कहे जाने वाले दूसरे कुदर्शन (मिथ्यामत) का प्ररूपण करते है कि यह संसार अंडे से पैदा हुआ है। ब्रह्माजी ने उसे स्वयं बनाया है। इसी प्रकार यह भी असत्य वचन है—जैसे कई लोग कहते है कि लोक के प्रभु ईश्वर ने यह सृष्टि रची है। कई लोगो का कहना है कि जगत विष्णुमय है। कितने ही इस प्रकार असत्यभाषण करते हैं कि एक आत्मा (ब्रह्म) ही है, सारे संसार में व्याप्त है। दूसरी कोई वस्तु नहीं है। (सांख्यमत वालों का कहना है—) आत्मा (पुरुष) पुण्य और पापकर्मों का कर्ता नहीं है, किन्तु उनके सुख-दुःख रूप फल का भोक्ता है (पाठान्तरके अनुसार वह पुण्य-पाप के फल का भोक्ता भी नही है), इन्द्रियाँ और कारणभूत पदार्थ सर्वथा सब जगह और सब समय प्रकृति से भिन्न नही होते। अर्थात् सर्वत्र और सर्वदा प्रकृति में विद्यमान रहते है। आत्मा निष्क्रिय और निर्गुण (सत्व, रज और तमोगुण से रहित) है तथा कर्मों के लेप से भी रहित है। इस प्रकार असत्य बात कहते है।

इस मर्त्यलोक में जो कुछ सुकृत या दुष्कृत दिखाई देते हैं या इस प्रकार की अन्य सब वस्तुएँ है, वे अपने आप ही (यदृच्छा से) उत्पन्न हुई हैं। अथवा स्वभाव से या दैव के प्रभाव भी से पैदा होती हैं। इस लोक में कोई भी पदार्थ किसी का बनाया हुआ नही है। किन्तु जितने भी वस्तु के लक्षण-स्वरूप हैं और प्रकार (भेद) हैं, उन्हें नियति (भवितव्यता-होनहार) ही पैदा करती है—बनाती है। बहुत से लोग ऋद्धि, रस और साता के गर्व में चूर हो कर धर्माचरण करने में आलसी हैं, वे भी धर्मविचार की अपेक्षा से मिथ्या प्ररूपणा करते हैं।

दूसरे लोग अधर्मयुक्त होने से राजविरुद्ध झूठा दोषारोपण करते हैं। वे चोरी न करने वाले को चोर कहते हैं, तथा लड़ाई झगड़ों और प्रपंचों से तटस्थ रहने वाले को लड़ाकू कहते हैं। शील-सम्पन्न परस्त्रीत्यागी को यह दुःशील-व्यभिचारी है, परस्त्रीगमन करता है, इत्यादि अपवाद लगा कर उसे बदनाम करते हैं। यह भी दोष लगाते हैं कि 'यह गुरुपत्नी के साथ अनुचित सम्बन्ध रखता है। दूसरे कई लोग यों व्यर्थ ही उसकी कीर्ति, आजी-

विका आदि को चौपट करने की दृष्टि से कहते है कि "यह अपने मित्र की पत्नियों का सेवन करता है। इतना ही नहीं, यह धर्मशून्य भी है, विश्वासघाती है, पापकर्म करने वाला है, नहीं करने योग्य कार्यों को करने वाला है तथा भगिनी, पुत्रवधू, पुत्री आदि अगम्य स्त्रियों के साथ सहवास करता है, यह दुरात्मा बहुत-से पापों से युक्त है।" इस प्रकार ईर्ष्यालु लोग झूठमूठ बकते है। अच्छे स्वभाव वाले मनुष्य के परोपकार, क्षमा आदि गुणों, तथा कीर्ति, स्नेह एव परभव की जरा भी परवाह न करने वाले वे असत्यवादी असत्य बोलने मे प्रवीण, दूसरों के दोषों को बताने में जुटे हुए, और मुख को अपना शत्रु बनाए हुए वे अधम पुरुष अक्षय दुःख के बीजरूप कर्म-बन्धन से अपनी आत्मा को जकड़ लेते हैं। दूसरों के धन पर गिद्ध की तरह दृष्टि गड़ाए वे धरोहर को हड़प जाते हैं, तथा सत्पुरुषों को उनमे अविद्यमान दोषो से दूषित करते है। लोभी मनुष्य झूठी साक्षी देने का काम करते है तथा वे पवित्र और भद्र पुरुषों का अहित करने वाले असत्यवादी धन के लिए, कन्या के लिए, भूमि के निमित्त, गाय-बैल आदि पशुओं के निमित्त अधोगति में ले जाने वाला बड़ा झूठ बोलते हैं। मिथ्या षड्यंत्र रचने में दत्तचित्त, दूसरों के असद्गुणों के प्रकाशक एवं सद्गुणो के नाशक, पुण्य और पाप के स्वरूप से अनभिज्ञ, असत्याचरण में जुटे हुए लोग इसके अतिरिक्त और भी जाति, कुल, रूप और शील से सम्बन्धित, माया के कारण गुणहीन या माया-निपुण, चपलता से युक्त, पैशून्यपूर्ण (चुगली से भरपूर), परमार्थ के नाशक, असत्य अर्थ वाले या सत्त्वहीन, द्वेषरूप, अप्रिय, अनर्थकारी, पापकर्म के मूल मिथ्यादर्शन से युक्त, कर्णकटु, सम्यग्ज्ञानशून्य, लज्जाहीन, लोकनिंद्य, वध, बंधन और सक्लेश से पूर्ण, बुढ़ापा, मृत्यु, दुःख और शोक के मूल कारण, अशुद्धपरिणामों से संक्लेशयुक्त, हिंसा द्वारा प्राणियों के घात से युक्त, अशुभ या अनिष्ट, साधुओं द्वारा निंदनीय, अधर्म के जनक, पापयुक्त असत्य वचन बोलते है।

पुनश्च—शस्त्रों को बनाने, जोड़ने और जुटाने के रूप में अधिकरण-क्रिया में प्रवृत्त रहने वाले मनुष्य अनेक प्रकार के अनर्थ का कारण, जो अपने और दूसरे का विनाश का हेतु है,उसे करते रहते हैं। ऐसे ही अज्ञानपूर्वक बोलते हुए मूर्ख लोग घातक लोगों को—कसाइयों को भैंसों और सूअरों के सम्बंध

में हिंसा का उपदेश देते हैं। मृग आदि पशुओं को फंदे में फंसाने वाले पारधि
को खरगोश, प्रशय और रोहित नामक जंगली जानवरों को बतलाते हैं। बा
आदि द्वारा पक्षियों का शिकार करने वाले बहेलियों को तीतर, बतक, बटे
कपिंजल और कबूतर आदि पक्षियों को बताते हैं। मछुओं को मछली, मग
कछुए आदि बतलाते है। और धीवरों को शंख, अंकरत्न और कौड़ियां बताते
सपेरों को अजगरों, दुमुंही, साँपों, मण्डलाकार सर्पों, फणधर सर्पों और बिन
फण के सर्पों की सूचना देते है। शिकारियों को चन्दनगोह, कांटेदार गो
शैले और गिरगिट बतलाते है, फंदे द्वारा पशुओं को पकड़ने वालों को हाथिय
के झुंड और बंदरों के टोले बताते है, पक्षियों को पालने वालों को तोते
मोर, मैना, कोयल और हंसों के झुंड और सारस बतलाते हैं, पशुपालक
को मारने-पीटने, बांधने और पीड़ा देने का उपदेश देते हैं—अभ्यास कराते
तथा चोरों को धन, धान्य, गायों-बैलों और भेड़बकरियों का पता बताते है
गुप्तचरों-भेदियों या जासूसों को गांवों, खानों, नगरों तथा बड़ी मण्डियं
(पत्तनों) का भेद बताते है। गांठकटों-गिरहकटों को रास्ते के परले सिरे प
या रास्ते के बीच में राहगीरों को लूटने का निर्देश करते है, नगररक्षव
कोतवाल आदि को की गई चोरी की खबर देते हैं तथा ग्वालों को पशुओं वे
कान आदि काटना या गर्म लोहे आदि से दाग देना, उन्हें खस्सी या बधिय
करना. फूंका लगाना, दूहना, जौ आदि खिलाकर पुष्ट बनाना, बछड़े क
अपनी मां से अलग करके दूसरी गाय के साथ कर देना, हैरान करना, गाड़ी
आदि को खींचना, बोझ लादना आदि बहुत-से उपाय बतलाते है। खान वे
मालिकों को गेरु आदि, या सोना, चांदी, लोहा आदि धातुओं, चन्द्रकांत आदि
मणियों शिला अथवा मॅनसिल, मूंगा और रत्न की खानों का पता बतलाते हैं
मालियों को फूलों के तोड़ने या गूंथने की विधि और फलों को उपजाने,
पकाने आदि की विधि बतलाते हैं। तथा जंगलों मे भटकने वाले भीलों आदि
को मधुमक्खियों के बहुमूल्य छत्ते दिखला देते हैं। मारण, मोहन, उच्चाटन
आदि के लिए लिखित यंत्रों या पशुओं आदि को पकड़ने के यंत्रों, संखिया
आदि हलाहल विषों, गर्भपात आदि के लिए वनस्पति की जड़ या अन्य
जड़ीबूटियों के प्रयोग, मन्त्रादि द्वारा नगर में क्षोभ या फूट पैदा कर देने
अथवा मंत्रबल से धन आदि के खींचने, द्रव्य और भाव से वशीकरणमंत्रों

और औषधियों के प्रयोग करने व परस्त्रीगमन आदि बहुत से पापकर्मों के उपदेश तथा छल से शत्रुसेना की ताकत तोड़ देने या उसे कुचल डालने के, जंगल में आग लगाने तथा तालाब सुखाने के, बुद्धि के विषय विज्ञान आदि अथवा बुद्धि एवं स्पर्श आदि विषयों के विनाश के, वशीकरण, उच्चाटन आदि के तथा भय, मृत्यु, क्लेश और दोष के जनक, बहुत क्लिष्ट भावों से मलिन, प्राणियों के घात और उपघात करने वाले वचन द्रव्य से तथा तथ्यरूप से सच्चे होने पर भी भाव से उन-उन प्राणियों का घात करने वाले होने से असत्य ही हैं, जिन्हें मिथ्यावादी बोलते हैं।

तथा पूछे जाने पर या बिना पूछे ही दूसरों के काम की व्यर्थ चिन्ता में डूबे रहने वाले, बिना विचारे बोलने वाले, बिना ही मतलब के एकदम उपदेश देने लगते हैं कि ऊंटों, गाय-बैलों एवं नील गायों (रोझों) का दमन करो, वश में करो, परिपक्व उम्र के तरुण घोड़े, हाथी, बैल, मैंढे और मुर्गे खरीदो, खरीदवा लो तथा बेच दो। कुटुम्बीजनों के लिए भोजन बनाओ।' उनको यह शराब आदि पेय वस्तु दे दो, पिला दो, तथा ये दासी-दास, नौकर और हिस्सेदार, बाहर भेजे जाने वाले गुमास्ते या नौकर,कर्मचारी और सेवक, कुटुम्बी तथा रिश्तेदार क्यों बेकार बैठे हैं ? आपकी पत्नियाँ काम करें, घने जंगल, धान आदि बोने के खेत, बिना जोती हुई भूमि और घोर जंगल बहुत लंबे-लंबे घने घास से भर गए हैं, इन्हें जला डालो और कटवा डालो ! कोल्हू आदि यन्त्रों, कुंडों आदि बर्तनों तथा गाड़ी, हल आदि बहुत से उपकरणों-साधनों के लिए तथा और भी अनेक कामों के लिए वृक्षों को काट लो। *गन्नों को काट लो या उखाड़ लो, तिलों को पील डालो,* मेरे घर के लिए ईंटें पकवा लो, खेतों को जोतो और जुतवाओ, जंगल के प्रदेशों में झटपट लम्बी-चौड़ी सीमा वाले नगर, गाँव, खेड़े और कस्बे बसाओ। खिले हुए, पके हुए फूलों,फलों और कन्दमूलों (आलू, सूरण आदि कंदों और गाजर-मूली आदि मूलों) को उखाड़ लो या चुन लो और अपने सगे-सम्बन्धियों के लिए इन्हें इकट्ठे कर लो। शालि धान, गेहूँ आदि अन्न तथा जौ काट लो, इन्हें बैलों से पैरवा लो और साफ करवा लो। इनका भूसा अलग करवा लो और जल्दी कोठार-कोठे में भर दो। तथा छोटे, मंझले और बड़े जहाजों के सार्थवाहों

को तथा शिशुसमूहों को खत्म कर दो। सेना चढ़ाई करने के लिए बाहर निकले, संग्राम-स्थल की ओर कूच करे और घोर युद्ध हों। गाड़ी, रथ वगैरह सवारियां हांको। यज्ञोपवीतसंस्कार, चूडाकर्मसंस्कार या मुंडनसंस्कार, विवाह और यज्ञ अमुक दिवस,करण, मुहूर्त, नक्षत्र और तिथि में हो। आज आमोद-प्रमोदपूर्वक बहुत-सी मिठाइयां आदि खाने और मदिरा आदि पीने की वस्तुओं के भोज के साथ सौभाग्यवृद्धि तथा पुत्रादि की प्राप्ति के लिए वधू आदि का स्नान हो तथा डोरे बांधने आदि विधियों वाला कौतुक हो। सूर्य और चन्द्र के ग्रहण तथा दुःस्वप्न आदि के होने पर विविध मन्त्रादि से संस्कारित जल से स्नान और शांतिकर्म करो। अपने कुटुम्बियों की तथा अपने जीवन की रक्षा के लिए आटे आदि के बने हुए प्रतिशीर्षक (सिर) चण्डी आदि देवियों के भेंट चढ़ाओ। और अनेक प्रकार की ओषधियो, मद्य, मांस, मिठाई, अन्न, पान, पुष्पमाला, चंदनादि का लेपन, उबटन, दीपक, सुगन्धित धूप तथा फूलों और फलों से परिपूर्ण विधि से बकरे आदि पशुओं के सिरों की बलि दो। नाना प्रकार की हिंसा करके अशुभसूचक उत्पात, प्रकृतिविकार, बुरे स्वप्न, बुरे शकुन, क्रूर ग्रहों की चाल, अमंगलसूचक अंगस्फुरण इत्यादि के फल को नष्ट करने के लिए प्रायश्चित्त करो। अमुक की आजीविका नष्ट कर दो! किसी को कुछ भी दान मत करो। अच्छा हुआ, मारा गया! अच्छा हुआ, काट डाला गया! अच्छा हुआ, टुकड़े-टुकड़े किया गया! इस प्रकार बिना ही पूछे उपदेश करते या कहते हुए मनुष्य मन से, वाणी से और कर्म से द्रव्य से सत्य होते हुए भी प्राणातिपात का कारण होने के भाव से इस प्रकार असत्य भाषण करते है। (वे कौन हैं?) हिंसक और अहिंसक या कहने योग्य और न कहने योग्य वचनों के रहस्य को समझने में अकुशल, पाप में तत्पर, अनार्य, मिथ्याशास्त्रों की आज्ञा के अनुसार चलने वाले, असत्य धर्म-कर्म में लीन, आत्मगुणों का ह्रास करने वाली पापोत्तेजक झूठी-कहानियों में ही आनन्द मानने वाले लोग नाना प्रकार से मिथ्याभाषण करके संतुष्ट होते हैं।

व्याख्या

प्रस्तुत सूत्रपाठ में दो द्वारों का एक साथ ही निरूपण किया गया है—'असत्य भाषण कौन-कौन करते हैं और किस प्रयोजन से व किस प्रकार से करते हैं?' मतलब यह है कि शास्त्रकार ने इस सूत्रपाठ में असत्य बोलने वालों तथा असत्य बोलने के

प्रयोजनों व प्रकारों का बारीकी से विशद निरूपण कर दिया है। साथ ही इस सूत्रपाठ मे यह भी ध्वनित कर दिया है कि कोई व्यक्ति चाहे बाह्यरूप से सत्य ही बोल रहा हो, किन्तु उस सत्यवचन के पीछे किसी के मन, वचन, काया या प्राणों को ठेस पहुंचाने, हानि पहुंचाने, पीड़ा देने, वध करने या नाश करने की वृत्ति हो अथवा उसके उक्त वचन से जगत् गुमराह होता हो, अधर्म और हिंसा आदि कुकर्मों के रास्ते चल पड़ता हो ; जगत् के प्राणिवर्ग का अहित होता हो तो वह वचन असत्य ही है। इस प्रकार विभिन्न कोटि के लोगों द्वारा असत्य का सेवन किस-किस रूप में किया जाता है ?, इस बात को प्रस्तुत सूत्रपाठ में शास्त्रकार ने स्पष्ट कर दिया है।

'केइ'—शास्त्रकार संसार के सभी व्यक्तियों को असत्यवादी की कोटि में नही मानते ; क्योंकि वे स्वयं पूर्ण सत्यमहाव्रती हैं, इसलिए दूसरों के प्रति वे ऐसा अन्याय कैसे कर सकते हैं ? या सरासर असत्य कैसे कह सकते हैं ? यही कारण है कि प्रस्तुत मूलपाठ मे उन्होंने 'केइ' पद से इसका पृथक्करण किया है कि ससार के सभी प्राणी या सभी मानव असत्य नहीं बोलते। जो पंचमहाव्रतधारी साधु, ऋषि, मुनि या श्रमण हैं, वे मृषाभाषण के सर्वथा त्यागी होते हैं ; वे वचन से तो क्या, मन से भी असत्यभाषण का या असत्य वस्तु का चिन्तन नहीं करते। इस कोटि के जो भी मानव हैं, वे असत्यभाषी नही होते। इसके पश्चात् गृहस्थ श्रमणोपासक या श्रावक भी स्थूल असत्य के त्यागी होते है। वे भी ऐसा वचन नहीं बोलते, ऐसे उद्गार नही निकालते ; जिससे सरकार द्वारा दण्डित हों, समाज में निन्दित हो, अनर्थ की की सम्भावना हो, व्यवहार बिगड जाय, प्राणियों के घात की सम्भावना हो, उनके मन में संताप पैदा हो या आपस में सिरफुटौव्वल हो। गृहस्थधर्मी श्रावक भी वचन को तौल कर, दीर्घदृष्टि से विचार कर किसी का अहित न हो, इस प्रकार से बोलते हैं ; ऐसे धर्मिष्ठ श्रावक के सभी कार्य सत्यता से युक्त होते हैं। इसलिए शास्त्रकार ने 'केइ' पद द्वारा उन्ही लोगो की ओर इशारा किया है ; जो अमुक-अमुक प्रकार से असत्य बोलते हैं !

व्यवहार में असत्य बोलने वाले—इस सूत्रपाठ में सर्वप्रथम व्यवहार में असत्य बोलने वालों के नाम गिनाए हैं। चूंकि व्यवहार प्रत्यक्ष और स्पष्ट होता है ; इसलिए व्यवहार में असत्य बोलने वाले व्यक्ति को प्रत्येक धर्म और दर्शन वाले असत्यभाषी ही मानते हैं। इसमें किसी को भी शंका उठाने की आवश्यकता नहीं होती। वैसे तो मूलार्थ में इन सबका अर्थ किया जा चुका है, फिर भी संक्षेप में इन पर थोड़ा-थोड़ा प्रकाश डाला जाना उचित समझते हैं—

पावा—जो रातदिन हिंसा आदि पापकर्मों में रत रहते हैं, उनका सत्य बोलना बहुत ही कठिन है। यदि वे वस्तुस्थिति को ज्यों की त्यों कह दें, तो भी वे

हिंसा, चोरी आदि पापकर्मों के लिए वाचिक प्रेरणा देते हैं, अतः उनका वचन असत्य हो ही जाता है। इसलिए पापिष्ठ व्यक्ति असत्यवादी हैं।

असंजया—जो अपनी इन्द्रियों और मन पर जरा भी संयम, नियंत्रण या अंकुश नहीं रख सकते, विषयों के दास बने हुए हैं, वे असंयम के वशीभूत होकर बात-बात में प्राणियों के लिए अहितकर तथा मिथ्या वचन बोलेंगे ही, जो असत्य की कोटि में है।

अविरया—जो हिंसा आदि आश्रवों से जरा भी विरत नहीं हैं, जिन्होंने व्रतों को यत्किंचित् भी स्वीकार नहीं किया है, वे व्यक्ति सत्य-असत्य की कोई मर्यादा नहीं मानते और न उसे पालते हैं।

कवड-कुटिल-कडुय-चडुलभावा—जिनके रोम-रोम में कपट भरा है, कुटिलता भरी है, वचन में पद-पद पर कटुता है और जिनके भावों में बार-बार उतारचढ़ाव आते हैं, जो अपने शुद्ध विचार पर कुछ देर के लिए भी स्थिर नहीं रह सकते, उनको असत्यवादिता में तो कोई संदेह ही नहीं रह जाता।

कुद्धा—क्रोधी व्यक्ति क्रोध के आवेश में चाहे जो कुछ बोल देता है, वह अंटसंट भी बक देता है, इसलिए ऐसे क्रोधातुर व्यक्ति को सत्य का भान ही कैसे रह सकता है?

लुद्धा—लोभी व्यक्तियों का भी यही हाल है। जब उन पर लोभ सवार हो जाता है तो वे सच-झूठ का कोई विचार ही नहीं करते। येन-केन-प्रकारेण अपने स्वार्थ या अति लोभ की पूर्ति करना ही उनका एकमात्र उद्देश्य होता है। अतः लोभी भी प्रायः सत्यभाषी नहीं होता।

भया य—मनुष्य प्राण जाने, प्रतिष्ठा जाने या मार पड़ने का भय उपस्थित होने पर या संकट या खतरे के समय प्रायः असत्य का ही सहारा लेता है। भयाविष्ट व्यक्ति को उस समय सत्य की चिन्ता नहीं होती।

हस्सट्ठिया—जो व्यक्ति हंसोड़, विदूषक या मजाकिया होता है, वह बात-बात में असत्य का सहारा लेता है। वैसे भी हास्य के वश मनुष्य असत्य बोलता है; जिसका नतीजा कई दफा बड़ा ही भयंकर आता है। हंसी-मजाक में झूठ बोला जाने पर सामने वाला व्यक्ति कई बार उसे सच मान लेता है और आत्महत्या तक कर बैठता है, या गलतफहमी का शिकार बन कर अनर्थ कर बैठता है। अतः हास्यानन्दी व्यक्ति प्रायः असत्यभाषी होते हैं।

सक्खी—अदालतों में कई पेशेवर गवाह होते हैं, उन्हें कुछ पैसे दे देने से वे झूठी गवाही देने के लिए तैयार हो जाते हैं। उनकी उस झूठी साक्षी में सत्य का अंश नहीं होता। इसलिए उन्हें असत्यभाषी कहा गया है।

चोरा—चोरों का काम ही झूठ से चलता है। झूठ और चोरी का तो परस्पर चोली-दामन का-सा नाता है। इसलिए चोरों को असत्यभाषी कहा गया है।

चारभडा—गुप्तचर और जासूस तो अपना रूप, रंग, वेषभूषा, भाषा ही बदल लेते हैं, असत्य का सहारा ले कर ही वे किसी गुप्त बात का पता लगाते हैं। इसलिए असत्य उनका साथी होता है। भाट लोग भी युद्ध में शौर्यगाथा गाते हैं, तब बहुत ही अतिशयोक्ति करके बढ़ा-चढ़ा कर प्रशंसा करते हैं, सेना को उत्तेजित करते हैं, उनके शब्दों में भी सत्यता नहीं होती।

खंडरक्खा—चुंगी, कर, या जकात के वसूल करने वाले प्रायः लोगों को धमका कर एवं असत्य बोल कर रिश्वत के रूप में उनसे पैसा एँठते हैं। वचन की प्रामाणिकता उनमें प्रायः नहीं होती, इसलिए उन्हें भी असत्यभाषी की कोटि में बताया है।

जियजूयकारा—हारे हुए जुआरियों की मनोवृत्ति किसी भी तरह से झूठा दाव लगा कर पुनः जीतने की होती है। अथवा अपनी प्रतिष्ठा समाज में रखने के लिए वह जुए में सारा धन खो देने पर भी पूछने पर कहेगा—"मेरे पास धन की क्या कमी है?" मतलब यह है कि अपनी इज्जत बचाने के लिए जुआरी भी प्रायः असत्य का आश्रय लेते हैं; इसलिए उन्हें असत्यभाषी कहा गया है।

गहियगहणा—गिरवी रखने वाले व्यक्तियों की नीयत प्रायः यही रहती है कि सौ रुपये के माल को ग्राहक पचास रुपये में गिरवी रख जाय; इसलिए वह गिरवी रख जाने वाले के साथ झूठ बोलता है, फिर ब्याज जोड़ते समय भी प्रायः झूठ का सहारा लिया करता है; इसलिए इसे भी असत्यभाषी कहा गया है।

कक्कगुरुगकारगा—मायापूर्वक बढ़ाचढ़ा कर बोलने वाले, चापलूस, वंचक, ठग आदि तो असत्य को ही अपना मित्र बनाते हैं। इसलिए उनकी असत्यभाषिता में कोई सन्देह ही नहीं है।

कुलिंगी—धर्म के नाम पर दूसरों के साथ धोखेबाजी करने वाले लोग साधु-संत का बाना पहन कर या साधुवेष धारण करके दुनियाभर की गप्पें लगा कर लोगों से पैसा बटोरते है, सम्मान प्राप्त करते है, ऐश-आराम के साधन प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए वे तो असत्य की खान हैं ही।

उवहिया—सोना बना देने या नोट बढ़ा देने का कह कर चकमे में डालने वाले या बहुरूपिया बन कर लोगों को वाग्जाल में फंसाने वाले मायाचारी लोग तो सरासर असत्यभाषी हैं ही।

वाणियगा—व्यापार करने वाले या विविध प्रकार का व्यवसाय करने वाले, कारखानेदार आदि लोग भी धन के लोभ में प्रायः असत्य का सहारा लेते हैं। वे दिखाएँगे एक चीज, देंगे दूसरी और वह भी खराब चीज, चीज के दाम बहुत बढ़ाकर कहेंगे,

सौ कसमें खा लेंगे, झूठे वादे कर लेंगे। इस प्रकार वचन द्वारा बेईमानी करके व्यव सायी भी असत्यभाषी बन जाता है।

कुडतुलकुडमाणी—झूठा तौलने और झूठा नापने वाला वैसे बाहर से तो असत्य बोलता दिखाई नहीं देता, लेकिन माया, कपट और बेईमानी का उसक व्यवहार तथा ग्राहक को तौल-नाप में धोखा देने का व्यवहार अहितकर होने से असत्याचरण ही माना जाता है। इसलिए झूठा तौल-नाप करने वाला असत्यवादी की ही कोटि में है।

कूडकाहावणोपजीविया—जो लोग झूठे सिक्कों पर ही अपनी रोजी चलाते हैं, वे तो सरासर झूठ का ही व्यवसाय करते हैं। उनके मन में झूठ होता है, उनका व्यवहार भी झूठा होता है। चाहे वे वचन से झूठ न बोलें, या सफाई से अपनी बात को सच्ची सिद्ध करने का प्रयत्न करें, हैं वे असत्यवादी ही।

पडगारका कलाया कारुइज्जा—कपड़ा बनाने वाले, स्वर्णकार तथा दर्जी, लुहार, कुंभार, छिपा आदि कारीगर प्रायः बातबात में झूठ बोल जाते हैं। सुनार, दर्जी, जुलाहे आदि अपने ग्राहक से अमुक दिन चीज तैयार करके देने का वादा कर लेते हैं, लेकिन वे उस दिन अपने वचन के अनुसार देते नहीं; आगे से आगे टरकाते रहते है। बेचारा ग्राहक हैरान होता है, उसका कपड़ा, सोना आदि भी उसमें से चुरा लिया जाता है, मेहनताना न ठहराने पर अधिक लेने की कोशिश करते हैं। इसके अलावा वे अपनी घटिया चीज की भी अत्यन्त तारीफ करके अधिक दाम पाने का प्रयत्न करते हैं। मतलब यह है कि प्रायः इन लोगों के काम में झूठ और कपट का या वचनभंग का व्यवहार होने से वह असत्यवादिता की कोटि में ही माना जाता है।

वंचणपरा—ठगाई करने वाले भी सरासर असत्यभाषी हैं।

चारिय-चाडुयार-नगरगोत्तिय-परिचारगा—वेष बदल कर घूमने वाले, चापलूस, नगररक्षक,कोतवाल आदि और व्यभिचारियों के दलाल—ये चारों प्रकार के मनुष्य माया और धूर्तता करने में प्रायः सिद्धहस्त होते हैं। वाणी के मायाजाल में फंसा कर वे सम्बन्धित व्यक्ति से मनमाना पैसा ठगते हैं, उसकी जेब खाली करा लेते हैं, उसकी इज्जत भी मिट्टी में मिला देते हैं। अत. असत्य तो इनकी रग-रग में भरा होता है।

दुट्ठवायि-सूयक-अणबल-भणिया—दुष्टों का पक्ष लेने वाले या बात-बात में अपशब्द बोलने वाले, चुगलखोर, बलपूर्वक कर्ज लेने वाले तथा हमें द्रव्य दो, इस प्रकार की धमकीभरे शब्द कहने वाले; ये चारों ही असत्य के पिटारे हैं। इन्हें सत्य-भाषण का कोई विवेक ही नहीं रहता। इसलिए इनकी असत्यवादिता स्पष्ट है।

पुव्वकालियवयणदच्छा—किसी के कहने से पहले ही उसके अभिप्राय को जान कर कहने में कुशल अथवा किसी की भूतकालीन बात को कहने में चतुर लोग

प्रायः अनुमान के आधार पर चलते हैं। अनुमान कई दफा गलत हो जाता है और ऐसे लोग जो अटकलबाजी से किसी के बारे में कहते हैं, प्रायः उनके वचन असत्य ही साबित होते है। इसलिए उनके वचनों मे असत्य का अंश होने से उन्हें असत्यवादी की कोटि में गिनाया है।

लहुस्सगा—जिनकी आत्माएँ तुच्छ होती हैं, जिनके निम्नतम संस्कार होते है, वे तो बात-बात में झूठ बोलने में हिचकते नहीं अथवा असत्य व्यवहार करने मे भी उन्हें कोई संकोच नही होता। इसलिए लघुस्वक भी असत्यवादी की कोटि मे बताए गये हैं।

असच्चट्ठावणाहिचित्ता—जिनका चित्त सदा असत्य बातों की स्थापना में, असत्य बातों को लोगों के दिलदिमाग मे ठसाने की उधेड़बुन में ही दत्तचित्त रहता है; उनके असत्यप्रचारी होने में तो कोई सदेह नही है।

उच्चछंदा—अपने को बड़ा मानने वाले लोग भी महानता और उच्चता के गुण स्वयं में न होते हुए भी उनका दिखावा करने के लिए वागाडम्बर करते है; व्यवस्थित भाषा में बडे-बड़े लच्छेदार भाषण झाड़ते हैं, परन्तु जीवन में चरित्रशीलता या सदाचार नही होता, ऐसे स्वच्छन्दी लोग आडम्बर की ओट में वाणी के माध्यम से लोगों पर अपना सिक्का जमाने का प्रयत्न करते है। परन्तु अन्त में तो सत्य प्रगट हो कर ही रहता है। इसलिए ऐसे उच्चछंद लोग भी असत्याचारी की कोटि में हैं।

अणिग्गहा—जो किसी के अनुशासन या निग्रह (अंकुश) में नही चलना चाहते, वे स्वच्छन्दाचारी अपने जीवन को मनमाने ढंग से बिताते हैं; वे सच बोलेंगे या असत्य बोलेंगे, इसकी किसी को कोई प्रतीति नही होती। इसलिए अनिग्रह (निरंकुश) लोग भी असत्यवादियों में ही शुमार हैं।

अणियता—जिनके जीवन में कोई नियमनिष्ठा नही होती, जो अव्यवस्थित जीवन जीते है; उनके जीवन में सत्य तो होता ही नहीं, असत्य से ही उनका रात-दिन वास्ता पडता है। इसलिए ये भी असत्यवादी है।

छंदेण मुक्कवाया—जिनकी जबान पर कोई लगाम नही है, जो मनमानी बातें करते हैं, हम ही सिद्धवादी हैं, इस तरह की बेसिरपैर की बाते करने वाले लोगों के असत्यभाषी होने में कोई शक नहीं।

अलियाहि अविरया—जो असत्यभाषण से, सूक्ष्म या स्थूल रूप से, सर्वांशतः या अल्पांशतः विरत नही हैं, वे तो असत्यवादी की ही कोटि में गिने जायेंगे, चाहे वे कभी सत्य ही बोलें।

नास्तिकवादी असत्यभाषी दार्शनिक—नास्तिकवादी असत्यभाषी वे हैं, जो असत्यदर्शन की प्ररूपणा करते हैं, संसार को गुमराह करने के लिए सभी लोक-हितकारी बातों का निषेध करते हैं। प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् का भी स्वरूप विपरीत

रूप में प्रस्तुत करके जगत् को स्वच्छन्दाचार की ओर प्रेरित करते है। नीचे हम क्रमशः नास्तिकवादियों के मत की समीक्षा करते हैं—

सुण्णंति—नास्तिकवादियों का कहना है—'जगत् शून्य है।' यानी जगत् का अपना कोई आकार या अस्तित्व नहीं दिखाई देता; इसलिए जगत् शून्य है। परन्तु जगत् शून्य होता तो उसका जो रूप दिखाई दे रहा है, वह नहीं दिखाई देता। इसलिए जगत् प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध है। नास्तिकवादियों का जगत्-शून्यता का कथन मिथ्या है।

नत्थि जीवो—नास्तिकवादियों का कहना है, कि 'जीव नहीं है यानी आत्मा नही है। क्योंकि उसको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। इन्द्रियों के साथ पदार्थ के सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान को ही हम प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। इन्द्रियों से तो आत्मा न कभी जानने में आता है, न उसकी कोई आकृति दिखाई देती है; इसलिए आत्मा प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होती। जो वस्तु प्रत्यक्ष से कही भी सिद्ध नहीं होती, उसके विषय में अनुमान भी नहीं हो सकता। धुंए और अग्नि का संयोग रसोईघर में प्रत्यक्ष देखने पर ही पर्वत पर धुंए को देख कर अग्नि का अनुमान किया जाता है। अतः अनुमानप्रमाण से भी आत्मा सिद्ध नहीं होती। आगमप्रमाण से भी आत्मा सिद्ध नही होती, क्योंकि विभिन्न धर्मों के आगमों में परस्पर विरोधी बातें आत्मा के सम्बन्ध में मिलती हैं। इसलिए आगम के स्वयं अप्रमाण होने से, आगम प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि नही हो सकती ; क्योंकि जो चीज है ही नही, उसके साथ उपमा किसकी दी जाय ? इसलिए किसी भी प्रमाण से आत्मा के सिद्ध न होने से आत्मा का अभाव ही सिद्ध होता है।

न जाइ इह परे या लोए—जब आत्मा ही नही है, तब मरने के बाद कौन इस मनुष्यलोक में अथवा देवलोक आदि अन्य लोकों में जाएगा ? अतः निष्कर्ष यह यह है कि जीव कही भी इस लोक या परलोक में नही जाता।

न य किंचि वि फुसति पुन्नपावं— शुभ-अशुभ कर्मों के पुण्य-पाप के रूप में बंध का भी जीव स्पर्श नहीं करता।

नत्थि फलं सुकयदुक्कयाणं—जब जीव पुण्य-पाप का बंध ही नहीं करता; तब पुण्य-पाप का सुख-दुःख-रूप फल उसे क्यों मिलेगा ? इसलिए पुण्य-पाप का सुख-दुःखरूप फल भी नही है। क्योंकि जब जीव ही नही है तो कर्मों का बन्ध और उसका फल किसे मिलेगा ? अतएव सर्वशून्य है।

पंचमहाभूतियं शरीरं—उनके सामने जब यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि जब जीव नहीं है तो यह शरीर किसके आधार पर टिका हुआ है ? इसके उत्तर में वे कहते हैं—'यह शरीर पंचमहाभूतों के संयोग से बना हुआ है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पांच महाभूत हैं। शरीर ही आत्मा है। शरीर से भिन्न कोई आत्मा

नही है। वास्तव में सारा जगत् पञ्चमहाभूतमय है। क्योंकि इसमें पृथ्वी कठोरता-कठिनता-गुणवाली है, पानी बहने के स्वभाव वाला तरल है, अग्नि (तेज) उष्ण-स्वभाव वाली है। वायु निरन्तर चलने के स्वभाव वाली है और पोल-स्वरूप आकाश है, जो सबको अवकाश देता है। शरीर भी पञ्चमहाभूतमय है, इससे भिन्न और कोई वस्तु इसमे नही है। 'वातजोगजुत्तं भासंति' इस पद के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि शरीर से भिन्न कोई चैतन्य नही है। यह पंचमहाभूतात्मक शरीर ही प्राणवायु के संयोग से चलता फिरता है और अनेक प्रकार की क्रियाएँ करता है। प्रत्यक्षप्रमाण से यह पंचमहाभूतरूप शरीर ही सिद्ध होता है। इसके सिवाय दूसरे किसी पदार्थ की प्रत्यक्ष प्रतीति न होने से उसका अभाव है। पंचमहाभूतो में जो चैतन्य दिखाई देता है, वह शरीर का आकार धारण किये हुए महाभूतों से उत्पन्न हुआ है। जैसे महुआ आदि मद्य पैदा करने वाले पदार्थों (अंगों) के मिलने पर मद्य में मदशक्ति पैदा हो जाती है, वैसे ही शरीर में पंचमहाभूतों के मिलने पर चैतन्यशक्ति पैदा हो जाती है। जिस प्रकार जल से बुलबुला पैदा होकर उसी के साथ नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार शरीर से चैतन्य पैदा होकर उसी के साथ नष्ट हो जाता है। अतः महाभूतों से भिन्न चैतन्य नही है। क्योंकि वह उसका कार्य है। कार्य कारण से भिन्न नही रह सकता। जैसे घड़ा मिट्टी का कार्य है,अतः वह मिट्टीरूप कारण से अलग नही रह सकता; वैसे ही चैतन्य भी पंचमहाभूतात्मक शरीर का कार्य है, वह इससे भिन्न नही रह सकता। इस अनुमान से चैतन्य पंचमहाभूतात्मक शरीर से अभिन्न सिद्ध होता है।'

नास्तिकवादियों के मत की असत्यता—नास्तिकवादियों का उपर्युक्त कथन असत्य है, क्योंकि जिस शरीर को वे पंचमहाभूतों से बना हुआ और उसी को ही आत्मा कहते हैं, तथा चैतन्यशक्ति का भी उसी से पैदा होना मानते हैं, तो जब शरीर निश्चेष्ट (मृत) हो जाता है, तब भी उनके मतानुसार पंचमहाभूत और तज्जन्य चैतन्य रहते हैं, फिर भी वह चलता-फिरता क्यो नही ? देखना, सुना, सूंघना, स्पर्श करना, चखना आदि क्रियाएँ बंद क्यों हो जाती हैं ? पंचमहाभूतों की मौजूदगी में तो वह बंद नही होनी चाहिए ? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आत्मा नामक चेतनाशक्ति का जनक सजीव पदार्थ वहाँ नही रहा ; इसलिए शरीर में कोई क्रिया नही होती। इस अनुमान से आत्मा का शरीर से पृथक् अस्तित्व सिद्ध होता है।

दूसरे प्रमाण—मैं सुखी हूं, मैं ज्ञानवान हूं, मैं मूर्ख हूं, इत्यादि अनुभव द्वारा आत्मा स्वयं सिद्ध है। यह अनुभव शरीर को नही होता। अगर शरीर को यह अनुभव होता हो तो मृत शरीर में पांच महाभूतों के रहते हुए भी क्यों नही होता ? अतः मृत शरीर में सुख, दुःख, ज्ञान आदि आत्मीय गुणों का अभाव ही दिखाई देता है।

जो जिसके गुण होते हैं, वे उस गुणी के साथ ही रहते हैं। जैसे मिट्टी के रूप, र
गन्ध आदि गुण हमेशा मिट्टी के साथ ही रहते हैं, वैसे ही अगर सुख, दुःख, ज्ञ
आदि गुण शरीर के होते तो सदा उसके साथ ही रहते। परन्तु मृत शरीर के म
ये गुण नहीं रहते। इससे सिद्ध होता है कि ये गुण शरीर के अतिरिक्त किसी दू
पदार्थ के हैं और वह दूसरा पदार्थ आत्मा ही है।

आत्मा की सिद्धि अनुमान प्रमाण से भी होती है—(१) एक ही माता-पि
से जन्मे हुए पुत्रों में तीव्र-मंद बुद्धि, सुख-दुःख, धनसम्पन्नता-निर्धनता आदि गुणों
अन्तर दिखाई देता है। ये सब बातें पूर्वजन्मगत शुभाशुभकर्मविशिष्ट आत्मा
माने बिना सिद्ध नहीं हो सकती। (२) चैतन्य पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों से उत्प
नहीं हो सकता; क्योंकि वह पंचमहाभूतों से भिन्न जाति का है। जो भिन्न जा
का है, वह भिन्न जाति वाले से उत्पन्न नहीं हो सकता। जैसे—पृथ्वी से भिन्न जा
वाले जलादि उत्पन्न नहीं हो सकते। वैसे पंच महाभूतों से चैतन्य भिन्न जाति का है
अतः वह उन पंच महाभूतों से उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि भिन्न जाति वाले पदार्थ
भिन्न जाति वाले पदार्थ की उत्पत्ति मानी जायगी तो पृथ्वी से जलादि की, और जला
से पृथ्वी की उत्पत्ति हो जानी चाहिए, पर ऐसा होता नहीं। इसलिए चैतन्यशक्तिविशि
आत्मा शरीर से भिन्न पदार्थ है। अन्य अनेक प्रमाणों से आत्मा की सिद्धि की
सकती है। परन्तु हम ग्रन्थविस्तार के भय से इस विषय को यहीं समेट लेते हैं।

इन प्रमाणों से आत्मा की सिद्धि हो जाने पर नास्तिकवादियों के मत
असत्यता स्पष्ट प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त पुनर्जन्म या परलोकगमन तथा इहलोक-आगमन के प्रत्य
प्रमाण भारतवर्ष में पहले भी और अब भी मिले हैं। ऐसे कई बालकों का पता ल
है, जिन्हें अपने पूर्वजन्म के माता-पिता, पत्नी, घर, पड़ौसी, लेनदेन आदि
बातों का स्मृतिज्ञान था, और उनके बताए हुए स्थान पर जा कर पता लगाने
वे सब बातें सत्य मालूम हुई हैं। इसके अतिरिक्त अनुमान प्रमाण भी देखिये—ज
रोते ही बालक को माता के स्तनपान आदि का ज्ञान होता है, वह उस समय
सिखाया ही नहीं गया था, न गर्भ में ही सिखाया गया था। अतः वह ज्ञान पूर्वज
के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

इस प्रकार नास्तिकवादियों द्वारा जीव के इह-परलोक-गमन के निषेध
असत्यता सिद्ध हो गई।

इसी प्रकार पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मबन्ध तथा उसके सुख-दुःखरूप फल
अस्तित्व के विषय में प्रमाण देखिये—संसारी जीवों में हम अनेक प्रकार की भिन्न
देखते हैं, उसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। बिना कारण के कोई

कार्य नही होता। एक सुखी है, एक दुःखी है, एक मदबुद्धि है, एक तीव्रबुद्धि है। कोई स्वस्थ है,कोई रोगी है,कोई बिना परिश्रम किये अपार धनराशि का उपभोक्ता बना हुआ है, दूसरा दिन-रात अथक मेहनत करने पर भी अपना पेट भी नही भर पाता,कोई मंत्री के पद पर है, और कोई उसी के दफ्तर मे चपरासी है। ये सब विषमताएँ या विचित्रताएँ निःसदेह पूर्वकृत शुभ-अशुभ कर्मबन्ध को सूचित करती हैं। इसी प्रकार दो सहोदर भाइयों के एक ही धनसम्पन्न घर मे पैदा होने पर भी दोनों के जीवन मे अन्तर दिखाई देता है। एक स्वस्थ व्यक्ति लाभान्तराय कर्म के टूटने से प्राप्त धन और साधनो का भलीभाति उपभोग कर रहा है, दूसरा घर में धन होते हुए भी चिरकाल से रोगी रहने के कारण धन और साधनों का उपभोग नही कर पाता। एक भाई मंदबुद्धि होने के कारण पढाये जाने वाले विषय को तुरन्त समझ नहीं पाता ; जबकि दूसरा भाई तीव्रबुद्धि होने से पढाये जाने वाले विषय को आसानी से ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार के दिखाई देने वाले प्रत्यक्ष फल व उनमें अन्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सब पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म (पुण्य-पाप) के फल हैं, जिनका बन्ध पूर्वजन्मों मे हुआ है।

इस प्रकार नास्तिकवादियों के द्वारा पुण्यपापकर्मरूप बन्ध एवं उनके फल के निषेधरूप कथन की असत्यता स्पष्ट सिद्ध हो चुकी।

पंच य खंधे भणंति केइ—इसके बाद बौद्धमतावलम्बियों की चर्चा करते हैं। बौद्धमतावलम्बी ५ स्कन्ध मानते हैं—रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार। पृथ्वीजल आदि तथा रूपरस आदि को रूपस्कंध कहते हैं। सुखरूप, दु.खरूप तथा दुःख-सुख-उभयरूप जो अनुभव होता है; उसे वेदनास्कन्ध कहते हैं। रूप, रस आदि का जो ज्ञान होता है, उसे विज्ञानस्कन्ध कहते है। संज्ञा के निमित्त से वस्तु का जो भान होता है, उसे संज्ञास्कन्ध कहते हैं और पुण्यपाप आदि धर्म-समुदाय को संस्कार-स्कन्ध कहते हैं। इन पाच स्कन्धों के अलावा आत्मा नाम का कोई पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता।

मणं च मणजीविका वदंति—बौद्धों मे सौत्रान्तिक, वैभाषिक, माध्यमिक और योगाचार—ये ४ दार्शनिक मत हैं। इन चारों में से एक मत वाले इन पूर्वोक्त ५ स्कन्धों के अतिरिक्त मन को और मानते हैं, और कहते है—यह मन ही रूपादि के ज्ञान का उपादान कारण है। इसी मन के आधार पर वे परलोक मानते है। उनके मत से मन ही जीव है। मन के अतिरिक्त जीव का कोई अलग अस्तित्व नही है। इसीलिए वे मनोजीव या मनोजीविका कहलाते हैं।

बौद्धमत की असत्यता—बौद्धों के इन दोनों मतो की असत्यता तो आत्मा की

सिद्धि के लिए पहले दिये गए प्रमाणों से स्पष्ट हो जाती है। इस विषय में विशेष स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं।

जो बौद्ध मन को ही जीव मानते हैं, उनके मत से परलोकगमन सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि मन का तो शरीर के साथ ही नाश हो जाता है, फिर परलोक मे कौन जाएगा? यदि यह कहा जाय कि सूक्ष्म मनःसंतान परलोक मे जाती है तो प्रश्न उठेगा कि वह मनःसंतान नित्य है या क्षणिक? यदि क्षणिक है तो वही पूर्वोक्त दोष (परलोकगमन की असिद्धि) अब भी बना रहा। यदि कहें कि मन.संतान नित्य है तो उनके मतानुसार 'सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं' यह प्रतिज्ञा भंग होती है। और फिर आत्मा और नित्य मन में कोई अन्तर नही रहा। आपने केवल नाम दूसरा रख लिया, इतना ही अन्तर हुआ। इस प्रकार 'मन ही जीव है' इस मत की असत्यता समझ लेनी चाहिए।

वाउ जीवोत्ति एवमाहंसु—कई दार्शनिकों का कहना है कि श्वासोच्छ्वास की वायु (प्राणवायु) ही जीव है। जब तक श्वास चलता रहता है, तब तक जीवन है और जब श्वास बंद हो जाता है, तब मृत्यु हो जाती है। इसके सिवाय परलोक में जाने वाला कोई आत्मा नही है।

यह मत भी असत्यपूर्ण है; क्योंकि श्वासादि वायु जड है और आत्मा चैतन्यस्वरूप है। जड़ वायु को चैतन्यगुण वाला आत्मा कैसे माना जा सकता है? इसके सिवाय श्वास व उच्छ्वास दोनों शरीर के साथ रहने वाले हैं। शरीर के नाश होने के साथ ही इनका नाश हो जाता है। बल्कि कई बार तो शरीर के नष्ट होने से पहले ही ये बंद हो जाते हैं। शरीर के नष्ट होने से पहले जब श्वासोच्छ्वास चलना बंद हो जाता है तो उस समय ऑक्सिजन (प्राणवायु) नाक मे चढ़ाया जाता है, फिर भी उस प्राणवायु—(श्वासवायु) से मनुष्य जीवित नही होता। अतः श्वासोच्छ्वासवायु को जीव मानने का कथन असत्य सिद्ध हो जाता है।

सरीरं सादियं सनिधणं ... सव्वनासोत्ति कई दार्शनिकों का यह कथन है कि शरीर आदिमान है; क्योंकि यह उत्पन्न होता है। जो-जो उत्पन्न होते हैं वे सब पदार्थ सादि होते हैं, जैसे घटपटादि। शरीर भी उत्पन्न होता है, इसलिए सादि है। जिसकी आदि है, उसका अन्त भी होता है। शरीर सादि है, इसलिए इसका नाश भी होता हम देखते हैं। शरीर नाशवान होने से वह परलोक मे साथ नहीं जाता। इसलिए विविध प्रकार से शरीर के यही इसी जन्म में नष्ट होते ही सभी चीजों का यहीं नाश हो जाता है। मतलब यह यह है कि शरीर जब यहीं नष्ट हो जाता है तो वह परलोक में नही जाता और न ही शुभाशुभ कर्मबन्ध कुछ शेष रहे और न उनका फल

भोगना बाकी रहा। शरीर के खत्म होते ही पुण्य-पापकर्म का बन्ध और उनका शुभाशुभ फल भी यही समाप्त हो गए ! कितनी विचित्र मान्यता है !

इस मत की असत्यता—अगर शरीर यही नष्ट हो जाता हो और उसके साथ ही पुण्यपाप कर्म और उनके फल नष्ट हो जाते हों, तब तो किसी को भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना करने की जरूरत ही नहीं और न अहिंसा-सत्यादि का पालन करने की ही जरूरत है ! फिर तो बेखटके मनमानी प्रवृत्ति ही मनुष्य करे ? परन्तु यह मत अनेक प्रमाणों से खण्डित हो जाता है। हम पहले शरीर से भिन्न अनुगामी नित्य आत्मा की एव पुर्वजन्म, तथा पुण्यपाप के फल की बातें अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर आए हैं ; अतः उन्ही पर से इस मत की असत्यता समझ लेनी चाहिए।

तम्हा दाणवय नत्थि फलं ··· वामलोगवादी—इन्हीं पूर्वोक्त दार्शनिकों का यह घोर नास्तिकवादी मत है कि "दान, व्रत, तप, पौषध, संयम, ब्रह्मचर्य आदि अर्थात् कल्याण के हेतु त्रिकरण-त्रियोग से ज्ञान-दर्शनचारित्रादि का आचरण करने पर भी उनका कोई सुफल कर्मक्षयरूप या सुगतिगमनादिरूप नही है। तथा प्राणातिपात, मृषावाद, चोरी, परस्त्रीगमन, परिग्रहसेवन तथा अन्य कोई भी पापकर्म अशुभ फल के हेतु नही है, ये सब कपोलकल्पित है। नारकों, तिर्यञ्चों व मनुष्यों की योनियाँ या देवलोक नहीं हैं, सिद्धि (मोक्ष) गमन भी नहीं है। माता-पिता भी नहीं होते। न पुरुषार्थ है, न प्रत्याख्यान है, न काल है, न मौत है ; न अरिहंतों, चक्रवर्तियो, बलदेवों या वासुदेवों का कोई नामोनिशान है, न ही किन्हीं ऋषि-मुनियों का अस्तित्व है; धर्माधर्म का फल भी थोड़ा या बहुत कुछ भी नही है। इसलिए ऐसा जान कर इन्द्रियों के अनुकूल तमाम विषयो में खूब डट कर प्रवृत्ति करो। कोई भी शुभ क्रिया या निन्दनीय अक्रिया नही है। लोक का विपरीतस्वरूप बताने वाले नास्तिकवादी इस प्रकार कहते हैं।

नास्तिकवादी अपने मत का समर्थन इस आधार पर करते हैं—कि दान, ब्रह्मचर्य आदि सब कल्याणकारी धर्म के अंग तो आस्तिकों ने माने है, हम तो उन्हें नही मानते। इनके मानने मे कोई प्रमाण भी नही है। जो आस्तिकों द्वारा प्रमाण दिये जाते है, उन सब मे परस्पर विरोध है। इसलिए प्रत्यक्ष दर्शन के अभाव में सब अप्रमाण हैं।

अपने मत की पुष्टि करते हुए वे आगे कहते हैं—**जंपि इह किंचि दीसइ सुकयं वा दुकयं वा एयं जदिच्छाए वा सहावेण वावि दइवतप्पभावओ वावि भवति। नत्थेथ किंचि कयकं तत्तं लक्खणविहाणं नियतीए कारियं।"** अर्थात् इस जीव लोक में जो भी सुकृत या दुष्कृत दिखाई देता है, वह अपने-आप ही (यदृच्छा से) होता है, या स्वभाव से होता है, अथवा कभी-कभी दैव के प्रभाव से होता। इस संसार मे कोई भी

चीज किसी के द्वारा रचित नहीं है, पदार्थों के जो भी स्वरूप या प्रकार हैं, वे सब नियति के द्वारा किये गए हैं।

जैसाकि उन्होंने पहले कहा था कि तप,जप, संयम आदि या पुरुषार्थ, प्रत्याख्यान आदि कुछ भी नहीं हैं। जब कोई उनसे पूछता है कि यह जो पुरुषार्थ, त्याग, प्रत्याख्यान आदि किये जाते हैं, ये क्या हैं ? तो वे कहते है—इस संसार में जो कुछ होता है, वह अपने आप है, अपनी इच्छा से होता चला जाता है। अथवा यह सब पदार्थों के अपने-अपने स्वभाव के अनुसार होता चला जाता है। कोई इनको करता-कराता नहीं है। अथवा अपने-अपने समय के अनुसार सब होता चला जाता है।

कहा भी है—

> कण्टकस्य प्रतीक्ष्णत्वं मयूरस्य विचित्रता।
> वर्णाश्च ताम्रचूडानां स्वभावेन भवन्ति हि ॥

अर्थात्—कांटे में तीखापन, मोर का रंगविरंगा चित्रित शरीर, मुर्गों के शरीर पर अनेक रंग, ये सब स्वभाव से होते है।

इसी प्रकार जो पुरुषार्थ, त्याग या पुण्य-पाप के फल हैं, वे भी स्वभाव से ही होते चले जाते हैं। अथवा दैव के प्रभाव से भी कभी-कभी ये सब दिखाई देते हैं। यदि कोई उनसे पूछे कि सुखी-दुःखी, धनी-निर्धन आदि जो विचित्रताएँ या विविधताएँ संसार के जीवों में दिखाई देती हैं, ये किस कारण से हैं ? दैव या स्वभाव से अगर ये होते हो तो सभी मनुष्यों के एक सरीखे होने चाहिए, जैसे मोर आदि सब में एक सरीखे डिजाइन, आकृति व रंग होते है, फिर मनुष्यों के जीवन में यह अन्तर क्यों ? इसके उत्तर के लिए वे नियति का पल्ला पकड़ लेते हैं कि जो सुख-दुःख या धनी-निर्धन आदि विविधताएँ दिखाई देती हैं, वे सब नियतिकृत हैं; होनहार से या भवितव्यता से ही होती हैं। कहा भी है—

> "प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः,
> सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
> भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने,
> नाभाव्यं भवति, न भाविनोऽस्ति नाशः ॥"

मनुष्यों को नियति (भवितव्यता—होनहार) के बल पर जो शुभ या अशुभ पदार्थ मिलना होता है, वह अवश्य ही मिल कर रहता है। प्राणियों के जीतोड़ प्रयत्न करने पर भी जो बात नहीं होनी होती है, वह कदापि नहीं होती और जो होने वाली होती है, उसका कभी नाश नहीं होता। यानी उसे कोई रोक नहीं सकता; वह हो कर ही रहती है।

इस दृष्टि से पुरुषार्थ, त्याग, प्रत्याख्यान आदि या चोरी, जारी आदि जो होने

होते है, वे हो कर ही रहते है। नियति अपने आप चलती है, उस पर किसी का प्रतिबन्ध नही। जब नियति के प्रभाव से संसार में तथाकथित शुभ या अशुभ कार्य होते हैं, तब फलाफल की बात ही क्यों ? किसी अच्छी-बुरी क्रिया का स्वयमेव कोई अस्तित्व ही नहीं है, तो उसके फलाफल देने की तो बात ही नही उठती। और न उनके फल को भोगने के लिए कोई परलोक में जाता है और न यहाँ आता है। न तथाकथित पाप-पुण्य कर्मों का फल किसी को मिलता है। न कोई तथाकथित पुण्य के फलस्वरूप तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव या वासुदेव बनते हैं और न कोई ऋषि—मुनि ही होते है। यह सब आस्तिकों की अपनी कल्पनामात्र है। जैसा होनहार होता है, वैसा ही मनुष्य हो जाता है। माता-पिता का विशेष सम्बन्ध भी झूठा और कल्पित है। यह सृष्टि स्वभावत बढती जाती है। एक प्राणी से अपने समान दूसरा प्राणी उत्पन्न होता है। उन दोनों का सम्बन्ध माता-पिता एवं सन्तान का न हो कर सिर्फ जन्यजनकसम्बन्ध हैं। और यह सम्बन्ध चेतन और अचेतन दोनों में हम समानरूप से देखते हैं। जैसे सचेतन मनुष्यादि के सम्बन्ध से सचेतन जुँए, खटमल आदि पैदा हो जाते हैं, वैसे ही उनसे अचेतन मलमूत्र आदि भी उत्पन्न होते हैं और अचेतन काठ से घुन, कीड़े आदि सचेतन पदार्थ जन्म लेते है। उसी प्रकार अचेतन बुरादा (चूर्ण) आदि भी उससे पैदा होता है। इसलिए पदार्थों का केवल जन्यजनकभाव सम्बन्ध है; मातृत्व-पितृत्व और पुत्र-पुत्रीत्व आदि कोई विशिष्ट सम्बन्ध नही हैं। इसलिए माता-पिता कहे जाने वाले व्यक्तियों का अपमान, भोग या विनाश आदि करने मे कोई दोष नहीं है। नास्तिकवादी आगे कहते हैं कि 'लोग धर्मप्राप्ति के लिए त्याग, प्रत्याख्यान या अहिंसादि का पालन करते हैं; परन्तु जब धर्म ही सिद्ध नहीं होता तो त्याग आदि का व्यर्थ कष्ट सहना आकाश में फूल लगाकर उसकी सुगन्ध लेने की आशा के समान निष्फल है। जब दान, परोपकार आदि पुण्य या त्याग, प्रत्याख्यान, अहिंसा-सत्यादि धर्म अथवा इनसे विपरीत चोरी, जुआ, परस्त्रीगमन आदि पाप और मिथ्याभाषण आदि अधर्म ही सिद्ध नही है तो उनके फल के चक्कर में भी पड़ना व्यर्थ है। जब पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म आदि भी हैं नही, तो इनका फल कहाँ से मिल जाएगा ?'

इसी तरह वे कहते हैं कि काल नाम की कोई चीज नही है। अगर काल नामक कोई द्रव्य हो तो वह उपलब्ध होता। परन्तु जब उनके सामने यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि अगर काल न होता तो वसन्तऋतु आने पर पतझड़ हो कर जो नये पत्ते और फूल आदि निकल आते है, वर्षाऋतु आते ही जो वर्षा शुरू हो जाती है, ग्रीष्मऋतु मे जो भूमि, हवा आदि गर्म होकर सारा वातावरण उष्णता से व्याप्त होता है, शीतऋतु आते ही सर्वत्र शीतलहरी जो चल पड़ती है, प्राणी ठंड के मारे ठिठुरने लगते हैं, यह सब क्या है ? क्या काल के बिना यह सब हो सकता है ? इसके उत्तर

में वे कहते हैं—यह सब उन वस्तुओं का स्वभाव ही है। वस्तुस्वभाव के अतिरिक्त काल नाम की कोई चीज नही दिखाई देती।

इसी प्रकार मृत्यु भी कोई चीज नहीं है। चूँकि आस्तिक लोग परलोकगमन को मृत्यु कहते है। जब जीव ही नहीं है, तब परलोक में गमन किसका होगा? किसकी मृत्यु होगी? और परलोक का भी तो कोई अतापता नहीं है। इसलिए मृत्यु भी सिद्ध नही होती।

अथवा 'कालमच्चू' को एक शब्द माना जाय तो अर्थ है—कालक्रम से आयुष्य का क्षय हो जाने पर जो मृत्यु होती है; वह कालमृत्यु है। ऐसी कालमृत्यु भी तब सिद्ध हो, जब पहले आयुकर्म सिद्ध हो जाय। जब आयुष्यकर्म का ही पहले पता नही है तब क्षय किसका माना जाय? अतः कालमृत्यु भी कोई चीज नही है।

उन नास्तिकवादियों से जब यह पूछा जाता है कि जब ये सब चीजें नहीं हैं, पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म, जीव, काल, मृत्यु, पुनर्जन्म, स्वर्ग,नरक, मोक्ष, त्याग, प्रत्याख्यान आदि सब बातों का कोई अस्तित्व नही है तो फिर क्या किया जाय, जिससे जीवन सुखी रहे? इसके उत्तर मे वे इन्द्रियों एवं विषयों के गुलाम नास्तिकवादी कहते हैं—'तम्हा एवं विजाणिऊण जहा सुबहु इंदियाणुकुलेसु सव्वविसएसु वट्टह' यानी पूर्वोक्त सब बातें अस्तित्वहीन हैं, यह जान कर इन्द्रियानुकूल सभी विषयों में खूब अच्छी तरह प्रवृत्ति करो। चार्वाकदर्शनकार की भाषा में इसी बात को स्पष्ट कर देते हैं—

'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥'

'जब तक जीओ सुख से जीओ,पास में पैसा न हो तो कर्ज ले कर भी घी पीओ। यानी खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ। शरीर के निर्जीव होते ही यह जला दिया जायगा। शरीर के साथ ही आत्मा भी यहीं जल जायगी। फिर न कहीं जाना है और न कहीं से वापिस आना ही है। राख बने हुए शरीर का फिर लौट कर इस शरीर में जन्म लेना कैसे संभव है? आस्तिक लोगों ने पुण्य-पाप, स्वर्गनरक की व्यर्थ की कल्पना करके संसार को दुःख में डाल रखा है। सुख का राजमार्ग तो यही है! अतएव किसी धर्मभीरु नारी को सम्बोधित करते हुए ये अपनी मनमानी कल्पना के अनुसार कहते हैं—

'पिब खाद च चारुलोचने!, यदतीतं वरगात्रि! तन्न ते।
नहि भीरु! गतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥''

अर्थात्—हे सुनयने! खूब अच्छी तरह से खाओ, पीओ और आनन्द करो, हे सुन्दरि! जो कुछ बीत गया, वह तेरे हाथ से निकल गया। जो चला गया वह

लौट कर नही आता ! अरी ! धर्मभीरु ! डर मत । यह शरीर तो सिर्फ पंचभूतों का पुतला है । इसके सिवाय आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है । न नरक है, न स्वर्ग है, न कही जाना है, न आना है । फिर चिन्ता और भीति किस बात की ?

नास्तिकवादियों के मत की असत्यता—सर्वप्रथम तो नास्तिकवादियों की दानादि पुण्यकर्म और अहिंसादि या त्याग प्रत्याख्यान वगैरह धर्म के अभाव की कल्पना ही निर्मूल है । क्योंकि संसार की या समाज की सुव्यवस्था, मानवसमाज के विकास, सुसंस्कारों की वृद्धि आदि के लिए तथा अपने जीवन को भौतिकता से ऊपर उठा कर आध्यात्मिकता की भूमिका पर लाने के लिए इन सब वस्तुओं को माने बिना कोई चारा नही । धर्म, ईश्वर को न मानने वाले वर्तमानकालिक साम्यवादी भी राष्ट्र की सुव्यवस्था के लिए धर्म-पुण्य के उपर्युक्त सब अंगों का जनता में होना अनिवार्य मानते है । जैसे शासनव्यवस्था में दण्ड की अनिवार्य आवश्यकता रहती है, उसके बिना अराजकता और आपाधापी ही फैलती है; जो सारी सृष्टि या राष्ट्र की सुव्यवस्था के लिए खतरनाक है । वैसे ही धार्मिक जगत् में भी अगर सबको चोरी, व्यभिचार आदि पापों के करने की छूट दे दी जाय और उसका कोई भी दण्ड न मिले तो मनुष्य दानव, राक्षस और पशु बन जायगा । समाज में किसी प्रकार की सुव्यवस्था नही रहेगी । इसलिए यहाँ भी दण्डव्यवस्था जरूरी है । वह भयंकर पापकर्म करने वालो के लिए नरक-तिर्यञ्च-योनि में गमन के रूप में है । और अच्छे कार्य करने वालों को पारितोषिक के रूप में स्वर्ग या मनुष्यलोक की प्राप्ति है । जो निःस्वार्थभाव से आत्मशुद्धि के लिए त्याग, तप, संयम आदि का पालन करता है, वह सम्पूर्ण कर्मक्षय हो जाने पर सिद्धगति भी पाता है ; यह केवल कपोल-कल्पना नही, किन्तु एक अनिवार्य और ज्वलन्त तथ्य है । इसलिए त्याग-तप आदि तथा पुण्य-पाप, धर्माधर्म के फल, चार गतियों मे गमन, मोक्ष आदि तथ्यों को झुठलाया नहीं जा सकता ।

त्याग, तपस्या का फल इस लोक में मानव की प्रतिष्ठा, प्रशंसा, पूजनीयता तथा शारीरिक व मानसिक शान्ति के रूप में प्रत्यक्ष सिद्ध है । त्यागी महात्माओं के चरणों में राजा, महाराजा और चक्रवर्ती आदि भी नतमस्तक होते हैं और अपने को धन्य मानते है । परलोक में जाते समय भी त्यागी आत्मा के चेहरे पर प्रसन्नता होती है, और वहाँ भी अपने त्याग-तप का वह फल प्राप्त करता है । किन्तु जो व्यक्ति हिंसा, असत्य आदि पापाचरण में रत रहता है, उसकी आत्मा यहाँ भी सदा संक्लिष्ट रहती है, समाज में भी वह निन्दित और घृणित होता है, उसे हिकारतभरी दृष्टि से देखा जाता है । पापकर्मों और विषयो में आसक्त मनुष्य की इस लोक में कोई प्रशंसा या प्रतिष्ठा

नहीं करता । मरते समय भी उसके चेहरे पर अप्रसन्नता होगी, वह हायतोबा मचाते हुए इस दुनिया से कूच करेगा और आगे भी अपने दुष्कर्मों के अनुसार दुर्गति और कुयोनि में जन्म पा कर नाना प्रकार के दुःख भोगेगा। इसलिए प्रत्याख्यान, त्याग तप आदि तथा उनके फलस्वरूप देवलोक, मनुष्यलोक या सिद्धगति आदि के विषय में नास्तिकों की असत्यवादिता स्पष्टतः सिद्ध हो जाती है। सुक्रिया और दुष्क्रिया प्रत्यक्ष दिखाई देती है, "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषांन समाचरेत्' (जो अपने प्रतिकूल हो उसे दूसरों के प्रति भी न करो) इस न्याय के अनुसार व्यक्ति स्वयमेव इन दोनों का निर्णय कर सकता है।

नास्तिकवादियों का माता-पिता, ऋषिमुनि तथा अरिहन्त आदि का निषेध करना भी मिथ्या है। माता-पिता के साथ संतान का जन्यजनकभाव सम्बन्ध तो आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होने पर स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस सम्बन्ध के अलावा वे व्यवहार दृष्टि से पूजनीय भी सिद्ध होते हैं। जैसे कीचड़ से कमल और मेंढक की उत्पत्ति समान होने पर भी कमल आदरणीय समझा जाता है, वैसे ही माता-पिता संतान के अत्यन्त उपकारी होने से लोकपक्ष में पूजनीय माने जाते हैं। अगर नास्तिकवादी माता-पिता को न मानते तो उनकी दशा जंगली पशुओं से भी गईबीती होती। इतने सुसंस्कार, विद्या और कलाएँ या विकास के साधन,जो नास्तिकों को मिले हैं, वे कहाँ से मिलते ? इसी प्रकार जगत् के लिए उपकारी होने से ऋषि-मुनि और अरिहंत भी पूजनीय माने जाते हैं। जगत् पारस्परिक विनिमय के आधार पर चलता है, किन्तु साधुता—त्यागशीलता के आधार पर वह विकसित होता है। इसलिए जगत् में साधु-संतों या तीर्थंकरों के मार्गदर्शन की और उनसे धर्म-अधर्म के फल की प्रेरणा की आवश्यकता रहने से उनका अस्तित्व तो स्वतः ही सिद्ध है। चक्रवर्ती आदि राज्यशासन के नेताओं की भी संसार में आवश्यकता रहेगी ही। अगर राजा, चक्रवर्ती आदि का अस्तित्व नहीं माना जाएगा तो राष्ट्रव्यवस्था में गड़बड़ पैदा होगी, अराजकता फैल जायगी। जो मनुष्य नीति-धर्म के नियमों का उल्लंघन करके राष्ट्रीय कानूनों को तोड़ते हैं, दुर्बलों पर अत्याचार करते हैं, लूटपाट, चोरी, हत्या आदि कुकर्म करते हैं, उनको दण्ड देने वाला कोई नहीं रहेगा, तो सर्वत्र आपाधापी मच जायगी। इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए राज्यशासनकर्ता की अत्यन्त आवश्यकता है। यह एक तथ्य है। यह बात दूसरी है कि लोकतंत्रीय व्यवस्था में चक्रवर्ती राजा आदि की जरूरत न रहती हो, परन्तु शासक की तो जरूरत हर देश और हर काल में रहेगी ही, भले ही वे मंत्री, प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति के रूप में हों। इसलिए तमोगुणी तत्त्वों के दमन के लिए व व्यवस्था के लिए राज्यशासन के नेता के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। आगमप्रमाण से तो अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव,

वासुदेव व ऋषि आदि सिद्ध हैं। अतः नास्तिकवादियों का यह सारा कथन असत्यपूर्ण है।

स्वभाववादियों की असत्यवादिता—स्वभाववादियों का यह कथन भी असत्य है कि दुनिया की सभी विविधताएँ या विचित्रताएँ स्वाभाविक हैं। कर्मों के निमित्त से उत्पन्न नहीं हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि वह स्वभाव जीव आदि पदार्थों से भिन्न है या अभिन्न ? यदि वह जीवादि से भिन्न है, तब तो विविध शुभाशुभ क्रियाओं से उत्पन्न कर्म ही सिद्ध होता है। यदि उसे जीवादि पदार्थों से अभिन्न मानते है तब तो वह जीवादि-स्वरूप ही हुआ। अतः जीव आदि पदार्थों से भिन्न कोई स्वभाव सिद्ध नहीं होता। स्वभाववादियों के मत से मोर के शरीर पर रंगबिरंगी विचित्रता आदि अकारण ही सिद्ध नहीं होती। क्योंकि कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं हो सकता। विचित्रतारूप कार्य भी मोर के पूर्वकृत कर्मों के कारण हुआ है। अगर बिना कारण के कार्य का होना माना जाय तब तो वन्ध्या के पुत्र और आकाश के फूल भी हो जाने चाहिएँ। अतः स्वभाववाद अनेक दोषों से युक्त होने से असत्य है।

नियतिवादियों की असत्यता—नियतिवादियों का यह कथन भी मिथ्या है कि सभी कार्य नियति-होनहार के बल से होते हैं, पुरुषार्थ करना निष्फल है। यदि मनुष्य होनहार के भरोसे हाथ पर हाथ धर कर बैठा रहे तो वह भूखों मर जायगा। पुरुषार्थ से ही सब काम सिद्ध होते है। किसान समय पर भूमि को जोते नही एवं बीज नही बोए तो क्या उसे नियति अनाज दे देगी ? कदापि नही देगी। उद्योगी विद्यार्थी अध्ययन करके प्रखर विद्वान् बन जाते हैं, जबकि होनहार के भरोसे आलसी बन कर बैठे रहने वाले मूर्ख ही रहते हैं। इसलिए पुरुषार्थ का परिणाम तो सर्वत्र प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, दिखाई दे रहा है, अतः इसे निष्फल बताना मिथ्या है।

काल और मृत्यु का निषेध भी असत्यकथन है—काल और मृत्यु दोनों कुछ नहीं हैं, इस प्रकार का नास्तिकवादियों का कथन भी असत्यप्रलाप है। क्योंकि काल और मृत्यु दोनों प्रमाण से सिद्ध होते हैं। संसार में जितने भी कार्य होते हैं, उनके उपादानकारण के सिवाय प्रधान और अप्रधान दो निमित्तकारण भी होते है। जैसे घड़े का प्रधान निमित्तकारण कुम्हार और अप्रधान निमित्तिकारण मिट्टी ढोने वाला गधा आदि है, वैसे ही संतानोत्पत्ति मे प्रधान निमित्तकारण स्त्री-पुरुष-संयोग होने पर भी अप्रधान निमित्तकारण काल की अपेक्षा रहती है। कई वनस्पतियों को जल आदि का निमित्त मिलने पर भी ऊगने और फलने-फूलने के लिए काल की अपेक्षा रहती है। अतः सिद्ध हुआ कि काल एक स्वतंत्र द्रव्य है। बालक, युवक, वृद्ध आदि अवस्थाएँ भी कालकृत ही है। नूतन और पुरातन पर्यायों की सिद्धि भी काल को माने बिना नहीं हो सकती। ऋतुओं का अपने-अपने समय पर ही कार्य करना काल-

कृत ही है। काल की सिद्धि के लिए ज्वलन्त प्रमाण यह है कि किसी भी द्रव्य की पर्यायें उस द्रव्य को छोड़ कर नही रह सकतीं। मिनट, घड़ी, पहर, घण्टा, दिन, रात आदि काल की पर्यायें है, इसलिए उन पर्यायों का धारण करने वाला काल भी उनके साथ हो रहेगा। इस प्रकार कालद्रव्य के बारे में नास्तिकों का निषेधात्मक कथन असत्य सिद्ध होता है। मृत्यु भी आयुष्यकर्म से सम्बन्धित है। आयुकर्म का प्रतिसमय क्षय होता रहता है। जब पूर्ण क्षय हो जाता है, तभी मृत्यु हो जाती है। इसलिए, मृत्यु तो प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु है, उसका अपलाप करना मिथ्या है।

जगत् की रचना के सम्बन्ध में विविध दार्शनिकों के मत—जगत् की उत्पत्ति या रचना के सम्बन्ध मे भी अनेक मत हैं। सर्वप्रथम शास्त्रकार पौराणिक मत का उल्लेख करते हैं—'संभूतो अंडकाओ लोगो'—यानी 'यह सम्पूर्ण लोक अंडे से उत्पन्न हुआ है।' 'ब्रह्माण्डपुराण' में कहा है कि पहले जगत् पंचमहाभूतों (पृथ्वी आदि) से रहित था। वह एक गभीर महासमुद्ररूप था, इसमें केवल जल ही जल था। उसमें एक विशाल अंडा प्रादुर्भूत हुआ। चिरकाल तक वह अंडा लहरों में इधर-उधर बहता रहा। फिर यह फूटा। फूटने पर उसके दो टुकड़े हुए। एक टुकड़े से भूमि और दूसरे से आकाश बना। बाद में उसमें से सुर (देव), असुर (दानव), मनुष्य, चौपाये पशु-पक्षी आदि सम्पूर्ण जगत् पैदा हुआ। इस प्रकार उस अंडे से बना हुआ ही यह जगत् (लोक) है।

सयंभुणा सयं च निम्मिओ—दूसरे पौराणिकों का मत है कि यह जगत् स्वयं ब्रह्माजी ने बनाया है। उनका मत इस प्रकार है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥१॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूते नष्टस्थावरजंगमे।
नष्टामरनरे चैव, प्रनष्टे राक्षसोरगे ॥२॥
केवलं गह्वरीभूते महाभूतविवर्जिते।
अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र शयानस्तप्यते तपः ॥३॥
तत्र तस्य शयानस्य, नाभेः पद्मं विनिर्गतम्।
तरुणार्कबिम्बनिभं, हृद्यं कांचन-कर्णिकम् ॥४॥
तस्मिन् पद्मे भगवान् दण्डयज्ञोपवीतसंयुक्तः।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्नस्तेन जगन्मातरः सृष्टाः ॥५॥
अदितिः सुरसंघानां, दितिरसुराणां, मनुर्मनुष्याणाम्।
विनता विहंगमानां, माता विश्वप्रकाराणाम् ॥६॥
कद्रुः सरीसृपानां, सुलसा माता च नागजातीनाम्।
सुरभिश्चतुष्पदानामिला पुनः सर्वबीजानाम् ॥७॥

अर्थात्—"पहले यह जगत् घोर अन्धकारमय था। बिल्कुल अज्ञात, अलक्षण, अतर्क्य तथा अविज्ञेय था। मानो वह सर्वथा सोया हुआ था। वह केवल एक समुद्र के रूप में था। उसमें स्थावर, जंगम, देव, मानव, दानव, उरग, भुजंग आदि कोई भी नहीं था; सब के सब प्राणी नष्ट हो गए थे। पृथ्वी आदि महाभूत तथा पर्वत, वृक्ष आदि से वह संसार रहित था। वह केवल गह्वररूप था। वहाँ मन से भी अचिन्त्य विष्णु सोये हुए तपस्या कर रहे थे। वहाँ सोये हुए विष्णु की नाभि से एक कमल निकला। जो तरुण सूर्यबिम्ब के समान तेजस्वी, मनोहर और सोने की कर्णिका वाला था। उस कमल में से दण्ड और यज्ञोपवीत से युक्त भगवान् ब्रह्म उत्पन्न हुए, जिन्होंने ८ जगदम्बाएँ (जगत् की माताएँ) बनाईं—दिति, अदिति, मनु, विनता, कद्रु, सुलसा, सुरभि और इला। दिति ने दैत्यों को, अदिति ने देवगणों को, मनु ने मनुष्यों को, विनता ने समस्त प्रकार के पक्षियों को, कद्रु ने सरीसृपों (सब सर्पों) को, सुलसा ने नागजातियों को, सुरभि ने चौपायों को और इला ने समस्त बीजों को उत्पन्न किया।"

दोनों पौराणिक मतों की असत्यता—(१) अंडे से जगत् की उत्पत्ति बताने वालों से पूछा जाय कि कि जब जगत् पंचमहाभूतों से रहित था, जब उसमें कोई भी चीज नहीं थी, तब अंडा कहाँ से आया? और पानी भी कहाँ से आया? यदि यह कहें कि अंडा और पानी पहले से थे और उनके सिवाय वहाँ और कोई चीज नहीं थी, तो भूमि और आकाश ये दो महाभूत कहाँ से टपक पड़े? और बाद में आपके ही मतानुसार पंचमहाभूतों के अभाव में देव, दानव, मानव और पशु-पक्षी कहाँ से पैदा हो गए? अतः ये सब उटपटांग कल्पनाएँ प्रमाणबाधित होने से असत्य हैं। (२) विष्णु द्वारा सृष्टिरचना मानने वालों से पूछा जाय कि सृष्टि रचने से पहले जब कुछ भी नहीं था, तो विष्णु कहाँ रहे? यदि कहें कि जल था, तो प्रश्न होता है—जल को किसने बनाया? यदि कहें कि उसे किसी ने नहीं बनाया, स्वयमेव अनादिकाल से निर्मित है; तब पृथ्वी आदि पदार्थों को भी अनादिकाल से स्वयनिर्मित क्यों न मान लिया जाय? विष्णु ने तपस्या की इससे सिद्ध होता है कि विष्णु भी कर्मविशिष्ट थे, शक्तिहीन थे। इसलिए कर्मक्षय करने के लिए एवं शक्तिसम्पादन करने के लिए उन्होंने तप किया। इस प्रकार विष्णु भी हमारे ही समान कर्मविशिष्ट, अल्पज्ञ और असमर्थ सिद्ध होते है!

कोई भी वस्तु केवल इच्छा करने से या ज्ञानमात्र से नहीं उत्पन्न हो जाती, उसके लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता प्रतीत होती है। थोड़ी देर के लिए हम यों मान लें कि विष्णु में इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न तीनों सृष्टिरचना के लिए थे, तो भी उपादानकारण के बिना कार्य कदापि नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तु का उपादान कारण पहले सिद्ध होना चाहिए। जब विष्णु ने ब्रह्मा को पैदा किया और ब्रह्मा ने

आठ माताएँ बनाईं तथा उन माताओं ने देव,दानव आदि को जन्म दिया, तब विष्णु, ब्रह्मा आदि ने क्या उनके शरीर और आत्मा दोनों को पैदा किया या केवल शरीर को ही ? यदि आत्मा को पैदा किया तो उसका उपादानकारण कौन था ? यदि कहें कि उनकी आत्माएँ तो पहले से ही थीं तो प्रश्न होता है, उन आत्माओं को किसने बनाया ? इत्यादिरूप में उत्तरोत्तर इसी प्रकार प्रश्नों की झड़ी एक के बाद एक लगी रहेगी; अतः इसमें अनवस्थादोष उपस्थित होगा। यदि कहें कि विष्णु, ब्रह्मा आदि ने तो सिर्फ उनके शरीर को ही बनाया, उनकी आत्माएँ तो अनादिकाल से थीं; तब हम पूछते हैं कि उन आत्माओं के साथ कर्म लगे हुए थे या नहीं ? यदि कहें कि कर्म लगे हुए नहीं थे, वे तो बिलकुल शुद्ध, कर्मरहित थीं, तब तो उनके साथ कर्म लगा कर उन्हें अशुद्ध करके संसार में विविध योनियों में जन्म देने वाले विष्णु, ब्रह्मा आदि दयालु कैसे हो सकते हैं ? दूसरों को घोर संकट में डालने वाले दयालु, पूज्य और महान् भी कैसे हो सकते हैं ?

दूसरा प्रश्न इस सम्बन्ध में यह होता है कि विष्णु ने सृष्टिरचना क्यों की ? स्वभाववश की ? क्रीड़ावश की ? इच्छावश की ? या दयालुता से प्रेरित हो कर की ?

यदि स्वभाववश सृष्टिरचना मानें तो यह यथार्थ नहीं है। क्योंकि स्वभाव से जो कार्य होता है, वह सदा होता है, एकसरीखा होता है। जैसे अग्नि स्वभाव से ही दाह उत्पन्न करती है, जब तक अग्नि रहेगी, तब तक दाह उत्पन्न करती रहेगी। इसी प्रकार विष्णु को भी सदा सतत ब्रह्मा आदि की एक-सी उत्पत्ति करते रहना चाहिए। परन्तु ऐसा आप नहीं मानते। विष्णु तो ब्रह्मा को पैदा करके शान्त हो गए। अत. स्वभाव से सृष्टिरचना मानना ठीक नहीं। यदि क्रीड़ावशात् विष्णु ब्रह्मा आदि को बनाते हैं तो क्रीडा तो क्षुद्र प्राणी किया करते हैं। विष्णु तो परमात्मा और आनन्दमय माने जाते हैं, उन्हें क्रीड़ा करने की आवश्यकता ही क्यों पड़ी ? यदि वे अपनी इच्छावश जगत् की रचना करते है तो इच्छा तो कर्मविशिष्ट अज्ञ जीव में होती है; क्योंकि इच्छा कर्म का कार्य है। बिना कर्मोदय के इच्छा नहीं होती। इच्छा मान भी लें तो उसकी वह इच्छा नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो उसका कार्य भी नित्य निरन्तर होता रहेगा, कभी उस कार्य में विराम नहीं होगा। यदि अनित्य है तो उसका कौन-सा कारण है ? कर्म कारण है या अन्य कोई कारण ? कर्म के सिवाय और कोई कारण हो नहीं सकता। क्योंकि अन्य कोई वस्तु विष्णु के सिवा सृष्टि के आदि में नहीं थी। कर्म को कारण मानने पर विष्णु कर्मविशिष्ट सिद्ध होगा। इस प्रकार के पूर्वोक्त दूषण उपस्थित होंगे। यदि दयालुता से प्रेरित हो कर विष्णु सृष्टि बनाते हैं, तब तो यह कथन भी उपहास का विषय होगा। सृष्टि से पहले जब कोई प्राणी था ही नहीं, तब दया किस पर की गई ?

मान लो, विष्णु दयालु हैं, इसलिए उन्होंने प्राणियों को पैदा किया, तब तो उन्हें दया करके सभी प्राणियों को सुखी, परस्पर सहयोगी और साधनसम्पन्न बनाने चाहिए थे ? उन्होंने दुःखी तथा देव और दानव, नकुल और सर्प, गरुड़ और नाग आदि परस्पर शत्रुजीवों को क्यों बनाया[1] ? इसलिए यह सब कल्पना सत्य से कोसों दूर समझनी चाहिए।

'पयंपंति पयावइणा इस्सरेण य कयंति केइ'—इसके पश्चात् शास्त्रकार ईश्वर-कर्तृत्ववाद का उल्लेख करते हैं कि कई दार्शनिकों का कहना है—यह जगत् प्रजापति (ब्रह्मा) तथा महेश्वर ने बनाया है, अथवा प्रभु ईश्वर ने बनाया है। यहाँ वैशेषिक दर्शन का मत देते हैं—जगत् में ७ पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। इनमें से अभाव के सिवाय बाकी के ६ पदार्थ सद्भावरूप है। सामान्य, विशेष और समवाय ये तीनों पदार्थ नित्य हैं, कर्म अनित्य ही हैं। तथा गुण दो प्रकार के हैं—नित्य और अनित्य। नित्य द्रव्यों में रहने वाले गुण नित्य हैं, और अनित्य द्रव्यों में रहने वाले अनित्य। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं। इनमें से आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये ५ द्रव्य नित्य हैं, शेष द्रव्य पृथ्वी, जल, वायु, और अग्नि ये ४ द्रव्य नित्य और अनित्य दो प्रकार के हैं। परमाणुरूप पृथ्वी आदि नित्य हैं और कार्यरूप अनित्य हैं।

ईश्वरकर्तृत्ववादियों का कहना है कि "अनित्य पर्वतादि पृथ्वी, समुद्र आदि जल, दिखाई देने वाली अग्नि और स्पर्श की जाने वाली वायु ये सब बुद्धिमान (ईश्वर) के बनाये हुए है। क्योंकि ये कार्य हैं। जो-जो कार्य होते हैं, वे-वे सब किसी न किसी के द्वारा अवश्य किये (बनाए) हुए होते है। जैसे घड़ा, वस्त्र, महल आदि कुम्हार, जुलाहे व मिस्त्री आदि के द्वारा बनाए हुए हैं। पृथ्वी, पर्वत आदि भी कार्य हैं; अतएव वे भी किसी बुद्धिमान के बनाये हुए हैं। वह बुद्धिमान सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है। क्योंकि सारे विश्व के पदार्थों का निर्माण वही कर सकता है, जो उन सबके जनक कारणों का ज्ञाता हो। सर्वज्ञता के बिना विश्व के जनक कारणों का ज्ञान होना असम्भव है। और बिना जाने कोई उनका यथायोग्य संयोग या प्रयोग भी नही कर सकता। जैसे कुम्हार को घड़ा बनाने में मिट्टी, पानी, चक्र आदि जनक कारणों का ज्ञान है, उन सबका ज्ञान होने के कारण ही वह उनका यथायोग्य उपयोग कर लेता है, वैसे ही विश्व के कार्यों के लिए उन सबके जनक कारणों का

---

१ इसका विस्तृत वर्णन जानना हो तो स्याद्वादमंजरी, आप्तपरीक्षा, स्याद्वाद-रत्नाकर और प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थ देखें। —सम्पादक

ज्ञान होना आवश्यक है,ताकि उन सबका यथायोग्य उपयोग किया जा सके। इस प्रकार सृष्टि का कर्ता ईश्वर ही सिद्ध होता है, जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। वही सबका गुरु और नित्य है।

अज्ञ प्राणियों को अपने कर्मों के फल का ज्ञान नहीं होता। वे अच्छे बुरे कर्म करने मे स्वतंत्र हैं, परन्तु उन कर्मों का फल क्या है? उन्हें भोगने का कौन-सा स्थान है? इत्यादि बातों का उन्हें ज्ञान नहीं है, इसलिए परमेश्वर उन्हें कर्म का फल भोगने के लिए स्वर्ग या नरक में भेजता है। कहा भी है—

'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥'

अर्थात्—'यह अल्पज्ञ प्राणी अपने किये हुए कर्मों के जो सुख-दुःखरूप फल हैं, उन्हें जानने में असमर्थ है। अतः उन फलों को भोगने के लिए ईश्वर द्वारा प्रेरित (भेजा गया) ही यह स्वर्ग या नरक में जाता है।' उनका कहना है कि जीव कर्म करने में स्वतंत्र है, लेकिन फल भोगने में परतन्त्र है। जैसे चोर चोरी तो कर लेता है, लेकिन उसका फल—कारावास आदि दण्ड नहीं भोगना चाहता। न्यायाधीश, राजा आदि उसे सजा सुनाते हैं और भोगने के लिए विवश करते हैं। वैसे ही यह संसारी जीव अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे कर्म कर लेता है। न्यायाधीश ईश्वर उसे उनका फल देता है। यदि उनसे कोई पूछे कि ईश्वर ने जानते हुए भी उसे बुरे कर्म क्यों करने दिये? तो इसका उत्तर वे यों देते हैं कि ईश्वर ने तो उन्हें संसार मे प्रवृत्ति करने के लिए उत्तम मार्ग का उपदेश दिया और यह भी कहा कि इस मार्ग पर चलने से तुम्हारा हित होगा और इससे विपरीत मार्ग पर चलने पर तुम्हें दण्डित किया जाएगा। इस प्रकार समझा कर ईश्वर ने उसे कार्य करने की स्वतन्त्रता दे दी। यदि वह प्राणी भला काम करता है तो ईश्वर उसे अच्छा फल स्वर्ग आदि देता है और यदि वह दुराचार आदि बुरे काम करता है तो उसे नरकादि की यातना देता है।

ईश्वरकर्तृत्ववाद की असत्यता—ईश्वरकर्तृत्ववादियों का यह सब उपर्युक्त कथन विचारशून्य और युक्तिशून्य है तथा असत्यता से पूर्ण है।

प्रथम तो यह कहना प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु आदि के भिन्न-भिन्न जाति के परमाणु अपने-अपने सजातीय कार्य को ही उत्पन्न करते हैं। यानी पृथ्वी के परमाणु पर्वत आदि पार्थिव पदार्थों को ही उत्पन्न करते हैं, जल के परमाणु नदी आदि जलीय पदार्थ को तथा अग्नि के परमाणु दिखाई देने वाली उष्णतागुणविशिष्ट अग्नि को ही पैदा करते हैं; इतर को नहीं। क्योंकि इस कथन के विपरीत कार्य-कारण प्रत्यक्ष दिखाई देता है। जैसे चन्द्रकान्त मणि

पार्थिव है। चन्द्रमा के उदय होने पर उसकी किरणों का सम्बन्ध होने से उससे जल उत्पन्न होता है, पार्थिव सूर्यकान्तमणि से सूर्य की किरणों का संसर्ग होने पर अग्नि पैदा होती है। अरणि नाम की लकड़ी पार्थिव है, उसको परस्पर रगड़ने से उसमें से अग्नि पैदा होती है, स्वातिनक्षत्र का जलबिन्दु सीप में पड़ने से पार्थिव मोती बन जाता है। इत्यादि रूप में कार्यसांकर्य प्रत्यक्ष दिखाई देने के बावजूद भी पृथ्वी आदि के भिन्न-भिन्न परमाणुओं को अपने-अपने सजातीय का उत्पादक मानना प्रमाण-विरुद्ध है।

उनका दूसरा तर्क यह था कि 'अनित्य पृथ्वी, पर्वत आदि घटपटादि की तरह कार्य होने से किसी न किसी बुद्धिमान (ईश्वर) के बनाए हुए हैं; यह कथन भ्रमपूर्ण है। ऐसा कोई नियम नहीं होता कि हर एक चीज का बनाने वाला कोई न कोई बुद्धिमान कर्त्ता हो ही। बादल बुद्धिमान कर्त्ता के बिना भी बनते और बिखरते हुए दिखाई देते हैं। बिजली चमकती और नष्ट होती है, जमीन पर पानी बरसने पर घास आदि बुद्धिमान के उगाए बिना ही उगती है, वर्षाऋतु में पानी बरसता है, शरदऋतु में ठंड और ग्रीष्मऋतु मे गर्मी आदि बिना ही किसी बुद्धिमान के पड़ती है। उसके पीछे कोई भी उन-उन पदार्थों के कार्यों को करता हुआ प्रत्यक्ष दिखाई नही देता। पदार्थों की उत्पत्ति और उनका नाश हम प्रत्यक्ष देखते हैं, लेकिन उनका कर्ता-हर्ता तो नहीं दिखाई देता।

यदि यों कहें कि ईश्वर कहां से दिखाई दे? वह तो अमूर्त और अदृश्य है। वह हमारी आंखों से दृष्टिगोचर नहीं होता। तब हम उनसे पूछते हैं कि वह ईश्वर शरीररहित है या शरीरधारी? यदि शरीररहित है, तब तो वह सृष्टि के पदार्थों को कैसे बनाएगा? बिना शरीर या हाथ-पैर आदि अवयव के तो कोई भी कार्य नही कर सकता। यदि कहें कि वह शरीरधारी है, तो उसका शरीर नित्य है या अनित्य? उसे नित्य तो कह नहीं सकते, क्योंकि वह अवयवसहित है। जो पदार्थ अवयवयुक्त (खण्ड के रूप में) होते हैं, वे सब घटपटादि की तरह अनित्य होते हैं। ईश्वर का शरीर भी सावयव मानने पर वह अनित्य ही सिद्ध होगा। यदि ईश्वर का शरीर अनित्य है तो प्रश्न होता है—वह किसका बनाया हुआ है? यदि कहें कि ईश्वर ने अपने शरीर को स्वयं ही बनाया है, तब तो उसके पहले भी ईश्वर के शरीर को मानना पड़ेगा। इस प्रकार उत्तरोत्तर आगे-आगे के शरीर के पैदा करने को लिए उसके पूर्व-पूर्व के शरीर मानने पड़ेंगे। इस तरह लगातार शरीर मानते जाने पर अनवस्थादोष उपस्थित होगा। अनवस्थादोष जहां आता है, वहां कार्य की सिद्धि नही होती।

ईश्वर ने संसारी जीव को सुमार्ग पर चलने और कुमार्ग से बचने आदि का उपदेश दिया, इत्यादि कथन भी असत्य सिद्ध होता है। क्योंकि हम ऐसा कहने वालों से पूछते

ज्ञान होना आवश्यक है,ताकि उन सबका यथायोग्य उपयोग किया जा सके। इस प्रकार सृष्टि का कर्ता ईश्वर ही सिद्ध होता है, जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। वही स्रष्टा गुरु और नित्य है।

अज्ञ प्राणियों को अपने कर्मों के फल का ज्ञान नहीं होता। वे अच्छे बुरे कर्म करने में स्वतंत्र हैं, परन्तु उन कर्मों का फल क्या है? उन्हें भोगने का कौन-सा स्थान है? इत्यादि बातों का उन्हें ज्ञान नहीं है, इसलिए परमेश्वर उन्हें कर्म का फल भोगने के लिए स्वर्ग या नरक में भेजता है। कहा भी है—

'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥'

अर्थात्—'यह अल्पज्ञ प्राणी अपने किये हुए कर्मों के जो सुख-दुःखरूप फल हैं, उन्हें जानने में असमर्थ है। अतः उन फलों को भोगने के लिए ईश्वर द्वारा प्रेरित (भेजा गया) ही यह स्वर्ग या नरक में जाता है।' उनका कहना है कि जीव कर्म करने में स्वतंत्र है, लेकिन फल भोगने में परतन्त्र है। जैसे चोर चोरी तो कर लेता है, लेकिन उसका फल—कारावास आदि दण्ड नहीं भोगना चाहता। न्यायाधीश, राजा आदि उसे सजा सुनाते हैं और भोगने के लिए विवश करते हैं। वैसे ही यह संसारी जीव अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे कर्म कर लेता है। न्यायाधीश ईश्वर उसे उनका फल देता है। यदि उनसे कोई पूछे कि ईश्वर ने जानते हुए भी उसे बुरे कर्म क्यों करने दिये? तो इसका उत्तर वे यों देते हैं कि ईश्वर ने तो उन्हें संसार में प्रवृत्ति करने के लिए उत्तम मार्ग का उपदेश दिया और यह भी कहा कि इस मार्ग पर चलने से तुम्हारा हित होगा और इससे विपरीत मार्ग पर चलने पर तुम्हें दण्डित किया जाएगा। इस प्रकार समझा कर ईश्वर ने उसे कार्य करने की स्वतन्त्रता दे दी। यदि यह प्राणी भला काम करता है तो ईश्वर उसे अच्छा फल स्वर्ग आदि देता है और यदि यह दुराचार आदि बुरे काम करता है तो उसे नरकादि की यातना देता है।

ईश्वरकर्तृत्ववाद की असत्यता—ईश्वरकर्तृत्ववादियों का यह सब उपर्युक्त कथन विचारशून्य और युक्तिशून्य है तथा असत्यता से पूर्ण है।

प्रथम तो यह कहना प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु आदि के भिन्न-भिन्न जाति के परमाणु अपने-अपने सजातीय कार्य को ही उत्पन्न करते हैं। यानी पृथ्वी के परमाणु पर्वत आदि पार्थिव पदार्थों को ही उत्पन्न करते हैं, जल के परमाणु नदी आदि जलीय पदार्थ को तथा अग्नि के परमाणु दिखाई देने वाली उष्णतागुणविशिष्ट अग्नि को ही पैदा करते हैं; इतर को नहीं। क्योंकि इस कथन के विपरीत कार्य-सांकर्य प्रत्यक्ष दिखाई देता है। जैसे चन्द्रकान्त मणि

पार्थिव है। चन्द्रमा के उदय होने पर उसकी किरणों का सम्बन्ध होने से उससे जल उत्पन्न होता है, पार्थिव सूर्यकान्तमणि से सूर्य की किरणों का संसर्ग होने पर अग्नि पैदा होती है। अरणि नाम की लकड़ी पार्थिव है, उसको परस्पर रगड़ने से उसमें से अग्नि पैदा होती है, स्वातिनक्षत्र का जलबिन्दु सीप में पड़ने से पार्थिव मोती बन जाता है। इत्यादि रूप में कार्यसांकर्य प्रत्यक्ष दिखाई देने के बावजूद भी पृथ्वी आदि के भिन्न-भिन्न परमाणुओं को अपने-अपने सजातीय का उत्पादक मानना प्रमाण-विरुद्ध है।

उनका दूसरा तर्क यह था कि 'अनित्य पृथ्वी, पर्वत आदि घटपटादि की तरह कार्य होने से किसी न किसी बुद्धिमान (ईश्वर) के बनाए हुए हैं; यह कथन भ्रमपूर्ण है। ऐसा कोई नियम नहीं होता कि हर एक चीज का बनाने वाला कोई न कोई बुद्धिमान कर्त्ता हो ही। बादल बुद्धिमान कर्त्ता के बिना भी बनते और बिखरते हुए दिखाई देते हैं। बिजली चमकती और नष्ट होती है, जमीन पर पानी बरसने पर घास आदि बुद्धिमान के उगाए बिना ही उगती है, वर्षाऋतु में पानी बरसता है, शरदऋतु में ठंड और ग्रीष्मऋतु में गर्मी आदि बिना ही किसी बुद्धिमान के पडती है। उसके पीछे कोई भी उन-उन पदार्थों के कार्यों को करता हुआ प्रत्यक्ष दिखाई नही देता। पदार्थों की उत्पत्ति और उनका नाश हम प्रत्यक्ष देखते हैं, लेकिन उनका कर्ता-हर्ता तो नहीं दिखाई देता।

यदि यो कहें कि ईश्वर कहां से दिखाई दे ? वह तो अमूर्त और अदृश्य है। वह हमारी आंखों से दृष्टिगोचर नही होता। तब हम उनसे पूछते है कि वह ईश्वर शरीररहित है या शरीरधारी ? यदि शरीररहित है, तब तो वह सृष्टि के पदार्थों को कैसे बनाएगा ? बिना शरीर या हाथ-पैर आदि अवयव के तो कोई भी कार्य नहीं कर सकता। यदि कहें कि वह शरीरधारी है, तो उसका शरीर नित्य है या अनित्य ? उसे नित्य तो कह नहीं सकते, क्योंकि वह अवयवसहित है। जो पदार्थ अवयवयुक्त (खण्ड के रूप में) होते हैं, वे सब घटपटादि की तरह अनित्य होते है। ईश्वर का शरीर भी सावयव मानने पर वह अनित्य ही सिद्ध होगा। यदि ईश्वर का शरीर अनित्य है तो प्रश्न होता है—वह किसका बनाया हुआ है ? यदि कहें कि ईश्वर ने अपने शरीर को स्वयं ही बनाया है, तब तो उसके पहले भी ईश्वर के शरीर को मानना पड़ेगा। इस प्रकार उत्तरोत्तर आगे-आगे के शरीर के पैदा करने को लिए उसके पूर्व-पूर्व के शरीर मानने पड़ेंगे। इस तरह लगातार शरीर मानते जाने पर अनवस्थादोष उपस्थित होगा। अनवस्थादोष जहां आता है, वहाँ कार्य की सिद्धि नहीं होती।

ईश्वर ने संसारी जीव को सुमार्ग पर चलने और कुमार्ग से बचने आदि का उपदेश दिया, इत्यादि कथन भी असत्य सिद्ध होता है। क्योंकि हम ऐसा कहने वालों से पूछते

हैं—सृष्टि के प्रारम्भ में जीव कर्मसहित थे या कर्मरहित ? यदि कहें कि वे कर्मसहित थे तो उन कर्मों को किसने बनाया ? यदि यह कहें कि वे कर्म तो उन-उन आत्माओं ने ही बनाए हैं तो आपका कार्यरूप हेतु दूषित हो जाता है। आपका मानना है कि जितने भी कार्य होते हैं, वे सब ईश्वर के किये हुए होते हैं। यदि कहें कि उन कर्मों को भी ईश्वर ने बनाया, तब तो उसकी परम दयालुता पर बहुत बड़ा आक्षेप यह आता है कि ईश्वर ने उन शुद्ध और सुखी आत्माओं को व्यर्थ ही कर्मों से लिप्त बना कर अशुद्ध और दुःखी क्यों बना दिया ? क्या यही उसकी दयालुता है ?

यह मान भी लें कि ईश्वर ने सृष्टि के आदि में सुमार्ग पर गमन और कुमार्ग से रक्षण का उपदेश दे कर कर्म करने की स्वतन्त्रता दी, परन्तु वह ईश्वर सर्वज्ञ और परम दयालु पिता होते हुए भी अपने पुत्र जीव को बुरे मार्ग पर चलने से रोकता क्यों नहीं ; क्या यही उसकी दयालुता है ? एक पिता अपने प्रिय पुत्र को बुरे मार्ग पर चलते देख कर चुपचाप नहीं बैठता, वह उसे जरूर रोकता है ; तब परमपिता परमदयालु ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हो कर भी अपने प्रियपुत्रों को अन्यायमार्ग पर चलते हुए देख कर-जानकर भी उपेक्षा कैसे कर सकता है ? उस समय चुप्पी कैसे साध सकता है ? अतः उनका यह कथन भी सत्य से रहित है।

न्यायाधीश या राजा की तरह जीवों को अपने कर्मों का फल देने के लिए ईश्वर की आवश्यकता बतलाई, वह विचार भी युक्तिहीन है। क्योंकि ईश्वर अरूपी और अशरीरी होने से कर्मयुक्त जीव को किस प्रकार फल देगा ? तथा न्यायाधीश भी जब तक अपराधी का अपराध सुन न ले और गवाहों आदि से पूछताछ व बहस-मुबाहिसे, जिरह आदि द्वारा पक्का निर्णय न कर ले तब तक उसे दण्ड देने को प्रस्तुत नहीं हो सकता। यही नहीं, कई बार साक्षियों की साक्षी कानून से विपरीत मिलने पर स्वयं अपराधी का अपराध जान लेने पर भी उस अपराधी को निर्दोष बरी कर देना पड़ता है। जैसे बहुत से अपराध प्रगट न होने पर अपराधी को किसी प्रकार का दण्ड नहीं मिलता; वैसे ही ईश्वर के सामने भी बहुत से अपराध सिद्ध न होने पर क्या अपराधी को कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ेगा ? क्या ईश्वर के न्याय की भी यही दशा है ?

ईश्वर को कर्मों के फल भुगवाने के पचड़े में डालने से उस पर पक्षपात, दयाहीनता, अविवेक आदि अनेक आक्षेप आते हैं। इसलिए उस निर्लेप, निरञ्जन, निर्विकार परमात्मा को कर्मफलदाता मानना युक्तिसंगत नहीं है। कर्मों का फल तो वे कर्म स्वयमेव आत्मा को भुगवाने में समर्थ हैं। जब आत्मा कर्म करता है, तभी कर्मों के उदय होने के निमित्तों को भी बांध लेता है। उन्हीं निमित्तों के कारण प्रत्येक प्राणी अपने किये हुए कर्मों का फल अनायास ही पा लेता है। जिस प्रकार बीज में

वृक्ष उगने की योग्यता होने पर भी पृथ्वी, जल आदि निमित्तों की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार कर्मों के फल भोगने के लिए निमित्तों की आवश्यकता है। चोरी करने पर चोर को चोरी के निमित्त से राजा आदि द्वारा दण्डित किया जा सकता है। वैसे ही आत्मा भी कर्मोदय के समय काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ की अपेक्षा रखता है। ये निमित्त कारण अदृश्य नहीं हैं, अपितु युक्तियुक्त और बुद्धिगम्य है। बीज को ठीक निमित्त मिलने पर वह फल आदि से युक्त हो जाता है, इसी प्रकार आत्मा भी पाँच निमित्तों (काल, स्वभाव आदि) के मिलने पर अपने कर्मों के शुभाशुभफल के अनुभव से युक्त हो जाता है। जैसे मदिरा मादक द्रव्य होने पर भी चेतन के संयोग होने या चेतन का निमित्त मिलने पर ही नशा चढा कर अपना स्वरूप प्रगट करती है, जब तक शीशी आदि मे पड़ी है, तब तक वह अपने स्वरूप को प्रगट नही करती ; वैसे ही जड़ कर्म और चेतन (आत्मा) दोनों का निमित्त ही कर्मफल देने में समर्थ है। कर्म अचेतन होते हुए भी जिस समय आत्मा अशुभ परिणामों से कोई प्रवृत्ति करता है उसी समय कर्मपुद्गल उसके चिपक जाते है, जो समय पर उदय में आ कर अवश्य ही स्वाभाविक रूप से अपना शुभाशुभ फल देते हैं, जिन्हें भोगे विना कोई छुटकारा नहीं मिलता।

उक्त युक्तियों से ईश्वरकर्तृत्वाद की असत्यता सिद्ध हो जाती है।

'विण्हुमयं कसिणमेव य जगं ति केई'—कई दार्शनिक इस समस्त जगत् को विष्णुमय मानते हैं। संसार में सर्वत्र विष्णु व्यापक है। इस विषय में वे ये प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

> जले विष्णुः, स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके।
> ज्वालामालाकुले विष्णुः, सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥१॥
> पृथिव्यामप्यहं पार्थ ! वायावग्नौ जलेऽस्म्यहम्।
> सर्वभूतगतश्चाहं,[१] तस्मात्सर्वगतोऽस्म्यहम् ॥२॥

अर्थात्—'जल में विष्णु है, स्थल में विष्णु है, पर्वत के मस्तक पर विष्णु है, ज्वालाओं (अग्नि की लपटों) के समूह से व्याप्त ज्वालामुखी पर्वत आदि मे भी विष्णु है। इसलिए सारा जगत् विष्णुमय है।' 'हे अर्जुन ! मैं पृथ्वी में भी हूं; वायु, अग्नि और जल मे भी मैं हूं; समस्त प्राणियों में भी मैं हूं। अतः मैं सारे संसार में व्याप्त हूं।' इसी बात की पुष्टि के हेतु मार्कण्ड ऋषि की एक कथा है—

---

१ 'वनस्पतिगतश्चाहं सर्वभूतगतोऽप्यहम्' यह पाठ भी कहीं-कहीं है। इसका अर्थ है—"मैं वनस्पति में भी रहता हूं और सभी प्राणियों में भी मैं रहता हूं।"

सो किल जलयसमुत्थेणुदएणेगण्णवम्मि लोगम्मि ।
वीतीपरंपरेणं घोलंतो उदयमज्झम्मि ॥१॥
सो किल पेच्छइ सो तसथावरपणट्ठसुरनरतिरिक्खजोणीयं ।
एगण्णवं जगमिणं महब्भूयविवज्जियं गुहिरं ॥२॥
एवंविहे जगंमी पेच्छइ नग्गोहपायवं सहसा ।
मंदरगिरिव्व तुंगं, महासमुद्दं' च विच्छिन्नं ॥३॥
खंधंमि तस्स सयणं, अच्छइ तहिं बालओ मणभिरामो ।
संविद्धो सुद्धहियओ मिउकोमलकुंचियकेसो ॥४॥
हत्थो पसारिओ से महरिसिणो एह तत्थ मणिओ य ॥
खंधं इमं विलग्गसु मा मरिहिसि उदयवुड्ढीए ॥५॥
तेण य घेत्तुं हत्थे उ मीलिओ सो रिसी तओ तस्स ।
पेच्छइ उदरंमि जयं ससेलवणकाणणं सव्वं ॥६॥

अर्थात्—सारा संसार जल के बढ जाने के कारण एक जलमय महासमुद्र हो गया । उस अथाह जलप्रवाह में लहरों की परम्परा के साथ बहते हुए मार्कण्डे ऋषि ने इस जगत् को त्रस, स्थावर, देव, मानव और तिर्यञ्चयोनि के जीवों के नष्ट हो जाने से महाभूतों से रहित गह्वररूप एक महासमुद्र रूप में देखा । साथ ही ऐसे प्रलयमय जगत् में सहसा उन्हें एक विशाल वटवृक्ष नजर आया, जो मंदराचल के समान ऊँचा और महासागर के समान विस्तीर्ण था । फिर उन्होंने उसके स्कन्ध पर एक मनोहर नयनाभिराम बालक को सोये हुए देखा; जिसका हृदय शुद्ध था, जो संवेदनशील (भावुक) था । उसके बाल बड़े कोमल,चिकने और घुंघराले थे । उसने महर्षि की ओर हाथ फैलाए और कहा—'यहाँ आ जाओ । इस स्कंध को पकड़ लो, इससे तुम पानी के बढ़ जाने पर भी मरोगे नहीं । इसके बाद उसने महर्षि का हाथ पकड़ कर उन्हें स्कन्ध पर अपने साथ मिला लिया । उस समय मार्कण्ड ऋषि ने उस बालक विष्णु के उदर में पर्वतों, वनों और काननों सहित सारे जगत् को देखा । फिर सृष्टि के समय विष्णु ने सबकी रचना की ।

विष्णुमयवाद की असत्यता—उक्त सारी बातें कपोलकल्पित हैं । न तो ये बातें युक्तिसंगत हैं और न किसी प्रमाण से सिद्ध हैं । प्रत्यक्ष द्वारा पाषाण आदि अचेतन पदार्थों में तथा मनुष्य आदि सचेतन पदार्थों में विष्णु का कोई अस्तित्व दिखाई नहीं देता । क्योंकि विष्णु का जैसा स्वरूप विष्णुमयवादियों ने माना है, वैसा उनमें दिखाई नहीं देता; और न अनुमान आदि अन्य प्रमाणों से या युक्तियों से विष्णु सिद्ध होता है । यदि पृथ्वी में विष्णु है तो उसे खोदना, पैरों से रौंदना, उस पर मलमूत्र करना सर्वथा अनुचित है; क्योंकि जहाँ विष्णु का निवास है, वह स्थान तो उनके लिए विष्णुमन्दिर के समान पूजनीय होना चाहिए । इसी प्रकार स्त्री में, पुत्र में, माता में,

पिता में, गुरु में और शिष्य में भी विष्णु के विद्यमान रहने से कुछ भी अन्तर नहीं रहेगा। फिर यह प्रश्न होता है कि वह विष्णु अचेतनरूप है या सचेतनरूप ? यदि वह चेतनरूप है, तब तो पाषाणादि अचेतन पदार्थों में उसकी सत्ता न रह सकेगी और वह यदि अचेतनरूप है तो चेतन मनुष्य, पशुपक्षी आदि में नहीं रह सकेगा। इस प्रकार विष्णु को सर्वव्यापी मानने में अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं। इसलिए विष्णु को सर्वत्र व्यापक मान कर सारे जगत् को विष्णुमय मानना प्रमाणविरुद्ध और युक्तिविरुद्ध होने से असत्य है।

'एवमेके वदंति मोस एगो आया'—अब शास्त्रकार आत्माद्वैतवादी वेदान्त-दर्शन की मीमांसा करते हुए कहते हैं कि यह मिथ्या कथन है कि 'एक ही आत्मा है। जब वेदान्तियों के सामने यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि ये जो विविध प्राणियों में अलग-अलग आत्माएँ दिखाई देती हैं, इन्हें कैसे झुठलाएँगे ? तब वे युक्ति से इस बात को सिद्ध करते हैं—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

अर्थात्—'संसार में आत्मा तो एक ही है, वही प्रत्येक प्राणी में स्थित है। वह एक होने पर भी अनेक-सा प्रतीत होता है; जैसे चन्द्रमा एक होने पर भी अनेक जल-पात्रों या जलाशयों में प्रतिबिम्बित होकर अनेकरूप में प्रतिभासित होता है।'

आत्माद्वैतवाद की असत्यता—यह आत्माद्वैतवाद प्रमाण से बाधित है। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण से प्रत्येक आत्मा की सत्ता अलग-अलग प्रतीत होती है। अगर विश्व के सभी प्राणियों की आत्मा एक ही मानी जाएगी तो एक व्यक्ति के किये हुए अशुभकर्म का फल दूसरे शुभकर्म वाले को मिल जाएगा और उसके द्वारा कृत शुभकर्मों का फल अशुभकर्म वाले को मिल जाएगा। परन्तु संसार में ऐसा देखा नहीं जाता कि एक मेहनत करे और दूसरा उसका फल भोगे। जो आत्मा अन्याय या अपराध करता है, वही दण्ड भोगता है, जो विद्याध्ययन में श्रम करता है, वही विद्वान् बनता है; जो जहर खाता है, वही मरता है; ये सब बातें आत्मा के भिन्न-भिन्न अस्तित्व को सिद्ध करती हैं। अगर सब में एक ही आत्मा मानी जाय तो एक के जहर खाने से मरने पर सबको मर जाना चाहिए, परन्तु ऐसा होना असम्भव है।

सर्वत्र एक आत्मा को सिद्ध करने के लिए जल में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह भी यथार्थरूप से घटित नहीं होता। चूंकि आकाश में स्थित चन्द्रमा और जलाशय या जलपात्र में स्थित प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न हैं। आकाश-वर्ती चन्द्र प्रकाश, शान्ति और आह्लाद का जो कार्य करता है, उसे जलाशय या जल-पात्र में स्थित चन्द्र-प्रतिबिम्ब नहीं कर सकता। कार्यभेद से वस्तु में भेद माना जाता

है। इसलिए वे दोनों एक नहीं हैं; बल्कि भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। जल में स्वच्छता के कारण किसी भी वस्तु के प्रतिबिम्ब के रूप में परिणत होने की योग्यता है। वह अपने सामने जिस वस्तु को पाता है, तद्रूप प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर लेता है। इसलिए यह मानना नितान्त असत्य और प्रमाणबाधित है कि वही आकाशवर्ती चन्द्र जलपात्रों में अनेकरूप दिखाई देता है।

एकब्रह्मवाद की असत्यता—वेदान्तदर्शन का कहना है कि जगत् में केवल एक ही ब्रह्म है; इसके सिवाय और कोई पदार्थ नहीं है। हमें ये जो भेद दिखाई दे रहे हैं, वे सब उस (ब्रह्म) के विवर्त (पर्याय) हैं।

कहा भी है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत् पश्यति कश्चन॥

अर्थात्—'जो कुछ भी वस्तुसमूह हमें दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब ब्रह्मरूप ही है। इस जगत् में ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई चीज नहीं है। लोग प्रायः उस (ब्रह्म) के आरामों (पर्यायों) को देखते हैं, उस शुद्ध ब्रह्म को कोई नहीं देखता।'

'विश्व में जो घट, वस्त्र, मकान, हम, तुम आदि नाना भेदों का प्रतिभास हो रहा है, उसका कारण अनादिकाल से आत्मा के साथ लगी हुई माया है। उस माया (अविद्या) ही ने आत्मा को ब्रह्मज्ञान से वंचित करके इन झूठे पदार्थों की कल्पना के चक्कर में डाल दिया है। माया का पर्दा आत्मा को शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान नहीं होने देता। जब यह आत्मा माया का पर्दा हटा कर उस ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है; तब माया का भ्रमजाल छूट जाने से 'अहं ब्रह्माऽस्मि' (मैं ही ब्रह्म हूं) इस भावना में मग्न हो कर ध्यान की पराकाष्ठा को पहुंच जाता है, यानी ब्रह्म में लीन हो जाता है। ब्रह्मरूप हो जाता है, ब्रह्म की सत्ता में मिल जाता है। उसकी सत्ता फिर अलग नहीं रहती। जैसे छोटे दीपक का प्रकाश बड़े दीपक के प्रकाश में मिल जाता है, इसी तरह ब्रह्मज्योति में आत्मज्योति मिल जाती है।'

उपर्युक्त सारा कथन प्रमाण और युक्तियों से बाधित है। वेदान्त का यह कथन भी असत्य है कि ये नाना भेद माया (अविद्या) के कारण प्रतीत होते हैं। प्रश्न होता है कि माया कोई वस्तु है या अवस्तु ? यदि माया कोई वस्तु है, तब तो माया और ब्रह्म ये दो तत्त्व हो गए, वेदान्त का अद्वैत खण्डित हो गया, द्वैत की सिद्धि हो गई। यदि कहें कि माया अवस्तु है, तब तो यह भेदज्ञानरूप कार्य कैसे कर सकेगी? गधे के सींग के समान अवस्तु होने के कारण माया कुछ भी करने में समर्थ न हो सकेगी।

यदि घट, पट आदि पदार्थों का ज्ञान मिथ्या होता तो यह किसी अन्य प्रमाण

द्वारा बाधित होता। जैसे मरीचिका (सूर्य किरणों से चमकती रेतीली भूमि) में उत्पन्न हुआ जल का ज्ञान पास जाते ही बाधित हो जाता है कि 'अरे! यह तो केवल मरीचिका है। मैंने अज्ञानता (भ्रान्ति) से इसे जल समझ लिया था।' इस प्रकार उत्तर-काल में पूर्वकालिक ज्ञान बाधित होने पर उसे (पूर्वज्ञान को) मिथ्याज्ञान माना जाता है। लेकिन घट, पट, मकान आदि पदार्थों का पूर्वकालिक ज्ञान उत्तरकालिक (समीप जाने पर होने वाले) ज्ञान से बाधित नही होता, बल्कि उसमें प्रवृत्ति होने पर उस ज्ञान की सत्यता ही सिद्ध होती है कि मुझे पहले जो घट का ज्ञान हुआ था, वह बिलकुल सत्य है, क्योंकि कुंए, नदी आदि पर ले जाकर इसमें जल भर कर ले आया हूं।

अतः प्रमाण और युक्ति से खण्डित होने से ब्रह्मैकत्ववाद भी असत्य सिद्ध हो जाता है।

आत्मा का अकर्तृत्ववाद—शास्त्रकार अब सांख्यदर्शन की मान्यता का उल्लेख करते हैं—'अकारको वेदको य सुकयस्स दुक्कयस्स' यानी आत्मा[1] पुण्य और पाप कर्मों का कर्त्ता नहीं है; केवल उनका फल भोगने वाला है। प्रश्न होता है कि फिर पुण्यकर्मों और पापकर्मों का कर्ता कौन है ? इसके उत्तर में हम पहले सांख्यदर्शन की मान्यता का संक्षेप में दिग्दर्शन कराते है—सांख्यदर्शन मे मुख्य दो तत्त्व माने गए हैं—पुरुष (आत्मा) और प्रकृति। प्रकृति-पुरुष का स्वरूप इस प्रकार है—

'त्रिगुणमविवेकी विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥'

अर्थात्—प्रकृति यानी प्रधान सत्व, रज और तम तीन गुणों से युक्त है, विवेकरहित, विषय, सामान्य, अचेतन और व्यक्त है। तथा इसके विपरीत स्वरूप वाला पुरुष—आत्मा है, जो त्रिगुण आदि से रहित है।

पुरुष[2] (आत्मा) नित्य, अमूर्त, कर्मों का अकर्ता, कर्मों के फल का भोक्ता, असग और निर्लेप चैतन्यस्वरूप है। पुरुष अपने स्वरूप का अनुभव करता है और उदासीन और द्रष्टा बना रहता है। प्रकृति ही संसार के सब कार्य करती है। वह जड़ और नित्य है तथा अनेक कार्य करने वाली है। संसार के रंगस्थल पर नाचने वाली नर्तकी प्रकृति है। वह कभी मनुष्य का, कभी पशु का, कभी पक्षी का और कभी देव का स्वाग (वेष) धारण करके नर्तनरूप अनेक क्रियाएँ करती रहती हैं। पुरुष (आत्मा) दर्शकों के समान उन सबका द्रष्टा है। ज्ञान, सुख, दुःख, हर्ष, शोक

१—कहा भी है—'अकर्ता, निर्गुणो, भोक्ता आत्मा कापिलदर्शने।'

२—'यस्मान्न बध्यते, न मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥' —संपादक

आदि प्रकृति के धर्म है। आत्मा को हर्ष, शोक, ज्ञान आदि नहीं होता। वह तो कूटस्थ (सदा एक-सा रहने वाला) नित्य है। वह सभी विकारों से रहित है। प्रकृति का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादिकाल से हो रहा है, इसलिए प्रकृति के द्वारा ज्ञात (ज्ञान द्वारा गृहीत) पदार्थ का प्रतिबिम्ब आत्मा में पड़ता है। उसे आत्मा जानता है। इसी प्रकार हर्ष, शोक आदि प्रकृति के धर्म भी प्रकृति का आत्मा (पुरुष) के साथ सम्बन्ध होने से आत्मा में झलकते है। जैसे शुद्ध स्वच्छ स्फटिकमणि के पास जपापुष्प रख देने से उस जपापुष्प की लालिमा स्फटिकमणि में झलकने लगती है और वह स्फटिकमणि लाल दिखाई देने लगती है। वस्तुतः वह लालिमा उसकी नहीं है। वैसे ही सुख-दु:ख हर्ष-विषाद आदि सब प्रकृति के धर्म हैं। प्रकृति स्वच्छ शुद्ध आत्मा (पुरुष) के पास होने से ये सब हर्षादि उसमें झलकने लगते है। प्रकृति के साथ पुरुष का अनादिकालीन सम्बन्ध होने से पुरुष (आत्मा) को ही नर, नारक आदि नाना पर्यायें धारण करनी पड़ती हैं। लेकिन इससे पुरुष में कुछ विकार नहीं होता है। जब पुरुष (आत्मा) को इस प्रकार की विवेकख्याति (भेदज्ञान) हो जाती है कि 'यह प्रकृति है, ये सब काम इसके हैं, मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं, तब वह (पुरुष या आत्मा) प्रकृति के जाल से निकल कर सम्प्रज्ञातसमाधि और उसके बाद असम्प्रज्ञातसमाधि द्वारा प्रकृति से सर्वथा भिन्न अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् प्रकृति से सर्वथा पृथक् हो जाता है।

अतः संसार की सारी प्रक्रिया—रचना भी प्रकृति से ही होती है। सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। और जब इनकी विषमता होती है, तब जगत् का प्रादुर्भाव होता है। जैसा कि सांख्यकारिका में कहा है—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो, न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥'

अर्थात्—मूल प्रकृति (त्रिगुण की साम्यावस्थारूप होने से) अविकृतरूप है—यानी किसी का कार्य नहीं है। महत् तत्त्व (बुद्धि), अहंकार और पांच तन्मात्रा ये सात कार्यकारणरूप होने से प्रकृतिविकृतिरूप हैं। अर्थात् कार्य (जन्य) भी हैं, कारण (जनक) भी। पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पंच महाभूत और मन—ये १६ कार्य (विकार) रूप ही हैं। किन्तु प्रकृति और पुरुष ये दोनों न तो किसी के कार्य हैं और न किसी के कारण। अर्थात् ये दोनों न प्रकृतिरूप हैं, न विकृतिरूप।

आशय यह है कि सांख्यदर्शन सत्कार्यवादी है। वह मानता है कि प्रत्येक कार्य अपने कारणों में सदा विद्यमान रहता है। वह कभी आवरण आ जाने से तिरोहित हो (छिप) जाता है, कभी आवरण के दूर हो जाने से व्यक्त (प्रादुर्भूत) हो जाता है। सृष्टि के प्रादुर्भाव का क्रम भी इस प्रकार बताया गया है—

'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गुणश्च षोड़शकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥'

अर्थात्—प्रकृति से महत्तत्व (बुद्धि) प्रगट होता है, महत्तत्व से अहंकार, और अहंकार से १६ गुण (५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां ५ तन्मात्रा और १ मन) प्रगट होते है। ५ तन्मात्राओं (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द) से पृथ्वी-जल, वायु, अग्नि और आकाश ये ५ महाभूत प्रादुर्भूत होते है।

इस प्रकार सृष्टि की रचना में २४ तत्त्व और २५ वां पुरुष (आत्मा) ये सब निमित्त होते है।

सांख्यदर्शन के मत की असत्यता—प्रकृति और पुरुष का यह पूर्वोक्त सांख्यदर्शन का मत प्रतीति और प्रमाण से विरुद्ध होने से असंगत और असत्य सिद्ध हो जाता है। सांख्यमत मे बताया गया है कि जब तक सत्त्वादि त्रिगुणों की साम्यावस्था रहती है, तब तक प्रकृति अपनी शुद्ध अवस्था मे रहती है, जब इनमें विषमता-हीनाधिकता आती है,तब सृष्टि की रचना तथाकथित क्रम से होती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि जब प्रकृति अचेतन है और पुरुष चेतन होने के बावजूद भी कुछ कार्य नहीं करता, सिर्फ अपने स्वरूप का ही अनुभव करता है, तो अचेतन प्रकृति सब काम कैसे कर सकती है? क्योंकि यह देखा जाता है कि चेतन का निमित्त पा कर ही अचेतन पदार्थ कुछ कार्य कर सकते हैं, किन्तु अकेली जड़ प्रकृति पृथ्वी आदि मूर्त पदार्थों और आकाश आदि अमूर्त पदार्थों की जनक कैसे हो सकती है? न्यायशास्त्र का यह नियम है कि जैसा उपादान कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है। मूर्त कारण हो तो उससे मूर्त कार्य और अमूर्त कारण हो तो अमूर्त कार्य होता है। मूर्त और अमूर्त धर्म परस्पर विरोधी हैं। एक ही वस्तु में ये दोनों धर्म नही पाये जा सकते। ज्ञान चेतन का धर्म है, वह अचेतन प्रकृति से कैसे उत्पन्न हो सकता है?

सांख्यदर्शन के अनुसार कारण में हमेशा कार्य विद्यमान रहता है; यह बात भी असंगत है। यदि कारण में कार्य सदा विद्यमान रहता हो तो उसकी उपलब्धि सदा होनी चाहिए, लेकिन ऐसा होता नही। दूध की अवस्था में दही नही दिखाई देता और न मिट्टी के ढेले में घड़ा ही उपलब्ध होता है। यदि कारण में कार्य सदा विद्यमान होता तो दूध मे दही की, मिट्टी के ढेले में घड़े की उपलब्धि भी होती।

यदि कहें कि कि कारण पर आवरण आया हुआ है, उसे दूर करने के लिए किसी योग्य अनुकूल कारण की आवश्यकता होती है। जब वह मिल जाता है, तब वह (कार्य) व्यक्त-प्रगट हो जाता है। जैसे मिट्टी में से घड़े को व्यक्त करने के लिए कुम्हार, चक्र वगैरह अनुकूल कारण अपेक्षित हैं। परन्तु यह मन्तव्य तो सत्कार्यवाद

आदि प्रकृति के धर्म है। आत्मा को हर्ष, शोक, ज्ञान आदि नहीं होता। वह तो कूटस्थ (सदा एक-सा रहने वाला) नित्य है। वह सभी विकारों से रहित है। प्रकृति का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादिकाल से हो रहा है, इसलिए प्रकृति के द्वारा ज्ञात (ज्ञान द्वारा गृहीत) पदार्थ का प्रतिबिम्ब आत्मा में पड़ता है। उसे आत्मा जानता है। इसी प्रकार हर्ष, शोक आदि प्रकृति के धर्म भी प्रकृति का आत्मा (पुरुष) के साथ सम्बन्ध होने से आत्मा में झलकते हैं। जैसे शुद्ध स्वच्छ स्फटिकमणि के पास जपापुष्प रख देने से उस जपापुष्प की लालिमा स्फटिकमणि में झलकने लगती है और वह स्फटिकमणि लाल दिखाई देने लगती है। वस्तुतः वह लालिमा उसकी नहीं है। वैसे ही सुख-दुःख हर्ष-विषाद आदि सब प्रकृति के धर्म हैं। प्रकृति स्वच्छ शुद्ध आत्मा (पुरुष) के पास होने से ये सब हर्षादि उसमें झलकने लगते है। प्रकृति के साथ पुरुष का अनादिकालीन सम्बन्ध होने से पुरुष (आत्मा) को ही नर, नारक आदि नाना पर्यायें धारण करनी पड़ती हैं। लेकिन इससे पुरुष में कुछ विकार नहीं होता है। जब पुरुष (आत्मा) को इस प्रकार की विवेकख्याति (भेदज्ञान) हो जाती है कि 'यह प्रकृति है, ये सब काम इसके हैं, मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं, तब वह (पुरुष या आत्मा) प्रकृति के जाल से निकल कर सम्प्रज्ञातसमाधि और उसके बाद असम्प्रज्ञातसमाधि द्वारा प्रकृति से सर्वथा भिन्न अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् प्रकृति से सर्वथा पृथक् हो जाता है।

अतः संसार की सारी प्रक्रिया—रचना भी प्रकृति से ही होती है। सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। और जब इनकी विषमता होती है, तब जगत् का प्रादुर्भाव होता है। जैसा कि साख्यकारिका में कहा है—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोड़शकश्च विकारो, न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥'

अर्थात—मूल प्रकृति (त्रिगुण की साम्यावस्थारूप होने से) अविकृतरूप है—यानी किसी का कार्य नहीं है। महत् तत्त्व (बुद्धि), अहंकार और पांच तन्मात्रा ये सात कार्यकारणरूप होने से प्रकृतिविकृतिरूप हैं। अर्थात् कार्य (जन्य) भी हैं, कारण (जनक) भी। पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पंच महाभूत और मन—ये १६ कार्य (विकार) रूप ही है। किन्तु प्रकृति और पुरुष ये दोनों न तो किसी के कार्य हैं और न किसी के कारण। अर्थात् ये दोनों न प्रकृतिरूप हैं, न विकृतिरूप।

आशय यह है कि सांख्यदर्शन सत्कार्यवादी है। वह मानता है कि प्रत्येक कार्य अपने कारणों में सदा विद्यमान रहता है। वह कभी आवरण आ जाने से तिरोहित हो (छिप) जाता है, कभी आवरण के दूर हो जाने से व्यक्त (प्रादुर्भूत) हो जाता है। सृष्टि के प्रादुर्भाव का क्रम भी इस प्रकार बताया गया है—

'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गुणश्च षोड़शकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥'

अर्थात्—प्रकृति से महत्तत्त्व (बुद्धि) प्रगट होता है, महत्तत्व से अहंकार, और अहंकार से १६ गुण (५ ज्ञानेन्द्रिया, ५ कर्मेन्द्रियां ५ तन्मात्रा और १ मन) प्रगट होते हैं । ५ तन्मात्राओ (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द) से पृथ्वी-जल, वायु, अग्नि और आकाश ये ५ महाभूत प्रादुर्भूत होते है ।

इस प्रकार सृष्टि की रचना मे २४ तत्त्व और २५ वां पुरुष (आत्मा) ये सब निमित्त होते है ।

सांख्यदर्शन के मत की असत्यता—प्रकृति और पुरुष का यह पूर्वोक्त सांख्यदर्शन का मत प्रतीति और प्रमाण से विरुद्ध होने मे असंगत और असत्य सिद्ध हो जाता है । सांख्यमत में बताया गया है कि जब तक सत्त्वादि त्रिगुणों की साम्यावस्था रहती है, तब तक प्रकृति अपनी शुद्ध अवस्था मे रहती है, जब इनमें विषमता-हीनाधिकता आती है,तब सृष्टि की रचना तथाकथित क्रम से होती है । यहाँ प्रश्न उठता है कि जब प्रकृति अचेतन है और पुरुष चेतन होने के बावजूद भी कुछ कार्य नहीं करता, सिर्फ अपने स्वरूप का ही अनुभव करता है, तो अचेतन प्रकृति सब काम कैसे कर सकती है ? क्योंकि यह देखा जाता है कि चेतन का निमित्त पा कर ही अचेतन पदार्थ कुछ कार्य कर सकते हैं, किन्तु अकेली जड़ प्रकृति पृथ्वी आदि मूर्त पदार्थों और आकाश आदि अमूर्त पदार्थों की जनक कैसे हो सकती है ? न्यायशास्त्र का यह नियम है कि जैसा उपादान कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है । मूर्त कारण हो तो उससे मूर्त कार्य और अमूर्त कारण हो तो अमूर्त कार्य होता है । मूर्त और अमूर्त धर्म परस्पर विरोधी है। एक ही वस्तु मे ये दोनों धर्म नहीं पाये जा सकते । ज्ञान चेतन का धर्म है, वह अचेतन प्रकृति से कैसे उत्पन्न हो सकता है ?

सांख्यदर्शन के अनुसार कारण में हमेशा कार्य विद्यमान रहता है; यह बात भी असंगत है । यदि कारण मे कार्य सदा विद्यमान रहता हो तो उसकी उपलब्धि सदा होनी चाहिए, लेकिन ऐसा होता नही । दूध की अवस्था में दही नहीं दिखाई देता और न मिट्टी के ढेले में घड़ा ही उपलब्ध होता है । यदि कारण में कार्य सदा विद्यमान होता तो दूध में दही की, मिट्टी के ढेले में घड़े की उपलब्धि भी होती ।

यदि कहें कि कि कारण पर आवरण आया हुआ है, उसे दूर करने के लिए किसी योग्य अनुकूल कारण की आवश्यकता होती है । जब वह मिल जाता है, तब वह (कार्य) व्यक्त-प्रगट हो जाता है । जैसे मिट्टी में से घड़े को व्यक्त करने के लिए कुम्हार, चक्र वगैरह अनुकूल कारण अपेक्षित है। परन्तु यह मन्तव्य तो सत्कार्यवाद

का घातक है; क्योंकि कुम्हार आदि निमित्त कारणों ने मिल कर मिट्टी (उपादान कारण) से घड़ा पैदा किया है।

इस पर सांख्यमत कहता है 'मिट्टी में घड़ा मौजूद न होता तो कुम्हार की क्या ताकत थी कि घड़ा बना देता? जैसे भरसक जोर लगाने पर भी कुम्हार पानी से कभी घडा नही बना सकता। अतः मानना पड़ेगा कि कारण में कार्य विद्यमान रहता है, लेकिन उसे व्यक्त करने के लिए किसी व्यञ्जक की आवश्यकता होती है।' यह कथन भी प्रत्यक्ष-प्रमाणविरुद्ध है। यदि मिट्टी के ढेले मे घड़ा होता तो चक्षु आदि इन्द्रियों से घड़े का आकार आदि प्रत्यक्ष प्रतीत होता। लेकिन वहाँ तो घड़े के विपरीत आकार वाला ढेला ही दृष्टिगोचर होता है। इसलिए मिट्टी के ढेले मे घड़े का अस्तित्व स्वीकार करना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। यदि यह कहें कि 'जैसे अंधेरे में पड़ा हुआ घड़ा मौजूद होने पर भी आवरण आ जाने के कारण जब तक उसका व्यञ्जक-दीपक नही आ जाता, तब तक वह दिखाई नहीं देता; वैसे ही ढेले में विद्यमान घड़ा भी आवरण आ जाने के कारण, उसका व्यञ्जक न आ जाय तब तक दिखाई नहीं देता।' सांख्यदर्शन का यह कथन भी युक्तिसंगत नही है, क्योंकि इस मन्तव्य से तो व्यञ्जक और कारक में कोई अन्तर नही मालूम देता। वस्तुतः कारक और व्यञ्जक में बडा अन्तर है। जहाँ व्यंग्य (प्रकट होने योग्य) पदार्थ प्रत्यक्षादि प्रमाण से पूर्व सिद्ध हो, पर किसी दूसरे पदार्थ मे आवृत हो गया हो तो उसके विरोधी व्यञ्जक पदार्थ के उपस्थित होने से वह व्यक्त होता है। जैसे अँधेरे में घड़ा स्पर्शन आदि इन्द्रियों द्वारा सिद्ध होता है, तो वहाँ दीपक आदि व्यञ्जक के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है। परन्तु मिट्टी के ढेले में घडे की उपलब्धि किसी भी प्रमाण से पहले नहीं होती। कुम्हार आदि कारण से तो उसकी उत्पत्ति ही होती है, अभिव्यक्ति नहीं। अंधेरे में स्थित घड़े के बारे में तो दीपक व्यंजक है, कारक नहीं, जबकि मिट्टी के ढेले में घड़े के होने के बारे में तो कुम्हार कारक है; व्यंजक नही। पूर्वोक्त कथन से सत्कार्यवाद की सिद्धि न होने से यह मानना ठीक नहीं है कि प्रकृति में महत्तत्व (बुद्धि) आदि तत्त्व विद्यमान रहते हैं। तथा यह कथन भी गलत है कि सत्त्व, रज, तम की विषमता होने से महत्तत्त्व आदि प्रादुर्भूत होते हैं। क्योंकि पहले तो सत्त्व, रज, तम की साम्यावस्थारूप प्रकृति ही प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध नही होती; अपितु उसके कार्यरूप से माने गये महदादि ही सिद्ध होते हैं। इसलिए 'त्रिगुणमविवेकी' इत्यादि प्रकृति के लक्षण के सम्बन्ध मे कथन वन्ध्यापुत्र के सौभाग्य आदि वर्णन के समान हास्यास्पद सिद्ध होता है।

इसी प्रकार पुरुष (आत्मा) को अकर्ता, कर्मफलभोक्ता व कूटस्थनित्य आदि मानना भी प्रमाणविरुद्ध है। यदि आत्मा पुण्य-पाप का कर्ता नही, प्रकृति ही पुण्यपापादि की

कर्त्री है, तब तो आत्मा (पुरुष) का अस्तित्व मानना भी व्यर्थ है। क्योंकि जो पुण्य-पाप का कर्ता है, वही उसके फल का भोक्ता होता है। यदि यह कहें कि आत्मा (पुरुष) तटस्थरूप से द्रष्टा मात्र है। प्रकृति का कार्य, जो बुद्धि है, उसमें प्रतिबिम्बित हुए सुख-दु.खादि का भोगने वाला है। यह कथन भी न्यायविरुद्ध है। जब आत्मा सर्वथा अकर्ता है, तो भोगक्रिया का कर्ता (भोक्ता) भी नही हो सकता। शुभाशुभकर्म करने वाली तो प्रकृति हो और उसका फल भोगने वाला पुरुष (आत्मा) हो, यह बात तो न्याय-विरुद्ध है। काम कोई करे और फल कोई भोगे, यह कहां का न्याय है ? इससे तो कृत का नाश और अकृत की प्राप्तिरूप दोष आएगा। इसलिए आत्मा को अकर्ता व भोक्ता मानना असत्य है।

आत्मा को सर्वथा कूटस्थनित्य मानने से उसकी नर, नारक आदि पर्यायें भी सिद्ध नहीं हो सकती, जबकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आत्मा की नर-नारक, तिर्यञ्च आदि पर्यायें प्रतीत होती हैं। और प्रकृति तो स्वय जड है, उसकी ये चेतनात्मक पर्यायें हो ही कैसे सकती हैं ? इसलिए आत्मा को कूटस्थनित्य मानना भी असत्य है। आत्मा द्रव्यरूप से नित्य है, वह कभी अनात्मा (जड़) हो नही सकता, सदा चैतन्यादिगुणविशिष्ट बना रहता है। इसलिए वह नित्य है। लेकिन कभी सुखी कभी दु.खी होता है, कभी मनुष्यपर्याय व कभी देवपर्याय को प्राप्त करता है, इसलिए अनित्य भी है। अत आत्मा को कथचित् नित्य और कथचित् अनित्य मानना ही सत्य है।

आत्मा को सर्वथा अमूर्त मानना भी युक्तिविरुद्ध है। यदि आत्मा सर्वथा अमूर्त है तो उसका मूर्त प्रकृति के साथ सम्बन्ध बन ही नही सकता। जैसे अमूर्त आकाश के साथ किसी मूर्त अग्नि, तलवार आदि का सम्बन्ध नही है। अग्नि, तलवार आदि मूर्त का असर भी अमूर्त आकाश पर नहीं दिखाई देता। क्योंकि आकाश का अग्नि से दाह और तलवार से छेदन नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा को सर्वथा अमूर्त मानने पर उस पर मूर्त प्रकृति का असर कुछ भी न हो सकेगा। परन्तु साख्यदर्शन के मन्तव्यानुसार प्रकृति के सम्बन्ध से आत्मा नर-नारक आदि पर्यायों तथा सुख-दु.ख आदि परिणामों का अनुभव करता है। इसलिए साख्यदर्शन का आत्मा को सर्वथा अमूर्त मानना भी असत्य है।

जपाकुसुम का दृष्टान्त दे कर आत्मा को जो सर्वथा निर्विकार, निर्लेप और शुद्ध सिद्ध करने की चेष्टा की गई है, वह भी यथार्थ नही है। जपाकुसुम का सम्बन्ध स्फटिकमणि के साथ बना रहता है, तभी तक वह स्फटिक लाल प्रतीत होता है। यद्यपि वह लालिमा उस स्फटिक की स्वाभाविक नहीं है ; अपितु जपाकुसुम के सम्पर्क से आई हुई विकारजन्य है। तथापि उस स्फटिक में जपाकुसुमरूप से परिणमन करने की

शक्ति होने से जपाकुसुम के संयोग से वैसा हो जाता है। जैसे लोहे का गोला अग्निरूप नहीं है, लेकिन अग्नि का सयोग होने से अग्निस्वरूप हो जाता है, और स्पर्श करने वाले को अग्नि के समान जलाता भी है। इसी प्रकार आत्मा भी द्रव्य की अपेक्षा से शुद्ध अनिविकार और निर्लेप है, लेकिन प्रकृति के संयोग से उसमें नाना पर्यायों या सुखदुःखानुभवरूप मे परिणमन करने की शक्ति होने से वह तद्रूप विकारी, अशुद्ध और लिप्त होता है, कथंचित् मूर्त भी है। अतः आत्मा को एकान्तरूप से सर्वथा शुद्ध, निर्लेप, निर्विकार और अमूर्त कहना मिथ्या है। सांख्यदर्शन की पूर्वोक्त सभी बातें सत्य से विपरीत सिद्ध हुई हैं। सत्य यह है कि आत्मा ही पुण्य-पापकर्म का कर्ता है और वही उसका फलभोक्ता भी है। वह कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है, नरकादि पर्यायों में गमन करने के कारण सक्रिय है तथा ज्ञानादिगुण से विशिष्ट है और कर्मलेप से युक्त भी है।

पांच कारण-समवाय में सत्यासत्यता—कई दार्शनिक जगत् के रचनारूप कार्य में काल को ही एकमात्र कारण मानते हैं। उनका कहना है कि बीज में उगने की शक्ति होते हुए भी, पानी, जमीन आदि का निमित्त और किसान का पुरुषार्थ मिलने पर भी वह समय पर ही अनाज के रूप में अंकुरित होता है। इसी प्रकार संतानोत्पत्ति के सब निमित्त मिलने पर भी गर्भ काल के ९ मास पूर्ण होने पर ही प्रायः संतान होती है। यह सब काल का प्रभाव है। अपने-अपने समय पर ही सब ऋतुएँ, मास, पक्ष आदि अपना-अपना प्रभाव दिखाते हैं। कहा भी है—

> कालः सृजति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।
> कालः सुप्तेषु, जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः॥

अर्थात्—प्राणियों की सृष्टि (उत्पत्ति) अपने-अपने समय पर काल ही करता है, काल ही समय पर उनका संहार करता है। सब के सो जाने पर काल निरन्तर जागता रहता है। अतः काल के नियम का उल्लंघन नहीं हो सकता।

दूसरे कुछ दार्शनिक स्वभाव को ही एकमात्र विश्व के पदार्थों के निर्माण और ध्वंसरूप कार्यों का कारण मानते हैं। उनका कहना है—संसार के जितने भी कार्य हैं, वे सब स्वभाव से ही होते हैं। इसमें किसी की इच्छा, काल या पुरुषार्थ काम नहीं देते। अपने-अपने स्वभावानुसार सभी चीजें बनती-बिगड़ती हैं। गन्ने में मिठास, सौंठ में तीखापन, मिर्च में चरचरापन, नमक में खारापन, हर्रे में कसैलापन आदि जो गुण हैं, वह स्वभाव से ही होता है। कोई उसको बनाता, बिगाडता नहीं है। कहा भी है—

> रविरुष्णः शशी शीतः, स्थिरोऽद्रिः पवनश्चलः।
> न श्मश्रुः स्त्रीमुखे, हस्ततलेषु न कुचोद्भवः॥
> भव्याऽभव्यादयो भावाः स्वभावेनैव जृम्भते।

कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च ।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ॥

अर्थात्—सूर्य गर्म है, चन्द्रमा शीतल है, पहाड़ स्थिर है, हवा चंचल है, स्त्री के मुंह पर मूंछें नहीं आतीं. हथेली पर स्तन का उद्भव नहीं होता । किसी में भव्य-भाव और किसी में अभव्य भाव, सद्गुण-दुर्गुण आदि सब भाव स्वभाव से ही होते हैं । कांटों में तीखापन कौन करता है ? मृग और पक्षियों के अन्दर विभिन्न भाव और रंगरूप आदि की विचित्रता सब स्वभाव से ही होती है । सभी कार्यों में स्वभाव की प्रधानता है । किसी की इच्छा इसमें नही चल सकती, पुरुषार्थ का तो वहां चलता ही क्या है ?

तीसरे दार्शनिक नियति से ही जगत् के सभी कार्यों का होना, या बिगड़ना मानते हैं । उनका कहना है कि जो कुछ होना होता है, वह हो कर ही रहता है, जो नहीं होना होता है, वह लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं होता । उसका वैसा होने का स्वभाव होने पर भी, काल पक जाने पर भी, मनुष्य की इच्छा होने पर भी, वह नहीं होता, जो नहीं होना है । अतः नियति यानी भवितव्यता या होनहार ही बलवान है । कहा भी है—

"प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः, किं कारणं ? दैवमलंघनीयम् ।
तस्मान्न शोचामि, न विस्मयामि, यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥१॥
द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतम् ॥२॥
सा सा सम्पद्यते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः ।
सहायास्तादृशा ज्ञेया, यादृशी भवितव्यता ॥३॥
नहि भवति यन्न भाव्यं, भवति च भाव्यं विनाऽपि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति, यस्य तु भवितव्यता नास्ति ॥४॥

अर्थात्—'क्या कारण है कि जो पदार्थ मिलने वाला है, उसे मनुष्य अवश्य ही प्राप्त करता है ; क्योंकि दैव—भाग्य दुर्निवार है । इसलिए मैं किसी बात को पाने की चिन्ता नहीं करता और न किसी चीज के चले जाने पर आश्चर्य ही करता हूं । जो पदार्थ हमारा है, वह दूसरे का हो नहीं सकता । यानी वह मुझे अवश्य ही मिलेगा ।'

जब विधि—दैव या भाग्य अभीष्ट व अनुकूल होता है तो दूसरे द्वीप से भी, अतल समुद्र के बीच से भी और दिशाओं के अन्तिम छोर से भी विधि हमारी इष्ट वस्तु को झटपट ला कर जुटा देती है । यानी हमें वह वस्तु अवश्य ही कहीं न कहीं से प्राप्त हो जाती है, क्योंकि जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है, वैसी ही बुद्धि होने लग जाती है, वैसा ही पुरुषार्थ होने लगता है और वैसे ही सहायक मिलते जाते हैं । जो नहीं होने वाला है, वह कभी नहीं होता है और जो होनहार है, वह बिना

प्रयत्न के ही हो जाता है। जिसकी भवितव्यता नहीं है, वह वस्तु हाथ में आ हुई भी चली जाती है।

इसी प्रकार कई दार्शनिक कर्म को ही जगत् के सब अच्छे बुरे कार्य या भली-बुरी स्थिति का कारण मानते हैं। उनका कहना है कि कर्म अच्छे होते हैं तो सब चीजें अनायास ही मिल जाती हैं, न स्वभाव बाधक बनता है, न काल और न नियति ही ; तथा न पुरुषार्थ की ही अपेक्षा रहती है। कर्म ही सब कुछ करने-धरने वाला है। कहा भी है—

'ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे।
विष्णुर्येन दशावतारग्रहणे क्षिप्तो महासंकटे॥
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितो।
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने, तस्मै नमः कर्मणे।'

अर्थात्—'जिसने ब्रह्माजी को ब्रह्माण्डरूपी बरतन बनाने में ही कुम्भार की तरह नियुक्त कर दिया ; जिसने विष्णु को दश अवतारों के धारण करने के महासंकट में डाल दिया, जिसने महादेव को हाथ में खप्पर ले कर भिक्षाटन करवा दिया, और जिसके प्रभाव से सूर्य प्रतिदिन आकाश-मंडल में घूमता है ; उस कर्म को नमस्कार है।'

कई दार्शनिक कर्म के साथ ही दैव को भी संसार के सभी कार्यों का कारण मानते हैं। वे कहते हैं—पूर्वकृत कर्म ही दैव या भाग्य है। उसी के आधार पर मनुष्य का वर्तमान और भविष्य बनता है। पूर्वकृत कर्म के वश ही मनुष्य का अच्छा या बुरा प्रारब्ध अथवा भाग्य बनता है। इसलिए इसमें भी कर्म के सम्बन्ध में दिये गए सभी तर्क समझ लेने चाहिए।

इसके पश्चात् कई लोग यदृच्छा को भी सृष्टि के कार्यों में प्रबल कारण मानते हैं। उनका कहना है—'ईश्वरेच्छा बलीयसी' ईश्वर की इच्छा ही सबसे बलवती होती है। हमारा सोचा हुआ कुछ काम नहीं आता। अथवा यदृच्छा का मतलब अपने आप ही होता है। कहा भी है—

'अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजातम्।
काकस्य तालेन यथाभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाभिमानः॥'

अर्थात्—प्राणियों को विचित्र सुख या दुःख अप्रत्याशितरूप से बिना सोचे विचारे ही सहसा उपस्थित हो जाते हैं। उड़ते हुए कौए का ताड़ पर बैठना और ताड़ के पेड़ का गिरना, दोनों बातें अकस्मात् ही हो गईं। अतः सभी बातें अपने आप ही (यदृच्छा से) होती हैं, इस में बुद्धि लगा कर पहले से सोचने का अभिमान करना व्यर्थ है।

"सत्यं पिशाचाः स्म वने वसामो, भेरीं कराग्रैरपि न स्पृशामः।
यदृच्छया सिद्ध्यति लोकयात्रा, भेरीं पिशाचाः परिताडयन्ति॥"

'सचमुच यहाँ पिशाच रहते है। क्योंकि हम भी वन में ही रहते हैं ; और भेरी (नगाड़े) को हाथ से छूते तक भी नही, फिर भी वह बराबर आवाज करती रहती है। इससे निश्चित है कि भेरी को पिशाच ही बजाते है। इस प्रकार हमारी सब लोकयात्रा अपने आप ही अनायास सम्पन्न होती रहती है।'

इस प्रकार विना ही पुरुषार्थ, काल, स्वभाव और होनहार की अपेक्षा रखे अपने आप ही सब काम होते रहते हैं, किसी काम का कोई कर्ता-धर्ता नहीं होता।

इसके पश्चात् कई दार्शनिक पुरुषार्थवाद को ही एकान्त महत्त्व देते हैं। उनका कहना है कि काल, स्वभाव आदि कितने ही अनुकूल हों, पहले या पीछे पुरुषार्थ तो करना ही पड़ता है। पुरुषार्थ से ही सब काम सफल होते है। संसार में धनवान, विद्यावान, चारित्रवान,कीर्तिमान और सत्तावान पुरुषार्थ के बल पर ही बनते है। यदि हम भाग्य, काल, स्वभाव या दैव आदि के भरोसे चुपचाप बैठे रहते तो कभी अपने मनोनीत कार्य मे सफल नही होते। अत. पुरुषार्थ ही संसार के सब कार्यो का प्रधान कारण है। कहा भी है—

> उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी—
> दैवेन देयमिति कापुरुषा वदंति ॥
> दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या।
> यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥१॥
> उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
> नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥२॥
> 'दुस्साध्यमप्युद्यमतस्सुसाध्यं, भवेदनालस्यवशादभीष्टम्।'

अर्थात्—'लक्ष्मी उद्योगी पुरुषसिंह के पास ही आती है। जो कायर होते हैं, वे ही चिल्लाते है कि दैव ही देगा। अतः दैव का पल्ला छोड़ कर अपनी शक्तिभर पुरुषार्थ करो। प्रयत्न करने पर भी यदि कोई कार्य सिद्ध नही होता, तो इसमें क्या दोप है ? कार्य उद्यम से ही सिद्ध होते हैं, केवल मनोरथ करने से नही। सोये हुए आलसी सिंह के मुँह में कभी हिरण आ कर नहीं घुसते। उसके लिए उसे पुरुषार्थ करना ही पड़ता है। पुरुषार्थ से दुःसाध्य बातें भी सुसाध्य हो जाती है, आलस्य छोड कर उद्यम करने से ही अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है।"
इस प्रकार काल, स्वभाव, नियति, दैव, यदृच्छा, कर्म और पुरुषार्थ इनमें से एक-एक को ही एकान्तरूप से मानने और दूसरों का निषेध करने वाले ये सब दार्शनिक यथार्थ-वादी नही है। ये एकान्तवादी होने के कारण असत्यवादी हैं। कहा भी है—

> 'कालो सहाव नियई, पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता।
> मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तमिति॥'

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ इन पांचों कारणों में से एक-एक को ही एकान्त रूप से मानना मिथ्यात्व (असत्य) है और इन पांचों को संयुक्तरूप से कारण मानना सम्यक्त्व (सत्य) है !

काल की प्रतीक्षा भी कार्य में आवश्यक है। उस कार्य में वैसा होने का स्वभाव भी होना चाहिए, अतः स्वभाव भी देखना पड़ता है। कई दफा दूसरे निमित्तों के मिलने पर भी कार्य नही होता या विलम्ब से होता है, वहां भवितव्यता (नियति) को मानना पड़ता है। कहीं-कहीं कालादि के अनुकूल होने पर भी पर्याप्त पुरुषार्थ, ईश्वरेच्छा, यदृच्छा या भाग्य प्रवल न होने से कार्य अनुकूल नहीं होता। इसलिए पांच-कारण मिल कर ही कार्य को सिद्ध कर सकते हैं, अकेले एक कारण से काम नही होता। जहां बुद्धिपूर्वक काम होता है, वहां पुरुषार्थ की प्रधानता है और जहां अबुद्धिपूर्वक कार्य होता है, वहां दैव आदि की प्रधानता है। इसलिए इन पांचों में से एक पर ही जोर दे कर एकान्तरूप से उसी का प्ररूपण करना असत्यवाद है।

पारमार्थिक धर्म की ओट में असत्यवादिता—बहुत से लोग अपना जीवन वैभव-विलास, आमोद-प्रमोद और खाने-पीने की तृप्ति में ही बिताते हैं। ऐसे लोग अपने असंयम पर धर्म की मुहरछाप लगाने के लिए इन बातों को ही धर्म का रूप दे बैठते हैं और संयम में प्रवृत्त करने वाली जो धर्म की बातें हैं, उनके पालन से कतरा कर अपने सुकुमार जीवन की पुष्टि के लिए उन्हें ढोंग, मिथ्या, या पाखण्डकल्पित आदि कह कर ठुकरा देते हैं। ऐसे लोग महान् असत्यवादी हैं, स्वपरवंचक भी हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—

'एवं केइ जंपंति इड्ढिरससायगारवपरा""धम्मवीमंसएण मोसं।'

परदोषारोपण करने वाले असत्यवादी—कई लोग स्वयं अपना जीवन सुधारने का प्रयत्न नहीं करते। वे प्रसिद्धि पाना, सत्ता हथियाना, पद प्राप्त करना, अथवा अपना कोई स्वार्थ साधना चाहते हैं। इसके लिए वे दूसरों पर मिथ्या दोषारोपण कर, नीचा दिखा कर उसके प्रति जनता की श्रद्धा खत्म करके अपना उल्लू सीधा करते हैं। ऐसे लोग असत्यवादी तो हैं ही; दूसरों को मानसिक आघात पहुंचाने का प्राणवध सरीखा महापाप भी करते हैं। अथवा अपने दोषों को छिपाने के लिए वे दूसरों के के गले वे ही दोष मढ देते हैं, जिससे कि वे व्यक्ति कायल होकर दब जाय, उन्हें पाप से हटने के लिए कुछ कहने को मुंह न खोल सकें। वर्तमान राजनीतिज्ञों के जीवन में अकसर यह देखा जाता है कि वे शासकपक्ष की या एक दूसरे की भरपेट निन्दा करते हैं, खरी-खोटी आलोचना करके उसे गिराने की कोशिश करते हैं, झूठे दोषारोपण करते हैं। ऐसा करके वे शास्त्रकार की भाषा में "अहम्मओ रायदुट्ठं अब्भक्खाणं

भणंति ।" कुछ लोग शासनकर्ता के विरुद्ध उसे बदनाम करने के लिए झूठा दोष लगाते हैं।"

कई लोगों की रग-रग में ईर्ष्या, तेजोद्वेष या डाह भरी होती है। दूसरे की कीर्ति, बढ़ती हुई प्रतिष्ठा, गुणवृद्धि, तरक्की, धार्मिकता या तेजस्विता उन्हें फूटी आँखों नही सुहाती और वे उसे सह न सकने के कारण उनके गुणो को ढांकने, उन्हें बदनाम करने या लोगों की दृष्टि में गिराने का निन्द्य प्रयत्न करते हैं; उनके लिए विपरीत वचन बोलते हैं, यद्वा-तद्वा बकते हैं। इस प्रकार असत्यभाषण करके वे दीर्घकाल तक अपनी आत्मा को उन सद्गुणों से पृथक् रखने वाले दुष्कर्मो का गाढ़ बन्ध कर लेते हैं।

'अलियं चोरोत्ति'·· से लेकर 'परदोसुप्पायणपसत्ता वेढेति' तक का पाठ बहुत ही स्पष्ट है। मूलार्थ मे हम इसका स्पष्ट अर्थ कर चुके हैं।

विविध कारणों से झूठ बोलने वाले—शास्त्रकार ने विविध कारणों से झूठ बोलने वालों का स्पष्ट उल्लेख किया है—"मुहरी असमिक्खियप्पलावा ······ गरुयं भणंति।" मनुष्य धन के लिए, कन्या के लिए, भूमि के लिए, गाय-बैल आदि के लिए बहुत भारी झूठ बोलता है। 'अत्थालियं' का 'स्वार्थ के लिए असत्य' अर्थ भी हो सकता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य धन, सत्ता, स्वार्थ आदि की प्राप्ति के नशे में सत्य-असत्य का कोई विचार ही नही करता। ये बड़े-बड़े कारण ही प्रायः असत्य भाषण के हैं; जिनका शास्त्रकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है।

हिंसाजनक पेशे वाले असत्यवादी—शास्त्रकार ने असत्य के भयंकर स्वरूप का वर्णन करते हुए विवध प्रकार से हिंसाकारी वचनों या उपदेशों का प्रयोग करके प्राणियों के लिए अहितरूप असत्य का सेवन करने वाले विविध व्यक्तियों का उल्लेख भी किया है। जो एक प्रकार से हिंसात्मक पेशा करने वालो को वचन द्वारा प्रोत्साहन देते हैं या उपदेश व प्रेरणा देते हैं, वे शिकारियों, पारधियों, बहेलियों, मच्छीमारों, सपेरों, लुब्धकों, पासियों, पक्षिपालकों, ग्वालों, चोरों, जासूसों, लुटेरों, उचक्कों, कोतवालों, खनिकों, मालियो एवं वनचरो, आदि को विविध प्रकार के हिंसाजनक उपदेश, निर्देश, तालीम या प्रेरणा देकर प्राणियों के अहितरूप असत्य का सेवन करते हैं। कई लोग बिना ही पुछे रातदिन दूसरों के कार्यों की चिन्ता में डूब कर ऐसे अहितकर सावद्य कार्यों की प्रेरणा करते रहते है। शास्त्रकार ने ऐसे लोगों की प्रवृत्तियों का स्पष्ट उल्लेख किया है।

असत्यवादियों की मनोवृत्ति—आगे चल कर ऐसे असत्यवादियों की मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हैं कि हिताहित व कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक मे अकुशल, अनार्य, मिथ्याशास्त्रों के वचन पर चलने वाले, असत्यकार्यों में ही रत रहने वाले, असत्य को

प्रोत्साहन देने वाली कथाओं या वातों में ही खुश रहने वाले ये असत्यवादी जन मन, वचन, काया के द्वारा अनेक प्रकार से असत्याचरण करने में संतुष्ट रहते हैं।

असत्य के कटुफल

असत्य वोलने वालों और असत्य वोलने के विविध कारणों का स्पष्ट उल्लेख करने के बाद शास्त्रकार अब असत्य के कटुफलों का निरूपण करते हैं—

मूलपाठ

तस्स य अलियस्स फलविवागं अयाणमाणा वड्ढेंति महब्भयं अविस्सामवेयणं दीहकालं बहुदुक्खसंकडं नरयतिरियजोणिं, तेण य अलिएण समणुबद्धा आइद्धा पुणब्भवंधकारे भमंति भीमे दुग्गतिवसहिमुवगया, ते य दिसंति ह दुग्गया, दुरंता, परवस्सा, अत्थभोगपरिवज्जिया, असुहिता, फुडियच्छविबीभच्छविवन्ना, खरफरुसविरत्तज्झामज्झुसिरा, निच्छाया, लल्लविफलवाया, असक्कतमसक्कया, अगंधा, अचेयणा, दुभगा, अकंता, काकस्सरा, हीणभिन्नघोसा, विहिंसा, जडवहिरंधया (मूया) य, मम्मणा, अकंतविकयकरणा, णीया, णीयजणनिसेविणो, लोगगरहणिज्जा, भिच्चा, असरिसजणस्स पेस्सा, दुम्मेहा, लोकवेदअज्झप्प समयसुतिवज्जिया, नरा धम्मबुद्धिवियला।

अलिएण य तेणं पडज्झमाणा असंतएण य अवमाणणपिट्ठिमंसाहिक्खेव- पिसुण - भेयण - गुरुबंधवसयणमित्तवक्खारणादियाइं अब्भक्खाणाइं बहुविहाइं पावेंति अमणोरमाइं हिययमणदूमकाइं, जावज्जीवं दुरुद्धराइं, अणिट्ठ-खर-फरुसवयण-तज्जणनिब्भच्छण-दीणवदणविमणा, कुभोयणा, कुवाससा, कुवसहीसु किलिस्संता, नेव सुहं नेव निव्वुइं उवलभंति अच्चंतविपुलदुक्खसयसंपउत्ता (संपलित्ता)।

एसो सो अलियवयणस्स फलविवाओ इहलोइओ, परलोइओ, अप्पसुहो, बहुदुक्खो, महब्भओ, बहुरयप्पगाढो, दारुणो,

कक्कसो,असाओ, वाससहस्सेहिं मुच्चइ। न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति,एवमाहंसु नायकुलनंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरनामधेज्जो कहेसी य अलिय-वयणस्स फलविवागं, एयं तं त्रितीयंपि अलियवयणं, लहुसग-लहु-चवलभणियं, भयंकरं, दुहकरं, अयसकरं, वेरकरगं, अरतिरतिरागदोस-मणसंकिलेसवियरणं, अलियणियडिसादिजोगबहुलं, नीयजणनिसेवियं, निस्संसं (निसेसं), अपच्चयकारकं, परमसाहुगरहणिज्जं, परपीलाकारकं परमकण्हलेससहियं, दुग्गतिविनिवायवड्ढणं पुणब्भवकरं चिरपरिचियमणु (णा) गयं, दुरुत्तं (दुरंतं) त्रितीयं अधम्मदारं समत्तं ॥ सू० ८ ॥

संस्कृतच्छाया

तस्य च अलीकस्य फलविपाकमजानन्तो वर्द्धयन्ति महाभयामविश्रामवेदनां दीर्घकालां बहुदुःखसंकटां नरकतिर्यग्योनिं, तेन चालीकेन समनुबद्धा आदिग्धाः पुनर्भवान्धकारे भ्रमन्ति भीमे दुर्गतिवसतिमुपगता, ते च दृश्यन्त इह दुर्गता, दुरन्ताः, परवश्या, अर्थभोगपरिवर्जिता, असुखिताः (असुहृदः), स्फुटितच्छविबीभत्सविवर्णाः, खर-परुष-विरक्तध्यामशुषिरा, निच्छाया, लल्लविफलवाचोऽसंस्कृताऽसत्कृताः (असंस्कृताऽसंस्कृताः), अगन्धा, अचेतना, दुर्भगा, अकान्ताः, काकस्वरा, हीनभिन्नघोषा, विहिंसा, जडबधिरान्धकाश्च (मूकाश्च) मन्मना, अकान्तविकृतकरणा, नीचा, नीचजननिषेविणो, लोकगर्हणीया, भृत्या, असदृशजनस्य प्रेष्या, दुर्मेधसो लोकवेदाध्यात्मसमयश्रुतिवर्जिता नरा धर्मबुद्धिविकलाः।

अलीकेन च तेन प्रदह्यमाना अशान्तेन (असत्केन) अपमाननपृष्ठिमांसाधिक्षेपपिशुनभेदन - गुरु-बान्धव-स्वजन-मित्रापक्षारणादिकानि अभ्याख्यानानि बहुविधानि प्राप्नुवन्ति अमनोरमाणि हृदयमनोदुमगानि (दावकानि) यावज्जीवं दुरुद्धराणि, अनिष्टखरपरुषवचन-तर्जन-निर्भत्सनदीनवचनविमनसः, कुभोजनाः, कुवाससः, कुवसतिषु विलश्यन्तो नैव सुखं, नैव निवृत्तिमुपलभन्तेऽत्यन्तविपुलदुःखशतसम्प्रयुक्ताः (सम्प्रदीप्ताः)।

एष सोऽलीकवचनस्य फलविपाक इहलौकिक-पारलौकिकोऽल्पसुखो बहुदुःखो महाभयो बहुरजःप्रगाढ़ो दारुणः कर्कशोऽसातो वर्षसहस्रैर्मुच्यते,

न चावेदयित्वाऽस्ति खलु मोक्ष इति। एवमाख्यातवान् ज्ञातकुलनन्दनो महात्मा जिनस्तु वीरवरनामधेयः, कथितवांश्चालीकवचनस्य फलविपाकम्। एवं तद्द्वितीयमप्यलीकवचनं लघुस्वकलघुचपलभणितं भयङ्करं दुःखकरमयशस्करं वैरकरमरतिरतिरागद्वेषमनःसंक्लेशवितरणमलीकनिकृतिसातियोगबहुलं नीचजननिषेवितं निःशंसं (नृशंसं, निः शेषं वा) अप्रत्ययकारकं परमसाधुगर्हणीयं परपीड़ाकारकं परमकृष्णलेश्यासहितं दुर्गतिविनिपातवर्द्धनं पुनर्भवकरं चिरपरिचितमनु (ना) गतं दुरन्तं (दुरुक्त) द्वितीयमधर्मद्वारं समाप्तम् ।। (सू० ८)

पदार्थान्वय—(य) और (तस्स) उस (अलियस्स) असत्य के (फलविवागं) कर्मफल को, (अयाणमाणा) नहीं जानते हुए (महब्भयं) महाभयंकर, (अविस्सामवेयणं) निरन्तर वेदनायुक्त (दीहकालं) दीर्घकाल तक, (बहुदुक्खसंकडं) बहुत दुःखों से व्याप्त, (नरयतिरिक्खजोणिं) नरक और तिर्यञ्च योनि में (वड्ढेंति) वृद्धि करते हैं। (य) और (तेण अलिएण) उस असत्य से (समणुबद्धा) अच्छी तरह जकड़े हुए, (आइद्धा) चिपटे हुए, (दुग्गतिवसहिमुवगया) दुर्गति में निवास पाये हुए जीव (भीमे) भयानक, (पुणब्भवंधकारे) पुनर्जन्मरूप-संसाररूप अंधकार में (भमंति) भ्रमण करते हैं। (य) तथा (ते) वे जीव (इह) इस लोक में (दुग्गया) दुःखमय स्थिति में पड़े हुए, (दुरंता) अन्त में दुःख पाने वाले, (परवस्सा) परतंत्र, (अत्थ-भोगपरिवज्जिया) धन और भोगों से विहीन (असुहिता) सुखों से रहित अथवा सुहृदों से रहित, (फुडियछविबीभच्छविवन्ना) बीवाई, खुजली आदि से चर्मविकार वाले, विकरालरूप और खराब रंग वाले, (खरफरुसविरत्तज्झामज्झुसिरा) कठोर और खुर्दरे स्पर्श वाले व कहीं पर भी आराम न पाने वाले, फीकी कान्तिवाले और निःसार-क्षीण शरीर वाले, (निच्छाया) निस्तेज, (लल्लविफलवाया) अस्पष्ट और निष्फल वाणी वाले, (असक्कतमसक्कया) संस्कारहीन और सत्काररहित अथवा असंस्कृत (गंवार) और सुसंस्कृत भाषा से रहित, (अगंधा) दुर्गन्ध से भरे, (अचेयणा) विशिष्ट चेतना जागृति से रहित; (दुब्भगा) अभागे, (अकांता) सौन्दर्य से रहित, (काकस्सरा) कौए के समान अप्रिय स्वर वाले, (हीणभिन्नघोसा) धीमी तथा फटी हुई आवाज वाले, (विहिंसा) लोगों द्वारा खासतौर से सताये जाने वाले, (जडबहिरंधया) मूर्ख, बहरे और अंधे, (मूया) गूंगे, (य) और (मम्मणा) अस्पष्ट उच्चारण करने वाले, (अकंतविकयकरणा) अमनोज्ञ एवं विकृत इन्द्रियों वाले, (णीया) जाति, कुल, गोत्र तथा कामों से नीच,

पामरों और नीचों की संगति करने वाले अथवा नीचों की सेवा में रहने वाले, (लोक-गरहणिज्जा) लोक में निन्दनीय, (भिच्चा) चाकर, (असरिसजणस्स पेस्सा) असमान-विषम आचार-विचार वाले, अशिष्ट लोगों के आज्ञापालक, अथवा द्वेष के पात्र (दुम्मेहा) दुर्बुद्धि, (लोकवेद - अज्झप्प - समयसुतिवज्जिया) लौकिक शास्त्र महाभारत रामायण आदि, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद आदि वेद, आध्यात्मिक शास्त्र-योगशास्त्र, कर्म-ग्रन्थ आदि तथा जैन-बौद्ध आदि आगमों या सिद्धान्तों के श्रवण या ज्ञान से रहित, (धम्मबुद्धिवियला) धार्मिक बुद्धि से शून्य (दीसंति) दिखाई देते हैं। (य) और (तेण असंतएण अलिएण) उस अनुपशान्त या अशुभ असत्यवादजनित कर्माग्नि से कालान्तर में (पडज्झमाणा) जलते हुए (अवमाणण-पिट्ठिमंसाहिक्खेव - पिसुण - भेयण - गुरुबंधव - सयणमित्तवक्खारणादियाइं) अपमान, पीठ पीछे निन्दा, धिक्कार, चुगली, आपस में फूट या प्रेमसम्बन्धों का भंग, गुरुजनों, स्नेहीजनों, सम्बन्धीजनों तथा मित्रजनों के तीखे वचनों से अनादर आदि से युक्त, (अमणोरमाइं) अमनोहर, (हिययमणदूमकाइं) हृदय और मन को संताप देने वाले, (जावज्जीवं) जीवनपर्यन्त (दुरुद्धराणि) मुश्किल से मिटने वाले, (बहुविहाइं) अनेक प्रकार के, (अब्भक्खाणाइं) मिथ्या दोषारोपणों को (पावेंति) पाते हैं। और (अनिट्ठखरफरुसवयण - तज्जण - निब्भच्छण-दीणवदणविमणा) अरुचिकर-अप्रिय, तीखे, कठोर और मर्मभेदी वचनों से डांटडपट, झिड़कियों और धिक्कार-तिरस्कार द्वारा दीनमुख और खिन्न चित्त वाले, अतएव (कुभोयणा) खराब भोजन पाने वाले, (कुवाससा) मैलेकुचैले व फटे वस्त्र वाले, (कुवसहीसु किलिस्संता) खराब बस्ती में क्लेश पाते हुए (अच्चंतविपुलदुक्खसयसंपलि (उ) त्ता) अत्यन्त विपुल सैकड़ों दुःखों से युक्त या प्रज्वलित (नेव) न तो (सुहं) शारीरिक सुख (उवलभंति) पाते हैं (य) और (नेव) न ही (निव्वुइं) मानसिक शान्ति पाते हैं।

(एसो) यह (सो) पूर्वोक्त (अलियवयणस्स) असत्य बोलने का (फलविवागो) फल-भोग, (इहलोइओ) इस लोकसम्बन्धी (परलोइओ) परलोक सम्बन्धी, (अप्पसुहो) अल्पसुख वाला अर्थात् सुख रहित, (बहुदुक्खो) बहुत दुःखों से युक्त (महब्भओ) महाभयानक, (बहुरयप्पगाढो) बहुत कर्मरज के कारण आत्मा के साथ गाढ़रूप से सम्बद्ध, (दारुणो) तीक्ष्ण, (कक्कसो) कर्कश-कठोर, (असाओ) असाता पैदा करने वाला, (वाससहस्सेहिं) हजारों वर्षों में, (मुच्चइ) छूटता है। (य) तथा (अवेदयित्ता) बिना भोगे (हु) निश्चय ही, (मोक्खो नत्थि) छुटकारा नहीं होता। (एवं) इस प्रकार (नायकुलनंदणो) ज्ञातकुल में उत्पन्न (महप्पा) महात्मा, (वीरवरनामधेज्जो) महावीर नाम के (जिणो उ) जिने-

न चावेदयित्वाऽस्ति खलु मोक्ष इति। एवमाख्यातवान् ज्ञातकुलनन्दनो महात्मा जिनस्तु वीरवरनामधेयः, कथितवांश्चालीकवचनस्य फलविपाकम्। एवं तद्द्वितीयमप्यलीकवचनं लघुस्वकलघुचपलभणितं भयङ्करं दुःखकरमयशस्करं वैरकरमरतिरतिरागद्वेषमनःसंक्लेशवितरणमलीकनिकृतिसातियोगबहुलं नीचजननिषेवितं निःशंसं (नृशंसं, निःशेषं वा) अप्रत्ययकारकं परमसाधुगर्हणीयं परपीड़ाकारकं परमकृष्णलेश्यासहितं दुर्गतिविनिपातवर्द्धनं पुनर्भवकरं चिरपरिचितमनु (ना) गतं दुरन्तं (दुरुक्त) द्वितीयमधर्मद्वारं समाप्तम्॥ (सू० ८)

पदार्थान्वय—(य) और (तस्स) उस (अलियस्स) असत्य के (फलविवागं) कर्मफल को, (अयाणमाणा) नहीं जानते हुए (महब्भयं) महाभयंकर, (अविस्सामवेयणं) निरन्तर वेदनायुक्त (दीहकालं) दीर्घकाल तक, (बहुदुक्खसंकडं) बहुत दुःखों से व्याप्त, (नरयतिरिक्खजोणिं) नरक और तिर्यञ्च योनि में (वड्ढेंति) वृद्धि करते हैं। (य) और (तेण अलिएण) उस असत्य से (समणुबद्धा) अच्छी तरह जकड़े हुए, (आइद्धा) चिपटे हुए, (दुग्गतिवसहिमुवगया) दुर्गति में निवास पाये हुए जीव (भीमे) भयानक, (पुणब्भवंधकारे) पुनर्जन्मरूप-संसाररूप अंधकार में (भमंति) भ्रमण करते हैं। (य) तथा (ते) वे जीव (इह) इस लोक में (दुग्गया) दुःखमय स्थिति में पड़े हुए, (दुरंता) अन्त में दुःख पाने वाले, (परवस्सा) परतंत्र, (अत्थ-भोगपरिवज्जिया) धन और भोगों से विहीन (असुहिता) सुखों से रहित अथवा सुहृदों से रहित, (फुडियछविबीभच्छविवन्ना) बीवाई, खुजली आदि से चर्मविकार वाले, विकरालरूप और खराब रंग वाले, (खरफरुसविरत्तज्झामज्झुसिरा) कठोर और खुरदरे स्पर्श वाले व कहीं पर भी आराम न पाने वाले, फीकी कान्तिवाले और निःसार-क्षीण शरीर वाले, (निच्छाया) निस्तेज, (लल्लविफलवाया) अस्पष्ट और निष्फल वाणी वाले, (असक्कतमसक्कया) संस्कारहीन और सत्काररहित अथवा असंस्कृत (गंवार) और सुसंस्कृत भाषा से-रहित, (अगंधा) दुर्गन्ध से भरे, (अचेयणा) विशिष्ट चेतना जागृति से रहित, (दुब्भगा) अभागे, (अकांता) सौन्दर्य से रहित, (काकस्सरा) कौए के समान अप्रिय स्वर वाले, (हीणभिन्नघोसा) धीमी तथा फटी हुई आवाज वाले, (विहिंसा) लोगों द्वारा खासतौर से सताये जाने वाले, (जडबहिरंधया) मूर्ख, बहरे और अंधे, (मूया) गूंगे, (य) और (मम्मणा) अस्पष्ट उच्चारण करने वाले, (अकंतविकयकरणा) अमनोज्ञ एवं विकृत इन्द्रियों वाले, (णीया) जाति, कुल, गोत्र तथा कामों से नीच,

पामरों और नीचों की संगति करने वाले अथवा नीचों की सेवा में रहने वाले, (लोक-गरहणिज्जा) लोक में निन्दनीय, (भिच्चा) चाकर, (असरिसजणस्स पेस्सा) असमान-विषम आचार-विचार वाले, अशिष्ट लोगों के आज्ञापालक, अथवा द्वेष के पात्र (दुम्मेहा) दुर्बुद्धि, (लोकवेद - अज्झप्प - समयसुतिवज्जिया) लौकिक शास्त्र महाभारत रामायण आदि, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद आदि वेद, आध्यात्मिक शास्त्र-योगशास्त्र, कर्म-ग्रन्थ आदि तथा जैन-बौद्ध आदि आगमों या सिद्धान्तों के श्रवण या ज्ञान से रहित, (धम्मबुद्धिवियला) धार्मिक बुद्धि से शून्य (दीसंति) दिखाई देते हैं। (य) और (तेण असंतएण अलिएण) उस अनुपशान्त या अशुभ असत्यवादजनित कर्माग्नि से कालान्तर में (पडज्झमाणा) जलते हुए (अवमाणण-पिट्ठिमंसाहिक्खेव - पिसुण - भेयण - गुरुबंधव - सयणमित्तवक्खारणादियाइं) अपमान, पीठ पीछे निन्दा, धिक्कार, चुगली, आपस में फूट या प्रेमसम्बन्धों का भंग, गुरुजनों, स्नेहीजनों, सम्बन्धीजनों तथा मित्रजनों के तीखे वचनों से अनादर आदि से युक्त, (अमणोरमाइं) अमनोहर, (हिययमणदूमकाइं) हृदय और मन को संताप देने वाले, (जावज्जीवं) जीवनपर्यन्त (दुरुद्धराणि) मुश्किल से मिटने वाले, (बहुविहाइं) अनेक प्रकार के, (अब्भक्खाणाइं) मिथ्या दोषारोपणों को (पावेंति) पाते हैं। और (अनिट्ठखरफरुसवयण - तज्जण - निब्भच्छण-दीणवदणविमणा) अरुचिकर-अप्रिय, तीखे, कठोर और मर्मभेदी वचनों से डांटडपट, झिड़कियों और धिक्कार-तिरस्कार द्वारा दीनमुख और खिन्न चित्त वाले, अतएव (कुभोयणा) खराब भोजन पाने वाले, (कुवाससा) मैलेकुचैले व फटे वस्त्र वाले, (कुवसहीसु किलिस्संता) खराब बस्ती में क्लेश पाते हुए (अच्चंतविपुलदुक्खसयसंपलि (उ) त्ता) अत्यन्त विपुल सैंकड़ों दुःखों से युक्त या प्रज्वलित (नेव) न तो (सुहं) शारीरिक सुख (उवलभंति) पाते हैं (य) और (नेव) न ही (निव्वुइं) मानसिक शान्ति पाते हैं।

(एसो) यह (सो) पूर्वोक्त (अलियवयणस्स) असत्य बोलने का (फलविवागो) फल-भोग,(इहलोइओ) इस लोकसम्बन्धी (परलोइओ) परलोक सम्बन्धी,(अप्पसुहो) अल्पसुख वाला अर्थात् सुख रहित, (बहुदुक्खो) बहुत दुःखों से युक्त (महब्भओ) महाभयानक, (बहुरयप्पगाढ़ो) बहुत कर्मरज के कारण आत्मा के साथ गाढ़रूप से सम्बद्ध, (दारुणो) तीक्ष्ण, (कक्कसो) कर्कश-कठोर, (असाओ) असाता पैदा करने वाला, (वाससहस्सेहिं) हजारों वर्षों में, (मुच्चइ) छूटता है। (य) तथा (अवेदयित्ता) बिना भोगे (हु) निश्चय ही, (मोक्खो नत्थि) छुटकारा नहीं होता। (एवं) इस प्रकार (नायकुलनंदणो) ज्ञातकुल में उत्पन्न (महप्पा) महात्मा, (वीरवरनामधेज्जो) महावीर नाम के (जिणो उ) जिने-

न चावेदयित्वाऽस्ति खलु मोक्ष इति। एवमाख्यातवान् ज्ञातकुलनन्दनो महात्मा जिनस्तु वीरवरनामधेयः, कथितवांश्चालीकवचनस्य फलविपाकम्। एवं तद्द्वितीयमप्यलीकवचनं लघुस्वकलघुचपलभणितं भयङ्करं दुःखकरमयशस्करं वैरकरमरतिरतिरागद्वेषमनःसंक्लेशवितरणमलीकनिकृतिसातियोगबहुलं नीचजननिषेवितं निःशंसं (नृशंसं, निः शेषं वा) अप्रत्ययकारकं परमसाधुगर्हणीयं परपीड़ाकारकं परमकृष्णलेश्यासहितं दुर्गतिविनिपातवर्द्धनं पुनर्भवकरं चिरपरिचितमनु (ना) गतं दुरन्तं (दुरुवत) द्वितीयमधर्मद्वारं समाप्तम् ॥ (सू० ८)

पदार्थान्वय—(य) और (तस्स) उस (अलियस्स) असत्य के (फलविवागं) कर्मफल को, (अयाणमाणा) नहीं जानते हुए (महब्भयं) महाभयंकर, (अविस्सामवेयणं) निरन्तर वेदनायुक्त (दीहकालं) दीर्घकाल तक, (बहुदुक्खसंकडं) बहुत दुःखों से व्याप्त, (नरयतिरिक्खजोणिं) नरक और तिर्यञ्च योनि में (वड्ढेंति) वृद्धि करते हैं। (य) और (तेण अलिएण) उस असत्य से (समणुबद्धा) अच्छी तरह जकड़े हुए, (आइद्धा) चिपटे हुए, (दुग्गतिवसहिमुवगया) दुर्गति में निवास पाये हुए जीव (भीमे) भयानक, (पुणब्भवंधकारे) पुनर्जन्मरूप-संसाररूप अंधकार में (भमंति) भ्रमण करते हैं। (य) तथा (ते) वे जीव (इह) इस लोक में (दुग्गया) दुःखमय स्थिति में पड़े हुए, (दुरंता) अन्त में दुःख पाने वाले, (परवस्सा) परतंत्र, (अत्थ-भोगपरिवज्जिया) धन और भोगों से विहीन (असुहिता) सुखों से रहित अथवा सुहृदों से रहित, (फुडियछविबीभच्छविवन्ना) बीवाई, खुजली आदि से चर्मविकार वाले, विकरालरूप और खराब रंग वाले, (खरफरुसविरत्तज्झामज्झुसिरा) कठोर और खुरदरे स्पर्श वाले व कहीं पर भी आराम न पाने वाले, फीकी कान्तिवाले और निःसार-क्षीण शरीर वाले, (निच्छाया) निस्तेज, (लल्लविफलवाया) अस्पष्ट और निष्फल वाणी वाले, (असक्कतमसक्कया) संस्कारहीन और सत्काररहित अथवा असंस्कृत (गंवार) और सुसंस्कृत भाषा से रहित, (अगंधा) दुर्गंध से भरे, (अचेयणा) विशिष्ट चेतना जागृति से रहित; (दुब्भगा) अभागे, (अकंता) सौन्दर्य से रहित, (काकस्सरा) कौए के समान अप्रिय स्वर वाले, (हीणभिन्नघोसा) धीमी तथा फटी हुई आवाज वाले, (विहिंसा) लोगों द्वारा खासतौर से सताये जाने वाले, (जडवहिरंधया) मूर्ख, बहरे और अंधे, (मूया) गूंगे, (य) और (मम्मणा) अस्पष्ट उच्चारण करने वाले, (अकंतविकयकरणा) अमनोज्ञ एवं विकृत इन्द्रियों वाले, (णीया) जाति, कुल, गोत्र तथा कामों से नीच,

पामरों और नीचों की संगति करने वाले अथवा नीचों की सेवा में रहने वाले, (लोक-गरहणिज्जा) लोक में निन्दनीय, (भिच्चा) चाकर, (असरिसजणस्स पेस्सा) असमान-विषम आचार-विचार वाले, अशिष्ट लोगों के आज्ञापालक, अथवा द्वेष के पात्र (दुम्मेहा) दुर्बुद्धि, (लोकवेद - अज्झप्प - समयसुतिवज्जिया) लौकिक शास्त्र महाभारत रामायण आदि, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद आदि वेद, आध्यात्मिक शास्त्र-योगशास्त्र, कर्म-ग्रन्थ आदि तथा जैन-बौद्ध आदि आगमों या सिद्धान्तों के श्रवण या ज्ञान से रहित, (धम्मबुद्धिवियला) धार्मिक बुद्धि से शून्य (दीसंति) दिखाई देते हैं। (य) और (तेण असंतएण अलिएण) उस अनुपशान्त या अशुभ असत्यवादजनित कर्माग्नि से कालान्तर में (पडज्झमाणा) जलते हुए (अवमाणण-पिट्ठिमंसाहिक्खेव - पिसुण - भेयण - गुरुबंधव - सयणमित्तवक्खारणादियाइं) अपमान, पीठ पीछे निन्दा, धिक्कार, चुगली, आपस में फूट या प्रेमसम्बन्धों का भंग, गुरुजनों, स्नेहीजनों, सम्बन्धीजनों तथा मित्रजनों के तीखे वचनों से अनादर आदि से युक्त, (अमणोरमाइं) अमनोहर, (हिययमणदूमकाइं) हृदय और मन को संताप देने वाले, (जावज्जीवं) जीवनपर्यन्त (दुरुद्धराणि) मुश्किल से मिटने वाले, (बहुविहाइं) अनेक प्रकार के, (अब्भक्खाणाइं) मिथ्या दोषारोपणों को (पावेंति) पाते हैं। और (अणिट्ठखरफरुसवयण - तज्जण - निब्भच्छण-दीणवदणविमणा) अरुचिकर-अप्रिय, तीखे, कठोर और मर्मभेदी वचनों से डांटडपट, झिड़कियों और धिक्कार-तिरस्कार द्वारा दीनमुख और खिन्न चित्त वाले, अतएव (कुभोयणा) खराब भोजन पाने वाले, (कुवाससा) मैलेकुचैले व फटे वस्त्र वाले, (कुवसहीसु किलिस्संता) खराब बस्ती में क्लेश पाते हुए (अच्चंतविपुलदुक्खसयसंपलि (उ) त्ता) अत्यन्त विपुल सैंकड़ों दुःखों से युक्त या प्रज्वलित (नेव) न तो (सुहं) शारीरिक सुख (उवलभंति) पाते हैं (य) और (नेव) न ही (निव्वुइं) मानसिक शान्ति पाते हैं।

(एसो) यह (सो) पूर्वोक्त (अलियवयणस्स) असत्य बोलने का (फलविवागो) फल-भोग, (इहलोइओ) इस लोकसम्बन्धी (परलोइओ) परलोक सम्बन्धी, (अप्पसुहो) अल्पसुख वाला अर्थात् सुख रहित, (बहुदुक्खो) बहुत दुःखों से युक्त (महब्भओ) महाभयानक, (बहुरयप्पगाढो) बहुत कर्मरज के कारण आत्मा के साथ गाढ़रूप से सम्बद्ध, (दारुणो) तीक्ष्ण, (कक्कसो) कर्कश-कठोर, (असाओ) असाता पैदा करने वाला, (वाससहस्सेहिं) हजारों वर्षों में, (मुच्चइ) छूटता है। (य) तथा (अवेदयित्ता) बिना भोगे (हु) निश्चय ही, (मोक्खो नत्थि) छुटकारा नहीं होता। (एवं) इस प्रकार (नायकुलनंदणो) ज्ञातकुल में उत्पन्न (महप्पा) महात्मा, (वीरवरनामधेज्जो) महावीर नाम के (जिणो उ) जिने-

श्वर भगवान् ने (अलियवयणस्स) असत्यभाषण का (फलविवागं) फलविपाक—परिणामों का भाग, (कहेसी) कहा था, (एवमाहंसु) ऐसा गौतमादि गणधरों ने कहा है। (एय) इस प्रकार (तं) वह (अलियवयणं) असत्यवचन, (लहुसगलहुचवलभणियं) तुच्छ आत्माओं से भी तुच्छ एवं चपल मनुष्यों द्वारा बोला जाने वाला, (भयंकरं) भयंकर है, (दुहकरं) दुःखप्रद है, (अयसकरं) अपयश दिलाने वाला है, (वेरकरं) वैर विरोध उत्पन्न करने वाला है, (अरतिरतिरागदोसमणसंकिलेसवियरणं) अरति, रति, राग, द्वेष एवं मन में संक्लेश पैदा करने वाला है, (अलियनियडिसातिजोगबहुलं) असत्य, माया और धूर्तता की प्रवृत्तियों से परिपूर्ण है, (नीयजणनिसेवियं) जाति, कुल और कामों से हीन कमीने लोगों द्वारा ही सेवित है, (निसंसं) घातक है अथवा प्रशंसारहित है अथवा निःशेष - समस्त (अपच्चयकारकं) अविश्वासों का कारण है, (परमसाहुगरहणिज्जं) उत्कृष्ट साधुओं द्वारा निन्द्य है, (परपीलाकारकं) दूसरे प्राणियों को पीड़ा देने वाला है, (परमकिण्हलेस्ससहियं) परम कृष्णलेश्या से युक्त है, (दुग्गतिविनिवायवड्ढणं) दुर्गति के पतन में वृद्धि करने वाला है,(पुणब्भवकरं) पुनः पुनः जन्म कराने वाला, (चिरपरिचियं) अनादिकाल से परिचित—अभ्यस्त है, (अणुगयं) परम्परागत है अथवा (अणागयं) भविष्य में भी साथ जाने वाला है, (दुरंतं) परिणाम में दुःखदायी है। (बितीयं) यह द्वितीय (अधम्मदारं) अधर्मद्वार, (समत्तं) समाप्त हुआ।

मूलार्थ—उस पूर्वोक्त असत्यभाषण से बंधे हुए कर्मफल को नही जानने वाले मनुष्य महाभयंकर,निरन्तरवेदना से परिपूर्ण, लम्बे समय तक प्रचुर दुःखों से व्याप्त नरक और तिर्यञ्चयोनि का वन्ध करते है और उसकी अवधि को बढ़ाते हैं। तथा निरन्तर असत्य भाषण में रचेपचे और चिपटे हुए दुर्गति में निवास पा कर जीव बार-बार जन्म-मरणरूप घोर अन्धकार में भटकते रहते हैं। वे जीव नरक और तिर्यञ्चयोनि से शेष बचे हुए कर्मफलों को भोगने के लिए इस मनुष्यलोक में आते हैं ; लेकिन यहाँ भी दुःखमय स्थिति में होते हैं, अन्त में दुःख पाते हैं, परतंत्रता की बेड़ी में जकड़े रहते हैं, धन और इन्द्रियों के भोगों से वंचित रहते है, सुखों से रहित होते है, अथवा मित्रों से विहीन होते हैं, वे बीवाई, खाज, खुजली आदि चर्मरोग वाले होते हैं, उनका चेहरा बड़ा ही विकराल और शरीर का रंग भद्दा होता है, वे कठोर और खुर्दरे शरीर को पाते हैं, उन्हें कहीं भी आराम नहीं मिलता, उनके शरीर की कान्ति फीकी होती है, शरीर खोखला व बलहीन होता है, वे निस्तेज होते हैं, उनकी वाणी

अस्पष्ट एवं निष्फल होती है। वे संस्काररहित (गंवार) और सत्कारहीन होते है, उन्हें सुसंस्कृत भाषा, सभ्यता और संस्कृति नहीं मिलती। उनके मुंह, शरीर आदि से बदबू निकलती है,उनमें कोई विशेष चेतना (बोध) नही होती। वे अभागे, दरिद्र और लावण्यहीन होते है। उनका स्वर कौए के समान कर्कश होता है, उनकी आवाज धीमी (प्रभावहीन) और फटी होती है, उन्हें विभिन्न लोगों द्वारा सताया जाता है, वे मूर्ख, बहरे, अन्धे, गूंगे और तोतले होते हैं, वे स्पष्ट उच्चारण नही कर सकते, उनकी इन्द्रियां असुन्दर और विकृत होती हैं, वे जाति, कुल, गोत्र एव कामो से नीच होते है और नीचों की संगति करते हैं या नीच लोगों की सेवा में रहते हैं. जगत् में वे निन्दा के पात्र होते है, वे चाकर व विषम आचार विचार वाले अशिष्ट लोगों के आज्ञापालक हजूरिये बनते हैं; या उनके द्वेषपात्र बनते है, वे दुर्बुद्धि होते है, लौकिक शास्त्र महाभारत रामायण आदि, ऋग्वेद, सामवेद यजुर्वेद आदि वेद, योगशास्त्र, कर्मग्रन्थ,जीवविचारआदि अध्यात्मशास्त्रों एवं जैन-बौद्ध आदि आगमो या सिद्धान्तों के बोध या श्रवण से रहित होते हैं,अतएव धर्मज्ञान से या धार्मिक बुद्धि से हीन दिखाई देते हैं।

कालान्तर में उस (पूर्वोक्त) अनुपशान्त या अशुभ असत्यवादजनित कर्मरूप अग्नि से जलते हुए वे मनुष्य तरह-तरह से अपमानित होते हैं, उनकी पीठ पीछे निन्दा होती है, उन्हें बार-बार झिड़का जाता है, उनकी चुगली की जाती है, उनमें आपस में फूट हो जाती है या उनके साथ प्रेमसम्बन्ध तोड़ दिया जाता है, उन्हें गुरुजनों, स्नेहीजनो,सम्बन्धियो और मित्रों के तीखे,मर्मस्पर्शी व कड़वे वचन सुनने पड़ते है, ये और इस प्रकार के और भी मन को नहीं सुहाने वाले, हृदय और चित्त को चुभने वाले,जिंदगीभर मन को कचोटने वाले, बड़ी मुश्किल से दिल-दिमाग से निकलने वाले नाना प्रकार के दोषारोपण वे पाते हैं। अरुचिकर, तीखे कठोर और मर्मभेदी चुभते वचनों से डाटडपट झिड़कियों और धिक्कार-तिरस्कारों को पा कर उनका मुंह दीन और चित्त सदा खिन्न रहता है। इसी तरह उन्हें खराब भोजन मिलता है,फटे-पुराने,मैले-कुचैले कपड़े पहिनने को मिलते है, रहने के लिए निकम्मी बस्ती मिलती है, जहाँ वे क्लेश पाते हैं, अत्यन्त विपुल सैकड़ों दुःखों से वे व्यथित रहते हैं। न उन्हें शारीरिक सुख मिलता है और न मानसिक शान्ति ही मिलती है।

इस प्रकार पूर्वोक्त असत्यकथन का फलभोग इस लोक और परलोक

में थोड़े से सुख और बहुत से दुःखों वाला है; महाभयंकर है, अपार कर्मरज से आत्मा को गाढ़ बंधन में बांधने वाला है, तीक्ष्ण और कठोर है,असाता पैदा करने वाला है; हजारों वर्षों में जा कर उससे पिंड छूटता है,उस दारुण दुःखद फल को भोगे विना कदापि छुटकारा नहीं होता।' इस प्रकार ज्ञातकुलनन्दन महात्मा (चार घातिकर्मों से रहित) महावीर नामक जिनेन्द्रदेव ने असत्य-भाषण के फलविपाक का वर्णन किया था; ऐसा गौतमादि गणधरों से कहा है।

इस प्रकार वह असत्यभाषण तुच्छातितुच्छ एवं चंचल (वाचाल) मनुष्यों द्वारा बोला जाता है, यह भयंकर है, दुःखजनक है, अपयश (बदनामी) कराने वाला है, वैर का उत्पादक है, चित्त में बेचैनी, विषयों में आसक्ति, मोह,द्वेष, ममत्व और मन में संक्लेश पैदा करता है,यह अहितकर है,माया और धूर्तता से भरा है, जाति, कुल और कार्यों से नीच लोगों द्वारा ही सेवित है घातक अथवा अप्रशंसित है, समस्त अविश्वासों का कारण है, उत्कृष्ट साधुओं द्वारा निन्दित है, दूसरों को पीड़ा पहुंचाने वाला है,परमकृष्णलेश्या से युक्त है, दुर्गतियों में पतन को बढ़ावा देने वाला है, संसार में पुनः पुनः जन्ममरण का कारण है, चिरकाल से परिचित-अभ्यस्त है, निरन्तर आत्मा के पीछे-पीछे लगा रहने वाला है,अथवा भविष्य में भी आत्मा के साथ आने वाला है। इसका परिणाम अत्यन्त दुःखप्रद है।

इस तरह दूसरा मृषावाद नाम का अधर्मद्वार सम्पूर्ण हुआ।

व्याख्या

पूर्व सूत्रपाठ में असत्य बोलने वालों और साथ ही असत्य बोलने के कारणों पर विशद निरूपण करने के बाद शास्त्रकार इस सूत्रपाठ मे असत्य के कटु फल किस-किस प्रकार से जीवों को भोगने पड़ते हैं, उसका स्पष्ट वर्णन करते हैं। वर्णन बहुत ही स्पष्ट है, मूलार्थ में उसका अर्थ भी हम कर आए हैं, फिर भी कुछ बातों पर यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं। अतः उन पर क्रमशः विवेचन कर रहे हैं—

'अलियस्स फलविवागं अयाणमाणा'—शास्त्रकार ने इस वाक्य से यह स्पष्ट कर दिया है कि असत्य भाषण वे ही करते हैं, जो असत्य के फल के बारे में नहीं जानते हैं, जो असत्य का स्वरूप और असत्य से हानि या कर्मबन्ध के कारण नहीं जानते या जानते हुए भी अजाने-से बने हुए हैं। धन, सत्ता, पद, उच्च जाति या उच्चकुल के गर्व में आ कर इस भ्रान्ति के कारण असत्य बोलते है कि मेरे असत्य को कौन जान पाएगा? अथवा असत्य को बुरा मानते हुए भी पूर्व-संस्कारवश,या मेरी असत्यवादिता

को कौन जानता है ? इसका फल तो किसी ने कहीं देखा नहीं । इस भ्रमवश असत्य का प्रयोग बेखटके करता है । अथवा अदूरदर्शी मनुष्य असत्य के कटुफल की ओर न झांक कर इष्टपूर्ति या अनिष्ट का निवारण भी असत्य बोल कर करना चाहता है । अथवा धनवान या सत्तावान बनने की धुन में भावी में मिलने वाले असत्य के कड़वे फलों की ओर नजर नहीं जाती । या फिर संसार के असत्यवादी लोगों को धनसम्पन्न, ऐश्वर्यशाली या सत्ताधारी बने हुए तथा सत्यवादियों को निर्धन, फटेहाल या दुःखपूर्वक दिन बिताते देख कर भविष्य का विचार किए बिना झटपट असत्य का सहारा ले बैठता है । ऐसा व्यक्ति अपने मन को झूठे निर्णयों से आश्वस्त कर लेता है कि 'असत्य, छल-कपट या फरेब से ही सांसारिक कार्य चलते हैं, धनाढ्य या सत्ताधारी बनने के लिए असत्य का ही आश्रय लेना चाहिए ।' इसी तरह कई बार किसी के भुलावे में आ कर मनुष्य असत्य की राह पर चल पडता है, भविष्य में उस असत्य के कटु फल भोगने पड़ेंगे, इस बात को वह उस समय भूल जाता है । कई बार चालाक आदमी यह सोचता है कि मैं ऐसी सिफत से असत्य बोलूंगा कि किसी को मेरे असत्य का पता तक नहीं चलेगा । ऐसे लोग भी असत्य के फल भोग का जरा भी विचार नहीं करते । कई लोग यशकीर्ति या समाज में प्रतिष्ठा पाने के नशे में दूसरों की खोटी आलोचना, निन्दा या चुगली करते हैं । इस प्रकार असत्य की शरण लेने में वे नतीजे को आँखों से ओझल कर देते हैं । वे यह नहीं सोचते कि धन, सत्ता या यश, सुख, लाभ और इनका उपभोग तो सातावेदनीय के उदय से लाभान्तराय और उपभोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम से ही हो सकता है । ये और इस प्रकार के विभिन्न कारणों से वस्तु-स्वरूप को न समझ कर तथा असत्यभाषण से अत्यन्त अशुभकर्म का बन्ध होने पर उसके उदय के समय आत्मा की कितनी बुरी हालत होगी, इस बात का विचार न करने वाले सभी मनुष्य फलविपाक से अनभिज्ञों की कोटि में आते हैं ।

नरक और तिर्यञ्चयोनि में असत्य का कुफलभोग—कई लोग यों समझ लेते हैं कि हिंसा के फल के बारे में बताते समय शास्त्रकार ने नरकभूमियों तथा नारकों की दुःस्थिति का एवं उसके पश्चात् तिर्यञ्चगति की विविध योनियों का जितना वर्णन किया था, उतना असत्यभाषण का फल बताते समय नहीं किया; इसलिए इस आश्रव या अधर्म (पाप, का इतना भयंकर फल नहीं होगा । परन्तु यह उनकी भ्रान्ति है । जिस बात का शास्त्रकार पहले वर्णन कर चुके हैं, उसे बार-बार न दोहरा कर सिर्फ संकेत कर देते हैं । यहाँ भी इस सूत्रपाठ में असत्यभाषण का फल बताते समय **'नरयतिरियजोणि'** कह कर उसके लिए कहा है —**'महब्भयं अविस्सामवेयणं, दीहकालं बहुदुक्खसंकडं'** आदि । इसी से समझ लेना चाहिए कि असत्य का कटुफल भी नरक-तिर्यञ्चयोनियों में बहुत लम्बे अर्से तक दुःख भोगना है । यहाँ नरक और तिर्यंच-

योनियों का पुनः विस्तार से वर्णन नहीं किया ; इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि असत्य की सजा हिंसा से कम है या हलकी है। हाँ, यह ठीक है कि हिंसा की भयंकरता तो प्रत्यक्ष दिखाई देती है, उससे प्राणी के प्राणो का नाश कर दिया जाता है और सृष्टि के समस्त प्राणियों पर प्राणवध की निर्दयता, क्रूरता और भयंकरता का प्रभाव सीधा पड़ता है। असत्य का प्रभाव दूसरे प्राणियों पर उतना सीधा नहीं पड़ता; प्राणियों को मारने, काटने और सताने का उपदेश, शिक्षा या प्रेरणा देने पर ही पड़ता है। फिर भी असत्य कम भयंकर नहीं है। उपदेशादि के रूप मे प्राणियों के होने वाले अहित के रूप में असत्यवचन का प्रयोग भी एक प्रकार की वाचिक हिंसा है, जिसकी परम्परा दीर्घकाल तक चलती है। इसलिए उसका कुफल भी नरक-तिर्यञ्चयोनि में बार-बार जन्ममरण करके भोगना पड़ता है।

मनुष्यगति में असत्यभाषण की सजा—यह तो निर्विवाद है कि नरकगति और तिर्यञ्चगति में असत्यभाषण की भयंकर सजा दीर्घकाल तक विविध योनियों में भटकने के रूप में काट लेने के बाद उनमें से कई जीवों को सौभाग्य से मनुष्यगति की भी प्राप्ति होती है, किन्तु मनुष्यगति में भी उनकी हालत बुरी से बुरी होती है। मनुष्यगति में वे किस प्रकार की बदतर हालत में होते हैं, इसका स्पष्ट निरूपण करते हुए शास्त्रकार स्वयं कहते हैं—'ते य दिसंति दुग्गया ··· नरा धम्मबुद्धिः वियला;·········अच्चंतविपुलदुक्खसयसंपउत्ता।" इसका अर्थ हम मूलार्थ में स्पष्ट कर आये हैं; इसलिये उसे दुबारा न कह कर, हम इस पर थोड़ा-सा विश्लेषण कर देते हैं।

मनुष्य को शारीरिक दण्ड की अपेक्षा मानसिक दण्ड असह्य और नरक की यातना से भी भयकर लगता है। मनुष्य को साधनहीन, दरिद्र, कमजोर और अपाहिज या रुग्ण हो जाने पर पद-पद पर ठोकरें खानी पड़ती हो, जगह-जगह अपमान के कड़वे घूंट पीने पड़ते हों, चारों ओर से निन्दा, झिड़कियों और आक्षेपों के वाग्-बाणों का सतत प्रहार सहना पड़ता हो, बार-बार तुच्छ और गंदे शब्दों में गालियां, भर्त्सना, अपशब्द एवं डॉटडपट की बौछारें झेलनी पड़ती हों, कल्पना कीजिए, कितनी भयंकर सजा है वह ? कितनी दर्दनाक स्थिति है मनुष्य की यह ? सुनने और विचार करने मात्र से ही रोंगटे खड़े हो जाते है ! असत्यभाषण या मृषावाद की यह मानसिक सजा कितनी भयंकर है और उसका कितना सजीव चित्र उपस्थित किया है शास्त्रकार ने !

अगर शास्त्रकार इस प्रकार से असत्यभाषण के फल-स्वरूप मिलने वाले दण्ड का वर्णन न करते तो भी हम प्रत्यक्ष कई बार अनुभव करते हैं कि झूठे आदमी का कोई विश्वास नहीं करता, उसे कोई नौकर नहीं रखता, उसके साथ लेनदेन का कोई व्यवहार नही करना चाहता; सरकार को उसकी जालसाजी का पता लगने पर उसे सख्त

सजा भी मिलती है। पुराने जमाने में तो असत्य बोलने वाले की जीभ तक काट ली जाती थी, कई बार उसे शिकारी कुत्तों से नुचवा दिया जाता था, उसके हाथ-पैर काट लिए जाते थे। मित्र और सम्बन्धी-गण असत्यवादी से बात करना पसंद नहीं करते, उसे डांटते-फटकारते भी देखे जाते हैं। इसलिए यह तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि असत्य बोलने वालों का समाज और राष्ट्र में अत्यन्त घृणित जीवन बन जाता है।

क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में असत्य का फल—लोकव्यवहार मे हम देखते हैं कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, आघात का प्रत्याघात होता है। जब कोई व्यक्ति किसी कुंए मे या पहाड़ी स्थान पर जोर से चिल्लाता है कि 'तेरा बाप चोर !' तो उसी समय प्रतिध्वनि के रूप में वे ही शब्द उसे सुनने को मिलते हैं। इसी प्रकार कोई किसी को निर्बल समझ कर उस पर प्रहार करता है तो कई बार तो तुरन्त ही सबलों द्वारा सामने से प्रहार के रूप मे उसी सिक्के में उसका जवाब दिया जाता है। मूसा पैगम्बर के जमाने में तो यह सजा आम प्रचलित थी कि अगर तुम्हारा कोई एक दांत तोड़ता है तो तुम उसके सारे दांत तोड दो। अगर कोई तुम्हारी एक आंख फोड़ता है तो तुम उसकी दोनों आंखें फोड़ दो। हजरत मुहम्मद ने भी शुद्ध न्याय के नाम पर बराबर बदला लेने का फरमान निकाला था। इसी दृष्टि से जब हम विचार करेंगे तो प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया का हमे पता लगे बिना न रहेगा। इसी मनोवैज्ञानिक और सामाजिक न्याय के तथ्य को सामने रख कर शास्त्रकारों ने प्रत्यक्ष अनुभव की आँखों से मनुष्यगति मे असत्य की सजा पाने वालों की बुरी हालत का वर्णन किया है। जिन्होंने पूर्वजन्मों में गालियां बकी हैं, दूसरों पर झूठा आक्षेप किया है, मिथ्या दोषारोपण करके निन्दित और अपमानित किया है, उन्हें उस असत्य का फल भी प्रायः उसी रूप में मिलता है। उनकी जबान लड़खडाती है, तुतलाती है, लोग उन्हें चिढ़ाते हैं, उन पर झूठे आक्षेप और आरोप लगाते हैं, पद-पद पर उनका तिरस्कार करते है। जिन्होंने पूर्वजन्म में दूसरों के अंग-भंग करने, आंखें फोड़ने, कान काटने, जबान खींचने, बदसूरत बनाने, दूसरों को दुःखित करने और मजबूत बन्धनों से कस कर बांधने का उपदेश या प्रेरणा दी है, उन्हें उसका फल प्रायः उसी रूप में इस मनुष्यजन्म में मिलता है। वे अंधे, बहरे, गूंगे, अपाहिज, बदसूरत और दुःखी बनते हैं, उन्हें शरीर बदबूदार, घिनौना और कुरूप मिलता है। दूसरों के गुलाम बन कर वे नाना प्रकार की भयंकर यातनाएं और झिड़कियां सहते हैं। उन्हें नीच जनों के यहां नौकरी करनी पड़ती है, वैसी ही नीचजाति और नीच कुल के वातावरण मे पैदा होने के कारण नीच कर्म करने के लिए वे बाध्य किये जाते हैं। जिन्होंने पूर्वजन्म में मिथ्या बोल बोल कर दूसरों को ठगा है, धर्म के नाम पर झूठे हिंसाजनक उपदेश दिए हैं, आत्मा-परमात्मा के नाम पर लोगों को अपनी मिथ्या मान्यता से गुमराह किया है,

जीवन के मूल सत्य सिद्धान्तों का अपलाप करके लोगों को लुभावनी और इन्द्रियविषय की मृगमरीचिका के जाल मे फंसने को प्रेरित किया है, सद्धर्म की राह से भटका कर अधर्म और पाप के रास्ते बताए हैं, धर्म की ओट मे वंचना करके जिन्होंने दूसरों से बढ़िया भोजन, उत्तम वस्त्र और आलीशान महल पाए हैं; ऐसे लोगों को इस जन्म मे भी प्रायः शुद्ध धर्म का बोध नहीं मिलता; वे लौकिक, व्यावहारिक, आध्यात्मिक और धार्मिक शास्त्रो के ज्ञान से वञ्चित रहते है, दर्शनशास्त्र और अध्यात्म के श्रवण से भी वे दूर रहते हैं, उन्हे सभ्य और सुसंस्कृत लोगों के सहवास के बदले गंवार और असंस्कारी लोगों का सहवास मिलता है, धार्मिकजनों के सत्संग के बदले पापीजनों का कुसंग प्राप्त होता है, इन्द्रियों के विषयसुखों के उपभोग से वे प्रायः वंचित ही रहते हैं, अध्यात्मचेतना के बदले उनमें जड़ता, मूढता, मिथ्यादृष्टि आदि का ही दुर्भाव देखने को मिलता है। अच्छे भोजन, वस्त्र और निवास के बदले रद्दी से रद्दी भोजन, फटे-पुराने वस्त्र और गन्दे से गन्दे निवासस्थान उन्हें मिलते हैं। जिन्होंने दूसरों के सच्चे सिद्धान्तों या सच्ची मान्यताओं का खण्डन किया है, स्वर्गादि का मिथ्या आश्वासन दे कर दूसरों को छला है, उन्हें इस जन्म में वैसी ही दुःस्थिति प्राप्त होती है, वाणी भी उन्हें निस्तेज, प्रभावहीन, निष्फल, अस्पष्ट और कौए के समान कर्कशस्वर वाली, धीमी और फटी हुई आवाज वाली मिलती है, वे भी बार-बार छले और सताए जाते हैं। जिन्होंने दूसरों को बहका कर आपस में लड़ाया-भिड़ाया है, सिर फुड़ाया है, जाति, धर्म, सम्प्रदाय, या अन्य बातों के नाम पर मनुष्य-मनुष्य में भेद डाले है, घृणा पैदा की है, सच्चे देव, गुरु, धर्म और शास्त्रों की झूठी निन्दा की है; उनका हाल भी यहां प्रायः वैसा ही होता है। मित्र, परिवार, गुरुजन और बन्धु-बांधव सभी उन्हें नफरत की निगाहों से देखते हैं ; उनके प्रति उनका स्नेह जरा भी नहीं होता; आपस में कलह-क्लेश के कारण वे सदा उद्विग्न और खिन्न रहते हैं, जनता में घृणा और निन्दा के पात्र बनते हैं, जगह-जगह उन्हें अपमान, धिक्कार और मार सहनी पड़ती है, पद-पद पर उन्हें लताड़ा जाता है, डांटा-फटकारा जाता है। जिन्होंने अपनी पहली जिंदगी में झूठे तोल-नाप किए हैं, लोगों को व्यवसाय में धोखा दिया है, चोरी और लूट की है ; उन्हें इस जीवन में भी प्रायः दरिद्रता साधनहीनता तथा पद-पद पर निर्धनता के कारण यातना, अवमानना और उपेक्षा बदले में मिलती है। या धन आदि सुख के साधन भी उनके लिए क्लेश, कलह, रोग, शोक आदि के कारण दुःख के साधन बन जाते है। अपनी धंधा, ज्योतिष या अन्य जीविका चलाने के लिए जिन्होंने असत्य बोल कर लोगों को धोखा दिया है पैसा बटोरा है; उन्हें इस लोक में रोग, शोक, दुःख, दारिद्र्य, घिनौना रूप, बेडौल और दुर्गन्धित शरीर व अंगोपांग मिलते हैं।

मतलब यह है कि असत्यवचन की क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में उन सबको

बदले में प्रायः वैसा ही बुरा प्रतिफल मिलता है। सारांश यह है कि संसार में कौन-सा शारीरिक और मानसिक कष्ट ऐसा है, जो असत्यवादी को न मिलता हो! सबसे बड़ा आध्यात्मिक कष्ट तो यह है कि असत्यभाषण से जीव को नरक-तिर्यञ्च आदि कुगतियां मिलती है, जहां उसे आध्यात्मिक विकास का कोई अवसर या वातावरण नहीं मिलता, उसके बाद कदाचित् मनुष्यजन्म मिल भी जाय तो वहां भी उसे जीवन में कोई आध्यात्मिक विकास की चेतना प्राप्त नहीं होती, और न आध्यात्मिक वातावरण ही मिलता है। पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्रों में अज्ञान, मिथ्यात्व और मोह की दशा से जीवन में अंधेरा छाया रहता है; आत्मा का स्वरूप और उसके विकास से ज्ञान पर कुहरा छा जाता है, मार्ग ही नहीं दिखाई देता, चलना तो दूर रहा! फिर भला उसे वास्तविक आनन्द कैसे प्राप्त हो? यह मानवजीवन के लिए सबसे बड़ी नजरबन्द कैद की-सी सजा है।

असत्यभाषण के फलभोग का स्वरूप—इस सूत्रपाठ के अन्त में शास्त्रकार संक्षेप में बताते है—असत्यभाषण का फलभोग कैसा है? **'इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो ....वाससहस्सेहिं मुच्चइ ।** अर्थात् वह इस लोक और परलोक में अल्पसुखकर और बहुदुःखप्रद है; इत्यादि। शास्त्रकार ने इन दो शब्दो में सारा निचोड दे दिया है। असत्य का यह फलभोग कितना भयंकर है, रोम-रोम कंपाने वाला है! बड़ा ही कठोर दंड है! आत्मा इतने घने अशुभ कर्मों से आच्छादित हो जाती है कि हजारों वर्षों मे जा कर कहीं उनसे छुटकारा पाती है।

'न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो'—कोई यह कहे कि असत्यभाषण का फल भुगाने वाला तो जैनदर्शन की दृष्टि से कोई परमात्मा, विष्णु, खुदा, गॉड, ब्रह्मा या ईश्वर तो है नहीं; और कोई भी जीव स्वयं कड़वे फल को क्यो भोगना चाहेगा? इसलिए असत्यभाषण का जो फल बताया है, वह कानून की पोथी की तरह शास्त्र के पन्नों पर ही रहेगा; उसे कोई भोगेगा नहीं। तब फल बताने से भी क्या लाभ? इसके उत्तर मे शास्त्रकार उपर्युक्त वाक्य द्वारा स्पष्टीकरण कर देते है कि इस (पूर्वोक्त) दारुण फल को भोगे बिना कदापि छुटकारा नहीं। जीव चाहे या न चाहे; इस सिद्धान्त को माने या न माने, परन्तु असत्यभाषण का कुफल तो उसे भोगना ही पड़ेगा; उसे भोगे बिना कोई चारा नहीं; फिर चाहे वह रोते-रोते भोगे या हंसते-हंसते! कर्मों में स्वयं ऐसी शक्ति है कि वे अपने जोर से बलात् उसे उन परिणामों को भोगने के लिए उसी योनि मे खींच ले जाते हैं और नियमानुसार बाकायदा उसे फल भोगने को बाध्य कर देते हैं। कोई यह तर्क करे कि जड़कर्मों में इतनी कहाँ ताकत है कि वे आत्मा को उसके किये हुए शुभाशुभ आचरणों के फल भुगवा सके! इसका समाधान यह है कि जड वस्तुएँ भी अपने-अपने स्वभाव के अनुसार चेतन

के साथ संयोग होने पर यथोचित फल देती हैं। जैसे कोई व्यक्ति जहर को किसी शीशी या वर्तन मे रख दे, तब तक तो वह अपना कोई असर नहीं दिखाता; किन्तु अगर उस जहर को व्यक्ति अपने मुंह में डाल लेगा यानी चेतना के साथ उस का सयोग करा देगा तो वह अवश्यमेव अपना मृत्युरूप फल दिखायेगा। भांग, शराब आदि नशीली चीजों को भी पेट में डाल लेने पर वे अवश्य ही नशा चढ़ाएँगी। इसी प्रकार आत्मा भी जब किसी क्रिया को करती है तो उसके तीव्र, मंद, मध्यम परिणामों (भावों) के अनुसार कर्मों का वन्ध उसके साथ हो जाता है, वे कर्म गाढ़रूप से बंधे हों तो आत्मा उनका पूरा-पूरा फल भोगे बिना बीच में कदापि छूट नहीं सकती। आत्मा के साथ कर्मों का संयोग ही बरबस उसे फल भोगने को बाध्य कर देता है। इसलिए जीव को कर्मों का फल भुगाने के लिए परमात्मा, ब्रह्मा, विष्णु, ईश्वर आदि कोई भी चाहे न हो और जीव चाहे स्वयं भोगने के लिए इच्छुक न हो, तो भी कर्म अपने स्वभावानुसार जीव को फल भोगने के लिए विवश कर देंगे।

असत्यभाषण का संक्षिप्त रूप—इस सूत्रपाठ के उपसंहार में असत्यभाषण के स्वरूप का संक्षेप में चित्रण किया है। इसका अर्थ बिलकुल स्पष्ट है। निष्कर्ष यह है कि असत्यभाषण भय, दुःख, अपयश, वैर, राग, द्वेष, मोह, बेचैनी, क्लेश माया, शोक, अविश्वास, निन्दा, कपट, पीड़ा, दुर्भावना, दुर्गतिगमन, पुनः-पुनः जन्ममरण, आदि बातो को बढ़ाने वाला है और चिरकाल से परिचित होने से मनुष्य अज्ञानवश इससे चिपटा रहता है। मनुष्य की जीवनयात्रा को यह शान्त और सुखद नहीं बनने देता।

एयमाहंसु नायकुलनंदणो ......वीरवरनामधेज्जो—इस वाक्य से शास्त्रकार ने अपनी विनम्रता और भक्ति प्रदर्शित करते हुए शास्त्र की प्रामाणिकता सिद्ध की है कि 'मैं अपनी बुद्धि की कल्पना से कुछ भी न कह कर ज्ञातकुलनन्दन महात्मा तीर्थंकर महावीर प्रभु ने असत्य का जैसा वस्तुस्वरूप बताया है, उसी के अनुसार कहता हूं।'

इस प्रकार सुबोधिनीव्याख्यासहित प्रश्नव्याकरणसूत्र का द्वितीय अध्ययन और मृषावादआश्रवरूप द्वितीय अधर्मद्वार सम्पूर्ण हुआ।

तृतीय अध्ययन : अदत्तादान आश्रव

अदत्तादान का स्वरूप

असत्य आश्रव का वर्णन करने के पश्चात् अब शास्त्रकार तीसरे आश्रव अदत्तादान का इस तृतीय अधर्मद्वार मे वर्णन करते हैं। क्योंकि अदत्तादान (चोरी) और असत्य का परस्पर गाढ सम्बन्ध है। चोरी करने वाले प्रायः झूठ वोला करते हैं। अतः अब यहाँ अदत्तादान—चोरी का निरूपण करते हुए सर्वप्रथम अदत्तादान के स्वरूप का निरूपण करते हैं।

मूलपाठ

जंबू ! तइयं च अदिण्णादाणं हरदहमरणभयकलुसतासण-परसंतिगऽभिज्जलोभमूलं, कालविसमसंसियं, अहोऽच्छिन्नतण्ह-पत्थाणपत्थोइमइयं,अकित्तिकरणं,अणज्जं, छिद्दमंतर-विधुर-वसण-मग्गण-उस्सव-मत्तप्पमत्त-पसुत्तवंचण - क्खिवणघायणपराणिहुय-परिणाम-तक्करजण-वहुमयं, अकलुणरायपुरिसरक्खियं, सया साहुगरहणिज्जं, पियजणमित्तजण-भेदविप्पीतिकारकं रागदोस-वहुलं, पुणो य उप्पूरसमरसंगामडमरकलि-कलहवेहकरणं, दुग्गइ-विणिवायवड्ढणं, भवपुणब्भवकरं चिरपरिचितमणुगयं दुरंतं तइयं अधम्मदारं ॥ सू० ६ ॥

संस्कृतच्छाया

जम्बू ! तृतीयं च अदत्तादानं हर-दह-मरण-भय-कलुष-त्रासन-परसत्का-भिध्यालोभमूलं कालविषमसंश्रितमधोऽच्छिन्नतृष्णाप्रस्थानप्रस्तोत्रीमतिकम-कीर्तिकरणमनार्यम् छिद्रान्तरविधुरव्यसनमार्गणोत्सवमत्त - प्रमत्तप्रसुप्त-

के साथ संयोग होने पर यथोचित फल देती हैं। जैसे कोई व्यक्ति जहर को किसी शीशी या बर्तन में रख दे, तब तक तो वह अपना कोई असर नहीं दिखाता; किन्तु अगर उस जहर को व्यक्ति अपने मुंह में डाल लेगा यानी चेतना के साथ उस का सयोग करा देगा तो वह अवश्यमेव अपना मृत्युरूप फल दिखायेगा। भांग, शराब आदि नशीली चीजों को भी पेट में डाल लेने पर वे अवश्य ही नशा चढ़ाएंगी। इसी प्रकार आत्मा भी जब किसी क्रिया को करती है तो उसके तीव्र, मंद, मध्यम परिणामों (भावों) के अनुसार कर्मों का बन्ध उसके साथ हो जाता है, वे कर्म गाढ़रूप से बंधे हों तो आत्मा उनका पूरा-पूरा फल भोगे बिना बीच में कदापि छूट नहीं सकती। आत्मा के साथ कर्मों का संयोग ही बरबस उसे फल भोगने को बाध्य कर देता है। इसलिए जीव को कर्मों का फल भुगाने के लिए परमात्मा, ब्रह्मा, विष्णु, ईश्वर आदि कोई भी चाहे न हो और जीव चाहे स्वयं भोगने के लिए इच्छुक न हो, तो भी कर्म अपने स्वभावानुसार जीव को फल भोगने के लिए विवश कर देंगे।

असत्यभाषण का संक्षिप्त रूप—इस सूत्रपाठ के उपसंहार में असत्यभाषण के स्वरूप का संक्षेप में चित्रण किया है। इसका अर्थ बिलकुल स्पष्ट है। निष्कर्ष यह है कि असत्यभाषण भय, दुःख, अपयश, वैर, राग, द्वेष, मोह, बेचैनी, क्लेश माया, शोक, अविश्वास, निन्दा, कपट, पीड़ा, दुर्भावना, दुर्गतिगमन, पुनः-पुनः जन्ममरण, आदि बातों को बढ़ाने वाला है और चिरकाल से परिचित होने से मनुष्य अज्ञानवश इससे चिपटा रहता है। मनुष्य की जीवनयात्रा को यह शान्त और सुखद नहीं बनने देता।

एवमाहंसु नायकुलनंदणो ……वीरवरनामधेज्जो—इस वाक्य से शास्त्रकार ने अपनी विनम्रता और भक्ति प्रदर्शित करते हुए शास्त्र की प्रामाणिकता सिद्ध की है कि 'मैं अपनी बुद्धि की कल्पना से कुछ भी न कह कर ज्ञातकुलनन्दन महात्मा तीर्थंकर महावीर प्रभु ने असत्य का जैसा वस्तुस्वरूप बताया है, उसी के अनुसार कहता हूं।'

इस प्रकार सुबोधिनीव्याख्यासहित प्रश्नव्याकरणसूत्र का द्वितीय अध्ययन और मृषावादआश्रवरूप द्वितीय अधर्मद्वार सम्पूर्ण हुआ।

●●

तृतीय अध्ययन : अदत्तादान आश्रव

अदत्तादान का स्वरूप

असत्य आश्रव का वर्णन करने के पश्चात् अब शास्त्रकार तीसरे आश्रव अदत्तादान का इस तृतीय अधर्मद्वार में वर्णन करते हैं। क्योंकि अदत्तादान (चोरी) और असत्य का परस्पर गाढ सम्बन्ध है। चोरी करने वाले प्रायः झूठ बोला करते हैं। अतः अब यहाँ अदत्तादान—चोरी का निरूपण करते हुए सर्वप्रथम अदत्तादान के स्वरूप का निरूपण करते हैं।

मूलपाठ

जंबू ! तइयं च अदिण्णादाणं हरदहमरणभयकलुसतासण-परसंतिगऽभिज्जलोभमूलं, कालविसमसंसियं, अहोऽच्छिन्नतण्ह-पत्थाणपत्थोइमइयं,अकित्तिकरणं,अणज्जं, छिद्दमंतर-विधुर-वसण-मग्गण-उस्सव-मत्तप्पमत्त-पसुत्तवंचण - विखवणघायणपराणिहुय-परिणाम-तक्करजण-वहुमयं, अकलुणरायपुरिसरक्खियं, सया साहुगरहणिज्जं, पियजणमित्तजण-भेदविप्पीतिकारकं रागदोस-वहुलं, पुणो य उप्पूरसमरसंगामडमरकलि-कलहवेहकरणं, दुग्गइ-विणिवायवड्ढणं, भवपुणब्भवकरं चिरपरिचितमणुगयं दुरंतं तइयं अधम्मदारं ॥ सू० ६ ॥

संस्कृतच्छाया

जम्बू ! तृतीयं च अदत्तादानं हर-दह-मरण-भय-कलुष-त्रासन-परसत्का-भिध्यालोभमूलं कालविषमसंश्रितमधोऽच्छिन्नतृष्णाप्रस्थानप्रस्तोत्रीमतिकम-कीर्तिकरणमनार्यम् छिद्रान्तरविधुरव्यसनमार्गणोत्सवमत्त - प्रमत्तप्रसुप्त-

वञ्चनाक्षेपणघातनपरानिभृतपरिणामतस्करजनबहुमतमकरुणं राज-पुरुषरक्षितं सदा साधुगर्हणीयं प्रियजन-मित्रजनभेदविप्रीतिकारकम् रागद्वेष-बहुलं पुनश्चोत्पूरसमरसंग्रामडमरकलिकलहवेधकरणं दुर्गतिविनिपातवर्द्धनं भवपुनर्भवकरं चिरपरिचितमनुगतं दुरन्तं तृतीयमधर्मद्वारम् ॥ सू० ६ ॥

पदार्थान्वय—सुधर्मास्वामी कहते हैं—(जंबू !) हे जम्बू ! (तइयं च) तीसरा (अदिण्णादानं) अदत्तादान—चोरी (हर-दह-मरण-भय-कलुस-तासण-परसंतिगऽभिज्ज-लोभमूलं) हरण, दाह, मृत्यु और भयरूप है, मलिन है, त्रास पैदा करने वाला है, परधन में रौद्रध्यानयुक्त मूर्च्छा—लोभ इसका मूल है, (कालविसमसंसियं) आधीरात आदि काल और पर्वत आदि विषम स्थान का आश्रय लेने वाला है, (अहोऽच्छिन्न-तण्हपत्थाणपत्थोइमइयं) जिसमें लगातार तृष्णातुर जीवों को अधोगति में प्रस्थान करने में प्रवृत्त करने वाली बुद्धि है, (अकित्तिकरणं) अपयश का जनक, (अणज्जं) आर्यपुरुषों द्वारा अनाचरणीय, (छिद्दमंतर-विधुर-वसण-मग्गण-उस्सव-मत्त-पमत्त-पसुत्त-वंचण-विखवण-घायण-पराणिहुय - परिणाम - तक्करजणबहुमयं) छिद्र, अवसर, विधुर-अपाय, व्यसन—राजा आदि द्वारा ढहाई हुई आफत का अन्वेषण करने वाला तथा उत्सवों में शराब आदि के नशे में चूर, असावधान तथा सोये हुए मनुष्यों को ठगने वाला, चित्त में व्याकुलता पैदा करने और घात करने में तत्पर, तथा अशान्त-चंचल परिणामवाले चोर लोगों द्वारा अत्यन्त मान्य है, (अकलुणं) करुणारहित कर्म है, (रायपुरिसरक्खियं) चौकीदार, कोतवाल आदि राजपुरुषों द्वारा निवारित है, (सया साहुगरहणिज्जं) सदा साधुओं द्वारा निन्दित, (पियजणमित्तजणभेदविप्पीति-कारकं) प्रियजनों एवं मित्रजनों में परस्पर फूट और अप्रीति—दुश्मनी पैदा करने वाला, (रागदोसबहुलं) रागद्वेष से ओतप्रोत है। (पुणो य) और फिर यह (उप्पूर-समर-संगाम-डमर-कलि-कलह-वेहकरणं) बहुतायत से मनुष्यों को मारने वाले संग्रामों, स्वचक्र - परचक्र में डमरों-विप्लवों, लड़ाई-झगड़ों—वाक्कलहों और पश्चात्ताप का कारण है, (दुग्गइविणिवायवड्ढणं) दुर्गतिपतन में वृद्धि करने वाला, (भवपुणब्भवकरं) संसार में बारबार जन्म कराने वाला, (चिरपरिचितं) चिरकाल से परिचित, (अणुगयं) निरन्तर आत्मा के साथ लगा हुआ, (य) और (दुरंतं) परिणाम में दुःखप्रद यह (तइयं) तीसरा (अधम्मदारं) अधर्मद्वार है।

मूलार्थ—सुधर्मास्वामी अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं—हे जम्बू! तीसरा अदत्तादान (बिना दी हुई या बिना अनुमति के किसी की पराई वस्तु का लेना) हरणरूप है व चित्त को जलाने वाला है, मृत्यु और भयरूप है; पापों

से जीवों को त्रास पैदा करने वाला है, पराये धन में रौद्रध्यानरूप मूर्च्छा ही इसका मूल कारण है। यह आधीरात आदि काल और पर्वत आदि विषमस्थानों पर आश्रित रहता है। जिनके चित्त में निरन्तर लालसा रहती है, उन्हें अधोगति में डालने वाली बुद्धि प्रदान करने वाला है, अपयश का कारण है, अनार्यपुरुषों द्वारा आचरित है, प्रवेशद्वार (छिद्र), अवसर (मौका), अपाय (नुकसान) तथा राजा आदि द्वारा दी गई विपत्ति का हरदम ढूंढने वाला है। उत्सवों में शराब आदि के नशे में चूर, असावधान या सोये हुए मनुष्यों की गफलत से लाभ उठाने वाला है, चित्त में घबराहट पैदा करने और मारने में उद्यत चोर-डाकुओं द्वारा बहुत मान्य (अपनाया जाता) है। चौकीदार, पहरेदार, कोतवाल आदि राजकर्मचारियों द्वारा इसे रोका जाता है, साधुपुरुष सदा इसकी निन्दा करते हैं। यह प्रियजनों और मित्रजनों में परस्पर फूट डालने और अप्रीति पैदा करने वाला है। राग और द्वेष से परिपूर्ण है, बहुतायत से मनुष्यों की मृत्यु का कारण है। दुर्गतिपतन को बढ़ावा देने वाला है। संसार में बारबार जन्म कराने वाला है, अनादिकाल से परिचित है। आत्मा का निरन्तर पिछलग्गू है और परिणाम में दुःखदायक है। यह तीसरा अधर्मद्वार है।

व्याख्या

मृषावाद का निरूपण करने के पश्चात् शास्त्रकार अदत्तादान का निरूपण करने की इच्छा से स्वरूप, नाम आदि पूर्वोक्त पांच द्वारों में से सर्वप्रथम अदत्तादान के स्वरूप का वर्णन करते है—'जंबू ! तइयं च अदिण्णादाणं'—सुधर्मास्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बूस्वामी से कहते है—'जम्बू ! यह तीसरा महापाप अदत्तादान है।'

अदत्तादान का लक्षण—जिस वस्तु पर अपना स्वामित्व नहीं है, उसे बिना दिये या बिना अनुमति के ग्रहण कर लेना या दूसरे के अधिकार की वस्तु को अपने कब्जे में कर लेना अदत्तादान कहलाता है। इसे चोरी, चौर्य, स्तेय आदि भी कहते हैं। ऐसी अदत्त वस्तु धन, या कोई भी वस्तु वस्त्र,बर्तन आदि साधन या मकान आदि भी हो सकती है।

शास्त्र में ऐसा अदत्त चार प्रकार का बताया है—स्वामी का अदत्त, जीव का अदत्त, गुरु का अदत्त, तीर्थंकर का अदत्त। इन चारों के भी द्रव्य से (ग्रहण करने योग्य कोई भी वस्तु), क्षेत्र से (सर्व लोक में), काल से (दिन और रात में), भाव से (रागद्वेष से) अदत्त होते हैं। इस प्रकार कुल मिला कर ४+४=१६ भेद अदत्त के हुए। इन सभी प्रकार के अदत्तों का महाव्रती साधु-साध्वी तीन करण एवं तीन योग

की मैत्री टूट जाती है, उनमें आपस में फूट पड़ जाती है, अप्रीति भी पैदा हो जाती है। अतः चोरी परस्पर अविश्वास और फूट पैदा करने वाली व प्रीति-विनाशिनी है।

रागदोसबहुलं—चोरी करने वाले में धन और मुफ्त के माल को हड़पने और अपना बना लेने का राग और मोह होता है, साथ ही उसके मार्ग में विघ्न डालने वालों या सामने करने वालों के प्रति द्वेष भी पैदा होता है। अतः चोरी राग-द्वेषवर्द्धक है।

उप्पूरसमरसंगामडमरकलिकलहवेहकरणं—संसार में आज तक जितने भी युद्ध हुए है, उनमे लाखों-करोड़ों मनुष्यों का संहार हुआ है। और वे सब हुए हैं या तो राज्य छीनने के लिए, या धन और सुन्दरी का अपहरण करने के लिए। चोरी का माल जहाँ आता है, वहाँ उस घर के लोगों की मनोवृत्ति हराम का माल खाने की बन जाती है,इसलिए वे मुफ्त के उस माल को हथियाने के लिए परस्पर लड़ते-भिड़ते हैं, उनमे आपस में तू-तू-मैं-मैं होती है,कई जगह राज्य या धन को हथियाने के लिए विद्रोह या विप्लव पैदा होता है, कही आपस में लट्ठ बजते हैं, सिरफुटौव्वल मचती है और कही आपसी संघर्ष के बाद जब कुछ हाथ नही आता या दोनों तरफ के आदमी मारे जाते हैं तो पछतावा होता है। इस तरह चोरी, विद्रोह, लड़ाई-झगड़े, वैरविरोध और पश्चात्ताप की जननी है।

दुग्गइविणिवायवड्ढणं—चोरी करने वाले की आत्मा सदा रौद्रध्यान मे तल्लीन रहती है; अतः उसको कर्मबन्ध भी प्रायः दुर्गति का ही होता है। बन्ध होने पर अनुभाग-बन्ध और स्थितिबन्ध में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। यानी दुर्गतिरूपी जेल में पड़े रहने की अवधि वह लम्बी बढ़ा लेता है।

भवपुणब्भवकरं—चोरी के कारण पापानुबन्धी पाप का बन्ध होने से प्रायः बार-बार जन्म-मरण करना पड़ता है। इसलिए चोरी बार-बार जन्म-मरण का कारण है।

चिरपरिचियमणुगयं दुरंतं—अशुभ कर्मों के उदय से चोरी करने वाला बार-बार कुगति में जाता है और कुगति में इसी पापकर्म को वह पुनः पुनः करता है। इसलिए वह चिरकाल से चोरी से परिचित और अभ्यस्त हो जाता है। फिर तो चोरी का पाप आत्मा के साथ-निरन्तर लगा रहता है, इससे बड़ी मुश्किल से पिंड छुड़ाना होता है।

तइयं अधम्मदारं—इस प्रकार चोरी अधर्म का तीसरा द्वार है। अधर्मद्वार में प्रवेश करने के बाद झटपट निकलना नहीं हो सकता; क्योंकि उसका सिरा नही मिलता। एक छोर से दूसरे छोर तक जिधर देखो उधर अधर्म का ही वातावरण मिलता है।

अदत्तादान के पर्यायवाची नाम

अदत्तादान का स्वरूप बताने के बाद अब शास्त्रकार अदत्तादान के गुणनिष्पन्न एकार्थक पर्यायवाची शब्दों का निरूपण करते हैं—

मूलपाठ

तस्य य णामाणि गोण्णाणि होंति तीसं,तंजहा—१ चोरिक्कं २ परहडं, ३ अदत्तं ४ कूरिकडं, ५ परलाभो, ६ असंजमो, ७ परधणम्मि गेही,८ लोलिक्कं, ९ तक्करत्तणंति य १० अवहारो ११ हत्थलहुत्तणं,[1] १२ पावकम्मकरणं, १३ तेणिक्कं, १४ हरणविप्पणासो, १५ आदियणा, १६ लुंपणा धणाणं, १७ अप्पच्चओ १८ अवीलो, १९ अक्खेवो, २० खेवो, २१ विक्खेवो, २२ कूडया, २३ कुलमसी य, २४ कंखा,२५ लालप्पणपत्थणा य, २६ आससणाय वसणं, २७ इच्छामुच्छा य, २८ तण्हागेहि, २९ नियडिकम्मं ३० अपरच्छंति वि य। तस्स एयाणि एवमादीणि नामधेज्जाणि होंति तीसं अदिन्नादाणस्स पावकलिकलुसकम्मबहुलस्स अणेगाइं ॥ सू० १०॥

संस्कृतच्छाया

तस्य च नामानि गौणानि (गुण्यानि) भवन्ति त्रिंशत्, तद्यथा—१ चौरिक्यं, २ परहृतं, ३ अदत्तं, ४ क्रूरिकृतं, ५ परलाभः, ६ असंयमः, ७ परधने गृद्धिः, ८ लौल्यं, ९ तस्करत्वमिति च, १० अपहारो, ११ हस्तलघुत्वं (लाघवत्वं), १२ पापकर्मकरणं, १३ स्तेयं, १४ हरणविप्रणाशः, १५ आदानं, १६ लोपना धनानां, १७ अप्रत्ययः १८ अवपीडः १९ आक्षेपः २० क्षेपः, २१ विक्षेपः, २२ कूटता, २३ कुलमषी च, २४ कांक्षा, २५ लालपन-प्रार्थना च,२६ आशसनाय व्यसनं २७ इच्छा-मूर्च्छा च, २८ तृष्णागृद्धिः २९ निकृतिकर्म ३० अपरोक्षमित्यपि च। तस्यैतान्येवमादीनि नामधेयानि भवन्ति त्रिंशद् अदत्तादानस्य पापकलिकलुषकर्मबहुलस्यानेकानि ॥१० सू०॥

---

१ 'हत्थलहुत्तणं' पाठ भी कहीं मिलता है। —संपादक

पदार्थान्वय—(तस्स य) उस अदत्तादान के, (गोण्णाणि) गुणनिष्पन्न सार्थक, (तीसं) तीस, (नामाणि) नाम, (होंति) हैं। (तंजहा) वे इस प्रकार हैं— (चोरिक्कं) चोरी, (परहडं) दूसरे से छीनना, (अदत्तं) बिना दिये दूसरे की चीज लेना, (कूरिकडं) क्रूर व्यक्तियों का कृत्य, (परलाभो) पराये धनादि का लाभ, (असंजमो) असंयम (परधणम्मि गेही) दूसरों के धन पर गृद्धि-आसक्ति, (लोलिक्कं) दूसरे की वस्तु की लम्पटता, (तक्करत्तणं) लुटेरों का काम या तस्करता, (इति च) और (अवहारो) वस्तु का अपहरण, (हत्थलहुत्तणं) दूसरों की चीज उड़ाने में हाथ की सफाई, (पावकम्मकरणं) पापकर्मों का कारण, (तेणियक्कं) चोरों का कार्य, (हरणविप्पणासो) दूसरे के धनादि का हरण करके भाग जाना, (आदियणा) दूसरे के धन का ग्रहण करना, (लुंपणा धणाणं) दूसरे की संपत्तियों को गायब करना, (अप्पच्चओ) अप्रतीतिकारक, (अवीलो) दूसरों को पीड़ारूप, (अक्खेवो) दूसरे के द्रव्य पर झपटना (खेवो) दूसरे के हाथ से द्रव्य छीनना, (विक्खेवो) दूसरे के हाथ से द्रव्य लेकर इधर उधर कर देना, (कूडया) झूठा तोल-नाप करना या झूठा व्यवहार या जालसाजी (कुलमसी य) और कुल पर कलंक या कालिमा लगाना, (कंखा) परद्रव्य की अभिलाषा, (य) और (लालप्पणपत्थणा) लल्लोचप्पो करके दीन शब्दों में याचना करना, (आससणाय वसणं) विनाश के लिए व्यसन, (इच्छा-मुच्छा) परधन की चाह और अत्यंत आसक्ति (तण्हागेहि) प्राप्त द्रव्य को खर्च न करने की इच्छा तथा अप्राप्त द्रव्य को प्राप्त करने की लालसा, (नियडिकम्मं) छलकपटपूर्वक कर्म (य) और (अपरच्छंति वि) परोक्ष में किया जाने वाला कार्य। इस प्रकार (पावकलिकलुसकम्मबहुलस्स) पापकर्म और कलह से होने वाले मलिन कामों से ओतप्रोत, (अदिण्णादाणस्स) अदत्तादान के (एयाणि) ये (तीसं) तीस नाम और (एवमादीणि) ऐसे और भी (अणेगाइं) अनेक (नामधेज्जाणि) नाम (होंति) हैं।

मूलार्थ—जिसके स्वरूप का वर्णन किया गया है, उस अदत्तादान (चोरी) के ये गुणनिष्पन्न सार्थक तीस नाम हैं। वे इस प्रकार हैं—१ चोरी, २—दूसरे से वस्तु को छीन लेना, ३ बिना दिये दूसरे की वस्तु ले लेना, ४—क्रूर मनुष्यों का कार्य, ५—दूसरों के धन से अनुचित लाभ उठाना, ६—हाथ-पैर व मन आदि का असंयम, ७—पराये धन में गृद्धि रखना, ८—दूसरों के द्रव्य में मन का चलायमान होना, ९—लुटेरों का काम, १०—वस्तु का अपहरण, ११—दूसरे की वस्तु को उड़ाने में हाथ की सफाई, १२—पापकर्मों का कारण, १३—चोरों का काम, १४. दूसरों का धनादि

चुरा कर भाग जाना या नष्ट-भ्रष्ट कर देना, १५—बिना आज्ञा के परद्रव्य-ग्रहण करना, १६—दूसरे के धन या वस्तु को गायब कर देना, १७—अविश्वास का कारण, १८—परपीड़ाकारक १९—पराये धन पर झपटना, २०—दूसरों के हाथ से द्रव्य छीनना, २१—दूसरों के हाथ से द्रव्य छीन कर खुर्द-बुर्द कर देना, २२ तौलने-नापने के उपकरणों में बेईमानी करना, २३—कुल में कलंक लगाने का कारण, २४—दूसरे के द्रव्य की अभिलाषा करना, २५ लल्लोचप्पो करके दूसरों से अर्थ की याचना करना, २६—पराई वस्तु को नष्ट करने की बुरी आदत, २७—पराये धन की इच्छा करना और उसमें गाढ़ आसक्ति रखना, २८—प्राप्त द्रव्य को खर्च न करने की इच्छा और अप्राप्त द्रव्य को पाने की लालसा, २९—मायाचार (जालसाजी) से किया हुआ कर्म, ३०—परोक्ष में (दूसरे की आँख बचा कर) किया जाने वाला काम । इस तरह पापकर्म और कलह से होने वाले मलिन कामों से भरे हुए अदत्तादान के ये तीस नाम है तथा ऐसे और भी अनेक नाम हैं ।

व्याख्या

प्रस्तुत मूलपाठ मे शास्त्रकार ने अदत्तादान के ३० गुणनिष्पन्न सार्थक नाम बताये हैं। वैसे तो मूलार्थ में प्रत्येक का अर्थ हम स्पष्ट कर आए हैं, लेकिन अदत्तादान के इन पर्यायवाची नामो की सार्थकता सिद्ध करने की दृष्टि से यहाँ कुछ विश्लेषण करना अप्रासंगिक नही होगा ।

चोरिक्कं—किसी वस्तु को, चाहे वह मार्ग में ही पडी हो, कोई भूल से छोड गया हो, असावधानी से गिरी हुई हो; उसके स्वामी की आज्ञा या इच्छा के बिना अपने कब्जे में कर लेना चोरी है । यहाँ शंका हो सकती है कि कुँए आदि जलाशय से पानी, हाथ आदि साफ करने के लिए मिट्टी, दांत आदि साफ करने के लिए दतौन की लकड़ी, किसी कार्य के लिए तिनका आदि चीजें उनके स्वामी की आज्ञा के बिना भी ग्रहण की जाती हैं, किसी शासक से बिना पूछे उसके राज्य मे नगर, गली या मुहल्ले में प्रवेश किया जाता है, क्या यह भी चोरी ही कही जायगी ? इसका समाधान यह है कि प्रथम तो जिस चीज का कोई स्वामी नही होता या जो चीज सार्वजनिक होती है या उसका मालिक सभी के उपयोग के लिए उसे खुली (मुक्त) कर देता है, जिसे ग्रहण करने से या जिसका उपयोग करने पर लोकव्यवहार में कोई निन्दा नहीं होती, जिसके लिए निषेधाज्ञा जारी करके सरकारी कानून नही बना है, अतः सरकार उसे दण्ड नही देती; जिसे ग्रहण या उपयोग करने के पीछे अपने अधीन बनाने की

भावना नही होती; अथवा जिसे चोर का कर्म नहीं माना जाता, उसे व्यवहार में चोरी नहीं कहा जा सकता। हालांकि महाव्रती साधुओं के लिए तो प्रत्येक चीज, चाहे वह सार्वजनिक हो या व्यक्तिगत मालिकी की, आज्ञा के विना ग्रहण करने का निषेध है। जिसका कोई स्वामी न हो उस वस्तु का भी शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा लेकर ग्रहण या उपयोग करने का विधान है। परन्तु गृहस्थ के लिए ऐसा कड़ा विधान नही है। प्रस्तुत सूत्रपाठ में इसीलिए 'चोरिक्कं' पद दिया है, जिसका अर्थ होता है—चोरी की भावना से किया जाने वाला कर्म। अतः इसे अदत्तादान का पर्यायवाची शब्द कहना ठीक ही है।

परहडं—पराये धन या पदार्थ का हरण कर लेने को भी 'परहृत' के रूप मे अदत्तादान का साथी कहना उचित है। क्योकि दूसरे की वस्तु (स्त्री-पुत्र-धनादि) का हरण करते समय हरण करने वाला किसी के देने से या उसके मालिक की स्वेच्छा से नही लेता; इसलिए 'परहृत' भी चोरी है। इसी प्रकार अमानत या धरोहर के रूप मे रखे गए पराये धन या पर पदार्थ का अपने कब्जे में कर लेना, उसे अपने उपयोग में लेना या दूसरे के द्वारा लिखी गई पुस्तक पर लेखक के रूप मे अपना नाम दे देना आदि भी 'परहृत' के प्रकार हैं।

अदत्त—इसका अर्थ स्पष्ट है—विना दिये हुए का ग्रहण।

कूरिकडं—चोरी बड़े ही साहस और क्रूरता का कार्य है। इसलिए क्रूरतापूर्वक किये जाने के कारण इसे 'क्रूरिकृत' कहा जाना भी सार्थक है। यह भी अदत्तादान का साथी है।

परलाभो—दूसरे की वस्तु से उसकी इजाजत या इच्छा के बिना लाभ उठाना भी 'परलाभ' के रूप में चोरी है। जैसे कोई व्यक्ति किसी की गाय या बकरी उसके मालिक की अनुमति के बगैर दुह ले, या अमानत या धरोहर रखी हुई पराई चीज से भी इसी प्रकार नाजायज फायदा उठाए, किसी मकान को उसके मालिक से बिना पूछे ही अपने उपयोग में ले ले इत्यादि सब 'परलाभ' के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसलिए परलाभ को भी अदत्तादान का भाई समझना चाहिए।

असंजमो—जिसके मन, इन्द्रियों या हाथ-पैरों पर अंकुश (संयम) नहीं होता, वह खुले हुए पशु की तरह दूसरों के घर उजाड़ता है। इसलिए अदत्तादान को असंयमरूप बताना वास्तव में यथार्थ है।

परधणम्मि गेही—चोरी की मुख्य प्रेरणा ही पराये धन पर गृद्धि रखने से होती है। जब मनुष्य दूसरों के धन को हड़प लेने के लिए लालायित रहता है, तभी वह अदत्तादान में प्रवृत्ति करता है। इसलिए परधनगृद्धि को अदत्तादान की जननी कहें तो कोई अत्युक्ति नही होगी।

लोलियक्कं—पराई मनपसंद वस्तु देख कर उसे किसी भी उपाय से लेने के लिए मन का चलायमान होना 'लौल्य' कहलाता है। यह लोलुपता की चंचलवृत्ति ही चोरी को उत्तेजन देती है। इसलिए लौल्य को अदत्तादान का जनक कहना उचित ही है।

तक्करत्तणंति य—जब मनुष्य चोरी करने में अभ्यस्त हो जाता है तो वह प्राणों के खतरे की भी परवाह न करके डाका डालने लगता है, साहस करके दूसरों के मकान पर छापा मारता है, अथवा राज्यदण्ड की परवाह न करके चुंगी बचाने के लोभ में तस्करव्यापार (स्मगलिंग) करता है। ऐसी तस्करता अदत्तादान की बहन नही तो क्या है? इसलिए तस्करत्व को अदत्तादान का पर्यायवाची ठीक ही बताया है।

अवहारो—किसी भी सजीव या निर्जीव वस्तु का छिप कर, जबर्दस्ती, या धोखा देकर अथवा किसी की गफलत से लाभ उठा कर अपहरण कर लेना अपहार है, और वह भी एक प्रकार का अदत्तादान होने से उसे अदत्तादान का पर्यायवाची कहना यथार्थ है।

हत्थलहुत्तणं—कई लोग किसी की जेब, अलमारी, सदूक या कैसबक्स में पड़े हुए धन को ऐसी सिफ्त से चुराते है कि उसके मालिक को पता ही नही लग पाता। यह हस्तलाघव या हाथ की सफाई वास्तव मे अदत्तादान का ही प्रकार है, इसलिए इसे अदत्तादान का पर्यायवाची कहना उचित है।

पावकम्मकरणं—चोरी करने वाले व्यक्ति मे हिंसा, असत्य, परिग्रह, क्रूरता, निर्दयता, माया, लोभ, क्रोध आदि पापकर्म स्वाभाविक ही पाये जाते है। इसलिए अदत्तादान अनेक पापकर्म का कारण होने से इसे 'पापकर्मकरण' कहना यथार्थ है।

तेणिक्कं—चोरो का मुख्य कार्य चोरी करना है। वे झूठ बोलते हैं, छल करते हैं, हत्या, मारपीट आदि करते हैं और इन सबको करते हैं चोरी के लिए ही। इसलिए अदत्तादान को चोरों का काम (स्तेय) बताना उचित ही है।

हरणविप्पणासो—किसी की चीज उड़ा कर भाग जाना हरणविप्रणाश है, अथवा किसी की चीज को हरण कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देने को भी हरणविप्रणाश कहते हैं। यह भी अदत्तादान का साथी होने से उसका पर्यायवाची शब्द ठीक ही है।

आदियणा—दूसरों का धन या पदार्थ मांग कर ले लेना, किन्तु उसे वापिस न लौटाना या लौटाने से इन्कार कर देना भी, आदान नामक अपराध है, जो चोरी की कोटि में ही है।

सुंपणा धणाणं—किसी के धन या पदार्थ को हजम कर जाने या अपने कब्जे में करने की नीयत से गायब कर देना, पता न चल सके, इस प्रकार से गुम कर देना धन-लोपना है, जो कि अदत्तादान की ही बहन है।

अप्पच्चओ—संसार में चोरी करने वाले व्यक्ति का कोई विश्वास नहीं होता, उस पर प्रतीति करके कोई भी जिम्मेवारी का काम नहीं सौंपता। जिसकी चोरी करने की आदत हो, उस पर परिवार व समाज के लोग भी भरोसा नहीं करते। इसलिए अदत्तादान अप्रत्यय का उत्पादक होने से, उसे अप्रत्यय कहना ठीक ही है।

अवीलो—चोरी दूसरों को भी पीड़ा देती रहती है, और स्वयं चोर के मन को भी बराबर कचोटती रहती है। इसलिए पीड़ा का कारण होने से अदत्तादान को 'अवपीड़' कहना युक्तिसंगत है।

अक्खेवो—चोरी करने वाला प्रायः कई बार दूसरो के माल पर एकदम झपटता है. वह सीधा लपक कर उस पर टूट पड़ता है, इसलिए आक्षेप नामक अवगुण भी अदत्तादान की पूर्व तैयारी के रूप होने से इसे अदत्तादान का पर्यायवाची बताया गया है।

खेवो—दूसरे के हाथ से द्रव्य छीन लेना क्षेप है, जो अदत्तादान का ही साथी है। इसलिए इसे क्षेप कहना भी अनुचित नहीं है।

विक्खेवो—दूसरे के हाथ से द्रव्य लेकर इधर-उधर कर देना या फेंक देना अथवा खुर्द बुर्द कर देना विक्षेप है; जो अदत्तादान का मित्र है।

कूडया—कूटता कहते है—बेईमानी को। किसी माल के तौलने-नापने, दिखाने-देने, बेचने-खरीदने मे फरेब करना, गड़बड़ करना, मिलावट करना, जालसाजी करना या चकमा देना; ये और इसी तरह के व्यवहार कूटता के प्रकार हैं। कूटता अदत्तादान से किसी भी तरह कम नही है। चोर, डाकू तो सीधे ही चोरी या डकैती करते हैं, परन्तु ये लोगों की आंखो में धूल झोंक कर उनका पैसा निकलवा लेते हैं, इसलिए कूटता को अदत्तादान की दादी कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं।

कुलमसी य—चोरी जैसे धंधे करने वाले व्यक्ति कुल को कलंकित करते हैं, अपने कुल की प्रतिष्ठा पर कालिख पोत देते हैं। इसलिए अदत्तादान कुल पर कालिमा लगाने वाला होने से इसे 'कुलमषी' ठीक ही कहा है।

कंखा—मनुष्य विविध प्रकार की महत्त्वाकांक्षाएं तथा बड़ी-बड़ी आशाएं संजोता है, बड़प्पन पाने की भी बड़ी लालसा मन मे होती है। जब प्रतिष्ठा पाने, बड़े बनने के लिए साधनों की पूर्ति अपनी न्यायोपार्जित कमाई से नहीं होती तो, वह अन्याय, अत्याचार, शोषण, गबन, रिश्वत, लूट आदि के द्वारा उसकी पूर्ति करता है। इस-

लिए 'कांक्षा' भी चोरी में प्रेरित करने वाली होने से उसे अदत्तादान की नानी कहें तो अनुचित नहीं होगा।

लालप्पणपत्थणा य—चोरी करने से जब व्यक्ति की विविध आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं होती अथवा चोरी करने का खतरा नही उठा सकता, तब वह लोगो के आगे जा कर उनकी खुशामद करता है, लल्लोचप्पो करता है और याचना करके किसी भी तरीके से उसकी जेब से धन निकलवा लेता है। अथवा उसकी झूठी प्रशंसा करके, उसके चरण चूम कर, दीनभाव से बार-बार प्रार्थना करके वह धन निकलवा ही लेता है। पर यह तरीका खराब है, झूठा है। अतएव इसे भी शास्त्रकार चोरी के लिए की जाने वाली माया, छल-कपट आदि का कारण होने से अदत्तादान के समकक्ष ही बताते हैं। कई हट्टे कट्टे लोग श्रम न करके अपनी रोजी रोटी के लिए सीधे ही भीख मागने का पेशा अपना लेते हैं या लोगों से पैसे मांगने का धन्धा अपनाते हैं। ये लोग अंग-भंग करके दयनीय सूरत बना कर लोगों में करुणा पैदा करके उनसे धन निकलवा लेते हैं। इस दृष्टि से इसे भी चोरी की ही कोटि में माना जाय तो बुरा नहीं है।

आससणा य वसणं—ऐसा व्यसन, जिससे प्राण खतरे में पड़ जायं, नाक-कान काट लिये जायं, मारापीटा जाय, सरकार को पता लगने पर जेल खाने में विविध यातनाएं दी जायं, चोरी ही है। इसलिए 'आशसन व्यसन' को अदत्तादान के समकक्ष रखा गया है।

इच्छा मुच्छा य—चोरी करने वाले की पहले तो परधन या सुन्दर पर वस्तु देख कर इच्छा जागती है, फिर उस वस्तु की प्राप्ति के लिए उसमे गाढ़ लालसा—आसक्ति पैदा होती है। वास्तव में इन दोनों का जोड़ा अदत्तादान के सेवन का मूल प्रेरक है। इसलिए अदत्तादान की सहचरी के रूप में इन्हे माना जाय तो अनुचित नही है।

तण्हागेहि—इसी प्रकार तृष्णा और गृद्धि ये दोनों भी चोरी की प्रेरणा देने में कारण हैं। तृष्णा के वश मनुष्य धोखेबाजी, पर-धन का गबन, रिश्वतखोरी, छीनाझपटी आदि करता है, और गृद्धि के वश रात-दिन धन-राज्य आदि को हथियाने के प्लान रचता है, मन में अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्पों के ताने बाने गूंथता है, इसलिए इन दोनों का जोड़ा भी अदत्तादान का कारण होने से उसके समकक्ष इन्हे भी रखा गया है।

नियडिकम्मं—धूर्तता, धोखेबाजी, मायाचारी और जालसाजी के जितने भी काम हैं, वे सब के सब प्रायः पर-धनहरण करने की इच्छा से होते हैं। इसलिए निकृति (माया) कर्म को भी अदत्तादान का जनक होने से इसे भी पर्यायवाची माना गया है।

अपरच्छंति वि य—दूसरे की नजर बचा कर छिप कर व परोक्ष मे जो धनादि अपहरण करने का काम किया जाता है, वह 'अपरोक्ष' नामक चोरी है। यह भी अदत्तादान के तुल्य होने से उसका पर्यायवाची माना गया है।

एवमादीणि अणेगाइं नामधेज्जाणि होंति—ये तीस नाम तो शास्त्रकार ने बताए है, इनके सिवाय और भी इसी प्रकार के अदत्तादान के नाम हो सकते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए 'एवमादीणि' पद दिया है। अतः चोरी का महापाप मलिन कामों से परिपूर्ण होने के कारण सर्वथा त्याज्य है।

चोरी करने वाले कौन-कौन ?

अदत्तादान के ३० गुणनिष्पन्न नामों का उल्लेख करके शास्त्रकार अब अदत्तादान रूप पाप कर्म करने वालो का निरूपण करते हैं—

मूलपाठ

तं पुण करेंति चोरियं तक्करा परदव्वहरा, छेया, कयकरणलद्धलक्खा, साहसिया, लहुस्सगा, अतिमहिच्छ - (त्था) लोभगच्छा, दद्दरओवीलका य, गेहिया, अहिमरा, अणभंजका, भग्गसंधिया, रायदुट्ठकारी य, विसयनिच्छूढलोकबज्झा, उद्दोहक-गामघायक-पुरघायग-पंथघायग-आलीवगतित्थभेया, लहुहत्थसंपउत्ता, जुइकरा, खंडरक्ख-त्थीचोर-पुरिसचोर-संधिच्छेया य, गंथिभेदग-परधणहरण-लोमावहार (रा) - अक्खेवी, हडकारका, निम्मदग-गूढचोरक-गोचोरग-अस्सचोरग-दासिचोरा य, एकचोरा, ओकड्ढक-संपदायक-उच्छिपक-सत्थघायक-विलचोरी - (कोली) कारका य, निग्गाहविप्पलुंपगा, बहुविहतेणिक्कहरणबुद्धी, एते अन्ने य एवमादी परस्स दव्वाहि जे अविरया। विपुलबलपरिग्गहा य बहवे रायाणो परधणम्मि गिद्धा, सए य दव्वे असंतुट्ठा, परविसए अहिहणंति ते लुद्धा परधणस्स कज्जे चउरंगविभत्तबलसमग्गा, निच्छियवरजोहजुद्धसद्धिय-अहमहमिति-दप्पिएहिं सेन्नेहिं संपरिवुडा पउम (पत्त) - सगडसूइचक्कसागरगरुलवूहातिएहिं अणिएहिं उत्थरंता, अभिभूय हरंति परधणाइं। अवरे

रणसीसलद्धलक्खा संगामम्मि अतिवयंति, सन्नद्धबद्धपरियरउप्पीलियचिंधपट्टगहियाउहपहरणा, माढिवरवम्मगुंडिया, आविद्धजालिका, कवयकंकडइया। उरसिरमुहबद्ध-कंठतोणमाइतवरफलहरचित-पहकरसरहसखरचावकरकरंछिय-सुनिसितसखरिस-च (व) डकरमुयंत-घणचंडवेगधारानिवायमग्गे, अणेगधणुमंडलग्गसंधिताउच्छलियसत्ति-सूल - कणग - वामकरगहियखेडग-निम्मलनिकिट्ठखग्ग-पहरंतकोंत-तोमर-चक्क-गया- परसु-मुसल-लंगल-सूल-लउल-भिंडिमाल-सव्वल-पट्टिस-चम्मेट्ठ-दुघण-मोट्ठिय - मोग्गर-वरफलिह-जंत-पत्थर-दुहण-तोण-कुवेणी-पोढकलिय - ईलीपहरणमिलिमिलिमिलंतखिप्पंत-विज्जुज्जलविरचितसमप्पहणभतले, फुडपहरणे, महारणसंख-भेरि-दुंदुभि-वरतूरपउरपडुपडहाहयणिणायगंभीरणंदित्तपक्खुभियविपुलघोसे, हयगयरहजोहतुरितपसरितरयुद्धततमंधकारबहुले, कातरनरणयणहिययवाउलकरे। विलुलियउक्कडवरमउडतिरीडकुंडलोडुदामाडोवियापागडपडागउसियज्झय - वेजयंतिचामरचलंतछत्तंधकारगंभीरे हयहेसिय-हत्थिगुलुगुलाइय - रहघणघणाइय-पाइक्कहरहराइय-अप्फोडिय - सीहनाय-छेलिपविघुट्ठुकुट्ठकंठगयसद्दभीमगज्जिए,सयराह-हसंत-रुसंतकलकलारवे,आसूणियवयणरुद्दे, भीमदसणाधरोट्ठगाढदट्ठे, सप्पहरणुज्जयकरे, अमरिसवसतिव्वरत्तनिद्दारितच्छे, वेरदिट्ठिकुद्धचिट्ठिय-तिवलीकुडिल-(य) भिउडिकयनिलाडे, वहपरिणयनरसहस्सविक्कमवियंभियबले, वग्गंततुरगरहपहावियसमरभडा, आवडियछेयलाघवपहारसाधितासमूस्सि(सवि)य बाहुजुयलमुक्कट्टहासपुक्कंतवोलबहुले, फुरफलगावरणगहिय - गयवर - पत्थितदरियभडखल - परोप्परपलग्ग - जुद्धगव्वित - विउसितवरासिरोसतुरियअभिमुह - पहरितछिन्नकरिकरवियं(रं)गितकरे, अवइद्धनिसुद्धभिन्नफालियपगलियरुहिरकतभूमिकद्दमचिलिचिल्लपहे, कुच्छिदालियगलित-

रुलंतनिभेल्लितंतफुरुफुरंत - ऽविगलमम्माहयविकयगाढदिन्नपहार-समुच्छितरुलंतवेंभलविलावकलुणे, हयजोह-भमंत-तुरग-उद्दाम-मत्तकुंजर- परिसंकितजण- निव्वुकछिन्नधय - भग्गरहवरनट्ठसिर-करिकलेवराकिन्न-पतितपहरण-विकिन्नाभरणभूमिभागे, नच्चंत-कबंधपउरभयंकरवायसपरिलेंतगिद्धमंडलभमंतच्छायंधकारगंभीरे, वसुवसुहाविकंपितव्व पच्चखपिउवणं परमरुद्दबीहणगं दुप्पवेसतरगं अभिवयंति संगामसंकडं परधणं महंता।

अवरे पाइक्कचोरसंघा सेणावतिचोरवंदपागड्ढिका य अडवीदेसदुग्गवासी कालहरितरत्तपीतसुक्किल्लअणेगसयचिंध-पट्टबद्धा परविसये अभिहणंति।

लुद्धा धणस्स कज्जे रयणागरसागरं उम्मीसहस्स-मालाउलाकुलवितोयपोतकलकलेंतकलियं, पायालसहस्स-वायवसवेग-सलिल-उद्धममाणदगरयरयंधकारं, वरफेणपउरधवल-पुलंपुलसमुट्ठियट्टहासं, मारुयविच्छुभमाणपाणियं जलमालुप्पील-हुलियं, अवि य समंतओ खुभियलोलियखोखुब्भमाणपक्खलिय-चलियविउलजलचक्कवाल-महानईवेगतुरिय - आपूरमाण गंभीर-विपुलआवत्तचवलभममाण - गुप्पमाणुच्छलंत — पच्चोणियत्त - पाणियपधाविय - खरफरुसपयंडवाउलिय - सलिल - फुट्टंतवीति-कल्लोलसंकुलं, महामगरमच्छ-कच्छभोहार-गाह-तिमि-सुंसुमार-सावयसमाहय समुद्धायमाणकपूरघोरपउरं, कायरजणहिययकंपणं, घोरमारसंतं, महब्भयं, भयकरं, पतिभयं, उत्तासणगं, अणोरपारं, आगासं चेव निरवलंबं, उप्पाइयपवणधणित-नोल्लिय - उवरुवरि-तरंगदरिय-अतिवेगवेगचक्खुपहमुच्छरंतं, कच्छ(त्थ)इ गंभीर विपुलगज्जियगुंजिय - निग्घायगरुयनिवतितसुदीहनीहारि-दूरंमुच्चंतगंभीरधुगधुगंतसद्दं, पडिपह-रुभंतजक्खरक्खसकुहंड-पिसायरुसियतज्जायउवसग्गसहस्ससंकुलं, बहुप्पाइयभूयं, विरचित

बलिहोमधूवउवचारदिन्नरुधिरच्चणाकरणपयतजोगपययचरियं ,
परियंतजुगंतकालकप्पोवमं,दुरंतमहानईनईवइमहाभीमदरिसणिज्जं,
दुरणुच्चरं, विसमप्पदेसं, दुक्खुत्तारं, दुरासयं, लवण-
सलिलपुण्णं, असियसियसमुसियगेहि, (दच्छ) हत्थतरगेहिं
वाहणेहि अइवइत्ता समुद्दमज्झे हणंति, गंतूण जणस्स पोते।
परदव्वहरा नरा णिरणुकंपा, निरवकंखा, गामानगर खेडकव्व-
डमडंबदोणमुह-पट्टणासमणिगम-जणवए ते य धणसमिद्धे हणंति,
थिरहियया य छिन्नलज्जा बंदिग्गाहगोग्गहे य गण्हंति, दारुणमती
निक्किवा (णिक्किया) णियं हणंति, छिंदंति गेहसंधि, निक्खि-
त्ताणि य हरंति, धणधन्नदव्वजायाणि जणवयकुलाणं णिग्घिणमती
परस्स दव्वाहिं जे अविरया। तहेव केइ अदिन्नादाणं
गवेसमाणा कालाकालेसु संचरंता चियकापज्जलियसरस-दरदड्ढ-
कड्ढियकलेवरे रुहिरलित्तवयण-अखत्त-खातिय-पीतडाइणि-भमंत-
भयंकरे, जंबुयखिक्खियंते, घूयकयघोरसद्दे, वेयालुट्ठिय-
निसुद्धकहकहितपहसित-बीहणक - निरभिरामे, अतिदुब्भिगंध-
बीभच्छदरिसणिज्जे, सुसाण - वण - सुन्नघर - लेण - अंतरावण-
गिरिकंदर - विसमसावयसमाकुलासु वसहीसु किलिस्संता, सीता-
-तवसोसियसरीरा, दड्ढच्छवी, निरयतिरियभवसंकडदुक्खसंभार-
वेयणिज्जाणि पावकम्माणि संचिणंता, दुल्लहभक्खन्नपाणभोयणा,
पिवासिया, झुंझिया, किलंता, मंसकुणिमकंदमूल - जंकिंचिकया-
हारा, उव्विगा, उप्पुया (उस्सुया), असरणा, अडवी-
वासं उवेंति वालसतसंकणिज्जं।

अयसकरा तक्करा भयंकरा कस्स हरामोत्ति अज्ज
दव्वं इति सामत्थं करेंति गुज्झं, बहुयस्स जणस्स कज्ज-
करणेसु विग्घकरा, मत्तपमत्तपसुत्तवीसत्थच्छिद्दघाती, वसण-

ब्भुदएसु हरणबुद्धी, विगव्व रुहिरमहिया. परेंति नरवतिमज्जाय-मतिक्कंता, सज्जणजणदुगंछिआ, सकम्मेहिं पावकम्मकारी, असुभपरिणया य दुक्खभागी, निच्चाइ(उ)लदुहमनिव्वुइमणा, इह लोके चेव किलिस्संता परदव्वहरा नरा वसणसयसमावण्णा ॥ सू० ११ ॥

संस्कृतच्छाया

तत्पुनः कुर्वन्ति चौर्यं तस्कराः परद्रव्यहराश्छेकाः कृतकरणलब्धलक्ष्याः साहसिका लघुस्वका अतिमहेच्छलोभग्रस्ता दर्दरापव्रीडका-(दर्दरोपपीड़का)श्च गृद्धिका अभिमरा ऋणभंजका भग्नसन्धिका राजदुष्टकारिणश्च-विषयनिक्षिप्त-(निर्द्धाटित) - लोकबाह्या उद्द्रोहक-ग्रामघातक-पुरघातक—पथिघातकादीपकतीर्थभेदा लघुहस्तसम्प्रयुक्ता द्यूतकराः खण्डरक्ष-स्त्रीचौर-पुरुषचौर-सन्धिच्छेदाश्च ग्रन्थिभेदक-परधनहरण-लोमावहारा (रा)—क्षेपिणो, हठकारका, निर्मर्दक गूढ़चौरक-गोचौरकाश्वचौरक-दासीचौराश्चैकचौरा आकर्षक-सम्प्रदायकावच्छिम्पक - सार्थघातक-बिलकोली (चोरी) कारकाश्च निर्ग्राहविप्रलोपका बहुविधस्तेयहरणबुद्धयः, एतेऽन्ये चैवमादयः परस्य द्रव्याद् येऽविरताः। विपुलबलपरिग्रहाश्च बहवो राजानः परधने गृद्धाः स्वके च द्रव्येऽसंतुष्टाः परविषयानभिघ्नन्ति, ते लुब्धाः परधनस्य कार्ये चतुरङ्गविभक्तबलसमग्रा निश्चितवरयोधयुद्धश्रद्धिताहमहमिति दर्पितैः सैन्यैः. सम्परिवृताः पद्म(पत्र)शकटसूचीचक्रसागरगरुडव्यूहादिकैरनीकैरास्तृणवन्तोऽभिभूय हरन्ति परधनानि। अपरे रणशीर्षलब्धलक्ष्याः संग्रामेऽतिपतन्ति, सनद्धबद्धपरिकरोत्पीड़ितचिह्नपट्टगृहीतायुधप्रहरणा माढोवरवर्मगुण्ठिता आविद्धजालिकाः कवचकण्टकिता उरःशिरोमुखबद्धकंठतूणहस्तपासिकावरफलकरचितप्रकरसंरभसखरचापकरकराञ्छितसुनिशित - शरवर्षचटकरमुच्यमान - घनचण्डवेगधारानिपातमार्गेऽनेकधनुर्मण्डलाग्रसन्धितोच्छलितशक्तिकणकवामकरगृहीतखेटकनिर्मलनिकृष्टखड्गप्रहरत्कुन्ततोमरचक्रगदापरशुमुशललाङ्गल - शूललगुडभिण्डमालशब्बलपट्टिसचर्मेष्टद्रुघणमौष्टिकमुद्गरवरपरिघयंत्र - प्रस्तरद्रुहणतूणकुवेणीपीठकलितेलीप्रहरणचिकिचिकायमान - क्षिप्यमाणविद्युदुज्ज्वलविरचितसमप्रभनभस्तले स्फुटप्रहरणे महारणशंखभेरीवरतूर्य-

प्रचुरपटुपटहाहतनिनादगम्भीरनन्दितप्रक्षुभितविपुलघोषे हयगजरथयोधत्वरितप्रसृतरजउद्धततमोऽन्धकारबहुले कातरनरनयनहृदयव्याकुलकरे विलुलितोत्कटवरमुकुटतिरीट, कुण्डलोडुदामाटोपिके प्रकटपताकोच्छ्रितध्वजवैजयन्तीचामरचलच्छत्रान्धकारगम्भीरे हयहेषित - हस्तिगुलुगुलायित-रथघणघणायित - पदातिहरहरायितास्फोटितसिंहनादसेंटितविघुष्टोत्कृष्टकण्ठगतशब्दभीमगर्जिते सहेलया (एकहेलया) हसद्रुष्यत्कलकलारावे आशूनितवदनरुद्रे, भीमदशनाधरोष्ठगाढ़दष्टे सत्प्रहरणोद्यतकरेऽमर्षवशतीव्ररक्तनिर्दारिताक्षे वैरदृष्टिक्रुद्धचेष्टित - त्रिवलीकुटिलभ्रुकुटिकृतललाटे, वधपरिणतनरसहस्रविक्रमविजृम्भितबले। वल्गत्तुरगरथप्रधावितसमरभटापतितछेकलाघवप्रहारसाधितसमुच्छ्रित- बाहुयुगलमुक्ताट्टहासपूत्कुर्वद्बोलबहुले, स्फुरत्फलकावरणगृहीतगजवरप्रार्थ्यमानदृप्तभटखलपरस्परप्रलग्नयुद्धगर्वितविकोशितवरासिरोषत्वरिता - भिमुखप्रहरच्छिन्नकरिकरव्यङ्गितकरे, अपविद्धनिशुद्धभिन्नस्फाटितप्रगलितरुधिरकृतभूमिकर्दमचिलिचिल्ल (प्रस्खलत्) - पथे, कुक्षिदारितगलितलुठन्निर्भेलितान्त्रफुरफुरायमाणविकलमर्माहत - विकृतगाढ़दत्तप्रहारमूर्च्छितलुठद्विह्वलविलापकरुणे, हययोधभ्रमत्तुरगोद्दाममत्तकुंजर-परिशंकितजननिबुक्कच्छिन्नध्वजभग्नरथवरनष्टशिरःकरिकलेवराकीर्णपतितप्रहरणविकीर्णाभरणभूमिभागे नृत्यत्कबन्धप्रचुरभयंकरवायसपरिलीयमानगृद्धमण्डलभ्रमच्छायान्धकारगंभीरे वसुवसुधाविकम्पिता इव प्रत्यक्षपितृवनं परमरुद्रभयानकं दुष्प्रवेशतरकमभिपतन्ति संग्रामसंकटं परधनमिच्छन्तः । अपरे पदातिचौरसंघाः सेनापतिचौरवृन्दप्रकर्षकाश्चाटवी-देशदुर्गवासिनः कालहरितरक्तपीतशुक्लानेकशतचिह्नपट्टबद्धाः परविषयानभिघ्नन्ति । लुब्धा धनस्य कार्ये रत्नाकरसागरमूर्मीसहस्रमालाकुलाकुलवितोयपोतकलकलायमानकलितं पातालसहस्रवातवशवेगसलिलोद्धमायमानो(उत्पाट्यमानो)दकरजोरजोऽन्धकारं, वरफेनप्रचुरधवलाऽनवरतसमुत्थिताट्टहासं मारुतविक्षोभ्य - माणपानीयजलमालोत्पीलशीघ्रमपि च समन्ततः क्षुभितलुलितचोक्षुभ्यमाणप्रस्खलितचलितविपुलजलचक्रवाल - महानदीवेगत्वरितापूर्यमाणगम्भीरविपुलावर्त्तचपलभ्रमद्गुप्यदुच्छलत्प्रत्यवनिवृत्तपानीयप्रधावितखरपरुषप्रचण्ड-व्याकुलित - सलिल-

स्फुटद्वीचिकल्लोलसंकुलं, महामकर - मत्स्य - कच्छपोहारग्राहतिमि-सुंसुमारश्वापदसमाहतसमुद्धावत्पूरघोरप्रचुरं कातरजनहृदयकम्पनं घोर-मारसन्तं महाभयं भयंकरं प्रतिभयं उत्त्रासनकमनर्वाक्पारं आकाशमिव निरवलम्बमौत्पातिकपवनात्यर्थनोदितोपर्यु परितरङ्गदृप्तातिवेग वेग चक्षु-पथमवास्तृण्वन्तं कुत्रचिद्गम्भीरविपुलगर्जितगु जितनिर्घातगुरुक-निपतितसुदीर्घनिर्ह्रादीदूरश्रूयमाणगम्भीरधुगधुगायमान-शब्दं प्रतिपथरुन्धान (रु भत्) यक्षराक्षसकूष्माण्डपिशाचरुषिततज्जातोपसर्गसहस्रसंकुलं बहूत्पा-तिकभूतं विरचितबलिहोम - धूपोपचारदत्तरुधिरार्चनाकरणप्रयतयोग-प्रयतचरितं, पर्यन्तयुगान्तकालकल्पोपमं दुरन्तमहानदीनदीपतिमहाभीम-दर्शनीयं दुरणुचरं विषमप्रवेशं दुःखोत्तारं दुराशयं (दुराश्रयं) लवणसलि-लपूर्णम्,असितसितसमुच्छ्रितकैर्दक्षतरकैः (हस्ततरकैः) वाहनैरतिपत्य समुद्रमध्ये घ्नन्ति गत्वा जनस्य पोतान् परद्रव्यहरा नरा, निरनुकम्पा निरवकांक्षा ग्रामाकरनगरखेटकर्वटमडम्बद्रोणमुखपत्तनाश्रमनिगमजनपदान् धन-समृद्धान् घ्नन्ति, स्थिरहृदयाश्च छिन्नलज्जाः बंदीग्रह - गोग्रहांश्च गृह्णन्ति दारुणमतयो निष्कृपा निजं घ्नन्ति, छिन्दन्ति गेहसन्धिं, निक्षिप्तानि च हरन्ति धन-धान्यद्रव्यजातानि जनपदकुलानां निर्घृणमतयः परस्य द्रव्येभ्यो येऽविरताः। तथैव केचिददत्तादानं गवेषयन्त. कालाकालयोः सञ्च-रन्तश्चितिकाप्रज्वलित - सरसदरदग्धकृष्टकलेवरे रुधिरलिप्तवदनाक्षत-खादितपीतडाकिनी - भ्रमद्भयंकरे खिखीयमानजम्बुके घूककृतघोरशब्दे, वेतालोत्थितनिरुद्धकहकहायमानप्रहसितभीषणनिरभिरामे अतिदुरभि-गन्धबीभत्सदर्शनीये श्मशान-वन - शून्यगृह-लयनान्तरापण - गिरिकन्दर-विषमश्वापदसमाकुलासु वसतिषु क्लिश्यन्तः शीतातपशोषितशरीरा दग्धच्छवयो नि-रयतिर्यग्भवसंकटदुःखसम्भारवेदनीयानि पापकर्माणि संचिन्वन्तो दुर्लभभक्ष्यान्नपानभोजनाः पिपासिता बुभुक्षिताः क्लान्ताः मांसकुणपकंदमूलयत्किञ्चित्कृताहारा उद्विग्ना उत्प्लुता (उत्पूता अथवा उत्सुका) अशरणा अटवीवासमुपयन्ति व्यालशतशंकनीयम्। अयशस्करा-स्तस्करा भयंकराः कस्य हरामोऽद्य द्रव्यमिति सामर्थ्यं कुर्वन्ति गुह्यं। बहुकस्य जनस्य कार्यकारणेषु विघ्नकरा मत्तप्रमत्तप्रसुप्तविश्वस्त-छिद्रघातिनो व्यसनाभ्युदयेषु हरणबुद्धयो वृका इव रुधिरेच्छवः परियान्ति

नरपति-मर्यादामतिक्रान्ताः सज्जनजनजुगुप्सिताः स्वकर्मभिः पापकर्म-कारिणोऽशुभपरिणताश्च दुःखभागिनो नित्याविलदुःखानिर्वृत्तिमनसः इहलोक एव क्लिश्यमानाः परद्रव्यहरा नरा व्यसनशतसमापन्नाः ॥सू०११॥

पदार्थान्वय—(तं पुण) उस (चोरियं) चोरी को (तक्करा) चोरी करने के व्यसन वाले, (परदव्वहरा) दूसरे के द्रव्य का हरण करने वाले, (छेया) चालाक या चौर्यकलानिपुण, (कयकरणलद्धलक्खा) कई बार चोरियाँ करने से जो अपने लक्ष्य को पा चुके हैं, चोरी में अभ्यस्त होने से जो कई मौके पा चुके हैं, (साहसिया) पर्याप्त साहस-हिम्मत कर सकने वाले, बुलंद हौंसले वाले, (लहुस्सगा) तुच्छ आत्मा, (अति महिच्छलोभगच्छा) बहुत बड़ी महत्त्वाकांक्षा होने के कारण लोभ में फंसे हुए, (दद्दर-ओवीलका) वाणी के चातुर्य से अपने स्वरूप को छिपाने वाले अथवा वागाडम्बर से दूसरों को लज्जित करने वाले, (य) और (गेहिया) दूसरों के धन माल पर गृद्ध-आसक्त (अहिमरा) सामने से सीधा प्रहार करने वाले, (अणभंजक) लिये हुए कर्ज को न चुकाने वाले, (भग्गसंधिया) विवाद होने पर की हुई संधि या प्रतिज्ञा को तोड़ने वाले (य) और (रायदुट्ठकारी) खजाना आदि लूट कर राजा का अनिष्ट करने वाले,(विसय-निच्छूढलोकबज्झा) देशनिकाला दिये जाने के कारण जनता (लोगों) द्वारा बहिष्कृत (उद्दोहक-गामघायग-पुरघायक-पंथघायग-आलीवग-तित्थभेया) वन आदि को जलाने वाले या उपद्रव (दंगा आदि) करने वाले, ग्राम-घातक, नगरघातक, राहगीरों को लूटने वाले, घर आदि जला देने वाले, तीर्थयात्रियों को लूटने मारने वाले, (लहुहत्थ-संपउत्ता) हाथ की चालाकी का प्रयोग करने वाले, (जुइकरा) जुआरी, (खंडरक्खत्थि-चोर-पुरिसचोर-संधिच्छेया) चुंगी या कर वसूल करने वाले कर्मचारी, या कोतवाल, स्त्री को चुराने वाले या स्त्री से धन लूटने वाले अथवा स्त्री का रूप बना कर चोरी करने वाले, पुरुषों या बालकों का अपहरण करके ले जाने वाले या बच्चों को उठाने वाले, सेंध लगाने में चतुर, (गंथिभेदग-परधनहरणलोमावहारा) गंठकटे, गिरहकट, पराये धन का हरण करने वाले, कुछ हाथ न लगने के कारण प्राणहरण करने वाले, वशीकरण विद्या आदि का प्रयोग करके लूटने वाले, (अक्खेवी) एकदम झपट कर लूटने वाले (हडकारका) जबरन हठपूर्वक लूट लेने वाले, (निम्मद्दग-गूढचोरक-गोचोरक-अस्सचोरक-दासीचोरा य) निरन्तर सता कर—कुचल कर लूटने वाले, गुप्तचोर, गाय बैल आदि के चोर, घोड़ों के चोर, और दासीचोर, (एकचोरा) अकेले ही चोरी करने वाले, (ओकड्ढसंपदायकउच्छिंपकसत्थघातकबिलकोलीकारका) चोरों को दूसरों के घरों में बुला कर चोरी करवाने वाले, अथवा घरों से गहने निकलवाने वाले,

चोरों को भोजनादि देने वाले, छिप कर चोरी करने वाले, सार्थवाहों, बनजारों को लूटने वाले,लोगों को भ्रम में डाल कर विश्वासोत्पादक (मैं दुगुना सोना बना दूंगा आदि) वचन बोलकर ठगने वाले;(य) और (निग्गाहकारका) सरकार के द्वारा बंदी बनाए हुए लोगों में से जेल से छूट कर चोरी करने वाले, अथवा लोगों को पकड़ कर ले जाने वाले, (विप्पलुंपका) तस्करव्यापार करने वाले या व्यवसाय में बेईमानी करके लूटने वाले; (बहुविहतेणिक्ककरणबुद्धी) जिनकी बुद्धि रात-दिन अनेक प्रकार से चोरी करने में ही लगी हुई होती है, वे ही चोरी (करेंति) करते हैं।

(एते) ये (य) और (एवमादी) इसी प्रकार के (अन्ने) अन्य लोग भी चोरी (करेंति) करते हैं, (जे) जो (परस्स दव्वाहि अविरया) दूसरे के द्रव्यों से—पर द्रव्य के लोभ से विरत नहीं हैं—निवृत्त नहीं हैं। (य) और (विपुलबलपरिग्गहा) विपुल बल या सैन्य और परिग्रह—धन या परिवार वाले (बहवे) बहुत से (रायाणो) राजा लोग, जो (परधणम्मि) पराये धन में (गिद्धा) आसक्त होते हैं, (सए दव्वे य असंतुट्ठा) अपने द्रव्य में असंतुष्ट हुए (परविसए) दूसरे देशों पर (अभिहणंति) चढ़ाई करते हैं (ते) वे (लुद्धा) लोभी (परधणस्स कज्जे) परधन को हथियाने के लिए (चउरंगविभत्तबल-समग्गा) अपनी सारी सेना को चार अंगों में बांट देते हैं—रथ, गज, अश्व और पैदल इन चारों में फौज को विभक्त कर देते हैं। (निच्छियवरजोहजुद्धसद्धियअहमह-मितिदप्पिएहिं) पक्के निश्चय वाले अच्छे योद्धाओं के साथ युद्ध करने में आत्म-विश्वास वाले, मैं पहले लड़ूंगा, मैं पहले लड़ूंगा—इस प्रकार के गर्व से भरे हुए, (सेन्नेहिं) पैदल सैनिकों से (संपरिवुडा) घिरे हुए (पउमपत्तसगडसूईचक्कसागर-गरुलवूहातिएहिं) कमलपत्राकार, शकट—बैलगाड़ी के आकार, सूई के आकार, चक्राकार, समुद्राकार, गरुड़ाकार इत्यादि व्यूहरचनाओं (मोर्चों) वाली (अणिएहिं) अपनी सेनाओं द्वारा (उत्थरंता) दूसरों की सेनाओं को आच्छादित करते हुए—अपनी विशाल फौज से विपक्ष की सेनाओं पर छा कर, (अभिभूय) उन्हें पराजित करके—हरा कर, (परधणाइं) दूसरों की धन-सम्पत्ति को, (हरंति) लूट लेते हैं। (अवरे) दूसरे (रणसीसलद्धलक्खा) युद्ध के मैदानों में अग्रिम पंक्ति में लड़ कर,जिन्होंने फतह पाई है, वे (सन्नद्धबद्ध-परियर-उप्पीलियचिंधपट्टगहियाउहपहरणा) कमर कसे हुए तथा कवच पहने हुए एवं विशेष प्रकार के चिह्नपट्ट—परिचयसूचक बिल्ले मस्तक पर मजबूती से बांधे हुए, कंधों पर और हाथों में अस्त्र-शस्त्र लिए हुए, (माढिवरवम्म-गुंडिया) शस्त्रास्त्रों के प्रहार से बचने के लिये ढाल, और उत्तम कवच चारों ओर ढके हुए (आविद्धजालिका) लोहे की जाली पहने हुए (कयवकंकडइया) कवचों पर लोहे के

कांटे लगाए हुए (उरसिरमुहबद्ध - कंठतोण - माइतवरफलकरचित - पहकर सरहस-खरचावकरकरंछियसुनिसितसरवरिसचडकरमुयंतघणचंडवेगधारानिवायमग्गे) वक्षःस्थल के साथ ऊर्ध्वमुखी बाणों की तूणीर—बाणों की थैली—भाथा कंठ में बांधे हुए, हाथ में पाश-शस्त्र और ढाल लिये हुए, सैन्यसमूह की रणोचित रचना किये हुए, कठोर धनुष को सहर्ष हाथ में लिए हुए, हाथों से खींच कर की हुई बाणों की प्रचंड वेग से बरसती हुई मूसलधार वर्षा के गिरने से जहां मार्ग भर गये है, उस संग्राम में (अणेगधणु - मंडलग्ग - संधित - उच्छलिय-सत्ति - कणग - वामकरगहियखेडग - निम्मलनिक्किट्ठखग्ग - पहरंत कोंत - तोमर-चक्क - गया - परसु - मुसल - लांगल- सूल - लउल - भिंडमाल-सब्बल-पट्टिस-चम्मेट्ठ-दुघण-मोट्ठिय - मोग्गर - वरफलिहजंत-पत्थर-दुहण-तोण-कुवेणी-पीढकलिय- ईलीपहरण-मिलिमिलिमिलंत-खिप्पंत-विज्जुज्जलविरचितसमप्पहणमतले) अनेक धनुषों, दुधारी तलवारों, फैंकने के लिए निकाली तथा उछाली हुई त्रिशूलों, बाण, बांये हाथों में पकड़ी हुई ढालों, म्यान से निकाली हुई चमचमाती हुई तलवारों, प्रहार करते हुए भालों, तोमर नामक बाण, चक्र, गदाएँ, कुल्हाड़ों, मूशल, हल, शूल, लाठियों, भिंड-माल, शब्बल (लोहे के बल्लमों),पट्टिस नामक शस्त्र, चमड़े में बंधे हुए पत्थर-गिलोल, द्रुघण (चौड़े भाले), मुट्ठी में आ जाने वाले विशेष पत्थर के शस्त्र, मुद्गर, प्रबल आगल, गोफण (यंत्र में बंधे हुए पत्थर), द्रुहण (कर्कर), बाणों के भाथों, कुवेणियां-नालीदार बाण और आसन नामक शस्त्रों से सुसज्जित तथा दुधारी चमकती तलवारों और चमचमाते प्रहरणों (शस्त्रों) के आकाश में फैंकने से आकाशतल बिजली के समान उज्ज्वल प्रभा वाला हो जाता है। (फुडपहरणे) उस संग्राम में प्रकट—स्पष्ट शस्त्रप्रहार होता है, और (महारणसंखभेरिवरतूर-पउरपडुपडहाहयणिणायगंभीर-णंदित पवखुभियविपुलघोसे) महायुद्ध में बजाये जाने वाले शंखों, भेरियों, उत्तम बाजों, अत्यन्त स्पष्ट आवाज वाले ढोलों के बजने की गंभीर ध्वनि से आनन्दित वीरों और कंपित व क्षुब्ध कायरों का बहुत जोर से हो हल्ला होता है। (हयगयरहजोहतुरित-पसरितरयुद्धततमंधकार-बहुले) घोड़े, हाथी, रथ और पैदल योद्धाओं के फुर्ती से चलने से चारों तरफ फैली हुई धूलरूपी घने अंधेरे से व्याप्त उस युद्ध में, (कातरनर-नयणहिययवाउलकरे) कायरजनों की आंखों और हृदय को व्याकुल करने वाले; (विलुलियउक्कडवरमउड-तिरीडकुंडलोडुदाम-डोविए) ढीले होने के कारण इधर-उधर हिलते हुए ऊँचे मुकुटों, तीन शिखरों (सेहरों) वाले मुकुटों (ताजों), कुण्डलों तथा नक्षत्रनामक आभूषणों की वहां अत्यन्त जगमगाहट होती है, (पागडपडाग-उसिय

ज्झय-वेजयंति-चल-चामर-चलंतछत्त'ध कारगंभीरे) साफ दिखाई देने वाली पताकाओं, बहुत ऊँची बांधी हुई ध्वजाओं, विजयसूचक वैजयन्ती पताकाओं तथा चलायमान चंवरों, और छातों से किये गए अन्धकार के कारण गम्भीर; (हयहेसिय-हत्थिगुलगुलाइय-रहघणघणाइय-पाइक्कहरहराइय-अप्फोडिय-सीहनाय-छेलिय-विघुट्टुक्कुट्ठ-कंठगयसद्द भीमगज्जिए) घोड़ों के हिनहिनाने से, हाथियों से चिंघाड़ने से,रथों की घनघनाहट से, प्यादों के हर-हर शब्द करने से, तालियों की गड़गड़ाहट से, सिंहनाद करने से, सीटी की तरह की आवाज करने से,जोर-जोर से चिल्लाने से,जोर से खिलखिला कर हंसने से, और एक साथ हजारों कंठों की ध्वनि से जहाँ भयंकर गर्जनाएँ होती हैं; (सयराह-हसंत-रुसंत-कलकलरवे) जिसमें एक साथ हंसने और रोने या कष्ट होने का शोरशराबा कलकल शब्द होता है, (आसूणिय-वयण रुद्दे) बीच-बीच में जो आंसुओं के साथ मुंह फुला कर बोलने से रौद्र हो जाता है, (भीमदसणाधरोट्ठगाढदट्ठसप्पहरणुज्जयकरे) जिसमें भयावने दांतों से होठों को जोर से काटने वाले योद्धाओं के हाथ अचूक प्रहार करने में उद्यत हैं, (अमरिसवसतिव्व-रत्त-निद्दारितच्छे) रोष से उन योद्धाओं की आँखें लाल और तरेर रही हैं, (वेरदिट्ठिकुद्धचिट्ठियतिवलीकुडिलभिउडीकयनिलाडे) वैरदृष्टि के कारण क्रुद्ध चेष्टाओं से उनकी भौंहें तनी हुई होने से ललाट पर तीन सल पड़े हुए हैं, (वहपरिणय-नरसहस्स-विक्कम-वियंभियबले) मारकाट में लगे हुए हजारों मनुष्यों के पराक्रम को देख कर जिस युद्ध में सेनाओं में पौरुष बढ़ रहा है, (वग्गंत - तुरग- रह- पहावित- समर- भड- आवडिय- छेय- लाघव - पहार-पसाधित - समुस्सिय (सविय) - बाहुजुयलमुक्कट्टहास - पुक्कंत - बोलबहुले) हिनहिनाते हुए घोड़ों और रथों से दौड़ते हुए समरभट यानी योद्धा तथा शस्त्रास्त्र चलाने में दक्ष और हस्तलाघव, प्रहार आदि में सधे हुए सैनिक जिसमें हर्ष से दोनों भुजाएँ ऊँची उठाए, खिलखिला कर ठहाका मार कर हंस रहे हैं, किलकारियां कर रहे हैं, (फुरफलगावरण - गहिय - गयवर - पत्थित - दरिय - भड-खल-परोप्पर-पलग्ग-जुद्ध- गव्वित- विउसित- वरासि-रोस- तुरिय-अभिमुह-पहरंत-छिन्न करिकर-विभंगितकरे) चमकती हुई ढालें और कवच धारण किये हुए मस्त हाथियों पर चढ़ कर रवाना हुए भट शत्रुओं के भटों के साथ परस्पर युद्ध में संलग्न हैं, तथा युद्धकला में प्रवीणता के कारण घमंडी योद्धा जिसमें अपनी-अपनी तलवारें म्यान में से निकाल कर फुर्ती से परस्पर रोषपूर्वक प्रहार कर रहे हैं और हाथियों की सूंडें काट रहे हैं, जिससे उनके भी हाथ कट रहे हैं, (अवइद्ध-निरुद्ध-भिन्न-फालिय-पगलिय-रुहिर कत-भूमिकद्दम-चिलिचिल्ल-पहे) जहाँ पर मुद्गर आदि से मारे गये, बुरी तरह

से काटे गए या फाड़े गए हाथी आदि पशुओं या मनुष्यों के जमीन पर बहते हुए खून के कीचड़ से रास्ते लथपथ हो रहे हैं, (कुच्छि-दालिय-गलिय-रुलंत-निब्भेलितंत-फुरुफुरंत-विगल-मम्माहय-विकय - गाढदिन्नपहार-मुच्छित-रुलंत - बेंभल-विलाव-कलुणे) पेट फट जाने से भूमि पर लुढ़कती हुई एवं बाहर निकलती हुई आंतों से खून बह रहा है ; एवं तड़फड़ाते हुए, व्याकुल, मर्मस्थान पर चोट खाए हुए, बुरी तरह से कटे हुए, भारी चोट खाने से बेहोश हुए एवं इधर-उधर लुढ़कते हुए विह्वल मनुष्यों के विलाप से जो युद्धभूमि करुण हो रही है, (हयजोह-भमंत-तुरग-उद्दाम-मत्त-कुंजर,-परिसंकितजण-निव्वुक छिन्नधय-भग्गरहवर - नट्ठसिर - करिकलेवराकिन्न-पतितपहरण-विकिन्नाभरणभूमिभागे) जिस युद्ध में मारे गये योद्धाओं के भटकते हुए घोड़े, मतवाले हाथी और भयभीत मनुष्य, मूल से कटी हुई ध्वजाओं वाले टूटे हुए रथ, सिरकटे हाथियों के कलेवर, नष्ट हुए हथियार और बिखरे हुए गहने युद्धभूमि के एक हिस्से में पड़े हैं, (नच्चंतकबंध - पउर - भयंकर - वायस-परिलेंत-गिद्ध-मंडल-भमंत-छायंधकारगंभीरे) नाचते हुए बहुत से धड़ों पर कौए और गिद्ध मंडरा रहे हैं। वे जब झुंड के झुंड घूमते हैं तो उनकी छाया के अन्धकार से जो गंभीर हो रहा है, ऐसे (संगामंमि) युद्ध में (अतिवयंति) वे स्वयं प्रवेश करते हैं, केवल सेना को ही नहीं लड़ाते। (वसुवसुहाविकंपितव्व) देव (लोक) और पृथ्वी को मानो कंपाते हुए (परधणं महंता) पराये धन को चाहने वाले राजा लोग, (पच्चक्ख-पिउवणं) साक्षात् मरघट के समान, (परमरुद्दवीहणगं) अत्यन्त रौद्र होने के कारण भयावने, (दुप्पवेसतरगं) अत्यन्त कठिनाई से प्रवेश करने योग्य, (संगामसंकडं) संग्राम रूपी संकट में या गहन वन में (अभिवयंति) चल कर—आगे हो कर प्रवेश करते हैं।

(अवरे) दूसरे (पाइक्कचोरसंघा) पैदल चोरों के दल (य) और (सेणावति-चोरवंदपागड्ढिका) चोरों के दल के प्रवर्तक सेनापति, (अडवीदेसदुग्गवासी) वन्य-प्रदेशों के खोह, गुफा, बीहड़ आदि तथा जलीय एवं स्थलीय दुर्गम स्थानों में निवास करते हैं, (कालहरितरत्तपीतसुक्किल्लअणेगसयचिंधपट्टबद्धा) काले, हरे, लाल, पीले, सफेद आदि सैकड़ों रंग बिरंगे चिह्नपट्ट—बिल्ले या चपरास बांधे हुए, (परविसए) दूसरे देशों-परदेशो पर (अभिहणंति) धावा बोल देते हैं, (किसके लिए ?) (लुद्धा) लुब्ध —लालची बन कर (धणस्स कज्जे) धन के लिए (रयणागरसागरं) रत्नों के खजाने वाले समुद्र पर (चढ़ाई करते हैं) (कैसा समुद्र ?) (उम्मीसहस्समालाउलाकुल-वितोयपोतकलकलेंतकलियं) हजारों लहरों की मालाओं से व्याप्त तथा पेयजल के अभाव

में जहाज के व्याकुल मनुष्यों के कलकल से युक्त, (पायालसहस्सवायवसवेगसलिल-उद्धममाणदग-रयरयंधकारं) हजारों पातालकलशों की हवा के कारण तेजी से ऊपर उछलते हुए जलकणों की रज से अन्धकारमय, (वरफेण-पउर-धवल-पुलंपुल-समुट्ठिय-ट्टहासं) निरन्तर प्रचुरमात्रा में उठने वाला सफेद फेन ही जिसका अट्टहास है, (मारुय-विच्छुभमाण-पाणिय-जलमालु-प्पीलहुलियं) जहाँ हवा के थपेड़ों से पानी क्षुब्ध हो रहा है, और जलकल्लोलसमूह भी अत्यन्त वेगवान हो रहे हैं। (अवि य) तथा (समंतओ खुभिय-लुलिय-खोखुब्भमाण-पक्खलियचलिय-विपुलजलचक्कवाल-महानईवेग-तुरिय-आपूरमाण-गंभीर-विपुल - आवत्त-चवल-भममाण - गुप्पमाणुच्चलंत-पच्चोणियत्त-पाणिय-पधाविय-खर-फरुस-पचंड - वाउलिय-सलिल - फुट्टंत-वीइ-कल्लोलसंकुलं) चारों ओर की तूफानी हवाओं से क्षोभित, किनारे पर टकराते हुए जलसमूह से या मगरमच्छ आदि जलजन्तुओं से अत्यन्त चंचल बने हुए, (समुद्र के) बीच में निकले हुए पर्वत आदि से टकराते व बहते हुए विपुल अथाह जलसमूह से युक्त तथा गंगा आदि महानदियों के वेग से शीघ्र लबालब भर जाने वाला है एवं गहरे अथाह भँवरों में चपलतापूर्वक भ्रमण करते, व्याकुल होते, उछलते और नीचे गिरते जलसमूह या जलजन्तुओं का जिसमें निवास है तथा वेगवान् एवं अतिकठोर प्रचण्ड क्षुब्ध पानी में से उठती हुई लहरों रूप किल्लोलों से जो व्याप्त है। (महामगर-मच्छकच्छभो-हार-गाहतिमिसुंसुमार-सावय-समाहय-समुद्धायमाणकपूरघोरपउरं) बड़े-बड़े मगर-मच्छों, कछुओं, ओहार नामक जलजन्तुओं, और घड़ियालों (ग्राह), बड़ी मछलियों (तिमि), सुंसुमार और श्वापद नामक जलजन्तु-विशेषों के परस्पर टकराने और एक दूसरे को निगलने के लिए दौड़ने से जो अतीव घोर बना हुआ है, (कायर-जणहिययकंपणं) कायर लोगों के हृदय को कंपाने वाला है, (मह-भयं) महाभयानक (भयंकरं) भय पैदा करने वाला, (प्रतिभयं) प्रतिक्षण भयप्रद, (उत्तासणकं) अत्यन्त उद्वेग (घबराहट) पैदा करने वाला (अणोरपारं) जिसके आरपार का कोई पता नहीं, (आगासं चेव निरवलंबं) और जो आकाश के समान आलंबनरहित है, (उप्पाइय-पवण-धणित-नोल्लिय - उवरुवरितरंगदरिय - अतिवेग-चक्खुपहमुच्छरंतं) उत्पातजनित वायु से अत्यन्त प्रेरित—चलाई हुई एक के बाद दूसरी गर्व से इठलाती हुई लहरों के अतिवेग—तेजी से दृष्टिपथ—आँखों के रास्ते को ढक देने वाला (कत्थइ) कहीं पर, (गंभीर-विपुल-गज्जिय-गुंजिय-निग्घाय-गरुय-निवतित-सुदीह-निहारि-दूर-सुच्चंत-गंभीर-धुग-धुगंतसद्दं) गंभीर और विपुल गर्जना से गूंजती हुई, आकाश में व्यन्तरकृत महाध्वनि के समान तथा उससे उत्पन्न व दूर सुनाई देने वाली प्रतिध्वनि के समान

गंभीर और धुग् धुग् करती हुई आवाज जहां पर हो रही है, (पडिपह-रुभंत-जक्ख-रक्खस-कुहंड-पिसाय-रुसिय-तज्जाय-उवसग्गसहस्ससंकुलं) जो प्रत्येक रास्ते में रुकावट डालने वाले यक्ष, राक्षस, कुष्माण्ड और पिशाचजातीय कुपित हुए व्यन्तरदेवों द्वारा जनित हजारों उपसर्गों से व्याप्त है (बहुप्पाइयभूयं) बहुत से उत्पातों — उपद्रवों से भरा हुआ है, (विरचितबलिहोमधूवउवचार-दिन्न-रुधिर-च्चणाकरण-पयतजोग-पययचरियं) जो बलि, होम और धूप दे कर की गई देवता की पूजा तथा रुधिर दे कर की हुई अर्चना करने में प्रयत्नशील सामुद्रिक व्यापार में रत जहाजी व्यापारियों से सेवित है, (परियंत-जुगंतकाल-कप्पोवमं) अन्तिम-युग (कलिकाल) के अन्त यानी प्रलयकाल के कल्प के तुल्य (दुरंतं) जिसका अन्त पाना कठिन है, (महानई-नईवइ-महाभीम-दरिसणिज्जं) गंगा आदि महानदियो का नदीपति (समुद्र), जो अति विकराल दिखाई देता है, (दुरणुच्चरं) जो कठिनाई से सेवित किया जा सकता है, (विसमप्पवेसं) नमकीन पानी से लबालब भरे होने से जिस में प्रवेश करना कठिन है ; (दुक्खुत्तारं) जिसको पार करना बड़ा कठिन है, (दुरासयं) जिसका आश्रय लेना दुष्कर है, (लवणसलिलपुण्णं) खारे पानी से परिपूर्ण, (रयणागरसागरं) ऐसे रत्नों के आकर स्वरूप समुद्र में (असिय-सिय-समूसियगेहिं) ऊंचे किए हुए काले और सफेद झंडों से युक्त (दच्छ-हत्थ तरकेहिं वाहणेहिं) अतिशीघ्रगामी अथवा तेज पतवारों वाले जहाजों द्वारा (अइवइत्ता) आक्रमण करके (समुद्दमज्झे) समुद्र के मध्य में (गंतूण) जा कर (जणस्स) सामुद्रिक-व्यापारियों के (पोते) जहाजों को (हणंति) नष्ट करते हैं।

(परदव्वहरा) परद्रव्य का हरण करने वाले, (निरणुकंपा) निर्दय, (निरवयक्खा) परलोक की परवाह न करने वाले (धणसमिद्धे) धन से समृद्ध (गामागर-नगर-खेड-कब्बड-दोणमुह-पट्टणा-सम-णिगम-जणवते-) गांवों, खानों, नगरों, खेड़ों (धूल के कोट वाले छोटे गांव), कर्बटों (कस्बों), मडम्बों (चार योजन के अन्तर्गत गांवों से घिरे हुए), पत्तनो (विशाल नगरों), द्रोणमुख (बंदरगाह के समीप का नगर जहां स्थलमार्ग और जलमार्ग दोनों हो), तापस आदि के आश्रमों, निगमों (व्यापारीमंडी), जनपदों—देशों को (हणंति) नष्ट कर देते हैं। (य) और ये (थिरहियया) मजबूत-पक्के दिल वाले अथवा स्थिरहित यानी निहितस्वार्थी, (छिन्नलज्जा) निर्लज्ज लोग (बंदिग्गा-हगोग्गहे) मनुष्यों को बंदी बना कर या गाय आदि को पकड़ कर (गिण्हंति) ले जाते हैं। (दारुणमती) कठोर बुद्धि वाले, (णिक्किवा) निर्दय अथवा (णिक्किया) निकम्मे लोग (णियं) अपना अथवा अपनों का (हणंति) घात करते हैं (य) तथा (गेहसंधि) घर

की संधि को (छिंदंति) तोड़ते हैं यानी सेंध लगाते हैं (य) और जो (परस्स) दूसरे के, (दव्वाहिं) द्रव्यों से (अविरया) अविरत-निवृत्त नहीं हैं, वे (निग्घिणमती) दयाहीन बुद्धिवाले, (जणवयकुलाणं) देशवासी लोगों के घरो में, (निक्खित्ताणि) रखे हुए, (धणधन्नदव्वजायाणि) धन, धान्य और अन्य द्रव्यसमूह को (हरंति) चुराते हैं। (तहेव) इसी प्रकार, (केई) कितने ही, (अदिन्नादाणं) चोरी की (गवेसमाणा) खोज करते हुए (कालाकालेसु) समय-असमय में (संचरंता) घूमते हुए (चियका-पज्जलिय-सरस-दरदड्ढ कड्ढिय-कलेवरे) जहाँ चिताओं में जलती हुई, रुधिरादि से युक्त, थोड़ी जली हुई व खींची हुई लाशें पड़ी हैं, (रुहिरलित्त-वयण-अखत-खातिय-पीतडाइणी-भमंत-भयंकरे) तथा खून से लथपथ मृतशरीरों को पूरा खाने और खून पी लेने के बाद घूमती हुई डाकिनियों से जो अतीव भयंकर हो रहा है, (जंबुयखिखियंते) जहाँ गीदड़ खीं खीं आवाज कर रहे हैं, (घूयकयघोरसद्दे) जहाँ उल्लू भयंकर आवाज कर रहे हैं, (वियालुट्ठिय - निसुद्ध - कह - कहित-पहसित-वीहणक-निरभिरामे) भयंकर विद्रूप पिशाचों द्वारा ठहाका मार कर हंसने से जो अत्यन्त भयावना और अरमणीय हो रहा है, (अतिदुब्भिगंध-बीभच्छदरिसणिज्जे) अत्यन्त बदबूदार और घिनौना होने से देखने में डरावने (सुसाणे) श्मशान में तथा (वण-सुन्नघर-लेण-अंतरावण-गिरिकंदर-विसम-सावय-समाकुलासु) वन में, सूने घरो, में मार्ग पर बनी हुई दूकानों, पर्वतों की गुफाओं, ऊबड़खाबड़ जगहों तथा सिंह आदि हिंसक जानवरों से घिरी हुई (वसतीसु) जगहों में राजदण्ड आदि से बचने के लिए, (किलिस्संता) क्लेश पाते हुए भटकते हैं, (सीतातपसोसियसरीरा) उनके शरीर की चमड़ी ठंड और गर्मी से सूख जाती है, (दड्ढच्छवी) वह रूखी हो कर जल जाती है, (निरयतिरियभवसंकड-दुक्ख-संभारवेयणिज्जाणि पावकम्माणि संचिणंता) जिनसे नरक और तिर्यञ्च की भवपरम्पराओं में सतत दुःखों को भोगना पड़ता है,ऐसे पापकर्मों का संचय करते हैं (दुल्लह-भक्खन्न-पाण-भोयणा) उन्हें चोरी का दुष्कर्म करते हुए मोदक आदि भक्ष्य पदार्थों,चावल, गेहूं आदि अनाजों, दूध आदि पेयपदार्थों का भोजन मिलना दुर्लभ होता है (पिवासिया) प्यासे, (झुंझिया) भूखे, (किलंता) थके हुए (मंस-कुणिम-कंद-मूल-जंकिंचिय-कयाहारा) मांस, मृत शरीर, कंद, मूल या जो भी चीज मिल जाय उसी को उन्हें खाना पड़ता है, (उव्विग्गा) रातदिन उद्विग्न-भयभीत-रहते हैं, (उप्पुया) वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर दौड़ते-भागते रहते हैं अथवा (उस्सुया) हर समय उत्सुक याने चौकन्ने रहते हैं, (असरणा) कहीं पर उन्हें टिकने को शरण नहीं मिलती, अतएव (वालसत-संकणिज्जं) सैकड़ों सर्पों के कारण हरदम शंकाजनक (अडवीवासं उवेंति) अटवी में

रहने के लिए पहुँचते हैं। वे (अयसकरा) अपने को व अपने कुल को बदनाम करने वाले, (भयंकरा तक्करा) भयंकर चोर, (अज्ज कस्स दव्वं हरामोत्ति सामत्थं करेंति गुज्झं) गुप्त मंत्रणा करते हैं कि आज किसका या किसके यहां द्रव्य-धन चुराएँ ? (बहुयस्स कज्जकरणेसु विग्घकरा) वे बहुत-से लोगों के कर्तव्यों और कार्यों में विघ्न डालते हैं, (मत्त-प्पमत्त-पसुत्त-वीसत्थछिद्दघाती) वे नशे में पड़े हुए, लापरवाह, सोये हुए और विश्वस्त लोगों का मौका पा कर घात करते हैं, (वसणाब्भुदएसु हरणबुद्धी) दुर्व्यसनों या आफतों या उत्सवों—खुशी के मौकों पर उनकी बुद्धि में चोरी की भावना जागती है, (विगव्व रुहिरमहिया परेंति) वे भेड़ियों की तरह खून पीने की लालसा से युक्त हो कर चारों ओर भटकते रहते हैं, वे (नरयतिमज्जायं अतिक्कंता) राजा के बनाए हुए सरकारी कानूनों की मर्यादा का उल्लंघन करते हैं, (सज्जणजण-दुगुंछिया) सज्जन लोगों की घृणा के पात्र, (सकम्मेहिं) अपने दुष्कर्मों के कारण (पावकम्मकारी) पापकर्म करने वाले (असुभपरिणया) अशुभ परिणामों से युक्त (य) तथा (दुक्खभागी) दुःख के भागी, (निच्चाइलदुहमनिव्वुइमणा) सदा मलिन, दुःखयुक्त एवं अशान्त मन वाले (परधणहरा) दूसरे के धन का हरण करने वाले वे (नरा) मनुष्य (इह लोके) इस लोक में (चेव) ही (वसणसयसमावण्णा) सैकड़ों संकटों से घिरे हुए (किलिस्संता) क्लेश पाते हैं ॥ सू० ११ ॥'

मूलार्थ—चोरी करने के स्वभाव वाले, पराये धन का हरण करने वाले, चौर्यकलानिपुण, कई बार चोरियां करने से अपने लक्ष्य को पाये हुए, पर्याप्त साहस करने वाले, तुच्छ आत्मा, बड़ी महत्वाकांक्षा होने के कारण अत्यन्त लोभ में फंसे हुए, वाणी के चातुर्य से अपने स्वरूप को छिपाने वाले अथवा वागाडम्बर से दूसरों को भ्रमित करने वाले, दूसरों के धनमाल पर अत्यन्त आसक्त सामने से सीधा प्रहार करने वाले, लिए हुए कर्ज को नहीं चुकाने वाले, विवाद होने पर की हुई संधि या प्रतिज्ञा को भंग करने वाले, खजाना आदि लूट कर राजा का अनिष्ट करने वाले, देशनिकाला दिए जाने के कारण जाति या समाज द्वारा बहिष्कृत, वन आदि में आग लगाने वाले या दंगा उपद्रव आदि करने वाले, गाँवों का सफाया करने वाले, नगरों के घातक, पथिकों को लूटने वाले, घर आदि जला देने वाले, तीर्थ-यात्रियों को लूटने-मारने वाले, हाथ की चालाकी का प्रयोग करने वाले, जुआ खेलने वाले, चुंगी या कर वसूल करने वाले, कर्मचारी या कोतवाल,

स्त्री का हरण करने वाले या स्त्रियों से धन लूटने वाले अथवा स्त्री का रूप बनाकर चोरी करने वाले, पुरुषों या बालकों का अपहरण करके ले जाने वाले, सैंध लगाने में चतुर, गिरहकट या गंठकटे, पराया धन उड़ाने वाले उचक्के, कुछ हाथ न लगने के कारण दूसरों के प्राण हरण करने वाले, वशीकरण विद्या तथा औषधि आदि के प्रयोग से मूच्छित करके लूटने वाले, एकदम झपट कर लूटने वाले, निरंतर सताकर या कुचल कर या धमकी दे कर लूटने वाले, गुप्त चोरियाँ करने वाले, गाय बैल आदि के चोर, घोड़ों के चोर, दासियों को चुराने वाले, अकेले ही चोरी करने वाले, घरों में से आभूषण चुराने वाले अथवा चोरों को बुला कर दूसरों के घरों में चोरी करवाने वाले चोरों को भोजन आदि देने वाले, छिप कर चोरी करने वाले, सार्थवाहों (वनजारों) को लूटने वाले, लोगों को चकमे में डाल कर या विश्वासोत्पादक (मैं दुगुना सोना बना दूंगा इत्यादि प्रकार से, वचन बोल कर ठगने वाले, वन्दीघर (जेलखाने) से भाग कर या छूटकर लूटखसोट करने वाले, अथवा लोगों को पकड़ कर ले जाने वाले और उनसे मनमाना धन बटोरने वाले, तस्कर-व्यापार करने वाले या व्यवसाय में बेईमानी करके लूटने वाले और जिनकी बुद्धि रात-दिन अनेक प्रकार की चोरी करने में लगी हुई होती है, वे ही चोरी करते हैं।

ये और इसी प्रकार के दूसरे लोग भी चोरी करते हैं, जो परद्रव्यों के के लोभ से अविरत (निवृत्त) नहीं है। जैसे कि विपुल बल या सैन्य और परिग्रह (परिवार या धन) वाले बहुत से राजा लोग, जो पराये धन में आसक्त होते हैं, अपने द्रव्य (राज्य, धन आदि) से असंतुष्ट होते हैं, दूसरे देशों पर चढ़ाई करते हैं। वे लोभी राजा दूसरों के द्रव्य को हथियाने के लिए अपनी फौज को हाथी, घोड़े, रथ और पैदल इन चार भागों में बांटते हैं। पक्के निश्चय वाले अच्छे योद्धाओं के साथ युद्ध करने में आत्मविश्वास वाले तथा मैं पहले लड़ूंगा, मैं पहले लड़ूंगा; इस प्रकार के गर्व से भरे हुए पैदल सैनिकों से घिरे हुए कमलपत्राकार, शकटाकार, सूई के आकार, चक्राकार, समुद्राकार, गरुड़ाकार इत्यादि विविध व्यूहरचनाओं (मोर्चों) वाली अपनी विस्तृत सेनाओं से दूसरे की सेनाओं को आच्छादित करके या शत्रु-सेनाओं पर छा कर, उन्हें पराजित करके अन्य राजाओं की धन-सम्पत्ति लूट लेते हैं। दूसरे कितने ही राजा युद्ध के मैदानों में सबसे अगली पंक्ति में लड़ कर विजयी बने हुए कमर कसे

हुए, कवच पहने हुए, तथा खास तरह के परिचयसूचक पट्ट (बिल्ले) मस्तक पर मजबूती से बाँधे हुए, कंधों पर और हाथों में अस्त्र-शस्त्र लिये हुए, शस्त्रास्त्र प्रहार से बचने के लिए ढाल और उत्तम कवच से चारों ओर ढके हुए, लोहे की जाली लगाए हुए, कवचों पर लोहे के कांटे लगाए हुए, वक्षस्थल के साथ ऊर्ध्वमुखी तूणीर (बाणों की थैली या भाथा) गले में बाँधे हुए, हाथ में पाश, शस्त्र और ढाल लिए हुए, सैन्यसमूह की रणोचित रचना किए हुए, कठोर धनुष को सहर्ष हाथ में लिये हुए रहते है। समरभूमि में उनके हाथों से खींच कर छोड़े गये बाणों की वर्षा ऐसी लग रही है, मानो बादलों से मूसलधार बरसती हुई वर्षा से मार्ग व्याप्त हों। उक्त संग्राम में सैनिक अनेक धनुष, दुधारी तलवारों, फेंकने के लिए निकाली तथा उछाली हुई त्रिशूलों, बाणों, बांये हाथों में पकड़ी हुई ढालों, म्यान से निकाली हुई चमचमाती तलवारों, प्रहार करते हुए भालों, तोमर नामक बाण, चक्र, गदा, कुल्हाड़ा, मूशल, हल, शूल, लाठी, भिंडमाल, शब्बल (लोहे के बल्लम), पट्टिस नामक शस्त्र, चमड़े में बंधे हुए पत्थर (गिलौल), द्रुघणों (चौड़े भालों), मुट्ठी में आ जाने वाले विशिष्ट पत्थर के शस्त्रों, मुद्गर, प्रबल आगल, गोफण (यंत्र में बंधे हुए पत्थर), द्रुहण (कर्कट) बाणों के भाथों, कुवेणियों—नालीदार बाणों और आसन नामक शस्त्रों से सुसज्जित हैं। जिस युद्ध में दुधारी चमकती तलवारो और चमचमाते प्रहरणों (शस्त्रों) के चलाने व फेंकने से आकाश बिजली की तरह उज्ज्वल प्रभा वाला हो जाता है। जहां पर शस्त्रप्रहार स्पष्ट होते हैं। जिस महायुद्ध में शंखों, भेरियों, उत्तम वाजों तथा अत्यन्त स्पष्ट आवाज वाले ढोलों के बजने की गम्भीर ध्वनि से हर्षित वीरों और कम्पित व क्षुब्ध कायरों का बहुत जोर से कोलाहल हो रहा है। घोड़े, हाथी, रथ और पैदल योद्धाओं के फुर्ती से चलने से चारों ओर उड़ती हुई धूल गाढ़ अन्धकार से रणक्षेत्र को ढक रही है। तथा कायर मनुष्यों के हृदय को कंपाने और नेत्रों को व्याकुलित करने वाले, ढीले होने से इधर-उधर हिलते हुए ऊँचे मुकुटों, तीन सेहरे वाले ऊँचे मुकुटों, कानों के कुंडलों और नक्षत्रों (एक प्रकार के गहनो) की जहाँ जगमगाहट हो रही है। साफ दिखाई देने वाली पताकाओं, बहुत ऊँची बाँधी हुई ध्वजाओं, विजयसूचक वैजयंती-पताकाओं तथा चलायमान चंवरों और

छत्रों से हुए अन्धकार के कारण जो गम्भीर है। घोड़ों के हिनहिनाने से, हाथियों के चिंघाड़ने से, रथों की घनघनाहट से, प्यादों की हर हर आवाज से, जोर से चिल्लाने से, जोर से खिलखिला कर हंसने से, और एक साथ हजारों कंठों की ध्वनि से जहाँ भयङ्कर गर्जनाएँ होती हैं; जिसमें एक साथ हंसने, रोने और रुष्ट होने का शोरशराबा हो रहा है; जो बीच-बीच में आंसूओं के साथ मुंह फुला कर बोलने से रौद्र हो जाता है, जिसमें भयावने दांतों से होठों को जोर से चबाने वाले योद्धाओं के हाथ अचूक प्रहार करने के लिए उद्यत है, रोष से उनकी आंखें लाल हो कर तरेर रही हैं, वैर दृष्टि के कारण क्रुद्ध चेष्टाओं से उनकी भौंहें तनी हुई होने से ललाट पर तीन सल पड़े हुए हैं, मारकाट में लगे हुए हजारों मनुष्यों के पराक्रम को देख कर जिस युद्ध में सेनाओं में पौरुष बढ़ रहा है; हिनहिनाते हुए घोड़ों और रथों से दौड़ते हुए समरभट-योद्धा तथा शस्त्रास्त्र चलाने में दक्ष व हस्तलाघव, प्रहार आदि में सधे हुए सैनिक जिसमें हर्ष से उन्मत्त हो कर दोनों भुजाएँ ऊंची उठाए खिलखिला कर ठहाका मार कर हँस रहे हैं और किलकारियाँ कर रहे हैं। चमकती हुई ढालें और कवच धारण किए मत्त हाथियों पर चढ़ कर रवाना हुए भट शत्रुओं के भटों के साथ जहां परस्पर युद्ध में संलग्न है; युद्धकला में दक्षता प्राप्त करने के कारण घमंडी योद्धा अपनी-अपनी तलवारें म्यान में से निकाल कर रोषपूर्वक फुर्ती से जिसमें परस्पर प्रहार कर रहे हैं एवं हाथियों की सूंडें काट रहे हैं, जिससे उनके भी हाथ कट रहे हैं; जहां पर मुद्गर आदि से मारे गए, बुरी तरह से काटे गए या फाड़े गए हाथी आदि पशुओं या मनुष्यों के जमीन पर बहते हुए खून के कीचड़ से रास्ते लथपथ हो रहे हैं; पेट फट जाने से भूमि पर लुढ़कती हुई एवं बाहर निकलती हुए आंतों से खून बह रहा है तथा तड़फड़ाते हुए, व्याकुल, मर्मस्थान पर चोट खाये हुए, बुरी तरह से कटे हुए, भारी चोट खा जाने से बेहोश हुए, एवं इधर-उधर लुढ़कते हुए मनुष्यों के विलाप से वह युद्धभूमि करुण हो रही है। जिस युद्ध में मारे गये योद्धाओं के भटकते हुए घोड़े, मतवाले हाथी और भयभीत मनुष्य तथा मूल से कटी हुई ध्वजाओं वाले टूटे हुए रथ, सिरकटे हाथियों के कलेवर, नष्ट हुए हथियार और बिखरे हुए गहने युद्धभूमि में पड़े हैं; जहाँ सैनिकों के

नाचते हुए अनेक सिरकटे धड़ों पर कौए और गिद्ध मंडरा रहे है और वे झुंड के झुंड जब घूमते हैं तो उनकी छाया के अधकार से वह गम्भीर हो रहा है। ऐसे युद्ध में वे केवल सेना को ही नहीं लड़ाते, बल्कि स्वयं भी प्रवेश करते हैं, मानो देवलोक (आकाश) और इस पृथ्वी को कंपाते हुए पराये धन के लिए लालायित वे राजा लोग साक्षात् श्मशान के समान,अत्यन्त रौद्र होने के कारण भयानक और अत्यन्त कठिनाई से प्रवेश करने योग्य इस संग्रामरूपी घने वन में आगे हो कर प्रवेश करते है।

दूसरे पैदल चोरो के दल और चोरों के दल के प्रवर्तक—सेनापति वन्य प्रदेशो में खोह, गुफा, बीहड़ या जलीय-स्थलीय दुर्गम स्थानों में निवास करते हैं। काले, हरे, लाल, पीले, सफेद आदि सैंकड़ों रग-विरंगे चिह्नपट्ट (बिल्ले या चपरास) बांधे हुए वे दूसरे देशों यानी राज्यों पर सहसा धावा बोल देते हैं। लालची बन कर धन के लिए वे रत्नों के खजाने वाले समुद्र पर चढ़ाई कर देते है। जो हजारों तरंगों की मालाओं से व्याप्त है पेय जल के अभाव में जहाज के व्याकुल मनुष्यों के कलकल से युक्त है, हजारों पातालकलशों की हवा के कारण तेजी से ऊपर उछलते हुए जलकणों की की रज से जो अंधकारमय है, निरन्तर प्रचुर मात्रा में उठने वाला सफेद फेन ही जिसका अट्टहास है, जहाँ हवा के थपेड़ों से पानी क्षुब्ध हो रहा है, जलकल्लोलमालाएँ अत्यन्त वेग वाली हो रही हैं, चारों ओर तूफानी हवाओं से क्षुब्ध है, किनारे पर टकराते हुए जलसमूह से तथा मगरमच्छ आदि जलजन्तुओं से अत्यन्त चंचल है, अपने बीच में निकले हुए पर्वत आदि से टकराते व बहते हुए अथाह जलसमूह से जो युक्त है, गंगा आदि महानदियो के वेग से शीघ्र लबालब भर जाने वाला है, जिसके गहरे अथाह भवरों में चपलतापूर्वक भ्रमण करते, व्याकुल होते, ऊपर उछलते और नीचे गिरते हुए जलसमूह हैं या जलजन्तु है, तथा जो वेगवान एवं अत्यन्त कठोर प्रचण्ड, क्षुब्ध जल में से उठती हुई लहरों से व्याप्त है। बड़े-बड़े मगरमच्छों कछुओं, ओहार नामक जलजन्तुओं, घड़ियालों, बड़ी मछलियों, सुंसुमार और श्वापद नामक जलजन्तुविशेषों के परस्पर टकराने और एक दूसरे को निगलने के लिए दौड़ने से जो प्रचुर घोर बना हुआ है; जो कायरजनों के हृदय को कंपा देने वाला है, अत्यन्त भया-

वना और भय पैदा करने वाला है, जो प्रतिक्षण भयप्रद है, अत्यन्त उद्वेग पैदा करने वाला है, जिसके आर-पार का कोई पता नहीं लगता, जो आकाश के समान आलम्बन-रहित है, उत्पातजनित वायु से प्रेरित (चलाई हुई) एक के बाद दूसरी गर्व से इठलाती हुई लहरों के वेग से जो दृष्टिपथ को ढक देता है। कहीं पर गंभीर मेघगर्जना जैसी गूंजती हुई, व्यन्तरकृत महाध्वनि के सदृश, तथा उससे उत्पन्न होकर दूर तक सुनाई देने वाली प्रतिध्वनि के समान गंभीर और घुग् धुग् करती हुई आवाज जिसमें हो रही है। जो प्रत्येक रास्ते में रुकावट डालने वाले यक्ष, राक्षस, कुष्माण्ड और पिशाच जातीय कुपित हुए व्यन्तरदेवों द्वारा जनित हजारों उपसर्गों से व्याप्त है; जो बहुत-से उपद्रवों से भरा हुआ है, जो बलि, होम और धूप दे कर की गई देवता की पूजा और रुधिर दे कर की गई अर्चना में प्रयत्नशील अपने सामुद्रिक व्यापार में रत जहाजी व्यापारियों से सेवित है, जो कलि-काल (अन्तिम युग) के अन्त यानी प्रलयकाल के कल्प के समान है, जिसका अन्त पाना कठिन है, जो गंगा आदि महानदियों का नदीपति होने से दिखने में अत्यन्त भयंकर है; जिसका सेवन कठिनाई से किया जा सकता है या जिसमें चलना बहुत ही दुष्कर है, जिसमें प्रवेश पाना (पानी से लबालब भरा होने से) बहुत ही कठिन है जिसका पार करना दुष्कर है, जिसका आश्रय लेना भी दुःखयुक्त है, जो खारे पानी से भरा हुआ है, ऐसे रत्नाकर सागर में ऊँचे किये हुए काले और सफेद झंडों वाले, अति शीघ्रगामी तेज पतवारों वाले जहाजों द्वारा आक्रमण करके समुद्र के बीचोंबीच जा कर वे सामुद्रिक व्यापारियों के जहाजों को नष्ट कर देते हैं।

पराये धन को चुराने वाले लोग निर्दय एवं परलोक की जरा भी परवाह न करने वाले होते हैं। वे धन से समृद्ध गांवों, नगरों, खेड़ों, खानों, कस्बों, चार योजन के अन्तर्गत गाँवों से घिरे हुए मडम्बों, बंदरगाहों, बंदरगाह के समीपवर्ती नगरों—जहां जल-स्थल दोनों मार्ग हों, आश्रमों, मठों, व्यापारी मंडियों एवं जनपदों को नष्ट कर देते हैं। वे अत्यन्त मजबूत दिल के या निहितस्वार्थी होते हैं, निर्लज्ज होते हैं, वे लोगों को बंदी बना कर या गाय आदि को पकड़ कर ले जाते हैं। ऐसे कठोर बुद्धि वाले, निर्दय या निकम्मे लोग अपना या अपनों का (एक न एक दिन) घात करते हैं, घरों में सेंध

लगाते हैं, वे पराये धन से निवृत्त-विरक्त नहीं होते तथा दया-रहित बुद्धि वाले होते है, इसलिये देशवासी लोगों के घरों में रखे हुये धन, धान्य तथा अन्य द्रव्यसमूह को चुरा ले जाते हैं। इसी प्रकार कितने ही लोग चोरी की खोज में लगे रहते है। वे समय-कुसमय में घूमते हुए ऐसे श्मशान में जा कर आश्रय लेते है,जहां चिताओं में जलती हुई, रुधिरादि से लिप्त, अधजली या इधर उधर घिसटी हुई लाशें पड़ीहै तथा खून से लथपथ मृत शरीरों को पूरा खाने और पी लेने के पश्चात् घूमती हुई डाकिनियों से अत्यन्त भयावना हो रहा है,जहाँ गीदड़ खीं खीं आवाज कर रहे है,उल्लू भयङ्कर आवाज कर रहे हैं,जो विद्रूप वेतालों द्वारा ठहाका मार कर हसने से अत्यन्त भयानक और अरमणीय हो रहा है,जो अत्यन्त दुर्गन्धित और घृणित होने से देखने में बड़ा भयावह है। तथा वे वन मे,सूने घरों तथा शिलाओ से वने हुये घरों में,मार्ग पर वनी हुई दूकानों,पर्वतों की गुफाओं, ऊबड़-खाबड़ जगहों एवं सिंह आदि हिंस्र जानवरों से व्याप्त जगहों में क्लेश पाते हुए भटकते है। उनके शरीर की खाल सर्दी और गर्मी से सूख या सिकुड़ जाती है, वह सूखी होकर कड़ी पड़ जाती है, या जल जाती है। जिनसे नरक और तिर्यञ्च की भवपरम्पराओं में सतत दुःखों को भोगना पड़े, ऐसे पापकर्मों का वे संचय करते है। उन्हें मोदक आदि भक्ष्य पदार्थों तथा चावल,गेहूँ आदि अनाजों एवं दूध आदि पदार्थों का मिलना दुर्लभ होता है। उन्हें चोरी के दुष्कर्म करते समय भूखे, प्यासे और थके हुए रहना होता है तथा मांस, मुर्दा शरीर, कंद, मूल या जो कुछ भी मिल जाय,उसी को खाकर रहना पड़ता है। वे रातदिन उद्विग्न (फड़फड़ाते) रहते हैं, वे एक जगह से दूसरी जगह दौडते-भागते रहते है, अथवा हर समय वे गुप्त खबरें पाने के लिये उत्सुक रहते हैं, कहीं भी उन्हें टिकने को शरण नहीं मिलती, अतएव सैकड़ों सर्पों के कारण हर क्षण शंकाजनक अटवी में रहने के लिए विवश होते हैं। वे अपने कुल की वदनामी कराने वाले भयंकर चोर होते हैं, जो चोरी करने से पहले ऐसी गुप्त मन्त्रणा करते हैं कि आज किसका धन चुराएं ? वे वहुत-से लोगों के कर्तव्य-कर्मों में विघ्न डालते है। वे नशे में चूर, असावधान, सोये, हुए, और विश्वस्त लोगों का मोका पा कर घात करते है। दुर्व्यसनों, आफतों और उत्सव आदि खुशी के मौकों पर उनके दिमाग में चोरी की भावना जागती है। वे भेड़ियों की तरह अति क्रूर रक्तपिपासु जैसे होकर सर्वत्र भटकते रहते है, वे राजा द्वारा वनाए हुए सरकारी कानूनो की मर्यादा का उल्लंघन करते हैं, वे सज्जन लोगों के द्वारा घृणा के पात्र हैं, अपने दुष्कर्मों

के कारण पापकर्म करने वाले एवं अशुभ परिणामों से युक्त रहते हैं, तथा दुःख के भागी बनते हैं। उनके मन हमेशा दुःखाक्रान्त व अशान्त रहते हैं। वे परधन हरण करने वाले मनुष्य इस लोक में ही सैकड़ों संकटों से घिरे हुए क्लेश पाते रहते हैं।

व्याख्या

प्रस्तुत सूत्रपाठ द्वारा शास्त्रकार ने, अदत्तादान करने वाले कौन-कौन होते होते हैं? तथा वे चोरी करने के लिए किन-किन भयंकर तरीकों का आश्रय लेते हैं? इसका विशद विवेचन किया है। मूलार्थ में इसका स्पष्ट अर्थ किया गया है, जो अनायास ही समझ मे आ सकता है। फिर भी कुछ पदों का विवेचन और विश्लेषण करना आवश्यक समझ कर किया जा रहा है—

तं पुण करेंति चोरियं—उस चोरी को करते हैं—तस्कर, परद्रव्यहारक आदि दुर्जन। चोरी का जन्म सर्वप्रथम मन में होता है। मनुष्य के मन में पहले दूसरे की अच्छी वस्तु देख कर या अपने पास उस वस्तु का अभाव होने से दूसरे के यहाँ उस वस्तु की प्रचुरता देख कर उसे किसी भी तरह से प्राप्त कर लेने का लोभ और फिर क्रमशः इच्छा, लालसा, तृष्णा और आसक्ति पैदा होती है। उसके बाद वह अपने मन में उस वस्तु को प्राप्त करने के उपायों का चिन्तन करता है, योजना बनाता है। उस वस्तु की प्राप्ति में कौन-कौन-सी रुकावटें आ सकती हैं? कौन-कौन-से खतरे उठाने पड़ सकते हैं? किन-किन साधनों का आश्रय लेना पड़ेगा? किन-किन सहायकों को साथ में लेना होगा? इत्यादि विविध तरीकों और तरकीबों को अजमाता है। बार-बार उन तरीकों और उपायों को अजमा लेने के बाद वह चौर्यकला में दक्ष और साहसिक बन जाता है, तब वेखटके चोरी करने लग जाता है। कुछ लोग स्वयं चोरी नहीं करते, किन्तु कुछ साहसी व्यक्तियों को अपने यहाँ रख कर या अमुक हिस्सा देने का लोभ दे कर उनसे चोरी करवाते हैं। कुछ लोग चोरी का माल खरीद लेने का वादा करके चोरों को चोरी करने के लिए प्रोत्साहन देते हैं,वे उनकी चोरी के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहते, अपितु गुप्त रूप से उस चोरी का समर्थन करते रहते हैं। कुछ लोग चोरी करने के विविध उपाय बताते हैं, चोरों के साथ साझेदारी में व्यवसाय करते हैं, उन्हें चोरी करने के लिए शस्त्र-अस्त्र आदि साधनों की गुप्त रूप से सहायता करते हैं। कुछ लोग व्यवसाय में चोरी करते हैं, वे अच्छी वस्तु दिखा कर घटिया दे देते हैं, तोल-नाप में गड़बड़ करते हैं, वस्तु में मिलावट करते है, झूठी सौगन्ध खा कर ग्राहक को ठग लेते है, अत्यधिक मूल्य या दर पर बेचते हैं; सरकार के द्वारा निश्चित करों की चोरी करते हैं, बहीखाते में

झूठा जमाखर्च करते है, सौ रुपये दे कर हजार रुपये लिख देते है, किसी की धरोहर को हड़प जाते हैं, पराई अमानत को डकार जाते हैं, इत्यादि प्रकार की चोरियो की गणना व्यावसायिक चोरी में होती है । झूठे विज्ञापनों द्वारा लोगों को धोखा दे कर रुपये बटोरना, नकली कंपनी खोल कर लोगों को चकमा देना, बाजार के भावों में अचानक वृद्धि कर देना आदि भी व्यावसायिक चोरी है ।

साहसिक चोरी में उन चोरियों की गणना होती है, जो डाका डाल कर, आक्रमण करके, समुद्रयात्रियो को अचानक घेर कर लूट पाट की जाती है । सेंध लगा कर, घरों में घुस कर, ताला तोड़ कर, तिजोरी तोड कर, घर फोड़ कर चोरी करना भी प्रसिद्ध चोरी है । ये सब तस्कर और परद्रव्यहरणकर्ता कहलाते हैं । इस तरह अनेक प्रकार की चोरियाँ करने वालों का उल्लेख शास्त्रकार ने किया है । चोरो के विविध लक्षण और प्रकार मूलपाठ में बताये है । उनका क्रमशः संक्षेप में हम विश्लेपण करते हैं—

छेया—चोरी करने वाले छेक यानी प्रवीण होते हैं । मनुष्य उत्तम कार्यों में दक्षता प्राप्त करे ; यही मानवीय नीति है , लेकिन उसी दक्षता का जब चोरी आदि अनीतिमय कार्यों में उपयोग होता है, तो वह दानवीय नीति कहलाती है । चोरी करने में चतुर लोग ऐसी सिफ्त से सफेदपोश बन कर सनसनीखेज चोरी करते हैं, जिससे सरकार भी उन्हें गिरफ्तार करने मे असमर्थ रहती है । कई लोग चोरी में ऐसे प्रवीण होते हैं कि दिन दहाड़े बैंक या अन्य किसी भी फर्म पर छापा मार कर द्रव्य लूट लेते है । ऐसे चतुर लोग चोरी करने के नये-नये तरीकों का आविष्कार करते रहते है । चौर्यशास्त्र का अध्ययन करके ऐसे लोग चौर्यकला मे दक्ष हो कर नित नये तरीके अजमाते रहते हैं ।

कयकरणलद्धलक्खा—इस पद ने शास्त्रकार सूचित करते है कि चोरी करने वाले बार-बार चोरी का अभ्यास करने से चोरी करने में सिद्धहस्त हो जाते हैं, अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते है । हर एक काम पहले अल्पमात्रा में प्रारम्भ होता है । फिर उसका बार-बार अभ्यास करने से वह विशालरूप धारण कर लेता है । इसी प्रकार मनुष्य छोटी-छोटी चोरियाँ करके पहले चोरी का अभ्यास करता है । बाद में अवसर पा कर वह बड़ा चोर बन जाता है । वह चोरी करने में इतना अभ्यस्त हो जाता है कि कोई उसकी चोरी को सहसा नहीं पकड़ सकता । अथवा उस चोर का सामना करने में या उसे गिरफ्तार करने में बड़े-बड़े लोग व सरकारी अधिकारी तक भी असमर्थ रहते हैं ।

साहसिया—चोरी करने वाले अत्यन्त साहसी होते हैं । साहसहीन व्यक्ति चोरी सरीखे कामों में हाथ डालेगा तो रंगे हाथों पकड़ा जाएगा । चोरी जैसे खतरे

को मोल लेना साहसिकों का ही काम है। वैसे तो साहस वीर का गुण है; किन्तु उसी साहस का उपयोग जब चोरी सरीखे अनर्थकारी कार्यों में किया जाता है तो वह दुर्गुण बन जाता है। बल्कि ऐसे कुमार्ग में साहस का उपयोग करने वाले को सहायक कम मिलते हैं; कदाचित् मिल भी जांय तो आफत आने पर उससे किनाराकसी कर लेते हैं। आखिरकार उसे अकेले ही खतरे का सामना करना पड़ता है और कारावास या प्राणदण्ड अकेले को ही भोगना पड़ता है; जबकि सन्मार्ग में साहस करने वाले को अनेकों सहायक भी प्रायः मिल जाते हैं, उसकी यशकीर्ति भी चन्द्रमा की चांदनी की तरह फैल जाती है। धर्मकार्य में साहस करने वाले की आत्मा बलवान् बन जाती है, जबकि पापकार्य में साहस करने वाले की आत्मा निर्बल, भयभीत और कायर बन जाती है। यह साहस अधिक दिनों तक नहीं टिकता।

लहुस्सगा—चोरी करने वाले की आत्मा अत्यन्त तुच्छ होती है। जो चोरी करता है, उसे संसार तुच्छ दृष्टि से देखता है। उसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है। लंकाधीश रावण ने महासती सीता का अपहरण किया। इसके फलस्वरूप उसका यश नष्ट हो गया। उसकी विद्वत्ता, प्रभुता और सत्ता सभी धूल में मिल गई। उसकी आत्मा का पतन हुआ। व्यक्ति चाहे जितने ऊँचे पद पर पहुंचा हुआ हो, ऐश्वर्यशाली हो, प्रभुत्वसम्पन्न हो, किन्तु चोरी जैसे दुष्कृत्य को करने से उसकी प्रभुता, ऐश्वर्यसम्पन्नता और विद्वत्ता मिट्टी में मिल जायगी, उसकी आत्मा का पतन हो जायगा। फलतः उसकी आत्मशक्ति क्षीण हो जायगी।

अतिमहिच्छलोभगच्छा—जिनकी इच्छाएँ बहुत बढ़ जाती हैं, तथा जो लोभरूपी पिशाच से ग्रस्त हो जाते हैं, वे चोरी करते हैं। इस पद से चोरी करने के मूल कारण को भी प्रगट कर दिया गया है। वास्तव में अतिलोभ या अतिलालसा ही चोरी का मूल कारण है। जब मनुष्य अपने मन में बड़ी-बड़ी आशाएँ व लालसाएँ संजोता है, मनसूबे बांधता है, बड़ी-बड़ी इच्छाएँ करता है, या धनवृद्धि की अभिलाषा करता है, तभी उनकी पूर्ति के लिए वह पराये धन पर या पराई वस्तु पर हाथ साफ करता है। धन का लोभ बड़ों-बड़ों को चोरी सरीखे अनर्थकारी कार्य में प्रेरित करता है। धन के लोभ से ही डाकू डाका डालते हैं, लुटेरे अपनी जान को जोखिम में डाल कर लूटमार करते हैं। धन के लोभ से ही व्यापारी व्यवसाय में तरह-तरह से चोरी करते हैं। धन के लोभ से ही राजा लोग दूसरे के राज्य को छीन कर अपने कब्जे में करने का प्रयत्न करते हैं। सरकारी कर्मचारी या अधिकारी धन के लोभ में आ कर रिश्वत लेते हैं, कार्य करने में चोरी करते हैं और गबन आदि करते हैं। भ्रष्टाचार, तस्करव्यापार, कामचोरी आदि सब अनर्थों का मूल धनलोभ है। इसीलिए लोभ को पाप का बाप कहा गया है।

इसी प्रकार लोभ पर जब इच्छाओं के पंख लग जाते है तो मनुष्य उससे प्रेरित हो कर पराये धन या परवस्तु को हड़पने, पराई अमानत को हजम करने और दूसरे की वस्तु को अपने कब्जे मे करने का प्रयत्न करता है। इसलिए यह ठीक कहा है कि बढ़ी हुई इच्छाओं वाले एवं लोभ से ग्रस्त मनुष्य ही चोरी का मार्ग अपनाते हैं। मनुष्य पहले अपनी इच्छाओ पर लगाम नही लगाता ; अतः बाद में अपनी उत्कट इच्छा की पूर्ति उचित मार्ग से न होने पर वह अनुचित मार्ग को अपनाता है, वह अनुचित—अनीतिमय मार्ग ही चोरी है।

दद्दरओवीलगा—कुछ चोर ऐसे होते हैं, जो कंठ से ऐसी आवाज निकालते है, जिससे वे पहिचाने न जा सके। इस तरह वे गिरफ्तार करने वालों के चंगुल से बच कर भाग निकलते है। अथवा अपनी डरावनी आवाज से लोगों को भयभीत करके या धमकी दे कर लोगों को पीड़ित करके उनसे धन छीन लेते है। अथवा इस पद का यह भी तात्पर्य है कि कुछ लोग वाणी के चातुर्य से दूसरों को प्रभावित करके ठगते है, परधनहरण करते है। कई लोग झूठ बोल कर वाणी का आडम्बर रच कर जाल में ऐसे फंसाते है कि श्रोता लोग उन पर धन की वर्षा करने लगते है। यह भी चोरी का एक प्रकार है। दूसरों की जेब से पैसा निकलवाने के लिए कुछ लोग बड़े-बड़े लच्छेदार जोशीले भाषण देते है, जिसमे वे श्रोताओं की झूठी प्रशंसा करके उन्हे कुछ न कुछ देने के लिए विवश कर देते है। अथवा वाग्जाल मे फंसा कर भोलेभाले लोगों को ठग लेते है। ठगी भी चोरी करने के अपराध मे परिगणित होती है।

गेहिया—दूसरों के अधिकार की वस्तु पर गृद्ध की तरह दृष्टि गड़ाए हुए या गृद्धि एवं आसक्ति रखने वाले चोर 'गेहिया' कहलाते हैं ; जो मौका पाते ही पराये माल पर हाथ साफ कर जाते हैं। जब मनुष्य की आसक्ति परपदार्थ या परद्रव्य मे बढ जाती है तब उसकी पूर्ति के लिए वह चोरी जैसे दुष्कृत्य को अपनाता है। आसक्ति ही मनुष्य को छिप कर, गुप्त रूप से काम करने को विवश कर देती है। छिप कर काम करना भी चोरी है। गुप्तरूप से तो मनुष्य वही काम करता है, जिस मे नीति, धर्म आदि शुभ सकल्प नही होते। आसक्तिवश मनुष्य गुप्तरूप से दूसरों के धन या द्रव्य पर हाथ साफ करने का प्रयत्न करता है। इसीलिए सूत्रकार ने ऐसी गृद्धि रखने वाले या पराये धन या वस्तु पर आँख गड़ाए रखने वाले मनुष्य को चोरी करने वालों मे गिनाया है।

अणभंजक-भग्गसंधिया—कर्ज न चुकाने वाले और अपनी की हुई संधि या प्रतिज्ञा को भंग करने वाले भी चोरो मे शुमार हैं।

रायदुट्ठकारी—राजा या सरकार के कानूनों का उल्लघन करके तस्करव्यापार

करने वाले, चोरबाजारी करने वाले, करचोरी करने वाले तथा सरकारी खजाने आदि को लूट लेने वाले लोग भयंकर चोरों की कोटि में हैं।

विसयनिच्छूढलोकवज्झा—देश, जाति या समूह से निष्कासित, लोकविरुद्ध निन्दित आचरण करने वाले लोग भी चोरी, डकैती या लूट का धंधा अपना लेते हैं। इस पद से उनका संकेत किया गया है।

उद्दोहक-गामघायक-पुरघायग-पंथघायग-आलीवग-तित्थभया—जो लोग चोरी के लिए विविध प्रकार की साहसिक हिंसा का तरीका अपनाते हैं, उनका संकेत इस पद से किया गया है। ऐसे लोग, जो जंगल आदि जला डालते हैं, गांव, नगर, यात्रीजन आदि की हत्या करके लूट लेते हैं तथा विविध प्रकार की यातनाएँ देकर धनहरण कर लेते हैं अथवा तीर्थयात्रियों को घेर कर उन्हें मारपीट कर उनसे धन छीन लेते हैं; ये सभी चोर हैं।

लहुहत्थसंपउत्ता ... परस्स दव्वाहि जे अविरया—इन सबका अर्थ पहले स्पष्ट कर दिया गया है। इनमें उन सब लोगों का समावेश कर दिया गया है, जो परद्रव्यहरण (चोरी) के त्याग से विरत नहीं हैं। यानी जिसने अचौर्यव्रत धारण नहीं किया है, वह हाथ की सफाई से, जुआ खेल कर, रिश्वत ले कर, कर वसूल करने में गड़बड़ करके, स्त्री, पुरुष, या और किसी का वेष बनाकर, जेब काट कर, वशीकरण मंत्र-तंत्र आदि से अथवा बालक का अपहरण करके, सेंध लगाकर, मारपीट कर या सता कर चोरी करता है। अथवा वह गुप्तरूप से गाय, घोड़ा, दासी का हरण कर लेता है। कई लोग स्वयं चोरी नहीं करते, लेकिन चोरी करने वालों को सहायता दे कर चोरी में साझेदार बनते हैं, कई यात्रि संघों को लूट लेते हैं या विश्वास पैदा करके ठग लेते हैं कई लोग जेलखाने से भाग कर चोरी का रास्ता अपनाते हैं। ऐसे अदत्तादान से अनिवृत्त लोगों का दिमाग हमेशा चोरी करने में ही लगा रहता है।

विपुलबलपरिग्गहा .... अभिभूय हरंति परधणाइं—पराये धन में आसक्ति रखने वाले राजा लोग कैसे चोरी करते हैं? उनकी मनोवृत्ति तथा धनहरण करने का तरीका यहाँ सूचित किया गया है कि ऐसे शासक परधन को अपने कब्जे में करने के लिए बड़ी भारी चतुरंगिणी सेना सजा कर व्यवस्थित ढंग से दूसरे शासक पर या दूसरे के राज्य, कोष आदि पर आक्रमण करके सारा धन या राज्य अपने कब्जे में कर लेते हैं।

अवरे रणसीसलद्धलक्खा ... परविसए अभिहणंति—इस लम्बे वाक्य से ऐसे चोरों का संकेत किया है, जो बहुत पैसा खर्च करके व्यवस्थित ढंग से एक विशाल सेना को युद्ध की तालीम दे कर तैयार करते हैं और उस सेना को लड़ा कर दूसरे देश के राज्य पर कब्जा कर लेते हैं। इतने लम्बे वाक्य में सैन्य-संचालन, व्यूहरचना एवं युद्धकला

का वर्णन किया है। साथ ही सेना की मनोवृत्ति का भी विश्लेपण किया है। इतने साहसिक रूप से धनहरण का काम वे ही लोग करते है, जिनकी लालसाएँ अत्यन्त वढी हुई है। यह सव मूलार्थ से स्पष्ट है।

लुद्धा धणस्स कज्जे ''' समुद्दमज्झे हणंति, गंतूण जणस्स पोते—इस लम्वे वर्णन में उन लोगों की मनोवृत्ति, तरीकों तथा साहसिकता का उल्लेख किया है, जो समुद्रयात्रा करने वालों के जहाजो पर हमला करके उन्हें लूट लेते हैं। इसका आशय भी मूलार्थ मे स्पष्ट किया गया है। लोभी मनुष्य धन के लिए किन-किन खतरो का सामना करता है; इस बात को समुद्र की भयकरता का वर्णन करके शास्त्रकार ने स्पष्ट किया है।

परदव्वहरा नरा ''' परस्स दव्वाहिं जे अविरया—इस अनुच्छेद मे शास्त्रकार ने परद्रव्यहरण करने वाले लोगो की मनोवृत्ति का विश्लेपण किया है। मूलार्थ में इसका आशय स्पष्ट है।

तहेव केई अदिन्नादाणं''''''वसणसयसमावण्णा—इतने लम्वे वर्णन में शास्त्रकार ने इस सूत्रपाठ का उपसहार करते हुए चोरी करने वाले लोगो की दुर्दशा और संकटापन्न स्थिति को स्पष्ट किया है। चोरी करने वाले लोगों को अन्न, पानी, निवास, शयन आदि के भयकर कष्टों का सामना करना पड़ता है; राजदण्ड से बचने के लिए अपनी जान को जोखिम में डाल कर वे वनो में भूखे-प्यासे रहते हैं, रात-दिन भयभीत रहते है, भयंकर हिंस्र-जन्तुओं व जंगली जानवरो के बीच मे रहते है। उनकी सूरत, उनका स्वास्थ्य, उनके परिवार की हालत, उनके बालकों की शिक्षा-दीक्षा तथा सस्कार से रहित हो जाने की परिस्थिति, उनकी लोभवश परस्पर भय, आशंका और आर्त्तरौद्रध्यान से रात-दिन घिरी हुई मन स्थिति और सैकड़ों व्यसनो और कष्टों से घिरी हुई उनकी जिंदगी का स्पष्ट विश्लेपण शास्त्रकार ने इस मूलपाठ में कर दिया है जिसका अर्थ स्पष्ट है।

चोरी के भयकर कुकृत्यो के कारण मनुष्य की अनमोल जिंदगी धूल मे मिल जाती है। चोरी करने वालो को अपने जीवन मे किसी भी अच्छी चीज की उपलब्धि नही होती। इस प्रकार का नारकीय जीवन व्यतीत करके चोर अपने आपको स्वयं गुमराह करते है। आत्म-वंचना के साथ-साथ समाज-वंचना करके चोर अपने अमूल्य जीवन को दु:खी, अशान्त, अस्वस्थ एवं निरर्थक बना लेते हैं। समाज के सभ्य लोगों की दृष्टि मे ये घृणित वन जाते हैं, सरकार की निगाहों में वे अपराधी समझे जाते है और धर्मात्मा पुरुषों की नजरों में ये पापी और अधर्मी माने जाते है! भला यह भी कोई जीवन है, जिसमें अपने शरीर, मन और परिवार को कोई सुख नहीं मिलता? जिसमें सिवाय तकलीफों और खतरों के कोई लाभ नहीं? इतने कष्टों के बाद प्राप्त

हुए अनीतिपूर्ण द्रव्य से भी थोड़े दिन के लिए संग्रह के सिवाय और कोई सुखशान्ति नहीं मिलती। इसलिए चोरी के पापमय धन से दूर रहना ही हितावह है!

अदत्तादान (चोरी) के दुष्परिणाम

पिछले सूत्रपाठ में शास्त्रकार ने चोरी करने वालों के विभिन्न प्रकार, उनके लक्षण और स्वरूप का वर्णन किया है। अब बारहवें सूत्र में शास्त्रकार चोरी के विभिन्न दुष्परिणामों और कटुफलों की चर्चा करते हैं—

मूलपाठ

तहेव केइ परस्स दव्वं गवेसमाणा गहिया य हया य बद्धरुद्धा य तुरियं अतिधाडिया (अनिघाडिया) पुरवरं समप्पिया चोरग्गहचारभडचाडुकराण तेहि य कप्पडप्पहार-निद्दय-आरक्खिय-खरफरुसवयण - तज्जण-गलच्छल्लुच्छलणाहिं विमणा चारगवसहिं पवेसिया निरयवसहिसरिसं। तत्थवि गोमियप्पहारदूमण-निब्भच्छण-कडुयवयण-भेसणगभयाभिभूया, अक्खित्त-नियंसणा, मलिणडंडिखंडवसणा, उक्कोडालंचपासमग्गणपरायणेहिं (दुक्खसमुदीरणेहिं) गोम्मियभडेहिं विविहेहिं बंधणेहिं। किं ते? हडि-निगड - वालरज्जुय - कुदंडग-वरत्त - लोहसंकल-हत्थंदुय - वज्झपट्ट - दामक - णिक्कोडणेहिं अन्नेहि य एवमादिएहिं गोम्मिकभंडोवकरणेहिं दुक्खसमुदीरणेहिं संकोडण-मोडणेहिं वज्झंति मंदपुन्ना। संपुडकवाड-लोहपंजर-भूमिघरनिरोह-कूव - चारगकीलग - जूय - चक्कविततबंधणखंभालणउद्धचलण-बंधण - विहम्मणाहि य विहेडयंता अवकोडकगाढउरसिरबद्ध-उद्धपूरित (पूरिय) - (असुभपरिणयाय) फुरंतउरकडगमोडणा-मेडणाहिं बद्धा य नीससंता सीसावेढउरुयावलचप्पडगसंधिबंधण-तत्तसलागसूइयाकोडणाणि तच्छणविमाणणाणि य खारकडुय-तित्तनावण-जायणाकारणसयाणि बहुयाणि पावियंता, उरघोडी (वखाडा) - दिन्नगाढपेल्लण-अट्ठिकसंभग्गसुपंसुलीगा, गलकालक-

लोहदंड - उरउदरवत्थि(पट्टि)परिपीलिता मच्छं(च्छि)त-हिययसंचुण्णियंगमंगा, आणत्ति - (त्ती)किंकरेहिं ; केति अविराहियवेरिएहिं जमपुरिससन्निहेहिं पहया ते तत्थ मंदपुण्णा चडवेला-वज्झपट्ट-पाराइं-छिव- कस- लत(त्ता)-वरत्त-नेत्तप्पहारसयतालियं-गमंगा, किवणा, लंबंत-चम्मवणवेयणविमुहियमणा, घणकोट्टिम-नियलजुयलसंकोडिय-मोडिया य कीरंति, निरुच्चारा, (असंचरणा) एया अन्ना य एवमादीओ वेयणाओ पावा पावेंति ; अदंतिंदिया वसट्टा, बहुमोहमोहिया, परधणंमि लुद्धा, फासिंदियविसयतिव्व-गिद्धा, इत्थिगयरूवसद्दरसगंध-इट्ठरतिमहितभोगतण्हाइया य धणतोसगा गहिया य जे नरगणा ।

पुणरवि ते कम्मदुव्वियद्धा उवणीया रायकिंकराण तेसिं बहुसत्थगपाढयाणं, विलउलीकारकाणं, लंचसयगेण्हकाणं, कूडकवडमायानियडि - आयरणपणिहिवंचणविसारयाणं, बहुविह-अलियसतजंपकाणं, परलोकपरंमुहाणं, निरयगतिगामियाणं तेहि य आणत्तजीयदंडा तुरियं उग्घाडिया पुरवरे सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापहपहेसु वेत्त-दंड-लउड - कट्ठ-लेट्ठु-पत्थर-पणालि-पणोल्लि - मुट्ठि-लया-पादपण्हि-जाणु-कोप्पर-पहारसंभग्ग-महियगत्ता, अट्ठारस-कम्मकारणा जाइयंगमंगा, कलुणा, सुक्कोट्ठ-कंठगलकतालुजीहा, जायंता पाणीयं विगयजीवियासा, तण्हादिया, वरागा तं पि य ण लभंति वज्झपुरिसेहिं (नि) घाडियंता ।

तत्थ य खरफरुसपडहघट्टितकूडग्गहगाढरुट्ठनिसट्ठपरामुट्ठा, वज्झकरकुडिजुयनियत्था, सुरत्तकणवोरगहियविमुकुलकंठेगुण-वज्झदूत आविद्धमल्लदामा, मरणभयुप्पण्ण-सेद आयतणेहुत्तुपिय-किलिन्नगत्ता चुण्णगुंडियसरीर-रयरेणुभरियकेसा कुसुंभगोकिन्न-मुद्धया छिन्नजीवियासा, घुन्नंता वज्झयाण भीता (वज्झपाण-

पीया), तिलं तिलं चेव छिज्जमाणा, सरीरविविकत (त्त) लोहिओवलित्ता कागणिमंसाणि खावियंता, पावा, खरकरसएहिं तालिज्जमाणदेहा, वातिकनरनारिसंपरिवुडा, पेच्छिज्जंता य नागरजणेण वज्झनेवत्थिया पणोज्जंति नयरमज्झेण किवणकलुणा, अत्ताणा, असरणा, अणाहा, अबंधवा, बंधुविप्पहीणा, विपिक्खिता दिसोदिसि मरणभयुव्विग्गा आघायणपडिदुवारसंपाविया, अधन्ना सूलग्गविलग्गभिन्नदेहा ; ते य तत्थ कीरंति परिकप्पियंगमंगा उल्लंबिज्जंति रुक्खसालासु, केइ कलुणाइं विलवमाणा, अवरे चउरंगधणियबद्धा पव्वयकडगा पमुच्चंते दूरपातबहुविसमपत्थरसहा, अन्ने य गयचलणमलणयनिम्मद्दिया कीरंति, पावकारी अट्ठारसखंडिया य कीरंति मुंडपरसूहिं, केइ उक्कत्तकन्नोट्ठनासा उप्पाडियनयणदसणवसणा जिब्भिदियच्छिया छिन्नकन्न-सिरा पणिज्जंते छिज्जंते य असिणा निव्विसया छिन्नहत्थपाया पमुच्चंते जावज्जीवबंधणा य कीरंति, केइ परदव्वहरणलुद्धा, कारग्गलनियलजुयलरुद्धा, चारगाव(ए)हतसारा, सयणविप्पमुक्का, मित्तजणनिरक्खिया, (तिरक्कया) निरासा, बहुजणधिक्कारसद्दलज्जायिता (लज्जाविता), अलज्जा, अणुबद्धखुहा, पारद्धा सीउण्हतण्हवेयणदुग्घट्टघट्टिया, विवन्नमुहविच्छविया, विहलमलिनदुब्बला, किलंता, कासंता, वाहिया य आमाभिभूयगत्ता, परूढनहकेसमंसुरोमा छगमुत्तंमि णियगंमि खुत्ता ॥

संस्कृतच्छाया

तथैव केचित् परद्रव्यं गवेषयन्तो गृहीताश्च हताश्च बद्धरुद्धाश्च त्वरितं अतिघाटिताः (अनिर्घाटिताः) पुरवरं समर्पिताश्चौरग्राहचारभटचाटुकराणां तैश्च कर्पटप्रहार-निर्दयारक्षिक-खरपरुषवचन-तर्जन-गलग्रहणोच्छलनाभिर् विमनसश्चारकवसतिं प्रवेशिताः निरयवसतिसदृशीं । तत्राऽपि गौल्मिकप्रहारदूमन (दयन) निर्भर्त्सनकटुकवचनभेषणकभयाभिभूता आक्षिप्तनिवसना

मलिनदंडिखंडवसना उत्कोटालंचपार्श्वमार्गणपरायणैः (दुःखसमुदीरणैः) गौल्मिकभटैः विविधैर्बन्धनैः।

कानि तानि ? हडि-निगडबालरज्जुक - कुदंडक-वरत्र - लोहसंकला-हस्तान्दुक - वर्ध्रपट्ट - दामक - निष्कोटनैर् अन्यैश्चैवमादिकैर् गौल्मिक-भांडोपकरणैर् दुःखसमुदीरणैः संकोटनामोटनाभ्यां बध्यन्ते मन्दपुण्याः, सम्पुट-कपाट-लोह-पंजर - भूमिगृह- निरोध - कूप - चारक-कीलक-यूप-चक्र-विततबन्धनस्तम्भालगन - ऊर्द्ध्वचरणबंधन-विधर्मणाभिश्च विहेड्यमानाः, अवकोटकगाढोरःशिरोबद्धोर्द्ध्वपूरित अशुभपरिणताश्च) स्फुरदुरःकटक-मोटनाऽऽम्रेडनाभ्यां वद्धाश्च निश्वसन्तः शीर्षविष्टकोरुकावल-चप्पडकसंधिबंधन - तप्तशलाकासूचिकाकोटनानि तक्षणविमाननानि च क्षारकटुकतिक्तदानयातनाकारणशतानि बहुकानि प्राप्यमाणा उरःखोडीदत्त-गाढ़प्रेरणास्थिकसंभग्नसुपार्श्वास्थिका गलकालकलोहदंडोरउदरवस्ति-(पृष्ठि) परिपीडिता मथ्यमान-हृदयसंचूर्णितांगोपांगा आज्ञप्तिकिंकरैः केचिद् अविराधितवैरिकैर् यमपुरुषसन्निभैः प्रहतास्ते तत्र मंदपुण्याश्चड-वेला-वर्ध्रपट्ट - पाराइं (लोहकुशीविशेषः) छिवा (श्लक्ष्णकषः) कषलतावरत्रवेत्रप्रहारशतताडितांगोपांगाः, कृपणाः लंबमानचर्मव्रण-वेदनाविमुखितमनसो, घनकुट्टिमनिगडयुगलसंकोटितमोटिताश्च क्रियंते निरुच्चारा एता अन्याश्चैवमादिका वेदनाः पापाः प्राप्नुवन्ति ; अदान्तेन्द्रिया, वशार्त्ता बहुमोहमोहिताः परधने लुब्धाः स्पर्शेन्द्रिय-विषयतीव्रगृद्धाः स्त्रीगतरूपशब्दरसगन्धेष्टरतिमहित – (वांछित) भोगतृष्णार्दिताश्च घनतोषका गृहीताश्च ये नरगणाः।

पुनरपि ते कर्मदुर्विदग्धा उपनीता राजकिंकराणां तेषां वधशास्त्र-पाठकानां विटपोलल (विटल) कारकाणां (अन्यायकर्तृणां अथवा चौर्यादिदुष्ट-कर्मकारकाणां), लंचाशतग्राहकाणां कूटकपटमायानिकृत्याचरणप्रणिधि-वचनविशारदानां बहुविधालीकशतजल्पकानां परलोकपराङ्मुखानां निरयगतिगामिकानां तैश्चाज्ञप्तजीत(जीव) - दंडास्त्वरितं उद्घाटिताः पुरवरे शृंगाटक-त्रिक-चतुष्क-चत्वर-चतुर्मुखमहापथपथेषु वेत्र-दंड-लकुट-काष्ठ-लेष्टु-प्रस्तरप्रणाली-प्रणोदी - मुष्टिलता-पादपार्ष्णि - जानु-कुर्परप्रहार-संभग्नमथितगात्रा, अष्टादशकर्मकारणात् यातितांगोपांगाः करुणाः शुष्कौ-

पीया), तिलं तिलं चेव छिज्जमाणा, सरीरविकिंत (त्त) लोहि-ओवलित्ता कागणिमंसाणि खावियंता, पावा, खरकरसएहिं-तालिज्जमाणदेहा, वातिकनरनारिसंपरिवुडा, पेच्छिज्जंता य नागरजणेण वज्झनेवत्थिया पणोज्जंति नयरमज्झेण किवणकलुणा, अत्ताणा, असरणा, अणाहा, अबंधवा, बंधुविप्पहीणा, विपिक्खिता दिसोदिसिं मरणभयुव्विग्गा आघायणपडिदुवारसंपाविया, अधन्ना सूलग्गविलग्गभिन्नदेहा ; ते य तत्थ कीरंति परिकप्पियंगमंगा उल्लंबिज्जंति रुक्खसालासु, केइ कलुणाइं विलवमाणा, अवरे चउरंगधणियबद्धा पव्वयकडगा पमुच्चंते दूरपातबहुविसम-पत्थरसहा, अन्ने य गयचलणमलणयनिम्मद्दिया कीरंति, पावकारी अट्ठारसखंडिया य कीरंति मुंडपरसूहिं, केइ उक्कत्तकन्नोट्ठनासा उप्पाडियनयणदसणवसणा जिब्भिंदियछिया छिन्नकन्न-सिरा पणिज्जंते छिज्जंते य असिणा निव्विसया छिन्नहत्थपाया पमुच्चंते जावज्जीवबंधणा य कीरंति, केइ परदव्वहरणलुद्धा, कारग्गलनियलजुयलरुद्धा, चारगाव(ए)हतसारा, सयणविप्प-मुक्का, मित्तजणनिरक्खिया, (तिरक्कया) निरासा, बहुजणधिक्कार-सद्दलज्जायिता (लज्जाविता), अलज्जा, अणुबद्धखुहा, पारद्धा सीउण्हतण्हवेयणदुग्घट्टघट्टिया, विवन्नमुहविच्छविया, विहलमलिनदुब्बला, किलंता, कासंता, वाहिया य आमाभि-भूयगत्ता, परूढनहकेसमंसुरोमा छगमुत्तंमि णियगंमि खुत्ता ॥

संस्कृतच्छाया

तथैव केचित् परद्रव्यं गवेषयन्तो गृहिताश्च हताश्च बद्धरुद्धाश्च त्वरितं अतिध्राडिताः (अनिर्घाटिताः) पुरवरं समर्पिताश्चौरग्राहचारभटचाटुकराणां तैश्च कर्पटप्रहार-निर्दयारक्षिक-खरपरुषवचन-तर्जन-गलग्रहणोच्छलणाभिर् विमनसश्चारवसतिं प्रवेशिताः निरयवसतिसदृशीं। तत्राऽपि गौल्मिक-प्रहारदूमन (दवन) निर्भर्त्सनकटुकवचनभेषणकभयाभिभूता आक्षिप्तनिवसना

मलिनदंडिखंडवसना उत्कोटालंचपार्श्वमार्गणपरायणैः (दुःखसमुदीरणैः) गौल्मिकभटैः विविधैर्बन्धनैः ।

कानि तानि ? हडि-निगडवालरज्जुक - कुदंडक-वरत्र - लोहसंकला-हस्तान्दुक - वर्ध्रपट्ट - दामक - निष्कोटनैर् अन्यैश्चैवमादिकैर् गौल्मिक-भांडोपकरणैर् दुःखसमुदीरणैः संकोटनामोटनाभ्यां बध्यन्ते मन्दपुण्याः, सम्पुट-कपाट-लोह-पंजर - भूमिगृह- निरोध - कूप - चारक-कीलक-यूप-चक्र-विततबन्धनस्तम्भालगन - ऊर्ध्वचरणबंधन-विधर्मणाभिश्च विहेडचमानाः, अवकोटकगाढोरःशिरोबद्धोर्ध्वपूरित (अशुभपरिणताश्च) स्फुरदुर:कटक-मोटनाऽऽम्रेडनाभ्यां बद्धाश्च निश्वसन्तः शीर्षविष्टकोरुकावल-चप्पडकसंधिबंधन - तप्तशलाकासूचिकाकोटनानि तक्षणविमाननानि च क्षारकटुकतिक्तदानयातनाकारणशतानि बहुकानि प्राप्यमाणा उरःखोडीदत्त-गाढ़प्रेरणास्थिकसंभग्नसुपार्श्वास्थिका गलकालकलोहदंडोरउदरवस्ति-(पृष्ठि) परिपीडिता मथ्यमान-हृदयसंचूर्णितांगोपांगा आज्ञप्तिकिंकरैः केचिद् अविराधितवैरिकैर् यमपुरुषसन्निभैः प्रहतास्ते तत्र मंदपुण्याश्चड-वेला-वर्ध्रपट्ट - पाराइं (लोहकुशीविशेषः) छिवा (श्लक्ष्णकषः) कषलतावरत्रवेत्रप्रहारशतताडितांगोपांगाः, कृपणाः लंबमानचर्मव्रण-वेदनाविमुखितमनसो, घनकुट्टिमनिगडयुगलसंकोटितमोटिताश्च क्रियंते निरुच्चारा एता अन्याश्चैवमादिका वेदनाः पापाः प्राप्नुवन्ति ; अदान्तेन्द्रिया, वशार्त्ता बहुमोहमोहिताः परधने लुब्धाः स्पर्शेन्द्रिय-विषयतीव्रगृद्धाः स्त्रीगतरूपशब्दरसगन्धेष्टरतिमहित -- (वांछित) भोगतृष्णार्दिताश्च धनतोषका गृहीताश्च ये नरगणाः ।

पुनरपि ते कर्मदुर्विदग्धा उपनीता राजकिंकराणां तेषां वधशास्त्र-पाठकानां विटपोल्ल (विटल) कारकाणां (अन्यायकर्तृणां अथवा चौर्यादिदुष्ट-कर्मकारकाणां), लंचाशतग्राहकाणां कूटकपटमायानिकृत्याचरणप्रणिधि-वचनविशारदानां बहुविधालीकशतजल्पकानां परलोकपराङ्मुखानां निरयगतिगामिकानां तैश्चाज्ञप्तजीत(जीव) - दंडास्त्वरितं उद्घाटिताः पुरवरे शृंगाटक-त्रिक-चतुष्क-चत्वर-चतुर्मुखमहापथपथेषु वेत्र-दंड-लकुट-काष्ठ-लेष्टु-प्रस्तरप्रणाली-प्रणोदी - मुष्टिलता-पादपार्ष्णि - जानु-कूर्परप्रहार-संभग्नमथितगात्रा, अष्टादशकर्मकारणात् यातितांगोपांगाः करुणाः शुष्कौ-

एठकंठगलकतालुजिह्वा याचमानाः पानीयं विगतजीविताशास्तृष्णार्दिता वराकास्तदपि च न लभंते वध्यपुरुषैर् ध्माद्यमानाः ।

तत्र च खरपरुषपटहघट्टितकूटग्रहगाढ़रुष्टनिसृष्ट-परामृष्टा वध्य-करकुटीयुगनिवसिता सुरक्तकणवीर– गृहीतविमुकुलकंठेगुणवध्यदूताविद्ध-माल्यदामानो, मरणभयोत्पन्नस्वेदायतस्नेहोत्तुपितविलिप्तगात्राश्चूर्ण-गुंडितशरीररजोरेणुभरितकेशाः कुसुंभकोत्कीर्णमूर्धजाश्छिन्नजीविताशा घूर्णमाना, वधकेभ्यो भीतास्तिलं तिलमिव छिद्यमानाः शरीर-विकृत्तलोहितावलिप्ताः काकिणीमांसानि खाद्यमानाः पापाः खरकरशतै-स्ताड्यमानदेहा वातिकनरनारीसंपरिवृताः प्रेक्ष्यमाणाश्च नागर-जनेन वध्यनेपथ्यिता प्रणीयन्ते नगरमध्येन कृपण-करुणा अत्राणा, अशरणा, अनाथा, अबान्धवा बंधुविप्रहीणा विप्रेक्षमाणा दिशो दिशं मरणभयोद्विग्ना आघातनप्रतिद्वारसंप्रापिता अधन्याः शूलाग्रविलग्नभिन्नदेहास्ते तत्र क्रियन्ते परिकल्पितांगोपांगा उल्लम्ब्यन्ते वृक्षशाखासु केचित् करुणानि विलपमाना, अपरे चतुरंगगाढबद्धाः पर्वतकटकात् प्रमुच्यन्ते दूरपातबहुविषमप्रस्तर-सहाः, अन्ये च गजचरणमलननिर्मर्दिताः क्रियन्ते पापकारिणः अष्टादश-खंडिताश्च क्रियन्ते मुंड(कुंठ,परशुभिः, केचित् उत्कृत्तकर्णौष्ठनासा उत्पाटितनयनदशनवृषणा जिह्वेन्द्रियांछिता, छिन्नकर्णशिरसः प्रणीयन्ते छिद्यन्ते च असिना निर्विषयाश्छिन्नहस्तपादाः प्रमुच्यन्ते, यावज्जीव-बन्धनाश्च क्रियन्ते, केचित् परद्रव्यहरणलुब्धाः कारागलनिगडयुगलरुद्धा, चारकाहृतसारा, स्वजनविप्रमुक्ताः, मित्रजननिराकृता, निराशा, बहुजन-धिक्कारशब्दलज्जापिता, अलज्जा, अनुबद्धक्षुधा, प्रारब्धाः, शीतोष्णतृष्णा-दुर्घटवेदनाघट्टिता विवर्णमुखच्छविका, विफलमलिनदुर्बलाः क्लान्ताः काश-माना व्याधिताश्चामाभिभूतगात्राः प्ररूढनखकेशश्मश्रुरोमाण पुरीषमूत्रे निजके क्षिप्ताः ॥

पदार्थान्वय—(तहेव) पहले कहे अनुसार, (परस्स) दूसरे के (दव्वं) धन को, (गवेसमाणा) ढूंढते हुए (केइ) कई लोग (गहिता) पुलिस आदि द्वारा पकड़े जाते हैं, (य) और, (हया) पीटे जाते हैं (य) तथा (बद्धरुद्धा) बांधे जाते हैं व कैद में बंद किये जाते हैं (य) और (तुरियं) जल्दी जल्दी (अतिधाडिया) बहुत ही घुमाये जाते हैं, (पुरवरं) बड़े नगर में वे (समप्पिया) सिपाहियों आदि को सौंपे जाते हैं। (य) तथा वे फिर (चोरग्गह-चारभड-चाडुकराणं) चोरों को पकड़ने वालों, चौकीदारों,

सिपाहियों, शूरवीर गुप्तचरों तथा झूठी प्रशंसा करने वालों के (तेहिं) उन-उन (कप्पडप्पहार-निद्दयआरक्खिय-खरफरुसवयण-तज्जणगलच्छल्लुच्छलणाहिं) कपड़े के चाबुकों के प्रहार से, निर्दय सिपाहियों के तीखे व कठोर वचनों की डांट-फटकार से तथा गर्दन पकड़ कर धक्का देने से (विमणा) खिन्न चित्त हुए वे चोर, (निरयवास-सरिसं) नरकावास के समान (चारकवसहिं) कैदखाने में (पवेसिया) जबरन घुसाये जाते हैं। (तत्थवि) वहाँ भी (गोम्मियप्पहारदूमणनिब्भच्छणकडुयवयणभेसणगभया-भिभूया) जेल के अधिकारियों द्वारा विविध प्रहारों, नाना प्रकार की यातनाओं, झिड़कियों, कडवे वचनों तथा भयंकर वचनों से उत्पन्न भय से दबे हुए या दुःखित रहते हैं। (अक्खित्तनियंसणा) उनके कपड़े छीन लिये जाते हैं, (मलिनदंडिखंडवसणा) उनके पास सिर्फ मैले-कुचेले फटे हुए वस्त्र रहते हैं, (उक्कोडालंचपासमग्गणपरायणेहिं गोम्मियभडेहिं) बार-बार उन कैदियों से रिश्वत और घूंस मांगने में तत्पर जेल के सिपाहियों द्वारा (विविहेहिं बंधणेहिं) अनेक प्रकार के बंधनों से वे (वज्झंति) बांधे जाते हैं। (किं ते ?) वे बन्धन कौन-कौन-से हैं? (हडि-निगड-वालरज्जुय-कुदंडग-वरत्त-लोहसंकल-हत्थंदुय-वज्झपट्ट-दामक-णिक्कोडणेहिं) हाड़ी—काठ की बेड़ी, लोह की बेड़ी, बालों की बनी हुई रस्सी, जिसके किनारे पर रस्सी का फंदा बांधा जाता है ऐसा एक काठ, चमड़े के मोटे रस्से, लोहे की सांकल, हथकड़ी, चमड़े का पट्टा, पैर बांधने की रस्सी, तथा निःकोटन—एक प्रकार के बंधन विशेष से (य) और (एवमा-दिएहिं) ये और इसी प्रकार के (अन्नेहिं) दूसरे (दुक्खसमुदीरणेहिं) दुःख पैदा करने वाले, (गोम्मिकभंडोवगरणेहिं) कैदखाने के अधिकारियों के विशिष्ट उपकरणों से, (संकोडमोडणाहिं) कैदियों के शरीर को सिकोड़ कर और मोड़ कर (मंदपुण्णा) उन अभागे कैदियों को (वज्झंति) बांधा जाता है। (य) तथा (संपुड-कवाट-लोह पंजर-भूमिघरनिरोह-कूव-चारक-कीलग - जूय-चयक-विततबंधण - खंभालण-उद्धचलण-बंधण-विहम्मणाहिं) कैद की कोठरी में चारों ओर से किवाड़ बंद कर देना, लोहे के पींजरे में बन्द कर देना, भोंयरे-तलघर में डाल देना, कुंए में उतार देना, बन्दीघर के सींकचों में जकड़ देना, कीलें ठोक देना, बैलों के कन्धों पर डाले जाने वाला जूवा कंधे पर रख देना, गाड़ी के पहिये से चारों ओर से बांध देना, बांहें, जांघें और सिर को कस कर बांध देना, खंभे से चिपटा देना, पैरों को ऊपर कर के बांध देना इत्यादि अनेक बन्धनों से यातनाएं दे कर अधर्मी जेल के अधिकारियों द्वारा (विहेडयंता) सिकोड़े या मोड़े जाते हैं—पीड़ित किये जाते हैं। (य) और (अवकोडकगाढउरसिरबद्धउद्धपूरित (असुहपरिणयाय) फुरंतउरकडगमोडणा-

मेडणाहिं) गर्दन नीचे झुका कर छाती और सिर कस कर बांधे हुए कैदी निःश्वास छोड़ते हैं या कस कर जकड़े जाने के कारण उनका श्वास ऊपर को रुक जाता है अथवा उनकी आंतें ऊपर को आ जाती हैं, छाती धड़कती रहती है, उनके अंग मोड़े जाते हैं, वारवार उल्टे किये जाते हैं। इस तरह अशुभ भावों में बहते हुए वे (बद्धा) बंधे हुए (नीससंता) निःश्वास लेते रहते हैं। (आणत्तिकिंकरेहिं) जेल के अधिकारियों का आदेश पाते ही काम करने वाले नौकरों द्वारा, (सीसावेढउरुयावलचप्पडगसंधिबंधण-तत्तसलागसूइयाकोडणाणि) चमड़े की रस्सी का सिर से बांधा जाना, दोनों जांघों को चीरा जाना या मोड़ा जाना, घुटने, कुहनी, कलाई आदि जोड़ों को काठ के यंत्रविशेष से बांधा जाना, तपी हुई लोहे की सलाई और सुई शरीर में चुभोना, (तच्छणविमाणणाणि) बसूले से लकड़ी की तरह छीला जाना, मर्मस्थानों पर पीड़ा पहुँचाना, (य) और (खार-कडुय-तित्त-नावण-जायणा-कारणसयाणि बहुयाणि) नमक, सोडा आदि क्षार पदार्थ, नीम आदि कड़वे पदार्थ, लाल मिर्च आदि तीखे पदार्थ कोमल अंगों पर डालना या छिड़कना इत्यादि पीड़ा पहुँचाने के सैंकड़ों निमित्तों को ले कर बहुत-सी यातनाएँ (पावियंता) पाते रहते हैं। (उरक्खोडीदिन्नगाढपेल्लण-अट्ठिकसंभग्ग-सुपंसुलीगा) किसी समय छाती पर महाकाष्ठ रख कर जोर से दबाने से या जोर से मारने से हड्डियाँ टूट जाती हैं, पसलियां ढीली हो जाती हैं, (गलकालकलोहदंडउर-उदर-वत्थि-पट्ठि-परिपीलिता) मछली पकड़ने के कांटे के समान घातक काले लोहे की नोक वाले डंडे से छाती, पेट, गुदा और पीठ में भोंकने से वे अत्यन्त पीड़ित हो जाते हैं। (मच्छंतहिययसंचुण्णियंगमंगा) इतनी भयंकर पीड़ा से अपराधियों का हृदय मथ दिया जाता है और उनके सारे अंग-उपांग चूर-चूर कर दिये जाते हैं।

(केई) कितने ही (अविराहियवेरिएहिं जमपुरिससन्निहेहिं) बिना अपराध किये ही वैरी बने हुए यमदूतों के समान पुलिस के सिपाहियों द्वारा (पहया) पीटे जाते हैं। (ते) वे (मंदपुण्णा) अभागे चोर (तत्य) कैदखाने में, (चडवेला-वज्झपट्ट-पाराइं-छिव-कस-लत-वरत्त-वेत्तपहारसय-तालियंगमंगा) थप्पड़ों, मुक्कों, चमड़े के पट्टों, लोहे के कुश, लोहे के नोकदार व तीखे शस्त्र, चाबुक, लात, चमड़े के मोटे रस्से और बेंतों के सैंकड़ों प्रहारों से अंग-उपांगों में चोट पहुंचा कर सिपाहियों द्वारा पीड़ित (कीरंति) किये जाते हैं, (किवणा) बेचारे दीनहीन बने हुए चोर, (लंबंत-चम्म-वण-वेयणविमुहियमणा) लटकती हुई चमड़ी पर हुए घावों की वेदना के कारण अपने चोरी के अपराध से उन्मने हो जाते हैं (घणकोट्टिम-नियल जुयल-संकोडिय-मोडिया)हथौड़ों से कूट कर तैयार की हुई दोनों बेड़ियों के रातदिन पहिनाये रखने से

उनके अंग सिकुड़ जाते हैं, मुड़ जाते हैं और ढीले हो जाते हैं। (य) और (निरुच्चारा) जेलखाने की कालकोठरी में बंद किये जाने के कारण उनका टट्टी-पेशाब रोक दिया जाता है; अथवा बोलने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है, (असंचरणा) इधर-उधर घूमना-फिरना बंद कर दिया जाता है।

(एया) ये (अन्ना य) और दूसरी (एवमादीओ वेयणाओ) इसी प्रकार की वेदनाएँ (पावा) वे पापी (पावेंति) पाते हैं। (कौन ?) (अदंतिंदिया) अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रखने वाले, (वसट्टा) विषयों के गुलाम होने से पीड़ित, (बहुमोह-मोहिता) अत्यन्त मोह-आसक्ति के कारण मूढ़ बने हुए (परधणंमि लुद्धा) पराये धन में लुब्ध एवं (फासिंदियविसयतिव्वगिद्धा) स्पर्शेन्द्रिय के विषय में तीव्र आसक्त, (इत्थिगयरूवसद्दरसगंधइट्ठरतिमहितभोगतण्हाइया) स्त्रीसम्बन्धी रूप, शब्द, रस, व गंध में इष्ट, रति एवं वांछित भोग (सहवास) की तृष्णा से व्याकुल (य) तथा (धनतोसगा) केवल धन मिलने से ही संतुष्ट होने वाले (जे य नरगणा गहिया) सरकारी आदमियों द्वारा गिरफ्तार किये गए जो मनुष्यगण-चोर हैं, वे (पुणरवि) फिर भी (कम्मदुव्वियड्ढा) पापकर्म के दुष्परिणाम को नहीं समझने वाले उन (वहसत्थ-पाढयाणं) वधशास्त्र के पढ़ने-पढ़ाने वाले, (विलउलीकारकाणं) दुष्ट-अन्याय युक्त कर्म करने वाले, (लंचसयगेण्हगाणं) सैकड़ों रिश्वतें लेने वाले (कूड-कपड-माया-नियडि-आयरण-पणिहिवंचणविसारयाणं) जो न्यूनाधिक तौल-नाप आदि करने में, वेश और भाषा को बदलने में, माया, छल, धूर्तता और फरेब एवं धोखेबाजी के आचरण-अमल करने में, गुप्तचर-सम्बन्धी वंचना में विशारद—प्रवीण हैं, (निरयगतिगामि-याणं) नरकगति के मेहमान हैं (बहुविहअलियसतजंपकाणं) अनेक प्रकार के सैकड़ों झूट बोलने वाले हैं, (य) और (परलोयपरंमुहाणं) परलोक से विमुख यानी लापरवाह बने हुए हैं, ऐसे (रायकिंकराणं) राजपुरुषों-सरकारी नौकरों—को (उवणीया) सजा के लिए सौंप दिये जाते हैं।

(य) और (तेहिं) उन राजकर्मचारियों द्वारा (आणत्तजीयदंडा) जिन्हें प्राण-दंड—मृत्युदंड की आज्ञा दी गई है, उन चोरों को, (तुरियं) शीघ्र ही, (पुरवरे) नगर में (सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापहपहेसु) सिंघाड़े के आकार वाली तिकोन जगह, जहाँ तीन रास्ते या बाजार मिलते हैं वहाँ, जहाँ चार रास्ते या बाजार मिलते हैं वहाँ, चौक में, विशाल प्रांगण में, चारों ओर मुंह यानी द्वार वाले किसी देवमन्दिर आदि में, विशाल आम राजमार्ग [चौड़ी सड़क] पर तथा साधारण रास्तों पर (उग्घाडिया) जनसमूह के सामने जाहिर में लाये जाते हैं; फिर (वेत्त-दंड-लउड-

कट्ठ-लेट्ठु-पत्थर-पणालि-पणोल्लि- मुट्ठि-लया - पाद-पण्हि-जाणु - कोप्परपहारसंभग्ग-महियगत्ता) बेंतों से, डंडों से, लाठियों से, लकड़ी, ढेले, पत्थर, लम्बे लट्ठ, मारने के डंडे से, मुक्कों, घूंसों, लातों, पैरों, एड़ियों, घुटनों व कुहनियों आदि से प्रहार करके अंग-अंग का कचूमर निकाल दिया जाता है और घायल कर दिया जाता है। (अट्ठारसकम्मकारणा) अठारह प्रकार के चोर और चोरी के कारणों को लेकर (जाइयंगमंगा) उनके अंग-अंग पीड़ित कर दिये जाते हैं। वहां उन (कलुणा) करुणा के पात्र-दयनीय अपराधियों के (सुक्कोट्ठकंठगलकतालुजीहा) ओठ, कंठ, गला, तालु और जीभ सूख जाते हैं, (विगयजीवियासा) उन्हें जीने की आशा नहीं रहती (तण्हादिया) प्यास के मारे बेचैन (वरागा) बेचारे वे (पानीयं जायंता) पानी मांगते हैं, (तं पि य ण लभंति) पर,उसे भी वे नहीं पाते। (य) और (तत्थ) वहां—कैदखाने में (वज्झपुरिसेहिं) वध के लिए नियुक्त पुरुषों—जल्लादों द्वारा (धाडियंता) वध्यस्थान पर उन्हें धकेल कर या घसीट कर ले जाया जाता है। उस समय (खरफरुस-पडह-घट्टित- कूडग्गह- गाढ-रुट्ठ- निसट्ठ- परामट्ठा) अत्यन्त कर्कश ढोल बजाते हुए राजपुरुषों द्वारा धकेले जाते हुए, एवं अत्यन्त रोष से भरे हुए राजपुरुषों—चांडालों द्वारा फांसी के लिए दृढ़तापूर्वक पकड़े हुए होने से अत्यन्त अपमानित वे (वज्झकरकडिजुयनियत्था) मृत्युदंड के समय पहिनाए जाने वाले विशेष कपड़े के जोड़े को पहने हुए, तथा (सुरत्तकणवीर-गहिय-विमुकुल-कंठगुण-वज्झदूतआविद्धमल्लदामा) खिले हुए लाल कनेर के फूलों से गूंथी हुई वध्यदूत-सी माला वध्य के गले में डाली जाती है, जो उस की मृत्यु की सजा को स्पष्ट सूचित करती है, (मरणभयुप्पणसेद—आयत्तणेहुत्त पियकिलिन्नगत्ता) मृत्यु के भय से उन्हें पसीना छूट जाता है, उस पसीने की शरीर पर फैली हुई चिकनाई से उनका सारा शरीर चिकना हो जाता है और भीग जाता है। (चुण्ण-गुंडियसरीररयरेणुभरियकेसा) कोयले आदि के चूरे से उनके शरीर पर लेपन किया जाता है और हवा से उड़ कर लगी हुए धूल से उनके केश अत्यन्त रूखे और धूल भरे हो जाते हैं। साथ ही उनके (कुसुम्भगोकिन्नमुद्धआ) सिर के बाल लाल कुसुम्भे के रंग से रंजित कर दिये जाते हैं,(छिन्नजीवियासा) उनकी जीने की आशा क्षीण हो जाती है। (घुन्नंता) भय से विह्वल होने के कारण डगमगाते हुए, (वज्झयाण भीया) वध करने वालों—जल्लादों से हरदम भयभीत रहते हैं, अथवा (वज्झपाणपीया) मार डाले जायेंगे, इस भय से प्राणों के प्रति अत्यन्त आसक्त हैं, (तिलं तिलं चेव छिज्जमाणा) तिल-

तिल करके उनके शरीर के छोटे-छोटे टुकड़े किये जाते हैं,(सरीरविकत्तलोहिओवलित्ता) उन्हीं के शरीर से काटे हुए और खून से लिपटे हुए (कागणिमंसाणि) छोटे-छोटे मांस के टुकड़ों को (खावियंता) उन्हें खिलाया जाता है। फिर (पावा, उन पापियों का (खरकरसएहिं तालिज्जमाणदेहा) छोटे-छोटे पत्थरों से भरे हुए चमड़े के सैकड़ों थैलों से अथवा फटे हुए सैकड़ों बांसों से उनका शरीर पीटा जाता है। देखने के लिए आतुर (वातिकनरनारिसंपरिवुड़ा) पागलों के समान नरनारियों की अनियंत्रित भीड़ से घिरे हुए (य) और (नागरजणेण) नागरिक लोगों द्वारा (पेच्छिज्जंता) देखे जाते हुए वे-चोर (वज्झनेपत्थिया) मृत्युदण्ड पाये हुए वध्य कैदी की पोशाक पहने (नगर-मज्झेण) शहर के बीचोंबीच होकर (पणेज्जंति) ले जाये जाते हैं। उस समय वे (किवणकलुणा) दीनहीन-अत्यन्त दयनीय, (अत्ताणा) रक्षाहीन, (असरणा) शरणरहित, (अनाहा) अनाथ, (अबंधवा) बन्धुहीन, (बंधुविप्पहीणा) अपने भाईबन्धुओं से बिलकुल त्यक्त-त्यागे हुए (दिसोदिसं विपिक्खंता) सहारे के लिए एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर ताकते हुए वे, (मरणभयुव्विग्गा) मृत्यु के भय से अत्यन्त व्याकुल होते हैं। (आघायणपडिदुवारसंपाविया) वध्यभूमि—शूली या फांसी दिये जाने के द्वार—स्थान पर लाये जाकर वे (अधन्ना) अभागे मनुष्य (सूलग्गविलग्गभिन्नदेहा) शूली की नोंक पर रखे जाते हैं, जिससे उनका शरीर चिर जाता है, (य) और (तत्थ) वहीं—वध्य-भूमि में ही (ते परिकप्पियंगमंगा कीरंति) उनके अंग-प्रत्यंग काट कर टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं।

(केई) उनमें से कई (कलुणाइं विलवमाणा) करुण विलाप करते हुए मनुष्य (रुक्खसालासु) वृक्ष की शाखाओं पर (उल्लंबिज्जंति) लटका दिये जाते हैं; (अवरे) दूसरे, (चउरंगधणियबद्धा) दोनों हाथों और दोनों पैरों को कस कर बांधे जाते हैं, (पव्वयकडगा) पर्वत की चोटी से (पमुच्चंते) नीचे गिरा दिये जाते हैं; जहाँ वे (दूरपात बहुविसमपत्थरसहा) बहुत ऊँचे से गिराये जाने के कारण बहुत ही ऊबड़खाबड़ पत्थरों की चोट सहते हैं, (य) और (अन्ने) अन्य कुछ लोग (गय-चलणमलणनिम्मद्दिया कीरन्ति) हाथी के पैर तले कुचल डाले जाते हैं। (य) तथा (पापकारी वे पाप कर्म करने वाले चोर (मुंडपरसूहिं) कुंठित-भोंथरे कुल्हाड़ों से (अट्ठारसखंडिया) अठारह स्थानों से खंडित (कीरन्ति) किये जाते हैं। (केई) कई चोर ऐसे भी होते हैं, (उक्कत्तकन्नोट्ठनासा) जिनके कान, ओठ और नाक काट लिये जाते हैं, तथा (उप्पाडियनयणदसणवसणा) जिनके नेत्र, दांत और अंडकोश उखाड़ लिये जाते हैं, एवं (जिब्भंछियच्छिया छिन्नकन्नसिरा) जिनकी जीभ खींच कर निकाल

फट्ठ-लेट्ठु-पत्थर-पणालि-पणोल्लि-मुट्ठि-लया - पाद-पण्हि-जाणु - कोप्परपहारसंभग्ग-महियगत्ता) बेंतों से, डंडों से, लाठियों से, लकड़ी, ढेले, पत्थर, लम्बे लट्ठ, मारने के डंडे से, मुक्कों, घूंसों, लातों, पैरों, एड़ियों, घुटनों व कुहनियों आदि से प्रहार करके अंग-अंग का कचूमर निकाल दिया जाता है और घायल कर दिया जाता है। (अट्ठारसकम्मकारणा) अठारह प्रकार के चोर और चोरी के कारणों को लेकर (जाइयंगमंगा) उनके अंग-अंग पीड़ित कर दिये जाते हैं। वहाँ उन (कलुणा) करुणा के पात्र-दयनीय अपराधियों के (सुक्कोट्ठकंठगलकतालुजीहा) ओठ, कंठ, गला, तालु और जीभ सूख जाते हैं, (विगयजीवियासा) उन्हें जीने की आशा नहीं रहती (तण्हादिया) प्यास के मारे बेचैन (वरागा) बेचारे वे (पानीयं जायंता) पानी मांगते हैं, (तं पि य ण लभंति) पर, उसे भी वे नहीं पाते। (य) और (तत्थ) वहाँ—कैदखाने में (वज्झपुरिसेहि) वध के लिए नियुक्त पुरुषों—जल्लादों द्वारा (धाडियंता) वध्यस्थान पर उन्हें धकेल कर या घसीट कर ले जाया जाता है। उस समय (खरफरुस-पडह-घट्टित- कूडग्गह- गाढ-रुट्ठ- निसट्ठ- परामट्ठा) अत्यन्त कर्कश ढोल बजाते हुए राजपुरुषों द्वारा धकेले जाते हुए, एवं अत्यन्त रोष से भरे हुए राज-पुरुषों—चांडालों द्वारा फांसी के लिए दृढ़तापूर्वक पकड़े हुए होने से अत्यन्त अपमानित वे (वज्झकरकडिजुयनियत्था) मृत्युदंड के समय पहिनाए जाने वाले विशेष कपड़े के जोड़े को पहने हुए, तथा (सुरत्तकणवीर-गहिय-विमुकुल-कंठेगुण-वज्झदूतआविद्धमल्लदामा) खिले हुए लाल कनेर के फूलों से गूंथी हुई वध्यदूत-सी माला वध्य के गले में डाली जाती है, जो उस की मृत्यु की सजा को स्पष्ट सूचित करती है, (मरणभयुप्पणसेद—आयत्तणेहुत्तुपियकिलिन्नगत्ता) मृत्यु के भय से उन्हें पसीना छूट जाता है, उस पसीने की शरीर पर फैली हुई चिकनाई से उनका सारा शरीर चिकना हो जाता है और भीग जाता है। (चुण्ण-गुंडियसरीररयरेणुभरियकेसा) कोयले आदि के चूरे से उनके शरीर पर लेपन किया जाता है और हवा से उड़कर लगी हुए धूल से उनके केश अत्यन्त रूखे और धूल भरे हो जाते हैं। साथ ही उनके (कुसुम्भगोकिन्नमुद्धआ) सिर के बाल लाल कुसुम्भे के रंग से रंजित कर दिये जाते हैं, (छिन्नजीवियासा) उनकी जीने की आशा क्षीण हो जाती है। (घुन्नंता) भय से विह्वल होने के कारण डगमगाते हुए, (वज्झयाण भीया) वध करने वालों—जल्लादों से हरदम भयभीत रहते हैं अथवा (वज्झपाणपीया) मार डाले जायेंगे, इस भय से प्राणों के प्रति अत्यन्त आसक्त हैं, (तिलं तिलं चेव छिज्जमाणा) तिल-

तिलं करके उनके शरीर के छोटे-छोटे टुकड़े किये जाते हैं,(सरीरविकत्तलोहिओवलित्ता) उन्हीं के शरीर से काटे हुए और खून से लिपटे हुए (कागणिमंसाणि) छोटे-छोटे मांस के टुकड़ों को (खावियंता) उन्हें खिलाया जाता है। फिर (पावा, उन पापियों का (खरकरसएहिं तालिज्जमाणदेहा) छोटे-छोटे पत्थरों से भरे हुए चमड़े के सैकड़ों थैलों से अथवा फटे हुए सैकड़ों बांसों से उनका शरीर पीटा जाता है। देखने के लिए आतुर (वातिकनरनारिसंपरिवुडा) पागलों के समान नरनारियों की अनियंत्रित भीड़ से घिरे हुए (य) और (नागरजणेण) नागरिक लोगों द्वारा (पेच्छिज्जंता) देखे जाते हुए वे-चोर (वज्झनेपत्थिया) मृत्युदण्ड पाये हुए वध्य कैदी की पोशाक पहने (नगर-मज्झेण) शहर के बीचोंबीच होकर (पणेज्जंति) ले जाये जाते हैं। उस समय वे (किवणकलुणा) दीनहीन-अत्यन्त दयनीय, (अत्ताणा) रक्षाहीन, (असरणा) शरणरहित, (अनाहा) अनाथ, (अबंधवा) बन्धुहीन, (बंधुविप्पहीणा) अपने भाईबन्धुओं से बिल-कुल त्यक्त-त्यागे हुए (दिसोदिसं विपिक्खंता) सहारे के लिए एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर ताकते हुए वे, (मरणभयुव्विग्गा) मृत्यु के भय से अत्यन्त व्याकुल होते हैं। (आघायणपडिदुवारसंपाविया) वध्यभूमि—शूली या फांसी दिये जाने के द्वार—स्थान पर लाये जाकर वे (अधन्ना) अभागे मनुष्य (सूलग्गविलग्गभिन्नदेहा) शूली की नोंक पर रखे जाते हैं, जिससे उनका शरीर चिर जाता है, (य) और (तत्थ) वहीं—वध्य-भूमि में ही (ते परिकप्पियंगमंगा कीरंति) उनके अंग-प्रत्यंग काट कर टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं।

(केई) उनमें से कई (कलुणाइं विलवमाणा) करुण विलाप करते हुए मनुष्य (रुक्खसालासु) वृक्ष की शाखाओं पर (उल्लंबिज्जंति) लटका दिये जाते हैं; (अवरे) दूसरे, (चउरंगधणियबद्धा) दोनों हाथों और दोनों पैरों को कस कर बांधे जाते हैं, (पव्वयकडगा) पर्वत की चोटी से (पमुच्चंते) नीचे गिरा दिये जाते हैं; जहाँ वे (दूरपात बहुविसमपत्थरसहा) बहुत ऊँचे से गिराये जाने के कारण बहुत ही ऊबड़खाबड़ पत्थरों की चोट सहते हैं, (य) और (अन्ने) अन्य कुछ लोग (गय-चलणमलणनिम्मद्दिया कीरन्ति) हाथी के पैर तले कुचल डाले जाते हैं। (य) तथा (पापकारी वे पाप कर्म करने वाले चोर (मुंडपरसूहिं) कुंठित-भोंथरे कुल्हाड़ों से (अट्ठारसखंडिया) अठारह स्थानों से खंडित (कीरन्ति) किये जाते हैं। (केई) कई चोर ऐसे भी होते हैं, (उक्कत्तकन्नोट्ठनासा) जिनके कान, ओठ और नाक काट लिये जाते हैं, तथा (उप्पाडियनयणदसणवसणा) जिनके नेत्र, दांत और अंडकोश उखाड़ लिये जाते हैं, एवं (जिब्भंछियच्छिया छिन्नकन्नसिरा) जिनकी जीभ खींच कर निकाल

बांध दिया जाता है, दोनों जांघों को चीरा या मोड़ा जाता है, काठ के एक खास यंत्र से उनके घुटने, कलाई आदि जोड़ों को बांधा जाता है,तपी हुई लोहे की सलाई और सुई शरीर में चुभोई जाती है। वसूले से काठ की तरह उनके शरीर को छीला जाता है। ऐसी अनेक पीड़ाएँ उन्हें दी जाती हैं। शरीर पर हुए घावों पर नमक आदि खारे, मिर्च आदि तीखे, नीम आदि कड़वे पदार्थ छिड़के जाते हैं। इस तरह की यातनाओं के सैकड़ों निमित्तों को लेकर वे पीड़ा पाते हैं। कभी-कभी आदेश पाते ही काम करने वाले जेल के क्रूर नौकरों द्वारा उनकी छाती पर बड़े वजनदार काठ को रख कर जोर से दबाया जाता है, जिससे उनको हड्डियां और पसलियां टूट जाती है। मछली को पकड़ने के तीखे नोकदार कांटे के समान काले लोहे का डंडा उनकी छाती, पेट, गुदा और पीठ में भोंक दिया जाता है, इस प्रकार उन्हें पीड़ित करके उनका हृदय मथ दिया जाता है और उनके अंग-अंग चूर-चूर कर कर दिये जाते हैं। कितने ही चोर, जिन्होंने कोई बड़ा अपराध नहीं किया है, फिर भी वैरभाव रखने वाले यमदूतों के समान क्रूर सिपाहियों द्वारा वे पीटे जाते हैं और जेलखाने में उन अभागों के अंगोपांगों पर थप्पड़ों, मुक्कों, घूंसों, चमड़े के पट्टों, लोहे के कुश, पतले चाबुक, चमड़े के चाबुक, लात और चमड़े की बड़ी रस्सी एवं बेंतों के सैकड़ों प्रहारों से चोट पहुंचाई जाती है। शरीर पर लटकती हुई चमड़ी पर हुए घावों की असह्य वेदना के कारण उन्हें चोरी से अब नफरत हो चुकी है। फिर भी पुलिस के सिपाहियों द्वारा हथौड़ों से कूट कर तैयार की गई दो बेड़ियों से उनके अंग सिकोड़े और मोड़े जाते हैं,जेल की कोठरी में उन्हें स्वतन्त्रता से मलमूत्र भी नहीं करने दिया जाता, न बोलने दिया जाता है, और न इधर-उधर घूमने की छूट दी जाती है। इन तथा इसी प्रकार की अन्य वेदनाओं को वे पापी भोगते हैं, जो इन्द्रियों को वश में नहीं रखते, इन्द्रियों के गुलाम होने से पीड़ित हैं, जो अत्यन्त मोह से मूढ बने हुए है, पराये धन में लुब्ध हैं, जो स्पर्शेन्द्रियों के विषय में अत्यन्त आसक्त हैं, जो स्त्रीसम्बन्धी रूप, शब्द, रस, गन्ध तथा इष्ट रति और वांछित भोग (सहवास) की तृष्णा से आतुर हैं तथा सिर्फ धन देख कर ही संतुष्ट होने वाले वे लोग राजपुरुषों—सिपाहियों द्वारा गिरफ्तार किए जाते हैं। फिर भी पापकर्म के बुरे नतीजे को नहीं समझने वाले वे

मनुष्यगण पुनः उन सरकारी नौकरों के हवाले किये जाते हैं, जो वध-(मारने-पीटने के) शास्त्र को पढ़ने-पढाने वाले है, अन्याययुक्त दुष्ट कर्म करने वाले हैं, सैकड़ो रिश्वतें लेने के आदी हैं, जो झूठा तौलने-नापने, वेश और भाषा को बदलने, झूठ-फरेब करने, धोखा देने, धूर्तता करने, अपने मायाजाल को छिपाने के लिए और माया करने, ठगी करने या गुप्तचर सम्बन्धी चालाकी में अत्यन्त प्रवीण होते हैं, वे अनेक प्रकार के सैकड़ों झूठ बोलने वाले, परलोक की परवाह न करने वाले तथा नरकगति के मेहमान बनने वाले हैं। जिन्हें प्राणदंड की सजा सुनाई गई है, वे चोर उन्ही राजकर्मचारियों द्वारा शीघ्र ही नगर में सिंघाड़े के आकार वाले त्रिकोण स्थान में, जहां तीन गलियाँ या बाजार मिलते है वहाँ; अथवा जहां चार गलियाँ या बाजार मिलते हैं, वहां (चौक में), चारों ओर दरवाजे वाले चौमुखे देवमन्दिर आदि पर या राज-मार्ग (चौडी आम सड़क) पर या साधारण रास्ते पर सरेआम जाहिर में ला कर खड़े किए जाते है। और बेंतों, डंडों, लाठियों, लकडी, ढेले, पत्थरों, सिर तक लम्बे लट्ठों, घोड़े आदि को पीटने की पैनियों, मुक्कों, लातों, पैरों, एड़ियों,घुटनों और कुहनियों के प्रहार से उनका शरीर जर्जरितऔर घायलकर दिया जाता है। अठारह प्रकार के चौर्य कर्म यानी चोरी करने के कारणो से उनके अंग-अंग को अत्यन्त यातनाएं दी जाती हैं। उन दयनीय अपराधियों के ओठ, गला, तालु और जीभ सूख जाते है, उन्हें जीने की आशा नहीं रहती, प्यास के मारे सताये हुए वे बेचारे उन सिपाहियो से पानी मांगते हैं। लेकिन पानी नही पाते। बल्कि वध (उनको मृत्युदंड देने) के लिए नियुक्त किए गये पुरुष उन्हें धकेल देते है। अत्यन्त कर्कश ढोल बजाते हुए चलने के लिए उन्हें पीछे से धकेला जाता है। मृत्युदंड देने के पहले अत्यन्त क्रोध से आग-बबूला हुए जल्लादों (राजपुरुषों) द्वारा मजबूती से वे पकड़े जाते हैं। वध्य से सम्बन्धित खासवस्त्र का जोड़ा पहने हुए,लाल कनेर के खिले फूलों से गूंथी हुई वध्यदूत की तरह वध्य व्यक्ति को सूचित करने वाली फूलमाला को वे गले में पहने होते हैं। उनके शरीर मौत के डर से पैदा हुए अधिक पसीने की चिक-नाई से चिकने हो जाते हैं,पीसे हुए कोयले वगैरह के काले रंग से उनके शरीर पोत दिये जाते है, हवा से उड़-उड़ कर आई हुई धूल से उनके बाल भर जाते हैं। उनके सिर के बाल कुसुम्भे के लाल रंग से लाल कर दिये जाते हैं, अब उन्हें अपने जीने की कोई आशा नहीं रहती, भय से विह्वल हो कर वे

कांपने लगते हैं, वध करने वाले जल्लादों को देख कर डरते हैं। फिर तिल-तिल करके उनका शरीर छेदा जाता है, उन्हीं के शरीर से काटे हुए और खून से लथपथ छोटे-छोटे मांस के टुकड़े उन्हें खिलाये जाते हैं। छोटे-छोटे पत्थरों से भरे चमड़े के सैकड़ों थैलों से उन्हें मारा जाता है। पागलों की तरह मनुष्यों की अनियंत्रित भीड़ से वे घिर जाते हैं, नागरिक लोग उन्हें देखने लिए इकट्ठे हो जाते हैं। फिर वध्य (मौत की सजा पाने वाले व्यक्ति) की पोशाक पहने हुए नगर के बीचो-बीच हो कर उन्हें ले जाया जाता है। उस समय वे बेचारे दीनों से भी दीन, रक्षाहीन, अशरण, अनाथ, बन्धुहीन और सगे-सम्बन्धियों द्वारा त्यक्त होते है। एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर ताकते हुए, मृत्यु के भय से घबराए हुए वे अभागे कैदो वध्यभूमि के दरवाजे पर लाये जाते है और शूली की नोक पर उन्हें रखा जाता है, जिससे उनका शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है, और वहीं वध्यभूमि में उनके अंग-अंग के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाते हैं। उनमें से कई करुणाजनक विलाप करते हैं, उन्हें वृक्षों की शाखाओं पर लटका दिया जाता है। कुछ को दोनों हाथ-पैर बांध कर पर्वत की चोटी से नीचे लुढका दिया जाता है। ऊंचाई से गिरने के कारण वे ऊबड़-खाबड़ पत्थरों की चोट सहते हैं। पापकर्म करने वाले उन चोरों को भोंथरे कुल्हाड़े द्वारा अठारह जगह से खण्डित किया जाता है। कई चोरों के कान, ओठ और नाक काट लिए जाते हैं, आंखें निकाल ली जाती हैं, दांत उखाड़ लिए जाते हैं और अंडकोश काट दिये जाते हैं, जीभ खींच कर बाहर निकाल ली जाती है,कान और शिराएं काट ली जाती हैं और बाद में वे वध्यभूमि में ले जाये जाते हैं। सरकारी नौकरों द्वारा कितने ही चोर तलवार से काट दिए जाते हैं, कई लोगों के हाथ-पैर काट लिए जाते हैं और उन्हें देश से निर्वासित कर सीमा के बाहर छोड़ दिया जाता है। कई जिंदगी-भर कैद खाने में बंद कर दिए जाते हैं। पराए धन के लोभी कई चोरों को कैद-खाने की अर्गला और दोनों बेड़ियां डाल कर रखा जाता है। कैदखाने में उनके पास का सर्वस्व धन छीन लिया जाता है। वे उनके कुटुम्बियों द्वारा छोड़ दिए जाते हैं, मित्रों से तिरस्कार पाते हैं, निराश हो जाते हैं। बहुत से लोगों द्वारा धिक्कारे जा कर वे लज्जित किए जाते हैं, अथवा वे अपने परिवार को लजाते हैं.निर्लज्ज हो जाते हैं। वे निरन्तर भूख से पीड़ित रहते हैं। वे पापी सर्दी-गर्मी और प्यास की असह्य वेदना से व्याकुल रहते हैं। उनके चेहरे मलिन

और निस्तेज (कान्तिहीन) रहते हैं। वे असफल, मलिन और दुर्बल हो जाते हैं, मुर्झाए हुए से रहते है। कई खांसी से पीड़ित या कई रोगों से घिरे रहते हैं, कई लोगों के शरीर आंव आदि अपक्वरस से पीड़ित रहते हैं। उनके नख, केश, दाढ़ी-मूछों के बाल बढ़ जाते हैं, वे बंदीगृह में अपने ही मलमूत्र में लिपटे रहतेहै।

व्याख्या

पूर्वसूत्र मे शास्त्रकार ने अदत्तादान (चोरी) करने वाले विविध कोटि के मनुष्यों का स्वरूप बताया है तथा उनके द्वारा अजमाये जाने वाले तरीकों और उनमे पैदा होने वाले खतरो का वर्णन किया है, साथ ही चोरों की मनोवृत्ति और साहसिकता का वर्णन करते हुए उनके जीवन में सदा साथ लगी रहने वाली अशान्ति और बेचैनी का भी उल्लेख किया है। अब इस सूत्रपाठ के द्वारा पांचवे फलद्वार के रूप में चोरी से होने वाले बुरे नतीजों का, खासतौर से मनुष्यलोक में होने वाली उनकी दुःस्थिति का सजीव वर्णन किया है। मूलार्थ द्वारा सारा ही वर्णन स्पष्ट है ; फिर भी कुछ मुद्दों पर विवेचन करना आवश्यक समझ कर नीचे संक्षेप में यथावश्यक स्थलों का स्पष्टकरण कर रहे हैं—

'परस्स दव्वं गवेसमाणा गहिया य हया य बद्धरुद्धा य'—दूसरे के द्रव्य को तलाश में घूमने वाले जब रंगे हाथों पकड़े जाते है, तब पुलिस वाले तो उनकी खूब मरम्मत करते ही हैं, जनता भी जूतों, डंडों, लाठियों और मुक्कों से ऐसे लोगों की अच्छी तरह पूजा करती है। उनके पैरों में और हाथों में हथकड़ियां बेड़ियां डाल कर उन्हें जेल के सीकचों मे बंद कर दिया जाता है। और फिर जेल में जेल के अधिकारियों और कर्मचारियों द्वारा कितना बुरा हाल किया जाता है, इसका सजीव वर्णन शास्त्रकार ने तो किया ही है ; हर एक समझदार व्यक्ति भी ऐसे लोगों की जेलों मे जो दुर्दशा होती है, उसे देखता—सुनता है। जेल में यातना देने के जितने भी साधन और तरीके हो सकते हैं, उन सबको जेलरों द्वारा भरपेट अजमाया जाता है।

'तुरियं अतिघाडिया ······ गोम्मियभडेहिं'—इस लम्बे पाठ में जेल के अधिकारियों को सौंपने और जेल में निवास के दौरान जो-जो यातनाएँ बन्धन, मारपीट, अपमान, तिरस्कार, झिड़कियां, प्रहार आदि के रूप में दी जाती हैं, उनका स्पष्ट वर्णन किया है। इसमें कोई भी संदेह नहीं कि चोरी करने से प्राप्त होने वाले धन और उससे प्राप्त होने वाले सुख की कल्पना की तुलना में चोर की गिरफ्तारी होने पर उसे मिलने वाली मानसिक और शारीरिक यातनाएँ बहुत ही भयंकर और प्रचुर मात्रा मे हैं। मामूली समझदार व्यक्ति भी यह घाटे का सौदा नही करेगा।

इसके बजाय वह न्यायनीति से श्रम करके या कोई आजीविका करके अपना जीवन संतोष, शान्ति और सुख के साथ बिताना पसंद करेगा। भला, चोरों की जिंदगी भी कोई जिंदगी है, जिसमें न तो सुख से वह खा-पी सकता है, न सुख से नींद ले सकता है; न आमोदप्रमोद या मनोरंजन कर सकता है! चोर की जिंदगी में न तो कोई सामाजिक प्रतिष्ठा है; न मानसिक शान्ति है, न धार्मिक जीवन का आनन्द है और न ही आध्यात्मिक जीवन की स्फूर्ति है! वन्य पशु से भी गयाबीता और खतरनाक जीवन है यह! रातदिन पकड़े जाने, दंड मिलने, इज्जत जाने और पीटे जाने की आशंका से चोर बेचैन रहता है! मनुष्यजीवन पा कर चोरी का धंधा करने वाले अपनी जिंदगी को खतरे, भय, आशंका और अधर्म में डाल कर निष्फल बना डालते हैं। मनुष्यजीवन की प्राप्ति से वे कोई भी लाभ वर्तमान या भविष्य के लिए नही उठा पाते। मनुष्यजीवन जैसा देवदुर्लभ उच्च जीवन मिलने पर भी उसे चोरी जैसे पापकर्म में बिता कर पिछली सारी कमाई का फल धो दिया जाता है, सारा ही 'कातापीजा पुनः कपास' कर दिया जाता है। परलोक में अपने साथ पाप की गठरी के सिवाय चोर और कुछ भी नही ले जाता। इस लोक में भी चोरी करने वाले दुष्कर्मी जन किसी अच्छे वातावरण से, अच्छे धार्मिक पुरुषों की संगति से, धर्मपोषक साहित्य के पठन-पाठन से और जीवन के शुद्ध और स्वस्थ चिन्तन से प्रायः दूर ही रहते है। परलोक में भी उन्हें पापानुबन्धी पाप के फलस्वरूप वैसा ही खराब वातावरण, बुरी संगति, बुरा खानपान, बुरा ही साहित्य और खराब ही चिन्तन मिलता है। क्योंकि इस लोक में इतनी भयंकर सजा पाने के बावजूद भी उनकी लेश्याएँ, उनकी परिणामधाराएँ और उनके चिन्तन की धुरा नही बदलती। तब परलोक में भी ये बातें कैसे बदल सकती हैं?

'विविहेहिं बंधणेहिं, किं ते? हडिनिगड .... एवमादीओ वेयणाओ पावा पावेंति'—चोरी करने के आदी बने हुए अपराधी को किन-किन भयंकर बंधनों और यातनाओं में से गुजरना पड़ता है; इसका निरूपण बड़ी कुशलता से शास्त्रकार ने किया है। वे बन्धन और उनसे होने वाली यातनाएँ इस प्रकार हैं—काठ का बना हुआ एक बन्धन विशेष, जिसे हड्डी या हाडी भी कहते हैं, खोड़ा भी कहते हैं; इसके बीच में जो छेद होते है, उनमें कैदी के दोनों पांव फंसा कर उसके ताला लगा दिया जाता है। इस बंधन से कैदी कहीं भी चल-फिर या उठ-बैठ नही सकता। लोहे की बेड़ियाँ पैरों में डाली जाती है, जिनके कारण कैदी स्वतंत्रतापूर्वक कहीं जा-आ नही सकता। बालों की बनी हुई मजबूत रस्सी से कैदी के हाथ-पैर आदि कस कर बांध दिये जाते हैं। यह रस्सी शरीर में चुभती है, जिससे शरीर पर चिह्न पड़ जाते हैं। 'कुदंड' काठ का एक मोटा डंडा होता है; जिसके सिरे पर रस्सी का

फंदा लगा रहता है , जिसे कैदी के गले में पहना दिया जाता है। वरत्र' (वरत) चमड़े की मोटी मजबूत रस्सी होती है, जिससे कैदी के सारे शरीर को कस कर बाध दिया जाता है। लोहे की साकल से कैदी के हाथ आदि बांध कर सिपाही उस कैदी को पकड़े रहता है, अथवा कभी-कभी स्तंभ आदि के साथ बांध भी देता है। हत्थदुय यानी 'हस्तान्दुक' कैदी के हाथ को बांधने का लोह का एक यत्र होता है। 'वर्ध्रपट्ट' चमड़े का वह पट्टा होता है, जिससे अपराधी के भुजा, जांघ आदि अवयवों को खूब कस कर वांध दिया जाता है। अथवा उस पट्टे को गीला करके कैदी के मस्तक पर कस कर लपेट दिया जाता है। ज्यों-ज्यों वह पट्टा सूखता जाता है,त्यों-त्यो वह कैदी के मस्तक में घुसता जाता है और इससे उसके मस्तक का मास बाहर निकल आता है। यह भयकर दंड उस अपराधी को दिया जाता है, जिसने भयंकर अपराध किया हो। इस महान् दुःख से पीडित हो कर वह काल के गाल में चला जाता है। 'दामक' पैरों को वांधने की एक रस्सी होती है। 'निप्कोटन' एक खास किस्म का बंधन होता है,जिससे कैदी के हाथपैर मोड़ कर बांधे जाते हैं। ये और इस प्रकार के और भी सैकड़ों बंधन के साधन जेलखाने मे होते है, जो कैदियो के दुःखों को वढ़ाने वाले होते हैं। जेल के अधिकारी अपराधियों को चुन-चुन कर ऐसी सजा देते हैं और उनके अंगोपांगों को तोड़-मरोड़ डालते हैं।

इतनी ही सजा दे कर वे विराम नही लेते ; अपितु वे और भी तरह-तरह की यातनाएँ कैदियों को देते हैं, जिनका उल्लेख शास्त्रकार करते हैं—उन अभागे कैदियों के पैर चौड़े करके काठ के एक यंत्र के छेदों में फंसा दिये जाते हैं। कई कैदी लोहे के पीजरो और भूमिगृहो मे डाल दिये जाते हैं, अंधे कुंए मे उतार दिये जाते हैं, जेल की कालकोठरी मे बद कर दिये जाते हैं ; कील, जूआ या गाड़ी का पहिया उनके गले आदि में वाध दिया जाता है। कितने ही कैदियो के सिर झुका कर उनके हाथों को जांघों के बीच में करके गठड़ी-सा बांध कर लुढ़का देते हैं ; कइयों को खंभे के साथ बांध देते हैं, कुछ कैदियों के पैर ऊपर में बाध कर उन्हें औंधे मुंह लटका देते हैं। इन और ऐसी ही विविध यातनाओं से पीडित कैदी गर्दन नीची करके मस्तक और छाती को बांध देने के कारण पूरी तरह श्वास भी नही ले सकते। उनका श्वास ऊपर ही रुक जाता है। वे हाफने लगते हैं। उनके पेट की आंतें बाहर निकल आती हैं। इतना होने पर भी उन अभागे कैदियो को बंदीघर के सिपाही चैन नही लेने देते। वे कभी तो चमड़े की रस्सी पानी मे भिगो कर उनके मस्तक पर पगड़ी की तरह बांध देते हैं ; कभी घुटने और कोहनी आदि शरीर के जोड़ों को काठ के यंत्र-विशेष

से बांध देते हैं ; कभी तपी हुई लोहे की सलाइयां उनके शरीर पर चुभोते हैं, कभी गर्मागर्म सूइयां उनके अंगों में भोंकते हैं ; कभी वसूले से काठ के समान उनके शरीर की चमड़ी छीलते हैं ; कभी उनके घावों पर नमक आदि खारे पदार्थ छिड़कते हैं, लालमिर्च आदि तीखे पदार्थ उनके गुप्त-अंगों में डालते हैं, कभी नीम आदि कड़वे पदार्थ उन्हें खिलाते है । कई कैदियों की छाती पर बड़ा भारी काठ रख कर उसे बहुत जोर से दबाते है ; जिससे उनकी हड्डी-पसली सब चूर-चूर हो जाती है। कभी मछली को पकड़ने के लोहे के कांटे के समान नोकदार लोहे के काले डंडे को छाती, पेट, गुदा और पीठ में ठोक कर भयंकर त्रास पहुंचाते हैं। इस प्रकार जेल के आज्ञापालक सेवक अपने अधिकारियों का हुक्म पाते ही विविध प्रकार की यातनाएं दे कर कैदियों के अग-प्रत्यंगो को अत्यन्त जर्जरित कर देते हैं। इससे उनके हृदय को बड़ा आघात पहुंचता है ।

जेल के कई सिपाही तो इतने क्रूर और अकारणद्वेषी होते हैं कि किसी कैदी का इतना भयंकर अपराध न हो, तो भी यमदूतो के समान अत्यन्त क्रूर बन कर वे उन अभागे कैदियों के मुंह थप्पड़ों के मारे लाल कर देते है; लोहे के कुश से उनके शरीर की हड्डियां तोड़ डालते हैं; घोड़े आदि को पीटने के चाबुकों से मार-मार कर उनकी पीठ सूजा देते हैं, जिससे उनके शरीर से खून टपकने लगता है; कभी लातों और घूंसो की चोट से मर्मस्थानो को व्यथित कर देते हैं; कभी चमड़े की मोटी रस्सी से सारे शरीर को बांध कर उन्हे नीचे लुढ़का देते हैं और ऊपर से बेंतें मार कर अधमरे कर देते हैं । उनके शरीर पर इतने घाव हो जाते हैं कि उनकी चमड़ी लटकने लगती है,उसमें से खून बहने लगता है । इतनी असह्य वेदना होती है,जो शब्दों से नही कही जा सकती । लोहे के बड़े-बड़े हथौड़ों से कूट कर बनाई हुई मजबूत बेड़ियों और हथकड़ियों से उनके हाथ-पैर जकड़ दिये जाते है । बेड़ियों के कारण वे इधर-उधर चल नही सकते । यातनाएं देने पर मुंह से बोल भी नही सकते । बोलने पर और ज्यादा मार पडती है । इस प्रकार जेल के कर्मचारियों द्वारा पराये धन पर हाथ साफ करने वाले पापी घोर नाना प्रकार की असह्य यातनाएं पाते है ।

'अदंतिदिया ·· धणतोसगा गहिया य जे नरगणा'—प्रश्न यह होता है कि जेल में कितनी भयंकर यातनाएं चोरों को दी जाती हैं; चोर स्वयं भी जानते हैं, फिर भी वे बार-बार चोरी के इस निन्दनीय मार्ग को क्यों अपनाते हैं ? अपनी अमूल्य जिंदगी को जानबूझ कर ऐसी आफत में क्यों डालते हैं ? वे ईमानदारी और स्वपरिश्रम से अर्थप्राप्ति का निरापद रास्ता क्यों नही अपनाते ? इसी बात का उत्तर शास्त्रकार 'अदंतिदिया' आदि पदों से देते हैं । वस्तुतः शास्त्रकार

मनुष्य के मन की तह तक पहुंच गए है। उनका यह स्पष्ट मनोविश्लेपण है कि जो व्यक्ति इन्द्रियों को जरा भी वश में नहीं कर सकते; चटपटी और मसालेदार चीजें तथा विविध मिठाइयाँ एवं मांस अडे आदि तामसी पदार्थों के खाने के शौकीन हैं, शराब, गांजा, भांग, अफीम आदि नशीली चीजों के पीने के आदी है, बढ़िया भड़कीले कपड़े पहनने के लिए लालायित रहते हैं; हाथ-पैर हिलाना नहीं चाहते; आलसी बन कर बैठे-बैठे खाना चाहते हैं, नाटक, सिनेमा, खेलतमाशे, रंडियों के नाच-गान आदि देखने—सुनने में मस्त रहते हैं या स्पर्शेन्द्रिय के वशीभूत होकर पराई स्त्रियो को ताकते फिरते है,जिन्हें उनके रूप,सौन्दर्य, हावभाव,वाणी, अंगविन्यास आदि देखने-सुनने का व्यसन लगा है, अपने शरीर को मोहवश वारवार सजाते हैं, तेलफूलेल लगाते हैं, सावुन से रगड-रगड़ कर धोते हैं; नई-नई सुन्दरियों के साथ सहवास करने के लिए उत्सुक रहते हैं;वे अक्सर अपनी इप्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिए सभी उपाय अजमाते हैं; मुफ्त का धन कही से मिल जाय, इसी फिराक मे रात-दिन रहते है। ऐसे व्यक्तियों को अपनी उपर्युक्त वासनाएँ, कामनाएँ और लालसाएँ पूरी करने के लिए धन जुटाना तो अवश्यम्भावी है। वे इन सब इन्द्रियविपयों की पूर्ति के लिए बिना मेहनत किये धन कहां से पायेंगे ? अतः अन्ततः वे चोरी का ही रास्ता अपनाते हैं। वे चोरी के इन बुरे नतीजों को बखूबी जानते है। लेकिन इन सब बुरी आदतों के शिकार जो बन गये है, इन सब बुरे व्यसनो का चस्का जो लग गया है। इसलिए वे जानते-बूझते हुए भी चोरी के खतरनाक मार्ग को अपनाते हैं। चोरी से प्राप्त धन के द्वारा अपनी इन सब बुरी आदतो को पालते-पोसते हुए वे रगे हाथों पुलिस द्वारा कभी न कभी पकड़ लिये जाते हैं और पूर्वोक्त यातनाओ के भागी बनते हैं।

पुणरवि ते कम्मवुयिग्रद्धा———इसीलिए शास्त्रकार ने इस पंक्ति में स्पष्ट कर दिया है कि इतनी यातनाएँ सह लेने के पश्चात् भी कई लोग चोरी को नहीं छोड़ते और मोह एव अज्ञान से मूढ बन कर अपने दुर्व्यसनों को पालने-पोसने के लिए ; फिर चोरी करते हैं, और फिर पकड़े जाते हैं। संसार में बहुधा अभाव के कारण चोरियाँ हुआ करती हैं। चोरी का जन्म भी सच पूछा जाय तो अभाव के कारण हुआ है। यह बात दूसरी है कि आगे चल कर मनुष्य या तो अपनी लालसाओं और आदतों का शिकार बन कर चोरी करने लगे; या मुफ्त में धन पाने का चस्का लग जाने के कारण पेशेवर चोर बन जाए।

कई पेशेवर चोर नही होते; वे अपने स्त्री और बालबच्चों को भूख से बिलखते देख कर त्रस्त हो जाते हैं,किन्तु उदरपूर्ति के लिए अन्य कोई रोजगार धंधा नही मिलता है,तो चोरी का मार्ग अपनाते हैं। ऐसे लोग सरकार के द्वारा दी जाने वाली सजा से घबरा कर पुनः इस दुष्कर्म को नही करते। लेकिन जिनकी पूर्वोक्त महेच्छाएँ पूरी करने का भूत

सवार हो जाता है; वे चोरी किये बिना नही रहते। मध्ययुग से समाज-व्यवस्था में कुछ ऐसी सामाजिक खर्चीली कुरूढियां घुस गई हैं कि प्रामाणिकता या ईमानदारी से पैसा कमाने वाले मनुष्य के लिए जिन्हे निभाना बहुत ही कठिन होता है। इस फिजूल खर्ची की पूर्ति के लिए मनुष्य चारों तरफ हाथ-पैर मारता है। जब किसी तरह से पूर्ति होती नही देखता तो वह चोरी आदि अनैतिक उपायों का सहारा लेता है। चोरी में प्रवृत्त होने वाले इन तीन कोटि के व्यक्तियों के अलावा चौथे पेशेवर चोर होते हैं, जो चोरी करने में सिद्धहस्त होते हैं; पकड़े जाने पर भी अधिकारियों को रिश्वत देकर छूट जाते हैं। फिर भी 'सौ सुनार की तो एक लुहार की' इस कहावत के अनुसार कभी न कभी वे रंगे हाथों पकड़े ही जाते हैं और उन्हें इन भयंकर यातनाओं का सामना करना पड़ता है। मगर वे बराबर सजा पाने पर भी इतने ढीठ हो जाते है कि फिर चोरी के निन्द्यकर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं। इतना जरूर है कि उनके लिए चोरी बहुत ही महंगी और कष्टसाध्य साबित होती है। वे इतना समय और इतनी शक्ति यदि ईमानदारी से कमाने में लगाते तो उनका जीवन सुखी और शान्तिमय होता। पर जिसको एक बार चोरी की चाट लग गई,मुफ्त मे धन पाने की धुन सवार हो गई, वह इन सजाओं की कोई परवाह नहीं करता। जैसे पतंगा रोशनी देखते ही उस पर टूट पड़ता है, वैसे ही ऐसे धनलोलुप लोग सम्पत्ति को देखते ही उसे हड़पने के लिए टूट पडते है, अपनी जान तक को न्योछावर कर देते हैं।

'उवणीया रायकिंकराण ··· णियंगमि खुत्ता'—ऐसे पेशेवर या ढीठ चोरों को वेष बदलने, छलकपट और झूठफरेब करने एवं हजारो झूठ बोल कर मीठी-मीठी बातों से चोरो के मन की बात निकलवाने में प्रवीण वधशास्त्रज्ञ राजपुरुषों (सिपाहियो) के हवाले किया जाता है। वे उन भयंकर चोरो को न्यायाधीश द्वारा सुनाई हुई प्राणदंड की सजा को अमली रूप देते हैं। प्राणदंड देने से पहले उस चोर के साथ कितना निर्दय व्यवहार किया जाता है; तथा कैसी-कैसी भयंकर यातनाएं दी जाती हैं, इसका शास्त्रकार ने विशद वर्णन किया है। यहां उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं। वध्यस्थान में ले जाते समय की दशा का वर्णन भी बडा रोमांचक है। जिनको प्राणदण्ड दिया जाता है,उनके गले में एक ढोल बांधा जाता है,जो प्राय. उन्ही से बजवाया जाता है। ढोल बजाने या चलने में सुस्ती करने पर वध करने के लिए नियुक्त राजकिंकर (जल्लाद) उन्हें जोर से धक्का देते हुए पीछे से धकेलते जाते हैं। वध्य-भूमि पर ले जाते समय गुस्से से अत्यन्त लाल-लाल आंखें किए जल्लाद यमदूत के समान उनकी मुश्कें खूब कस कर बांधते हैं तथा उन्हें वध्य (मौत की सजा पाने वाले) की खास पोशाक पहनाते हैं, उन्हें लाल कनेर के खिले हुए फूलों की माला पहनाते हैं, जो वध्यदूत के समान वध्य को पहिचानने का एक चिह्न होती है। फिर

कोयला पीस कर या काला रंग उनके हाथ, पैर और मुँह आदि अंगों पर पोता जाता है। उनके सिर के बाल उड़ती हुई धूल से भरे होते है। सिर के बाल कुसुम्भे के लाल रंग या सिंदूर से लाल कर दिये जाते हैं। मृत्यु के डर से उनका सारा शरीर चिकने पसीने की धारा से लथपथ हो जाता है। उन्हें अब अपने जीने की आशा बिलकुल नही रहती। वधिको (जल्लादों) को देख कर भय के मारे वे कापने लगते है; उनके पैर लड़खड़ाने लगते हैं। उन्हें देखने के लिए चारों ओर से पागलों की तरह नरनारियों की भीड़ उनके चारों ओर जमा हो जाती है। नगरनिवासी भी उन्हें देखने के लिए उमड़ पड़ते हैं। उस समय प्यास के मारे उनके कंठ, ओठ जीभ और तालु सूख जाते है और वे पानी की याचना करते हैं, लेकिन निर्दय सिपाही उन्हे एक घूंट भी पानी नही देते।

जिस समय उनको वध्यवेष पहना कर नगर के बीचोबीच हो कर ले जाया जाता है, उस समय वे दीनातिदीन, रक्षाहीन, शरणहीन, अनाथ, अबांधव, बन्धुओं द्वारा परित्यक्त और असहाय हो कर चारों दिशाओं में कातर दृष्टि से देखते है। मौत के भय से वे अत्यन्त उद्विग्न हो जाते हैं।

मृत्युदंड के विविध रूप—उनमें से कई चोरों के अंग के तिल-तिल के समान छोटे-छोटे टुकड़े किये जाते है। शरीर के एक भाग से काटे हुए वे टुकड़े खून से लिपटे होते है, जो उन्हें ही खिलाये जाते हैं।

कई अपराधी चोरो को पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़ो से भरे हुए चमड़े के थैलों से पीटा जाता है; अथवा फटे हुए बांसों से मार-मार कर उनका अंग-अंग ढीला कर दिया जाता है।

कई अपराधियों के हाथ-पैर वध्यभूमि में काट लिये जाते हैं और पेड़ की शाखाओ से बांध कर लटका दिये जाते हैं; जहां वे अत्यन्त करुण विलाप करते हैं। कई अपराधियों के दोनों हाथ और दोनों पैर बांध कर पहाड़ की चोटी पर से उन्हें नीचे लुढ़का दिया जाता है। बहुत ऊँचे से गिरने तथा ऊबड़-खाबड़ पत्थरों पर गिरने के कारण उनका शरीर चूर-चूर हो जाता है।

कई पापकर्म करने वाले चोर हाथी के पैरों तले कुचलवा कर मौत के घाट उतार दिये जाते हैं।

कुछ चोरों के अंग-प्रत्यंग भोंथरे कुल्हाड़े से धीरे-धीरे काटे जाते है; जिससे उन्हें बहुत ही वेदना होती है और उनके प्राण भी जल्दी नही निकलते।

कई दुष्ट चोरों के कान, नाक और ओठ काट लिये जाते हैं, आँखें निकाल ली जाती हैं, दांत और अंडकोश उखाड़ लिये जाते हैं, उनकी नसें ढीली कर दी जाती हैं; और फिर उन्हें वध्यभूमि में ले जाकर तलवार के घाट उतार दिया जाता है।

कुछ चोरों के हाथ-पैर काट कर उन्हें देश निकाला दे दिया जाता है।

कुछ चोरों को जब वध्यस्थल के द्वार पर ले जाया जाता है, तब वे मौत के भय से कांपते रहते हैं। निर्दय जल्लाद उन्हें शूली की तीक्ष्ण नोंक पर चढ़ा देता है जिससे उनका शरीर विदीर्ण हो जाता है।

कई परधनहरण करने वालों को आजन्म कैद की सजा दी जाती है; जिससे वे जिंदगीभर वहाँ सड़ते रहते हैं। उन्हें कालकोठरी में हथकड़ियाँ—बेड़ियाँ डाल कर पटक दिया जाता है। उनका सब धन जप्त कर लिया जाता है। वे अपनी स्त्री और अपने बाल बच्चों के वियोग में जिंदगीभर झूरते रहते हैं,उनके मित्र, स्वजन आदि उनका तिरस्कार करते हैं, बहुत से लोगों द्वारा वे धिक्कारे जाते हैं, लज्जित किये जाते हैं। वे वहाँ सर्दी, गर्मी की तीव्र वेदना सहते हैं,उनका मुँह पीला पड़ जाता है, चेहरे का तेज खत्म हो जाता है। उनकी सभी आशाएँ धूल में मिल जाती है। वहाँ मनचाही वस्तु पाना तो दूर रहा, मुँह पर भी नही ला सकते। उनका शरीर अत्यन्त मलन और दुर्बल हो जाता है। खांसी के मारे रात-दिन खों-खों करते रहते हैं; रातदिन एक ही अंधेरी कोठरी में रहने के कारण कोढ आदि बीमारियाँ उन्हें घेर लेती है। उन्हें खाना हजम नहीं होता। उनके केश नख और दाढी-मूछों के बाल बहुत बढ जाते हैं। वहाँ वे अपने ही टट्टी-पेशाब से लथपथ रहते हैं। इस प्रकार जीते हुए भी वे मरे के समान जेलखाने में नारकीय जीवन बिताते हैं और वहीं रिब-रिब कर मर जाते हैं।

चोर और चौर्य-कर्म की उत्पत्ति के प्रकार—संसार में चोर भी एक प्रकार के नहीं होते। यानी केवल चोरी करने वाले ही चोर नहीं कहलाते; अपितु चोरी के दुष्कर्म में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मदद करने वालों की गणना भी चोरों में की जाती है। वे कुल मिला कर सात हैं। कहा भी है—

'चौरश्चौरापको मंत्री, भेदज्ञः काणकक्रयी।
अन्नदः स्थानदश्चैव, चौरः सप्तविधः स्मृतः॥'

अर्थात्—१—'चोरी करने वाला, २—चोरी करवाने वाला, ३—चोरी करने की सलाह देने वाला, ४—भेद बताने वाला, ५—चोरी का माल कम कीमत में खरीदने वाला, ६—चोरों को खाने के लिए अन्न देने वाला, और ७—उन्हें छुपने के लिए स्थान देने वाला; ये सातों चोर कहलाते हैं।'

इसी प्रकार चोरी सरीखे दुष्कर्म के होने में निमित्त कारण १८ हैं। उसके लिए, देखिए, ये प्राचीन श्लोक—

भलनं कुशलं तर्जा, राजभागोऽवलोकनम्।
अमार्गदर्शनं शय्या पदभंगस्तथैव च॥ १॥

विश्रामः पादपतनमासनं गोपनं तथा।
खण्डस्य खादनं चैव, तथाऽन्यन् माहराजिकम् ॥२॥
पद्याऽग्न्युदक - रज्जूनां प्रदानं ज्ञानपूर्वकम्।
एताः प्रसूतयो ज्ञेयाः, अष्टादश मनीषिभिः ॥ ३ ॥

अर्थात्—(१) भलनं - आप डरें नहीं,मैं आपकी सहायता करूँगा, ऐसे वचनों द्वारा चोर को प्रोत्साहन देना, (२) कुशलं—मिलने पर चोरों से कुशल मंगल पूछना, (३) तर्जा—चोरों को हाथ आदि से इशारा करना, (४) राजभाग—राजा का देय भाग न देना, (५) अवलोकन—चोरी करते हुए देखकर भी उपेक्षा करना, (६) अमार्गदर्शन—'चोर किधर गये हैं ?' ऐसा पूछने पर जानते हुए भी दूसरा रास्ता बताना या ठीक न बतलाना; (७) शय्या—चोरों को सोने के लिए शय्या, खाट आदि देना, (८) पदभंग—चोरों के पैरों के निशान (पशु आदि चलाकर) मिटा देना, ताकि पता न लगे, (९) विश्राम—अपने घर में चोरों को विश्राम देना, (१०) पादपतन—चोरों को प्रणाम आदि करके या जाहिर में प्रतिष्ठा देकर उनका सम्मान करना, (११) आसन—'आइये बैठिये' इत्यादि कह कर चोरों को आसन देना, (१२) गोपन—चोरों को अपने यहाँ छिपाना, अथवा किसी के पूछने पर दूसरी बातों में लगा कर चोरी पर पर्दा डालना, (१३) खण्डखादन—चोरों को प्रेमपूर्वक मिठाइयाँ खिलाना, या आग्रहपूर्वक भोजन कराना, (१४) माहराजिक—चोरों को 'महाराज' !,सरकार !,ठाकुर साहब !,हजूर!, बाबूजी ! इत्यादि आदरसूचक शब्दों से बुलाना अथवा लोगों में उस चोरी की जानकारी हो जाने पर चोरी का माल दूसरे राष्ट्र में जाकर बेच देना, (१५) पद्या-प्रदान—बहुत दूर से आने के कारण थके हुए चोरों के लिए पैर धोने हेतु गर्म पानी व मालिश के हेतु तेल आदि वस्तुएँ देना, (१७) अग्निदान—चोरों को भोजनादि बनाने के लिए अग्नि देना, (७) उदकदान—पीने के लिए उन्हें ठंडा पानी देना और (१७) रज्जुप्रदान—चोरी करके लाये हुए पशुओं को बाँधने के लिए रस्सी आदि देना। इन १८ दोषों को बुद्धिमान चोरी की प्रसूतियाँ (उत्पत्ति कारण) समझें। चोरों के साथ जानबूझ कर पूर्वोक्त व्यवहार करने वाले को ये १८ दोष लगते हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने संकेत किया है—'अट्ठारसकम्मकारणा' यानी चौर्यकर्म के ये १८ कारण हैं।

इन १८ कारणों में से किसी भी कारण का पता लगते ही पुलिस का सिपाही चोरी के अपराध में उसे गिरफ्तार कर सकता है; और पूर्वोक्त प्रकार का कठोर दंड उसे दे सकता है।

चोरी के कटुफल : अन्य गतियों में

पूर्वोक्त मूलपाठ में शास्त्रकार ने चोरी करने वालों को मनुष्यलोक में क्या-क्या दंड मिलता है ? उनकी मानसिक-शारीरिक स्थिति कितनी भयंकर होती है ?

कुसंठिया, कुरूवा, बहुकोहमाणमायालोभा, बहुमोहा, धम्मसन्न-सम्मत्त-परिब्भट्ठा, दारिद्दोवद्दवाभिभूया निच्चं परकम्मकारिणो, जीवणत्थरहिया, किविणा, परपिंडतक्कका, दुक्खलद्धाहारा, अरसविरसतुच्छकयकुच्छिपूरा, परस्स पेच्छंता, रिद्धिसक्कार-भोयणविसेससमुदयविधिं निंदंता अप्पकं कयंतं च परिवयंता, इह य पुरेकडाइं कम्माइं पावगाइं विमणसो सोएण डज्झमाणा, परिभूया होंति सत्तपरिवज्जिया य छोभा सिप्पकलासमयसत्थ-परिवज्जिया, जहाजायपसुभूया, अवियत्ता, णिच्चं नीयकम्मोप-जीविणो, लोयकुच्छणिज्जा मोघमणोरहा, निरासबहुला, आसा-पासपडिबद्धपाणा, अत्थोपायाणकामसोक्खे य लोयसारे होंति। अफलवंतका य सुट्ठु वि य उज्जमंता तद्दिवसुज्जुत्तकम्मकय-दुक्खसंठवियसित्थपिंडसंचया, पक्खीणदव्वसारा, निच्चं अधुव-धणधण्णकोसपरिभोगविवज्जिया, रहियकामभोगपरिभोगसव्व-सोक्खा, परसिरिभोगोवभोगनिस्साणमग्गणपरायणा, वरागा अकामिकाए विणेंति दुक्खं, णेव सुहं णेव निव्वुतिं उवलभंति, अच्चंतविपुलदुक्खसयसंपलित्ता परस्स दव्वेहिं जे अविरया।

एसो सो अदिण्णादाणस्स फलविवागो इहलोइओ, पार-लोइओ, अप्पसुहो, बहुदुक्खो, महब्भओ, बहुरयप्पगाढो, दारुणो, कक्कसो, असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चति, न य अवेदयित्ता अत्थि उ मोक्खोत्ति; एवमाहंसु णायकुलणंदणो महप्पा जिणो उ वीरवर-नामधेज्जो कहेसी य अदिण्णादाणस्स फलविवागं। एयं तं ततियं पि अदिन्नादाणं हरदहमरणभयकलुसतासण-परसंतिकभेज्जलोभमूलं एवं जाव चिरपरिगतमणुगतं दुरंतं ॥ ततियं अधम्मदारं समत्तं तिबेमि ॥ ३ ॥ (सू० १२)

संस्कृतच्छाया

तत्रैव मृता अकामका बद्ध्वा पादयोराकृष्टाः खातिकायां क्षिप्तास्तत्र च वृकशुनकश्रृगालकोलमार्जारवृन्द (चंड) सन्दशकतुंडपक्षिगणविविधमुखशतविलुप्तगात्राः कृतविभागाः, केचित् कृमिवन्तश्च कुथितदेहा अनिष्टवचनैः शाप्यमानाः—'सुष्ठु कृतं यन्मृतः पाप' इति तुष्टेन जनेन हन्यमाना लज्जापनकाश्च भवन्ति स्वजनस्यापि च दीर्घकालं, मृताः सन्तः,पुनः परलोकसमापन्ना नरके गच्छन्ति निरभिरामे, अंगारप्रदीप्तककल्पात्यर्थशीतवेदनाऽसातोदीर्णसततदुःखशतसमभिद्रुते । ततोऽप्युद्धृताः सन्तः पुनरपि प्रपद्यन्ते तिर्यग्योनिम् । तत्राऽपि निरयोपमां अनुभवन्ति वेदनां तेऽनन्तकालेन । यदि नाम कथंचिद् मनुजभावं लभन्ते नैकेषु निरयगतिगमनतिर्यग्भवशतसहस्रपरिवर्तेषु तत्रापि भवन्त्यनार्या नीचकुलसमुत्पन्नाः । आर्यजनेऽपि लोकबाह्याः तिर्यग्भूताश्च अकुशलाः कामभोगतृषिता यत्र निबध्नन्ति निरयवर्तिभवप्रपंचकरणप्रणोदीनि पुनरपि संसारावर्त्तनिमीमूलानि धर्मश्रुतिविवर्जिता अनार्याः क्रूरा मिथ्यात्वश्रुतिप्रपन्नाश्च भवन्ति एकान्तदंडरुचयो वेष्टयन्तः कोशिकाकारकीट इव आत्मानम् अष्टकर्मतन्तुघनबन्धनेन । एवं नरकतिर्यग्नरामरगमनपर्यन्तचक्रवालं जन्मजरामरणकरणगंभीरदुःखप्रक्षुभितप्रचुरसलिलं, संयोगवियोगवीचीचिन्ताप्रसंगप्रसृतवधबंधमहाविपुलकल्लोलकरुणविलपितलोभकलकलायमानबोलबहुलम्, अवमाननफेनं, तीव्रखिसन (निन्दा) निरन्तरप्रभूतरोगवेदनापराभवविनिपातपरुषघर्षणसमापतितकठिनकर्मप्रस्तरतरंगरंगन्नित्यमृत्युभयतोयपृष्ठं, कषायपातालसंकुलं, भवशतसहस्रजलसंचयं, अनन्तम्, उद्वेगजनकम्, अनर्वाक्पारं, महाभयं, भयकरं, प्रतिभयम्, अपरिमितमहेच्छकलुषम्, अतिवायुवेगोद्धन्यमानाशापिपासापाताल - कामरतिरागद्वेषबंधनबहुविधसंकल्पविपुलदकरजोरयोऽन्धकारम्, मोहमहावर्त्तभोगभ्राम्यद्गुप्यदुच्छलद्बहुगर्भवासप्रत्यवनिवृत्तपानीयं,प्रधावितव्यसनसमापन्नरुदितचंडमारुतसमाहतामनोज्ञवीची - व्याकुलितभंगस्फुटदनिष्टकल्लोलसंकुलजलं, प्रमादबहुचंडदुष्टश्वापदसमाहतोद्धावत्पूरघोरविध्वंसानर्थबहुलम्, अज्ञानभ्राम्यन्मत्स्यपरिहस्तं (दक्षं), अनिभृतेन्द्रियमहामकर - त्वरितचरितचोक्षुभ्यमाणसंतापनित्यक (निचय) - चलच्चपलचंचलात्राणाशरणपूर्वकृतकर्मसंचयोदीर्णवज्र्यवेद्यमानदुःखशतविपाकघूर्णज्जल-

पर (मणुयभवं) मनुष्यभव-मानवजन्म (लभंति) पाते हैं (तत्थ वि य) तो भी वहां पर (नीचकुलसमुप्पणा) नीच कुल में पैदा होते हैं, (अणारिया) अनार्य (भवंता) होते हैं, (आरियजणे वि) कदाचित् आर्यमनुष्यों में जन्म ले लें तो भी (लोकबज्झा) लोगों से बहिष्कृत (य) और (तिरिक्खभूया) पशुओं के जैसे (अकुसला) कुशलता से रहित विवेकहीन—जड़मूढ़, (कामभोगतिसिया) कामभोगों की अत्यधिक लालसा वाले होते हैं। (जहिं) जहां (निरयवत्तणिभवप्पवंचकरणपणोल्लिया) नरक गति में अनेकों जन्म मरण करने के कारण उसी नरक-गमन के योग्य पापकर्म की प्रवृत्ति से प्रेरित होते हैं, (पुणोवि) फिर (संसारावत्तणेममूले) संसार—जन्ममरण के चक्र—में परिभ्रमण कराने के मूल कारण दुःखजनक अशुभ कर्मों का (निबंधंति) दृढ़ बन्धन करते हैं तथा (धम्मसुतिविवज्जिया) धर्मशास्त्र के श्रवण और ज्ञान से रहित (अणज्जा) अनार्य—श्रेष्ठ आचरणों से दूर (कूरा) क्रूर (य) और (मिच्छत्तसुतिपवन्ना) मिथ्यात्व के प्रतिपादक शास्त्र को स्वीकार करने वाले (एगंतदंडरुइणो) सर्वथा दण्डशक्ति—हिंसा में ही रुचि—आस्था रखने वाले (कोसिकाकारकीडोव्व) रेशम के कीड़े के समान, (अट्ठकम्मतंतुघणबंधणेण) आठ कर्मरूपी तंतुओं के गाढ़ बंधन से (अप्पगं) अपनी आत्मा को, (वेढेंता) जकड़ लेते हैं लपेट लेते हैं। (एवं) इस प्रकार (उत्तत्थ-सुण्णमसयण्णसंपउत्ता) अत्यन्त उग्र त्रास से त्रस्त, कर्तव्यशून्य, भय-आहारादि संज्ञाओं से युक्त वे जीव (निच्चं) सदा के लिए (संसारसागरं) संसाररूपी समुद्र में ही, (वसंति) निवास करते हैं—संसारसागर में ही परिभ्रमण करते रहते हैं, (नरयतिरिनरअमरगमणपेरंतचक्कवालं) नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतियों में गमन करना ही संसार सागर की बाह्य परिधि है, (जम्मजरामरणकरणगंभीरदुक्खपक्खुभियपउरसलिलं) जन्म, जरा, मृत्यु के कारण होने वाला गंभीर दुःख ही जिस संसार-सागर का क्षुब्ध प्रचुर जल है, (संजोगविओगवीचीचिंतापसंगपसरियवह-बंधमहल्लविपुलकल्लोलकलुणविलवितलोभकलकलितबोलबहुलं) जिस संसारसमुद्र में संयोग और वियोगरूपी लहरें हैं, निरन्तर चिन्ता ही उनका फैलाव है, वध और बंधन ही जिसमें लंबी-लंबी विस्तीर्ण कल्लोल-तरंगें हैं तथा करुणापूर्ण विलाप और लोभ की कलकल ध्वनि का प्राचुर्य है। (अवमाणणफेणं) जहां अपमानरूपी फेन—झाग हैं, (तिव्वखिंसणपुलंपुलप्पभूयरोगवेयणपरामवविणिपातफरुसधरिसणसमावडियकठिणकम्मपत्थरतरंगरंगंतनिच्चमच्चुभयतोयपट्ठं) तीव्र निन्दा, बारबार उत्पन्न होने वाले रोग, वेदना, तिरस्कार, अपमान, नीचे गिरा देना, कठोर झिड़कियां—डांटडपट जिनसे प्राप्त होते हैं, ऐसे

कठोर ज्ञानावरणीय आदि कर्मरूपी पत्थरों से उठी हुई तरंगों के समान चंचल एवं हमेशा मृत्यु और भयरूप संसार-समुद्र के जल का तल—सतह है। (कसायपायाल-संकुलं) जो संसारसागर कषायरूप पातालकलशों से व्याप्त है, (भवसयसहस्सजलसंचय) लाखों भवों जन्ममरणों की परम्परा ही उसकी अगाध जलराशि है, (अणंतं) जो अनन्त है (उव्वेयजणयं) उद्वेगजनक है (अणोरपारं) तटरहित होने से आरपाररहित है, (महब्भयं) दुस्तर होने से महाभयानक है, (भयकरं) भय पैदा करने वाला है, (पइभयं) प्रत्येक प्राणी के हृदय में एक दूसरे प्राणी द्वारा प्रतिभय पैदा करने वाला है, (अपरिमियमहिच्छकलुसमतिवाउवेगउद्धम्ममाणआसापिवासपायालकामरतिरागदोस-बंधणबहुविहसंकप्पविपुलदगरयरयंधकारं) बड़ी-बड़ी असीम इच्छाओं और मलिन बुद्धिरूप हवाओं के प्रचंड वेग से उत्पन्न हुए तथा आशा [अप्राप्त पदार्थ को पाने की सम्भावना] और पिपासा [प्राप्त अर्थ को भोगने की आकांक्षा] रूप पाताल—समुद्रतल से कामरति-शब्दादिविषयों के प्रति राग और द्वेष के बन्धन के कारण अनेक प्रकार के संकल्परूपी प्रचुर जलकणों के वेग से जो अन्धकारमय हो रहा है, (मोहमहावत्तभोगभममाणगुप्पमाणुच्छलंतबहुगब्भवासपच्चोणियत्तपाणियं) जिस संसार समुद्र के जल में प्राणी मोहरूप महान भंवरों में भोगरूपी गोल चक्कर खा रहे हैं, व्याकुल होकर उछल रहे हैं तथा बहुत-से बीच के हिस्से में फैलने के कारण ऊपर उछल कर फिर नीचे गिर रहे हैं, (पधावितवसणसमावन्नरुन्नचंडमारुयसमाहयामणुन्न-वीचीवाकुलितभंगफुट्टंतनिट्ठकल्लोलसंकुलजलं) जिस समुद्र में इधर-उधर दौड़ते हुए व्यसनों से ग्रस्त व्यसनी प्राणियों के रुदनरूपी प्रचण्ड वायु से परस्पर टकराती हुई अमनोज्ञ लहरों से व्याकुल तथा तरंगों से फूटता हुआ, चंचल कल्लोलों से व्याप्त जल है, (पमादबहुचंडदुट्ठसावयसमाहयउद्धायमाणपूरघोरविद्धंसणत्थबहुलं) जो प्रमादरूप अत्यन्त भयंकर दुष्ट हिंसक जन्तुओं से सताये गये तथा नाना चेष्टाओं से उठते हुए मनुष्यादि या मत्स्यादि जंतुओं के समूह का विध्वंस करने वाले घोर अनर्थों से परिपूर्ण है, (अण्णाणभमंतमच्छपरिहत्थं) जिसमें भयंकर अज्ञानरूपी बड़े-बड़े मच्छ घूम रहे हैं, (अनिहुतिंदिय-महामगर-तुरियचरिय-खोखुब्भमाणसंतावनिचयचलंत-चवलचंचल-अत्ताणऽसरणपुव्वकयकम्मसंचयोदिन्नवज्जवेइज्जमाणदुहसयविपाकघुन्नंत-जलसमूहं) अनुपशान्त इन्द्रियों वाले जीवरूपी महामगरों की शीघ्र चेष्टाओं से जो अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा है, तथा जिसमें संतापों का समूह है, ऐसा प्राणियों के द्वारा पूर्वसंचित पाप-कर्मों के उदय से प्राप्त कर्मों का भोगा जाने वाला फलरूपी घूमता हुआ जलसमूह है, जो चपला के समान अत्यन्त चंचल और चलता रहता है, त्राण-

पर (मणुयभवं) मनुष्यभव-मानवजन्म (लभंति) पाते हैं (तत्थ वि य) तो भी वहां पर (नीचकुलसमुप्पणा) नीच कुल में पैदा होते हैं, (अणारिया) अनार्य (भवंता) होते हैं, (आरियजणे वि) कदाचित् आर्यमनुष्यों में जन्म ले लें तो भी (लोकबज्झा) लोगों से बहिष्कृत (य) और (तिरिक्खभूया) पशुओं के जैसे (अकुसला) कुशलता से रहित विवेकहीन—जड़मूढ़, (कामभोगतिसिया) कामभोगों की अत्यधिक लालसा वाले होते हैं। (जहिं) जहाँ (निरयवत्तणिभवप्पवंचकरणपणोल्लिया) नरक गति में अनेकों जन्म मरण करने के कारण उसी नरक-गमन के योग्य पापकर्म की प्रवृत्ति से प्रेरित होते हैं, (पुणोवि) फिर (संसारावत्तणेममूले) संसार—जन्ममरण के चक्र—में परिभ्रमण कराने के मूल कारण दुःखजनक अशुभ कर्मों का (निबंधंति) दृढ़ बन्धन करते हैं तथा (धम्मसुतिविवज्जिया) धर्मशास्त्र के श्रवण और ज्ञान से रहित (अणज्जा) अनार्य—श्रेष्ठ आचरणों से दूर (क्रूरा) क्रूर (य) और (मिच्छत्तसुतिपवन्ना) मिथ्यात्व के प्रतिपादक शास्त्र को स्वीकार करने वाले (एगंतदंडरुइणो) सर्वथा दण्डशक्ति—हिंसा में ही रुचि—आस्था रखने वाले (कोसिकाकारकीडोव्व) रेशम के कीड़े के समान, (अट्ठकम्मतंतुघणबंधणेण) आठ कर्मरूपी तंतुओं के गाढ़ बंधन से (अप्पगं) अपनी आत्मा को, (वेढेंता) जकड़ लेते हैं लपेट लेते हैं। (एवं) इस प्रकार (उत्तत्य-सुणभसयण्णसंपउत्ता) अत्यन्त उग्र त्रास से त्रस्त, कर्तव्यशून्य, भय-आहारादि संज्ञाओं से युक्त वे जीव (निच्चं) सदा के लिए (संसारसागरं) संसाररूपी समुद्र में ही, (वसंति) निवास करते हैं—संसारसागर में ही परिभ्रमण करते रहते हैं, (नरयतिरियनरअमरगमणपेरंतचक्कवालं) नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतियों में गमन करना ही संसार सागर की बाह्य परिधि है, (जम्मजरामरणकरणगंभीरदुक्खपक्खुभियपउरसलिलं) जन्म, जरा, मृत्यु के कारण होने वाला गंभीर दुःख ही जिस संसार-सागर का क्षुब्ध प्रचुर जल है, (संजोगविजोगवीचीचितापसंगपसरियवह-बंधमहल्लविपुलकल्लोलकलुणविलवितलोभकलकलितबोलबहुलं) जिस संसारसमुद्र में संयोग और वियोगरूपी लहरें हैं, निरन्तर चिन्ता ही उनका फैलाव है, वध और बंधन ही जिसमें लंबी-लंबी विस्तीर्ण कल्लोल-तरंगें हैं तथा करुणापूर्ण विलाप और लोभ की कलकल ध्वनि का प्राचुर्य है। (अवमाणणफेणं) जहाँ अपमानरूपी फेन—झाग हैं, (तिव्वखिसणपुलंपुलप्पभूयरोगवेयणपराभवविणिवातफरुसधरिसणसमावडियकठिणकम्मपत्थरतरंगरंगंतनिच्चमच्चुभयतोयपट्ठं) तीव्र निन्दा, बारबार उत्पन्न होने वाले रोग, वेदना, तिरस्कार, अपमान, नीचे गिरा देना, कठोर झिड़कियां—डांटडपट जिनसे प्राप्त होते हैं, ऐसे

कठोर ज्ञानावरणीय आदि कर्मरूपी पत्थरों से उठी हुई तरंगों के समान चंचल एवं हमेशा मृत्यु और भयरूप संसार-समुद्र के जल का तल—सतह है। (कसायपायालसंकुलं) जो संसारसागर कषायरूप पातालकलशों से व्याप्त है, (भवसयसहस्सजलसंचय) लाखों भवों जन्ममरणों की परम्परा ही उसकी अगाध जलराशि है, (अणंतं) जो अनन्त है (उव्वेयजणयं) उद्वेगजनक है (अणोरपारं) तटरहित होने से आरपाररहित है, (महब्भयं) दुस्तर होने से महाभयानक है, (भयकरं) भय पैदा करने वाला है, (पइभयं) प्रत्येक प्राणी के हृदय में एक दूसरे प्राणी द्वारा प्रतिभय पैदा करने वाला है, (अपरिमियमहिच्छकलुसमतिवाउवेगउद्धम्ममाणआसापिवासपायालकामरतिरागदोसबंधणबहुविहसंकप्पविपुलदगरयरयंधकारं) बड़ी-बड़ी असीम इच्छाओं और मलिन बुद्धिरूप हवाओं के प्रचंड वेग से उत्पन्न हुए तथा आशा [अप्राप्त पदार्थ को पाने की सम्भावना] और पिपासा [प्राप्त अर्थ को भोगने की आकांक्षा] रूप पाताल—समुद्रतल से कामरति-शब्दादिविषयों के प्रति राग और द्वेष के बन्धन के कारण अनेक प्रकार के संकल्परूपी प्रचुर जलकणों के वेग से जो अन्धकारमय हो रहा है, (मोहमहावत्तभोगभममाणगुप्पमाणुच्छलंतबहुगब्भवासपच्चोणियत्तपाणियं) जिस संसार समुद्र के जल में प्राणी मोहरूप महान भंवरों में भोगरूपी गोल चक्कर खा रहे हैं, व्याकुल होकर उछल रहे हैं तथा बहुत-से बीच के हिस्से में फैलने के कारण ऊपर उछल कर फिर नीचे गिर रहे हैं, (पधावितवसणसमावन्नरुण्णचंडमारुयसमाहयामणुन्नवीचीवाकुलितभंगफुट्टंतनिट्ठकल्लोलसंकुलजलं) जिस समुद्र में इधर-उधर दौड़ते हुए व्यसनों से ग्रस्त व्यसनी प्राणियों के रुदनरूपी प्रचण्ड वायु से परस्पर टकराती हुई अमनोज्ञ लहरों से व्याकुल तथा तरंगों से फूटता हुआ, चंचल कल्लोलों से व्याप्त जल है, (पमादबहुचंडदुट्ठसावयसमाहयउद्धायमाणपूरघोरविद्धंसणत्थबहुलं) जो प्रमादरूप अत्यन्त भयंकर दुष्ट हिंसक जन्तुओं से सताये गये तथा नाना चेष्टाओं से उठते हुए मनुष्यादि या मत्स्यादि जंतुओं के समूह का विध्वंस करने वाले घोर अनर्थों से परिपूर्ण है, (अण्णाणभमंतमच्छपरिहत्थं) जिसमें भयंकर अज्ञानरूपी बड़े-बड़े मच्छ घूम रहे हैं, (अनिहुतिंदिय-महामगर-तुरियचरिय-खोखुब्भमाणसंतावनिचयचलंतचवलचंचल-अत्ताणऽसरणपुव्वकयकम्मसंचयोदिन्नवज्जवेइज्जमाणदुहसयविपाकघुन्नंत जलसमूहं) अनुपशान्त इन्द्रियों वाले जीवरूपी महामगरों की शीघ्र चेष्टाओं से जो अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा है, तथा जिसमें संतापों का समूह है, ऐसा प्राणियों के द्वारा पूर्वसंचित पाप-कर्मों के उदय से प्राप्त कर्मों का भोगा जाने वाला फलरूपी घूमता हुआ जलसमूह है, जो चपला के समान अत्यन्त चंचल और चलता रहता है, त्राण-

रहित है, शरण रहित है, (इड्ढिरससायगारवोहारगहियकम्मपडिबद्धसत्तकड्ढिज्जमा निरयतलहुत्तसन्नविसन्नबहुलं) ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातागौरव के रूप प्राणियों के अहंकारयुक्त अशुभ अध्यवसायविशेषरूप अपहार-हिंसक जलजन्तुविशेष इसमें कर्मविशिष्ट प्राणी पकड़े जाते हैं तथा नरकरूप पाताल के सम्मुख खींचे ज हैं, इस प्रकार खेद और विषादयुक्त जीवों से भरा हुआ यह संसार-समुद्र है, (अर रइ-भय-विसाय-सोग-मिच्छत्तसेलसंकडं) यह अरति, रति, भय, विषाद, शोक अ मिथ्यात्वरूपी पर्वतों से व्याप्त है, (*अणाइसंताणकम्मबंधणकिलेसचिक्खिल्लसुदुत्तार*) इसमें अनादिकालीन प्रवाह वाले कर्मबन्धन एवं रागादि क्लेशरूपी कीचड़ है, जिस कारण यह बड़ी कठिनाई से पार किया जाता है, (अमर-नर-तिरिय-निरयगतिगमण कुडिलपरियत्तविपुलवेलं, देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति और नरकगति में गमनरू कुटिल टेढ़ीमेढ़ी चक्राकार घूमने वाली इसकी विस्तीर्ण वेला है, (हिंसालिय *अदत्तादाण-मेहुण- परिग्गहारंभकरणकारावणाणुमोदण - अट्ठविहअणिट्ठकम्मपिंडित* गुरुभारक्कंतदुग्गजलोघदूरनिबोलिज्जमाण-उमग्गनिमग्गदुल्लभतलं) हिंसा, झूठ, चोरी मैथुन, परिग्रह और आरम्भ के करने, कराने और अनुमोदन द्वारा संचित अनिष्ट *अष्टविधकर्मों के अत्यन्त भार से दबे हुए तथा व्यसनरूपी जलप्रवाह द्वारा दूर फेंके* हुए तथा इसी जल में डूबते-उतराते हुए जो प्राणी हैं, उनके लिए इस संसारसमुद्र का तल (पेंदा) पाना अत्यन्त दुर्लभ है, (सारीरमणोमयाणि) शारीरिक और मानसिक, (दुक्खाणि) दुःखों को,(उप्पियंता) भोगते हुए (सायस्सायपरितावणमयं) सुख और दुःख से उत्पन्न परिताप-संतापरूप (उब्बुड्ड-निब्बुड्डयं करेंता) डूबने व फिर ऊपर उभरने का जिसमें पराक्रम करते हैं, (चउरंतमहंतं) चार दिशा और चारगति के भेद से जो महान है, (अणवयग्गं) अनन्त, अन्तरहित है, (रुद्दं) विस्तीर्ण है, (अट्ठियं अणालंबणं अपतिट्ठाणं) संयम में अस्थिर जीवों के लिए जहां कोई सहारा नहीं है, ठहरने का कोई स्थान या सुरक्षा के लिए स्थान नहीं है, यानी संसारसमुद्र असंयमी जीवों का आधाररूप है। (अप्पमेयं) अल्पज्ञों-असर्वज्ञों के ज्ञान का अगोचर—अविषय है, (चुलसीतिजोणिसय-सहस्सगुविलं) चौरासी लाख जीवयोनियों से व्याप्त है, (अणालोकमंधकारं) जहाँ अज्ञान का अंधकार है, (अणंतकालं) जो संसारसमुद्र अनन्तकाल तक स्थायी है। यह संसारसागर (उव्विग्गवासवसहिं) उद्विग्न प्राणियों के निवास की भूमि है, (जहिं) जहाँ जिस-जिस गाँव, कुल आदि की (पावकम्मकारी) पापकर्म करने वाले संसारी जीव (आउयं निबंधंति) आयुष्य बांधते हैं, वहाँ पर वे, (बंधवजणसयणमित्तपरि-

वज्जिया) भाई आदि बंधुओं, पुत्र आदि स्वजनों और मित्रों से रहित और (अणिट्ठा) सब लोगों के अप्रिय (भर्वात) होते हैं, (अणादेज्जदुव्विणीया) उनकी आज्ञाएँ या वचनों को लोग ठुकरा देते हैं, वे दुर्विनीत होते हैं, (कुठाणासण-कुसेज्ज-कुभोयणा) उन्हें खराब स्थान, खराब आसन, बुरी शय्या, रद्दी भोजन मिलता है, (असुइणो) वे गंदे और अपवित्र होते हैं, अथवा श्रुति-शास्त्र के ज्ञान से रहित होते हैं, (कुसंघयण-कुप्पमाण-कुसंठिया) वे निकृष्ट संहनन (शारीरिक ढांचे) वाले, कद के या तो बहुत ही ठिगने बौने होते हैं या बहुत लंबे होते हैं, कुसंस्थान वाले—हुंडक आदि विकृत आकार के बेडौल होते हैं, (कुरूवा) कुरूप होते हैं, (बहुकोहमाणमायालोभा) उनमें अत्यन्त क्रोध, अत्यन्त अभिमान, अतिमाया—छलकपट और तीव्र लोभ होता है, (बहुमोहा) वे अत्यन्त मोह—आसक्ति से ग्रस्त होते हैं, अथवा अत्यन्त मूढ़ होते हैं, (धम्मसन्नसम्मत्तपरिब्भट्ठा) धर्मबुद्धि और सम्यग्दर्शन—सम्यक्त्व से भ्रष्ट होते हैं, (दरिद्दोवद्दवाभिभूया) वे दरिद्रतारूपी उपद्रव के सताए हुए होते हैं, (निच्चं परकम्मकारिणो) वे हमेशा दूसरों के ही आज्ञाधीन रह कर काम करने वाले नौकर होते हैं, (जीवणत्थरहिया) जिंदगी—गुजरबसर करने लायक द्रव्य या साधनों से रहित होते हैं, (किविणा) कृपण होते हैं या रंक—दयापात्र या दयनीय होते हैं, (परपिंडतक्कका) दूसरों के द्वारा दिये जाने वाले भोजन की ताक में रहते हैं, (दुक्खलद्धाहारा) बड़ी मुश्किल से आहार पाते हैं, (अरसविरसतुच्छकयकुच्छिपूरा) जैसे-तैसे रूखे-सूखे, नीरस तुच्छ भोजन से वे अपना पेट भर लेते हैं, (परस्स) दूसरों की (रिद्धि-सक्कार-भोयणविसेससमुदयविहि पेच्छंता) ऋद्धि-वैभव, प्रतिष्ठा-सत्कार-सम्मान, भोजन, वस्त्र, मकान आदि का रहन-सहन व पद्धति देख कर, (अप्पकं निंदंता) अपने आपको कोसते हैं या अपनी निंदा-भर्त्सना करते हैं, (य) और (कयंतं) अपने भाग्य को (य) और (इह पुरेकडाइं पावगाइं कम्माइं परिवयंता) इस जन्म में या पहले के जन्मों में किये हुए पापकर्मों को कोसते हैं—धिक्कारते हैं (विमणसो) मलिन मन होकर (सोएण) शोक-अफसोस से, (डज्झमाणा) जलते हुए (परिभूया) तिरस्कृत-लज्जित या दुःखित (होंति) होते हैं (य) और (सत्तपरिवज्जिया) सत्त्व से रहित-बेदम, (छोभा) क्षुब्ध हो जाने वाले—कुढ़ने वाले—चिड़चिड़े स्वभाव के, (सिप्पकलासमयसत्थपरिवज्जिया) चित्र आदि शिल्पकला से अनभिज्ञ, धनुर्वेद आदि विद्याओं से शून्य और जैन, बौद्ध आदि शास्त्रों-सिद्धान्तों के ज्ञान से रहित, (जहा-

जायपसुभूया) जन्मजात अज्ञानी पशु के समान जड़ता के प्रतिनिधि, (अवियत्ता) अप्रतीति पैदा करने वाले, (निच्चं नीयकम्मोपजीविणो) हमेशा नीच कर्मों से अपनी जीविका चलाने वाले (लोयकुच्छणिज्जा) लोक में निन्दनीय, (मोघमणोरहा) विफल-मनोरथ वाले, (निरासबहुला, अत्यन्त निराशा से युक्त, (आसापासपडिबद्धपाणा) उनके प्राण अनेक आशाओं के पाश से बंधे रहते हैं (य) और (लोयसारे) लोक में सारभूत (अत्थोपायण-कामसोक्खे) अर्थोपार्जन तथा काम-भोगों के सुख में (सुट्ठु उज्जमंता वि य) भलीभांति उद्यम करने पर भी (अफलवंतका) असफल (होंति) होते हैं। (तद्दिवसुज्जुत्तकम्मकयदुक्खसंठवियसित्थपिंडसंचया) जिस-जिस दिन वे उद्यम करते हैं,उस-उस दिन बहुत काम करने और कष्ट सहने पर भी वे मुश्किल से सत्तु के पिंड का ही संचय कर पाते हैं अथवा अनाज के कणों का समूह कठिनाई से संग्रह कर पाते हैं (पयखीणदव्वसारा) उनका सारभूत द्रव्य नष्ट हो जाता है, (निच्चं अधुवधण-धण्णकोसपरिभोगवज्जिया) अस्थिर धन, धान्य और कोष के परिभोग से वे हमेशा ही वंचित रहते हैं, (रहियकामभोगपरिभोगसव्वसोक्खा) शब्दरूपादि काम और गन्ध-रसस्पर्शरूप भोग के एक बार या वारवार सेवन के तमाम सुखों से वे वंचित ही रहते हैं, बेचारे (परसिरिभोगोवभोग-निस्साण-मग्गणपरायणा) दूसरों की लक्ष्मी के भोग-उपभोग को अपने अधीन करने की फिराक में लगे हुए वे (वरागा) बेचारे (अकामिकाए) नाहक ही, बिना मतलब के, नहीं चाहते हुए भी, (दुक्खं विणेंति) दुःख ही पाते हैं, (णेव सुहं णेव निव्वुतिं) ये न तो सुख पाते हैं और न शान्ति—मानसिक स्वस्थता (उवलभंति) पाते हैं। (जे परस्स दव्वाहि अविरया) सच है, जो दूसरों के द्रव्यों के प्रति विरत नहीं हुए ; वे, (अच्चंतविपुलदुक्खसयसंपलित्ता) ये अत्यन्त मात्रा में सैकड़ों दुःखों से संतप्त होते रहते हैं।

(एसो) यह, पूर्वोक्त (अदिण्णादाणस्स) चोरी का (फलविवागो) फलविपाक—उदय में आया हुआ कर्मफल है, जो (इहलोइयो) इस लोकसम्बधी है, (पारलोइओ) परलोक-सम्बन्धी भी है, (अप्पसुहो बहुदुक्खो) अल्पसुख और अत्यन्तदुःख का कारण है, (महब्भओ) यह महाभयानक है, (बहुरयप्पगाढो) बहुत गाढ़ कर्मरूपी रज वाला है, (दारुणो) घोर है, (कक्कसो) कठोर है, (असाओ) दुःखमय है, (वाससहस्सेहिं मुच्चति) हजारों वर्षों में जा कर छूटता है। (न य अवेदयित्ता मोक्खो अत्थि) इसे भोगे बिना कोई छुटकारा नहीं होता।

(इति एवं) इस प्रकार (णायकुलनंदणो) ज्ञातकुल में उत्पन्न हुए, (महप्पा)

महात्मा, (वीरवरनामधेज्जो) महावीर नाम के (जिणो उ) तीर्थंकर वीतरागदेव ने, (आहंसु) कहा है (य) पुनः (अदिण्णादाणस्स) अदत्तादान के (एयं) इस (तं ततियं) पूर्वोक्त तीसरे (फलविवागं पि) फलविपाक को भी उन्हीं भगवान् ने कहा है। इस प्रकार यह अदत्तादान (हर-दह-मरण-भय-कलुस-तासण-परसंतिकभेज्जलोभमूलं) परधनहरण, दहन, मृत्यु, भय, मलिनता, त्रास, रौद्रध्यान-सहित लोभमूलक है, यानी ये सब इसकी जड़ें हैं। (एवं) इस प्रकार (जाव) यावत् (चिरपरिगतमणुगतं दुरंतं) चिरकाल से प्राप्त,अनादि परम्परा से पीछे लगा हुआ और दुःख से अन्त होने वाला है। इस प्रकार (ततियं अधम्मदारं समत्तं) यह तीसरा अधर्म द्वार समाप्त हुआ। (तिबेमि ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—वे कैदी वहीं मर जाते हैं; यद्यपि वे मरना नहीं चाहते; लेकिन पूर्वोक्त कठोर दंड के कारण उनकी वहीं अकाम (अकाल) मृत्यु हो जाती है। मरने पर अथवा मरणासन्न स्थिति में उनके पैरों में कसकर रस्सी बांध दी जाती है और उन्हें जेलखाने से बाहर खींच कर निकाला जाता है औरगहरी खाई में फेंक दिया जाता है। वहां उनकी लाशों पर भेड़ियों, कुत्तों, गीदड़ों, सूअरों और वनबिलावो के झुंड के झुंड टूट पड़ते हैं और उधर से संडासी के समान मुंह वाले पक्षियो की कतार आती है और उन सबके नाना प्रकार के सैकड़ों मुंह उनके शरीर को नोच-नोच कर टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं। कई लाशों का बाज और गीध सफाया कर देते है। कई अपराधियों के शरीर में कीड़े पड़ जाते है, जिससे उनका सारा शरीर सड़ जाता है। उनकी इस प्रकार की कुमौत से संतुष्ट जन निम्नोक्त अशुभ उद्‌गार निकालते हैं—'अच्छा किया, बहुत ठीक हुआ; जो यह पापी मर गया।' इस प्रकार कई उन पर वचनों से ताने कसते है और प्रसन्न हो कर उनकी लाशों को पीटते हैं अथवा उनके विषय में निन्दात्मक मौखिक ढिंढोरा पीटते है। उन कुलांगारों को मरने के बाद दूसरों के द्वारा ही नहीं, अपने स्वजनों द्वारा भी इस प्रकार धिक्कारा और लज्जित किया जाता है। अथवा मरने के बाद भी दीर्घकाल तक उनके गांव के ही नहीं, परिवार के लोगों को भी लज्जित होना पड़ता है।

मरने के बाद परलोक में पहुँच जाने पर भी वे चोर अशुभ व असातावेदनीय कर्म के उदय से ऐसे बुरे नरक में जा कर उत्पन्न होते है, जहां जलते अंगारों के समान तेज गर्मी है, और अत्यधिक ठंड है; इस अवस्था मे वे निरन्तर सैकड़ों दुःखों से घिरे रहते है।

वहां से आयुष्य पूर्ण कर निकलने के बाद फिर वे तिर्यंचयोनि में पहुँचते है। वहाँ भी वे नरक के समान वेदना का अनुभव करते हैं। अनन्तकाल बीत जाने के बाद यदि किसी तरह वे मनुष्यजन्म पाते भी हैं, तो भी अनेक बार नरकगति में गमन और तिर्यचगति में लाखों चक्कर हो जाने के बाद। घूमघाम कर किसी तरह मनुष्य भव में भी वे नीचकुल में ही उत्पन्न होते हैं,और अनार्य— म्लेच्छ—धर्मसंस्कारों से रहित होते हैं। संयोगवश यदि आर्यजनों में जन्म भी ले लिया, तो भी वे अपने गंदे आचरणों के कारण लोगों से बहिष्कृत होते है, पशुओं की-सी जिंदगी बिताते हैं, विवेक-विचार से हीन मूढ़ होते हैं; वे केवल कामभोगों की ही लालसा में रचे-पचे रहते हैं। नरकगति में अनेकों जन्म-मरण करने के कारण पूर्वसंस्कारवश पुनः उसी नरकगमन के योग्य पापकर्मयुक्त प्रवृत्ति से प्रेरित होते है और संसार-जन्ममरण के चक्र—में परिभ्रमण और दुःखों के मूल कारण अशुभकर्मों का फिर बन्ध करते है। वे धर्मशास्त्र के श्रवण और ज्ञान से वंचित रहते है, इस कारण वे श्रेष्ठ आचरणों से दूर हिंसावृत्ति में मग्न रह कर क्रूर होते जाते है। मिथ्यात्व के प्रतिपादक शास्त्रों का ज्ञान पाने से एकान्तरूप से दण्डशक्ति—हिंसा के के कामों—में ही उनकी रुचि होती है। इस प्रकार रेशम के कीड़े के समान अष्टकर्मरूपी तन्तुओं के गाढ़ बन्धन से वे अपनी आत्मा को जकड़ लेते हैं और उग्र त्रास से संतप्त, कर्त्तव्यशून्य एवं भयादि संज्ञाओं से युक्त होकर वे दिशामूढ़ मानव सदा के लिए संसारसमुद्र में ही अपना निवास कर लेते है।

नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतियों में गमन करना ही जिस संसारसागर की बाह्य परिधि है। जन्म, जरा और मृत्यु के कारण होने वाला गंभीर दुःख ही जिस संसार सागर का क्षुब्ध प्रचुर जल है। उसमें संयोगवियोग रूपी लहरें हैं, निरन्तर चिन्ता ही उसका फैलाव है। परस्पर वध, बन्धन ही जिसमें लंबी चौड़ी कल्लोलें हैं; करुण विलाप और लोभ की कलकल ध्वनि की प्रचुरता ही उस की घोर गर्जना है। उसमें अपमानरूपी फेन है। घोर निन्दा एवं बार-बार पैदा हुई बीमारी और वेदना, बारबार होने वाला तिरस्कार, नीचे गिरते जाने का क्रम, कठोर झिड़कियां, डांटफटकार आदि जिनसे प्राप्त होती हैं—ऐसे कर्म-रूपी कठिन पत्थरों से उठी हुई तरंगों के समान सदा मृत्यु की भीति ही इस समुद्र के जल की सतह है। यह कषायरूपी पाताकलशों से व्याप्त है। हजारों प्रकार की भीतियां (भय)

ही उसकी अगाध जलराशि है, जो अनन्त और अपार है। वह महाभयजनक हैं, भयंकर है और प्रत्येक प्राणियों में परस्पर प्रतिभय पैदा करने वाला है। बड़ी-बड़ी असीम इच्छाओं और मलिन बुद्धियों रूपी हवाओं के तूफान से उत्पन्न हुए तथा आशा (अप्राप्त अर्थ की सम्भावना) और पिपासा (प्राप्त अर्थ को भोगने की इच्छा) रूपी पाताल (समुद्रतल) से उठते हुए कामरति (शब्दादि विषयों में आसक्ति) तथा रागद्वेषरूपी बन्धन के नाना संकल्प ही उस संसार समुद्र के जलकण है ; जो अपने तीव्र वेग से उसे अन्धकारमय बना रहे हैं। इस संसारसागर के मोहरूपी भंवर में बहुत-से प्राणी गोते लगा रहे हैं; कई प्राणी उसमें भोगरूपी गोल चक्कर लगाते हुए व्याकुल हो रहे हैं, उछल रहे है, बहुत से मध्यभाग में डूबते-उतराते है। इस संसारसागर में इधर-उधर दौड़ते हुए नाना व्यसनो से घिरे हुए व्यसनी लोगों का प्रचंड वायु के थपेड़ों से टकराता हुआ, तथा अमनोज्ञ लहरों से विक्षुब्ध एवं तरंगो से फूटता हुआ तथा अस्थिर बड़ी-बड़ी कल्लोलों से व्याप्त रुदनरूप जल बह रहा है। यह प्रमाद रूपी अत्यन्त रौद्र व हिंसक जन्तुओं से सताए जाते हुए तथा नाना प्रकार की चेष्टाओं के लिए उठते हुए मनुष्यादि या मत्स्यादि प्राणियों के दल को विध्वंस करने वाले घोर अनर्थों से भरा है। इसमें अज्ञानरूपी बड़े-बड़े शीघ्रगामी भीम मच्छ फिर रहे हैं। अनुपशान्त इन्द्रियों वाले जीव ही इसमें मगरमच्छ हैं, जिनकी शीघ्र चेष्टाओं—उथल-पुथलों से यह अत्यन्त चंचल हो रहा है। इसमें वाडवाग्नि की तरह शोकादि का नित्य संताप है, इसमें चलायमान और अत्यन्त चंचल तथा सुरक्षाहीन, शरणरहित, पूर्वकृत कर्मों को इकट्ठे किए हुए प्राणियों को उनका फल भुगवाने के लिए आए हुए सैंकड़ों दुःखों के रूप में कर्मफल ही घूमता हुआ जल समूह है। ऋद्धि (वैभव), रस (स्वादिष्ट पदार्थ) और साता (सुखसाधन) के गौरव-अहंकार रूपी अपहार (हिंसक जलजन्तु) से पकड़े गए व कर्मबन्धनों से बंधे हुए प्राणी खींच कर नरक रूपी पाताल (समुद्रतल) की ओर लाये जाते हैं; तब वे अत्यन्त खेद और विषाद से युक्त होते हैं; ऐसे विषण्ण व खिन्न जीवों से यह भरा है। यह अरति, रति, भय, विषाद, दैन्य, शोक और मिथ्यात्व रूपी पहाड़ों से विषम बना हुआ है।अनादि सन्तान वाले कर्मबन्धन तथा रागादिक्लेश रूपी कीचड़ से भरा होने से इसे पार किया जाना अत्यन्त कठिन है। देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति और नरकगति में गमनरूपी टेढ़ी-मेढ़ी घूमने वाली इसकी विस्तीर्ण वेला है। हिंसा,

असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह एवं आरम्भ के करने, कराने और अनुमोदन द्वारा संचित आठ प्रकार के कर्मों के अत्यन्त बोझ से दबे हुए तथा व्यसनरूपी जल के प्रवाह के द्वारा अत्यन्त निमग्न हुए प्राणी संसारसागर में डूबते-उतराते रहते हैं; उन्हें इसका पैंदा (तलभाग) पाना अत्यन्त दुर्लभ है। जिसमें प्राणी शारीरिक और मानसिक दुःख भोगते रहते हैं। सांसारिक सुख और दुःख से उत्पन्न परिताप के कारण वे कभी इसके ऊपर-ऊपर तैरने और कभी डूबने की चेष्टाएँ करते रहते हैं। चारों दिशाओं रूपी चार गतियों तक इसका अन्त—किनारा होने से यह संसारसागर महान् है, अन्तरहित है, विस्तीर्ण है। संयम में अस्थिर जीवों के लिए यहाँ आलंबन—सहारा या संरक्षण नहीं है। यह अल्पज्ञों (छद्मस्थों) के ज्ञान का विषय नहीं है, यह चौरासी लाख जीवयोनि से भरा है। यहाँ पर अज्ञानरूपी अंधेरा है, यह अनन्तकाल तक स्थायी है और नित्य है।

इस संसारसमुद्र की उद्विग्न-निवास वाली जगह में रहने वाले पापकर्म करने वाले प्राणी जिस किसी गाँव या कुल आदि का आयुष्य बांधते हैं, वहाँ पर पैदा होकर वे भाई आदि बन्धुओं, पुत्र आदि स्वजनों और मित्रों से रहित होते हैं, वे जनता को अप्रिय लगते हैं, उनके वचनों को कोई मानता नहीं, वे स्वयं दुर्विनीत होते हैं। उन्हें खराब से खराब स्थान, खराब आसन, खराब शय्या (खाट,बिछौने आदि) और रद्दी भोजन मिलता है। वे स्वयं गंदे, घिनौने और आचरण से अशुद्ध होते हैं अथवा शास्त्रज्ञान से हीन होते हैं। उनको शरीर का संहनन-गठन खराब मिलता है, उनका कद ठीक नहीं होता, उनको शरीर का ढांचा बहुत ही हलका मिलता है; वे अत्यन्त बदसूरत होते हैं, वे अत्यन्त क्रोधी, मानी, मायी और लोभी होते हैं, वे अत्यन्त आसक्ति वाले या मूढ़ होते हैं। वे धर्मसंज्ञा (संस्कारिता) और सम्यक्त्व से कोसों दूर होते हैं; दरिद्रता का उपद्रव उन्हें सदा सताता रहता है। वे हमेशा दूसरों के आज्ञाधीन रह कर काम करते हैं। वे जीवन के साधनरूप अर्थ से रहित होते हैं अथवा मनुष्यजीवन के लक्ष्य—प्रयोजन से अनभिज्ञ होते हैं; वे कृपण-रंक या दयनीय होते हैं, हमेशा दूसरों से भोजन पाने की ताक में रहते हैं; बड़ी मुश्किल से भरपेट भोजन पाते हैं। उन्हें जो भी नीरस, रूखा-सूखा और तुच्छ आहार मिल जाता है, उसी को अपने पेट में डाल लेते हैं। वे सदा दूसरों

का मुंह ताकते रहते हैं अथवा दूसरों के वैभव ठाठबाठ, इज्जत, मानमर्तबों, भोजनसामग्री, रहन-सहन एवं खास तौरतरीकों की बढ़ती देख-देख कर अपनी निन्दा करते है,अपने भाग्य को तथा अपने पूर्वकृत कर्मों को कोसते है,धिक्कारते हैं। इस जन्म में और पूर्वजन्मों में किये हुए अपने पापकर्मों का विचार करके वे उन्मना और उदास हो जाते हैं और शोक-अफसोस से जलते हुए मुर्झाए रहते है। किसी बात का दम न होने से वे चिड़चिड़े और क्षुब्ध से हो जाते हैं ! वे चित्र आदि शिल्पकला (हुन्नर) या धनुर्वेदादि भौतिक विज्ञान तथा जैन-बौद्ध आदि धर्मों के सिद्धान्तज्ञान से रहित होते है। जन्मजात नंग-धड़ंग पशुओं की-सी उनकी जिंदगी होती है। वे अप्रतीति पैदा करने वाले होते हैं। सदा नीच कर्म करके ही वे अपनी जीविका चलाते हैं। वे लोक में निन्दनीय और असफल मनोरथ होते हैं; उनके जीवन में प्रायः निराशा होती है; उनके प्राण विविध आशाओ के पाश में बंधे रहते हैं। जगत् में सारभूत अर्थोपार्जन और कामभोगों के सुखों के लिए वे बड़ी अच्छी तरह से परिश्रम करते हैं, लेकिन कभी सफल नहीं होते। यही नही, रोजाना सारे दिन किसी काम में लगे रहने पर भी बड़े कष्ट से अनाज का पिंड इकट्ठा कर पाते हैं। उनका सारभूत द्रव्य नष्ट हो जाता है, वे अस्थिर धन, धान्य और कोश के उपभोग से सदा ही वंचित रहते है; काम (रूप और शब्द के विषयों) तथा भोग (गन्ध, रस और स्पर्श के विषयों) के बार-बार सेवन से होने वाले सुख से वे रहित होते हैं। हमेशा वे (पूर्व संस्कारवश) दूसरों की लक्ष्मी के भोग और उपभोग को अपने अधीन करने की फिराक में रहते है; न चाहते हुए भी बेचारे दुःख पाते रहते हैं। वे न तो सुख ही पाते हैं और न शान्ति ही। सारांश यह है कि दूसरे के द्रव्यों को हरण करने की इच्छा से जो विरत नहीं होते, वे अत्यन्त प्रचुर सैकड़ों दुःखों से पीड़ित और संतप्त रहते हैं।

यह पूर्वोक्त अदत्तादान का फलविपाक (कर्मफल) इस लोकसम्बन्धी तथा परलोकसम्बन्धी अल्पसुखद और बहुत दुःखप्रद है, महाभयानक है, प्रगाढ़ कर्मरज से ओत-प्रोत है, दारुण है, कठोर है तथा दुःखमय है। यह हजारों वर्षों में जा कर छूटता है; और बिना भोगे इससे छुटकारा नहीं हो सकता।

इस प्रकार ज्ञातकुल के नन्दन महात्मा महावीर नामक जिनेन्द्रदेव तीर्थ-

कर ने कहा है। और अदत्तादान का यह पूर्वोक्त फलविपाक भी उन्हीं प्रभु ने बताया है।

इस तरह यह अदत्तादान परधनहरण, दहन, मृत्यु, भय, मालिन्य, त्रास और रौद्रध्यान सहित लोभ का मूल है। अधिक क्या कहें, चिरकाल से परिचित या प्राप्त है और अनादिकाल से प्राणी के पीछे लगा हुआ है और इसका अन्त होना बड़ा ही दुष्कर है अथवा इसका अन्त दुःखकर है।

इस प्रकार तीसरा अधर्म द्वार समाप्त हुआ; ऐसा मैं कहता हूँ।

व्याख्या

बारहवें सूत्र के पूर्वार्द्ध मे चोरी करने वालों को, खासतौर से मनुष्यलोक में प्राप्त होने वाले कटुफलों का निरूपण किया गया था। इसके उत्तरार्द्ध में नरकगति और तिर्यंचगति में प्राप्त होने वाले भयंकर दुःखों का वर्णन किया गया है और अन्त में, बड़ी कठिनता से किसी को मनुष्यभव प्राप्त होने के बाद उसकी दुरवस्था और जीवन की दुर्दशा का सजीव चित्रण किया गया है। मूलपाठ में पापकर्मरत संसारीजीवों का संसारसमुद्र में अनन्तकाल तक निवास बता कर जन्ममरणचक्ररूप ससार की समुद्र के साथ तुलना करते हुए उसके सारे अंगोपांगो की हूबहू संगति समुद्र के साथ बिठाई गई है।

मूलार्थ में तथा पदार्थान्वय में अधिकांश अर्थ हम स्पष्ट कर आए हैं। कुछ खास स्थलों पर यहाँ विश्लेषण कर देना ही उचित समझते है—

चोरों की मृत्यु के बाद जनता में प्रतिक्रिया—मृत्यु मानवजीवन की अच्छी या बुरी प्रवृत्तियों की अन्तिम मंजिल है। मृत्यु होने के बाद ही किसी मनुष्य की असलियत का पता लगता है कि अमुक व्यक्ति कैसा था? वास्तव मे शरीर की समाप्ति ही मानव जीवन की सही निर्णायिका होती है। उससे पहले पूरी तरह से पता नहीं लगता कि कौन मनुष्य भला या बुरा है। प्राय. मृत्यु हो जाने के बाद ही उसके विषय में आम जनता अपनी अच्छी या बुरी प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। अगर आदमी अच्छे कर्म करके इस लोक से विदा होता है तो उसके विषय में जनता कहती है—'हमारे समाज, जाति या राष्ट्र का एक रत्न चला गया; उसके स्थान की क्षतिपूर्ति कठिन है।' साथ ही सारा समाज उसके लिए रोता है; उसका वियोग सबको खटकता है। परन्तु कोई पापी, अन्यायी, अत्याचारी या दुरात्मा इस संसार से विदा होता है, तो जनता प्रायः उसके विषय में कहा करती है—'अच्छा हुआ, पापी मर गया! अच्छा किया, पापी को मार डाला! यह सबको सताता था।' मतलब यह है कि पापी के मरने पर सभी खुशियाँ मनाते हैं, मिठाई बांटते हैं। पापी व्यक्ति

जीतेजी तो अपनी जाति, परिवार, राष्ट्र और समाज को कलंकित और बदनाम करता ही है ; मरने के बाद भी अपनी बदबू छोड़ जाता है।

शास्त्रकार ने पापात्मा के मरने के बाद जनता में होने वाली इसी प्रतिक्रिया का विश्लेषण किया है—'अणिट्ठवयणेहिं सप्पमाणा, 'सुट्ठु कयं जं मउत्ति पावो', तुट्ठेणं जणेण हम्ममाणा, लज्जावणका य होंति सयणस्सवि ·· मया संता।' यानी पापात्मा के मरने के बाद लोग अनिष्टवचनों से अपने उद्‌गार निकालते हैं—'अच्छा हुआ, यह पापी मर गया या इस पापी को मार डाला।' उसके मरने से लोग संतुष्ट हो कर उसके बारे में जगह-जगह ताने मारते हैं। इतना ही नहीं, जीतेजी भी उसे धिक्कारते हैं, मरने के बाद भी धिक्कारते हैं। उसके स्वजनसम्बन्धी भी चिरकाल तक उसकी बदनामी करते रहते हैं।"

वास्तव में ऐसे पापकर्म करने वाले व्यक्ति जीतेजी भी दुनिया के लिए भार-भूत होते हैं और मरने के बाद भी अपने कुल, जाति और राष्ट्र को बदनाम और कलंकित करते हैं। एक तरह से ऐसे अपयशकामी लोग जीतेजी भी मरे हुए के समान हैं।

ऐसे पापियों की अनचाही कुमौत—ऐसे भयंकर पापकर्म करने वाले कैदखाने में बुरी तरह कुत्ते की मौत मरते हैं। इतने कष्ट, दुःख या विपत्तियाँ अगर वे सदाचारी और धर्मपरायण हो कर समाज, राष्ट्र या देश के लिए सहते या हंसते-हंसते मौत का आलिंगन करते तो उनकी मृत्यु सकाममृत्यु-पण्डितमरण या शहीद की मौत कहलाती। अपने जीवनकाल में भी उन्हें उन दुःखों,कष्टों या मृत्यु का कोई खटका न होता। जनता उन्हें हाथों में उठा लेती। वे लोकप्रिय बन जाते। जनता उनकी मृत्यु पर शोक के आंसू बहाती। वे स्वपर कल्याण के हेतु कष्ट सह कर यदि मृत्यु पाते,तो वह उन्हें अमर बना जाती। यह मृत्यु उनके जीवन को सार्थक कर देती। उनकी वह मृत्यु वरदान-रूप हो जाती। राष्ट्र, समाज और कुल की नैतिक मर्यादाओं के घातक पापकर्म करके, सदाचार को तिलांजलि दे कर जब वे पापात्मा जेलों में दी जाने वाली पूर्वोक्त यातनाएँ बेमन से सह कर न चाहते हुए भी रिब-रिब कर मरते हैं तो उनकी यह अकाम-मृत्यु (अकालमृत्यु) उनके लिए अभिशापरूप बनती है। जनता के लिए उनकी मृत्यु खुशी का कारण बनती है। उनके अपने लिए दुःखदायक तो बनती ही है ; परलोक में भी उन्हें वह दुर्गति का मेहमान बना देती है। इस लोक में जेल आदि के जो उन्होंने कष्ट सहे, उनकी अपेक्षा अनेकों गुना भयंकर असह्य कष्ट उन्हें परलोक में मिलता है। मतलब यह है कि वे अपना मनुष्यजन्म सार्थक नहीं कर पाते और न ही आगे की जिंदगी के लिए कोई अच्छी कमाई कर जाते हैं। एक मनुष्यजन्म को खो देने पर भविष्य में उन्हें हजारों-लाखों जन्मों तक पुनः मनुष्यजन्म मिलना दुष्कर हो जाता

कर ने कहा है। और अदत्तादान का यह पूर्वोक्त फलविपाक भी उन्हीं प्रभु ने बताया है।

इस तरह यह अदत्तादान परधनहरण, दहन, मृत्यु, भय, मालिन्य, त्रास और रौद्रध्यान सहित लोभ का मूल है। अधिक क्या कहें, चिरकाल से परिचित या प्राप्त है और अनादिकाल से प्राणी के पीछे लगा हुआ है और इसका अन्त होना बड़ा ही दुष्कर है अथवा इसका अन्त दुःखकर है।

इस प्रकार तीसरा अधर्म द्वार समाप्त हुआ; ऐसा मैं कहता हूँ।

व्याख्या

बारहवें सूत्र के पूर्वार्द्ध में चोरी करने वालों को, खासतौर से मनुष्यलोक मे प्राप्त होने वाले कटुफलों का निरूपण किया गया था। इसके उत्तरार्द्ध में नरकगति और तिर्यंचगति मे प्राप्त होने वाले भयंकर दु.खों का वर्णन किया गया है और अन्त मे, बड़ी कठिनता से किसी को मनुष्यभव प्राप्त होने के बाद उसकी दुरवस्था और जीवन की दुर्दशा का सजीव चित्रण किया गया है। मूलपाठ मे पाप-कर्मरत संसारीजीवों का संसारसमुद्र में अनन्तकाल तक निवास बता कर जन्ममरणचक्ररूप संसार की समुद्र के साथ तुलना करते हुए उसके सारे अंगोपांगो की हूबहू संगति समुद्र के साथ बिठाई गई है।

मूलार्थ मे तथा पदार्थान्वय मे अधिकांश अर्थ हम स्पष्ट कर आए है। कुछ खास स्थलों पर यहाँ विश्लेषण कर देना ही उचित समझते है—

चोरों की मृत्यु के बाद जनता में प्रतिक्रिया—मृत्यु मानवजीवन की अच्छी या बुरी प्रवृत्तियों की अन्तिम मंजिल है। मृत्यु होने के बाद ही किसी मनुष्य की असलियत का पता लगता है कि अमुक व्यक्ति कैसा था? वास्तव में शरीर की समाप्ति ही मानव जीवन की सही निर्णायिका होती है। उससे पहले पूरी तरह से पता नही लगता कि कौन मनुष्य भला या बुरा है। प्रायः मृत्यु हो जाने के बाद ही उसके विषय में आम जनता अपनी अच्छी या बुरी प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। अगर आदमी अच्छे कर्म करके इस लोक से विदा होता है तो उसके विषय में जनता कहती है—'हमारे समाज, जाति या राष्ट्र का एक रत्न चला गया; उसके स्थान की क्षतिपूर्ति कठिन है।' साथ ही सारा समाज उसके लिए रोता है; उसका वियोग सबको खटकता है। परन्तु कोई पापी, अन्यायी, अत्याचारी या दुरात्मा इस संसार से विदा होता है, तो जनता प्रायः उसके विषय में कहा करती है—'अच्छा हुआ, पापी मर गया! अच्छा किया, पापी को मार डाला! यह सबको सताता था।' मतलब यह है कि पापी के मरने पर सभी खुशियाँ मनाते हैं, मिठाई बांटते हैं। पापी व्यक्ति

जीतेजी तो अपनी जाति, परिवार, राष्ट्र और समाज को कलंकित और बदनाम करता ही है ; मरने के बाद भी अपनी बदबू छोड़ जाता है।

शास्त्रकार ने पापात्मा के मरने के बाद जनता में होने वाली इसी प्रतिक्रिया का विश्लेषण किया है—'अणिट्ठवयणेहिं सप्पमाणा, 'सुट्ठु कयं जं मउत्ति पावो', तुट्ठेणं जणेण हम्ममाणा, लज्जावणका य होंति सयणस्सवि " मया संता।' यानी पापात्मा के मरने के बाद लोग अनिष्टवचनों से अपने उद्गार निकालते हैं—'अच्छा हुआ, यह पापी मर गया या इस पापी को मार डाला।' उसके मरने से लोग संतुष्ट हो कर उसके बारे में जगह-जगह ताने मारते हैं। इतना ही नहीं, जीतेजी भी उसे धिक्कारते हैं, मरने के बाद भी धिक्कारते हैं। उसके स्वजनसम्बन्धी भी चिरकाल तक उसकी बदनामी करते रहते हैं।"

वास्तव में ऐसे पापकर्म करने वाले व्यक्ति जीतेजी भी दुनिया के लिए भार-भूत होते हैं और मरने के बाद भी अपने कुल, जाति और राष्ट्र को बदनाम और कलंकित करते हैं। एक तरह से ऐसे अपयशकामी लोग जीतेजी भी मरे हुए के समान हैं।

ऐसे पापियों की अनचाही कुमौत—ऐसे भयंकर पापकर्म करने वाले कैदखाने में बुरी तरह कुत्ते की मौत मरते हैं। इतने कष्ट, दुःख या विपत्तियां अगर वे सदाचारी और धर्मपरायण हो कर समाज, राष्ट्र वा देश के लिए सहते या हंसते-हंसते मौत का आलिंगन करते तो उनकी मृत्यु सकाममृत्यु-पण्डितमरण या शहीद की मौत कहलाती। अपने जीवनकाल मे भी उन्हे उन दुःखों,कष्टो या मृत्यु का कोई खटका न होता। जनता उन्हें हाथों में उठा लेती। वे लोकप्रिय बन जाते। जनता उनकी मृत्यु पर शोक के आंसू बहाती। वे स्वपर कल्याण के हेतु कष्ट सह कर यदि मृत्यु पाते,तो वह उन्हें अमर बना जाती। वह मृत्यु उनके जीवन को सार्थक कर देती। उनकी वह मृत्यु वरदान-रूप हो जाती। राष्ट्र, समाज और कुल की नैतिक मर्यादाओं के घातक पापकर्म करके, सदाचार को तिलांजलि दे कर जब वे पापात्मा जेलों में दी जाने वाली पूर्वोक्त यातनाएँ बेमन से सह कर न चाहते हुए भी रिब-रिब कर मरते हैं तो उनकी वह अकाम-मृत्यु (अकालमृत्यु) उनके लिए अभिशापरूप बनती है। जनता के लिए उनकी मृत्यु खुशी का कारण बनती है। उनके अपने लिए दुःखदायक तो बनती ही है ; परलोक में भी उन्हें वह दुर्गति का मेहमान बना देती है। इस लोक में जेल आदि के जो उन्होंने कष्ट सहे, उनकी अपेक्षा अनेकों गुना भयंकर असह्य कष्ट उन्हें परलोक मे मिलता है। मतलब यह है कि वे अपना मनुष्यजन्म सार्थक नहीं कर पाते और न ही आगे की जिंदगी के लिए कोई अच्छी कमाई कर जाते हैं। एक मनुष्यजन्म को खो देने पर भविष्य में उन्हें हजारों-लाखों जन्मों तक पुनः मनुष्यजन्म मिलना दुष्कर हो जाता

है। मिल भी जाता है तो उन्हें धर्मसंस्कार, शुद्ध आचरण का वातावरण सत्संग या अच्छी परिस्थित नहीं मिलती। यहाँ कैदखाने में उनके न चाहने पर भी बरबस पकड़ कर उन्हें रस्सों से बांध दिया जाता है और घसीट कर बाहर ला कर खाई में पटक दिया जाता है; जहाँ भेड़िये, कुत्ते, सियार आदि हिंसक पशु-पक्षी उनका सफाया कर देते हैं। कई लोगों को इतनी बुरी तरह से मारा-पीटा जाता है कि उनके शरीर में घाव हो जाते हैं, शरीर सड़ने लगता है, बदबू के मारे कोई भी उनके पास नही फटकता; और अन्त में, उनके घावों में कीड़े पड़ जाते हैं; जो तिलतिल करके उनके शरीर का काम तमाम कर देते हैं। इसी बात को शास्त्रकार ने व्यक्त किया है—

'तत्येव मया अकामका····विलुत्तगत्ता····कुहियदेहा।' मतलब यह है कि ऐसे पापियों को न चाहने पर भी पहले तो बुरी तरह मारा-पीटा, सताया और तंग किया जाता है; और बाद में कुमौत मारा जाता है।

पुणो परलोगसमावन्ना नरए गच्छंति—इतनी दुर्दशा और कष्टपूर्ण स्थिति में मृत्यु पाने के बाद परलोक में उन्हें अच्छी जगह नहीं मिलती। कहाँ से मिले? मरते समय जैसी लेश्या, जैसी शुभाशुभ भावना और जैसे अच्छे-बुरे परिणाम होते हैं; तदनुसार ही स्थान का चुनाव होता है। हालांकि कई बार आयुष्य तो पहले से ही बंध जाता है; परन्तु गति के निर्णय के बावजूद भी उस गति में स्थान या स्थिति का निर्णय तो प्रायः अन्तिम समय पर ही होता है। शास्त्र मे भी कहा है—'जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ' अर्थात्—'जिस लेश्या में जीव मरता है, उसी लेश्या वाले स्थान मे वह उत्पन्न होता है।'

इन चोरी जैसे कुकर्म करने वालों की भावनाएँ या लेश्याएँ अन्तिम समय में प्रायः नही बदलतीं। इसलिए इनके बारे मे शास्त्रकार ने स्पष्ट कह दिया है कि मरने के पश्चात् वे पापी परलोक में भी ऐसे निकृष्ट नरक मे स्थान पाते हैं, जहाँ की गर्मी और सर्दी इतनी भयंकर है कि मेरु के बराबर तांबे या लोहे का गोला वहाँ डाला जाए तो वह क्षणभर में गल जाता है। प्यास इतनी अधिक लगती है कि सारे समुद्र का पानी पीने पर भी शान्त नहीं हो सकती। भूख भी इतनी अधिक लगती है कि पृथ्वी का समग्र भोजन खाने पर भी मिट नही सकती। लेकिन नरक में उन्हें एक बूंद भी पानी या एक कण भी भोजन का नहीं मिलता। वहाँ की भूमि का स्पर्श भी इतना दुःखप्रद होता है; मानो हजारों बिच्छुओं ने एक साथ काटा हो। इसी प्रकार उस नरकभूमि के रस, गन्ध, रूप, शब्द आदि भी असह्य और भयंकर कष्टदायक हैं। इसका वर्णन शास्त्रकार प्रथमद्वार मे कर चुके हैं। इसलिए यहाँ उसका विशेष वर्णन नही किया है। उसी से समझ लेना चाहिए कि नरक में जीव की क्या दुर्दशा होती है!

चोरी करने वाला पापी यहाँ के जेलखाने के कष्टों से कदाचित् बच जाय अथवा यहाँ के जेलखानों में उसे कदाचित् कम कष्ट मिले ; परन्तु मरने के बाद जिस नरक में वह जन्म लेता है, वहाँ तो उन भयंकर कष्टों से किसी सूरत में भी बच नहीं सकता। उसे वे नारकीय कष्ट लाजिमी भोगने होते हैं।

'ततोवि उवट्टिया ·· तिरियजोणि, ·· अणुहवंति वेयणं' नरक में वचनातीत दुःखों को भोगने के पश्चात् वहाँ से निकला हुआ दुरात्मा तिर्यंचयोनि में जन्म लेता है। वहाँ भी नरक के समान घोर कष्ट उसे चुपचाप सहने होते है। तिर्यंचयोनि मे एकेन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय तक के जीव होते है। अतः यहाँ छेदन, भेदन, भूख, प्यास, परवशता आदि हजारों दुःख भोगने पड़ते है। यहाँ किसी के आगे वह बोल कर कुछ भी पुकार नही कर सकता, यहाँ न कोई उसकी सुनने वाला है, न आश्वासन देने वाला है और न उसे धर्मात्मा के सिवाय कोई बचाने वाला है। तिर्यंचयोनि में एकेन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय तक वह लाखों बार पुनः पुनः जन्म-मरण करता रहता है। दुर्भाग्य से यदि कभी निगोद में पहुंच जाता है तो अनन्त-अनन्त काल तक उसी योनि में एक श्वास मे १८ बार जन्ममरण करते रह कर वचन से भी नही कहे जा सकें, ऐसे असह्य दुःखों को भोगता रहता है।

'ते अणंतकालेण····मणुयभावं लभंति णेगेहिं णिरयगतिगमण-तिरिय-भवसय-सहस्सपरियट्टेहिं'—इस वाक्य से शास्त्रकार ने स्पष्ट कर दिया है कि अनेकों बार नरकगति में जाने और लाखों बार तिर्यंचभव में जन्ममरण कर लेने के बाद अनन्त-काल बीतने पर सौभाग्य से यदि कदाचित् मनुष्यजन्म प्राप्त भी कर लें तो भी वे अनार्य, नीचकुलोत्पन्न, हीन आचरण वाले, अविवेकी, लोकनिन्द्य, कामभोगों में आसक्त, धर्मसंस्कारों से रहित, मिथ्याशास्त्रों का आश्रय लिये हुए एकान्तहिंसापरायण व्यक्ति बनते हैं। इसी का मूल में निरूपण किया है—'तत्थवि य भमंतऽणारिया···· कामभोगतिसिया।' प्रश्न होता है कि लाखों बार नरक और तिर्यंचगति में जन्म ले लेने और भयंकरतम कष्ट सह लेने के पश्चात् भी क्या उनके ऐसे अशुभकर्म भोगने शेष रह जाते हैं, जिनके कारण उन्हें मनुष्यजन्म सरीखा उत्तमजन्म मिलने पर भी अच्छा वातावरण और पवित्र धर्मसंस्कार नही प्राप्त होते ?

इसका उत्तर शास्त्रकार इस सूत्रपाठ में देते हैं—'जहिं निबंधंति निरयवत्तणि-भवप्पवंचकरणपणोल्लिया पुणो वि संसारावत्तणेममूले।' इसका भावार्थ यह है कि नरक और तिर्यंच में जन्म लेने के कारण उन जीवों ने कष्ट तो बहुत सहे ; लेकिन विना मन से, लाचारी से, बाध्य हो कर, रोते-रोते, बिलखते हुए सहे। इसलिए पिछले अशुभकर्मों के फल भोगने के साथ-साथ उन्होंने हाय-हाय करके नये कर्म और बांध लिये। नरक और तिर्यंचगति में उन जीवों को कहाँ सम्यक्त्व, सत्संग, सद्बोध

वैभव,सत्कार, ठाठबाठ आदि को देख कर तरसता है; परन्तु पा कुछ भी नही सकता। क्योंकि उसने चोरी जैसे कुकर्म को किसी जन्म में अपना कर हजारों का धनहरण किया, उन्हे लूटा, खसोटा, सताया, मार डाला और उनका घरबार जला दिया। क्या उसका फल उसे वैसे ही रूप मे नहीं मिलेगा ? अवश्य मिलेगा ! इसीलिए कई जन्मों पूर्व का वह चोर अब खुद लुटता है, पिटता है, दरिद्र बनता है, मन में जलता है, घोर अन्तराय कर्म के उदयवश वह कुछ भी प्राप्त करने में असमर्थ रहता है, अज्ञ, मूढ़, नीच और कुसस्कारी बनता है।

इसी बात को शास्त्रकार मूलपाठ द्वारा उद्घोषित करते हैं—'उव्विगावास-वसहि ··· पावकम्मकारी ····णेव सुहं णेव निव्वुतिं उवलभंति, अच्चंतविउल-दुक्खसयसंपलित्ता ···अविरया।' इसका अर्थ मूलार्थ तथा पदार्थान्वय में स्पष्ट-रूप मे किया जा चुका है।

मतलब यह है कि मनुष्य चाहे जैसा कुकर्म करके यहाँ सरकार, समाज या कुल की आँखो में धूल झोंक दे; फलतः दड से स्पष्ट बच जाय, सजा से साफ बरी हो जाय; लेकिन वे दुष्कर्म उसका पीछा नही छोड़ते। वे कही न कही, उसे उसका फल भुगवा कर ही छोड़ते हैं। वहाँ किसी की पेश नहीं चलती। कई बार तो ऐसे दुष्कर्म का फल हाथोंहाथ इसी जन्म में मिलता देखा जाता है। किसी ने किसी के लड़के की हत्या की, उसका इकलौता लड़का मर गया। किसी ने किसी गरीब सच्चरित्र व्यक्ति को लूटा या उसका घरबार नीलाम करवा दिया; उसकी दुराशीष के फलस्वरूप उस पापकर्म करने वाले का भी धन बीमारी, मुकद्दमेबाजी या अन्य कामों में खर्च हो गया और वह कंगाल हो गया; असाध्य बीमारी का शिकार हो गया। कर्मों के आगे किसी की पेश नहीं चलती। अतः जो यहाँ स्वयं ही अपने कृत कर्मो पर विचार करके शुद्ध हृदय से उसका प्रायश्चित्त कर लेता है वह अपने गाढ बन्धनों को हलका कर सकता है।

परन्तु यदि कोई जिद्द ठान कर अपने दुष्कर्मों में दिनोदिन वृद्धि करता जाता है, हंसते-हंसते बेखटके पापकर्म करता जाता है, तो उसका फल उसे रो-रो कर भोगना पड़ता है। शास्त्रकार स्वयमेव कहते हैं—'न य अवेदयित्ता अत्थि उ मोक्खोत्ति' अर्थात्—उन दुष्कर्मों का फल भोगे बिना कोई छुटकारा नहीं। इसमें किसी के साथ भी कोई रियायत नही होती।

'एवमाहंसु कहेसी य अदिण्णादाणस्स फलविवागं एयं'—इसका अर्थ स्पष्ट है। इस बात से तीर्थंकर प्रभु महावीर स्वामी के प्रति शास्त्रकार ने अपनी विनय-भक्ति प्रदर्शित की है; और इन बातों को उन वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के द्वारा प्रतिपादित बता

एयं तं ततियं पि अदिन्नादाणं'''दुरंतं'—इस सूत्रपाठ का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार अदत्तादान की भयंकरता और अशान्ति-दुःखप्रदता बता कर पुनः विवेक जगाते हैं। यह शास्त्रकार का पुनरुक्तिदोष न समझ कर आप्तपुरुष द्वारा अपने स्वजन को बार-बार समझाने के समान संसारी प्राणियों के लिए बार-बार दिया गया हितोपदेश समझना चाहिए।

इस प्रकार श्री प्रश्नव्याकरणसूत्र की सुबोधिनी व्याख्या सहित तीसरे अधर्मद्वार के रूप में अदत्तादान आश्रव नामक तृतीय अध्ययन पूर्ण हुआ।



चतुर्थ अध्ययन : अब्रह्मचर्य-आश्रव

अब्रह्मचर्य का स्वरूप

तीसरे अध्ययन में तृतीय अधर्म—अदत्तादान आश्रव का वर्णन किया गया था। अब इस चौथे अध्ययन मे शास्त्रकार चतुर्थ अधर्म— अब्रह्मचर्य आश्रव का वर्णन करते है। प्राय: यह देखा जाता है कि जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों और मन पर संयम नही रखता ; इन्द्रियविषयों मे अत्यधिक आसक्त रहता है ; अब्रह्मचर्य में प्रवृत्त होता है ; वही प्राय: चोरी किया करता है। इसलिए प्रसंगवश अदत्तादान के पश्चात् अब्रह्मचर्य का निरूपण किया जा रहा है। शास्त्रकार की प्रतिपादनशैली यह रही है कि किसी भी वस्तु का पूर्ण निरूपण करने के लिए वे स्वरूप, नाम आदि ५ द्वारों के जरिये वर्णन करते है। अत: यहाँ भी पहले की भांति अब्रह्मचर्य का वर्णन करते समय शास्त्रकार पहले उसके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

मूलपाठ

जंबू ! अबंभं च चउत्थं सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स पत्थणिज्जं, पंकपणयपासजालभूयं, थीपुरिसनपुंसवेदचिंधं, तवसंजमबंभचेरविग्घं, भेदायतणबहुपमादमूलं, कायरकापुरिससेवियं, सुयणजणवज्जणिज्जं, उड्ढनरयतिरिय-तिलोक्कपइट्ठाणं, जरामरणरोगसोगबहुलं, वहबंधविघात-दुव्विघायं, दंसणचरित्तमोहस्स हेउभूयं,चिरपरिचिय[1]मणुगयं दुरंतं चउत्थं अधम्मदारं ॥सू०१३॥

संस्कृतच्छाया

जम्बू ! अब्रह्म च चतुर्थं सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य प्रार्थनीयम्,

---

१ कही-कही इसके बदले 'चिरपरिगयमणाइकालसेविय' पाठ भी मिलता है।

—संपादक

पंकपनकपाशजालभूतम्, स्त्रीपुरुषनपुंसकवेदचिह्नम्, तपःसंयमब्रह्मचर्य-विघ्नो, भेदायतनबहुप्रमादमूलम्, कातरकापुरुषसेवितम्, सुजनजनवर्जनीयम्, ऊर्द्ध्वनरकतिर्यक्‌त्रैलोक्यप्रतिष्ठानम्, जरामरणरोगशोकबहुलम्, वध-बन्ध-विघात-दुर्विघातम्, दर्शनचारित्रमोहस्य हेतुभूतम्, चिरपरिचितम्, अनुगतम्, दुरंन्तं चतुर्थमधर्मद्वारम् ॥ सू० १३ ॥

पदार्थान्वय श्रीसुधर्मास्वामीजी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं— (जम्बू) हे जम्बू ! (चउत्थं च) चौथा, (अबंभं) अब्रह्मचर्य—मैथुन, (सदेवमणुया-सुरस्स) देव, मानव और असुरसहित (लोयस्स) लोक—संसार का, (पत्थणिज्जं) अभिलाषा करने योग्य है—वांछनीय है। (पंकपणयपासजालभूयं) यह पतला कीचड़ है, सूक्ष्म काई के समान चिपकने वाला, पाश-रूप तथा जालमय है, (थीपुरिसनपुंस-वेदचिंधं) स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ही इसका चिह्न है, (तवसंजमबंभचेर-विग्घं) यह अनशन आदि तप,पांच इन्द्रियों और मन पर के संयम और ब्रह्मचर्य के लिए विघ्नरूप है। (भेदायतणबहुपमादमूलं) चारित्रिक जीवन के नाश के आधार स्वरूप जो अनेक प्रकार के मदविषयकषायादि प्रमाद हैं, उनका मूल है। (कायरकापुरिससेवियं) कष्टों से घबराने वाले कायर और निन्दनीय व्यक्ति ही इसका सेवन करते हैं। (सुयणजणवज्जणिज्जं) पापों से विरत जो सज्जन पुरुष हैं, उनके द्वारा त्याज्य है। (उड्ढनरयतिरियतिलोक्कपइट्ठाणं) ऊर्द्ध्वलोक—देवलोक,अधोलोक—नरकलोक और मध्यलोक-तिर्यग्लोक के रूप में जो त्रिलोक है, उसमें सर्वत्र इसकी अवस्थिति है। (जरामरणरोगसोगबहुलं) यह बुढ़ापा, मृत्यु, रोग और चिन्ता—शोक से प्रचुर है। (वधबंधविघातदुव्विघायं) वध—मारने-पीटने, बंध—बंधन में डालने और विघात-मार डालने पर भी जिसका नाश करना दुष्कर है। (दंसणचरित्तमोहस्स हेउभूयं) दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का कारणभूत है। (चिरपरिचियं) चिरकाल से से परिचित है। (अणुगयं) निरन्तर पीछे लगा-रहने वाला है (दुरंतं) इसका परिणाम दुःखद है अथवा इसका अन्त कठिनाई से होता है। (चउत्थं अधम्मदारं) ऐसा यह चौथा अधर्मद्वार है।

मूलार्थ—गणधर श्रीसुधर्मास्वामीजी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं—जम्बू ! यह चौथा अब्रह्मचर्य-मैथुनसेवन नामक आश्रव है। देव, मनुष्य और असुरसहित सारा लोक इसको अभिलाषा (चाह) रखता है। यह मानव

जीवन को फंसाने के लिए दलदल (पतला कीचड़) है। पनक है, यानी काई के समान है, पाशरूप दृढ़ बंधन है, और मायाजाल है। इसे पहिचानने के चिह्न स्त्रीवेद (स्त्री को पुरुष के साथ रमण करने की अभिलाषा), पुरुषवेद (पुरुष को स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा) और नपुंसकवेद (स्त्री और पुरुष दोनों के साथ सहवास की वृत्ति) है। यह अनशन आदि बारह प्रकार के तप, इन्द्रियों और मन आदि पर के संयम और ब्रह्मचर्य में विघ्न करने वाला है। चारित्रजीवन का नाश करने वाले मदविषयकषायादि बहुत-से प्रमादों की जड़ है। कष्टों से घबराने वाले कायर और निन्द्य पुरुष इसको हृदय से अपनाते हैं। श्रेष्ठजनों—पापों के त्यागी पुरुषों द्वारा यह त्याज्य है। स्वर्ग, नरक और तिर्यग्—इन तीनों लोकों में यह प्रतिष्ठित—जड़ जमाए हुए—है। यह बुढ़ापा, मौत, रोग और शोक—चिन्ताओं का कारण है। इससे सम्बन्धित व्यक्ति को मारने-पीटने, बन्धन में डालने या जान से खत्म कर देने पर भी इसका सर्वथा नाश करना—मिटाना कठिन है। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मबन्ध का हेतु यही है। यह जीव का अनादिकाल से परिचित है, जीव के साथ लगातार इसका सम्बन्ध रहा है और इसका अन्त (परिणाम) दुःखदायी है अथवा दुःख से इसका अन्त किया जा सकता है। इस प्रकार का यह चौथा अधर्मद्वार है।

व्याख्या

तीसरे अधर्मद्वार—अदत्तादान-आश्रव के निरूपण करने के पश्चात् शास्त्रकार अब चौथे अधर्मद्वार—अब्रह्मचर्य-आश्रव का निरूपण करते हुए सर्वप्रथम अब्रह्मचर्य का स्वरूप बताते हैं।

अब्रह्मचर्य का लक्षण—हिंसा, मृषावाद, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रह-इन पाचों आश्रवो में से अब्रह्मचर्य आश्रव का त्याग बड़ा ही दुष्कर है। बड़े-बड़े योगियों, साधको, त्यागियो और तपस्वियों को इसने पछाड़ दिया है। इसका चेप इतना गाढ है कि एक वार लगने पर जल्दो छूटता नही। कहा भी है—

'हरिहरहिरण्यगर्भप्रमुखे भुवने न कोऽप्यसौ शूरः।
कुसुमविशिखस्य विशिखान् अस्खलयद् यो जिनादन्यः॥'

अर्थात्—'विष्णु, महेश और ब्रह्मा आदि से लेकर जितने भी संसार में व्यक्ति हैं, उनमे सिवाय वीतराग के कोई ऐसा शूरवीर नही है, जिसने काम (अब्रह्मचर्य) के बाणों को व्यर्थ किया हो, यानी जो काम के बाणों का शिकार न हुआ हो।

अब्रह्म, काम, मैथुन, विषयसेवन, कुशील आदि सब समानार्थक शब्द हैं। ब्रह्म का अर्थ आत्मा या परमात्मा होता है। ब्रह्म यानी आत्मा या परमात्मा में रमण करना अथवा आत्मा या परमात्मा की सेवा में लगना ब्रह्मचर्य कहलाता है। जिस प्रवृत्ति में आत्मा या परमात्मा को छोड़ कर इन्द्रियविषयों का ही आसक्तिपूर्वक सेवन होता हो, शरीर पर मूर्च्छा-ममता करके उसी की सेवा में रातदिन लगे रहना होता हो, वह अब्रह्मचर्य है। जब मनुष्य शरीर और इन्द्रियों के लुभावने विषयों में आसक्त हो जाता है तो सर्वप्रथम कामवासना या मैथुनसेवन की प्रवृत्ति की ओर ही झुकता है। फिर वह जननेन्द्रिय पर संयम नहीं रखता। यही अब्रह्मचर्य है, शीलभ्रष्टता है, मैथुनसेवन है और कामवासना की प्रवृत्ति है।

अब्रह्मचर्य के चिह्न—किसी व्यक्ति में अब्रह्मचर्य की वृत्ति है या नहीं? इसकी पहिचान केवल उसकी बाह्य वेशभूषा से ही नहीं होती। इसकी पहिचान के लिए शास्त्रकार ने तीन चिह्न बताए हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद—'थीपुरिस-नपुंसवेद-चिंधं'। जब तक स्त्री को पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा अन्तर्मन में जागती हो, तब तक उसमें अब्रह्मचर्य की वृत्ति मौजूद है और उसको शास्त्रीय परिभाषा में स्त्रीवेद कहा गया है। जब तक पुरुष के अन्तर्मन में किसी स्त्री को देख कर उसके साथ सहवास की इच्छा जागती है या उसके प्रति आकर्षण पैदा होता है, तब तक उसमें अब्रह्मचर्य है और उसका बाह्य प्रतीक पुरुषवेद है। जब तक किसी नपुंसक को स्त्री और पुरुष दोनों के प्रति रमण की इच्छा जागती है, तब तक वहां भी अब्रह्मचर्य है, और उसकी बाह्य पहिचान नपुंसकवेद है। अब्रह्मचर्य की प्रवृत्ति की स्थूलरूप में पहिचान स्त्री और पुरुष की दिनचर्या, व्यवहार, चेष्टाएं, हावभाव या प्रवृत्ति देख कर ही की जा सकती है। स्थूलदृष्टि वाले दुनियावी लोग तो बाह्य व्यवहार—किसी पराई स्त्री के साथ व्यभिचार, बलात्कार, प्रेमालाप, प्रणय आदि देख कर या पराये पुरुष के साथ किसी स्त्री का उपर्युक्त व्यवहार देख कर अब्रह्मचर्य की प्रवृत्ति को जान पाते हैं।

अब्रह्मचर्य की सर्वत्र धूम—आज जहां देखो, वहीं अब्रह्मचर्य की धूम मची हुई है। सिनेमाघर, नाटकशाला, वेश्यालय आदि अब्रह्मचर्य के स्थानों में एवं स्वांग-तमाशा करने वालों के यहाँ पर भीड़ लगी रहती है। मनुष्यों का इतना जमघट देख कर यही कहा जा सकता है कि लोगों की ब्रह्मचर्य की ओर रुचि अत्यन्त कम है। हालांकि अब्रह्मचर्य से होने वाले नुकसानों को उनमें से बहुत-से जानते भी हैं, फिर भी मन की कामवृत्ति एवं व्यसन के कारण उनके पैर धर्मस्थानों में आने के बजाय उन अधर्मस्थानों की ओर ही ज्यादा बढ़ते हैं। मनुष्यलोक में ही जब अब्रह्मचर्य की इतनी प्रवृत्ति है, इतना बोलबाला है, तब देवों, असुरों और तिर्यंचों के

लोक मे क्यों नहीं होगी ? इसीलिए शास्त्रकार स्वयं कहते हैं—'उड्ढनरयतिरियतिलोक्कपइट्ठाणं ।'

मनुष्य जैसा समझदार और विवेकी प्राणी भी जब काम मे इतना अधिक आसक्त हो जाता है कि उसे गम्यागम्य, समय-असमय, लाभ-हानि आदि का कोई भान नहीं रहता ; तब तिर्यञ्चों का तो कहना ही क्या ? तिर्यञ्चो में तो मनुष्य जितना विवेक और विचार नही है । वे कामवासना के अत्यधिक शिकार हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? कहा भी है—

'कृशः काणः खंजः श्रवणरहित· पुच्छविकलो,
व्रणैः पूयक्लिन्नैः कृमिकुलशतैरावृततनुः ।
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालार्पितगलः,
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः ॥'

अर्थात्—एक कुत्ता बहुत दुबला है, काना है, लगडा है, बहरा है, पूंछकटा है, घावो से पीप बह रही है, सैकडों कीडों से शरीर व्याप्त है, भूख से विकल है, बूढ़ा है । पेट, कपाल और गला पिचके हुए है अथवा गले मे पिठर-कपाल पड़ा है, तब भी वह कामविवश हो कर कुतिया के पीछे लगता है । अफसोस है, काम मरे हुए को भी मारता है ।'

देवों मे भी काम का बोलबाला है । वहां भी एक-एक देव के कई देवांगनाएं होती है । मनुष्यलोक की तरह वहा भी स्त्रियों के लिए परस्पर संघर्ष होता है और कामसुखसेवन की होड लगी रहती है । इसलिए शास्त्रकार का यह कथन सोलहों आने सच है कि 'सदेव मणुयासुरस्स लोयस्स पत्थणिज्जं'—देवता, मनुष्य और असुरसहित सारे लोक-जगत् में इसकी अभिलाषा है, पूछ है या लोग इसे चाहते हैं । इतना इसका आकर्पण क्यों है ? दुनिया इस काम (अब्रह्मचर्य) के पीछे क्यों पागल बनी फिरती है ? इसका उत्तर आगे चल कर शास्त्रकार स्वयं ही देते हैं—'चिरपरिचियमणुगयं ।' यह अब्रह्मचर्य चिर-परिचित है, अनादिकाल से अभ्यस्त है, परम्परा से सभी प्राणी बारबार इसके सम्पर्क में आते हैं, लगातार इसके साथ सम्बन्ध बना रहा है, यह सतत प्राणी के साथ-साथ चला आ रहा है । प्राणी जहां भी जिस योनि मे भी जाता है, वहां काम (मैथुन) उसके साथ निरन्तर रहता है, इसलिए इसका छोड़ना अत्यन्त दुष्कर लगता है ।

'पंकपणयपासजालभूयं'—इसीलिए शास्त्रकार ने अब्रह्मचर्य (काम) को दलदल-पतला कीचड़, चिपकने वाला गाढ बंधन और जाल के समान बताया है । जैसे प्राणी दलदल में फंस जाने पर निकल नही सकता ; प्रायः यह वही फंस कर मर जाता है ; वैसे ही काम के दलदल में फंस जाने पर मनुष्य सहसा निकल नही सकता । जैसे पाश मे बंधे हुए मृगादि पशुओं का और जाल में फसे हुए मछली आदि जलचरजीवों

का छूटना दुष्कर है, वैसे ही काम के पाश और जाल से छूटना भी कठिन है। कहा भी है—

> सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणाम्,
> लज्जां तावद् विधत्ते, विनयमपि समालम्बते तावदेव।
> भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते।
> यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति॥

अर्थात्—यह पुरुष तब तक ही सन्मार्ग में लगा रहता है, तब तक ही इन्द्रियों पर विजय पाता है, तब तक ही लज्जा रखता है और विनय करता है; जब तक उस पर युवती नारियों के भौंह रूपी धनुष से खींच कर फैंके गए तथा कान तक पहुँचे हुए धैर्य को हरने वाले, नीले पक्ष्म वाले दृष्टिबाण (काम के बाण) नहीं पड़ते हैं। उसकी वही नैतिकमृत्यु हो जाती है।

इसीलिए जिस प्राणी के जीवन में अब्रह्मचर्य ने स्थान पा लिया है, उसे चाहे जितना मारा-पीटा जाय, सताया जाय या बंधन में डाला जाय, अथवा प्राणरहित कर दिया जाय; उसका अब्रह्मचर्य के कुसंस्कार से सर्वथा बच निकलना मुश्किल है; क्योंकि इसका चेप ही इतना गाढ़ है कि छूटना कठिन होता है। कहा भी है—

> 'किं किं ण कुणइ, किं किं न भासए चिंतए वि य न किं किं?।
> पुरिसो विसयासत्तो विहलंघलिउव्व मज्जेण॥'

अर्थात्—मद्य से मत्त पुरुष की तरह विषयासक्त पुरुष क्या-क्या नहीं करता? क्या-क्या नहीं बोलता? क्या-क्या नहीं सोचता? इसी बात को 'वधबंध-विघातदुर्विघायं' और 'दुरंतं' इन दो पदों में शास्त्रकार स्वयं कहते हैं।

अब्रह्मचर्य से कायिक, मानसिक और आत्मिक हानियाँ—अब्रह्मचर्य जीवन का सर्वनाश करने वाला है। जो व्यक्ति इसके चंगुल में फंस जाता है, वह वीर्यनाश करके शरीर की शक्ति को खत्म कर बैठता है। वीर्य शरीर की शक्ति का मूल है। अगर वीर्य का अधिक नाश हो जाता है तो अशक्त हो जाने के कारण मनुष्य क्षयरोग, हृदयरोग, मंदाग्नि आदि अनेक बीमारियों का शिकार बन जाता है, कहा भी है—

> 'कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्च्छा, भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षयः।
> राजयक्ष्मादिरोगाश्च भवेयुर्मैथुनोत्थिताः॥'

'अब्रह्मचर्य से कंपन, पसीना, थकान, मूर्च्छा, चक्कर आना, घबराहट, कमजोरी एवं टी. बी. आदि बीमारियाँ पैदा होती हैं।' उसे असमय में ही बुढ़ापा आ घेरता है। वीर्यनाश करने वाला व्यक्ति रातदिन निराश, चिन्तातुर और उत्साहहीन बना रहता है। वह किसी भी अच्छे कार्य को करने का साहस नहीं कर सकता। उसके चेहरे पर सदा मायूसी छाई रहती है। एक आचार्य ने कहा है—

'जो सेवइ किं लहई, थामं हारेइ, दुब्बलो होइ ।
पावेइ वेमणस्सं दुक्खाणि य अत्तदोसेणं ॥'

'मैथुनसेवन से क्या लाभ होगा ? मनुष्य अपने उत्साह और स्फूर्ति को खो देता है, दुर्बल हो जाता है। मन में ग्लानि पाता है और अपने आपकी इस गलती से अनेक दु:ख पाता है।' यह तो हुई शारीरिक और मानसिक हानियां ; जिनका संकेत शास्त्रकार ने स्वयं किया है—'जरामरणरोगसोगबहुलं' । अब आध्यात्मिक हानि की बात सुन लीजिए। जिसके जीवन में अब्रह्मचर्य ने अड्डा जमा लिया है, उसकी आत्मा दुर्बल हो जाती है, उसमें आत्मविश्वास नाममात्र को भी नही होता, उसके जीवन में मद, विषय, क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय, निन्दा या निद्रा और विकथा (स्त्री-भक्त-राज-देश की कुचर्चा) ये पांचों प्रमाद घुस जाते है और उसके चारित्रिक जीवन का सर्वनाश कर देते है। जीवन को मोहाच्छन्न करके सच्चे ज्ञान से, दर्शन से और शुद्ध आचरण से रहित कर देने वाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय घुन की तरह उसके जीवन मे लग जाते हैं और वे दोनों कर्म उसकी आत्मा को विविधगतियो और योनियो मे बारबार भटकाते हैं। कभी नरक में ले जाते हैं तो कभी तिर्यचगति में भटकाते हैं। आचार्यों ने बताया है—

तिव्वकसाओ बहुमोहपरिणओ, रागदोससंजुत्तो ।
बंधइ चरित्तमोहं दुविहंपि चरित्तगुणघाई ॥१॥
अरिहंतसिद्धचेईअतवसुअगुरुसाहुसंघपडिणीओ ।
बंधति दंसणमोहं अणंतसंसारिओ जेण ॥२॥

अर्थात्—'तीव्रकषायी, अत्यन्तमोही, राग और द्वेष से युक्त व्यक्ति चारित्रगुण का घात करने वाले दो प्रकार के चारित्रमोहनीयकर्म का बंध करता है। अब्रह्मचर्य का सेवन करने वाला अर्हन्त (वीतराग), सिद्ध, चैत्य, तप, श्रुत-शास्त्र, गुरु, साधु और संघ का विरोधी बन जाता है ; जिससे वह दर्शनमोहनीय कर्म का बंध करता है और उसके कारण अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है।'

ये सब बहुत बड़ी आत्मिक हानियां हैं। इसी की साक्षी शास्त्रकार के ये वचन देते हैं—'भेदायतण-बहुपमायमूलं" दंसणचरित्तमोहस्स हेउभूयं।' इसके अतिरिक्त आत्मा के विकास के लिए जो अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश (धर्मपालन के लिए कष्टसहन), प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य (सेवा), स्वाध्याय, ध्यान, और व्युत्सर्ग ये १२ प्रकार के तप हैं ; अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, पांचों इन्द्रियों पर नियंत्रण, मन का निग्रह, आदि संयम के प्रकार हैं और ब्रह्मचर्य रूप हैं ; अब्रह्मचर्य (मैथुनसेवन) इनमें सदा रुकावट डालने वाला है। आत्मा के विकास के लिए महापुरुषों ने जो भी प्रक्रियाएँ या साधनाएँ बताई हैं ;

उन सबमें अब्रह्मचर्य विघ्नकारक है। तप, जप, ध्यान, मौन, स्वाध्याय, सेवा आदि सब में यह रोड़ा अटकाने वाला है। इसीलिए कहा है—'तवसंजमबंभचेरविग्घं।' मतलब यह है कि अब्रह्मचर्य शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक, आर्थिक और आत्मिक सभी प्रकार की हानि करने वाला है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक डॉ० थोरो से उसके शिष्य ने पूछा—'गुरुदेव ! मनुष्य को अपने जीवन में कितनी बार स्त्रीप्रसंग करना चाहिए ?' थोरो ने उत्तर दिया—'जीवनभर में सिर्फ एक बार।' शिष्य ने फिर पूछा—'अगर इतने से न रहा जाय तो ?' थोरो ने कहा—'साल में एक बार।'

'अगर इतने से भी न रहा जाय तो ?' शिष्य ने पुनः पूछा।

थोरो—'तो, महीने में एक बार।'

शिष्य—'अगर इस पर भी न रहा जाय तो क्या करना चाहिए ?'

थोरो—'तब उसे कफन ले कर अपने सिरहाने रख लेना चाहिए और फिर जो मन चाहे करना चाहिए।'

मतलब यह है कि ब्रह्मचर्य के नाश से जीवन का ह्रास और नाश होता है। अब्रह्मचर्य से कितनी बड़ी हानि है यह ?

कई लोग यह मानते है कि हिंसा, झूठ,चोरी आदि से तो अपने नुकसान के साथ-साथ दूसरों का भी बड़ा भारी नुकसान है, लेकिन अब्रह्मचर्य से केवल अपना ही नुकसान होता है ; इसमें परिवार, राष्ट्र या समाज आदि का क्या नुकसान है ?

परन्तु यह भ्रान्ति है। अब्रह्मचर्य-सेवन से अपनी तो अपार हानि होती ही है; परिवार आदि की भी बहुत बड़ी हानि होती है। जिस परिवार, कुल, जाति या राष्ट्र में व्यभिचारी या कामी पुरुष होते हैं, वे अपने दुष्कार्य से उसे बदनाम और कलंकित करते हैं, उनकी संतानों में भी परम्परा से प्रायः वे ही कुसंस्कार उतर कर आते हैं। वह परिवार या समाज को दुर्बल, निर्वीर्य, निरुत्साही व कुसंस्कारी संतान दे जाता है। ऐसे व्यक्ति कई पैतृक रोग भी अपनी संतान को दे जाते है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलते हैं। अब्रह्मचर्य-सेवन करने वाला प्रायः किसी न किसी रोग से अल्प आयु में ही कालकवलित हो जाता है ; इससे राष्ट्र या समाज को उसके जीवन से होने वाले सुकार्यों के लाभ से वंचित रहना पड़ता है; परिवार को उसकी बीमारी के समय आर्थिकहानि उठानी पड़ती है; हैरानी-परेशानी भोगनी पड़ती है और उसकी सेवा में लगातार जुटा रहना पड़ताहै, जिससे आजीविका का कार्य ठप्प हो जाता है। ये सब सामाजिक, पारिवारिक या राष्ट्रीय हानियाँ कम नहीं हैं !

अब्रह्मचर्य का सेवन कौन करते है, कौन नहीं ?—अब सवाल यह होता है कि अब्रह्मचर्य जब इतनी अगणित हानियाँ करता है तो उसका सेवन कौन व्यक्ति और क्यों सेवन करते हैं ? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—'कायरकापुरिस-

सेवियं '''सुयणजणवज्जणीयं' अर्थात्—कायर और समाज में घृणित लोग ही प्रायः इसका सेवन करते हैं ; धर्मपरायण विवेकी सज्जनपुरुष तो इसे त्याज्य समझते हैं। जो लोग भ्रान्तिवश ब्रह्मचर्य का पालन करना महाकष्टदायक समझते है ; ससारासक्त मोही जनों को देख कर वे विषयभोगो या मैथुनसेवन में ही आनन्द की कल्पना करते हैं, वे ही स्त्रीपरिग्रह या कामवासना पर विजय नहीं पाने वाले तथा कष्टों से घबराने वाले कायर व्यक्ति होते है। वास्तव मे ब्रह्मचर्य स्वाभाविक है और जीवन का वास्तविक आनन्द प्राप्त कराने वाला है। अब्रह्मचर्य ही अस्वाभाविक, कष्टकर और संतानोत्पत्ति एवं सतानों के पालन-पोषण, विवाहादि करने की नाना चिन्ताओं का जाल बढ़ाने वाला है। इसमें सुख होता तो वीतरागपुरुष या उनके पदचिह्नों पर चलने वाले साधु और श्रावक इसका त्याग न करते। इसलिए शास्त्रज्ञ, विवेकी और धर्मपरायण पापो से विरक्त सज्जन पुरुष तो इसे विष की तरह त्याज्य समझते हैं। शेष समस्त पदों का अर्थ पदार्थान्वय एव मूलार्थ मे स्पष्ट किया जा चुका है।

अब्रह्मचर्य के पर्यायवाची नाम

पिछले सूत्र में शास्त्रकार अब्रह्मचर्य के स्वरूप का निरूपण कर चुके ; अब आगे के सूत्रपाठ मे वे क्रमश. अब्रह्मचर्य के समानार्थक नामों का निर्देश करते है—

मूलपाठ

तस्स य णामाणि गोण्णाणि इमाणि होंति तीसं; तंजहा—१ अबंभं, २ मेहुणं, ३ चरंतं, ४ संसग्गि, ५ सेवणाधिकारो ६ संकप्पो, ७ बाहणा पयाणं, ८ दप्पो, ९ मोहो, १० मणसंखोभो (संखेवो) ११ अणिग्गहो, १२ वि-(वु)ग्गहो, १३ विघाओ, १४ विभंगो, १५ विब्भमो, १६ अधम्मो, १७ असीलया, १८ गामधम्मत(ति)त्ती, १९ रती, २० रागचिता-(रागो), २१ कामभोगमारो, २२ वेरं, २३ रहस्सं, २४ गुज्झं, २५ बहुमाणो, २६ बंभचेरविग्घो, २७ वावत्ति, २८ विराहणा, २९ पसंगो, ३० कामगुणोत्ति वि य तस्स एयाणि एवमादीणि नामधेज्जाणि होंति तीसं ॥ सू० १४ ॥

संस्कृतच्छाया

तस्य च नामानि गुण्यानि इमानि भवन्ति त्रिंशत्, तद्यथा—१ अब्रह्म २ मैथुनं, ३ चरत्, ४ संसर्गि, ५ सेवनाधिकारः, ६ संकल्पः, ७ बाधना पदा-

करते हैं, जो अब्रह्मचर्य के समानार्थक हैं, सार्थक हैं, और गुणनिष्पन्न हैं। यद्यपि 'मूलार्थ' में इन सबके अर्थ स्पष्ट हैं; फिर भी इनकी व्याख्या करना आवश्यक समझकर संक्षेप में व्याख्या करते हैं—

'अबंभं' संस्कृत भाषा में इसका रूप होगा—'अब्रह्म', जिसका सामान्य अर्थ है—ब्रह्म का अभाव। 'ब्रह्म' शब्द निम्नोक्त सात अर्थों में प्रयुक्त होता है—तत्त्व, तप, वेद, ब्रह्मा, यज्ञ कराने वाला, योग का एक भेद और ब्राह्मण।[1] यहाँ प्रसंगवश तत्त्व, तप, वेद और ब्रह्म इन चार अर्थों का इस शब्द में समावेश हो सकता है। तत्त्व का अर्थ आत्मस्वरूप है। आत्मा का ब्रह्म से यानी अपने स्वरूप से अलग हो जाना, आत्मस्वरूप को छोड़ कर इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्त हो जाना, अब्रह्म है, अतत्त्व रूप है। तप पवित्र अनुष्ठान या आचरण को कहते हैं। मैथुन अपवित्र आचरणरूप है, उसके सद्भाव में तप का होना असम्भव है। इसलिए यह अब्रह्म अतप—अकुशलानुष्ठान—पापाचरण रूप भी है। वेद का अर्थ आगमज्ञान है। जिसके हृदय में कामवासना जाग रही है, उसके हृदय में सम्यग्ज्ञान नहीं होता। अतएव अब्रह्म अवेद—अज्ञानरूप है। ब्रह्म परमात्मा या भगवान् वीतराग अर्हन्त को कहते हैं। जिसमें ज्ञानावरणीय आदि (चार घातिकर्म तथा रागद्वेषादि भाव) कर्म नहीं होते, वह अर्हन्त है, अथवा शुद्ध आत्मा का नाम भी ब्रह्म है। जो कामी जीव होता है, वह शुद्ध आत्मभाव को अर्थात् परमात्मा—वीतराग अर्हन्त की दशा को नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिए शुद्ध आत्मा—परमात्मा या वीतरागरूप ब्रह्म से रहित होने के कारण यह अब्रह्म कहलाता है।

'मेहुणं'—स्त्री-पुरुष के जोड़े को मिथुन कहते हैं। स्त्री-पुरुष-युगल के संयोग-विशेष से यह उत्पन्न होता है। इसलिए इसका मैथुन नाम भी सार्थक ही है।

चरंतं—आज अब्रह्मचर्य एक या दूसरे रूप में सारे संसार में व्याप्त है, सारे संसार में यह प्रचलित है; इसलिए इसका 'चरत्' नाम यथार्थ है। ऊर्ध्वलोक में—स्वर्ग में इसकी अप्रतिहतगति है। नौ ग्रैवेयक तथा पांच अनुत्तर—विमानवासी देवों को छोड़ कर शेष देवलोकों में इसका प्रत्यक्ष साम्राज्य है। ज्योतिषी देवों में भी इसका संचार है। और मध्यलोक में वीतरागी साधुओं के सिवा मनुष्यों और तिर्यंचों में सर्वत्र इसका बोलबाला है। अधोलोक में भी व्यन्तरदेवों और भवनपतिदेवों में भी कामवासना प्रबल होती है। नारक जीवों में भी नपुंसकवेद के उदय से तीव्रवासना का होना आगम, सिद्ध है।

---

१ 'ब्रह्म तत्त्वतपोवेदे न द्वयोः पुंसि वेधसि।
ऋत्विग्योगभिदोर्विप्रे'—मेदिनीकोश

अथवा 'चरत्' का अर्थ यह भी हो सकता है कि सभी प्राणियों के जीवन में यह चलता रहता है, चलायमान होने वाला भी है। इसलिए इसका 'चरत्' नाम भी सार्थक है। चर् धातु जैसे गति अर्थ में है, वैसे भक्षण अर्थ में भी है। उसके अनुसार 'चरत्' का यह अर्थ भी उचित कहा जा सकता है कि जो चारित्र गुणों को चर जाय—उन्हें सफाचट कर दे। वास्तव में अब्रह्मचर्य विश्वव्यापी, सर्व प्राणियो मे संचरण करने वाला या चारित्र गुणो का चरने वाला है,अतः इसका चरत् नाम सार्थक है।

'संसग्गि'—स्त्री और पुरुषों का संसर्ग—वार-वार एकान्त संपर्क या संस्पर्श भी कामविकारों को पैदा करने वाला होता है। इसलिए ससर्गजन्य होने से इसे अब्रह्म का पर्यायवाची कहना ठीक ही है। कहा भी है—

'नामाऽपि स्त्रीति संह्लादि विकरोत्येव मानसम्।
किं पुनर्दर्शनं तस्या विलासोल्लासितभ्रुवः॥'

'स्त्री का नाम भी विकारी मन में आह्लाद पैदा कर देता है, मन में विकार वासना पैदा कर देता है तो फिर विलास (हाव भाव) के साथ तिरछे कटाक्ष वाली स्त्री का दर्शन या स्पर्श क्या नही कर सकता ?'

'सेवणाधिकारो'—यह चोरी आदि विरोधी सेवनाओं—पापकर्मों में प्रवृत्त कराने वाला है। क्योंकि विषयासक्त कामी पुरुष स्त्री के इशारे पर चोरी, हत्या, मद्यपान, मांसभक्षण आदि सभी अकार्यों में प्रवृत्त हो जाता है। कहा भी है—

'सर्वेऽनर्था विधीयन्ते नरैरर्थफलालसैः।
अर्थस्तु प्रार्थ्यते प्रायः प्रेयसीप्रेमकामिभिः।'

अर्थात्—अर्थ की लालसा वाले मनुष्य दुनिया भर के सभी अनर्थों को करने के लिए उद्यत हो जाते हैं; और प्रेमिकाओ का प्रेम चाहने वाले लोग धन अवश्य चाहते है।

इसलिए पापाचारों में नियुक्त या प्रेरित करने वाला होने से इसे अब्रह्म का भाई कहना उचित ही है।

संकप्पो—अब्रह्मचर्य का सर्वप्रथम प्रवेश मन के संकल्प विकल्प से होता है। कहा भी है—

'काम ! जानामि ते रूपम्, संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि॥'

हे काम ! मैं तेरे स्वरूप को जानता हूं। तू संकल्प से ही तो पैदा होता है। मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा तो तू मेरी आत्मा मे उत्पन्न न हो सकेगा।

इसलिए सकल्प से पैदा होने के कारण इसे अब्रह्म का पर्यायवाची कहना ठीक है।

बाहणा पयाणं—अब्रह्म संयम के पद अर्थात् स्थानों का बाधक है, अतः इसका बाधना नाम भी उचित है। 'पया' का संस्कृत रूप प्रजा भी होता है, अतः अब्रह्म संयमी मानव प्रजा को बाधा पहुँचाने वाला है।

दप्पो—अत्यधिक स्वादिष्ट एवं गरिष्ठ वस्तुओं का सेवन शरीर को पुष्ट बना देता है; उससे भी कामविकार पैदा होता है। जैसा कि उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—

रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा हवंति।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति, दुमं जहा साउफलं तु पक्खी॥

अर्थात्—शरीर को पौष्टिक बनाने वाले रसों—स्वादिष्ट चीजों का अत्यधिक सेवन नहीं करना चाहिए। क्योंकि प्रायः रसीले पदार्थ दर्प (उत्तेजना) पैदा करने वाले होते हैं। और दर्पयुक्त मनुष्य को कामवासनाएँ उसी तरह सताती है,जैसे स्वादिष्ट फल वाले पेड़ को पक्षी पीड़ित करते हैं।

अथवा वैभव आदि का दर्प भी मनुष्य को व्यभिचार के रास्ते चढ़ा देता है। इसलिए इसे अब्रह्म का समानार्थक कहना उचित है।

मोहो—यह अज्ञान और मूढ़ता से उत्पन्न होता है,इसलिए इसे मोह कहा है। वास्तव में यह वेद नामक नोकषाय,जो चारित्रमोहनीय कर्म का एक भेद है; उसके उदय से उत्पन्न होता है, इसलिए इसे मोह कहा है। मोह में अंधा होकर ही मनुष्य कामवासना से प्रेरित होता है। मोह की भयंकरता का वर्णन एक आचार्य ने बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है—

दृश्यं वस्तु परं न पश्यति जगत्यन्धः पुरोऽवस्थितं,
रागान्धस्तु यदस्ति तत्परिहरन् यन्नास्ति तत्पश्यति।
कुन्देन्दीवरपूर्णचन्द्रकलशश्रीमल्लतापल्लवाः
नारोप्याशुचिराशिषु प्रियतमागात्रेषु यन्मोदते॥

अर्थात्—अन्धा मनुष्य तो सामने रखी हुई घड़ा, कपड़ा आदि प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली चीजों को ही नहीं देख पाता; किन्तु राग (मोह) से अन्धा बना हुआ व्यक्ति तो जो प्रत्यक्ष में विद्यमान है उसको तो नहीं देखता,किन्तु जो वस्तु उसके सामने प्रत्यक्ष में मौजूद नहीं है, उसे देखता है। यही कारण है कि वह अपनी मानी हुई प्रियतमा के अत्यन्त घिनौने अपवित्र शरीर में झूठी कल्पनाएँ करके प्रसन्न होता है। उसके हड्डी के दांतों को कुन्दपुष्प मानता है, अस्थिमय मलयुक्त नेत्रों को नीलकमल मानता है, कफ आदि घृणित पदार्थों से भरे हुए मुख को पूर्ण चन्द्रमा की उपमा देता है, मांस के पिंड-रूप स्तनों को स्वर्ण कलश मानता है,उसकी हड्डी,मांस,रुधिर आदि से भरी हुई अपवित्र भुजाओं को सुन्दर लता की और उंगलियों को कोमल किसलयों—कोंपलों की उपमा देता है। यह सब उसके अज्ञान और मोह की ही करामात है।

इसलिए मोह को अब्रह्म का साथी कहना ठीक ही है।

'मणसंखोहो'—चित्त में चंचलता और व्यग्रता आए बिना काम-वासना उत्पन्न नहीं हो सकती। किसी भी सुन्दरी को देख कर मन चलायमान न हो तो काम-वासना पैदा नहीं होती; लेकिन जब मन विचलित होता है, तभी वासना जागती है और वहाँ

अब्रह्मचर्य-सेवन है। बड़े-बड़े योगियों का मन सुन्दरियों को देख कर चलायमान हो जाता है, साधारण आदमियों की तो बात ही क्या ? प्रमाण के लिए देखिए निम्न-लिखित गाथा—

'निक्कडकडक्खकंडप्पहारनिब्भिन्न - जोगसन्नाहा ।
महारिसिजोहा जुवईण जंति सेवं विगयमोहा ॥'

अर्थात्—'निर्मोही महर्षि कर्मशत्रुओं के साथ जूझने वाले योद्धा हैं; लेकिन उनका भी योग (ध्यान या समाधि) रूपी कवच युवतियों के निकृष्ट कटाक्षरूपी बाण से छिन्न-भिन्न हो जाता है और वे उन ललनाओं के सेवन करने में प्रवृत्त हो जाते हैं; तब दूसरों का तो कहना ही क्या ?'

इसलिए मनःसंक्षोभ को अब्रह्म का जनक कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं।

'अनिग्गहो'—इन्द्रियों के विषय जब मनुष्य के सामने आते हैं, उस समय यदि वह अपने को संभाल ले; इसी प्रकार जब मन में दुर्विषयों के संकल्प उठने लगें कि तुरन्त सावधान हो जाय; मन में राग और द्वेष न होने दे तथा इन्द्रियों को उनमें प्रवृत्त न होने दे; शीघ्र ही रोक ले तो कोई कारण नहीं है कि काम-वासना में प्रवृत्ति हो। परन्तु जब मनुष्य इन्द्रियों के विषयों और मन के दुर्विकल्पों को रोकता नहीं, उन्हें खुल्ली छूट दे देता है, तभी काम-वासना में प्रवृत्ति या अब्रह्माचरण होता है। कहा भी है—

'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति'—इन्द्रियाँ बड़ी बलवान् होती हैं। ये बड़े-बड़े विद्वानों को भी खींच कर विषयों के गर्त में पटक देती हैं।

इसलिए अनिग्रह भी अब्रह्म के मुख्य कारणों में से एक होने कारण उसे अब्रह्म का समानार्थक सहोदर कहना उचित ही है।

विग्गहो—काम-वासना के सेवन में मुख्य निमित्त स्त्री होती है। जब दो कामी पुरुष एक ही सुन्दरी को चाहते हैं और दोनों ही उसे अपनी बनाने पर उतारू हो जाते हैं तो कामावेश में वे उसके लिए बड़ी से बड़ी लड़ाई या युद्ध करने को व मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं। अथवा जब कोई जबर्दस्त कामी पुरुष किसी भद्र पुरुष की सुन्दर स्त्री को जबरन हथियाना चाहता है, और वह उसके कब्जे में अपनी पत्नी को देने के लिए तैयार नहीं होता, तब जबर्दस्त कामान्ध पुरुष उसके लिए लड़ाई छेड़ता है और अपनी जान को भी जोखिम में डाल देता है। कहा भी है—

''ये रामरावणादीनां संग्रामा ग्रस्तमानवाः ।
श्रूयन्ते स्त्रीनिमित्तेन, तेषु कामो निबन्धनम् ॥'

अर्थात—सुनते हैं, प्राचीन काल में राम-रावण आदि के जो युद्ध हुए हैं, जिन में लाखों आदमियों का संहार हुआ है, वे सब स्त्री के निमित्त से हुए हैं। उनमें मुख्य कारण काम—अब्रह्मचर्य ही तो था।

इसलिए अब्रह्मचर्य (काम) सेवन की तीव्रता से कामवासना की मुख्य निमित्त-भूत किसी स्त्री को ले कर होने वाली लड़ाई (विग्रह) भी काम के कारण होने से विग्रह को अब्रह्म का पर्यायवाची कहा गया है ।

अथवा 'वुग्गहो' पद भी इसके बदले मिलता है । वस्तु को विपरीत मानना ही व्युद्ग्रह या विपरीत आग्रह है । वस्तु को विपरीत मानने पर भी काम में प्रवृत्ति होती है । जैसा कि कामियों का स्वरूप बताया है—

दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमानः, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु च दुःखबुद्धिः ।
उत्कीर्णवर्णपदपंक्तिरिवाऽन्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतमतिप्रयोगात् ॥

अर्थात्—'जो इन्द्रियविषय दुःखदायक हैं, उन्हें विपरीत आग्रहवश कामी सुखरूप मानते हैं और नियम, व्रत, त्याग आदि जो वास्तव में सुखरूप हैं, उन्हें वे बड़े कष्टमय मानते हैं । जैसे किसी पत्थर या लकड़ी पर उलटी खोदी हुई वर्णों और पदों की पंक्ति होती है, वैसे ही कामी पुरुषों की दृष्टि और गति भी उलटी है ।

व्युद्ग्रह—विपरीत आग्रह भी कामवासना का कारण होता है, अतः इसे पर्यायवाची पद मानना भी अनुचित नहीं है ।

विघाओ—अब्रह्मचर्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि आत्मगुणों का सर्वथा घात करने वाला होने से 'विघात' भी कहता है ।

क्योंकि जब मनुष्य के हृदय में कामपिशाच (अब्रह्म) प्रविष्ट हो जाता है तो उसके सभी सद्गुण एक-एक करके नष्ट हो जाते हैं । एक आचार्य ने ठीक ही कहा है—

'विषयासक्तचित्तस्य गुणः को वा न नश्यति ।
न वैदुष्यं, न मानुष्यं, नाभिजात्यं, न सत्यवाक् ॥

अर्थात्—जिसका चित्त विषयों में आसक्त हो जाता है; उसका कौन-सा ऐसा गुण है, जो नष्ट न हो जाता हो ? उस कामासक्त में तब न तो विद्वत्ता रहती है, न मनुष्यता ही । न वह कुलीनता को रख पाता है और न अपने वचनों का पाबंद ही रहता है ।'

एक आचार्य ने तो यहाँ तक ललकार कर कहा है—

"जइ ठाणी जइ मोणी जइ मुंडी वक्कली तवस्सी वा ।
पत्थंतो अ अबंभं बंभा वि न रोयए मज्झ ॥१॥
तो पढियं तो गुणियं तो मुणियं तो य चेइओ अप्पा ।
आवडियपेल्लियामंतिओ वि जइ न कुणइ अकज्जं ॥२॥"

अर्थात् 'चाहे कोई कायोत्सर्ग में स्थित रहने वाला—ध्यानी हो,चाहे मौनी हो,चाहे वृक्ष की छाल पहने रहता हो अथवा तपस्वी हो, यदि वह अब्रह्मचर्य (काम) में प्रवृत्त होना चाहता है तो वह ब्रह्मा ही क्यों न हो, मुझे तो अच्छा नहीं मालूम होता। उसी का पढना सफल है, उसी का अभ्यास और मनन करना सफल है, तभी उसे ज्ञानी कहा जायगा और तभी सावधान और विवेकी आत्मा माना जायगा, यदि वह आपत्ति आने पर भी अकार्य—अब्रह्म मे प्रवृत्ति नही करता है।'

ऊँचे से ऊँचे पद पर पहुंचा हुआ पुरुष भी कामसेवन के चक्कर में पड़ते ही एकदम नीचे गिर जाता है, सर्वथा पतित और गुणों से रहित हो जाता है। वह किसी का विश्वासपात्र नहीं रहता।

विभंगो—अब्रह्मचर्य का मार्ग अपनाते ही साधक के चारित्रादि गुणों का भंग हो जाता है। चारित्र-पालन के लिए जो व्रत, नियम आदि स्वीकार किये जाते हैं, वे सब टूट जाते है। मनुष्य संयम में शिथिल होकर मर्यादाएँ तोडता जाता है। यह सब प्रभाव अब्रह्मचर्य का ही है। इसलिए उसे विभंग भी कहा गया है।

विब्भमो—संसार में अगणित लोगों को अब्रह्मचर्य में प्रवृत्त देख कर तथा उन्हे धन और साधनों से सम्पन्न देखकर अब्रह्मचर्य के प्रति अच्छाई की या अब्रह्मचर्य में सुखप्राप्ति की भ्रान्ति हो जाती है। अतः विशेष प्रकार के भ्रम का कारण होने से अब्रह्म को विभ्रम भी कहा गया है। अथवा विभ्रम का अर्थ कामविकार भी है। अब्रह्म कामविकारो का कारण है, अतः इसे विभ्रम भी कहा गया है।

अधम्मो—मनुष्य के मन में कामविकार का प्रवेश होते ही धर्मभाव नष्ट होने लगते है। इसलिए इसे अधर्म कहा है। अथवा यह स्वयं अधर्मरूप (पापस्वरूप) है और अधर्म (पाप) का बन्ध भी करता है, इसलिए इसे अधर्म ठीक ही कहा है।

असीलया—शील यानी सदाचार से रहित होना अशीलता है। जब मनुष्य अब्रह्मचर्य को अपनाता है तो सदाचार की मर्यादाओं को ताक में रख देता है। चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से कुशील सेवन होता है। इसलिए अशीलता को अब्रह्मचर्य की बहन कहें तो अनुचित नहीं।

गामधम्मतत्ती—कामी पुरुष व्यसनी की तरह रात-दिन कामवासना पैदा करने वाले शब्दादि कुविषयों की फिराक मे रहता हैं। शब्दादि कुविषयों की तलाश करते रहना ही गामधर्म-तप्ति है। अब्रह्मचर्यपरायण व्यक्ति भी यही धंधा करता है। इसलिए अब्रह्मचर्य और ग्रामधर्मतप्ति ये दोनो साथी हैं।

'रती'—स्त्रीपुरुष की गुप्त रतिक्रीड़ा ही अब्रह्मचर्यसेवन की अन्तिम निष्पत्ति

है। इसलिए रति अब्रह्मचर्य का उत्कट और बाह्यरूप है, इसी कारण इसे 'रति' (संयोगक्रिया) भी कहा है।

'रागचिंता'—स्त्रीपुरुषों की पारस्परिक रतिक्रीड़ा, हावभाव, विलास आदि प्रणयराग कहलाता है; इसे आजकल रागरंग भी कहते हैं। उसका चिन्तन करने से कामविकार पैदा होता है; इसलिए रागचिंता भी अब्रह्म का कारण होने से अब्रह्म का पर्यायवाची शब्द माना गया है। कहीं-कहीं 'रागो' पाठ भी है। उसका अर्थ होता है—दाम्पत्यप्रणय—विकारी प्रेम। चूंकि अब्रह्म अपने आप में राग का ही कार्य है।

'कामभोगमारो'—काम (शब्द और रूप) तथा भोग (रस, गन्ध और स्पर्श) से मार—काम पैदा होता है; अतः अब्रह्म और मार दोनों को एकार्थक कहें तो अनुचित नहीं। अथवा काम और भोग द्वारा यह जीवों को मारता है—पीड़ित करता है, इसलिए भी यह अब्रह्म का समानार्थक है।

वेरं—संसार में वैरविरोध के दो मूलकारण हैं—धन और स्त्री। स्त्री के निमित्त से जो वैर बढ़ता है, उसमें यह अब्रह्म (काम) ही कारण है। इसलिए वैर को जन्म देने वाला होने के कारण कार्य का कारण में उपचार करके इसे वैर कहा है।

'रहस्स'—प्रायः सभी पापक्रियाएँ एकान्त में की जाती हैं। पापकृत्य होने के कारण मैथुनसेवन भी एकान्त में किया जाता है इसलिए एकान्त में किये जाने से इस कुकार्य को भी रहस्य कह कर 'अब्रह्म' का साथी बताया है।

गुज्झं—पाप हमेशा छिपाने योग्य हुआ करता है। 'प्रच्छन्नं पापं'—पाप का लक्षण है—'प्रच्छन्न'। इसलिए इसे गुह्य-गोपनीय कहा है। अथवा मैथुन गुह्य-गुप्त अंगों द्वारा सम्पन्न होता है, इसलिए इसे 'गुह्य' कह कर अब्रह्म का मित्र बताया है।

'बहुमाणो'—संसार के अगणित प्राणी अब्रह्म की प्रवृत्ति को मानते हैं; अथवा स्त्रीपुरुष के संयोगजन्य इस अकार्य को बहुत सम्मान देते हैं। इसलिए इसे 'बहुमान' कह कर अब्रह्म का समर्थक बताया है।

'बंभचेरविग्घो'—संसार में राम (परमात्मा-शुद्ध आत्मा) भी है और काम भी। परन्तु राम की प्राप्ति में जैसे काम सहयोग नहीं देता, वैसे ही काम की प्राप्ति में राम भी सहयोग नहीं दे सकता। मतलब यह है राम और काम एक ही सिंहासन पर नहीं बैठ सकते। ब्रह्मचर्यपालन शुद्ध आत्मा एवं परमात्मा की प्राप्ति के लिए है, जबकि अब्रह्मचर्य (काम) का आचरण क्षणिक वैषयिक सुख की प्राप्ति के लिए होता है। अतः यह स्वाभाविक है कि अब्रह्मचर्य ब्रह्मचर्यपालन में सहायक न हो कर विघ्न-कारक ही बनेगा। अब्रह्मचर्य कामोत्तेजक विचारों, कुचेष्टाओं, अश्लील दृश्यों, गंदे गीतों, तथा कामविकार की तमाम प्रवृत्तियों की ओर खींचेगा; जबकि ब्रह्मचर्य

इन सब बातों का विरोधी है। इसलिए अब्रह्मचर्य का एक नाम, 'ब्रह्मचर्यविघ्न' रखा है ; यह ठीक ही है।

'वावत्ति'—बुरे विचारों, बुरे कार्यों और बुरी वाणी से संसार में अनर्थ पैदा होते है, ये अशान्ति और आफत के कारण हैं। अब्रह्मचर्य भी इन तीनों बुराइयों का मूल है। इसलिए व्यापत्ति—बड़ी आपत्ति-महा-अनर्थ का कारण होने से इसे अब्रह्म का पर्यायवाची बताया है।

'विराहणा'—अब्रह्मचर्य से आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य आदि शक्तियों की, सद्गुणों की विराधना होती है। आत्मा के शुद्धभाव, वीतरागता, ब्रह्मचर्य, स्वभावपरिणति आदि का घात अब्रह्मचर्य से होता है। इसलिए सद्गुणों की विराधना का कारण होने से इसे अब्रह्म के समकक्ष बताया गया है।

पसंगो—अब्रह्मचर्य स्त्री आदि हेय पदार्थों में आसक्ति पैदा करने कारण है ; इसलिए इसे 'प्रसग' कहा है। अथवा स्त्री आदि कामोत्तेजक पदार्थों या वातावरण का अनुचित और अतिसंसर्ग करने से अब्रह्माचरण होता है ; इसलिए प्रसंग अब्रह्माचरण का कारण होने से इसे अब्रह्म का पर्यायवाची बताया है।

'कामगुणो'—जब चित्तभूमि मे कामवासनारूपी बीज बोया जाता है,तभी उसके फलस्वरूप मैथुन की प्रवृत्ति होती है। काम बीज है और मैथुन उसका फल। इसलिए कामगुण (कामवासना) अब्रह्म का बीज होने से उसे अब्रह्मचर्य का साथी बताया है। अथवा काम यानी कामनाओं का गुणन-बारबार आवृत्ति करने वाला होने से इसे कामगुण कहना भी सार्थक है। क्योंकि अब्रह्मचर्य सेवन करने वाले का मन और बुद्धि ये दोनों स्थिर नही रहते, उसके मन मे नाना प्रकार की इच्छाएँ-कामनाएँ उठती रहती है ; एक की पूर्ति हुई, न हुई कि दूसरी इच्छा तैयार खडी रहती है। उसके पश्चात् तीसरी। इस प्रकार कामनाओं का तांता लगा रहता है। इसलिए अब्रह्म को कामनाओं की बारबार आवृत्ति का कारण होने से कामगुण कहना संगत ही है।

इस प्रकार अब्रह्म के तीस सार्थक नामों की व्याख्या की गई है। इसके ये और ऐसे अन्य मन्मथ, मदन आदि अनेक नाम होते है। परन्तु विस्तार के भय से शास्त्रकार ने सक्षेप में ही दिग्दर्शन कराया है।

अब्रह्मसेवनकर्ता कौन और कैसे ?

पूर्वसूत्रपाठ में शास्त्रकार अब्रह्म के सार्थक नामों का निरूपण कर चुके ; अब अगले सूत्र में वे क्रमशः अब्रह्मचर्यसेवन-कर्ता कौन-कौन हैं और वे किस-किस तरह से इसका सेवन करते हैं ; यह बताते हैं।

मूलपाठ

तं च पुण निसेवंति सुरगणा सअच्छरा मोहमोहियमती, असुर-भुयग-गरुल-विज्जु-जलण -दीव-उदहि-दिसि-पवण - थणिया, अणवंनि-पणवंनि य-इसिवादिय-भूयवादिय-कंदिय-महाकंदिय-कूहंड-पयंगदेवा, पिसाय-भूय-जक्ख-रक्खस - किनर-किंपुरिस - महोरग-गंधव्वा, तिरिय-जोइस-विमाणवासि-मणुयगणा, जलयर-थलयर-खहयरा य, मोहपडिवद्धचित्ता, अवितण्हा, कामभोगतिसिया, तण्हाए वलवईए महईए समभिभूया, गढिया य, अतिमुच्छिया य, अवंभे उस्सण्णा, तामसेण भावेण अणुम्मुक्का, दंसणचरित्त-मोहस्स पंजरमिव करेंति अन्नोऽन्नं सेवमाणा ।

भुज्जो असुर-सुर-तिरिय - मणुअ - भोगरतिविहारसंपउत्ता य चक्कवट्टी सुरनरवतिसक्कया, सुरवरुव्व देवलोए भरह-णग-णगर-णियम-जणवय-पुरवर-दोणमुह-खेड-कव्वड-मडंव-संवाह-पट्टण-सहस्समंडियं, थिमियमेइणीयं, एगच्छत्तं ससागरं भुंजिऊण वसुहं नरसीहा,नरवई,नरिंदा,नरवसभा,मरुयवसभकप्पा,अब्भहियं रायतेय-लच्छीए दिप्पमाणा, सोमा, रायवंसतिलका, रविससिसंखवर-चक्कसोत्थियपडागजवमच्छकुम्मरहवर-भग - भवण-विमाण-तुरय-तोरण-गोपुर-मणिरयण - नंदियावत्त-मुसल - णंगल - सुरइयवर-कप्परुक्ख-मिगवति-भद्दासण-सु(र)रुवि-(चि)-थूभ-वर-मउड-सरिय-कुंडल-कुंजर-वरवसभ-दीव- मंदर - गरुल-ज्झय - इंदकेउ-दप्पण-अट्ठावय-चाव - वाण - नक्खत्त - मेह-मेहल-वीणा-जुग-छत्त-दाम-दामिणि-कमंडलु-कमल-घंटा-वरपोत-सूइ - सागर-कुमुदागर-मगर-हार-गागर-नेउर-णग-णगर-वइर - किन्नर-मयूर-वररायहंस-सारस-चकोर-चक्कवाग-मिहुण-चामर - खेडग - पव्वीसग-विपंचि-वरता-लियंट-सिरियाभिसेय-मेइणि-खग्गंकुस - विमलकलस-भिंगार-वद्ध-

माणगपसत्थउत्तम - विभत्तवरपुरिसलक्खणधरा, बत्तीसवररायसहस्साणुजायमग्गा, चउसट्ठिसहस्सपवरजुवतीण णयणकंता, रत्ताभा, पउमपम्हकोरंटगदामचंपकसुतयवरकणकनिहसवन्ना, सुवण्णा, सुजायसव्वंगसुंदरंगा, महग्घवरपट्टणुग्गय-विचित्तराग-एणिपेणिणिम्मिय-दुगुल्लवरचीणपट्टकोसेज्ज-सोणीसुत्तकविभूसियंगा, वरसुरभि-गंधवरचुण्णवासवरकुसुमभरियसिरया, कप्पियछेयायरियसुकयरइतमालकडगंगयतुडियपवरभूसणपिणद्धदेहा, एकावलिकंठसुरइयवच्छा, पालंबपलंबमाणसुकयपडउत्तरिज्जमुद्दियापिंगलंगुलिया, उज्जलनेवत्थरइयचेल्लगविरायमाणा, तेएण दिवाकरोव्व दित्ता, सारयनवत्थणियमहुरगंभीरनिद्धघोसा, उप्पन्नसमत्तरयणचक्करयणप्पहाणा, नवनिहिवइणो, समिद्धकोसा, चाउरंता, चाउराहिं सेणाहिं समणुजातिज्जमाणमग्गा, तुरगवती, गयवती, रहवती, नरवती, विपुलकुलवीसुयजसा, सारयससिसकलसोमवयणा, सूरा, तेलोक्कनिग्गयपभावलद्धसद्दा, समत्तभरहाहिवा नरिंदा, ससेलवणकाणणं च हिमवंतसागरंतं धीरा भुत्तूण भरहवासं जियसत्तू, पवररायसीहा, पुव्वकडतवप्पभावा, निविट्ठसंचियसुहा, अणेगवाससयमायुवंतो भज्जाहि य जणवयप्पहाणाहिं लालियंता अतुलसद्दफरिसरसरूवगंधे य अणुभवेत्ता तेवि उवणमंति अवितित्ता कामाणं ।

संस्कृतच्छाया

तच्च पुनः निषेवन्ते सुरगणाः साप्सरसो मोहमोहितमतयः, असुर-भुजगगरुडविद्युज्ज्वलनद्वीपोदधिदिक्पवनस्तनिताः, अणपन्निक-पणपन्निक-ऋषिवादिक-भूतवादिक-क्रन्दित - महाक्रन्दित-कूष्मांड - पतंगदेवाः, पिशाच-भूत-यक्ष-राक्षस-किन्नर-किम्पुरुष-महोरग-गन्धर्वाः, तिर्यग्-ज्योतिर्विमानवासि-मनुज-गणा, जलचर-स्थलचर-खचराश्च, मोहप्रतिबद्धचित्ता, अवितृष्णाः, काम-भोगतृषिताः, तृष्णया बलवत्या महत्या समभिभूता, ग्रथिताश्च, अति-

मूर्च्छितास्च अब्रह्मणि अवसन्नाः, तामसेन भावेन अनुन्मुक्ताः, दर्शनचारित्र-मोहस्य पंजरमिव कुर्वन्त्यन्योन्यं सेवमानाः।

भूयो ऽसुर-सुर-तिर्यग्-मनुज-भोगरतिविहारसम्प्रयुक्ताश्च चक्रवर्तिनः सुरनरपतिसत्कृताः सुरवरा इव देवलोके भरत-नग - नगर-निगम-जनपद-पुरवर-द्रोणमुख-खेट-कर्बट-मडम्ब-संवाह-पत्तनसहस्रमंडितां स्तिमित-मेदिनीकाम् एकच्छत्राम् भुक्त्वा वसुधां नरसिंहा, नरपतयो, नरेन्द्रा, नरवृषभा, मरुद्वृषभकल्पा, अभ्यधिकं राजतेजोलक्ष्म्या दीप्यमाना, सौम्या, राजवंश-तिलका, रविशशिशंखवरचक्रस्वस्तिकपताकायवमत्स्यकूर्मरथवरभग-भवनविमानतुरगतोरण - गोपुर - मणिरत्ननन्द्यावर्त्तमुशललांगलसुरचितवर-कल्पवृक्षमृगपतिभद्रासनसुरू (पो) ची-स्तूपवरमुकुटमुक्तावलीकुंडलकुंजर-वरवृषभद्वीपमन्दरगरुड़ध्वजेन्द्रकेतुदर्पणाष्टापदचापबाणनक्षत्रमेघमेखलावीणा-युगच्छत्रदामदामिनीकमंडलुकमल-घंटावरपोतसूचीसागरकुमुदाकरमकरहार-गागरनूपुरनगनगरवज्रकिन्नरमयूरवरराजहंससारसचकोरचक्रवाकमिथुनचामर खेटकपव्वीसकविपचीवरतालवृन्त-श्रीकाभिषेकमेदिनीखड्गांकुशविमलकलश-भृंगारवर्द्धमानकप्रशस्तोत्तमविभक्तवरपुरुषलक्षणधरा, द्वात्रिंशद्वरराज-सहस्रानुयातमार्गाश्चतुःषष्टिसहस्रप्रवरयुवतीनां नयनकान्ता, रक्ताभा, पद्मपक्ष्मकोरंटकदामचंपकसुतप्तवरकनकनिकषवर्णाः, सुवर्णाः, सुजातसर्वांग-सुन्दरांगा, महार्घवरपत्तनोद्गतविचित्ररागैणीप्रैणीनिर्मितदुकूलवरचीनपट्ट-कौशेयश्रोणीसूत्रकविभूषितांगा, वरसुरभिगन्धवरचूर्णवासवरकुसुमभरित-शिरस्काः,कल्पितछेकाचार्यसुकृतरतिदमालाकटकांगदतुटिकप्रवरभूषणपिनद्ध-देहा, एकावलीकंठसुरचितवक्षसः, प्रलम्बप्रलम्बमानसुकृतपटोत्तरीयमुद्रिका-पिंगलांगुलिका, उज्ज्वलनैपथ्यरचितचिल्लग-(लीन)विराजमानाः, तेजसा दिवाकर इव दीप्ताः, शारदनवस्तनितमधुरगम्भीरस्निग्धघोषाश्चातुरन्ता-श्चातुरीभिः सेनाभिः समनुयायमानमार्गाः, तुरगपतयो, गजपतयो, रथपतयो, नरपतयो, विपुलकुलविश्रुतयशसः, शारदशशिसकलसौम्यवदनाः, शूराः त्रैलोक्यनिर्गतप्रभावलब्धशब्दाः, समस्तभरताधिपा, नरेन्द्राः, सशैलवनकाननं च हिमवत्सागरान्तं धीरा भुक्त्वा भरतवर्षं जितशत्रवः,प्रवरराजसिंहा पूर्वकृत-तपःप्रभावा, निविष्टसंचितसुखा अनेकवर्षशतायुष्मन्तो भार्याभिश्च जनपद-

प्रधानाभिलल्यमाना अतुलशब्दस्पर्शरसरूपगन्धान् चानुभूय तेऽप्युपनमन्ति मरणधर्ममवितृप्ताः कामानाम् ।

पदार्थान्वय—(पुण) और (तं च) उस अब्रह्मचर्य को, (सअच्छरा) अप्सराओं-देवियों सहित, (मोहमोहितमती) मोह से मोहित बुद्धिवाले, (असुर-भुयग-गरुल-विज्जु-जलण- दीव- उदहि- दिसि- पवण- थणिया) असुरकुमार, नाग कुमार, सुपर्ण (गरुड़) कुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, पवनकुमार और स्तनित-मेघकुमार ये दस भवनवासी देव, (अणवंनि-पणवंनि य-इसिवादिय-भूय-वादिय-कंदिय-महाकंदिय-कूहंड-पयंगदेवा) अणपन्निक, पणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्मांड और पतंग ये आठ व्यन्तर जाति के उच्च माने जाने वाले—यानी वन आदि स्थानों के अन्दर के भागों में रहने वाले देव, तथा (पिसाय-भूय-जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरिस-महोरग-गंधव्वा) पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व ये आठ व्यन्तरजाति के देव, जो पूर्वोक्त व्यन्तरों से नीचे माने जाते हैं, (तिरिय-जोइस-विमाणवासि-मणुयगणा) तिर्यग्लोक-मध्यलोक में विमानवासी ज्योतिषदेव तथा मनुष्यगण (य) और (जलयर-थलयर-खहयरा) जलचर, स्थलचर और खेचर-पक्षी, (मोहपडिवद्धचित्ता) जिनका चित्त मोह में आसक्त है वे, (अवितण्हा) कामभोगों की प्राप्ति होने पर भी जिनकी तृष्णा मिटी नहीं है, वे, (कामभोगतिसिया) अप्राप्त काम भोगों के प्यासे, (महईए बलवईए तण्हाए) भोगों की बड़ी बलवती-प्रबल तृष्णा-लालसा से, (समभिभूया) सताये हुए, (गढिया) विषयों में रचेपचे,(य) और (अतिमुच्छिया) अत्यन्त मूर्च्छित—आसक्त, (अबंभे) अब्रह्मचर्य में—कामवासना के कीचड़ में, (उस्सण्णा) फंसे हुए (तामसेण भावेण) तामसभाव से—अज्ञानमय-जड़ता के परिणाम से (अणुम्मुक्का) मुक्त नहीं हुए, (अन्नोन्नं) नरनारी के रूप में परस्पर अब्रह्म—मैथुन का (सेवमाणा) सेवन करते हुए, (दंसणचरित्तमोहस्स) दर्शनमोहनीय एवं चारित्र-मोहनीयकर्म का (पंजरमिव) अपनी आत्मारूपी पक्षी को पींजरे में डालने के समान बंध, (करेंति) करते हैं ।

(भुज्जो य) और पुनः (असुर-सुर-तिरिय-मणुअ-भोग-रतिविहारसंपउत्ता) असुरों, सुरों, तिर्यंचों और मनुष्यों सम्बन्धी भोगो—शब्दादिविषयों में राग-आसक्ति-पूर्वक विहारों—विविध प्रकार की क्रीड़ाओं में प्रवृत्त—जुटे हुए (सुरनरवतिसक्कया) देवेन्द्रों और नरेन्द्रों द्वारा सम्मानित, (देवलोए) स्वर्गलोक में, (सुरवरव्व) देवेन्द्र की

तरह, (भरह-णग-णगर-णियम-जणवय-पुरवर-दोणमुह-खेड-कब्बड-मडंब-संवाह-पट्टण-सहस्समंडियं) भरतक्षेत्र के हजारों पर्वतों, नगरों, निगमों—व्यापारियों के स्थानों, जनपदों, राजधानीरूप नगरों, द्रोणमुखों—जलस्थलपथ से युक्त स्थानों—बंदरगाहों, धूल के कोट वाली बस्तियों—खेड़ों, कर्बटों—कस्बों, मडंबों—आसपास बस्ती से रहित स्थानों, संवाहों—छावनियों, पत्तनों—मंडियों से सुशोभित, (थिमियमेइणियं) सुरक्षा से निश्चित-स्थिर लोगों से बसी हुई पृथ्वी वाली (एगच्छत्तं) एकछत्रा, (ससागरं) समुद्र-पर्यन्त (वसुहं) वसुधा का (भुंजिऊण) उपभोग करके (चक्कवट्टी) चक्रवर्ती, (य) तथा (नरसीहा) मनुष्यों में सिंह के समान शूरवीर, (नरवई) मनुष्यों के स्वामी, (नरिंदा) मनुष्यों में ऐश्वर्यशाली, (नरवसभा) मनुष्यों में लिये हुए कर्त्तव्यभार को निभाने में समर्थ बैल के समान, (मरुयवसभकप्पा) नाग-भूत यक्षादि देवों में वृषभ के समान अग्रगण्य, (अब्भहियं रायतेयलच्छीए दिप्पमाणा) राजकीय तेजो-लक्ष्मी से अत्यधिक देदीप्यमान, (सोमा) सौम्य अथवा नीरोग, (रायवंसतिलगा) राजवंश के तिलक, (रविससिसंखवरचक्कसोत्थियपडाग-जवमच्छकुम्मरहवरभगभवणविमाण तुरयतोरणगोपुरमणिरयणनंदियावत्तमुसलणंगलसुरइयवरकप्परुक्ख - मिगवति-भद्दासण-सुरुचि-थूभ-वरमउड - सरियकुंडल - कुंजरवर - वसभदीवमंदरगरुलज्झय - इंदकेउ-दप्पण-अट्ठावय-चाव-बाण-नक्खत्त-मेह-मेहल-वीणाजुगछत्तदामदामिणीकमंडलु-कमल-घंटा-वरपोत-सूइ-सागर-कुमुदागर-मगर-हार-गागर-नेउर-णग- णगर-वइर- किन्नर-मयूर-वर-रायहंस-सारस-चकोर-चक्कवाग-मिहुण-चामर-खेडग - पव्वीसग - विपंचि-वरतालियंट-सिरियाभिसेय-मेइणि-खग्गं-कुस-विमलकलस-भिंगार - वद्धमाणगपसत्थ - उत्तम-विभत्त-वरपुरिसलक्खणधरा) सूर्य, चन्द्र, शंख, उत्तम चक्र, स्वस्तिक, पताका, जौ, मत्स्य, कछुआ, उत्तम रथ, योनि, भवन, विमान, अश्व, तोरण, नगरद्वार, चन्द्रकान्त आदि मणि, रत्न, नौ कोनों वाला साथिया—नन्द्यावर्त, मूसल, हल, सुरचित—सुन्दर श्रेष्ठ कल्पवृक्ष, सिंह, भद्रासन, सुरुचि नामक आभूषण, स्तूप, सुन्दर मुकुट, मुक्तावली हार, कुंडल, हाथी, उत्तम बैल, द्वीप, मेरुपर्वत अथवा घर, गरुड़, ध्वजा, इन्द्रकेतु, (इन्द्र-महोत्सव में गाड़ी जाने वाली स्तंभरूप लकड़ी), दर्पण—शीशा, वह फलक या पट जिस पर शतरंज या चौपड़ खेली जाती है, अथवा कैलाशपर्वत, धनुष, बाण, नक्षत्र, मेघ, मेखला—करधनी, वीणा, गाड़ी का जूआ, छत्र, माला, पूरे शरीर तक लम्बी माला, कमंडलु, कमल, घंटा, मुख्य जहाज, सुई, समुद्र, कुमुदवन या कुमुदों से भरा तालाब, मगर, हार—मणिमाला, गागर नामक आभूषण अथवा पानी का गागर—घड़ा, पैरों के नुपुर पर्वत, नगर, वज्र, किन्नर नामक देव अथवा किन्नर नामक बाजा, मोर, उत्तम,

राजहंस, सारस, चकोर, चक्रवाक पक्षियों के जोड़े, चंवर, ढाल, पव्वीसक नामक बाजा, सात तारों की वीणा, उत्तम पंखा, लक्ष्मी का अभिषेक, पृथ्वी, तलवार, अंकुश, निर्मल कलश, झारी और सकोरा या प्याला, श्रेष्ठ पुरुषों के इन सब उत्तम, मांगलिक और विभिन्न लक्षणों— चिह्नों को धारण करने वाले (बत्तीसवररायसहस्साणुजायमग्गा) बत्तीस हजार श्रेष्ठ मुकुटबद्ध राजा मार्ग में जिनके पीछे-पीछे चलते हैं, (चउसट्ठिसहस्सपवरजुवतीण णयणकंता) चौसठ हजार सुन्दर युवतियों के नेत्रों के प्यारे, (रत्ताभा) लाल कान्ति वाले, (पउमपम्हकोरंटदामचंपकसुतयवरकणकनिहसवन्ना) कमल के गर्भ—मध्यभाग, चम्पा के फूलों, कोरंट (हजारा) नामक फूलों की माला और तपे हुए सुन्दर सोने की कसौटी पर खींची हुई रेखा के समान गोरे रंग के, (सुवण्णा) सुन्दर वर्ण वाले, (सुजायसव्वंगसुंदरंगा) जिनके सभी अंग बड़े सुन्दर और सुगठित—सुडौल हैं, (महग्घवरपट्टणुग्गय विचित्तरागएणिपेणिणिम्मियदुगुल्लवरचीणपट्टकोसेज्ज-सोणीसुत्तकविभूसियंगा) बड़े-बड़े शहरों में बने हुए, विविध रंगों वाले, हिरनी तथा खास जाति की हिरनी के चमड़े के समान कोमल बहुमूल्य वल्कल-छाल के वस्त्र अथवा पूर्वोक्त हिरनी के चमड़े से बने हुए कीमती कपड़े, चीनी वस्त्र तथा रेशमी वस्त्र और कटिसूत्र से जिनका शरीर सुशोभित है, (वरसुरभिगंधवरचुण्णवासवरकुसुमभरियसिरया) जिनके मस्तक श्रेष्ठ सुगंध से, सुन्दर चूर्ण (पाउडर) की सुवास से, उत्तम फूलों से भरे हुए हैं, (कप्पियछेयारियसुकयरइतमालकडगंगयतुडियवरभूसणपिनद्धदेहा) प्रसिद्ध चतुर कलाकारों—शिल्पियों द्वारा बड़ी कुशलता से आर्यजनों के पहनने योग्य बनाई हुई सुखकर माला, कड़े, बाजूबंद, तुटिक—अनन्त तथा उत्तम आभूषण शरीर पर पहने हुए, (एकावलिकंठसुरइयवच्छा) जिन्होंने कंठों और वक्षस्थलों पर एकलड़ी की सुन्दर मणिमाला पहन रखी है,(पालंबपलंबमाणसुकयपडउत्तरिज्जमुद्दियापिंगलंगुलिया) जो लम्बी धोती और लटकते हुए दुपट्टे को पहने हैं तथा उंगलियों में अंगूठी डाले हुए हैं, जिनसे उनकी अंगुलियां पीली हो रही हैं, (उज्जलनेवत्थरइयचेल्लगविरायमाणा) वे अपनी उजली वेषभूषा से, गहनों और अच्छी तरह पहनी हुई पोशाक से सुशोभित हो रहे हैं, (तेयसा दिवाकरोव्व दित्ता) तेज से वे सूर्य की तरह चमक रहे हैं, (सारयनवत्थणियमहुरगंभीरनिद्धघोसा) उनकी आवाज शरद्‌ऋतु के नये मेघ के गर्जन के समान मधुर, गम्भीर और स्नेह-भरी है, (उप्पन्नसमत्तरयणचक्करयणपहाणा) चक्ररत्नप्रमुख समस्त १४ रत्न जिनके यहाँ उत्पन्न हो गए हैं, (नवनिहिवई) जो नौ निधियों के स्वामी हैं, (समिद्धकोसा)

जिनका कोश—खजाना अत्यन्त समृद्ध—परिपूर्ण है, (चाउरंता) तीनों ओर समुद्र और चौथी ओर हिमवान पर्वत तक जिनके राज्य का अन्त है, सीमा है। (चाउरंगिहि सेणाहिं समणुजातिज्जमाणमग्गा) हाथी, घोड़े, रथ और पैदल—ये चारों प्रकार की सेनाएँ जिनके मार्ग का अनुगमन करती हैं, अर्थात् जिनकी आज्ञा में हैं। (तुरगवती गयवती रहवती नरवती) ये घोड़ों के स्वामी हैं, हाथियों के मालिक हैं, रथों के स्वामी हैं तथा मनुष्यों के भी अधिपति हैं, (विपुलकुलवीसुयजसा) जिनका कुल बड़ा विशाल है और यश भी दूर-दूर तक फैला हुआ प्रसिद्ध है, (सारयससिसकलसोमवयणा) जिनका मुख शरत्काल के सोलहकलाओं सहित—पूर्ण चन्द्रमा के समान है, (सूरा) शूरवीर हैं, (तेलोक्कनिग्गयपभावलद्धसद्दा) जिनका प्रभाव तीनों लोकों में प्रसिद्ध है और जो सर्वत्र जयजयकार पाये हुए हैं, (समत्तभरहाहिवा) जो सारे भरतक्षेत्र के अधिपति हैं, (धीरा) जो धीर हैं, (जियसत्तू) जिन्होंने अपने दुश्मनों को जीत लिया है, (पवरराजसीहा) बड़े-बड़े राजाओं में जो सिंह के समान हैं, (पुव्वकडतवप्पभावा) वे अपने पूर्वजन्मों में कृत तप से प्रभावशाली हैं, (निविट्ठसंचियसुहा) वे संचित पुण्य सुख को भोगने वाले हैं, (अणेगवाससयमायुवंतो) सैकड़ों वर्षों की आयु वाले (नरिंदा) चक्रवर्ती नरेन्द्र (ससेलवणकाणणं) पर्वतों, वनों और उद्यानों से सहित, (हिमवंत-सागरंतं) उत्तर में हिमवान पर्वत और तीनों दिशाओं में समुद्रपर्यन्त, (भरहवासं) भरतक्षेत्र-भारतवर्ष को, (भुत्तूण) भोग कर—भारत के राज्य का उपभोग करके, (य) तथा (जणवयप्पहाणाहिं भज्जाहिं) जनपद—देश में सर्वश्रेष्ठ और नामी पत्नियों के साथ (लालियंता) भोगविलास करते हुए (अतुलसद्दफरिसरसरूवगंधे अणुभवेत्ता) अनुपम अद्वितीय शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध सम्बन्धी विषयों का अनुभव करके (ते वि) वे भी (कामाणं अवितित्ता) कामभोगों से अतृप्त हो कर या तृप्त न हुए और (मरणधम्मं उवणमंति) मरणधर्म को, मृत्यु को पाते हैं।

मूलार्थ—जिनकी बुद्धि मोह से मोहित हो रही है, ऐसे देव अपनी देवियों-अप्सराओं के साथ उस मैथुन का सेवन करते हैं। वे देव निम्नोक्त हैं—असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्ण (गरुड़)—कुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, दिशाकुमार पवनकुमार और स्तनित—मेघकुमार। ये दस भेद भवनवासी देवों के हैं। अणपन्निक, पणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्मांड और पतंग—ये आठ भेद उच्चजाति के व्यन्तरदेवों के हैं। पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व, ये आठ

भेद नीची जाति के व्यन्तरदेवों के हैं। मध्यलोक में विमान में निवास करने वाले ज्योतिषदेव तथा मनुष्यगण एवं जलचर, स्थलचर और खेचर (पक्षीगण) हैं; जिनका मन मोह में डूबा हुआ है, जिनकी कामभोगों की तृष्णा नहीं मिटी है, अभी तक जो अप्राप्त कामभोगों को पाने के लिए लालायित हैं, जो अत्यन्त प्रबल भोगों की तृष्णा से पीडित हैं तथा विषयों में ही रचेपचे और अत्यन्त मूर्च्छित रहते हैं। वे कामवासना—अब्रह्मचर्य के कीचड़ में फंसे रहते हैं और तामसभाव—अज्ञानमय जड़ता के परिणाम से मुक्त नहीं हुए वे नरनारी के रूप में परस्पर अब्रह्म-मैथुन का सेवन करते हुए अपने आत्मारूपी पक्षी को पींजरे में डालने के समान दर्शनमोहनीय एवं चारित्र-मोहनीय कर्म का बन्ध करते हैं।

और फिर वे असुरों,सुरों, तिर्यंचों और मनुष्यों सम्बन्धी शब्दादिविषय-भोगों में, आसक्तिपूर्वक विहारों-विविध प्रकार की क्रीड़ाओं में जुटे रहते है। वे देवेन्द्रों और नरेन्द्रों द्वारा सम्मानित होते है। देवलोक में देवेन्द्र की तरह भरतक्षेत्र के हजारों पर्वतों, नगरों, निगमों—व्यापारियों की बस्तियों, जनपदों, राजधानीरूप नगरों, द्रोणमुखों-बंदरगाहों, धूल के कोट वाली बस्तियों —खेड़ों, कर्वटों—कस्बों, मडंबों—जहाँ आसपास चारों ओर ढाई योजन तक कोई बस्ती न हो, ऐसे स्थानों, संवाहों—छावनियों या किलों, पत्तनों—मंडियो से सुशोभित, सुरक्षा से निश्चिन्त, भयरहित स्थिर भूमि वाली एकछत्र समुद्रपर्यंत पृथ्वी (समस्त भारतखण्ड) का उपभोग करके चक्रवर्ती बने है। वे मनुष्यों में सिंह के समान शूरवीर हैं, मनुष्यों के स्वामी हैं, मनुष्यों में ऐश्वर्यशाली हैं,मनुष्यसमाज में प्राप्त कार्यभार को वहन करने में वृषभवत् समर्थ हैं, नागभूतयक्षादि देवों में वृषभ के समान हैं, अथवा मरुस्थल के धोरी बैल की तरह स्वीकार किए हुए कार्यभार के निर्वाह में समर्थ हैं, राजकीय तेजोलक्ष्मी से अधिकाधिक देदीप्यमान हैं, शान्त-सौम्य हैं अथवा नीरोग हैं, राजवंश के तिलक हैं; सूर्य, चन्द्र, शंख, उत्तमचक्र, स्वस्तिक (साथिया), पताका, जौ, धान्य, मच्छ, कछुआ, उत्तम रथ, योनि, भवन, देवविमान, अश्व, तोरण, नगरद्वार, चन्द्रकान्त आदि मणि, कर्केतन आदि रत्न, नौकोना साथिया—नन्द्यावर्त, मूसल, हल, सुन्दर सुखद कल्पवृक्ष, सिंह, भद्रासन (सिंहासन), सुरुचि नामक आभूषण, स्तूप, सुन्दर मुकुट, मुक्तावली हार,

कुंडल, हाथी, उत्तम बैल, द्वीप, मेरुपर्वत या गृह, गरुड़, ध्वजा, इन्द्रकेतु (इंद्रयष्टि) दर्पण, चौपड़ या शतरंज का फलक या पट, अथवा कैलाश पर्वत, धनुष, बाण, नक्षत्र, मेघ, मेखला—करधनी, वीणा, बैल के कंधों पर रखा जाने वाला जूवा, छत्र, फूलों की माला, दामिनी (लक्षणविशेष), कमंडलु, घंटा, उत्तम जहाज, सूई, समुद्र, कुमुदपुष्पों का वन, मगर, रत्नों का हार, गागर नामक आभूषण अथवा गागर—घड़ा, नूपुर, पर्वत, नगर, वज्र, किन्नर (वाद्यविशेष या देवविशेष), मयूर, राजहंस, सारस, चकोर और चक्रवाक का जोड़ा, चंवर, ढाल, पव्वीसक (एक बाजा), सप्ततंत्री वीणा, श्रेष्ठ पंखा, लक्ष्मी का अभिषेक, पृथ्वी, तलवार, अंकुश, निर्मल कलश, झारी, सकोरा या प्याला, श्रेष्ठ पुरुषों के इन मंगलकारक विभिन्न उत्तम लक्षणों को जो धारण करते है, तथा बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा जिनके मार्ग का अनुसरण करते हैं, चौसठ हजार सर्वांगसुंदर युवतियों के नेत्रों को जो प्यारे हैं, जिनके शरीर की कान्ति लाल है, जो कमल के गर्भ—मध्यभाग, कोरंट (हजारा) के फूलों की माला, चम्पा के फूल, कसौटी पर खींची हुई तप्त शुद्ध सोने की रेखा के समान गोरे रंग के हैं, जिनका रंगरूप अच्छा है, जिनके शरीर के सभी अंग सुगठित हैं। बड़े-बड़े नगरों में चतुर शिल्पकलाचार्यों द्वारा अच्छे तरीके से बनाए गये रंग-बिरंगे हिरनी या उच्च जाति की हिरनी की चमड़ी के समान कोमल अथवा उक्त हिरनियों के चमड़ों से ही बने हुए वस्त्र, दुकूल नामक वृक्ष की छाल को कूट कर उसका सूत कात कर बुने हुए, या पेड़ की छाल से बने हुए या कपास के वस्त्र, चीन देश के बने हुए पट्टवस्त्र, रेशमी वस्त्र, कटिसूत्र (करधनी) से उनका शरीर सुशोभित हो रहा है। मनोज्ञ सुगंध वाले इत्र आदि द्रव्यों से तथा खुशबूदार चूर्ण (पाउडर) की सुवास से तथा उत्तमोत्तम फूलों से जिनके सिर भरे हुए हैं, प्रसिद्ध कलाकारों द्वारा बनाई हुई सुन्दर सुखप्रद माला, कड़े, बाजूबन्द, अनंत आदि सुंदर आभूषण शरीर पर धारण किये हुए हैं, जिन्होंने एकलड़ी की विचित्र मणियों की माला कंठ और वक्षस्थल पर धारण कर रखी है, जिन्होंने लंबी धोती और लम्बे लटकते हुए दुपट्टे पहन रखे हैं, अंगूठियों से जिनकी उंगलियां पीली दिखाई दे रही हैं, जो उजली, चमकती हुई और अच्छी तरह सजी-धजी वेशभूषा से सुशोभित हो रहे हैं। तेज से जो सूर्य के समान चमक रहे

हैं, जिनकी आवाज शरत्काल के नए वादलों के गर्जन के समान मधुर, गंभीर और स्नेहभरी है। चक्ररत्नप्रमुख १४ रत्न जिनके यहाँ उत्पन्न हुए है। जो नौ निधियों के स्वामी हैं। जो अखूट (समृद्ध) खजाने के मालिक हैं। जिनके राज्य की सीमा तीनों ओर समुद्र तक एवं चौथी ओर हिमवान पर्वत तक है। हाथी, घोड़े, रथ और पैदल—ये चारों प्रकार की सेनाएँ उनके मार्ग का अनुगमन करती है, अर्थात्—उनकी आज्ञा में चलती है। जो घोड़ों के स्वामी है, हाथियो के अधिपति हैं, रथो के मालिक हैं, और मनुष्यों के नायक—स्वामी हैं। जिनका कुल वहुत विशाल है, जिनकी प्रसिद्धि सारे लोक में है, जो समस्त भरतक्षेत्र के स्वामी हैं, जो धैर्यशाली हैं, जो सर्वशत्रुओं को जीतने वाले हैं, बड़े-बड़े नरेशों में जो सिंह के समान हैं। जो पूर्वजन्म में किए हुए तप के प्रभाव से युक्त हैं, जो संचित सुख का उपभोग करते हैं, जिनकी आयु सैकड़ों वर्ष लम्बी होती है, ऐसे चक्रवर्ती नरेन्द्र पर्वतों, उद्यानों और वनों सहित उत्तर में हिमवान पर्वत तक और शेप तीन दिशाओं में समुद्र तक भरतक्षेत्र—भारतवर्ष का राज्योपभोग करते है तथा भारत के सभी जनपदों की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अपनी पत्नियों के साथ भोगविलास करते हैं और अनुपम शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध सम्वन्धी पंचेन्द्रिय-विपयों का अनुभव करते हैं। ऐसे चक्रवर्ती भी कामभोगों से अतृप्त हो कर ही कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त करते हैं।

व्याख्या

शास्त्रकार ने इस सूत्रपाठ में विस्तृत रूप से यह बताया है कि अब्रह्मचर्य के सेवन करने वाले कामरसिक लोग कौन-कौन हैं और उनके तौरतरीके, ठाठवाठ, वैभव, प्रभाव, वस्त्राभूपण, रहन-सहन आदि कैसे होते हैं ? वर्णन इतना सजीव है कि पढ़ते-पढ़ते भारत के भूतपूर्व राजाओं और रईसो की स्मृति ताजा हो जाती है। इसलिए जितना भी वर्णन है, वह स्वाभाविक लगता है, आश्चर्यजनक नही।

इस वर्णन से और अनुभव से ऐसा लगता है कि कामी-भोगी लोगों के जीवन के साथ ये ठाठवाठ, वेशभूपा, आडम्बर और रागरग बंधे हुए हैं। इनके विना उनका एक कदम भी आगे नही बढ सकता।

जानबूझ कर भी अब्रह्मचर्य के कीचड़ में क्यो ?—प्रश्न होता है, ये देव और वैभवशाली मनुष्य अब्रह्मचर्यसेवन का कटुफल अनुभव करते हैं, स्त्रियों को ले कर वड़े-वड़े युद्ध तक होते है, मानसिक संक्लेश की कोई सीमा नही रहती, कभी-कभी

तो जीवन भी संकट में पड़ जाता है, फिर ये सब जानते-बूझते हुए भी अब्रह्मचर्य का पल्ला क्यों पकड़े रहते हैं, इन्हें इस बुरे कार्य से विरक्ति क्यों नहीं होती ?

इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—'मोहमोहितमती' यानी इन सबकी बुद्धि मोह के घने कुहरे से ढकी रहती है। मोहाच्छन्न व्यक्ति अपने भले-बुरे, हानि-लाभ, कार्य-अकार्य और हिताहित का विचार नहीं कर पाता। यही कारण है कि चारित्र-मोहनीय कर्म के तीव्र उदय के कारण देव और देवांगनाएं दोनों अब्रह्मचर्य का त्याग नहीं कर सकते और न वे मनुष्य ही सहसा अब्रह्मचर्य को तिलांजलि दे पाते हैं, जो सुखवैभव में पल रहे हैं, जिनके पास अपार धनराशि है, अतुल वैभव है, हजारों नौकर-चाकर या दास-दासियाँ हैं, सुख के एक से एक बढ़ कर साधन हैं, जिनके शृंगार सजे जाते हैं, राग-रंग में ही जिनका अधिकांश जीवन बीतता है, भोगविलास और आमोदप्रमोद ही जिनके जीवन का सर्वस्व है।

मतलब यह है कि जहाँ सुख-साधनों की प्रचुरता है, ऐश्वर्य और वैभव के अंबार पड़े हैं, जहाँ एक देव या एक पुरुष के अधीन हजारों देवांगनाएँ या नारियाँ रहती हैं, ऐसे लोग अधिक से अधिक कामभोगों में लीन रहते हैं, अपने जीवन में वे भौतिक सुखोपभोग को ही प्रधानता देते हैं, रातदिन विषयभोगों के ही सपने लेते रहते हैं, सुन्दरियों की ही टोह में रहते हैं। संसार में चारगतियाँ हैं—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति। इन चारों में से सबसे ज्यादा सुख-साधन और ऐश्वर्य की प्रचुरता देवगति में है, इसीलिए शास्त्रकार ने सर्वप्रथम देवलोक के देव-देवियों में कामभोग की तीव्र वासना का उल्लेख किया है—'सुरगणा सअच्छरा'।

देवों में अधिक विषयलालसा क्यों ?—प्रायः यह देखा गया है कि जो जितना अधिक सुख में पलता है, वह अधिकतर अब्रह्मचर्य का शिकार होता है। वह न तो साधु के महाव्रतों को ग्रहण कर सकता है और न श्रावक के अणुव्रतों को। यही कारण है कि देवगति के देव-देवी व्रतों को जरा भी ग्रहण नहीं कर सकते। मन में विचार उठते ही उनकी इच्छानुसार भोगों की साधन-सामग्री कल्पवृक्षों से उपलब्ध हो जाती है। आहार (भोजन) की इच्छा होते ही उनके कंठ में अमृतमय आहार उपस्थित हो जाता है और उनकी तृप्ति हो जाती है। इसीलिए शास्त्रकार ने देवों के लिए ही 'मोहमोहितमई'-विशेषण का प्रयोग किया है।

देवों का अधिकतर समय कामक्रीड़ाओं में ही बीतता है। विविध उपायों से विषयसेवन करने में ही वे मशगूल रहते हैं। इन्द्रियों के उत्तम से उत्तम शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शरूप विषय और उनकी प्राप्ति के लिए, श्रेष्ठसाधन वहाँ मौजूद हैं ही। इसलिए उन्हें वहाँ विषयों की प्राप्ति के लिए अधिक प्रयास नहीं करना

पड़ता। फिर देवों के वैक्रियशरीर होता है। वैक्रियलब्धि तो उन्हें जन्म से ही मिलती है। देव-लोक के देवदेवियों का शरीर रक्त, मांस, हड्डी, चर्बी आदि अपवित्र धातुओं से बना हुआ नही होता; सुकोमल सुन्दर, सुडौल शरीर होता है। उनके शरीर की सुकुमारता और तज्जन्य रति-सुख की उपमा किसी पदार्थ से नही दी जा सकती। वहां के कल्पवृक्षों से प्राप्त पदार्थों के सुख या कंठ मे झरने वाले अमृतमय आहार के सामने यहां के मेवामिष्टान्न आदि कुछ भी नहीं हैं। वहाँ के कल्पवृक्ष के फूलों और सुगन्धित द्रव्यों की तुलना में यहां के इत्र या केसर,कस्तूरी, चंदन आदि सर्वश्रेष्ठ सुगन्धित पदार्थ भी मिट्टी के तेल के समान तुच्छ बताये गये हैं। वहाँ के आभूषण, वस्त्र, और रत्नजटित अकृत्रिम विमानों की सुन्दरता के सामने रूप, रंग और सुन्दरता में यहां की कोई भी चीज ठहर नही सकती है। देवागनाओं के नूपुर आदि आभूषणों की झंकार के सामने वीणा, कोयल आदि की ध्वनि फीकी है। देवागनाओं के सुरम्य कंठ से निकलने वाली सुरीली आवाज और गायन का तो कहना ही क्या है! तात्पर्य यह है कि देवलोक मे उत्तमोत्तम विषयों की पराकाष्ठा है। इस कारण मोह के बाह्य साधनों के या निमित्तों के प्राप्त होने से तथा अन्तरग में चारित्रमोहनीय कर्म के तीव्र उदय से अब्रह्म सेवन भी वहां चरम सीमा पर है; यह निःसदेह कहा जा सकता है। इसी बात की पुष्टि शास्त्रकार ने की है। साथ ही उन्होने विभिन्न कोटि के देवों के नाम गिनाए हैं।

'देव' का अर्थ—असल में देखा जाय तो देव उसे कहते है, जो सदा क्रीडा करते रहते हैं, जिनके शरीर, आभूषण आदि देदीप्यमान होते है, जो सदा हर्ष में मग्न रहते है, इन्द्रियविषयों में मस्त रहते हैं, तथा जिनके चित्त में लगातार अनेक कामनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं एवं जो विविध स्थानो में क्रीड़ा के लिए गमन करते हैं। इसलिए देवों मे विषयेच्छा प्रबल हो, इसमें कहना ही क्या?

भवनवासी देव कौन और कहाँ रहते है?—शास्त्रकार ने 'असुरभुयगगरुल' इत्यादि पंक्ति से असुरकुमार आदि १० प्रकार के भवनवासी देव बताये हैं। इनका भवनवासी नाम इसलिए पड़ा है कि ये भवनों मे रहते हैं। जैनशास्त्रानुसार अधोलोक में रत्नप्रभा पृथ्वी का पिंड एक लाख अस्सी हजार योजन का है। ऊपर और नीचे से एक-एक हजार योजन छोड कर शेष १७८००० योजन में भवनवासी देवो के भवन हैं। अधोलोक की इस पृथ्वी के तीन भाग हैं—खरभाग, पंकभाग और जलबहुल भाग। मध्यलोक से नीचे १६ हजार योजन चौड़ी खरभाग भूमि है; जहां असुरकुमार

---

१ विशेष जानकारी के लिए देखो—प्रज्ञापनासूत्र द्वितीयपद।

—सपादक

जाति के देवों को छोड़ कर बाकी के नागकुमार आदि ९ प्रकार के भवनवासी देवों के भवन बने हुए हैं। उस खरभाग से नीचे ८४००० योजन चौड़ी पंकभागभूमि है, जहाँ असुरकुमार जाति के देवों के भवन बने हुए हैं।

यद्यपि सब देवों की अवस्था आयुपर्यन्त पूर्ण यौवनावस्था के समान एक सरीखी रहती है, तथापि भवनवासी देव प्रायः विक्रिया द्वारा कुमारों के समान अपनी अवस्था बना लेते हैं और कुमारों की तरह ही चमकीले वस्त्र, कड़े, कुंडल, हार और मुकुट आदि आभूषण पहने रहते हैं एवं बालकवत् विविध क्रीड़ाएँ करते हैं; इसलिए इनके जातीय नाम के आगे 'कुमार' शब्द लगाया जाता है।

व्यन्तरदेव और उनका निवास—विविध देशान्तरों में इनके निवास हैं, इसलिए इन्हें व्यन्तर कहा जाता है। रत्नप्रभा पृथ्वी का जो प्रथम भाग एक हजार योजन का है; उसमें से ऊपर और नीचे का सौ-सौ योजन छोड़ कर बाकी का जो ८०० योजन का टुकड़ा है, उसके तिर्यग्भाग में व्यन्तरों के असंख्यात नगर हैं।

इसके अतिरिक्त इनका एक नाम 'वाणव्यन्तर' भी है; जिसका अर्थ होता है—वनों में रहने वाले व्यन्तर। जो नीची जाति के यक्षादि व्यन्तर देव हैं, वे प्रायः वनों में, पर्वतों की गुफाओं में, पेड़ों में, वृक्षों के कोटरों में, विविध जलाशयों या प्राकृतिक दृश्यों वाले स्थानों, बगीचों और शून्यगृहों में रहते हैं।

'तिरिय-जोइस-विमाणवासि—मणुयगणा'—मध्यलोक के ज्योतिष्देव भी अब्रह्मचर्य सेवन में पीछे नहीं हैं। ज्योतिषदेवों के ५ भेद हैं—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे। इनमें से सूर्य और चन्द्र ज्योतिषदेवों के इन्द्र होते हैं। सूर्यदेव के ४ अग्रमहिषी देवियाँ होती हैं; जो प्रत्येक विक्रिया करके अपने चार-चार हजार रूप बना सकती हैं। उनके साथ सूर्य दिव्यसुख का अनुभव करते हैं। चन्द्रमा के भी ४ अग्रमहिषी देवियां होती हैं; ये भी हर एक विक्रिया द्वारा अपने चार-चार हजार रूप बदल सकती हैं। इनके साथ चन्द्रमा भी दिव्यसुख का अनुभव करते हैं। पांचों प्रकार के ज्योतिषदेव ढाई द्वीप पर्यन्त निरन्तर गमन करते रहते हैं, आगे नहीं। इस भूमि के समतल भाग से लेकर ११० योजन आकाशक्षेत्र में कुल ज्योतिषदेवों के विमान हैं।

इसके बाद शास्त्रकार ने मनुष्यगति के स्त्रीपुरुषों में भी अब्रह्मचर्य का प्रभाव बताया है। मनुष्यों में बड़े-बड़े शूरवीर योद्धा भयंकर युद्धों में अपना जौहर दिखा सकते हैं, वे मतवाले हाथियों के मस्तकों को अपनी तलवार के एक प्रहार से टुकड़े टुकड़े कर सकते हैं, बड़े-बड़े दुर्दान्त सिंहों का शिकार कर सकते हैं, लेकिन काम-

---

१ इसका विस्तृत वर्णन प्रज्ञापनासूत्र के द्वितीय स्थानपद में देखें। —सम्पादक

वासना के आगे वे भी लाचार हो कर घुटने टेक देते हैं। काम के चेप से तो निःस्पृह त्यागी परमवीर साधु-महात्मा ही बचे है, जो कामिनी के संसर्ग से दूर रहते है।

'जलयर-थलयर-खहयरा'—देवों की अपेक्षा मनुष्यों के पास सुख-साधनों की कमी है। वैभव और शक्ति में भी मनुष्य देवों से बहुत पीछे हैं। फिर देवगण महाव्रत और अणुव्रत को स्वीकार नहीं कर सकते, जबकि मनुष्यगण इन दोनो को स्वीकार कर सकते है, बशर्ते कि चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम हो। इसलिए देवों की अपेक्षा मनुष्यों में अब्रह्मचर्य का प्रभाव अपेक्षाकृत कम है। यद्यपि पंचेन्द्रिय-तिर्यंचो में कोई-कोई अणुव्रत तक ग्रहण कर सकते हैं, तथापि पचेन्द्रिय-तिर्यंचों मे कामवृत्ति का प्रभाव कम नही है।

मध्यलोक में ज्योतिषी देव, मनुष्य और तिर्यंच तीन रहते हैं। इनमे से दो का वर्णन पहले किया जा चुका है। तिर्यंचगति के जीवों पर अब्रह्म का प्रभाव बताने के लिए ही शास्त्रकार ने अब यह उल्लेख किया है। तिर्यंचगति के जीवों में पंचेन्द्रिय जीव ही मैथुन सेवन कर सकते है। बाकी के एकेन्द्रिय से ले कर चार इन्द्रिय तक के जीव बाह्य मैथुनसेवन नही कर सकते। उनमें नपुंसकवेद के उदय से कामवासना अवश्य होती है। लेकिन बाह्यरूप में मैथुनसेवन करने की इन्द्रिय आदि सामग्री उनको उपलब्ध नही होती। इसलिए पंचेन्द्रिय-तिर्यंचों का ही तीन भागों में बाट कर निर्देश किया है।

जलचर तिर्यंचपंचेन्द्रिय वे हैं, जो जल मे ही जीवन धारण करके रहते है। जैसे—मछली, मगरमच्छ, घड़ियाल आदि। स्थलचर तिर्यंचपंचेन्द्रिय जीव वे हैं, जो भूमि पर ही विचरण करते हैं। जैसे—गाय, बैल, घोड़ा, सिंह कुत्ता आदि। और खेचर तिर्यंचपंचेन्द्रिय जीव वे हैं, जो आकाश में उड़ते हैं। जैसे—चिड़िया, कबूतर, बाज, चील आदि।

ये तीनों प्रकार के पंचेन्द्रिय जीव अब्रह्मचर्य के पंजे मे फंसे हुए है। कामवासना के निमित्त से इनमें परस्पर खूब लड़ाइयां होती हैं। कई दफा तो ये परस्पर लड़ते-लड़ते अपनी जान तक गंवा बैठते हैं।

प्रश्न होता है कि नरकगति में भी तो पंचेन्द्रिय नारकजीव है; क्या वे अब्रह्मचर्य के चक्कर से दूर है ? इसके उत्तर में शास्त्रकार ने इस अध्ययन के प्रारम्भ में स्वरूपद्वार मे ही बता दिया है कि अब्रह्मचर्य ने क्या स्वर्ग, क्या नरक, क्या मनुष्य और क्या तिर्यंच सभी पर अपना जादू चला रखा है। फिर नरक के जीव इस विकार से कैसे बच सकते हैं ? परन्तु एक बात यह है कि नरक के जीवो के पास केवल दुःख-सामग्री ही है। वहां न तो इन्द्रिय-सुख है और न इन्द्रियविषयसुख के साधन हैं।

जाति के देवों को छोड़ कर बाकी के नागकुमार आदि ९ प्रकार के भवनवासी देवों के भवन बने हुए है। उस खरभाग से नीचे ८४००० योजन चौड़ी पंकभागभूमि है, जहाँ असुरकुमार जाति के देवों के भवन बने हुए हैं।

यद्यपि सब देवो की अवस्था आयुपर्यन्त पूर्ण यौवनावस्था के समान एक सरीखी रहती है, तथापि भवनवासी देव प्राय: विक्रिया द्वारा कुमारों के समान अपनी अवस्था बना लेते हैं और कुमारों की तरह ही चमकीले वस्त्र, कड़े, कुंडल, हार और मुकुट आदि आभूषण पहने रहते है एवं बालकवत् विविध क्रीड़ाएँ करते हैं; इसलिए इनके जातीय नाम के आगे 'कुमार' शब्द लगाया जाता है।

व्यन्तरदेव और उनका निवास—विविध देशान्तरों में इनके निवास है, इसलिए इन्हें व्यन्तर कहा जाता है। रत्नप्रभा पृथ्वी का जो प्रथम भाग एक हजार योजन का है; उसमें से ऊपर और नीचे का सौ-सौ योजन छोड़ कर बाकी का जो ८०० योजन का टुकड़ा है, उसके तिर्यग्भाग में व्यन्तरों के असंख्यात नगर है।

इसके अतिरिक्त इनका एक नाम 'वाणव्यन्तर' भी है; जिसका अर्थ होता है—वनो में रहने वाले व्यन्तर। जो नीची जाति के यक्षादि व्यन्तर देव है, वे प्राय: वनों मे, पर्वतो की गुफाओ में, पेडों में, वृक्षों के कोटरों मे, विविध जलाशयों या प्राकृतिक दृश्यों वाले स्थानों, बगीचों और शून्यगृहों मे रहते हैं।

'तिरिय-जोइस-विमाणवासि—मणुयगणा'—मध्यलोक के ज्योतिषदेव भी अब्रह्मचर्य सेवन में पीछे नहीं हैं। ज्योतिषदेवों के ५ भेद हैं—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे। इनमें से सूर्य और चन्द्र ज्योतिषदेवों के इन्द्र होते है। सूर्यदेव के ४ अग्रमहिषी देवियाँ होती हैं; जो प्रत्येक विक्रिया करके अपने चार-चार हजार रूप बना सकती हैं। उनके साथ सूर्य दिव्यसुख का अनुभव करते हैं। चन्द्रमा के भी ४ अग्रमहिषी देवियां होती हैं; वे भी हर एक विक्रिया द्वारा अपने चार-चार हजार रूप बदल सकती हैं। इनके साथ चन्द्रमा भी दिव्यसुख का अनुभव करते है। पांचों प्रकार के ज्योतिषदेव ढाई द्वीप पर्यन्त निरन्तर गमन करते रहते हैं, आगे नहीं।[1] इस भूमि के समतल भाग से लेकर ११० योजन आकाशक्षेत्र में कुल ज्योतिषदेवों के विमान हैं।

इसके बाद शास्त्रकार ने मनुष्यगति के स्त्रीपुरुषों में भी अब्रह्मचर्य का प्रभाव बताया है। मनुष्यों में बड़े-बड़े शूरवीर योद्धा भयंकर युद्धों मे अपना जौहर दिखा सकते है,वे मतवाले हाथियों के मस्तकों को अपनी तलवार के एक प्रहार से टुकड़े टुकड़े कर सकते हैं, बड़े-बड़े दुर्दान्त सिंहों का शिकार कर सकते हैं, लेकिन काम-

---

१ इसका विस्तृत वर्णन प्रज्ञापनासूत्र के द्वितीय स्थानपद में देखो। —संपादक

वासना के आगे वे भी लाचार हो कर घुटने टेक देते हैं। काम के चेप से तो निःस्पृह त्यागी परमवीर साधु-महात्मा ही बचे हैं, जो कामिनी के संसर्ग से दूर रहते है।

'जलयर-थलयर-खहयरा'—देवों की अपेक्षा मनुष्यों के पास सुख-साधनों की कमी है। वैभव और शक्ति में भी मनुष्य देवों से बहुत पीछे है। फिर देवगण महाव्रत और अणुव्रत को स्वीकार नही कर सकते, जबकि मनुष्यगण इन दोनों को स्वीकार कर सकते है, बशर्ते कि चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम हो। इसलिए देवों की अपेक्षा मनुष्यों में अब्रह्मचर्य का प्रभाव अपेक्षाकृत कम है। यद्यपि पंचेन्द्रिय-तिर्यंचो में कोई-कोई अणुव्रत तक ग्रहण कर सकते हैं, तथापि पचेन्द्रिय-तिर्यंचों मे कामवृत्ति का प्रभाव कम नहीं है।

मध्यलोक में ज्योतिषी देव, मनुष्य और तिर्यंच तीन रहते हैं। इनमें से दो का वर्णन पहले किया जा चुका है। तिर्यंचगति के जीवों पर अब्रह्म का प्रभाव बताने के लिए ही शास्त्रकार ने अब यह उल्लेख किया है। तिर्यचगति के जीवों में पचेन्द्रिय जीव ही मैथुन सेवन कर सकते है। बाकी के एकेन्द्रिय से ले कर चार इन्द्रिय तक के जीव बाह्य मैथुनसेवन नही कर सकते। उनमे नपुंसकवेद के उदय से कामवासना अवश्य होती है। लेकिन बाह्यरूप में मैथुनसेवन करने की इन्द्रिय आदि सामग्री उनको उपलब्ध नही होती। इसलिए पंचेन्द्रिय-तिर्यचों का ही तीन भागों मे बांट कर निर्देश किया है।

जलचर तिर्यचपंचेन्द्रिय वे है, जो जल में ही जीवन धारण करके रहते हैं। जैसे—मछली, मगरमच्छ, घड़ियाल आदि। स्थलचर तिर्यंचपंचेन्द्रिय जीव वे हैं, जो भूमि पर ही विचरण करते है। जैसे—गाय, बैल, घोडा, सिंह कुत्ता आदि। और खेचर तिर्यंचपंचेन्द्रिय जीव वे है, जो आकाश में उड़ते हैं। जैसे—चिड़िया, कबूतर, बाज, चील आदि।

ये तीनो प्रकार के पंचेन्द्रिय जीव अब्रह्मचर्य के पंजे में फंसे हुए हैं। कामवासना के निमित्त से इनमें परस्पर खूब लड़ाइयां होती है। कई दफा तो ये परस्पर लड़ते-लड़ते अपनी जान तक गंवा बैठते हैं।

प्रश्न होता है कि नरकगति मे भी तो पंचेन्द्रिय नारकजीव हैं; क्या वे अब्रह्मचर्य के चक्कर से दूर हैं? इसके उत्तर में शास्त्रकार ने इस अध्ययन के प्रारम्भ मे स्वरूपद्वार में ही बता दिया है कि अब्रह्मचर्य ने क्या स्वर्ग, क्या नरक, क्या मनुष्य और क्या तिर्यंच सभी पर अपना जादू चला रखा है। फिर नरक के जीव इस विकार से कैसे बच सकते हैं? परन्तु एक बात यह है कि नरक के जीवों के पास केवल दुःख-सामग्री ही है। वहाँ न तो इन्द्रिय-सुख है और न इन्द्रियविषयसुख के साधन है।

यद्यपि विषयसेवन में प्रवृत्त करने वाले चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से नारक जीवों मे नपुंसकवेद होने पर भी विषयसेवन के अनुकूल बाह्य साधन न मिलने के कारण वे मैथुन सेवन नही कर पाते। मगर कामभोग की वासना उनमें बनी रहती है। यही कारण है कि शास्त्रकार ने अब्रह्मचर्य के पाश में बंधे हुए प्राणियों में नरक के जीवों तथा एकेन्द्रिय से ले कर चतुरिन्द्रिय तिर्यंचप्राणियों का जिक्र नहीं किया।

मोहपडिबद्धचित्ता—शास्त्रकार द्वारा इस सूत्रपाठ में बताए हुए सभी प्राणियों का चित्त मोह या मोहनीय कर्म के वशीभूत रहता है। इसका तीव्र उदय होने पर वे अपने कर्तव्यपथ से भ्रष्ट हो जाते हैं और न करने योग्य कार्य भी कर बैठते है। संसार में मोहनीय कर्म ही सब कर्मों में प्रबल है। सारा संसार मोहकर्म से ग्रस्त है।

अवितण्हा कामभोगतिसिया तण्हाए बलवईए महईए समभिभूया'—इन पदों से शास्त्रकार ने स्पष्ट कर दिया है कि देवों को विषयसुखभोग के इतने मनचाहे साधन मिल जाने पर भी और धनसम्पन्न या सत्ताधारियों को भी विषयसुखभोग के प्रचुर साधन प्राप्त हो जाने के बावजूद भी उनकी तृष्णा उन प्राप्त कामभोगों से बुझती नहीं है, उसका कारण मोहनीय कर्म ही है। परन्तु यह तो निश्चित है कि कामभोगों के अधिकाधिक सेवन से कामवासना कभी शान्त नहीं होती। कहा भी है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

अर्थात्—कामों के अधिकाधिक उपभोग से काम कभी शान्त नही होता है। प्रत्युत आग में घी डालने के समान वह और अधिक बढ़ता है—भड़कता है।

किन्तु मोहवश जीव दूसरो को प्राप्त कामभोगों को देख कर ईर्ष्यावश अप्राप्त कामभोगों को प्राप्त करने के लिए हरदम लालायित रहता है। उसकी काम-पिपासा कभी शान्त ही नही होती। संसार के सभी प्राणी चक्रवर्ती या देवेन्द्र की-सी विषयसुखसामग्री चाहते हैं। कदाचित् वह मिल भी जाय या उससे भी अधिक मिल जाय तो भी उसे तृप्ति नही होती। वह उससे भी अधिक को चाह करता है। परन्तु इस खोटी चाह से तो मनुष्य को दुःख की राह ही मिलती है। कहा भी है—

'विषयाशा प्रतिप्राणि यस्यां विश्वमणूपमम्।
कस्य किमद्धि संप्राप्तं, वृथा वै विषयैषिता॥'

अर्थात्—संसार में प्रत्येक प्राणी को विषयसेवन की इच्छा रहती है। और वह इच्छा इतनी विशाल है कि उसमें सारे विश्व की सम्पत्ति भी अणु के समान है। भला, बताओ तो सही; वह किसे कितनी प्राप्त हुई है ? और हो सकती है ? न तो किसी को प्राप्त हुई है और न हो सकती है। विषयसुख की यह एषणा वृथा है। संतोष के सिवाय इसे शान्त करने की और कोई अमोघ औषधि नहीं है।

परन्तु जो लोग विषयभोग की प्यास मिटाने के लिए मैथुन या अब्रह्मसेवन की प्रक्रिया अपनाते हैं, उन्हें बलवती विषयतृष्णा घर दबाती है और वे उसके इशारे पर नाच कर अपनी जिंदगी से हाथ धो बैठते हैं।

गढिया य अतिमुच्छिया य—विषयतृष्णा के सहारे जीने वाले जीव विषयों की पूर्ति सहसा न होने पर उसी के पीछे दीवाने बन कर आसक्त और एक दिन अतिमूर्च्छित हो जाते है। अब्रह्मचर्य के दलदल में फसे वे लोग इस तामसभाव से मुक्त नहीं हो पाते; और पति-पत्नी दोनों परस्पर कामवासना का सेवन करते हुए दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के पीजरे मे अपनी आत्मा को डाल देते हैं। वहाँ वे पक्षी की तरह परतंत्र होकर उस पीजरे के बंधन मे बँधे पड़े रहते हैं। दर्शनमोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटाकोटि सागरोपमकाल की है। यह एक बार में बांधे हुए दर्शनमोहकर्म की उत्कृष्ट स्थिति है। यदि वह जीव लगातार दर्शनमोह का कर्मबंध करता चला जाए तो अनन्तकाल तक उससे छुटकारा पाना कठिन है। भोगविलास और सुखसुविधाओं में रचापचा रहने वाला जीव अकसर आत्मा, परमात्मा या तीर्थंकर, स्वर्ग, नरक, धर्म, पुण्य और संघ आदि की उपेक्षा कर देता है। वह धर्म और भगवान् की निन्दा भी जीभर कर किया करता है। इसलिए दर्शनमोहनीय कर्म का बन्ध होना स्वाभाविक है। कदाचित् अब्रह्मसेवी दर्शनमोहनीयकर्म का बन्ध न करे तो भी चारित्रमोहनीयकर्म का बन्ध तो उसके जीवन में अवश्यम्भावी है। उससे वह छूट नही सकता। उसकी उत्कृष्टस्थिति ४० कोटाकोटि सागरोपम की है।

मनुष्यगति के नामी अब्रह्मचर्यसेवी—अब शास्त्रकार मनुष्यगति के विशिष्ट ऐश्वर्यशाली, सत्ताधारी और वैभवसम्पन्न खास-खास व्यक्तियों के अब्रह्मसेवन के तौरतरीके निम्नोक्तसूत्र से बता रहे हैं—'भुज्जो असुरसुरतिरियमणुअभोगरति ···' इत्यादि।

मनुष्यगति में असाधारण-विभूतिसम्पन्न चक्रवर्ती होते हैं। वे दो तरह के होते हैं—अर्धचक्री—त्रिखंडाधिपति वासुदेव और पूर्णचक्री—षट्खंडाधिपति।

यहाँ सूत्रपाठ में प्रथम चक्री के वैभवविलास का वर्णन है। सुर असुर, मनुष्य और तिर्यंचों के सातिशय भोगों में अतीव आसक्ति होने से ये भांति-भांति की क्रीड़ाओं में, रागरंग में सतत मशगूल रहते हैं। सुरपति और नरपति उनका बहुत

सत्कार करते है। उनके लिए वे अपने-अपने देश की सुन्दर से सुन्दर वस्तुएँ और अंगनाएँ भेंट में भेजते हैं। जैसे स्वर्गलोक में इन्द्र अनेक मनोहर और प्राकृतिक दृश्य वाले स्थानों में जा कर क्रीड़ा करता है, वैसे ही ये भी पर्वतों, प्राकृतिक दृश्यों, झरनों, मनोहर लताकुंजो, मनोज्ञ नगरों, जनपदो आदि स्थानों मे अपनी विविध सवारियों द्वारा जा पहुँचते हैं और वहाँ अनुकूल समय मे चित्ताकर्षक क्रीड़ाएँ करते हैं। कई बार समुद्र या बड़ी-बड़ी नदियों के समीपवर्ती स्थानों में जलमार्ग या स्थलमार्ग द्वारा पहुंच कर अभीष्ट सुखों का उपभोग करते हैं। कभी मन मे आया तो धूल के कोट वाली वस्तियो कस्बो, गाँवों या वस्ती से दूर ऐसे एकान्तस्थानों में जा पहुंचते हैं। कभी ऐसे स्थानों में जा कर अपनी महफिल जमाते हैं; जहाँ सुरक्षा के लिए अनाज व अन्य सामग्री का प्रबन्ध पहले से होता है। किसी समय रत्नों का जहाँ व्यापार होता है, ऐसे पत्तनों मे पहुंच कर मन को प्रफुल्लित करते है।

मतलब यह है कि विविध साधनो से और भांति-भांति के तौरतरीको से शब्दादिविषयों का पुनः पुनः सेवन करने पर भी वे कामभोगों से तृप्त नहीं होते और अन्त में कामभोगों की इच्छा करते-करते ही काल के गाल में पहुंच जाते हैं।

चक्रवर्ती का वैभव—शास्त्रकार षट्खंडाधिपति चक्रवर्ती के वैभवविलासों का निरूपण करते हुए कहते हैं—'एगच्छत्तं ससागरं भुंजिऊण वसुहं ··· भज्जाहिं य जणवयप्पहाणाहिं लालियंता ···अवितित्ता कामाणं।' इस लम्बे पाठ का वर्णन बहुत ही स्पष्ट है। ये सम्पूर्ण भरतक्षेत्र के स्वामी होते है, तीनों ओर समुद्र तक और उत्तर में हिमवान पर्वत तक इनका अखंड राज्य होता है। बत्तीस हजार मुकुटवद्ध राजा सिर झुका कर उनकी आज्ञा को स्वीकार करते हैं। विशेष बात यह है कि मूलपाठ में वर्णित नाना प्रकार की अगणित भोगसामग्रियों के अलावा उनके अकेले के ६४ हजार पत्नियाँ होती है, जो उन्हें देख कर अपने नेत्रो को आनन्दित करती हैं। चक्रवर्ती का सारा दारोमदार चक्र आदि १४ रत्नों पर होता है। चक्रवर्ती को ६ खंडों पर विजय प्राप्त कराने मे तथा चक्रवर्ती पद प्राप्त कराने में ये सहायक होते हैं। खान से निकला हुआ पदार्थविशेष यहाँ रत्न नहीं कहलाता, अपितु जिस-जिस जाति की जो-जो श्रेष्ठ वस्तु होती है, उसे ही रत्न कहा जाता है। चक्रवर्ती के १४ रत्न होते है। जो निम्नोक्त गाथा से प्रगट हैं—

'सेणावइ १ गाहावइ २ पुरोहिय ३ तुरग ४ वड्ढइ ५।
गय ६ इत्थी ७ चक्कं ८ छत्तं ९ चम्मं १० मणि ११,
कागणि १२ खग्ग १३ दंडो य १४.॥'

अर्थात् १ सेनापति, २ गाथापति (स्थपति), ३ पुरोहित, ४ अश्व, ५ वर्द्ध, ६ हाथी, ७ स्त्रीरत्न, ये सात (पंचेन्द्रिय) सचेतन (सजीव) रत्न हैं; तथा ८ चक्र,

६ छत्र, १० चर्म, ११ मणि, १२ काकिणी, १३ खड्ग और १४ दंड ; ये सात अचेतन रत्न हैं। इस प्रकार चक्रवर्ती इन चौदह रत्नों का स्वामी होता है। चक्रवर्ती का प्रथम रत्न सेनापति होता है, जिसकी शक्ति शत्रुओं से अबाधित होती है और जो गंगासिन्धु आदि नदियों को पार करके विजय प्राप्त कराने में समर्थ होता है। दूसरा गृहपतिरत्न है, जो गृहोचित शाली आदि सभी प्रकार के धान्य, फल, सागभाजी तत्काल उत्पन्न करने में और चक्रवर्ती की सारी सेना को खाने-पीने की तमाम चीजें मुहैया करने में समर्थ होता है। तीसरा रत्न पुरोहित होता है, जो समस्त क्षुद्र उपद्रवों को शान्त करता है। चौथा और छठा रत्न घोडा और हाथी होता हैं, ये दोनों अत्यन्त वेग और पराक्रम वाले होते है। पांचवा वढई रत्न होता है ; जो देखते ही देखते सारी सेना के लिए भवन बनाने, उनको सुसज्जित करने तथा बात की बात में कठिन से कठिन ऊवड़खावड स्थानों पर रास्ता आदि बना देने मे समर्थ होता है। सातवां स्त्रीरत्न समस्त उत्तमोत्तम कामसुखो का खजाना होता है। आठवां चक्ररत्न हजार आरो का लम्बा-चौड़ा, समस्त शस्त्रो मे प्रधान अमोघ शस्त्र होता है। नौवां विशाल लम्बा-चौडा छत्ररत्न होता है ; जो ६६ हजार लोहे की सलाइयों (ताड़ियो) से गूंथा हुआ व सोने के बने हुए प्रचंड दंड से सुशोभित होता है, जो धूप, वर्षा, लू आदि दोषों का नाशक होता है और स्वामी के हाथ का स्पर्श होते ही १२ योजन तक फैल कर, वैताढ्यपर्वत के उत्तरभाग मे रहने वाले म्लेच्छो के अनुरोध से मेघकुमार द्वारा बरसाई हुई जलधाराओ का निवारण करता है। दसवां चर्मरत्न होता है, जो होता तो है दो हाथ का ही ; लेकिन वैताढ्यपर्वत के उत्तर मे रहने वाले म्लेच्छों द्वारा कराई हुई मूसलधार वर्षा होने पर स्वामी के हाथ का स्पर्श होते ही १२ योजन तक विस्तृत हो जाता है। चक्रवर्ती की सारी सेना को आकाश मे ऊपर से तो छत्ररत्न ढक देता है, जबकि नीचे से चर्मरत्न पृथ्वी की तरह उसे आधार देने में और प्रातःकाल बोने पर अपराह्न में शाली आदि अन्न उपजा देने में समर्थ होता है। ग्यारहवां मणिरत्न चार अंगुल लम्बा और दो अंगुल चौडा तिकोन और छह पहलू वाला वैडूर्यमय होता है, जो छत्र के ऊपरी सिरे पर और हाथी के कंधे पर लगा होता है। वह १२ योजन तक प्रकाशक होता है, क्षुद्र उपद्रवो को मिटा देता है। उसको हाथ मे रखने पर यौवन स्थायी रहता है केश और नख भी टिके रहते है। बारहवां काकिणीरत्न होता है जिसके आठों पहलू स्वर्णजटित होते हैं। वह चार अंगुल का समचौरस और समस्तविद्याओं का अपहर्ता होता है। वह तिमिस्रागुफा और खंडप्रपातगुफा मे १२ योजन तक अंधेरा मिटा देने वाला होता है। चक्री द्वारा रात को सेना के बीच मे रख देने पर सूर्य की तरह प्रकाश देता है। तमिस्रागुफा मे पूर्व और पश्चिम की प्रत्येक दीवार पर एक योजन दूर तक और ५०० धनुष लम्बाई-चौड़ाई

तक चक्रवर्ती इसी से प्रकाश करता है, तथा एक दीवार पर गोमूत्रिकाक्रम से और दूसरी दीवार पर २४ चक्राकार मंडल चक्रवर्ती इसी काकिणीरत्न से घ की तरह सुखपूर्वक अंकित करता है।

भरतक्षेत्र के अपरार्ध भाग के विजय के लिए जब तक चक्रवर्ती रहता है, तक तमिस्रगुफा और खण्डप्रपातगुफा खुली रहती हैं।

तेरहवां खड्गरत्न होता है, जो १२ अंगुल का होता है, लेकिन मे अजेय होता है। चौदहवां दण्डरत्न होता है, जो रत्नमय, और पांच लता वाला होता है, जिसमें इन्द्र के वज्र जितनी ताकत होती है; जो बहुत ही लम्ब चौडा होता है, जो शत्रु की सेना को त्रास पहुंचाता है, विषम ऊंची-नीची जगहों सम कर देता है, वह शान्ति करने वाला और मनोरथपूर्ति करने वाला होता है; सर्व अबाधित होता है और एक हजार योजन नीचे तक घुस जाता है।

ये चौदह ही रत्न एक-एक हजार यक्षो द्वारा अधिष्ठित होते है। इसी तर चक्रवर्ती नौ निधियो के अधिपति होते हैं। वे नौ निधियां इस प्रकार हैं—

"नेसप्पं पंडुयए पिंगलए, सव्वरयणे तहा महापउमे।
काले य महाकाले माणवगमहाणिही संखे॥"

अर्थात्—नैसर्प, पाण्डु, पिंगलक, सर्वरत्न, महापद्म, काल, महाकाल, माणव और शंख ये नौ महानिधियां हैं।

संस्कृत ग्रन्थों मे इस सम्बन्ध में एक भिन्न ही उल्लेख मिलता है—

महापद्मश्च पद्मश्च शंखो मकरकच्छपौ।
मुकुन्द-कुन्द-नीलाश्च खर्वश्च निधयो नव॥

अर्थात्—महापद्म, पद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील औ खर्व; ये नौ निधियां हैं।

इन महानिधियों से चक्रवर्ती का कोश परिपूर्ण रहता है; उन्हें किसी चीज की कमी नही रहती।

इतने समृद्ध भी कामभोगों से अतृप्त—वैभव का इतना लम्बा-चौड़ा वर्णन करने के पीछे शास्त्रकार का आशय यही है कि इतने मनचाहे वैभव,ऐश्वर्य, सुखसाधन, रत्न और भोगों के प्राप्त होने पर भी और उनका उपयोग कर लेने पर भी वे एक दिन इस संसार से अतृप्त ही चल देते हैं,तो अल्पपुण्य वाला प्राणी किस बिसात मे है? अतः ऐसा समझ कर अतृप्तिकारी विषयवासनाओं का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। इसी से सच्ची तृप्ति और शान्ति मिल सकती है।

संसार के अन्य पुण्यशालियों की काम-प्रवृत्ति

चक्रवर्ती की कामभोगों में प्रवृत्ति का विस्तृत वर्णन करने के बाद आगे शास्त्रकार बलदेव, वासुदेव के रूप में पुण्यशाली और प्रशसनीय माने जाने वाले अन्य पुरुषो के वैभव और उनकी कामभोगो मे प्रवृत्ति का पुन: विशद वर्णन करते हैं—

मूलपाठ

भुज्जो भुज्जो बलदेव-वासुदेवा य पवरपुरिसा, महाबल-परक्कमा, महाधणुवियट्टका, महासत्तसागरा, दुद्धरा, धणुद्धरा, नरवसभा, रामकेसवा, (स)भायरो, सपरिसा, वसुदेवसमुद्दविजयमादियदसाराणं पज्जुन्न-पतिव-संब-अणिरुद्ध-निसह-उम्मुय-सारण-गय-सुमुह-दुम्मुहादीण जायवाणं अद्धुट्ठाण वि कुमार-कोडीणं हिययदयिया, देवीए रोहिणीए देवीए देवकीए य आणंद-हिययभावणंदणकरा, सोलसरायवरसहस्साणुजातमग्गा, सोलस-देवीसहस्सवरणयणहिययदइया, णाणामणिकणगरयणमोत्तिय-पवालधणधन्नसंचयरिद्धिसमिद्धकोसा, हयगयरहसहस्ससामी, गामागर-नगर-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासम-संबाह-सहस्स-थिमियणिव्वुय- पमुदितजणविविहसासनिप्फज्जमाण - मेइणिसर-सरियतलागसेलकाणणआरामुज्जाण - मणाभिरामपरिमंडियस्स दाहिणड्ढवेयड्ढगिरिविभत्तस्स लवणजलहिपरिगयस्स छव्विह-कालगुणकामजुत्तस्स अद्धभरहस्स सामिका, धीरकित्तिपुरिसा, ओहबला, अइबला, अनिहया, अपराजियसत्तुमद्दणरिपुसहस्स-माणमहणा, साणुक्कोसा, अमच्छरी, अचवला, अचंडा, मित-मंजुलपलावा, हसियगंभीरमहुरभणिया, अब्भुवगयवच्छला, सरण्णा, लक्खणवंजणगुणोववेया, माणुम्माणपमाणपडिपुन्नसुजाय-सव्वंगसुंदरंगा, ससिसोमागारकंतपियदंसणा, अमरिसणा, पयंड-डंडप्पयारगंभीरदरिसणिज्जा तालद्धउविद्धगरुलकेऊ, बलवग-गज्जंतदरितदप्पितमुट्ठियचाणूरमूरगा, रिट्ठवसभघातिणो, केसरि-

मुहविप्फाडगा,दरितनागदप्पमद्दणा (महणा), जमलज्जुणभंजगा, महासउणिपूतणारिवू,कंसमउडतो(मो)डगा, जरासिंधमाणमहणा, तेहि य अविरलसमसहियचंदमंडलसमप्पभेहि सूरमरीयकवयं विणिम्मुयंतेहिं सपतिडं(दं)डेहिं आयवत्तेहिं धरिज्जंतेहिं विरायंता, ताहि य पवरगिरिकुहरविहरणसमुट्ठियाहिं, निरुवहय-चमरपच्छिमसरीरसंजाताहिं अमइलसेयकमलविमुकुलुज्जलित-रयतगिरिसिहर-विमलससिकिरणसरिसकलहोय - निम्मलाहि पवणाहयचवलचलियसललियपणच्चियवीइपसरियखीरोदगपवर - सागरुप्पूरचंचलाहिं माणससरपसरपरिचियावासविसदवेसाहिं कणगगिरिसिहरसंसिताहिं अववायुप्पातचवलजयिणसिग्घवेगाहिं हंसवधूयाहिं चेव कलिया, नाणामणिकणगमहरिहतवणिज्जुज्जल-विचित्तडंडाहिं सललियाहिं नरवतिसिरिसमुदयप्पगासणकरीहिं वरपट्टणुग्गयाहिं समिद्धरायकुलसेवियाहिं कालागुरु-पवरकुंदुरुक्क-तुरुक्क धूववसवासविसदगंधुद्धयाभिरामाहि चिल्लिकाहि उभयोपासं पि चामराहिं उक्खिप्पमाणाहिं सुहसीतलवातवीइयंगा, अजिता, अजितरहा, हलमुसलकणगपाणी, संखचक्कगयसत्तिणंदगधरा, पवरुज्जलसुकतविमलकोथूभतिरीडधारी, कुंडलउज्जोवियाणणा, पुंडरीयणयणा, एगावलीकंठरतियवच्छा, सिरिवच्छसुलंछणा, वरजसा, सव्वोउयसुरभिकुसुमसुरइयपलंबसोहंतवियसंतचित्तवण-मालरतियवच्छा, अट्ठसयविभत्तलक्खणपसत्थसुंदरविराइयंगमंगा, मत्तगयवरिंदललियविक्कमविलसियगती, कडिसुत्तगनीलपीतको-सिज्जवाससा, पवरदित्ततेया, सारयनवथणियमहुरगंभीरणिद्ध-घोसा, नरसीहा, सीहविक्कमगई, अत्थमियपवररायसीहा, सोमा, बारवइपुण्णचंदा, पुव्वकयतवप्पभावा, निविट्ठसंचियसुहा, अणेग-वाससयमाउवंतो भज्जाहि य जणवयप्पहाणाहि लालियंता अतुल-

सद्दफरिसरसरूवगंधे अणुभवेत्ता तेवि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं ।

संस्कृतच्छाया

भूयो भूयो बलदेववासुदेवाश्च प्रवरपुरुषा, महाबलपराक्रमा, महाधनुर्विकर्षका महासत्त्वसागरा, दुर्धरा, धनुर्धरा, नरवृषभा रामकेशवा, सभ्रातरः सपरिषदो, वसुदेवसमुद्रविजयादिकदशार्हाणां प्रद्युम्नप्रतिव-शाम्ब-अनिरुद्ध-निषधोल्मुकसारणगजसुमुखदुर्मुखादीनां यादवानां अध्युष्टानामपि (अर्धाधिकतिसृणामपि) कुमारकोटीनां हृदयदयिताः, देव्या रोहिण्या देव्या देवक्याश्चानन्दहृदयभावनन्दनकरा,षोड़शराजवरसहस्रानुयातमार्गाः,षोडश-देवीसहस्रवरनयनहृदयदयिता, नानामणिकनकरत्नमौक्तिकप्रवालधनधान्य-संचयर्द्धिसमृद्धकोशा, हयगजरथसहस्रस्वामिनो, ग्रामाकरनगरखेटकर्बटमडंब-द्रोणमुखपत्तनाश्रमसंवाहसहस्रस्तिमितनिर्वृत्तप्रमुदितजनविविधसस्यनिष्पद्य-मानमेदिनीसरःसरित्तडागशैलकाननारामोद्यानमनोऽभिरामपरिमंडितस्य दक्षिणार्द्धवैताढ्य - (विजयार्द्ध)गिरिविभक्तस्य लवणजलधिपरिगतस्य षड्विधकालगुणक्रम(काम)युक्तस्य अर्द्ध भरतस्य स्वामिका, धीरकीर्तिपुरुषाः, ओघबला, अतिबला, अनिहता, अपराजितशत्रुमर्दनरिपुसहस्रमानमथनाः, सानुक्रोशा, अमत्सरिणोऽचपला अचंडा, मितमंजुलप्रलापा, हसितगम्भीर-मधुरभणिता, अभ्युपगतवात्सल्याः, शरण्या लक्षणव्यंजनगुणोपपेता मानोन्मानप्रमाणप्रतिपूर्णसुजातसर्वांगसुन्दरांगाः, शशिसोमाकारकान्तप्रियदर्शना अमर्षणाः (अमसृणा), प्रचंड(प्रकांड) दंडप्रचार (प्रकार) गम्भीरदर्शनीयाः, तालध्वजोद्विद्धगरुडकेतवो, बलवद्गर्जद्दृरितदर्पित(क)मौष्टिकचाणूर-मूरका, रिष्टवृषभघातिनः केसरिमुखविस्फाटका दरित (दृप्त)नागदर्पमथना (मर्दना), यमलार्जुनभंजका महाशकुनिपूतनारिपवः, कंसमुकुटमोटका, जरासन्धमानमथनाः, तैश्च अविरलसमसहितचन्द्रमंडलसमप्रभैः सूरमरीचि-कवचं विनिर्मुञ्चद्भिः, सप्रतिदंडैर् आतपत्रैर् ध्रियमाणैर् विराजमानाः, तैश्च प्रवरगिरिकुहरविहरणसमुद्धतैर् निरुपहतचमरपश्चिमशरीरसंजातैर् अमलिनसितकमलविमुकुलोज्ज्वलितरजतगिरिशिखरविमलशशिकिरण-सदृशकलधौतनिर्मलैः पवनाहतचपलचलितसललितप्रवृत्त(प्रनर्तित) वीचि-प्रसृतक्षीरोदकप्रवरसागरोत्पूरचंचलैर् मानससरःप्रसरपरिचितावासविशदवे-

पियदंसणा) उनकी आकृति चन्द्रमा के समान सौम्य है तथा उनका दर्शन अत्यन्त प्रिय और मनोहारी है, (अमरिसणा) अपराध को सहन नहीं करने वाले या कार्य में आलस्य न करने वाले (पयंडदंडप्पयारगंभीरदरिसणिज्जा) जिनके दण्ड का प्रकार या प्रचार प्रचंड – उग्र है, या प्रकांड—श्रेष्ठ हैं और जो गंभीर दिखाई देते हैं। (ताल-ज्झउव्विद्धगरुलकेऊ) ताड़वृक्ष के चिह्न से बलदेव की ध्वजा अंकित है और वासुदेव की गरुड़ के चिह्नवाली ऊँची ध्वजा है। (बलवगगज्जंतदरित्तदप्पितमुट्ठियचाणूर-मूरगा) गर्जते हुए बलशाली अभिमानियों में महाभिमानी मौष्टिक और चाणूर नाम के नामी पहलवानों को जिन्होंने चूर-चूर कर दिया है, (रिट्ठवसभघातिणो) जिन्होंने रिष्ट नामक दुष्ट साड को मार डाला है, (केसरिमुहविप्फाडगा) जो सिंह के मुंह को चीरने वाले हैं, (दरितनागदप्पमहणा) गर्वयुक्त कालीयनाग (सर्प) के घमंड को चूर-चूर करने वाले (जमलज्जुणभंजका) विक्रिया से बने हुए वृक्ष के रूप में यमल अर्जुन को नष्ट कर देने वाले, (महासउणिपूतणारिवू) महाशकुनि और पूतना नाम की विद्याधरियों के शत्रु, (कसमउडमोडगा) कंस के मुकुट को मोड़ने वाले यानी मुकुट पकड़ कर कंस को नीचे पटक कर मारने वाले, (जरासिंधमाणमहणा) जरासंध के मान का मर्दन करने वाले, (य) और (तेहिं) उन प्रसिद्ध, (अविरलसमसहियचंद-मंडलसमप्पभेहिं) घनी, समान और ऊँची की हुई शलाकाओं – ताड़ियों से निर्मित एवं चन्द्रमा के मंडल के समान प्रभाव वाले, (सूरमरीयकवचं विणिम्मुयंतेहिं) सूर्य की किरणों के समान चारों ओर तेज से फैलते हुए किरणमंडलरूप कवच को फेंकते-बिखेरते हुए, (सपतिदंडेहिं) अनेक दंडों से (धरिज्जमाणेहिं) धारण किये जाते हुए (आयवत्तेहिं) छत्रों से (विरायंता) विराजमान—शोभायमान (य) और (ताहिं) उन-उत्कृष्ट (पवरगिरिकुहरविहरणसमुट्ठियाहिं) श्रेष्ठ पर्वतों की गुफाओं में विचरण करने वाली चमरी गायों से प्राप्त किये गए (निरुवहयचमर-पच्छिमसरीरसंजाताहिं) नीरोगी चमरी गायों के शरीर के पिछले भाग—पूंछ वाले हिस्से से उत्पन्न हुए, (अमइल - सियकमलविमुकुलुज्जलितरयतगिरिसिहरविमलससिकिरणसरिसकलहोय-निम्मलाहिं) बिना मुर्झाए या बिना मसले हुए विकसित श्वेतकमल, उज्ज्वल रजत गिरि के शिखर तथा निर्मल चन्द्रमा की किरणों के सदृश वर्ण वाले एवं चांदी की तरह निर्मल, (पवणाहयचवलचलियसललियपणच्चियवीइपसरियखीरोदगपवरसागरुप्पूर-चंचलाहिं) हवा से प्रताड़ित, चपलता से चलते हुए, लीलापूर्वक नाचते हुए व लहरों के प्रसार तथा सुन्दर क्षीरसागर के जलप्रवाह के समान चंचल, (माणससरपसरपरि-चियावासविसदवेसाहिं) मानसरोवर के प्रसार में परिचित आवास और श्वेत वेष

वाली (कणगगिरिसिहरसंसिताहिं) सुवर्णमय सुमेरुपर्वत के शिखर पर बैठी हुईं, (अवायुप्पातचवलजयिणसिग्घवेगाहिं) ऊपर और नीचे गमन करने में दूसरी चंचल वस्तुओं को शीघ्र गति के वेग में जीतने वालीं, ऐसी (हंसवधूयाहिं) हंसनियों के (चेव) समान चामरों से (कलिया) युक्त (नाणामणिकणगमहरिहतवणिज्जुज्जल-विचित्तडंडाहिं) नाना प्रकार की मणियों के, पीले रंग वाले तथा बहुमूल्य सोने के चमकीले विविध दंडों से,एवं (सललियाहिं) लालित्य से युक्त (नरवतिसिरिसमुदयप्पगा-सणकरीहिं)राजाओं की लक्ष्मी के अभ्युदय को प्रकाशित करने वाले, (वरपट्टणुग्ग-याहिं) बड़े-बड़े नगरों में बने हुए, (समिद्धरायकुलसेवियाहिं) समृद्धिशाली राजवंशों में इस्तेमाल किये जाने वाले (कालागुरुपवरकुंदुरुक्क-तुरुक्क-धूव-वसवासविसदगंधुद्धुयाभि-रामाहिं) काला अगर, उत्तम चीड़ की लकड़ी और तुरुष्क-सुगन्धित द्रव्यविशेष से बनी हुई धूप के कारण उठने वाली सुवास से जिसमें स्पष्ट व मनोहर सुगन्ध आ रही है, ऐसे (उभयो पासं पि उविखप्पमाणाहिं चामराहिं) दोनों बगलों — पार्श्वों की ओर ढुलाए जाते हुए चंवरों से (सुहसीतलवातवीइअंगा) सुखद और शीतल हवा अंगों पर की जा रही है ; ऐसे (अजिता) जो किसी से जीते नहीं जा सकें, (अजित-रहा) अपराजित रथ वाले (हलमुसलकणगपाणी जो अपने हाथ में हल, मूसल और बाण रखते हैं। (संखचक्कगयसत्तिणंदगधरा) पाचजन्य शंख, सुदर्शन चक्र, कौमुदी गदा शक्ति (त्रिशूल विशेष) और नन्दक नामक तलवार को धारण करने वाले, (पवरुज्जलमुक्तविमलकोथुभतिरीडधारी अत्यन्त उज्ज्वल व अच्छी तरह बनाये गये कौस्तुभ मणि और मुकुट को धारण करने वाले (कुंडलउज्जोवियाणणा) कुंडलों से जिनका मुंह प्रकाशित होता है, (पुंडरीयणयणा) श्वेतकमल के समान जिनके विक-सित नेत्र हैं, (एगावलीकंठरइयवच्छा) जिनके कंठ और वक्षःस्थल पर एकलड़ी वाला विविध मणियों का आनन्ददायी हार पड़ा रहता है, (सिरिवच्छसुलंछणा) जिनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स का उत्तम चिह्न है, (वरजसा) जो बड़े यशस्वी हैं, (सव्वोउयसुरभिकुसुमसुरइयपलंबसोहंत-वियसंत-चित्तवणमालरतियवच्छा) सब ऋतुओं के सुगन्धित फूलों से गूंथी हुई,लम्बी, शोभायुक्त खिली हुई अनूठी वनमाला से जिनका वक्षस्थल सुशोभित होता है, (अट्ठसयविभत्तलक्खणपसत्थसुंदरविराइयंगमंगा) मांग-लिक एवं सुन्दर आठ सौ विभिन्न लक्षणों से जिनके अंग और उपांग सुशोभित होते हैं, (मत्तगयवरिंदललियविक्कमविलसियगती) जिनकी गति अर्थात् चाल मतवाले श्रेष्ठ गजेन्द्र की-सी ललित और विलासयुक्त है, (कडिसुत्तगनीलपीतकोसिज्ज-

वासता) जो कटिसूत्र-करधनी से युक्त हैं, नीले व पीले रेशमी-कौशेय वस्त्र पहने हुए हैं, (पवरदित्ततेया) उनके शरीर पर प्रखर तेज चमक रहा है, (सारयनवत्थणितमहुर-गंभीरनिद्धघोसा) जिनकी आवाज शरत्काल के नये मेघ की गर्जना के समान मधुर, गंभीर और स्निग्ध है, (नरसीहा) जो मनुष्यों में सिंह के समान शूरवीर होते हैं, (सीहविक्कमगई) सिंह के समान पराक्रम और चाल वाले हैं, (अत्थमियपवर-रायसीहा) जिन्होंने बड़े-बड़े राजसिंहों का जीवन अस्त---समाप्त कर दिया है,(सोमा) जो सौम्य-शान्त हैं,(बारवइपुण्णचंदा) जो द्वारावती—द्वारिका नगरी के पूर्णचन्द्रमा हैं, (पुव्वकयतवप्पभावा) जो अपने पूर्वजन्म में किये हुए तप के प्रभाव से युक्त होते हैं, (निविट्ठ-सचियसुहा) पूर्वजन्म के पुण्योदय से संचित इन्द्रियसुखों का जो उपभोग करते हैं, (अणेगवाससयमाउवंतो) जो कई सौ वर्ष की आयु वाले हैं, ऐसे (बलदेव-वासुदेवा) बलदेव-बलभद्र और वासुदेव-नारायण श्रीकृष्ण (जणवयपहाणाहि य भज्जाहि) विविध जनपदों—देशों की प्रधान-श्रेष्ठ भार्याओं-पत्नियों के साथ, (लालियंता) भोगविलास करते हुए (अतुलसद्दफरिस-रसरूवगंधे) अनुपम—अद्वितीय शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध स्वरूप इन्द्रियविषयों का (अणुभवेत्ता) अनुभव करके (ते वि) वे भी (कामाणं अवितित्ता) कामभोगों से अतृप्त हो कर ही, (मरणधम्मं उवणमंति) कालधर्म को—मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

मूलार्थ—बलदेव और वासुदेव भी पुनः पुनः कामभोगों के सेवन से तृप्त न होकर मौत के मुंह में चले गए तो साधारण मनुष्य का तो कहना ही क्या ? वे मनुष्यों में श्रेष्ठ पुरुष थे, वे महाबली और महापराक्रमी थे। सारंग आदि बड़े-बड़े धनुषों को चढ़ाने वाले, महासाहस के समुद्र, शत्रुओं से अजेय एवं धनुर्धारियों में प्रधान थे। वे लिए हुए कार्यभार का निर्वाह करने में धोरी बैल के समान नरवृषभ बलराम (नौवां बलभद्र) और केशव-वासुदेव (नौवां नरायण) दोनों भाई थे, वे बड़े भारी परिवार के सहित थे। उन्हीं में वसुदेव और समुद्रविजयजी आदि दश दशार्ह—पूज्य पुरुष हुए हैं तथा प्रद्युम्न, प्रतिव, शांब, अनिरुद्ध, निषध, औल्मुक, सारण, गज, सुमुख और दुर्मुख आदि यादवों की संतानों के रूप में साढ़े तीन करोड़ कुमार हुए हैं। रानी रोहिणी के पुत्र बलराम थे और महारानी देवकी के पुत्र थे—श्रीकृष्ण वासुदेव। वे रोहिणीदेवी और देवकीदेवी के हृदय में उत्पन्न हुए आह्लाद की वृद्धि करने वाले थे। सोलह हजार मुकुटबद्ध राजा उनके मार्ग का अनुसरण करने वाले थे यानी उनकी आज्ञानुसार चलने वाले थे और सोलह हजार

सुन्दर युवतियों के वे हृदयवल्लभ थे। नाना प्रकार की मणियों, सोने, रत्न, मोती, मूंगों तथा धन-धान्यों के संचयरूप लक्ष्मी से जिनके खजाने भरे रहते थे। वे हजारों घोड़ों, हाथियों और रथों के स्वामी थे। वे हजारो सुन्दर गाँवों, नगरों, खानों, खेड़ों, कस्बों, मडंबों, द्रोण-मुखों बंदरगाहों, पत्तनों-मंडियों, आश्रमो, सुरक्षित किलो (संवाहों) से युक्त अर्द्धभरतक्षेत्र के स्वामी थे, जिनमें लोग स्वस्थ, स्थिर, शान्त और प्रमुदित रहते थे, जहां विविध प्रकार के अनाज पैदा करने वाली उपजाऊ भूमि थी। वह बड़े-बडे सरोवरों, नदियों, छोटे-छोटे तालाबों, पर्वतों, वनों, दम्पत्तियों के क्रीडा करने के योग्य लतागृहों से युक्त बगीचों, फुलवाड़ियों और उद्यानों से सुशोभित था। वह दक्षिण की ओर का अर्द्धभरत वैताढ्य पर्वत से विभक्त एवं लवणसमुद्र से घिरा हुआ तथा छहों ऋतुओं के कार्यों से क्रमशः प्राप्त होने वाले अत्यन्त सुख से युक्त था। वे धैर्यवान औरकीर्तिमान पुरुष थे। उनमें प्रवाहरूप से निरन्तर बल पाया जाता था। वे अत्यन्त बलवान थे। दूसरों के बलों से वे कभी मात नहीं खाते थे। वे अपराजित माने जाने वाले शत्रुओं का भी मानमर्दन करने वाले और हजारों शत्रुओं का अभिमान चूर-चूर करने वाले थे। वे दयालु, मात्सर्य-रहित यानी परगुणग्राही, चंचलता से रहित, अकारण क्रोध न करने वाले, परिमित और मृदुभाषी तथा मुस्कान के साथ गंभीर और मधुर वचन बोलने वाले थे। वे पास आए हुए व्यक्ति के प्रति वत्सल थे तथा शरणागत को शरण देने वाले थे। सामुद्रिक शास्त्र में बताये हुए शरीर के उत्तमोत्तम लक्षणो (चिह्नों) और तिल, मस्से आदि व्यञ्जनों के गुणों से युक्त थे। उनके शरीर के समस्त अंग और उपांग मान एवं उन्मान प्रमाण से परिपूर्ण थे। उनकी आकृति चन्द्रमा के समान सौम्य थी, उनका दर्शन बड़ा ही मनोरम और सुहावना लगता था। वे अपराध को नहीं सह सकते थे अथवा कार्य मे आलस्य नहीं करते थे। वे अपनी प्रचंड या प्रकांड दण्डशक्ति का प्रसार प्रचार करने में बड़े गंभीर दिखाई देते थे। बलदेव की ध्वजा ताड़वृक्ष के चिह्न से तथा कृष्ण की ऊंची फहराती हुई ध्वजा गरुड़ के चिह्न से अंकित थी। उन्होंने गर्जते हुए बलशाली अत्यन्त घमंडी मौष्टिक और चाणूर नामक मल्लों को खत्म कर दिया था। रिष्ट नामक दुष्ट बैल का भी संहार कर दिया था। वे सिंह के मुंह में हाथ डाल कर उसे चीर डालते थे। उन्होने गर्वोद्धत भयंकर कालीयनाग के अभिमान को नष्ट कर दिया था

और विक्रिया से वृक्षरूपधारी यमलार्जुन को खंडित कर दिया था। वे कंसपक्ष की महाशकुनी और पूतना नाम की दो विद्याधरियों के शत्रु थे, उन्होंने कंस का मुकुट मोड़ा था, यानी मुकुट पकड़ कर उसको नीचे पटका और दे मारा था। उन्होंने जरासंध के मान का मर्दन किया था यानी उसे भी यमलोक पठा दिया था। वे ऐसे छत्रों से सुशोभित रहते थे, जो सघन, समान तथा ऊँची की गई सलाइयों ताड़ियों से बनाए गए थे और चन्द्रमंडल के समान प्रभा वाले थे, वे सूर्यकिरण के प्रभामंडल की तरह अपने चारों ओर तेज को फैंकते थे। विशाल होने के कारण अनेक दण्डों के द्वारा धारण किए हुए थे। इसी तरह अत्यन्त श्रेष्ठ पहाड़ों की गुफाओं में घूमने वाली नीरोग चमरी गायों की पूँछ के पिछले) हिस्से में उत्पन्न हुए, निर्मल श्वेतकमल, उज्ज्वल रजतगिरि के शिखर एवं निर्मल चन्द्रमा की किरणों के समान श्वेत, चाँदी के समान स्वच्छ तथा हवाओं से ताड़ित, चंचलतापूर्वक हिलते और लीलापूर्वक नाचते हुए एवं थिरकती हुई लहरों के विस्तार से युक्त सुन्दर क्षीरसमुद्र के जलप्रवाह के समान चंचल, मानसरोवर के विस्तार में परिचित आवास वाली और श्वेत रूप वाली, स्वर्णगिरि पर बैठी हुई तथा ऊपर-नीचे गमन करने में दूसरी चंचल वस्तुओं को मात करने जैसे शीघ्र वेग वाली हंसनियों के समान श्वेत चंवरों से वे युक्त थे। उन चंवरों के डंडे (मूठें) नाना प्रकार की चन्द्रकांत आदि मणियों से जटित होते हैं, कई लालरंग के तपे हुए महामूल्यवान् सोने के बने हुए तथा कई पीले सोने के होते हैं। वे (चंवर) सौंदर्य से परिपूर्ण और राजलक्ष्मी के अभ्युदय को प्रगट करते हैं, वे अच्छे शहरों में (कुशल कारीगरों द्वारा) बनाए जाते हैं। समृद्धिशाली राजवंशों में उन (चंवरों) का उपयोग किया जाता है। काला अगर, उत्तम चीड़ की लकड़ी और तुरुष्क नामक सुगन्धित द्रव्य की धूप देने के कारण उठी हुई सुवास से उन चंवरों में स्पष्ट और मनोहर सुगन्ध प्रगट होती है। इस प्रकार के चंवर उनके दोनों बगलों (पार्श्वों) में ढुलाए जाने से उनकी सुखद व शीतल हवा उनके अंग-अंग को स्पर्श करती है। वे अजेय होते हैं, उनके रथ भी अपराजित होते हैं, उनके हाथ में मूसल और बाण होते हैं। वे पांचजन्य शंख, सुदर्शन चक्र, कौमोदकी गदा, शक्ति—त्रिशूल विशेष एवं नन्दक नामक तलवार को धारण करते हैं, वे अत्यन्त उज्ज्वल और भलीभांति बनाए हुए सुन्दर कौस्तुभमणि और मुकुट को धारण करते

हैं। कुंडल उनके मुख को प्रकाशित करते हैं। उनके नेत्र श्वेतकमल के समान विकसित होते हैं। उनके कंठ और वक्षस्थल पर श्रीवत्स नामक उत्तम चिह्न होता है। वे महायशस्वी होते हैं। सभी ऋतुओं के सुगन्धित पुष्पों से रचित लम्बी देदीप्यमान एवं विकसित अनूठी वनमाला उनके वक्षस्थल पर सुशोभित होती है। मांगलिक और सुन्दर विभिन्न ८०० लक्षणों से उनके अंगोपांग शोभा पाते हैं। मतवाले श्रेष्ठ हाथियों की तरह उनकी गति-चाल बड़ी ही ललित (सुन्दर) और विलसित होती है। उनकी कमर में कटिसूत्र (करधनी) होता है, और वे नीले तथा पीले रेशमी वस्त्र पहनते है। वे प्रखर तेज से देदीप्यमान होते है। उनकी आवाज शरत्काल के नए मेघ की गर्जना के समान गंभीर, मधुर और स्निग्ध होती है। वे मनुष्यों में सिंह के समान पराक्रमी होते है। उनकी सिंह के समान पराक्रम व गति होती है, सिंह के समान बड़े-बड़े पराक्रमी राजाओं के जीवन को उन्होंने अस्त कर दिया है। वे सौम्य होते हैं। द्वारावती—द्वारिका नगरी के निवासियों के लिए वे पूर्णचंद्रमा के समान होते हैं। उनमें पूर्वजन्म में किए हुए तप का प्रभाव होता है। वे पूर्वकालकृत पुण्यों के उदय से संचित इन्द्रिय-सुख वाले होते है। वे कई सौ वर्ष की आयु वाले होते हैं। वे प्रधान देशों की श्रेष्ठ पत्नियों के साथ ऐश-आराम करते है और एक से एक बढ़कर इन्द्रियजन्य स्पर्श, रस, रूप और गन्ध-स्वरूप विषयो का उपभोग करते हैं। परन्तु अन्त में, वे भी उन कामभोगों से तृप्त न हो कर एक दिन मृत्यु की गोद में चले जाते हैं।

व्याख्या

पूर्व सूत्रपाठ में चक्रवर्तियों के वैभव, सुख के साधन और अन्त में कामभोगों से अतृप्ति की हालत में ही उनकी मृत्यु आदि का शास्त्रकार ने स्पष्ट वर्णन किया है। अब उससे आगे बलदेवों और वासुदेवों की ऋद्धि, समृद्धि, ठाठबाठ और भोगविलासों का वर्णन करते हुए बताया है कि वे भी इन कामभोगों से अतृप्त हो कर ही इस संसार से एक दिन विदा हो जाते हैं। वर्णन काफी स्पष्ट है। पदार्थान्वय और मूलार्थ मे हम इन सबका अर्थ स्पष्ट कर आए हैं; फिर भी कुछ पदों पर विश्लेपण करना आवश्यक है।

'भुज्जो भुज्जो बलदेव-वासुदेवा य'—यहाँ 'भुज्जो भुज्जो' (भूयो भूयः) शब्द 'तथा' अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। 'जैसे चक्रवर्ती कामभोगों से संतुष्ट न हुए

और एक दिन कालकवलित हो गए; वैसे ही बलदेव और वासुदेव भी कामभोगों से तृप्त न हो कर एक दिन इस संसार से चल देते हैं'—ऐसा पूर्वापर सम्बन्ध यहाँ समझ लेना चाहिए। यद्यपि इस सूत्रपाठ में सामान्यरूप से नौ बलभद्रों और नौ नारायणों के विषय में निरूपण किया गया है; तथापि कहीं-कहीं कुछ विशेषण खासतौर से बलदेव (बलराम) और वासुदेव (श्रीकृष्ण) को लक्ष्य में रख कर प्रयुक्त किये गये हैं।

सामान्य बलदेव और वासुदेव के लिए प्रयुक्त विशेषण—'पवरपुरिसा महाबलपरक्कमा महाधणुवियट्टका महासत्तसागरा दुद्धरा धणुद्धरा नरवसभा' यहाँ तक जितने भी पद है, वे जितने भी बलभद्र और नारायण हुए है, उन सबके लिए प्रयुक्त हुए हैं। इन सबका अर्थ तो स्पष्ट है ही। संक्षेप में कहा जा सकता है, कि वे संसार के अद्वितीय शक्तिमान्, साहसी और अजेय योद्धा एवं बेजोड़ धनुर्धारी होते हैं, इसलिए सर्वोत्तम पुरुष कहलाते हैं। 'रामकेसवा भायरो'— इसके बाद इन दो पदों से आगे की पंक्तियां खासतौर से बलराम (बलदेव) और केशव (वासुदेव श्रीकृष्ण) के लिए प्रयुक्त की गई हैं। यानी रामकेसवा' पद से ले कर ....'हिययदइया' तक एवं और आगे 'तालद्धउव्विद्धगरुलकेऊ' से ले कर 'जरासिंध-माणमहणा' तक एवं और आगे 'हलमुसलकणकपाणी, संखचक्क-गयसत्तिणंदगधरा पवरुज्जलसुकतविमल-कोथूभतिरीडधारी' आदि पद विशेषरूप से बलराम और श्रीकृष्ण इन दोनों के लिए ही प्रयुक्त है। बाकी के सारे पद सामान्यतः बलदेव और वासुदेव के लिए प्रयुक्त किए गये हैं।

नौ बलभद्र और नौ नारायण ६३ श्लाघ्य-प्रशंसनीय पुरुषों में से हैं। इन ६ बलभद्रों और ६ नारायणों में से बलराम और श्रीकृष्ण ये दोनों भाई प्रधान थे। जैन इतिहास के अनुसार ये इस अवसर्पिणी काल के नौवें बलदेव (बलभद्र) और नारायण (वासुदेव) थे। ये दोनों जगत् मे अतिविख्यात हुए। इन्होंने संसार में कई अद्भुत,अपूर्व और असाधारण पराक्रम के कार्य किए। वे सिर्फ दो ही पराक्रमी नहीं थे,अपितु उनका सारा परिवार—५६ कोटि यादव सहित अतुलबलधारी और पराक्रमी था। वसुदेव,समुद्र-विजय आदि दस पूज्य पुरुष इस वंश के मुखिया थे। ये दोनों अपने अद्भुत जौहरों से उन सबके हृदय को प्रफुल्लित करने वाले थे। यादवजाति के प्रद्युम्न आदि साढ़े तीन करोड़ स्फूर्तिमान कुमार थे, उन्हें भी ये दोनों अत्यन्त प्रिय और उनके हृदय के श्रद्धेय थे। बलरामजी की माता का नाम महारानी रोहिणी देवी था और श्रीकृष्ण की माता का नाम महारानी देवकी देवी था। इन दोनों के हृदयों को ये दोनों आनन्दित करने वाले थे। ये भरतक्षेत्र के आधे भाग के स्वामी थे। इसलिए अर्धभरत के भिन्न भिन्न राज्यों के स्वामी १६ हजार मुकुटबद्ध राजा उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करते

थे। प्रत्येक वासुदेव के १६ हजार विभिन्न देशों की अद्वितीय सुन्दरी हृदय-वल्लभा पत्नियाँ होती है। गृहस्थ का सुख धन के बिना नहीं टिकता, इसलिए शास्त्रकार ने उनके वैभव की चर्चा की है कि उनके खजानों में नाना प्रकार की चन्द्रकान्त आदि मणियाँ और कर्केतन आदि रत्न तथा सुवर्ण आदि द्रव्य भरे रहते थे।

धन की रक्षा सैनिकशक्ति के बिना नही होती। इसलिए शास्त्रकार ने कहा—'**हयगयरहसहस्ससामी**'—वे हजारों घोड़ो, हाथियों और रथों के स्वामी थे। राजाओ की महत्ता राज्य से होती है, इसीलिये बताया है—'**गामागरनगर खेडकब्बड** ······ इत्यादि। यानी गाँव, नगर, खानें,खेड़े, कस्बे आदि हजारों जनपदों से उनका राज्य सुशोभित था। उनके राज्य की सीमा उत्तर में वैताढ्यगिरि तक थी, शेष तीनो ओर वह लवणसमुद्र से घिरी हुई थी। भरतक्षेत्र के ठीक मध्यभाग मे वैताढ्यगिरि है, जिसे रजताचल भी कहते हैं। वैताढ्यपर्वत ही भरतक्षेत्र को दो खण्डों में विभक्त करता है—उत्तरभारत और दक्षिणभारत। बलदेव और वासुदेव दक्षिण भरतार्द्ध के स्वामी थे।

बलदेव-वासुदेव के असाधारण गुण यद्यपि बलदेव और वासुदेव दोनों के पास पूर्वजन्मकृत तप और साधना के प्रभाव से सुखभोग के साधनों की कमी नही रहती, उनके सामने अभाव कभी मुंह बाए नहीं खड़ा रहता। कोई भी सांसारिक भौतिक वस्तु ऐसी नही है, जो उन्हें उपलब्ध न हो सकती हो, तथापि उनमें कुछ असाधारण गुण होते है, जिसके कारण वे उन भोगों के बीच रहते हुए भी कई सौ वर्ष की इतनी लंबी आयु तक अपनी जीवनयात्रा मनुष्यलोक मे यापनकर लेते है। नही तो, साधारण गुणहीन मानव भोगों का कीड़ा बन कर कभी का समाप्त हो गया होता। इसी बात को दृष्टिगत रख कर शास्त्रकार उनमें पाये जाने वाले असाधारण गुणों का निरूपण करते हैं, जिनसे कि दुनिया उन्हें श्रेष्ठ मानव के रूप में पहिचानती है और युगों-युगों तक वे मानव के मन-मस्तिष्क पर चढ़ कर अमर हो जाते हैं—

(१) धैर्य और कीर्ति के धनी—मनुष्य को हर कार्य में सफलता और आत्म-विश्वास पैदा कराने वाला गुण धैर्य है। धीर वही कहलाता है—जिसका मन अनेक झंझा वातों और क्षोभ पैदा करने के निमित्तों के आ पड़ने पर भी क्षुब्ध न हो। कहा भी है—

'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।'

'विकार का कारण उपस्थित होने पर भी जिनके चित्त विकृत नहीं होते, वे ही धीर पुरुष होते हैं।' वास्तव में हर परिस्थिति मे, हर हालत मे जो मनुष्य समत्व—संतुलन की पगडंडी पर स्थिर रह सकता हो, वही धैर्यवान कहलाता है। बलदेव और वासुदेव दोनों के जीवन में ऐसे अनेक अंधड़ आए; लेकिन वे अपने पथ से विचलित

न हुए। जैन और वैदिक धर्म शास्त्रों में इनके जीवन से सम्बन्धित धैर्य के अनेक ज्वलन्त उदाहरण उल्लिखित हैं। जहाँ मामूली व्यक्ति घबरा कर, हार कर बैठ जाता है, वहाँ ये अपनी धीरता के कारण अपने पथ पर अडिग रहे है।

जो धीरतापूर्वक बड़े-बड़े असाधारण कार्य सफल कर दिखाता है, दुनिया उसी का लोहा मानती है और उसी की कीर्तिपताका दिग्‌दिगन्त में फहराती है। यही कारण है कि हजारों वर्ष व्यतीत हो जाने पर आज भी उनके जीवन की अमरगाथाएं आम जनता की जवान पर है, उनको लोग कर्मयोगी के रूप में श्रद्धा से मानते हैं, उनके पदचिह्नों पर चलते है।

(२) *समस्तभौतिक शक्तियों के स्वामी*—*संसार का यह नियम है, कि शक्तिमान* ही संसार में असाधारण कार्य करके दिखा सकता है, राज्यसंचालन कर सकता है, न्याय का प्रवर्तन कर सकता है तथा बड़े से बड़ा त्याग भी कर सकता है। शक्तिहीन मानव तो प्राप्त राज्य को भी खो देता है, न्याय-अन्याय का विचार नही करता और न ही कोई विशिष्ट कार्य कर सकता है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं— ओहबला, अइबला, अनिहया। यानी वे प्रवाहरूप से अखंड वल के धनी थे, अति बली थे, दूसरों के बल को भी मात कर देते थे, और किसी से मार नहीं खाते थे। अर्थात् वे तीनों शक्तियों से सम्पन्न थे—प्रभुत्वशक्ति, मंत्रशक्ति और उत्साहशक्ति। इसके अलावा शारीरिक शक्ति और मनोबल की भी उनमें कमी न थी। इसीलिए तो शास्त्रकार स्वयं उल्लेख करते हैं—उन्होंने दुर्दान्त अहंकारी और बलवान मौष्टिक और चाणूर पहलवानों को पछाड़ दिया था, रिष्ट नामक बैल को मार डाला था, कालीयनाग—सर्प के दर्प का मर्दन कर दिया था, वृक्ष का रूप धारण करके आए हुए यमलार्जुन का सफाया कर दिया था, कंस की भेजी हुई महाशकुनि और पूतना विद्याधरियों का भी काम तमाम कर दिया था, कंस को सिंहासन से नीचे पटक कर परलोक पठा दिया था, जरासंध के मान को खंडित कर दिया था, त्रिपृष्ठ नाम के भव में विषमगिरि गुफानिवासी उपद्रवी केसरी सिंह के दोनों होंठ पकड़ कर उसका मुंह चीर डाला था अथवा केशी नामक अतिदुष्ट घोड़े को उसके मुंह में हाथ डाल कर श्रीकृष्णजी ने चीर दिया था।

वे अपराजित माने जाते वाले शत्रुओं का भी मर्दन कर देते थे तथा हजारों रिपुओं का घमंड चूरचूर कर देते थे। वे दोनों महायशी, महापराक्रमी, शत्रुओं से अजेय, प्रधान धनुर्धारी थे। वे राजाओं में सिंह के समान थे, सिंह के समान पराक्रम और चाल वाले थे, तथा उन्होंने बड़े-बड़े राजाओं को परास्त कर दिया था।

(३) *महासत्त्व के सागर*—साहसी व्यक्ति हार को झटपट जीत में बदल देता है। बड़े-बड़े साम्राज्यों का निर्माण, समाजों की रचना और असंख्य व्यक्तियों

पर आधिपत्य साहस के बिना नहीं हो सकता। इन दोनों महापुरुषों में असाधारण साहस था; तभी तो व्रजभूमि में जमे-जमाए साम्राज्य को एक दिन छोड़ कर ठेठ सुदूर समुद्र तट पर द्वारिका मे उन्होंने अपने साम्राज्य की नीव डाली। साहस और अध्यवसाय ने उनके जीवन को चमका दिया। अन्यथा, केवल ग्वालों के साथ गोकुल में रह कर वे कभी इतना विराट् कार्य नहीं कर सकते थे।

(४) दयावान—दया के बिना दूसरों की सहानुभूति और आशीर्वाद मनुष्य नहीं पा सकता और बिना सहानुभूति और आशीर्वाद के मनुष्य अपने जीवन का सर्वांगीण विकास नहीं कर सकता। श्रीकृष्ण ने अपने जीवन में जराजर्जर उपेक्षित वृद्ध की ईंट उठाने जैसी सहायता करने के अनेक कार्य किये हैं। वे जहाँ भी निर्बल को सबल द्वारा सताता देखते; वहीं अड़ जाते और उसे न्याय दिलाते। इसलिए दया का गुण बहुत आवश्यक है।

(५) अमात्सर्य—किसी के भी विशिष्ट गुण, कार्य या पराक्रम को देख कर उनके मन में मत्सर, डाह, ईर्ष्या या तेजोद्वेष नहीं पैदा होता था। वे दूसरे के गुण आदि को देख कर प्रसन्न होते थे, गुणग्राही होते थे।

(६) अचंचलता—चंचलता छिछोरपन का चिह्न होता है। जो व्यक्ति महान् होता है, उसमें गभीरता होती है, चंचलता नही। बात-बात मे तुनुकमिजाजी, चंचलता या चपलता जीवन के कई कार्यों को बिगाड़ देती है। इसीलिए बलदेव-वासुदेव मे इस गुण का होना आवश्यक है।

(७) अचंडा—बात-बात में क्रोध करना उच्छृंखलता की निशानी है। महान् व्यक्ति सहसा कुपित नही होते। वे गंभीरता से हर बात को सोचते हैं, सहसा निर्णय नहीं देते और न सहसा गर्म हो कर उबल पड़ते हैं। इसलिए उनमें बिना कारण कभी क्रोध पैदा नही होता। शिशुपाल के द्वारा अनेक गलतियाँ की जाने पर भी श्रीकृष्णजी ने उन्हें काफी देर तक क्षमा किया; वे शीघ्र कुपित नहीं हुए।

(८) हित-मित-मधुरभाषी—वाणी मनुष्य के जीवन की क्षुद्रता और महानता का परिचय करा देती है। बलदेव-वासुदेव की वाणी नपीतुली, मधुर और हितकर होती है। वे बिना कारण कभी किसी पर प्रकोप नही करते। दुर्योधन के द्वारा किये गए दुर्व्यवहार के समय भी वे शान्तिदूत बन कर उसकी राजसभा में गए थे। अपमान किये जाने पर भी उन्होंने शान्त संयत शब्दों में ही उत्तर दिया। मुसकरा कर कड़वी बात का जवाब मीठे शब्दों में देने की क्षमता इन उत्तम पुरुषों में होती है।

(९) वात्सल्य—वात्सल्य का गुण ऐसा है, जो पराये से पराये व्यक्ति को भी सदा के लिए अपना बना लेता है। वात्सल्य बरसाने वाले व्यक्ति के सभी

आत्मीय हो जाते हैं, अपनी दृष्टि में उसे कोई पराया लगता ही नहीं। श्रीकृष्णजी में बचपन से ही माता यशोदा से प्राप्त वात्सल्य का गुण संस्काररूप से उतर आया था। वे पिछड़ी जातियों, दुर्बलों, गाँवों, गायों तथा नारीजाति के प्रति हमेशा वात्सल्य बहाते रहे।

(१०) शरण्य—शरण में आये हुए को शरण दे देना भी महान् उदारता और त्याग का काम है। स्वार्थी और अनुदार मनुष्य सहसा ऐसा नहीं कर सकता। वह किसी भी शरणागत को उससे अपना स्वार्थ सिद्ध न होता देख ठुकरा देता है। श्री कृष्णजी तो इस विषय में उदार और शरणागतवत्सल थे।

(११) अमर्षण—अपराध या गल्ती को नजरअंदाज कर देना दुर्बल और स्वयं दुर्गुणी व्यक्ति का काम होता है। जो व्यक्ति स्वयं सद्गुणी और सिद्धान्तों पर दृढ होगा ; वह अपने या दूसरे के अपराधों की कभी उपेक्षा नहीं करेगा। यही बात श्रीकृष्ण में थी। अथवा प्राकृत 'अमरिसण' का संस्कृत रूप 'अमसृण' भी हो सकता है। जिसका अर्थ होता है, महत्त्वपूर्ण कार्यों में आलस्य न करना। किसी कार्य को दुर्लक्ष्य करके समय से आगे ठेल देने पर वह कार्य वर्षों तक पूरा नहीं हो पाता। दीर्घसूत्रता या कार्य में ढिलाई ही जीवन को महान् बनने में विघ्न बनती है। श्रीकृष्णजी के जीवन में कर्मयोग और पुरुषार्थ तो कूट-कूट कर भरा था।

(१२) दण्ड देने में गंभीर—किसी को बिना विचारे झटपट मनचाहा दण्ड दे डालना अन्याय है। कमजोर होने के कारण चाहे कोई व्यक्ति शक्ति के आगे झुक जाय और चुपचाप उस अन्याय को पी ले ; लेकिन अन्ततः उसका मन विद्रोह कर बैठता है, उसके हृदय में प्रतिक्रिया अवश्य पैदा होती है। इसलिए महान् व्यक्ति किसी को दण्ड देते समय पूरा न्याय तौल कर ही निर्णय करते हैं। श्रीकृष्ण में यह गुण अधिक विकसित था।

(१३) सौम्य आकृति, मधुर मनोरम दर्शन और गंभीर हृदय—ये तीनों गुण मनुष्य के उन्नत व्यक्तित्व के परिचायक होते हैं। जो व्यक्ति छिछला, उच्छृंखल, ओछी या वाचाल होगा, उसमें ये गुण प्रायः नहीं होते। कहावत है—

'वक्त्रं वक्ति हि मानसम्' यानी मुख हमेशा मन के भावों को प्रगट कर देता है। श्री कृष्णजी में ये गुण सदा रहे हैं। इसीलिए वे अपने मधुर व्यक्तित्व से लाखों लोगों को आकर्षित कर सके। 'आकृतिर्गुणान् कथयति' इस न्याय से आकृति से गुणों का पता लग जाता है।

(१४) चमकता हुआ उत्तम तेजस्वी जीवन—यह महान् जीवन की निशानी है। जिसके जीवन में कोई दम नहीं होता, जो बातबात में अपने वचन से हट जाता है, सिद्धान्तों को ताक में रख कर समझौता करने लग जाता है, व्रत-नियमों पर

अटल नहीं रहता, उसका जीवन तेजस्वी नहीं होता, अपितु वह मायूस, उदास, निराश और सत्त्वहीन जीवन होता है। श्रीकृष्ण का जीवन चमकता हुआ जीवन था।

(१५) मधुर, गंभीर और स्निग्ध आवाज—यह विशेषता भी उत्तम व्यक्तित्व की चिह्न है, जो श्रीकृष्णजी के जीवन मे थी।

(१६) सुन्दर मस्त चाल—मनुष्य की चालढाल को देख कर उसके आचरण या चरित्र का बहुत-सा पता लग जाता है। श्रीकृष्ण की हाथी जैसी मस्त, ललित और मन्थर चाल उनके जीवन में एकाग्रता और व्यवस्थितता को सूचित करती थी।

(१७-१८) लक्षणों और व्यंजनों से युक्त तथा मानोन्मानपूर्वक सर्वांग-सुन्दर शरीर—शरीर भी मनुष्य के जीवन का प्रतिबिम्ब है। शरीर पर स्थित लक्षण और व्यंजन (तिल, मष आदि) तथा शरीर का सुन्दर गठन और अंगों की परिपूर्णता आदि भी उसे पहिचानने के लिए बहुत बड़े निमित्त हैं। जैसे घुटने तक की लम्बी भुजाएँ, चौड़ी छाती, विशाल भाल, विशाल नेत्र, चौड़े कंधे, उन्नत ललाट आदि शुभ लक्षण कहलाते हैं, इसी प्रकार शरीर पर होने वाले तिल, मष, रेखाएँ, लहसुन आदि व्यंजन कहलाते है। श्रीकृष्णजी में यह गुण सविशेष थे।

ये और इस प्रकार के कुछ अन्य खास गुण बलदेव और वासुदेव में होते थे, जिनका शास्त्रकार ने मूल में उल्लेख किया है। तभी तो वे भोगों के बीच रहते हुए भी अपने जीवन को दीर्घायु और गुणसम्पन्न रख सके। अन्यथा, वे इस संसार से कभी के मिट गये होते ; सुरा, सुन्दरी आदि के चक्कर में पड़ने वाले कई निरंकुश राजाओं की तरह वे भी बर्बाद हो गए होते।

इनके विशेष चिह्न—पांचजन्य शंख, सुदर्शन चक्र, कौमोदकी गदा, नन्दक तलवार और सारंग धनुष इनके अतीव विशिष्ट शक्तिसम्पन्न होते है। प्राचीनकाल में राजा लोग ध्वजा पर अपना खास चिह्न अंकित करते थे। बलदेव की ध्वजा पर ताड़ के वृक्ष का तथा श्रीकृष्णजी की ध्वजा पर गरुड़ का चिह्न अंकित था। उनका वक्षस्थल श्रीवत्स लाछन और एकावली हार से सुशोभित रहता था। वे गले में वनमाला डाले रहते थे।

इनके विशिष्ट राजचिह्न होते हैं—छत्र और चंवर ! इन दोनो का शास्त्रकार ने विशद निरूपण किया है, उन पंक्तियों का अर्थ मूलार्थ में स्पष्ट कर दिया गया है।

निष्कर्ष—इस प्रकार बलदेव-वासुदेव के वैभवों, गुणों, शक्ति और भोगों के साधनों के विस्तृत निरूपण का निचोड़ यही है कि इतने सुखसाधन व भोग मिल जाने पर भी जब बलदेव और वासुदेव जैसे उच्च व्यक्ति अब्रह्मचर्य के मार्ग में फिसल गए, तो फिर सामान्य मानव की तो बिसात ही

मांडलिक राजाओं एवं उत्तरकुरु-देवकुरु के मनुष्यों की विभूति

अब शास्त्रकार मांडलिक नरेन्द्रों और उत्तरकुरु-देवकुरुक्षेत्र के भोगसम्पन्न मनुष्यों के ऐश्वर्य वैभव और कामभोगों के साधनों का निरूपण करते हुए, अन्त में उनकी भी अतृप्ति का प्रतिपादन करते हैं—

मूलपाठ

भुज्जो मंडलियनरवरेंदा, सबला, सअंतेउरा, सपरिसा, सपुरोहियाऽमच्च-दण्डनायक - सेणावति-मंतनीतिकुसला, नाणा-मणिरयणविपुलधणधण्णसंचयनिहीसमिद्धकोसा, रज्जसिरिं विपुल-मणुभवित्ता, विक्कोसंता, बलेण मत्ता, तेवि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं।

भुज्जो उत्तरकुरु-देवकुरुवणविवरपादचारिणो नरगणा भोगु-त्तमा, भोगलक्खणधरा, भोगसस्सिरिया, पसत्थसोमपडिपुण्ण-रूवदरिसणिज्जा, सुजातसव्वंगसुंदरंगा, रत्तुप्पलपत्तकंतकरचरण-कोमलतला, सुपइट्ठियकुम्मचारुचलणा,[1] अणुपुव्वसुसंहयंगुलीया, उन्नयतणुतंवनिद्धनखा, संठितसुसिलिट्ठगूढगोंफा, एणीकुरुविंदवत्त-वट्टाणुपुव्विजंघा, समुग्गनिसग्गगूढजाणू, वरवारणमत्ततुल्लविक्कम-विलसिय (विलासित)गती, वरतुरगसुजायगुज्झदेसा, आइन्नहयव्व निरुवलेवा, पमुइयवरतुरगसीह - अतिरेगवट्टियकडी, गंगावत्त-दाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणबोहियविकोसायंत - पम्हगंभीर-विगडनाभी, संहितसोणंदमुसल-दप्पणनिगरियवरकणगच्छरुसरिस-वरवइरवलियमज्झा, उज्जुगसमसहिय-जच्चतणुकसिणणिद्धआदेज्ज-लडहसूमालमउयरोमराई,झसविहगसुजातपीणकुच्छी,झसोदरा,पम्ह-विगडनाभी(भा),संनतपासा[2], संगयपासा,सुंदरपासा, सुजातपासा, मितमाइयपीणरइयपासा, अकरंडुयकणगरुयगनिम्मलसुजायनिरुवहय-

---

१ 'अणुपुव्विसुजायपीवरंगुलिका' पाठ भी मिलता है।

२ 'संततपासा' पाठ भी कहीं कहीं मिलता है। —संपादक

विस्तीर्णपृथुलवक्षसो, युगसन्निभरतिदपीवरप्रकोष्ठसंस्थितसुश्लिष्टविशिष्ट-लष्टसुनिचितघनसुबद्धसन्धयः, पुरवरवरपरिघर्वाततभुजा, भुजगेश्वरविपुल-भोगादानपरिघोत्क्षिप्तदीर्घबाहवो, रक्ततलोपचित(तलौपचयिक तलौपयिक) मृदुक मांसलसुजातलक्षणप्रशस्ताच्छिद्रजालपाणयः, पीवरसुजातकोमलवरांगु-लयस्ताम्रतलिनशुचिरुचिरस्निग्धनखाः, स्निग्धपाणिरेखाश्चन्द्रपाणिरेखाः, सूर्यपाणिरेखाः, शंखपाणिरेखाश्चक्रपाणिरेखा, दिक्स्वस्तिकपाणिरेखा, रविशशिशंखवरचक्रदिक्स्वस्तिकविभक्तसुविरचितपाणिरेखा, वरमहिप-वराह-सिंह-शार्दूल-वृषभ-नागवरप्रतिपूर्ण - विपुलस्कन्धाश्चतुरंगुलसुप्रमाण-कम्बुवरसदृशग्रीवा, अवस्थितसुविभक्तचित्रश्मश्रवः, उपचितमांसलप्रशस्त-शार्दूलविपुलहनुकाः, उपचित (औपयिक)शिलाप्रवालबिम्बफलसन्निभाधरो-ष्ठाः, पाण्डुरशशिशकलविमलशंखगोक्षीरफेनकुन्ददकरजोमृणालिकाधवल-दन्तश्रेणयोऽखंडदंता, अस्फुटितदन्ता, अविरलदन्ताः सुस्निग्धदन्ताः, सुजात-दन्ता, एकदन्तश्रेणिरिवानेकदन्ता, हुतवहनिर्ध्मातधौततप्ततपनीयरक्ततलतालु जिह्वा, गरुडायतर्जुतुंगनासा, अववालितपुंडरीकनयना, कोकासित-(विकसित)धवलपत्रलाक्षा, आनामितचापरुचिरकृष्णाभ्रराजिसंस्थित-संगतायतसुजातभ्रूका,आलीनप्रमाणयुक्तश्रवणाः सुश्रवणाः,पीनमांसलकपोल-देशभागाः, अचिरोद्गतबालचन्द्रसंस्थितमहाललाटा, उडुपति(पतिरिव)-प्रतिपूर्णसौम्यवदनाश्छत्राकारोत्तमांगदेशा, घननिचितसुबद्धलक्षणोन्नतकूटा-कारनिर्भपिडिताग्रशिरसो, हुतवहनिर्ध्मातधौततप्ततपनीयरक्तकेशान्तकेश-भूमयः, शाल्मलिपोण्डघननिचितच्छोटितमृदुविशदप्रशस्तसूक्ष्मलक्षणसुगन्धि-सुन्दरभुजमोचकभृंगनीलकज्जलप्रहृष्टभ्रमरगणस्निग्धनिकुरुम्बनिचित - -कुंचितप्रदक्षिणावर्त्तमूर्द्धशिरोजाः, सुजातसुविभक्तसंगतांगाः, लक्षणव्यंजन-गुणोपपेताः, प्रशस्तद्वात्रिंशल्लक्षणधरा, हंसस्वराः, क्रौंचस्वरा, दुन्दुभिस्वराः, सिंहस्वरा, ओघस्वरा, मेघस्वराः, सुस्वराः, सुस्वरनिर्घोषा, वज्रर्षभनाराच-संहननाः, समचतुरस्रसंस्थानसंस्थिताश्छायोद्योतितांगोपांगा, प्रशस्तच्छवयो, निरातंकाः, कंकग्रहणीका (णिनः), कपोतपरिणामाः शकुनिपोस(अपान) पृष्ठान्तरोरुपरिणताः, पद्मोत्पलसदृशगन्धोच्छ्वाससुरभिवदना, अनुलोम-वायुवेगा, अवदातस्निग्धकाला, विग्रहिकोन्नतकुक्षयोऽमृतरसफलाहारास्त्रि-गव्यूतसमुच्छ्रितास्त्रिपल्योपमस्थितिकास्त्रीणि च पल्योपमानि परमायूंषि पालयित्वा तेऽप्युपनमन्ति मरणधर्ममवितृप्ताः कामानाम् ।

गुणोववेया, पसत्थबत्तीसलक्खणधरा, हंसस्सरा, कुंचस्सरा, दुंदुभिस्सरा, सीहस्सरा, (उज्ज)ओघसरा, मेघसरा, सुस्सरा, सुस्सरनिग्घोसा,वज्जरिसहनारायसंघयणा,समचउरंससंठाणसंठिया, छायाउज्जोवियंगमंगा, पसत्थच्छवी, निरातंका, कंकग्गहणी, कवोतपरिणामा, सउ(गु)णि पोसपिट्ठंतरोरुपरिणया, पउमुप्पल-सरिसगंधुस्सासुरभिवयणा अणुलोमवाउवेगा, अवदायनिद्ध-काला, विग्गहियउन्नयकुच्छी, अमयरसफलाहारा, तिगाउयसमूसिया, तिपलिओवमट्ठितीका तिन्नि य पलिओवमाइं परमाउं पालयित्ता तेवि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं ॥

संस्कृतच्छाया

भूयो मांडलिकनरवरेन्द्राः, सबलाः सान्तःपुराः, सपरिषदः, सपुरोहिताऽऽमात्य-दण्डनायक-सेनापति-मंत्रनीतिकुशला, नानामणि-रत्न-विपुल-धन-धान्यसंचय-निधिसमृद्धकोशा, राज्यश्रियं विपुलाम् अनुभूय विक्रोशन्तो, बलेनमत्तास्तेऽपि उपनमन्ति मरणधर्मम् अवितृप्ताः कामानाम् ।

भूय उत्तरकुरु-देवकुरुवनविवरपादचारिणो नरगणा, भोगोत्तमा, भोगलक्षणधरा, भोगसश्रीकाः, प्रशस्तसौम्यप्रतिपूर्णरूपदर्शनीयाः, सुजात-सर्वांगसुन्दरांगा, रक्तोत्पलपत्रकान्तकरचरणकोमलतलाः, सुप्रतिष्ठितकूर्म-चारुचरणा, अनुपूर्वसुसंहतांगुलिका, उन्नततनुताम्रस्निग्धनखाः, संस्थित-सुश्लिष्टगूढगुल्फा, एणीकुरुविंदवृत्तवृत्तानुपूर्व्विजंघा, समुद्गनिसर्गगूढजानवो, मत्तवरवारणतुल्यविक्रमविल(ला)सितगतयो, वरतुरगसुजातगुह्यदेशा, आकीर्णहय इव निरुपलेपाः, प्रमुदितवरतुरगसिंहातिरेकवर्तितकटयो, गंगावर्त्तदक्षिणावर्त्ततरंगभंगुररविकिरणबोधित - विकोशायमानपद्मगम्भीर-विकटनाभयः, संहृत(संहित)सोणंद(शोणद) - मुशल - दर्पण - निगरित (निगरिका) वरकनकत्सरुसदृशवरवज्रवलितमध्या, ऋजुकसमसंहत (संहित) जात्यतनुकृष्णस्निग्धादेयलडहसुकुमारमृदुकरोमराजयो, झषविहगसुजातपीन-कुक्षयो, झषोदराः, पद्मविकटनाभयः, सन्नतपार्श्वाः, संगतपार्श्वाः, सुन्दर-पार्श्वाः, सुजातपार्श्वा, मितमात्रिक(मातृक)-पीनरतिदपार्श्वा, अकरंडुककनक-रुचकनिर्मलसुजातनिरुपहतदेहधारिणः, कनकशिलातलप्रशस्तसमतलोपचित-

जाणू) उनके घुटने डिब्बे व उसके ढकने के समान स्वाभाविकरूप से मांसल होने से गूढ होते हैं। (वरवारणमत्ततुल्लविक्कमविलसियगती) उनकी चाल—गति मदोन्मत्त उत्तम हाथी के समान मस्त तथा पराक्रम और विलास से युक्त होती है। (वरतुरगसुजायगुज्झदेसा) श्रेष्ठ घोड़े की-सी सुनिष्पन्न लघु और गुप्त उनकी जननेन्द्रिय—लिंग होती है, (आइन्नहयव्व निरुवलेवा) आकीर्ण - उत्तमजाति घोड़े के गुदाभाग की तरह उनका गुदाभाग मलद्वार मल के सम्पर्क से रहित होता है, (पमुइयवरतुरगसीहअतिरेगवट्टियकडी) उनकी कमर हृष्टपुष्ट श्रेष्ट घोड़े और सिंह की कमर से भी बढ़कर गोल होती हैं। (गंगावत्तदाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरण-बोहियविकोसायंतपम्हगंभीरविगडनाभी) उनकी नाभि गंगानदी के आवर्त्त-भंवर एवं दक्षिणावर्त्त--चक्कर वाली तरंगों के जाल के समान तथा सूर्य किरणों के द्वारा खिले हुए पद्म-कमल की तरह गम्भीर और विकट-विशाल होती है, (संहतसोणंद (सोणद) मुसलदप्पणनिगरियवरकणगच्छरुसरिस-वरवइरवलियमज्झा) उनके शरीर का मध्यभाग सिकुड़ी हुई दतौन अथवा समेटी हुई लकड़ी की तिपाई, मूसल, दर्पण और मूष में शोधे – तपाये हुए श्रेष्ठ सोने की बनी तलवार आदि की मूठ के समान तथा उत्तम वज्र की तरह पतला होता है। (उज्जुगसम-सहिय - जच्च-तणु - कसिण-णिद्ध-आदेज्ज-लडह-सूमाल-मउयरोमराई) उनके शरीर पर सीधी और लंबाई-चौड़ाई में एकसरीखी, परस्पर सटी हुई, स्वभाविकरूप से बारीक, काली, चिकनी तथा प्रशंसनीय सौभाग्यशाली पुरुषों के योग्य सुकुमार और मृदु—मुलायम रोमराजि--रोओं की पंक्ति होती है। (झसविहगसुजातपीणकुच्छी) उनके दोनो पार्श्वप्रदेश मछली और पक्षी के पार्श्वप्रदेश-कुक्षि की तरह सुन्दर व मोटे होते हैं। (झसोदरा) उनका पेट मछली के समान, (पम्हविगडनाभिसंनतपासा) कमल के समान गहरी उनकी नाभि है तथा दोनों बगलें नीचे की ओर झुकी हुई हैं, इसलिए (संगयपासा) उनके दोनों पार्श्व ठीक संगत होते हैं। (सुंदरपासा) उनकी बगलें—पार्श्व सुन्दर हैं, (सुजातपासा) योग्य गुणों से युक्त बगलें हैं (मितमाइयपीणरइय-पासा) उनके पार्श्व (बगलें) मानोपेत परिणाम से युक्त—न्यूनाधिकता से रहित हैं, परिपुष्ट हैं, (अकरंडुयकणगरुयगनिम्मलसुजायनिरुवहयदेहधारी) वे ऐसे शरीर को धारण किये होते हैं, जिनकी पीठ और बगल की हड्डियां मांस से ढकी हुई हैं, तथा जो सोने के आभूषण की तरह निर्मल कान्तियुक्त तथा सुन्दरता से बना हुआ और नीरोग होता है। (कणगसिलातलपसत्थसमतलउवइयविच्छिन्नपिहुलवच्छा)

उनके वक्षःस्थल सोने के शिलातल के समान प्रशस्त, समतल, ऊँचाई-नीचाई में बराबर, मांसभरे और विशाल होते हैं। (जुयसंनिभपीणरइयपीवरपउट्ठसंठियसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसुनिचितघणथिरसुबद्धसंधी) उनकी दोनों कलाइयां जूवे के समान लम्बी, पुष्ट, सुखप्रदायिनी, रमणीय, मोटी होती हैं तथा विशेष सुडौल, सुगठित, यथास्थान सुन्दर मांसल और नसों से दृढ़ बनी हुई हड्डियों की संधियां होती (पुरवरफलिहवट्टियभुया) उनकी भुजाएं नगरद्वार की आगल के समान लम्बी और गोल होती हैं। (भुयईसरविपुलभोगआयाणफलिह-उच्छूढदीहबाहू) उनकी बांहें भुजगेश्वर—शेषनाग के विशाल—विस्तीर्ण शरीर या फन की तरह और अपने स्थान से निकाल ली गई आगल के समान लंबी होती हैं। (रत्ततलोवइय-मउय-मंसल-सुजायलक्खण-पसत्थ-अच्छिद्द-जालपाणी) उनके हाथ लाल-लाल हथेलियों से युक्त, परिपुष्ट अथवा उचित, कोमल, मांसल-मांस से भरे, सुन्दर बने हुए, स्वस्तिक आदि लक्षणों से प्रशस्त और छेदरहित—परस्पर सटी हुई उंगलियों वाले होते हैं। (पीवरसुजायकोमलवरंगुली) उनके हाथों की उंगलियां परिपुष्ट, सुरचित, कोमल और श्रेष्ठ होती हैं। (तंबतलिणसुइरुइलनिद्धनखा) उनके नख लाल-लाल, सूक्ष्म-पतले, पवित्र, रुचिर एवं चमकीले होते हैं। (निद्धपाणिलेहा) उनके हाथ की रेखाएँ चिकनी होती हैं, (चंदपाणिलेहा) वे चन्द्रमा की तरह अविषम-सम या चन्द्रांकित हस्तरेखा वाले, (सूरपाणिलेहा)-सूर्य के समान चमकने वाली या सूर्यांकित हस्तरेखा वाले (संखपाणिलेहा) शंख के समान उन्नत या शंखांकित हस्तरेखा वाले, (चक्कपाणिलेहा) चक्र के समान वृत्त—गोल या चक्रांकित हस्तरेखा वाले, (दिसासोवत्थियपाणिलेहा) दिशा-प्रधान स्वस्तिक यानी दक्षिणावर्त स्वस्तिक के चिह्न वाली हस्तरेखाओं वाले, (रविससिसंखवरचक्कदिसासोवत्थियविभत्तसुविरइयपाणिलेहा) वे सूर्य, चन्द्र, शंख, श्रेष्ठ चक्र, दक्षिणावर्त, स्वस्तिक आदि विभिन्न चिह्नों से अंकित-सुरचित हस्तरेखाओं वाले होते हैं। (वरमहिस-वराह-सीह-सद्दूल-रिसह-नागवर-पडिपुण्णविउलखंधा) उनके कंधे श्रेष्ठ भैंसे, यमराज के भैंसे, सूअर, सिंह, व्याघ्र, सांड और गजेन्द्र के कंधों सरीखे परिपूर्ण और मोटे—परिपुष्ट होते हैं। (चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा) उनकी गर्दन ठीक चार अंगुल प्रमाण और शंख के समान होती है। (अवट्ठियसुविभत्तचित्तमंसू) उनकी दाढ़ी-मूंछें न कम न ज्यादा—एक सरीखी बढ़ी हुई और अलग-अलग विभक्त, शोभायमान होती हैं। (उवचिय-मंसल-पसत्थ-सद्दूल-विपुलहणुया) वे पुष्ट, मांसयुक्त, सुन्दर तथा व्याघ्र की ठुड्डी के समान विस्तीर्ण ठुड्डी वाले होते हैं। (ओयवियसिल-प्पवाल-बिंबफल-

संनिभाधरोट्ठा) उनके नीचले ओठ संशोधित मूंगे और बिंबफल के समान लाल-लाल होते हैं। (पंडुर-ससि-सकल-विमल-संख-गोखीर-फेण-कुंद-दगरय-मुणालिया-धवलदंतसेढी) उनके दांतों की पंक्ति सफेद रंग के चन्द्रमा के टुकड़े, निर्मल शंख, गाय के दूध, समुद्र फेन, कुंदपुष्प, जलकण तथा कमल की नाल के समान धवल-सफेद होती हैं। (अखंडदंता) उनके दांत अखंड होते हैं, (अप्फुडियदंता) बिना टूटे हुए होते हैं, (अविरलदंता) वे घने दांतों वाले, (सुणिद्धदंता) चिकने दांतों वाले,(सुजायदंता) सुंदर दांतों वाले, और (एगदंतसेढिव्व अणेगदंता) वे एक दांत की पंक्ति के समान अनेक-बत्तीस दांतों वाले होते हैं। (हुयवह-निद्धंत-धोय-तत्त-तवणिज्ज-रत्ततलतालुजीहा) उनके तालु और जीभ आग में तपाये हुए तथा धोए हुए निर्मल सोने के समान लाल तल वाले होते हैं। (गरुलायत-उज्जु-तुंगनासा) उनकी नाक गरुड़ के समान लंबी, सीधी और ऊँची होती है। (अवदालिय-पोंडरीय-नयणा) उनके नेत्र खिले हुए श्वेत कमल के समान होते हैं, (कोकासियधवलपत्तलच्छा) तथा विकसित सफेद पक्ष्म-पपनी से युक्त भी होते हैं। (आणामिय-चाव-रुइल-किण्हब्भराजि-संठिय-संगयायय-सुजायभुमगा) उनकी भौंहे थोड़े से झुकाये हुए धनुष के समान मनोरम, एक जगह जमे हुए काले-काले बादलों की रेखा के समान काली,उचित मात्रा में लंबी और सुंदर होती हैं। (अल्लीण-पमाण-जुत्तसवणा) उनके दोनों कान एक जगह टिके हुए, उचितप्रमाणयुक्त पंखे के समान होते हैं। (सुसवणा) वे सुन्दर कानों वाले अथवा अच्छी तरह सुनने की शक्ति से युक्त होते हैं। (पीणमंसलकपोलदेसभागा) उनके दोनो गाल तथा आसपास के भाग परिपुष्ट, और मांस से भरे हुए होते हैं। (अचिरुग्गयबालचंदसंठियमहानिडाला) उनके ललाट थोड़े ही समय पहले नवीन उदय हुए बालचन्द्रमा के आकार के समान विशाल होते हैं। (उडुपतिपडिपुन्न-सोम-वयणा) उनके मुख पूर्ण चन्द्रमा के समान सौम्य होते हैं। (छत्तागारुत्तमंगदेसा) छाते के आकार के समान उभरा हुआ उनका मस्तक का भाग होता है। (घण-निचिय-सुबद्ध-लक्खणुन्नयकूडागार-निभ-पिंडियग-सिरा) उनके सिर का अग्रभाग लोहे के मुद्गर के समान ठोस—सुदृढ, नसों से आबद्ध, उत्तम लक्षणों से युक्त, उन्नत—उभरा हुआ, शिखरसहित भवन के समान और गोलाकार पिंड के समान होता है। (हुयवहनिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्तकेसंत-केसभूमी) उनके मस्तक की चमड़ी अग्नि में तपाये और धोये हुए तप्त सोने के समान लाल-लाल तथा सिरे पर बढ़े हुए बालों से युक्त होती है। (सामलीपोंडघण-निचिय-छोडिय-मिउ-विसय-पसत्य-सुहुम-लक्खण-सुगंधि-सुंदर-भुय-मोयग-भिंग-नील-कज्जल-

पहट्ठभमरगण-निद्ध-निगुरुंब-निचिय-कुंचिय - पयाहिणावत्तमुद्धसिरया) उनके मस्तक के बाल सेमर के फल के समान घने, छांटे हुए या मानो घिसे हुए, बारीक, सुस्पष्ट, प्रशस्त-मांगलिक, चिकने, उत्तम लक्षणों से युक्त, सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित, सुन्दर, भुजमोचकरत्न के समान काले, नीलमणि और काजल के समान तथा हर्षित भौंरों के झुंड की तरह कृष्णकान्ति वाले, झुंडरूप में इकट्ठे और टेढ़ेमेढ़े घुंघराले, दक्षिण की ओर घूमे हुए होते हैं। (सुजाय-सुविभत्त-संगयंगा) उनके अंग बड़े ही सुडौल, योग्यस्थान पर और सुन्दर होते हैं। (लक्खणवंजणगुणोववेया) वे उत्तमोत्तम लक्षणों व तिल, मस्सा आदि व्यंजनों के गुणों से युक्त होते हैं। (पसत्यवत्तीसलक्खणधरा) वे मांगलिक बत्तीस लक्षणों के धारक होते हैं। (हंसस्सरा) उनका स्वर हंस के समान होता है, (कुंचस्सरा) वे क्रौंचपक्षी—कुररी के समान आवाज वाले होते हैं, (दुंदुभिस्सरा) वे दुंदुभि की ध्वनि के समान ध्वनि वाले होते हैं, (सीहस्सरा) वे सिंहगर्जना के समान आवाज वाले होते हैं। (ओघस्सरा) बिना फटे हुए या बिना रुके हुए स्वर के समान स्पष्ट स्वर वाले होते हैं। (मेघस्सरा) उनकी आवाज बादलों के गर्जन के समान होती है, (सुस्सरा) उनकी आवाज कानों को सुखद एवं प्रिय होती है; (सुस्सरनिग्घोसा) वे अच्छे स्वर और अच्छे निर्घोष वाले होते हैं (वज्जरिसहनारायसंघयणा) वे वज्रऋषभनाराच संहनन वाले होते हैं, (समचउरंससंठाणसंठिया) उनका शरीर समचतुरस्र संस्थान से गठा हुआ होता है, (छायाउज्जोवियंगमंगा) उनके अंग-प्रत्यंग कान्ति से चमकते रहते हैं। (पसत्यच्छवी) उनके शरीर की चमड़ी-त्वचा श्रेष्ठ होती है, (निरातंका) वे नीरोग रहते हैं। (कंकग्गहणी) कंक नामक पक्षी के समान वे अल्प आहार ही ग्रहण करते हैं। (कवोत-परिणामा) कबूतर की तरह उनमें आहार की परिणति पचाने-हजम करने की शक्ति होती है। (सउणिपोसपिट्ठंतरोरुपरिणया) पक्षी के समान उनका मलद्वार अपानमार्ग होता है, जिससे वे मलत्याग करने के बाद उसके लेप से रहित रहते हैं। तथा उनकी पीठ,पार्श्वभाग और जंघाएं परिपक्व होती हैं। (पउमुप्पलसरिसगंधुस्सास-सुरभिवयणा) पद्म कमल और नीलकमल के सरीखी सुगन्ध से उनके श्वास और मुख सुगन्धित रहते हैं। (अणुलोमवाउवेगा) उनके शरीर की वायु का वेग अनुकूल-मनोज्ञ रहता है। (अवदायनिद्धकाला) निर्मल और चिकने काले बाल उनके सिर पर होते हैं। (विग्गहियउन्नतकुच्छी) उनका पेट शरीर के अनुरूप उन्नत-ऊंचा व मोटा होता है। (अमयरसफलाहारा) वे अमृत के समान रसयुक्त फलों का

आहार करने वाले होते हैं। (तिगाउयसमूसिया) उनके शरीर की ऊंचाई तीन गाऊ —कोश होती है, (तिपलिओवमट्ठितीका) उनकी स्थिति तीन पल्योपम की होती है। (य) और (तिन्निपलिओवमाइं) इस तीन पल्योपम को (परमाउं) उत्कृष्ट आयु को (पालयित्ता) भोग कर, (तेवि) वे भोगभूमि—अकर्मभूमि के मनुष्य भी (कामाणं अवितित्ता) काम भोगों से अतृप्त होकर अन्त में (मरणधम्मं) मृत्यु को—कालधर्म को, (उवणमंति) प्राप्त होते हैं—पाते हैं।

मूलार्थ—इसी तरह मांडलिक नरेश भी जो बड़े बलवान् तथा प्रचुर सैन्य वाले होते हैं, उनके अपने अन्तःपुर-रनवास होते हैं, वे सभाओं से युक्त होते हैं या बड़े परिवार वाले होते है, शान्तिकर्म करने वाले पुरोहितों, राज्य-चिन्ता करने वाले अमात्यों—मंत्रियों, दंडनायकों, सेनापतियों, मंत्रणा और राजनीति में कुशल दरबारियों से युक्त होते हैं। उनके कोश नाना प्रकार की मणियों, रत्नों तथा प्रचुर धन और धान्यो के संग्रह से भरे रहते हैं। वे विपुल राजलक्ष्मी का उपभोग करके अपने बल से मतवाले हो कर दूसरों को आक्रोस करते हैं—अथवा कोश खाली होने पर दूसरों पर रोप करते है, अन्त में वे भी कामभोग से अतृप्त ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

तथा उत्तरकुरु और देवकुरु क्षेत्र के यौगलिक मानवगण, जो वन खंडों, गुफाओं वगैरह में पाद विहार करते हैं, उत्तमोत्तम भोगों से सम्पन्न होते हैं, भोगों के सूचक स्वस्तिक आदि उत्तम लक्षणों के धारक होते हैं, भोगों से शोभा पाते हैं, उनका रूप और दर्शन बड़ा ही मांगलिक, सौम्य—शान्त और प्रतिपूर्ण होता है, उनके शरीर के तमाम अंगों की बनावट अच्छी होने से उनके सभी अंग सुन्दर होते हैं; उनकी हथेली और पैरों के तलुए लाल कमल के पत्र की तरह कोमल और सुन्दर होते हैं, उनके पैर सुस्थिर कछुए के समान उन्नत-उभरे हुए होते हैं; उनकी उंगलियां अनुक्रम से छोटी-बड़ी और छिद्र-रहित होती है। उनके नख उभरे हुए, पतले, लाल और चमकीले होते है। उनके पैरों के गट्टे सुस्थित, सुघटित और मांसल होने से गूढ़ होते हैं, उनकी जांघें हिरनी की जांघों के समान तथा कुरुविंद नामक तृणविशेष और सूत कातने की तकली के समान वर्तुल-गोल और उत्तरोत्तर स्थूल होती हैं; उनके घुटने गोल डिब्बे और उसके ढक्कन के समान स्वाभाविकरूप से मांस से ढके हुए होते हैं; मतवाले उत्तम हाथी के समान उनका पराक्रम और मस्त सुन्दर गति-चाल

होती है। श्रेष्ठ घोड़े के लिंग के समान उनका गुप्तांग—मूत्रेन्द्रि सुनिष्पन्न होता है और आकीर्ण (उत्तम जाति के) घोड़े के समान मलद्वा मल के लेप से रहित होता है।

उनकी कमर हृष्ट पुष्ट घोड़े और सिंह की कमर से भी बढ़कर गोल होती है, उनकी नाभि गंगानदी के भंवर के समान, दक्षिणावर लहरों की परम्परा जैसी, सूर्य की किरणों से विकसित व कोश से बाह निकले हुए कमल के समान गम्भीर और विशाल है। समेटी हुई तिपाई य सिकुड़ी हुई दतौन की लकड़ी, मूसल और मूप में शोधे हुए श्रेष्ठ तप्त सोने की बनी हुई मूठ के समान और उत्तम वज्र के समान पतला उनका मध्यभाग होता है। उनकी रोमराजि सीधी, एक सरीखी, परस्पर सटी हुई, स्वभाव से बारीक, काली,चमकीली, सौभाग्यसूचक,मनोहर व अत्यंत कोमल तथा रमणीय होती है। उनका पार्श्वभाग—बगलें मछली और पक्षी की कुक्षि के समान पुष्ट और सुन्दर होता है। उनका पेट मछली के समान होता है। कमल के समान विशाल उनकी नाभि होती है। उनके पार्श्व प्रदेश नीचे की ओर झुके हुए होते हैं; संगत—जँचते हुए होते हैं, इसलिए उनके पार्श्व सुन्दर दिखाई देते हैं। यथा योग्य गुण वाले तथा परिमाण से युक्त, परिपुष्ट और रमणीय उनके पार्श्व होते हैं। उनकी पीठ और पार्श्वभाग की हड्डियाँ व पस-लियाँ आदि मांस से ढकी होने से वे निर्मल, सुन्दर, पुष्ट और नीरोग शरीर से युक्त होते हैं। उनका वक्षःस्थल सोने की शिला के तल के समान मांगलिक, समतल, मांस से भरे हुए, पुष्ट, विशाल और नगर के फाटक समान चौड़ा होता है। उनकी कलाइयाँ (कुहनी से नीचे का भाग) गाड़ी के जूवे के सदृश, यूप (खंभे) के समान, मांस से पुष्ट, रमणीय और मोटी होती है, तथा उनके शरीर की सन्धियाँ-जोड़ सुन्दर आकृति वाली, अच्छी तरह गठी हुई, मनोज्ञ, घनी, स्थिर, मोटी और अच्छी तरह बद्ध होती हैं। उनकी भुजाएँ महानगर के द्वार की भारी आगल के समान गोल होती हैं। तथा उनके बाहु शेषनाग आदि के विशाल शरीर के समान विस्तीर्ण और आदेय—रम्य तथा अपनी जगह से बाहर निकाली हुई आगल,के समान लंबी होती हैं। उनके हाथ लाल-लाल हथेलियों से सुशोभित,मांस से पुष्ट, कोमल, उचित-जचते हुए तथा स्वस्तिक आदि लक्षणों के कारण प्रशस्त एवं सटी हुई उंगलियों वाले होते हैं। उनके हाथ की उंगलियाँ परिपुष्ट, सुरचित, कोमल और श्रेष्ठ होती हैं।

उनके नख लाल, बारीक (पतले), स्वच्छ, सुन्दर और चमकीले होते हैं। उनके हाथ की रेखाएँ बड़ी चिकनी होती हैं, तथा चन्द्र, सूर्य, शंख, चक्र और दिशा स्वस्तिक के आकार से अंकित होती हैं। यानी सूर्य, चन्द्रमा, शंख, श्रेष्ठ चक्र, दिक्-स्वस्तिक आदि विभिन्न आकृतियो से युक्त उनकी हस्तरेखाएँ होती है। उनके कंधे श्रेष्ठ और बलवान महिष, सूअर, सिंह, व्याघ्र, सांड और गजेन्द्र के कंधों के समान परिपूर्ण और पुष्ट होते है। उनकी गर्दन चार अंगुल प्रमाण वाली एवं शंख के समान सुन्दर होती है। उनकी दाढ़ी-मूंछें न्यूनाधिकता से रहित, एक सरीखी, सुविभक्त—अलग-अलग दिखाई देने वाली और शोभादायक होती है। उनकी ठुड्डी पुष्ट, मांसल, प्रशस्त, बाघ की ठुड्डी की तरह विस्तीर्ण-चौड़ी होती है; उनके नीचे के ओठ शोधे हुए मूंगे तथा बिम्बफल के समान लाल होते हैं। उनके दांतों की पंक्ति चन्द्रमा के टुकड़े, निर्मल शंख, गाय के दूध, समुद्रफेन, कुन्दपुष्प, जलरज और कमलिनी के पत्ते पर पड़े हुए जलबिंदु या कमल की नाल की तरह सफेद—धवल होती है। उनके दांत अखंडित होते है; बिना टूटे, सघन, चिकने और सुरचित-सुन्दर होते हैं। उनके अनेक दांत एक ही दांत की श्रेणी की तरह मालूम होते हैं। यानी उनके बत्तीस दांत भी एक दांत के-से लगते हैं। उनके तलुए और जीभ का तलप्रदेश तपाये हुए निर्मल सोने के समान लाल-लाल होते हैं। उनकी नाक गरुड़ की नाक के समान लंबी, सीधी और ऊँची उठी हुई होती है। उनके नेत्र खिले हुए श्वेतकमल के समान होते है। तथा उनकी आँखें सदा प्रसन्न रहने के कारण विकसित धवल पपनी वाली होती हैं। उनकी भौंहें थोड़े नमाए हुए धनुष के समान सुन्दर तथा जमे हुए काले-काले बादलों की पंक्ति के समान आकार युक्त काली, संगत, उचित लंबी-चौड़ी और सुन्दर होती हैं। उनके कान परस्पर सटे हुए प्रमाणोपेत होते हैं; जिनसे वे खूब अच्छी तरह सुन सकते हैं। अथवा उनके कान अच्छी तरह सुनने की शक्ति वाले होते है। उनके गाल पुष्ट और मांस से भरे होने से लाल होते है। थोड़ी ही समय पहले उदित हुए बालचन्द्रमा के आकार के समान विशाल उनका ललाट होता है। उनका चेहरा पूर्ण चन्द्रमा के समान बड़ा ही सौम्य होता है। उनका मस्तक छत्र के समान उभरा हुआ होता है। उनके सिर का अग्रभाग लोहे के मुद्गर के समान मजबूत नसों से आबद्ध, उत्तम लक्षणों से युक्त, शिखरसहित भवन तथा गोला

कार पिंड के समान होता है। उनके मस्तक की त्वचा (चमड़ी) अग्नि से तपाए, एवं धोए हुए सोने-सी निर्मल, लाल तथा बीच में केशों से युक्त होती है। उनके मस्तक के बाल सेमर के फल के समान अत्यन्त घने, घिसे हुए से—बारीक, कोमल, सुस्पष्ट, प्रशस्त—मांगलिक, चिकने, उत्तम लक्षण से युक्त, सुगन्धित और सुन्दर होते हैं, तथा भुजमोचकरत्न के समान काले, नीलमणि, काजल, गुनगुनाते हुए प्रसन्न भौरों के झुंड के समान काली कांति वाले, झुंड के झुंड इकट्ठे, टेढ़े-मेढ़े—घुंघराले एवं दक्षिण की ओर घूमे हुए होते हैं। उनके शरीर के अवयव सुडौल, सुरचित व संगत-जचते हुए होते हैं। वे लक्षणों और व्यंजनों के गुणों से युक्त होते हैं। वे प्रशस्त—उत्तमोत्तम ३२ लक्षणों को धारण करने वाले होते हैं। उनकी आवाज हंस के स्वर के समान, क्रौंच—पक्षी के स्वर के तुल्य, दुंदुभि के नाद के समान, सिंह की गर्जना के समान, मेघ की गर्जना के समान, बिना फटे हुए स्वर वाली तथा कानों को सुख देने वाली होती है, उनका निर्घोष—शब्दोच्चारण भी आदेय होता है। उनका संहनन (शरीर की हड्डियों का ढांचा) वज्र ऋषभ नाराच होता है—उनका शरीर समचतुरस्र (चारों ओर से समान) संस्थान (डीलडौल) से गठे हुए होते हैं; उनके अंग-प्रत्यंग कान्ति से चमकते रहते हैं। उनके शरीर की चमड़ी उत्तम होती है। उनका शरीर रोगरहित होता है। कंकपक्षी के समान उनकी गुदा होती है, अथवा कंक पक्षी की तरह वे अल्पआहार ग्रहण करने वाले होते हैं, कबूतर की तरह वे खाए हुए गरिष्ठ आहार को पचा लेते है। वे पक्षी के मलद्वार समान मलद्वार वाले होने से मलत्याग करने में लेप से रहित होते है। उनकी पीठ, पार्श्व भाग और जंघाएँ परिपक्व होती हैं। उनका मुख पद्म कमल व नीलकमल की तरह सुगन्धित रहता है। उनके शरीर की वायु का वेग अनुकूल और मनोज्ञ होता है। उनके बाल स्वच्छ, चमकीले, काले होते हैं; उनका पेट शरीर के अनुपात में उन्नत—कुछ उभरा हुआ सा होता है। वे अमृत के समान रसीले फलों का आहार करते हैं। उनका शरीर तीन गाऊ—कोस ऊँचा होता है। तथा उनकी आयु—स्थिति तीन पल्योपम की होती है।

ऐसे वे अकर्मभूमि—भोगभूमि के मनुष्य भी तीन पल्योपम की उत्कृष्ट आयु को भोगकर अन्त में कामभोगों से अतृप्त ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या

विस्तृत वर्णन करने के पीछे रहस्य—पूर्व सूत्रपाठ में अर्धचक्रवर्ती, पूर्णचक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव के भोगों, वैभवों तथा सुखसाधनों का विस्तृत वर्णन करने के बाद इस सूत्रपाठ में भी मांडलिक नृपों तथा देवकुरु-उत्तरकुरु के मानवों की सुखसम्पदा, शरीरसम्पदा और भोगों के साधनों का विस्तृत वर्णन किया है, इसके पीछे क्या रहस्य है ?

वास्तव में इतने विस्तृत वर्णन के पीछे शास्त्रकार का यही आशय प्रतीत होता है कि संसार के प्रायः सभी प्राणी अब्रह्मचर्यसेवन को भ्रान्तिवश आत्मा के लिए सतोष और सुख का साधन समझते हैं और इसकी पूर्ति के लिए वे सभी प्रकार के साधन जुटाने और तरह-तरह से उखाड़-पछाड़ करने में अपनी ओर से कोई कोरकसर नही रखते। वे इसमें अपनी पूरी ताकत का उपयोग करते हुए दिखाई देते हैं। वे प्राय. यही समझते हैं कि हमें अब तक इसके अनुकूल सामग्री नही मिली है, इसलिए हम पूर्ण तृप्ति के आनन्द का अनुभव नही कर सके। यदि हमें कामभोग-सेवन की उत्तम और प्रचुर सामग्री मिल जाती तो हम उसका यथेच्छ सेवन करके संतुष्ट हो जाते। लेकिन उनकी यह मान्यता आग को शान्त करने के लिए उसमें घी की आहुति डालने के समान है। जैसे आग में घी की आहुति डालने से वह और ज्यादा भड़कती है; वैसे ही विषय-वासना की आग को शान्त करने के लिए भोगोपभोग के अनेकानेक साधनों को जुटाने और उनका सेवन करने से भी वह शान्त होने के बदले और ज्यादा भड़कती है। इसी बात को स्पष्ट करने हेतु शास्त्रकार ने पूर्वोक्त सभी पुण्यशालियों और भोग की उत्तमोत्तम साधन-सामग्री वालों का दृष्टान्त विस्तृतरूप से दे कर बताया है कि जिनके पास यौवन, शारीरिक बल, सौन्दर्य, धन-जन की अपार शक्ति और प्रभुता थी; भोग के एक से एक बढ़कर उत्तम साधन थे; हर तरह की मनचाही भोगसामग्री प्राप्त करने के लिए जिनके पास धनसम्पत्ति का अखूट खजाना था; हजारों सुन्दरियाँ उनके चित्त को प्रफुल्लित रख कर कामसुख को बढ़ाने के लिए सेवा में हाजिर रहती थी; देवदुर्लभ क्रीड़ाएँ करने के लिए जल, स्थल और नभ के सभी क्रीड़ास्थल उनके लिए खुले थे, हजारों राजा उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे, जो बल, बुद्धि, धन, साधन, सौन्दर्य, प्रभुत्व आदि मे किसी से कम नही थे; फिर भी वे अर्धचक्री, पूर्णचक्री, बलदेव, वासुदेव, मांडलिक नृप या उत्तरकुरु-देवकुरु क्षेत्र के भोगप्रधान मानव विषय भोगों से संतुष्ट न हो सके। वे असंतुष्ट हालत में ही इस संसार से विदा हो गए। तब भला, साधारण आदमी की क्या बिसात है कि वह यथेच्छ भोग-सामग्री जुटा कर उसमे संतुष्ट हो ही जायगा ? जब इतने बड़े बड़े भाग्यशाली समर्थ मानव भी अब्रह्मसेवन से संतुष्ट नही हुए तो तुम जैसा साधारण मानव या प्राणी कैसे संतुष्ट हो जायगा ? इसलिए इस भ्रान्ति को मन से

फल, फूल आदि पर या किसी स्थान पर अपना अधिकार जमा कर या ममत्व करके नही बैठता। उन्हें अपनी आजीविका के लिए जंगल काटने, खेती करने, कलकारखाने चलाने, या किसी शिल्प द्वारा निर्वाह करने की भी जरूरत नहीं होती। चिन्ता-फिक्र से रहित, मस्ती भरा उनका जीवन होता है। वे यह नही चिन्ता करते कि कल क्या खायेंगे ? कल क्या पहनेंगे ? कल कहाँ रहेंगे ? और कल कौनसी जीविका करेंगे ? इसका कारण यह है कि उन्हें समस्त साधन-सामग्री अभिलाषा के अनुसार कल्पवृक्षों से मिल जाती है। खाने-पीने की चिन्ता उन्हें इसलिए नहीं करनी पड़ती कि वहाँ उन्हें हर चीज विचार करते ही मिल जाती है, किसी को खाद्य या पेय वस्तुओं का कोई मूल्य नही देना पड़ता। वहाँ की मिट्टी का स्वाद भी मिश्री से बढ़कर मधुर होता है तथा फलों का रस अमृत के समान होता है। इसीलिए कहा है— 'अमयरसफलाहारा।'

इतना बेफिक्री का मस्त और शान्त जीवन होते हुए भी, भोगभूमि के वातावरण में सहज भाव से भोगों के सर्वोत्तम प्राकृतिक साधन प्राप्त होने पर भी, वे अपनी जिंदगी के अन्तिम क्षणों तक कामभोगो से सर्वथा तृप्त नहीं होते और अतृप्त अवस्था में ही अपना शरीर छोड़ कर परलोक मे चल देते हैं। बाह्यशान्ति का साम्राज्य होने पर भी उन्हें इस सम्बन्ध में आन्तरिक मानसिक शान्ति और संतुष्टि नही मिलती।

भोगभूमि के मनुष्यों का संक्षिप्त परिचय—प्रसंगवश जैनशास्त्रों की दृष्टि से भोगभूमि के इन मनुष्यों का संक्षेप में परिचय देना आवश्यक है। जैनदृष्टि से जम्बूद्वीप में कुल सात क्षेत्र माने जाते हैं—१ भरत, २ ऐरावत, ३ महाविदेह, ४ हैमवत, ५, हैरण्यवत, ६ और हरिवर्ष. ७ रम्यक्वर्ष। धातकीखण्ड और पुष्करार्द्धद्वीप में भरत आदि क्षेत्र जम्बूद्वीप से दुगुने हैं। इन सात क्षेत्रों मे से भरत, ऐरावत और महाविदेह क्षेत्र से सम्बन्धित ५–५ कर्मभूमियाँ है। यानी जम्बूद्वीप मे भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र की तीन कर्मभूमियाँ है,तथा धातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध द्वीप मे इन तीनो क्षेत्रों की दुगुनी-दुगुनी कर्मभूमियाँ हैं। कुल मिला कर ३ + ६ + ६ = १५ कर्मभूमियाँ हैं। इन कर्मभूमियों में रहने वाले लोग असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, कला (सेवा) आदि ६ कर्मों द्वारा अपनी आजीविका करते हैं। उत्तरकुरु और देवकुरु क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से महाविदेह क्षेत्र की ही सीमा में क्रमशः उत्तर और दक्षिण में हैं ; इनमें अकर्मभूमिक जीव रहते है। इसी तरह हरिवर्ष, रम्यक्वर्ष तथा हैमवत और हैरण्यवत में भी अकर्मभूमिका वाले जीव निवास करते हैं। इन अकर्मभूमियों में असि,मसि,कृषि आदि किसी प्रकार का कर्म या आजीविका के लिए कोई व्यवहार नहीं होता। वहाँ हमेशा भोगभूमि बनी रहती है। जीवनयापन के लिए जो भी अल्प

सुखसामग्री उन्हें अपेक्षित होती है, वह कल्पवृक्षों से मिल जाती है। उन्हें कभी कमाने या जीविका के लिए उखाड़पछाड करने की जरूरत नहीं पड़ती।

प्रकृति का यह नियम है कि जहाँ जनसंख्या घटती-बढ़ती नही, वहाँ संघर्ष नहीं होता, न जीवनोपयोगी साधनों को पाने के लिए रस्साकस्सी ही होती है। सबको अपनी आवश्यकता और रुचि के अनुसार मनचाही चीजें प्रकृति से प्राप्त हो जाती हैं।

जैनदृष्टि से दो प्रकार के कालचक्र माने जाते हैं—उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल। आयु, शरीर, संस्थान, संहनन, धृति, बल आदि बातें जिसमें घटती जाती हैं, उसे अवसर्पिणी-काल कहते है और जिसमे ये चीजें उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं, उसे उत्सर्पिणीकाल कहते हैं। इन दोनों में से प्रत्येक काल के ६-६ आरे क्रमशः होते हैं। वर्तमान में अवसर्पिणीकाल काल का पांचवां आरा चल रहा है। १ सुषमसुषमा, २ सुषमा, ३ सुषमदुःषमा ४ दुःषमसुषमा, ५ दुःषमा और ६ दुःषमदुःषमा—इन ६ आरों के व्यतीत हो जाने के बाद इनसे विपरीत फिर उत्सर्पिणीकाल के क्रमशः ६ आरे दुःषमदुःषमा से शुरू हो कर सुषमसुषमा तक सम्पूर्ण होते है। सुषमसुषमा से ले कर दुःषमदुःषमा तक के ६ आरे क्रमशः ४ कोटाकोटिसागर, ३ कोटाकोटिसागर, २ कोटाकोटिसागर, १ कोटाकोसागर मे ४२ हजार वर्ष कम, २१ हजार वर्ष और २१ हजार वर्ष के लम्बे होते है।

इन सातों क्षेत्रों में से सिर्फ भरत और ऐरावत क्षेत्र ही ऐसे हैं, जहाँ छहों कालों का क्रमशः परिवर्तन होता रहता है। महाविदेहक्षेत्र में तो हमेशा चतुर्थ आरे का-सा भाव और व्यवहार बना रहता है। भोग भूमि क्षेत्रों में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी जैसा काल चक्र नही होता।

यद्यपि भोगभूमि के इन भोगप्रधान यौगलिक मानवों की आयु उत्कृष्ट तीन पल्योपम की होती है; लेकिन वे अपनी लम्बी उम्र को मनोवांछित कामभोगों के सेवन में ही बिता देते हैं। यद्यपि उनमें सप्त कुव्यसनों में से एक भी व्यसन नहीं होता; परन्तु अप्रत्याख्यानादि कषाय का उदय होने से वे त्याग-प्रत्याख्यान नहीं कर सकते। इन्द्रियविषयों का यथेष्ट सेवन करते हैं। उन्हें किसी भी अभीष्ट वस्तु का अभाव प्रतीत नही होता। अपने दीर्घ जीवनकाल मे उनके सिर्फ दो ही संतान—एक लड़का और एक लड़की—नियमानुसार होते हैं। चूंकि ज्यादा संतान होने पर मनुष्य को उनके पालन-पोषण की, रोगादि दुःख से सुरक्षा की व वियोग आदि की चिन्ता सवार हो जाती है। अतः एक पुत्र और पुत्री के रूप में नियमित संतान होने से वे किसी भी प्रकार के रोग, शोक, जरा, वियोग आदि के दुःख से व्याकुल या पीड़ित नहीं होते।

सुंदरोत्तरोट्ठा, दधिदगरयकुंदचंदवासंतिमउलअच्छिद्दविमल-दसणा, रत्तुप्पलपउमपत्तसुकुमालतालुजीहा, कणवीरमुउलऽकुडिल-अब्भुन्नयउज्जुतुंगनासा, सारदनवकमलकुमुदकुवलयदलनिगर-सरिसलक्खणपसत्थअजिम्हकंतनयणा, आनामियचावरुइलकिण्हब्भ-राइसंगयसुजायतणुकसिणनिद्धभुमगा, अल्लीणपमाणजुत्तसवणा, सुस्सवणा, पीणमट्ठगंडलेहा,चउरंगुलविसालसमनिडाला, कोमुदि-रयणिकरविमलपडिपुन्नसोमवदणा, छत्तुन्नयउत्तमंगा, अकविल-सुसिणिद्धदीहसिरया, छत्त-ज्झय-जूव-थूभ-दामिणी-कमंडलु-कलस-वावि-सोत्थिय-पडाग - जव-मच्छ-कुम्म-रथवर - मकरज्झय- अंक-थाल-अंकुस-अट्ठावय-सुपइट्ठ-अमर - सिरियाभिसेय-तोरण-मेइणि-उदधिवर-पवरभवण - गिरिवर-वरायंससलवियगय - उसभ-सीह-चामर-पसत्थवत्तीसलक्खणधरीओ, हंससरित्थगतीओ, कोइलमहुर-गिराओ, कंता, सव्वस्स अणुमयाओ, ववगयवलिपलितवंगदुव्वन्न-वाधि-दोहग्गसोयमुक्काओ, उच्चत्तेण य नराण थोवूणमूसियाओ, सिंगारागारचारुवेसाओ, सुंदरथणजहणवयणकरचरणणयणा, लावण्णरूवजोव्वणगुणोववेया,नंदणवणविवरचारिणीओ व्व अच्छ-राओ उत्तरकुरुमाणुसच्छराओ अच्छेरगपेच्छणिज्जियाओ तिन्नि य पलिओवमाइं परमाउं पालयित्ता ताओ वि उवणमंति मरण-धम्मं अवितित्ता कामाणं ॥ सू० १५॥

संस्कृतच्छाया

प्रमदा अपि च तेषां भवन्ति सौम्याः सुजातसर्वांगसुन्दर्यः,प्रधानमहिला-गुणैर्युक्ता, अतिकान्तविसर्पमाण-(विस्व-प्रमाण)-मृदुक - सुकुमालकूर्मसंस्थित-श्लिष्ट (विशिष्ट) चरणाः, ऋजुमृदुकपीवरसुसंहतांगुलीका, अभ्युन्नतरतिव-(रचित)-तलिनताम्रशुचिस्निग्धनखा, रोमरहितवृत्तसंस्थिताजघन्यप्रशस्त-लक्षणाऽकोप्यजंघायुगलाः, सुनिर्मितसुनिगूढजानुमांसलप्रशस्तसुबद्धसन्धयः, कंदलीस्तम्भातिरेकसंस्थितनिर्व्रणसुकुमालमृदुककोमलाऽविरलसमसहित - - सुजातवृत्तपीवरनिरन्तरोरवो, अष्टापदवीचिपृष्ठसंस्थितप्रशस्तविस्तीर्णपृथल-

श्रोणयो, वदनाऽयामप्रमाणद्विगुणितविशालमांसलसुबद्धजघनवरधारिण्यो, वज्रविराजितप्रशस्तलक्षणनिरुदराः, त्रिवलिवलित(क)तनुनमितमध्याः, ऋजुकसमसहितजात्यतनुकृष्णस्निग्धादेयलडहसुकुमालमृदुसुविभक्तरोमराजयो, गंगावर्त्तकप्रदक्षिणावर्त्ततरंगभंगरविकिरणतरुणबोधिताऽकोशायमानपद्म - गम्भीरविकटनाभयो, अनुद्भटप्रशस्तसुजातपीनकुक्षयः, सन्नतपार्श्वाः, सुजातपार्श्वाः संगतपार्श्वा,मितमात्रिकपीनरतिद (रचित)-पार्श्वा, अकरंडुक-कनकरुचकनिर्मलसुजातनिरुपहतगात्रयष्टयः, कांचनकलशप्रमाणसमसंहित-लष्टचूचुकाऽमेलकयमलयुगलवर्त्तितपयोधरा, भुजंगाऽनुपूर्वतनुकगोपुच्छवृत्त-समसंहितनमितादेयलडहबाहवस्ताम्रनखा, मांसलाग्रहस्ता, कोमलपीवर-वरांगुलीकाः,स्निग्धपाणिरेखा ,शशिसूरशंखचक्रवरस्वस्तिकविभक्तसुविरचित-पाणिरेखाः, पीनोन्नतकक्षवस्तिप्रदेशप्रतिपूर्णगलकपोला, चतुरंगुलसुप्रमाण-कम्बुवरसदृशग्रीवा, मांसलसंस्थितप्रशस्तहनुका, दाड़िमपुष्पप्रकाशपीवर-प्रलम्बकुंचितवराधरा, सुन्दरोत्तरोष्ठा, दधिदकरजःकुन्दचन्द्रवासन्तीमुकुला-च्छिद्रविमलदशना, रक्तोत्पलपद्मपत्रसुकुमालतालुजिह्वाः, करवीरमुकुला-ऽकुटिलाऽभ्युन्नतर्जुतुंगनासाः, शारदनवकमलकुमुदकुवलयदलनिकरसदृश-लक्षणप्रशस्ताऽजिह्मकान्तनयना, आनामित-चापरुचिरकृष्णाऽभ्रराजि-संगतसुजाततनुकृष्णस्निग्धभ्रूका, आलीनप्रमाणयुक्तश्रवणा, सुश्रवणा ,पीन-मृष्टगंडरेखाश्चतुरंगुलविशालसमललाटा , कौमुदीरजनीकरविमलप्रतिपूर्ण-सौम्यवदनाश्छत्रोन्नतोत्तमांगा,अकपिलसुस्निग्धदीर्घशिरोजाश्छत्रध्वजयूपस्तूप-दामिनीकमंडलुकलशवापीस्वस्तिकपताकायवमत्स्यकूर्मरथवरमकरध्वजांक- -स्थालांकुशाष्टापदसुप्रतिष्ठकाऽमर - श्रीकाऽभिषेकतोरणमेदिन्युदधि-वरप्रवरभवनगिरिवरवरादर्शसललितगजर्षभसिंहचामरप्रशस्तद्वात्रिंशल्लक्षण-धर्यो, हंससदृक्षगतयः, कोकिलमधुरगिरः, कान्ताः, सर्वस्याऽनुमता, व्यपगत-वलीपलितव्यंगदुर्वर्णव्याधिदौर्भाग्यशोकमुक्ता, उच्चत्वेन च नराणां स्तोकोन-मुच्छ्रिताः, शृंगारागारचारुवेषाः, सुन्दरस्तनजघनवदनकरचरणनयना, लावण्यरूपयौवनगुणोपपेता, नन्दनवनविवरचारिण्य इवाऽप्सरस उत्तर-कुरुमानुष्याऽप्सरस, आश्चर्यप्रेक्षणीयाः,त्रीणि च पल्योपमानि परमायूंषि पाल-यित्वा ताश्चाऽप्युपनमन्ति मरणधर्ममवितृप्ताः कामानाम् ॥ सू० १५॥

पदार्थान्वय (य) और (तेसिं) उनकी (पमदा वि) स्त्रियाँ भी (सोम्मा) सौम्य-शान्तस्वभाव वाली (सुजायसव्वंगसुंदरीओ) उत्तम सर्वांगों से सुन्दर, (पहाणमहिला-

गुणेहिं जुत्ता) महिलाओं के उत्तमोत्तम —प्रमुख गुणों से युक्त होती हैं। (अतिकंत-विसप्पमाणमउयसुकुमालकुम्मसंठियसिलिट्ठचलणा) उनके चरण अतिरमणीय, खासतौर से अपने शरीर के अनुपात में उचितप्रमाणोपेत अथवा चलते समय भी कोमल से कोमल, कछुए के समान उभरे हुए और मनोज्ञ होते हैं। (उज्जुमउयपीवरसुसाहंतगुलीओ) उनकी उंगलियां सीधी, कोमल, पुष्ट और परस्पर सटी हुई—छिद्ररहित होती हैं, (अब्भुन्नत-रइयतलिणतंबसुइनिद्धनखा) उनके नख ऊपर उठे हुए, आनन्ददायक, पतले, लाल, निर्मल और चमकीले होते हैं। (रोमरहियवट्टसंठिय अजहन्नपसत्थलक्खण-अकोप्प-जंघजुयला) उनकी दोनों जंघा-पिंडलियां रोओं से रहित, गोलाकार, असाधारण मांगलिक लक्षणों से युक्त व रमणीय (घृणारहित) होती हैं। (सुणिम्मितसुनिगूढजाणू) सुन्दर बने हुए, मांस से अच्छी तरह ढके हुए उनके घुटने होते हैं। (मंसलपसत्थसुबद्धसंधी) मांस से भरी हुई, श्रेष्ठ तथा नसों से बंधी हुई उनकी संधियां (जोड़) होती हैं। (कयलीखंभातिरेकसंठियनिव्वणसुकुमालमउयकोमल- अविरलसमसहितसुजायवट्टपीवर-निरंतरोरू) उनकी जंघाएं-सांथल केले के खंभे से भी अधिक सुंदर आकार वाले, घाव-दाग से रहित, अत्यन्त कोमल, सुकुमार, अन्तररहित, समप्रमाणवाली, सुन्दर लक्षणों से युक्त, अथवा सहनशील, सुगठित, गोल, पुष्ट एवं समान होती हैं, (अट्ठावयवीइपट्ठसंठियपसत्थविच्छिन्न-पिहुलसोणी) उनकी श्रोणि (नितंब) जूआ खेलने के पासों की लहरों वाले पट्टे के समान आकार वाली श्रेष्ठ, और विस्तीर्ण होती है। (वयणायामप्पमाणदुगुणियविसालमंसलसुबद्धजहणवरधारिणीओ) वे मुख की लंबाई के प्रमाण—१२ अंगुल—से दुगुने यानी चौबीस अंगुल विशाल, मांस से पुष्ट, गठे हुए, श्रेष्ठ जघन (कटि प्रदेश से नीचे का भाग, पेड़ू) को धारण करने वाली होती हैं। (वज्ज-विराइयपसत्थलक्खणनिरोदरीओ) वे मध्य में पतली होने से वज्र के समान शोभायमान, प्रशस्त लक्षणों से युक्त, कृश उदर-वाली होती हैं, (तिवलियवलियतणुनमियमज्झियाओ) उनके शरीर का मध्यभाग-उदर तीन रेखाओं से अंकित, कृश और झुका हुआ होता है। (उज्जुयसमसंहियजच्चतणुकसिणणिद्धआदेज्जलडहसुकुमालमउयसुविभत्त-रोमराइओ) उनकी रोमावली सीधी, एकसरीखी, परस्पर मिली हुई, स्वाभाविक, बारीक, काली, मुलायम, प्रशंसनीय, ललित, सुकुमार, कोमल और यथास्थान शोभायमान होती है। (गंगावत्तग-पदाहिणावत्ततरंगभंग-रविकिरण-तरुणबोधित-आकोसायंत - पउमगंभीरवियडनाभी) उनकी नाभि गंगानदी के भंवर के समान, दक्षिण की ओर चलने वाले भंवर—चक्कर से युक्त तरंगमाला के समान, सूर्य की किरणों से ताजे खिले हुए व बिना कुम्हलाए हुए कमल के समान गंभीर और विशाल

होती है। (अणुब्भडपसत्थसुजातपीणकुच्छी) उनकी कुक्षि नहीं उभरी हुई, प्रशस्त, सुन्दर और पुष्ट होती है। (सन्नतपासा) उनका पार्श्वभाग ठीक मात्रा में झुका हुआ, (सुजातपासा) सुगठित (संगतपासा) संगत अर्थात् जचता हुआ होता है। (मियमाइयपीणरइयपासा) उनका पार्श्वभाग प्रमाणोपेत—मित, उचित मात्रा में रचा हुआ, पुष्ट और सुख देने वाला है। (अकरंडुय-कणग-रुचय-निम्मल-सुजाय-निरुवह-यगायलट्ठी) उनकी गात्रयष्टि—देह उभरी हुई पीठ की अस्थि से रहित स्वभावतः शुद्ध हुए सोने से निर्मित रुचक नामक आभूषण के समान निर्मल या स्वर्णकान्ति से युक्त, अच्छी गठी हुई व रोगरहित होती है। (कंचणकलसपमाणसमसहियट्ठचूचुय-आमेलगजमलजुयलवट्टियपओहराओ) उनके दोनों पयोधर स्तन सोने के दो कलश के समान, प्रमाणोपेत, उठे हुए—उन्नत, समान, कठोर तथा मनोहर चूची वाले, तथा शिखर पर गोल होते हैं। (भुयंग- अणुपुव्व - तणुय - गोपुच्छ-वट्ट - सम - सहिय - नमिय - आदेज्ज - लडह - वाहा) उनकी दोनों भुजाएँ सर्प के समान क्रमशः पतली, गाय की पूँछ के समान गोल, एक सरीखी, शिथिलता से सहित, झुकी हुई, सुभग और ललित होती है। (तंवनहा) उनके नख तांबे के समान लाल होते हैं, (मंसलग्गहत्था) उनके हाथों की पहोंची—कलाई (या हथेली) मांस से पुष्ट होती है। (कोमलपीवरं-गुलीया) उनकी अंगुलियां बड़ी कोमल और पुष्ट होती हैं। (निद्धपाणिलेहा) उनके हाथों की रेखा बहुत चिकनी होती हैं, (ससिसूरसंखचक्कवरसोत्थियविभत्तसुविरइय-पाणिलेहा) तथा उनकी हस्तरेखाएँ चन्द्रमा, सूर्य, शंख, श्रेष्ठचक्र, और स्वस्तिक के चिह्नों से अंकित और सुन्दर बनी हुई होती हैं। (पीणुन्नयकक्खवत्थिप्पदेसपडिपुण्ण-गलकपोला) उनकी कांख और मलोत्सर्गस्थान पुष्ट व उन्नत होते हैं तथा गाल परिपूर्ण और गोल होते हैं। (चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा) उनकी गर्दन चार अंगुल ठीक प्रमाण वाली, श्रेष्ठ शंख के सदृश होती है। (मंसलसंठियपसत्थहणुया) उनकी ठुड्डी मांस से पुष्ट, सुस्थिर और प्रशस्त होती है। (दालिमपुप्फप्पगासपीवरपलंब-कुंचितवराधरा) उनके निचले ओठ दाड़िम—अनार के विकसित फूलों के समान लाल, कान्तिमान, पुष्ट, कुछ लंबे, सिकुड़े हुए और श्रेष्ठ होते हैं। (सुन्दरोत्तरोट्ठा) उनके ऊपर के ओठ भी बड़े सुन्दर होते हैं। (दधिदगरयकुंदचंदवासंतिमउलअच्छिद्द-विमलदसणा) उनके दांत दही, पत्ते पर पड़ी हुई बूंद, कुन्दपुष्प, चन्द्रमा, वासंती—चमेली की लता की कलियों के समान सफेद, छिद्र—अन्तररहित, और उजले होते हैं।

(रत्तुप्पलपउमपत्तसुकुमालतालुजीहा) वे रक्तोत्पल के समान लाल तथा क... के समान कोमल तालु और जीभ वाली होती हैं। (कणयीरमुउलऽकुडिलऽब्भु...तुंगनासा) उनकी नाक कनेर की कलियों के समान, वक्रता (टेढ़ेमेढ़ेपन) से रहित... उठी हुई, सीधी और ऊँची होती है। (सारदनवकमलकुमुदकुवलयदलनिगरसरिस... पसत्थ-अजिम्हकंतनयणा) उनकी आँखें शरदृतु के सूर्यविकासी ताजे कमल, ... विकासी कुमुदपुष्प, एवं नीलकमल के पत्तों के समूह के समान, लक्षणों से ... अकुटिल, (टेढ़ेपन से रहित) और रमणीय होती हैं। (आनमियचावरुइलकिण्हब्भ... संगय-सुजायतणूकसिणनिद्धभुमगा) उनकी भौंहें कुछ नमाये हुए धनुष के समान ... हर, काले-काले बादलों की पंक्ति के समान, सुन्दर, पतली, काली ... चिकनी होती हैं। (अल्लीणपमाणजुत्तसवणा) उनके कान परस्पर सटे हुए, शरीर... नाप से युक्त होते हैं। (सुस्सवणा) उनके कानों की श्रवणशक्ति अच्छी होती... (पीणमट्ठगंडलेहा) उनकी कपोलरेखा पुष्ट, साफ और मुलायम होती है। (चउरं... विसालसमनिडाला) उनका ललाट चार अंगुल चौड़ा और सम (विषमतारहित, ... है। (कोमुदिरयणिकरविमलपडिपुन्नसोमवयणा) उनके मुख चांदनी से यु... पूर्ण चन्द्रमा के समान गोल व सौम्य होते हैं। (छत्तुन्नयउत्तमंगा) उनके ... के समान उन्नत—उभरे हुए और गोल होते हैं। ... उनके मस्तक के बाल अकपिल—काले, चिकने और लम्बे-लम्बे होते ...

...जुय-थूभ-दामिणि-कमंडलु-कलस-वावि-सोत्थिय-पडाग ... अंक-थाल-अंकुस-अट्ठावय-सुपइट्ठ-अमर-सिरियाभिसेय-तोरण ... भवण-गिरिवर-वरायंस-सललियगय-उसभ-सीह-चामर-पसत्थ-...

१ छत्र, २ ध्वजा, ३ यज्ञस्तम्भ, ४ स्तूप, ५ दामिनी—माला, ... ८ वापी, ९ स्वस्तिक, १० पताका, ११ यव—जौ, १... १४ प्रधान रथ, १५ मकरध्वज—कामदेव, १६ वज्र—हीरा ... १८ अंकुश, १९ चौपड़ या शतरंज जिस पर खेली जाती ... वस्त्रविशेष, २० स्थापनिका—ठवणी या ऊँचे पैंदे... २२ लक्ष्मी का अभिषेक, २३ तोरण—बंदनवार या ... २४ पृथ्वी, २५ ... छत्र, २७ ... २९ ... ४२ ...

को ...

सरीखी होती है। (...

हैं, (कंता) वे विशेष कान्तिवाली—कमनीय एवं (सव्वस्स अणुमयाओ) सब लोगों को अनुमत-प्रिय लगने वाली होती हैं। (ववगयवलिपलितवंगदुवन्नवाधि-दोहग्ग-सोयमुक्काओ) वे चेहरे पर झुर्रियों, सफेद बालों, अंगहीनता—अपंगपन, कुरूपता, व्याधि-बीमारी, दुर्भाग्य—सुहाग से रहितता, तथा शोक—चिन्ता से मुक्त होती हैं, (य) और (उच्चत्तेण) ऊँचाई में (नराण थोवूणमूसियाओ) पुरुषों से कुछ कम ऊँची होती हैं,(सिंगारागारचारुवेसाओ) वे शृंगार की घर होती हैं,उनकी वेशभूषा बहुत ही सुन्दर होती है। (सुंदरथण-जघण-वयण-कर-चरण-णयणा) उनके स्तन,कमर के आगे का हिस्सा–पेडू, मुख—चेहरा,हाथ, पैर और नेत्र बड़े सुन्दर होते हैं। (लावन्नरूवजोवण्ण-गुणोववेया) वे लावण्य, रूप और यौवन के उत्तम गुणों से सम्पन्न होती हैं। (नंदण-वण विवरचारिणीओ अच्छराओ व्व) वे ऐसी लगती हैं, मानो नंदनवन में विचरण करने वाली अप्सराएँ हों, वास्तव में वे (उत्तरकुरुमाणुसच्छराओ) उत्तरकुरुक्षेत्र की मानवी अप्सराएँ होती हैं। (अच्छेरग-पेच्छणिज्जाओ) वे आश्चर्यपूर्वक दर्शनीय—देखने जैसी (होंति) होती हैं। (य) तथा (तिन्नि) तीन (पलिओवमाइं) पल्योपम की (परमाउं) उत्कृष्ट आयु को (पालयित्ता) पाल कर—भोग कर (ताओ वि) वे भी (कामाणं अवितित्ता) कामभोगों से अतृप्त ही, (मरणधम्मं) मृत्यु को—कालधर्म को, (उवणमंति) प्राप्त होती हैं।

मूलार्थ—और उन अकर्मभूमि—भोगभूमि के मनुष्यों की स्त्रियाँ भी सौम्य—शान्त स्वभाव वाली, भलीभांति रचित सभी अंगों से सुन्दर और महिलाओं के मुख्य-मुख्य गुणों से युक्त होती हैं। उनके चरण अत्यन्त कमनीय, चलते समय कोमल वस्तुओं से भी अतिकोमल, सुकुमार, कछुए की तरह बीच में उभरे हुए, मनोहर होते हैं। उनकी अंगुलियाँ सीधी,कोमल, पुष्ट और परस्पर सटी हुई होती है, उनके नख आगे को उठे हुए, सुखद या सुरचित, पतले, तांबे के समान लाल,साफ एवं चिकने होते हैं। उनकी दोनों जंघाएँ—पिंडलियाँ रोओं से रहित, छाते की-सी उभरी हुईं, गोलमटोल, उत्तम और मांगल्यचिह्नों से युक्त, और देखने वालों को प्रिय होती हैं। उनके घुटने अच्छी तरह से बने हुए और मांस से ढके होने से अच्छे लगते हैं। उनकी संधियाँ जोड़ मांस से पुष्ट, प्रशस्त और सुगठित—परस्पर बंधी हुई होती हैं। उनके दोनों उरू—पिंडलियों के ऊपर के भाग, जांघें—केले के खंभे से भी अधिक

गठे हुए, व्रण से रहित, सुकुमाल, मुलायम एवं चिकने होते हैं, तथा अन्तररहित समप्रमाण वाले, सुन्दर, गोल और सुपुष्ट होते हैं। उनकी श्रोणि (कटितट) जूए या चौपड़-शतरंज खेलने के पट्ट के ऊपर खींची हुई लहरों के समान आकार वाली रेखाओं सरीखी, सुन्दर लक्षणों सहित अथवा सहनशील, विस्तीर्ण और पृथुल होती है। वे अपने मुंह की लम्बाई के प्रमाण (बारह अंगुल) से दुगुनी (यानी २४ अंगुल) लम्बी, विशाल, मांस से पुष्ठ, सुगठित जघन—कमर के आगे के भाग—पेड़ू को धारण करने वाली होती हैं, उनका उदर—पेट बीच में पतला—कृश होने से वज्र के समान शोभायमान, श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त और अत्यन्त कृश होता है। उनके शरीर का मध्य भाग त्रिवलियों—तीन रेखाओं से अंकित, पतला, और झुका हुआ होता है। उनकी रोमराजि सीधी, एक सरीखी, परस्पर जुड़ी हुई, स्वाभाविकरूप से बारीक, काली, चिकनी, आकर्षक, ललित, सुकुमार, मुलायम और अलग-अलग रोमों से युक्त होती है। उनकी नाभि गंगानदी के भँवर एवं दक्षिण की ओर चक्कर लगाने वाली तरंगों के समान,सूर्य की किरणों के छूते ही ताजे नये खिले हुए व कोश से अलग हुए कमल के समान गंभीर और विशाल होती है। उनकी कुक्षि कुख बाहर नहीं उभरी हुई—अप्रकट, प्रशस्त, श्रेष्ठ और पुष्ट होती है। उनके पार्श्वभाग (कांख से नीचे का भाग—बगलें) नीचे की ओर अच्छी तरह झुके हुए होते हैं, सुन्दर होते हैं, जचते हुए—संगत होते हैं, वे उचित परिमित प्रमाण से युक्त, परिपुष्ट और आनन्ददायक होते हैं। उनकी गात्रयष्टि देहरूपी यष्टि स्वाभाविक रूप से शुद्ध-साफ सोने के रुचक—एक प्रकार के आभूषण की तरह निर्मल—स्वच्छ—धूल से रहित, सुनिर्मित एवं रोगादि से रहित होती है। उनके दोनों स्तन सोने के कलशों की तरह गोल, उन्नत, समान, कठिन, मनोहर, जुडवां जैसे, अग्रभाग पर लगी हुई दो चूचियों से युक्त और बढ़े हुए होते हैं। उनकी दोनों बांहें सांप के समान क्रमशः पतली, गाय की पूंछ के समान गोल, एक सरीखी, शिथिलतारहित, झुकी हुई, आकर्षक और रमणीय होती हैं। उनके नख तांबे के समान लाल होते हैं। उनके हाथ के पंजे मांस से परिपुष्ट होते हैं, उनके हाथों की उंगली कोमल, पुष्ट और उत्तम होती हैं; उनके हाथों की रेखाएँ चिकनी होती हैं; उनके हाथों की रेखाएँ चन्द्रमा, सूर्य, शंख, श्रेष्ठ चक्र, स्वस्तिक आदि विभिन्न चिह्नों से भलीभांति अंकित होती है। उनकी कांखें और मलोत्सर्ग का स्थान-

गुह्य प्रदेश उभरे हुए हैं। और परिपूर्ण गोल-गोल गाल होते हैं। उनकी गर्दन चार अंगुल ठीक प्रमाण वाली, श्रेष्ठ शंख के समान होती है; उनकी ठुड्डी मांस से भरी हुई, पुष्ट और आकार में श्रेष्ठ होती है। उनके निचले ओठ अनार के फूल के समान चमकदार, लाल-लाल, पुष्ट, कुछ लंबे और सिकुड़े हुए होते हैं, उनके ऊपर के ओठ भी बड़े सुन्दर होते हैं। उनके दांत दही, जल की बूंदों, कुन्द के फूलों, चन्द्रमा, वासंती—चमेली की बेल की कलियों के समान तथा अन्तररहित एवं अत्यन्त उजले होते हैं। उनके तालु और जीभ लाल कमल के समान लाल और कमल के पत्तो के समान कोमल होते हैं। उनकी नाक कनेर की कलियों के समान टेढ़ेपन से रहित, आगे से अंदर को और उठी हुई, सीधी और ऊँची होती हैं। उनकी आँखें शरदऋतु के ताजे सूर्यविकासी कमल और चन्द्रविकासी कुमुदपुष्प तथा नीलकमल के पत्तों के ढ़ेर के समान एवं लक्षणों से श्रेष्ठ, अकुटिल या तेजस्वी और प्रिय होती है। उनकी भौंहें कुछ नमाये हुए धनुष के समान मनोहर, काले-काले बादलों की घटाओं की-सी सुन्दर, पतली, काली और चिकनी होती है। उनके कान अच्छी तरह लगे हुए और प्रमाणोपेत होते हैं। उनकी श्रवणशक्ति अच्छी होती है, उनके कपोलतट पुष्ट और चिकने होते हैं, उनका ललाट चार अंगुल चौड़ा और विषमतारहित होता है। उनका मुख चांदनी से युक्त निर्मल पूर्ण चन्द्रमा के समान गोल और सौम्य होता है। उनका मस्तक छाते के समान गोल और उभरा हुआ होता है। उनके मस्तक के केश भूरे नहीं, किन्तु काले, चिकने और लंबे-लंबे होते हैं। वे छत्र, ध्वज, यज्ञस्तम्भ, स्तूप, दामिनी—माला, कमंडलु, कलश, बावड़ी, साथिया (स्वस्तिक), पताका, यव—जौ, मच्छ, कछुआ, श्रेष्ठ रथ, कामदेव, अंकरत्न—हीरा, थाल, अंकुश, जिस पर चौपड़ या शतरंज खेली जाती है वह पट्टा या कपड़ा, स्थापनिका—ठवणी या ऊँचे पेंदे का प्याला, देव, लक्ष्मी का अभिषेक, तोरण (गृहद्वार पर मेहराब या वन्दनवार) पृथ्वी, समुद्र, श्रेष्ठ भवन, उत्तम घर, उत्तम दर्पण, क्रीड़ा करते हुए हाथी, बैल, सिंह और चंवर, इन बत्तीस उत्तम लक्षणों को धारण करने वाली होती है। उनकी गति-चाल हंस के समान होती है। कोयल के समान उनकी मधुर वाणी होती है। वे कान्ति वाली और सर्वजनप्रिय होती हैं। वे मुख पर झुर्रियां, सफेद बालों और अपंगपन—अंगविकलता से रहित होती हैं तथा कुरूपता, व्याधि, दुर्भाग्य और शोक से मुक्त हैं। वे ऊँचाई में मनुष्यों से कुछ कम ऊँची होती हैं ये शृंगार का

घर होती हैं और उनकी वेशभूषा अत्यन्त सुन्दर और उजली होती है। उनके स्तन, पेडू, मुख, हाथ, पैर और नेत्र अत्यन्त सुन्दर होते हैं। वे लावण्य, सौन्दर्य और यौवन के गुणों से सम्पन्न होती हैं। वे नन्दनवन में विचरण करने वाली अप्सराओं के समान मानुषीरूप में उत्तरकुरुक्षेत्र की अप्सराएँ होती हैं, जो आश्चर्यपूर्वक देखने जैसी होती हैं। वे तीन पल्योपम की उत्कृष्ट आयु को भोग कर अन्ततः कामभोगों से अतृप्त ही मृत्यु पाती हैं।

व्याख्या

इससे पूर्व सूत्रपाठ में जिन भोगभूमि (अकर्मभूमि) के मनुष्यों का वर्णन किया है, उनकी पत्नियों का उससे आगे के सूत्रपाठ में वर्णन किया गया है। इस विस्तृत सूत्रपाठ में शास्त्रकार ने उत्तरकुरु-देवकुरुक्षेत्र की महिलाओं के उत्तमोत्तम गुणों और मांगल्यसूचक लक्षणों के अतिरिक्त उनके चरण, अंगुली, नख, जांघें, घुटने, संधियाँ, उरू, कमर, पेट, मध्यभाग, रोमावली, नाभि, कुक्षि, पार्श्वभाग, गात्रयष्टि, स्तन, बाहु, नख, पंजा, हाथों की उंगली, हस्तरेखा, कपोल, गर्दन, ठुड्डी, ओठ, दांत, तालु, जीभ, नाक, आंख, कान, भौंह, ललाट, मुख, मस्तिष्क, बाल, आदि प्रत्येक अंग-उपांग का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। अन्त में उनकी चाल-ढाल, आवाज, ऊँचाई, लोकप्रियता, कमनीयता, लावण्य, रूप, यौवन, वेशभूषा और निवास आदि का वर्णन भी किया है।

मतलब यह है कि शास्त्रकार ने उनकी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक योग्यता, प्रकृति और गुणों का सुन्दर चित्रण किया है।

इस वर्णन से पता चलता है कि ये सब महिलाएँ कृत्रिमताओं, फैशन और नखरों से काफी दूर होती हैं। जिस प्रकार भोगभूमि के पुरुष प्रकृति के अत्यन्त निकट होते हैं, वैसे ही वहाँ की ये महिलाएँ भी टापटीप और आडम्बर से अति दूर होती हैं। शरीर का जो स्वाभाविक सौन्दर्य, लावण्य, और स्वास्थ्य है, उसी पर वे निर्भर रहती हैं। यही कारण है कि इतने लम्बे वर्णन में कहीं भी यह बात नहीं बताई गई है कि उनके शरीर [illegible] आभूषण कौन-कौ[illegible] नखों और ओठों को विशेष लाल करने के [illegible] चीज लगाई [illegible] को विशेषरूप से चमकाने के लिए वे [illegible] या वासचूर्ण [illegible] दांतों को चमकाने के लिए, मिस्सी या म[illegible] या अंजन कौन-सी लगाती थीं? बालों को [illegible] ती थीं [illegible] कौन-सा [illegible] पहनती [illegible]

फिर [illegible] स्वरूप,

निश्चिन्त और रोगशोकमुक्त थीं, और वृद्धत्व से, सफेद बालों से, अंगविकलता से एवं चेहरे पर झुर्रियो आदि से वे रहित थीं।

कोई कह सकता है कि वे असभ्य और फूहड़ होंगी, उनमें आधुनिक सभ्यता नहीं होगी, इसलिए उनका जीवन सभ्य-जीवन नही होगा! इसका उत्तर एक ही पद में स्वय शास्त्रकार ने दे दिया है—'पहाणमहिलागुणेहिं जुत्ता' अर्थात्—वे मुख्य-मुख्य महिलागुणों से सम्पन्न होती है।

प्राचीनकाल में महिला के प्रधान गुणो मे ६४ कलाएँ मानी जाती थीं। ६४ कलाओं मे ऐसी कोई विद्या या कला बाकी नहीं रह जाती, जो महिलाओं के प्रधान गुणो की पूर्ति न कर सके। यह ठीक है कि भोगभूमि की स्त्रियां ६४ कलाओं का शिक्षण नही पाती थी, फिर भी उनका जीवन स्वभावतः ही कलापूर्ण था। इसलिए उन्हे असभ्य और फूहड़ कैसे कहा जा सकता है? वर्तमान की पढी-लिखी, फैशन-परस्त और शृंगारप्रिय,चालाक तथा कलहप्रिय युवतियों से तो कहीं अच्छी होती है वे। अत. प्रकृति से ही वे शान्त, सभ्य और नारी सुलभ लज्जा और संकोच से युक्त होती हैं।

उनके शरीर पर भले ही बाह्य अलकार नही होते; परन्तु उनके जीवन में निम्नोक्त दस स्वाभाविक अलंकार अवश्य होते हैं। कहा भी है—

'लीला-विलासो विच्छित्ति बिब्बोकः, किल किंचितं।
मोट्टायितं कुट्टमितं ललितं विहृतं तथा॥
विभ्रमश्चेत्यलंकाराः स्त्रीणां स्वाभाविका दश।'

यानी लीला, विलास, हावभाव, रूठना, क्रीड़ा करना, ललित कलाएँ बताना, अंगविन्यास, अभिनय, विभ्रम इत्यादि स्वाभाविक अलंकार भोगभूमि की उन महिलाओं मे भी होते हैं। वे शान्त, सौम्य, स्वतंत्र महिलाएँ होती हैं; कलहकारिणी, स्वार्थी, क्रूर और चालाक नही। वे मध्ययुग की रानियों की तरह अन्तःपुर में या केवल घर की चारदीवारी में बंद हो कर नही रहती है। इसीलिए उनके लिए शास्त्रकार ने कहा—'नंदणवणविवरचारिणीओ व्व अच्छराओ।' यानी वे नन्दनवन में विचरण करने वाली अप्सराओं की तरह स्वतंत्र विचरण करने वाली होती हैं।

महिलाओं का वर्णन क्यों?—अब प्रश्न यह होता है कि इस सूत्रपाठ मे भोगभूमि के केवल पुरुषों का ही वर्णन पर्याप्त था। इन महिलाओ का इतना विशद वर्णन करने का प्रयोजन क्या था?

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यह अब्रह्मचर्य का प्रकरण चल रहा है। और उसमे भी अब्रह्मसेवनकर्ताओं के निरूपण का प्रसंग है। अब्रह्मचर्य-सेवन का मूल आधार स्त्री है। यद्यपि स्त्री और पुरुष दोनो के संयोग से अब्रह्मचर्य की निष्पत्ति होती है, तथापि अब्रह्मचर्य-सेवन का पहला और मूल कारण स्त्री है। स्त्री के रूपरंग, हाव-भाव, कटाक्ष, विलास, अंग-विन्यास और

चालढाल को देख कर साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या, बड़े-बड़े योगियों और त्यागियों का मन भी चलायमान हो जाता है, इसलिए जो कामराग, दृष्टिराग और स्नेह-आसक्तिराग का मूल कारण है ; जिसके राग के वश हो कर ही पुरुष अपने मूल गुणों, व्रतों और नियमों को भूल जाता है ; वह स्त्री ही है।

यही कारण है कि शास्त्रकार ने भोगभूमि के पुरुषों की स्त्रियों का सांगोपांग वर्णन किया है।

पुनश्च—शास्त्रकार का अंगप्रत्यंगों के सहित नारियों का वर्णन करने के पीछे एक आशय यह भी हो सकता है कि किसी को यह कहने की गुंजाइश न हो कि भोगभूमि के पुरुषों के पास कामभोगसेवन के लिए स्त्रियाँ नहीं होतीं या अंगोपांग, लावण्य और सौन्दर्य में सर्वोत्तम नारियाँ नहीं होतीं। इसलिए वे कामभोगों को तरसते-तरसते ही मर जाते हैं ! उनके प्रत्येक के पास सुन्दर, सुशील, शान्त और यौवनसम्पन्न सर्वोत्तम स्त्री होती है। फिर भी वे कामभोगों को तरसते-तरसते अतृप्त अवस्था में ही इस लोक से विदा हो जाते हैं। यही तो स्त्री के आकर्षण की विशेषता है। कहा भी है—

'तिर्यञ्चो मानवा देवाः केचित् कान्तानुचिन्तनम्।
मरणेऽपि न मुञ्चन्ति, सद्योगं योगिनो यथा ॥'

अर्थात्—'प्रायः सभी तिर्यञ्च, मनुष्य और देव मृत्युशय्या पर पड़े-पड़े अपनी प्रिया के चिन्तन में मग्न रहते हैं। जैसे योगीश्वर अपने सच्चे योग को नहीं छोड़ता, वैसे ही वे मरणोन्मुख अवस्था में भी कामभोग का चिन्तन नहीं छोड़ते।'

जिस प्रकार पुरुष कामभोगों से तृप्त नहीं होते, वैसे ही स्त्रियाँ भी कामभोगों से तृप्त नहीं होतीं। उनकी कामवासना भी अतृप्त रहती है। शास्त्रकार ने यहाँ स्त्रियों का वर्णन करके यह बता दिया है कि कर्मभूमि की स्त्रियाँ, जिनके पास इतने सुखसाधन नहीं हैं, या जो रोग, शोक, दुःख दारिद्र्य आदि से ग्रस्त रहती हैं वे तो दूर रहीं, भोगभूमि की स्त्रियाँ, जिनके पास पर्याप्त सुखसाधन हैं, रोग, शोक आदि से जो कभी पीड़ित नहीं होतीं, वे भी कामभोगों से अतृप्त दशा में ही इस लोक से विदा होती हैं। इसीलिए अंत में स्पष्ट कहा है—

'ताओऽवि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं।'

बाकी के सारे सूत्रपाठ का अर्थ पदार्थान्वय एवं मूलार्थ से स्पष्ट है।

अब्रह्मचरण और उसका दुष्फल

पूर्व सूत्रपाठ में शास्त्रकार अब्रह्मचर्यसेवनकर्ता स्त्री - पुरुषों, देवदेवियों, चक्रवर्तियों, बलदेव-वासुदेवों और मांडलिकों का विशद निरूपण कर चुके। अब इस सूत्रपाठ में 'अब्रह्मचरण किस-किस तरीके से किया जाता है' और 'उसका कितना भयंकर फल प्राप्त होता है ?' इन दो बातों (द्वारों) का निरूपण करते हैं—

मूलपाठ

मेहुणसन्नासंपगिद्धा य मोहभरिया सत्थेहिं हणंति एक्कमेक्कं, विसयविसस्स उदीरएसु, अवरे (उदारा) परदारेहिं हम्मंति, विसुणिया धणनासं सयणविप्पणासं च पाउणंति। परस्स दाराओ जे अविरया मेहुणसन्नासंपगिद्धा य मोहभरिया अस्सा, हत्थी, गवा य, महिसा, मिगा य मारेंति एक्कमेक्कं, मणुयगणा वानरा य पक्खी य विरुज्झंति, मित्ताणि खिप्पं भवंति सत्तू, समये धम्मे गणे य भिंदंति पारदारी, धम्मगुणरया य बंभयारी खणेण उल्लोट्ठए चरित्ताओ,जसमंतो सुव्वया य पावेंति अयसकित्ति,रोगत्ता वाहिया पवड्ढिंडति रोयवाही, दुवे य लोया दुआराहगा भवंति---इहलोए चेव परलोए परस्स दाराओ जे अविरया, तहेव केइ परस्स दारं गवेसमाणा गहिया हया य बद्धरुद्धा य एवं जाव गच्छंति विपुल-मोहाभिभूयसन्ना। मेहुणमूलं च सुव्वए तत्थ तत्थ वत्तपुव्वा संगामा जणक्खयकरा सीयाए दोवईए कए रुप्पिणीए 'पउमावईए, ताराए, कंचणाए, रत्तसुभद्दाए, अहिन्नियाए, सुवन्नगुलियाए, किन्नरीए, सुरूवविज्जुमतीए य रोहिणीए य। अन्नेसु य एवमा-दिएसु बहवो महिलाकएसु सुव्वंति अइक्कंता संगामा गामधम्म-मूला (अवंभसेविणो) इहलोए ताव नट्ठा (विनट्ठकीत्ति) परलोए वि य णट्ठा महया मोहतिमिसंधकारे घोरे तसथावर-सुहुमवादरेसु पज्जत्तसाहारणसरीरपत्तेयसरीरेसु य, अंडज-पोतज-जराउय-रसज-संसेइम-संमुच्छिम-उब्भिय-उववादिएसु य नरग-तिरियदेवमाणुसेसु,जरामरणरोगसोगबहुले पल्लिओवमसागरोवमाइं अणादीयं अणवदग्गं दोहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टंति जीवा मोहवस(सं)संनिविट्ठा।

एसो सो अवंभस्स फलविवागो इहलोइओ पारलोइओ य

अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढ़ो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं न मुच्चति, न य अवेदइत्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति, एवमाहंसु नायकुलनंदणो महप्पा जिणो उ वीरवर-नामधेज्जो, कहेसी य अबंभस्स फलविवागं,एयं तं अबंभंपि चउत्थं सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स पत्थणिज्जं एवं चिरपरिचियमणुगयं दुरंतं चउत्थं अधम्मदारं समत्तं त्ति बेमि ॥४॥ (सू०१६)

संस्कृतच्छाया

मैथुनसंज्ञासंप्रगृद्धाश्च मोहभृताः शस्त्रैः घ्नन्ति अन्योऽन्यम्, विषय-विषस्य उदीरकेषु (उदारा) अपरे परदारैः (परदारेषु प्रवृत्ताः) हन्यन्ते, विश्रुता धननाशं च प्राप्नुवन्ति, परस्य दारेभ्यो ये अविरताः मैथुनसंज्ञासम्प्रगृद्धाः (संप्रगृह्याः) च मोहभृता अश्वा, गजाः, गावो, महिष्यः, मृगाश्च मारयन्ति परस्परम्। मनुजगणाः वानराश्च पक्षिणश्च विरुध्यन्ते, मित्राणि क्षिप्रं भवन्ति शत्रवः। समयान्, धर्मान्, गणान् च भिदन्ति परदारिणः। धर्मगुण-रताश्च ब्रह्मचारिणः क्षणेन अपवर्तन्ते चारित्रात्। यशस्वन्तः सुव्रताश्च प्राप्नु-वन्ति अयशःकीर्तिम्। रोगार्त्ताः, व्याधिताः प्रवर्द्धयन्ति रोगव्याधीन्। द्वावपि लोकौ दुराराधको भवतः,इहलोके चैव परलोके परस्य दारेभ्यो ये अविरताः। तथैव केचिद् परस्य दारान् गवेषयन्तो गृहीताः हताश्च बद्धरुद्धाश्च एवं यावद् गच्छन्ति विपुलमोहाभिभूतसंज्ञाः। मैथुनमूलं च श्रूयन्ते तत्र-तत्र वृत्त-पूर्वाः संग्रामाः जनक्षयकराः, सीतायाः द्रौपद्याः कृते रुक्मिण्याः पद्मावत्या-स्तारायाः कांचनायाः रक्तसुभद्रायाः अहिल्यायाः सुवर्णगुलिकायाः किन्नर्याः सुरूपविद्युन्मत्या रोहिण्याश्च। अन्येषु चैवमादिकेषु बहवो महिलाकृतेषु श्रूयन्ते अतिक्रान्ताः संग्रामाः ग्रामधर्ममूलाः। अब्रह्मसेविनः इह लोके तावन्नष्टा (इहलोकेऽपि नष्टकीर्तिः) परलोकेऽपि च नष्टाः महति महामोहतिमिरान्धकारे घोरे त्रसस्थावरसूक्ष्मबादरेषु पर्याप्ताऽपर्याप्तसाधारणशरीरप्रत्येक-शरीरेषु च अंडजपोतजजरायुजरसजसंस्वेदिमोद्भिज्जौपपातिकेषु च नरकतिर्यग्देवमानुषेषु जरामरणरोगशोकबहुले पल्योपमसागरोपमाण्यनादिकमनवदग्रं दीर्घाद्धं (दीर्घाध्वं) चातुरन्तसंसारकान्तारमनुपरिवर्तन्ते जीवाः मोहवशसंनिविष्टाः।

एष स अब्रह्मणः फलविपाकः, इहलौकिकः पारलौकिकश्च अल्पसुखः,

बहुदुःखः, महद्‌भयः, बहुरजःसंप्रगाढो, दारुणः, कर्कशः, असातः, वर्षसहस्रै र् मुच्यते, न च अवेदयित्वा अस्ति खलु मोक्षः, इति एवम् आख्यातवान् ज्ञात-कुलनन्दनो महात्मा जिनस्तु वीरवरनामधेयो, अचीकथत् च अब्रह्मणः फलविपाकम् एतम् तम्, अब्रह्म अपि चतुर्थं सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य प्रार्थनीयम् एवं चिरपरिचितम् अनुगतम् दुरन्तम्। चतुर्थं अधर्मद्वारं समाप्तम्, इति ब्रवीमि ॥४॥ (सू० १६)

पदार्थान्वय—(मेहुणसन्नासंपगिद्धा) मैथुनसेवन करने की संज्ञा—वासना में अत्यन्त आसक्त (य) और (मोहभरिया) अज्ञान—मूढ़ता या मोह—कामवासना से भरे हुए (एक्कमेक्कं) परस्पर एक दूसरे को (सत्थेहिं) शस्त्रों से (हणंति) मारते हैं। (अवरे) दूसरे कई लोग (विसयविसस्स उदीरएसु परदारेसु) शब्दादिविषयरूपी विष की उदीरणा करने वाली—बढ़ाने वाली—पराई स्त्रियों में प्रवृत्त हुए अथवा (विसय-विस—उदारा परदारेसु) विषयरूपी विष के वशीभूत अर्थात् अत्यन्त तीव्र होकर परस्त्रियों में प्रवृत्त हुए (हम्मंति) दूसरों द्वारा मारे जाते हैं। (विसुणिया) प्रसिद्ध हो जाने पर (धणनासं) धन का नाश (य) और (सयणविप्पणासं) अपने कुटुम्ब का नाश (पाउणंति) पाते हैं। (परस्स दाराओ) दूसरे की स्त्रियों से (जे अविरया) जो विरक्त नहीं हैं, वे (य) और (मेहुणसन्नासंपगिद्धा) मैथुन सेवन करने की संज्ञा—वासना में अत्यन्त आसक्त, (मोहभरिया) मूढ़ता या मोह से परिपूर्ण (अस्सा हत्थी गवा य महिसा य मिगा) घोड़े, हाथी, बैल, भैंसे और मृग या जंगली जानवर (एक्कमेक्कं) परस्पर लड़ कर एक दूसरे को (मारेंति) मार डालते हैं, (मणुयगणा) मानवगण, (य) तथा (वानरा) बंदर (य) और (पक्खी) पक्षीगण (विरुज्झंति) मैथुनवश पर-स्पर एक दूसरे के विरोधी हो जाते हैं। (मित्ताणि) मित्र, (खिप्पं) शीघ्र ही, (सत्तू) शत्रु (भवंति) हो जाते है। (परदारी) परस्त्रीगामी (समये,धम्मे, य गणे) सिद्धान्तों या शपथों का, धर्माचरण का—सत्य-अहिंसादि धर्म का, और गण—समान विचार-आचार वाले मानवसमूह का—समाज का,या समाज की मर्यादाओं का (भिंदंति) भंग कर डालते हैं—तोड़ देते हैं। (य) तथा (धम्मगुणरया) धर्म और गुणों में रत (बंभयारी) ब्रह्मचर्यपरायण व्यक्ति, मैथुनसंज्ञा के वशीभूत हो जाने पर (खणेण) क्षणभर में (चरित्ताओ) चरित्र संयम से (उल्लोट्टए) गिर जाते हैं—भ्रष्ट हो जाते हैं। (जसमंतो य सुव्वया) यशस्वी तथा भलीभाँति व्रत के पालन करने वाले मनुष्य (अयसकित्ति पावेंति) अपयश और अपकीर्ति को पाते हैं। (रोगत्ता वाहिया) ज्वरादि

जाने पर उन्हें अपने धन के नाश और कुटुम्ब का सर्वनाश ही मिलता है। इस प्रकार जो दूसरे की स्त्रियों के सेवन से विरक्त नहीं है, वे मैथुनसेवन की लालसा में अत्यन्त आसक्त एवं मूढ़ता मोह से परिपूर्ण घोड़े, हाथी, बैल, भैंसे एवं मृग—जंगली पशु परस्पर लड़ कर एक दूसरे को मारते हैं, तथा मनुष्य, बंदर और पक्षीगण परस्पर एक दूसरे के विरोधी हो जाते हैं, मित्र भी झटपट शत्रु बन जाते हैं। परस्त्रीगामी अपने सिद्धान्तों या शपथों अथवा वादों का, धर्माचरण का या अहिंसा-सत्यादि धर्म का और गण-समाज यानी समान आचार-विचार वाले जनसमूह का या समाज की मर्यादाओं का भंग कर डालते हैं—तोड़ देते हैं। तथा धर्म और गुणों में रत ब्रह्मचारी व्यक्ति भी मैथुनसंज्ञा के वशीभूत हो जाने पर क्षणभर में पतित हो जाते है, प्रतिष्ठित—यशस्वी तथा व्रतों का भलीभांति पालन करने वाले व्यक्ति भी अपयश और अपकीर्ति पाते हैं। ज्वरादिरोग से पीड़ित और कुष्ट आदिव्याधियों से ग्रस्त मानव कामसेवन की तीव्र लालसा के कारण अपने रोगों और व्याधियों को और ज्यादा बढ़ाते है। जो प्राणी पराई स्त्रियों के सेवन से अविरत है—विरक्त नहीं है, वे अपने इहलोक और परलोक—दोनों लोक बिगाड़ लेते है—उभय लोक में मुश्किल से आराधक बनते है। इसी प्रकार जो व्यक्ति पराई स्त्रियों की तलाश में ही रात-दिन लगे रहते है, वे गिरफ्तार किये जाते है, मारे-पीटे जाते है, रस्सी आदि बंधनों से बांधे जाते हैं और जेल में बंद किये जाते हैं। इस तरह तीव्रमोहनीय कर्म के उदय से उनकी सद्बुद्धि मारी जाती है। यों वे अपने दुष्कर्मों के फलस्वरूप नरक आदि नीची गति में जाते है। तृतीय अध्ययन का यहाँ तक का पाठ इससे सम्बन्धित मान लेना चाहिए।

तथा मैथुनसेवन के निमित्त से अनेक शास्त्रों में सीता के लिए द्रौपदी के लिए, रुक्मिणी के लिए,पद्मावती के लिए, तारा के लिए,कांचना के लिए, रक्तसुभद्रा के लिए, अहिल्या के लिए, सुवर्णगुटिका के लिए, किन्नरी के लिए, सुरूपविद्युन्मती के लिए और रोहिणी के लिए पूर्वकाल में जनसंहारक अनेक संग्राम होने के वर्णन सुने जाते है। इसी प्रकार अन्य स्त्रियों के लिए इन्द्रियविषयों के सेवन के निमित्त भूतकाल में हुए बहुत से संग्राम सुने जाते हैं। मैथुनसेवन करने वाले जीव इस लोक में भी परस्त्रीसेवन के कारण कलंकित हो कर नष्ट—भ्रष्ट हुए है, परलोक में भी वे विनष्ट हुए है—दुर्गतिगामी

बने हैं। महामोहान्धकार वाले तथा बुढ़ापा, मृत्यु, रोग और शोक से भरे हुए घोर परलोक में भी वे त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर जीवों में; पर्याप्त, अपर्याप्त, साधारणशरीरी और प्रत्येक शरीरी जीवों में और अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदिम (पसीने से उत्पन्न होने वाले जीव) उद्भिज्ज और औपपातिक जन्म वाले ऐसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति के जीवों में, पल्योपम और सागरोपम काल तक दुःख पाते हैं। मोह या मोहनीय कर्म से ग्रस्त जीव अनादि-अनन्त दीर्घकाल वाली या लंबे मार्ग वाली चतुर्गति रूप भयानक संसार-अटवी में भ्रमण करते हैं।

यह पूर्वोक्त अब्रह्माचरण से उत्पन्न कर्मों के फलविपाक-फल का भोग इस लोक में तथा परलोक में अल्पसुख और बहुत दुःख देने वाला है। यह महाभयानक है और गाढ़ कर्मरज के बंधन का कारण है। यह दारुण, कठोर और असाताजनक है। यह हजारों वर्षों में जा कर छूटता है। इसे भोगे बिना कदापि छुटकारा नहीं होता। इस प्रकार ज्ञातकुलनन्दन महात्मा महावीर जिनेन्द्र ने कहा है। वैसा ही इस पूर्वोक्त अब्रह्मसेवन के फलविपाक का वर्णन किया है। यह पूर्वोक्त अब्रह्म (मैथुन) भी देव, मनुष्य और असुरसहित समस्त सांसारिक जीवों द्वारा प्रार्थनीय—अभीष्ट है। इसी तरह यह चिरकाल से अभ्यस्त है। अनादिकाल से जीवों के साथ निरन्तर सम्बद्ध है, अन्त में दुःखदायी है, या दुःख से इसका अन्त होता है। यह चतुर्थ अधर्मद्वार समाप्त हुआ। ऐसा मैं (शास्त्रकार) कहता हूँ।

व्याख्या

शास्त्रकार ने पूर्व सूत्रपाठों में क्रमशः अब्रह्म के पर्यायवाची नामों का तथा अब्रह्म के स्वरूप और अब्रह्मसेवनकर्त्ताओं का निरूपण करने के बाद इस अन्तिम सूत्रपाठ में अब्रह्मसेवन के निमित्तों और उसके दुष्फलभोगों का संयुक्तरूप से वर्णन किया है। यद्यपि वर्णन स्पष्ट है, तथापि कुछ पदों पर तथा बीच-बीच में दिये गए दृष्टान्तों पर प्रकाश डालना आवश्यक है। अतः नीचे हम कुछ बातों पर प्रकाश डाल रहे हैं—

मेहुणसन्नासंपगिद्धा—कामवासना खुजली की तरह बड़ी मीठी लगती है। परन्तु खुजली को बारबार खुजलाने पर उस स्थान पर घाव हो जाता है और वहाँ खून टपकने लगता है। इसी प्रकार कामवासना की खुजली को भी बार-बार खुजलाने से

आपस में संघर्ष पैदा होता है। एक ही स्त्री पर आसक्त कई कामी लोगों में परस्प लाठियों, भालों, डंडों एवं तलवार आदि शस्त्रों से लड़ाई छिड़ जाती है लड़ाई जहाँ होती है, वहाँ परस्पर वैरभावना की आग बढ़ती जाती है और व सारे परिवार का, धन-सम्पत्ति का और कुल की प्रतिष्ठा एवं चारित्र का सर्वना कर देती है। इसीलिए शास्त्रकार ने इस सर्वनाश का सर्वप्रथम कारण मैथुनसं में अत्यन्त आसक्त जीवों को बताया है; फिर वे चाहे मनुष्य हों, चाहे पशु-पक्ष हों। निष्कर्ष यह है कि 'मैथुनसंज्ञा' ही मनुष्य को अपने आपका, परिवार का, धन सम्पत्ति का और कुलप्रतिष्ठा एवं चारित्रका भान भूला देती है।

मैथुनसंज्ञा और उसका अर्थ—संसार के समस्त प्राणियों को आहार, भय मैथुन और परिग्रह की चार संज्ञाओं ने बुरी तरह घेर रखा है। उनमे मैथुन की संज्ञा बड़ी भयंकर होती है और वह होती है नोकषायरूप चारित्रमोहनी कर्म के एक भेद—वेदकर्म के उदय से। साथ ही उसका उदय नौवें अनिवृत्तिकर नामक गुणस्थान के सवेदभाग तक रहता है। अतः मैथुनसंज्ञा का अस्तित्व सवेदभा के अनिवृत्तिगुणस्थानवर्ती मुनि तक मे माना गया है। लेकिन रतिक्रीड़ा इत्यादि के रूप में मैथुनसेवनरूप उसका कार्य पांचवें गुणस्थान तक ही होता है। इससे आगे छठे गुणस्थान से ले कर आगे के सभी गुणस्थानों में मैथुनसंज्ञा का कार्य नहीं होता।

मैथुनसंज्ञा किन-किन कारणों से पैदा होती है? इसके लिए एक आचार्य कहते हैं—

> 'पणीदरसभोयणेण य तस्सुवजोगे कुसीलसेवाए।
> वेदस्सोदीरणाए मेहुणसण्णा हवदि एवं॥'

अर्थात्—'इन्द्रियों में दर्प उत्पन्न करने वाले स्वादिष्ट या गरिष्ठ रसोंसे भोजन के करने से, पहले सेवन किये हुए विषयभोगों का स्मरण करने से, कुशीलसेवन करने से और मोहनीयकर्मजनित वेद की तीव्र उदीरणा-उत्तेजना या तीव्र कर्मोदय होने से मैथुनसंज्ञा उत्पन्न होती है।'

उपर्युक्त गाथा के द्वारा मैथुनसंज्ञा के अन्तरंग और बहिरंग कारणों का साफतौर से पता लग जाता है।

प्रश्न होता है कि यहाँ मैथुनशब्द के आगे 'संज्ञा' शब्द का क्या प्रयोजन है? क्योंकि मैथुनशब्द का अर्थ ही अब्रह्मसेवन होता है, फिर संज्ञा-शब्द के लगाने का

१—इन चारों संज्ञाओं का विस्तृतस्वरूप जानने के लिए जैनशास्त्रों तथा जैनग्रन्थों

क्या अर्थ रह जाता है ? इसका उत्तर 'संज्ञा' शब्द का वास्तविक अर्थ ज्ञात होने से हो जायगा । संस्कृतभाषा में 'संज्ञा' शब्द के कई अर्थ हैं । इस सम्बन्ध मे मेदिनीकोष का निम्नोक्त प्रमाण प्रस्तुत है —

'संज्ञा नाम्नि गायत्र्यां, चेतनारविवोषितोः ।
अर्थस्य सूचनायां च, हस्ताद्यै रपि योषिति ॥'

अर्थात्—'स्त्रीलिंगवाची संज्ञा शब्द का प्रयोग नाम, गायत्री, चेतना (होश में आना-बाहोशी), सूर्य की स्त्री, हाथ आदि से किसी बात के लिए संकेत करना, इत्यादि अर्थों मे होता है । परन्तु यहाँ संज्ञा शब्द न तो किसी के नाम के अर्थ मे है, न गायत्री अर्थ मे, न सूर्यपत्नी के अर्थ में और न संकेत करने के अर्थ मे है । यहाँ सीधेतौर पर संज्ञा शब्द चेतना-अर्थ में भी प्रतीत नही होता । वास्तव में जैनदर्शन में संज्ञा-शब्द पारिभाषिक है, और वह दो अर्थों मे प्रयुक्त होता है । एक तो मन के व्यापार रूप अर्थ में संज्ञाशब्द का प्रयोग होता है । जैसे— संज्ञी और असंज्ञी जीव । यहाँ संज्ञी का मतलब है मन के व्यापार—संज्ञा वाला जीव । दूसरा संज्ञा-शब्द वासना या अभिलाषा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । यहाँ मैथुनशब्द के साथ संज्ञाशब्द लगाने से प्रसंगवश कामसेवन की अभिलाषा या वासना अर्थ ही संगत लगता है ।

केवल मैथुन-शब्द के रहने से तो पांचवें गुणस्थान तक रहने वाली मैथुनक्रिया का ही बोध होता । लेकिन मैथुन की वासना या अभिलाषा अव्यक्त रूप से तो नौवें गुणस्थान तक रहती है । इसलिए इस बात को द्योतित करने के लिए ही शास्त्रकार ने मैथुन-शब्द के साथ संज्ञाशब्द जोड़ा है । यही कारण है कि आगे चल कर शास्त्रकार ने स्पष्ट कर दिया है कि - 'धम्मगुणरया य बंभयारी खणेण उल्लोट्टए चरित्ताओ ।' अर्थात्— मैथुनसंज्ञा के बढ़ जाने पर अहिंसा-सत्यादि चारित्रधर्म और सद्गुणों में रत और ब्रह्मचर्यनिष्ठ मुनि, साधु, संन्यासी और योगी भी क्षणभर मे चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं । इसीलिए यहाँ मैथुनसंज्ञा को सर्वनाश का सर्वप्रथम कारण बताया है ।

इसके अतिरिक्त शास्त्रकार ने इसी सूत्रपाठ में आगे चल कर जिन भयंकर अनर्थों— परस्पर शस्त्राघात, मारपीट, जीवनाश, युद्ध और संघर्ष आदि का वर्णन किया है ; उन सब अनर्थों की खान मैथुनसंज्ञा ही है । इसलिए 'मेहुणसन्नासंपगिद्धा' शब्द से शास्त्रकार का एक तात्पर्य यह भी मालूम होता है कि मैथुनसंज्ञा में आसक्ति रखने वाले जीवों की दशा को जान कर मैथुनसंज्ञा के कारणों से संभ्रान्त व्यक्ति बचा रह सकता है । चूंकि मैथुनसंज्ञा से इस जन्म और परजन्म में आत्मा का अहित होता है, अतः उससे बचना ही श्रेयस्कर है ।

मोहभरिया'—अब्रह्मचर्य में प्रवृत्त होने वाले जीवों के लिए दूसरा कारण बन जाता है—'मोह' । यह मोह ही है, जो मनुष्य को विवेकान्ध बना देता है, हिताहित का भान भुला देता है ; जो मनुष्य के ज्ञानचक्षुओं पर पर्दा डाल देता है । मोह से

मूढता, जड़ता, अज्ञानता और विवेकविकलता पैदा होती है। मनुष्य अपनी शक्तियों का सदुपयोग करने के बदले दुरुपयोग कर बैठता है। मैथुनसंज्ञा भी मोहनीयकर्म के तीव्र उदय से होती है। दर्शनमोहनीय देव, गुरु, धर्म और आत्मा के गुणों पर श्रद्धा नहीं जमने देता ; वह सम्यक् विश्वास को उखाड़ फेंकता है। और चारित्र-मोहनीय आत्मा में चारित्र के गुणों को उत्पन्न नहीं होने देता ; वह चारित्र का पालन करने में बाधक बनता है। त्याग, प्रत्याख्यान, असंयम से विरति, संयम में पराक्रम आदि समस्त चारित्रगुणों का वह नाश कर देता है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव पापक्रियाओं को सुखदायी समझ कर उनमें अधिकाधिक प्रवृत्त होता जाता है। इसीलिए शास्त्रकार ने संकेत किया है कि मोह से ग्रस्त हुए जीव इस लोक में सदा भयोत्पादक, शरीर को सत्त्वहीन व क्षीण बना देने वाले और मन को सदा उद्विग्न तथा विक्षुब्ध बना देने वाले मैथुन का सेवन बेखटके करते हैं।

सत्थेहिं हणंति एक्कमेक्कं इस वाक्य में कामीपुरुषों की दशा का वर्णन किया गया है। मोहान्ध कामीजन क्षणिक विषयतृप्ति के लिए परस्पर एक दूसरे को प्राणरहित कर देते हैं। कहा भी है—

'भङ्क्त्वा भाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर् भृशम् ।
मृत्वाऽपि स्वयमस्तभीतिकरुणः सर्वान् जिघांसुर्मुधा ॥
यद्यत्साधुविगर्हितं हतमिति तस्यैव धिक् कामुकः ।
कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ॥'

अर्थात्—कामी पुरुष पापों से निर्भय एवं जीवदया से रहित हो कर अपने भावी जन्मों को बिगाड़ देता है ; तथा अपने प्राणों को खो कर भी काले नाग के समान भयंकर भोगों को भोगने की तीव्र इच्छा करता है। जिस मैथुन आदि कुकृत्य को सत्पुरुषों ने निन्दित माना है—आत्मा से दूर किया है, धिक्कारा है, उसी की कामना करने वाला पुरुष काम और क्रोधरूपी महाग्रहों से ग्रस्त हुआ क्या-क्या दुष्कर्म नहीं कर डालता ? अर्थात् कामी पुरुष सभी पापकर्मों में बेखटके प्रवृत्त होते हैं।

मतलब यह है कि कामवासना में अन्धा हो कर मनुष्य अब्रह्मचर्य के साथ-साथ हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह और मोह, मद आदि अनेक पापों के करने में नहीं हिचकिचाता। सत्पुरुषों की बात उसके गले नहीं उतरती। इसीलिए कामी पुरुष असहिष्णु और आवेशयुक्त हो कर एक दूसरे को शस्त्र से मार डालते हैं।

'विसयविसस्स उदीरएसु अवरे परदारेहिं हम्मंति'—कुछ लोग, जो विषयरूपी विष को उत्तेजित करने वाली-बढ़ावा देने वाली परस्त्रियों में प्रवृत्त होते हैं ; दूसरों द्वारा मार डाले जाते हैं। वास्तव में देखा जाय तो विषयों को जन्म देने वाली एवं [illegible] मैथुनसंज्ञा होती है ; लेकिन

उनकी उस कामवासना को भड़काने में प्रबल निमित्त बनती है—स्त्री ! गृहस्थजीवन में अणुव्रती श्रावक,जिसने स्वदारसंतोष-परदारविरमणव्रत ग्रहण किया है,वह अपनी विवाहिता स्त्री के साथ कामभोग-सेवन करता है, उसके लिए वह लोगों के लिए निन्दा या घृणा का पात्र नही बनता और न कोई व्यक्ति उसे मारपीट सकता है; लेकिन परस्त्री के साथ तो तभी व्यक्ति की काम-प्रवृत्ति होती है, जब उसकी वासना अत्यन्त भड़क उठती है। और ऐसा व्यक्ति जनता की दृष्टि मे निन्दित, अपमानित माना जाता है, कोई न कोई व्यक्ति अथवा स्वयं उस स्त्री का पति ही उसे मार डालता है।

'विसुणिया धणनासं, सयणविप्पणासं च पाउणंति'—इतना ही नहीं, जो पुरुष परस्त्रीगामी हों ; साथ ही अपनी जाति, समाज या राष्ट्र मे प्रसिद्ध भी हों, वे अपने प्राणों से ही हाथ नही धो बैठते, अपितु अपने धन को भी (अपने उस कलंक को छिपाने या ऐब को दबाने के लिए) स्वाहा कर देते हैं अथवा अपने उस महापाप के कारण सारे परिवार के प्राणों को संकट मे डाल देते हैं। रावण आदि परस्त्रीसगकामी दुरात्मा अपने परिवार का विनाश कराने में कारण हुए है।

'परस्स दाराओ ...अस्सो हत्थी गवा य महिसा मिगा य मारेंति एक्कमेक्कं''—केवल मनुष्यो मे ही नही ; पशुपक्षियों में भी यह देखा जाता है कि अपनी प्रिया मादा के साथ दूसरा नर पशु या पक्षी प्रेम करने लगता है तो वे परस्पर लड़ते हैं और एक दूसरे को मार डालते हैं। घोड़ों, हाथियों, सांडो, भैंसों, बंदरो या हिरण आदि पशुओ एवं पक्षियो में यह मनोवृत्ति पाई जाती है कि वे अपनी प्रेमिका मादा के साथ दूसरे नरपशु को बैठे या कामक्रीड़ा करते देखते हैं तो उसे सह नहीं सकते हैं। वे मौका देख कर अपने प्रतिद्वन्द्वी को मार डालते हैं। कई मनुष्य,बंदर या पक्षी अपनी प्रेमिका के साथ किसी नर-पशु या पक्षी को देखते ही परस्पर लड़ने लगते हैं। अच्छे से अच्छे गाढ या जिगरी दोस्त भी जब अपने दोस्त को परस्त्रीगमन करते देखते हैं, तो वे मित्रता छोड़ देते हैं, परस्पर शत्रुता धारण कर लेते हैं।

समये, धम्मे, गणे य भिंदंति पारदारी'—परस्त्रीगामी मनुष्य का कोई धर्मकर्म नहीं होता। वह अभक्ष्य चीजों को भक्षण करने या अपेयवस्तुओं को पीने के लिए तैयार हो जाता है, अपने समाज को भी तिलांजलि दे बैठता है। वह समाज की मर्यादाओं को भी तोड़ देता है। समान आचारविचारो का जनसमूह गण कहलाता है। वह गण आसानी से धर्ममर्यादाओं के पालन करने के लिए जिन आचारविचारो या धर्मों—नियमों, व्रतों की मर्यादा बांधता है, उसे भी परदारसेवी बेखटके तोड़ डालता है। वह सिद्धान्तो को ताक में रख देता है, अपने स्वीकृत शपथों को भी भंग कर देता है। उसका कोई भरोसा नही करता।

मूढता, जड़ता, अज्ञानता और विवेकविकलता पैदा होती है। मनुष्य अपनी शक्तियों का सदुपयोग करने के बदले दुरुपयोग कर बैठता है। मैथुनसंज्ञा भी मोहनीयकर्म के तीव्र उदय से होती है। दर्शनमोहनीय देव, गुरु, धर्म और आत्मा के गुणों पर श्रद्धा नहीं जमने देता ; यह सम्यक् विश्वास को उखाड़ फैंकता है। और चारित्र-मोहनीय आत्मा में चारित्र के गुणों को उत्पन्न नहीं होने देता ; वह चारित्र का पालन करने में बाधक बनता है। त्याग, प्रत्याख्यान, असयम से विरति, संयम मे पराक्रम आदि समस्त चारित्रगुणों का वह नाश कर देता है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव पापक्रियाओं को सुखदायी समझ कर उनमें अधिकाधिक प्रवृत्त होता जाता है। इसीलिए शास्त्रकार ने संकेत किया है कि मोह से ग्रस्त हुए जीव इस लोक मे सदा भयोत्पादक, शरीर को सत्त्वहीन व क्षीण बना देने वाले और मन को सदा उद्विग्न तथा विक्षुब्ध बना देने वाले मैथुन का सेवन बेखटके करते हैं।

सत्थेहि हणंति एक्कमेक्कं इस वाक्य में कामीपुरुषों की दशा का वर्णन किया गया है। मोहान्ध कामीजन क्षणिक विषयतृप्ति के लिए परस्पर एक दूसरे को प्राणरहित कर देते हैं। कहा भी है—

> 'भङ्क्त्वा भाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर् भृशम्।
> मृत्वाऽपि स्वयमस्तभीतिकरुणः सर्वान् जिघांसुर्मुधा॥
> यद्यत्साधुविगर्हितं हतमिति तस्यैव धिक् कामुकः।
> कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः॥'

अर्थात्—कामी पुरुष पापों से निर्भय एवं जीवदया से रहित हो कर अपने भावी जन्मों को बिगाड देता है ; तथा अपने प्राणों को खो कर भी काले नाग के समान भयंकर भोगों को भोगने की तीव्र इच्छा करता है। जिस मैथुन आदि कुकृत्य को सत्पुरुषों ने निन्दित माना है—आत्मा से दूर किया है, धिक्कारा है, उसी की कामना करने वाला पुरुष काम और क्रोधरूपी महाग्रहों से ग्रस्त हुआ क्या-क्या दुष्कर्म नहीं कर डालता ? अर्थात् कामी पुरुष सभी पापकर्मों में बेखटके प्रवृत्त होते हैं।

मतलब यह है कि कामवासना मे अन्धा हो कर मनुष्य अब्रह्मचर्य के साथ-साथ हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह और मोह, मद आदि अनेक पापों के करने से नहीं हिचकिचाता। सत्पुरुषों की बात उसके गले नहीं उतरती। इसीलिए कामी पुरुष असहिष्णु और आवेशयुक्त हो कर एक दूसरे को शस्त्र से मार डालते हैं।

'विसयविसस्स उदीरएसु अवरे परदारेहिं हम्मंति'—कुछ लोग, जो विषयरूपी विष को उत्तेजित करने वाली-बढ़ावा देने वाली परस्त्रियों में प्रवृत्त होते हैं ; दूसरों द्वारा मार डाले जाते हैं। वास्तव मे देखा जाय तो विषयों को जन्म देने वाली एवं उत्तेजित करने वाली तो मनुष्य की कामुक मनोवृत्ति—मैथुनसंज्ञा होती है ; लेकिन

उनकी उस कामवासना को भड़काने में प्रबल निमित्त बनती है—स्त्री ! गृहस्थजीवन में अणुव्रती श्रावक,जिसने स्वदारसंतोष-परदारविरमणव्रत ग्रहण किया है,वह अपनी विवाहिता स्त्री के साथ कामभोग-सेवन करता है, उसके लिए वह लोगों के लिए निन्दा या घृणा का पात्र नही बनता और न कोई व्यक्ति उसे मारपीट सकता है; लेकिन परस्त्री के साथ तो तभी व्यक्ति की काम-प्रवृत्ति होती है, जब उसकी वासना अत्यन्त भड़क उठती है। और ऐसा व्यक्ति जनता की दृष्टि मे निन्दित, अपमानित माना जाता है, कोई न कोई व्यक्ति अथवा स्वयं उस स्त्री का पति ही उसे मार डालता है।

'विसुणिया धणनासं, सयणविप्पणासं च पाउणंति'—इतना ही नही, जो पुरुष परस्त्रीगामी हो ; साथ ही अपनी जाति, समाज या राष्ट्र मे प्रसिद्ध भी हों, वे अपने प्राणों से ही हाथ नही धो बैठते, अपितु अपने धन को भी (अपने उस कलक को छिपाने या ऐब को दबाने के लिए) स्वाहा कर देते हैं अथवा अपने उस महापाप के कारण सारे परिवार के प्राणों को सकट मे डाल देते हैं। रावण आदि परस्त्रीसगकामी दुरात्मा अपने परिवार का विनाश कराने मे कारण हुए हैं।

'परस्स दाराओ "'अस्सो हत्थी गवा य महिसा मिगा य मारेंति एक्कमेक्कं"—केवल मनुष्यों मे ही नही ; पशुपक्षियों मे भी यह देखा जाता है कि अपनी प्रिया मादा के साथ दूसरा नर पशु या पक्षी प्रेम करने लगता है तो वे परस्पर लड़ते हैं और एक दूसरे को मार डालते हैं। घोड़ों, हाथियों, सांडों, भैंसों, बंदरों या हिरण आदि पशुओं एव पक्षियों में यह मनोवृत्ति पाई जाती है कि वे अपनी प्रेमिका मादा के साथ दूसरे नरपशु को बैठे या कामक्रीड़ा करते देखते हैं तो उसे सह नहीं सकते हैं। वे मौका देख कर अपने प्रतिद्वन्द्वी को मार डालते हैं। कई मनुष्य,बदर या पक्षी अपनी प्रेमिका के साथ किसी नर-पशु या पक्षी को देखते ही परस्पर लडने लगते हैं। अच्छे से अच्छे गाढ या जिगरी दोस्त भी जब अपने दोस्त को परस्त्रीगमन करते देखते हैं, तो वे मित्रता छोड़ देते हैं, परस्पर शत्रुता धारण कर लेते हैं।

समये, धम्मे, गणे य भिंदंति पारदारी'—परस्त्रीगामी मनुष्य का कोई धर्मकर्म नही होता। वह अभक्ष्य चीजों को भक्षण करने या अपेयवस्तुओं को पीने के लिए तैयार हो जाता है, अपने समाज को भी तिलांजलि दे बैठता है। वह समाज की मर्यादाओं को भी तोड़ देता है। समान आचारविचारो का जनसमूह गण कहलाता है। वह गण आसानी से धर्ममर्यादाओं के पालन करने के लिए जिन आचारविचारों या धर्मों—नियमों, व्रतों की मर्यादा बांधता है, उसे भी परदारसेवी बेखटके तोड़ डालता है। वह सिद्धान्तों को ताक में रख देता है, अपने स्वीकृत शपथों को भी भंग कर देता है। उसका कोई भरोसा नही करता।

आशय यह है कि जो पहले सिद्धान्तवादी था, जिसकी बात को लोग पत्थर की लकीर मानते थे, वह परस्त्री के चक्कर में जब पड़ जाता है तो सिद्धान्त आदि से भ्रष्ट हो जाता है। कहा भी है—

'धर्मं शीलं कुलाचारं शौर्यं स्नेहं च मानवः।
तावदेव ह्यपेक्ष्यन्ते यावन्न स्त्रीवशो भवेत्॥'

अर्थात्—'मनुष्य तब तक ही धर्म, शील, कुलाचार, शौर्य, जाति, कुल और स्नेह की अपेक्षा करता है, जब तक वह किसी स्त्री के प्रेम में नहीं पड़ जाता।' बहुधा किसी सुन्दरी के मोह में पड़ने वाले धर्म, सदाचार, कुल की नीति-रीति, सिद्धान्त, स्नेह, जाति और समाज के साथ सम्बन्ध आदि सबको एक झटके में तोड़ फैंकते हैं। ऐसे लोग अपने उस ऐब या दोष को क्रान्ति के नाम से छिपाते है, समाज मे क्रान्तिकारी के नाम से वे अपने को प्रसिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। वास्तव में, ऐसा कामुक व्यक्ति खुद तो बिगड़ता है ही; अपने परिवार को भी बिगाड़ता है, समाज में भी गलत संस्कारों का चेप छोड़ जाता है।

'धम्मगुणरया य बंभचारी खणेण उल्लोट्टए चरित्ताओ'—बड़े-बड़े तपस्वी, धर्मात्मा, गुणवान और ब्रह्मचारी भी स्त्री के सम्पर्क, आसक्तिमय संसर्ग और जाल में फँस कर अपने सुन्दर चरित्र से भ्रष्ट या पतित हो जाते हैं। सामान्य मनुष्यों की तो बात ही क्या ? कहा भी है—

'श्लथसद्भावना - धर्मः, स्त्रीविलासशिलीमुखैः।
मुनियोंद्धा हतोऽधस्तान्निपतेच्छीलकुंजरात्॥'

अर्थात्—'कर्मशत्रुओं के साथ युद्ध करने वाला धर्मयोद्धा मुनिवर भी स्त्रियों के हावभाव और लीलारूपी बाणों से घायल होकर श्रेष्ठ भावनारूप अपने धर्म से शिथिल हो जाता है और ब्रह्मचर्यरूपी हाथी से नीचे गिर जाता है।' वास्तव मे स्त्री संसर्ग ही मोहवृद्धि का कारण होता है और उससे कामवासना अंकुरित होती है, जो अत्यधिक आसक्ति से फलती-फूलती है। रथनेमि जैसे त्यागी साधु भी एकान्त में सती राजीमती का रूप-लावण्य देख कर अपने संयम से चलायमान हो गए थे; मुनिश्रेष्ठ स्थूलभद्र के गुरुभ्राता कोशावेश्या पर मोहित होकर अपने संयम से पतित होने को उद्यत हो गए थे। जब इतने महान् संयमी भी स्त्री के जरा-से सम्पर्क से डोल गए, और अपने धर्म को तिलांजलि देने के लिए तैयार हो गए, तब भला, सामान्य व्यक्तियों का तो कहना ही क्या ?

'जसमंतो पावेंति अयसकित्ति, रोगत्ता वाहिया पवड्ढिंति रोयवाही'—बड़े-बड़े यशस्वी व्यक्ति, जिनकी दूर-दूर तक कीर्ति फैली हुई होती है, जो उत्तम व्रतधारी

हैं,वे भी स्त्री के प्रेमपाश में पड़ कर घोर अपयश, वदनामी और अपकीर्ति की कालिख अपने मुँह पर पोत लेते हैं। कहा भी है—

'अपकीर्तिकारणं योषित् योषिद् वैरस्य कारणम्।
संसारकारणं योषित्, योषितं वर्जयेन्नरः॥'

अर्थात्—स्त्री अपकीर्ति का कारण है, वैर का कारण है, इसी तरह नारी ससारवृद्धि का कारण भी है, अतः मनुष्य को स्त्री ससर्ग से दूर रहना चाहिए।

संसार मे उत्तम कार्यों के करने से मनुष्य की कीर्ति, प्रतिष्ठा और इज्जत वढ़ती है। ऐसा मनुष्य प्रशंसापात्र, सम्माननीय और सर्वमान्य बनता है; परन्तु जब मनुष्य कामवासना में अन्धा होकर किसी स्त्री के जाल में फँस जाता है तो वह लोगों की दृष्टि में गिर जाता है। लोग उसे नफरत की निगाहो से देखने लगते है। उसकी कोई प्रतिष्ठा या प्रशसा नही करता।

इसके अतिरिक्त स्त्री संसर्ग, जब कामभोग की तीव्र अभिलाषा से किया जाता है, तो उस व्यक्ति का शरीर अनेक बीमारियो और व्याधियो का घर बन जाता है। रोगी और व्याधिग्रस्त व्यक्ति स्त्रीसहवास करेगा तो उसकी बीमारी और व्याधि अवश्य ही बढ़ेगी। जिसका नतीजा यह होगा कि वह असमय मे ही बूढ़ा, अशक्त और जीर्ण होकर मौत का मेहमान बन जायगा। कहा भी है—

'सद्यो बुद्धिहरा तुंडी, सद्यो बुद्धिकरा वचा।
सद्यः शक्तिहरा नारी, सद्यः शक्तिकरं पयः॥'

अर्थात्—'तुंडी या कुंदरू का फल शीघ्र बुद्धि का ह्रास करता है। वचसे बुद्धि प्रखर होती है। इसका नियमितरूप से सेवन करने पर बुद्धि तीक्ष्ण होती है। स्त्री तत्काल शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनो शक्तियों का हरण कर लेती है और दूध पीने से तत्काल शक्ति आती है।'

मतलब यह है कि स्त्री के प्रति कामवासना जागते ही या उससे संसर्ग करते ही वह मन और तन दोनों को कमजोर बना देती है। और आत्मा तो इन दोनो के क्षीण होते ही निर्बल बन जाती है।

एक अन्य नीतिकार ने तो यहां तक कह दिया है—

'दर्शनाद् हरते चित्तं, स्पर्शनाद् हरते बलम्।
चिन्तनाद् हरते बुद्धिं, स्त्री प्रत्यक्षराक्षसी॥'

'स्त्री का दर्शन ही चित्त का हरण कर लेता है, उसका स्पर्श बल को नष्ट कर देता है, स्त्री के चिन्तन से बुद्धि नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। इसलिए स्त्री वास्तव में प्रत्यक्ष राक्षसी है।'

स्त्री का दर्शन और स्पर्शन तो दूर रहा, उसका मन में चिन्तन भी मनुष्य का सत्त्व चूस लेता है। उसकी शारीरिक और मानसिक शक्ति तो चिन्तन मात्र से क्षीण हो जाती है।

किसी नीतिकार ने कहा है—

'व्रण-श्वयथुरायासात् स च रोगश्च जागरात्।
तौ च रक्तौ दिवा स्वापात् ते च मृत्युश्च मैथुनात्॥'

अर्थात्—परिश्रम करने से घावों पर सूजन आ जाती है और जागने से रोग उत्पन्न होता है, तथा दिन में सोने से रोग और वीर्यपात होता है, परन्तु मैथुन (स्त्री-सहवास) से तो रोग, वीर्यपात और मृत्यु तीनों ही हो जाते हैं।

अतः स्त्रीसंसर्ग अपकीर्ति, रोग, शोक, दुःख-दरिद्रता और दौर्बल्य बढ़ाने वाला है, इसमें कोई संदेह नहीं।

'दुवे य लोया दुआराहगा भवंति ……परस्स दाराओ जे अविरता'—इसके अतिरिक्त जो न तो पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करके साधुधर्म निभाते हैं और न ही मर्यादित ब्रह्मचर्यपालन (स्वस्त्री-संतोष) करके गृहस्थधर्म की मर्यादाएँ ही निभापाते हैं, किन्तु सुन्दर परस्त्रियों की मन में अभिलाषा करते हैं, उन्हें ताकते रहते हैं, उनके लिए मन में झूरते रहते हैं, वे न तो इस लोक को साध सकते हैं, न परलोक को। वे दोनों ही लोकों को बिगाड़ डालते हैं। इसलिए वे उभयलोक विराधक होते हैं। कहा भी है—

'परदाराऽनिवृत्तानामिहाऽकीर्तिविडम्बना।
परत्र दुर्गतिप्राप्तिर्दौर्भाग्यं षण्ढता तथा॥'

अर्थात्—पराई स्त्रियों के सेवन का त्याग जिन्होंने नहीं किया है, इस लोक में तो उनकी अपकीर्ति (बदनामी) और विडम्बना (मारपीट, कैद, हत्या अपमान आदि) होती ही हैं; परलोक में भी उन्हें नरक-तिर्यञ्चगति (दुर्गति) मिलती है; मनुष्यजन्म मिलने पर भी वे भाग्यहीनता (अभागापन) और नपुंसकता प्राप्त करते हैं।

मतलब यह है कि परस्त्रीगामी दोनों लोकों को खो देता है।

'तहेव केइ परस्स दारं गवेसमाणा गहिया ……विपुलमोहाभिभूयसन्ना'—जिस मनुष्य को अपनी विवाहिता पत्नी को छोड़कर पराई स्त्रियों को खोजने की चाट लग जाती है, परस्त्रियों को अपने चंगुल में फँसाने की धुन सवार हो जाती है, वे अपनी आदत से लाचार हो कर, एकदिन अपनी बुरी लालसा को पूरी करने के लिए दुःसाहस कर बैठते हैं; लेकिन आखिरकार एकदिन वे रंगे हाथों पकड़े जाते

जाते है, मारे-पीटे जाते हैं, जेल मे बंद कर दिये जाते हैं, अनेक प्रकार की यातनाएँ पाते हैं, साक्षात् नरक-की-सी असह्य पीडा उन्हें यहाँ और परलोक में मिलती हैं। आगे चलकर उन्हें परलोक मे भी भयकर सजाएँ मिलती हैं।

'मेहुणमूलं च सुव्वए तत्थ ····· संगामा जणक्खयकरा'—वास्तव में संसार में जितने भी जनसंहारक संग्राम लडे जाते है, उनमे एक निमित्त कारण स्त्री भी है। परस्त्रीगामी इतना भयंकर पापात्मा है कि कृत पाप का कुफल तो उसे मिलता ही है, किन्तु उसके निमित्त से अन्य प्राणियों को भी उनका कटुफल अनुभव करना पड़ता है। विभिन्न धर्मशास्त्रो में जगह-जगह ऐसी बातें देखने-सुनने में आई हैं कि इस परस्त्रीसेवन के निमित्त से असंख्य निरपराध जनसमूह का निर्मम संहार करने वाले युद्ध हुए हैं। जिस देश, गाँव या नगर में परस्त्रीलंपट निवास करता है, उस गाँव, नगर या देश का सहार हुआ है। फिर इस पापकर्मरूपी दावानल की चिनगारियाँ दूर-दूर तक उछलती हैं और उन देशों को भस्मसात् कर डालती हैं। इसलिए मैथुन-सेवन की जड़ परस्त्री को माना गया है, परस्त्री को लेकर ही तलवारें चली हैं, वैर-विरोध बढे हैं और निर्दोष मनुष्यों के संहारक सैकड़ों युद्ध हुए हैं। इसीलिए एक आचार्य ने कहा है—

'संतापफलयुक्तस्य नृणां प्रेमवतामपि।
बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरोः स्त्रियः॥'

अर्थात्—प्रेमभाव से रहने वाले मनुष्यों मे महान् भयंकर वैररूपी वृक्ष का, जिस पर संतापरूपी फल लगते हैं और जो बड़ी मजबूत-जड़ जमाए हुए है, मूल स्त्रियाँ ही हैं।

ससार में स्त्रियो के लिए बडे-बड़े झगड़े हुए हैं, जिनमें कामलोलुप लोगों ने तो पतंगों की तरह कूद कर अपनी जानें दी हैं, लेकिन लाखों निर्दोष मनुष्य यों ही मारे गए हैं। इसलिए स्त्री को झगड़े की जड़ कहा है। जैसे कमठ के जीव ने पार्श्वनाथ (तीर्थंकर) की आत्मा के साथ स्त्री के निमित्त से ही भयंकर वैर विरोध किया, जो अनेक भवों तक चला।

स्त्री के निमित्त हुए संग्राम के विभिन्न उदाहरण—

(१) **सीता के निमित्त युद्ध**—मिथिला नगरी के राजा जनक थे। उनकी रानी का नाम विदेहा था। उनके एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्र का नाम भामडल और पुत्री का नाम जानकी-सीता था। सीता अत्यन्त रूपवती और समस्त कलाओं में पारंगत थी। जब वह विवाह योग्य हुई तो राजा जनक ने स्वयंवरमंडप बनवाया और देश-विदेशों के राजाओं, राजकुमारों और विद्याधरों को स्वयंवर के लिए आमंत्रित किया। राजा जनक ने प्रतिज्ञा कर ली थी कि जो स्वयंवर-मडप मे स्थापित देवाधिष्ठित

धनुष की प्रत्यंचा चढा देगा, उसी के गले में सीता वरमाला डालेगी।' ठीक स
राजा, राजकुमार और विद्याधर आ पहुँचे। अयोध्यापति राजा दशरथ के पुत्र
कमलदिवाकर रामचन्द्र भी अपने छोटे भाई लक्ष्मण के साथ उस स्वयंवर
थे। महाराजा जनक ने सभी समागत राजाओं को सम्बोधित करते हुए
'महानुभावो! आपने मेरे आमंत्रण पर यहाँ पधारने का कष्ट किया है,
लिए धन्यवाद! मेरी यह प्रतिज्ञा है कि जो वीर इस धनुष को चढ़
उसी के गले मे सीता वरमाला डालेगी।" यह सुन कर सभी समागत राजा, राज
और विद्याधर बहुत ही प्रसन्न हुए। सब को अपनी सफलता की आशा थी
विद्याधरों और राजाओं ने बारी-बारी से अपनी ताकत अजमाई, लेकिन धनुष
से भी टस से मस नहीं हुआ। राजा जनक ने निराश होकर खेदपूर्वक जब
क्षत्रियों को फटकारा कि क्या यह पृथ्वी वीरशून्य हो गई है! तभी लक्ष्मण के
पर रामचन्द्रजी उस धनुष को चढाने के लिए उठे। सभी राजा आदि आश्चर्य
थे। रामचन्द्रजी ने धनुष के पास पहुंच कर पंचपरमेष्ठी का ध्यान किया। धनु
अधिष्ठायक देव उसके प्रभाव से शान्त हो गया। तभी श्रीरामचन्द्रजी ने सबके
ही देखते क्षणभर में धनुष को उठा लिया और झट से उस पर बाण चढ़ा दि
सभी ने जयनाद किया। सीता ने श्रीरामचन्द्रजी के गले में वरमाला डाल
वहीं विधिपूर्वक दोनों का पाणिग्रहण हो गया। विवाह के बाद श्रीरामचन्द्रजी
को ले कर अपने अन्य परिवार के साथ अयोध्या आए। सारी अयोध्या में खुशि
मनाई गई। अनेक मंगलाचार हुए। इस तरह कुछ समय आनन्दोल्लास
व्यतीत हुआ।

एक दिन राजा दशरथ के मन मे इच्छा हुई कि रामचन्द्र को राज्याभि
करके मैं अब त्यागी मुनि बन जाऊँ। परन्तु होनहार बलवान है। जब रामचन्द्रजी
विमाता कैकयी ने यह सुना तो उसने सोचा कि राजा अगर दीक्षा लेंगे तो मेरा
भरत भी साथ ही दीक्षा ले लेगा। अतः भरत को दीक्षा लेने से रोकने के लिए उस
राजा दशरथ को युद्ध में अपने द्वारा की हुई सहायता के फलस्वरूप प्राप्त
सुरक्षित रखे हुए वर को इस समय मांगना उचित समझा। महारानी कैकयी
राजा दशरथ से अपने पुत्र भरत को राज्याभिषेक देने का वर मांगा। महाराज
दशरथ को अपनी प्रतिज्ञानुसार यह वरदान स्वीकार करना पड़ा। फलत
श्रीरामचन्द्रजी ने अपने पिता की प्रतिज्ञा का पालन करने और भरत को राज्य क
अधिकारी बनाने के लिए सीता और लक्ष्मण के साथ वनगमन किया। वन
भ्रमण करते हुए वे दण्डकारण्य पहुंचे और वहाँ पर्णकुटी बना कर रहने लगे।

एक दिन लक्ष्मणजी घूमते-घूमते उस वन के एक ऐसे प्रदेश में पहुँचे, जह

खरदूषण का पुत्र शम्बुक बांसों के बीहड में एक वृक्ष से पैर बांधकर औंधे लटकते हुए चन्द्रहासखड्ग की एक विद्या सिद्ध कर रहा था। परन्तु उसकी विद्या सिद्ध न हो सकी। एक दिन लक्ष्मण ने आकाश में अधर लटकते हुए चमचमाते चन्द्रहासखड्ग को कुतूहलवश हाथ में उठा लिया और उसका चमत्कार देखने की इच्छा से उसे बांसों के बीहड पर चला दिया। संयोगवश खरदूषण और चन्द्रनखा के पुत्र तथा रावण के भानजे शम्बुककुमार पर वह तलवार जा लगी। बांसों के साथ-साथ उसका भी सिर कट गया। जब लक्ष्मणजी को यह पता लगा तो उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने रामचन्द्रजी के पास जा कर सारा वृत्तान्त सुनाया। उन्हें भी बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे समझ गए कि लक्ष्मण ने एक बहुत बड़ी विपत्ति को बुला लिया है। जब शम्बुककुमार के मार डाले जाने का समाचार उसकी माता चन्द्रनखा को मालूम हुआ तो वह क्रोध से आगबबूला हो उठी और पुत्रघातक से बदला लेने के लिए उस पर्णकुटी पर आ पहुंची, जहा राम-लक्ष्मण बैठे हुए थे। वह आई तो थी बदला लेने, परन्तु वहां वह श्रीराम-लक्ष्मण के दिव्यरूप को देखकर उन पर मोहित हो गई। उसने विद्या के प्रभाव से षोड़शी सुन्दर युवती का रूप बना लिया और कामज्वर से पीड़ित हो कर एक बार राम से तो दूसरी बार लक्ष्मण से कामाग्नि शान्त करने की प्रार्थना की। मगर स्वदारसंतोषी परस्त्रीत्यागी राम-लक्ष्मण ने उसकी यह जघन्य प्रार्थना ठुकरा दी। पुत्र के वध करने और अपनी अनुचित प्रार्थना को ठुकरा देने के कारण चन्द्रनखा का रोष दुगुना भभक उठा। वह सीधी अपने पति खरदूषण के पास आई और पुत्रवध का सारा हाल कह सुनाया। सुनते ही खरदूषण अपनी कोपज्वाला से दग्ध हो कर वैर का बदला लेने हेतु सदलबल दडकारण्य में पहुंचा। जब राम-लक्ष्मण को यह पता लगा कि खरदूषण लड़ने के लिए आया है तो श्रीलक्ष्मणजी उसका सामना करने पहुचे। दोनों में युद्ध छिड़ गया। उधर लंकाधीश रावण को जब अपने भानजे के वध का समाचार मिला तो वह भी लकापुरी से आकाश-मार्ग द्वारा दण्डकवन में पहुंचा। आकाश से ही वह टकटकी लगा कर बहुत देर तक सीता को देखता रहा। सीता को देख कर रावण का अन्त.करण कामबाण से व्यथित हो गया। उसकी विवेकबुद्धि और धर्मसंज्ञा लुप्त हो गई। अपने उज्ज्वल कुल के कलंकित होने की परवाह न करके दुर्गतिगमन का भय छोड़ कर उसने किसी भी तरह से सीता का हरण करने की ठान ली। सन्निपात के रोगी के समान कामोन्मत्त रावण सीता को प्राप्त करने के उपाय सोचने लगा। उसे एक उपाय सूझा। उसने अपनी विद्या के प्रभाव से जहां लक्ष्मण संग्राम कर रहा था, उस ओर जोर से सिंहनाद की ध्वनि की। श्रीराम यह सिंहनाद सुन कर चिन्ता में पड़े कि लक्ष्मण भारी विपत्ति में फसा है, अतः उसने मुझे बुलाने को यह पूर्वसंकेतित सिंहनाद किया है। इसलिए वे सीता को अकेली छोड़ कर तुरन्त लक्ष्मण की सहायता के लिये चल पड़े।

परस्त्रीलंपट दुष्ट रावण इस अवसर की प्रतीक्षा में था ही। उसने मायावी साधु का वेष बनाया और दान लेने के बहाने अकेली सीता के पास पहुंचा। ज्यों ही सीता बाहर आई, त्यों ही जबरन उसका अपहरण करके अपने विमान में बिठा लिया और आकाशमार्ग से लंका की ओर चल दिया। सीता का विलाप और रुदन सुन कर रास्ते में जटायु पक्षी ने विमान को रोकने का भरसक प्रयत्न किया, लेकिन उसके पंख काट कर उसे नीचे गिरा दिया और सीता को लेकर झटपट लंका पहुंचा। वहाँ उसे अशोक-वाटिका में रखा। रावण ने सीता को अनेक प्रलोभन और भय बता कर अपने अनुकूल बनाने की भरसक चेष्टाएँ की, लेकिन सीता किसी भी तरह से उसके वश मे न हुई। आखिर उसने विद्याप्रभाव से श्रीराम का कटा हुआ सिर भी बताया और कहा कि अब रामचन्द्र तो इस संसार में नहीं रहा, तू व्यर्थ ही किसका शोक कर रही है? अब तो मुझे स्वीकार कर ले। इत्यादि नाना उपायों से सीता को मनाने का प्रयत्न किया, लेकिन सीता ने उसकी एक न मानी। उसने श्रीराम के सिवाय अपने मन में और किसी पुरुष को स्थान न दिया। रावण को भी उसने अनुकूल-प्रतिकूल अनेक वचनों से उस अधर्मकृत्य से हटने के लिए समझाया, पर वह अपने हठ पर अड़ा रहा।

उधर श्रीराम लक्ष्मण के पास पहुंचे तो लक्ष्मण ने पूछा-'भाई! आप माता सीता को पर्णकुटी में अकेली छोड़ कर यहां कैसे आ गए?' श्रीराम ने सिंहनाद को मायाजाल समझा और तत्काल अपनी पर्णकुटी में वापस लौटे। वहां देखा तो सीता गायब! सीता को न पा कर श्रीराम उसके वियोग से व्याकुल हो कर मूर्च्छित हो गए, भूमि पर गिर पड़े। इतने में लक्ष्मण भी युद्ध में विजय पा कर वापिस लौटे तो अपने बड़े भैया की यह दशा और सीता का अपहरण जान कर अत्यन्त दुःखित हुए। लक्ष्मण के द्वारा शीतोपचार से राम होश में आये। फिर दोनों भाई वहा से सीता की खोज में चल पड़े। मार्ग में उन्हें ऋष्यमूक पर्वत पर वानरवंशी राजा सुग्रीव और हनुमान आदि विद्याधर मिले। उनसे पता लगा कि 'इसी रास्ते से आकाशमार्ग से विमान द्वारा रावण सीता को हरण करके ले गया है।' उसके मुख से 'हा राम!' शब्द सुनाई दे रहा था, इसलिए मालूम होता है, वह सीता ही होगी।' अतः दोनों भाई निश्चय करके सुग्रीव, हनुमान आदि वानरवंशी तथा सीता के भाई भामंडल आदि विद्याधरों की सहायता से सेना ले कर लंका पहुंचे। युद्ध से व्यर्थ में जनसंहार न हो, इसलिए पहले श्रीराम ने रावण के पास दूत भेज कर कहलाया कि सीता को हमें आदर पूर्वक सौंप दो और अपने अपराध के लिए क्षमा याचना करो तो हम बिना संग्राम किये वापिस लौट जाएंगे। लेकिन रावण की मृत्यु निकट थी। उसे विभीषण, मन्दोदरी आदि हितैषियों ने भी बहुत समझाया, किन्तु उसने किसी

की एक न मानी। आखिर युद्ध की दुंदुभि बजी। राम और रावण की सेना में परस्पर घोर संग्राम हुआ। दोनों ओर के अगणित मनुष्य मौत के मेहमान बने। अधर्मी रावण के पक्ष के बड़े-बड़े योद्धा रण में खेत रहे। आखिर रावण रणक्षेत्र में आया। रावण तीन खण्ड का अधिनायक प्रतिनारायण था। उससे युद्ध करने की शक्ति राम और लक्ष्मण के सिवाय किसी में न थी। यद्यपि हनुमान आदि अजेय योद्धा राम की सेना मे थे, तथापि रावण के सामने टिकने की और विजय पाने की ताकत नारायण के अतिरिक्त दूसरे मे नहीं थी। अतः रावण के सामने जो भी योद्धा आए उन सबको वह परास्त करता रहा, उनमें से कई तो रणचंडी की भेंट भी चढ़ गए। रामचन्द्रजी की सेना मे हाहाकार मच गया। राम ने लक्ष्मण को ही समर्थ जान कर रावण से युद्ध करने का आदेश दिया। दोनों ओर से शस्त्रप्रहार होने लगे। लक्ष्मण ने रावण के चलाए हुए सभी शस्त्रों को निष्फल करके उन्हें भूमि पर गिरा दिया। अन्त में, क्रोधवश रावण ने अन्तिम अस्त्र के रूप में अपना चक्र लक्ष्मण पर चलाया, लेकिन वह लक्ष्मण की तीन प्रदक्षिणा देकर लक्ष्मण के ही दाहिने हाथ में जा कर ठहर गया। रावण हताश हो गया।

अन्ततः लक्ष्मणजी ने वह चक्र संभाला और ज्यों ही उसे घुमा कर रावण पर चलाया, त्यों ही रावण का सिर कट कर भूमि पर आ गिरा। रावण यम-लोक का अतिथि बना।

रावण की मृत्यु के बाद श्रीराम ने उसके धर्मप्रिय भाई विभीषण को लंका का राज्य सौंपा। चिरकाल से वियोग के कारण दुःखित सीता श्रीराम को और श्रीराम सीता को पा कर हर्षविभोर हो गए। आनन्दोत्सव-पूर्वक उन्होंने अयोध्या में प्रवेश किया और सहर्ष राज्य करने लगे।

यद्यपि सीता के निमित्त रामचन्द्रजी ने रावण से युद्ध छेड़ा था; तथापि रामचन्द्रजी का पक्ष न्याय और धर्म से युक्त था; रावण का पक्ष अन्याय-अनीति और अधर्म से पूर्ण था। इसलिए महासती सीता के लिए जो युद्ध हुआ; वह रावण की मदान्धता और कामान्धता के ही कारण हुआ।

(२) द्रौपदी के लिए हुआ संग्राम—कांपिल्यपुर में द्रुपद नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम चुलनी था। उनके एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्र का नाम धृष्टद्युम्न था, और पुत्री का नाम था—द्रौपदी। विवाहयोग्य होने पर राजा द्रुपद ने उसके योग्य वर चुनने के लिए स्वयंवरमण्डप की रचना करवाई तथा सभी देशों के राजा-महाराजाओं को स्वयंवर के लिए आमंत्रित किया। हस्तिनागपुर के राजा पाण्डु के पांचो पुत्र युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव भी उस स्वयंवर-मंडप में पहुंचे। मंडप में उपस्थित सभी राजाओं और राजपुत्रों को

सम्बोधित करते हुए द्रुपदराजा ने प्रतिज्ञा की घोषणा कि "यह जो सामने वेध्र यंत्र लगाया गया है, उसके द्वारा तीव्रगति से घूमती हुई ऊपर में यंत्रस्थ मछली का प्रतिबिम्ब नीचे रखी हुई कडाही के तेल में भी घूम रहा है। जो वीर नीचे प्रतिबिम्ब को देखते हुए धनुष से उस मछली का (लक्ष्य का) वेध कर देगा ; उसी के गले में द्रौपदी वरमाला डालेगी।" यह सुनते ही वहां उपस्थित सभी राजाओं ने अपना-अपना हस्तकौशल दिखाया, लेकिन कोई भी मत्स्यवेध करने में सफल न हो सका। अन्त में, पांडवों का नंबर आया। अपने बडे भाई युधिष्ठिर की आज्ञा मिलने पर धनुर्विद्याविशारद अर्जुन ने अपना गांडीव धनुष उठाया और तत्काल लक्ष्यवेध कर दिया। अपने कार्य में सफल होते ही अर्जुन के जयनाद से सभामंडप गूंज उठा। राजा द्रुपद ने भी अत्यन्त हर्षित होकर द्रौपदी को अर्जुन के गले में वरमाला डालने की आज्ञा दी। द्रौपदी अपनी दासी के साथ मंडप मे उपस्थित थी। वह अर्जुन के गले में ही माला डालने जा रही थी, किन्तु पूर्वकृतनिदान के प्रभाव से दैवयोगात् वह माला पांचों भाइयों के गले में आ पड़ी। इस प्रकार पूर्वकृतकर्मानुसार द्रौपदी के युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम आदि पांच पति कहलाए।

एक समय पाण्डु राजा राजसभा में सिंहासन पर बैठे थे। उनके पास ही कुन्ती महारानी बैठी थी और युधिष्ठिर आदि पांचों भाई भी बैठे हुए थे। द्रौपदी भी वहीं थी। तभी आकाश से उतर कर देवर्षि नारद सभा में आए। राजा आदि ने तुरंत खड़े होकर नारद-ऋषि का आदर-सम्मान किया। लेकिन द्रौपदी किसी कारण-वश उनका उचित सम्मान न कर सकी। इस पर नारदजी का पारा गर्म हो गया। उन्होंने द्रौपदी द्वारा किए हुए इस अपमान का बदला लेने की ठान ली। उन्होंने सोचा—'द्रौपदी को अपने रूप पर बड़ा गर्व है। इसके इस गर्व को चूर-चूर न कर दिखाऊं तो मेरा नाम नारद ही क्या ?' वे इस दृढसंकल्पानुसार मन ही मन द्रौपदी को नीचा दिखाने की योजना बना कर वहां से चल दिए। देश-देशान्तर घूमते हुए नारदजी धातकीखंड के दक्षिणार्ध भरतक्षेत्र की राजधानी अमरकंका[1] नगरी में पहुंचे। वहां के राजा पद्मनाभ ने नारदजी को अपनी राजसभा में आये देख उनका बहुत आदर-सत्कार किया। कुशलक्षेम पूछने के बाद राजा ने नारदजी से पूछा—"ऋषिवर ! आप की सर्वत्र अबाधित गति है। आपको किसी भी जगह जाने की रोक-टोक नहीं है। इसलिए यह बताइए कि 'सुन्दरियों से भरे मेरे अन्तःपुर (रनवास) जैसा

---

१ अपरकंका नाम भी है। —संपादक

और कहीं कोई सुन्दर अन्तःपुर आपने देखा है ?" यह सुनकर नारदजी हंस पड़े और बोले—"राजन् ! तू अपनी नारियों के सौन्दर्य का वृथा गर्व करता है। तेरे अन्तःपुर में द्रौपदी-सरीखी कोई सुन्दरी नहीं है। सच कहूं तो, द्रौपदी के पैर के अंगूठे की बराबरी भी वे नहीं कर सकती।" यह बात सुनते ही विषयविलासानुरागी राजा पद्मनाभ के चित्त में द्रौपदी के प्रति अनुराग का अंकुर पैदा हो गया। उसे द्रौपदी के बिना एक क्षण भी वर्षों के समान संतापकारी मालूम होने लगा। उसने तत्क्षण पूर्व-संगतिक देवता की आराधना की। स्मरण करते ही देव उपस्थित हुआ। राजा ने अपना मनोरथ पूर्ण कर देने की बात उससे कही। अपने महल में सोई हुई द्रौपदी को देव ने शय्या-सहित उठा कर पद्मनाभ नृप के क्रीड़ोद्यान में ला रखा। जागते ही द्रौपदी अपने को अपरिचित प्रदेश मे पा कर एकदम घबरा उठी। वह मन ही मन पचपरमेष्ठी का स्मरण करने लगी। इतने में राजा पद्मनाभ ने आ कर उससे प्रेमयाचना की, अपने वैभव एवं सुखसुविधाओं आदि का भी प्रलोभन दिया। नीतिकुशल द्रौपदी ने सोचा—'इस समय यह पापात्मा कामान्ध हो रहा है। अगर मैंने साफ इन्कार कर दिया तो विवेकशून्य होने से शायद यह जबर्दस्ती मेरा शीलभग करने को उद्यत हो जाय ! अतः फिलहाल अच्छा यही है कि इसे भी बुरा न लगे और मेरा शील भी सुरक्षित रहे।' ऐसा सोच कर द्रौपदी ने पद्मनाभ से कहा—'राजन् ! आप मुझे ६ महीने की अवधि इस पर सोचने के लिए दीजिए। उसके बाद आपकी जैसी इच्छा हो, करना।' उसने भी बात मजूर कर ली। इसके बाद द्रौपदी अनशन आदि तपश्चर्या करती हुई सदा पंचपरमेष्ठी के ध्यान मे लीन रहने लगी।

पांडवों की माता कुन्ती द्रौपदीहरण के समाचार ले कर हस्तिनागपुर से द्वारिका पहुंची और श्रीकृष्ण से द्रौपदी का पता लगाने और लाने का आग्रह किया। इसी समय कलहप्रिय नारदऋषि भी वहां आ धमके। श्रीकृष्णजी ने उनसे पूछा—"मुने ! आपकी सर्वत्र अबाधित गति है। ढाई द्वीप में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहां आपका गमन न होता हो। अतः आपने कहीं द्रौपदी को देखा हो तो कृपया बतलाइए।" नारदजी बोले—"जनार्दन ! धातकीखण्ड मे अमरकंका नाम की राजधानी है। वहां के राजा पद्मनाभ के क्रीड़ोद्यान के महल मे मैंने द्रौपदी जैसी एक स्त्री को देखा तो है।" नारदजी से द्रौपदी का पता मालूम होते ही श्रीकृष्णजी पाचों पाडवों को साथ ले कर अमरकंका की ओर रवाना हुए। रास्ते में लवणसमुद्र उनका मार्ग रोके हुए था; जिसको पार करना उनके बूते की बात नहीं थी। तब श्रीकृष्णजी ने तेला (तीन उपवास) धारण करके लवणसमुद्र के अधिष्ठायक देव की आराधना की। देव प्रसन्न हो कर श्रीकृष्णजी के सामने उपस्थित हुआ। श्रीकृष्णजी के कथनानुसार समुद्र ने उन्हें रास्ता दे दिया।

फलतः श्री कृष्णजी पांचों पांडवों को साथ लिये हुए राजधानी अमरकंका नगरी में पहुंचे और एक उद्यान में ठहर कर अपने सारथी के द्वारा पद्मनाभ को सूचित कराया। पद्मनाभ अपनी सेना ले कर युद्ध के लिए आ डटा। दोनों ओर से युद्धप्रारम्भ होने की दुंदुभि बजी। बहुत देर तक दोनो में जम कर भयंकर युद्ध हुआ। पद्मनाभ ने जब पांडवों को परास्त कर दिया; तब श्री कृष्ण स्वयं युद्ध के मैदान में आ डटे और उन्होंने अपना पांचजन्यशंख बजाया। पांचजन्य का भीषण नाद सुनते ही पद्मनाभ की तिहाई सेना तो भाग खड़ी हुई, एक तिहाई सेना को उन्होंने सारंग-गाडीव धनुष की प्रत्यंचा की टंकार से मूर्च्छित कर दिया। शेष बची हुई तिहाई सेना और पद्मनाभ अपने प्राणों को बचाने के लिए दुर्ग में जा घुसे। श्रीकृष्ण ने नरसिंह का रूप बनाया और नगरी के द्वार, कोट और अटारियों को अपने पंजे की मार से भूमिसात् कर दिया। बड़े-बड़े विशालभवनों और प्रासादों के शिखर गिरा दिये। सारी राजधानी (नगरी) में हाहाकार मच गया। पद्नाभराजा भय से कांपने लगा और श्रीकृष्ण के चरणों में आ गिरा तथा आदरपूर्वक द्रौपदी को उन्हे सौंप दिया। श्रीकृष्णजी ने उसे क्षमा किया और अभयदान दिया।

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण द्रौपदी और पाचों पांडवों को ले कर जयध्वनि एवं आनन्दोल्लास के साथ द्वारिका पहुंचे।

इस प्रकार राजा पद्नाभ की कामवासना—मैथुनसंज्ञा के कारण महाभारत-काल में द्रौपदी के लिए भयंकर संग्राम हुआ।

(३) *रुक्मिणी के लिए हुआ युद्ध*—कुंडिनपुर नगरी के राजा भीष्म के दो संतान थी—एक पुत्र और एक पुत्री। पुत्र का नाम रुक्मी था और पुत्री का नाम था—रुक्मिणी।

एक दिन घूमते-घामते नारदजी द्वारिका पहुंचे और श्रीकृष्ण की राजसभा में प्रविष्ट हुए। उनके आते ही श्रीकृष्ण अपने आसन से उठ कर नारदजी के सम्मुख गए और प्रणाम करके उन्हें विनयपूर्वक आसन पर बिठाया। नारदजी ने कुशलमंगल पूछ कर श्रीकृष्ण के अन्तःपुर में गमन किया। वहां सत्यभामा अपने गृहकार्य में व्यस्त थी। अतः वह नारदजी की आवभगत भलीभांति न कर सकी। नारदजी ने इसे अपना अपमान समझा और गुस्से में आ कर प्रतिज्ञा की—"इस सत्यभामा पर सौत ला कर यदि मैं इसे अपने अपमान का फल न चखा दूं तो मेरा नाम नारद ही क्या!" तत्काल वे वहां से रवाना हुए और कुंडिनपुर के राजा भीष्म की राजसभा में पहुंचे। राजा भीष्म और उनके पुत्र रुक्म ने उनको बहुत सम्मान दिया। फिर उन्होंने हाथ जोड़ कर अपने आगमन का कारण पूछा। नारदजी ने कहा—"हम भगवद्—

भजन करते हुए भगवद्भक्तों के यहाँ घूमते-घामते पहुंच जाते है।" इधर-उधर की बातें करने के पश्चात् नारदजी अन्त:पुर मे पहुचे। रानियो ने उनका सविनय सत्कार किया। रुक्मिणी ने भी उनके चरणों में प्रणाम किया। नारदजी ने उसे आशीर्वाद दिया—"कृष्ण की पटरानी हो।" इस पर रुक्मिणी की बुआ ने साश्चर्य पूछा—"मुनिवर! आपने इसे यह आशीर्वाद कैसे दिया ? और श्रीकृष्ण कौन है ? उनमें क्या-क्या गुण है ?" इस प्रकार पूछने पर नारदजी ने उनके सामने श्रीकृष्ण के वैभव और गुणों का वर्णन करके रुक्मिणी के मन में कृष्ण के प्रति अनुराग पैदा कर दिया। नारदजी भी अपनी प्रतिज्ञा की सफलता की सम्भावना से हर्षित हो उठे। नारदजी ने वहाँ से चल कर पहाड़ की चोटी पर एकान्त में बैठ कर एक पट पर रुक्मिणी का सुन्दर चित्र बनाया। उसे ले कर वे श्रीकृष्ण के पास पहुंचे और उन्हें वह दिखाया। चित्र इतना सजीव था कि श्रीकृष्ण देखते ही भावविभोर हो गए और रुक्मिणी के प्रति उनका आकर्षण जाग उठा। वे पूछने लगे—"नारदजी ! यह तो बताइए,यह कोई देवी है,किन्नरी है ? या मानुषी है ? यदि यह मानुषी है तो वह पुरुष धन्य है, जिसे इसके करस्पर्श का अधिकार प्राप्त होगा। नारदजी मुसकरा कर बोले—"कृष्ण ! वह धन्य पुरुष तो तुम ही हो"। नारदजी ने सारी घटना आद्योपान्त कह सुनाई। तदनन्तर श्रीकृष्ण ने राजा भीष्म से रुक्मिणी के लिए याचना की। राजा भीष्म तो इससे सहमत हो गए। लेकिन रुक्मी इसके विपरीत था। उसने इन्कार कर दिया कि "मैं तो शिशुपाल के लिए अपनी बहन को देने का संकल्प कर चुका हूं।" रुक्मी ने श्रीकृष्ण के निवेदन पर कोई ध्यान नहीं दिया और माता-पिता की अनुमति की भी परवाह न की। उसने सबकी बात को ठुकरा कर शिशुपाल राजकुमार के साथ अपनी बहन रुक्मिणी के पाणिग्रहण का निश्चय कर लिया। शिशुपाल को वह बड़ा प्रतापी और तेजस्वी तथा भूमण्डल में बेजोड़ बलवान मानता था। श्रीकृष्ण के बल, तेज और वैभव का उसे विशेष परिचय नही था। रुक्मी ने शिशुपाल के साथ अपनी बहन की शादी की तिथि निश्चित कर ली। शिशुपाल भी बड़ी भारी बारात ले कर सजधज के साथ विवाह के लिए कुंडिनपुरी की ओर चल पडा। अपने नगर से निकलते ही उसे अमंगलसूचक शकुन हुए, किन्तु शिशुपाल ने कोई परवाह न की और विवाह के लिए चल ही दिया। कुण्डिनपुर पहुँच कर नगर के बाहर वह एक उद्यान में ठहरा। उधर रुक्मिणी नारदजी से आशीर्वाद प्राप्त कर और श्री कृष्ण के गुण सुन कर उनसे प्रभावित हो गई थी। फलतः मन ही मन उन्हें पतिरूप में स्वीकृत कर चुकी थी। वह यह सुन कर

अत्यन्त दुःखी हुई कि भाई रुक्मी ने उसकी व पिताजी की इच्छा के विरुद्ध हठ करके शिशुपाल को विवाह के लिए बुला लिया है और वह बरातसहित उद्यान में आ भी पहुंचा है। रुक्मिणी को उसकी बुआ बहुत प्यार करती थी। उसने रुक्मिणी को दुःखित और संकटग्रस्त देख कर उसे आश्वासन दिया और श्रीकृष्णजी को एक पत्र लिखा—"जनार्दन ! रुक्मिणी के लिए इस समय तुम्हारे सिवाय कोई शरण नहीं है ! यह तुम्हारे प्रति अनुरक्त है और अहर्निश तुम्हारा ही ध्यान करती है। इसने यह संकल्प कर लिया है कि कृष्ण के सिवाय संसार के सभी पुरुष मेरे लिए पिता या भाई के समान हैं। अत. तुम ही एकमात्र इसके प्राणनाथ हो ! यदि तुमने समय पर आने की कृपा न की तो रुक्मिणी को इस संसार में नहीं पा ओगे और एक निरपराध अबला की हत्या का अपराध आपके सिर लगेगा। अतः इस पत्र के मिलते ही प्रस्थान करके निश्चित समय से पहले ही रुक्मिणी को दर्शन दें।"

इस आशय का करुण एवं जोशीला पत्र लिख कर बुआ ने एक शीघ्रगामी दूत द्वारा श्रीकृष्णजी के पास द्वारिका भेजा। दूत पवनवेग के समान शीघ्र द्वारिका पहुंचा और वह पत्र श्रीकृष्ण के हाथ में दिया। पत्र पढ़ते ही श्री कृष्ण को हर्ष से रोमांच हो उठा और क्रोध से उनकी भुजाएँ फड़क उठी। वे अपने आसन से उठे और अपने साथ बलदेव को ले कर शीघ्र कुण्डिनपुरी पहुंचे। वहाँ नगर के बाहर गुप्तरूप से एक बगीचे में ठहरे। उन्होंने अपने आने की एव स्थान की सूचना गुप्तचर द्वारा रुक्मिणी और उसकी बुआ को दे दी। वे दोनों इस सूचना को पा कर अतीव हर्षित हुईं।

रुक्मिणी के विवाह में कोई अड़चन पैदा न हो, इसके लिए रुक्मी और शिशुपाल ने नगर के चारों ओर सभी दरवाजो पर कड़ा पहरा लगा दिया था। नगर के बाहर और भीतर सुरक्षा का भी पूरा प्रबन्ध कर रखा था। लेकिन होनहार कुछ और ही थी।

रुक्मिणी की बुआ इस पेचीदा समस्या को देख कर उलझन में पड़ गई। आखिर उसे एक विचार सूझा। उसने श्रीकृष्णजी को उसी समय पत्र द्वारा सूचित किया—"हम रुक्मिणी को साथ ले कर कामदेव की पूजा के बहाने कामदेव के मन्दिर में आ रही हैं। और यही उपयुक्त अवसर है—रुक्मिणी के हरण का। इसलिए आप इसी स्थान पर सुसज्जित रहें।"

पत्र पाते ही श्रीकृष्ण ने तदनुसार सब तैयारी कर ली। विवाह के मंगलकार्य सम्पन्न हो रहे थे। उसी समय नगर में घोषणा करवाई गई कि "आज रुक्मिणी अपनी सखियों के साथ वर की शुभकामना के लिए कामदेव की पूजा करने जाएगी।" ठीक समय पर पूजा की सामग्री से सुसज्जित थालों को लिए मंगलगीत गाती हुई

रुक्मिणी अपनी सखियों के साथ महल से निकली। नगर के द्वार पर राजा शिशुपाल के पहरेदारों ने यह कह कर उन्हें रोक दिया कि—'ठहरो! राजा की आज्ञा किसी को बाहर जाने देने की नही है।" रुक्मिणी की सखियो ने उनसे कहा—"हमारी सखी शिशुपाल की शुभकामना के लिए कामदेव की पूजा करने जा रही है। तुम इस मगलकार्य में क्यों विघ्न डाल रहे हो ? खबरदार ! यदि तुम इस शुभकार्य में बाधा डालोगे तो इसका बुरा परिणाम तुम्हे भोगना पड़ेगा। तुम कैसे स्वामिभक्त हो कि अपने स्वामी के हित मे बाधा डालते हो !" द्वाररक्षकों ने यह सुन कर खुशी से उन्हें बाहर जाने दिया। रुक्मिणी अपनी बुआ और सखियों सहित आनन्दोल्लास के साथ कामदेवमदिर में पहुंची। परन्तु वहाँ किसी को न देख कर व्याकुल हो गई।

उसने आर्त्त स्वर में प्रार्थना की। श्रीकृष्ण और बलदेव दोनों एक ओर छिपे रुक्मिणी की भक्ति और अनुराग देख रहे थे। यह सब देख-सुन कर वे सहसा रुक्मिणी के सामने आ उपस्थित हुए। लज्जा के मारे रुक्मिणी सिकुड गई और पीपल के पत्तो के समान थर-थर कापने लगी। श्रीकृष्ण को चुपचाप खड़े देख बलदेवजी ने कहा—"कृष्ण ! तुम बुत से खडे क्या देख रहे हो ? क्या लज्जावती ललना प्रथम दर्शन में अपने मुंह से कुछ बोल सकती है ?" इतना सुनते ही कृष्ण ने कहा—"आओ, प्रिये ! चिरकाल से तुम्हारे वियोग में दुखित कृष्ण यही है।" यों कह कर रुक्मिणी का हाथ पकड कर उसे सुसज्जित रथ में बिठा लिया। कुंडिनपुरी के बाहर रथ के पहुंचते ही उन्होंने पाचजन्य शंख का नाद किया, जिससे नागरिक एवं सैनिक कांप उठे ! इधर रुक्मिणी की सखियो ने शोर मचाया कि रुक्मिणी का हरण हो गया है। इसके बाद श्रीकृष्ण ने जोर से ललकारते हुए कहा—"ऐ शिशुपाल ! मैं द्वारिकापति कृष्ण तेरे आनन्द की केन्द्र रुक्मिणी को ले जा रहा हूं। अगर तुझ मे कुछ भी सामर्थ्य हो तो छुडा ले।" इस ललकार को सुन कर शिशुपाल और रुक्मी के कान खड़े हुए। वे दोनो क्रोधावेश मे अपनी-अपनी सेना लेकर संग्राम करने के लिए रणांगण में उपस्थित हुए। मगर श्रीकृष्ण और बलदेव दोनों भाइयों ने सारी सेना को कुछ ही देर में परास्त कर दिया। शिशुपाल को उन्होंने जीवनदान दिया। शिशुपाल हार कर लज्जा से मुह नीचा किए वापिस लौट गया। रुक्मी की सेना तितर-बितर हो गई और उसकी दशा भी बड़ी दयनीय हो गई। अपने भाई को दयनीय दशा मे देख कर रुक्मिणी ने प्रार्थना की कि मेरे भैया को प्राणदान दिया जाय। श्रीकृष्ण ने हंस कर कहा—"ऐसा ही होगा।' रुक्मी को उन्होंने पकड़ कर रथ के पीछे बांध रखा था, रुक्मिणी के कहने पर छोड़ दिया। दोनों वीर बलराम और श्रीकृष्ण विजयश्रीसहित रुक्मिणी को लेकर अपनी राजधानी द्वारिका में आए और वहीं श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी के साथ विधिवत् पाणिग्रहण किया।

वह पुनः श्रीराम के पास आ कर कहने लगा—"देव ! आपके होते मेरी ऐसी दुर्दशा हुई। अतः आप स्वयं अब मेरी सहायता करे।" राम ने उससे कहा—"तुम भेदसूचक कोई ऐसा चिह्न धारण कर लो और उससे पुनः युद्ध करो। मैं अवश्य ही उसे अपने किये का फल चखाऊंगा।"

असली सुग्रीव ने वैसा ही किया। जब दोनों का युद्ध हो रहा था तो श्रीराम ने कृत्रिम सुग्रीव को पहिचान कर बाण से उसका वहीं काम तमाम कर दिया। इससे सुग्रीव प्रसन्न होकर श्रीराम और लक्ष्मण को स्वागत पूर्वक किष्किन्धा ले गया; वहाँ उनका बहुत ही सत्कार-सम्मान किया। सुग्रीव अब अपनी पत्नी तारा के साथ आनन्द से रहने लगा।

इस प्रकार राम और लक्ष्मण की सहायता से सुग्रीव ने तारा को प्राप्त किया और जीवन भर उनका उपकार मानता रहा।

(६) कांचना के लिए हुआ युद्ध—काचना के लिए भी सग्राम हुआ था,लेकिन उसकी कथा अप्रसिद्ध होने से यहाँ नही दी जा रही है। कई टीकाकार मगध सम्राट् श्रेणिक की चिलणा रानी को ही 'कांचना' कहते हैं। अस्तु, जो भी हो, काचना भी युद्ध की निमित्त बनी है।

(७) रक्त सुभद्रा के लिए हुआ संग्राम—सुभद्रा श्रीकृष्णजी की बहन थी; वह पांडुपुत्र अर्जुन के प्रति रक्त—आसक्त थी, इसलिए उसका नाम 'रक्तसुभद्रा' पड़ गया। एक दिन वह अत्यन्त कामासक्त होकर अर्जुन के पास चली आई। श्रीकृष्ण को जब इस बात का पता लगा तो उन्होंने सुभद्रा को वापिस लौटा लाने के लिए सेना भेजी। सेना को युद्ध के लिए आती देख कर अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ़ हो कर सोचने लगा—'श्रीकृष्णजी के खिलाफ युद्ध कैसे करूं ? क्योंकि वे मेरे आत्मीयजन है। और युद्ध नही करूँगा तो सुभद्रा के साथ हुआ प्रेमबन्धन टूट जायेगा।' इस प्रकार संदेह के झूले में झूलते हुए अर्जुन को सुभद्रा ने क्षत्रियोचित कर्त्तव्य के लिए प्रोत्साहित किया। अर्जुन ने अपना गाडीव धनुप उठाया और श्रीकृष्णजी द्वारा भेजी हुई सेना से लडने के लिए आ पहुंचा। दोनों में जम कर युद्ध हुआ। अर्जुन के अमोघ बाणों की वर्षा से श्रीकृष्णजी की सेना तितरबितर हो गई। विजय अर्जुन की हुई। अन्ततोगत्वा सुभद्रा ने वीर अर्जुन के गले में वरमाला डाल दी। दोनों का पाणिग्रहण हो गया। इसी वीरांगना सुभद्रा की कुक्षि से वीर अभिमन्यु का जन्म हुआ; जिसने अपनी नववधू का मोह छोड़ कर छोटी उम्र में ही महाभारत के युद्ध में वीरोचित क्षत्रियकर्त्तव्य बजाया और वहीं वीरगति को पा कर इतिहास में अमर हो गया। सचमुच वीरमाता ही वीर पुत्र को पैदा करती है।

मतलब यह है कि रक्तसुभद्रा को प्राप्त करने के लिए अर्जुन ने श्रीकृष्ण सरीखे आत्मीय जन के विरुद्ध भी युद्ध किया।

(८) अहिन्निका की कथा अप्रसिद्ध होने से उस पर प्रकाश डालना अशक्य है। कई लोग 'अहिन्नियाए' पद के बदले 'अहिल्लियाए' मानते है। उसका अर्थ होता है—अहिल्या के लिए हुआ संग्राम।" अगर यह अर्थ हो तब तो वैष्णव रामायण में उक्त 'अहिल्या' की कथा इस प्रकार है—अहिल्या गौतमऋषि की पत्नी थी। वह बड़ी सुन्दर और धर्मपरायणा स्त्री थी। एक बार इन्द्र उसका रूप देखकर मोहित हो गया। एक दिन गौतम ऋषि कहीं बाहर गये हुए थे। इन्द्र ने उचित अवसर जान कर गौतम ऋषि का रूप बनाया और छलपूर्वक अहिल्या के पास पहुंच कर संयोग की इच्छा प्रगट की। निर्दोष अहिल्या ने अपना पति जान कर कोई आनाकानी न की। इन्द्र अनाचार सेवन करके चला गया। जब गौतम ऋषि आए तो उन्हें इस बात का पता चला और उन्होने इन्द्र को शाप दे दिया कि 'तेरे एक हजार भग हो जांय।' वैसा ही हुआ। बाद में, इन्द्र के बहुत स्तुति करने पर ऋषि ने उन भगो के स्थान मे एक हजार नेत्र बना दिये। परन्तु अहिल्या पत्थर की तरह निश्चेष्ट होकर तपस्या मे लीन हो गई। वह एक ही जगह गुमसुम हो कर पड़ी रहती। एक बार श्रीराम विचरण करते-करते आश्रम के पास से गुजरे तो उनके चरणो का स्पर्श होते ही वह जागृत होकर उठ खड़ी हुई। ऋषि ने भी प्रसन्न होकर उसे पुनः अपना लिया।

(९) सुवर्णगुटिका के लिए हुआ संग्राम—सिन्धु—सौवीर देश मे वीतभय नामक एक पत्तन था। वहाँ उदयन राजा राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम पद्मावती था। उसकी देवदत्ता नामक एक दासी थी। एक बार देश-देशान्तर मे भ्रमण करता हुआ एक परदेशी यात्री उस नगर में आ गया। राजा ने उसे मन्दिर के निकट धर्मस्थान में ठहराया। कर्मयोग से वह वहाँ रोगग्रस्त हो गया। रुग्णावस्था में इस दासी ने उसकी बहुत सेवा की। फलतः आगन्तुक ने प्रसन्न होकर इस दासी को सर्वकामना पूर्ण करने वाली १०० गोलियाँ दे दीं और उनकी महत्ता एवं प्रयोग करने की विधि भी बतला दी। अव्वल तो स्त्री जाति, फिर दासी। भला दासी को उन गोलियों का सदुपयोग करने की बात कैसे सूझती? उस बदसूरत दासी ने सोचा—"क्यों नही, मैं एक गोली खा कर सुन्दर बन जाऊँ!" उसने अजमाने के लिए एक गोली मुँह में डाल ली। गोली के प्रभाव से वह दासी सोने के समान रूप वाली—खूबसूरत बन गई। तब से उसका नाम सुवर्णगुटिका ही प्रसिद्ध हो गया। वह नवयुवती तो थी ही। एक दिन बैठे-बैठे उसके मन में विचार आया—"मुझे सुन्दर रूप तो मिला; लेकिन बिना पति के सुन्दर रूप भी किस काम का? पर किसे पति बनाऊँ? राजा को तो बनाना ठीक नही, क्योंकि एक तो यह बूढ़ा है, दूसरे, यह मेरे लिए पितातुल्य है। अतः किसी नवयुवक को ही पति बनाना चाहिए।" सोचते-सोचते उसकी दृष्टि में उज्जयिनी का राजा चन्द्रप्रद्योत जँचा। फिर क्या था? उसने मन

में चन्द्रप्रद्योत का चिन्तन करके दूसरी गोली निगल ली। गोली के अधिष्ठाता देव के प्रभाव से उज्जयिनी नृप चंद्रप्रद्योत को स्वप्न में दासी का दर्शन हुआ। फलतः सुवर्णगुटिका से मिलने के लिए वह आतुर हो गया। उसे स्वर्णगुटिका का पता चल गया। वह शीघ्र ही गंधगज नामक उत्तम हाथी पर सवार हो कर रात्रि के समय वीतभय नगर मे पहुंचा। सुवर्णगुटिका तो उससे मिलने के लिए पहले से ही तैयार बैठी थी। चन्द्रप्रद्योत के कहते ही वह उसके साथ चल दी।

प्रातःकाल राजा उदयन उठा और नित्यनियमानुसार अश्वशाला आदि का का निरीक्षण करता हुआ हस्तिशाला में आ पहुंचा। वहाँ सब हाथियों का मद सूखा हुआ देखा तो वह आश्चर्य में पड़ गया। तलाश करते-करते राजा उदयन को एक गजरत्न के मूत्र की गंध आ आई। राजा ने शीघ्र ही जान लिया कि यहाँ गन्धहस्ती आया है। उसी की गन्ध से हाथियों का मद सूख गया। ऐसा गंधहस्ती हाथी सिवाय चन्द्रप्रद्योत के और किसी के पास नहीं है, फिर राजा ने यह बात भी सुनी कि सुवर्णगुटिका दासी भी गायब है। अतः राजा को पक्का शक हो गया कि चन्द्रप्रद्योत राजा ही दासी को भगा ले गया है। राजा उदयन ने रोपवश उज्जयिनी पर चढ़ाई करने का विचार कर लिया। परन्तु मन्त्रियों ने समझाया—"महाराज! चन्द्रप्रद्योत कोई साधारण राजा नहीं है। वह बड़ा बहादुर और तेजस्वी है। केवल एक दासी के लिए उससे शत्रुता करना बुद्धिमानी नहीं है।" परन्तु राजा उनकी बातों से सहमत न हुआ और चढ़ाई करने को तैयार हो गया। राजा ने कहा—"अन्यायी अत्याचारी और उद्दण्ड को दण्ड देना मेरा कर्तव्य है।" अन्त में यह निश्चय हुआ कि "दस मित्र राजाओं को ससैन्य साथ लेकर उज्जयिनी पर चढ़ाई की जाय।" ऐसा ही हुआ। अपनी-अपनी सेना लेकर दस राजा उदयननृप के दल में शामिल हुए। अन्ततः महाराजा उदयन ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। बड़ी मुश्किल से उज्जयिनी के पास पहुँचे। चन्द्रप्रद्योत राजा भी यह समाचार सुनते ही विशाल सेना लेकर युद्ध करने के लिए मैदान मे आ डटा। दोनों में घमासान युद्ध हुआ। राजा चन्द्रप्रद्योत का हाथी तीव्रगति से मंडलाकार घूमता हुआ विरोधी सेना को कुचल रहा था। उसके मद की गंध से ही विरोधी सेना के हाथी भाग खड़े हुए। अतः उदयन की सेना में कोलाहल मच गया। यह देख कर रथारूढ़ उदयन ने गंधहस्ती के पैर में खींच कर तीक्ष्ण बाण मारा। हाथी वहीं धराशायी हो गया और उस पर सवार चन्द्रप्रद्योत भी नीचे आ गिरा। अतः सब राजाओं ने मिलकर उसे जीतेजी पकड़ लिया। राजा उदयन ने उसके ललाट पर 'दासीपति' शब्द अंकित कर अन्ततः उसे क्षमाकर दिया।

सचमुच, स्वर्णगुटिका के लिए जो युद्ध हुआ, वह परस्त्रीगामी कामी चन्द्रप्रद्योत राजा की रागासक्ति के कारण से हुआ।

(१०) रोहिणी के निमित्त हुआ संग्राम—अरिष्टपुर में रुधिर नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम सुमित्रा था। उसके एक पुत्री थी। उस का नाम था—रोहिणी। रोहिणी अत्यन्त रूपवती थी। उसके सौन्दर्य की बात सर्वत्र फैल गई थी। इसलिए अनेक राजा-महाराजाओं ने रुधिरराजा से उसकी याचना की थी। राजा बड़े असमंजस में पड गया कि वह किसको अपनी कन्या दे, किसको न दे? अन्ततोगत्वा उसने रोहिणी के योग्य वर का चुनाव करने के लिए स्वयंवर रचने का निश्चय किया। रोहिणी पहले से ही वसुदेवजी के गुणो पर मुग्ध थी। वसुदेवजी भी रोहिणी को चाहते थे। वसुदेवजी उन दिनों गुप्त रूप से देशाटन के लिए भ्रमण कर रहे थे। राजा रुधिर की ओर से स्वयंवर की आमंत्रणपत्रिकाएँ जरासध, आदि सब राजाओं को पहुंच चुकी थी। फलतः जरासंध, आदि अनेक राजा स्वयंवर मे उपस्थित हुए। वसुदेवजी भी स्वयं वर का समाचार पाकर वहाँ आ पहुँचे। वसुदेवजी ने देखा कि इन बड़े-बड़े राजाओं के समीप बैठने से मेरे मनोरथ मे विघ्न पड़ेगा, अतः मृदंग बजाने वालो के बीच मे वैसा ही वेप बना कर बैठ गए। वसुदेवजी मृदग बजाने में बड़े निपुण थे। अतः मृदंग बजाने लगे। नियत समय पर स्वयंवर का कार्य प्रारम्भ हुआ। ज्योतिपी के द्वारा शुभमुहूर्त की सूचना पाते ही राजा रुधिर ने रोहिणी (कन्या) को स्वयंवर में प्रवेश कराया। रूपराशि रोहिणी ने अपनी हंसगामिनी गति एवं नूपुर की झंकार से तमाम राजाओं को आकर्पित कर लिया। सबके सब टकटकी लगा कर उसकी ओर देख रहे थे। रोहिणी धीरे-धीरे अपनी दासी के पीछे-पीछे चल रही थी। सब राजाओ के गुणों और विशेपताओ से परिचित दासी क्रमशः प्रत्येक राजा के पास जा कर उसके नाम, देश, ऐश्वर्य, गुण और विशेपता का स्पष्ट वर्णन करती जाती थी। इस प्रकार दासी द्वारा समुद्रविजय, जरासध आदि तमाम राजाओं का परिचय पाने के बाद उन्हें स्वीकार न कर रोहिणी जब आगे बढ़ गई तो वसुदेवजी हर्पित होकर मृदंग बजाने लगे। मृदग की सुरीली आवाज में ही उन्होंने यह व्यक्त किया—

'मुग्धमृगनयनयुगले! शीघ्रमिहागच्छ मैव चिरयस्व।
कुलविक्रमगुणशालिनि! त्वदर्थमहमिहागतो यदिह॥'

अर्थात्—'हे विस्मयमुग्धमृगनयने! अब झटपट यहाँ आ जाओ। देर मत करो। हे कुलीनता और पराक्रम के गुणों से सुशोभित सुन्दरि! मैं तुम्हारे लिए ही यहाँ (मृदंगवादकों की पंक्ति में) आ कर बैठा हू।'

मृदंगवादक के वेप में वसुदेव के द्वारा मृदंग से ध्वनित उक्त आशय को सुन कर रोहिणी हर्प के मारे पुलकित हो उठी। जैसे निर्धन को धन मिलने पर वह

आनन्दित हो जाता है, वैसे ही निराश रोहिणी भी आशाघन पा कर आनन्दविभोर हो गई और शीघ्र ही वसुदेवजी के पास जा कर उनके गले में वरमाला डाल दी। एक साधारण मृदंग बजाने वाले के गले में वरमाला डालते देख कर सभी राजा, राजकुमार विक्षुब्ध हो उठे। सारे स्वयंवरमण्डप मे शोर मच गया। सभी राजा चिल्लाने लगे—"बडा अनर्थ होगया ! इस कन्या ने कुल की नीति-रीति पर पानी फेर दिया। इसने इतने तेजस्वी,सुन्दर और पराक्रमी राजकुमारों को ठुकरा कर और न्यायमर्यादा को तोड़ कर एक नीच वादक के गले में वरमाला डाल दी ! यदि इसका इस वादक के साथ अनुचित सम्बन्ध या गुप्तप्रेम था तो राजा रुधिर ने स्वयंवर रचा कर क्षत्रियकुमारों को आमंत्रित करने का यह नाटक क्यों रचा ? यह तो हमारा सरासर अपमान है ?" इस प्रकार के अनेक आक्षेप-विक्षेपो से उन्होने राजा को परेशान कर दिया। राजा रुधिर किंकर्तव्यविमूढ और आश्चर्यचकित हो कर सोचने लगा—"विचारशील, नीतिनिपुण और पवित्र विचार की होते हुए भी, पता नहीं, रोहिणी ने इन सब राजाओ को छोड़ कर एक नीच व्यक्ति का वरण क्यों किया ? रोहिणी ऐसा अज्ञानपूर्ण कृत्य नही कर सकती; फिर रोहिणी ने यह अनर्थ क्यों किया ?" अपने पिता को इसी उधेड़बुन में पड़े देख कर रोहिणी ने सोचा कि 'मैं लज्जा छोड़ कर पिताजी को इनका (अपने पति का) परिचय कैसे दूं ?' वसुदेवजी ने अपनी प्रिया का मनोभाव जान लिया। इधर जब सारे राजा लोग कुपित होकर अपने दल-बलसहित वसुदेवजी से युद्ध करने को तैयार हो गए, तब वसुदेवजी ने भी सबको ललकारा—"क्षत्रियवीरो ! क्या आपकी वीरता इसी में है कि आप स्वयंवर-मर्यादा का भंग कर अनीति-पथ का अनुसरण करें ! स्वयंवर के नियमानुसार जब कन्या ने अपने मनोनीत वर को स्वीकार कर लिया है, तब आप लोग क्यों अड़चन डाल रहे हैं ?" राजा लोग न्याय-नीति के रक्षक होते हैं, नाशक नहीं। आप स्वयं समझदार है, इतने में ही सब समझ जाइए।" इस नीतिसंगत बात को सुन कर न्यायनीतिपरायण सज्जन राजा तो झटपट समझ गए और उन्होंने युद्ध से अपना हाथ खींच लिया। वे सोचने लगे कि इस बात मे अवश्य कोई न कोई रहस्य है। इस प्रकार की निर्भीक और गंभीर वाणी किसी साधारण व्यक्ति की नहीं हो सकती। लेकिन कुछ दुर्जन और अड़ियल राजा अपने दुराग्रह पर अड़े रहे। जब वसुदेवजी ने देखा कि अब सामनीति से काम नही चलेगा; ऐसे दुर्जन तो दण्डनीति-दमननीति से ही समझेंगे, तो उन्होंने कहा "तुम्हें वीरता का अभिमान है तो आ जाओ मैदान मे ! अभी सब को मजा चखा दूंगा।"

वसुदेवजी के इन वचनों ने जले पर नमक छिड़कने का काम किया। सभी दुर्जन राजा उत्तेजित हो कर एक साथ वसुदेवजी पर टूट पड़े और शस्त्र-अस्त्रों से प्रहार करने लगे। अकेले रणशूर वसुदेवजी ने उनके समस्त शस्त्रास्त्रों को विफलकर सब राजाओं पर विजय प्राप्त की।

राजा रुधिर भी वसुदेवजी के पराक्रम से तथा बाद में उनके वंश का परिचय पा कर मुग्ध हो गया। हर्षित हो कर उसने वसुदेवजी के साथ रोहिणी का विवाह कर दिया। प्राप्त हुए प्रचुर दहेज एवं रोहिणी को साथ ले कर वसुदेवजी अपने नगर को लौटे। इसी रोहिणी के गर्भ से भविष्य मे बलदेवजी का जन्म हुआ, जो श्रीकृष्णजी के बड़े भाई थे।

इसी तरह किन्नरी, सुरूपा और विद्युन्मती के लिए भी युद्ध हुआ। ये तीनों अप्रसिद्ध हैं। कई लोग विद्युन्मती को एक दासी बतलाते हैं, जो कोणिक राजा से सम्बन्धित थी, और उसके लिए युद्ध हुआ था। इसी प्रकार किन्नरी भी चित्रसेन राजा से सम्बन्धित मानी जाती है, जिसके लिए राजा चित्रसेन के साथ युद्ध हुआ था। जो भी हो, ससार में ज्ञात-अज्ञात, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध अगणित महिलाओं के निमित्त से भयंकर युद्ध हुए हैं, जिसकी साक्षी शास्त्रकार इस सूत्रपाठ से दे रहे हैं—'अन्नेसु य एवमादिएसु बहवो महिलाकएसु सुव्वंति अइक्कंता संगामा गामधम्म-मूला।'

अब्रह्मसेवन का दूरगामी भयंकर फल—जो वात संसार मे प्रकृतिविरुद्ध, नीतिविरुद्ध, धर्मविरुद्ध तथा लोकविरुद्ध होती है, उसमें प्रवृत्ति करने में बड़ी-बड़ी अड़चने आती हैं, कई दफा तो ऐसी प्रवृत्ति करने वाले के प्राण भी खतरे में पड जाते हैं। अब्रह्मचर्यसेवन भी उनमे से एक है। अब्रह्मचर्यसेवन की मुख्य निमित्त स्त्री है और उसे उचित या अनुचित तरीको से प्राप्त करने में भूतकाल में भी बडी-बडी लडाइया हुई हैं, और वर्तमान में भी होती हैं। कई दफा तो जायज तरीके से किसी स्त्री के साथ पाणिग्रहण करने में भी बडे खतरों का सामना करना पडता है। यह तो हुई स्त्री को प्राप्त करने में दिक्कतों की बात, जिसका जिक्र इससे पहले के पृष्ठों में हम कर आए है। अव शास्त्रकार अब्रह्म-सेवन से होने वाले इहलौकिक और पार-लौकिक, निकटवर्ती और दूरवर्ती अशुभपरिणामों का निरूपण निम्नोक्त पाठ द्वारा करते हैं—अबंभसेविणो इहलोए वि नट्ठा परलोए वि णट्ठा, महया मोहतिमि-संधकारे ······ वीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टंति जीवा मोहवसं निविट्ठा।" यह वर्णन और उसका अर्थ विलकुल स्पष्ट है। इस सूत्रपाठ में अब्रह्म-सेवन के निकटवर्ती परिणामों का पहले जिक्र किया है कि महामोहमोहित और परस्त्रीलोलुप हो कर जो अब्रह्मसेवन करता है, उसके यश-कीर्ति, बुद्धि, आत्मशक्ति, भगवद् वचनों पर श्रद्धा, चारित्रबल, निर्भयता तथा शारीरिक-मानसिक ताकत आदि गुण नष्ट हो जाते हैं। इसी का अर्थ है—इस लोक में जीवन का सर्वनाश होना। जो इस लोक का जीवन बिगाड़ देता है, उसका परलोक का जीवन तो नष्ट हो ही जाता है। इसलिये भ्रष्ट जीवन वाले व्यक्ति गाढ़ महामोहान्धकार से ग्रस्त हो कर

ऐसी योनियों में जाता है, जहां उसे ज्ञान का प्रकाश अनन्त-अनन्त जन्मों तक नहीं मि पाता। वे योनियां हैं—त्रस, स्थावर, सूक्ष्म, बादर, साधारण शरीर, प्रत्येक शरीर पर्याप्तक और अपर्याप्तक तथा जरायुज, अंडज, पोतज, रसज, संस्वेदिम, सम्मूर्च्छिम उद्भिज्ज और औत्पातिक आदि। उक्त योनियों में बार-बार जन्म लेकर व तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति, देवगति और नरकगति रूप संसार में अनन्त-अनन्त चक्क काटता रहता है। इस प्रकार बार-बार जन्म और मरण के रूप में परि भ्रमण करना ही संसार कहलाता है। संसार में रहने वाले जीव वे कहलाते हैं,जिन्होंने अभी तक मोक्ष (सिद्धगति) नहीं पाया, जिनके जन्ममरण का चक्र बंद नहीं हुआ। संसारी जीवों के मुख्यतया दो भेद हैं—त्रस और स्थावर। अपनी इच्छा से स्वतंत्रता पूर्वक चल-फिर सकते हों, ऐसे जीव त्रस कहलाते हैं। त्रस जीव द्वीन्द्रिय (दो इन्द्रियों वाले जीव) से लेकर पंचेन्द्रिय (पांच इन्द्रियों वाले) तक के प्राणी होते हैं। जिनके केवल एक ही स्पर्शन-इन्द्रिय हो, उन्हे स्थावर कहते हैं। स्थावरजीव सभी एकेन्द्रिय होते हैं। त्रस और स्थावर इन दोनों प्रकार के जीवों की उत्पत्ति जिससे होती है, उसे जन्म कहते हैं। जन्म मुख्यतया तीन प्रकार का होता है—गर्भजन्म, उपपातजन्म और सम्मूर्च्छन (सम्मूर्च्छिम) जन्म। गर्भ से जन्म लेने वाले गर्भज, उपपात (देवों और नारकों के स्थानविशेष) से जन्म लेने वाले औपपातिक और सम्मूर्च्छन— (नर और मादा के संयोग के बिना—अपने आप मिट्टी, पानी आदि के संयोग विशेष) रूप से जन्म लेने वाले सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं।

गर्भजन्म माता के रज और पिता के वीर्य के संयोग से होता है। यह जन्म मनुष्यों और तिर्यंच-पंचेन्द्रियों के होता है, दूसरे प्राणियों के नहीं। गर्भजन्म तीन प्रकार का होता है—जरायुज, अंडज और पोतज। रुधिर और मांस से लिपटी हुई थैली यानी गर्भ के वेष्टन को जरायु कहते हैं, उस जरायु से जो जन्म लेते हैं वे जरायुज कहलाते हैं। मनुष्य, गाय, बैल, घोड़ा आदि सब जरायुज हैं। जो अंडे से जन्म लेते हैं, वे अंडज कहलाते हैं। समस्त प्रकार के पक्षी या सर्प आदि भी अंडज होते हैं। जो जरायु आदि के आवरण से रहित है, वह पोत कहलाता है। गर्भ से निकलते समय जिनके शरीर पर जरायु आदि किसी प्रकार का आवरण नहीं होता तथा गर्भ से निकलते ही जिनमें कूदने-फांदने की शक्ति होती है, उन्हें पोत या पोतज जीव कहते हैं—जैसे हस्ती आदि। मनुष्य के जरायुजन्म होता है, जबकि तिर्यंचपंचेन्द्रियों के ये तीनों ही प्रकार के जन्म होते हैं।

देवों और नारकीय जीवों की उत्पत्ति के जो स्थानविशेष होते हैं, उन्हें उपपात कहते हैं,वे संपुटाकार होते हैं। जब किसी का जन्म देव या नारक में होता है तो वह ऐसे संपुटाकार स्थानविशेष में होता है और अन्तर्मुहूर्त में नवयौवन-अवस्थासहित उत्पन्न हो कर उसमें से बाहर निकल आता है। इसलिए नारकों और देवो को औपपातिक कहते हैं।

गर्भज और औपपातिक जीवों के अतिरिक्त शेष सब जीवों का जन्म सम्मूर्च्छनज होता है। गर्भ के बिना ही इधर-उधर के समीपवर्ती परमाणुओं से जिनका शरीर बन जाता है, उन्हें सम्मूर्च्छनज या सम्मूर्च्छिम कहते हैं। बिच्छू, मेंढक, चींटी, कीड़े-मकोड़े, घास-पात आदि सब सम्मूर्च्छन जन्म वाले हैं। एकेन्द्रियजीव से ले कर चतुरिन्द्रिय (चार इन्द्रियों वाले) तक के जीव नियम से सम्मूर्च्छन जन्म वाले होते हैं। इनका जन्म और किसी तरह से नही होता। मनुष्य के मल-मूत्र, गंदगी आदि के चौदह स्थानो मे उत्पन्न होने वाले मानवरूप जीवाणु भी सम्मूर्छिम होते हैं। साप-मछली आदि कई पंचेन्द्रिय जीव भी सम्मूर्च्छन जन्म से होते हैं। इस सम्मूर्च्छनज जन्म के तीन भेद हैं—स्वेदज, रसज और उद्भिज्ज। पसीने से उत्पन्न होने वाले जू, खटमल आदि जीवो को स्वेदज कहते हैं। शराब आदि रस में पैदा होने वाले जीवो को रसज कहते है और पृथ्वी को फोड़ कर उत्पन्न होने वाले खंजन आदि प्राणी या वृक्ष,घासपात आदि को उद्भिज्ज कहते हैं।

त्रस और स्थावर, दोनों प्रकार के जीव पर्याप्तक भी होते है, अपर्याप्तक भी। जिन जीवों की शरीर आदि पर्याप्तियाँ पूर्ण हो चुकती है, उन्हे पर्याप्तक कहते है और जिनकी ये पर्याप्तियां पूर्ण नही हुई, उन्हें कहते है—अपर्याप्तक।

त्रस जीव स्थूलशरीर वाले ही होते हैं, इसलिए ये बादर ही होते हैं, जबकि स्थावरजीव दो प्रकार के होते हैं—बादर और सूक्ष्म। बादर जीव स्थूल शरीर वाले होते है,अतः अग्नि,शस्त्र आदि से उनका घात हो सकता है। इसलिए बादरशरीर वालों को बादर जीव कहते हैं। बादरशरीर उसे कहते हैं, जो शरीर दूसरो को रोक सके या बाधा पहुंचा सके अथवा दूसरों के द्वारा रोका जा सके या बाधित हो सके। जो शरीर किसी के रोकने से न रुक सके और न बाधित हो सके ; तथा जो शरीर न किसी को रोके, और न बाधा पहुंचाए ; उसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। सूक्ष्म शरीर वाले जीवों को सूक्ष्मजीव कहते हैं। अग्नि, शस्त्र आदि से उनका घात नहीं होता है ; ये अपनी आयु पूर्ण करके ही मरते हैं।

एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर कहते हैं। इनके पांच भेद हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। इनमें से प्रत्येक के बादर और सूक्ष्म दो-दो भेद हैं। वनस्पतिकायिक जीवों के दो भेद और हैं—साधारण और प्रत्येक। जिस वनस्पति के एक शरीर के स्वामी अनन्तजीव हों, उसे साधारण वनस्पतिकायिकजीव कहते हैं और जिस वनस्पति के एक शरीर का एक ही स्वामी हो, उसे प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव कहते हैं। प्रत्येक वनस्पतिकायिक के दो भेद और होते हैं—सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक। जिस वनस्पति के एक शरीर के आश्रित अनन्त जीव रहते हैं, उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। मानो उस

वनस्पति के एक शरीर का स्वामी तो एक जीव ही होता है,लेकिन उस शरीर पर या उसके आश्रित जहाँ दूसरे निगोदिया जीव निवास करते हों, उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। और जिस प्रत्येक वनस्पति के शरीर पर दूसरे निगोदियाजीव निवास न करते हों, उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है।

इस प्रकार शास्त्रकार के निरूपण के अनुसार संसारी जीवों का यहाँ संक्षेप में स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया है।

इस वर्णन से शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि अब्रह्मचर्यसेवन के फलस्वरूप नरक, तिर्यंच, देव और मनुष्यगतिरूप संसारचक्र में घूमता हुआ जीव अनन्तकाल तक निगोद (साधारण वनस्पतिकायिक) में भ्रमण करता है, फिर कहीं बड़ी मुश्किल से त्रसपर्याय को प्राप्त करता है। इस त्रसपर्याय को वह जीव ज्यादा से ज्यादा दो हजार सागरोपम काल तक ही धारण कर सकता है; इससे अधिक समय तक नहीं। उक्त काल बीतने पर उसे अवश्य ही एकेन्द्रिय (निगोद आदि) में पहुंचना पड़ता है, जहाँ एक श्वास में १८ बार जन्ममरण करते हुए अनन्तकाल तक निवास करना पड़ता है। त्रसपर्याय में रहते हुए यदि कभी वह नरक मे पहुंच गया तो वहाँ उसे जघन्य (कम से कम) दस हजार वर्ष से लेकर उत्कृष्ट (ज्यादा से ज्यादा) तेतीस सागरोपमकाल व्यतीत करना पड़ता है। निगोद के सिवा तिर्यंचगति की पृथ्वीकाय आदि अन्य स्थावर जीवयोनियों में पहुंच गया तो वहाँ असंख्यात वर्ष तक रहना पड़ता है। यदि संयोगवश पंचेन्द्रियतिर्यंचों या मनुष्यों मे से किसी जीवयोनि में पहुंच गया तो वहाँ भी जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति तक रहना पड़ता है।

इसी बात को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार ने कहा है—'अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियट्टंति जीवा मोहवससंनिविट्ठा।' अर्थात्— सीमारहित, लम्बे मार्ग वाले, चातुर्गतिक संसाररूप जगल में मोहवश अब्रह्मचर्यसेवन में ग्रस्त पामरजीव अनन्तकाल तक बारबार पर्यटन करते रहते है।

चारों गतियों में मिलने वाले कटुफल – शास्त्रकार पिछले अध्ययनों के मूल-सूत्रपाठो में नरक, तिर्यञ्च और मनुष्यगति में प्राप्त होने वाले विभिन्न दु:खों का विशद वर्णन कर चुके हैं। अतः यहाँ भी अब्रह्मसेवन के फलस्वरूप उन्हीं दुःखों को समझ लेना चाहिए। वृत्तिकार ने इस सम्बन्ध में कुछ गाथाएँ लिखी हैं, जिन्हें हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

नरएसु जाइं अइकक्खडाइं, दुक्खाइं परमतिक्खाइं।
को वण्णेइ ताइं जीवंतो वासकोडीहिं ॥१॥
कक्खडदाहं सामलि, असिवण-वेयरणि-पहरणसएहिं।
जा जायणाओ पावंति निरया तं अहम्मफलं ॥२॥

तिरिया कसंकुसारानिवायवहमारणबंधणसयाइं ।
अवि इह पावंति, परछिज्जइ नियमिया हुंता ॥३॥
आजीवसंकिलेसो, सुक्खं तुच्छं उवद्दवा बहुया ।
नीयजणसेवणा वि य, अणिट्ठवासो य मणुयस्स ॥४॥
चारयनिरोह - वह-बंध - रोग - धणहरण - मरणवसणाइं ।
मणसंतावो अयसो, विग्घोवणया य माणुस्से ॥५॥
चितासंतावेहि य, दारिद्दरूवाइं दुप्पकत्ताइं ।
लद्धूण वि माणुस्सं, मरंति केइ सुनिविण्णा ॥६॥
देवाण वि देवलोए, जं दुक्खं तं नरो सुभणिओ वि ।
न भणइ वाससएण वि, जस्स वि जीहा सयं हुज्जा ॥७॥
देवा वि देवलोए, दिव्वाभरणाणुरंजियसरीरा ।
जं परिवडंति तत्तो, तं दुक्खं दारुणं तेसिं ॥८॥
तं सुरविमाणविभवं, चिंतिय चवणं च देवलोगाओ ।
इय बलिओ चिय जन्नवि, फुट्टइ सयसक्करं हिययं ॥९॥
ईसा-विसाय - मय - कोह-मोह - माएहिं एवमाईहिं ।
देवावि समभिभूया, तेसिं कत्तो सुहं नाम ॥१०॥
एवं चउगइगमणे, संसारे दुहमए सरंताणं ।
जीवाणं नत्थि सुहं, संवरधम्मे अपत्ताणं ॥११॥
सण्णा-कसाय-विगहा, पमाय-मिच्छत्त-दुट्ठजोया य ।
दुहज्झाणवसगा, जीवा पावंति दुहसेणि ॥१२॥
एवं नाउण सया, अपमाएणं हविज्ज दक्खत्ते ।
तम्हा मोहाइदोससंगयमाणाइयं मुयह ॥१३॥

अर्थात्—विविध नरकों में जो अतिकर्कश—कठोर और अतितीक्ष्ण दुःखों को जीव प्राप्त करता है,करोड़ों वर्षों तक जीवित रह कर भी कौन उनका वर्णन कर सकता है ? नारकजीव अत्यन्त कठोर दाह, शाल्मलि, असिवन, वैतरणी तथा सैकड़ों प्रहारों द्वारा जिन-जिन यातनाओं को पाते हैं ; वह अधर्म का फल है । तिर्यंच (पशु-पक्षी आदि) भी नियमित रूप से चाबुक, अंकुश, आर, वध, मारण-(मारपीट), बन्धनरूप सैकड़ों प्रकार के क्लेश आजीवन पाते हैं । हमेशा वे पराधीन रहते हैं । मनुष्य जीवन में भी सुख तुच्छ हैं, उपद्रव और दुःख बहुत हैं । यहाँ नीचजनों की सेवा, अनिष्टनिवास, जेल में बन्द करना, मारना-पीटना, हाथों-पैरों को बन्धनों से जकड़ना, रोग, धनहरण, मृत्यु आदि विपत्तियाँ हैं, मानसिक संताप है, अपयश है, विघ्न हैं, चिन्ताएँ हैं । मनुष्यजन्म प्राप्त करके भी दरिद्रतारूपी दुर्दशा है ; अतः कई अत्यन्त विलाप करते-करते मरते हैं । देवलोक में देवों को जो दुःख होता है, उसे अच्छा पढ़ालिखा मनुष्य,

जिसकी सौ जिह्वाएँ हो तो भी,सौ वर्ष में भी वह कह नहीं सकता। देवलोक में दिव्य अलंकार से सुसज्जित शरीर वाले देव जब वहाँ से च्युत होते हैं—शरीर छोड़ते हैं; तब वह दुःख उनके लिए अतिदारुण होता है। उस देवविमान के वैभव को, देवलोक से च्यवन—दूसरे लोक में गमन को सोच-सोच करके चाहे जितना बलवान हो तो भी उसका हृदय सौ टुकड़ों में फट जाता है। देवता भी ईर्ष्या, विषाद, मद, क्रोध, मोह, लोभ, माया इत्यादि दुर्गुणों से पीड़ित है; तब भला उन्हें सुख कहाँ से हो? इस प्रकार चारो गतियों मे गमनरूप दुःखमय संसार मे भ्रमण करते हुए संवरधर्म को अप्राप्त (नही पाए हुए) जीवो को कही सुख नहीं है। इस संसार में संज्ञा, कषाय, विकथा, प्रमाद, मिथ्यात्व, दुष्प्रयोग (मन-वचन-काया का व्यापार) एवं दुर्ध्यान के वशीभूत जीव दुःखों की परम्परा पाते हैं। ऐसा जान कर चतुर जीवों को सदा अप्रमादी हो कर अनादिकालीन मोह आदि दोषों का संग छोड़ देना चाहिए।

उपसंहार—इस सूत्रपाठ के अन्त में, शास्त्रकार अब्रह्मसेवन के फलविपाक पर पुनः सक्षेप में प्रकाश डालते हैं। इसका अर्थ मूलार्थ और पदार्थान्वय से स्पष्ट है।

सारांश यह है कि अब्रह्मचर्यसेवन की देवों, मनुष्यों, असुरों, तिर्यञ्चों आदि मे सर्वत्र धूम है और उसका कटुफल भी अनन्तकाल तक भोगना पड़ता है; परन्तु फल भोगने के समय बुद्धि पर मिथ्यात्व का पर्दा होने से पुनः पुनः जीव इस चिरपरिचित कामविकार का सेवन करता है और फिर संसारसागर में गोते लगाता है। अतः अब्रह्मचर्य का त्याग किये बिना जीव को कदापि शान्ति नहीं मिलती।

इस प्रकार सुबोधिनीव्याख्यासहित प्रश्नव्याकरणसूत्र के चतुर्थ अध्ययन—अब्रह्मचर्य आश्रव के रूप में चौथा अधर्मद्वार समाप्त हुआ।

पंचम अध्ययन : परिग्रह आश्रव

परिग्रह का स्वरूप

चतुर्थ अध्ययन—अब्रह्मचर्य आश्रव के रूप में चतुर्थ अधर्मद्वार का निरूपण करने के पश्चात् अब शास्त्रकार पंचम अध्ययन में परिग्रह-आश्रव के रूप में पांचवें अधर्मद्वार का निरूपण करते हैं। चूंकि अब्रह्मचर्यसेवन परिग्रह के होने पर ही होता है। इसलिए शास्त्रकार अब क्रमशः परिग्रह का वर्णन प्रारम्भ करते हैं। शास्त्रकार अपनी निरूपणशैली के क्रम के अनुसार स्वरूप आदि पांच द्वारों में से सर्वप्रथम परिग्रह के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं—

मूलपाठ

जंबू ! इत्तो परिग्गहो पंचमो उ नियमा णाणामणि-कणग-रयण - महरिहपरिमल- सपुत्तदार-परिजण-दासी-दास-भयग-पेस-हय-गय-गो-महिस-उट्ट-खर-अय-गवेलग-सीया-सगड-रह-जाण-जुग्ग संदण-सयणासण-वाहण-कुविय-धण-धन्न-पाण-भोयणाच्छायण-गंध-मल्ल-भायण-भवणविहिं चेव बहुविहीयं भरहं णग-णगर-णियम-जणवय-पुरवर-दोणमुह-खेड-कव्वड- मडंब-संवाह-पट्टण-सहस्सपरि-मंडियं थिमिय-मेइणीयं एगच्छत्तं ससागरं भुंजिऊण वसुहं अपरि-मियमणततण्ह-मणुगय-महिच्छसार-निरयमूलो, लोभकलिकसाय-महक्खंधो, चितासयनिचियविपुलसालो, गारवपविरल्लियग्ग-विडवो, नियडितयापत्तपल्लवधरो, पुप्फफलं जस्स कामभोगा, आयासविसूरणा-कलहपकंपियग्गसिहरो, नरवतिसंपूजितो, बहु-जणस्स हिययदइओ, इमस्स मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स फलिहभूओ चरिमं अहम्मदारं ॥ सू० १७ ॥

संस्कृतच्छाया

जम्बू ! इतः परिग्रहः पंचमस्तु नियमात् नानामणि-कनक-रत्न-महार्ह-परिमल-सपुत्रदार-परिजन-दासी - दास - भृतक -प्रेष्य-हय-गज-गो-महिषोष्ट्र-खराऽज-गवेलक-शिविका-शकट-रथ-यान-युग्य-स्यन्दन-शयनासन-वाहन-कुप्य-धन-धान्य-पान-भोजनाच्छादन-गन्ध-माल्य-भाजन-भवनविधिं चैव बहुविधिकं भरतं नग-नगर-निगम-जनपद-पुरवर-द्रोणमुख-खेट-कर्वट-मडम्ब-संवाह-पत्तन सहस्रपरिमंडितम्, स्तिमितमेदिनीकम्, एकच्छत्रम्, ससागरम्, भुक्त्वा वसुधाम् अपरिमितानन्ततृष्णाऽनुगतमहेच्छसारनिरयमूलो, लोभकलिकषाय-महास्कन्धश्चिन्ताशतनिचितविपुलशालो(शाखो), गौरवविस्तारवदग्र-विटपो, निकृतित्वचापत्रपल्लवधरः, पुष्पफलं यस्य कामभोगाः, आयास-विसूरणा-कलह - प्रकम्पिताऽग्रशिखरो, नरपतिसंपूजितो, बहुजनस्य हृदयदयितः; अस्य मोक्षवरमुक्तिमार्गस्य परिघभूतश्चरममधर्म द्वारम् ॥ (सू० १७) ॥

पदार्थान्वय—श्री सुधर्मास्वामीजी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं—(जंबू) हे जम्बू ! (इत्तो) इस चौथे अब्रह्मनामक आश्रवद्वार के अनन्तर (पंचमो उ) पांचवां आश्रव (नियमा) नियम से, (परिग्गहो) परिग्रह है, (बहुविहीयं) वह अनेक प्रकार का है। (णाणामणि-कणग-रयण-पेस-हय-गय-गो-महिस-उट्ट-खर-महरिह - परिमल सपुत्तदार-परिजण-दासी-दास-भयग-अय-गवेलग-सीया-सगड-रह - जाण-जुग्ग-संदण-सयणासण-वाहण-कुविय-धण-धन्न-पाण-भोयणाच्छायण-गंध-मल्ल-भायण - भवणविहिं) अनेक प्रकार की मणियों, सुवर्ण, कर्केतनादि रत्नों, बहुमूल्य सुगन्धित द्रव्यों, पुत्रों सहित स्त्रियों, परिवारों, दासी-दासों, कर्मचारियों, नौकर-चाकरों, हाथियों, घोड़ों, गायों, बैलों, भैंसों, ऊंटों, गधों, बकरे-बकरियों, भेड़ों, शिविकाओं—पालकियों, गाड़ियों, रथों, जहाजों या विशेष प्रकार की सवारियों, गोल्ल नामक देशविशेष में प्रसिद्ध दो हाथ की पालकियो, विशेष प्रकार के रथों, शय्याओं, आसनों, वाहनों—नौकाओं, कुप्य-सोने-चांदी को छोड़ कर घर का शेष सामान, धन—नकद रुपया-पैसा आदि, धान्यों—गेहूँ-चावल आदि अनाजों, दूध आदि पेय पदार्थों, भोज्यपदार्थों, सुगन्धिद्रव्यों, पुष्प मालाओं, बर्तन-भांडों और मकानों के प्राप्त संयोगों का; (चेव) उसी प्रकार (णग-णगर-णियम-जणवय-पुरवर-दोणमुह-खेड-कब्बड-मडंब-संवाह - पट्टण -सहस्सपरिमंडियं) हजारों पर्वतों, नगरों, निगमों—व्यापारी मंडियों, प्रदेशों, महानगरों, बंदरगाहों या जलमार्ग व स्थलमार्ग से जुड़े हुए स्थानों, चारों ओर धूल के कोट वाली बस्तियों—

खेड़ों, कस्बों—छोटे नगरों, मडंबों—जिनके चारों ओर ढाई-ढाई कोस तक बस्ती न हो, ऐसी बस्तियों, संवाहों दुर्गों या सुरक्षास्थलों एवं पत्तनों—बड़े शहरों जहां देश विदेश के लोग वस्तुएँ खरीदने बेचने के लिए आते हों,अथवा जहां रत्नादि का व्यापार होता हो ; इन सबसे सुशोभित तथा (थिमियमेइणीयं) जहां के निवासी निर्भयता—निश्चिततापूर्वक रहते हों, ऐसे (एगच्छत्तं) एकच्छत्र—अन्य राजा के आधिपत्य से रहित (ससागरं) समुद्रपर्यन्त (भरहं) भरतक्षेत्र का, तथा (वसुहं) उसके अन्तर्गत पृथ्वी का, (भुंजिऊण) उपभोग या पालन करके, (अपरिमिय-मणंततण्हमणुगयमहिच्छसार-निरयमूलो)असीम व अनंत तृष्णा तथा लगातार बढ़ती हुई इच्छाएँ ही जिसमें प्रमुख हैं; अतएव जो नरक का मूल है; (लोभ-कलि-कसायमहक्खंधो) लोभ, कलह, कषाय ही जिसका महास्कन्ध—विशाल धड़ है। (चितासयनिचियविपुल सालो) सैकड़ों चिन्ताएँ ही जिसकी घनी और विस्तीर्ण शाखाएँ हैं, अथवा सैकड़ों चिन्ताएँ ही जिसकी निरन्तर फैली हुई डालियां हैं; (गारव-पविरल्लियग्गविडवो) ऋद्धि, रस और साता का गौरव ही जिसके शाखा के बीच के अग्रभाग हैं—तने हैं, (नियडितया-पत्त-पल्लवधरो) छल-कपट या एक मायाचार को छिपाने के लिए दूसरा मायाचार करना अथवा धूर्तता ही जिसकी त्वचा (छाल), बड़े पत्ते व छोटे पत्ते हैं, तथा (कामभोगा) कामभोग ही (जस्स जिसके (पुप्फफलं) फूल और फल हैं। (आयास-विसूरणा-कलह-पकंपियग्ग सिहरो) शारीरिक श्रम, चित्त का खेद और कलह ही जिसका कम्पायमान अग्रशिखर—ऊपर का सिरा है; ऐसा परिग्रहरूपी वृक्ष है; जो (नरवतिसंपूजितो) राजाओं द्वारा भलीभांति सम्मानित है, (बहुजणस्स हियय दइओ) बहुत-से लोगों के हृदय को प्यारा है, यह (इमस्स मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स) इस प्रत्यक्ष भावमोक्ष के मुक्तिरूप निर्लोभरूप मार्ग-उपाय का (फलिहभूओ) अर्गलरूप है। और (चरिमं अधम्मदारं) अन्तिम अधर्मद्वार है।

मूलार्थ—श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं—'हे जम्बू! इस चौथे अब्रह्मनामक आश्रवद्वार के निरूपण के पश्चात् पांचवां आश्रव बताता हूँ, जो परिग्रह है। वह अनेक जाति की चन्द्रकान्त-सूर्यकान्त आदि मणियों, सोना, कर्केतन आदि रत्नों, बहुमूल्य, कस्तूरी, केसर, तेल आदि सुगन्धित द्रव्यों पुत्रों समेत स्त्रियों, कुटुम्ब—परिवारों, दास-दासियों, कर्मचारियों, नौकर-चाकरों, घोड़ों, हाथियों, गाय-बैलों, महिषों-भैंसों, ऊंटों, गधों, बकरे-बकरियों, भेड़ों, पालकियों, [illegible]ों, रथों, यानों—विशेष

प्रकार की गाड़ियों, गोल्ल देश में प्रसिद्ध दो हाथ की पालकियां, विशेष रथों, शय्याओं, आसनों, जहाजों—नौकाओं, घर का सब सामान—कुप्य, नकद रुपये—पैसे आदि धन, गेहूं चावल आदि धान्यों—अनाजों, दूध आदि पेय पदार्थों, अशनादि चारों प्रकार का आहार, वस्त्रों, सुगन्धचूर्णादि द्रव्यों फूलों की मालाओं, थाली, कटोरे आदि बर्तनों, एवं मकानों के प्राप्त संयोगों का तथा हजारों पर्वतों, नगरों, व्यापारीमंडियों, जनपदों-प्रदेशों, नगर के सिरे पर बसी हुई बस्तियों—उपनगरों, बदरगाहों—जलमार्गों और स्थलमार्गों से युक्त, धूलि के कोट वाले खेड़ों, कस्बों, चारों ओर ढाई योजन तक के बस्ती से रहित भूभागों, संवाहों—रक्षा के लिए अन्नादि के संग्रह से युक्त बस्तियों, पट्टणों-जहाँ देश-देशान्तर से लोग माल खरीदने—बेचने आते हों, अथवा रत्न आदि का व्यापार होता हो, ऐसे स्थानों से मंडित—युक्त, तथा जहाँ लोग निश्चिन्तता-स्थिरता से रहते है, ऐसी भूमि से युक्त, एकच्छत्र (निष्कंटक) और सागर-पर्यन्त भरत क्षेत्र से सम्बन्धित पृथ्वी के राज्य का उपभोग करके असीम, अनन्त तृष्णा (प्राप्त पदार्थों की रक्षा एवं उनकी वृद्धि की लालसा) और लगातार बढ़ती हुई बड़ी-बड़ी इच्छाएँ ही प्रधान रूप से जिसमें है, ऐसे परिग्रह रूपी वृक्ष का शुभफल रहित नरक मूल है, लोभ, कलह और कषाय ही उस परिग्रह वृक्ष का विशालस्कन्ध है,—मोटी धड़ है। सैंकड़ों चिन्ताएं ही जिसकी निरन्तर फैलती हुई या सघन और विस्तीर्ण शाखाएं है; रस, ऋद्धि और साता को गौरव—आदर प्रदान करना ही जिसकी अग्रशाखाएं—पतली टहनिया हैं, छलकपट या एक मायाचार को छिपाने के लिए दूसरा मायाचार—दम्भ ही उस परिग्रहवृक्ष की छाल, बड़े पत्ते और कोंपले (छोटे पत्ते) हैं। तथा कामभोग ही जिसके फूल एवं फल है; शरीरश्रम और चित्त का खेद ही जिस परिग्रह वृक्ष का कंपायमान अग्र शिखर—सिरा है।

ऐसा यह परिग्रह वृक्ष है; जिसका राजा लोगों ने भली-भाँति आदर किया है, अनेक लोगों के हृदय को यह प्रिय लगता है और इस प्रत्यक्ष भावमोक्ष के निर्लोभ (मुक्ति) रूप उपाय के लिए अर्गल के समान है, ऐसे यह अन्तिम आश्रव—परिग्रह रूप अधर्म द्वार है।

व्याख्या

अब्रह्म का एक बाह्य कारण परिग्रह भी है, इसलिए अब्रह्म का निरूपण करने के बाद शास्त्रकार ने क्रमप्राप्त पांचवें आश्रव या अधर्म का निरूपण किया है।

वास्तव में 'संसारमूलमारम्भास्तेषां हेतुः परिग्रहः' इस सूक्ति के अनुसार संसार के मूल कारण आरम्भ—हिंसाजनक कार्य—हैं और उनका कारण परिग्रह है।

परिग्रह का लक्षण —परिग्रह का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ इस प्रकार है—'परि-सामस्त्येन ग्रहणं परिग्रहण, मूर्च्छावशेन परिगृह्यते, आत्मभावेन ममेति बुद्ध्या गृह्यते इति परिग्रहः' किसी चीज का समस्तरूप से ग्रहण करना, अथवा मूर्च्छावश जिसे ग्रहण किया जाता है या अपनेपन—मेरेपन के भाव से 'मेरी है', इस बुद्धि से जिसे ग्रहण किया जाय, उसे परिग्रह कहते हैं।

वास्तव मे परिग्रह उसी का नाम है, जिसे ममत्वबुद्धि से ग्रहण किया जाय। आत्मा ज्यो-ज्यो ममत्वबुद्धि से किसी चीज को ग्रहण करता जाता है,त्यो-त्यो वह भारी होना चला जाता है। जैसे भारी चीज हमेशा नीचे जाती है, वैसे ही आत्मा परिग्रह के पाप से भारी हो जाने के कारण नीचे से नीचे नरक मे जाती है। अपनी अज्ञानता,मोह या ममता के वशीभूत हो कर आत्मा ज्यो-ज्यों किसी वस्तु या दुर्भाव को हितकारी समझ कर ग्रहण करती जाती है, त्यों-त्यों वह उसके चक्कर मे फँस कर अपने ज्ञान, सुख आदि स्वभाव को खो बैठती हैं। जैसे मकड़ी अपने मुंह मे से तन्तु निकालती है और उसी के जाल मे स्वय फस कर अपना सर्वस्व—प्राण तक गवा देती है,वैसे ही आत्मा भी अपने ही ममत्वजाल में स्वय फस कर अपना सर्वस्व गँवा देती है।

यही कारण है कि परिग्रह का लक्षण तत्त्वार्थसूत्र मे बताया गया है—'मूर्च्छा परिग्रहः' अर्थात्—मूर्च्छा-ममता-आसक्ति ही परिग्रह है।

प्रश्न यह होता है कि यदि परिग्रह का लक्षण ममता-मूर्च्छा ही है, तब शास्त्र-कार ने धन, धान्य आदि को परिग्रह क्यो कहा ? और आगम में इनके त्याग को परिग्रह-त्याग कैसे बताया ?

इसके उत्तर मे यही कहना है कि यदि ग्रहण करना ही परिग्रह होता तो मनुष्य कई ऐसी चीजें ग्रहण करता है, जो धर्मपालन, परोपकार या स्वपर-कल्याण के लिए आवश्यक होती है। जैसे साधु वर्ग के लिए वस्त्र-पात्र आदि धर्मोपकरण रखना, धर्म स्थान मे रहना, किसी गाव या नगर में आना और ठहरना, आहार-पानी लेना और उनका सेवन करना, ऊपर से गिरते हुए किसी बच्चे को बचाने के हेतु नि.स्वार्थभाव से झेल लेना, श्रावक-श्राविकाओ को जैनधर्म के संस्कारों व धर्माचरण से ओतप्रोत रखने के लिए संगठनबद्ध करना, शरीर धारण करना, विभिन्न शुभक्रियाओं के कारण भी कर्मों का ग्रहण करना, इत्यादि बातें ग्रहण की जाती हैं। इसलिए ये चीजें भी परिग्रह के अन्तर्गत आ जानी चाहिए। परन्तु दशवैकालिक सूत्र में इन या ऐसी ही अन्य चीजों को परिग्रह नहीं बताया गया है। वहाँ इसका स्पष्टीकरण किया गया है—

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
तंपि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा॥

अर्थात्—'वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोंछन आदि जो धर्मोपकरण साधु-मुनि धारण करते हैं या पहनते है, वह सिर्फ संयम की रक्षा के लिए, धर्मपालन के लिए और लज्जानिवारण के लिए ही। इसलिए छह काया के जीवो के त्राता ज्ञातपुत्र महर्षि महावीर ने उसे परिग्रह नही कहा है। मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है।

निष्कर्ष यह है कि धर्मपालन करने के लिए, संयम के निर्वाह के लिए या लज्जानिवारण के हेतु जो भी वस्तुएं अममत्वभाव से ग्रहण या धारण की जाती हैं, वे सब परिग्रह की कोटि में नही आतीं। परिग्रह वही कहलाएगा, जब कोई भी वस्तु ममत्वबुद्धि से, अपनी बना लेने की लालसा से आसक्ति या मूर्च्छा की दृष्टि से ग्रहण की जाएगी।

धन, धान्य आदि बाह्य पदार्थों को परिग्रह इसलिए बताया गया कि इन पदार्थों का त्याग न करने से उनमें ममत्व रहता है। बिना ममता के प्रायः बाह्य पदार्थ नही रखे जाते। अथवा सोना, चांदी, रुपया, पैसा, घर का विविध समान, हाट, हवेली, मकान, दुकान, अपने स्वामित्व से युक्त गांव, नगर आदि सब परिग्रह यों हैं कि इनके संसर्ग से ममत्त्व-भाव पैदा होता है। ये सब पदार्थ ममत्त्वभाव पैदा करने के कारण हैं।

बाह्य पदार्थों का संग्रह जिसके पास न हो, उसे यदि अपरिग्रही कहा जाए, तब तो चींटी, कुत्ते, बिल्ली, गाय आदि पशु भी अपरिग्रही सिद्ध होंगे। अतः मुख्य बात वस्तु की नहीं, ममत्व को है। जिन्हें ममत्व का त्याग नहीं है, जिनके मन में ग्रहण करने की इच्छा या लालसा है, अगर उन्हें कोई अनावश्यक या आवश्यकता के उपरांत भी खाने-पीने की चीजें दे दे तो वे उसे ममत्व-पूर्वक ग्रहण कर लेते हैं, इसलिए वे अपरिग्रही या मर्यादित परिग्रही की कोटि में नही आते।

इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि बाह्य पदार्थों के ग्रहण न करने मात्र से उनके प्रति ममत्व भी निकल गया। कई बार यह देखा जाता है कि कई व्यक्ति ऊपर से धन आदि के बड़े त्यागी दिखाई देते हैं, किन्तु अन्तरंग में ममत्व न छूटने से वे समय-समय पर कई वस्तुओं का संग्रह करने-कराने में तत्पर दिखाई देते हैं।

सारांश यह है कि ममत्व के त्यागपूर्वक बाह्य पदार्थों का त्याग करना या ममत्वभाव से रहित हो कर धर्मोपकरण, शरीर आदि का ग्रहण-धारण करना

परिग्रह का त्याग है। इसलिए वास्तविक मूल परिग्रह तो ममत्वभाव है और उसके निमित्त होने से धन आदि भी बाह्य परिग्रह हैं।

जिस व्यक्ति ने धन, धान्य आदि में ममत्व का, अधिकार का या स्वामित्व (मालिकी) का त्याग कर दिया है, उस व्यक्ति के बाह्य परिग्रह का भी त्याग हो जाता है। उसे बाह्य पदार्थों पर ममत्व रह ही कैसे सकता है? उसके सामने या आसपास लाखो की सम्पत्ति पड़ी रहे, बाग-बगीचे, मकान, दूकान, सामान, नगर, गांव या राष्ट्र रहे तो भी उन पर उसका ममत्व या स्वामित्व न रहने से उसके लिए वह परिग्रह का त्याग ही है। ऐसी हालत मे यदि उस ममत्वत्यागी को कोई आवश्यकता समझ कर धन, मकान या राज्य आदि कोई चीज देना चाहेगा या लेने के लिए अनुरोध करेगा तो भी वह उन्हे कदापि ग्रहण नहीं करेगा।

एक व्यक्ति अभाव के कारण या उपलब्ध न हो सकने के कारण बाह्य पदार्थ नही रखता, किन्तु उन सुन्दर और मनोज्ञ वस्तुओं को देख-देख कर वह मन मे ललचाता है, अथवा मन में उनके पाने के लिए चिन्तन करता है, योजना बनाता है, तो वह वास्तव मे परिग्रहत्यागी नही है। जिसे चीज उपलब्ध हो सकती है, या लोग आदरपूर्वक किसी मनोज्ञ, सुन्दर या अभीप्ट चीज को उसे भेट देना चाहते हैं, फिर भी वह उन्हें ग्रहण नही करता यहा तक कि उनकी ओर देखता तक नही, मन से भी उन्हे चाहता नहीं; वही वास्तव मे परिग्रहत्यागी है।

परिग्रह के भेद—मूर्च्छा या ममता ही परिग्रह की परिभाषा होने के कारण परिग्रह के मुख्य दो भेद होते है—अंतरंग और बाह्य। मूर्च्छा-ममता करना अन्तरग परिग्रह है। आशय यह है,जब आत्मा अपनी निजी वस्तु अर्थात् सहज शुद्ध निजस्वभाव या ज्ञानदर्शनादि निज गुणों को छोड़ कर परभावो—क्रोधादि कषायो या मिथ्यात्व, हास्यादि विकारों या राग-द्वेष आदि में रमण करने लगता है, उन्हें ही अपने मान कर अपना लेता है, तब वे कर्मजन्य विकारभाव आत्मा के लिए अन्तरग परिग्रह कहलाते है। वे अन्तरग परिग्रह १४ हैं—१ मिथ्यात्व, २ राग, ३ द्वेष, ४ क्रोध, ५ मान, ६ माया, ७ लोभ, ८ हास्य, ९ रति, १० अरति, ११ शोक, १२ भय, १३ जुगुप्सा और १४ वेद। आत्मा ने अनादिकाल से इन मिथ्यात्व आदि अन्तरग परिग्रहों को पकड़ रखा है, अपना रखा है। इनके कारण नित्य नये-नये कर्मबन्धन से जकड़ा जाता हुआ प्राणी अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्वगमनशक्ति को खो बैठा है और वायु के झोकों से चंचल बनी हुई अग्नि की लपटों के समान अपनी स्वाभाविक स्थिति से हट कर वह इधर-उधर नरक-तिर्यञ्च आदि गतियों मे गुमराह हो कर भटक रहा है। वास्तव मे मिथ्यात्व, क्रोधादि कपाय एव वेद आदि अन्तरंग परिग्रह ही आत्मा का पतन करने वाले हैं। जिनके अन्तःकरण से ये निकल गये है और

सम्यग्दर्शन, क्षमा, आर्जव आदि आत्मगुणों से जिनके हृदय ओतप्रोत हो गए हैं, उन महान् आत्माओं के हृदय में बाह्यपरिग्रह के प्रति ममत्वभाव स्वतः नष्ट हो जाता है।

ममत्वभाव के निमित्त होने से बाह्यपदार्थ भी परिग्रह बन जाते हैं। शास्त्रों में ऐसे बाह्यपरिग्रह का १० भागों में वर्गीकरण किया गया है— (१) क्षेत्र—खेत या खुली भूमि, अथवा नगर, गांव, राष्ट्र आदि क्षेत्र, (२) वस्तु—रहने के मकान, महल, बंगले, दूकान आदि, (३) हिरण्य—सोनेचांदी के सिक्के, (४) सुवर्ण—सोना, (५) धन—हीरा, पन्ना, मोती वगैरह, (६) धान्य—गेहूं, चावल, जौ आदि अनाज, (७) द्विपद-चतुष्पद—दो-पैर वाले मनुष्य या स्त्री वगैरह तथा गाय भैंस, घोड़ा आदि चौपाये जानवर, (८) दासी-दास—नौकर-नौकरानी, (९) कुप्य—सोने-चांदी के अतिरिक्त वस्त्र,बर्तन, पलंग,खाट,अलमारी आदि घर का सारा सामान। (१०) धातु—चांदी, तांबा, पीतल, लोहा आदि अन्य धातु।

'णाणामणि—कणगरयण……भवणविहिं चेव बहुविहीयं।'—पूर्वोक्त बाह्य परिग्रह को स्पष्ट रूप से बताने के लिए स्वयं शास्त्रकार निरूपण करते हैं कि अनेक प्रकार की मणियां, सोना, रत्न, आभूषण, सुगन्धित पदार्थ, स्त्री, पुत्र, परिजन, दासी, दास, नौकर-चाकर, कर्मचारी, घोड़े, हाथी, गायें, बैल, भैंस, ऊंट, गधे, बकरे-बकरियां, भेड़, पालकी, बैलगाडियां, रथ, जहाज, शय्या, पलग, बिछौने, सवारियां, घर का सब सामान, धन, धान्य, पेय पदार्थ, भोज्य पदार्थ, कपड़े, सुगन्ध, पुष्पमाला, बर्तन, मकान आदि अनेक प्रकार की चीजें मनुष्य ममत्वपूर्वक रखता है, संग्रह करता है या अपनी मान कर उन पर मूर्च्छा करता है, वे सब बाह्य परिग्रह हैं।

'भरहं णगणगर नियम……ससागरं भुंजिऊण वसुहं'—ये ऊपर गिनाई हुई वस्तुएं ही क्यों ? मनुष्य की इच्छाएं तो आकाश के समान अनन्त हैं; लोभ का कोई पार नहीं है। इसीलिए शास्त्रकार पूर्वोक्त वस्तुएं मोटेतौर से बता देने के बाद मूलपाठ की उपर्युक्त पंक्तियों द्वारा स्पष्ट बता रहे हैं कि चक्रवर्ती की विभूति मनुष्यवर्ग में सर्वोत्तम मानी जाती है। चक्रवर्ती के समान वैभव, रत्नों, निधियों तथा गौरव के पाने का सौभाग्य मनुष्यों में से किसी को नहीं होता। भूतल पर मनुष्यजाति में चक्रवर्ती ही सर्वोत्कृष्ट भौतिक शक्ति का प्रतिनिधि होता है। उसे १४ रत्न और ९ निधियां पुण्ययोग से प्राप्त होती हैं, जिनका वर्णन हम पिछले अध्ययन में कर आए हैं। भरतक्षेत्र में जितने भी पर्वत, नगर, निगम, जनपद आदि होते हैं, उन सबका स्वामी चक्रवर्ती होता है, उसका एकछत्र, निष्कंटक, स्थिर एवं समुद्रपर्यन्त विस्तीर्ण शासन होता है। लेकिन यह सब बाह्य महापरिग्रह पा कर भी चक्रवर्ती को शान्ति और सन्तोष नहीं होता है। तब थोड़ा-बहुत बाह्य परिग्रह रखने वालों को संतोष एवं शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ?

वास्तव में जिस पुण्यवान जीव ने बहुमूल्य अलंकारों से अपने शरीर को सजाया,

चन्द्रकान्त आदि मणि,सोने, चादी,हीरे आदि वहुमूल्य पदार्थ अपनी तिजोरी या भंडार मे रखे और उन्हें देख-देख कर आँखें ठंडी की; इत्र आदि वहुमूल्य सुगन्धित द्रव्यों से अपने शरीर और वस्त्रादि सुवासित किये ; सुन्दर स्त्रियों और आज्ञाकारी विनीत पुत्रों को देख-देख कर अपने मन और नेत्र में काल्पनिक शान्ति की अनुभूति की; अपने मनोनुकूल कुटुम्बीजन पाकर तथा आज्ञाकारी सेवक-सेविकाएँ पा कर झूठा सन्तोप माना; शरीर के पोपण के लिए दूध, दही, घी आदि पदार्थों के साधक गायें-भैंस आदि पशु उपलब्ध किए; सवारी के लिए हाथी, घोड़े, रथ, ऊँट आदि प्राप्त किये, गृहकार्य के लिए या परिवार का निर्वाह करने के लिए वढ़िया कपड़े, शय्या, वर्तन, मकान, भोजन, पेय-पदार्थ, धन और धान्य आदि का संग्रह किया, अभीष्ट भोगविलास के लिए *अनेक साधन जुटाए, फिर भी आत्मा की तृप्ति न हुई,आसक्ति और तृष्णा वनी रही।* ज्यों-ज्यों इन वाह्य परिग्रहों की मांग बढती गई, त्यों-त्यों चिन्ता और व्याकुलता भी वढती गई।

अतः पहले परिग्रह रूप विविध वस्तुओ के पाने की चाह, फिर प्राप्ति के लिए प्रयत्न, तदनन्तर प्राप्त वस्तु की रक्षा और फिर प्राप्त वस्तु का वियोग; ममत्व-त्याग न होने की हालत मे दूसरे के पास किसी वस्तु की प्रचुरता और अपने पास उसके न होने के कारण ईर्ष्या, द्वेष, वैरविरोध आदि; इन पाचो अवस्थाओ मे परिग्रह को ले कर दुःख और अशान्ति, चिन्ता और व्याकुलता, निराशा और उद्विग्नता मन को घेरे रहती है।

परिग्रह को वृक्ष की उपमा—यही कारण है कि शास्त्रकार ने आगे चलकर इसी सूत्रपाठ में परिग्रह को वृक्ष की उपमा दी है। "अपरिमियमणंततण्हमणुगय" से ले कर "पकंपियग्गसिहरो" तक का पाठ इस बात का साक्षी है। इस परिग्रह-रूपी वृक्ष की जड़ तृष्णा और महाभिलापा है। क्योकि प्राप्त हुए पदार्थों की रक्षारूप तृष्णा और अप्राप्त वस्तु की आकाक्षा के आधार पर ही यह परिग्रह वृक्ष टिका हुआ है। यदि ये दोनो नष्ट हो जाएँ तो परिग्रह वृक्ष गिर जाएगा। वास्तव में असीम एव अनन्त तृष्णा और लगातार नई-नई वस्तुओं को पाने की इच्छा और लालसा ही परिग्रहवृक्ष को मजबूत बनाने और टिकाए रखने वाली जड़ें हैं। ये जड़ें दिनोदिन हरीभरी होती है। मनुष्य के अरमान और उसकी बड़ी-बड़ी इच्छाएँ कभी पूरी नही होती। वे पूरी हों, चाहे न हों, मनुष्य के मन मे तृष्णा या लालसा के पैदा होते ही परिग्रह का पाप जन्म ले लेता है। इसलिए निरर्थक इच्छाओं या तृष्णाओं से वचना चाहिए।

इस परिग्रहवृक्ष का महास्कन्ध लोभ,कलह और क्रोध,मान, और माया रूप कपाय है। प्राप्त या अप्राप्त वस्तुओं के प्रति आसक्ति लोभ है,किसी इष्ट वस्तु का वियोग और अनिष्ट वस्तु का सयोग होने पर परस्पर कलह होता है। कलहके साथ क्रोध,अभिमान

और छल-कपट का गठबन्धन है ही। ये तीनों लड़ाई-झगड़े के मूल कारण हैं। परिग्रह के लिए दुनिया में भाई-भाई मे, पिता-पुत्र में, पति-पत्नी में, माता-पुत्र में भयंकर लडाइयाँ हुई हैं, सिर फुटौव्वल हुए है; तू-तू-मैं-मैं हुई है। इसीलिए लोभ, कलह और कषाय, इन तीनों को परिग्रहवृक्ष का महास्कन्ध (धड) बताया गया है।

फिर सैकडों नित नई चिन्ताएँ इस परिग्रहवृक्ष की शाखाएँ है। कहा भी है—

> अर्थानामर्जने दुःखं, अर्जितानां च रक्षणे।
> आये दुःखं, व्यये दुःखं, धिगर्थाः कष्टसंश्रयाः॥'

अर्थात्—अर्थों—धनसम्पत्ति या पदार्थों को अव्वल तो प्राप्त करने में ही चिन्ता आदि दुःख लगे हुए हैं, फिर प्राप्त हो जाने पर उन धन आदि प्राप्त पदार्थों की रक्षा करने मे चिन्ता आदि सैकड़ों कष्ट है। धन के आने में दुःख, खर्च होने में दुःख। धिक्कार है, अर्थ सुख के नहीं, कष्टों के ही आश्रयस्थान हैं।

परिग्रह बढ़ने के साथ ही क्रोध,अभिमान,माया और लोभ तो बढ ही जाते हैं। साथ ही कई ऐब भी लग जाते हैं। ऐब लग जाने पर परिग्रही मनुष्य स्वयं चिन्ताओं के जाल में फंसता है। एक चिन्ता पूरी हुई न हुई,तब तक दूसरी चिन्ता आ धमकती है। शाखाओं की तरह चिन्ताएँ नित-नई बढ़ती ही जाती हैं। इसलिए चिन्ताएँ परिग्रह-वृक्ष की डालियां है, जो बहुत दूर तक फैली हुई हैं।

ऋद्धि-रस-सातागौरवरूप इस परिग्रह वृक्ष की विस्तृत अग्रशाखाएँ हैं। जब मनुष्य के पास परिग्रह बढ़ जाता है, तो उसे अपनी ऋद्धि-विभूति, अपने पास प्रचुर धन के कारण प्राप्त हुए साधनों, इन्द्रियविषयों में रागरंग आदि में या स्वादिष्ट भोज्य वस्तुओं मे रस का एवं अपने प्राप्त हुए सुखसाधनों के द्वारा होने वाले क्षणिक सुख का घमंड हो जाता है। इससे वह दूसरों को तुच्छ समझता है,अपने हितैषियों को ठुकरा देता है, अपने सिवाय अन्य से घृणा करने लगता है।

इस परिग्रहवृक्ष की छाल (त्वचा), पत्ते और छोटे कोमल पत्ते वंचना व छल है। जब मनुष्य के पास परिग्रह बढ़ता है या वह परिग्रह बढ़ाना चाहता है तो वह अपने सगे भाई तक के साथ प्रायः झूठ-फरेब, द्रोह, छल-छिद्र या धोखेबाजी करता है।

इसके बाद इस परिग्रहवृक्ष के फूल और फल कामभोग हैं। जब मनुष्य के पास परिग्रह बढ़ता है, और वह बढ़ता है—अन्याय-अनीति या शोषण द्वारा, तब उस परिग्रही को ऐश-आराम, भोगविलास या रागरंग की सूझती है। वह नाटक-सिनेमाओं में ही अपना धन खर्च करता है। फिर उसका चित्त धार्मिक बातों में, धर्माचरण में, दान में, या शुभकार्यों में लगना कठिन है। रातदिन नाना प्रकार के

मनचाहे कामभोगों को भोगने की ही उसकी धुन बनी रहती है। भोग मानवजीवन को गला देते हैं, नि:सत्त्व कर डालते हैं, सत्य, अहिंसा, न्यायनीति के गुणों से और शरीर से भी भ्रष्ट कर देते है। जब मनुष्य के पास अनापसनाप धन के रूप मे परिग्रह आता है तो वह व्यभिचारसेवन या अनाचारसेवन करने का व्यसनी या आदी हो जाता है, और उसकी इज्जत-आबरू मिट्टी में मिल जाती है। और परिग्रहवृक्ष का अग्रशिखर है—शारीरिक खेद, चित्त में खिन्नता, परस्पर कलह, गालीगलौज आदि। परिग्रह की प्राप्ति के लिए बहुत-सी बार परिग्रहलोलुप व्यक्ति अन्याय, अनीति, गबन, कमजोरी, शोषण, चोरी आदि अनेक अनैतिक तरीकों को अपनाता है। उनमें उसे मानसिक खेद तो होता ही है। बार-बार सकट मे घिर जाने का भय, पकड़े जाने का डर, दण्ड मिलने की आशका, अनुचित ढग से प्राप्त धन आदि को छिपाने, दवाने या सरकार की नजरों से बचने की मन में योजना बनाने की धुन, बार-बार दौड़धूप से घबराहट का अनुभव, ये और इसी प्रकार के विविध मानसिक खेद तो परिग्रही को होते ही रहते हैं। शारीरिकखेद की भी कोई सीमा नही है। परिग्रहधारी को चोर, डाकू, सरकार आदि से मारे-पीटे जाने, सताये जाने या दण्डित किये जाने का खतरा रहता है। उसे कई दिनो तक नींद नही आती। अपच, मन्दाग्नि, क्षय रक्तचाप, हृदयपीडा आदि भयकर रोग उसे प्राय: घेरे रहते हैं। और परस्पर गालीगलौज, डाटडपट आदि बुरे वचन तो परिग्रह के कारण मनुष्य को प्राप्त होते ही हैं।

वास्तव मे परिग्रह विषवृक्ष की तरह महाभयकर है। लोग इससे छुटकारा पाने के बदले इसके साथ अधिकाधिक चिपटते जाते हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'नरपतिसंपूजितो बहुजणस्स हिययदइओ।' अर्थात्—परिग्रह भोग के पुतले राजा आदि लोगों द्वारा ही अधिक सम्मान्य और आदरणीय है। आजकल तो क्या राजा, क्या रक; क्या खेती करने वाला और क्या मजदूर; प्राय: सभी परिग्रह या परिग्रही का ही अधिक सम्मान-सत्कार करते हैं, उसे ही आदर देते हैं। यह बहुत लोगों के हृदय का प्यारा है। लडका अगर कमाऊ है, तो वह सबको प्यारा लगता है। बहू अगर दहेज में बहुत धन लाई है तो सबको अच्छी लगती है; इसी तरह घर मे पिता कमाता है तो पुत्र को या पुत्र की माता को अच्छा लगता है। इसलिए परिग्रह या परिग्रही को बहुत-से लोगों का हृदयवल्लभ बताया है।

'मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स फलिहभूओ'—वास्तव मे मोह या आसक्ति ही मोक्ष-प्राप्ति में मुख्य रुकावट है। मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ उपाय—निर्लोभता—मुक्ति है। परिग्रह मोहरूप या आसक्ति रूप होने से निर्लोभता—अनासक्ति के मार्ग में अर्गला के समान है। समस्त कर्मबन्धनों को तोड़ देने वाले आत्मध्यान आदि शुद्ध परिणामरूप भावमोक्ष का मार्ग निर्लोभता है; जिसे पाने में परिग्रह एक भयंकर बाधक है। यह एक

ऐसा रोड़ा है, जिससे मनुष्य इस लोक में भी विषयकषायों से मुक्ति नहीं सकता है।

वास्तव मे परिग्रह मानवजीवन के विकास मे या कर्मों के भयंकर आव को हटाने में बहुत बड़ा बाधक है। परिग्रह के कारण मनुष्य अपनी स्वतंत्रता देता है, गुलाम बन जाता है। इसलिए परिग्रह को अन्तिम अधर्मद्वार बताया है।

परिग्रह के सार्थक ना

परिग्रह को वृक्ष की उपमा दे कर तथा संसार में सब ओर परिग्रह बोलवाला बताने के बाद अब शास्त्रकार परिग्रह के पर्यायवाची एकार्थक और सार्थ नामों का निम्नोक्ति प्रकार से उल्लेख करते है—

मूलपाठ

तस्स य नामाणि इमाणि गोण्णाणि होति तीसं, तंजहा— १ परिग्गहो, २ संचयो, ३ चयो, ४ उवचओ, ५ निहा(दा)ण ६ संभारो, ७ संकरो, ८ आयरो, ९ पिंडो, १० दव्वसारो, ११ तह महिच्छा, १२ पडिबंधो, १३ लोहप्पा, १४ महिड्ढिया, (महिद्दिया १५ उवकरणं, १६ संरक्खणा य, १७ भारो, १८ संपायउप्पायको १९ कलिकरंडो, २० पवित्थरो, २१ अणत्थो, २२ संथवो २३ अगुत्ती (अकित्ति), २४ आयासो, २५ अविओगो, २६ अमुत्ती २७ तण्हा, २८ अणत्थको, २९ आसत्ती, ३० असंतोसोत्ति वि य; तस्स एयाणि एवमादीणि नामधेज्जाणि होंति तीसं ॥ (सू० १८)

संस्कृतच्छाया

तस्य च नामानीमानि गुण्यानि भवन्ति त्रिंशत् तद्यथा—१ परिग्रहः २ संचयः, ३ चयः, ४ उपचयः, ५ निधानं (निदानं) ६ सम्भारः, ७ संकरः ८ आदरः, ९ पिंडः, १० द्रव्यसारः, ११ तथा महेच्छा, १२ प्रतिबन्धः १३ लोभात्मा, १४ महर्द्धिका (महार्दिका वा), १५ उपकरणम्, १६ संरक्षणा च, १७ भारः, १८ सम्पातोत्पादकः, १९ कलिकरंडः २० प्रविस्तरः, २१ अनर्थः, २२ संस्तवः, २३ अगुप्तिः (अकीर्तिः), २४ आयासः, २५ अवियोगः, २६ अमुक्तिः, २७ तृष्णा, २८ अनर्थकः, २९ आसक्तिः, ३० असंतोषः इत्यपि च, तस्य एतानि एवमादीनि नामधेयानि भवन्ति त्रिंशत्।

पदार्थान्वय—(य) और (तस्स) उस परिग्रह के, (गोण्णाणि) गुणनिष्पन्न—सार्थक, (इमाणि) ये (तीसं) तीस, (णामाणि होंति) नाम होते हैं। (तंजहा) वे इस प्रकार हैं—(परिग्गहो) परिग्रह,(संचयो) संचय (चयो) चय—पदार्थों को इकट्ठा करना, (उवचओ) पदार्थों की वृद्धि करना—उपचय, (निहाणं) निधान—भूमि आदि में गाड़ कर रखना अथवा धन में निरन्तर बुद्धि जमाए रखना अथवा (निदाणं) सर्वदोषों का आदिकारण, (सभारो) धान्य आदि वस्तुएँ अधिक परिमाण में भर कर रखना, जमाखोरी करना, (संकरो) भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को मिला कर रखना, (आयरो) पदार्थों को आदरपूर्वक सहेज कर रखना, (पिंडो) द्रव्यों का ढेर करना, (दव्वसारो) सारभूत द्रव्य या जिसमें द्रव्य ही सार वस्तु मानी जाती है, यह (तहा महेच्छा) तथा अपरिमित इच्छा, (पडिवंधो) धन, पदार्थ आदि में आसक्ति रखना, (लोहप्पा) लोभरूप स्वभाव, (महिड्ढिया) धन आदि की महती इच्छा अथवा (महिद्दिया) बड़ी भारी याचना,(उवकरणं) घर का उपयोगी सामान,(संरक्खणा) अत्यन्त आसक्तिपूर्वकशरीरादि का जतन करना—रक्षा करना,(भारो) भाररूप-बोझिल,(संपाय-उप्पायको) अनर्थों का उत्पादक, (कलिकरंडो) कलहों-झगड़ों का पिटारा, (पवित्थरो) धन-धान्य आदि का विस्तार करना ; (अणत्थो) अनर्थों का कारण, (संथवो) स्त्री-पुत्रादि में अत्यन्त संसर्ग या गाढ़परिचयरूप आसक्ति, (अगुत्ती) इच्छाओं को दबा कर न रखना, अथवा (अकित्ति) अपयश का कारण, (आयासो) शारीरिक और मानसिक खेद, (अविओगो) धनादि का अपने से वियोग न करना, नहीं छोड़ना ; (अमुत्ती) निर्लोभता का अभाव, (तण्हा) धनादिद्रव्यों की तृष्णा—लालसा, (अणत्थको) परमार्थदृष्टि से निष्प्रयोजन—निरर्थक, (आसत्ती) पदार्थों में आसक्ति—मूर्च्छा रखना, (य) और (असंतोसोत्ति वि य) असंतोष भी ; (तस्स) उस परिग्रह के (एयाणि) ये ऊपर बताए (तीसं) तीस, तथा (एवमादीणि) इसी प्रकार के और भी (नामधेज्जाणि) नाम (होंति) होते हैं। (सू० १८)

मूलार्थ—परिग्रह के गुणनिष्पन्न—सार्थक निम्नोक्त तीस नाम हैं। वे इस प्रकार हैं—१ परिग्रह, २ संचय - सर्वथा ग्रहण करने की बुद्धि से धनादि एकत्र करना, ३ चय वर्तमानकाल की अपेक्षा से धनादि का संग्रह करना, ४ उपचय—आगामीकाल की दृष्टि से वारबार धनादि की वृद्धि करना, ५ निधान—निरन्तर धन को भूमि में गाड़ कर या तिजोरी में रखना अथवा सब दोषों का निदान, ६ संभार—धान्य आदि पदार्थों को अधिक मात्रा

में भर कर रखना, ७ संकर—अनेक तरह की वस्तुओं को मिला कर रखना, ८ आदर—धन, स्त्रीपुत्र आदि के बारे में अत्यन्त आदरपूर्वक प्रवृत्ति करना, ९ पिंड—पदार्थों का ढेर करना, १० द्रव्यसार—द्रव्य को ही सारभूत समझना, ११ धनादि के विषय में असीम इच्छाएँ रखना, १२ प्रतिबन्ध धनसम्पत्ति के बारे में अत्यन्त आसक्ति रखना, १३ लोभात्मा—द्रव्यों में लोभ का स्वभाव होना, १४ महर्द्धिका—धनादि के बारे में बड़ी-बड़ी इच्छाएँ करना, अथवा महर्द्धिका—यानी धनादि की महती याचना करना ; १५ उपकरण—गृहोपयोगी सामग्री, १६ संरक्षणा—आसक्तिवश धन, शरीर आदि का जतन करना, १७ भार—आत्मा के लिए भाररूप, १८ सपातोत्पादक—अनर्थों का जनक, १९—कलिकरंड—कलह का पिटारा,२० प्रविस्तर—व्यापारादि का फैलाना, २१ अनर्थ—अनर्थों का कारण,२२ संस्तव-स्त्रीपुत्रादि या धन आदि में आसक्तिपूर्वक अत्यन्त संसर्ग या परिचय करना ; २३ अगुप्ति—इच्छाओं को दबा कर न रखना, अथवा अकीर्ति - अपयश का कारण ; २४ आयास—शारीरिक एवं मानसिक खेद का कारण, २५ अवियोग—धनादि का अपने से वियोग न करना—न छोड़ना, २६ अमुक्ति—निर्लोभता का अभाव अथवा लोभ का न छूटना, २७ तृष्णा धन-धान्यादि को प्राप्त करने तथा प्राप्त को बढ़ाने की तीव्र लालसा करना । २८ अनर्थक—परमार्थदृष्टि से निरर्थक, २९ आसक्ति—स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थों में मूर्च्छा या गृद्धि रखना, और ३० असंतोष—संतोष का अभाव ; ये तीस परिग्रह के सार्थक नाम है, इसी प्रकार के और भी नाम इसके हो सकते हैं ।

व्याख्या

परिग्रह के स्वरूप का निरूपण करने के बाद अब शास्त्रकार ने परिग्रह के सार्थक तीस नामों का उल्लेख इस सूत्रपाठ मे किया है । यद्यपि पदार्थान्वय एवं मूलार्थ से उनका अर्थ स्पष्ट हो जाता है, फिर भी उनका रहस्य बताना आवश्यक समझ कर हम क्रमशः उन पर विश्लेषण कर रहे हैं—

'परिग्गहो'—मूर्च्छा-ममतापूर्वक शरीर,धन या अन्य साधन-सामग्री ग्रहण करना, अथवा चारों ओर से जिसका ग्रहण किया जाय, वह धनधान्यादि वस्तु परिग्रह है । इन दोनों लक्षणो में क्रमशः आभ्यन्तर और बाह्य दोनों परिग्रहों का समावेश हो जाता है ।

'संचयो'—जो भी पदार्थ मिला या अच्छा मालूम हुआ, उसे संग्रह कर लेना, संचय कहलाता है । संचय में आदमी अपनी इच्छाओं पर संयम नहीं रखता ; हर

चीज को अपनी बनाना चाहता है। जिसकी ममता जितनी अधिक होती है,वह भविष्य के लिए उतना ही अधिक संग्रह करके रखता जाता है। चाहे उस वस्तु का उपयोग न होता हो, वह काम में न आती हो ; दूसरे व्यक्ति उसके अभाव में भूखे-प्यासे या दुःखी होते हो ; सचयी इसका विवेक नहीं करता। संचय में तो चारों ओर से ग्रहण करने की ही वृत्ति रहती है ; इसलिए संचय को परिग्रह का साथी ठीक ही कहा है।

'चयो'—वर्तमानकाल की अपेक्षा से धन, धान्यादि वस्तुओं को इकट्ठा करना चय कहलाता है। चय में भी मनोवृत्ति संतोष की नहीं होती। वर्तमानकाल में किसी पदार्थ को पाने की लालसा हुई और पता नही, वह पदार्थ भविष्य में मिलेगा या नही ? इस आशंका से उसका संग्रह करना चय है। चय मे भी लोभवश मनुष्य आवश्यकता से अधिक ग्रहण करने का प्रयत्न करता है, इसलिए 'चय' भी परिग्रह का छोटा भाई है।

'उवचओ'—उपचय करना—बढाना—वृद्धि करना उपचय कहलाता है। धनादि पदार्थों को बढाने की लालसा त्यागी या व्रतधारी को छोड़कर प्रायः हर व्यक्ति में होती है। किसी के पास हजार रुपये होंगे तो वह दो हजार चाहेगा और दो हजार वाला दस हजार तथा दस हजार वाला एक लाख प्राप्त करना चाहेगा। इस तरह पदार्थों को उत्तरोत्तर बढाते रहने की लालसा बनी रहना ही उपचय कहलाता है। अतः इसे परिग्रह का सगा भाई कह दिया जाय तो कोई अत्युक्ति नही।

'निहाणं' धन को भूमि में गाड कर या तिजोरी में बद करके रखना अथवा किन्ही वस्तुओ को दवा कर रखना निधान कहलाता है। धन या पदार्थों को दवा कर या गाड कर रखने वाला प्रायः यही सोचता है कि कोई दूसरा इनका उपयोग न कर ले। असल मे ऐसा व्यक्ति न तो उन वस्तुओं का स्वय उपयोग करता है, और न ही दूसरो को उपयोग करने देता है। वह मम्मण सेठ की तरह अपनी सम्पत्ति, हीरा, माणिक्य आदि पदार्थ, या बहुमूल्य वस्त्र आदि देख-देख कर राजी होता है, ममत्व-पूर्वक उसी की चिन्ता मे डूबा रहता है, न तो खुद ही किसी काम मे उन्हें खर्च करता है, न परिवार वालों को ही खर्च करने देता है और न ही परोपकार के कार्यों में दान देता है। वह धन, साधन आदि को देख-देख कर आखें ठडी करता है। यही निधान-वृत्ति है, जो परिग्रह की ही बहन है। अथवा दोषों का निदान—मूलकारण होने से इसे निदान भी कहा जा सकता है।

'संभारो'—धान्य आदि पदार्थों को अधिक मात्रा मे भर कर रखना संभार कहलाता है। कई दफा मनुष्य कपड़ों की पेटियों पर पेटियां भर कर रखता है। वे भरी की भरी रखी रहती हैं,उतने कपड़े न तो जिंदगी में स्वयं के ही काम आते हैं और न किसी दूसरे के काम ही आते है। केवल मोह-ममतावश मनुष्य दिल मे झूठा सतोष मान लेता है

कि ये कपड़े या ये पदार्थ मेरे काम में आएँगे। उसे यह पता नहीं है कि काल किस समय आ दबोचेगा। उस समय ये सब चीजें यहीं की यहीं धरी रह जायेंगी। अथवा वह जिस समय उन पदार्थों में से किसी को काम में लेना चाहेगा, उस समय बीमारी, अशक्ति, अंगविकलता आदि अन्तरायों के कारण वह उन्हें जरा भी काम में नहीं ले सकेगा। इसलिए 'संभार' में भी परिग्रह के समान ग्रहण करके केवल भरने या भरे रखने की दृष्टि होने से यह भी परिग्रह का मित्र है।

'संकरो'—भिन्न-भिन्न पदार्थों को मिला कर—एकत्र करके रखना 'संकर' कहलाता है। कई बार मनुष्य के मन में यह विचार आता है कि अगर यह कीमती चीज अलग रखी जायगी तो कोई मांग लेगा या घर का कोई आदमी इसका इस्तेमाल कर लेगा। अतः वह उस बहुमूल्य चीज को दूसरी घटिया चीजों के साथ इस तरह मिला कर रख देता है कि दूसरे को झटपट न मिले। इस संकरवृत्ति के पीछे उस वस्तु के पीछे ममत्व की भावना होती है, और यही बात परिग्रह में होती है। इसलिए 'संकर' को परिग्रह का समानार्थक शब्द कहना उचित है।

'आयरो'—अपने शरीर, धन, धान्य आदि का आदर-सत्कार करना, लाड़-प्यार करना 'आदर' कहलाता है। कई मनुष्यों को देखा गया है कि वे अपने धन, शरीर या वस्त्र आदि को बहुत ही सहेज कर हिफाजत से रखते हैं। शरीर सशक्त है, परोपकार के काम में आ सकता है, अथवा गृहकार्य करने में भी सशक्त है, लेकिन उसके प्रति मोह या आसक्ति होती है; इसलिए वे न तो उससे कुछ काम लेते हैं, न परोपकार के लिए शरीर का उपयोग करते हैं; जीवनभर आलसी और अकर्मण्य बन कर शरीर को ही सजाने—संवारने या धनादि को हिफाजत से रखने—रखाने में लगे रहते हैं। उनकी यह वृत्ति-प्रवृत्ति मोह-ममत्ववश होती है, इस लिए आदर को परिग्रह का जनक कहना उपयुक्त है।

'पिंडो'—किसी वस्तु या धन की राशि बनाना या ढेर करना या एकत्रीकरण करना पिंड कहलाता है। मनुष्य कई बार लोभवश धन की राशि करने में या किसी वस्तु का ढेर करने में ही लग जाता है, उस धुन में वह न तो ठीक तरह से खाता-पीता है, न ही सोता है, न किसी से मिलता-जुलता है, न अपने परिवार या समाज के प्रति कर्त्तव्यों पर ध्यान देता है और न ही किसी परोपकार के काम में प्रवृत्त होता है। रातदिन मम्मण सेठ की तरह धन के ढेर लगाने में या किसी चीज को एकत्र करने में ही तेली के बैल के समान जुता रहता है। पिंड लोभवश ही होता है, और लोभ परिग्रह को उत्तेजित करता है। इस कारण पिंड को परिग्रह का जनक कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं।

'दव्वसारो'—द्रव्य को ही संसार में एकमात्र सारभूत वस्तु मानना द्रव्यसार

कहलाता है। यहां द्रव्य से धन का तात्पर्य है। कई लोग जो अत्यन्त लोभी होते हैं, वे द्रव्य को ही जीवन का सर्वस्व मानते हैं। द्रव्य के लिए नीति, न्याय, धर्म, भाई—बन्धुओं का स्नेह, पुत्रों के प्रति कर्त्तव्य, स्त्री के प्रति जिम्मेदारी, आदि सबको वे ताक मे रख देते हैं। ऐसे लोग धन के लिए ईमानदारी—बेईमानी का कोई विचार नही करते; भक्ष्य-अभक्ष्य, पेय-अपेय की भी परवाह नही करते और न लोकविरुद्ध व्यवसाय—मांस की दूकान, मदिरालय, वेश्यालय, मुर्गी खाना आदि धंधों को अपनाने से परहेज करते हैं। येन-केन-प्रकारेण धन उनके पास आना चाहिए। धन के लिए वे किसी का गला घोटने, किसी की हत्या करने या मारने-पीटने से नहीं चूकते। उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य धन कमाना होता है। क्योंकि वे धन को ही सुख का साधन, जीवन का निचोड समझते हैं। ऐसी द्रव्यसारता की वृत्ति परिग्रह-लालसा की द्योतक है। इसीलिए 'द्रव्यसार' को परिग्रह का पर्यायवाची ठीक ही कहा है।

'महिच्छा'—असीम इच्छाओं का कारण महेच्छा कहलाती है। मनुष्य की इच्छाओं की कोई सीमा नही होती। जब वह अनाप-सनाप इच्छाएँ मन में उठाता रहता है तो दूसरे किसी भी अच्छे कार्य, अपने धर्म, नियम, कर्त्तव्य या उत्तरदायित्व की ओर उसका ध्यान नही जाता। इच्छाएँ परिग्रह को जन्म देती हैं। जो-जो इच्छा-रूपी तरगें मन मे उठती हैं, मनुष्य उन्हें पूरी करने के लिए हाथ-पैर मारता है, रात दिन इसी उधेड़ बुन में रहता है। उसे जीवन में अपनी कामनाओ को पूरा करने की धुन सवार होती है। कामनाएँ कभी पूरी होती नहीं। इस कारण वह अशान्त, हताश और निराश हो जाता है। इसलिए महेच्छा परिग्रह का कारण होने से एक तरह से परिग्रह की जननी है।

'पडिबंधो'—किसी वस्तु के साथ बंध जाना, जकड़ा जाना प्रतिबंध कहलाता है। मनुष्य आसक्ति वश ही किसी चीज मे बंधता है। जैसे भौंरा सुगन्ध के लोभवश कमल को भेदन करने की शक्ति होने पर भी कमल के कोश मे बद हो जाता है, इसी प्रकार स्त्री, मकान, दूकान, धन या पदार्थ अथवा पद के मोह मे ऐसे जकड़ जाना कि उसे छोडने का सामर्थ्य होते हुए भी छोड़ना नहीं, उसके झूठे प्रेम मे बंद हो जाना ही प्रतिबंध है। ऐसा प्रतिबंध मनुष्य की स्वतंत्रता की शक्ति को कुंठित कर देता है। जैसे तोता पींजरे में बंद होकर अच्छे-अच्छे पदार्थ पाने के लोभ मे अपनी स्वतत्रता को भूल जाता है, वैसे ही किसी के प्रतिबन्ध में पड़ा हुआ मनुष्य भी अपनी स्वतत्रता को भूल जाता है। इसलिए प्रतिबन्ध भी परिग्रह की तरह एक प्रकार का बन्धन है।

'लोहप्पा'—लोभ का स्वभाव—लोभवृत्ति लोभात्मा है। लोभवश ही वस्तुओं का सग्रह करने की प्रवृत्ति होती है। लोभी वृत्ति वाला मनुष्य लोभ के वश दूसरों के

अनर्थ होते हैं। अपने प्रिय से प्रिय व्यक्ति के साथ संघर्ष और वैरविरोध परिग्रह को ले कर हुआ करता है। अनेक शारीरिक और मानसिक दुःख इसी के निमित्त से हुआ करते हैं।

'वह-बंधण-मारण-सेहणाउ काओ परिग्गहे नत्थि ।
तं जइ परिग्गहुच्चिय जइधम्मो तो नणु पवंचो ॥

अर्थात्—मारना-पीटना, बांधना, मार डालना, सजा देना इनमें से कौन-सी ऐसी पापक्रिया है,जो परिग्रह में नहीं है ? यदि इन सबको उपचार से परिग्रह मान लिया जाय तो समझ लो, शेष यतिधर्म (क्षमा आदि) इसी परिग्रहत्याग का ही विस्तार है।' दूसरी बात इससे आत्मा का कोई हित या अर्थ-प्रयोजन सिद्ध नहीं होता; उलटे यह आत्मगुणों का विघातक है, आत्मा के साथ पापकर्मों को चिपकाने वाला है और दुर्गति में ले जाने वाला है। इसलिए परिग्रह अनर्थकर है। उपर्युक्त सभी कारणों से परिग्रह अनर्थों का मूल होने से, इसे 'अनर्थ' कहा है तो कोई अनुचित नहीं।

'संथवो'—संस्तव का अर्थ होता है—परिचय। और बार-बार किसी चीज का परिचय या संसर्ग मोह-ममता का कारण बन जाता है। जितना अधिक धन, धान्य, कुल-साधन, स्त्री-पुत्र आदि के साथ सम्पर्क बढ़ता जाता है; उतना ही अधिक आसक्ति, मोह, जड़ता, ममता या लोलुपता बढ़ती जाती हैं। वस्तुतः परिग्रह आसक्ति के कारण होता है और संस्तव के कारण आसक्ति बढ़ती ही है। इसलिए संस्तव को परिग्रह का पर्यायवाची कहना ठीक ही है।

'अगुत्ती' या 'अकीत्ति'—इच्छाओं का गोपन न करना, दबा कर न रखना, खुल्ली छोड़ देना, उन पर संयम या नियंत्रण न करना, अगुप्ति कहलाती है। जब मनुष्य इच्छाओं को दबाता नहीं या उन पर कोई नियन्त्रण नहीं करता, तब इच्छाएँ उसे व्यथित, चिन्तित और उद्विग्न कर देती हैं। इच्छाएँ बढ़ाने में सुख बढ़ने की भ्रान्ति का शिकार होकर मनुष्य इच्छाओं को बढ़ाता जाता है। आखिरकार उसे इच्छाओं, आशाओं या कामनाओं का दास-गुलाम बनना पड़ता है। वह अपने जीवन का बादशाह नहीं बन सकता; वह इच्छाओं—चाहों के इशारे पर नाचता रहता है। परिग्रह अपने आप में इच्छाओं का अगोपन ही तो है। इसलिए अगुप्ति को परिग्रह की बहन कह दिया जाय तो कोई आपत्ति नहीं।

इसका एक यह अर्थ भी ध्वनित होता है कि परिग्रह के लिए मनुष्य शरीर, मन और इन्द्रियों की प्रवृत्ति को अधिकाधिक तेज करता जाता है, वह प्रवृत्ति की धुन में बह कर असंयम के कार्यों में भी प्रवृत्त हो जाता है। असंयम की प्रवृत्ति से आत्मा, मन, शरीर और इन्द्रियों को न बचाना—गोपन न करना भी अगुप्ति है।

परिग्रह में प्रसक्त मनुष्य अपने मन, वाणी, शरीर और इन्द्रियों को उन्मुक्त छोड़ देता है, उन्हें अशुभत्व या असंयम से बचाता नहीं। इसलिए अगुप्ति को परिग्रह की बहन कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं।

'अगुत्ती' के बदले कहीं-कहीं 'अकित्ति' शब्द मिलता है, उसका अर्थ है—अपकीर्ति बदनामी का कारण। परिग्रह अधिकाधिक बढ़ाने वाले प्रायः अपने धर्म, कर्तव्य या दायित्व की ओर नहीं झांक सकते, न उन्हें समाजसेवा के सत्कार्यों में सहयोग देने की स्फुरणा होती है और न ही परोपकार का चिन्तन होता है। इसलिए केवल जोड़-जोड़ कर धन इकट्ठा करने वालों की कीर्ति कभी नहीं बढ़ती, बल्कि लोग उनकी अपकीर्ति ही अधिक करते हैं, उन्हें बदनाम करने से नहीं चूकते। अतः अकीर्ति मे कारणभूत होने से इसे भी शास्त्रकार ने परिग्रह का पर्यायवाची शब्द कहा है।

'आयासो'—आयास का अर्थ है—खेद। परिग्रह के जुटाने में शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का खेद होता है। अत्यधिक शारीरिक श्रम करने पर ही व्यक्ति परिग्रही बनता है। किन्तु इसके साथ मानसिक श्रम भी कम नहीं होता। धन आदि का अर्जन, रक्षण, व्यय और वियोग इन चारों में कष्ट ही कष्ट है। इसलिए आयास का कारण होने से परिग्रह का आयास नाम भी दिया गया है।

'अविओगो'—धन, साधन, घर का सामान आदि किसी भी चीज का त्याग न करना, अपने से वियुक्त न होने देना अवियोग कहलाता है। मनुष्य जब किसी भी चीज में अत्यधिक आसक्त या मोहित हो जाता है, तब वह चीज चाहे सस्ती भी क्यों न हो, उसका अपने से वियोग नहीं होने देता अथवा वह अपनी अपेक्षा किसी अन्य अधिक जरूरतमंद को भी नहीं देता या उसका त्याग नहीं करता। अवियोग एक प्रकार की गाढ़ आसक्ति के कारण होता है; इसलिए इसे भी परिग्रह का एक भाई कह दें तो असंगत नहीं होगा। जिसे आसक्ति का रोग लग जाता है, वह व्यक्ति, किसी भी मनुष्य को—चाहे वह दुःख में ही क्यों न पड़ा हो, जरूरतमंद ही क्यों न हो, दान देने या उसे थोड़ी देर के लिए इस्तेमाल करने हेतु भी अपनी चीज नहीं देता। वह यों सोचा करता है कि अगर मैं अमुक चीज या धन किसी को दान में दे दूंगा तो मेरे पास कम हो जायगा, मैं क्या करूंगा? इस प्रकार अज्ञानता और मूढ़ता के कारण विपरीत समझ वाला वह किसी भी वस्तु का दान नहीं करता। वह यह नहीं सोचता कि मेरे पास अमुक चीज पड़ी रहेगी, मेरे काम नहीं आएगी तो उससे मुझे क्या सुख मिलेगा? बल्कि उसकी रक्षा-व्यवस्था की चिन्ता करनी पड़ेगी, जिससे दुःख ही

होगा। परिग्रह पास में होने पर भी कई लोग असातावेदनीय कर्म के उदय से दुःखी दिखाई देते हैं और मुनि-श्रमण आदि के पास परिग्रह न होने पर भी वे वस्तुतः सुखी दिखाई देते हैं। इसलिए धनादि के वियोग—त्याग को दुःख का हेतु नहीं समझना चाहिए।

'अमुत्ती'—मुक्ति का अर्थ यहाँ निर्लोभता है। इस दृष्टि से अमुक्ति का अर्थ है—सलोभता। लोभ से मुक्ति तभी होती है, जब व्यक्ति वस्तुओं का उपभोग करने के बदले उपयोग करना सीख ले; आवश्यकता से अधिक एक भी चीज का संग्रह न करे, आवश्यकताओं की भी सीमा बांधे। अतः जब तक लोभ से मुक्ति-छुटकारा पाने का उपाय नहीं किया जाता; तब तक परिग्रह की वृत्ति मनुष्य को तंग करती रहती है। इसलिए अमुक्ति को परिग्रह की सहचारिणी कहें तो अनुचित नहीं होगा।

'तण्हा'—धन, सुख के साधन या सांसारिक पदार्थों की वाञ्छा या लालसा तृष्णा कहलाती है। तृष्णा मनुष्य को परिग्रह में प्रवृत्त करती है। तृष्णा न होती तो मनुष्य को परिग्रह में प्रवृत्त होने की आवश्यकता ही न रहती। तृष्णा-राक्षसी मनुष्य को प्रेरित करके धनादि पदार्थ जुटाने को विवश कर देती है। मनुष्य तृष्णा के पीछे बेतहाशा भागते-भागते बूढ़ा हो जाता है, लेकिन तृष्णा बूढ़ी नहीं होती; वह सदा जवान रहती है। तृष्णा से संतप्त प्राणी शान्ति पाने के लिए परिग्रह को शान्ति का कारण समझ कर उसमें प्रवृत्ति करता है। लेकिन ईंधन से अग्नि के भड़कने के समान परिग्रहप्रवृत्ति से भी तृष्णा की आग और ज्यादा भड़कती जाती है, मनुष्य शान्ति के बदले और अधिक संताप में झुलस जाता है। किसी आचार्य ने ठीक ही कहा है—

"रे धनेन्धनसंभारं प्रक्षिप्याशाहुताशने।
ज्वलन्तं मन्यते भ्रान्तः शान्तं सन्धुक्षणं क्षणे।।"

अर्थात्—'अरे भव्यजीवो! यह अज्ञानी मानव आशा-तृष्णा-रूपी आग में धनरूपी-इन्धन का ढेर डाल कर उसे प्रतिक्षण अधिकाधिक प्रज्वलित करता है और उसमें जलता हुआ अपने-आपको भ्रान्तिवश शान्त हुआ समझता है।'

मतलब यह है कि तृष्णा—परिग्रह की वृद्धि होने पर बढ़े हुए संताप को यह पामर जीव शान्ति और सुख समझता है।

वास्तव में तृष्णा ही परिग्रह की जननी है।

'अणत्थको'—परमार्थदृष्टि से जो निरर्थक-निष्प्रयोजन हो, उसे अनर्थक कहते हैं। धन-धान्यादि जितने भी पदार्थ हैं, वे कुछ समय के लिए भले ही काल्पनिक सुख के कारण बन जांय, लेकिन वह सुख वास्तविक नहीं होता। परिग्रह आत्मा के लिए तो किसी भी काम का नहीं है। शरीर के लिए भी क्षणिक सुख का कारण होता है।

वह क्षण भर के लिए तो सुखकर लगता है, पर बाद में बहुत समय तक दुःखकारक बनता है। वह क्षणिक सुख भी अपथ्यसेवन करने वाले रोगी की तरह वास्तव में दुःखदायी है। अतः परिग्रह को परमार्थ दृष्टि से 'अनर्थक' भी कहा है।

'आसत्ती'—धन आदि में ममता, मूर्च्छा या गृद्धि होना आसक्ति है। आसक्ति के कारण ही तो परिग्रह का पाप लगता है। अन्यथा, सामने वस्तुओं का ढेर लगा हो, यदि उस पर जरा भी मन न डुलाए, या ममत्वबुद्धि न करे तो वे पदार्थ उसके लिए परिग्रहरूप न होंगे। किसी के विशाल भवन में एक त्यागी साधु भी रहता है, और उस भवन का मालिक भी रहता है। दोनों ही उसका समानरूप से पूरा-पूरा उपयोग करते हैं। मकान को न तो उसका मालिक उठा कर कहीं अन्यत्र ले जा सकता है और न त्यागी साधु ही। परन्तु एक को मकान के खराब होने, नष्ट होने, दूसरा कोई उस पर कब्जा न जमा ले; इस बात की हर समय चिन्ता रहेगी; वह उस मकान को अपना मान कर अहंकार और गर्व से फूल उठेगा। मकान को अधिक से अधिक किराये पर उठाने के लिए चिन्तित रहेगा, और मकान की गतिस्थिति पर दत्तचित्त रहेगा। मकान से सम्बन्धित इन सारी खुरापातों का मूल कारण आसक्ति है, उसी के कारण मकानमालिक परिग्रह से सम्बन्धित अशुभ कर्मों से लिप्त होता रहता है। जबकि त्यागी साधु उस मकान में रहता हुआ भी और उसका पूर्णरूप से उपयोग करता हुआ भी मकान को अपना नहीं मानता, इस कारण उसे अहंकार नहीं छूता; न वह लोभ से प्रेरित होता है कि मैं इसे न्यून या अधिक किराये पर उठा दूं। न उसे उसके लिए किसी कारणवश चिन्तित होना पड़ता है। दूसरों के द्वारा उस पर कब्जा जमाने का भी उसे कोई डर नहीं है। अतः वह मकान की गतिस्थिति से चिन्तित या उसमें दत्तचित्त नहीं रहता। वह जब तक मकान में रहना चाहता है, शान्ति से रहता है; बाद में छोड़ जाता है। इस कारण न तो वह उस मकान में आसक्ति रखता है और न परिग्रह से सम्बन्धित अशुभकर्मों से लिप्त होता है। यही आसक्ति और अनासक्ति में अन्तर है। इसलिए आसक्ति को परिग्रह की दादी कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी।

'असंतोसो'—असंतोष का कारण होने से परिग्रह को असंतोष भी कहा है। मनुष्य जहाँ तक सांसारिक पदार्थों के प्रति संतोष धारण नहीं कर लेगा, वहाँ तक उसे उन पदार्थों के न मिलने पर या कम मात्रा में मिलने पर असंतोष होता ही रहेगा। उस असंतोष के कारण धन-धान्यादि के संग्रह-परिग्रह में वह अत्यधिक प्रवृत्त होता जायगा, लेकिन उसकी पूर्ति फिर भी नहीं होगी। असंतोष उसके पीछे सदा भूत की तरह लगा रहेगा। असंतोष की दवा परिग्रहवृद्धि नहीं, परिग्रह में कमी करना

और संतोष-वृत्ति धारण करना है। चूंकि असंतोष परिग्रह का कार्य है, इसलिए असंतोष को भी परिग्रह का साथी कहना अनुचित नहीं होगा।

परिग्रहधारी कौन-कौन प्राणी हैं ?

नामद्वार के बाद अब शास्त्रकार कर्ताद्वार के माध्यम से परिग्रह को स्वीकार करने वाले प्राणियों का प्रतिपादन करते हैं—

मूलपाठ

तं च पुण परिग्गहं ममायंति लोभघत्था भवणवर-विमाण-वासिणो परिग्गहरुई (ती) परिग्गहे विविहकरणवुद्धी देवनिकाया य, असुर-भुयग-सुवण्ण(गरुल)-विज्जु - जलण-दीव-उदहि-दिसि-पवण-थणिय-अणवंनिय-पणवंनिय-इसिवातिय- भूतवाइय - कंदिय-महाकंदिय - कुहंड-पतंगदेवा, पिसाय-भूय-जक्ख-रक्खस-किनर-किंपुरिस-महोरग-गंधव्वा य, तिरियवासी, पंचविहा जोइसिया य देवा वहस्सई (ती) चंदसूरसुक्कसणिच्छरा राहुधूमकेउबुधा य अंगारका य तत्ततवणिज्जकणयवण्णा जे य गहा जोइसम्मि चारं चरंति केऊ य गतिरतीया अट्ठावीसतिविहा य नक्खत्तदेवगणा नाणासंठाणसंठियाओ य तारगाओ ठियलेस्सा चारिणो य अविस्साममंडलगती।

उवरिचरा उड्ढलोगवासी दुविहा वेमाणिया य देवा सोहम्मीसाण - सणंकुमार - माहिद - बंभलोग-लंतक - महासुक्क-सहस्सार-आणय-पाणय-अच्चुया कप्पवर-विमाणवासिणो सुरगणा गेवेज्जा अणुत्तरा दुविहा कप्पातीया विमाणवासी महिड्ढिका उत्तमा सुरवरा एवं च ते चउव्विहा सपरिसा वि देवा ममायंति, भवण-वाहण-जाण-विमाण-सयणासणाणि य नाणाविहवत्थभूसणा पवरपहरणाणि य नाणामणिपंचवण्णदिव्वं च भायणविहि नाणाविह-कामरूवे वेउव्विय(त)अच्छरगणसंघाते दीवसमुद्दे दिसाओ विदिसाओ चेतियाणि वणसंडे पव्वते य गामनगराणि य आरामुज्जाणकाणणाणि य, कूव-सर-तलाग-वावि-दीहिय-देव-

कुल-सभ-प्पव-वसहिमाइयाहिं वहुकाइं कित्तणाणि य परिगेण्हित्ता परिग्गहं विपुलदव्वसारं देवावि सइंदगा न तित्ति न तुट्ठि उवलभंति ।

अच्चंतविपुललोभाभिभूतसन्ना वासहर-इक्खुगार-वट्ट-पव्वय-कुंडल-रुचग-वरमाणुसोत्तर-कालोदधि - लवणसलिल - दहपति-रतिकर-अंजणकसेल-दहिमुह-ऽवपातुप्पाय-कंचणक - चित्तविचित्त-जमक-वरसिहर-कूडवासी वक्खार-अकम्मभूमिसु सुविभत्तभाग-देसासु कम्मभूमिसु, जेऽवि य नरा चाउरंतचक्कवट्टी वासु-देवा बलदेवा मंडलीया इस्सरा तलवरा सेणावतो इब्भा सेट्ठी रट्ठिया पुरोहिया कुमारा दंडणायगा गणनायगा माडंबिया सत्थवाहा कोडुंबिया अमच्चा एए अन्ने य एवमाती परिग्गहं संचिणंति; अणंतं, असरणं, दुरंतं, अधुवमणिच्चं, असासयं, पावकम्मनेमं, अवकिरियव्वं, विणासमूलं, वहबंधपरिकिलेस-बहुलं, अणंतसंकिलेसकारणं । ते तं धणकणगरयणनिचयं पिंडिता चेव लोभघत्था संसारं अतिवयंति सव्वदुक्खसंनिलयणं,परिग्गहस्स य अट्ठाए सिप्पसयं सिक्खए बहुजणो कलाओ य बावत्तरिं सुनिपुणाओ लेहाइयाओ सउणरुयावसाणाओ गणियप्पहाणाओ चउसट्ठिं च महिलागुणे रतिजणणे सिप्पसेवं असि-मसि-किसि-वाणिज्जं, ववहारं अत्थसत्थइसत्थच्छरुप्पगयं विविहाओ य जोगजुंजणाओ अन्नेसु एवमादिएसु बहुसु कारणसएसु जावज्जीवं नडिज्जए, संचिणंति मंदबुद्धी परिग्गहस्सेव य अट्ठाए करंति पाणाण वहकरणं, अलिय-नियडि-साइ-संपओगे परदव्व(व्वे) अभिज्जा, सपरदारअभिगमणासेवणाए आयासविसूरणं कलह-भंडणवेराणि य अवमाणणविमाणणाओ इच्छामहिच्छप्पिवास-सततितिसिया तण्हगेहि-लोभघत्था अत्ताणा अणिग्गहिया करेंति कोहमाणमायालोभे, अकित्तणिज्जे परिग्गहे चेव होंति नियमा

उदधिकुमार, दिक्कुमार, पवनकुमार, स्तनितकुमार, ये दस भवनवासी देव हैं तथा अणपन्निक, पणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्मांड और पतंगदेव, ये व्यन्तरनिकाय के व्यन्तरविशेष हैं (य) तथा (पिसायभूय-जक्ख-रक्खस-किनर - किंपुरिस - महोरग-गंधव्वा) पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व ये ८ महर्द्धिक व्यन्तरदेव हैं। (तिरियवासी) तिर्यग्लोक में निवास करने वाले, खासतौर से वन-वनान्तर में निवास करने वाले वाणव्यन्तरदेव, (य) और (पंचविहा) ५ प्रकार के (जोइसिया देवा) ज्योतिष्क देव (वहस्सती-चंद-सूर-सुक्क-सनिच्छरा) बृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शुक्र और शनिश्चर (य) तथा (राहुधूम-केउबुधा) राहु, धूमकेतु और बुध (य) और (अंगारका) मंगल (तत्ततवणिज्जकणय-वण्णा) तपे हुए तपनीय—रक्तसोने के समान रंग के (य) और (जे) जो अन्य, (गहा) ग्रह (जोइसम्मि) ज्योतिश्चक्र में (चारं चरंति) संचार—गति – गमन करते हैं अथवा अपनी चाल से चलते हैं। (य) और (गतिरतीया) गति में रति—प्रीति रखने वाले (केऊ) केतु (य) तथा (अट्ठावीसतिविहा) २८ प्रकार के (नक्खत्तदेवगणा) अभिजित् आदि नक्षत्र और ज्योतिषी देवगण हैं, (नाणासंठाणसंठियाओ) अनेक आकारों से युक्त (तारगाओ) तारागण, ये (ठियलेस्सा) स्थिरलेश्या—दीप्ति वाले—अर्थात् मनुष्यक्षेत्र के बाहर के ज्योतिषदेव गतिरहित होते हैं। (य) तथा (चारिणो) मनुष्यक्षेत्र के अन्दर गमन करने वाले, (अविस्साममंडलगती) विश्रामरहित—निरन्तर अपने-अपने मंडलों में गति करते हैं।

(य) और (उवरिचरा) तिर्यग्लोक के ऊपर के भाग में रहने वाले (उड्ढ-लोकवासी) ऊर्ध्वलोक में निवास करने वाले (वेमाणिया) वैमानिक (देवा) देव (दुविहा) दो प्रकार के होते हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत (सोहम्मीसाण-सणंकुमार-माहिंद-बंभलोग-लंतक-महासुक्क-सहस्सार-आणय-पाणय - आरण - अच्चुया) सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लांतक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत (कप्पवरविमाणवासिणो) उत्तम कल्पविमानों में निवास करने वाले अर्थात् कल्पोपपन्न हैं। (गेवेज्जा) ग्रैवेयक और (अणुत्तरा) अनुत्तर (दुविहा) ये दोनों प्रकार के (सुरगणा) देवगण, (कप्पातीया) कल्पातीत हैं। (य) तथा (विमाण-वासी) ये विमानवासी (महिड्ढिया) महान् ऋद्धि वाले (उत्तमा) श्रेष्ठ (सुरवरा) सब देवों में उत्तम देव हैं। (एवं) इस प्रकार (ते) वे (चउव्विहा सपरिसावि देवा) चार प्रकार की परिषद् के सहित देव भी, (ममायंति) ममता—मूर्च्छा करते हैं। (य) तथा (भवण-वाहण-जाण-विमाण-सयणासणाणि) भवन, हाथी आदि वाहन,

रथ, आदि सुन्दर सवारियां, विमान, शय्याएँ (पलंग, खाट आदि) और आसन, (य) और (नाणाविहवत्थभूसणा) अनेक प्रकार के वस्त्र एवं आभूषण, (पवरपहरणाणि) उत्तमोत्तम अस्त्र-शस्त्र (य) और (नाणामणिपंचवण्णदिव्वं) नाना प्रकार की मणियों के पचरंगे दिव्य, (भायणविहिं) विविध प्रकार के भाजन—बर्तन, (नाणाविहकामरूव-वेउव्विय-अच्छरगण-संघाते) अपनी इच्छानुसार नाना प्रकार के रूप विक्रिया से बनाने वाली अप्सराओं के समूह को। (य) और (दीवसमुद्दे) असंख्यात द्वीप-समुद्रों को,(दिसाओ) दिशाएँ (विदिसाओ) विदिशाएँ (चेतियाणि) चैत्यवृक्ष (वणसंडे) वनसमूह (य) एवं (पव्वते) पहाड़ (य) तथा (गामनगराणि य) गांव और नगर, (आरामुज्जाणकाणणाणि) लोगों द्वारा बनाई हुई छोटी सी वाटिका, उद्यान—खेलने का बगीचा, घना जंगल (य) और (कूव-सर-तलाग-वावि-दीहिय-देवकुल-सभ-प्पव-वसहिमाइयाइं) कुंए, सरोवर, तालाब, बावड़ियां, बड़ी बावड़ियां, देवमन्दिर, सभाएँ प्याऊएँ, आश्रम आदि स्थानों (य) तथा (विपुलदव्वसारं) बहुत अधिक सारभूत द्रव्यमय (परिग्गहं) परिग्रह को, (परिगेण्हिता) स्वीकार करके, (सइंदगा) इन्द्रों सहित (देवा वि) देवता भी (अच्चंतविपुललोभाभिभूतसन्ना) जिनकी संज्ञाएँ-इच्छाएँ अत्यन्त भारी लोभ से प्रभावित हैं, (वासहरवक्खारवट्टपव्वयकुंडलरुचगवरमाणुसोत्तरकालोदधि - लवणसलिलदहपतिरतिकर - अंजणकसेल - दहिमुहवप्पातुप्पायकंचणक-चित्तविचित्त-यमकवरसिहरकूटवासी) वर्षधर पर्वत—कुलाचल पहाड़, इषुकार पर्वत, वर्तुलाकार—गोलाकार विजयार्द्ध पर्वत, कुंडलद्वीप के अन्तर्गत कुण्डलाकारपर्वत, रुचकवरद्वीप के अन्तर्गत मण्डलाकारपर्वत, मानुषोत्तर पर्वत, कालोदधि समुद्र, लवणोदधि, गंगा आदि महानदियों, पद्म—महापद्म आदि बड़े-बड़े ह्रदों—झीलों, रतिकर पर्वतों, नन्दीश्वर द्वीप के अन्तर्गत अंजनक नामक पर्वत, तथा दधिमुख नाम के पर्वतों, जहां पर वैमानिक देव मनुष्यक्षेत्र में आते हैं उन पर्वतों, कांचनमय पर्वतों, चित्रविचित्र कूटपर्वतों, यमकवर नामक पर्वतों,समुद्रमध्यवर्ती गोस्तूपादि पर्वतों, और नन्दनवन कूट आदि में निवास करने वाले देव (न तित्तिं) न तो तृप्ति और (न तुट्ठिं) न संतोष ही (उवलभंति) पाते हैं। (वक्खार अकम्मभूमिसु) जिसमें वक्षार पर्वत विशेष है, ऐसी हैमवत आदि अकर्मभूमियों में (य) तथा (सुविभत्तभागदेसासु) जिनमें देशों का अच्छी तरह विभाग किया हुआ है ऐसी (कम्मभूमिसु) भरत आदि आदि १५ कर्मभूमियों में (जो वि) जो भी (चाउरंतचक्कवट्टी) भरतक्षेत्र की चारों दिशाओं में चक्र द्वारा विजय प्राप्त करने वाले चक्रवर्ती (वासुदेवा) वासुदेव-नारायण, (बलदेवा)बलभद्र (मंडलीया)मांडलिक राजा,(इस्सरा)युवराज आदि या जागीरदार लोग,

ग्रहण करना चाहते हैं। (सदेवमणुयासुरम्मि लोए) देवों,मनुष्यों और असुरों के सहित स्थावरत्रसात्मक लोक में (जिणवरेहिं, जिनेन्द्र भगवन्तों ने (लोभपरिग्गहो) लोभ रूप परिग्रह (भणिओ) कहा है। (एरिसो पासो नत्थि) इस परिग्रह के समान और कोई पाश—बंधन नहीं है। (सव्वलोए) सम्पूर्ण संसार में (सव्वजीवाणं) समस्त जीवों के लिए यह परिग्रह (पडिबंधो अत्थि) प्रतिबन्धक—राग, आसक्ति आदि का कारण है।

मूलार्थ—परिग्रह के लोभ में फंसे हुए, परिग्रह में रुचि रखने वाले भवनवासी देव और श्रेष्ठ विमानवासी देव ममत्वभाव रखते हैं। अविद्यमान परिग्रह को भी नाना प्रकार से अपनाने की बुद्धि वाले इन देवों के समूह-निकाय होते हैं। असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, पवनकुमार, स्तनितकुमार, ये दस भवनवासी देव हैं तथा अणपन्निक, पणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्मांड, और पतंगदेव ये व्यन्तरनिकाय के उच्चजाति के व्यन्तर देव हैं। तथा पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व, ये ८ महर्द्धिक एवं तिर्यग्लोक के निवासी व खासतौर से वनवनान्तर में निवास करने वाले वाणव्यन्तर देव हैं। इसी तरह तिर्यग्लोकवासी ५ प्रकार के ज्योतिषी देव हैं - बृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शुक्र और शनिश्चर। इसी प्रकार राहु, धूम केतु, बुध और मंगल हैं। जो तपे हुए सोने के समान लाल हैं। तथा अन्य ज्यालक आदि ग्रह हैं, जो ज्योतिश्चक्र में अपनी चाल से चलते हैं। गति में प्रीति रखने वाले केतु तथा २८ प्रकार के अभिजित् आदि नक्षत्र और ज्योतिषी देवगण हैं; विविध आकारों से युक्त तारा गण हैं। ये सब ज्योतिषदेव स्थिरदीप्ति वाले हैं; यानी मनुष्यक्षेत्र (ढाई द्वीप और दो समुद्रों) से बाहर ज्योतिषदेव स्थिरलेश्या वाले—गतिरहित होते हैं और मनुष्यक्षेत्र के अन्दर के ज्योतिषदेव गतिसहित हैं निरन्तर अपने-अपने मंडलों में गति करते हैं। तथा तिर्यग्लोक के ऊपर के भाग में रहने वाले ऊर्ध्वलोकनिवासी वैमानिक देव हैं। वे दो प्रकार के हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत; ये उत्तम कल्पविमानों में निवास करने वाले कल्पोपपन्न देव हैं। नौ ग्रैवेयक तथा पंच अनुत्तर (विमान वासी) ये दोनों प्रकार के देवगण कल्पातीत होते हैं। ये सब विमान वासी देव महान् ऋद्धि वाले और सब देवों में श्रेष्ठ देव होते हैं।

इस तरह अपनी-अपनी परिषद् के सहित ये चारों निकायों के देव भी आत्मा से अतिरिक्त सांसारिक पौद्गलिक पदार्थों पर ममता रखते हैं— 'ये मेरे है, इस प्रकार की ममत्वबुद्धि रखते है। तथा ये भवन, हाथी आदि वाहन; रथ आदि सवारियाँ, विमान, शय्याएँ, आसन तथा अनेक प्रकार के वस्त्र एव आभूषण, उत्तमोत्तम अस्त्र-शस्त्र और नाना प्रकार की मणियों से बने हुए पचरंगे दिव्य बर्तन भाजन; एवं अपनी इच्छानुसार विक्रिया द्वारा नाना प्रकार के रूप बनाने वाली अनेक भूषणों से भूषित अप्सरागणों के समूह को और इसी प्रकार द्वीप, समुद्र, दिशाएँ, विदिशाएँ, चैत्य वृक्ष, वन समूह पर्वत, गाँव, नगर, वाटिकाएँ, बाग-बगीचे, घना जंगल, कुँए सरोवर, तालाव, बावड़ी, देवालय, सभा, प्याऊ, आश्रम आदि स्थानों को स्वीकार करते हैं। तथा अत्यन्त अधिक सारभूत द्रव्य से विशिष्ट परिग्रह को स्वीकार करते हैं। इन्द्रो सहित इन देवों की संज्ञाएँ—इच्छाएँ अत्यन्त प्रचुर लोभ से अभिभूत होती है। वर्षधरपर्वतों, हिमवान् आदि कुलाचलपर्वतो, गोलाकार विजयार्द्ध पर्वतों,कुण्डलद्वीप के अन्तर्गत कुण्डलाकारपर्वत, रुचकवर द्वीप के अन्तर्गत मण्डलाकारपर्वत,मानुषोत्तरपर्वत,कालोदधि और लवण समुद्र, गंगा आदि महानदियों,पद्म,महापद्म आदि बड़े-बड़े ह्रदों—झीलों, नन्दीश्वर नामक आठवें द्वीप में विदिशाओं में स्थित झालर के आकार के चार रतिकर पर्वतों, नन्दीश्वरद्वीप के अन्तर्गत अंजनपर्वतों ; जिन पर वैमानिक देव ठहर कर मनुष्यक्षेत्र में आते हैं, उन पर्वतों, उत्तरकुरु एवं देवकुरुक्षेत्र के कांचनमय पर्वतों,शीतोदा महानदी के तटवर्ती चित्र - विचित्र नाम के पर्वतों,शीता महा-नदी के तटवर्ती यमकवर नामक पर्वतो, समुद्र के मध्य में स्थित गोस्तूपादि पर्वतशिखरों और नन्दनवन के कूटों आदि मे निवास करने वाले देव न तो तृप्ति पाते हैं और न संतोष ही पाते हैं। जिनमें वक्षार नामक पर्वत विशेष हैं, जो विजयों को पृथक्-पृथक् विभक्त करने वाले है और जिनमें हैमवत आदि अकर्मभूमियाँ हैं। इसी प्रकार भली-भांति विभक्त प्रदेश वाली कृषि आदि कर्म की केन्द्र भरत क्षेत्र आदि १५ कर्मभूमियाँ हैं। इन समस्त क्षेत्रों पर चारों दिशाओं में दिग्विजय करने वाले चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, मांड-लिक—मुकुटबद्ध राजा, युवराज आदि ईश्वर अथवा जागीरदार—उमराव आदि लोग, तथा राजा के द्वारा प्रसन्न हो कर प्रदत्त रत्नभूपित स्वर्णपदक को मस्तक पर बांधने वाले शासनसंचालक, सेनापति, हस्तीप्रमाण स्वर्णराशि

ग्रहण करना चाहते हैं। (सदेवमणुयासुरम्मि लोए) देवों,मनुष्यों और असुरों के सहित स्थावरत्रसात्मक लोक में (जिणवरेहिं) जिनेन्द्र भगवन्तों ने (लोभपरिग्गहो) लोभ रूप परिग्रह (भणिओ) कहा है। (एरिसो पासो नत्थि) इस परिग्रह के समान और कोई पाश—बंधन नहीं है। (सव्वलोए) सम्पूर्ण संसार में (सव्वजीवाणं) समस्त जीवों के लिए यह परिग्रह (पडिबंधो अत्थि) प्रतिबन्धक—राग, आसक्ति आदि का कारण है।

मूलार्थ—परिग्रह के लोभ में फंसे हुए, परिग्रह में रुचि रखने वाले भवनवासी देव और श्रेष्ठ विमानवासी देव ममत्वभाव रखते हैं। अविद्यमान परिग्रह को भी नाना प्रकार से अपनाने की बुद्धि वाले इन देवों के समूह-निकाय होते है। असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्नि-कुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, पवनकुमार, स्तनितकुमार, ये दस भवनवासी देव हैं तथा अणपन्निक, पणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्मांड, और पतंगदेव ये व्यन्तरनिकाय के उच्चजाति के व्यन्तर देव है। तथा पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व, ये ८ महर्द्धिक एवं तिर्यग्लोक के निवासी व खासतौर से वनवनान्तर में निवास करने वाले वाणव्यन्तर देव हैं। इसी तरह तिर्यग्लोकवासी ५ प्रकार के ज्योतिषी देव हैं - बृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शुक्र और शनिश्चर। इसी प्रकार राहु, धूम केतु, बुध और मंगल हैं। जो तपे हुए सोने के समान लाल है। तथा अन्य ज्वालक आदि ग्रह है, जो ज्योतिश्चक्र में अपनी चाल से चलते है। गति में प्रीति रखने वाले केतु तथा २८ प्रकार के अभिजित् आदि नक्षत्र और ज्योतिषी देवगण हैं; विविध आकारों से युक्त तारा गण हैं। ये सब ज्योतिषदेव स्थिरदीप्ति वाले है; यानी मनुष्यक्षेत्र (ढाई द्वीप और दो समुद्रों) से बाहर ज्योतिषदेव स्थिरलेश्या वाले—गतिरहित होते हैं और मनुष्यक्षेत्र के अन्दर के ज्योतिषदेव गतिसहित है निरन्तर अपने-अपने मंडलों में गति करते हैं। तथा तिर्यग्लोक के ऊपर के भाग में रहने वाले ऊर्ध्वलोकनिवासी वैमानिक देव है। वे दो प्रकार के हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत; ये उत्तम कल्पविमानों में निवास करने वाले कल्पोपपन्न देव है। नौ ग्रैवेयक तथा पंच अनुत्तर (विमान वासी) ये दोनों प्रकार के देवगण कल्पातीत होते हैं। ये सब विमान वासी देव महान् ऋद्धि वाले और सब देवों में श्रेष्ठ देव होते हैं।

इस तरह अपनी-अपनी परिषद् के सहित ये चारों निकायों के देव भी आत्मा से अतिरिक्त सांसारिक पौद्गलिक पदार्थों पर ममता रखते हैं- 'ये मेरे हैं, इस प्रकार की ममत्वबुद्धि रखते है। तथा ये भवन, हाथी आदि वाहन; रथ आदि सवारियाँ, विमान, शय्याएँ, आसन तथा अनेक प्रकार के वस्त्र एवं आभूषण, उत्तमोत्तम अस्त्र-शस्त्र और नाना प्रकार की मणियों से बने हुए पचरंगे दिव्य वर्तन भाजन; एवं अपनी इच्छानुसार विक्रिया द्वारा नाना प्रकार के रूप बनाने वाली अनेक भूषणों से भूषित अप्सरागणों के समूह को और इसी प्रकार द्वीप, समुद्र, दिशाएँ, विदिशाएँ, चैत्य वृक्ष, वन समूह पर्वत, गाँव, नगर, वाटिकाएँ, बाग-बगीचे, घना जंगल, कुँए सरोवर, तालाब, बावड़ी, देवालय, सभा, प्याऊ, आश्रम आदि स्थानों को स्वीकार करते हैं। तथा अत्यन्त अधिक सारभूत द्रव्य से विशिष्ट परिग्रह को स्वीकार करते हैं। इन्द्रों सहित इन देवों की संज्ञाएँ—इच्छाएँ अत्यन्त प्रचुर लोभ से अभिभूत होती है। वर्षधरपर्वतों, हिमवान् आदि कुलाचलपर्वतों, गोलाकार विजयार्द्ध पर्वतों,कुण्डलद्वीप के अन्तर्गत कुण्डलाकारपर्वत, रुचकवर द्वीप के अन्तर्गत मण्डलाकारपर्वत,मानुषोत्तरपर्वत,कालोदधि और लवण समुद्र, गंगा आदि महानदियों,पद्म,महापद्म आदि बड़े-बड़े ह्रदों—झीलों, नन्दीश्वर नामक आठवें द्वीप में विदिशाओं में स्थित झालर के आकार के चार रतिकर पर्वतों, नन्दीश्वरद्वीप के अन्तर्गत अंजनपर्वतों ; जिन पर वैमानिक देव ठहर कर मनुष्यक्षेत्र में आते हैं, उन पर्वतों, उत्तरकुरु एवं देवकुरुक्षेत्र के कांचनमय पर्वतों,शीतोदा महानदी के तटवर्ती चित्र - विचित्र नाम के पर्वतों,शीता महानदी के तटवर्ती यमकवर नामक पर्वतों, समुद्र के मध्य में स्थित गोस्तूपादि पर्वतशिखरों और नन्दनवन के कूटों आदि में निवास करने वाले देव न तो तृप्ति पाते है और न संतोष ही पाते हैं। जिनमें वक्षार नामक पर्वत विशेष हैं, जो विजयों को पृथक्-पृथक् विभक्त करने वाले है और जिनमें हैमवत आदि अकर्मभूमियाँ हैं। इसी प्रकार भली-भांति विभक्त प्रदेश वाली कृषि आदि कर्म की केन्द्र भरत क्षेत्र आदि १५ कर्मभूमियाँ हैं। इन समस्त क्षेत्रों पर चारों दिशाओं में दिग्विजय करने वाले चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, मांडलिक—मुकुटबद्ध राजा, युवराज आदि ईश्वर अथवा जागीरदार—उमराव आदि लोग, तथा राजा के द्वारा प्रसन्न हो कर प्रदत्त रत्नभूषित स्वर्णपदक को मस्तक पर बाँधने वाले शासनसंचालक, सेनापति, हस्तीप्रमाण स्वर्णराशि

के स्वामी—इभ्य सेठ, सामान्य श्रेष्ठी, राष्ट्ररक्षक, राज्य—नियुक्त पुरोहित, राजकुमार, दण्डनायक, गणनायक, जिन गाँवों के चारों ओर निकट में बस्ती न हो, ऐसे गाँवों के स्वामी—माडंबिक, सार्थवाह कुटुम्बों अथवा ग्राम के मुखिया और अमात्य इत्यादि ये और अन्य जो भी मनुष्य हैं, वे परिग्रह का संचय करते हैं। ऐसे परिग्रह का, जिसका कोई अन्त नहीं है, जो शरणदायक नहीं है, जिसका परिणाम दुःखदायी है, जो स्थिर नहीं है, जो अनित्य है, अशाश्वत है, पापकर्म का मूल है, विवेकी जनों द्वारा हेय है, विनाश का मूल है, वध, बंध और क्लेश से परिपूर्ण है, और अत्यन्त संक्लिष्ट परिणाम—चित्तविकार का कारण है।

लोभग्रस्त हुए वे देव, चक्रवर्ती आदि धन, सुवर्ण और रत्नों को राशि का संचय करके लोभी होकर चार गतियों वाले समस्त दुःखों के घर संसार में भ्रमण करते है। बहुत-से लोग परिग्रह के लिए सैकड़ों शिल्प—हुन्नर तथा गणितप्रधान कला से लेकर पक्षियों की बोली के ज्ञान तक की लेखन आदि सुनिपुण ७२ कलाएँ सीखते है। तथा रति उत्पन्न करने वाली महिलाओं की ६४ कलाओं (गुणों) को कई सीखते हैं। शिल्प और बड़े आदमियों की सेवा करना सीखते हैं, एवं असि—तलवार चलाने आदि की शस्त्र विद्या, मसि—लेखनकार्य तथा खेती एवं वाणिज्य-व्यापार सीखते हैं। इसी प्रकार परस्पर विवाद—झगड़े को मिटाने के रूप में न्याय व्यवहार की शिक्षा प्राप्त करते है। धन-उपार्जन करने के उपायों को बताने वाले अर्थ शास्त्रों, राजनीति का ज्ञान कराने वाले नीतिशास्त्रों तथा धनुर्वेद आदि शास्त्रों को सीखते हैं और छुरी आदि शस्त्रों को पकड़ने और चलाने का अभ्यास करते है। तथा अनेक प्रकार के वशीकरण आदि तंत्रप्रयोगों को सीखते हैं। *इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से परिग्रहप्राप्ति के सैकड़ों कारणों—उपायों* में प्रवृत्त होकर वे आजीवन विडम्बना पाते हैं, परिग्रह के गुलाम बन कर नाचते हैं। वे मंदबुद्धि अज्ञानी जीव परिग्रह के संचय करने में लगे रहते हैं। परिग्रह के लिए वे प्राणियों का वध करते हैं। झूठ बोलते हैं, ठगी करते हैं, घटिया चीज में थोड़ी-सी बढ़िया चीज मिला कर उसमें उत्तम व शुद्ध वस्तु का भ्रम पैदा करके धूर्तता का प्रयोग करते है। पराये द्रव्य को खींचने की उधेड़बुन मे रहते है। अपनी स्त्री और परस्त्री दोनों का सेवन करने में धन खर्च हो जायगा, तथा स्वस्त्रीसेवन करने से संतान होने पर उनके पालन-पोषण का भार वहन करना पड़ेगा, इस डर से स्वस्त्री और परस्त्री

दोनों का ही सेवन नहीं करते। इसी प्रकार परिग्रह के कारण वे वाचिक कलह, कायिक युद्ध और वैर-विरोध, अपमान एवं अनेक यातनाओं का अनुभव करते हैं। साधारण इच्छाओं और बड़ी-बड़ी इच्छाओं की प्यास से निरन्तर प्यासे रहने वाले तृष्णा प्राप्त द्रव्य को खर्च न करने की इच्छा से और गृद्धि-अप्राप्त अर्थ की आकांक्षा एवं लोभ से ग्रस्त हुए अपनी आत्मा की रक्षा से रहित, एवं अपनी आत्मा पर किसी प्रकार का नियंत्रण न करते हुए वे मनुष्य निन्दनीय क्रोध, मान, माया और लोभ में रचेपचे रहते हैं।

निन्द्य परिग्रह से ही माया,निदान और मिथ्यादर्शन रूप शल्य पैदा होते हैं। मन-वचन काया की दुष्ट प्रवृत्तिरूपी तीन दण्ड उत्पन्न होते हैं, धन सम्पत्ति आदि का गर्व—ऋद्धिगौरव, अनेक स्वादिष्ट गरिष्ठ पदार्थों के मिलने का अहंकार रसगौरव और अनेक सुखप्रद वस्तुओं की प्राप्ति का घमंड—सातगौरव पैदा होते है तथा क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार कषाय, आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा ये चार संज्ञाएँ—वासनाएँ होती हैं। इसी तरह इन्द्रियों के शब्दादिविषय तथा हिंसा, असत्य आदि पांच आश्रवद्वार, असंयमित इन्द्रियाँ, और कृष्ण, नील, कापोत रूप तीन अप्रशस्त लेश्याएँ होती हैं। वे अपने स्वजनों के साथ के सम्बन्ध को भी खत्म कर लेते हैं उनसे अलगाव या किनाराकसी कर लेते हैं। और सचित्त, अचित्त एवं मिश्र रूप अनन्त द्रव्यों को ममतापूर्वक ग्रहण करना चाहते हैं। देवों, मनुष्यों और तिर्यंचों के सहित इस लोक में जिनेन्द्रदेवों ने परिग्रह को लोभ-रूप कहा है। सम्पूर्ण लोक में समस्त जीवों के लिए इसके सरीखा और कोई पाश—बन्धन व प्रतिबन्धस्थान-आसक्ति का आश्रय नहीं है।

व्याख्या

इस विस्तृत सूत्रपाठ द्वारा शास्त्रकार ने परिग्रहकर्त्ताओं का तथा कहाँ-कहाँ, किस-किस रूप में, किन-किन दुर्भावों से प्रेरित हो कर वे परिग्रह सेवन करते हैं ?; इसका भी सांगोपांग निरूपण किया है। यद्यपि इस सूत्रपाठ का अर्थ मूलार्थ और पदार्थान्वय में हम स्पष्ट कर आए हैं, फिर भी कुछ स्थलों पर विशेष विश्लेषण करना आवश्यक समझ कर नीचे उन स्थलों पर विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं—

परिग्रह पर ममत्व का मूल कारण—इस संसार में साधु-मुनि या वीतराग अपरिग्रही होते हैं। कुछ अणुव्रती गृहस्थ अल्पपरिग्रही होते हैं। बाकी के जितने भी प्राणी हैं, वे किसी न किसी रूप में परिग्रहग्रस्त होते हैं। वे न तो ममत्व का

के स्वामी—इभ्य सेठ, सामान्य श्रेष्ठी, राष्ट्ररक्षक, राज्य—नियुक्त पुरोहित, राजकुमार, दण्डनायक,गणनायक,जिन गाँवों के चारों ओर निकट में बस्ती न हो, ऐसे गाँवों के स्वामी—माडंबिक, सार्थवाह कुटुम्बों अथवा ग्राम के मुखिया और अमात्य इत्यादि ये और अन्य जो भी मनुष्य हैं, वे परिग्रह का संचय करते हैं। ऐसे परिग्रह का, जिसका कोई अन्त नहीं है, जो शरणदायक नहीं है, जिसका परिणाम दुःखदायी है, जो स्थिर नहीं है, जो अनित्य है, अशाश्वत है, पापकर्म का मूल है, विवेकी जनों द्वारा हेय है,विनाश का मूल है, वध, बंध और क्लेश से परिपूर्ण है, और अत्यन्त संक्लिष्ट परिणाम—चित्तविकार का कारण है।

लोभग्रस्त हुए वे देव, चक्रवर्ती आदि धन, सुवर्ण और रत्नों की राशि का संचय करके लोभी होकर चार गतियों वाले समस्त दुःखों के घर संसार में भ्रमण करते हैं। बहुत-से लोग परिग्रह के लिए सैकड़ों शिल्प—हुन्नर तथा गणितप्रधान कला से लेकर पक्षियों की बोली के ज्ञान तक की लेखन आदि सुनिपुण ७२ कलाएँ सीखते हैं। तथा रति उत्पन्न करने वाली महिलाओं की ६४ कलाओं (गुणों) को कई सीखते हैं। शिल्प और बड़े आदमियों की सेवा करना सीखते है,एवं असि—तलवार चलाने आदि की शस्त्र विद्या मसि—लेखनकार्य तथा खेती एवं वाणिज्य-व्यापार सीखते है। इसी प्रकार परस्पर विवाद—झगड़े को मिटाने के रूप में न्याय व्यवहार की शिक्षा प्राप्त करते है। धन-उपार्जन करने के उपायों को बताने वाले अर्थ शास्त्रों, राजनीति का ज्ञान कराने वाले नीतिशास्त्रों तथा धनुर्वेद आदि शास्त्रों को सीखते हैं और छुरी आदि शस्त्रों को पकड़ने और चलाने का अभ्यास करते है। तथा अनेक प्रकार के वशीकरण आदि तंत्रप्रयोगों को सीखते हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से परिग्रहप्राप्ति के सैकड़ों कारणों—उपायों में प्रवृत्त होकर वे आजीवन विडम्बना पाते हैं, परिग्रह के गुलाम बन कर नाचते है। वे मंदबुद्धि अज्ञानी जीव परिग्रह के संचय करने में लगे रहते हैं। परिग्रह के लिए वे प्राणियों का वध करते है। झूठ बोलते हैं, ठगी करते हैं, घटिया चीज में थोड़ी-सी बढ़िया चीज मिला कर उसमें उत्तम व शुद्ध वस्तु का भ्रम पैदा करके धूर्तता का प्रयोग करते है। पराये द्रव्य को खींचने की उधेड़बुन में रहते हैं। अपनी स्त्री और परस्त्री दोनों का सेवन करने में धन खर्च हो जायगा, तथा स्वस्त्रीसेवन करने से संतान होने पर उनके पालन-पोषण का भार वहन करना पड़ेगा, इस डर से स्वस्त्री और परस्त्री

दोनों का ही सेवन नहीं करते । इसी प्रकार परिग्रह के कारण वे वाचिक कलह, कायिक युद्ध और वैर-विरोध, अपमान एवं अनेक यातनाओं का अनुभव करते है । साधारण इच्छाओं और बड़ी-बड़ी इच्छाओ की प्यास से निरन्तर प्यासे रहने वाले तृष्णा प्राप्त द्रव्य को खर्च न करने की इच्छा से और गृद्धि-अप्राप्त अर्थ की आकांक्षा एवं लोभ से ग्रस्त हुए अपनी आत्मा की रक्षा से रहित, एवं अपनी आत्मा पर किसी प्रकार का नियंत्रण न करते हुए वे मनुष्य निन्दनीय क्रोध, मान, माया और लोभ में रचेपचे रहते है ।

निन्द्य परिग्रह से ही माया,निदान और मिथ्यादर्शन रूप शल्य पैदा होते हैं। मन- वचन काया की दुष्ट प्रवृत्तिरूपी तीन दण्ड उत्पन्न होते है, धन सम्पत्ति आदि का गर्व—ऋद्धिगौरव, अनेक स्वादिष्ट गरिष्ठ पदार्थों के मिलने का अहंकार रसगौरव और अनेक सुखप्रद वस्तुओं की प्राप्ति का घमंड—सातगौरव पैदा होते है तथा क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार कषाय, आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा ये चार संज्ञाएँ—वासनाएँ होती है । इसी तरह इन्द्रियों के शब्दादिविषय तथा हिंसा, असत्य आदि पांच आश्रवद्वार, असंयमित इन्द्रियां, और कृष्ण, नील, कापोत रूप तीन अप्रशस्त लेश्याएँ होती हैं। वे अपने स्वजनों के साथ के सम्बन्ध को भी खत्म कर लेते है उनसे अलगाव या किनाराकसी कर लेते हैं । और सचित्त, अचित्त एवं मिश्र रूप अनन्त द्रव्यों को ममतापूर्वक ग्रहण करना चाहते है । देवों, मनुष्यों और तिर्यंचों के सहित इस लोक में जिनेन्द्रदेवों ने परिग्रह को लोभ-रूप कहा है । सम्पूर्ण लोक में समस्त जीवों के लिए इसके सरीखा और कोई पाश—बन्धन व प्रतिबन्धस्थान-आसक्ति का आश्रय नहीं है ।

व्याख्या

इस विस्तृत सूत्रपाठ द्वारा शास्त्रकार ने परिग्रहकर्त्ताओं का तथा कहां-कहां, किस-किस रूप में, किन-किन दुर्भावों से प्रेरित हो कर वे परिग्रह सेवन करते हैं ?; इसका भी सांगोपांग निरूपण किया है । यद्यपि इस सूत्रपाठ का अर्थ मूलार्थ और पदार्थान्वय में हम स्पष्ट कर आए हैं, फिर भी कुछ स्थलों पर विशेष विश्लेषण करना आवश्यक समझ कर नीचे उन स्थलों पर विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं—

परिग्रह पर ममत्व का मूल कारण—इस संसार में साधु-मुनि या वीतराग अपरिग्रही होते हैं । कुछ अणुव्रती गृहस्थ अल्पपरिग्रही होते है । बाकी के जितने भी प्राणी है, वे किसी न किसी रूप में परिग्रहग्रस्त होते हैं । वे न तो ममत्व का

सर्वथा त्याग करते हैं और न ही परिग्रह की सीमा—मर्यादा करते हैं। प्रश्न यह होता है कि इन सब प्राणियों, खासतौर से मनुष्यों और देवों के परिग्रह सम्बन्धी ममत्व के पीछे किसकी प्रेरणा है ?

इसका उत्तर शास्त्रकार के ही शब्दों में सुनिये—'तं च पुण परिग्गहं ममायंति लोभघत्था।' अर्थात्—संसार के समस्त प्राणी लोभ रूपी पिशाच से ग्रसित होकर 'ममेदं ममेदं'—'यह मेरा है, यह मेरा है' ऐसा कहते है और मानते है।

वास्तव में लोभ ही संसार के समस्त पदार्थों को ग्रहण करने, अपनाने, उपभोग करने और इकट्ठे करने में प्रबल प्रेरकतत्त्व है। लोभ के वशीभूत होकर मानव बड़े-बड़े युद्ध कर बैठता है, अपने भाई, पिता या पुत्र के साथ भी लड़ाई और वैर कर बैठता है, यहां तक कि अपने स्वजनों को भी लोभाविष्ट मनुष्य जान से मार डालता है। जैसे भूत या पिशाच से आविष्ट मनुष्य अपने आपे में नहीं रहता, न करने योग्य कार्य भी कर बैठता है,वैसे ही लोभ का भूत जिस पर सवार हो जाता है या लोभ पिशाच से जो आविष्ट हो जाता है, उस मनुष्य को भी अपने आपे का भान नही रहता, चाहे जब चाहे जैसा भयंकर अकार्य कर बैठता है। वह आत्मा को अपना मानना छोड़ कर हर मनचाही चीज को अपनी बनाने की फिराक मे रहता है।

लोभ पाप का बाप बखाना—यह कहावत यथार्थ है। जीवन में जहां लोभ घुस जाता है, वहां अनेक पाप आकर अपना डेरा जमा लेते हैं। क्या हिंसा, क्या असत्य, क्या चोरी—जारी, बदमाशी या झूठफरेब, छल-कपट, धोखेबाजी, धूर्तता, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, वैरविरोध, कलह, संघर्ष, आसक्ति आदि जितने भी दोष हैं, पाप है, उन सब पापों का मूल जनक लोभ ही है। यह लोभ ही था, जिसके कारण सम्राट् कोणिक ने अपने पिता को लोहे के पींजरे (कैद) में बंद कर दिया था! लोभ के कारण ही उसने अपने भ्राता हल्लविहल्लकुमार से हार और हाथी छीनने के लिए अपने मातामह चेड़ानृप से भयंकर युद्ध किया था। वह कौन-सा अनर्थ है, जो लोभ के कारण न हुआ हो। इसलिए लोभ को समस्त पापों का पिता कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसीलिए शास्त्रकार ने इस पाठ के उपसंहार में कहा है—'लोभ-परिग्गहो जिणवरेहिं भणिओ।'

परिग्रहकर्ता कौन-कौन ?—यों तो परिग्रह के चक्कर में समभावी मुनि को छोड़ कर सारा संसार ही है। परिग्रह की संसार में इतनी बड़ी धूम है कि शायद कोई विरला ही इससे बचा हो। इसलिए शास्त्रकार ने 'भवणवरविमाणवासिणो' से ले कर 'ते चउव्विहा सपरिसा वि देवा ममायंति' तक का पाठ एवं उससे आगे 'अच्चंत विपुल लोभाभिभूतसन्ना' से लेकर 'अमच्चा एए अन्ने य एवमाती परिग्गहं

संचिणंति।' तक पाठ में परिग्रहसेवनकर्ताओं की सूची देदी है। यों देखा जाय तो सारा संसार ही प्रायः एक या दूसरी तरह से परिग्रहसेवनकर्ता है। परन्तु शास्त्रकार ने महापरिग्रहियों के ही खासतौर से नाम गिनाये हैं, और अन्त में 'एए अन्ने य एवमाती परिग्गहं संचिणंति' (ये और इनके अतिरिक्त दूसरे इसी प्रकार के लोग परिग्रह का सचय करते हैं) कह कर अन्य लोगो का भी समावेश कर लिया है।

परिग्रहसेवनकर्ताओ की सूची में सर्वप्रथम शास्त्रकार ने भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों को गिनाया है। उसके बाद वर्षधर, इषुकार, वृत्त-पर्वत, कुंडलाचल, रुचकाचल, मानुषोत्तरपर्वत, कालोदधि, लवण-समुद्र, गंगादि महानदियो, पद्म-महापद्म नामक प्रधान द्रहों, रतिकरपर्वतों, अंजनशैलों, दधिमुखपर्वतो, कचनकपर्वत, चित्रविचित्रकूटपर्वतो, यमकपर्वतों, गोस्तूपादिपर्वतों पर रहने वाले परिग्रही देवों का उल्लेख किया है। तदनन्तर कहा है कि अकर्मभूमियो तथा व्यवस्थित कर्मभूमियो में रहने वाले जो भी मनुष्य हैं, चाहे वे यौगलिक हों या बड़े से बड़े विशाल साम्राज्य के धनी चक्रवर्ती हों, वासुदेव हों, बलदेव हों, माडलिक हो, युवराज आदि हो, अथवा भोगिक हों, जागीरदार हो, मांडलिक हो, सेनापति हों, इभ्य सेठ हो, धनाढ्य हों, राष्ट्रहितैषी हो, पुरोहित हो, राजकुमार हों, दंडनायक हों, गणनायक हों, माडंबिक हों, सार्थवाह हों, कौटुम्बिक हों या अमात्य हों, सबके सब कम या ज्यादा परिग्रह का सेवन करने में सलग्न रहते हैं।

देवों के पास अधिक परिग्रह क्यों?—शास्त्रकार ने देवों के परिग्रहों का सर्वप्रथम वर्णन किया है और उनके पास अत्यधिकमात्रा में परिग्रह होने का उल्लेख किया है, प्रश्न होता है कि देवों के पास सबसे ज्यादा परिग्रह होने का क्या कारण है?

इसी के उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—·········"परिग्गहरुती परिग्गहे विविहकरणबुद्धी देवनिकाया ···· विमाणवासी महिड्ढिका' अर्थात् देवों को परिग्रह में अत्यधिक रुचि होती है, परिग्रह को बढ़ाने और विविध उपायों से परिग्रह का सचय करने में उनकी बुद्धि व्यस्त रहती है। और विमानवासी देव तो पूर्वकृतपुण्य की प्रबलता के कारण महान् ऋद्धि-सम्पदा वाले होते ही है। वास्तव में देखा जाय तो जिसे अधिक परिग्रह-सामग्री मिलती है, वह ममतावश और अधिक परिग्रह जुटाने के लिए तत्पर रहता है। ससार के समस्त जीवों में देव अत्यधिक पुण्यशाली होते हैं। उन्हें उस पुण्य के फलस्वरूप सुखसामग्री भी उत्कृष्ट और अधिक मिलती है, और उनकी भी प्रायः यह धारणा बन जाती है कि सुख परिग्रह के बढ़ाने पर ही निर्भर है। जिसमें भवनवासी और विमानवासी इन दो प्रकार के देवों का प्रथम

उल्लेख करने के पीछे शास्त्रकार का यह आशय है कि इन दोनों की परिग्रहविभूति अत्यधिक होती है। अन्य देवों की विभूति इनके समान नही होती।

इनमें भी जो मिथ्यात्वी देव होते हैं, वे प्रायः यह भूल जाते हैं कि हमने पूर्वभव मे जो सत्कर्म किये थे, दान-पुण्य आदि किये थे, अरिहन्तदेवों, निर्ग्रन्थ गुरुओं और केवली-प्ररूपित धर्म की आराधना की थी, गुरुओं के उपदेश से या स्वत. प्रेरणा से परिग्रह को आत्महित मे बाधक समझ कर छोड़ा था, या उसका ममत्व त्याग कर योग्य दान दिया था, उसी के फलस्वरूप यह सुखसामग्री हमे मिली है। अतः अब भी हमें प्राप्त सुखसाधनों का उचित कार्यो में सदुपयोग करना चाहिए, ताकि भविष्य में निराबाध सुख मिल सके। पर अपने सत्कर्मों की साधना को भूलकर भ्रान्तिवश वे बाह्य वस्तुओं में सुख मानने लगते हैं। किन्तु जब उनकी मृत्यु के ६ महीने शेष रहते हैं, और उनके गले की माला मुर्झाने लगती है, तब वे अत्यन्त दुःख और शोक करते हैं।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक, इन चारों प्रकार के देवों में परिग्रह वृद्धि के कारण अपने से महर्द्धिक देवों को देख देख कर अल्प ऋद्धि वाले देव उनसे ईर्ष्या करते हैं, वैरविरोध और संघर्ष भी करते हैं।

इन चारों निकायों के देवों का वर्णन हम पहले कर आए हैं। इनके नाम तथा गोत्र आदि भी स्पष्ट हैं। निष्कर्ष यह है कि चारों[1] निकायो के देव परिग्रह के दास बने हुए रहते हैं। परिग्रह का अत्यधिक सम्पर्क होने के कारण उनका ममत्व अधिकाधिक बढ़ता जाता है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'एय च ते चउव्विहा सपरिसा वि देवा ममायंति' अर्थात्—उपर्युक्त चारो प्रकार के देव अपनी परिषद् (सभा के देवों) के साथ आत्मा से भिन्न पौद्गलिक और देवी आदि सचेतन परिग्रह में मूर्च्छावश 'यह मेरा है' इस प्रकार से ममत्व करते रहते हैं।

यही कारण है कि देवो में परिग्रह की अधिकता का उल्लेख शास्त्रकार ने किया है।

यद्यपि यहां सामान्यरूप से चारों निकाय के देवों का ग्रहण शास्त्रकार ने किया है, तथापि पञ्चम स्वर्ग-ब्रह्मलोक के अन्त में सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट; ये पूर्वोत्तर आदि आठ दिशाओं में

---

१ इनका विशेष वर्णन जानने के लिए जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति इत्यादि शास्त्रों का अवलोकन करें।

—सम्पादक

निवास करने वाले लोकान्तिक देव प्रायः एक भव-मनुष्यजन्म धारण करके मोक्ष पाते है, ये परिग्रह के प्रति अत्यल्प ममत्व रखते हैं। तीर्थंकर-प्रभु जब विरक्त होकर मुनिदीक्षा धारण करने के अभिमुख होते हैं, तब ये लोकान्तिक देव उन्हें प्रतिबोधित करने आते हैं। ये देवर्षि होते हैं, जिनवाणी के ज्ञाता और अध्येता होते हैं। ये अपनी समस्त आयु प्रायः इसी प्रकार के उत्तम चिन्तन-मनन में व्यतीत कर देते हैं। इसी प्रकार अनुत्तरविमानवासी देवों का भी मोह उपशान्त होता है। इसलिए चारों निकाय के देवों मे इन्हें परिग्रह के बारे में अपवाद समझना चाहिए।

देवों का निवास और संक्षिप्त स्वरूप—चारों ही प्रकार के देवों में भवनवासी देवों का निवास अधोलोक में है। अधोलोक में भवनवासी देवों के भवन है। उन्ही में वे रहते हैं, क्रीड़ा करते हैं और आमोद-प्रमोद में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। ये दस प्रकार के हैं—असुरकुमार, नागकुमार आदि। इनकी जाति की संज्ञा असुर है, इसलिए वे असुरकुमार आदि नाम से पहिचाने जाते हैं। इनके जातिवाचक नाम के आगे कुमारशब्द इसलिए लगाया गया है कि इनकी वेशभूषा कुमारों-किशोरो—बालकों की-सी होती है और उन्हीं की तरह ये द्वीप-समुद्र आदि मे जा कर क्रीडा करते हैं। नागकुमार से इन्हें सर्पजाति के तिर्यञ्च तथा अग्निकुमार आदि से अग्नि आदि नही समझना चाहिये। इनके मुकुट मे सर्प या अग्नि आदि का विशेष चिह्न अंकित होता है, तथा ये जब भी विक्रिया करते हैं तब सर्प, अग्नि, द्वीप, गरुड़, विद्युत्, मेघगर्जन, पवन आदि के रूप में करते हैं; इसलिए इन्हें नागकुमार, अग्निकुमार आदि से सम्बोधित किया जाता है। इसके पश्चात् उच्च व्यन्तरजाति के अणपन्निक आदि ८ व्यन्तरविशेष के नाम गिनाए हैं। इन्हें वाणव्यन्तर भी कहते हैं। इन व्यन्तरों का निवास मध्यलोक में है। जहाँ ये आमोद-प्रमोद से रहते हैं। इसके बाद नीची जाति के व्यन्तरनिकाय के पिशाच, भूत आदि ८ भेद बताए है। ये देव विविध अन्तरों—अवकाश वाले स्थानों में रहते हैं। यानी ये सूने मकान, तालाब कुंआ, बावड़ी, वृक्ष आदि स्थानों में रहते हैं। राक्षस आदि कुछ व्यन्तर भवनवासी देवों की तरह अधोलोक में रहते हैं, जहाँ उनके भवन बने हुए होते हैं।

इसके अनन्तर ज्योतिषदेवों का वर्णन है। ज्योतिषी देव मध्यलोक (तिर्यग्लोक) मे ही रहते हैं। इस भूमि के समतलभाग से ७९० योजन ऊपर जा कर ज्योतिष्क देवो के विमान शुरू होते हैं ; जो ९०० योजन पर समाप्त होते हैं। यानी ११० योजन आकाशक्षेत्र मे ज्योतिष्क देवों के विमान हैं; जहां ये निवास करते हैं।

ज्योतिषी देवों के मुख्यतया ५ भेद हैं—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा। इनका वर्णन पहले आ चुका है ; इसलिए यहाँ नहीं कर रहे है।

विशेष बात यह है कि ज्योतिष्कों में सूर्य, चन्द्र आदि के गमन करने के भिन्न-भिन्न मार्ग नियत है। इनके अलग-अलग मंडल हैं, उन्हीं में वे घूमते रहते हैं। किन्तु ढाई द्वीप-समुद्र के आगे के यानी अगले पुष्करार्द्ध से ले कर आगे के असंख्यात द्वीप-समुद्रो के सूर्यचन्द्रादि ज्योतिष्क स्थिर हैं। वे गमन नही करते; जहाँ हैं, वही स्थिर रहते हैं।

इसके आगे ऊर्द्ध्वलोकवासी वैमानिक देव हैं,जो ज्योतिषी देवों से ऊपर अर्थात् मेरुपर्वत की चूलिका से असंख्यात योजन ऊपर-ऊर्द्ध्वलोक में निवास करते है। इनके निवास के लिए आकाश मे अकृत्रिम विमान है, जो चारों ओर से घनवातवलय, तनुवातवलय और घनोदधिवातवलय; इन तीन वातवलयों के आधार पर अवस्थित है, इन्ही से घिरे हुए हैं। विमानों मे रहने के कारण इन्हें वैमानिक देव कहते हैं। इनके दो भेद हैं—कल्पविमानवासी (कल्पोपपन्न) और कल्पातीत। जिन विमानों मे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विष, इन दस कोटि के देवों की कल्पना होती है, उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं। जहाँ इन्द्र आदि का कोई भेद नही होता; सभी समानरूप से माने जाते हैं, सबकी अवस्था, विभूति एकसरीखी होती है ; उन्हें कल्पातीत कहते हैं। बारह स्वर्गों (सौधर्म आदि) के निवासी वैमानिक देव कल्पोपपन्न कहलाते हैं, इन्ही में इन्द्र आदि १० भेद होते हैं। इनसे ऊपर ९ ग्रैवेयक और ५ अनुत्तरविमानवासी देवों में इन्द्र आदि १० भेदों की कोई कल्पना नही होती; वहाँ सब अहमिन्द्र होते हैं, समान होते है। सौधर्म और ऐशान, सानत्कुमार और माहेन्द्र, ब्रह्मलोक और लान्तक, महाशुक्र और सहस्रार, आणत और प्राणत, आरण और अच्युत इस प्रकार दो-दो स्वर्ग एक-दूसरे के समीपतम है। दूसरा युगल - सानत्कुमार और माहेन्द्र प्रथम युगल-सौधर्म और ऐशान से असंख्यात-योजन के फासले पर है।

कल्पातीत देवों के दो भेद हैं—ग्रैवेयक और अनुत्तर। जिनके स्वर्गों का आकार ग्रीवा-गर्दन सरीखा होता है, उन्हें ग्रैवेयक कहते है। यानी लोक का आकार जैन भौगोलिक मानचित्र के अनुसार पैर फैलाकर कमर पर हाथ रख कर खड़े हुए पुरुष के आकार के सरीखा माना गया है। कमर से नीचे के भाग के समान अधोलोक का, कमर के समान मध्यलोक का, कमर से ऊपर कंधों तक कल्पोपपन्न स्वर्गों का आकार माना गया है। इनसे ऊपर गर्दन आती है, इसलिए ग्रैवेयक देवों के निवासस्थान का आकार ग्रीवा (गर्दन) सरीखा माना गया है।

ग्रैवेयकों से ऊपर पांच अनुत्तरदेवों के विमान हैं। इनमें से विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित ये चार चारों दिशाओं में से एक-एक दिशा में हैं और सर्वार्थसिद्ध नामक अनुत्तरविमान इन चारों के मध्य में है। सर्व अर्थों—प्रयोजनों की सिद्धि वाले जीव इसमें उत्पन्न होते हैं। यानी सर्वार्थसिद्ध विमान में जन्म लेने वाले देव भविष्य में सिर्फ एक ही भव—मनुष्यजन्म धारण करके सीधे मोक्ष में जाने वाले होते है। इसलिए इस विमान का 'सर्वार्थसिद्ध' नाम सार्थक है।

विमानवासी देव दूसरे निकायों के देवों से अधिक ऋद्धि-सम्पन्न होते हैं। और पूर्व-पूर्व वैमानिक देवों से आगे-आगे के वैमानिक देव स्थिति (आयु), प्रभाव (शाप या अनुग्रह की शक्ति), सुख, द्युति (शरीर और आभूषणों की कान्ति), लेश्या (आत्मा की परिणति-भावना) की निर्मलता, इन्द्रियों की शक्ति एवं अवधिज्ञान के के विषय मे उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रबल होते है। इसी बात को शास्त्रकार ध्वनित करते है—'विमाणवासी महिड्ढिया उत्तमा सुरवरा।'

देवों के परिग्रह के रूप—देव किन-किन रूपों में परिग्रह स्वीकार करते हैं और उनका सेवन करते हैं? इसके लिए शास्त्रकार ने बताया है—'**भवण-वाहण-जाण ''भायणविहि नाणाविहकामरूवे ''' दीवसमुद्दे '' ''' बहुकाइं कित्तणाणि य परिगेण्हित्ता विपुलं दव्वसारं**'। इन पंक्तियो का अर्थ पहले स्पष्ट किया जा चुका है। मतलब यह है कि देवों में वैक्रिय-शक्ति जन्म से ही होती है। वे चाहे जैसा रूप बना सकते हैं। मनचाहे भवन, वाहन, सवारी, यान, आभूषण, विमान, शय्या, आसन, वस्त्र, शस्त्र-अस्त्र, पचरंगे दिव्यभाजन, तथा वस्त्रालंकारों से विभूषित अप्सराएँ आदि बना सकते हैं। इस कारण वे ममत्व से ग्रस्त हो कर विविध मनचाही सुखसामग्री बनाते हैं, अपनाते हैं और उन पर आसक्ति रखते हैं।

इन सब परिग्रहयोग्य सामग्री का उपभोग करने के लिए वे अनेक द्वीपों, समुद्रों, पर्वतों, वनों, ह्रदों, बावड़ियों आदि में अपनी अप्सराओं के साथ जाते हैं, वहां जलविहार, विविध प्रकार की क्रीड़ा और आमोद-प्रमोद करते है।

अभीष्ट परिग्रहों से भी देवों को तृप्ति और संतोष कहां?—परिग्रह के रूप में नाना प्रकार की उत्तमोत्तम भोग्यसामग्री प्राप्त कर लेने के बाद क्या देवों को तृप्ति या संतुष्टि हो जाती है? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—'**देवावि सइंदगा न तित्ति न तुट्ठि उवलभंति।**' अर्थात् इतनी सारी दौड़धूप करने और विक्रिया द्वारा विविध सुखसाधन जुटाने के बावजूद भी इन्द्रों सहित वे देव न तो तृप्ति का अनुभव करते हैं, और न संतोष की सांस लेते हैं। सचमुच परिग्रह में तृप्ति और संतोष नहीं है। जितना

परिग्रह बढ़ाया या सेवन किया जायगा, उतनी-उतनी असंतुष्टि, अतृप्ति, बेचैनी, ऊब, अनिद्रा, अशान्ति, व्याकुलता, सुस्ती एवं निरुत्साहिता बढ़ेगी। ज्यों-ज्यों वस्तुओं का लाभ (प्राप्ति) बढ़ता है, त्यों-त्यों लोभ का बढ़ना स्वाभाविक है। अपनी इच्छा से ही उस लाभ पर कोई नियंत्रण कर ले, अल्पसाधनों से ही संतोष मान ले, तभी उसे तृप्ति और संतुष्टि हो सकती है।

परिग्रह का स्वभाव—देव हो या मनुष्य, तिर्यञ्च हो या नारक, ऊपर-ऊपर से सबको परिग्रह-सुखसामग्री का ग्रहण अच्छा, रमणीय और आकर्षक लगता है। परन्तु पूर्वोक्त पाठानुसार परिग्रह अन्त में असंतुष्टि और अतृप्ति का कारण ही बनता है। इसीलिए शास्त्रकार परिग्रह के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं—**परिग्गहं…… अणंतं, असरणं, दुरंतं, अधुवमणिच्चं, असासयं, पावकम्मनेमं, विणासमूलं, वहबंधपरिकिलेसबहुलं अणंतसंकिलेसकारणं…… ……सव्वदुक्खसंनिलयणं।** अर्थात् परिग्रह रमणीय नहीं है, वह दुःखद है, उसका अन्त नहीं, वह किसी को शरण देने वाला नहीं होता, उसका परिणाम सदा दुःखद होता है, वह स्वयं अस्थिर होता है, अनित्य और अशाश्वत होता है। परिग्रह पापकर्म का मूल है, विनाश की जड़ है, वध, बंध और संक्लेश से भरा हुआ है, परिग्रह के पीछे अनन्त क्लेश लगे हुए हैं। इसलिए परिग्रह सभी दुःखों का घर है। चक्रवर्ती, इन्द्र आदि भी परिग्रह का अन्त नहीं पा सके। वह समुद्र के समान अथाह है। वह अशाश्वत, अनित्य, अस्थिर या नाशवान इसलिए है कि जब तक आत्मा के कर्म भंडार में पुण्य-धन विद्यमान रहता है, तब तक उस पुण्यराशि से परिग्रह-योग्य पदार्थ प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु जब पुण्य का खजाना खाली हो जाता है, तब प्राप्त हुआ धन, स्त्री, पुत्र या विविध साधन वगैरह का भी वियोग होने लगता है। इसलिए परिग्रह को विनाशशील कहा है। इसी प्रकार परिग्रह अन्त में दुःखदायी इसलिए है कि परिग्रह उपार्जन करने में प्रायः हिंसा आदि पाप होते हैं। पाप तो परिणाम में दुःखद होता ही है। परिग्रह के वियोग में भी दुःख होता है तथा परिग्रह परलोक में भी नरकादि के भयंकर दुःखों को उत्पन्न करने वाला है।

संसार के विविध दुःखों से घबराया हुआ आदमी अगर परिग्रह की शरण लेता है तो उसका हाल आग में जलते हुए व्यक्ति का मिट्टी के तेल की नाद में आश्रय लेने के समान हो जाता है। परिग्रह के कारण मारपीट, कैद, बंधन, मानसिक और शारीरिक क्लेश आदि का होना तो रोजमर्रा के अनुभव से सिद्ध है। जहाँ परिग्रह ज्यादा होता है, वहीं चोर, डाकू और लुटेरे वध करने, रस्सी से या पेड़ आदि से बांधने के लिए तैयार होते हैं। इसलिए परिग्रह को अनन्त क्लेशों का कारण बताया है।

परिग्रह के लिए विविध उपाय और उनसे होने वाले अनर्थ—मोहग्रस्त अज्ञानी जीव उभयलोक में दुःखजनक परिग्रह के लिए क्या-क्या उपाय अजमाता है

और उन उपायों से क्या-क्या अनर्थ पैदा होते हैं ? तथा उन परिग्रहग्रस्त जीवों को क्या-क्या हानियां उठानी पड़ती हैं ? इसका सजीव वर्णन आगे के इस सूत्रपाठ से शास्त्रकार ने किया है—'परिग्गहस्स य अट्ठाए सिप्पसयं सिक्खए ······ करिंति पाणाण वहकरणं, अलियनियडिसाइसंपओगे ····· कोहमाणमायालोमे ।' इसका भावार्थ यह है कि परिग्रहलिप्सु लोग रातदिन नाना प्रकार की तरकीबें धन, साधन आदि को बटोरने के लिए सोचते रहते हैं और तदनुसार प्रवृत्ति करते रहते हैं। बहुत-से लोग शिल्पाचार्यों से कुंभार का काम, बढ़ई का काम, सुनार का काम आदि सैकड़ों शिल्प या हुन्नर सीखते हैं, अनेक प्रकार की दस्तकारी सीखते हैं। गृहस्थ अपनी आजीविका के लिए कोई भी शिल्प, दस्तकारी या हुन्नर सीखे, इसमें कोई बुराई नहीं है। परन्तु जब वह हुन्नर, शिल्प या दस्तकारी केवल धन बटोरने के लिए सीखे, लोगों से अपने परिश्रम का मूल्य अत्यधिक पाना चाहे या थोड़ा-सा काम करके ज्यादा से ज्यादा पैसा पाना चाहे तो वह शिल्प जनता की सेवा के बदले जनता का शोषणरूप बन जाता है। यही कारण है कि जनता का शोषण करने की नीयत से जब किसी भी श्रमकार्य को किया जाता है तो वह जीवन के लिए अनर्थकर हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति की दृष्टि अपने शिल्प से केवल पैसा कमाने की ही होगी, वह ऐसे ही शिल्पों को अपनाएगा, जो राष्ट्रघातक, समाजघातक या नीतिविरुद्ध होंगे। जैसे कोई व्यक्ति ऐसे यंत्र बना कर दे, जिनसे कामवासना उत्तेजित हो, या ऐसे हुन्नर अपनाए, जिनसे लोग दुर्व्यसनों में अधिकाधिक प्रवृत्त हों।

उदाहरण के तौर पर कोई व्यक्ति बीड़ी, सिगरेट बनाने का शिल्प सीखे और उसे अपनाए अथवा शराब बनाने की विधि सीखे और बना कर लोगों को मुहैया करे। इससे जनता का स्वास्थ्य, धन और धर्म तीनों का नाश होगा। ऐसे निकृष्ट शिल्प से शिल्पकार को तो बहुत पैसा मिलेगा, वह तो मालामाल हो जायगा, लेकिन समाज और राष्ट्र का नैतिक पतन होगा, और समाज में अनेक अनर्थ फैलेंगे।

इसी प्रकार जो लोग शास्त्र में वर्णित और लोकप्रसिद्ध पुरुषों की ७२ कलाएँ केवल परिग्रह के लिए ही सीखते हैं, उनका भी यही हाल है। गृहस्थ के लिये कलाएँ सीखना अपने आप में बुरा नहीं है। लेकिन जब कोई संगीत, नृत्य, चित्र, लेखन आदि विविध कलाएँ केवल पैसा कमाने के लिए सीखेगा, तब वह उनका दुरुपयोग ही करेगा। वह ऐसे अश्लील संगीत का प्रयोग करेगा, जिससे कामवासना भड़कती हो। वह ऐसे नग्न या अर्धनग्न सुन्दरियों के चित्र बनाएगा, जिन्हें देख कर नैतिक पतन होगा। वह अश्लील लेख, कहानी या उपन्यास लिखेगा, जिन्हें पढ़ कर मनुष्य का चरित्र बिगड़ जाएगा। इसी प्रकार वह ऐसे अश्लील नृत्य दिखाएगा, जिससे मनुष्य कामविह्वल हो

जाय। तो ऐसी दशा में वह कला सद्गुणघातक, चरित्र-विनाशक, नीति-धर्म विघातक और सुसंस्कारलोपक बन जाएगी। ऐसी कलाओं से परिग्रहलिप्सु कलाकार तो धनवान बन जाएगा, लेकिन समाज और राष्ट्र का बहुत बड़ा नुकसान होगा।

इसी प्रकार कई परिग्रहग्रस्त लोग स्त्रियों के लिए उपयोगी ६४ कलाओं—गुणों का प्रशिक्षण लेते हैं, सिर्फ अधिकाधिक परिग्रह धन बटोरने के उद्देश्य से। वे भी समाज और राष्ट्र का पतन करते हैं। अव्वल तो ये ६४ कलाएँ केवल महिलाओं के सीखने लायक होती हैं, परन्तु जब उन्हें कोई पुरुष सीखता है, तो वह नीति-धर्म की मर्यादा का अतिक्रमण करता है। फिर उन महिलोपयोगी कलाओं को सीख कर भी उनसे कई अनर्थ पैदा करने का और राष्ट्र की संस्कृति को मटियामेट करने का प्रयत्न करता है तो वह और बड़ा अपराध करता है।

उदाहरणार्थ—कोई परिग्रहलिप्सु व्यक्ति वात्स्यायन के कामसूत्र में उल्लिखित आलिंगन, चुम्बन आदि कामोत्पादक—रतिजनक कलाओं का प्रशिक्षण लेता है और वर्तमान सिनेमा के अभिनेता या अभिनेत्री की तरह का पार्ट अदा करता है, अश्लील नृत्य, हावभाव, अभिनय आदि करता है तो उनसे उस कलाकार के यहाँ तो धन की वर्षा हो जाएगी, लेकिन समाज या राष्ट्र का कितना नैतिक पतन होगा? कितने युवक कामुक बन कर चरित्रभ्रष्ट होंगे? बलात्कार या अपहरण के कितने दौर चढ़ेंगे? इसका अंदाजा लगाना भी कठिन है। यह आकर्षणकारी कला लोकरंजन के साथ-साथ मानवजीवन का सत्यानाश कर देगी। इसी दृष्टिकोण से शास्त्रकार ने परिग्रह-लिप्सुओं के द्वारा इन कलाओं के सीखने पर व्यंग्य कसा है, इन्हें अधर्मजनक माना है।

गृहस्थों की आजीविका के लिए प्राचीनकाल के समाजशास्त्र या नीतिशास्त्र में ६ कर्म बताए गए हैं—शिल्प, सेवा, असि, मसि, कृषि और वाणिज्य। इन ६ कर्मों के द्वारा गृहस्थ अपने परिवार का भी भरण-पोषण करता था, समाज और राष्ट्र की भी सेवा करता था। जिस देश में शिल्प, विद्याएँ और कलाकौशल चढ़े-बढ़े होते हैं, वह देश भौतिक दृष्टि से उन्नतिपथ पर अग्रसर होता है; वहाँ की जनता सुखपूर्वक अपनी जिंदगी बिताती है; दुष्काल के थपेड़ों और प्राकृतिक प्रकोपों का वह डट कर सामना कर सकती है। परन्तु जो लोग केवल धनोपार्जन को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य बना कर इन षट्कर्मों को सीखते हैं, उनके सामने समाज या राष्ट्र की सेवा करने या अपने परिवार का ही पोषण करने का कोई लक्ष्य नहीं होता; उनका लक्ष्य खूब पैसा कमा कर मौजशौक करना ही होता है; दुनिया मरे चाहे जीए, समाज चाहे रसातल में जाय, राष्ट्र का नैतिक जीवन चाहे खतरे में पड़ जाय, उनकी बला से। उन्हें तो पैसा चाहिए, फैशन और भोगविलास के साधन चाहिए! इसी दृष्टि को

ले कर शास्त्रकार ने उक्त षट्कर्म का प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले परिग्रहवादियों की ओर संकेत किया है।

वास्तव में जब मनुष्य परिग्रहलिप्सु—धनार्थी या सुलक्ष्यविहीन बन कर उक्त षट्कर्मों को सीखेगा तो वह इनसे समाज या देश की सेवा या उन्नतिकरने के बदले समाज या देशकी कुसेवा या अवनति ही अधिक करेगा। उससे समाज या देश का कोई भला नही होगा। शिल्प के दुरुपयोगके बारे मे हम पहले लिख आए हैं। राजाओं, बादशाहों या धनिको की सेवा में रहना कोई बुरा नही ; किन्तु अनाचारसेवन करने के लिए सुरा और सुन्दरियों को जुटाने, उनको अश्लील गीत, नृत्य आदि सिखाने, उन्हें दुर्व्यसन सिखाने जैसे कर्म बहुत जघन्य कर्म हैं। बुरे कार्यों के करने पर भी केवल उनकी हां में हाँ मिलाना, जीहजूरी करने के लिए उनके यहाँ नौकरी करना और उनसे ऊँची तनख्वाहें प्राप्त करना, उनकी सेवा नहीं, कुसेवा होगी। इससे उनका जीवन तो दुराचार के गड्ढे में पड़ेगा ही, उसका चेप उनके परिवार और समाज को भी लगेगा। यह भी कितना बडा पतन का कारण होगा ?

इसी तरह युद्धविद्या राष्ट्रसेवा की दृष्टि से सीखना कोई बुरा नही, लेकिन उसी युद्धविद्या (असि) का उपयोग जब सेनाएँ रख कर आपस में लड़ाने-भिड़ाने और निर्दोष प्रजा का खून बहाने में किया जाता है, तब कितना भयंकर होता है ? इसी प्रकार लेखनविद्या (मसि) भी राष्ट्रसेवा की दृष्टि से उत्तम है ; किन्तु उसी लेखनविद्या का प्रयोग जब अश्लील काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, लेख आदि लिखने में या हिंसा भड़काने, परस्पर संघर्ष कराने, मारकाट और विद्रोह मचाने के लिए उत्तेजित करने वाला साहित्य लिखने मे होता है, और वह होता है, सिर्फ झटपट मालामाल बनने के लिए ; तब कितना अनर्थकर होता है ? कितने लोगों का जीवन उस साहित्य से बर्बाद हो जायगा ? कितने लोगों की जिंदगियाँ तहसनहस हो जाएँगी ? इसकी कोई हद नहीं। इसी तरह कृषिविद्या का हाल है। अपनी आजीविका और परिवार के भरणपोषण के लिए कोई गृहस्थ कृषि का धन्धा करे तो वह अल्पारम्भी है, जायज है तथा नैतिकदृष्टि से हेय नही है। किन्तु जब इस उद्देश्य को भूल कर कोई व्यक्ति मात्र अपनी भोगवासना की पूर्ति के लिए अनापसनाप व्यक्तिगत खेती करने लगे, बहुत बड़े फार्म में सभी प्रकार की बुरी से बुरी चीजें, यहाँ तक कि तम्बाकू, अफीम आदि भी बोने लगे और उसके द्वारा बहुत मुनाफा कमाने लगे तो कृषिविद्या का यह प्रयोग समाज का शोषण करने वाला बन जाएगा।

यही हाल वाणिज्य का है। व्यापार भी एक प्रकार से परिवारपोषण के साथ-साथ देशसेवा का साधन है। परन्तु व्यापारी जब इस लक्ष्य को भूल कर केवल अर्थोपार्जन का लक्ष्य रखता है, तब वह ज्यादा नफा कमाने, दर बढ़ा कर लोगों का

शोषण करने, मिलावट करने, नापतौल में गड़बड़ करने तथा असली चीज दिखा कर नकली देने आदि के अनैतिक उपाय अपनाता है, तो समाज और राष्ट्र के लिए उसका वह व्यापार घातक और द्रोही सिद्ध होगा।

इसी प्रकार शास्त्रकार ने परिग्रहलिप्सु लोगों द्वारा सीखे जाने वाले व्यवहार-ज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, धनुर्वेद आदि शस्त्र विद्याओं के ज्ञान तथा बहुत से यंत्र-मंत्र-तंत्र आदि के प्रयोगों एवं वशीकरण आदि योगों के ज्ञान का उल्लेख करके यह ध्वनित किया है कि केवल धन बटोरने के लिए इन सब शास्त्रों का ज्ञान उन लोगों के जीवन को उन्नत बनाने के बजाय दुर्गति में भटकाने वाला होता है।

व्यवहार का अर्थ है—विवाद मिटाना। विवादशमन करने के लिए प्राचीन-काल में धाराशास्त्र का अध्ययन किया जाता था; इसे वर्तमान में कानून-कायदों का अध्ययन कहते है। इस प्रकार का अध्ययन करके वह वकील बनता है और वकालत करता है। जहाँ तक विवादशमन का प्रश्न है, उसके लिए व्यवहारशास्त्र का अध्ययन करना और उचित पारिश्रमिक ले कर झगड़े मिटाना ठीक है। परन्तु जब कोई केवल धनार्जन करने के उद्देश्य से ही वकालत पढ़ता है और झूठे मुकद्दमे ले कर अपने मवक्किल से अधिकाधिक मेहनताना लेने की कोशिश करता है तो वहाँ समाजसेवा नहीं होती, न परिवारपोषण का ही उद्देश्य सिद्ध होता है।

इसी प्रकार अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, धनुर्वेदशास्त्र आदि शास्त्रों को पढ़ने का उद्देश्य भी जब एकमात्र पैसे कमाने का ही होता है, तब वह पेशा नीति-धर्म के बदले अनीति और अधर्म बन जाता है।

इसी प्रकार यंत्र, मंत्र, तंत्र आदि विद्याएँ, ज्योतिषशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र, चिकित्साशास्त्र एवं अनेक प्रकार के वशीकरण, मारण, सम्मोहन और उच्चाटन आदि का ज्ञान केवल अर्थप्राप्ति के लिए किया जाता है तो उनके प्रयोग में पूर्वोक्त अनर्थ पैदा होते। भोलेभाले लोगों को अपने चंगुल में फंसा कर वह मनमाना पैसा लूटता है और गुलछर्रे उड़ाता है। इसलिए परिग्रहार्थी के हाथों में पड़ कर सब शास्त्रों का दुरुपयोग होगा, उनसे अनेक अनर्थ पैदा होंगे।

ये और इसी प्रकार के अन्य सैकड़ों उपाय परिग्रहार्थी अपनाते रहते हैं और आजीवन इसी में ही रचेपचे रहते हैं।

परिग्रहलिप्सुओं का स्वभाव—शास्त्रकार आगे चल कर परिग्रहसेवनकर्ताओं के स्वभाव का निरूपण करते हुए कहते हैं—'परदव्वे अभिज्जा ⋯ करेंति कोहमाण-मायालोभे।' जिनका उद्देश्य सिर्फ पैसे कमाना ही होता है, वे मंदबुद्धि अज्ञजीव अपनी आत्मा के हानिलाभ, कर्तव्य-कर्तव्य, नीति-अनीति, धर्माधर्म का विचार नहीं करते और जो भी अर्थोत्पादक व्यवसाय हाथ में आता है, उसी में प्रवृत्त हो जाते हैं। कभी

शराबखाना खोल दिया तो कभी मुर्गीखाना। कभी कत्लखाना खोला तो कभी वेश्यालय। कभी अनेक पंचेन्द्रियवधप्रेरक पशुबलि का ठेका ले लिया तो कभी अनेक पंचेन्द्रिय प्राणियों के वध से होने वाली दवाइयों का कारखाना खोल दिया। जिनमें असंख्य जीवों का घात होता हो, ऐसे कल-कारखाने लगवाने, वन में आग लगाने, जंगल कटवाने या पशुओं के चमडे कमाने आदि के अनेक नीच व्यवसाय करते भी वे लोग नही हिचकिचाते। यहाँ तक कि पैसे के लिए वे नरहत्या करने को भी उतारू हो जाते हैं।

परिग्रह के लिए झूठ बोलने में भी ऐसे धनजीवी लोगो को कोई संकोच नही होता। वे झूठी साक्षी दे देंगे, व्यापार में झूठ बोल देंगे। चंद चादी के टुकड़ों के लिए वे चाहे जिस मामले मे असत्य बोलने से नही हिचकेंगे। दूकान पर कोई ग्राहक आएगा तो उसे बहुत आदर-सत्कार देंगे; उसकी मिथ्याप्रशंसा करेंगे, उसके साथ बहुत मीठे-मीठे बोलेंगे और सौदा देने में उसकी गांठ अच्छी तरह काट लेंगे। साथ ही, घटिया वस्तु में बहुमूल्य बढ़िया वस्तु थोड़ी-सी मात्रा मे मिला कर कीमती वस्तु की भ्रान्ति पैदा करके उससे बहुत पैसा ऐंठ लेंगे। इस प्रकार की सैंकड़ों धूर्तताओं के काम करने मे वे लोग उस्ताद होते हैं। मतलब यह है कि किसी भी तरह पराये धन को अपनी तिजोरी मे भरने की लालसा उनमें कूट-कूट कर भरी होती है। इसलिए वे हर फन में माहिर होते हैं।

ऐसा धनलोभी परिग्रहार्थी व्यक्ति संतानोत्पत्ति होने पर उनके भरणपोषण में धन खर्च होगा, इस डर से मनमें काम-वासना जागृत होने पर भी अपनी स्त्री के साथ सहवास नहीं करता। परस्त्रीसहवास की मन में आती है, उसके लिए शारीरिक और मानसिक प्रयास भी करता है,किन्तु उसमें भी नैतिक दृष्टि से नहीं, अपितु धन खर्च हो जाने के डर से प्रवृत्त नही होता।

निष्कर्ष यह है कि धन का परिग्रहार्थी मानव हिंसा, झूठ, चोरी या व्यभिचार आदि किसी भी पापकर्म को करने से नही हिचकता।

परिग्रहार्थी साधारण इच्छाओं से ले कर बड़ी-बड़ी इच्छाओं की पिपासा से निरन्तर प्यासे बने रहते हैं। उनकी वह प्यास कभी नहीं बुझती। वे रात-दिन अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की तृष्णा और प्राप्त पदार्थों पर गाढ़ आसक्ति एवं प्राप्त करने के लोभ से ग्रस्त रहते हैं। वे परिग्रह के लिए परस्पर कलह और विवाद करते है, आपस मे सिरफुटौव्वल करते हैं और परस्पर वैर बांध लेते हैं। परिग्रह के लिए वे अपने सम्बन्धीजनों से भी गालीगलौज और हाथापाई पर उतर आते हैं। पैसे के लिए वे किसी का भी अपमान करने से नहीं चूकते,अथवा पैसे के लिए अपने ग्राहक आदि के द्वारा किए हुए अपमान को भी सह लेते हैं। पैसे के लिए किसी भी व्यक्ति को डांटने-धमकाने या उसकी भर्त्सना करने से वे नही चूकते अथवा अर्थ के लिए वे

किसी तुच्छ आदमी द्वारा की हुई डाटडपट या विडम्बना को भी सह लेते हैं। ऐसे परिग्रहलिप्सु की इज्जत मिट्टी में मिल जाती है, समाज में ऐसे लोगों को कोई शरण नहीं देता, अथवा ऐसे लोगों के यहाँ कोई शरण-आश्रय नहीं लेता। वे अपनी इन्द्रियों, मन और आत्मा पर अंकुश नहीं रख सकते, इसी कारण अहर्निश क्रोध, अभिमान, माया, और लोभ में डूबे रहते हैं।

सारांश यह है कि परिग्रहग्रस्त मानव १८ पापस्थानों में से किसी भी पापकर्म को बाकी नहीं छोड़ते। परिग्रही में समस्त पाप भरे रहते हैं।

परिग्रह के साथ दुर्गुणों का अवश्यम्भावी सम्बन्ध—इसलिए शास्त्रकार परिग्रह के साथ निम्नोक्त दुर्गुणों का अस्तित्व अवश्यम्भावी बताते हैं—अकित्तणिज्जे परिग्गहे चेव होंति नियमा सल्ला ......इच्छंति परिघेत्तुं।' शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि परिग्रह अपने आप में एक महान् निन्दनीय दुर्गुण है, इतना जबर्दस्त कि उसके होते ही मायाचार में प्रवृत्ति होने लगती है, मिथ्याभावना—विपरीत श्रद्धा होने लगती है, भविष्य में भोगों की आकांक्षारूप निदान के दुर्भाव भी पैदा हो जाते हैं। जहाँ परिग्रह होता है वहाँ प्रायः अपनी धन-सम्पत्ति तथा तथा ऐश्वर्य का अभिमान पैदा हो जाता है सुन्दर, सुखद और स्वादिष्ट चीजों के उपभोग का अहंकार उत्पन्न हो जाता है, अनेक प्रकार के मौजशौक, रागरंग, विलास आदि इन्द्रियसुखों का गर्व घर कर लेता है। परिग्रह पास में होते ही क्रोधादि चारों कषाय वहाँ अपना डेरा जमा लेते हैं, आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की संज्ञाएं— वासनाएं परिग्रह के साथ ही आ धमकती हैं। परिग्रह के आते ही शब्द, गन्ध, रस, और स्पर्श इन पांचों इन्द्रियविषयों के सेवनरूप आश्रव का द्वार खुल जाता है। इन्द्रियाँ मतवाली और चंचल हो जाती हैं। परिग्रह की झकार होते ही कृष्ण, नील और कापोत ये तीनों लेश्याएं अपना अड्डा जमा लेती हैं।

परिग्रह के आते ही स्वजनों से अलगाव या किनाराकसी की भावना पैदा हो जाती है। उसके स्वजन तो परिग्रही के साथ सम्पर्क करना चाहते हैं, लेकिन वह धन-लोभ के कारण उनसे नफरत करने लगता है। इसके अतिरिक्त परिग्रही के मानस में परिग्रह के सम्पर्क से सजीव, निर्जीव तथा मिश्र तीनों प्रकार के अनन्त द्रव्यों को ममत्वपूर्वक ग्रहण करने की इच्छा अवश्य पैदा होती है, किन्तु वे उन्हें नहीं मिलते हैं तो मन खिन्न होता है।

परिग्रह : एक बेजोड़ पाश-बन्धन—पूर्वोक्त सूत्रपाठ के अनुसार इस संसार में साधु-मुनियों और वीतरागी पुरुषों के सिवाय ऐसा कोई प्राणी बचा नहीं है, जो परिग्रह की चपेट में न आया हो। स्वर्ग के सर्वोच्च देव और देवेन्द्र, मनुष्यलोक के सर्वोच्च मानव चक्रवर्ती तथा विशेष विभूति वाले भवनवासी देव (असुर) भी जब इसके मायाजाल में फंसे हैं, तब साधारण प्राणियों का तो कहना ही क्या? सवाल होता है कि ऐसे शक्तिशाली और विवेकी प्राणी भी परिग्रह के

वशीभूत क्यों है ? इसके उत्तर में ही शास्त्रकार कहते हैं—"नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि सव्वजीवाण सव्वलोए।" अर्थात् 'इस अखिल विश्व में क्या देव, क्या मनुष्य, क्या तिर्यंच और क्या नरक इन सभी गतियों मे सब जीवो को बांधने में समर्थ परिग्रह के सरीखा कोई भी अन्य पाश-जाल नही है, यही सासारिक प्राणियों के लिए प्रबल प्रतिबन्धरूप है।' वास्तव मे देखा जाय तो परिग्रह ममता,मूर्च्छा से पैदा होता है और ममता मूर्च्छा मोहनीय कर्म की प्रबल परिणति है। इसलिए परिग्रह ने मोहविजेता वीतराग प्रभु के सिवाय सारे ससार को अपने मोहपाश मे बांध लिया है तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

मतलब यह है कि ससार के अधिकांश प्राणी पूर्णरूप से या मर्यादित रूप से परिग्रहवृत्ति से अविरत नहीं हुए हैं, यानी परिग्रह का त्रिकरण-त्रियोग से त्याग नही किया है अथवा परिग्रह का परिमाण नही किया है। इसलिए चाहे थोड़े फसे हो या ज्यादा सबके सब परिग्रह के जाल में फसे हुए हैं।

परिग्रह का फलविपाक

पूर्वसूत्रपाठ मे शास्त्रकार ने परिग्रह-सेवनकर्ताओं का परिचय दे कर, उसके पश्चात् परिग्रहसेवन के विविध उपायों तथा उनसे होने वाले अनर्थों का और अन्त में परिग्रह के साथ अवश्यभावी दुर्गुणो का विशद निरूपण किया है। अब इस अन्तिम सूत्रपाठ में परिग्रह के विशेष फल का निरूपण करते हैं—

मूलपाठ

परलोगम्मि य नट्ठा तमं पविट्ठा महया मोहमोहियमती तिमिसंधकारे तसथावरसुहुमबादरेसु पज्जत्तमपज्जत्तग एवं जाव परियट्टंति दीहमद्धं जीवा लोभवससंनिविट्ठा। एसो सो परिग्गहस्स फलविवाओ इहलोइओ, पारलोइओ, अप्पसुहो, बहुदुक्खो, महब्भओ, बहुरयप्पगाढो, दारुणो, कक्कसो, असाओ, वाससहस्सेहिं मुच्चइ, न अवेइत्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति, एवमाहंसु नायकुलनंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरनामधेज्जो कहेसी य परिग्गहस्स फलविवागं। एसो सो परिग्गहो पंचमो उ नियमा नाणामणिकणगरयणमहरिह एवं जाव इमस्स मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स फलिहभूयो चरिमं अधम्मदारं समत्तं ॥सू० २०॥

संस्कृतच्छाया

परलोके च नष्टास्तमःप्रविष्टा महामोहमोहितमतयस्तमिस्रान्धकारे त्रसस्थावरसूक्ष्मबादरेषु पर्याप्ताऽपर्याप्तक एवं यावत् पर्यटन्ति दीर्घमध्वानं जीवा लोभवशसंनिविष्टाः। एष स परिग्रहस्य फलविपाक इहलौकिकः पारलौकिकोऽल्पसुखो बहुदुःखो महाभयो बहुरजःप्रगाढो दारुणः कर्कशोऽसातो वर्षसहस्रैर्मुच्यते, नावेदयित्वाऽस्ति खलु मोक्ष, इत्येवमाख्यातवान् ज्ञातकुलनंदनो महात्मा जिनस्तु वीरवर नामधेयोऽकथयत् च परिग्रहस्य फलविपाकम्। एष स परिग्रहः पंचमस्तु नियमान्नानामणिकनकरत्नमहार्घ्यं एवं यावद् मोक्षवरमुक्तिमार्गस्य परिघभूतश्चरिममधर्मद्वारं समाप्तम् ॥सू० २०॥

पदार्थान्वय—परिग्रह में आसक्त जीव (परलोगम्मि) परलोक में (च) और इस लोक में, (नट्ठा) सुगति से नष्ट एवं सन्मार्गभ्रष्ट हुए (तमं पविट्ठा) अज्ञानान्धकार में मग्न, (तिमिसंधकारे) अंधेरी रात के समान घोर अज्ञानान्धकार में (महया मोहमोहितमती) तीव्र उदय वाले मोहनीयकर्म से मोहित बुद्धि वाले (लोभवससंनिविट्ठा) लोभ के वशीभूत (जीवा) जीव (तसथावरसुहुमबादरेसु) त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर पर्याय वाले तथा (पज्जत्तमपज्जत्तग एवं जाव परियट्टंति दीहमद्धं) पर्याप्तक, अपर्याप्तक से ले कर दीर्घमार्ग वाले चारगतिरूप संसारवन में परिभ्रमण करते हैं।

(एसो) यह (सो) पूर्वोक्त (परिग्गहस्स) परिग्रह के (फलविवाओ) फल का अनुभव—भोग, (इहलोइओ) इस लोक सम्बन्धी (पारलोइओ) परलोकसम्बन्धी (अप्पसुहो) अल्पसुख वाला है; (बहुदुक्खो) बहुत दुःख वाला है। (महब्भओ) महाभयजनक है; (बहुरयप्पगाढो) अत्यन्त मात्रा में कर्मरूपी रज से गाढ़ बना हुआ, (दारुणो) घोर (कक्कसो) कठोर और (असाओ) असातारूप है। (वाससहस्सेहिं) हजारों वर्षों में जा कर (मुच्चइ) इससे छुटकारा होता है। (अवेइत्ता मोक्खो हु नत्थि) फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता। (एवं) इस प्रकार (नायकुलनंदणो) ज्ञातकुल के नन्दन (महप्पा) महात्मा (वीरवरनामधेज्जो) महावीर नामक (जिणो उ) जिनेश्वर भगवान् ने (आहंसु) कहा है। (य) और मैंने—शास्त्रकार ने (परिग्गहस्स) परिग्रह के (फलविवागं) फल का विपाक (कहेसी) कहा है।

एसो (यह) (सो) पूर्वोक्त (पंचमो उ) पांचवां (परिग्गहो) परिग्रह नामक आस्रवद्वार (नियमा) नियम से (नाणामणिकणगरयणमहरिह) अनेक प्रकार की चन्द्रकान्त आदि मणियाँ, सोना, कर्केतन आदि रत्न तथा बहुमूल्य सुगन्धित द्रव्य—

इत्र आदि, (एवं जाव) इस प्रकार परिग्रह के स्वरूपद्वार में जो पाठ आया है, वह सब यहाँ समझ लेना। अतः (इमस्स मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स) इस श्रेष्ठ मोक्ष—भाव मोक्ष के निर्लोभता-(मुक्ति) रूप मार्ग का (फलिहभूयो) यह परिग्रह आगल रूप है। इस प्रकार (चरिमं) अन्तिम, (अधम्मदारं) अधर्मद्वार (समत्तं) समाप्त हुआ। ॥सूत्र० २०॥

मूलार्थ—धन-सम्पत्ति—स्त्री-पुत्रादि परिग्रह के पाश में फंसे हुए प्राणी परलोक में और इस जन्म में नष्ट—भ्रष्ट हो जाते है और अज्ञानरूपी अंधेरे में डूबे रहते है। भयानक अंधेरी रात के समान अज्ञानरूप अन्धकार में तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से उनकी बुद्धि मोहित—विवेकशून्य हो जाती है। त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर जीवों में पर्याप्तक और अपर्याप्तक, साधारण और प्रत्येक शरीर में अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, स्वेदज, सम्मूर्च्छिम उद्भिज्ज और औपपातिक जन्मों में जन्म, मृत्यु, रोग और शोक से परिपूर्ण नारक, तिर्यञ्च,देव और मनुष्यों में वे पल्यों और सागरों की आयु वाले जन्म पाते है। इस तरह अनादि—अनन्त, दीर्घमार्ग वाले चतुर्गतिमय संसाररूपी भयानक वन में वे बार-बार परिभ्रमण करते रहते हैं।

यह पूर्वोक्त परिग्रह—आश्रव का फलविपाक—फल का अनुभव—भोग इस लोक में और परलोक (भावी जन्म) मे अल्प सुख एवं महादुःख देने वाला है। महाभय का उत्पादक है, अत्यन्त गाढ़ कर्मरूपी रज का सम्बन्ध कराने वाला है, अतिदारुण है, कठोर है और दुःखमय है। यह हजारो वर्षों में जा कर छूटता है। इस (फल) के भोगे बिना कदापि छुटकारा नहीं होता है। इस प्रकार ज्ञातकुलनन्दन महात्मा महावीर नाम के जिनेन्द्रप्रभु ने व्याख्यान किया है। तथा मैंने (शास्त्रकार ने) परिग्रह का (यह) फलविवाक कहा है।

यह पूर्वोक्त परिग्रह नामक पांचवां आश्रवद्वार निश्चय ही अनेक प्रकार की चन्द्रकान्त आदि मणियों, सोना, हीरा आदि रत्न, महामूल्य सुगन्धित इत्र आदि द्रव्य, पुत्र, स्त्री आदि स्वरूपद्वारोक्त परिग्रह इस भावमोक्ष—मोक्ष के निर्लोभता—मुक्ति रूप उपाय के लिए बाधक अर्गलारुप—प्रतिबन्धक है। इस प्रकार यह अन्तिम पांचवां आश्रवद्वार समाप्त हुआ ॥सू० २०॥

संस्कृतच्छाया

परलोके च नष्टास्तमःप्रविष्टा महामोहमोहितमतयस्तमिस्रान्धकारे त्रसस्थावरसूक्ष्मबादरेषु पर्याप्ताऽपर्याप्तक एवं यावत् पर्यटन्ति दीर्घमध्वानं जीवा लोभवशसंनिविष्टा । एष स परिग्रहस्य फलविपाक इहलौकिकः पारलौकिकोऽल्पसुखो बहुदुःखो महाभयो बहुरजःप्रगाढो दारुणः कर्कशोऽसातो वर्षसहस्रैर्मुच्यते, नावेदयित्वाऽस्ति खलु मोक्ष,इत्येवमाख्यातवान् ज्ञातकुलनंदनो महात्मा जिनस्तु वीरवर नामधेयोऽकथयत् च परिग्रहस्य फलविपाकम् । एष स परिग्रहः पंचमस्तु नियमान्नानामणिकनकरत्नमहार्घ्य एवं यावद् मोक्षवरमुक्तिमार्गस्य परिघभूतश्चरिममधर्मद्वारं समाप्तम् ॥सू० २०॥

पदार्थान्वय—परिग्रह में आसक्त जीव (परलोगम्मि) परलोक में (य) और इस लोक में, (नट्ठा) सुगति से नष्ट एवं सन्मार्गभ्रष्ट हुए (तमं पविट्ठा) अज्ञानान्धकार में मग्न, (तिमिसंधकारे) अंधेरी रात के समान घोर अज्ञानान्धकार में (महया मोह-मोहियमती) तीव्र उदय वाले मोहनीयकर्म से मोहित बुद्धि वाले (लोभवससंनिविट्ठा) लोभ के वशीभूत (जीवा) जीव (तसथावरसुहुमबादरेसु) त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर पर्याय वाले तथा (पज्जत्तमपज्जत्तग एवं जाव परियट्टंति दीहमद्धं) पर्याप्तक, अपर्याप्तक से ले कर दीर्घमार्ग वाले चारगतिरूप संसारवन में परिभ्रमण करते हैं।

(एसो) यह (सो) पूर्वोक्त (परिग्गहस्स) परिग्रह के (फलविवाओ) फल का अनुभव—भोग, (इहलोइओ) इस लोक सम्बन्धी (पारलोइओ) परलोकसम्बन्धी (अप्पसुहो) अल्पसुख वाला है; (बहुदुक्खो) बहुत दुःख वाला है। (महब्भओ) महा-भयजनक है; (बहुरयप्पगाढो) अत्यन्त मात्रा में कर्मरूपी रज से गाढ़ बना हुआ, (दारुणो) घोर (कक्कसो) कठोर और (असाओ) असातारूप है। (वाससहस्सेहिं) हजारों वर्षों में जा कर (मुच्चइ) इससे छुटकारा होता है।(अवेइत्ता मोक्खो हु नत्थि) फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता। (एवं) इस प्रकार (नायकुलनंदणो) ज्ञातकुल के नन्दन (महप्पा) महात्मा (वीरवरनामधेज्जो) महावीर नामक (जिणो उ) जिनेश्वर भगवान् ने (आहंसु) कहा है। (य) और मैंने—शास्त्रकार ने (परिग्गहस्स) परिग्रह के (फलविवागं) फल का विपाक (कहेसी) कहा है।

एसो (यह) (सो) पूर्वोक्त (पंचमो उ) पांचवां (परिग्गहो) परिग्रह नामक आश्रवद्वार (नियमा) नियम से (नाणामणिकणगरयणमहरिह) अनेक प्रकार की चन्द्रकान्त आदि मणियां, सोना, कर्केतन आदि रत्न तथा बहुमूल्य सुगन्धित द्रव्य—

इत्र आदि, (एवं जाव) इस प्रकार परिग्रह के स्वरूपद्वार में जो पाठ आया है, वह सब यहाँ समझ लेना। अतः (इमस्स मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स) इस श्रेष्ठ मोक्ष—भाव मोक्ष के निर्लोभता-(मुक्ति) रूप मार्ग का (फलिहभूयो) यह परिग्रह आगल रूप है। इस प्रकार (चरिमं) अन्तिम, (अधम्मदारं) अधर्मद्वार (समत्तं) समाप्त हुआ। ।।सूत्र० २०।।

मूलार्थ—धन-सम्पत्ति—स्त्री-पुत्रादि परिग्रह के पाश मे फंसे हुए प्राणी परलोक में और इस जन्म में नष्ट—भ्रष्ट हो जाते हैं और अज्ञानरूपी अंधेरे में डूबे रहते है। भयानक अंधेरी रात के समान अज्ञानरूप अन्धकार में तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से उनकी बुद्धि मोहित—विवेकशून्य हो जाती है। त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर जीवों में पर्याप्तक और अपर्याप्तक, साधारण और प्रत्येक शरीर में अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, स्वेदज, सम्मूर्च्छिम उद्भिज्ज और औपपातिक जन्मों मे जन्म, मृत्यु, रोग और शोक से परिपूर्ण नारक, तिर्यञ्च,देव और मनुष्यों में वे पल्यो और सागरों की आयु वाले जन्म पाते हैं। इस तरह अनादि—अनन्त, दीर्घमार्ग वाले चतुर्गतिमय संसाररूपी भयानक वन में वे बार-बार परिभ्रमण करते रहते हैं।

यह पूर्वोक्त परिग्रह—आश्रव का फलविपाक—फल का अनुभव—भोग इस लोक में और परलोक (भावी जन्म) मे अल्प सुख एवं महादुःख देने वाला है। महाभय का उत्पादक है, अत्यन्त गाढ़ कर्मरूपी रज का सम्बन्ध कराने वाला है, अतिदारुण है, कठोर है और दुःखमय है। यह हजारो वर्षों में जा कर छूटता है। इस (फल) के भोगे बिना कदापि छुटकारा नहीं होता है। इस प्रकार ज्ञातकुलनन्दन महात्मा महावीर नाम के जिनेन्द्रप्रभु ने व्याख्यान किया है। तथा मैंने (शास्त्रकार ने) परिग्रह का (यह) फलविपाक कहा है।

यह पूर्वोक्त परिग्रह नामक पांचवां आश्रवद्वार निश्चय ही अनेक प्रकार की चन्द्रकान्त आदि मणियों, सोना, हीरा आदि रत्न, महामूल्य सुगन्धित इत्र आदि द्रव्य, पुत्र, स्त्री आदि स्वरूपद्वारोक्त परिग्रह इस भावमोक्ष—मोक्ष के निर्लोभता—मुक्ति रूप उपाय के लिए बाधक अर्गलारूप—प्रतिबन्धक है। इस प्रकार यह अन्तिम पांचवां आश्रवद्वार समाप्त हुआ ।।सू० २०।।

व्याख्या

शास्त्रकार अब क्रमप्राप्त फलद्वार के निरूपण के प्रसंग में परिग्रहसेवन से जीवों को क्या-क्या फल मिलते हैं ? इसका संक्षेप में प्रतिपादन करते हैं। इस सूत्रपाठ का अर्थ मूलार्थ और पदार्थान्वय से काफी स्पष्ट है तथा इस प्रकार के समान सूत्रपाठ की व्याख्या पहले के सूत्रपाठों में काफी की जा चुकी है। फिर भी कई स्थलों पर आशय स्पष्ट करने की दृष्टि से कुछ विश्लेषण करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

परलोयम्मि य नट्ठा—जो व्यक्ति परिग्रह के वशीभूत हो कर नाना प्रकार के सांसारिक पदार्थों को येन-केन—प्रकारेण अन्याय, अनीति या अधर्म से भी जुटाने में तत्पर रहते हैं; उनकी हालत यह होती है कि वे अपने परलोक को नष्ट कर डालते हैं—बिगाड़ लेते हैं। यहाँ 'य' (च) शब्द पड़ा है, जो इस बात का द्योतक है कि जिसने परलोक को नष्ट कर डाला; उसका यह लोक (जन्म) भी अवश्य नष्ट होता है। उपनिषद् में कहा है—'इतो विनष्टिर्महती विनष्टिः' यहाँ का जीवनविनाश महान् जीवनविनाश है। जो यहाँ अपने जन्म को बिगाड़ लेता है—चारित्र से भ्रष्ट, नैतिकता से पतित और अपने ध्येय से भ्रष्ट हो जाता है, वह अपने परलोक को तो अवश्य ही नष्ट कर लेता है। इसलिए 'य' शब्द 'इहलोक' का बोधक है।

इसका आशय यह है कि परजन्म को सुधारना या बिगाड़ना किसी और शक्ति, भगवान् या ईश्वर के हाथ में नहीं, हमारे अपने हाथ में है। हम चाहें तो इस जीवन को अत्यन्त उन्नत, महत्वपूर्ण और सर्वगुण-सम्पन्न मोक्ष के निकट पहुँचा सकते हैं और चाहें तो बुरे आचरणों, दुर्व्यसनों, बुरे मार्ग या बुरे कार्यों में लगा कर इसे नष्ट कर सकते हैं। इस जीवन का अपने हाथों से इस प्रकार विनाश एक तरह से अनन्त जन्मों का विनाश होगा। क्योंकि पता नहीं, फिर मनुष्यजन्म कब मिले ? इसलिए इस जन्म में जैसा भी मनुष्यजन्म मिला है, जैसी भी परिस्थिति, क्षेत्र, कुल, इन्द्रियों की पूर्णता-अपूर्णता, आयुष्य, शरीरसम्पत्ति आदि प्राप्त हुई है, उसे बदलना तो हमारे हाथ की बात नहीं है। किन्तु हमारा भविष्य हमारे हाथ में है। अगर हम सन्मार्ग का आचरण करें और अशुभ पापमय कार्यों से अपने को बचाये रखें तो अपने भविष्य को उज्ज्वल बना सकते हैं।

प्रश्न होता है कि जब अपना जीवन बनाना-बिगाड़ना मनुष्य के अपने हाथ में है तो वह जानबूझ कर क्यों अपने जीवन को पतन की आग में धकेलता है ? क्यों नहीं, अपने इहलौकिक जीवन को सुधार लेता ? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—'तमं पविट्ठा महया मोहमोहियमती तिमिसंधकारे' अर्थात्—वे स्वयं अज्ञान के गाढ़ अन्धेरे में डूबे रहते हैं। उनकी बुद्धि पर घनी काली अंधेरी रात की तरह तीव्र

मोहनीय कर्म का पर्दा पड़ा रहता है, जिससे उनकी बुद्धि तमसाच्छन्न हो जाती है। उन्हें पशु की तरह पेट भरने, संतान पैदा करने एवं पैसा, सुख-साधन इत्यादि के रूप में परिग्रह इकट्ठा करने के सिवाय और कुछ नहीं सूझता। वे जीवन के लक्ष्य से भटक जाते है और बाद में भी कई जन्मों तक भटकते ही रहते हैं।

परिग्रह के दलदल में फंसे हुए जीव अपने परलोक—आगामी जीवन को इस प्रकार अपने ही हाथों से बिगाड़ लेते हैं। वे चाहते हैं सुख। लेकिन परिग्रह प्राप्त करने के लिए उलटे मार्गों का सहारा लेते हैं, जिससे वे उस सुख से दूरातिदूर होते जाते हैं। क्षणिक काल्पनिक सुख की आशा में वे महापापजनक बाह्य पदार्थों में ममत्व रखते हैं। आत्मगुणों के अतिरिक्त जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सब परभाव हैं, आत्मा परभावों में जितनी-जितनी डूबती है, उतना-उतना अधिक दुःख पाती है।

वास्तव में तीव्र मोहनीयकर्म से परिग्रही की बुद्धि घिर जाती है तो उसका ज्ञान, दर्शन या चारित्र सब उलटा हो जाता है। विपरीत ज्ञान के प्रभाव से उसे सुख देने वाले देव-गुरु-धर्म पर श्रद्धा, सिद्धान्तज्ञान या शुद्धधर्माचरण बुरा मालूम होता है। अतः परिग्रह सेवनकर्ता लोभ के वशीभूत हो कर अपने इस जीवन को बिगाड़ डालते हैं, आगामी जीवन भी उन्हें बुरा ही मिलता है, वहाँ भी उनका जीवन भ्रष्ट और पतित होता है।

परिग्रह का फल : दीर्घकाल तक संसार-परिभ्रमण—जिस प्रकार अब्रह्मचर्य-सेवन का फल अनन्तकाल तक एकेन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय तक विविधगतियों और योनियों मे परिभ्रमण बताया गया था, उसी प्रकार परिग्रहसेवन का फल भी अनन्तकाल पर्यन्त एकेन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय तक की नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति रूप विविध योनियों मे भटकना है।

इस पर विशद व्याख्या हम पहले के अध्ययनों में कर आए हैं। अतः पुनः पिष्टपेषण करना ठीक नहीं होगा।

वास्तव में परिग्रह का फल इस लोक में तो प्रत्यक्ष है। शास्त्रकार ने भी १९ वें सूत्रपाठ में परिग्रह से होने वाले अनर्थों का उल्लेख किया ही है। जिनके हृदय मे तृष्णा की आग जलती रहती है, आशारूपी हवा जिसे बार-बार भड़काती रहती है, और इच्छा एवं परिग्रहसेवन-रूपी इन्धन भी जिसमें रात-दिन झोंका जाता है, वहाँ भला शान्ति कैसे मिल सकती है? सन्मार्ग कैसे सूझ सकता है? यही कारण है कि परिग्रह का फलविपाक इस लोक और परलोक में सर्वत्र अल्पसुख एवं बहुदुःखप्रदायक है। हजारों वर्षों तक भोगते रहने पर भी उस कटु फलभोग से छुटकारा नहीं होता। भोगना तो अवश्य ही पड़ता है। श्रमण भगवान्

महावीर ने इस प्रकार परिग्रह का फलविपाक बताया था, शास्त्रकार भी उसी को दोहरा कर अपनी नम्रता प्रगट करते हैं।

उपसंहार

शास्त्रकार पूर्वोक्त पाँच अध्ययनों में पाँच आश्रवों का निरूपण करने के बाद अब पाँच गाथाओं द्वारा उनका उपसंहार करते हैं—

मू०—एएहिं पंचहिं आसवेहिं, रयमादिणित्तु अणुसमयं।
चउव्विहगइ-पेरंतं, अणुपरियट्टंति संसारं ॥१॥

छाया—एतैः पंचभिराश्रवैः, रज आचित्याऽनुसमयम्।
चतुर्विधगति—पर्यन्तमनुपरिवर्तन्ते संसारम् ॥१॥

मू०—सव्वगई पक्खंदे, काहेंति अणंतए अकयपुण्णा।
जे य ण सुणंति धम्मं, सोऊण य जे पमायंति ॥२॥

छाया—सर्वगति प्रस्कन्दान्,करिष्यत्यनन्तान् अकृतपुण्याः।
ये च न श्रृण्वन्ति धर्मं, श्रुत्वा च ये प्रमाद्यन्ति ॥२॥

मू०—अणुसिट्ठं पि बहुविहं, मिच्छादिट्ठीआ जे नरा।
बद्धनिकाइयकम्मा, सुणंति धम्मं न य करेंति ॥३॥

छाया—अनुशिष्टमपि बहुविधं, मिथ्यादृष्टिका ये नराः।
बद्धनिकाचितकर्माणः, श्रृण्वन्ति धर्मं न च कुर्वन्ति ॥३॥

मू०—किं सक्का काउं जे, जं णेच्छह ओसहं मुहा पाउं।
जिणवयणं गुणमहुरं, विरेयणं सव्वदुक्खाणं ॥४॥

छाया—किं शक्यं कर्त्तुं ये, यन् नेच्छथौषधं मुधा पातुम्।
जिन वचनं गुणमधुरं, विरेचनं सर्वदुःखानाम् ॥४॥

मू०—पंचेव य उज्झिऊण, पंचेव य रक्खिऊण भावेण।
कम्मरयविप्पमुक्का, सिद्धिवरमणुत्तरं जंति ॥५॥त्तिबेमि॥

छाया—पंचैव चोज्झित्वा, पंचैव च रक्षित्वा भावेन।
कर्मरजोविप्रमुक्ताः सिद्धिवरमनुत्तरं यान्ति ॥५॥इति ब्रवीमि॥

मूलार्थ– इन पांचों (प्राणातिपात आदि) आश्रवों से जीव प्रतिक्षण आत्म प्रदेशों के साथ कर्मरूपी रज का संचय करता हुआ गतिनाम कर्म के उदय से नरक, तिर्यंच, देव, मनुष्य—इस चारगतिरूप संसार में परिभ्रमण करता रहता है ॥१॥

जिन्होंने आश्रवों का निरोध नहीं किया है, वे पुण्यहीन प्राणी नरक देव आदि सर्वगतियों में अनन्त (बार) गमनागमन करेंगे। कौन? जो धर्म का श्रवण नहीं करते या धर्म श्रवण करके भी जो प्रमाद करते हैं ॥२॥

जो मनुष्य मिथ्यादृष्टि है तथा निकाचित रूप से कर्म बांधे हुए हैं, वे अधम गुरुजनों द्वारा अनेक प्रकार से उपदेश दिये जाने पर धर्म श्रवण तो करते हैं, लेकिन उसका आचरण नहीं करते ॥३॥

जिनवचन तो समस्त दुःखों के नाश के हेतु गुणयुक्त मधुर विरेचन है, परन्तु निःस्वार्थ बुद्धि से दिए गये इस औषध को जो पीना नहीं चाहते, उनका वह क्या कर सकता है ? ॥४॥

अतः जो हिंसा आदि पांच आश्रवों को छोड़ कर और प्राणातिपात-विरमण आदि पांच संवरों का भाव से पालन करके कर्मरज से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं, वे सकलकर्मों के क्षय से प्राप्त होने वाली उत्तम और सर्वश्रेष्ठ भावसिद्धि यानी सर्वोत्तम सिद्धि को पाते हैं ॥५॥

इस प्रकार सुबोधिनी व्याख्यासहित पंचम अध्ययन अर्थात् परिग्रह आश्रव के रूप में पंचम और अन्तिम अधर्मद्वार समाप्त हुआ।

आश्रवद्वार सम्पूर्ण



द्वितीय खण्ड : संवरद्वार

संवरद्वार-दिग्दर्शन

प्रथम श्रुतस्कन्ध में शास्त्रकार ने आश्रवद्वार के अन्तर्गत पांच आश्रवों का विशद वर्णन किया है। आश्रव का प्रतिपक्षी संवर है। संवर का महत्त्व जाने बिना आश्रवों से विरति नहीं हो सकती। इसलिए आश्रवों के निरूपण के बाद संवरों का निरूपण आवश्यक समझ कर शास्त्रकार सर्वप्रथम पांच संवरों का दिग्दर्शन निम्नोक्त पाठ द्वारा करा रहे हैं—

मूलपाठ

जम्बू ! एत्तो य संवरदाराइं पंच वोच्छामि आणुपुव्वीए।
जह भणियाणि भगवया सव्वदुहविमोक्खणट्ठाए ॥ १ ॥
पढमं होइ अहिंसा, बितियं सच्चवयणं ति पन्नत्तं।
दत्तमणुन्नायं संवरो य बंभचेरमपरिग्गहत्तं च ॥ २ ॥
तत्थ पढमं अहिंसा तसथावरसव्वभूयखेमकरी।
तीसे सभावणाओ किंची वोच्छं गुणुद्देसं ॥ ३ ॥

ताणि उ इमाणि सुव्वय ! महव्वयाइं[1] लोकहियसव्वयाइं सुयसागरदेसियाइं तवसंजमव्वयाइं सीलगुणवरव्वयाइं सच्चज्जवव्वयाइं नरकतिरियमणुयदेवगति-विवज्जकाइं कम्म-रयविदारगाइं दुहसयविमोयणकाइं सुहसयपवत्तणकाइं कापुरिसदुरुत्तराइं[2] सप्पुरिसनिसेवियाइं निव्वाणगमणमग्ग-(सग्ग)-पणायकाइं संवरदाराइं पंच कहियाणि य (उ) भगवया।

---

१ 'लोए धिइअव्वयाइं' पाठ कहीं कहीं है।

२ 'सप्पुरिसतीरियाइं' पाठ भी मिलता है। —संपादक

संस्कृतच्छाया

जम्बू ! इतश्च संवरद्वाराणि पंच वक्ष्याम्यानुपूर्व्या।
यथा भणितानि भगवता सर्वदुःखविमोक्षणार्थम् ॥ १ ॥
प्रथमं भवत्यहिंसा द्वितीयं सत्यवचनमिति प्रज्ञप्तम्।
दत्तमनुज्ञातं संवरश्च ब्रह्मचर्यमपरिग्रहत्वं च ॥ २ ॥
तत्र प्रथममहिंसा त्रसस्थावरसर्वभूतक्षेमकरी।
तस्याः सभावनायाः किंचिद् वक्ष्ये गुणोद्देशम् ॥ ३ ॥

तानि इमानि सुव्रत ! महाव्रतानि लोकहितसर्वदानि (लोके धृतिदव्रतानि) श्रुतसागरदेशितानि तपःसंयमव्रतानि शीलगुणवरव्रतानि सत्यार्जवाव्ययानि (व्रतानि) नरकतिर्यग्मनुजदेवगतिविवर्जकानि, सर्वजिनशासनकानि कर्मरजोविदारकाणि भवशतविनाशनकानि दुःखशतविमोचनकानि सुखशतप्रवर्त्तकानि कापुरुषदुरुत्तराणि सत्पुरुषनिषेवितानि (सत्पुरुषतीरितानि) निर्वाणगमनमार्ग-(स्वर्ग)प्रणायकानि (प्रयाणकानि) संवरद्वाराणि पंच कथितानि तु भगवता।

पदार्थान्वय—(जंबू !) गणधर सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं—हे जम्बू ! (एत्तो) आश्रवद्वारों का कथन करने के पश्चात् (पंच) पाँच (संवरदाराइं) संवरद्वार (जह) जिस प्रकार (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने (सव्वदुहविमोक्खणट्ठाए) समस्त दुःखों से छुटकारा दिलाने के लिए (भणियाणि) कहे हैं; वैसे ही, (आणुपुव्वीए) अनुक्रम से मैं (वोच्छामि) कहूँगा। (पढमं) पहला संवरद्वार, (अहिंसा) अहिंसा (होई) है; (बितियं) दूसरा संवरद्वार (सच्चवयणं) सत्यवचन है; (इति पण्णत्तं) ऐसा बताया है। (दत्तं) दी हुई या स्वामी, गुरु, तीर्थंकर आदि के द्वारा जिसके सेवन की अनुमति प्राप्त हुई हो; उसी वस्तु के ग्रहणरूप अदत्त का विपक्षी 'दत्तानुज्ञात' नामक तीसरा संवरद्वार है, चौथा (बंभचेरं) ब्रह्मचर्यसंवरद्वार है (य) और पांचवां (अपरिग्गहत्तं) अपरिग्रहत्व—परिग्रह का त्याग नामक संवरद्वार है। (तत्थ) उन पांचों में से (पढमं) प्रथम संवर द्वार (अहिंसा) अहिंसा है, जो (तसथावरसव्वभूयखेमकरी) त्रस और स्थावर सभी जीवों का क्षेम—कल्याण करने वाली है। (सभावणाओ) पांच भावनाओं सहित, (तीसे) उस अहिंसा के (किंचि) कुछ थोड़े-से (गुणुद्देसं) गुणों का संक्षिप्त स्वरूप (वोच्छं) कहूंगा। (सुव्वय !) हे उत्तमव्रत वाले जम्बू ! (ताणि उ, ये नाम मात्र से कहे गए (इमाणि) जिनका स्वरूप आगे बताया जायगा, ऐसे ये (महव्वयाइं) महाव्रत (लोयहियसव्वयाइं) लोक के

सम्पूर्ण हित को देने वाले हैं, अथवा (लोके धिइअव्वयाइं) जीव लोक में धैर्य—चित्त को आश्वासन देने वाले व्रत हैं। (सुयसागरदेसियाइं) ये आगमरूपी समुद्र में उपदिष्ट हैं (तवसंजमव्वयाइं) ये तप और संयमरूप व्रत हैं अथवा इनमें तप और संयम का व्यय—क्षय—नहीं होता है; (सील गुणवरव्वयाइं) शील और विनयादि गुणों से श्रेष्ठ व्रत हैं अथवा इनमें शील और श्रेष्ठ गुणों का व्रज—समूह निहित है; (सच्चज्जवव्वयाइं) सत्य और आर्जव—इन व्रतों में प्रधान हैं; अथवा सत्य और आर्जव का इनमें व्यय - नाश नहीं होता; (नरगतिरियमणुयदेवगतिविवज्जकाइं) नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति को दूर हटाने वाले हैं, (सव्वजिण-सासणगाइं) समस्त जिनेन्द्रों द्वारा शासित—प्रतिपादित हैं; (कम्मरयविदारगाइं) कर्मरूपी रज का विदारण—क्षय करने वाले हैं, (भवसयविणासणकाइं) सैकड़ों भवों—जन्मों का विनाश—अन्त करने वाले हैं, (दुहसयविमोयणकाइं) सैकड़ों दुःखों से छुड़ाने वाले हैं, (सुहसयपवत्तणकाइं) सैकड़ों सुखों में प्रवृत्त करने वाले हैं, (कापुरिसदुरुत्तराइं) कायर पुरुषों के लिए दुस्तर हैं,भीरु लोग बड़ी मुश्किल से इन पर निष्ठा लाते हैं, (सप्पुरिसनिसेवियाइं) सत्पुरुषों ने इनका सेवन करके किनारा पा लिया है, (निव्वाणगमणमग्ग-(सग्ग) पणायकाइं) ये निर्वाणगमन के लिए मार्ग रूप हैं तथा प्राणियों को स्वर्ग पहुँचाने वाले हैं। (पंच) ऐसे पांच (संवरदाराइं) संवर द्वार (भगवया) भगवान् महावीर ने (कहियाणि उ) कहे हैं।

मूलार्थ- श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं—हे आयुष्मन् जम्बू ! पांचों ही आश्रवद्वारों का वर्णन करने के पश्चात् समस्त दुःखों से छुटकारा दिलाने के लिए पांच संवरद्वार जिस प्रकार भगवान् महावीर स्वामी ने कहे है, उसी प्रकार मैं तुम्हें अनुक्रम से कहूँगा ॥१॥

पहला संवरद्वार अहिंसा है। दूसरा संवरद्वार सत्यवचन है, तीसरा संवरद्वार दत्त और अनुज्ञात के ग्रहण रूप है,चौथा ब्रह्मचर्य नामक संवरद्वार है और पांचवां अपरिग्रहत्व—परिग्रहत्याग नामक संवरद्वार है ॥२॥

इन पांचों में से पहला संवरद्वार अहिंसा है, जो त्रस-स्थावर सम्पूर्ण प्राणियों का क्षेम-कुशल करने वाली है। पांच भावनाओं सहित उस अहिंसा के थोड़े-से गुणों का संक्षिप्त स्वरूप मैं बताऊंगा ॥३॥

हे सुव्रत—उत्तम व्रताचरणशील ! पहले जिनके नामों का ही केवल उल्लेख किया गया है,जिनका विशेष स्वरूप आगे बताया जायगा; वे ये अहिंसा आदि ५ महाव्रत लोगों के सम्पूर्ण हितों के प्रदाता हैं अथवा लोक में दुःख से

घबराए हुए जीवों को धैर्य देने वाले ये व्रत हैं। ये व्रत तप—संयमरूप हैं, अथवा इनमें तप और संयम का क्षय नहीं होता। ये शील और विनयादि गुणों के कारण श्रेष्ठ हैं अथवा इनमें शील और श्रेष्ठ गुणों का समूह रहता है। इनमें सत्य और आर्जव (सरलता) प्रधान हैं। ये नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति का निवारण करने वाले हैं। इनकी शिक्षा समस्त तीर्थंकरों ने दी है। ये कर्मरूपी रज का क्षय करने वाले हैं। ये सैकड़ों भवों—जन्ममरणों का नाश करने वाले हैं। ये सैकड़ों दुःखों से छुटकारा दिलाने वाले और सैकड़ों सुखों की प्राप्ति कराने वाले हैं। कायर पुरुषों के लिए इन पर अन्त तक निष्ठापूर्वक टिकना कठिन है। ये सत्पुरुषों के द्वारा सेवित हैं अथवा सत्पुरुष इनका सेवन करके पार उतर गए हैं। ये निर्वाणगमन के लिए मार्गरूप हैं, और स्वर्ग में ले जाने वाले हैं। ऐसे पांच संवरद्वार का कथन भगवान महावीर स्वामी ने किया है।

व्याख्या

श्री प्रश्नव्याकरणसूत्र का प्रथम खण्ड—आश्रवद्वार (अधर्मद्वार) समाप्त हो चुका। इसलिए अब आश्रव के प्रतिपक्षी संवरों का वर्णन करना जरूरी था। चूंकि प्रश्नव्याकरणसूत्र विश्व के प्राणियों के जीवन से सम्बन्धित मूलभूत प्रश्नों की व्याख्या और विश्लेषण करने के लिए ही भगवान् महावीर स्वामी द्वारा प्ररूपित है। जीवन के मूलभूत और मुख्य प्रश्न यही हैं कि मनुष्य किन-किन कारणों से कैसे-कैसे दुःख पाता है। उसके लिए उसे कहाँ-कहाँ भटकना पड़ता है? उसके पश्चात् वह इन दुःखों के कारणों से कैसे और किस उपाय से छुटकारा पा सकता है? उसके लिए उसे कौन-सी आराधना—साधना करना जरूरी है? अथवा किन-किन बातों को दृढ़तापूर्वक अपनाना आवश्यक है? प्राणिजीवन के बन्धनसम्बन्धी पूर्व प्रश्नों के उत्तर में आश्रवद्वार का वर्णन प्रस्तुत किया गया और अब मुक्तिसम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर में संवरद्वार प्रस्तुत कर रहे हैं।

इसी हेतु से पांचों आश्रवद्वारों—अधर्म द्वारों का निरूपण और विश्लेषण कर चुकने के पश्चात् श्री सुधर्मास्वामी अपने प्रधान शिष्य श्री जम्बूस्वामी को सम्बोधित करके कह रहे हैं—'जम्बू! एत्तो संवरदाराइं पंच वोच्छामि आणुपुव्वीए।' अर्थात् यहाँ से अब आश्रवों के प्रतिपक्षी पांच संवरद्वारों का मैं क्रमशः तुम्हारे सामने निरूपण करूंगा।'

प्रश्न होता है कि इन संवरद्वारों का वर्णन पहले भी किसी ने किया है, या श्री

सुधर्मास्वामी स्वयमेव सर्वथा नये रूप में उनका वर्णन कर रहे हैं ? इसके उत्तर में शास्त्र- कार स्वयं कहते हैं—'जह भणियाणि भगवया'।

इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि सुधर्मास्वामी स्वयं ज्ञानी और दृढ़ चारित्रात्मा थे, वे चाहते तो स्वयमेव नये रूप में संवरों का वर्णन कर सकते थे; लेकिन उन्होंने उपर्युक्त वाक्य द्वारा विनयपूर्वक अपनी लघुता प्रगट की है। साथ ही वीतरागप्रभु के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति का परिचय दिया है। उनके प्रति कृतज्ञता भी प्रदर्शित की है कि 'जैसा भगवान् महावीर ने संवरद्वारों का वर्णन अपने श्रीमुख से फरमाया था, वैसे ही रूप में मैं उनके आशयानुसार अपने शब्दों में उनका वर्णन करूंगा। मैं नये रूप में अपनी ओर से इनका वर्णन नहीं कर रहा हूं। भगवद्वाणी तो समस्त जीवों के संशयों के दूर करने वाली, और सबको हृदयंगम हो सके, ऐसी सर्वभाषामयी थी, वैसी शक्ति तो मुझ में नहीं है; किन्तु उन्ही भावों को बिना विपर्यास किए, यथातथ्य रूप में मैं कहूंगा। इन शब्दों से श्री सुधर्मास्वामी ने इस शास्त्र की प्रामाणिकता भी व्यक्त कर दी है।

संवरद्वारों का वर्णन क्यों और किसलिए ?—एक शंका यह होती है कि इन संवरों का वर्णन भी क्यों और किसलिए किया गया है ? इसी के समाधानार्थ शास्त्रकार स्वयं कह रहे हैं—'सव्वदुहविमोक्खणट्ठाए' अर्थात्—समस्त दुःखों अथवा समस्त प्राणियों को दुःखों से मुक्ति—छुटकारा दिलाने के लिए संवर का निरूपण किया।

संवर का अर्थ—जैसे आश्रव जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है, वैसे ही संवर भी जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। आश्रव का अर्थ हम आश्रवद्वार के प्रारम्भ में कर आए हैं। अतः उसका पिष्टपेषण करना अनावश्यक है। संवर का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार है—

'संव्रियन्ते प्रतिरुध्यन्ते आगन्तुककर्माणि येन सः संवरः' 'संवरणमात्रं—प्रतिरोधनमात्रं वा संवरः'।

अर्थात्—'भविष्य में आने वाले कर्म जिस शुद्ध भाव से रुकते हैं या रोके जाते हैं, उसे संवर—भावसंवर कहते हैं और आने वाले पुद्गलरूप कर्मों का रुक जाना द्रव्यसंवर है।'

एक दृष्टान्त द्वारा इसे स्पष्टतया समझाना ठीक होगा—मान लो, समुद्र में अगाध जल भरा है। उसमें एक नौका पड़ी है। परन्तु अधिक समय हो जाने से उस नौका में छेद हो गए हैं। उन छेदों द्वारा जल द्रुतगति से नौका में भर रहा है। उस नौका के छिद्र किसी विवेकी नाविक ने बंद कर दिये। अब नौका के डूबने का कोई खतरा नहीं। अब उसमें पानी घुस नहीं सकेगा। नौका अब सहीसलामत समुद्र को पार करके किनारे पहुंच सकेगी।

इसी प्रकार संसाररूप समुद्र है,उसमें कार्माणवर्गणा के रूप में कर्म रूप अथाह

जल भरा है। आत्मारूपी नौका इस संसारसमुद्र में अनादिकाल से पड़ी है। आत्मारूपी नौका में विपरीत परिणति के कारण पांच आश्रवरूपी छेद हो रहे हैं,उन छेदों से कर्मरूपी जल द्रुतगति से सतत घुस रहा है। कुशल नाविक की तरह विवेकी आत्मा उन छिद्रों को अहिंसा-सत्य आदि पांच संवरों के उत्तम तथा पवित्र भावों से रोक देता है तो कर्मरूपी जल रुक जाता है। और तब आत्मारूपी नौका संसारसमुद्र को सुरक्षित रूप से पार करके किनारे लग सकेगी। यही संवर का स्वरूप है। संवर आश्रव का ठीक विरोधी है। आश्रवों के कारण तो आत्मारूपी नौका संसारसमुद्र में ही अनन्त काल तक जन्म-मरण के गोते खाती रहती है, जबकि संवर के द्वारा उसे गोते खाने से बचाया जा सकता है।

संवर का माहात्म्य और उसकी उपयोगिता—संसार में समस्त प्राणी शारीरिक और मानसिक दुःखों से घबरा रहे हैं। वे उन दुःखों से बचने के लिए इधर-उधर बहुत ही हाथ-पैर मारते हैं, लेकिन ज्यों-ज्यों वे प्रयत्न करते जाते हैं, त्यों-त्यों अधिकाधिक दुःख के जाल में फंसते जाते हैं। इसका कारण यह है कि वे दुःखनिवारण एवं सुखप्राप्ति के लिए हिंसा, झूठ, चोरी, बेईमानी, अब्रह्मचर्यसेवन, परिग्रह आदि जिन-जिन चीजों को अपनाते हैं, वे उन्हें सुख के बदले और अधिक दुःख के गर्त में पटक देती हैं। संसारी जीव इन दुःखों से मुक्ति पाने के लिए छटपटा रहे हैं; लेकिन मोह,अज्ञान और मिथ्यात्व के कारण उन्हें कोई सच्ची राह नहीं सूझती। इसी कारण विश्ववत्सल, प्राणिमात्र के हितैषी एवं परमकृपालु वीतराग तीर्थंकरों ने आश्रवों को छोड़ कर संवरों को अपनाने पर जोर दिया है।

इसी हेतु से इस सूत्रपाठ में शास्त्रकार ने संवर का माहात्म्य बताया है—कि दुःखसंतप्त प्राणी संवरों का माहात्म्य समझ कर संवरों की साधना—आराधना के के सम्मुख हों और अणुव्रत या महाव्रत के रूप में उसे जीवन में उतार लें। यद्यपि शास्त्रकार ने यहाँ संवरद्वार में महाव्रतों का ही निर्देश किया है; लेकिन 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः'—'हाथी के पैर में सभी पैर आ जाते हैं', इस कहावत के अनुसार महाव्रत के अन्तर्गत अणुव्रत या मार्गानुसारी नैतिक व्रत भी समझ जायेंगे। इस दृष्टि से संवरों को केवल साधु-मुनियों के ही आराधन करने योग्य समझ कर किसी को निराश हो कर बैठने की जरूरत नहीं। हर व्यक्ति को यथाशक्ति संवरों का स्वरूप और माहात्म्य समझ कर उनकी आराधना में तत्पर होना चाहिए। अब हम क्रमशः संवरद्वारों के माहात्म्य पर शास्त्रकार के द्वारा उक्त पंक्तियों पर प्रकाश डाल रहे हैं—

ताणि उ इमाणि सुव्वय! महव्वयाइं—जिन्हें संवरशब्द से पुकारा जाता है, वे अहिंसा आदि पंच-महाव्रतरूप हैं। गृहस्थ श्रावकों के पालन करने योग्य व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। अणुव्रतों की अपेक्षा से ये महान् होने के कारण महाव्रत कहलाते

हैं। अणुव्रतों में हिंसा आदि से सर्वथा निवृत्ति—विरति नहीं होती है, जबकि महाव्रतों मे हिंसा आदि आश्रवो का मन, वचन और कायरूप तीन योगों से तथा कृत-कारित-अनुमोदन रूप तीन करणों से त्याग करना होता है। महाव्रत केवल साधु-मुनियों द्वारा पालनीय होते हैं। परन्तु यहाँ केवल महाव्रतो को ही एकान्तरूप से संवर नहीं माना; अपितु उन पाचों संवरो का माहात्म्य बताने के लिए यह बता दिया है कि वे महाव्रत-रूप भी होते हैं। अगर शास्त्रकार संवरो को एकान्तरूप से महाव्रतरूप ही बताते, तब तो ये संवर केवल साधुओं के ही काम के होते, सारा विश्व इनसे कोई लाभ नहीं उठा सकता। परन्तु शास्त्रकार ने 'लोयहियसव्वयाइ' आदि विशेषणों द्वारा इनसे सारे लोक के हित का दावा किया है। इसलिए इन संवरों को सार्वजनीन समझना चाहिए।

लोकहियसव्वयाइं—ये संवर ससार में समस्त हितों के प्रदाता हैं। संसारी जीव हित की प्राप्ति और अहित से निवृत्ति के लिए प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। लेकिन विपरीत उपायों का सहारा लेने से विफलमनोरथ होकर वे हताश हो जाते हैं। परन्तु शास्त्रकार इन सवरद्वारों को एकान्त लोकहितप्रदायक बता कर सवर-ग्रहण की ओर अगुलिनिर्देश कर रहे हैं।

अथवा यदि 'लोए धिइअव्वयाइं' पाठ मानें तो अर्थ होता है—ये संवरद्वार लोक में शारीरिक और मानसिक दु:खो से सन्तप्त जीवों को धैर्य बंधाने और आश्वासन देने वाले व्रत है। वास्तव में अहिंसा आदि व्रतों के धारण करने से व्यक्ति को सुख-शान्ति की अनुभूति अवश्य ही होती है, व्याकुलता कम हो जाती है, आश्रवों से छुटकारा पाते ही मनुष्य निश्चिन्त और निर्द्वन्द्व हो जाता है।

सुयसागरदेसियाइं—सांसारिक प्राणी जब शारीरिक मानसिक पीड़ाओं से छटपटाते हैं, उस समय यदि कोई साधारण आदमी आकर उन्हें किसी मामूली पुस्तक की बातें पढ़ कर सुना दे तो उससे उन्हें संतोष नहीं होता। परन्तु उस समय अगर उन्हें यह विश्वास दिलाया जाय कि ये बातें मैं अपने मन की कपोल कल्पित नहीं बता रहा हूँ, अपितु आगमों के गहरे ज्ञान समुद्र में उपदिष्ट ही यह सब बता रहा हूँ,तो उन्हें झट विश्वास जम जाता है और वे संवर को अपनाने के लिए तैयार हो जाते है। इसी दृष्टिकोण से कहा गया है कि ये संवरद्वार श्रुतसमुद्र—शास्त्रसागर में सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट हैं।

तव-संजमव्वयाइं—संसार के अधिकांश प्राणी कर्मों के रोग से पीड़ित हैं। कर्मों के रोग को मिटाने के लिए रामबाण दवा तप और संयम है। तप और सयम की दिव्य-औषधि का सेवन करने से ही कर्मों का उच्छेद होगा। इसलिए संवर द्वारों को तप-संयमरूप व्रत बता कर उस संतापरूप रोग को मिटाने के लिए संकेत किया है, शान्ति प्राप्त करने का आश्वासन दिया है। अथवा इन संवरद्वारों में तप

और संयम इन दोनों का क्षय नहीं होता। यानी संवर में तप और संयम की धारा सतत प्रवाहित रहती है।

सीलगुणवरव्वयाइं सच्चज्जवव्वयाइं—संसारी प्राणी सुख-शान्ति के कारण समझ कर कामसेवन करते हैं और अनेक दुर्गुणों को अपनाते हैं, लेकिन ज्यों-ज्यों जीव कामवासना से प्रेरित होकर अब्रह्मसेवन करता है या दुर्गुणों को अपनाता है, त्यों-त्यों अनेक शारीरिक और मानसिक रोग उसे आ घेरते हैं, शरीर आधि-व्याधि-उपाधि से ग्रस्त हो जाता है, तब उसे यदि बताया जाए कि तुम संवरों को अपना लो तो वह 'दूध का जला छाछ को भी फूंक-फूंक कर पीता है', उक्त कहावत के अनुसार शंका करने लगेगा कि कहीं इन संवर द्वारों में भी वही मौजशौक, विषयवासनासेवन के खेल, रागरंग, छलकपट, धोखे बाजी, झूठफरेब आदि तो नहीं हैं ? अतः उसे शास्त्रकार विश्वास दिलाते हैं कि 'घबराओ मत ! इन संवर द्वारों में ये सब कामोत्तेजक या दुर्गुणवर्द्धक बातें नहीं हैं, इनमें तो शील (सदाचार) है, श्रेष्ठ गुण हैं, सत्यता है, सरलता है। इन संवरद्वारों के सेवन से सभी प्रकार के शारीरिक मानसिक रोग मिट जाएँगे। झूठफरेब, धोखेबाजी, ठगी या कपटव्यवहार जीवन में फटकेंगे भी नहीं, जिनसे तुम्हें डरना पड़े। बल्कि शील, सत्य और सरलता से जीवन चमक उठेगा; जीवन में शान्ति और सुख का सागर लहराने लगेगा।

नरगतिरियमणुयदेवगतिविवज्जकाइं—प्राणी अनादिकाल से नरकादि चारों गतियों में भ्रमण कर रहा है। बारम्बार विभिन्न गतियों में भटकते-भटकते और वहाँ जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि के तथा वध-बन्धन आदि के विविध कष्ट सहते-सहते ऊबा हुआ प्राणी कोई न कोई सहारा ढूंढता है, या कोई निवारक उपाय खोजता है। ऐसे प्राणियों से शास्त्रकार कहते हैं कि संवरद्वार ऐसे हैं, जिन्हें अपना लेने पर और दृढ़ता से इनकी आराधना—साधना करने पर इन चारों गतियों में भ्रमण करने का कोई खतरा नहीं रहता। ये संवर ऐसे हैं कि इन्हें अपना लेने पर चारों गतियों में भ्रमण का रास्ता बंद हो जाता है।

सव्वजिणसासणगाइं—जब कोई रोग दुःसाध्य हो जाता है तो रोगी घबरा कर अनेक वैद्यों और चिकित्सकों के पास जाता है। यदि वे अपने चिकित्साशास्त्र के आचार्यों द्वारा बताए हुए नुस्खे लिख कर रोगी को देते हैं, तब तो रोगी को विश्वास बैठ जाता है। परन्तु अगर वैद्य अपना मनमाना नुस्खा लिख कर दे देता है या उटपटांग दवा लिख कर रोगी को टरका देता है तो उसे फायदा भी नहीं होता और रोगी की श्रद्धा उस वैद्य पर से हट जाती है। यही बात आध्यात्मिक रोगी—भवभ्रमण के रोगी के लिए है। जब कोई अप्रसिद्ध या मामूली साधु या आचार्य उसे अमुक-अमुक नियम पालने की बातें करते हैं तो वह शंकाशील हो कर पूछता है—"आत्मिक रोग का यह इलाज किसी प्राचीन महापुरुष

ने भी बताया है या आप अपने मन से हांक रहे हैं ?" यदि उस आत्मिक रोगी की शंका का समाधान हो जाता है, तो वह बेखटके उस इलाज को अपना कर शीघ्र स्वस्थ हो जाता है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार ने बताया है कि ये संवरद्वार कोरी गप्प नहीं है, या मैं ही सिर्फ नहीं बता रहा हूँ, परन्तु इस अनादि-अनन्त संसार में अनन्तकाल से प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में जो भी तीर्थंकर हुए हैं, उन सबने सांसारिक प्राणियों के आत्मिक रोगों को मिटाने के लिए समानरूप से इन संवरों की ही शिक्षा दी है, इन्हीं के सेवन का आदेश-निर्देश दिया है।

कम्मरयविदारगाइं—यह बात निश्चित है और विवेकी जीव अनुभव भी करते हैं कि जो जैसा शुभाशुभ कर्म करेगा, उसे उसी रूप में अपने उन कर्मों का फल भोगना पड़ेगा, भोगना पड़ रहा है और भूतकाल में भी भोगना पड़ा था। इसलिए प्रत्येक मानव इन कर्मों से घबराता है और जो भी गुरु या उपदेशक उसके निकट-सम्पर्क में होते हैं, उनसे कर्मनिवारण का उपाय पूछता फिरता है। परन्तु वे खुद किसी न किसी दुर्गुण में फंसे होते है तो ऊटपटांग उपाय ही बताते हैं, उलटे लटकने, चारों ओर आग जलाकर तपने आदि के उलटे मार्ग बता देते हैं, तो उनसे उनके कर्म कटने के बजाय और नये बंधते जाते हैं; वे बेचारे किंकर्तव्यविमूढ़ हो कर मन मसोस कर रह जाते है। उन्हीं जीवों को लक्ष्य करके शास्त्रकार कहते हैं—ये संवरद्वार नये कर्मों को बढ़ाने के बजाय आते हुओं रोक देते हैं और पुराने कर्मों को क्षीण करने में सहायक होते हैं।

भवसयविणासणकाइं—संसार में जन्ममरण का भय सबके पीछे लगा हुआ है। कठोर से कठोर हृदय वाले को भी जन्ममरण से डर लगता है। कई लोग मनुष्यजन्म पा कर भी पूर्वकृत अशुभकर्मवश अनेक कष्टों का सामना करने से ऊब जाते है और सोचते हैं—"जीवन का अन्त कर डालें।" आत्महत्या करने से शान्ति और सुख हो जायगा, ऐसी भ्रान्ति के शिकार बन कर वे जन्म-मरण का चक्र घटाने के बजाय बढ़ा लेते हैं। कई बार उन्हें झंपापात (पर्वत से नीचे कूदना) और जलसमाधि ले लेने आदि के अनर्थक उपाय जन्ममरण के अन्त के लिए बता देते हैं; या 'शरीर के भस्म होते ही सब यहीं भस्म हो जायगा' इस प्रकार से विपरीत मार्गदर्शन दे कर गुमराह कर देते हैं। इन सबको लक्ष्य में रख कर शास्त्रकार कहते हैं—संवरद्वार ही एकमात्र सैकड़ों भवों (जन्ममरणों के चक्रों) को तोड़ने में समर्थ है, अन्य कोई उपाय यथार्थ नहीं है, उलटे ऐसे उपायों से जन्ममरण का चक्र बढ़ जायगा।

दुहसयविमोयणकाइं—संसार में अधिकांश प्राणी अज्ञान, मोह, अविद्या और मिथ्यादर्शन के कारण नाना दुःख पाते हैं। वे मोहमूढ़ हो कर समझ ही नहीं पाते कि हमें ये दुःख क्यों भोगने पड़ते हैं और इन दुःखों का अन्त भी हो सकता है या

नहीं ? कई बार तो उन्हें अपने जातीय, राष्ट्रीय, सामाजिक या पारिवारिक संस्कार या वातावरण भी ऐसे गलत मिलते हैं, जिनसे उलटे उपाय अपना कर अपने दुःखों में वृद्धि कर लेते हैं। अतः शास्त्रकार ऐसे दिङ्मूढ़ बने हुए लोगों को आश्वासन के स्वर में कहते हैं कि 'ये संवरद्वार सैकड़ों दुःखों से मुक्ति दिलाने वाले हैं। इन्हें अपनाओ।'

सुहसयपवत्तणकाइं—संसारी जीव अज्ञान और मोह के वशीभूत हो कर वैषयिक सुखों को ही सुख मान कर विविध इन्द्रियविषयों तथा उनकी पुष्टि के लिए खाने-पीने-पहनने के साधनों, भौतिक पदार्थों आदि को अपनाता है, परन्तु वे सब जरा-सी देर के लिए सुख की झलक दिखा कर नष्ट हो जाते हैं। तब फिर वही हायतोबा मचती है। खराब, अनचाहा पदार्थ मिला तो दुःख, इष्ट पदार्थ का वियोग हो गया तो दुःख, इष्टपदार्थ को किसी दूसरे ने अपने कब्जे में ले लिया तो उसकी चिन्ता और दुःख ! इसलिए उन सब सुखाभासों से दुःख पाते हुए लोगों से शास्त्रकार का संकेत है—'ये ५ संवरद्वार ही, एकमात्र ऐसे हैं, जो वस्तुनिष्ठ या विषयनिष्ठ दुःखपरिणामी-सुखाभासों से छुटकारा दिला कर आत्मनिष्ठ स्वाधीन शाश्वत सुखों में रमण करा देते हैं।

कापुरिसदुरुत्तराइं—संसार में बहुत-से लोग ऐसे हैं, जो सस्ता नुस्खा खोजते रहते हैं। जहाँ 'हींग लगे न फिटकरी रंग चोखा हो जाय'; इस मनोवृत्ति के लोग होते हैं, वहाँ कुछ धूर्त धर्मध्वजी भी उन्हें वैसे ही मिल जाते हैं, जो त्याग वैराग्य, संयम, तप और नियम को ढोंग और दिखावा बता कर उन्हें इन्द्रियसुखों के दलदल में फंसा कर अपना उल्लू सीधा कर लेते हैं। वे उन्हें इन्द्रियों के वैषयिक सुख और ऐश आराम की जिन्दगी बिता कर स्वर्ग और मोक्ष मिल जाने या अमुक सम्प्रदाय, गुरु, या अवतार को मान लेने या अमुक (भस्म रमाने, जटा बढ़ाने आदि) क्रिया करने से भगवान् के दर्शन या मुक्ति की प्राप्ति के सब्जबाग दिखाते हैं। इस प्रकार तप, संयम, नियम, त्याग, वैराग्य आदि को कष्टकर समझ कर कायर बना हुआ और सस्ता नुस्खा खोजने वाला मनुष्य भोगपरायणता के ऐसे रास्ते को अपना लेता है। किन्तु आखिर वह धोखा खाता है, फिर पछताता है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं, कि इन्द्रियों के गुलाम कायर लोग इन संवरद्वारों के रहस्य को नहीं पा सकते। वे इन्हें ढोंग समझ कर ठुकरा देते हैं और सच्चे सुख से वंचित ही रहते हैं। मतलब यह है कि इन संवरद्वारों के आराधन में कायर लोगों की गुजर नहीं होती।

सप्पुरिसनिसेवियाइं—हिताहित, कर्तव्याकर्तव्य, हानि-लाभ और जड़चेतन का जिनमें विवेक जागृत हो गया है और जो इन्द्रियदास और कष्टकातर न बन कर आत्मिकसुख को पाने के लिए कटिबद्ध हैं, ऐसे सत्पुरुष ही इन संवरद्वारों का सेवन-पालन करते हैं। दुराचारी, कायर, हिंसक आदि दुर्जन तो इन्हें छूते भी नहीं; सम्भव ही

इनका सेवन करते है । 'सप्पुरिसतीरियाइं' इस पाठ के अनुसार अर्थ होता है—सत्पुरुष ही इन संवरद्वारों का पूर्ण अवगाहन कर पाते हैं । जो व्यक्ति नदी के किनारे खड़ा रह कर नदी की लहरें गिनता रहता है या नदी मे तैरने के मनसूबे बांधता रहता है, वह नदी में तैरने का आनन्द नहीं पाता । इसी प्रकार जो इन संवरद्वारों का निरूपण सुन कर केवल विचार करता रहता है, इनके पालन के लिए तैयार नहीं होता, सिर्फ सवरो का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह सवरो से होने वाले आनन्द का लाभ नही ले पाता । अतः उपर्युक्त विवेकी सत्पुरुष ही संवरद्वार का किनारा पाते हैं ।

निव्वाणगमणमग्ग-पणायकाइं—आज धर्मो की हजारों दूकाने लगी हुई है । जहां भी जाओ, तपाक से कहा जायगा—'हमारे भगवान या गुरु की शरण में आ जाओ या हमारा धर्म-संप्रदाय स्वीकार कर लो ; तुम्हें मुक्ति मिल जायगी, ईश्वर के दर्शन हो जायेंगे या स्वर्ग मिल जायगा ।' भोलाभाला मानव ऐसे ढोंगियों के चक्कर में फंस कर आत्मसमर्पण कर देता है । वह निर्वाण या मोक्ष के या स्वर्ग के वास्तविक रहस्य को न पाने के कारण दम्भियों के जाल मे फंस जाता है । इससे उसे न तो निर्वाण मिल पाता है और न स्वर्ग ही । ऐसे लोगो को लक्ष्य मे रख कर शास्त्रकार कहते हैं—'ये संवरद्वार निर्वाणगमन के लिए रास्ते है । स्वर्ग में ले जाने वाले है ।' रास्ता साफ बना हुआ हो तो यात्री को कही भटकने या लुटने का डर नही रहता । सवरद्वार ऐसे साफ रास्ते है, जिन पर चल कर हजारों महान् आत्माओं ने निर्वाण पाया है और पायेंगे । वास्तव मे, निर्वाण आत्मा की पूर्ण शुद्ध अवस्था का नाम है । जब आत्मा पर से समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं, कर्मबन्ध का कोई कारण भी नही रह पाता, आत्मा ज्ञानावरणीय आदि सभी प्रकार के कर्मों (चाहे वे द्रव्यकर्म हों, चाहे भावकर्म हो और चाहे नोकर्म) से सर्वथा रहित हो जाती है, तभी वह पूर्ण शुद्ध होती है । तब उसमे अनन्तज्ञान, अनन्तसुख आदि गुण स्वतः प्रगट हो जाते है । जब तक समस्त कर्मों का क्षय नही हो जाता, तब तक ये सवर स्वर्ग दिलाने वाले हैं, यानी संवरों की आराधना से दुर्गति में जाने का कोई खतरा नहीं है ; और न ही कोई धोखेबाजी या झूठे सब्जबाग का दिखावा है । अथवा कहीं 'सग्गपयाणकाइं' पाठ भी मिलता है, उस दृष्टि से इसका अर्थ यह है कि ये सवरद्वार स्वर्ग मे पहुंचाने वाले है अथवा स्वर्ग पहुंचाने के लिए यान-जहाज के समान हैं ।

इन्हें संवरद्वार क्यों कहा गया ?—अब प्रश्न होता है कि इन अध्ययनों को केवल संवर कहने से ही काम चल जाता ; 'द्वार' शब्द इनके आगे लगाने के पीछे क्या रहस्य है ? इसका समाधान यह है कि अगर केवल 'संवर' ही कहा जाता तो पूर्णतया स्पष्ट अर्थबोध नहीं होता । केवल इतना ही बोध हो पाता कि, यह सवर का

लक्षण है और इतने उसके भेद हैं। लेकिन संवर किस तरीके से प्राप्त हो सकता है? जीवन में संवर को कैसे उतारा जा सकता है? संवर को जीवन में रमाने के लिए क्या-क्या उपाय हैं? इत्यादि बातों का समाधान नहीं हो पाता। इसलिए प्रत्येक संवर के आगे द्वारशब्द लगा कर यह द्योतित किया गया है कि मकान में प्रवेश करने के द्वार की तरह ये भी संवर के द्वार हैं—उपाय हैं। द्वार हों तो किसी भी भवन में प्रवेश करने में जैसे आसानी रहती है, वैसे ही पांचों संवरों के भव्य भवनों में सुगमता से प्रवेश करने के लिए ये अध्ययन द्वार के समान है।

संवर के भेद—शास्त्रकार की दृष्टि से संवर के यहाँ ५ भेद[1] बताए गए हैं। यह गाथा इसके लिए प्रस्तुत है—

"पढमं होइ अहिंसा, बितियं सच्चवयणंति पन्नत्तं।
दत्तमणुन्नायं संवरो य बंभचेरमपरिग्गहत्तं च॥"

अर्थात्—पहला संवर अहिंसा है, दूसरा सत्यवचन है, तीसरा अदत्त का विपक्षी दत्त—दी हुई तथा अनुज्ञात—उसके स्वामी, जीव, तीर्थंकर या गुरु द्वारा अनुमत वस्तु का ग्रहण करना, और चौथा ब्रह्मचर्य संवर है, तथा पांचवां संवर अपरिग्रहत्व—परिग्रहत्याग है।

इन सबका विशेष अर्थ तथा विस्तार से वर्णन आगे किया जाएगा।

सर्वप्रथम अहिंसा-संवर ही क्यों?—प्रश्न होता है कि इन ५ संवरों में सर्वप्रथम अहिंसा को ही क्यों माना गया? सत्य को क्यों नहीं? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—'तत्थ पढमं अहिंसा तसथावरसव्वभूयखेमकरी' यानी त्रस-स्थावर रूप समस्त प्राणियों का क्षेम-कुशल करने वाली होने से अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है।

दूसरी बात यह है समस्त प्राणी अपने पर होने वाले प्रहार, मारपीट या अन्य हिंसाजनक घटनाओं से तथा अपनी हत्या से घबराते हैं; इसलिए हिंसा का उन पर असर सीधा पड़ता है। असत्य, चोरी, परिग्रह या अब्रह्मसेवन का सीधा असर प्रायः नहीं पड़ता। इन चारों में से किसी का सीधा असर पड़ता है तो मनुष्य पर ही, तिर्यञ्चजाति पर तो कोई खास असर ही नहीं होता, इन सबका। इसलिए हिंसा की प्रतिपक्षी अहिंसा को विश्व में प्राणिमात्र चाहते हैं। हिंसा से संतप्त प्राणिगण मानों

---

१ तत्त्वार्थसूत्र और नवतत्त्व में संवर के ५७ भेद बताये है। वे इस प्रकार हैं—५ समिति, ३ गुप्ति, १० यतिधर्म, १२ अनुप्रेक्षा, २२ परिषहजय और ५ चारित्र। इनका विस्तृत वर्णन उन्हीं ग्रन्थों से जान लें। यहाँ संवर के ५ भेद ही विवक्षित हैं। —सम्पादक

अहिंसा को वरदान समझ कर उसका स्वागत करने के लिए खड़े रहते हैं। अतः अहिंसा का दायरा बहुत ही विस्तृत है, इस कारण अहिंसा को संवरों मे सर्वप्रथम स्थान दिया गया।

एक बात यह भी है कि मनुष्य जब झूठ बोलता है, तब वह अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप की भावहिंसा कर लेता है; चोरी करता है,तब भी भावहिंसा हो जाती है,मैथुन-सेवन से भी और ममत्व से भी भावहिंसा का सम्बन्ध है; शोषण, लूट, गबन आदि भी हिंसा के ही प्रकार है।[1]अतः अहिंसा के ग्रहण करने से सत्यादि चारों का उसी में समावेश हो सकता है। इस दृष्टिकोण से भी अहिंसा को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। भगवती अहिंसा शेष समस्त सवरों की तथा व्रत, नियम,त्याग, प्रत्याख्यान, सयम और तप की जननी है। इसके होने पर ही इन सबका अस्तित्व रह सकता है। यह न हो तो व्रत, नियम, संयम, त्याग, प्रत्याख्यान और तप आदि का कोई भी महत्व या अस्तित्व नही रह जाता। इसलिए शेष चारों संवर अहिंसा के ही विस्ताररूप हैं।

इसीलिए शास्त्रकार अहिंसा भगवती के गुणगान करने के लिए प्रेरित हो कर कहते हैं—'तीसे सभावणाओ किंचि वोच्छं गुणुद्देसं।'



---

१ 'अहिंसाग्गहणे पंचमहव्वयाणि गहियाणि भवंति'—

—दशवैकालिक चूर्णि

—सम्पादक

छठा अध्ययन : अहिंसा-संवर

अहिंसा के सार्थक नाम

प्रथम संवरद्वार का प्रारम्भ करने से पूर्व शास्त्रकार ने उसकी प्रस्तावना के रूप में पाचों सवर द्वारो के निरूपण का उद्देश्य, उनका माहात्म्य, स्वरूप और गुणोत्कीर्तन करने के साथ ही उनकी उपयोगिता तथा उनमें अहिंसा-संवर को सर्वोपरि स्थान देने का कारण बताया है। उसके बाद यहां से प्रथम संवरद्वार का निरूपण प्रारम्भ करते हुए शास्त्रकार अपनी पुरातन वर्णनशैली के अनुसार सर्वप्रथम अहिंसा के पर्यायवाची गुणनिष्पन्न ६० नामों का उल्लेख करते हैं—

मूलपाठ

तत्थ पढमं अहिंसा जा सा सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स भवति दीवो ताणं सरणं गती पइट्ठा १ निव्वाणं, २ निव्वुई, ३ समाही, ४ सत्ती, ५ कित्ती, ६ कंती, ७ रती य, ८ विरती य, ९ सुयंग, १० तित्ती, ११ दया, १२ विमुत्ती, १३ खंती, १४ समत्ताराहणा, १५ महंती, १६ बोही, १७ बुद्धी, १८ धिती, १९ समिद्धी, २० रिद्धी, २१ विद्धी, २२ ठिती, २३ पुट्ठी, २४ नंदा, २५ भद्दा, २६ विसुद्धी, २७ लद्धी, २८ विसिट्ठदिट्ठी, २९ कल्लाणं, ३० मंगलं, ३१ पमाओ, ३२ विभूती, ३३ रक्खा, ३४ सिद्धावासो, ३५ अणासवो, ३६ केवलीण ठाणं, ३७ सिवं, ३८ समिई, ३९ सील, ४० संजमोत्ति य, ४१ सीलपरिघरो, ४२ संवरो य, ४३ गुत्ती, ४४ ववसाओ, ४५ उस्सओ, ४६ जन्नो, ४७ आयतणं, ४८ जयण,–४९ मप्पमातो, ५० अस्सासो, ५१ वीसासो, ५२ अभओ, ५३ सव्वस्स वि अमाघाओ, ५४ चोक्ख ५५ पवित्ता, ५६ सूती, ५७ पूया, ५८ विमल, ५९ पभासा य,

६० निम्मलयरत्ति एवमादीणि नियगगुणनिम्मियाइं पज्जव-नामाणि होंति अहिंसाए भगवतीए ॥ २१ ॥

संस्कृतच्छाया

तत्र प्रथममहिंसा या सा सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य भवति द्वीपः (दीपः) त्राणं शरणं गतिः प्रतिष्ठा १ निर्वाणम्, २ निर्वृतिः, ३ समाधिः, ४ शक्तिः, ५ कीर्तिः, ६ कान्तिः, ७ रतिश्च, ८ विरतिः, ९ श्रुतांगा, १० तृप्तिः, ११ दया, १२ विमुक्तिः, १३ क्षान्तिः, १४ सम्यक्त्वाराधना, १५ महती, १६ बोधिः, १७ बुद्धिः, १८ धृतिः, १९ समृद्धिः, २० ऋद्धिः, २१ वृद्धिः, २२ स्थितिः, २३ पुष्टिः, २४ नन्दा, २५ भद्रा, २६ विशुद्धिः, २७ लब्धिः, २८ विशिष्टदृष्टिः, २९ कल्याणम्, ३० मंगलम्, ३१ प्रमोदः ३२ विभूतिः, ३३ रक्षा, ३४ सिद्धावासः, ३५ अनाश्रवः, ३६ केवलिनां स्थानम्, ३७ शिवम्, ३८ समितिः, ३९ शीलम्, ४० संयम इति च, ४१ शीलपरिगृहम्, ४२ संवरश्च, ४३ गुप्तिः, ४४ व्यवसायः, ४५ उच्छ्रयः, ४. यज्ञः, ४७ आयतनम्, ४८ यजनम् (यतनम्), ४ अप्रमादः, ५० आश्वासः, ५१ विश्वासः, ५२ अभयम्, ५३ सर्वस्यापि अमाघातः, ५४ चोक्षा, ५५ पवित्रा, ५६ शुचिः, ५७ पूजा (पूता), ५८ विमला, ५९ प्रभासा च, ६० निर्मलतरेति-एवमादीनि निजकगुण-निर्मितानि पर्यायनामानि भवन्त्यहिंसाया भगवत्याः ॥ सू० २७ ॥

पदार्थान्वय—(तत्थ) उन पांचों में से, (पढमं) पहला संवरद्वार (अहिंसा) अहिंसा है, (जा) यह (सा) वह पूर्वोक्त अहिंसा, (सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स) देवों, मनुष्यों और असुरों के सहित समग्र लोक जगत् के लिए (दीवो) शरणदायक द्वीप है अथवा दीपक सदृश प्रकाशकर्त्री, (भवति) है, (ताणं) रक्षा करने वाली है, (सरणं) शरण देने वाली है, (गती) धर्मार्थियों के लिए गति—गम्य है, प्राप्त करने योग्य है, (पइट्ठा) समस्त गुणों या सुखों का प्रतिष्ठान—प्रतिष्ठा है, यह अहिंसा (निव्वाणं) निर्वाण—मोक्ष का कारण है (निव्वुई) दुर्ध्यानरहित होने से मानसिक स्वस्थतारूप है, (समाही) समाधिरूप—समता का कारण है, (सत्ती) आत्मशक्ति का कारण है; अथवा (संती) परद्रोहविरतिरूप होने से शान्तिरूप है। (कित्ती) कीर्ति का कारण है, (कंती) सुन्दरता का कारण है, (य) और (रती) सबमें अनुराग—रति-प्रीति का कारण, (य) और (विरती) पाप से निवृत्तिरूप है, (सुयंग) श्रुतज्ञान ही इसका अंग—कारण है, (तित्ती) तृप्ति—संतोष का कारण है (दया) दयारूप है,

(विमुत्ती) समस्त बंधनों से छुड़ाने वाली है। (खंती) क्षमारूप, (समत्ताराहणा) सम्यक्त्व का आराधन—सेवन में कारण, (महंती) सब व्रतों में महान्-प्रधान, (बोही) बोधि—धर्मप्राप्ति का कारण, (बुद्धी) बुद्धि को सफल बनाने वाली, (धिती) धृति—चित्त की दृढ़तारूप, (समिद्धी) जीवन को समृद्ध—आनन्दित बनाने वाली—समृद्धि का कारण, (रिद्धी) ऋद्धि (भौतिक लक्ष्मी) का कारण, (विद्धी) वृद्धि—पुण्य-वृद्धि का कारण, (ठिती) मोक्ष में स्थित कराने वाली, (पुट्ठी) पुण्यवृद्धि से जीवन को पुष्ट करने वाली अथवा पहले पाप का अपचय करके पुण्य के उपचय का कारण, (नंदा) स्वपर को आनन्दित करने वाली, (भद्दा) स्वपरकल्याणकारिणी, (विसुद्धी) पापक्षय के उपायरूप में होने से जीवन की शुद्धि-निर्मलता का कारण, (लद्धी) केवलज्ञान आदि लब्धियाँ पैदा करने वाली, (विसिट्ठदिट्ठी) विशिष्ट दृष्टि-विचार और आचार में अनेकान्त-प्रधान दर्शन वाली, (कल्लाणं) कल्याण या आरोग्य का कारण, (मंगलं) पापशमनकारिणी होने से मंगलमयी, (पमोओ) प्रमोद—हर्ष उत्पन्न करने वाली, (विभूती) ऐश्वर्य का कारण, (रक्खा) जीवरक्षारूप, (सिद्धावासो) सिद्धों—निरंजन-निराकार परमात्माओं में निवास कराने वाली—मुक्ति प्राप्त कराने वाली, (अणासवो) अनाश्रवरूप—आते हुए कर्मबन्ध को रोकने वाली, (केवलीण ठाणं) केवलियों के लिए स्थानरूप, (सिवं) शिवरूप—निरुपद्रव सुखरूप, (समिई) सम्यक्प्रवृत्तिरूप, (सीलं) समाधानरूप (य) और (संजमोत्ति) संयमरूप है, (सील-परिघरो) सदाचार या ब्रह्मचर्य का घर—चारित्र का स्थान, (संवरो) संवररूप—आते हुए कर्मों को रोकने वाली, (य) और (गुत्ती) मन, वचन, और काया की अशुभ प्रवृत्ति को रोकने वाली, (ववसाओ) विशिष्ट अध्यवसाय—निश्चयरूप, (उस्सओ) भावों की उन्नतिरूप, (जन्नो) यजन-भावदेवपूजारूप, अथवा यतना—प्राणिरक्षारूप, (अप्पमातो) प्रमादत्याग—अप्रमादरूप; (अस्सासो) प्राणियों के लिए आश्वासनरूप, (वीसासो) सब जीवों के विश्वास का कारण, (अभओ) अभयदानरूप या निर्भयता का कारण, (सव्वस्स वि अमाघाओ) सब जीवों की हत्या के निषेधरूप, अथवा अमारिघोषणारूप, (चोक्ख)—अच्छी, भली लगने वाली, (पवित्ता) पवित्र से भी पवित्र, अथवा पवि—वज्र की तरह त्राण—रक्षण करने वाली, (सूती) भावों की शुचि-निर्मलता रूप, (पूया) भावपूजारूप या पूत—शुद्ध, (विमल) निर्मलता का कारण, (पभासा) आत्मा का प्रकाश—दीप्ति (य) और (निम्मलयरा) अत्यन्त निर्मल अथवा जीव को कर्मरूपी रज से रहित—निर्मल करने वाली—निर्मलकरा है। (इति) इस प्रकार (एवमादीणि) ऐसे ही और भी (नियगुणनिम्मियाइं) अपने निजी गुणों से

निष्पन्न—यथार्थ, (भगवतीए अहिंसाए) भगवती अहिंसा के, (पज्जवनामाणि) पर्याय वाचक नाम (होंति) हैं।

मूलार्थ—उन पांचों संवरों में से प्रथम संवर अहिंसा है। यह पूर्वोक्त अहिंसा देवों, मनुष्यों और असुरों के सहित सम्पूर्ण लोक के लिए आश्रयदाता द्वीप की तरह है, अथवा अज्ञानान्धकार का नाश करने वाला दीपक है। यह सबकी रक्षा करने वाली, शरण देने वाली और कल्याणाभिलाषियों के लिए प्राप्त करने योग्य है। यह सब गुणों और सुखों का प्रतिष्ठान है। यह निर्वाण का कारण है, आत्मिक स्वस्थता का कारण है, समाधि—समता की जननी है, आत्मिक शक्ति का कारण है, अथवा शान्तिरूप है यह कीर्ति का कारण है और आत्मिक व शारीरिक कान्ति बढ़ाने वाली है। यह रति (प्रीति) का कारण है और पापों से विरति कराने वाली है। श्रुतज्ञान ही इसकी उत्पत्ति का कारण है। यह तृप्ति का कारण और जीवदयारूप है, यह बन्धनों से मुक्ति दिलाती है, क्षान्तिरूप है। यह सम्यग्-दर्शन की आराधनारूप है अथवा सम्यक् प्रतीति रूप है। यह सब व्रतों में महान्—प्रधान है। यह केवलि प्ररूपित धर्म की प्राप्ति कराने वाली है, और बुद्धि को सफल बनाने वाली है। यह धृति—धैर्य पैदा करती है, आत्मिक समृद्धि तथा ऋद्धि का कारण है, यह पुण्यवृद्धि का कारण है, पाप को घटा कर पुण्य को पुष्ट करने वाली है, और आनन्ददायिनी है। यह स्वपरकल्याणकारिणी है, पापक्षय करवा कर आत्मा की विशुद्धि करने वाली है, केवलज्ञानादि लब्धियां प्राप्त कराने वाली है, अनेकान्तवाद से विशिष्ट दृष्टिरूप है, कल्याण, मंगल और प्रमोद का कारण है। यह ऐश्वर्यप्राप्ति में निमित्त है, जीवों की रक्षा करने वाली तथा सिद्धों—परमात्माओं के पास निवास कराने वाली—मुक्ति प्राप्त कराने वाली है। यह कर्मबन्ध को रोकने वाली होने से अनाश्रवरूप है, केवलज्ञानियों का स्थान है, और शिव—निरुपद्रवरूप है। यह सम्यक्प्रवृत्ति (समिति)-रूप निराकुलता—समाधान—रूप और संयम रूप है। तथा शील—सदाचार का पीहर—पितृगृह है, संवरमयी है। यह मन—वचन-काया की दुष्प्रवृत्तियों को रोकने वाली है, विशिष्ट व्यवसाय - निश्चय का कारण है और भावों की उन्नतिरूप है। यह भाव यज्ञरूप या भावपूजारूप है, गुणों का आयतन—आश्रय है और यतनारूप है या अभयदानरूप है। यह अप्रमादरूप है, प्राणियों के लिए आश्वासनरूप, विश्वास का कारण और अभय पैदा करने वाली या

अभयदात्री है। यह समस्त प्राणियों के लिए अमारिघोषणारूप है। यह स्वच्छ है, पवित्र है, पवित्रता का कारण है; और भावों की निर्मलतारूप भाव पूजा का कारण है। यह आत्मा को विमल बनाने वाली, तेज से प्रकाशित करने वाली और जीवों को कर्मरजमल से रहित—अत्यन्त निर्मल करने वाली है।

इस भगवती अहिंसा के ये और ऐसे ही अन्य निजगुण से निष्पन्न—सार्थक पर्यायवाचक नाम है।

व्याख्या

प्रस्तुत सूत्रपाठ में शास्त्रकार ने अपनी पूर्वप्रतिज्ञानुसार पांच संवरों में से सर्वप्रथम अहिंसासंवर के गुणकीर्तनपूर्वक गुणनिष्पन्न ६० नामों का निरूपण किया है। प्रसंगवश अहिंसा का लक्षण और उसके भेदों का विश्लेषण करके हम क्रमशः इन सब नामों पर विवेचन करेंगे।

अहिंसा का लक्षण—सामान्यतया अहिंसा का अर्थ 'न हिंसा अहिंसा' या 'हिंसाविरोधिनी अहिंसा' यानी हिंसा न करना या हिंसा की विरोधिनी' अहिंसा होता है। इस दृष्टि से हिंसा का अर्थ पहले भलीभांति समझना आवश्यक है। हिंसा का स्पष्ट लक्षण है—'प्रमाद और कषाय के वश किसी भी प्राणी के प्राणों को मन, वचन, काया से बाधा-पीड़ा पहुंचाना। इसलिए अहिंसा का लक्षण होगा - प्रमाद और कषाय के वश प्राणी के १० प्राणों में से किसी भी प्राण का वियोग न करना, बल्कि प्राण-रक्षा करना।

अहिंसा का केवल निषेधात्मक अर्थ यथार्थ नहीं है। क्योंकि व्याकरणशास्त्र के अनुसार अहिंसा में नञ् समास है और नञ् समास के दो रूप होते हैं-प्रसज्य और पर्युदास। प्रसज्य तद्भिन्न एकान्त निषेधरूप अर्थ का ग्राहक होता है, जबकि पर्युदास तत्सदृश अर्थ का। जैसे 'अब्राह्मण' कहने से ब्राह्मण से भिन्न किसी ठूंठ या पत्थर आदि का ग्रहण न होकर ब्राह्मण के सदृश ब्राह्मणेतर मनुष्य का ग्रहण होता है; वैसे ही अहिंसा से हिंसा से भिन्न हिंसा के सदृश जीवरक्षा दया, करुणा, सेवा आदि किसी शुद्ध भाव का ग्रहण होता है। हिंसा अशुद्ध भाव है तो अहिंसा शुद्ध भाव है, पर भावत्व दोनों में समान है, इसलिए अहिंसा का अर्थ, केवल हिंसा न करना—इस प्रकार का निषेधात्मक ही नहीं होता, जीवरक्षा, करुणा, दया या सेवा करना, इत्यादि रूप में विधेयात्मक भी होता है। यही कारण है कि अहिंसा निवृत्ति-परक भी है और प्रवृत्तिपरक भी।

अहिंसा के मुख्य भेद—अहिंसा के इस लक्षण को दृष्टिगत रखते हुए उसके मुख्य दो भेद बताए जाते हैं—द्रव्यअहिंसा और भावअहिंसा। किसी भी प्राणी के

१० प्राणों[1] में से किसी भी प्राण का प्रमाद या कषाय के वश होकर घात न करना और रक्षा, सेवा, दया या करुणा आदि करना द्रव्यअहिंसा है तथा आत्मा के परिणामों तथा गुणों का घात न करना, बल्कि शुद्ध परिणामों तथा गुणों में वृद्धि करना भावअहिंसा है। इन दोनों के भी दो-दो भेद और होते हैं—स्वद्रव्य-अहिंसा, परद्रव्यअहिंसा, स्वभाव-अहिंसा और परभाव-अहिंसा। क्रोधादि के वशीभूत हो कर अपने शरीर, इन्द्रिय आदि का किसी प्रकार का घात न करना स्वद्रव्यअहिंसा है और क्रोधादिवश दूसरे के प्राणों का नाश न करना परद्रव्यअहिंसा है। इसी प्रकार अपने परिणामों को राग-द्वेष-क्रोधादि कषायवश मलिन न करना, विकार, वासना, अर्थात् आश्रव आदि में या आर्त्तरौद्रध्यान में न ले जाना तथा स्वभाव में या निजगुणों में ही रमण करना स्वभावअहिंसा है। तथा रागद्वेषादिवश दूसरे प्राणियों के आत्म-स्वभावों या शान्ति आदि निजगुणों को हानि न पहुँचाना, अपितु उनके शुभ परिणामों में वृद्धि करना परभावअहिंसा है।

कोई भी साधु साध्वी या सद्गृहस्थ श्रावक-श्राविका जब आमरण अनशन (संथारा) या तप करते हैं, उस समय वे प्रमाद या क्रोधादिकषायवश नहीं करते, बल्कि शुद्ध भावों में बहते हुए, चढ़ते परिणामों से, स्वतःप्रेरणा से करते हैं। इसलिए अनशन तप आदि से शरीर-इन्द्रियों को कष्ट देना, वास्तव में कष्ट देना नहीं है। अतः वहाँ द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से अहिंसा है, हिंसा नहीं है। अनशनादि व्रत या तप करने वाले आत्मा में शान्ति और संतोष-सुख का अनुभव करते हैं। अतः उनके मन में कोई डर या क्रोधादि के कोई चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होते।

सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स दीवो—अहिंसा देवों, मनुष्यों और असुरों सहित समग्र लोक के लिए आश्रय देने वाला द्वीप है। जैसे द्वीप अगाध समुद्र में डूबते हुए और मगरमच्छ, घड़ियाल आदि हिंसक जलचर जन्तुओं से पीड़ित, बड़ी-बड़ी लहरों के थपेड़ों से आहत व्यक्तियों को सुरक्षित स्थान दे देता है, वैसे ही संसारसमुद्र में डूबते हुए, सैकड़ों प्रकार के दुःखों से पीड़ित और संयोगवियोगरूपी लहरों के थपेड़ों से आहत प्राणियों के लिए सुरक्षित स्थान देने वाली एक मात्र अहिंसा ही है।

अथवा जैसे घोर अन्धकार में मार्ग में स्थित सर्प और चोर आदि को अपने प्रकाश से दिखा कर दीपक यात्री को सावधान कर देता है, वैसे ही अहिंसा दीपक की तरह अपने प्रकाश से अज्ञानान्धकार में निमग्न जीवनयात्रियों को हेयोपादेय का ज्ञान करा कर सावधान-जागृत कर देती है। इसलिए अहिंसा दीप भी है। **'ताणं सरणं गती पइट्ठा'**—अहिंसा संसार के दुःखों से प्राणियों की रक्षा करती है,

---

१ दश प्राणों का वर्णन प्रथम आश्रवद्वार में किया जा चुका है।

—संपादक

इसलिए इसे 'त्राण' कहा है। ससारदु:खरूपी दावाग्नि में झुलसते हुए प्राणियों को यह आश्रय देने वाली है,इसलिए इसे 'शरण' कहा है। कल्याणार्थी प्राणियों के लिए घूम-फिर कर अहिंसा के सिवाय और कही गति नहीं है। अन्ततः उनको अहिंसा के पास ही पहुंचना अनिवार्य हो जाता है। इसलिए अहिंसा को 'गति' कहा है। अहिंसा में वात्सल्य, दया, सेवा, सहिष्णुता, धैर्य आदि अनेक गुण तथा अनेक सुख-सम्पदाएँ प्रतिष्ठित हैं, टिकी हुई है, इसलिए इसे 'प्रतिष्ठा' कहा है।

निव्वाणं—समस्त रागद्वेष, कषाय, कर्म आदि विकारो का शान्त हो जाना, बुझ जाना निर्वाण कहलाता है, इसे मोक्ष भी कहते है। अहिंसा निर्वाण-मोक्ष का प्रधान हेतु है। अहिंसा को अपनाए बिना कोई भी व्यक्ति निर्वाण नहीं प्राप्त कर सकता। अत: निर्वाण का प्रधान कारण होने से कारण में कार्य का उपचार करके अहिंसा को निर्वाण कहा है। वास्तव में, अहिंसा का पालन करने से साधक की आत्मा पर लगे हुए रागद्वेष व काम-क्रोधादि विकार शान्त हो जाते हैं। इसलिए निर्वाण प्राप्त कराने में प्रधान कारण अहिंसा का पर्यायवाची नाम 'निर्वाण' रखा है।

निव्वुई—आत्मा की स्वस्थता निर्वृत्ति कहलाती है। विषय आदि रोगों से अस्वस्थ—अशान्त बनी हुई आत्मा को स्वस्थता और शान्ति अहिंसा से ही मिलती है। इसलिए अहिंसा का निर्वृत्ति नाम सार्थक है।

समाही—समताभाव को समाधि कहते हैं। लड़ाई-झगड़ों, मारपीट, वैरविरोध आदि द्वन्द्वों से जब आत्मा मे असमाधि-विषमता पैदा होती है, उस समय अहिंसा का अवलम्बन इन सबसे दूर हटा कर मन मे समताभाव पैदा कर देता है। इसी कारण अहिंसा को 'समाधि' कहा है।

सत्ती—अहिंसा आत्मिक शक्तियों का कारण है। अहिंसा के पालन से मनुष्य में निर्भयता, वीरता, वत्सलता क्षमा, दया आदि आत्मिक शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। आत्मिक-बल के सामने सभी पाशविक या आसुरीबल नतमस्तक हो जाते हैं। पूर्ण अहिंसक के पास सिंह और गाय, सर्प और नेवला आदि जन्मजात शत्रु और हिंस्र जीव भी अपना वैरविरोध भूल कर परस्पर प्रेम करने लग जाते हैं। इसलिए अहिंसा को आत्मशक्तिरूप होने से 'शक्ति' कहा है।

अथवा अहिंसा शान्ति प्राप्त कराने वाली या शान्तिदायिनी है। आत्मा में अपूर्व शान्ति अहिंसा से ही प्राप्त होती है। मारकाट, युद्ध, द्वेष, झगड़े या वैरविरोध से कभी शान्ति नहीं मिलती। अहिंसा ही वैरविरोधों से अशान्त विश्व को शान्ति देने वाली है। इसलिए इसका 'शान्ति' नाम भी सार्थक ही है।

कित्ती—यह कीर्ति का कारण है। अहिंसा पालन करने वाले की सब लोग प्रशंसा करते है, उसका नाम चारों ओर फैल जाता है, लोग उसे प्रतिष्ठा देते हैं,

उसकी प्रसिद्धि जनता में सब ओर हो जाती है। इसलिए कीर्ति का कारण होने से कारण में कार्य का उपचार करके अहिंसा को 'कीर्ति' कहा है।

कंती अद्भुत सौन्दर्य को कान्ति कहते है। क्रोधादिविकार आत्मिक सौन्दर्य को नष्ट कर देते है, जबकि अहिंसा सद्गुणों से आत्मिक सौन्दर्य को बढाती है। जब क्रोधादि आते हैं तो भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं, ओठ कांपने लगते हैं, चेहरा लाल हो जाता है, साथ ही मन और बुद्धि में विकृतभाव पैदा हो जाते हैं, विरोधी का अनिष्ट करने की सूझती है। इस तरह शरीर में भी कुरूपता बढती है, मन और बुद्धि में भी। यानी क्रोधादि से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, जब कि अहिंसा से चेहरे पर प्रसन्नता झलकती है, आँखें और मुँह भी प्रसन्न दीखते हैं, शरीर का तेज बढ़ जाता है, इसलिए शारीरिक और आत्मिक सौन्दर्य में वृद्धि का कारण होने से अहिंसा का कान्ति नाम भी सार्थक है।

रती—जिसके जीवन में अहिंसा होती है, उसके प्रति लोगो को सहज ही प्रीति उत्पन्न होती है। अहिंसा अपने आराधक को लोकप्रिय, जनवल्लभ बना देती है। इसलिए रति-प्रीति उत्पन्न करने का कारण होने से अहिंसा को 'रति' कहा है।

विरती—हिंसा आदि दुष्कृत्यो से निवृत्ति विरति कहलाती है। अहिंसा भी हिंसा आदि दुष्कृत्यों से निवृत्तिरूप है। इसलिए इसका 'विरति' नाम भी सार्थक है।

सुयंग—अहिंसा की भावना सबसे पहले श्रुतज्ञान—आगमज्ञान से पैदा होती है। अर्थात्-आगम का अभ्यास-मनन आदि करने से अहिंसा उत्पन्न होती है। कहा भी है—'पढमं नाणं तओ दया'। इस शास्त्रवाक्य के अनुसार पहले ज्ञान होता है, तत्पश्चात् दया होती है। इसलिए अहिंसा की उत्पत्ति का एक कारण श्रुतज्ञान होने से इसे श्रुतांग कहा है।

तित्ती—अहिंसा का पालन करने से आत्मा में तृप्ति-संतुष्टि पैदा होती है। इसलिए तृप्ति का कारण होने से इसे 'तृप्ति' कहा है।

दया—कष्ट पाते हुए, मरते हुए या दुःखित प्राणियों की रक्षा करना, उनके दुःख दूर करना दया है। और अहिंसा भी प्राणियो की रक्षा करती है। इसलिए इसे दया कहना यथार्थ है।

विमुत्ती—समस्त बन्धनों से मुक्त होना विमुक्ति है। अहिंसा के पालन से प्राणी सभी बन्धनों से विमुक्त हो सकता है, जन्म-जन्मान्तर के बन्धनों से छूट जाता है। इसलिए अहिंसा को विमुक्ति कहना युक्तियुक्त है।

खंती—क्रोध का निग्रह क्षान्ति-क्षमा है। अहिंसा भी क्रोध को वश में करने से उत्पन्न होती है। अथवा क्षान्ति का अर्थ सहन करना या सहिष्णुता भी है।

अहिंसा का पालक सबके अघातों को सहन करता है। इसलिए अहिंसा भी क्षान्ति-रूप है।

सम्मत्ताराहणा—प्रशम, संवेग, निर्वेद अनुकम्पा और आस्था, ये व्यवहार-सम्यक्त्व के पाच लक्षण है। जब किसी के जीवन मे देव, गुरु और धर्म के प्रति दृढ श्रद्धा होती है तो ये पाचों बातें उसके जीवनव्यवहार मे दृष्टिगोचर हो जाती है। अहिंसापालक के जीवन मे भी उपर्युक्त प्रशमादि पाचो बाते होती है। यानी अहिंसक के जीवन मे शान्ति, मोक्ष के प्रति उत्साह, वैराग्य, अनुकम्पा तथा धर्म और धर्मगुरुओं के प्रति आस्था होती है। इसलिए अहिंसा एक तरह से सम्यक्त्व की आराधना ही है। अथवा सम्यक्प्रतीतिरूप होने से भी यह सम्यक्त्व की आराधना-रूप है।

महंती—समस्त धर्मानुष्ठानो मे अहिंसा महान् है, इसी प्रकार सभी व्रतों में अहिंसा बडा व्रत है; अथवा सभी संवरों मे अहिंसा प्रधान है; इसलिए इसे 'महती' ठीक ही कहा है। अहिंसा इतनी विशाल है कि शेप सभी व्रत इसी में समा जाते है। इसी बात को निर्युक्तिकार ने व्यक्त किया है—

'निदिट्ठं एत्थ वयं इक्कंचि य जिणवरेहिं सव्वेहिं।
पाणाइवायवेरमणमवसेसा तस्स रक्खट्ठा॥'

अर्थात्—'सभी जिनवरो ने संसार में एक ही व्रत बताया है और वह है—प्राणातिपातविरमण—अहिंसा। शेप जो अचौर्य आदि व्रत है, वे सब इसी अहिंसा की रक्षा से लिए है।

बोही—सर्वज्ञकथित धर्म की प्राप्ति को बोधि कहते है। अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप—रत्नत्रय को भी बोधि कहते है; और वह अपने आप मे अहिंसारूप है। इसलिए अहिंसा को बोधि कहा गया है। अथवा अहिंसा का नाम अनुकम्पा भी है और वह (अनुकम्पा) बोधि का कारण है। जैसा कि आवश्यक निर्युक्तिकार ने कहा है—

'अणुकंपऽकामणिज्जरबालतवे दाणविणयविब्भंगे।
संजोगविप्पजोगे वसणूसवइड्ढिसक्कारे॥

अर्थात्- अनुकम्पा, अकामनिर्जरा, बालतप, दान, विनय, विभंग, संयोग, विप्रयोग, व्यसन, उत्सव, ऋद्धि और सत्कार ये बोधि प्राप्त होने मे निमित्त है।

इसलिए अनुकम्पा बोधि का कारण होने से अहिंसा को बोधि कहा है।

बुद्धी—बुद्धि की सफलता का कारण होने से अहिंसा को बुद्धि कहा है। बुद्धि की सफलता इसी में है कि वह दुष्कृत्यों के चिन्तन को छोड़ कर सुकृत्यों और धर्मकार्यों के चिन्तन मे लगे। कहा भी है—

उसकी प्रसिद्धि जनता मे सब ओर हो जाती है । इसलिए कीर्ति का कारण होने से कारण मे कार्य का उपचार करके अहिंसा को 'कीर्ति' कहा है ।

कंती अद्भुत सौन्दर्य को कान्ति कहते है। क्रोधादिविकार आत्मिक सौन्दर्य को नष्ट कर देते हैं, जबकि अहिंसा सद्गुणों से आत्मिक सौन्दर्य की बढ़ाती है । जब क्रोधादि आते हैं तो भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं, ओठ कांपने लगते हैं. चेहरा लाल हो जाता है, साथ ही मन और बुद्धि में विकृतभाव पैदा हो जाते हैं. विरोधी का अनिष्ट करने की सूझती है । इस तरह शरीर में भी कुरूपता बढती है,मन और बुद्धि में भी । यानी क्रोधादि से शारीरिक,मानसिक और आत्मिक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, जब कि अहिंसा से चेहरे पर प्रसन्नता झलकती है,आंखें और मुंह भी प्रसन्न दीखते हैं, शरीर का तेज बढ़ जाता है, इसलिए शारीरिक और आत्मिक सौन्दर्य में वृद्धि का कारण होने से अहिंसा का कान्ति नाम भी सार्थक है ।

रती—जिसके जीवन में अहिंसा होती है, उसके प्रति लोगों को सहज ही प्रीति उत्पन्न होती है । अहिंसा अपने आराधक को लोकप्रिय, जनवल्लभ बना देती है । इसलिए रति-प्रीति उत्पन्न करने का कारण होने से अहिंसा को 'रति' कहा है ।

विरती—हिंसा आदि दुष्कृत्यो से निवृत्ति विरति कहलाती है । अहिंसा भी हिंसा आदि दुष्कृत्यों से निवृत्तिरूप है । इसलिए इसका 'विरति' नाम भी सार्थक है ।

सुयंग—अहिंसा की भावना सबसे पहले श्रुतज्ञान—आगमज्ञान से पैदा होती है । अर्थात्-आगम का अभ्यास-मनन आदि करने से अहिंसा उत्पन्न होती है । कहा भी है—'पढमं नाणं तओ दया' । इस शास्त्रवाक्य के अनुसार पहले ज्ञान होता है, तत्पश्चात् दया होती है । इसलिए अहिंसा की उत्पत्ति का एक कारण श्रुतज्ञान होने से इसे श्रुतांग कहा है ।

तित्ती—अहिंसा का पालन करने से आत्मा में तृप्ति-संतुष्टि पैदा होती है । इसलिए तृप्ति का कारण होने से इसे 'तृप्ति' कहा है ।

दया—कष्ट पाते हुए, मरते हुए या दुःखित प्राणियों की रक्षा करना, उनके दुःख दूर करना दया है । और अहिंसा भी प्राणियों की रक्षा करती है । इसलिए इसे दया कहना यथार्थ है ।

विमुत्ती—समस्त बन्धनों से मुक्त होना विमुक्ति है । अहिंसा के पालन से प्राणी सभी बन्धनों से विमुक्त हो सकता है, जन्म-जन्मान्तर के बन्धनों से छूट सकता है । इसलिए अहिंसा को विमुक्ति कहना युक्तियुक्त है ।

खंती—क्रोध का निग्रह क्षान्ति-क्षमा है । अहिंसा भी क्रोध को वश में करने से उत्पन्न होती है । अथवा क्षान्ति का अर्थ सहन करना या सहिष्णुता भी है ।

अहिंसा का पालक सबके अघातों को सहन करता है। इसलिए अहिंसा भी क्षान्ति-रूप है।

सम्मत्ताराहणा—प्रशम, संवेग, निर्वेद अनुकम्पा और आस्था, ये व्यवहार-सम्यक्त्व के पाच लक्षण है। जब किसी के जीवन मे देव, गुरु और धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धा होती है तो ये पाचों बातें उसके जीवनव्यवहार मे दृष्टिगोचर हो जाती हैं। अहिंसापालक के जीवन मे भी उपर्युक्त प्रशमादि पाचों बातें होती है। यानी अहिंसक के जीवन मे शान्ति, मोक्ष के प्रति उत्साह, वैराग्य, अनुकम्पा तथा धर्म और धर्मगुरुओं के प्रति आस्था होती है। इसलिए अहिंसा एक तरह से सम्यक्त्व की आराधना ही है। अथवा सम्यक्प्रतीतिरूप होने से भी यह सम्यक्त्व की आराधना-रूप है।

महंती—समस्त धर्मानुष्ठानो मे अहिंसा महान् है, इसी प्रकार सभी व्रतो मे अहिंसा बड़ा व्रत है, अथवा सभी संवरों मे अहिंसा प्रधान है; इसलिए इसे 'महती' ठीक ही कहा है। अहिंसा इतनी विशाल है कि शेष सभी व्रत इसी में समा जाते हैं। इसी बात को निर्युक्तिकार ने व्यक्त किया है—

'निदिट्ठं एत्थ वयं इक्कंचि य जिणवरेहिं सव्वेहिं।
पाणाइवायवेरमणमवसेसा तस्स रक्खट्ठा॥'

अर्थात्—'सभी जिनवरों ने ससार में एक ही व्रत बताया है और वह है—प्राणातिपातविरमण—अहिंसा। शेष जो अचौर्य आदि व्रत हैं, वे सब इसी अहिंसा की रक्षा के लिए है।

बोही—सर्वज्ञकथित धर्म की प्राप्ति को बोधि कहते हैं। अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप—रत्नत्रय को भी बोधि कहते हैं; और वह अपने आप मे अहिंसारूप है। इसलिए अहिंसा को बोधि कहा गया है। अथवा अहिंसा का नाम अनुकम्पा भी है और वह (अनुकम्पा) बोधि का कारण है। जैसा कि आवश्यक निर्युक्तिकार ने कहा है—

'अणुकंपऽकामणिज्जरबालतवे दाणविणयविब्भंगे।
संजोगविप्पजोगे वसणूसवइड्ढिसक्कारे॥

अर्थात्- अनुकम्पा, अकामनिर्जरा, बालतप, दान, विनय, विभंग, संयोग, विप्रयोग, व्यसन, उत्सव, ऋद्धि और सत्कार ये बोधि प्राप्त होने मे निमित्त हैं।

इसलिए अनुकम्पा बोधि का कारण होने से अहिंसा को बोधि कहा है।

बुद्धी—बुद्धि को सफलता का कारण होने से अहिंसा को बुद्धि कहा है। बुद्धि की सफलता इसी में है कि वह दुष्कृत्यों के चिन्तन को छोड़ कर सुकृत्यों और धर्मकार्यों के चिन्तन मे लगे। कहा भी है—

'बावत्तरिकलाकुसला पंडियपुरिसा अपंडिया चेव।
सव्वकलाणं पवरं जे धम्मकलं न जाणंति ॥'

जो पुरुष समस्त कलाओं में श्रेष्ठ धर्मकला को नहीं जानते; वे ७२ कलाओं में निपुण—विशेष पण्डित भी अपण्डित ही हैं।

अतः अहिंसा धर्म की कला यानी बुद्धिसाफल्य का कारण होने से अहिंसा को बुद्धि कहा है।

अथवा अहिंसा का यथाविधि दृढ़ता से पालन करने से द्वादशांगी श्रुतज्ञान, देशावधिज्ञान, परमावधिज्ञान, सर्वावधिज्ञान, मनःपर्याय और केवलज्ञान आदि प्राप्त होते हैं। और ज्ञान बुद्धि का ही कार्य है। इसलिए पूर्वोक्त ज्ञानरूप बुद्धि का कारण होने से अहिंसा को बुद्धि कहना उचित ही है।

धिती—चित्त की दृढ़ता को धृति कहते हैं। अहिंसा का पालन भी चित्त की दृढ़ता के बिना हो नहीं सकता। इसलिए धृति अहिंसा का कारण होने से कारण में कार्य का उपचार करके धृति को अहिंसा का पर्यायवाची शब्द कहा है।

समिद्धी—मानसिक और आत्मिक आनन्द को समृद्धि कहते हैं। अहिंसा के पालन करने से मानसिक और आत्मिक दोनों प्रकार के आनन्द की उपलब्धि होती है। इसलिए समृद्धि-आनन्द का कारण होने से अहिंसा को समृद्धि कहा गया है। अथवा अहिंसाधर्म के पालन से आत्मिकसमृद्धि (आत्मा में दृढ़ता, क्षमता, तितिक्षा, सहिष्णुता, दया, सेवा, वत्सलता आदि सद्‌गुणों की समृद्धि-पूंजी) बढ़ जाती है। इसलिए समृद्धिवर्द्धिनी होने से अहिंसा को समृद्धि भी कहा गया है।

रिद्धी—ऋद्धि लक्ष्मी को कहते हैं। अहिंसा के पालन से आत्मिक और भौतिक दोनों प्रकार की ऋद्धि-सम्पदा बढ़ जाती है। अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान आदि आत्मिक लक्ष्मी और धनसम्पत्ति आदि भौतिक लक्ष्मी अहिंसा की दृढ़ता से मिलती है। परिवार और समाज के सभी सदस्यों में परस्पर मेलजोल और संप होता है तो वहाँ प्रेमपूर्वक दिलचस्पी से मिल जुल कर व्यवसाय आदि करने से लक्ष्मी बढ़ती देखी गई है। कहावत भी है—जहाँ संप तहाँ संपत् नाना।' और ऐसा प्रेमभाव या संप अहिंसा का ही एक अंग है। इस दृष्टि से अहिंसा ऋद्धि—लक्ष्मी का कारण होने से इसे ऋद्धि कहा गया है।

विद्धी—आत्मिक गुणों या पुण्यप्रकृतियों का बढ़ना वृद्धि है। अहिंसा से तप, संयम, शील आदि आत्मगुण बढ़ते ही हैं, शुभ परिणति से पुण्य भी बढ़ता है। इसलिए वृद्धि का कारण होने से अहिंसा को वृद्धि कहा है।

ठिती—अहिंसा सादि और अन्तरहित मोक्ष में आत्मा की स्थिति कराती है, इसलिए इसे स्थिति कहा है।

'पुट्ठी'—पुण्य वृद्धि के द्वारा आत्मा को पुष्ट करना पुष्टि है। अहिंसा के पालन से पुण्यवृद्धि होकर आत्मा की पुष्टि होती है। इस कारण कारण इसे 'पुष्टि' कहा गया है। जैसे रसायन का सेवन करने पर शरीर पुष्ट हो जाता है, वैसे ही अहिंसारूपी रसायन का सेवन करने पर आत्मा पुष्ट होती है, इस कारण भी इसे पुष्टि कहा गया है।

'नंदा'—स्व-पर को आनन्दित करने वाली होने से अहिंसा को नन्दा कहा है। अहिंसक के सम्पर्क मे जो भी आता है, वह आनन्दित हो कर जाता है, प्रसन्नता से उसका चित्त भर जाता है। अहिंसक का प्रायः कोई शत्रु नही होता, इसलिए उसके चित्त मे सदा प्रसन्नता रहती है। अतः अहिंसा स्वपर-आनन्ददायिनी होने से उसे 'नन्दा' कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं है।

'भद्दा'—भद्र कहते है—स्वपरकल्याण को। स्वपरकल्याणकारिणी होने से अहिंसा को 'भद्रा' कहना उचित है।

'विसुद्धी'—पापो का क्षय होने से आत्मा की विशुद्धि होती है। जीवन मे निर्मल भावना होने पर ही अहिंसा फलित होती है। साथ ही अहिंसा के पालन से कलुषित विचारों और कषायो का क्षय होने से आत्मशुद्धि स्वाभाविक हो जाती है। अतः आत्मविशुद्धि का कारण होने से अहिंसा को 'विशुद्धि' कहा है।

'लद्धी'—केवलज्ञान आदि क्षायिक लब्धियां अहिंसा का पूर्ण पालन करने से प्राप्त होती है। अहिंसा का पालन करने वाले मुनिवरो को अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा आदि अनेक सिद्धियां भी प्राप्त होती हैं। अतः अहिंसा विविध लब्धियों और सिद्धियों का कारण होने से अहिंसा को 'लब्धि' कहा गया है।

'विसिट्ठदिट्ठी'—आध्यात्मिक जीवन की सफलता शुद्ध दृष्टि पर निर्भर है। दृष्टि विपरीत हो तो कोई भी धर्माचरण मोक्ष का कारण नही बनता। विविध धर्मों और दर्शनो मे निहित सत्यो को मनुष्य खण्डनात्मक एकान्तदृष्टि से नही पा सकता; अपितु अनेकान्तदृष्टि से ही पा सकता है। और अनेकान्तदृष्टि वस्तुतः वैचारिक अहिंसा का ही एक अग है। इसलिए अहिंसा विशिष्ट-अनेकान्तदृष्टि रूप होने से इसे विशिष्टदृष्टि कहना युक्तिसगत है। अथवा जीवन में अहिंसा का दर्शन विशिष्ट दर्शन है, अन्य सब बातो का दर्शन गौण है। एक आचार्य ने व्यंग्य करते हुए कहा है—

> किं तीए पढ़ियाए पयकोडीए पलालभूयाए।
> जत्थेत्तियं न नायं, परस्स पीड़ा न कायव्वा॥'

अर्थात्—"भूसे के ढेर के समान उन करोड़ों पदों के पढने से क्या लाभ; जिनसे इतना भी ज्ञात नही हुआ कि दूसरो को पीड़ा नही देनी चाहिए ?"

वास्तव में, जिसे स्पष्ट अहिंसादर्शन नही हुआ, वह दूसरे प्राणियों के प्रति

ममत्वदृष्टि नही रख सकता। इसलिए अहिंसा विशिष्टदर्शनरूप होने से उसका विशिष्टदृष्टि नाम सार्थक है।

'कल्लाणं'—कल्य-आरोग्य की प्राप्ति कराने वाली होने से इसे कल्याण कहा है। जो व्यक्ति जीवन में हर कदम पर अहिंसा का पालन करता है,वह रात्रिभोजन का त्याग करेगा ही ; अभक्ष्य एवं अपेय तामसिक खानपान से वह दूर रहेगा; भोजन का भी परिमाण करेगा; इसलिए स्वतः ही उसका जीवन स्वस्थ रहेगा ही। जिसके जीवन में अहिंसा होती है, उसको चिन्ता,द्वेष, घृणा, असूया,ईर्ष्या, भय,उद्वेग आदि मानसिक रोग प्रायः नही होते। इसलिए अहिंसा शारीरिक और मानसिक आरोग्य—कल्याण का कारण होने से कल्याणरूप है।

'मंगलं'—मंगल का अर्थ है—'मं पापं गालयति भवावपनयतीति मंगलम् अथवा मंगं सुखं लातीति मंगलम्' जो पाप का नाश करने वाला है, जन्म-मरण-रूप चक्र का निवारण करता है अथवा सुख का देने वाला है वह मंगल है। अहिंसा में ये सब गुण हैं। इसलिए इसे मंगल कहा है।

'पमोओ'—अहिंसा स्वयं प्रमोद का कारण है। अहिंसा का आराधक सदा प्रमोद-हर्ष में मग्न रहता है, तथा उससे अन्य सांसारिक जीव भी अभयदान पाकर प्रमुदित रहते हैं। इसलिए प्रमोद-हर्ष का कारण होने से अहिंसा को प्रमोद भी कहा गया है।

विभूती—अहिंसा समग्र ऐश्वर्य का कारण है। अहिंसा का पूर्णरूप से पालन करने वाले तीर्थंकर अहिंसा के प्रभाव से विभूतिमान—ऐश्वर्यशाली (छत्र-चामर आदि बाह्य ऐश्वर्य और केवलज्ञान, अनन्तसुख आदि आभ्यन्तर ऐश्वर्य से सम्पन्न) बनते है। इसलिए अहिंसा विभूति का कारण होने से इसे 'विभूति' कहा गया है।

'रक्खा'—अहिंसा का विधेयात्मक रूप रक्षा है। जीवों की रक्षा करने वाले साधु और गृहस्थ ही अहिंसा के आराधक हो सकते हैं। अतः अहिंसा को 'रक्षा' कहा है।

सिद्धावासो—अहिंसा अपने आराधक को सिद्धगति (मोक्ष) में सदा के लिए आवास करा देती है। आत्मा अहिंसा का पालन करके कर्मक्षय करता है और समस्त कर्मों का क्षय होने पर सिद्धों—परमात्माओं के निकट या सिद्धगति में निवास हो जाता है। इसलिए अहिंसा को सिद्धावास कहा गया है।

अणासवो—कर्मबन्धों को रोकना अनाश्रव है। अहिंसा कर्मबन्धों को रोकती है, जबकि हिंसा कर्मबन्ध का कारण है। अतः कर्मबन्ध के निरोध—अनाश्रव का कारण होने से इसे 'अनाश्रव' कहा गया है।

केवलीणं ठाणं—केवलज्ञानी सदा अहिंसा भाव में ही स्थित रहते हैं। उनकी

आत्मा में पूर्ण अहिंसा की स्थिति रहती है। इसलिए अहिंसा को केवलियों का स्थान कहा है।

'सिवं'—अहिंसा मे निरुपद्रवत्व-शिवत्व रहता है, वह निराबाध सुख का कारण है ; इसलिए इसे शिव कहा है।

'समिई'—सम्यक्प्रकार से प्रवृत्ति करना समिति है। अहिंसा भी निर्दोष प्रवृत्तिरूप है। इसलिए अहिंसा को समिति कहा गया है।

'सील संजमोत्ति य'—शील का अर्थ यहां समाधान—निराकुलता है। अहिंसा के पालन से व्यक्ति का मन.समाधान हो जाता है। उसके मन मे क्षोभ, आकुलता चंचलता या व्यग्रता नही रहती। इसलिए निराकुलतारूप होने से इसे 'शील' कहा है। हिंसा से विरत होना सयम है और अहिंसा भी प्राणि-हिंसा से निवृत्तिरूप है। इसलिए अहिंसा को 'संयम' भी कहा है।

'सीलपरिघरो'- यह शील—सदाचार—चारित्र या ब्रह्मचर्य का घर ही नही ; परिघर—पीहर है। समस्त चारित्रो का घर अहिंसा है ; ब्रह्मचर्य के लिए भी अहिंसा का आधार जरूरी है। इसलिए अहिंसा को शील का परिगृह कहा है।

'संवरो'—अहिंसा आते हुए कर्मों को रोकने वाली है। इसलिए संवररूप होने से इसे 'संवर' कहा है।

'गुत्ती'—अशुभ मन, अशुभ वचन और अशुभ शरीर की क्रियाओं का रोकना गुप्ति है और अहिंसा से भी दुष्ट मन, वचन एवं काया का निरोध हो जाता है। इसलिए अहिंसा को गुप्ति भी कहा है।

'ववसाओ'—व्यवसाय दृढनिश्चय या मजबूत संकल्प को कहते हैं। अहिंसा आत्मा का दृढ़निश्चय है। बिना दृढ़ निश्चय के अहिंसा का पालन नही हो सकता। इसलिए अहिंसा का पर्यायवाची नाम 'व्यवसाय' भी संगत है।

'उस्सओ'—आत्मा के भावों की उन्नति का नाम उच्छ्रय है। अहिंसा का पालन भी आत्मा के परिणामो की उच्चता से किया जाता है। इसलिए आत्मा का सर्वोच्च परिणामरूप होने से अहिंसा को उच्छ्रय भी बताया है। अथवा उत्सव मे जैसे मनुष्य खुशियाँ मनाता है, आमोदप्रमोद करता है, वैसे ही अहिंसा के सान्निध्य में आत्मा हर्षित और प्रमुदित होता है। इसलिए इसे 'उत्सव' भी कहा जा सकता है।

'जन्नो'—अहिंसा एक यज्ञ है। दान देना, परोपकार करना, देवपूजा करना और सगति करना यज्ञ कहलाता है। अहिंसा के जरिये प्राणियों को अभयदान दिया जाता है, अहिंसा की सहचरी सेवाशुश्रूषा, दया आदि के द्वारा परोपकार के काम भी किये जाते है, आत्मदेवता की भावपूजा भी अहिंसा के द्वारा होती है और अहिंसा के मुख्य अग शुद्धप्रेम द्वारा नि.स्वार्थ सत्संग भी होता है। इन सब कारणों से अहिंसा महायज्ञरूप है। इसलिए इसे यज्ञ कहा है।

'आयतणं'—गुणों का आश्रय होने से अहिंसा आयतन भी है। क्षमा, दया, सरलता, सेवा, करुणा आदि आत्मा के सब गुण अहिंसा के आधार पर है। अहिंसा के बिना उक्त गुण टिक नही सकते। इसलिए अहिंसा को आयतन भी कहा गया है।

'जयणं'—प्राणियो की रक्षा का प्रयत्न यतन है। अहिंसा भी यतनारूप है। इसलिए यतन भी अहिंसा का पर्यायवाचक गुणनिष्पन्न नाम है। अथवा 'जयणं' का यजन रूप भी होता है। यजन दान को कहते हैं। अहिंसा मे सर्वप्रधान अभय का दान दिया जाता है। इसलिए अहिंसा को यजन भी कहे तो कोई अनुचित नही।

'अप्पमातो'—अप्रमाद का अर्थ है—मद्य, विषय, कषाय, निन्दा (या निद्रा) और विकथारूप पाच प्रमादों का त्याग। अहिंसा भी उक्त पांचो प्रमादों का त्याग करने से ही निष्पन्न होती है। प्रमादो के रहते अहिंसा हो नही सकती। प्रमादो से अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। अतएव अहिंसा का 'अप्रमाद' नाम यथार्थ है।

'अस्सासो'—किसी दुःख और संकट से पीड़ित व्यक्ति को तसल्ली देना आश्वास या आश्वासन कहलाता है। अहिंसा भी भयभीत, दुःखित, पीड़ित, पददलित, शोषित और व्यथित जीवों को आश्वासन देती है। इसलिए अहिंसा का आश्वास नाम भी सार्थक ही है।

'वीसासो'—अहिंसा समस्त प्राणियों को विश्वास-भरोसा देने वाली है। घबराते हुए, दुःख से संतप्त प्राणियों के दिलों मे अहिंसा से बहुत बड़ा विश्वास बैठ जाता है। अहिंसा के भरोसे पर ही सारा संसार टिका है। अन्यथा, हिंसा से तो सारा संसार मरघट बन जाता। अतः अहिंसा का विश्वास नाम बिलकुल यथार्थ है।

अभओ—दुनिया में अधिकतर प्राणी विविध प्रकार के भयो और आशंकाओं से ग्रस्त हैं। हिंसा के व्यवहार से सारा संसार भयभीत है। अतः अहिंसा की गोद मे आ कर ही सारा विश्व निर्भय, निःशक और निराकुल बन सकता है। अहिंसा प्राणियो को भयमुक्त बनाती है; अथवा यों भी कह सकते हैं कि अहिंसा के पालन करने वालों से सभी प्राणी निर्भय रहते हैं। इसलिए अभय का कारण होने से अहिंसा को अभय बताया गया है।

सव्वस्स वि अमाघाओ—अहिंसा सर्वप्राणियों का घात नहीं करने वाली, उन्हें मृत्यु से बचाने वाली एक तरह से अमारिघोषणा है। सभी प्राणी मृत्यु से डरते हैं। अहिंसा प्राणियों के लिए अघातरूप है। इसलिए इस 'अमाघात' कहा जाय तो अनुचित नही है।

'चोक्ख पवित्ता सुती पूया'—वैसे तो ये चारों शब्द एकार्थक प्रतीत होते हैं। लेकिन थोड़ा-बहुत अन्तर इन सबमें हैं। चोक्ख शब्द देश्य है,उसका अर्थ गुजराती और

मारवाड़ी में चोखा होता है। चोखा का मतलब है—सर्वोत्तम। अहिंसा सर्वोत्तम गुण है। अथवा चोक्ख शब्द पवित्र स्वच्छ का भी द्योतक है। जहां वे एक सरीखे अर्थ वाले है, वहां एक शब्द का उत्कृष्ट अर्थ ग्रहण कर लेना चाहिए। एक दृष्टि से देखा जाय तो अहिंसा उत्कृष्ट पवित्रता है। अहिंसा अपने आप में पवित्र होने से इसे पवित्र कहा गया है। अथवा पवि-वज्र की तरह जो त्राण देता है—रक्षा करता है, उसे पवित्र कहते हैं। अहिंसा को भी इसीलिए पवित्रा कहा गया है। फिर अहिंसा को शुचि भी कहते हैं। शुचि का अर्थ है—भावों की निर्मलता। अथवा शुचि का अर्थ निर्लोभता है। परप्राणों को हरण करने का लोभ अहिंसा से नष्ट हो जाता है। इसलिए इसे 'शुचि' कहा जाता है। शुचि के और भी कई अर्थ होते है, जो निम्नोक्त श्लोक से प्रगट हैं—

"सत्यं शौचं तपः शौचम् शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया शौचं जलशौचं तु पंचमम् ॥"

अर्थात्—'सत्य, तप, इन्द्रियनिग्रह, सर्वभूतदया और जलशौच ये पाच शौच हैं।'

इससे आगे अहिंसा को पूया' कहा है; जिसका अर्थ होता है—पूता। अहिंसा पूत—पवित्र है, अथवा पूजा रूप भी इसका बनता है; जिसका अर्थ होता है—प्रशस्त भावपूजा। अहिंसा आत्मा को निर्मल बनाने वाली और आत्मदेव की पूजारूप है, अतः इसका पूया नाम सार्थक है।

'विमल-पभासो'—आत्मा में से क्रोधादिमलों के निकलने पर ही अहिंसा सम्पन्न होती है। क्रोधादिमलो का निकल जाना ही विमलता है। इसलिए अहिंसा को विमल कहना भी न्यायसंगत है। प्रभास का अर्थ प्रकाश है। अहिंसा आत्मा का उत्कृष्ट प्रकाश है। अहिंसा अज्ञान, मिथ्यात्व, हिंसा, राग-द्वेष, कषाय आदि अनिष्टअन्धकारो को निकाल फैंकती है। इसी से सम्पूर्ण गुण प्रकाशमान होते हैं। इसीलिए अहिंसा को प्रभास कहा है, वह उचित ही है।

निम्मलयरत्ति—अहिंसा जीव को कर्मरज के मल से रहित करती है। इसलिए यह निर्मलकर है। अथवा यह निर्मलतर है।

गुणनिष्पन्न नाम—अहिंसा के उपर्युक्त ६० नाम गुणनिष्पन्न हैं। अहिंसा के निजीगुणों से ये नाम निष्पन्न हुए हैं, इसलिए शास्त्रकार कहते हैं—"एवमादीणि नियगगुण-निम्मियाइं पज्जवनामाणि होंति" इसका अर्थ स्पष्ट है।

अहिंसा ए भगवईए—अहिंसा को भगवती बताया गया है। तीर्थंकर भगवान् की तरह अहिंसा में असंख्य दिव्य गुण पाये जाते हैं, इसलिए तथा भग-ऐश्वर्य से

युक्त होने से इसे भगवती कहा गया है। भग का अर्थ ज्ञान भी होता है, अहिंसा प्रशस्त ज्ञान वाली है। यह संसार के सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का निधान भी है। इन सब कारणों को ले कर अहिंसा को भगवती कहा गया है, यह उचित ही है।

भगवती अहिंसा की विविध उपमाएँ

पूर्वोक्त सूत्रपाठ में शास्त्रकार ने अहिंसा के गुणनिष्पन्न ६० नाम बता कर उसकी व्यापकता और विविधरूपधारकता का निरूपण किया है। अब इस सूत्रपाठ में अहिंसा भगवती को अनेक लोकप्रसिद्ध उपमाएँ दे कर उसकी विशेषता बताई गई है।

मूलपाठ

एसा सा भगवती अहिंसा जा सा भीयाण विव सरणं, पक्खीणं पिव गमणं, तिसियाणं पिव सलिलं, खुहियाणं पिव असणं, समुद्दमज्झे व पोतवहणं, चउप्पयाणं व आसमपयं, दुहट्टियाणं च ओसहिबलं, अडवीमज्झे व सत्थगमणं, एत्तो विसिट्ठतरिका अहिंसा जा सा पुढवि-जल-अगणि-मारुय-वणस्सइ-बीज-हरित-जलयर-थलचर-खहचर-तस-थावर-सव्वभूयखेमकरी।

संस्कृतच्छाया

एषा सा भगवतीऽहिंसा या सा भीतानामिव शरणम्, पक्षिणामिव गमनम्, तृषितानामिव सलिलम्, क्षुधितानामिवाशनम्, समुद्रमध्ये इव पोतवहनम्, चतुष्पदानामिव आश्रमपदम्, दुःखार्तिकानामिव औषधिबलम्, अटवीमध्ये इव सार्थगमनम्; एतेभ्यो विशिष्टतरिका ऽहिंसा या सा पृथिवी-जलाग्नि-मारुत-वनस्पति-बीजहरितजलचरस्थलचर-खेचरत्रसस्थावरसर्वभूत-क्षेमंकरी।

पदार्थान्वय—(एसा) यह (सा) पूर्वोक्त (भगवती) पूज्या (अहिंसा) अहिंसा, (जा) जो है (सा) यह (भीयाणं) भयभीत प्राणियों के लिए (सरणं विव) शरण के समान है। (पक्खीणं) पक्षियों के लिए (गमणं पिव) आकाश में गमन के तुल्य है। (तिसियाणं) प्यासों के लिए (सलिलं पिव) पानी के समान है। (खुहियाणं) भूखों के

१ 'अडवीमज्झे विसत्थगमणं' पाठ भी कहीं-कहीं मिलता है। —संपादक

लिए (असणं पिव) भोजन के सदृश है । (समुद्दमज्झे) समुद्र के बीच में, (पोतवहणं व) जहाज की सवारी के समान है । (चउप्पयाणं) चौपाये जानवरों के लिए (आसमपयं) आश्रमपद-आश्रमरूप स्थान के (व) तुल्य है । (दुहट्टियाणं) दुःख से पीड़ितों के लिए (ओसहिबलं) औषधि के बल के (व) समान है । (अडवीमज्झे) जंगल के बीच में, (सत्थगमणं) संघ या सार्थवाह के साथ गमन करने के (वि) समान है । (एत्तो) इन सबसे (विसिट्ठतरिका) अधिक श्रेष्ठ (जा) जो (अहिंसा) अहिंसा है, (सा) वह (पुढवि-जल-अगणिमारुय-वणस्सइ-बीज- हरित-जलयर-थलचर-खहचर-त्रस-थावरसव्व-भूयखेमकरी। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, बीज, हरितकाय, जलचर, स्थलचर, खेचर, त्रस-स्थावर सभी प्राणियों का क्षेम—कल्याण करने वाली है ।

मूलार्थ—यह वही भगवती अहिंसा है, जो भयातुर जीवों के लिए शरणदाता के समान है ; पक्षियों के लिए आकाश में गमन करने-उड़ने के समान है ; यह प्यास से व्याकुल प्राणियों के लिए जल के समान है ; भूख से पीड़ितों के लिए भोजन के सदृश है ; समुद्र के बीच में डूबते हुए लोगों के लिए जहाज के समान है ; पशुओं के लिए आश्रयस्थान के समान है ; दुःख और पीड़ा से आर्त्त-रोगियों के लिए औषधिबल के समान है । यह भयानक अटवी में सार्थ—संघ के साथ गमन करने के समान है ।

इन सभी से श्रेष्ठ यह अहिंसा है, वह पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, बीज, हरितकाय, जलचर, स्थलचर, खेचर (पक्षी),त्रस और स्थावर इन सभी प्राणियों का क्षेम-कुशल-कल्याण करने वाली है ।

व्याख्या

इस सूत्रपाठ में भगवती अहिंसा को लोकप्रसिद्ध उपमाएँ दे कर उसकी महिमा का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है । वास्तव में अहिंसा जीवन के लिए अमृत है, वह परमब्रह्मरूपा है, सर्वव्यापक है, क्षेममयी, क्षमामयी और मंगलमयी है । अनेकगुण-सम्पन्न भगवती अहिंसा कैसे पूज्या है ? इसके लिए शास्त्रकार स्वयं अनेकों उपमाएँ दे कर समझाते हैं ।

'भीयाण विव सरणं'— मनुष्य जब चारों ओर के प्रहारों से भयभीत हो जाता है, तब घबड़ा कर इधर-उधर कोई शरण ढूढता है । उस समय यदि कोई उसे शरण-आश्रय दे दे तो वह हजारों दुआएँ देता है ; उसे वह शरण अमृतदायी लगता है, वैसे ही अहिंसा भी भयभीत और दुःखों से त्रस्त प्राणियों को शरण—आश्रय देती है ।

'पक्खीणं पिव गमणं'—पक्षियों को उड़ते समय जैसे आकाश का ही आधार होता है। आकाश के बिना कोई भी पक्षी अधर में टिक नहीं सकता। वैसे ही आध्यात्मिक गगन में उड़ने के लिए अहिंसा आधाररूप है। अहिंसा के आधार के बिना कोई भी अध्यात्मसाधक अध्यात्म में टिक नहीं सकता। अथवा जैसे पक्षियों के लिए आकाश में स्वतन्त्रतापूर्वक गमन हितकर है, उन्हें पींजरे आदि की परतंत्रता दुःखदायिनी मालूम होती है; वैसे ही अध्यात्मसाधक के लिए स्वतंत्रतापूर्वक अहिंसा के आध्यात्मिक गगन मे विचरण करना हितकर होता है, वह मोहमाया की परतंत्रता में सुखपूर्वक नही जी सकता।

'तिसियाणं पिव सलिलं'—जैसे प्यास से छटपटाते हुए जीवों को पानी जीवनदान और शान्तिप्रदान करता है; वैसे ही अहिंसा आशातृष्णा की प्यास से व्याकुल जीवों को अपूर्व शान्तिप्रदान करती है।

'खुहियाणं पिव असणं'—जैसे क्षुधा से पीड़ित प्राणियों को भोजन सुख और बल देता है, वैसे ही अहिंसा पीड़ित प्राणियों को सुख और बल प्रदान करती है।

'समुद्दमज्झे व पोतवहणं'—समुद्र के बीच में डूबते हुए मनुष्य को जैसे जहाज उबारने वाला होता है, वैसे ही अहिंसा संसारसमुद्र में डूबते हुए प्राणियों को उबारने वाली है।

'चउप्पयाणं व आसमपयं'—चौपाये जानवरों को जैसे पशुशाला (गोष्ठ) सुरक्षितरूप से आश्रय देती है, वैसे ही अहिंसा भी चारों गतियों के प्राणियों को सुरक्षित स्थान देने वाली है।

'दुहट्टियाणं व ओसहिबलं'—जैसे औषधि भयंकर रोग की पीड़ा से आर्तनाद करने वाले प्राणियों को उनकी पीड़ा मिटा कर स्वास्थ्य और बल प्रदान करती है; वैसे ही अहिंसा द्वेष, वैर आदि भावरोगों से अशान्त जीवों के रोग मिटाकर उन्हें आत्मिक स्वास्थ्य और बल प्रदान करती है।

'अडवीमज्झे वि सत्थगमणं'—भयंकर अटवी में सुरक्षा के साधनों से युक्त सार्थवाहों का सार्थ (संघ) जैसे हिंसक प्राणियों और लुटेरों से जानमाल की रक्षा करता है, वैसे ही भयानक संसार-वन में भटकते हुए प्राणियों की मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद आदि आत्मधन के लुटेरों तथा आत्मगुणों के विध्वंसकों से यह अहिंसा भगवती रक्षा करती है।

'एत्तो विसिट्ठतरिका अहिंसा पुढविजल सव्वभूयखेमकरी'—उपर्युक्त पंक्ति में शास्त्रकार ने अहिंसा की विशेषता बताई है। तीर्थंकरों ने अहिंसा को केवल मनुष्यों और आंखों से दिखाई देने वाले द्वीन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय जीवों तक ही नहीं,

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय के एकेन्द्रिय जीवों तक सर्वप्राणिव्यापी बताया है। यही जैनदर्शन की विशेषता है कि इसमें एकेन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय तक समस्त प्राणियों को न्याय दिया गया है और उनकी सुरक्षा के लिए अहिंसा का उपदेश है। दूसरे दर्शनो और धर्मों में इतनी सूक्ष्मता से अहिंसा का विचार और प्रयोग नहीं किया गया है। यही कारण है कि अहिंसा को केवल स्थूलजीवो के लिए ही क्षेमंकरी न बता कर सर्वभूतक्षेमंकरी बताया है। अहिंसा के लिए दी गई पूर्वोक्त सभी उपमाएँ प्राय: पञ्चेन्द्रिय स्थूलप्राणियो के लिए प्रतीत होती है। इसीलिए यहा कहा गया कि अहिंसा केवल पञ्चेन्द्रिय स्थूलप्राणियो की ही क्षेमकुशल करने वाली नही, अपितु इससे भी विशिष्टतर है; पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, तथा बीज, हरितकाय, जलचर, स्थलचर. खेचर, त्रस (द्वीन्द्रिय से से लेकर पंचेन्द्रिय तक) और स्थावर (पूर्वोक्त एकेन्द्रिय) आदि समस्त प्राणियों का क्षेम करने वाली है।

यद्यपि वनस्पतिकाय के अन्तर्गत बीज और हरितकाय का समावेश हो जाता है, तथापि इन दो शब्दों को अलग से बताने का शास्त्रकार का यही प्रयोजन मालूम होता है कि कई लोग बीज मे जीव नही मानते, इसी प्रकार कई लोग हरे पत्तों, घास आदि हरियाली मे जीव नही मानते, उन्हें इन दोनों की सजीवता का स्पष्ट बोध हो जाय कि इन दोनो में भी जीव हैं। अहिंसापालक को इन दोनों प्रकार के जीवों की अहिंसा का पालन करना आवश्यक है। 'बीज' शब्द से यहां पर केवल गेहूं, चना, ज्वार, बाजरा आदि अनाजों का ही नहीं, अपितु जिनके बोने पर अंकुर उत्पन्न होता है; उन सब (मूल आदि) का ग्रहण किया जाता है। बीज के विषय में निम्नोक्त गाथा प्रस्तुत है—

'मूलग्गपोरबीजा कंदा, तह खंदबीजबीजरुहा।
सम्मुच्छिमा य भणिया, पत्तेयाऽणंतकाया य॥

अर्थात्—जिसका मूल (जड़) ही बीज होता है, उसे मूलबीज कहते हैं। जैसे—हल्दी, अदरक आदि। जो वनस्पति अग्रभाग के बोने से ऊगती है, यानी अग्रभाग ही जिसका बीज है, उसे अग्रबीज कहते हैं। जैसे गुलाब, चमेली आदि। जो वनस्पति पर्व (पौर) बोने से ऊगती है, उसे पर्वबीज कहते हैं। जैसे ईख, बेंत आदि। जो वनस्पति कंद से उत्पन्न होती है, उसे कन्दबीज कहते हैं। जैसे—सूरण, रतालू आदि। जो स्कन्ध काट कर लगाने से ऊगती है, उसे स्कन्धबीज कहते हैं। जैसे ढाक आदि। जो अपने-अपने बीज से ऊगती हैं, उसे बीज-बीज कहते हैं। जैसे गेहूं, चना आदि। जो कुछ बोए बिना मिट्टी और जल आदि के संयोग से ही ऊग जाती हैं, उन्हें सम्मूर्च्छिम वनस्पति कहते हैं। जैसे—घास, दूब आदि।

अतः सूत्रपाठोक्त 'बीज' शब्द से उपर्युक्त गाथा में बताये गये सभी प्रकार के बीजों का ग्रहण किया गया है। फलतः अहिंसा बीज,हरित आदि सभी जीवों का क्षेम करने वाली है।

अहिंसा के आराधक कौन-कौन ?

पिछले सूत्रपाठ में शास्त्रकार ने अहिंसा की विशेषता बता दी। अब वे उसकी महत्ता बता रहे हैं कि अहिंसा का आचरण किन-किन विशिष्टपुरुषों ने किया है और किस-किस रूप में किया है ? तथा अहिंसा के शुद्ध आचरण से उन्हें कौन-कौन-सी लब्धियां, और सिद्धियां प्राप्त होती हैं ? तात्पर्य यह है कि शास्त्रकार अब भगवती अहिंसा की विविध रूप में आराधना करने वालों का वर्णन निम्नोक्त सूत्रपाठ द्वारा कर रहे हैं—

मूलपाठ

एसा भगवती अहिंसा जा सा अपरिमियनाणदंसणधरेहिं सोलगुणविणयतवसंजमनायकेहिं तित्थंकरेहिं सव्वजगजीववच्छलेहिं तिलोगमहिएहिं जिणचंदेहिं सुट्ठु दिट्ठा, ओहिजिणेहिं विण्णाया, उज्जुमतीहिं विदिट्ठा,विपुलमतीहिं विदिता, पुव्वधरेहिं अधीता, वेउव्वीहिं पतिन्ना, आभिणिवोहियनाणीहिं सुयनाणीहिं, ओहिनाणीहिं मणपज्जवनाणीहिं, केवलनाणीहिं, आमोसहिपत्तेहिं, खेलोसहिपत्तेहिं,विप्पोसहिपत्तेहिं, जल्लोसहिपत्तेहिं, सव्वोसहिपत्तेहिं, बीजबुद्धीहिं,कुट्ठबुद्धीहिं, पदाणुसारीहिं, संभिन्नसोतेहिं, सुयधरेहिं, मणबलिएहिं,वयबलिएहिं,कायबलिएहिं,नाणबलिएहिं,दंसणबलिएहिं, चरित्तबलिएहिं,खीरासवेहिं,मधुआसवेहिं, सप्पियासवेहिं, अक्खीणमहाणसिएहिं, चारणेहिं, विज्जाहरेहिं, चउत्थभत्तिएहिं, एवं जाव छम्मासभत्तिएहिं, उखित्तचरएहिं, निखित्तचरएहिं,अंतचरएहिं, पंतचरएहिं, लूहचरएहिं, अन्नइलाएहिं, समुदाणचरएहिं, मोणचरएहिं,संसट्ठकप्पिएहिं, तज्जायसंसट्ठकप्पिएहिं, उवनिहिएहिं, सुद्धेसणिएहिं, संखादत्तिएहिं, दिट्ठलाभिएहिं,अदिट्ठलाभिएहिं, पुट्ठलाभिएहिं, आयंबिलिएहिं, पुरिमड्ढिएहिं, एक्कासणिएहिं,

निव्वितिएहिं, भिन्नपिंडवाइएहिं, परिमियपिंडवाइएहिं, अंताहारेहिं, पंताहारेहिं, अरसाहारेहिं, विरसाहारेहिं, लूहाहारेहिं, तुच्छाहारेहिं, अंतजीविहिं, पंतजीविहिं, लूहजीविहिं, तुच्छजीविहिं, उवसंतजीविहिं, पसंतजीविहिं, विवित्तजीविहिं, अखीरमहुसप्पिएहिं, अमज्जमंसासिएहिं, ठाणाइएहिं, पडिमट्ठाइहिं, ठाणुक्कडिएहिं, वीरासणिएहिं, णेसज्जिएहिं, डंडाइएहिं, लगंडसाईहिं, एगपासगेहिं, आयावएहिं, अप्पावएहि, अणिट्ठुभएहिं, अकंडुयएहिं, धुतकेसमंसुलोमनखेहिं, सव्वगायपडिकम्मविमुक्केहिं समणुचिन्ना, सुयधरविदितत्थकायबुद्धीहिं धीरमतिबुद्धीणो य, जे ते आसीविसउग्गतेयकप्पा, निच्छयववसाय (विणीय) पज्जत्तकयमतीया, णिच्चं सज्झायज्झाणअणुबद्धधम्मज्झाणा, पंचमहव्वयचरित्तजुत्ता, समिता समितिसु, समितपावा, छव्विहजगवच्छला, निच्चमप्पमत्ता, एएहिं अन्नेहि य जा सा अणुपालिया भगवती ।

संस्कृतच्छाया

एषा भगवती अहिंसा या सा अपरिमितज्ञानदर्शनधरैः शीलगुणविनयतपःसंयमनायकैस्तीर्थङ्करैः सर्वजगद्वत्सलैस्त्रिलोकमहितैर्जिनचन्द्रैः सुष्ठु दृष्टा, अवधिजिनैर्विज्ञाता, ऋजुमतिभिर्विदृष्टा, विपुलमतिभिर्विदिता, पूर्वधरैरधीता, विकुर्विभिः प्रतीर्णा, आभिनिबोधिकज्ञानिभिः श्रुतज्ञानिभिः अवधिज्ञानिभिर्मनःपर्ययज्ञानिभिः केवलज्ञानिभिः, आमर्शौषधिप्राप्तैः श्लेष्मौषधिप्राप्तैर्जल्लौषधिप्राप्तैर्विप्रुडौषधिप्राप्तैः, सर्वौषधिप्राप्तैः, बीजबुद्धिभिः कोष्ठबुद्धिभि, पदानुसारिभिः, संभिन्नश्रोतृभिः, श्रुतधरैर्मनोबलिकैर् वचोबलिकैः, कायबलिकैः, ज्ञानबलिकैः, दर्शनबलिकैः, चारित्रबलिकैः क्षीरास्रवैर्मध्वास्रवैः सर्पिरास्रवैरक्षीणमहानसिकैः, चारणैः, विद्याधरैः, चतुर्थभक्तिकैरेवं यावत् षण्मासभक्तिकैः, उत्क्षिप्तचरकैः, निक्षिप्तचरकैः, अन्तचरकैः, प्रान्तचरकैः, रूक्षचरकैः, समुदानचरकैः, अन्नग्लायकैः, मौनचरकैः,

संसृष्टकल्पिकैः, तज्जातसंसृष्टकल्पिकैः, उपनिधिकैः, शुद्धैषणिकैः, संख्यादत्तिकैः, दृष्टलाभिकैः, अदृष्टलाभिकैः, पृष्टलाभिकैराचाम्लकैः, पुरिमार्धिकैः, एकाशनिकैः, निर्विकृतिकैः, भिन्नपिंडपातिकैः, परिमितपिंडपातिकैरन्ताहारैः, प्रान्ताहारैः, अरसाहारैः, विरसाहारैः, रूक्षाहारैस्तुच्छाहारैरन्तजीविभिः, प्रान्तजीविभिः, रूक्षजीविभि-स्तुच्छजीविभिरुपशान्तजीविभिः, प्रशान्तजीविभिः,विविक्तजीविभिः, अक्षीरमधुसर्पिष्कैः,अमद्यमांसाशिकैः,स्थानादिकैः, प्रतिमास्थायिभिः, स्थानोत्कटिकैः, वीरासनिकैः, नैषधिकैः, दण्डायतिकैः, लगण्डशायिकैः, एकपार्श्वकैरातापकैरपावृतैरनिष्ठीवकैरकण्डूयकैः, धूतकेशश्मश्रुलोमनखैः,सर्वगात्रपरिकर्मविमुक्तैः, समनुचीर्णा,श्रुतधरविदितार्थकायबुद्धिभिः धीरमतिबुद्धयश्च ये ते आशीविषोग्रतेजःकल्पा निश्चयव्यवसायपर्याप्तकृतमतिकाः नित्यं स्वाध्यायध्यानानुबद्धधर्मध्यानाः पंचमहाव्रतचारित्रयुक्ताः समिताः समितिषु, शमितपापाः षड्विधजगद्वत्सला नित्यमप्रमत्ता एतैरन्यैश्च या साऽनुपालिता भगवती।

पदार्थान्वय—(एसा) यह (सा) वह (भगवती अहिंसा) भगवती अहिंसा है, (जा) जो (अपरिमियनाणदंसणधरेहिं) अपरिमित-अनन्तज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले (सीलगुणविणय-तवसंजमनायकेहिं) शीलगुण, विनय, तप और संयम के नायक, (सव्वजगवच्छलेहिं) समस्त जगत् के जीवों के प्रति वत्सल, (तिलोयमहिएहिं) तीनों लोकों में पूज्य, (तित्थंकरेहिं) तीर्थंकर, (जिणचंदेहिं) जिनचन्द्रों द्वारा (सुदिट्ठा) भलीभांति देखी गई—अवलोकित है। (ओहिजिणेहिं) विशिष्ट अवधिज्ञानियों द्वारा (विण्णाया) विशेषरूप से ज्ञात-जानी गई है। (उज्जुमतीहिं) ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञानियों द्वारा (विदिट्ठा) विशेषरूप से देख—परख ली गई है। (विपुलमतीहिं) विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानियों से (विदिता) विशेषरूप से जान ली गई है। (पुव्वधरेहिं) चतुर्दशपूर्वधारियों ने (अधीता) इसका अध्ययन कर लिया है। (वेउव्वीहिं) वैक्रियलब्धिधारकों ने (पतिन्ना) इसका आजीवन पालन किया है। (आभिणिबोहियनाणीहिं) मतिज्ञानियों ने, (सुयनाणीहिं) श्रुतज्ञानियों ने, (ओहिनाणीहिं) अवधिज्ञानियों ने,(मणपज्जवनाणीहिं) मनःपर्यायज्ञान वालों ने,(केवलनाणीहिं) केवल ज्ञानियों ने, (आमोसहिपत्तेहिं) हाथ आदि के स्पर्शमात्र से औषधि रूप बन जाने की रोग-निवारक लब्धि प्राप्त करने वालों ने, (खेलोसहिपत्तेहिं) थूक के औषधिरूप बन जाने की लब्धि पाये हुए पुरुषों ने (जल्लोसहिपत्तेहिं) जिनके शरीर का मैल ही औषधि का काम करता है, ऐसी लब्धि पाये हुए पुरुषों ने, (विप्पोसहिपत्तेहिं) विष्ठा और मूत्र के औषधिरूप बन जाने की लब्धि पाने वालों ने,

(सव्वोसहिपत्तेहिं) ऊपर बताई हुई तथा अन्य समस्त औषधिरूप लब्धि पाये हुए महापुरुषों ने,(बीजबुद्धीहिं) बीजरूप मूल अर्थ जान कर समस्त विशेष अर्थ जान लेने की बुद्धि वालों ने, (कुट्ठबुद्धीहिं) एक बार जान लेने से कभी न भूलने वाली बुद्धि वालों ने अथवा हृदय की सूक्ष्म सूझ वाली बुद्धिप्राप्त करने वालों ने, (पदाणुसारीहिं) एक पद से अन्य सैकड़ों पदों को जान लेने की बुद्धिवालों ने,(संभिन्नसोतेहिं) शरीर के प्रत्येक अवयव से चारों तरफ के शब्दों को सुनने की शक्ति वालों ने अथवा शब्द, रस आदि प्रत्येक विषय को एक साथ ग्रहण करने वाली इन्द्रियों की शक्ति रखने वालो ने अथवा एक साथ उच्चारण किये गए अनेक शब्दों को भिन्न-भिन्न रूप से जानने की शक्ति वालों ने, (सुयधरेहिं) श्रुतधरो ने, (मणबलिएहिं) दुर्द्धर्ष कार्यों में अक्षुब्ध—अविचल मन वालों ने, (वयबलिएहिं) छह महीने तक प्रतिवादी को अक्षुब्ध होकर प्रत्युत्तर देने में समर्थ वचन बलधारियों ने, (कायबलिएहिं) भयंकर परिषह आदि आ पड़ने पर भी अडोल रह सकने में समर्थ शरीरबलधारियों ने, (नाणबलिएहिं) मतिज्ञान आदि के बल वालों ने, दंसणबलिएहिं) निःशंकित सुदृढ़ तत्त्वार्थ श्रद्धा रूप दर्शन के बल वालो ने (चरित्तबलिएहिं) दृढ़चारित्रबली पुरुषों ने, (खीरासवेहिं) दूध के समान मधुर भाषण की लब्धि वालों ने, (मधुआसवेहिं) मधु के समान मधुर उच्चारण की लब्धि वालों ने, (सप्पियासवेहिं) घृत के समान स्निग्ध—स्नेहसिक्त वाक्य बोलने की लब्धि वालों ने, (अक्खीणमहाणसिएहिं) जिस लब्धि के प्रभाव से भोजनसामग्री क्षीण न हो—घटे नहीं, इस प्रकार की लब्धि के धारकों ने, (चारणेहिं) आकाश में गमन करने—उड़ने की लब्धि वालों ने,(विज्जाहरेहिं) अंगुष्ठादि से प्रश्नों का उत्तर दे सकने की विद्या प्राप्त करने वाले विद्याधरों ने, (चउत्थभत्तिएहिं एवं जाव छम्मासभत्तिएहिं) एक-एक उपवास से लेकर दो, तीन चार, पांच, आठ, पन्द्रह, मास, दो मास,तीन मास,चार मास, पांच मास और यावत् छह मास तक का तप करने वालों ने,(उक्खित्तचरएहिं) भोजन बनाने के बर्तन से निकाले हुए भोजन को ही लेने के अभिग्रह-धारकों ने, (निक्खित्तचरएहिं) भोजन पात्र से निकाल कर दूसरे पात्र में रखे हुए भोजन को ही ग्रहण करने का अभिग्रह धारण करने वालों ने, अंतचरएहिं) गृहस्थ के भोजन कर लेने के बाद बचे हुए भोजन को ही ग्रहण करने के अभिग्रह वालों ने, (पंतचरएहिं) तुच्छ आहार को ही ग्रहण करने के अभिग्रह वालों ने, (लूहचरएहिं) रूखा-सूखा आहार ही ग्रहण करने का अभिग्रह धारण करने वालों ने, (अन्नइलाएहिं) रूखासूखा, ठंडा, तुच्छ, बचाखुचा जैसा-तैसा आहार प्राप्त हो जाय, उसे ही बिना दीनता (ग्लानि) के ग्रहण करने के अभिग्रह वालों ने अथवा आहार के बिना जिस समय ग्लानि होने लगे—मन उचटने

लगे, उसी आहार ग्रहण करने के अभिग्रहधारकों ने, (मोणचरएहिं) मौन धारण करके भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेने वालों ने अथवा किसी से किसी भी चीज की याचना न करते हुए मौन रह कर विचरण करने वालों ने, (समुदाणचरएहिं) बिना किसी भेदभाव के उच्च, नीच, मध्यम (छोटे या बड़े) सभी घरों से भिक्षाचरी करने वालों ने, (संसट्ठकप्पिएहिं) आटे आदि से लिप्त हाथ या बर्तन से आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा वालों ने, (तज्जायसंसट्ठकप्पिएहिं) जिस प्रकार का भोजनादि देय द्रव्य है, उसी प्रकार के द्रव्य से लिप्त हाथ या बर्तन से आहार लेने की प्रतिज्ञा वालों ने, (उवनिहिएहिं) दाता के पास में जो आहार रखा हुआ है, केवल उसी को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा वालों ने, (सुद्धेसणिएहिं) शंकित आदि भिक्षा के ४२ दोषों से रहित शुद्ध आहारादि को लेने की प्रतिज्ञा वालों ने, (संखादत्तिएहिं) दत्तियों की संख्या निश्चित करके ही आहारादि वस्तु लेने के अभिग्रह वालों ने (दिट्ठलाभिएहिं) सामने दिखाई देने वाले स्थान से लाई हुई या दृष्ट—सामने दिखाई देने वाली वस्तु को ही लेने के अभिग्रह वालों ने, (अदिट्ठलाभिएहिं) जो पहले नहीं देखी गई, ऐसी दी जाने वाली अदृष्ट वस्तु को ही लेने के अभिग्रह वालों ने, (पुट्ठलाभिएहिं) आपको क्या चाहिए ? इस प्रकार पूछे जाने पर ही, अथवा 'महात्मन् ! यह वस्तु साधुओं के लिए कल्पनीय है या नहीं ? इस प्रकार के पूछने पर ही उपलब्ध वस्तु ग्रहण करने के अभिग्रह वालों ने (आयंबिलिएहिं) आजीवन आयंबिल तप धारण करने वालों ने, (पुरिमड्ढिएहिं) उपवासों के सिवाय दिन के दोपहर के बाद ही आहार लेने का यावज्जीव प्रत्याख्यान करने वालों ने, (एक्कासणिएहिं) प्रतिदिन एकासन—एक बार भोजन करने वालों ने, (निव्वितिएहिं) प्रतिदिन घी, दूध, दही, तेल और मिठाई आदि विकृति से रहित आहार यावज्जीवन ग्रहण करने वालों ने, (भिन्नपिंडवाइएहिं) दाता के हाथ से पात्र में डाली गई खंडित या अलग-अलग वस्तु की संख्या निश्चित करके ग्रहण करने वालों ने, (परिमियपिंडवाइएहिं) परिमित मात्रा में आहार लेने की प्रतिज्ञा वालों ने, (अंताहारेहिं) गृहस्थ के भोजन करने के बाद बचे हुए आहार को ग्रहण करने की प्रतिज्ञावालों ने, (पंताहारेहिं) ठंडे, बासी, तुच्छ, बचेखुचे आहार की प्रतिज्ञा धारण करने वालों ने, (अरसाहारेहिं) हींग आदि से असंस्कृत (बिना छौंक का) आहार करने वालों ने, (विरसाहारेहिं) रस-रहित—स्वादरहित पुरानी वस्तु का आहार लेने वालों ने, (लूहाहारेहिं) रूखासूखा आहार करने की प्रतिज्ञा वालों ने, (तुच्छाहारेहिं) साररहित—तुच्छ वस्तु का आहार करने की अथवा अल्प आहार करने की प्रतिज्ञा वालों ने, (अंतजीविहिं) गृहस्थ के

भोजन करने से बचे हुए भोजन से ही सदा निर्वाह करने वालों ने, (पंतजीविहिं) ठंडे बासी भोजन से सदा निर्वाह करने वालों ने, (लूहजीविहिं) जीवनभर रूखे भोजन पर ही जीने वालों ने, (तुच्छजीविहिं) सारहीन या तुच्छ अल्प आहार पर ही जिंदगी बसर करने वालों ने, (उवसंतजीविहिं) आहार प्राप्त हो या न हो, तब भी चारों कषायों की उपशान्तिपूर्वक जीवन बिताने वालों ने, (पसंतजीविहिं), अन्तर्मन में भी क्रोधादि न करके हर हाल में शान्त जीवन बिताने वालों ने, (विवित्तजीविहिं) दोषरहित आहार आदि से जीवन यात्रा चलाने वालों ने, (अखीरमधुसप्पिएहिं) दूध, मधु और घी का यावज्जीवन त्याग करने वालों ने, (अमज्जमंसासिएहिं) किसी भी हालत में मद्य और मांस से रहित आहार करने वालों ने, (ठाणाइएहिं) कायोत्सर्ग में एक स्थान पर स्थित रहने के अभिग्रह वालों ने, अथवा एक ही बार में एक ही स्थान पर बैठ कर भोजन और पानी ग्रहण करने वालों ने अथवा अमुक स्थान पर ही स्थित रहने या बैठे रहने का अभिग्रह-विशेष धारण करने वालों ने,(पडिमट्ठाइहिं) एक मास आदि की भिक्षु-प्रतिमा धारण करके स्थिर रहने वालोंने, (ठाणुक्कडिएहिं) उत्कटिका (उत्कटुक-उकडू) आसन धारण करने वालों ने,(वीरासणिएहिं) वीरासन धारण करने वालों ने, (णेसज्जिएहिं) निषद्या-आसन लगाने वालों ने, (डंडाइएहिं) दंड की तरह लंबे पड़ कर आसन दण्डासन लगाने वालों ने, (लगंडसाईहिं) सिर तथा पैर की एडी जमीन पर टिका कर एवं शेष भाग को ऊपर उठा कर टेढ़े मेढ़े लक्कड़ की तरह शयन करने वालों ने, (एगपासगेहिं एक ही पार्श्व (बगल) से शयन करने वालों ने, (आयावएहिं) धूप में आतापना लेने वालों ने, (अप्पावएहिं) वस्त्र ओढ़े बिना खुले बदन रहने वालों ने, (अणिट्ठुभएहिं) थूक, कफ आदि को भूमि पर नहीं डालने वालों ने, (अकंडुएहिं) खाज नहीं खुजलाने वालों ने, (धुतकेसमंसुलोमनखेहिं) सिर के बाल, दाढ़ी-मूंछ के बाल और नखों का संस्कार करने का त्याग करने वालों ने, (सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्केहिं) शरीर के तैलमर्दन, प्रक्षालन आदि सभी संस्कार का त्याग करने वालों ने, (सुयधरविदितत्थकायबुद्धीहिं) शास्त्रों के ज्ञाताओं द्वारा तत्त्वार्थों को अवगत करने वाली बुद्धि के धारक महात्माओं ने, इस अहिंसा का (समणुचिन्ना) सम्यक् प्रकार से आचरण किया है। (य) और (जे) जो (धीरमतिबुद्धिणो) धीर-स्थिर—क्षोभरहित अवग्रहादि मतिज्ञान एवं औत्पातिकी आदि बुद्धि से सम्पन्न हैं, (ते) उन्होंने, तथा (आसीविसउग्गतेयकप्पा) दाढ़ में जहर वाले सांप के समान अपनी तपस्या से उग्रविषतुल्य तेज वाले ऋषियों ने, (निच्छय-ववसायपज्जत्तकयमतीया) वस्तुतत्त्व के निश्चय और पुरुषार्थ

लगे, तभी आहार ग्रहण करने के अभिग्रहधारकों ने, (मोणचरएहिं) मौन धारण करके भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेने वालों ने अथवा किसी से किसी भी चीज की याचना न करते हुए मौन रह कर विचरण करने वालों ने, (समुदाणचरएहिं) बिना किसी भेदभाव के उच्च, नीच, मध्यम (छोटे या बड़े) सभी घरों से भिक्षाचरी करने वालों ने, (संसट्ठकप्पिएहिं) आटे आदि से लिप्त हाथ या बर्तन से आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा वालों ने, (तज्जायसंसट्टकप्पिएहिं) जिस प्रकार का भोजनादि देय द्रव्य है, उसी प्रकार के द्रव्य से लिप्त हाथ या बर्तन से आहार लेने की प्रतिज्ञा वालों ने, (उवनिहिएहिं) दाता के पास में जो आहार रखा हुआ है, केवल उसी को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा वालों ने, (सुद्धेसणिएहिं) शंकित आदि भिक्षा के ४२ दोषों से रहित शुद्ध आहारादि को लेने की प्रतिज्ञा वालों ने, (संखादत्तिएहिं) दत्तियों की संख्या निश्चित करके ही आहारादि वस्तु लेने के अभिग्रह वालों ने (दिट्ठलाभिएहिं) सामने दिखाई देने वाले स्थान से लाई हुई या दृष्ट—सामने दिखाई देने वाली वस्तु को ही लेने के अभिग्रह वालों ने, (अदिट्ठलाभिएहिं) जो पहले नहीं देखी गई, ऐसी दी जाने वाली अदृष्ट वस्तु को ही लेने के अभिग्रह वालों ने, (पुट्ठलाभिएहिं) आपको क्या चाहिए ? इस प्रकार पूछे जाने पर ही, अथवा 'महात्मन् ! यह वस्तु साधुओं के लिए कल्पनीय है या नहीं ? इस प्रकार के पूछने पर ही उपलब्ध वस्तु ग्रहण करने के अभिग्रह वालों ने (आयंबिलिएहिं) आजीवन आयंबिल तप धारण करने वालों ने, (पुरिमड्ढिएहिं) उपवासों के सिवाय दिन के दोपहर के बाद ही आहार लेने का यावज्जीव प्रत्याख्यान करने वालों ने, (एक्कासणिएहिं) प्रतिदिन एकाशन—एक बार भोजन करने वालों ने, (निव्वितिएहिं) प्रतिदिन घी, दूध, दही, तेल और मिठाई आदि विकृति से रहित आहार यावज्जीवन ग्रहण करने वालों ने, (भिन्नपिंडवाइएहिं) दाता के हाथ से पात्र में डाली गई खंडित या अलग-अलग वस्तु की संख्या निश्चित करके ग्रहण करने वालों ने, (परिमियपिंडवाइएहिं) परिमित मात्रा में आहार लेने की प्रतिज्ञा वालों ने, (अंताहारेहिं) गृहस्थ के भोजन करने के बाद बचे हुए आहार को ग्रहण करने की प्रतिज्ञावालों ने, (पंताहारेहिं) ठंडे, बासी, तुच्छ, बचेखुचे आहार की प्रतिज्ञा धारण करने वालों ने, (अरसाहारेहिं) हींग आदि से असंस्कृत (बिना छौंक का) आहार करने वालों ने, (विरसाहारेहिं) रसरहित—स्वादरहित पुरानी वस्तु का आहार लेने वालों ने, (लूहाहारेहिं) रूखासूखा आहार करने की प्रतिज्ञा वालों ने, (तुच्छाहारेहिं) सारहीन—तुच्छ वस्तु का आहार करने की अथवा अल्प आहार करने की प्रतिज्ञा वालों ने, (अंतजीविहिं) गृहस्थ के

भोजन करने से बचे हुए भोजन से ही सदा निर्वाह करने वालों ने, (पंतजीविहिं) ठंडे बासी भोजन से सदा निर्वाह करने वालों ने, (लूहजीविहिं) जीवनभर रूखे भोजन पर ही जीने वालों ने, (तुच्छजीविहिं) सारहीन या तुच्छ अल्प आहार पर ही जिंदगी बसर करने वालो ने, (उवसंतजीविहिं) आहार प्राप्त हो या न हो, तब भी चारों कषायों की उपशान्तिपूर्वक जीवन बिताने वालों ने, (पसंतजीविहिं), अन्तर्मन में भी क्रोधादि न करके हर हाल में शान्त जीवन बिताने वालों ने, विवित्तजीविहिं) दोषरहित आहार आदि से जीवन यात्रा चलाने वालों ने, (अखीरमधुसप्पिएहिं) दूध, मधु और घी का यावज्जीवन त्याग करने वालों ने, (अमज्जमंसासिएहिं) किसी भी हालत में मद्य और मांस से रहित आहार करने वालो ने, (ठाणाइएहिं) कायोत्सर्ग में एक स्थान पर स्थित रहने के अभिग्रह वालों ने, अथवा एक ही बार में एक ही स्थान पर बैठ कर भोजन और पानी ग्रहण करने वालों ने अथवा अमुक स्थान पर ही स्थित रहने या बैठे रहने का अभिग्रह-विशेष धारण करने वालों ने,(पडिमट्ठाइहिं) एक मास आदि की भिक्षु-प्रतिमा धारण करके स्थिर रहने वालोंने, (ठाणुक्कडिएहिं) उत्कटिका (उत्कटुक-उकडू) आसन धारण करने वालों ने,(वीरासणिएहिं) वीरासन धारण करने वालों ने, (णेसज्जिएहिं) निषद्या-आसन लगाने वालों ने, (डंडाइएहिं) दंड की तरह लंबे पड़ कर आसन दण्डासन लगाने वालों ने, (लगंडसाइहिं) सिर तथा पैर की एडी जमीन पर टिका कर एवं शेष भाग को ऊपर उठा कर टेढ़ेमेढ़े लक्कड़ की तरह शयन करने वालों ने, (एगपासगेहिं एक ही पार्श्व (बगल) से शयन करने वालो ने, (आयावएहिं) धूप में आतापना लेने वालों ने, (अप्पावएहिं) वस्त्र ओढ़े बिना खुले बदन रहने वालों ने, (अणिट्ठुभएहिं) थूक, कफ आदि को भूमि पर नहीं डालने वालो ने, (अकंडुएहिं) खाज नहीं खुजलाने वालों ने, (धुतकेसमंसुलोमनखेहिं) सिर के बाल, दाढ़ी-मूंछ के बाल और नखों का संस्कार करने का त्याग करने वालों ने, (सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्केहिं) शरीर के तैलमर्दन, प्रक्षालन आदि सभी संस्कार का त्याग करने वालों ने, (सुयधरविदितत्थकायबुद्धीहिं) शास्त्रों के ज्ञाताओं द्वारा तत्त्वार्थों को अवगत करने वाली बुद्धि के धारक महात्माओं ने, इस अहिंसा का (समणुचिन्ना) सम्यक् प्रकार से आचरण किया है। (य) और (जे) जो (धीरमतिबुद्धिणो) धीर-स्थिर—क्षोभरहित अवग्रहादि मतिज्ञान एवं औत्पातिकी आदि बुद्धि से सम्पन्न हैं, (ते) उन्होंने, तथा (आसीविसउग्गतेयकप्पा) दाढ़ में जहर वाले सांप के समान अपनी तपस्या से उग्रविषतुल्य तेज वाले ऋषियों ने, (निच्छय-ववसायपज्जत्तकयमतीया) वस्तुतत्त्व के निश्चय और पुरुषार्थ

दोनों में जिनकी बुद्धि परिपूर्ण कार्य करती है, उन्होंने, (निच्चं सज्झाय-ज्झाण-अणुबद्ध धम्मज्झाणा) नित्य स्वाध्याय और चित्तनिरोधरूप—ध्यान करने वालों तथा धर्मध्यान में निरन्तर चित्त को अनुबद्ध—जोड़े रखने वालों ने, (पंचमहव्वयचरित्तजुत्ता) पांच-महाव्रतरूप चारित्र से युक्त, (समितिसु समिता) पांच समितियों में सम्यक् प्रवृत्ति करने वालों ने, (समितपावा) पापों का शमन करने वालों ने (छव्विहजगवच्छला) षड्जीवनिकायरूप विश्व के प्राणिमात्र के वत्सल, (निच्चं अप्पमत्ता) सदा अप्रमत्त—प्रमादरहित, इन पूर्वोक्त गुणयुक्त पुरुषों (य) तथा (अन्नेहिं) दूसरे गुणवान व्यक्तियों ने (जा सा भगवती) इस पूर्वोक्त भगवती अहिंसा का (अणुपालिया) सतत पालन किया है।

मूलार्थ—यह वह भगवती अहिंसा है; जिसे असीम (अनन्त) ज्ञान और दर्शन के धारक; शील गुण, विनय, तप और संयम के नायक-मार्ग दर्शक, सारे विश्व के प्राणियों के प्रति वत्सल, तीनों लोकों में पूज्य जिनचन्द्र तीर्थंकरों ने (अनन्त ज्ञान दर्शन द्वारा) भलीभांति देखा है। विशिष्ट अवधिज्ञानियों ने इसे विशेष रूप से जाना है; ऋजुमति-मनःपर्यायज्ञानियों ने इसे विशेष रूप से देख-परख लिया है; विपुलमतिमनः पर्यायज्ञानियों ने इसे विशेष रूप से जान लिया है। चतुर्दशपूर्वधारियों ने इसका अध्ययन कर लिया है; वैक्रियलब्धि धारकों ने इसका आजीवन पालन किया है। इसी प्रकार मतिज्ञानियों, श्रुतज्ञानियों, अवधिज्ञानियों, मनःपर्यायज्ञानियों और केवलज्ञानियों ने इसकी आराधना की है। विशिष्ट तप के द्वारा हाथ आदि से छूलेने मात्र से औषधि रूप बन जाने की आमर्शौषधिलब्धि पाये हुए ऋषियों ने, थूक के औषधिरूप बन जाने की श्लेष्मौषधि लब्धि पाये हुए मुनियों ने, जिनके शरीर का पसीना, मैल आदि ही औषधि रूप हो गया है, ऐसी जल्लौषधि-लब्धिधारियों ने, जिनका मलमूत्र ही औषध रूप बन गया है, ऐसी विप्रुडौषधि नामक लब्धिप्राप्त मुनियों ने, शरीर के समस्त अवयव ही जिनके औषधिरूप बने गए हैं; ऐसी सर्वौषधि-लब्धि पाये हुए महापुरुषों ने इसकी साधना की है। मूल अर्थ को जान कर सारा का सारा विशेष अर्थ जान लेने वाली बीजबुद्धिरूप लब्धि के धारकों ने, एक बार जान लेने पर सदा याद रखने वाली कोष्ठबुद्धि नामक लब्धि से युक्त मुनियों ने, एक पद से सैकड़ों पदों को जान लेने वाली पदानुसारिणीलब्धि सम्पन्न पुरुषों ने, शरीर के प्रत्येक अवयव से चारों तरफ के शब्दों को सुनने की शक्ति अथवा शब्द, रस आदि विषयों को एक साथ ग्रहण करने की इन्द्रियों की शक्ति, या एक साथ उच्चारण किये हुए अनेक प्रकार के शब्दों को भिन्न-भिन्न रूप से जानने की शक्ति वाली संभिन्न-श्रोत लब्धि से युक्त पुरुषों

ने इसका पालन किया है। श्रुतज्ञान के धारकों ने, मनोबलियों ने, वचनबलियों ने, कायबल से युक्त पुरुषों ने, ज्ञानबलियो ने,दर्शनबलसम्पन्न पुरुषों ने, दृढ़चारित्रबल से युक्त पुरुषों ने, इसका भलीभांति आचरण किया है। दूध के समान मधुर वचनवर्षा करने वाली क्षीरस्रावी लब्धि के धारकों ने, मधु के समान मधुर वचनशक्तिरूप मधुस्रावी लब्धि से युक्त पुरुषों ने, घृत के समान स्निग्ध वाक्य बोलने वाली सर्पिस्रावी लब्धि पाये हुए मुनियों ने, जिस लब्धि के प्रभाव से भोजन की सामग्री कम न हो, ऐसी 'अक्षीणमहानस' नामक लब्धि के धनी मुनियों ने, इसका सम्यक् अनुष्ठान किया है। आकाश में गमन करने की विद्याचरण लब्धि के धारक चारण मुनियों ने, अथवा जघाचरणलब्धि वाले मुनियों ने हर तरह के प्रश्नों का उत्तर दे सकने की अंगुष्ठादि विद्या सिद्ध किये हुए विद्याधर मुनियों ने, एक उपवास से लेकर ६ महीने तक की तपस्या करने वाले तपस्वियों ने इसकी साधना की है। भोजन बनाने के बर्तन से निकाले हुए भोजन को ही ग्रहण करने के नियम वालों ने, भोजन पकाने के पात्र से दूसरे पात्रमें निकाल कर रखे हुए भोजन को ही ग्रहण करने के अभिग्रह वालों ने, गृहस्थ के भोजन कर लेने के बाद शेष रहे भोजन को ही लेने के अभिग्रह वालों ने, बचे हुए तुच्छ आहार को ही लेने की प्रतिज्ञा वालों ने, रूखा-सूखा आहार ही ग्रहण करने के संकल्प-धारियों ने, रूखा-सूखा, ठंडा, बासी, बचाखुचा जैसा भी आहार मिल जाय उसे अग्लान—दीनतारहित भाव से ग्रहण करने के अभिग्रह वालों ने, अथवा जब आहार किये बिना ग्लानि होने लगे, तभी आहार लेने के अभिग्रहधारियों ने, मौन धारण करके भिक्षा लेने के संकल्प कर्ताओं ने, बिना किसी भेद भाव से उच्च, नीच, मध्यम सभी घरों से भिक्षा ग्रहण करने की चर्या वालों ने, आटे आदि से लिप्त हाथ या बर्तन से ही आहार लेने की प्रतिज्ञा वालों ने, जो भोजनादि देय द्रव्य है, उसी से हाथ या पात्र भरे हों तो आहार लेने के नियम वालों ने, दाता के निकटवर्ती आहारादि को ही ग्रहण करने के अभिग्रह वालों ने, शंका आदि भिक्षा के ४२ दोषों से रहित आहार आदि को ही लेने की प्रतिज्ञा वालों ने,आहारादि वस्तुओं की दत्ति की संख्या निश्चित करके आहार लेने वालों ने, अपने पास के दृश्यमान स्थान से लाई हुई वस्तु को ही ग्रहण करने के संकल्प वालों ने, पहले न देखी हुई—अदृष्ट वस्तु को ही लेने की प्रतिज्ञा वालों ने, 'हे स्वामिन् ! अमुक पदार्थ आपके लिए कल्पनीय - ग्राह्य है ?' इस प्रकार पूछ कर आहारादि देने वाले से ही आहारादि लेने के नियम वालों ने, सदा आयंबिल तप करने वालों ने,

प्रतिदिन सूर्योदय से दोपहर तक आहार लेने का त्याग करने वालों ने, प्रतिदिन एकाशन करने वालो ने, घी दूध वगैरह विकृतिजनक (विग्गइ) पदार्थों के त्याग करने वालों ने, खण्डित हुए मोदक आदि को ही ग्रहण करने की प्रतिज्ञा वालों ने, परिमित भोजन ही ग्रहण करने की प्रतिज्ञा वालों ने गृहस्थ के खाने के बाद बचे हुए भोजन को ही सेवन करने के नियम वालों ने, तुच्छ, बासी व ठंडा भोजन ही सेवन करने के नियम वालों ने, हींग आदि से छौंका हुआ न हो, ऐसे असंस्कृत भोजन का ही सेवन करने वालों ने, रसहीन बासी आहार को ही लेने के नियम वालों ने, रूखा-सूखा आहार ही कर लेने की प्रतिज्ञा वालों ने, सारहीन या अत्यल्प आहार करने की ही प्रतिज्ञा वालों ने, गृहस्थ के भोजन से बचे हुए भोजन पर ही जीवनभर निर्वाहकर लेने के अभिग्रह वालों ने, बासी भोजन से ही सदा जीवन बसर कर लेने वालों ने, रूखे आहार पर ही सारा जीवन गुजार देने वालों ने, सारहीन या तुच्छ स्वल्प आहार में ही आजीवन संतुष्ट रहने के नियम वालों ने, आहार मिले या न मिले हर स्थिति में क्रोधादि कषायों से दूर रह कर शान्तभाव से जीने वालों ने,हर हाल में अन्तर से भी शान्त रहकर जीवन बसर करने वालों ने, निर्दोष (४२ दोषरहित) आहार आदि से ही जीवननिर्वाह करने वालों ने, दूध, शहद या मीठा और घृत आदि का आजीवन त्याग करने वालों ने,किसी भी हालत में मद्य, और मांस का सेवन न करने वालों ने, इसका भलीभांति आचरण किया है। कायोत्सर्ग में एक स्थान पर स्थित रहने के अभिग्रह वालों ने, एक मास आदि की भिक्षुप्रतिमा धारण करके स्थिर रहने वालों ने, एक स्थान पर उत्कटिकासन धारण करके रहने वालों ने, वीरासन धारण करने वालों ने, निषद्यासन लगाने वालों ने, दण्डासन लगाने वालों ने, टेढ़े लक्कड़ की तरह सिर और पैर की ऐड़ी जमीन पर टिका कर शेष भाग ऊपर उठाए रख कर शयन करने वालों ने, धूप में आतापना लेने वालों ने, वस्त्र न ओढ़ कर शरीर को खुला रखने वालों ने, थूक एवं कफ आदि को भूमि पर नहीं गिराने वालों ने, खाज न खुजलाने वालों ने, सिर तथा दाढ़ी-मूंछ के बाल, रोम और नखों के संस्कार के प्रति उपेक्षाभाव रखने वालों ने, शरीर पर तेल की मालिश, प्रक्षालन आदि सभी प्रकार के संस्कारों से विरक्त महापुरुषों ने, शास्त्रज्ञ पुरुषों के द्वारा विस्तृत तत्त्वज्ञान को जानने वाली शुद्ध बुद्धि के धनी पुरुषों ने इसका समीचीनरूप से पालन किया है। इसके अतिरिक्त जो

क्षोभरहित, स्थिर, अवग्रहादि मतिज्ञान तथा औत्पातिकी आदि बुद्धियों से युक्त एवं दाढ़ में विष वाले सर्प के उग्र विष के समान अपने तप से उग्र तेज वाले ऋषियों ने, वस्तुतत्त्व के निश्चय और पुरुषार्थ दोनों में जिनकी बुद्धि पूरा काम करती है,उन्होंने एवं नित्य स्वाध्याय तथा चित्तनिरोधरूप ध्यान में रत एवं धर्मध्यान में निरन्तर चित्त को अनुबद्ध—संलग्न रखने वालों ने, पांच महाव्रतरूप चारित्र से युक्त तथा पांच समितियों में सम्यक् प्रवृत्ति करने वालों ने, पापों को शान्त करने वालों ने,छहकाया रूप सारे जगत् के वत्सल एवं सदा प्रमादरहित इन पूर्वोक्त गुणयुक्त पुरुषों ने तथा दूसरे गुणों से भी युक्त महात्माओं ने इस पूर्वोक्त भगवती अहिंसा का सतत पालन किया है ।

व्याख्या

प्रस्तुत सूत्रपाठ में अहिंसा की सुदृढ़रूप से आराधना करने वाले पुरुषों का—खासतौर से मुनियों का निरूपण किया गया है । साथ ही यह भी ध्वनित किया है कि अहिंसा के विशिष्ट आचरण करने वाले इन महान् आत्माओं के द्वारा किस-किस रूप में आचरण करने से उन्हें क्या-क्या विशिष्ट लब्धियां प्राप्त हुई हैं ? वैसे तो मूलार्थ और पदार्थान्वय में इन सभी पदों का अर्थ स्पष्ट किया है ; तथापि कुछ स्थलों पर इनका विशेष रहस्य प्रगट करना और विश्लेषण करना आवश्यक समझ कर नीचे उन पर विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं—

एसा भगवती अहिंसा अपरिमियनाणदंसणधरेहिं '' सुट्ठु दिट्ठा—इस पंक्ति का आशय यह है कि अनन्त (केवल) ज्ञान और अनन्त (केवल) दर्शन के धनी; शीलगुण, विनय,तप और संयम पर पूर्ण आधिपत्य रखने वाले, मार्गदर्शक,विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति वात्सल्यमूर्ति, त्रिलोकपूज्य,जिनचन्द्र तीर्थंकरों ने इस भगवती अहिंसा के स्वरूप और कार्य—प्रयोग को अपने केवलज्ञान और केवलदर्शन से भलीभांति देखा और जाना है। जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, उन्होंने राग और द्वेष का निवारण किया है, क्रोधादि चारों कषायों एवं काम, मोह, ममत्व आदि से रहित हुए हैं, विश्व के सभी प्राणियों के एकान्तहितकर्ता—वत्सल बने हैं, शील, विनय, तप और संयम की आराधना की है। अहिंसा की साधना करने से ही उनकी ये सब साधनाएँ सफल हुई हैं । अहिंसा की पूर्ण साधना के लिए इन सबकी साधना उन्हें अनिवार्य रूप से करनी पड़ी है । क्योंकि राग, द्वेष, कषाय, असंयम, काम, मोह, ममत्व आदि को छोड़े बिना अहिंसा की सम्यक्रूप से साधना नहीं हो सकती और अहिंसा की साधना हुए बिना उन्हें अनन्तज्ञान-दर्शन, तीर्थंकरत्व

एवं वीतरागत्व प्राप्त नहीं हो सकते। तात्पर्य यह है कि तीर्थंकरों ने स्वयं अहिंसा भगवती के प्रत्येक अंगोपांगों का सूक्ष्मतया विश्लेपण करके मन-वचन-काया से उसकी आराधना की है और अन्य अनेक भव्य जीवों को अहिंसा की आराधना करने के लिए प्रेरित किया है; अपने जीवनकाल में भी उन्होंने अहिंसा और उसके पालन करने वालों की अनुमोदना की है। इसी अहिंसा की पूर्ण आराधना करने के फल-स्वरूप उन्होंने केवलज्ञान, केवलदर्शन, जिनत्व और तीर्थंकरत्व प्राप्त किया है, तथा त्रिलोकपूज्य, विश्ववत्सल और शीलगुण—विनय—तप एवं संयम आदि के नायक—मार्गदर्शक बने हैं। अहिंसा की सम्यक् आराधना के द्वारा कितनी बड़ी उपलब्धि होती है यह !

ओहिजिणेहिं विण्णाया—इसका तात्पर्य यह है कि अवधिज्ञान भी एक ऐसा ज्ञान है जो इन्द्रियों की सहायता के बिना केवल आत्मा द्वारा ही होता है, और वह होता है—अमुक-अमुक अवधि अर्थात् सीमा तक ही। इसलिए अवधिज्ञान के मुख्यतया तीन भेद बताए हैं—देशावधि, सर्वावधि और परमावधि। जघन्य देशावधि देवों और नारकों को तो जन्म से (भवप्रत्यय) होता है, जबकि उत्कृष्ट देशावधि, सर्वावधि तथा परमावधिज्ञान मनुष्यों को अहिंसा आदि की विशिष्ट साधना से प्राप्त होता है। छद्मस्थ तीर्थङ्करों को परमावधिज्ञान होता है। अहिंसा की सम्यक् आराधना भी उक्त ज्ञान का एक कारण है। जब वे अहिंसा के स्वरूप और कार्यों को ज्ञपरिज्ञा से जान लेते हैं और प्रत्याख्यान परिज्ञा से हिंसा का सर्वथा त्याग करके अहिंसा का आचरण करते हैं, तभी उन्हें उस अहिंसा की आराधना के फलस्वरूप विशिष्ट अवधिज्ञान प्राप्त होता है, जिसके प्रकाश में वे अहिंसा का प्रयोगसहित ज्ञान करते हैं। इसी दृष्टि से विशिष्ट अवधिज्ञानियों ने इस अहिंसा को विशेषरूप से—प्रयोगसहित जान लिया है।

उज्जुमतीहिं विदिट्ठा, विपुलमतीहिं विदिता—ऋजुमति और विपुलमति ये दोनों मनःपर्यायज्ञान के भेद हैं। मनःपर्यायज्ञान द्वारा भी इन्द्रियों की सहायता के बिना मन के भावों को जाना और देखा जा सकता है। परन्तु मनःपर्यायज्ञान की प्राप्ति उत्कृष्ट संयमी या चतुर्दशपूर्वधारक महामुनियों को ही होती है। और इस संयम की साधना में अहिंसा की साधना सर्वप्रथम आती ही है। क्योंकि एक तरह से देखा जाय तो संयम, तप, विनय, सत्य आदि तो अहिंसा की ही पूर्ति के लिए हैं। फलितार्थ यह हुआ कि ऋजुमति और विपुलमति इन दोनों प्रकार के मनःपर्यायज्ञानियों को अहिंसा की उत्कृष्ट साधना के फलस्वरूप ही ये दोनों ज्ञान उपलब्ध होते हैं। इन दोनों कोटि के ज्ञानियों ने अहिंसा को स्वरूपतः और कार्यतः दोनों प्रकार से देखा-परखा है, इसका जीवन में प्रयोग किया है और इसे भलीभांति जाना है। तभी अहिंसा भगवती की कृपा से उन्हें इन विशिष्ट ज्ञानों की उपलब्धि हुई है।

पुव्वधरेहिं अधीता—उत्पाद नामक प्रथम पूर्व (श्रुतज्ञान) से ले कर चौदहवें पूर्व तक के अध्ययन से श्रुतज्ञान की पूर्ण उपलब्धि होती है। उत्पाद, अग्रायणीय आदि १४ पूर्वों के अध्ययन करने वाले का अधिकार महाव्रती मुनि के सिवाय किसी को नही है। अत: फलित हुआ कि अहिंसा महाव्रत की उत्कृष्ट और पूर्ण साधना करने के लिए पूर्वों के अध्येता महामुनि पूर्वश्रुतो मे यत्रतत्र वर्णित अहिंसा के स्वरूप और कार्य का यथातथ्य ज्ञान प्राप्त कर लेते है। तभी वे अहिंसा की साधना यथार्थरूप से कर सकते हैं।

वेउव्वीहिं पतिन्ना आभिणिबोहियनाणीहि""""चारणेहिं विज्जाहरेहिं—उपर्युक्त सूत्रपाठ मे वैक्रियलब्धि से लेकर विद्यालब्धि तक के धारको द्वारा अहिंसा का आजन्म पालन करने का उल्लेख है। इसका आशय यह है कि इन विभिन्न लब्धि-धारियों के द्वारा अहिंसा की यथार्थ साधना तभी फलित होती है, जब वे स्वरूपत: और कार्यत: अहिंसा का मन-वचन-काय से शुद्ध आचरण करते हैं। और तभी वे अहिंसा की उस साधना के फलस्वरूप उक्त लब्धियां—शक्तियां, ऋद्धियां या सिद्धियां प्राप्त करते हैं।

विभिन्न लब्धियों का संक्षिप्त स्वरूप—प्रसगवश अहिंसा की उत्कृष्ट साधना से प्राप्त लब्धियो के वर्णन के लिए पूर्वाचार्यप्रणीत गाथाएँ प्रस्तुत करते हैं—

सम्माणु - सव्वविरई - मल-विप्पाऽमोस-खेल-सव्वोसही ।
विउव्वी- आसीविस - ओही - रिउ - विउल- केवलयं ॥१॥
संभिन्न-चक्की-जिण-हरि-बल-चारण-पुव्व-गणहर-पुलाए ।
आहारग-महुघयखीरआसवो कुट्ठबुद्धी य ॥२॥
बीयमई - पयाणुसारी - अक्खीणग - तेय - सीयलेसाइ ।
इय सयल लद्धिसंखा भवियमणुयाणमिह सव्वा ॥३॥

अर्थात्—१ सम्यक्त्वलब्धि, २ अणुव्रतलब्धि, ३ सर्वविरतिलब्धि, ४ मललब्धि, ५ विप्रुपलब्धि, ६ आमर्शलब्धि, ७ खेललब्धि, ८ सर्वौषधिलब्धि, ९ वैक्रियलब्धि, १० आशीविष लब्धि, ११ अवधिलब्धि, १२ ऋजुमतिलब्धि, १३ विपुलमतिलब्धि, १४ केवललब्धि, १५ संभिन्नश्रोतोलब्धि, १६ चक्रवर्तित्वलब्धि, १७ अर्हत्त्वलब्धि, १८ वसुदेवत्वलब्धि, १९ बलदेवत्वलब्धि, २० चारणलब्धि, २१ पूर्वलब्धि, २२ गणधरलब्धि, २३ पुलाकलब्धि, २४ आहारकलब्धि, २५ मधुघृतक्षीरास्रवा लब्धि, २६ कोष्ठबुद्धिलब्धि, २७ बीजबुद्धिलब्धि, २८ पदानुसारीलब्धि, २९ अक्षीणकलब्धि, ३० तेजोलेश्यालब्धि, ३१ शीतलेश्यालब्धि, इस प्रकार समस्त लब्धियों की सख्या है। ये सब लब्धियां इस संसार में भव्य मनुष्यों को प्राप्त होती हैं।

तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा होना सम्यक्त्व है, जो क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक तीन प्रकार का है। इस प्रकार के सम्यक्त्व की प्राप्ति होना सम्यक्त्वलब्धि

है। जीव जब ग्रन्थिभेद करके सम्यक्त्व पा लेता है, तदनन्तर श्रावक के १ हिंसा विरमण आदि पांच अणुव्रतों की प्राप्ति होना अणुव्रतलब्धि कह है। पंचाश्रवविरमण, पंचेन्द्रियनिग्रह, कषायजय और तीन दण्डों से वि इस प्रकार १७ प्रकार के संयम की लब्धि सर्वविरतिलब्धि कहलाती है। मुंह, नाक, आंख और जीभ आदि शरीर के अवयवों से पैदा होने मल जिसके प्रभाव से सुगन्धित होकर औषधिरूप बन जाता है, उसे मलौषधि कहते हैं। मूत्र और विष्ठा जिसके प्रभाव से औषधिरूप बन कर रोगोपशमन करने समर्थ हो जाते हैं, उसे विप्रुषलब्धि कहते हैं। जिस लब्धि के प्रभाव से साधु के आदि के द्वारा किसी रोगी को छूने मात्र से ही रोग मिट जाते है,उसे आमर्षौषधि कहते है। जिस लब्धि को प्राप्त हुए पुरुष द्वारा अपने या दूसरे के रोग को मि की बुद्धि से कफ के लगाने मात्र से रोग मिट जाता है, उसे खेलौषधिलब्धि क हैं। जिसके शरीर के सभी अवयव या अवयवों के विकार औषधिरूप बन व्याधिनिवारण में समर्थ होते हैं, अथवा आमर्ष-औषधि आदि सभी औषधिलब्धि जिस एक ही साधु को प्राप्त हुई हों, उसे सर्वौषधिलब्धि कहते हैं। ऐसे योगिराज नख, केश, दांत तथा कान, आंख आदि का मैल, या शरीर का स्पर्श ही अमृत तरह सभी रोगों को मिटा देता है। उसके अंग से स्पर्श किया हुआ पानी भी स रोगों को शान्त कर देता है, उसके अंग से स्पृष्ट वायु के स्पर्श से विषमूर्च्छित व्य निर्विष हो जाते हैं, विषमिश्रित भोजन भी उसके मुख में प्रविष्ट होते ही निर्विष जाता है, उसके मुंह से निकले हुए वचन सुनने मात्र से जीव विकाररहित हो ज है। इतनी शक्ति सर्वौषधिलब्धि में है। वैक्रियलब्धि अनेक प्रकार की होती है १ महत्त्व-मेरुपर्वत से भी बड़ा शरीर बनाने की शक्ति, २ लघुत्व—वायु से लघुतर शरीर बनाने की शक्ति, ३ गुरुत्व—वज्र से भी भारी शरीर बनाने की शक्ति ४ प्राप्ति—जमीन पर बैठे-बैठे अंगुली के अग्रभाग से मेरुपर्वत के शिखर एवं सूर्य आ को स्पर्श करने की शक्ति,५ प्राकाम्य—पानी में प्रवेश करने की तरह जमीन में प्रवेश तथा पानी में डूबने-तैरने की तरह जमीन पर डूबने-तैरने की शक्ति, ६ ईशित्व-तिर्नो की प्रभुता या विक्रिया से तीर्थंकर, इन्द्र आदि की ऋद्धि बना लेने की शक्ति ७ वशित्व-समस्त जीवों को वश करने की शक्ति,८ अप्रतिघातित्व—पहाड़ आदि के बी में भी निःशंक गमन करने की शक्ति,९ अन्तर्धान—अदृश्य हो जाने की शक्ति,१० का रूपिता—एक साथ अनेक रूप विक्रिया से बना लेने की शक्ति। इसी प्रकार अणिम आदि सब सिद्धियां वैक्रियलब्धि के अन्तर्गत हो है।

यद्यपि देवों को वैक्रियशरीर जन्म से ही प्राप्त होने से उनमें भी पूर्वोक्त प्रकार की शक्ति होती है, लेकिन वह भवप्रत्यय है, गुणप्रत्यय नहीं, इसलिए वैक्रियलब्धि नहीं कहा है।

जिस सर्प की दाढ़ों मे भयंकर विष होता है,उसे आशीविष सर्प कहते हैं। उसकी तरह जो लब्धि तपस्या से या विशिष्ट संयम साधना से प्राप्त हुई हो,और जिसके प्रभाव से ढाई द्वीपपरिमित क्षेत्र में किसी भी प्राणी को शाप आदि दे कर भस्म कर देने तक की शक्ति हो, उसे आशीविषलब्धि कहते हैं।

जिस ज्ञान के प्रभाव से इन्द्रियों की सहायता के बिना रूपी द्रव्यों को द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव की अमुक मर्यादा-सीमा तक जानने की शक्ति हो, उसे अवधिलब्धि कहते हैं।

जिस ज्ञान के प्रभाव से सामान्यरूप से दूसरे के मन मे चिंतित विचार को जानने की शक्ति हो, उसे ऋजुमतिलब्धि कहते हैं, तथा जिसके प्रभाव से विशेष रूप से दूसरे के मन के भावों को जानने का सामर्थ्य हो, उसे विपुलमतिलब्धि कहते हैं। जिस के प्रभाव से त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण चराचर लोकालोक को मतिज्ञानादि के बिना अकेले मे ही निरावरणरूप से युगपद् जानने-देखने की शक्ति हो,उसे केवललब्धि कहते है।

जिसके प्रभाव से साधक अपने शरीर के सभी प्रदेशों से सुन लेता है अथवा एक ही इन्द्रिय के प्रभाव से दूसरी सभी इन्द्रियों के विषयों को जान लेता है, अथवा जिसके प्रभाव से सभी इन्द्रियां परस्पर एकरूपता को प्राप्त हो जांय, अथवा १२ योजन तक फैली हुई चक्रवर्ती की सेना के एक साथ होने वाले विविध बाजों के शब्दों को, चतुरंगिणी सेना की हलचल या शोर को एकसाथ सुन लेता है ; उसे संभिन्न-श्रोतोलब्धि कहते हैं।

चक्रवर्तित्व, बलदेवत्व, वसुदेवत्व, अर्हत्त्व, ये सब लब्धियां प्रसिद्ध हैं।

जिसके प्रभाव से अत्यन्त तीव्र गति से दूर तक गमनागमन की शक्ति—चारण-शक्ति प्राप्त हो,उसे चारणलब्धि कहते है। चारणलब्धि दो प्रकार की होती है—जंघाचरण और विद्याचरण। पवित्र चारित्र वाले जो महामुनि, निदानरहित छट्ठ-अट्ठम आदि विशिष्ट तपस्या के प्रभाव से अतिशयगतिलब्धि से युक्त होते हैं, उन्हे चारणमुनि कहते हैं। उन्हें जो लब्धि प्राप्त होती है, उसे चारणलब्धि कहते हैं। वे पहली उड़ान मे तेरहवें रुचकद्वीप तक जाते है, वहां से लौटते हुए नंदीश्वर द्वीप आते हैं, दूसरी उड़ान में जहां से रवाना हुए थे, वही वापिस आ जाते है। ऊपर एक ही उड़ान में मेरुगिरि के शिखर पर पाण्डुक वन, वापिस लौटते हुए एक ही उड़ान में नंदनवन, और दूसरी उड़ान में जहाँ से रवाना हुए थे, वहीं वापिस आ जाते हैं। ये जंघाचारण मुनि होते हैं। दूसरे विद्याचारण मुनि होते है, वे विद्या के बल पर अष्टम तप आदि तपोविशेष के प्रभाव से अतिशयगमनलब्धि प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार जलचारण, पत्र-चारण, पुष्पचारण, अग्निशिखाचारण, पर्वताग्रश्रृंगचारण इत्यादि और भी चारण-लब्धियाँ होती हैं।

उत्पाद आदि १४ पूर्वों के अध्ययन-गुणन की शक्ति पूर्वलब्धि कहलाती है।

तीर्थंकर के शासन को चलाने का अधिकार एवं गणधर पद जिसके प्रभाव से प्राप्त हो, उसे गणधरलब्धि कहते हैं। इसी प्रकार पुलाकचारित्र से प्राप्त होने वाली लब्धि पुलाकलब्धि कहलाती है। पुलाकलब्धि से युक्त मुनि कुपित होने पर चक्रवर्ती की सेना तक को चूर-चूर कर सकता है।

चतुर्दशपूर्वधारी मुनिराज जिस लब्धि के प्राप्त होने पर निगोद आदि के सम्बन्ध में अपने संशय को दूर करने के लिए तथा जिनभगवान् की ऋद्धि के दर्शन के लिए अपने शरीर से मुंड हाथ का अत्यन्त देदीप्यमान पुतला विक्रिया से बना कर महाविदेह आदि क्षेत्र में विराजित तीर्थंकर के पास भेजते हैं, उस लब्धि को आहारकलब्धि कहते हैं।

जिस लब्धि के प्रभाव से मधु, घृत और दूध के अतिशय रस के समान रसपूर्ण मधुर आकर्षक वचन निकलते हों, अथवा साधक के वचन ही शारीरादि दुःख से संतप्त जीवों को मधु-घृत-दुग्ध की तरह तृप्त करने वाले हों, या जिसके पात्र में पड़ा हुआ तुच्छ अन्न भी मधु-दुग्ध-घृत की तरह बलप्रदायी हो, उसे मधु-सर्पि-क्षीरास्रवलब्धि कहते हैं। जैसे कोठार में भरे हुए अनाज वर्षों तक अलग-अलग रूप में बहुत सुरक्षितरूप से पड़े रहते हैं; वैसे ही जिस लब्धि के प्रभाव से भिन्न-भिन्न पदार्थ जैसे सुने या जिस प्रकार से एक बार जाने गए हैं उसी रूप में वर्षों तक दिमाग में अविस्मृत भाव से स्थिर रखने की बुद्धि कोष्ठबुद्धिलब्धि कहलाती है। जोते हुए खेत में बोया हुआ और जमीन, पानी आदि अनेक पदार्थों के संयोग से नष्ट न हुआ, जैसे अखण्ड एक बीज अनेक बीजों को पैदा करता है, वैसे ही जिस लब्धि के प्रभाव से ज्ञानावरणीयादि कर्म के क्षयोपशम से बुद्धि इतनी तीव्र हो कि एक अर्थबीज को सुनने पर उससे सम्बन्धित अन्य अनेक अर्थबीजों का ज्ञान हो जाय, उसे बीजबुद्धि कहते हैं।

जिस लब्धि के प्रभाव से बुद्धि इतनी निर्मल व तीक्ष्ण हो जाय कि आगम का एक पद जान कर उसके पीछे-पीछे सैकड़ों पदों का ज्ञान होता चला जाय, उसे पदानुसारिणी लब्धि कहते हैं। पदानुसारिणी लब्धि तीन प्रकार की होती है—अनुस्रोत-पदानुसारिणी, प्रतिस्रोतःपदानुसारिणी और उभयपदानुसारिणी। जहाँ किसी से सूत्र के प्रारम्भ का एक पद सुन कर अन्तिम पद तक के अर्थ को जानने की बौद्धिक क्षमता हो वहाँ अनुस्रोतःपदानुसारिणी लब्धि होती है। जहाँ सूत्र के अन्तिम एक पद को दूसरे से सुन कर सूत्र के आदि पद तक के अर्थ को जानने की क्षमता हो, वह प्रतिस्रोत-पदानुसारिणी लब्धि होती है। जहाँ दोनों प्रकार से जानने की शक्ति हो, वहाँ उभयपदानुसारिणी लब्धि होती है।

जिस लब्धि के प्रभाव से महामुनि के पात्र का जरा-सा आहार भी इन्द्रभूति गौतमस्वामी आदि की तरह अनेक व्यक्तियों को दे देने पर भी या अनेक व्यक्तियों

के खा लेने पर भी कम नहीं होता है, अथवा लाई हुई भिक्षा जब तक वह स्वयं भोजन न कर ले तब तक लाखों आदमियों को उसमे से खिला देने पर भी क्षीण—कम न हो ; उसे अक्षीणमहानसलब्धि कहते हैं। इसी प्रकार सीमित जगह मे भी तीर्थंकरों के समवसरण में असंख्य देव आदि जनों की तरह जहां निर्बाधरूप से असंख्य व्यक्ति क्रमश: बैठ जाय—समा जांय उसे अक्षीण-महालयलब्धि कहते है । इन दोनों को मिलाकर अक्षीणकलब्धि कहलाते है ।

क्रोधादिवश अनेक योजन क्षेत्र मे स्थित वस्तु या व्यक्ति को जलाने मे समर्थ तीव्रतेज अपने शरीर से निकालने की शक्ति को तेजोलेश्यालब्धि कहते हैं । असीम-करुणावश तेजोलेश्या के शान्त करने में समर्थ शीतलतेजविशेष की शक्ति को शीतलेश्या-लब्धि कहते हैं ।

ये सब[1] लब्धियां भगवती अहिंसा की विशिष्ट आराधना से ही प्राप्त हो सकती हैं ।

निष्कर्ष यह है कि यह अहिंसा भगवती की ही कृपा है कि जिसकी सम्यक् आराधना से आराधक के गंदे से गंदे पदार्थ भी अमृत की तरह औषधिरूप बन जाते है, मंदबुद्धि भी तीव्रबुद्धि हो जाता है, पुण्यहीन भी अनन्तपुण्यशाली बन जाता है, मामूली-सा आदमी भी विशिष्ट व्यक्ति बन जाता है, पतित से पतित भी पावनतम और पूजनीय बन जाता है, नीच से नीच भी सर्वोच्च पद पर पहुच जाता है । सचमुच, यह अहिंसा का ही चमत्कार है !

चउत्थभत्तिएहिं....उक्खित्तचरएहिं....सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्केहिं समणु-चिन्ना—इस लम्बे सूत्रपाठ मे अहिंसा के उन आचरणकर्ताओ का संकेत किया है, जो विविध प्रकार के तप करते हैं, भिन्न-भिन्न रूपों के नियम ग्रहण करते है, अलग-अलग तरह के अभिग्रह धारण करके जीवन बिताते है, विभिन्न प्रकार के त्याग, संयम और प्रत्याख्यान के संकल्प ले कर आजीवन निभाते हैं ; कई अपने शरीर की विभूषा और सुसंस्कारों के प्रति उपेक्षाभाव धारण करके एकमात्र आत्मा की ही उपासना में संलग्न रहते है ; अपने क्लिष्ट कर्मो को काटने के लिए कई रूखे-सूखे, तुच्छ, बासी और जैसे-तैसे अत्यल्प भोजन पर ही आजन्म निर्वाह करते है ।

सारांश यह है कि आहारग्रहण के सम्बन्ध मे विविध तप, त्याग, प्रत्याख्यान, नियम और अभिग्रह ले कर अपनी आत्मा को तप और संयम से भावित बनाते हैं ।

---

१. लब्धियों का विशेष वर्णन जानने के लिए आवश्यकसूत्रवृत्ति, प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, लब्धिस्तोत्र आदि ग्रन्थों का अवलोकन करें ।

—संपादक

ऐसे महाव्रती महामुनियों के लिए अहिंसा की साधना अनिवार्य होती है। अहिंसा के बिना वे एक कदम भी आगे नहीं चल सकते। फलतः अहिंसा की दीर्घकालिक साधना के बाद उनमें इतनी शक्ति आ जाती है कि वे चाहे जैसी परिस्थिति में अपने आपको सुदृढ़ रख सकते हैं।

उनमें सबसे पहले वे तपस्वी आते हैं, जो तीन या चार प्रकार के आहार का त्याग करके एक उपवास से ले कर एकमास, दोमास, तीनमास यावत् छहमास तक के उपवास करते है। ऐसे तपस्वियों के द्वारा सूक्ष्मता से निरन्तर आराधित अहिंसा अत्यन्त तेजस्वी बन जाती है।

उत्क्षिप्तचर, निक्षिप्तचर, अन्तचर, प्रान्तचर, रूक्षचर, अग्लायक, समुदान-भिक्षाचर, मौनचर आदि का अर्थ स्पष्ट है।

संसट्ठकप्पिएहिं—जिनका आचार संसृष्ट नामक अभिग्रहरूप होता है, वे संसृष्टकल्पिक कहलाते हैं। अर्थात्—दाता का हाथ या पात्र लिप्त हों, या हाथ लिप्त न हों, पात्र लिप्त हो, अथवा पात्र लिप्त न हो, हाथ लिप्त हो; तथा देय पदार्थ सावशेष (कुछ बचा हो) या निरवशेष (देने के बाद कुछ न बचा) हों; तभी भिक्षा ग्रहण करेंगे, इस प्रकार के अभिग्रहधारी[1] संसृष्टकल्पिक कहलाते हैं। इस दृष्टि से संसृष्टकल्पिक के ८ भंग बनते हैं—(१) हाथ और पात्र दोनों संसृष्ट (देय वस्तु से लिप्त) हों, देय द्रव्य बचा हो, (२) हाथ और पात्र दोनों लिप्त हों, द्रव्य बचा न हो, (३) हाथ लिप्त हो, किन्तु पात्र लिप्त न हों और द्रव्य बचा हो, (४) हाथ लिप्त हो, किन्तु पात्र लिप्त न हो और द्रव्य न बचा हो; (५) हाथ लिप्त न हों, पात्र लिप्त हो, किन्तु द्रव्य बचा हो, (६) हाथ लिप्त न हो,पात्र लिप्त हों, किन्तु द्रव्य बचा न हो; (७) हाथ और पात्र लिप्त न हों, किन्तु द्रव्य बचा हो, (८) हाथ और पात्र लिप्त न हों, किन्तु द्रव्य बचा न हो।

उपनिधिक, शुद्धैषणिक, आचाम्लिक, पुरिमार्द्धिक, एकाशनिक, निर्विकृतिक आदि के अर्थ पदार्थान्वय में स्पष्ट हैं।

संखादत्तिएहिं—जो भिक्षाजीवी साधु दत्तियों की संख्या निश्चित करके भिक्षा ग्रहण करता है, वह संख्यादत्तिक कहलाता है। दाता गृहस्थ के हाथ से एक बार में जितना आहार भिक्षापात्र में पड़ जाय, उसे एक दत्ति कहते हैं। इसी प्रकार दो, तीन, चार या पांच दत्ति का अर्थ समझना चाहिए।

दिट्ठलाभिएहिं अदिट्ठलाभिएहिं पुट्ठलाभिएहिं—दिखाई देने वाले स्थान से लाए हुआ भोजन को ही जो ग्रहण करते हैं, वे दृष्टलाभिक होते है। अदृष्ट (पहले

---

१ इन सबका विशेष वर्णन पिंडनिर्युक्ति, मुनिदिनचर्या आदि ग्रन्थों में देखें।

—सम्पादक

न देखी हुई) वस्तु को ही जो ग्रहण करते हैं,वे अदृष्टलाभिक होते है। और 'महात्मन् ! यह पदार्थ साधु के लिए कल्पनीय—ग्राह्य है ?, इस प्रकार पूछे जाने पर जो उपलब्ध हो, उसे ही जो ग्रहण करते हैं, वे पृष्टलाभिक होते हैं।

भिन्नपिडवाइएहिं परिमियपिंडवाइएहिं—मोदक आदि भोज्य पदार्थ खंड-खंड करके पात्र में डालने पर ही लेने वाले भिन्नपिंडपातिक कहलाते है और परिमित घरो में ही प्रवेश करके और परिमित मात्रा में ही भोज्य वस्तुओं की सख्या निश्चित करके लेने की प्रतिज्ञा वाले परिमित पिंडपातिक कहलाते हैं।

अन्तचर-प्रान्तचर, अन्ताहारी-प्रान्ताहारी और अन्तजीवी-प्रान्तजीवी में अन्तर—उपर्युक्त तीनों शब्दयुगल ऊपर-ऊपर से देखने पर समानार्थक दिखाई देते हैं ; लेकिन इन तीनों में थोडा-थोड़ा अन्तर है। अन्तचर और प्रान्तचर भिक्षाजीवी वे होते है, जो भिक्षा की गवेषणा करते समय ही तुच्छ (अंत) और भुक्तावशेष (प्रान्त) आहार लेने का अभिग्रह करते हैं, परन्तु अन्ताहारी-प्रान्ताहारी को भिक्षा की गवेषणा करते समय अन्त-प्रान्त आहार लेने का अभिग्रह नही होता, किन्तु भोजन करते समय ही अन्त-प्रान्त आहारसेवन करने का अभिग्रह होता है। और अन्तजीवी-प्रान्तजीवी साधुओं के तो जीवनभर वैसा ही आहार करने का नियम होता है, जबकि अन्ताहारी-प्रान्ताहारी साधुओं के परिमित समय तक का नियम होता है। यही अन्तर रूक्षचर, रूक्षाहारी और रूक्षजीवी इन तीनों मे तथा तुच्छाहारी और तुच्छजीवी में समझना चाहिए।

उपशान्तजीवी और प्रशान्तजीवी में अन्तर— भिक्षा प्राप्त हो या न हो, जिनकी बाह्यवृत्तियाँ उपशान्त रहती हों, यानी जिनके चेहरे और आँखों में भी क्रोधादि की झलक न दिखाई देती हो, वे उपशान्तजीवी कहलाते हैं, और जो बाह्यवृत्ति से ही नही, अन्तरवृत्ति से भी क्षुब्ध न होते हों, यानी जिनके चेहरे पर क्रोधादि आना तो दूर रहा, मन मे भी क्रोधादि का भाव पैदा नहीं होता, वे प्रशान्तजीवी कहलाते हैं।

अमज्जमंसासिएहिं जो मद्य, मास का सेवन कदापि नहीं करते, वे अमद्यमांसाशिक कहलाते हैं। प्रश्न होता है, साधु तो क्या, गृहस्थश्रावक भी, और सप्तकुव्यसनों का त्यागी मार्गानुसारी भी इन दोनों का सेवन नही करता, तव पूर्ण अहिंसक साधुओं के लिए तो मद्य-मांस-सेवन का सवाल ही नही उठता; फिर इनके लिए इस विशेषण का प्रयोग क्यों किया गया ? इसका समाधान यह है कि मद्य और मांस दोनों को अचित्त समझकर भी मुनि कभी इनका सेवन नही करता है,यह बताने के लिए ही उक्त पाठ दिया है। मद्य अनेक कीटाणुओं के मरने से सड़ा कर बनाया जाता है तथा पीने के बाद नशीला, उत्तेजक और भान भुला देने वाला है, इसलिए सर्वथा वर्जनीय

है। और मांस स्वयं सजीव जानवर की हत्या से प्राप्त होता है, उसमें असंख्य सम्मूर्च्छिम जीव पैदा हो जाते हैं तथा क्रूरता का उत्पादक है एवं शरीर में मद बढ़ाने वाला है, इसलिए वह वर्जनीय है।

दूसरी बात यह है कि प्राचीन काल में कई दवाओं में मद्य पड़ता था, और आजकल तो प्रायः अनेक दवाओं में मद्यसार पड़ता है, तथा बंदर की चर्बी, मछली का लीवर एवं कई जानवरों का खून भी कई दवाइयों में पड़ता है। इस लिहाज से कोई इसका सेवन न कर ले कि दवा के रूप में मद्य-मांसादि-सेवन कर लिया जाय तो क्या आपत्ति है? इसलिए अहिंसा के पालक के लिए मद्य और मांस सर्वथा वर्जनीय बताए हैं। और इसी प्रयोजन से यह विशेषण अहिंसामहाव्रती के लिए प्रयुक्त किया गया मालूम होता है। फिर जो मद्य और मांस का सेवन करेगा, वह अहिंसा या अन्य किसी भी आध्यात्मिक साधना को करने के सर्वथा अयोग्य होगा। वह किसी भी साधना को सम्यक्रूप से नहीं कर सकेगा।

पडिमट्ठाइहिं—मासिकी आदि भिक्षुप्रतिमा स्वीकार करके कायोत्सर्ग में स्थिर रहने वाले मुनियों ने अहिंसा की उत्कृष्ट आराधना की है। यह 'प्रतिमा' एक प्रकार की विशिष्ट प्रतिज्ञा है, जो केवल भिक्षुओं के लिए नियत है। वह १२ प्रकार की होती है, उसके स्वरूप के लिए एक गाथा प्रस्तुत है—

'मासाइ सत्तं या ७ पढमा ८ बिय ९ तइय १० सत्तराइदिणा।
अहोराई ११ एगराई १२ भिक्खुपडिमाण बारसगं॥'

अर्थात्—उत्तरोत्तर एक-एक मास वृद्धि वाली पहली से लेकर सातवीं तक ७ प्रतिमाएँ हैं। यानी पहली प्रतिमा एकमासिकी, दूसरी द्विमासिकी, तीसरी त्रिमासिकी, चौथी चतुर्मासिकी, पांचवी पंचमासिकी, छठी षण्मासिकी और सातवीं सप्तमासिकी होती है। इसके बाद की प्रथमा, द्वितीया और तृतीया नाम की आठवीं, नौवीं, दसवीं ये तीन प्रतिमाएँ सात-सात रात्रिदिन की होती हैं, ग्यारहवीं प्रतिमा एक अहोरात्रि की होती है और बारहवीं प्रतिमा सिर्फ एकरात्रि (रातभर) की होती है। ये बारह भिक्षुप्रतिमाएँ हैं।

इन भिक्षुप्रतिमाओं को ग्रहण करने की योग्यता किस मुनि में होती है? इसके लिए बताया गया है—

'तवेण सत्तेण सुत्तेण एगत्तेण बलेण य।
तुलणा पंचहा वुत्ता पडिमं पडिवज्जओ॥'

अर्थात्—तपस्या से, सत्त्व से, श्रुत से, एकत्व से और आत्मबल से या बल से इन पांच प्रकार की तुलना से योग्य धृतिमान साधक ही प्रतिमाओं को स्वीकार करने योग्य होता है।

जो वज्रऋषभनाराच, नाराच और अर्धनाराच इन तीनों संहननों में से किसी एक संहनन से युक्त हो,परिषहसहन करने में दृढ सामर्थ्यवान् हो, धृति — चित्तस्वस्थता से युक्त हो, महासत्त्व हो, अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों मे हर्षविषाद न करता हो, सद्-भावनाओं से भावित अन्तःकरणवाला भावितात्मा हो, गुरु अथवा आचार्य के द्वारा उसे भलीभांति आज्ञा मिल गई हो, गच्छाचार्य द्वारा उसे अनुमति प्राप्त हो गई हो, साधुसमुदाय में रहते हुए आहारादि के सम्बन्ध में प्रतिमा के योग्य परिकर्म में परि-निष्ठित हो गया हो, वही इन्हें ग्रहण करने योग्य होता है। यानी मासिकी आदि सातों भिक्षुप्रतिमाओं का जो परिमाण बताया गया है, तदनुसार ही परिकर्म का परिमाण है। वर्षावास में इन प्रतिमाओं को स्वीकार नहीं किया जाता और न ही इनका परिकर्म किया जाता है। प्रारम्भ की दो प्रतिमाओं का एकसाथ एक ही वर्ष में, तीसरी-चौथी का भी एक-एक वर्ष में, बाकी की तीन प्रतिमाओं का भी वर्ष मे इकट्ठा ही परिकर्म होता है।

प्रतिमासाधक को श्रुतज्ञान भी उत्कृष्टतः दश पूर्वों से कुछ कम और जघन्यतःप्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व की तीसरी आचारवस्तु तक का होना ही चाहिए। अन्यथा इतने श्रुतज्ञान से रहित मुनि काल आदि को सम्यक् नही जान सकेगा, फलतः विराधना कर बैठेगा। वह अपने शरीर का ममत्व छोड कर देवकृत, मनुष्यकृत और तिर्यंचकृत उपद्रव को सहन करने में समर्थ हो, जिनकल्पी की तरह परिषह-सहन करने में सक्षम हो। आहारैषणा, पानैषणा, वस्त्रैषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा इन पांचों प्रकार से शास्त्रविधि के अनुसार एषणा-पिंडादि ग्रहण में उसे भी पारंगत होना चाहिए। इस प्रकार परिकर्म करने के बाद गच्छ से निकल कर यदि आचार्यादि से अनुज्ञा प्राप्त हुई हों तो कुछ समय के लिए अन्य साधुओं मे पदार्पण करके शरद्काल में समस्त साधुओं को आमंत्रण दे और उनसे क्षमा-याचना करके निःशल्य और निष्कषाय हो कर मासिकी प्रतिमा का स्वीकार करे। मासिकी भिक्षुप्रतिमा के दौरान वह कुछ नियमों को स्वीकार करे। जैसे मासिकी प्रतिमा में भिक्षा भी दत्तिपूर्वक ग्रहण करे। यानी एक ही अन्न की, एक बार में ही अखण्ड रूप में, वह भी अज्ञात और उंछरूप अन्न की दत्ति हो। उसमें भी कृपणादि द्वारा भी फैंक देने योग्य,एक ही स्वामी का; दानदाता का एक पैर देहली के अन्दर हो, दूसरा बाहर हो, उसके द्वारा दिये जाने वाले आहार-पानी का ग्रहण करे। यदि वह किसी जलाशय या किसी स्थल या दुर्ग आदि पर स्थित हो तो जहां सूर्य अस्त हो जाय, वहां से सूर्योदय तक जल या आग का उपद्रव होने पर भी एक कदम क्षेत्र आगे न बढ़े। प्रतिमास्वीकृत मुनि ग्राम आदि ज्ञात स्थल में

है। और मास स्वयं सजीव जानवर की हत्या से प्राप्त होता है,उसमें असंख्य सम्मूर्च्छिम जीव पैदा हो जाते हैं तथा क्रूरता का उत्पादक है एवं शरीर मे मद बढ़ाने वाला है, इसलिए वह वर्जनीय है।

दूसरी बात यह है कि प्राचीन काल में कई दवाओं में मद्य पड़ता था, और आजकल तो प्रायः अनेक दवाओ मे मद्यसार पड़ता है, तथा बंदर की चर्बी, मछली का लीवर एव कई जानवरो का खून भी कई दवाइयों में पड़ता है। इस लिहाज से कोई इसका सेवन न कर ले कि दवा के रूप मे मद्य-मांसादि-सेवन कर लिया जाय तो क्या आपत्ति है? इसलिए अहिंसा के पालक के लिए मद्य और मांस सर्वथा वर्जनीय बताए हैं। और इसी प्रयोजन से यह विशेषण अहिंसामहाव्रती के लिए प्रयुक्त किया गया मालूम होता है। फिर जो मद्य और मांस का सेवन करेगा, वह अहिंसा या अन्य किसी भी आध्यात्मिक साधना को करने के सर्वथा अयोग्य होगा। वह किसी भी साधना को सम्यक्‌रूप से नहीं कर सकेगा।

पडिमट्ठाइहिं—मासिकी आदि भिक्षुप्रतिमा स्वीकार करके कायोत्सर्ग में स्थिर रहने वाले मुनियो ने अहिंसा की उत्कृष्ट आराधना की है। यह 'प्रतिमा' एक प्रकार की विशिष्ट प्रतिज्ञा है, जो केवल भिक्षुओं के लिए नियत है। वह १२ प्रकार की होती है, उसके स्वरूप के लिए एक गाथा प्रस्तुत है—

'मासाइ सत्त वा ७ पढमा ८ बिय ९ तइय १० सत्तराइदिणा।
अहोराई ११ एगराई १२ भिक्खुपडिमाण बारसगं॥'

अर्थात्—उत्तरोत्तर एक-एक मास वृद्धि वाली पहली से लेकर सातवो तक ७ प्रतिमाएँ हैं। यानी पहली प्रतिमा एकमासिकी, दूसरी द्विमासिकी, तीसरी त्रिमासिकी, चौथी चतुर्मासिकी, पाचवी पचमासिकी, छठी पण्मासिकी और सातवीं सप्तमासिकी होती है। इसके बाद की प्रथमा, द्वितीया और तृतीया नाम की आठवीं, नौवीं, दसवीं ये तीन प्रतिमाएँ सात-सात रात्रिदिन की होती हैं, ग्यारहवीं प्रतिमा एक अहोरात्रि की होती है और बारहवी प्रतिमा सिर्फ एकरात्रि (रातभर) की होती है। ये बारह भिक्षु-प्रतिमाएँ हैं।

इन भिक्षुप्रतिमाओं को ग्रहण करने की योग्यता किस मुनि में होती है? इसके लिए बताया गया है—

'तवेण सत्तेण सुत्तेण एगत्तेण वयेण य।
तुलना पंचहा वुत्ता पडिमं पडिवज्जओ॥'

अर्थात्—तपस्या से, सत्त्व से, श्रुत से, एकत्व से और आगमवचन से या वय से, इन पांच प्रकार की तुलना के योग्य धृतिमान साधक ही प्रतिमाओं को स्वीकार करने योग्य होता है।

जो वज्रऋषभनाराच, नाराच और अर्धनाराच इन तीनों संहननों में से किसी एक संहनन से युक्त हो,परिषहसहन करने में दृढ़ सामर्थ्यवान् हो, धृति—चित्तस्वस्थता से युक्त हो, महासत्त्व हो, अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों में हर्षविषाद न करता हो, सद्-भावनाओं से भावित अन्तःकरणवाला भावितात्मा हो, गुरु अथवा आचार्य के द्वारा उसे भलीभांति आज्ञा मिल गई हो, गच्छाचार्य द्वारा उसे अनुमति प्राप्त हो गई हो, साधुसमुदाय में रहते हुए आहारादि के सम्बन्ध में प्रतिमा के योग्य परिकर्म मे परि-निष्ठित हो गया हो, वही इन्हें ग्रहण करने योग्य होता है। यानी मासिकी आदि सातों भिक्षुप्रतिमाओं का जो परिमाण बताया गया है, तदनुसार ही परिकर्म का परिमाण है। वर्षावास में इन प्रतिमाओं को स्वीकार नही किया जाता और न ही इनका परिकर्म किया जाता है। प्रारम्भ की दो प्रतिमाओ का एकसाथ एक ही वर्ष में, तीसरी-चौथी का भी एक-एक वर्ष में, बाकी की तीन प्रतिमाओं का भी वर्ष मे इकट्ठा ही परिकर्म होता है।

प्रतिमासाधक को श्रुतज्ञान भी उत्कृष्टतः दश पूर्वो से कुछ कम और जघन्यतःप्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व की तीसरी आचारवस्तु तक का होना ही चाहिए। अन्यथा इतने श्रुतज्ञान से रहित मुनि काल आदि को सम्यक् नही जान सकेगा, फलतः विराधना कर बैठेगा। वह अपने शरीर का ममत्व छोड़ कर देवकृत, मनुष्यकृत और तिर्यंचकृत उपद्रव को सहन करने में समर्थ हो, जिनकल्पी की तरह परिषह-सहन करने में सक्षम हो। आहारैषणा, पानैषणा, वस्त्रैषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा इन पांचों प्रकार से शास्त्रविधि के अनुसार एषणा-पिंडादि ग्रहण में उसे भी पारंगत होना चाहिए। इस प्रकार परिकर्म करने के बाद गच्छ से निकल कर यदि आचार्यादि से अनुज्ञा प्राप्त हुई हों तो कुछ समय के लिए अन्य साधुओं मे पदार्पण करके शरद्काल में समस्त साधुओं को आमंत्रण दे और उनसे क्षमा-याचना करके निःशल्य और निष्कषाय हो कर मासिकी प्रतिमा का स्वीकार करे। मासिकी भिक्षुप्रतिमा के दौरान वह कुछ नियमों को स्वीकार करे। जैसे मासिकी प्रतिमा में भिक्षा भी दत्तिपूर्वक ग्रहण करे। यानी एक ही अन्न की, एक बार मे ही अखण्ड रूप में, वह भी अज्ञात और उंछरूप अन्न की दत्ति हो। उसमे भी कृपणादि द्वारा भी फेंक देने योग्य,एक ही स्वामी का; दानदाता का एक पैर देहली के अन्दर हो, दूसरा बाहर हो, उसके द्वारा दिये जाने वाले आहार-पानी का ग्रहण करे। यदि वह किसी जलाशय या किसी स्थल या दुर्ग आदि पर स्थित हो तो जहां सूर्य अस्त हो जाय, वहां से सूर्योदय तक जल या आग का उपद्रव होने पर भी एक कदम क्षेत्र आगे न बढ़े। प्रतिमास्वीकृत मुनि ग्राम आदि ज्ञात स्थल में

एक अहोरात्रि से अधिक न ठहरे, अज्ञातस्थल मे अधिक से अधिक दो रात ठहर सकता है। दुष्ट व्याघ्र, सिंह, हाथी आदि हिंस्रपशुओ के डर से या मृत्यु के भय से वह एक कदम भी इधर-उधर आगे-पीछे नहीं खिसकेगा। इत्यादि नियमों का पालक मुनि शरीर पर ममत्व करके छाया से धूप मे या धूप से छाया में गमन नहीं करेगा। वह एक महीने तक लगातार ग्रामानुग्राम विचरण करेगा। वह और भी बहुत-से नियमों का पालन करेगा जैसे—पैर में कांटा लग जाने पर या आंख मे रजकण, तिनका या मैल पड़ जाने पर वह निकालेगा नहीं। शयन और निवास के लिए तृणसंस्तारक व उपाश्रय आदि की याचना भी वह दो बार से अधिक नहीं करेगा; प्रतिमा पूर्ण होने की अवधि तक किसी के पूछने पर या शास्त्रीय प्रश्न करने पर भी वह दो बार से अधिक नही बोलेगा। वह ऐसे स्थान मे ठहरेगा, जो आगन्तुकागार हो, यानी जहाँ कार्पटिक आदि आ कर रहते हों, अथवा दीवारें न होने से ऊपर से जो घर छाया हुआ न हो, या अनाच्छादित वृक्ष का मूल हो। निवासस्थान (उपाश्रय) में आग लग जाने पर भी वहाँ से हटेगा नहीं। कदाचित् कोई व्यक्ति बाहें आदि पकड़ कर खीचे तो उस की रक्षा के लिए वहा से निकल भी जायेगा। हाथ, पैर, मुंह, शरीर आदि का प्रासुक पानी से भी प्रक्षालन नहीं करेगा। अपवादवश कोई अन्य साधु उसके पैर आदि धो दें तो उसे क्षम्य समझेगा।

ये और इस प्रकार के अनेक अभिग्रहों व क्रियाओं से युक्त साधु का एक महीना पूरा होने पर साधुसमुदाय अभिनन्दन करता है। आचार्य आदि निकटवर्ती गांव में आ कर प्रवृत्ति का अन्वेषण करते है। फिर वे राजा आदि को सूचित करते हैं कि मासिकभिक्षुप्रतिमा का पालन करके महातपस्वी साधु यहाँ आए है। इसके बाद राजा आदि समस्त प्रतिष्ठित लोगो द्वारा सत्कारित-सम्मानित हो कर वह वहाँ प्रवेश करता है। वहाँ उसका बहुत अभिनन्दन किया जाता है। इस प्रकार प्रथम भिक्षुप्रतिमा का स्वरूप है।

इसी क्रम से दूसरी से लेकर सातवी भिक्षुप्रतिमा तक का पालन किया जाता है। पहली से इनमें अन्तर इतना ही है कि पहली प्रतिमा में एक दत्ति आहार-पानी ग्रहण करना होता है, जबकि दूसरी, तीसरी से ले कर सातवीं तक क्रमशः दो, तीन से ले कर सात दत्ति तक आहार-पानी लिया जाता है।

इसके बाद आठवी प्रथम सप्तरात्रिदिन की प्रतिमा में चौविहार एकान्तर उपवास करना होता है, पारणे में आयंबिल करना होता है, इसलिए इसमें दत्ति का नियम नहीं होता। इस प्रतिमा में उत्तान या एक पार्श्व से शयन करना होता है। बैठना हो तो समआसन से बैठ सकता है। शरीर की चेष्टाओं से निवृत्त हो कर पूर्वोक्त स्थान निश्चित करके गाँव के बाहर ठहरना होता है। जहाँ देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यंचकृत घोर उपसर्गों को शरीर से अडोल और मन से अकम्पित हो कर सहन करता है।

नौवी द्वितीय सप्तरात्रिदिन की प्रतिमा मे भी सभी क्रियाएँ इसी के जैसी होती हैं। विशेष बात यही है कि इस प्रतिमा मे उत्काटिकासन (ऊकडू आसन) से बैठना, लगुडासन से तथा दण्डायतासन से सोना होता है और दिन-रात देवादिकृत उपसर्गों को सहना पड़ता है।

दसवी तृतीय सप्तरात्रि दिन की प्रतिमा मे भी पूर्वोक्त बाते समझनी चाहिए। अन्तर केवल इतना ही है कि इसमे गोदुहासन से तथा वीरासन (सिंहासनतुल्य आसन) अथवा आम्रकुब्जासन से रहना पड़ता है। बाकी की क्रियाएँ पूर्ववत् ही हैं।

इसके पश्चात ग्यारहवी प्रतिमा भी पूर्ववत् एक अहोरात्रि की होती है। विशेषता केवल इतनी ही है कि इसे शुरू करने से पहले एकाशन, बीच मे षष्ठभक्त यानी दो चौविहार उपवास (बेला) और पारणे के दिन भी एकाशन करना होता है। गाँव या नगर के बाहर जा कर खड़े हो कर भुजाएँ नीचे लटका कर एक अहोरात्र तक स्थित रहना होता होता है।

इसके अनन्तर बारहवी प्रतिमा ग्यारहवी अहोरत्र की प्रतिमा के समान एक रात्रि की होती है। इसमे चौविहार अष्टमभक्त (तेला) करके, एक रात्रि के लिए गाव के बाहर जा कर कायोत्सर्ग मे खडे होकर, थोड़ा-सा आगे को झुके हुए किसी एक निश्चित पुद्गल पर एकटक दृष्टि लगा कर, शरीर को अडोल करके, इन्द्रियो को निश्चेष्ट कर, दोनों पैरों को समेट कर और जिनमुद्रा की तरह बाहें लटका कर स्थिर रहना पडता है। इस प्रकार की बारहवी भिक्षुप्रतिमा का सम्यक्रूप से पालन करने पर या तो अवधिज्ञान प्राप्त होता है, या मन पर्यायज्ञान अथवा अभूतपूर्व केवलज्ञान उत्पन्न होता है। यदि इसकी विराधना हो जाय तो उन्माद (पागलपन) हो जाता है, या दीर्घकालिक रोगान्तक पैदा हो जाता है और केवलिप्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

आयावर्एहि—धूप में खड़े हो कर आतापना लेने वाले मुनियों ने भी अहिंसा का आचरण किया है। आतापना तीन प्रकार की होती है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। स्थिरादि आसन के द्वारा की जाने वाली आतापना जघन्य कहलाती है; उत्कटासन आदि आसन से की जाने वाली मध्यम और दण्डासन आदि से की जाने वाली आतापना उत्कृष्ट कहलाती है।

सुयधरविदितत्थकायबुद्धीहि—इसका तात्पर्य यह है, जिन मुनियों को सूत्ररूप

---

१ इन प्रतिमाओं का विशेष वर्णन जानने के लिए दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि-वृत्ति, प्रवचनसारोद्धार, आवश्यकनिर्युक्ति तथा पंचाशक आदि का अवलोकन करें।
—संपादक

से और अर्थरूप से शास्त्र कण्ठस्थ होते है, उन्हें श्रुतधर कहते हैं तथा जिनको बुद्धि अर्थसमूह को जानने में पारंगत है, उन्हें विदितार्थकायबुद्धि कहते हैं। इन दोनों कोटि के मुनिवरों को भी अपने ज्ञान की निर्मलता इस अहिंसा की आराधना से ही प्राप्त होती है।

धीरमतिबुद्धिणो -- *'बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया, मतिरागामिगोचरा'* इसके अनु-अनुसार प्रश्न के साथ ही तत्काल जिसमें उत्तर की स्फुरणा होती है,उसे बुद्धि समझना चाहिए और भविष्य की बात को पहले से ताड़ने वाली ज्ञानशक्ति को मति जानना चाहिए। इस दृष्टि से इस पद का अर्थ होता है—जिन साधुओं का मतिज्ञान (अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप) स्थिर होता है, क्षोभरहित होता है, वे स्थितप्रज्ञ मुनि धीरमति है तथा जिनकी बुद्धि औत्पातिकी (तत्काल सूझ वाली) होती है, वे धीरबुद्धि कहलाते है। इन दोनों प्रकार के महामुनियों को श्रेष्ठमति और श्रेष्ठबुद्धि की उपलब्धि अहिंसा के आचरण से होती है।

आसीविसउग्गतेयकप्पा—इसका आशय यह है कि तपस्या के प्रभाव से मुनियों के वचन मे विषैले साप के समान इतनी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि वे क्रुद्ध हो कर जिसको शाप आदि देते है, उसके शरीर में विषैले सर्प से डसे हुए के समान तत्काल विष फैल जाता है। अथवा भयंकर जहरीले साप से डसा हुआ व्यक्ति भी जिनके अनुग्रह से विषमुक्त हो जाता है। इस लब्धि के धारक मुनि भी तप के साथ अहिंसा का आचरण करते है, तभी उन्हें ऐसी लब्धि प्राप्त होती है।

निच्छयववसायपज्जत्तकयमतीया ·· छव्विहजगवच्छला निच्चमप्पमत्ता—ये सब विशेषण महाव्रती मुनिवरों के है, जो अहिंसा का पालन अप्रमत्त एवं दत्तचित्त हो कर करते है। वे अहिंसा के किसी अंग या रूप को छोड़ कर नहीं चलते। वे निश्चय और व्यवसाय-पुरुषार्थ दोनों मे समानरूप से कृतसंकल्प होते हैं,सदा स्वाध्याय, ध्यान और साधना में लीन रहते हैं, पांच महाव्रतरूप चारित्र से सम्पन्न होते हैं, समितियों मे प्रवृत्त रहते है,पापों से निवृत्त हो कर के ससार के समस्त प्राणियों के एकांत हितैषी विश्ववत्सल हो कर सदा अप्रमत्त रहते हैं। इन और इस प्रकार के अन्य महामुनियों ने भी अहिंसा का निरन्तर पालन किया है और अपना आत्मकल्याण करने के साथ जगत् का भी कल्याण किया है तथा उच्च पद पर पहुंचे हैं।

निष्कर्ष—अहिंसा के खास-खास आचरणकर्ताओं के जितने भी नाम गिनाये हैं, वे सब अपने-अपने नियमों, तपस्याओं, प्रतिज्ञाओं, अभिग्रहों, व्रतों और शीलगुणों को पालन करते समय अहिंसा को केन्द्र में रख कर चलते हैं। अहिंसापालन मे जरा-सी असावधानी से उनके व्रत, नियम, तपश्चरण, प्रतिज्ञा और अभिग्रह खण्डित हो

जाते हैं और उन्हें जिन शक्तियो, लब्धियों, ऋद्धि-सिद्धियों, विभूतियो और बलों की उपलब्धि होनी चाहिए, वह भी नही हो सकती।

अहिंसा के पूर्ण उपासकों की भिक्षाविधि

पिछले सूत्रपाठ मे अहिंसा के विशिष्ट आचरणकर्ताओ की सूची दी गई है। अब आगे के सूत्रपाठ मे शास्त्रकार अहिंसा के पूर्ण उपासको की भिक्षाचर्या कैसी होनी चाहिए ? इसका निरूपण करते हैं—

मूलपाठ

इमं च पुढवि-अगणि-मारुय-तरुगण-तस-थावर सव्वभूयसंयम-दयट्ठयाते सुद्धं उंछं गवेसियव्वं अकतमकारियमणाहूयमणुदिट्ठं अकीयकडं, नवहि य कोडिहिं सुपरिसुद्धं, दसहि य दोसेहिं विप्प-मुक्कं,उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं,ववगयचुयचावियचत्तदेहं च, फासुयं च,न निसज्जकहापओयणक्खासुओवणीयंति,न तिगिच्छा-मंत-मूल-भेसज्जकज्जहेउं, न लक्खणुप्पायसुमिणजोइसनिमित्तकहकप्पउत्तं। नवि डंभणाए,नवि रक्खणाते, नवि सासणाते,नवि दंभण-रक्खण-सासणाते भिक्खं गवेसियव्वं। नवि वंदणाते,नवि माणणाते, नवि पूयणाते,नवि वंदणमाणणपूयणाते भिक्खं गवेसियव्वं। नवि हील-णाते, नवि निंदणाते, नवि गरहणाते, नवि हीलणनिंदणगरहणाते भिक्खं गवेसियव्वं। नवि भेसणाते,नवि तज्जणाते, नवि तालणाते, नवि भेसणतज्जणतालणाते भिक्खं गवेसियव्वं। नवि गारवेणं,नवि कुहणयाते, नवि वणिमयाते, नवि गारवकुहणवणीमयाए भिक्खं गवेसियव्वं। नवि मित्तयाए, नवि पत्थणाए, नवि सेवणाए, नवि मित्तपत्थणसेवणाते भिक्खं गवेसियव्वं। अन्नाए, अगढिए, अदुट्ठे, अदीणे, अविमणे, अकलुणे, अविसाती, अपरितंतजोगी, जयण-घडणकरणचरियविणयगुणजोगसंपउत्ते भिक्खू भिक्खासणाते निरते।

इमं च णं सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठाते पावयणं भगवया

सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभावियं आगमेसिभद्दं सुद्धं नेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाण विउसमणं ॥ (सू० २२)

संस्कृतच्छाया

अयं च पृथिव्युदकाग्निमारुततरुगणत्रसस्थावरसर्वभूतसंयमदयार्थं शुद्ध उञ्छो गवेषयितव्यः, अकृतोऽकारितोऽनाहूतोऽनुद्दिष्टोऽक्रीतकृतो नवभिश्च कोटिभिः सुपरिशुद्धो, दशभिर्दोषैर्विप्रमुक्तः,उद्गमोत्पादनैषणा शुद्धो, व्यपगतच्युतच्यावितत्यक्तदेहश्च प्रासुकश्च। न निषद्यकथाप्रयोजनाख्याश्रुतोपनीतमिति, न चिकित्सामंत्रमूलभैषज्यकार्यहेतु, न लक्षणोत्पातस्वप्नज्योतिषनिमित्तककथाकुहकप्रयुक्तं। नापि दम्भनया, नापि रक्षणया, नापि शासनया, नाऽपि दम्भनरक्षणशासनया भैक्षं गवेषयितव्यम्। नापि वन्दनया, नापि माननया, नापि पूजनया,नापि वन्दनमाननपूजनया भैक्षं गवेषयितव्यम्। नाऽपि हीलनया, नाऽपि निन्दनया, नापि गर्हणया, नापि हीलननिन्दनगर्हणया भैक्षं गवेषयितव्यम्।नापि भेषणया,नापि तर्जनया,नापि ताड़नया,नापि भेषणतर्जनताड़नया भैक्षं गवेषयितव्यम्। नापि गौरवेण, नापि कुधनतया (क्रोधनतया), नापि वनोपकतयाः, नापि गौरवकुधनना (क्रोधना)वनीपकतया भैक्षं गवेषयितव्यम्। नापि मित्रतया, नापि प्रार्थनया, नापि सेवनया,नापि मित्रत्वप्रार्थनसेवनया भैक्षं गवेषयितव्यम्। अज्ञातोऽग्रथितो (अगृद्धो) ऽद्विष्टो (अदुष्टो) ऽदीनोऽविमना, अकरुणोऽविषादी, अपरितान्तयोगी, यतनघटनकरणचरितविनयगुणयोगसम्प्रयुक्तो भिक्षुर्भिक्षैषणायां निरतः।

इदं च सर्वजगज्जीवरक्षणदयार्थं प्रावचनं भगवता सुकथितमात्महितम् प्रेत्यभाविकम्,आगमिष्यद्भद्रम्, शुद्धम्, नैयायिकम्,अकुटिलम्,अनुत्तरम्,सर्वदुःखपापानां व्युपशमनम् ॥सू० २२॥

पदान्वयार्थ—(इमं) यह, (अकतमकारियमणाहूयमणुद्दिट्ठं) साधु के लिए नहीं किया गया, दूसरों से नहीं बनवाया हुआ, गृहस्थ द्वारा निमंत्रण दे कर या पुनः बुला कर नहीं दिया हुआ, साधु को लक्ष्य करके नहीं बनाया हुआ, (अकीयकडं) साधु के निमित्त खरीद करके नहीं दिया हुआ, (य) और (नवहिं कोडिहिं सुपरिसुद्धं) नौ—तीन करण-कृतकारितअनुमोदनरूप और तीन योग—मनवचनकायारूप से प्रत्याख्यान के नौ भेदों—कोटियों से अच्छी तरह शुद्ध, (य) और (दसहिं दोसेहिं विप्पमुक्कं) शंकित आदि दस दोषों से सर्वथा रहित, (उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं)

१६ उद्गम के, १६ उत्पादना के और दस एषणा के दोषों से रहित शुद्ध (ववगय-चुय-चाविय-चत्तदेहं) दाता के द्वारा देय (दी जाने वाली) वस्तु स्वय ही अचित्त हो या दूसरे के द्वारा अचित्त की गई हो, अथवा दाता द्वारा देय द्रव्य से जन्तु पृथक् किए हों या कराये गए हों तथा जिस देय वस्तु से स्वयमेव जीव पृथक् हो गए हों, ऐसे (च) और (फासुयं) प्रासुक अचित्त, (सुद्धं) भिक्षा के दोषों से रहित शुद्ध, (उंछं) भिक्षान्न की (गवेसियव्वं) गवेषणा—शोध करनी चाहिए। यानी ऐसा एषणाशुद्ध आहार ग्रहण करने योग्य है। किन्तु (निसज्जकहा—पओयणक्खा-सुओवणीयंति) गृहस्थ के घर आसन पर बैठ कर धर्मकथा के प्रयोजनरूप आख्याओं — कहानियों के सुनाने से गृहस्थ द्वारा दिया गया अन्न (न) न हो। (तिगिच्छामंत-मूलभेसज्जकज्जहेउं) चिकित्सा, मंत्र, जड़ीबूटी, औषध आदि के कार्य के हेतु (न) न हो, (लक्खणुप्पायसुमिण-जोइस-निमित्त-कहकुहकप्पउत्तं, स्त्रीपुरुष आदि के शुभा-शुभसूचक लक्षण—चिह्न, उत्पात—भूकम्प, अतिवृष्टि, दुष्काल आदि प्रकृतिविकार, स्वप्न, ज्योतिष—ग्रहविचार, मुहूर्त, फलित आदि शुभाशुभनिमित्तसूचक शास्त्र, तथा विस्मय उत्पन्न करने वाले चामत्कारिक प्रयोग या जादू के प्रयोग के कारण दिया गया (न) न हो। (डंभणाए वि) दम्भ से लिया हुआ भी (न) न हो, (रक्खणा-ए वि) दाता के पुत्र आदि को रखने या उसकी रक्षा करने के निमित्त से प्राप्त भी (न) न हो। (सासणाए वि) पुत्र आदि को शिक्षा देने या पढ़ाने के निमित्त से भी (न) न हो, (दंभरक्खणसासणाए) दम्भ, रक्षा और शिक्षा इन तीनों निमित्तों से प्राप्त (भिक्खं) भिक्षा का (न वि गवेसियव्वं) गवेषण—ग्रहण नहीं करना चाहिए। (वंदणाते वि) गृहस्थ का अभिवादन या उसकी स्तुति करने से प्राप्त भी (न) नहीं, (माणणाते वि) गृहस्थ का सत्कार-सम्मान करके भी (न) नहीं,(पूयणाए वि) पूजा—सेवा करके भी (न) नहीं, (वंदणमाणणपूयणाते वि) स्तुति-अभिवादन, सत्कारसम्मान और पूजा—सेवा करके भी (भिक्खं न गवेसियव्वं) भिक्षा की गवेषणा नहीं करना चाहिये। (हीलणाते वि) जाति आदि की अपकीर्ति—बदनामी करके भी (न) नहीं, (निंदणाते वि) दाता के सामने उसकी निन्दा करके भी (न) नहीं, (गरहणाते वि) लोगों के सामने दाता के अवगुण प्रकट करके भी (न) नहीं, (हीलणनिंदणगरहणा-तेवि) हीलना, निन्दा और गर्हणा—भर्त्सना करके भी, (भिक्खं न गवेसियव्वं) भिक्षा की गवेषणा नहीं करनी चाहिये। (भेसणाते वि) दाता को डरा कर—भय दिखा कर

भी (न) नहीं, (तज्जणाते वि) डांटडपट कर या धमकी दे कर भी (न) नहीं (ताडणाते वि) थप्पड़, मुक्के, लाठी आदि से पीट कर भी (न) नहीं, (भेसणतज्जणतालणाते वि) भय दिखा कर, तर्जन और ताड़न करके भी (भिक्खं न गवेसियव्वं) भिक्षा की गवेषणा न करनी चाहिए। (गारवेण वि) ऋद्धि, रस और साता के गौरव-अभिमान से भी (न) नहीं, (कुहणयाए वि) दरिद्रता प्रकट करके या मायाचार करके भी अथवा क्रोध प्रगट करके भी (न) नहीं, (वणीमयाते वि) भिखारी या याचक की तरह दीनता प्रकट करके भी (न) नहीं, (गारवकुहणवणीमयाए वि) गौरव-घमंड, दारिद्रय या दम्भाचार और दीनता इन तीनों को दिखा कर भी (भिक्खं न गवेसियव्वं) भिक्षा की गवेषणा नहीं करनी चाहिये, (मित्तयाएवि) मित्रता द्वारा भी (न) नहीं, (पत्थणाएवि) प्रार्थना—अनुनयविनय करके भी (न) नहीं, (सेवणाएवि) सेवा करके भी (न) नहीं (मित्तपत्थणसेवणयाएवि) मित्रता, प्रार्थना और सेवा इन तीनों द्वारा भी, (भिक्खं न गवेसियव्वं) भिक्षा की गवेषणा नहीं करनी चाहिए। (अन्नाए) स्वजनादि सम्बन्धों का परिचय न दे करके अज्ञात रूप से, (अगढिए) सम्बन्ध ज्ञात हो जाने पर भी आहारादि में अप्रतिबद्ध या मूर्च्छारहित, (अदुट्ठे) आहार या दाता पर द्वेषभाव से या दुष्टभाव से रहित, (अदीणे) दैन्य-क्षोभ से रहित, (अविमणे) भोजनादि न पाने पर मन में अविकृत—या ग्लानिरहित, (अकलुणे) अपने में हीनभाव ला कर दयनीयता से रहित, (अविसाती) विषादयुक्त वचन से मुक्त, (अपरितंतजोगी) निरन्तर मन, वचन और काया को शुभ अनुष्ठान में लगाता हुआ, (जयणघडण-करण-चरिय-विणयगुणजोगसंपउत्ते) यत्न—प्राप्त संयमयोग में उद्यम, अप्राप्त योगों की प्राप्ति के लिए चेष्टा, विनय के आचरण और क्षमादि गुणों के योग से युक्त (भिक्खू) भिक्षाजीवी साधु (भिक्खेसणाते) भिक्षा की शुद्ध एषणा में (निरते) निरत-तत्पर हो।

(इमं च णं) और यह शुद्ध भिक्षा आदि गुणों के प्रतिपादनरूप पूर्वोक्त (पावयणं) प्रवचन—सत्यसिद्धान्त (भगवया) श्रमण भगवान् महावीर ने (सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठाते) सारे जगत् के जीवों की रक्षारूप दया के लिए (सुकहियं) भलीभांति कहा है, जो (अत्तहियं) आत्मा के लिए हितकर है, (पेच्चाभावियं) जन्मान्तर—दूसरे जन्मों में शुद्ध फल के रूप में परिणत होने से भाविक है, (आगमेसिभद्दं) आगामीकाल में कल्याणकारी है, (सुद्धं) निर्दोष है, (नेयाउयं) न्याययुक्त है, (अकुडिलं) मोक्ष के लिए सरल है, (अनुत्तरं) सबसे उत्कृष्ट है, (सव्वदुक्खपावाण विउसमणं) समस्त दुःखों और पापों का उपशम करने वाला है।

मूलार्थ—जो आहार साधु के लिए नहीं बनाया गया हो, दूसरों से बनवाया हुआ न हो, गृहस्थ द्वारा पहले निमंत्रण दे कर फिर बुला कर दिया हुआ न हो, साधु को लक्ष्य करके बनाया हुआ न हो, साधु के निमित्त खरीद कर लाया हुआ न हो, तथा तीन करण और तीन योग से प्रत्याख्यान की नौ कोटियों से अच्छी तरह शुद्ध हो, शंकित आदि १० दोषों से रहित हो, उद्गम, उत्पादना और एषणा के दोषों से रहित हो, तथा दाता द्वारा देय वस्तु स्वयं अचित्त हो गई हो, या दूसरे से अचित्त कराई गई हो, या आगामी उत्पन्न होने वाले कृमियों से रहित हो, दाता ने देय वस्तु के जन्तु स्वयं पृथक् किये हों, दाता ने देय वस्तु के जीव दूसरों से पृथक् कराये हों, तथा जिस देय वस्तु के जीव स्वयमेव पृथक् हों, ऐसा प्रासुक—अचित्त भिक्षा के दोषों से रहित सर्वथा शुद्ध भिक्षान्न ही गवेषणा—ग्रहण करने योग्य है। किन्तु गृहस्थ के घर में भिक्षा के समय आसन पर बैठ कर धर्मकथा के प्रयोजनरूप किस्से–कहानियाँ सुनाने से प्राप्त भिक्षा ग्रहण करने योग्य नहीं है। इसी प्रकार चिकित्सा, मंत्रप्रयोग, जड़ीबूटी, औषधि आदि बता कर उसके निमित्त से प्राप्त भिक्षा भी ग्राह्य नहीं है। स्त्री-पुरुष आदि के शुभाशुभसूचक लक्षण, हस्तरेखा, भूकम्प आदि उत्पात, स्वप्नफल, ज्योतिषविद्या, शुभाशुभ-सूचक निमित्तशास्त्र तथा कथा पुराणादि से या विस्मय पैदा करने वाले जादू आदि के प्रयोग से प्राप्त भिक्षा भी ग्रहण करने योग्य नहीं है। दम्भ से प्राप्त भिक्षा भी न हो, दाता के पुत्र या पशु आदि की रखवाली करने से प्राप्त भी न हो, शिक्षा देने के निमित्त से भी प्राप्त होने वाला भिक्षान्न न हो, तथा दम्भ से, रक्षा से और शिक्षा से इन तीनों से प्राप्त भिक्षा की भी गवेषणा नहीं करनी चाहिए। गृहस्थ को वन्दना या स्तुति करके भी भिक्षा न ले, सत्कार-सम्मान करके भी भिक्षा न ले, एवं उसकी पूजा—सेवा करके भी भिक्षा न ले, तथा गृहस्थ की स्तुति, सत्कार और पूजा इन तीनों से उपलब्ध भिक्षा भी ग्रहण नहीं करनी चाहिये। जाति आदि की बदनामी करके भी भिक्षा न ले, दाता की निन्दा करके भी आहार न ले, लोगों के सामने दाता के अवगुण प्रगट करके भी आहार न ले, तथा दाता की हीलना, निन्दा और गर्हा इन तीनों को एक साथ करके भी भिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिए। दाता को डरा कर भिक्षा लेना ठीक नहीं, न उसे धमका कर या डांट कर भिक्षा लेना उचित है, और न ही उसे मारपीट करके भिक्षा मांगना उचित है। भयभीत, डांटडपट

और मारपीट तीनों एक साथ करके भी भिक्षा नहीं मांगना चाहिये। अपनी ऋद्धि आदि का गौरव—घमंड बता कर भिक्षा लेना ठीक नहीं, न दरिद्रता प्रगट करके या धूर्तता करके भिक्षा मांगना उचित है और न ही याचक या भिखारी की तरह दीनता प्रगट करके भिक्षा लेना अच्छा है, तथा घमंड, दरिद्रता या धूर्तता और भिखारी तरह चापलूसी करके भी भिक्षा न मांगना चाहिए। अपनी मैत्री बता कर भी भिक्षा लेना ठीक नहीं, न किसी से प्रार्थना करके भिक्षा ग्रहण करना उचित है,और नहीं गृहस्थकी सेवा— पगचंपी आदि करके ही भिक्षा लेना ठीक है तथा मित्रताप्रदर्शन, प्रार्थना और सेवा तीनों एक साथ करके भी भिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिये। किन्तु स्वजनादि सम्बन्धों का, अपना परिचय न देते हुए अज्ञातरूप हो कर,सम्बन्ध ज्ञात हो जाने पर भी अप्रतिबद्ध—लाग लपेट से रहित या मूर्च्छारहित, आहार या दाता के प्रति द्वेषभाव या दुष्ट भाव से रहित, दैन्यरहित, भोजनादि न मिलने पर मन में भी विकारभाव से रहित, अकरुण, विषादरहित तथा प्राप्त संयम योग में प्रयत्न से और अप्राप्त योगों की प्राप्ति के लिए चेष्टा से, विनय के आचरण से एवं क्षमादि गुणों के योग से युक्त होकर भिक्षु भिक्षाचर्या की शुद्ध एषणा में रत रहे।

यह प्रवचन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सारे जगत् के जीवों की रक्षारूप दया के लिए भलीभांति कहा है; जो आत्मा के लिए हितकर है, जन्मान्तर में शुद्ध फलदायक है, भविष्य में कल्याणकारी है, निर्दोष है, न्याययुक्त है, मोक्ष के लिए सरल है, सबसे उत्कृष्ट है और सभी दुःखों और पापों को उपशान्त करने वाला है।

व्याख्या

अहिंसा के विशिष्ट आचरणकर्ताओं का पिछले सूत्रपाठ में उल्लेख करने के बाद शास्त्रकार ने इस सूत्रपाठ में अहिंसा की उच्च साधना करने वाले मुनियों की भिक्षाविधि का स्पष्ट निरूपण किया है। यद्यपि सूत्रपाठ का अर्थ मूलार्थ एवं पदान्वयार्थ से बहुत कुछ स्पष्ट है; तथापि कई शब्दों पर विवेचन करना आवश्यक है। इसलिए नीचे उन पर विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

अहिंसा के वर्णन के साथ भिक्षाचर्या की विधि का निर्देश क्यों?—इस सूत्रपाठ को देख कर सर्वप्रथम ये प्रश्न उठते है कि अहिंसा के वर्णन के साथ भिक्षाविधि के निर्देश का क्या मेल है? क्या भिक्षाविधि के बिना अहिंसा का पालन नहीं

हो सकता ? क्या अहिंसा के आचरण के लिए अमुक प्रकार की भिक्षाविधि अनिवार्य है ? इन सब प्रश्नों का समाधान यह है कि अहिंसा की पूर्णता मन-वचन-काया से कृत,कारित और अनुमोदन रूप हिंसा का सर्वथा त्याग करने और इन्ही नौ कोटियों से शुद्ध अहिंसा का पालन करने मे है । इस प्रकार की पूर्ण अहिंसा का पालन घर वार व कुटुम्बकबीलों का ममत्व छोड़ कर, पचन-पाचन, क्रयविक्रय, घर, मकान या सामान का परिग्रह (ममत्व) छोड़ कर, पचमहाव्रतधारी साधु या साध्वी बने विना नही हो सकता । अगर अहिंसा का पूर्ण उपासक घर में ही रहेगा, गृहस्थ बना रह कर ही अपने परिवार, जाति, जमीनजायदाद आदि से लगाव रखेगा तो उसे पचन-पाचन, क्रयविक्रय या आजीविका के लिए आरम्भसमारम्भपूर्ण श्रम, मकानादि बनाने के लिए आरम्भसमारम्भ आदि करना पड़ेगा या इन कार्यों को कराना पड़ेगा । और भोजन बनाने, कृषि करने, या जीविकार्य अन्य आरम्भपूर्ण श्रम करने में हिंसा होना अनिवार्य है । हालांकि वह हिंसा संकल्पजा नही होती,आरम्भजा ही होती है,मगर आरम्भजा हिंसा भी तो हिंसा ही है । वह अणुव्रती गृहस्थ श्रावक के लिए तो सर्वथा वर्ज्य नहीं है। उस (श्रावक) अवस्था मे भी मर्यादित अहिंसा का तो पालन किया जा सकता है ; लेकिन गृहस्थ जीवन में कतिपय अनिवार्य हिंसाओं के रहते पूर्ण अहिंसा पालने का दावा नही किया जा सकता । यही कारण है कि अहिंसा का सांगोपांग पूर्णरूप से पालन करने के लिए महाव्रत-धारण करना आवश्यक है । महाव्रतों में सर्वप्रथम अहिंसामहाव्रत आता है । महाव्रत धारण कर के मुनि वन जाने के बाद भी जीवननिर्वाह की समस्या तो उसके सामने भी रहती है । जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को तो वह भी नही ठुकरा सकता । जीवननिर्वाह के लिए सर्वप्रथम भोजन आवश्यक है । भोजन के विना शरीर टिक नहीं सकता । और धर्म-पालन करने के लिए शरीर को टिकाना आवश्यक है । भोजन के अलावा भी साधु को अपनी जीवनयात्रा के लिए वस्त्र, पात्र, ग्रन्थ-शास्त्र आदि की आवश्यकता रहती है । इन सब मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूर्ण अहिंसक बना हुआ महाव्रती अपरिग्रही साधु न तो कोई चीज खरीद सकता है, न खरीदवा सकता है और न ही जमीनजायदाद आदि रख कर या धंधा अथवा नौकरी करके बदले में भोजनादि पाने का आरम्भजन्य श्रम कर सकता है । इसी प्रकार भोजनादि पाने के लिए वह खेती भी कर या करवा नही सकता है और न स्वयं भोजन पका सकता है, न अपने लिए पकाने का कह सकता है और न पकाने वाले का समर्थन ही कर सकता है ।

ऐसी हालत में अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गृहस्थो के यहाँ से भिक्षा के रूप में थोड़ा-थोड़ा भोजनवस्त्रादि ग्रहण करने के सिवाय साधुवर्ग के सामने और कोई रास्ता नही रह जाता । भिक्षु बन जाने पर उसे भिक्षा का

अधिकार भी मिल जाता है। इसी उद्देश्य को ले कर महाव्रती पूर्ण अहिंसक साधु के लिए भिक्षाचर्या का अनिवार्य विधान किया गया है। इसी कारण अहिंसा का पूर्णरूप से पालन करने के हेतु भिक्षाजीविता अनिवार्य है। क्योंकि तभी वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु होने वाली पूर्वोक्त आरम्भजन्य हिंसा से बच सकता है, अपने शरीर को भी टिकाए सकता है तथा उससे धर्मपालन भी कर सकता है।

जब साधु के लिए भिक्षाचरी अनिवार्य है, तब उसे यह भी देखना आवश्यक होगा कि हिंसा के जिन (पूर्वोक्त) दोषों से बचने के लिए उसने भिक्षावृत्ति स्वीकार की है ; वे ही दोष भिक्षाचरी में पुनः न आ धमकें ! अन्यथा,निकालने गए बिल्ली को, घुस गया ऊंट वाली कहावत चरितार्थ होगी। जिस आरम्भजन्य हिंसा के डर से भिक्षावृत्ति का सहारा लिया ; उसमें और अधिक आरम्भजन्य हिंसा होने लगेगी। क्योंकि गृहस्थजीवन में रहते हुए तो एक ही घर से सीमितमात्रा में आरम्भजन्य हिंसा से काम चल जाता, परन्तु साधु तो विश्वकुटुम्बी बन जाता है और उसके प्रति लोकश्रद्धा भी उमड़ने लगती है। साधु अपनी भिक्षाचरी में अगर पूर्वोक्त आरम्भजन्य हिंसा से बचने का ध्यान नहीं रखेगा तो साधु कहे, चाहे न कहे, उसे जरूरत हो, चाहे न हो, अपनी श्रद्धाभक्तिवश कई श्रद्धालु गृहस्थ अपने-अपने घरों में उसके लिए स्वादिष्ट और बढ़िया भोजन तैयार करने लगेंगे ; उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वे आरम्भजन्य हिंसा की परवाह नहीं करेंगे। फिर कई श्रद्धालु या भावुक गृहस्थों को चमत्कार बता कर यंत्र, मंत्र, तंत्र, ज्योतिष आदि के सहारे गृहस्थों का सांसारिक कार्य करके या दुनियादारी के चक्कर में फंस कर साधुवर्ग उनसे अपनी मनचाही आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगेगा। ऐसी दशा में गृहस्थजीवन में होने वाले आरम्भ से भी कई गुना अधिक आरम्भ साधु की भिक्षाचरी के साथ बढ़ जायगा।

इसी दूरगामी परिणाम को दृष्टिगत रख कर शास्त्रकार ने अहिंसा के निरूपण के साथ भिक्षाचरी की विधि और भिक्षाचरी में होने वाले दोषों से बचने का निर्देश किया है, जो समुचित जान पड़ता है,जिससे कि पूर्ण अहिंसामहाव्रती साधु भिक्षाचरी में संभावित उक्त हिंसाजनक दोषों से बच सकें और अहिंसा का पूर्णतः पालन करने में सफल हो सकें।

इन सब कारणों से अहिंसा के निरूपण के साथ शास्त्रकार ने भिक्षाविधि के विषय में अंगुलिनिर्देश किया है—'**इमं च पुढविदगअगणिमारुयतरुगणतसथावरसव्वभूयसंजमदयट्ठाते सुद्धं उंछं गवेसियव्वं।**' इसका आशय यह है कि साधु पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावरों और द्वीन्द्रिय आदि त्रसजीवों—यानी छहों काय के जीवों की हिंसा का नवकोटि (तीन करण और तीन योग) से त्याग करते हैं। वे विश्व के प्राणिमात्र के रक्षक

साधु मन-वचन-काया से न तो किसी जीव को स्वयं पीड़ा पहुंचाते हैं, न किसी जीव को पीड़ा पहुंचाने की दूसरों को प्रेरणा करते हैं,और न ही किसी जीव को पीड़ा पहुंचाने की अनुमोदना करते है । इसलिए शास्त्रकार कहते है कि द्रव्य और भाव से अहिंसा का पूर्णरूप से पालन करने की दृष्टि से साधुओं को आहार-पानी या धर्मपालन के लिए शरीर-धारणार्थ अन्य उपयोगी वस्तु शुद्धरूप से भिक्षाविधि के अनुसार ग्रहण करना चाहिए । उन्हें यह अन्वेषणा-गवेषणा करनी चाहिए कि भिक्षा के रूप में प्राप्त होने वाली इन चीजों के पीछे कही हमारे निमित्त से किसी प्रकार की हिंसा तो नहीं हुई है ? क्योकि गृहस्थ लोगो द्वारा श्रद्धाभक्तिवश साधु को भोजनादि द्रव्य देने के हेतु पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीवो की विराधना संभव है, कही द्वीन्द्रिय आदि त्रसजीवों को भी पीड़ा पहुंचनी सभव है । इसलिए साधु गवेषणा करके निर्दोष भिक्षा ही ग्रहण करे ।

निर्दोष भिक्षा कैसी होती है ?, इसके लिए शास्त्रकार स्वयं कहते हैं— **'अकतमकारियमणाहूयमणुद्दिट्ठं अकीयकडं नवहि य कोडिहिं सुपरिसुद्धं ।'** इसका आशय यह है कि भिक्षाप्राप्त भोजनादि पदार्थ भिक्षु ने स्वयं न वनाया हो, न साधु के द्वारा दूसरो को प्रेरणा दे कर वनवाया हो, न वह पदार्थ साधु को पहले आमत्रण दे कर तैयार किया गया हो, और न ही किसी साधु को लक्ष्य करके वनाया गया हो । इसी प्रकार वह भोजनादि पदार्थ साधु के लिए ही खरीद कर तैयार किया हुआ भी न हो । साराश यह है कि जो भोजनादि पदार्थ साधु को भिक्षा के रूप में ग्रहण करना है, वह निम्नोक्त नवकोटि से विशुद्ध होना चाहिए—१ साधु न स्वयं जीव का घात करते हैं, २ न दूसरों से घात करवाते हैं, और ३ न घात करने वाले का अनुमोदन करते हैं ; ४ वे न स्वयं पकाते हैं, ५ न दूसरो से पकवाते है, और ६ न पकाने वाले की अनुमोदना करते हैं, ७ वे न स्वयं खरीदते हैं, ८ न दूसरो से खरीदवाते हैं, और ९ न ही खरीदने वाले की अनुमोदना करते हैं । क्योंकि वे मन,वचन और काया से कृत, कारित और अनुमोदन के रूप में हिंसा के त्यागी होते हैं । भिक्षा के रूप मे प्राप्त वह पदार्थ उपर्युक्त नौ कोटियों में से किसी भी कोटि द्वारा दूषित न हो, तभी नवकोटिपरिशुद्ध आहार कहलाता है । इस तरह से नवकोटिपरिशुद्ध भिक्षा प्राप्त पदार्थ ग्रहण करने का ध्यान नहीं रखा जायगा तो साधु हिंसा के दोष से बच नहीं सकेगा, न पूर्ण अहिंसापालन का दावा कर सकेगा ।

भिक्षा के समय लगने वाले १० एषणा के दोष—भिक्षा लेते समय निम्नोक्त दस एषणा के दोषों के लगने की संभावना है । इसके लिए यह गाथा प्रस्तुत है—

'संकियमक्खियनिक्खित्तपिहिय-साहरियदायगुम्मीसे ।
अपरिणयलित्तछड्डिय-एसणदोसा दस हवंति ॥'

अर्थात्—'१ शंकित, २ म्रक्षित, ३ निक्षिप्त, ४ पिहित, ५ संहृत, ६ दायकदुष्ट, ७ उन्मिश्र, ८ अपरिणत, ९ लिप्त और १० छर्दित (त्यक्त); ये दस एषणा के दोष हैं।'

शंकित दोष वहाँ होता है, जहाँ दाल, चावल आदि अशन, दूध आदि पान, मोदक आदि खादिम और इलायची, सुपारी आदि स्वादिम, इन चारों प्रकार के आहारों में से दाता द्वारा दिये जाने वाले किसी भी भोज्य पदार्थ में शंका हो जाय कि आगमानुसार यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है या नहीं ? और ऐसा संदेह हो जाने पर भी उस वस्तु को ग्रहण कर लिया जाय।

जल आदि सचित्त पदार्थों से म्रक्षित—स्निग्ध हाथ, बर्तन या कड़छी आदि द्वारा आहारादि ले लेना म्रक्षित दोष है।

सचित्त पृथ्वी, जल, अग्नि, हरितकाय, बीज या द्वीन्द्रियादि त्रस जीवों पर रखा हुआ आहारादि ग्रहण कर लेना निक्षिप्त दोष है।

सचित्त जल या हरे पत्ते आदि वनस्पति से ढका हुआ आहारादि पदार्थ ग्रहण कर लेना पिहित दोष है।

दाता द्वारा बिना देखे-भाले शीघ्रता से बर्तन आदि उघाड़ कर दिया हुआ आहार आदि ले लेना संहृत दोष है।

दाता यदि अत्यन्त नन्हा बालक हो, अत्यन्त अशक्त या वृद्ध हो, जिसके हाथ-पैर काँप रहे हों, भोजन करते-करते बीच में ही कच्चे पानी से हाथ धो कर देने को उद्यत हो, आसन्न प्रसवा गर्भवती हो, अन्धा या अन्धी हो, ऊँचे विषम स्थान पर बैठी हो, मुँह से फूंक मार कर आग सुलगा रही हो, लकड़ियाँ डाल कर आग जला रही हो, लकड़ी जलाने के लिए चूल्हे में सरका रही हो, राख से आग को ढक रही हो, जल आदि से आग बुझा रही हो, या अन्य कोई अग्नि से सम्बन्धित कार्य कर रही हो, स्नान कर रही हो, या सचित्त वस्तु से सम्बन्धित कोई भी कार्य कर रही हो, तो उस दात्री या ऐसे दाता के द्वारा दिया हुआ आहारादि पदार्थ ले लेना दायकदोष कहलाता है। सचित्त जल, पत्ते, फल, फूल आदि हरितकाय, गेहूं, चने आदि बीज तथा द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीव इन पांचों में से किसी भी किस्म के जीवों से मिश्रित आहार दाता से ले लेना उन्मिश्र दोष है।

तिल, चावल आदि के धोवन का जल, उष्णजल, चने, तुष आदि का धोया हुआ जल, हरड़े आदि के चूर्ण से मिश्रित जल या और भी किसी चीज का जल, जो अच्छी तरह वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श से परिणत न हुआ हो, उस अप्रासुक जल को ग्रहण करने से अपरिणत दोष लगता है। गेरू, हड़ताल, खड़िया, मैनसिल, बिना छड़े चावल और पत्ते आदि के हरे शाक से लिप्त हाथ या बर्तन या सचित्त जल से भीगे हुए हाथ या बर्तन द्वारा आहारादि देने पर लेने से लिप्त दोष लगता है।

दाता के हाथ से जमीन पर नीचे टपकती हुई या गिरती हुई भोजनादि वस्तु को लेना छर्दित दोष है।

ये दस एषणा के दोष हैं, इनसे भिक्षाजीवी साधु को बचना चाहिए। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है—'दसहि य दोसेहिं विप्पमुक्कं उग्गम-उप्पायणेसणासुद्धं'—इसका आशय यह है कि साधु के द्वारा भिक्षा के रूप में लिया जाने वाला आहारादि पदार्थ एषणा के दस दोषों से मुक्त होना चाहिए। इस प्रकार उद्गम के सोलह और उत्पादना के सोलह, इन बत्तीस दोषों से भी रहित शुद्ध होना चाहिए; तभी वह साधु अहिंसा का शुद्ध आचरण कर सकेगा। अब क्रमशः हम इन ३२ दोषों के नाम और संक्षेप में उनका लक्षण बताएंगे।

उद्गमदोष और उनका स्वरूप—इनका उद्गम नाम इसलिए रखा गया है कि आहार की उत्पत्ति के समय गृहस्थ दाता द्वारा ये दोष सेवन किये जाते हैं, साधु बिना गवेषणा—छान बीन किए ही अगर आहार ले लेता है तो उसे ये दोष लगते हैं और उसकी वह भिक्षा अशुद्ध हो जाती है।

१६ उद्गमदोषों को बताने के लिए निम्नोक्त गाथाएं प्रस्तुत हैं—

आहाकम्मुद्देसिय पूइकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओयरकीयपामिच्चे ॥१॥
परियट्टिए अभिहडेऽब्भिन्ने मालाहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसट्ठे अज्झोयरए सोलस पिंडुग्गमे दोसा ॥२॥

अर्थात्—१ आधाकर्मिक, २ औद्देशिक, ३ पूतिकर्म, ४ मिश्रजात, ५ स्थापना, ६ प्राभृतिक, ७ प्रादुष्करण, ८ क्रीत, ९ प्रामित्य, १० परिवर्तित, ११ अभिहृत, १२ उद्भिन्न, १३ मालाहृत, १४ आच्छिद्य, १५ अनिसृष्ट और १६ अध्यवपूरक, ये १६ उद्गमदोष हैं; जो पिंड -आहार की उत्पत्ति से सम्बद्ध हैं और दाता से होते हैं।

आधाकर्मिक—साधु के निमित्त गृहस्थ द्वारा मन में आधान—धारणा बना लेना कि आज मुझे अमुक साधु के लिए भोजनादि बनाना है, इस प्रकार मन में तय कर लेना और फिर तदनुसार क्रिया करना, आधा कर्म है और आधाकर्मनिष्पन्न उक्त आहार को ग्रहण कर लेना आधाकर्मिक दोष कहलाता है। इसे अधःकर्म भी कहते हैं, उसका अर्थ होता है—संयम से अधःपतन कराने वाला आहारग्रहणदोष।

औद्देशिक—गृहस्थ द्वारा अपने लिए बनाए हुए आहार आदि के साथ पहले या बाद में साधुओं के उद्देश्य से अधिक तैयार किये गए आहारादि ग्रहण करना औद्देशिक दोष है। औद्देशिक दोष दो प्रकार से होता है—ओघरूप से और विभाग-रूप से। बहुत से भिक्षाजीवियों को देख कर 'भिक्षाचर तो बहुत हैं, कितनों को देंगे,-इस प्रकार मन में सोच कर जिस बर्तन में चावल पक रहे हों, उसमें अपने और दूसरे के उचित अंश का विभाग किए बिना ही कुछ अधिक चावल डाल देना और साधु द्वारा

उसमें से कुछ ले लेना, ओघरूप से—सामान्यरूप से औद्देशिक है। किन्तु यहां अपने लिए इतना, साधु, बाबा, परिव्राजक या तापस के लिए इतना, इस प्रकार ठीक विभाग करके गृहस्थ द्वारा बनाया गया भोजन विभागरूप से औद्देशिक है। बाबाओं के लिए, भिखारियों या कंगलों के लिए उनके नाम से अलग निकाल कर किया गया भोजन भी औद्देशिक कहलाता है। संक्षेप में औद्देशिक के ४ भेद हैं—उद्देश, समुद्देश, आदेश और समादेश। जितने भी भिक्षाचर हैं, उन सबको उद्देश्य करके गृहस्थ द्वारा बनाया गया भोजन उद्देश है, केवल अन्य वेष धारी बाबाओं को उद्देश्य करके बनाया गया भोजन समुद्देश है, जो भोजन बौद्ध भिक्षुओं, तापसों या परिव्राजकों के लिए सोच कर बनाया गया हो, वह आदेश है और जो केवल उच्च कोटि के निर्ग्रन्थ साधुओं को देने का संकल्प करके बनाया गया हो, वह आहार समादेश है। ये चार औद्देशिक दोष हैं।

पूतिकर्म—उद्‌गमादि दोषों से रहित अपने आप में शुद्ध आहारादि में अशुद्ध आधाकर्मादिदोषयुक्त आहारादि मिला कर गृहस्थ द्वारा साधु को देने पर वह आहार ले लेना पूतिकर्मदोष है।

मिश्रजात—अपने परिवार और साधु दोनों के लिए एक बर्तन में ही मिला कर बनाना और वह साधु को देना मिश्रजात दोष है। १—जितने भी याचक हैं, उनके लिए, २—पाखंडियों के लिए, ३—साधुओं के लिए, इस प्रकार क्रमशः यावदर्थिक-मिश्र, पाखंडिमिश्र और साधुमिश्र के रूप में यह दोष भी तीन प्रकार का है।

स्थापना—'साधु को देने से पहले दूसरे को नहीं दूंगा', इस अभिप्राय से गृहस्थ द्वारा अपने यहां बना हुआ भोजन अलग ही स्थापित करके रख देना स्थापनादोष है। ऐसी स्थापना दो तरह से होती है—१-अपने स्थान पर चूल्हे या पतीली में स्थापित करना और दूसरे के स्थान पर अच्छे बर्तन आदि में स्थापित करना। यह द्विविध स्थापना दोष भी चिरकालिकी और इत्वरकालिकी के भेद से दो प्रकार का है।

प्राभृतकदोष—साधुओं को गांव में आये जान कर मेहमान को आगे-पीछे करके दिए जाने वाले आहारादि के ग्रहण से प्राभृतकदोष होता है। यह दोष भी उत्कर्षण और अपकर्षण के भेद से दो प्रकार का है। जहां लग्न, उत्सव या पाहुने के आगमन का दिन साधु के आने पर आगे बढ़ा दिया जाय, वहां उत्कर्षणप्राभृतक है और जहां इनका दिन घटा दिया जाय यानी साधु के आने से पहले ही पूर्वोक्त उत्सवादि का दिन पहले की किसी तिथि को निश्चित कर लिया जाय, वहां अपकर्षण प्राभृतकदोष है।

प्रादुष्करण—अंधेरी जगह में उजाला करके गृहस्थ द्वारा दिये जाने वाले आहार आदि के लेने से प्रादुष्करण दोष लगता है। यह भी दो तरह का है—संक्रमण और प्रकाशन। साधु के घर पर आने पर गृहिणी द्वारा भोजन या बर्तन आदि

अंधेरे से उजाले में लाना संक्रमण दोष है, जबकि साधु के आते ही दीपक संजो कर प्रकाश करना प्रकाशनदोष है।

क्रीतदोष—गृहस्थ द्वारा साधु के लिए खरीदे गए वस्त्र, पात्र, भोजन आदि लेने से क्रीत दोष लगता है। क्रीत दोष के भी चार भेद हैं— आत्मद्रव्यक्रीत, परद्रव्यक्रीत, आत्मभावक्रीत और परभावक्रीत। भिक्षा के लिए संयमी के प्रवेश करने पर गाय आदि देकर बदले में लिया भोजन साधु को देना स्वद्रव्यक्रीत दोष है, दूसरों को साधु की महिमा बताकर उससे आहारादि कोई वस्तु खरीदवा कर साधु को देना परद्रव्यक्रीतदोष है। इसी तरह प्रज्ञप्ति आदि विद्या और चेटकादि मन्त्रों के बदले में आहार स्वयं खरीद कर साधु को देना आत्मभावक्रीतदोष है, और उपर्युक्त विद्या और मन्त्रों के बदले में दूसरो से आहारादि खरीदवा कर साधु को देना परभावक्रीतदोष है।

प्रामित्यदोष—साधु के लिए कोई वस्तु उधार ले कर गृहस्थ द्वारा देने से साधु को प्रामित्य दोष लगता है। इसके भी दो भेद हैं—सवृद्धिक और अवृद्धिक। कर्ज से अधिक देना सवृद्धिक है और जितना कर्ज लिया, उतना ही देना अवृद्धिक है।

परिवर्तितदोष—एक गृहस्थ से दूसरे गृहस्थ ने साधु के लिए एक वस्तु के बदले भोजनादि दूसरी वस्तु ली हो ; उस वस्तु के लेने में साधु को परिवर्तितदोष लगता है।

अभ्याहृतदोष—साधु के लिए गृहस्थ द्वारा सम्मुख लाए हुए आहारादि के लेने से साधु को अभ्याहृत दोष लगता है। इसके दो भेद है—आचीर्ण और अनाचीर्ण। कल्पनीय घरो से ला कर दिया हुआ आहार आचीर्ण है और अकल्पनीय घरों से ला कर दिया हुआ अनाचीर्ण है। इन दोनों के भी प्रच्छन्न और प्रकट तथा स्वग्राम और परग्राम के भेद से ४ भेद होते हैं। इनके अर्थ स्पष्ट हैं।

उद्भिन्नदोष—मिट्टी, लाख आदि से लीपा हुआ या मुहर लगा कर अंकित किया हुआ औषध, घी, तेल, आदि द्रव्यों के बर्तन का लेप या मुखबंध आदि साधु के लिए तोड़ कर दिये जाने वाले पदार्थों के लेने से साधु को उद्भिन्न दोष लगता है। इसके भी दो भेद हैं—पिहितोद्भिन्न और कपाटोद्भिन्न। पिहितोद्भिन्न तो कुप्पी आदि का मुखबंध खोल कर या टीन आदि की सील तोड़कर साधु को देने से लगता है, तथा कपाटोद्भिन्न वह दोष है, जहां वर्षों से बंद कपाट को खोल कर साधु को कोई पदार्थ देने से लगता है।

मालापहृत-मालारोहणदोष—दाता यदि टेढ़ीमेढ़ी सीढ़ी या नि:श्रेणी पर चढ़ कर अथवा ऊँचे ऊबड़-खाबड़—विषम स्थान पर चढ कर या नीचे तलघर में उतर कर आहारादि देने लगे तो उसके ग्रहण करने से साधु को यह दोष लगता है ; क्योंकि ऊपर चढ़ने या नीचे उतरने आदि से दाता के गिर पड़ने, चोट लगने या प्राणहानि होने की संभावना है ; इसलिए यह दोष माना गया है।

आच्छेद्यदोष—राजा, चोर, गांव का मुखिया या अन्य कोई बलवान् व्यक्ति

किसी निर्बलव्यक्ति या अपने नौकर आदि को उसकी दान देने की अनिच्छा होने पर भी डरा, धमका कर उससे जबर्दस्ती साधु को दिलावे या स्वयं छीन कर साधु को दे दे तो उसके लेने से साधु को आच्छेद्यदोष लगता है।

अनिसृष्टदोष—भोजनादि किसी पदार्थ के मालिक द्वारा अपने अधीन नौकर, पुत्र, गुमाश्ते आदि को साधु को देने की मनाही होने पर भी यदि कोई भक्तिवश साधु को देने लगे तो वहाँ साधु द्वारा उस वस्तु को लेने पर अनिसृष्ट दोष लगता है। अनिसृष्ट के दो भेद हैं—ईश्वर और अनीश्वर। देयपदार्थ का मालिक देने की इच्छा करे, लेकिन मंत्री, गुमाश्ते आदि अपने मातहत नौकरों को मना करें तो उनसे लिया हुआ भोजन ईश्वर—अनिसृष्ट कहलाता है। स्वामी द्वारा निषिद्ध किया हुआ भोजनादि पदार्थ अन्य जनों द्वारा दिया जाय और उसे साधु ग्रहण कर ले तो अनीश्वर-अनिसृष्ट कहलाता है। इसी प्रकार साझी वस्तु उसके सब मालिकों की अनुमति के बिना लेना भी, अनिसृष्ट दोष है।

अध्यवपूरक—संयमी साधुओं को गाँव की ओर आते देख कर उनको देने के लिए अपने निमित्त तैयार किये जाने वाले भात आदि में वैसी ही वस्तु और अधिक मिला कर उसकी वृद्धि किये गए अशनादि के लेने से साधु को यह दोष लगता है।

इस प्रकार उद्गम के पूर्वोक्त १६ दोषों से मुक्त, गवेषणा से परिशुद्ध आहार आदि साधु को लेना चाहिए।

उत्पादना के सोलह दोष और उनके लक्षण—उत्पादना के १६ दोष दाता-गृहस्थ के निमित्त से नहीं लगते। जिह्वालोलुपता, शरीरशुश्रूषा, सुकुमारता आदि कारणों से साधु के निमित्त से ही ये दोष पैदा होते हैं। उन १६ दोषों के लिए निम्नोक्त गाथाएँ प्रस्तुत हैं—

धाईदूइणिमित्ते आजीववणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया-लोभे य हवंति दस एए ॥१॥
पुव्विंपच्छासंथव विज्जा-मंते य चुन्न-जोगे य।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥२॥

अर्थात्—धात्री, दूती, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ ; ये दश तथा पूर्व—पश्चात्-संस्तव, विद्या, मंत्र, चूर्ण, योग और मूलकर्म ये ६ मिलाकर कुल १६ दोष उत्पादना के होते हैं।

धात्रीदोष—साधु या साध्वी यदि किसी गृहस्थ के बालक या बालिका की धात्री (धाय) का काम करके आहार पानी, वस्त्र आदि गृहस्थ से ग्रहण करें तो वहाँ धात्रीदोष लगता है। धात्री पांच प्रकार की होती है—क्षीरधात्री (बालक को दूध पिलाने वाली), मज्जनधात्री (स्नान कराने वाली), मंडनधात्री (बालक को कपड़े, गहने आदि पहनाने वाली), क्रीड़नधात्री (बालक को खेलाने वाली) और उत्संगधात्री (गोद में

लिए-लिए फिरने वाली)। इसका एक अर्थ यह भी होता है कि किसी धनाढ्य भक्त के यहाँ रखी हुई किसी धात्री को, उसकी स्वामिनी से उसके अवगुणवर्णन करके निकलवा देना और उसके बदले दूसरी अपनी परिचित नई धात्री को रखवा कर उस धात्री द्वारा प्रदत्त स्वादिष्ट और स्निग्ध भोजनादि ग्रहण करना, धात्रीपिंडदोष है।

दूतीदोष—एक स्थान से दूसरे स्थान पर, एक गाँव से दूसरे गाँव, गृहस्थो का संदेश कहते या कहलाते फिरना तथा दूतीपन के काम को करके गृहस्थ भक्त-भक्ताओ की भावना बढ़ा कर आहारादि ग्रहण करना दूतीदोष है।

निमित्तदोष—भूत, भविष्य और वर्तमानकाल के लाभालाभ, सुख-दुःख, जीवित-मरण आदि के सम्बन्ध मे निमित्तज्ञान गृहस्थ के पूछे जाने या न पूछे जाने पर बताना। फिर वह निमित्त हस्तरेखादि देख कर बताया जाय या शुभाशुभचेष्टा देख कर बताया जाय या ज्योतिषशास्त्र द्वारा बताया जाय, वह निमित्त है। निमित्त बता कर विशिष्ट भोजन आदि पदार्थ ग्रहण करना निमित्तपिंडदोष कहलाता है।

आजीवदोष—आजीव वृत्ति या आजीविका को कहते हैं। गृहस्थ को आजीविका के सम्बन्ध मे कुछ बतला कर आहारादि लेने से आजीवदोष लगता है। यह ५ प्रकार का है—जातिविषयक, कलाविषयक, गणविषयक, कर्मविषयक और शिल्पविषयक। ब्राह्मण-पुत्र को देख कर यह कहना कि 'मैं भी ब्राह्मण था ; यज्ञ, होम आदि क्रियाएँ इस-इस तरह से करता था, तुम भी करो', यह जातिविषयक आजीवदोष है। इसी प्रकार अपना कुल प्रगट करके उसे कुलाचार बताना कुलविषयक आजीवदोष है। इसी तरह गृहस्थजीवन के खेती आदि कर्मों का अनुभव बता कर अपना पूर्वकर्म प्रगट करना कर्मविषयक आजीवदोष है। तथा चित्रकला आदि शिल्प बता कर अपने को गृहस्थ-जीवन मे उक्त शिल्पकलादि से सम्बन्धित बताना शिल्पविषयक आजीव दोष है। और अपने आप को अमुक गण का बता कर उस गण का आचार बताना गणविषयक आजीवदोष है। इनसे हानि यह है कि अगर जाति आदि बताने से कोई प्रसन्न हो गया, तब तो आधाकर्मादि दोष लगा कर आहारादि देगा, और यदि कोई नाराज हो गया तो यह कह कर घर से निकाल देगा कि 'नालायक ! तू हमारी जाति, कुल, गण कर्म या शिल्प से भ्रष्ट हो गया !'

वनीपकदोष—रंक, भिखारी, याचक आदि की तरह दीनता दिखा कर, गिड़गिड़ा कर, दाता की या दाता जिस गुरु, विप्र आदि का भक्त हो, उसके सामने उस आराध्य गुरु आदि की प्रशंसा करके गृहस्थ से आहार-पानी, वस्त्र, पात्र आदि लेने से वनीपकदोष लगता है। दाता के प्रिय कुत्ता, अश्व, शुक आदि की प्रशंसा से भी यह दोष होता है।

चिकित्सादोष—रोगों का प्रतीकार करना चिकित्सा है। चिकित्साशास्त्र के ८ भेद हैं—बालचिकित्सा, शरीरचिकित्सा, रसायन, विषतंत्र, भूततंत्र, शलाका-

त्रिया और शल्यचिकित्सा। इन आठों तरह की चिकित्सा स्वयं वैद्य बन कर या दूसरों को दवा या इलाज बता कर या वैद्य आदि से करवा कर, उस गृहस्थ से आहारादि लेना चिकित्सादोष कहलाता है।

क्रोध-मान-माया-लोभपिण्डदोष—कोप करके गृहस्थ से आहार आदि लेना क्रोधपिण्ड है। उदाहरणार्थ—किसी साधु के मारण, मोहन, उच्चाटन, शाप आदि के प्रभाव को, तप के प्रभाव या कोपकाण्ड को प्रत्यक्ष देख कर भय से कोई गृहस्थ आहारादि दे तो वह क्रोधपिंड कहलाता है। अथवा ब्राह्मण आदि दूसरे याचकों को अपने सामने देते देखकर स्वयं को न देने पर दाता गृहस्थ पर कोप करने पर वह इस डर से आहारादि देता है कि साधु को नाराज और क्रोधित करना अच्छा नहीं, इस प्रकार जिसमें क्रोध ही पिंडोत्पादन का मुख्य कारण हो, उस पिंड को ले लेना क्रोधदोष है। किन्हीं साधुओं द्वारा साधु की इस प्रकार से प्रशंसा की जाती है कि 'यदि आज हम सबको बढ़िया भोजन खिला दोगे तो तुम अतिशय लब्धि वाले समझे जाओगे।' इस पर वह प्रशंसा से गर्व में फूल कर किसी गृहस्थ के यहाँ जा कर उसे दानवीर, धर्मात्मा आदि प्रशंसात्मक वचनों से चढ़ा कर उसके परिवार वालों की इच्छा न होते हुए भी उस अभिमानी गृहस्थ से आहारवस्त्रादि ले लेता है तो वह मानपिंडदोष है। कोई साधु मंत्रादिवश से रूप बदल कर, गृहस्थ को धोखे में डाल कर बढ़िया आहार आदि ग्रहण करता है तो वह मायापिंडदोष होता है। लोभवश रसलोलुप बन कर सामान्य घरों में भिक्षा के लिए न जा कर या चना आदि तुच्छ चीजें न ले कर जहाँ लड्डू-पेड़े आदि बढ़िया पदार्थ मिलें, वहीं पहुंचे और बढ़िया वस्तुएँ देख कर पात्र भर ले तो वह लोभपिंडदोष होता है।

पूर्वपश्चात्संस्तवदोष—साधु जहाँ भिक्षा लेने से पहले और बाद में दाता की प्रशंसा करके आहारादि ले, वहाँ पूर्वपश्चात्संस्तवदोष होता है। यह भी दो प्रकार का होता है—वचनसंस्तव, सम्बन्धसंस्तव। वचनसंस्तव दोष इस प्रकार से होता है—किसी धनाढ्य के यहाँ भिक्षा के लिए पहुंच कर भिक्षा लेने से पहले ही उसकी झूठी प्रशंसा करना कि 'आप के दानवीरता आदि गुणों की जैसी प्रशंसा सुनी थी, वैसे ही गुण मैं आप में देख रहा हूं।' अथवा वह दान करने से आनाकानी करे या भूल जाय तो कहना कि 'पहले तो आप बड़े दानी थे, अब दान देना कैसे भूल गए?' अथवा किसी युवक को देख कर कहना—'तुम्हारे पिता या बाबा बड़े दानी थे, तुम भी उन्हीं दानवीरों के पुत्र या पौत्र हो, तुम भी दानवीर बनोगे, इस प्रकार की झूठी प्रशंसा भिक्षाग्रहण से पूर्व करना पूर्वसंस्तव है। भिक्षा ग्रहण के बाद दाता का पश्चात्संस्तव इस प्रकार किया जाता है कि "आप बड़े दानी हैं, यशस्वी हैं, आप के दान की कीर्ति तो सर्वत्र विख्यात है, आदि।" अथवा यों कहना कि "आपके दर्शन से हमारी आँखें ठरी

हो गई, हमारा मन प्रफुल्लित हुआ।" कोई सम्बन्ध न होने पर भी साधु द्वारा इस प्रकार जोड़ा जाता है—"जैसी तुम्हारी गुणवती माता है, वैसी मेरी भी है, इसे देख-देख कर मेरी आँखों में हर्षाश्रु बरस पड़ते है !" अथवा "तुम्हारी सुशील पत्नी के समान मेरी भी सुशील पत्नी है, जिसे मैं छोड कर दीक्षित हुआ हूं।" अथवा "जैसे तुम्हारे पुत्र है, वैसे संसार मे मेरे भी हैं।" या वह सम्बन्धों की कल्पना प्रगट करता है—"तुम तो मेरी माता हो या मातृतुल्य ही हो, सहोदर बहन के समान हो या पुत्री ही हो।"

विद्यादोष, मंत्रदोष—जिन मत्रो की अधिष्ठात्री देवी हो, उन मत्रो को जप, होम, यंत्र-लेखन आदि विशिष्ट पद्धति के द्वारा सिद्ध कर लेना विद्यासिद्धि है। इस प्रकार से किसी भी विद्या को सिद्ध करके गृहस्थो के विविध प्रयोजनों के लिए उसका प्रयोग करके अथवा अमुक विद्या गृहस्थों को सिखा कर या सिखा देने का आश्वासन दे कर उनसे भोजनादि वस्तुएँ ग्रहण करना विद्यापिंडदोष है। मत्रो के अधिष्ठाता देव होते हैं। विविध मंत्रों को जप, पाठ आदि द्वारा सिद्ध करके गृहस्थो के विविध प्रयोजन सिद्ध करने के लिए उनका प्रयोग करके या उन्हें मत्र बता कर भोजनादि पदार्थ प्राप्त करना मत्रपिंडदोष है।

चूर्णदोष, योगदोष—चूर्ण और योग ये दो दोष है। आँखों मे ऐसा मत्रित अंजन या अन्य चूर्ण डाल ले, या डाल दे, जिससे सब वश में हो जांय, वह चूर्ण कहलाता है तथा एकदम अदृश्य कर देने वाले सौभाग्य-दौर्भाग्यकारक पादलेप आदि योग कहलाते हैं। एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु मिलाने से अनेक प्रकार के अदृष्टकारक अंजन आदि बना कर गृहस्थों को दे कर या उनके लिए प्रयोग करके बदले में उनसे आहारादि लेना चूर्णदोष है। तथा पादलेपन आदि योग स्वयं करके या गृहस्थों को बतला कर बदले मे उनसे आहारादि लेना योगदोष है।

मूलकर्मदोष गर्भस्तभन गर्भाधान, गर्भपात, वशीकरण, बन्ध्याकरण आदि के लिए मंत्र, तंत्र, यंत्र या औषध—जड़ीबूटी आदि बतला कर गृहस्थों से आहारादि लेना मूलकर्मदोष है।

इन उत्पादना के १६ दोषों से रहित शुद्ध आहार आदि ही साधु को ग्रहण करना चाहिए।

पहले बताए हुए शंकित आदि १० एषणा के दोष, १६ उद्गमदोष एवं १६ उत्पादनादोष, ये सब मिला कर आहारादि भिक्षा ग्रहण करने के ४२ दोष[1] होते हैं; इनसे बच कर ही साधु अपने सयम एवं अहिंसापालन को शुद्ध रख सकेगा।

१—आहार के ये ४२ दोष सामान्य या जघन्य हैं, इसके मध्यम भेद १०६ हैं, और उत्कृष्ट भेद २०४ हैं। इसकी विस्तृत जानकारी के लिए पिंडनिर्युक्ति आदि ग्रन्थ पढ़ें।
—संपादक

प्रासुक आहार- प्रासुक आहार का अर्थ है—ऐसा आहार पानी, जो चेतन-रहित हो। यद्यपि साधु को सचित्त वस्तु को अचित्त स्वयं करना नहीं है और न प्रेरणा दे कर कराना है। परन्तु जिस समय वह भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में जाय उस समय जो आहारादि पदार्थ उसे लेना है, वह अचित्त (प्रासुक) होना चाहिए; फिर भले ही उस पदार्थ के जीव स्वतः या किसी कारण से च्युत—पृथक् हो गए हों, अथवा उसमें से जीव इस प्रकार पृथक् हो गए हों कि भविष्य में पैदा न हो सकें, अथवा दाता ने साधु के उद्देश्य से नहीं, अपितु अपने लिए स्वतः प्रेरणा से उस वस्तु में से जीव पृथक् करवा रखे हों। इसी आशय को निम्नोक्त पंक्ति से शास्त्रकार ने व्यक्त किया है—'ववगयचुयचावियचत्तदेहं च फासुयं।'

साधु की निःस्पृही भिक्षावृत्ति भिक्षुक की दीनवृत्ति नहीं—साधु का जीवन सर्वोच्च है। चक्रवर्ती भी अपनी सर्वस्व विभूति और धनसंपत्ति को छोड़ कर इस मुनिपद को स्वीकार करता है। अतः पंचमहाव्रती साधु की भिक्षा बिलकुल निःस्पृह भिक्षा है। साथ ही स्वाभिमानपूर्वक एवं समभाव से ग्रहण की जाने के कारण यह अमीरी भिक्षा भी है। उसे न तो भिक्षा के समय गृहस्थों के घरों में बैठ कर कथा-कहानियों, चुटकलों आदि से मनोरंजन करके उनसे भेंट-दक्षिणा के रूप में आहारादि लेना है, न चिकित्सा, मंत्र, तंत्र,यंत्र,जड़ीबूटी, औषध आदि के प्रयोगों से उनके सांसारिक प्रयोजनों को सिद्ध करके उनकी दानवृत्ति को उभारना है, न शरीरचिह्नों, उत्पातों, स्वप्नों, ज्योतिषान्तर्गत ग्रहों, एवं विविध निमित्तों का फलाफल बता कर या जादूटोने आदि के चमत्कार बता कर गृहस्थों से आहारादि की सेवा लेनी है; न दम्भ, रखवाली एवं शासन का काम करके गृहस्थों से भिक्षा लेनी है; न गृहस्थों की स्तुति, सम्मान या पूजा करके आहारादि लेना है। अपनी भिक्षा के लिए साधु किसी गृहस्थ की जातिगत निन्दा करके, व्यक्तिगत निन्दा करके या लोगों के सामने उसके दोष प्रगट करके उसकी दानवृत्ति को उकसाएगा नहीं। वह किसी को डरा-धमका कर, फटकार कर या मारपीट कर भिक्षा लेने की तो बात ही नहीं सोच सकता। और न ही वह अपने गुरु, सम्प्रदाय या जाति आदि का बड़प्पन जता कर या फटेटूटे कपड़े आदि पहन कर अपनी दरिद्रता बता कर या भिखारियों की तरह गिड़गिड़ा कर या गृहस्थ की चापलूसी या खुशामद करके किसी गृहस्थ को भिक्षा देने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार चट्टान की तरह अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ साधु भिक्षा लेने की नीयत से दाता के प्रति कृत्रिम मैत्रीभाव प्रदर्शित करके, या प्रार्थना करके अथवा नौकर की तरह गृहस्थ की सेवा करके कदापि भिक्षाग्रहण नहीं कर सकता।

वह गृहस्थ के यहाँ भिक्षा के लिए जायगा तब बिलकुल अपरिचित-सा बन

कर, परिचय हो जाने पर भी आहारादि में अप्रतिबद्ध हो कर किसी पर भी द्वेषभाव न रख कर,मन में अदैन्य, अहीनभाव,अविषाद,आदि की शुद्ध भावना ही लेकर जाएगा। वह बिना थके शुद्ध भिक्षा की खोज में घूमेगा, किन्तु न मिलने पर अपने भाग्य,व्यक्ति या गांव को नही कोसेगा। वह अप्राप्त के लिए उद्यम और प्राप्त पर संयम करेगा और विनय, निःस्पृहता, अनासक्ति, क्षमा,त्याग, वैराग्य आदि अपने सहज गुणों से ही सबको प्रभावित करेगा, अपने मन वचन और काया को सतत स्वाध्याय, ध्यान आदि उत्तम धर्माचरण में लगाए रखेगा।

भिक्षा में शुद्धता का उपदेश किसने और क्यों दिया ?—साधु की भिक्षा-विधि में शुद्धता और निर्दोषता के लिए शास्त्रकार ने जो निरूपण किया है, वह सारा का सारा उपदेशात्मक और अनुशासनात्मक प्रतीत होता है। इसे पढ़ने से ऐसा मालूम होता है, मानो एक पिता अपने अर्धविदग्ध या मंदमति पुत्र को एक ही बात को जोर दे कर बार-बार कह रहा हो। सचमुच, पुत्र के प्रति असीम वात्सल्य ही पिता से बार-बार उसी बात को कहलाता है, इसमे पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता।

भिक्षाविधि-सम्बन्धी पूर्वोक्त प्रवचन भी अपने ज्येष्ठ पुत्रो—मुनियों के प्रति विश्ववत्सल, परमपिता भगवान् महावीर ने सम्यक् प्रकार से दिया है, और वह दिया है सम्पूर्ण विश्व के जीवों की रक्षारूप दया से प्रेरित हो कर। अपने ज्येष्ठ पुत्रों के लिए उनका भिक्षाविधि का यह उपदेश आत्महितकर है,भविष्य में कल्याणकर है, जन्म-जन्मान्तर को सफल बनाने वाला है, यह न्याययुक्त है, लागलपेट वाला नहीं, अपितु शुद्ध है, मोक्षप्राप्ति के लिए भी आसान है, श्रेष्ठ है, समस्त दुःखों और पापों को शान्त करने वाला है। सचमुच साधुवर्ग के लिए निर्दोष भिक्षावृत्ति का आविष्कार करके तीर्थंकरो ने साधु की जीवनयात्रा सुखद, सरल, भारहीन और तेजस्वी बना दी है।

अहिंसापालन के लिए पांच भावनाएँ

शास्त्रकार ने पूर्व सूत्रपाठ में पूर्णरूप से अहिंसा के पालन के लिए भिक्षाविधि तथा भिक्षा में निर्दोषता को सावधानी के लिए उपदेश दिया है, अब अहिंसा के पूर्णतः पालन के लिए रुचि, जिज्ञासा, श्रद्धा, उत्साह, धृति, प्रेरणा, दृढता और तीव्रता की जननी के तुल्य जिन-जिन मुख्य पाच भावनाओं की साधक के जीवन मे आवश्यकता है, उनका निर्देश वे निम्नोक्त सूत्रपाठ द्वारा करते हैं—

मूलपाठ

तस्स इमा पंच भावणातो पढमस्स वयस्स होंति—पाणाति-

वायवेरमणपरिरक्खणट्ठाए(१)पढमं ठाणगमणगुणजोगजुंजणजुगंतरनिवातियाए दिट्ठीए ईरियव्वं कीडपयंगतसथावरदयापरेण निच्चं पुप्फफलतयपवालकंदमूलदगमट्टियबीजहरियपरिवज्जिएण सम्मं; एवं खलु सव्वपाणा न हीलियव्वा,न निंदियव्वा, न गरहियव्वा, न हिंसियव्वा, न छिंदियव्वा, न भिंदियव्वा, न वहेयव्वा, न भयं दुक्खं च किंचि लब्भा पावेउं जे, एवं ईरियासमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू। (२) बितीयं च मणेण पावएणं पावकं अहम्मियं दारुणं निस्संसं वहबंधपरिकिलेसबहुलं भयमरण[1]-परिकिलेससंकिलिट्ठं[2] न कयावि मणेण पावतेणं पावगं किंचि वि झायव्वं; एवं मणसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू। (३) ततियं च वतीते पावियाते पावकं न किंचि वि भासियव्वं एवं वय(ति)समितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू। (४) चउत्थं आहार - एसणाए सुद्धं उंछं गवेसियव्वं, अन्नाए अकहिए अगढिते अदुट्ठे अदीणे अकलुणे अविसादी अपरितंतजोगी जयणघडणकरणचरियविणयगुणजोगसंपओगजुत्ते(त्तो)भिक्खू,भिक्खेसणाते जुत्ते,सामुदाणेऊण भिक्खाचरियं उंछं घेत्तूण आगतो गुरुजणस्स पासं गमणागमणातिचारे पडिक्कमण(म्मे) - पडिक्कंते, आलोयणदायणं च दाऊण गुरुजणस्स (गुरुसंदिट्ठस्स वा) जहोवएसं निरइयारं च अप्पमत्तो,

---

१ कहीं कहीं 'भयमरण' के बदले 'मरणभय' पाठ मिलता है।

२ 'अहम्मियं दारुणं निसंसं वहबंधपरिकिलेसबहुलं जरामरणपरिकिलेससंकिलिट्ठं न कयावि सोए पावियाए पावकं।' इतना अधिक पाठ किसी किसी प्रति में है।

—सम्पादक

पुणरवि अणेसणातो पयतो, पडिक्कमित्ता पसंते आसीणसुहनिसन्ने मुहुत्तमेत्तं च झाणसुहजोगनाणसज्झायगोवियमणे, धम्ममणे, अविमणे, सुहमणे, अविग्गहमणे, समाहियमणे,सद्धासंवेगनिज्जर-मणे, पवयणवच्छलभावियमणे उट्ठेऊण य पहट्ठतुट्ठे जहारायणियं निमंतइत्ता य साहवे भावओ य विइण्णे य गुरुजणेणं उपविट्ठे संपमज्जिऊण ससीसं कायं तहा करतलं अमुच्छिते, अगिद्धे, अग-ढिए, अगरहिते, अणज्झोववण्णे, अलुद्धे, अणुतट्ठिते, असुरसुरं अचवचवं अदुतमविलंबियं अपरिसाडि आलोयभायणे जयं पय-त्तेण ववगयसंजोगमणिगालं च विगयधूमं अक्खोवंजणवणाणु-लेवणभूयं संजमजायामायानिमित्तं संजमभारवहणट्ठयाए भुंजेज्जा पाणधारणट्ठयाए संजएणं (ण) समियं एवं आहारसमितिजोगेणं भाविओ भवति अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभाव-णाए अहिंसए संजए सुसाहू। (५) पंचमं आदाननिक्खेवणसमिई पीढफलगसिज्जासंथारगवत्थपत्तकंबलदंडगरयहरणचोलपट्टगमुह - पोत्तिगपायपुंछणादी (वा) एयं पि संजमस्स उववूहणट्ठयाए, वातातवदंसमसगसीयपरिरक्खणट्टयाए उवगरणं रागदोसरहितं परिहरितव्वं, संजएण निच्चं पडिलेहणपप्फोडणपमज्जणाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण होइ सययं, निक्खियव्वं च गिण्हियव्वं च भायणभंडोवहिउवगरणं, एवं आयाणभंडनिक्खेवणासमितिजोगेण भाविओ भवति अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू।

एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होति सुप्पणिहियं, इमेहि पंचहि वि कारणेहि मणवयणकायपरिरक्खिएहिं, णिच्चं आमरणंतं च एस जोगो णेयव्वो धितिमया मतिमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणु-न्नातो; एवं पढमं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं

आराहियं आणाते अणुपालियं भवति, एवं(यं) नायमुणिणा भगवया पन्नवियं, परूवियं, पसिद्धं, सिद्धं, सिद्धवरसासणमिणं, आघवितं, सुदेसितं, पसत्थं पढमं संवरदारं समत्तं ति बेमि ॥१॥ (सू० २३)

संस्कृतच्छाया

तस्येमाः पंचभावनाः प्रथमस्य व्रतस्य भवन्ति प्राणातिपातविरमण-परिरक्षणार्थम् (१)प्रथमं स्थानगमनगुणयोगयोजनयुगान्तरनिपातिकया दृष्ट्या ईरितव्यम्, कीटपतंगत्रसस्थावरदयापरेण नित्यं पुष्पफलत्वक्प्रवालकन्दमूल-दकमृत्तिकाबीजहरितपरिवर्जकेन सम्यक्;एवं खलु सर्वप्राणा न हीलयितव्या, न निन्दितव्या, न गर्हितव्याः, न हिंसितव्याः, न छेत्तव्याः, न भेत्तव्याः, न व्यथितव्याः, न भयं दुःखं च किंचिद् लभ्याः, प्रापयितुं ये (इति), एवमीर्या-समितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा अशबलासंक्लिष्टनिर्व्रणचारित्र भाव-नया (भावनाकः) अहिंसकः संयतः सुसाधुः । (२) द्वितीयं च मनसा पापकेन पापकमधार्मिकं दारुणं नृशंसं वधबन्धपरिक्लेशबहुलं भयमरणपरिक्लेशसंक्लि-ष्टम्, न कदाचिन्मनसा पापकेन पापकं किंचिदपि ध्यातव्यम् । एवं मनः समितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा अशबलासंक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभाव-नया (भावनाकः) अहिंसकः संयतः सुसाधुः । (३) तृतीयं च वाचा (अधार्मिकं दारुणं नृशंसं वधबन्धपरिक्लेशबहुलं जरामरणपरिक्लेशसंक्लिष्टं न कदा-चिदपि तया) पापिकया पापकं न किंचिदपि भाषितव्यम् । एवं वाक्समिति-योगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा अशबलासंक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभावनया (भावनाकः) अहिंसकः संयतः सुसाधुः । (४) चतुर्थमाहारैषणायाः शुद्धं उंछो गवेषयितव्य, अज्ञातः, अकथितः, अग्रथितः, अदुष्टः,अदीनः (अक्षीणः), अक-रुणः, अविषादी, अपरितान्तयोगी यत्नघटनकरणचरितविनयगुणयोगसंप्र-योगयुक्तो भिक्षु भिक्षैषणायां युक्तः सामुदायिकं अटित्वा भिक्षाचर्यामुञ्छं गृहीत्वाऽऽगतो गुरुजनस्य पार्श्वं गमनागमनातिचारान् प्रतिक्रमण (से)-प्रति-क्रान्तः, आलोचनादानं च दत्त्वा गुरुजनस्य (गुरुसंदिष्टस्य वा) यथोपदेशं निरतिचारं चाप्रमत्तः,पुनरप्यनेषणायाः प्रयतः प्रतिक्रम्य प्रशान्त आसीनसुख-निषण्णो मुहूर्त्तमात्रं च ध्यानशुभयोगज्ञानस्वाध्यायगोपितमना, धर्ममना अविमनाः शुभमना अविग्रहमना [illegible] समा-

धिकमना वा) श्रद्धासंवेगनिर्जरमनाः प्रवचनवात्सल्यभावितमना उत्थाय च प्रहृष्टतुष्टो यथारात्निकं निमंत्र्य च साधून् भावतश्च वितीर्णे च गुरुजनेनोपविष्टे संप्रमृज्य सशीर्षं कायं तथा करतलं अमूर्च्छितः, अगृद्धः अग्रथितः, अगर्हितः अनध्युपपन्नः, अलुब्धः, अनात्मिकार्थं, असुरसुरमचवचवमद्रुतमविलम्बितमपरिशाटिम्, आलोकभाजने यतं प्रयत्नेन व्यपगतसंयोगम्, अनंगारं च विगतधूमं, अक्षोपांजनव्रणानुलेपनभूतं, संयमयात्रामात्रानिमित्तं संयमभारवहनार्थतया भुंजीत प्राणधारणार्थतया संयतेन समितमेवमाहारसमितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा अशवलाऽसंक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभावनया (भावनाकः) अहिंसकः सयतः सुसाधुः। (५) पंचममादाननिक्षेपणसमितिः पीठफलकशय्यासंस्तारकवस्त्रपात्रकम्बलदण्डकरजोहरणचोलपट्टकमुखपोत्तिकापादप्रोञ्छनादि (वा) एतदपि संयमस्योपबृंहणार्थतया वातातपदंशमशकशीतपरिरक्षणार्थतया उपकरणं रागद्वेषरहितं परिधर्त्तव्यम्। संयतेन नित्यं प्रतिलेखनप्रस्फोटनाप्रमार्जनया अह्नि च रात्रौ चाप्रमत्तेन भवति सततं निक्षेप्तव्यं च गृहीतव्यं च भाजन-भाण्डोपध्युपकरणम्। एवमादानभाण्डनिक्षेपणासमितियोगेन भावितो भवति अन्तरात्मा अशवलासंक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभावनया (भावनाकः) अहिंसकः संयतः सुसाधुः। एवमिदं संवरस्य द्वारं सम्यक् संवृतं भवति सुप्रणिहितमेभिः पंचभिरपि कारणैर्मनोवचनकायपरिरक्षितैर् नित्यमामरणान्तं च एष योगो नेतव्यो धृतिमता मतिमता अनाश्रवः, अकलुषः, अच्छिद्रः, अपरिस्रावी असंक्लिष्टः, शुद्धः, सर्वजिनानुज्ञातः, एवं प्रथमं संवरद्वारं स्पृष्टं, पालितं, शोभितं, तीरितं, कीर्तितं, आराधितमाज्ञयाऽनुपालितं भवति, एवं ज्ञातमुनिना भगवता प्रज्ञापितं, प्ररूपितं, प्रसिद्धं, सिद्धं, सिद्धवरशासनमिदम् अर्घापितं सुदेशितं प्रशस्तं, प्रथमं संवरद्वारं समाप्तमिति ब्रवीमि ॥१॥ (सू० २३)

पदान्वयार्थ—(तस्य पढमस्स वयस्स) उस प्रथम अहिंसा-व्रत की (इमा) ये (पंचभावणातो) पांच भावनाएँ हैं, जो (पाणाइवायवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए) प्राणातिपात—हिंसा से विरमण—विरतिरूप अहिंसा की रक्षा के लिए हैं। (पढमं) प्रथम ईर्यासमितिभावना का स्वरूप है—(ठाण-गमण-गुण-जोग-जुंजण-जुगंतर-निवातियाए-दिट्ठीए) स्थान—ठहरने व गमन करने में गुण—प्रवचनोपघातरहितगुण के योग से जुड़ी हुई तथा युगान्तर—गाड़ी के जुए के प्रमाण चार हाथ आगे की भूमि पर

पड़ने वाली दृष्टि से (कीडपयंगतसथावरदयावरेण) कीड़े,पतंगे तथा त्रस-स्थावर जीव की दया में तत्पर (निच्चं) सदा (पुप्फफलतयपवालकंदमूलदगमट्टियबीजहरियपरिवज्जिएण) फूल, फल, छाल, प्रवाल—पत्ते, कंद, मूल, जल, मिट्टी, बीज और हरितकाय का वर्जन करते हुए, (सम्मं) सम्यक् प्रकार से, (ईरियव्वं) गमन करना चाहिये। (एवं) इस प्रकार ईर्यासमिति से चलते हुए साधु को (खलु) निश्चय ही (सव्वपाणा) समस्त जीवों का (न हीलियव्वा) तिरस्कार या उपेक्षा भाव नहीं करना चाहिए, (न निंदियव्वा) न निन्दा करनी चाहिए, (न गरहियव्वा) न दूसरों के सामने बुराई—गर्हा करनी चाहिए, (न हिंसियव्वा) न उनकी हिंसा करनी चाहिए, (न छिंदियव्वा) न उनका छेदन—टुकड़े करना चाहिए, (न भिंदियव्वा) न भेदन करना—फोड़ना चाहिए, (न वहेयव्वा) न उन्हें व्यथित—हैरान करना चाहिये, (जे भयं दुक्खं च न किंचि पावेउं लब्भा) इन जीवों को जरा भी भय और दुःख नहीं पहुंचाना चाहिये। (एवं) इस प्रकार (ईरियासमितिजोगेण) ईर्यासमिति में मन-वचन-काया की प्रवृत्ति से (भावितो) भावित (भवति) होता है। तथा (असबलम-संकिलिट्ठ-निव्वणचरित्तभावणाए) इक्कीस शबल दोषों से रहित, संक्लिष्ट परिणामों से रहित, अक्षत—अखण्ड चारित्र की भावना से युक्त या भावनापरायण (संजए) संयमशील—मृषावाद आदि से विरत, (अहिंसए) अहिंसक, (सुसाहू) मोक्ष का उत्कृष्ट साधक होता है। (च) और (बितीयं) द्वितीय मनःसमिति भावना का रूप यह है—(पावएणं) पापरूप—दुष्ट (मणेण) मन से (पावकं) पापकारी, (अहम्मियं) अधार्मिक धर्मभावना से रहित, (दारुणं) कठोर, (निसंसं) नृशंस—निर्दय, (वहबंधपरिकिलेसबहुलं) वध, बंधन और संताप से भरा हुआ, (भयमरणपरिकिलेस-संकिलिट्ठं) भय, मृत्यु और क्लेश से कलुषित—मलिन, (पावगं) पापकर्म का (पावएणं मणेण) पापी—दुष्ट मन से (कयावि) कदापि (किंचि वि) जरा-सा भी (न झायव्वं) चिन्तन नहीं करना चाहिये। (एवं) इस प्रकार (मणसमितिजोगेण) चित्त के सत्प्रवृत्तिरूप व्यापार से (भावितो) भावित-सुवासित (अंतरप्पा) अन्तरात्मा साधक (असबलमसंकिलिट्ठ-निव्वणचरित्तभावणाए) शबलदोषों से रहित, असंक्लिष्ट-शुद्धपरिणामी, अक्षतचारित्र की भावना से युक्त, (अहिंसए) अहिंसक, (संजए) संयमी-इन्द्रियनिग्रही (सुसाहू) शान्त अन्तःकरण वाला सुसाधु (भवति) होता है (च) और (ततियं) तीसरी वचनसमितिभावना का स्वरूप यह है (पावियाएवतीते) पापरूप वाणी द्वारा (पावकं) पापरूप—सावद्यवचन,(अहम्मियं) अधर्म से युक्त,(दारुणं) कठोर

(निसंसं) घातक (वहबंधपरिकिलेसबहुलं, वध,बंध और क्लेश से भरपूर, (जरामरण-परिकिलेससंकिलिट्ठं) बुढ़ापा, मृत्यु आदि के क्लेशों से क्लिष्ट वचन (कयावि) कदापि (किंचिवि) जरा-सा भी (न भासियव्वं) नहीं बोलना चाहिए। (एवं) इस प्रकार, (वयसमितिजोगेण) वचन की सम्यक्प्रवृत्तिरूप योग से (भावितो) भावित (अंतरप्पा) अन्तरात्मा, (असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए) शबलदोषरहित, असंक्लिष्ट, अखंडचारित्र की भावना से ओतप्रोत (संजओ) संयत (अहिंसओ) अहिंसक (सुसाहू) उत्तम स्वपरकल्याणसाधक (भवति) होता है। इसके बाद (चउत्थं) चौथी एषणासमितिभावना का स्वरूप इस प्रकार है—(आहार-एसणाए) अशनादि चतुर्विध आहार की एषणा से (सुद्धं) एषणादोषों से रहित-शुद्ध (उंछं) भ्रमरवृत्ति से अनेक घरों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा (गवेसियव्वं) गवेषणापूर्वक ग्रहण करनी चाहिए। भिक्षा-कर्ता साधु (अन्नाए) दाताओं से अज्ञात हो— धनाढ्य घर का प्रव्रजित है, ऐसा मालूम न हो, (अकहिए) स्वयं के द्वारा भी यह न कहा जाय कि मैं पहले श्रीमान् था, (अगढिए) अपने परिचितों या सम्बन्धियों के मोह में ग्रस्त न हो, (अदुट्ठे) न देने वालों पर द्वेषी न हो—समचित्त हो,(अदीणे) भिक्षा न मिलने पर भी दीन न हो, (अकलुणे) दयनीय न हो, (अविसादी) विषादरहित हो, (अपरितंतजोगी) मन, वचन-काया की सम्यक्प्रवृत्ति से अथक पुरुषार्थी हो, (जयणघडणकरणचरियविणय-गुणजोगसंपओगजुत्ते) प्राप्त संयमयोगों की स्थिरता के लिए प्रयत्नशील, अप्राप्त की प्राप्ति के लिए उद्यमवान्, विनय का आचरण करने वाला व क्षमा आदि गुणों की प्रवृत्ति के प्रयोग में जुटा हुआ (भिक्खू) भिक्षाजीवी साधु (भिक्खेसणाते) शुद्ध भिक्षा की अन्वेषणा करने में (जुत्ते) जुटा हुआ (भिक्खचरियं) भिक्षाचर्या के लिए, (सामुदाणेऊण) धनी-निर्धन, ऊँच-नीच-मध्यम सभी घरों में घूमकर (उंछं) अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार, (घेत्तूण) ले कर (गुरुजणस्स) गुरुजन के (पासं) पास (आगतो) आ कर (गमणागमणातिचारे पडिक्कमणपडिक्कंते) भिक्षा के लिए जाने-आने में लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण करके (च) और (आलोयणदायणं दाऊण) आलोचना—गुरु के समक्ष दोषों को प्रकट करके (गुरुजणस्स) गुरुजनों के (गुरुसंदिट्ठस्स वा) अथवा गुरु के द्वारा निर्दिष्ट अग्रगण्य साधुवृषभ के (जहोवएसं) उपदेश के अनुसार (निरइयारं) अतिचारों—दोषों का त्याग करके (अप्पमत्तो) अप्र-मत्त—सावधान—प्रमादरहित हो, (पुणरवि) और पुनः (अनेसणाते) अपरिज्ञात या गुरुसमक्ष अब तक जिनकी आलोचना न की हो, ऐसे अनालोचित दोषरूप अनेषणा के बारे में (पयतो) प्रयत्नवान् होकर (पडिक्कमित्ता) प्रतिक्रमण करके (पसंतो)

प्रशान्त हो (य) और (आसीणमुहनिसण्णे) सुखपूर्वक बैठा-बैठा (मुहुत्तमेत्तं) एक मुहूर्तभर (झाणमुहजोगनाणसज्झायगोवियमणे) धर्मध्यान, शुभयोग, ज्ञान और स्वाध्याय में अपने मन को सुरक्षित करने वाला हो, (धम्ममणे) श्रुत चारित्ररूप धर्म में जिसका मन संलग्न है, (अविमणे) चित्तशून्यता से रहित, (सुहमणे) संक्लेशों से रहित—शुभ मनवाला, (अविग्गहमणे) जिसके चित्त में कोई कलह की बात नहीं है अथवा कदाग्रह से जिसका मन दूर है, (समाहियमणे) जिसका रागद्वेष से रहित सम मन आत्मा में निहित है, अथवा जिसका मन समाधियुक्त है, अथवा जिसने अपना मन उपशम में स्थापित कर लिया है, और (सद्धा-संवेग-निज्जरमणे) जिसने अपना मन तत्त्वों पर श्रद्धा, संवेग—मोक्ष मार्ग की अभिलाषा और कर्मों की निर्जरा में लगा दिया है, (पवयणवच्छलभावियमणे) जिसका मन प्रवचनों-आगमों के प्रति वात्सल्य से ओतप्रोत है, वह (उट्ठेऊण) ध्यानादि के बाद अपने आसन से उठ कर (य) तथा (पहट्ठतुट्ठे) अत्यन्त हृष्टतुष्ट हो कर, (जहारायणियं) साधुओं की दीक्षा के क्रम से बड़े-छोटे के क्रमानुसार (साहवे) साधुओं को (भावओ) भाव से (निमंतइत्ता) निमंत्रित करके (य) और (गुरुजणेणं) गुरुजनों द्वारा (विइण्णे) लाये हुए आहार का वितरण किये जाने पर (उपविट्ठे) उचित आसन पर बैठ कर, (ससीसं) सिर के सहित (कायं) शरीर को (तहा) तथा (करतलं) हथेली को, (संपमज्जिऊण) पूंजनी से अच्छी तरह प्रमार्जन करके (अमुच्छिए अगिद्धे अगढिए) गुरुजन द्वारा दिये हुए सरस आहार में अनासक्त, अप्राप्त स्वादिष्ट भोजन की लालसा से रहित, रसों में अनुरागरहित होकर (अगरहिए) दाता आदि की निन्दा न करता हुआ, (अणज्झोववण्णे) स्वादिष्ट वस्तुओं में लीन न हो कर, (अणाइले) कलुषित भावों से दूर होकर, (अलुद्धे) लोलुपता से रहित (अणत्तट्ठिते) केवल शरीरपोषक ही नहीं, किन्तु परमार्थकारी साधु (असुरसुरं) सुर सुर् आवाज न करता हुआ (अचवचवं) चपचप न करता हुआ (अदुतं) न तो जल्दी-जल्दी हो, और (अविलंबियं) न ज्यादा देर से ही (अपरिसाडि) भोजन जमीन पर न गिराते हुए, (आलोयभायणे) चौड़े प्रकाशयुक्त पात्र में (जयं) मन-वचन-काया की यतनापूर्वक (पयत्तेण) आदरपूर्वक (ववगयसंजोगं) संयोजनादोष से रहित, (अणिगालं) अंगार—रागभाव के दोष से रहित, (विगयधूमं) धूम—द्वेषभाव के दोष से रहित, (अक्खोवंजणवणाणुलेवणभूयं) गाड़ी की धुरी में तेल देने या घाव पर मरहम लगाने के समान (संजमजायामायानिमित्तं) केवल संयमयात्रा के निर्वाह के लिए (संजमभारवहणट्ठयाए) संयम के भार को वहन करने के लिए (पाणधारणट्ठयाए) प्राणों को धारण करने के लिए (संजए)

साधु (समियं) सम्यक् प्रकार से अथवा यतनापूर्वक (भुंजेज्जा) भोजन करे। (एवं) उक्त प्रकार से (आहारसमितिजोगेणं) आहार में सम्यक्प्रवृत्ति के योग से (भावितो) भावित—भावनायुक्त, (अंतरप्पा) अन्तरात्मा (असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्त-भावणाए) शबलदोषरहित, असंक्लिष्ट परिणामी, अखंडचारित्र की भावना से युक्त (संजए) संयम में प्रयत्नशील (सुसाहू) सुसाधु ही (अहिंसए) अहिंसक (भवति) होता है। (पंचमं) पांचवीं भावना (आदाणनिक्खेवणसमिई) वस्तु के उठाने और रखने में सम्यक्प्रवृत्तिरूप आदाननिक्षेपणसमिति है। उसमें (पीढफलगसिज्जासंथारग-वत्थपत्तकंबलदंडगरयहरणचोलपट्टगमुहपोत्तिगपायपुंछणादी) पीठ—चौकी, फलक—पट्टा, शय्या—शयन करने का आसन, संस्तारक—घास या दर्भ का बिछौना, वस्त्र, पात्र, कंबल, दंड, रजोहरण, चोलपट्टा, मुखवस्त्रिका, पैर पोंछने का कपड़ा आदि (य) अथवा (एवं) ये तथा (अपि) और भी (उवगरणं) उपकरण (संजमस्स उववूहण-ट्ठयाए) संयम की वृद्धि-पुष्टि के लिए (वातातवदंसमसगसीयपरिरक्खणट्ठयाए) हवा, धूप, डांस, मच्छर और ठंड आदि से शरीर की भलीभांति रक्षा के लिए (परिहरितव्वं) रखने चाहिए। (संजएण) संयमी साधु को (निच्चं) सदा (पडिलेहण-पप्फोडण-पमज्जणाए) इन उपकरणों के प्रतिलेखन, प्रस्फोटन—यत्नपूर्वक झटकने, तथा प्रमार्जन करने में (अहो य राओ य) दिन और रात में(सययं अप्पमत्तेण) सतत प्रमाद रहित (होई) होकर (भायणभंडोवहिउवगरणं) भाजन-काष्ठ पात्र आदि,मिट्टी के पात्र आदि तथा वस्त्र आदि उपकरण (निक्खियव्वं) नीचे रखने चाहिए (च) और (गिण्हियव्वं) ग्रहण करने या उठाने चाहिए। (एवं) उक्त प्रकार से (आयाणभंडनिक्खेवणासमिति-जोगेण) आदानभांडनिक्षेपणसमिति के योग से (भाविओ) भावित—भावनाओं से युक्त (अंतरप्पा) अन्तरात्मा, (असबलमसंकिलिट्ठ-निव्वणचरित्तभावणाए) शबलदोष-रहित, शुद्ध परिणामी, अखंड चारित्र की भावनाओं से युक्त (संजए) संयत (सुसाहू) सुसाधु ही (अहिंसए) अहिंसक (भवति) होता है।

(एवं) इस प्रकार (इणं) यह (संवरस्स दारं) अहिंसारूप संवर का द्वार—उपाय है, (मणवयणकायपरिरक्खिएहिं) मन, वचन और काया के द्वारा सब तरह से रक्षित, (इमेहिं पंचहि वि कारणेहिं) भावनारूप इन पांचों कारणों से (णिच्चं) सदा (आमरणंतं) मरणपर्यन्त (सम्मं संवरियं होइ सुप्पणिहियं) जो सम्यक्रूप से आसे-वित—आचरित होने पर मन में जम जाता है, (य) तथा (धितिमता) धैर्यवान् यानी स्वस्थचित्त वाले, (मतिमता) बुद्धिमान साधु को (अणासवो) नये कर्मों के

आश्रव—आगमन से रहित, (अकलुणो) दयनीयता से रहित (अकलुसो) कलुषता से रहित (अच्छिद्दो) छिद्ररहित-अनाश्रव (अपरिस्सावी) पापरूप जल के परिस्राव—झरने से दूर, (असंकिलिट्ठो) मानसिक क्लेश से रहित, (सुद्धो) शुद्ध और (सव्वजिणमणुन्नातो) सभी जिनवरों द्वारा अनुज्ञात—अनुमत, (एस) यह (जोगो) योग—पंचभावनारूप व्यापार (णेयव्वो) धारण करना चाहिए। (एवं) इस प्रकार (फासियं) विधिपूर्वक समय पर स्वीकृत किया हुआ, (पालियं) पालन किया गया, (सोहियं) अतिचार से रहित होने से शोधित, अथवा शोभनीय सुहावना (तीरियं) भलीभांति अन्त तक पार लगाया हुआ (किट्टियं) कीर्तित—प्रशंसित या दूसरों को भी कहा गया (आराहियं) आराधित, (पढमं संवरदारं) पहला संवरद्वार (आणाते अणुपालियं भवति) वीतराग की आज्ञा से—उपदेश से अनुपालित (भवति) होता है। (एवं) इस प्रकार (नायमुणिणा) ज्ञातकुल में उत्पन्न हुए मुनि (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने (सिद्धवरसासणं) सिद्धों की प्रधान आज्ञारूप (इणं) इस संवरद्वार को (पन्नवियं) सामान्यरूप से बताया है, (परूवियं) विविध नयों की अपेक्षा से भेद-प्रभेदों द्वारा इसका वर्णन किया है। यह (पसिद्धं) प्रसिद्ध है (सिद्धं) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है, (आघवितं) जनता में इसकी अच्छी प्रतिष्ठा है, अथवा जनता के सामने इसे बारबार कहा है, इसके सम्बन्ध में देव, मनुष्य और असुरों के परिषद् में अच्छे ढंग से उपदेश दिया है यह (पसत्थं) मंगलरूप, (पढमं-संवरदारं) पहला संवरद्वार (समत्तं) समाप्त हुआ। (ति बेमि, ऐसा मैं—सुधर्मा स्वामी कहता हूँ।

मूलार्थ—प्रथम अहिंसाव्रत की ये निम्नोक्त पांच भावनाएँ हैं, जो हिंसा से विरमणरूप अहिंसा की सब ओर से सुरक्षा के लिए हैं। पहली ईर्यासमिति भावना है, जो इस प्रकार है—स्थान—ठहरने, व गमन करने में प्रवचनाराधनारूप गुण के योग से संलग्न तथा गाड़ी के जूवे के प्रमाण चार हाथ आगे की भूमि पर पड़ने वाली दृष्टि से कीट, पतंग, त्रस और स्थावर प्राणियों की दया में तत्पर हमेशा फूल, फल, छाल, पत्ते, कंद, मूल, पानी, मिट्टी, बीज और हरितकाय का बचाव करते हुए सम्यक् प्रकार से गमन-विचरण करना चाहिए। इस प्रकार ईर्यासमिति से चर्या करने वाले साधु को सचमुच किसी भी प्राणी की अवहेलना—उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, न निन्दा करनी चाहिए, न दूसरों के सामने गर्हा बुराई करनी चाहिए, न उनकी हिंसा करनी चाहिए, न उनके टुकड़े करने चाहिए

और न ही अंडे आदि को फोड़ना चाहिए, न जीवों को हैरान—तंग करना चाहिए। ये जीव जरा भी भय और दुःख पहुँचाने लायक नहीं हैं। इस प्रकार ईर्यासमिति में मन-वचन-काया की प्रवृत्ति से जो अन्तरात्मा भावित होता है, वह शबलदोषों से रहित, असंक्लिष्ट परिणामी तथा अक्षतचारित्र की भावना से ओतप्रोत, मृषावाद आदि से विरत संयमशील मोक्ष का उत्तम साधक और अहिंसक होता है। दूसरी भावना मनःसमिति है, जो इस प्रकार है—पापरूप दुष्ट मन से पापकारी, अधर्मयुक्त, दारुण, निर्दय, वध, बंधन और संताप से भरपूर एवं भय, मृत्यु और क्लेश से कलुषित—मलिन पाप में डूबे हुए धृष्ट मन से कदापि जरा-सा भी पापयुक्त चिन्तन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार चित्त के सत्प्रवृत्तिरूप व्यापार से भावित अन्तरात्मा ही अशबल, असंक्लिष्ट तथा अखंड चारित्र की भावना से युक्त संयमी स्वपरकल्याणसाधक सुसाधु ही अहिंसक होता है। तृतीय भावना वचनसमितिरूप है, जो इस प्रकार है—पापरूप वाणी के द्वारा सावद्य, अधर्मयुक्त, कठोर, घातक, वध, बंध और क्लेश से परिपूर्ण, बुढ़ापा, मृत्यु आदि के क्लेशों से क्लिष्ट वचन कदापि जरा-सा भी नहीं बोलना चाहिए। इस प्रकार वचनसमिति के सम्यक् प्रवृत्ति रूप योग से भावित अन्तरात्मा शबलदोषरहित, संक्लेश से दूर तथा अखंडचारित्र की भावना से ओतप्रोत,संयमी, सुसाधु शान्त अन्तःकरण वाला मुनि ही अहिंसक होता है।

चौथी भावना एषणासमिति है, जो इस प्रकार है—अशनादि चतुर्विध आहार की एषणा से शुद्ध अनेक घरों से भ्रमरवृत्ति की तरह थोड़ी-थोड़ी भिक्षा गवेषणापूर्वक ग्रहण करनी चाहिए। भिक्षाकर्ता अज्ञात हो यानी वह धनाढ्य घर का दीक्षित है, ऐसा दाता को मालूम न हो,स्वयं भी लोगों के सामने ऐसा कुछ प्रकाशित न करे,अपने परिचितों या सम्बन्धियों के मोहजाल में न फंसा हो,भिक्षा न देने वालों पर द्वेष युक्त भी न हो, भिक्षा प्राप्त न होने पर दीन न हो, दयनीय भी न हो, विषाद से रहित हो,मन वचन-काया की सम्यक् प्रवृत्ति में वह बिना थके लगा हुआ हो, प्राप्त संयमयोगों की स्थिरता के लिए प्रयत्न, अप्राप्त की प्राप्ति के लिए उद्यम, विनय के आचरण तथा क्षमा आदि गुणों की प्रवृत्ति के प्रयोग में जुटा हुआ साधु भिक्षाचरी के ऊँच-नीच मध्यम स्थिति के घरों में समभावपूर्वक घूम कर अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार ले कर गुरुजन के पास आए। और भिक्षा के लिए जाने-आने में जो

दोष लगे हों, उनका प्रतिक्रमण करके निवृत्त हो जाय और तब गुरु के समक्ष अपने दोषों की प्रगट आलोचना करके गुरु अथवा गुरु के द्वारा निर्दिष्ट बड़े साधु के उपदेश के अनुसार अतिचारों से रहित होकर अप्रमत्त रहे। और पुनः अज्ञात या आलोचना से शेष रहे हुए अनेषणादोषों के बारे में प्रयत्नवान् हो कर प्रतिक्रमण करके प्रशान्त हो जाय और तदनन्तर एक मुहूर्तभर सुखपूर्वक बैठा- बैठा धर्मध्यान, शुभयोग, ज्ञान और स्वाध्याय में अपना मन लगाए। श्रुतचारित्र रूप धर्म में उसका मन संलग्न हो, चित्त शून्यता से रहित हो, वह संक्लेशों से रहित, शुभ मन वाला हो, लड़ाई-झगड़ों से दूर रहने वाले शान्त मन का धनी हो अथवा कदाग्रहरहित मन का स्वामी हो, समाहित मन वाला हो, तत्त्वार्थश्रद्धानरूप संवेग और निर्जरा में मन लगा हो, अन्तःकरण तीर्थंकर के प्रवचनों के प्रति वात्सल्य से ओतप्रोत हो, ऐसा साधु अपने स्थान से उठ कर अत्यन्त हृष्टतुष्ट होता हुआ दीक्षाक्रम से बड़े-छोटे साधुओं को भाव-पूर्वक निमंत्रित करके तथा गुरुजनों द्वारा आहार का वितरण किये जाने पर उचित आसन पर बैठ कर सिरसहित शरीर और हथेली को भली-भांति प्रमार्जित करके गुरु द्वारा दिये हुए सरस आहार में अनासक्त, अप्राप्त स्वादिष्ट भोजन की लालसा से रहित, दाता आदि की निंदा न करता हुआ, स्वादिष्ट वस्तुओं में लीनता न रखता हुआ, कलुषित भावों से मुक्त, लोलुपता से रहित और लोभरहित हो कर, केवल शरीरपोषक ही नहीं, अपितु, परमार्थ-कारी साधु सुरसुर न करते हुए व चप-चप न करते हुए न तो जल्दी-जल्दी खाए और न ही बहुत देर लगाए तथा जमीन पर न गिराते हुए प्रकाशयुक्त चौड़े पात्र में यतना से आदरपूर्वक भोजन करे तथा भोजन करते समय भी संयोजन, अंगार, धूम आदि ग्रासैषणा के ५ दोषों से दूर रहे और गाड़ी की धुरी में तेल देने या घाव पर मरहम लगाने के समान केवल संयमयात्रा को सुख पूर्वक चलाने मात्र के लिए, संयम का भार वहन करने के लिए और प्राणों को धारण करने के लिए साधु सम्यक् प्रकार से यतनापूर्वक भोजन करे। उक्त प्रकार से आहार में सम्यक् प्रवृत्ति के योग से भावित अन्तरात्मा शबलदोष से रहित, असंक्लिष्ट चित्तवृत्ति वाला, अखंड चारित्र की भावना से युक्त संयमी सुसाधु ही अहिंसक होता है। पांचवीं भावना आदाननिक्षेप-समिति है, जो इस प्रकार है। साधु को पीठ—चौकी, पट्टा, शय्या, दर्भ या

घास का बिछौना, वस्त्र, पात्र, कंबल, दड, रजोहरण, चोलपट्टा, मुखवस्त्रिका और पैर पोंछने का कपड़ा आदि अथवा ये तथा और भी दूसरे उपकरण संयम की वृद्धि-पुष्टि के लिए रखने चाहिए। संयमी साधु को उनका सदा प्रतिलेखन, प्रस्फोटन—झटकने और प्रमार्जन करने में दिन और रात में सतत अप्रमादी हो कर भाजन-काष्ठ पात्र आदि, भाण्ड-मिट्टी के घड़े आदि उपधि एवं वस्त्रादि उपकरण रखने और ग्रहण करने चाहिए।

इस प्रकार आदानभांडनिक्षेपणसमिति के योग से भावित अन्तरात्मा शबलदोषों से रहित, असंक्लिष्ट परिणामों और अखंड चारित्र की भावनाओं से युक्त संयमी सुसाधु ही अहिंसक होता है।

इस प्रकार यह अहिंसारूप सवरद्वार मन-वचन-काया द्वारा भावना-रूप पांचों कारणों से सदा आमरणान्त सुरक्षित है, वह सम्यक्रूप से आचरित होने पर हृदय में अच्छी तरह जम जाता है। तथा यह पांच भावनारूप व्यापार धृतिमान् और बुद्धिमान् साधु के लिए अनाश्रवरूप—नये कर्मों के आगमन से रहित है, यह दयनीयता से रहित है, या कालुष्य से रहित है, कर्म-जल के प्रवेश से रहित अच्छिद्र है, शुद्ध है तथा सभी जिनवरों द्वारा अनुज्ञात है। अतः पंचभावनारूप इस प्रवृत्ति को धारण करना चाहिए। इस प्रकार विधिपूर्वक समय पर स्वीकृत किया हुआ, पालन किया हुआ, सुशोभित या शोधित, अच्छी तरह से अन्त तक पार लगाया हुआ, कीर्तित और आराधित यह प्रथम संवरद्वार वीतराग की आज्ञा से अनुपालित होता है। इस प्रकार ज्ञातकुल में उत्पन्न भगवान् महावीर स्वामी ने सिद्धों की प्रधान आज्ञारूप यह सवरद्वार सामान्यरूप से बताया है, विविध नयों की अपेक्षा से भेद-प्रभेदों द्वारा इसका वर्णन किया है, यह प्रसिद्ध है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है, जनता में इसकी अच्छी प्रतिष्ठा जमी हुई है, अथवा जनता के सामने भगवान् ने इसे बार-बार कहा है, इसके सम्बन्ध में प्रभु ने देवों, मनुष्यों और असुरों की परिषद् में अच्छे ढंग से उपदेश दिया है। यह प्रशस्त मंगलरूप प्रथम संवरद्वार समाप्त हुआ। ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ।

व्याख्या

पूर्वसूत्रपाठ में पूर्णरूप से अहिंसा के आराधक महाव्रती साधु के जीवन की आहार-वस्त्र-पात्रादि मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति में संभावित आरम्भ-समारम्भ-जन्य हिंसा से बच कर अहिंसा का पूर्णतया पालन करने हेतु शास्त्रकार भिक्षाचरी

अर्थात्—प्रथम व्रत की ये पांच भावनाएँ प्राणातिपात-हिंसा से विरतिरूप अहिंसा की सब ओर से रक्षा के लिए हैं। यही इन भावनाओं की वास्तविक उपयोगिता है। अगर ये भावनाएँ न होतीं तो साधक न जाने कहाँ से कहाँ जा कर पतन के गड्ढे में गिरता। अहिंसामहाव्रत की प्रतिज्ञा ले लेने मात्र से ही तो अहिंसा का पालन नहीं हो जाता। जीवन के हर मोड़ पर साधक के सामने अहिंसा रहे, हर प्रवृत्ति में वह अहिंसा को अनुप्राणित देखे, तभी अहिंसा का पालन हो सकता है। और यह सब भावनाओं से जनित संस्कारों की दृढ़ता पर निर्भर है। इससे यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि अहिंसा के साधक के लिए इन भावनाओं का जीवन में कितना महत्व और स्थान है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो जब तक इन पांचों भावनाओं के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान और तदनुसार विशुद्ध चिन्तन नहीं हो सकेगा, तब तक प्राणातिपातविरमणरूप अहिंसामहाव्रत का पालन यथार्थरूप में नहीं होगा। अब सवाल यह होता है कि मनुष्य के जीवन में तो असंख्य प्रवृत्तियां होती हैं, फिर इन पांच ही भावनाओं से कैसे काम चलेगा? असंख्य भावनाओं की जरूरत रहेगी? इसके उत्तर में इतना ही निवेदन है कि प्रवृत्तियाँ असंख्य होते हुए भी उनका वर्गीकरण करके मुख्य ५ भागों में उन्हें बांट दिया गया है, अतः उन सब पर ये पांच भावनाएँ ही पूरा पूरा नियंत्रण रख सकेंगी। संघ में अनेकों साधु होते हुए भी उन पर नियंत्रण साधुओं के नायक आचार्य के हाथ में होता है, वैसे ही प्रवृत्तियां अनेकों होते हुए भी उनको पांच वर्गों में बांट कर जिस वर्ग की जो प्रवृत्ति होगी, उस पर उस वर्ग की भावना नियंत्रण कर सकेगी। वैसे भी साधुओं के जीवन में सीमित और आवश्यक प्रवृत्तियां ही होती हैं। अनावश्यक प्रवृत्तियों को तो वहां स्थान ही नहीं है। इसलिए साधुजीवन में सम्भावित हिंसा की प्रवृत्तियों पर इन पांचों भावनाओं का पहरा रहने से द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से हिंसा को प्रवेश का मौका नहीं मिलेगा।

साधुजीवन में जो सबसे बड़ी प्रवृत्ति है, वह इन्द्रियों की है। इन में से वाणी और हाथ की प्रवृत्तियों को छोड़ कर बाकी इन्द्रियों की प्रवृत्तियों को अशुभ से रोकने और शुभ में प्रवृत्त करने वाली अहिंसामहाव्रत की प्रथम भावना—ईर्या समिति है। ईर्या का वास्तविक अर्थ चर्या है और चर्या में केवल गमनागमन ही नहीं आता, अपितु सोना, बैठना, जागना, हाथ-पैर हिलाना, आंखों से देखना, कानों से सुनना आदि प्रवृत्तियां भी आ जाती हैं। इसका सबूत यह है कि शास्त्रकार ने इसी सूत्रपाठ में प्रथम भावना के वर्णन में आगे चल कर कहा है—'सव्वपाणा न हीलियव्वा ...... न छिंदियव्वा न भिंदियव्वा न वहेयव्वा, न भयं दुक्खं च किंचि लब्भा पावेउं जे।' इसमें प्राणियों की अवहेलना, निन्दा, गर्हा, हिंसा, छेदन, भेदन, वध, भयोत्पादन, दुःखोत्पादन आदि प्रवृत्तियों का निषेध किया है। पैरों से तो गमना-

गमन को या किसी को ठोकर या लात मारने की प्रवृत्ति हो सकती है, बाकी की वध-छेदन-भेदन आदि प्रवृत्तियाँ प्रायः हाथों से होती है, कान, आँख, जीभ आदि इन्द्रियाँ उन प्रवृत्तियो में सहायक बनती है। इसलिए फलितार्थ यह हुआ कि चर्या में उन तमाम प्रवृत्तियों का समाविष्ट किया जा सकता है, जिनमे बाह्यचेष्टा या हरकत होती हो। तभी पूर्वोक्त पंक्ति के साथ इसकी संगति बैठेगी।

साधुजीवन में दूसरी प्रवृत्ति है—**मन** की। मन के अन्तर्गत जितनी भी वैचारिक प्रवृत्तियाँ हैं, उन सबका जन्म मन मे ही होता है। इसलिए मन:समिति अहिंसा की दूसरी भावना है, जो मन से सम्बन्धित तमाम प्रवृत्तियाँ पर नियंत्रण करती है।

साधुजीवन की तीसरी प्रवृत्ति वाणी से सम्बन्धित है। वचन-प्रवृत्ति से सम्बन्धित जितनी भी प्रवृत्तियाँ है—जैसे गाली देना, भाषण देना, बकना, निन्दा करना, आक्षेप करना, भय पैदा करना, धमकी देना आदि, उन सबका समावेश वचनप्रवृत्ति में हो जाता है। इसलिए वाणी से सम्बन्धित तमाम प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करने वाली अहिंसा की तृतीय भावना वचनसमिति है।

अब दो प्रवृत्तियाँ और हैं, जो साधु-जीवन में खास है—(१) भोजन-वस्त्रादि लाने और उनका उपयोग करने की तथा (२) वस्त्र-पात्रादि को उठाने-रखने की एवं मलमूत्र, पसीना, लीट, कफ आदि शरीर के विकारो को डालने की। साधु-जीवन की इन दोनो आवश्यक प्रवृत्तियो के लिए अहिंसामहाव्रत की क्रमशः चौथी—एषणासमितिभावना एवं पाँचवीं आदाननिक्षेपणसमितिभावना है।

इनके सिवाय साधुजीवन के लिए और कोई खास प्रवृत्ति बची नहीं है। बीमार पड़ने पर इलाज या औषधादि प्रयोग जैसी कोई साधुजीवन में आवश्यक प्रवृत्ति बचती भी है, तो उसका समावेश ईर्यासमिति में हो जाता है।

पांच भावनाओं का स्वरूप—अब हम क्रमशः इन पांचों भावनाओं के स्वरूप पर प्रकाश डालेंगे—

(१) ईर्यासमितिभावना—साधु की गमनागमन आदि जितनी भी चर्याएँ हैं, उन सब में प्रवृत्त होने से पहले साधु आंखों से खूब अच्छी तरह सावधानी से देख ले। उतावली से कोई भी चर्या न करे। रास्ते में चलते समय या स्थान पर भी उठने-बैठने, सोने आदि की चर्या करते समय छोटा या बड़ा, स्थावर या त्रस कोई भी जीव मरे नही, डरे नहीं, कुचला न जाय, तकलीफ न पाए, उसे मारा-पीटा या सताया न जाय, बल्कि यहां तक कि वह रास्ते में पड़ा कराह रहा हो, छटपटा रहा हो या तकलीफ पा रहा हो तो उसकी उपेक्षा न करे, न उसके तुच्छ जीवन की बुराई या निन्दा करे, अपितु उसे निर्भय और दुःखमुक्त करने का यथोचित प्रयत्न किया जाय। समस्त प्राणियों

का रक्षक और माता-पिता होने के नाते साधु को छोटे-बड़े सभी प्राणियों के प्रति दया-परायण हो कर रहना चाहिए।

(२) मनःसमिति भावना—मन में जो भी विचार या भाव उठे, उसे पहले जाँच-परखे कि यह धर्मयुक्त है या अधर्मयुक्त ? पापकारी है या पुण्यकारी ? दूसरों को हानि, वध, बंधन, पीड़ा, मृत्यु, भय, क्लेश आदि पहुँचाने वाला तो नहीं है ? यदि कोई भी हानिकर, पापवर्द्धक या अशुभ विचार मन में आने लगे तो तुरंत उसे रोक देना चाहिए। जरा-सा भी खराब विचार कभी मन में न घुसने पाए, और न ही इष्ट-वियोग और अनिष्टसंयोग के समय मन में आर्तध्यान—चिन्ता-शोक ही आना चाहिए। मन को अच्छे विचारों, शुद्धभावों, शुभध्यानों या शुद्ध आत्मचिन्तन की ओर लगाए रखना, यही मनःसमितिभावना है।

(३) वचनसमितिभावना—वाणी से कर्कश, कठोर, हिंसाकारक, छेदनभेदनकारक, सावद्य—पापमय प्रवृत्ति में डालने वाला, असत्य, किसी भी प्राणी के लिए वध, बंधन, क्लेश, भय, मृत्यु आदि का जनक, तीखा, कटाक्ष, दिल को चुभने वाला वचन साधु न बोले, वाणी पर संयम रखे। जब भी बोलना हो, तो हित, परिमित, पथ्य, सत्य और मधुर वचन बोले। यही वचनसमितिभावना है।

(४) एषणासमिति भावना—भोजन, वस्त्र, पात्र आदि जीवन की कुछ मूलभूत आवश्यकताएँ हैं। जब तक शरीर रहता है, तब तक उनकी पूर्ति करना जरूरी है, क्योंकि शरीर के टिके बिना धर्मपालन भी कैसे होगा ? स्वाध्याय, ध्यान, सेवा या स्वपरकल्याण के कार्यों में प्रवृत्ति भी स्वस्थ और सशक्त शरीर के बिना कैसे होगी ? अतः साधुजीवन के लिए शास्त्रविहित उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषों से रहित शुद्ध भिक्षाचर्या बताई है। उसके जरिये ही भोजनवस्त्रादि आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करे। किन्तु भोजन भी गाड़ी की धुरी में तेल डालने या घाव पर मरहम लगाने के समान केवल संयमी जीवनयात्रा को चलाने के लिए ही करे, मौज मजा के लिए नहीं। भोजन करते समय भी संयोजन, अंगार, धूम आदि ग्रासैषणा के दोषों से बचे। भोजनादि का ग्रहण भी संयम यात्रा एवं प्राणधारण करने के हेतु से अत्यन्त शान्तभाव से अदीनतापूर्वक करे। यह एषणासमितिभावना है।

(५) आदाननिक्षेपणसमितिभावना—साधु की अपनी दैनिक आवश्यकताओं के लिए कुछ धर्मोपकरणों का शास्त्र में विधान है। किन्तु उन उपकरणों का इस्तमाल करने के साथ ही यदि उन्हें ठीक तौर से देखे-भाले नहीं तो उनमें अनेक जीव आ कर बसेरा कर लेते हैं। यदि उन्हें बाद में हटाया जाय तो उनमें से कई मर जाते हैं। मरें नहीं, तो भी उन्हें उस जगह को छोड़ने में बड़ी तकलीफ महसूस होती है। इसीलए उन सब उपकरणों का, जिन्हें साधु इस्तेमाल करता है, दोनों वक्त आँखों से प्रतिलेखन

और कोमल रजोहरण से प्रमार्जन करना आवश्यक है। उन्हें उठाते और रखते समय भी कोई जीव न मर जाय,इसकी भी सावधानी रखनी चाहिए। इसी समिति की भावना के अन्तर्गत इस प्रकार की प्रवृत्ति की भावना भी आ जाती है कि साधु के मलमूत्र आदि शरीर के विकारों का विसर्जन भी उपयोगसहित होना चाहिए, ताकि किसी जीव की विराधना न हो जाय, यही पांचवी आदाननिक्षेपसमितिभावना का स्वरूप है।

ईर्यासमितिभावना का विशिष्ट चिन्तन, प्रयोग और फल—अहिंसामहाव्रत की सुरक्षा के लिए यह सबसे पहली भावना है। इस भावना के विशिष्ट चिन्तन और प्रयोग के लिए शास्त्रकार ने संकेत किया है—'**पढमं ठाणगमणगुणजोग '' दिट्ठीए ईरियव्वं ' दयावरेण पुप्फ 'परिवज्जिएण सम्मं '' सव्वपाण '' लब्भा पावेउं।**' इसका भावार्थ यह है कि साधु सर्वप्रथम यह चिन्तन करे कि "मैं पंचमहाव्रती अहिंसक साधु हूं। अतः बैठने, उठने, सोने चलने आदि तमाम चेष्टाओं—चर्याओं को करते समय मेरे निमित्त से कोई भी जीव कुचला न जाय, किसी भी जीव को पीड़ा न हो, कोई भी जीव मुझ से भय न खाए, दुःखी न हो। जैसे मेरा अपना जीवन बहुमूल्य है, वैसे ही उनका भी अपना जीवन बहुमूल्य है। जैसे किसी के द्वारा मारे या सताये जाने पर मुझे दुःख होता है ; वैसे ही वे भी मेरे द्वारा मारे या सताए जायेंगे तो उन्हें भी कष्ट होगा।" इस प्रकार के चिन्तन के प्रकाश में वह अपनी प्रवृत्ति करे। रास्ते में चलते समय, बैठते समय या सोते समय वनस्पतिकाय से सम्बन्धित पत्ते, फल, फूल आदि बिखरे हुए हो तो उन्हें बचाते हुए चले। गमनागमन आदि चर्या करते समय साधु के सामने भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट अहिंसा के पालन का ही लक्ष्य हो, उसकी दृष्टि उस स्थल पर ही हो, जिस पर वह चर्या कर रहा है ; उसका हृदय सभी प्राणियों के प्रति आत्मौपम्यभाव और वात्सल्य से भरा हो, उसके हाथ, पैर, आंख, कान, जीभ आदि अवयव लक्ष्य के विपरीत गति न करें ; उसके समक्ष यह सिद्धान्त स्पष्ट होना चाहिए कि मैं विश्व के प्राणिमात्र की रक्षा और दया के लिए साधु बना हूं। छोटे से छोटे कीड़े या वनस्पति आदि स्थावरजीव के प्रति भी उसके मन में उपेक्षा, तिरस्कार, निन्दा, घृणा या तुच्छता की दुर्भावना नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार का चिन्तन और प्रयोग इस भावना के साथ होना चाहिए।

इस प्रकार से ईर्यासमितिभावना का चिन्तन एवं प्रयोग करने से साधु अहिंसा का पूर्णतः पालन करके अपनी अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करता है। इसी बात को शास्त्रकार अपने शब्दों में कहते हैं—'**एवं इरियासमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा असबल''''' भावणाए अहिंसओ, संजओ सुसाहू**'। इसका आशय यह है कि पूर्वोक्त प्रकार से ईर्या-समितिभावना के अनुसार चिन्तन और प्रयोग करने से साधु के अन्तःकरण में अहिंसा

का रक्षक और माता-पिता होने के नाते साधु को छ
परायण हो कर रहना चाहिए।

(२)मनःसमिति भावना—मन में जो भी
जांचे-परखे कि यह धर्मयुक्त है या अधर्मयुक्त ? पाप
हानि, वध, बंधन, पीडा, मृत्यु, भय,क्लेश आदि पहुं
भी हानिकर,पापवर्द्धक या अशुभ विचार मन में आने
जरा-सा भी खराब विचार कभी मन में न घुसने प
अनिष्टसंयोग के समय मन में आर्तध्यान—चिन्ता-श
विचारों, शुद्धभावों, शुभध्यानों या शुद्ध आत्मचिन
मनःसमितिभावना है।

(३) वचनसमितिभावना—वाणी से कर्कश
कारक, सावद्य—पापमय प्रवृत्ति में डालने वाला, अ
बंधन, क्लेश, भय, मृत्यु आदि का जनक, तीखा
वचन साधु न बोले, वाणी पर संयम रखे। जब भी
सत्य और मधुर वचन बोले। यही वचनसमितिभाव

(४) एषणासमिति भावना—भोजन,वस्त्र,
आवश्यकताएँ हैं। जब तक शरीर रहता है, त
है, क्योंकि शरीर के टिके बिना धर्मपालन भी कैसे
स्वपरकल्याण के कार्यों में प्रवृत्ति भी स्वस्थ और
अतः साधुजीवन के लिए शास्त्रविहित उद्गम, उत्पा
शुद्ध भिक्षाचर्या बताई है। उसके जरिये ही
प्राप्त करे। किन्तु भोजन भी गाड़ी की धुरी में तेल
के समान केवल संयमी जीवनयात्रा को चलाने के
नहीं। भोजन करते समय भी संयोजन, अंगार,
बचे। भोजनादि का ग्रहण भी केवल संयमयात्रा एव
शान्तभाव से अदीनतापूर्वक करे। यह एषणासमिति

(५) आदाननिक्षेपणसमितिभावना—साधु

और कोमल रजोहरण से प्रमार्जन करना आवश्यक है। उन्हें उठाते और रखते समय भी कोई जीव न मर जाय, इसकी भी सावधानी रखनी चाहिए। इसी समिति की भावना के अन्तर्गत इस प्रकार की प्रवृत्ति की भावना भी आ जाती है कि साधु के मलमूत्र आदि शरीर के विकारों का विसर्जन भी उपयोगसहित होना चाहिए, ताकि किसी जीव की विराधना न हो जाय, यही पांचवी आदाननिक्षेपसमितिभावना का स्वरूप है।

ईर्यासमितिभावना का विशिष्ट चिन्तन, प्रयोग और फल—अहिंसामहाव्रत की सुरक्षा के लिए यह सबसे पहली भावना है। इस भावना के विशिष्ट चिन्तन और प्रयोग के लिए शास्त्रकार ने संकेत किया है—'**पढमं ठाणगमणगुणजोग** '' **दिट्ठीए ईरियव्वं** '' **दयावरेण पुप्फ** '**परिवज्जिएण सम्मं** '' **सव्वपाण** '' **लब्भा पावेउं।**' इसका भावार्थ यह है कि साधु सर्वप्रथम यह चिन्तन करे कि ''मैं पचमहाव्रती अहिंसक साधु हूं। अतः बैठने, उठने, सोने चलने आदि तमाम चेष्टाओं—चर्याओं को करते समय मेरे निमित्त से कोई भी जीव कुचला न जाय, किसी भी जीव को पीड़ा न हो, कोई भी जीव मुझ से भय न खाए, दुःखी न हो। जैसे मेरा अपना जीवन बहुमूल्य है, वैसे ही उनका भी अपना जीवन बहुमूल्य है। जैसे किसी के द्वारा मारे या सताये जाने पर मुझे दुःख होता है ; वैसे ही वे भी मेरे द्वारा मारे या सताए जायेंगे तो उन्हें भी कष्ट होगा।'' इस प्रकार के चिन्तन के प्रकाश मे वह अपनी प्रवृत्ति करे। रास्ते में चलते समय, बैठते समय या सोते समय वनस्पतिकाय से सम्बन्धित पत्ते, फल, फूल आदि बिखरे हुए हों तो उन्हे बचाते हुए चले। गमनागमन आदि चर्या करते समय साधु के सामने भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट अहिंसा के पालन का ही लक्ष्य हो, उसकी दृष्टि उस स्थल पर ही हो, जिस पर वह चर्या कर रहा है ; उसका हृदय सभी प्राणियों के प्रति आत्मौपम्यभाव और वात्सल्य से भरा हो, उसके हाथ, पैर, आंख, कान, जीभ आदि अवयव लक्ष्य के विपरीत गति न करें ; उसके समक्ष यह सिद्धान्त स्पष्ट होना चाहिए कि मैं विश्व के प्राणिमात्र की रक्षा और दया के लिए साधु बना हूं। छोटे से छोटे कीड़े या वनस्पति आदि स्थावरजीव के प्रति भी उसके मन में उपेक्षा, तिरस्कार, निन्दा, घृणा या तुच्छता की दुर्भावना नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार का चिन्तन और प्रयोग इस भावना के साथ होना चाहिए।

इस प्रकार से ईर्यासमितिभावना का चिन्तन एवं प्रयोग करने से साधु अहिंसा का पूर्णतः पालन करके अपनी अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करता है। इसी बात को शास्त्रकार अपने शब्दो में कहते हैं—'**एवं इरियासमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा असबल**'''' **भावणाए अहिंसओ, संजओ सुसाहू**'। इसका आशय यह है कि पूर्वोक्त प्रकार से ईर्या-समितिभावना के अनुसार चिन्तन और प्रयोग करने से साधु के अन्तःकरण में अहिंसा

के संस्कार बद्धमूल हो जायेंगे और २१ शबलदोषो[1] से रहित, शुभपरिणामयुक्त अखंड चारित्र की भावना से वह पूर्ण अहिंसक और सुसंयमी बन कर मोक्षपक्ष का उत्तम साधक बन जायगा।

मनःसमिति भावना का विशिष्ट चिन्तन, प्रयोग और फल—*अहिंसा महाव्रत* की सुरक्षा के लिए मन के द्वारा होने वाली तमाम प्रवृत्तियों पर नियंत्रण होना आवश्यक है। यह नियन्त्रण करती है—मन.समिति भावना। प्राणी सबसे अधिक पापबन्ध मन के द्वारा करता है, सर्वप्रथम हिंसा का जन्म मन मे ही होता है, बाह्यहिंसा तो बाद मे होती है। मन इतना जबर्दस्त है कि अगर उसे साधा न जाय तो वह बेकाबू हो कर बडे-बडे साधकों को चारों खाने चित्त कर देता है। इसीलिए शास्त्रकार मन की प्रवृत्तियों पर अंकुश रखने के लिए मन.समितिभावना के चिन्तन और प्रयोग की ओर इशारा करते हैं—'मणेण पावएणं पावकं अहम्मियं' न कयावि किंचिवि झायव्वं।' इसका तात्पर्य यह है कि मन बड़ा चंचल होता है, वह पापकार्य की ओर झुकते देर नही लगाता। इसलिए मन को पापी कह कर यह संकेत किया है कि 'मन पर कभी भरोसा मत करो। इसकी मलिनता ही सब पापों का उद्‌गम स्थान है।' इसलिए मन पर कड़ा पहरा रखो। ज्यों ही यह अधर्मयुक्त विचारों की ओर झुकने लगे, त्यों ही इसे रोको। क्रोध, मान, माया, लोभ, असत्य, असंयम आदि तथा मिथ्या दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-आचरण ये अधर्म हैं। इन अधर्मों की ओर मन को जाने दिया तो यह क्रूर और कठोर हो जायगा; वध, बंध, क्लेश-मरण, भय आदि के विचार करके पापी बन जायगा। इसलिए इसमें कभी भी जरा-सा भी क्रूर, कठोर और भयंकर विचार मत आने दो, न दूसरे प्राणियों को पीटने, सताने, बांधने और हैरान करने का विकल्प पैदा होने दो। क्योंकि ऐसे कुविचारों और दुःसंकल्पों से भयंकर अशुभ ज्ञानावरणीय, असातावेदनीय आदि कर्मों का तीव्र बन्ध हो जाता है, जिसका फल नरक आदि दुर्गति का भयानक दुःख है। इसलिए मन को स्वाध्याय, उत्तम ध्यान, परोपकार-चिन्तन या क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दस उत्तम धर्मों के चिन्तन में लगाए रखो। उसे कभी बुरे विचारों के करने का मौका ही न दो। यही मनःसमितिभावना का चिन्तन और प्रयोग है।

ऐसे उत्तम चिन्तन और प्रयोग के फलस्वरूप मन मे बुरे विचार जड़ से उखड़ कर शुद्ध शुभ विचारो के संस्कार जड़ जमा लेंगे और ऐसे साधु की अन्तरात्मा शुद्ध, अखंडचारित्र की भावना से पूर्ण अहिंसक सयमी बन जायगी, वही सुसाधु उत्तम

---

१ शबलदोषों की विशेष जानकारी के लिए देखो, दशाश्रुतस्कन्धसूत्र।

—संपादक

मोक्ष को उपलब्ध कर लेगा। इसी की ओर शास्त्रकार इंगित कर रहे हैं—'मण-समितिजोगेण भावितो '' अहिंसओ संजओ सुसाहू।'

वचनसमिति भावना का विशिष्ट चिन्तन, प्रयोग और फल—अहिंसा महाव्रत को सुरक्षित रखने के लिए वचन के द्वारा होने वाली तमाम प्रवृत्तियों पर अंकुश रखने के लिए तीसरी वचनसमितिभावना है, जिसके चिन्तन और प्रयोग की ओर शास्त्रकार संकेत करते हैं—'**वतीते पावियाते पावकं '''न किंचि वि भासियव्वं**'। इसका आशय यह है कि प्रवृत्ति के लिए मन के बाद वचन दूसरा साधन है। साधु को अहिंसा का पूर्णरूप से पालन करने के लिए वचन पर नियंत्रण रखना अनिवार्य है। उसे किसी अनिवार्य कारण के बिना तो बोलना ही नहीं चाहिए। अगर किसी को उपदेश, प्रेरणा, आदेश—निर्देश देना ही पड़े तो बड़ी सावधानी से हित, मित, पथ्य, सत्य और मृदु वचन बोले। परन्तु कई साधकों को अभिमानवश अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा अथवा दूसरों को नीचा दिखाने या बदनाम करने के लिए उनके दोष प्रगट करने की या कटु आलोचना या साम्प्रदायिक विद्वेषवश दूसरे सम्प्रदाय या सम्प्रदायभक्तों का खण्डन करने की आदत हो जाती है। बोलते समय जबान पर नियन्त्रण न होने के कारण वे अपशब्द, गाली, कर्कश शब्द और तानों का भी प्रयोग कर बैठते है। कई बार वे अविवेकवश प्राणिघातजनक, पीड़ाजनक सावद्य वचन कह डालते हैं, जो सीधे हिंसाजनक होते हैं, स्वपर के लिए अकल्याणकारी होते हैं। अधिक डींगें हांकने वालों, व्यर्थ की उलजलूल बातें कह कर गाल बजाने वालों या वाचालों की वाणी की कोई कद्र नही होती, न किसी को उनके कथन पर प्रतीति होती है। इसी प्रकार मुंह से जो वचन कहा जाता है, उस पर अमल न करने पर भी लोगों को उस पर अविश्वास हो जाता है। असत्यवचन भी एक तरह से भावहिंसा-जनक होता है। इसीलिए शास्त्रकार ऐसे अधर्मयुक्त, कर्कश, भयंकर तथा वध, बंध और संक्लेश पैदा करने वाले पापकारी वचन बोलने से सावधान रहने का निर्देश करते हैं कि जिन वचनों से धर्ममर्यादा नष्ट होती हो, जो परपीड़ाजनक हो, ऐसे पापमय वचनों का कदापि जरा-सा भी उच्चारण नही करना चाहिए।

इस प्रकार वचनसमितिभावना के अनुसार चिन्तन और प्रयोग करने के फलस्वरूप साधक को क्या लाभ होता है? इसी बात को शास्त्रकार ध्वनित करते हैं—'**वयसमितिजोगेण भावितो''' भवति अंतरप्पा अहिंसओ संजओ सुसाहू**।' तात्पर्य यह है कि वचनसमिति भावना के पूर्वोक्त चिन्तन और अभ्यास से साधक की अन्तरात्मा में शुद्ध सुसंस्कार जड़ जमा लेते हैं, जिसके कारण अहिंसा की यथार्थ आराधना करके वह संयमी सुसाधु मोक्ष सिद्धि पा लेता है।

एषणासमितिभावना का चिन्तन, प्रयोग और फल—अहिंसामहाव्रत की

सुरक्षा के लिए साधक में स्फूर्ति और उत्साह बढ़ाने वाली चौथी एषणासमितिभावना है। इस पर चिन्तन का संकेत शास्त्रकार ने विशदरूप से किया है— आहारएसणाए सुद्धं उंछं गवेसियव्वं, अन्नाए··· भिक्खू भिक्खेसणाते जुत्ते, सामुदाणेऊण भिक्खायरियं उंछं घेत्तूण······ संजमजायामायानिमित्तं भुंजेज्जा संजमभारवहणट्ठयाए पाणधारणट्ठयाए · समियं। इस समिति के चिन्तनहेतु शास्त्रकार ने तीन बातों की ओर सकेत किया है—(१) भिक्षु शुद्धभिक्षा किस तरीके से लाए ? (२) भिक्षाप्राप्त आहार का सेवन किस प्रकार करे ? (३) आहार क्यों और किसलिए किया जाय ? इसका तात्पर्य यह है कि पंचमहाव्रती पूर्ण अहिंसक साधु को अपने संयम का और साधुधर्म का भलीभांति पालन करना है। और शरीर संयम एवं धर्म के पालन का मुख्य साधन है। शरीर को टिकाए बिना संयम और धर्म का पालन नहीं हो सकता। शरीरधारण के लिए भोजन-पानी लेना आवश्यक है। अगर आहार-पानी लेना सदा के लिए बंद कर दिया जाय तो शरीर चल नहीं सकेगा। उधर अहिंसा का भी उसे पूर्णरूप से पालन करना है। भोजन बनाने-बनवाने में हिंसा होती है; अतः षट्काय के जीवों का रक्षक और पीहर बना हुआ साधु जीवहिंसा के पथ पर कदम नहीं बढ़ा सकता। इसी उद्देश्य से पिछले सूत्र के उत्तरार्द्ध में भिक्षाविधि का निरूपण शास्त्रकार ने किया है। यहाँ भी एषणासमिति के प्रारम्भ में एक वाक्य में वही बात दुहरा दी है कि आहार का इच्छुक भिक्षु भिक्षाचर्या द्वारा कई घरों से थोड़ा-थोड़ा ले कर शुद्ध आहार ग्रहण करे। शुद्धशब्द यहाँ पिछले सूत्र में बताए हुए ४२ दोषों से रहित आहार को ध्वनित करता है और उञ्छशब्द ध्वनित करता है—माधुकरी और गोचरी को। इसका आशय यह है कि जैसे गाय मूल से पौधे को उखाड़े बिना ऊपर-ऊपर से घास आदि को चरती-चरती चली जाती है; इससे गाय को भी तृप्ति हो जाती है और पौधा भी जड़मूल से नही उखड़ता; वैसे ही साधु भी अनेक घरों से गृहस्थों के यहाँ उनके अपने लिए बने हुए भोजन में से थोड़ा-थोड़ा ले कर अपनी पूर्ति और तृप्ति कर ले। और गृहस्थों को भी इससे कोई कष्ट नही होता। यह गोचरी कहलाती है। इसी प्रकार जैसे भौंरा फूलों का रस लेने के लिए अनेक फूलों पर बैठ कर थोड़ा-थोड़ा रस लेता है; जिससे फूलों को भी कोई कष्ट नहीं होता और भौंरा भी अपनी तृप्ति कर लेता है; वैसे ही साधु भी आहार लेने के लिए अनेक घरों में जाकर थोड़ा-थोड़ा भोजन ले, जिससे गृहस्थो को भी कोई कष्ट न हो और साधु की भी तृप्ति हो जाय; इसे माधुकरी कहते हैं।

भिक्षाचर्या में शुद्धि के लिए पूर्वसूत्र में शास्त्रकार बहुत कुछ निर्देश कर चुके हैं, यहां दूसरे पहलू से भिक्षा-शुद्धि का निर्देश कर रहे हैं। उनका कहना है कि भिक्षाटन करने वाला साधु दाता के सामने अपना पूर्व परिचय न दे।

साधु का वर्तमान रूप ही उसका परिचय है। इससे अधिक प्रशंसात्मक परिचय तो वह देता है, जिसे बढ़िया पौष्टिक और स्वादिष्ट भोजन या कीमती वस्त्रादि की आकांक्षा हो। साधु को तो शरीर की गाडी चलाने के लिए यथालाभ भोजन लेना है। जैसे गाडी को ठीक ढंग से चलाने के लिए उसकी धुरी में तेल दिया जाता है,शरीर के घाव पर जैसे मरहम लगा दिया जाता है,वैसे साधु को भी शरीर चलाने के लिए थोडा-सा भोजन लेना है। उसे गृहस्थ से यह कहने की क्या जरूरत है कि 'मैं धनाढ्य घर का दीक्षित हुआ हूँ।' कदाचित् गृहस्थ साधु के गृहस्थाश्रमपक्षीय सम्बन्ध को जान भी जाए तो भी उस साधु को अनासक्तभाव धारण करना चाहिए। दाता यदि देने में प्रतिकूलता दिखाए, आनाकानी करे, अथवा अस्वादु आहार साधु को दे तो वह अपने चित्त में उसके प्रति द्वेष या दुर्भाव न आने दे। कदाचित् बहुत जगह घूमने पर भी नियमानुसार आहार न मिले, तो भी साधु मन में दीनता या हीनभावना न आने दे और न ऐसा मुर्झाया चेहरा बना ले, जिससे लोगों को उसे देख कर करुणा पैदा हो। एक दिन भोजन न मिला तो क्या हुआ? साधु उपवास भी तो करता है। कदाचित् भिक्षाटन के समय कोई साधु का अपमान कर बैठे या अपशब्द कह दे तो भी मन में विषाद न आने दे। घूमते-घूमते काफी देर हो जाने पर भी पर्याप्त आहार न मिले या निर्दोष आहार जरा भी नहीं मिले तो साधु उसके कारण झुंझला कर हारे-थके निराश व्यक्ति की तरह न बैठ जाय, किन्तु उत्साहपूर्वक मन में थकान महसूस किए बिना पुरुषार्थ करता रहे। इतने पर भी न मिले या पर्याप्त आहार न मिले तो साधु की हानि नहीं। वह यही सोचे कि चलो, आज अनायास ही उपवास करके कर्मनिर्जरा करने का मौका मिल गया। अथवा यों सोचे कि आत्मा तो निराहारी है। आहार तो शरीर को चाहिए। और यह शरीर तो आहार करते हुए भी क्षीण हो जाता है। यह तो केवल संयम में सहायक है। इसलिए एक दिन इसे आहार न दिया जायगा तो इसका कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं। ऐसा समझ कर निर्दोष आहार की ही गवेषणा करे। भिक्षाचरी करते समय साधु के सामने यह लक्ष्य चमकता रहना चाहिए कि "मुझे बड़ी कठिनता से प्राप्त संयम के योगों को स्थिर रखने के लिए पुरुषार्थ करना है, अप्राप्त संयमधन की प्राप्ति के लिए उद्यम करना है, विनय तथा क्षमा आदि आत्मिक गुणों की प्रवृत्ति में जुटे रहना है।" इस प्रकार भिक्षाचरी करते समय साधु ऊँच, नीच, मध्यम सभी स्थिति के लोगों के यहां समभावपूर्वक जाय और कल्पनीय-एषणीय आहार समभाव से भिक्षा के रूप में ले कर अपने उपाश्रय (धर्मस्थान) में आ जाय।

यहाँ तक शास्त्रकार ने शुद्ध भिक्षाचरी का तरीका बतलाया, अब आगे भिक्षा-प्राप्त आहार के सेवन का तरीका बताया गया है। क्योंकि कई बार भिक्षा निर्दोष

होने पर भी मनोज्ञ या अमनोज्ञ आहार मिलने पर साधु के मन में गर्व या दैन्य, हर्ष या अफसोस होता है। कई बार तो वह भाव साधु की चेष्टाओं में भी उतर आता है। उन भावो से जनता में अनादर तो होता ही है,भावहिंसा भी हो जाती है। अतः उस भाव-हिंसा से बचने के लिए भिक्षाप्राप्त आहार के सेवन की विधि शास्त्रकार ने बताई है। वह भिक्षाप्राप्त आहार ले कर साधु अपने गुरु के पास आए और भिक्षाटन के समय जो भी गमनागमनसम्बन्धी दोष लगे हों, उनका प्रतिक्रमण करे। तत्पश्चात् गुरुचरणों में जा कर आलोचना करे और उनके उपदेशानुसार प्रायश्चित ले कर शुद्ध हो। फिर सुखपूर्वक आसन पर बैठ कर मुहूर्तभर धर्मध्यान, शुभयोग, ज्ञान, स्वाध्याय में अपने अन्तःकरण को लीन करे,अन्य सब अशुभ विकल्पों को मन से निकाल दे। उस समय मन को एकाग्रता से धर्मचिन्तन में लगाए। सूने मन से गुमसुम हो कर न बैठे,अपितु मन को शुभ परिणामों में जोड़ दे, उसे क्लेश या कदाग्रह से दूर रखे, आत्मचिन्तन में एकाग्र हो कर मन को समाधिस्थ कर ले, तथा श्रद्धा,संवेग और निर्जरा की त्रिवेणी में स्नान कराए। फिर प्रवचन आगम या संघ के प्रति वात्सल्यभावना से मन को ओतप्रोत करके वहाँ से हृष्ट-तुष्ट हो कर उठे और बड़े-छोटे के क्रम से भावनापूर्वक सभी उपस्थित साधुओं को बुलाए। गुरुजन आ कर जब सबको आहार वितरित कर दें तो मस्तकसहित अपने सारे शरीर का रजोहरण से प्रमार्जन करे, वस्त्रखण्ड से हाथ पोंछे और फिर भोजन करना शुरू करे। भोजन करते समय सरस आहार के प्रति आसक्ति न लाए। जो चीज नहीं मिली हो, उसकी आकांक्षा न करे,सरस चीज के मोह में भी न फंसे,नीरस भोजन या उसके दाता की निन्दा न करे, न स्वादिष्ट पदार्थों में अपने मन को लीन करे। भोजनभट्ट बनकर लोभवश अधिक न खाए। भोजन को शरीर के लिए नहीं, अपितु परमार्थ साधना के लिए समझे। तरल पदार्थ का सेवन करते समय मुंह से सुर-सुर या चप-चप आवाज न करे, भोजन भी बहुत जल्दी जल्दी उतावला हो कर न करे, और न ही बहुत धीरे-धीरे करे। भोजन करते समय दाल, साग, रोटी आदि जमीन पर न गिरने दे,अन्यथा चींटी आदि जंतुओं के इकट्ठे हो जाने से उनकी विराधना होगी। भोजन भी प्रकाशयुक्त स्थान में और चौड़े प्रकाशयुक्त पात्र में यतनापूर्वक करे। भोजन करते समय भी ग्रासैषणा के पांच दोषों से बचे। वे पांच दोष इस प्रकार हैं—संयोगदोष, प्रमाणदोष, धूमदोष, अंगारदोष, और कारणदोष, भोजन के एक पदार्थ को स्वादिष्ट और सरस बनाने के लिए उसमें दूसरी चीज का रसलोलुपतावश संयोग करना, संयोजनादोष या संयोगदोष है। दूसरा प्रमाण दोष है। पिंडनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में साधुसाध्वी के लिए आहार के कौरों (ग्रासों) की संख्या बताई है। स्वादिष्ट लगने पर उस प्रमाण से अधिक भोजन करे या अपने भोजन की निर्धारित मात्रा से अधिक ठूंस-ठूंस कर भोजन करे तो वह प्रमाणदोष होता है। अमनोज्ञ आहार मिलने पर दाता या उस वस्तु की द्वेषवश निन्दा करने

लगे तो धूमदोष लगता है। इस प्रकार द्वेषवश निन्दा करने वाले साधु का चरित्र धुंए की तरह कलुषित हो जाता है, इसलिए इसे धूमदोष कहा गया है। सरस और निर्दोष आहार के प्रति आसक्ति हो जाने से उसके दाता की या उस भोज्य पदार्थ की तारीफ करते हुए खाना अंगारदोष है। यह दोष साधु के चारित्रसाधना को अंगारे की तरह जलाने वाला होता है, अतः इसे अंगार कहा है। कारणदोष उसे कहते हैं, जहाँ साधु शास्त्र में बताए गए ६ कारणों के बिना ही आहार करे या ६ कारणों के बिना ही आहार का त्याग कर दे। साधु को आहार करने के लिए उत्तराध्ययनसूत्र में ६ कारण बताए हैं—

'वेयण-वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए' ॥[1]

अर्थात्—इन ६ कारणों से साधु आहार करे—(१) भूख की वेदना—बेचैनी सहन न हो सके तो, (२) वैयावृत्य (गुरु आदि की सेवा) करने के लिए, (३) ईर्या-समिति के पालन करने के लिए,(४) संयम की क्रियाओं को ठीक तरह से पालन करने के लिए, (५) प्राणधारण करने के लिए, और (६) धर्म चिन्तन के लिए।

भूख से बेचैन साधु न तो सेवा कर सकेगा, न ईर्यासमिति का पालन कर सकेगा। भूख के मारे उसकी आंखों के सामने अंधेरा छा जायगा, और वह संयम की क्रियाएँ नहीं कर सकेगा।

साधु को आहार न करने के लिए भी ६ कारण बताए हैं—

'आयंके उवसग्गे बंभगुत्ती य पाणरक्खट्ठा।
तवसंलेहणमेवमभोजणं छस्सु कुविज्जा ॥

अर्थात्- इन ६ कारणों से साधु आहार का त्याग करे—(१) कोई आतंक उपस्थित होने पर, (२) अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग (देव-मनुष्य-तिर्यंचकृत) आ पड़ने पर, (३) ब्रह्मचर्य यानी-कामोत्तेजना के शमन के लिए, (४) वर्षा, कुहरा आदि पड़ रहे हों, उस समय उन जीवों की रक्षा के लिए, (५) संलेखना - आमरण अनशन कर दिया हो तो, और (६) उपवास आदि तपश्चर्या के समय।

आहार करने के कारण शास्त्रकार स्वयं बताते हैं—'संजमजायामायानिमित्तं'

---

१. निम्नलिखित गाथा भी आहार करने के ६ कारणों के सम्बन्ध में मिलती है—

छुहवेयण-वेयावच्चे संजमसुहज्झाणपाणरक्खट्ठा।
पाणिदया तवहेउं छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥१॥

—प्रवचनसारोद्धार

—सम्पादक

संजमभारवहणट्ठयाए पाणधारणट्ठयाए भुंजेज्जा ।' इसका भावार्थ यह है कि संयम की प्रवृत्तियों को चलाने के लिए, संयम के भार को वहन करने के लिए तथा जिंदगी टिकाए रखने के लिए साधु भोजन करे ।

इस प्रकार एषणासमिति के पूर्वोक्त तीनों पहलुओं पर साधु चिन्तन करे और तदनुसार उसे क्रियान्वित करे । इस प्रकार आहारैषणासमितिभावना का सम्यक्रूप से चिन्तन और प्रयोग करने पर आत्मा में इस समिति के संस्कार सुदृढ हो जाते हैं, उसका चारित्र निर्मल, शुभ परिणाम से युक्त एवं अखण्ड हो जाता है । ऐसा पूर्ण अहिंसा का उपासक सुसाधु ही मोक्षसाधना में अग्रसर होता है ।

आदाननिक्षेपसमितिभावना का चिन्तन, प्रयोग और फल—अहिंसामहाव्रत की सुरक्षा के लिए साधु को धर्मोपकरणों (सामान) को रखने—उठाने, या मलमूत्रोत्सर्ग आदि प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखने हेतु आदाननिक्षेपसमिति भावना बताई गई है । जिसके चिन्तन और प्रयोग के लिए शास्त्रकार स्वयं अंगुलिनिर्देश करते हैं—'पंचमं आदाननिक्खेवणसमिई ......उवगरणं रागदोसरहियं परिहरितव्वं ;.... निक्खियव्वं गिण्हियव्वं च भायणभंडोवहिउवगरणं ।' इसका तात्पर्य यही है कि साधु को संयमयात्रा के लिए आहार की तरह वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण, पादप्रोंछन तथा सोने के लिए पट्टा,चौकी, बिछौना (संस्तारक),दण्ड,चोलपट्टा, मुखवस्त्रिका आदि भिक्षा द्वारा प्राप्त किये हुए होने पर भी यदि उनके रखने-उठाने आदि का विवेक नहीं है तो ये उपकरण भी हिंसा के कारण बन जाते हैं । इसलिए आदाननिक्षेपणसमितिभावना में शास्त्रकार ने कुछ उपकरणों के नाम गिनाए हैं । साथ ही उन उपकरणों के रखने का प्रयोजन, उन्हें रखने के पीछे के भाव एवं उनकी देखभाल तथा रखने—उठाने में विवेक आदि बातों का निरूपण किया है । अतः साधु सर्वप्रथम यह चिन्तन करे कि महापुरुषों ने ये धर्मोपकरण कितने, क्यों और किसलिए रखने और किस तरीके से उनका उपयोग करने का विधान किया है ? साधु को उक्त बारह तथा आदि शब्द से और भी धर्मोपकरण शरीर को सुकुमार बनाने या मोटा ताजा बनाने के लिए नहीं, अपितु संयम के पोषण—वृद्धि के लिए रखने हैं । और रखने हैं—संयमयात्रा के लिए अनिवार्य साधनभूत शरीर की प्रतिकूल हवा, सर्दी, गर्मी, दंश, मच्छर आदि से रक्षा—बचाव के लिए । फिर भी इन उपकरणों को राग (मोह,लोभ आदि) तथा द्वेष (घृणा आदि) से रहित हो कर ही रखना है । साथ ही इन उपकरणों का इस्तेमाल करने के दौरान प्रतिदिन प्रातः और सायं दोनों समय प्रमादरहित हो कर प्रमार्जन और प्रतिलेखन करे । उन्हें उठाते और रखते समय बड़ी सावधानी से जीवजन्तुओं को देख कर उठाए और रखे । इस प्रकार यहाँ जो भी उपकरण बताए गए हैं, ये साधु के संयम के लिए उपयोगी, ब्रह्मचर्य की रक्षा

और ममत्वत्याग की दृष्टि से सीधे-सादे हों। वे टीपटाप, फैशन और आडंबर से रहित हों। अहिंसा की रक्षा की दृष्टि से इन सब पहलुओं से धर्मोपकरणों को रखने व इस्तेमाल करने की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण के हेतु आदाननिक्षेपसमितिभावना बताई गई है। इस भावना के अनुरूप चिन्तन और सम्यक् परिपालन करने पर साधु के जीवन में इस समिति के संस्कार सुदृढ हो जाते हैं। उसका चरित्र निर्मल, विशुद्ध परिणामों से युक्त तथा अखण्ड रहता है। और तब वह पूर्ण अहिंसा का उपासक संयमी, स्वपरकल्याणसाधक—मोक्ष का साधक बन जाता है।

पंचभावनायोग की महिमा— शास्त्रकार इस सूत्रपाठ के अन्त में अहिंसारूप प्रथम संवरद्वार की रक्षा के लिए निर्देश करते हैं कि इन पूर्वोक्त पांच भावनाओं का सहारा लेकर बुद्धिमान् और धैर्यवान् साधक को मन-वचन-काया की सुरक्षापूर्वक जिंदगी के अन्त तक सतत दृढ़ता से इस अहिंसारूप संवरद्वार का सेवन करना चाहिए। यह पंचभावनायोग नये कर्मों को रोकने वाला, पापरहित, कर्मजलप्रवेश का रोधक, पापनिषेधक, असंक्लिष्ट, निर्दोष एवं सभी तीर्थंकरो द्वारा अनुमत है।

उपसंहार—इस अध्ययन के अन्त में शास्त्रकार प्रथम संवरद्वार की महिमा अनेक विशेषणों द्वारा व्यक्त करते हैं। इन सबका अर्थ स्पष्ट किया जा चुका है।

इस प्रकार श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र की सुबोधिनी व्याख्यासहित अहिंसा नामक छठे अध्ययन के रूप में प्रथम संवरद्वार समाप्त हुआ।

समराओ वि णिइंति अणहा य सच्चवादी । वहबंधऽभियोगवेरघोरेहिं पमुच्चंति य अमित्तमज्झाहिं निइंति अणहा य सच्चवादी । सादेव्वाणि य देवयाओ करेंति सच्चवयणे रताणं । तं सच्चं भगवं तित्थकरसुभासियं दसविहं, चोद्दसपुव्वीहिं पाहुडत्थविदितं, [1]महरिसीण य समयप्पदिन्नं, देविंदनरिंदभासियत्थं, वेमाणियसाहियं, महत्थं,मंतोसहिविज्जासाहणत्थं,चारणगणसमणसिद्धविज्जं, मणुयगणाणं वंदणिज्जं, अमरगणणाणं अच्चणिज्जं, असुरगणाणं च पूयणिज्जं, अणेगपासं(खं)डिपरिग्गहितं, जं तं लोकमि सारभूयं, गंभीरतरं महासमुद्दाओ, थिरतरगं मेरुपव्वयाओ, सोमतरगं चंदमंडलाओ, दित्ततरं सूरमंडलाओ, विमलतरं सरयनहयलाओ, सुरभितरं गंधमादणाओ, जे वि य लोगंमि अपरिसेसा मंतजोगा जवा य विज्जा य जंभका य अत्थाणि य सत्थाणि य सिक्खाओ य आगमा य सव्वाणि वि ताइं सच्चे पइट्ठियाइं । सच्चं पि य संजमस्स उवरोहकारकं किंचि न वत्तव्वं हिंसासावज्जसंपउत्तं, भेयविकहाकारकं, अणत्थवायकलहकारकं, अणज्जं, अववायविवायसपउत्तं, वेलंबं, ओजधेज्जबहुलं, निल्लज्जं, लोयगरहणिज्जं, दुदिट्ठं, दुस्सुयं, अमुणियं । अप्पणो थवणा परेसु निंदा—न तंसि मेहावी, ण तंसि धन्नो, न तंसि पियधम्मो, न तंसि कुलीणो, न तंसि दाणपती, न तंसि सूरो, न तंसि पडिरूवो, न तंसि लट्ठो, न पंडिओ, न बहुस्सुओ, न वि य तं (सि) तवस्सी, ण यावि परलोगणिच्छियमतीऽसि, सव्वकालं जातिकुलरूववाहिरोगेण वावि जं होइ(वि)वज्जणिज्जं, दुहओ उवयारमतिक्कंतं एवंविहं सच्चंपि न वत्तव्वं । अह केरिसकं

---

[1] 'महरिसिसमयपइण्णचिन्न' पाठ भी कहीं-कहीं मिलता है ।

—सम्पादक

पुणाइ सच्चं तु भासियव्वं ? जं तं दव्वेहिं पज्जवेहि य गुणेहिं कम्मेहिं बहुविहेहिं सिप्पेहिं आगमेहि य नामक्खायनिवाउवसग्ग-तद्धियसमाससंधिपदहेउजोगियउणादिकिरियाविहाणधातुसर-विभत्तिवन्नजुत्त तिकल्लं दसविहं पि सच्चं जह भणियं तह य कम्मुणा होई दुवालसविहा होइ भासा, वयण पि य होइ सोलस-विहं, एवं अरहंतमणुन्नायं समिक्खियं संजएण कालंमि य वत्तव्वं । (सू० २४)

संस्कृतच्छाया

जम्बू ! द्वितीयं च सत्यवचनं शुद्धं, शुचिकं, शिवं, सुजातं, सुभाषितं, सुव्रतं, सुकथितं, सुदृष्टं, सुप्रतिष्ठितं, सुप्रतिष्ठितयशः, सुसंयमितवचनोक्तं, सुरवर-नरवृषभ-प्रवरबलवत्सुविहितजनबहुमत, परमसाधुधर्मचरणं, तव-नियमपरिगृहीतं सुगतिपथदेशकं च लोकोत्तमं व्रतमिदम् । विद्याधरगगन-गमनविद्यानां साधकं, स्वर्गमार्गसिद्धिपथदेशकमवितथ तद् सत्यम्, ऋजुकम्, अकुटिलम्, भूतार्थम्, अर्थतो विशुद्धम्, उद्योतकरम्, प्रभाव(स)कम् भवति सर्वजीवानां जीवलोके अविसंवादि । यथार्थमधुरं प्रत्यक्षं दैवतमिव यद् तदाश्चर्यकारकम्, अवस्थान्तरेषु बहुकेषु मनुष्याणाम् । सत्येन महासमुद्रमध्ये(अपि) तिष्ठन्ति,न निमज्जन्ति मूढानीका अपि पोताः, सत्येन चोदकसम्भ्रमेऽपि नोह्यन्ते, न च म्रियन्ते, स्ताघं च ते लभन्ते । सत्येन चाग्निसम्भ्रमेऽपि न दह्यन्ते ऋजुका मनुष्याः । सत्येन च तप्ततैलत्रपुलोह-सीसकानि छुपन्ति, धारयन्ति, न च दह्यन्ते मनुष्याः । पर्वतकटकाद् मुच्यन्ते, न च म्रियन्ते सत्येन च परिगृहीताः । असिपंजरगता समरादपि निर्यान्ति अनघाश्च सत्यवादिनः । वधबन्धाभियोगवैरघोरेभ्यः प्रमुच्यन्ते चामित्र-मध्यान्निर्यान्ति अनघाश्च सत्यवादिनः । सादैव्यानि च देवताः कुर्वन्ति सत्यवचने रतानाम् । तत् सत्यं भगवद्,तीर्थंकर-सुभाषितम् दशविधम्, चतु-र्दशपूर्विभिः प्राभृतार्थविदितम्, महर्षीणां च समयप्रदत्तम्, देवेन्द्र-नरेन्द्र-भाषितार्थम्, वैमानिकसाधितम्, महार्थम्, मंत्रौषधिविद्यासाधनार्थम्, चारणगणश्रमणसिद्धविद्यम्, मनुजगणानां वन्दनीयम्, अमरगणानामर्च-नीयम्, असुरगणानां च पूजनीयम्,अनेकपाषं(खं)डिपरिगृहीतम्, यत् तल्लोके सारतरम्, गम्भीरतरं महासमुद्रात्, स्थिरतरकं मेरुपर्वतात्, सोमतरकं

चन्द्रमंडलात्, दीप्ततरं सूर्यमंडलात्, विमलतरं शरन्नभस्तलात्, सुरभितरं गंधमादनात्, येऽपि च लोकेऽपरिशेषा मंत्रयोगाः जपाश्च विद्याश्च जृम्भकाश्चास्त्राणि च शस्त्राणि (शास्त्राणि) च शिक्षाश्चागमाश्च सर्वाण्यपि तानि सत्ये प्रतिष्ठितानि । सत्यमपि च संयमस्योपरोधकारकं किंचिन्न वक्तव्यं हिंसासावद्यबहुलम्, भेदविकथाकारकम्, अनर्थवादकलहकारकम्, अनार्यम् (अन्याय्यं), अपवादविवादसम्प्रयुक्तम्, वेलम्बम्, ओजोधैर्यबहुलम्, निर्लज्जम्, लोकगर्हणीयम्, दुर्दृष्टं, दुःश्रुतम्, अज्ञातम् । आत्मनः स्तवना परेषां निन्दा—न त्वमसि मेधावी, न त्वमसि धन्यो, न त्वमसि प्रियधर्मा, न त्वमसि कुलीनो, न त्वमसि दानपतिः, न त्वमसि शूरो, न त्वमसि प्रतिरूपो, न त्वमसि लष्टो, न पण्डितो, न बहुश्रुतो, न चापि त्वमसि तपस्वी, न चापि परलोकनिश्चितमतिरसि, सर्वकालं जातिकुलरूपव्याधिरोगेण चापि (वाऽपि) यद् भवति वर्जनीयम् । द्विधा उपचारमतिक्रान्तमेवंविधं सत्यमपि न वक्तव्यम् । अथ कीदृशकं पुनः सत्यं तु भाषितव्यम् ? यत् तद्द्रव्यैः पर्यायैश्च गुणैः कर्मभिर्बहुविधैः शिल्पैरागमैर् नामाख्यातनिपातोपसर्गतद्धितसमाससंधिपदहेतुयौगिकोणादिक्रियाविधानधातुस्वरविभक्तिवर्णयुक्तं त्रैकाल्यं दशविधमपि सत्यं यथा भणितं तथा च कर्मणा भवति द्वादश विधा भवति भाषा, वचनमपि भवति षोडशविधम्, एवमर्हदनुज्ञातं समीक्षितं संयतेन काले च वक्तव्यम् । (सू० २४)

पदार्थान्वय—श्री गणधर सुधर्मास्वामी अपने प्रधानशिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं (जंबू !) हे जम्बू ! (बितियं च) दूसरा संवरद्वार (सच्चवयणं) सत्य वचन—सत्पुरुषों मुनियों, गुणियों या प्राणियों के लिए हितकर वचन है, जो (सुद्धं) निर्दोष है, (सुचियं) पवित्र है, (सिवं) मोक्ष या सुख का कारण है, (सुजायं) शुभ विवक्षा से उत्पन्न हुआ है, (सुभासियं) सुन्दर स्पष्टवचनरूप है, अथवा सुभाषित है, (सुव्वयं) सुन्दर व्रत-नियम - रूप है, (सुकहियं) मध्यस्थ—रागद्वेष से तटस्थ हो कर सुन्दर कथन करने वाला है, (सुदिट्ठं) सर्वज्ञों द्वारा अच्छी तरह देखा गया है, (सुपतिट्ठियं) समस्त प्रमाणों से सिद्ध किया हुआ है, (सुपइट्ठियजसं) जिसका यश अबाधित—यशमूल है, (सुसंजमियवयणबुइयं) वाक्संयमियों द्वारा सुसंयत वचनों से बोला गया है, (सुरवर-नरवसभ-पवरबलवग-सुविहितजणबहुमयं) इन्द्रों को, नरश्रेष्ठ चक्रवर्तियों को, श्रेष्ठ बलधारी बलदेव-वासुदेवों को, सुविहित—सुसाधुजनों को बहुमान्य है, (परमसाहुधम्मचरणं) उत्कृष्ट साधुओं का धर्माचरण है, (तवनियमपरिग्गहियं) तप और नियम से स्वीकृत किया जाता है, (सुगतिपहदेसक) सद्गति का

पथप्रदर्शक है (च) और (लोगुत्तमं) लोक में श्रेष्ठ (इणं) यह (वयं) व्रत है। यह (विज्जाहरगगणगमणविज्जाण साहकं) विद्याधरों को आकाशगामिनी विद्याओं का सिद्ध करने वाला है, (सग्गमग्गसिद्धिपहदेसकं) स्वर्ग के मार्ग—अनुत्तर देवलोक तक तथा सिद्धिपथ का प्रवर्तक है, (तं) यह (सच्चं) सत्य (अवितहं) यथातथ्य—मिथ्याभाव से रहित है, (उज्जुयं) सरल भाव वाला है, (अकुडिलं) कुटिलता से रहित है, (भूयत्यं अत्यतो) सद्भूत—विद्यमान पदार्थ का ही प्रयोजनवश कथन करने वाला है, (विसुद्धं) बिलकुल शुद्ध है—मिलावट से दूर है, अथवा प्रयोजन से निर्दोष है, (उज्जोयकरं) सत्य ज्ञान का प्रकाश करने वाला है, (जीयलोके) जीवों के आधारभूत लोक में, (सव्वभावाणं) समस्त पदार्थों का (अविसंवादि) अव्यभिचारी—यथार्थ (पभासकं) प्रभावक—प्रतिपादन करने वाला (भवति) है। (जहत्यमहुरं) यथार्थ होने के कारण मधुर—कोमल है, (जं) जो सत्य (माणुसाणं) मनुष्यों को (बहुएसु अवत्यंतरेसु) बहुत-सी विभिन्न अवस्थाओं में (अच्छेरकारकं) आश्चर्यजनक कार्य करने वाला है, इसलिए (तं) यह (पच्चक्खं दयिवयं व) साक्षात् देव की तरह है। (महासमुद्दमज्झे) महासागर के बीच में (मूढाणिया वि पोया) जिस पर बैठी हुई सेना दिग्भ्रान्त हो गई है—दिशा भूल गई है, वे जहाज भी (सच्चेण) सत्य के प्रभाव से (चिट्ठंति) ठहर जाते हैं, (न निमज्जंति) डूबते नहीं हैं, (य) और (सच्चेण) सत्य के प्रभाव से (उदगसंभमंमि वि) भंवर वाले जलप्रवाह में भी, (न वुज्झइ) बहते नहीं, (य) और (न मरंति) न मरते हैं, किन्तु (थाहं लभंति) थाह पा लेते हैं (य) और (सच्चेण) सत्य से (अगणिसंभमंमि वि) जलती अग्नि के भयंकर चक्र में भी (न डज्झंति) जलते नहीं (उज्जुगा मणूसा) सरलस्वभाव के मनुष्य (सच्चेण य) सत्य के कारण (तत्ततेल्लतउलोहसीसकाइं) उकलते हुए तेल, रांगे, लोहे और सीसे को (छिवंति) छू लेते हैं, (य) और (धरेंति) हाथ में रख लेते हैं, (न डज्झंति) किन्तु जलते नहीं (मणूसा) मनुष्य (पव्वयकडकाहि) पर्वत की चोटी से (मुच्चंति) नीचे गिरा दिये जाते हैं, किन्तु (न य मरंति) मरते नहीं है। (य) तथा (सच्चेण परिग्गहिया) सत्य को धारण किये हुए—सत्य से युक्त व्यक्ति, (असिपंजरगया) चारों ओर तलवारों के पींजरे में—अर्थात् खड्गधारियों से घिरे हुए मनुष्य (समराओ वि) संग्राम से (अणहा) अक्षत शरीर सहित—घायल हुए बिना (णिइंति) निकल जाते हैं। (य) तथा (सच्चवादी) सत्यवादी मनुष्य (वह-बंध-भियोग-वेरघोरेहिं) वध, बन्धन तथा बल प्रयोगपूर्वक प्रहार और घोर वैरविरोधियों

के बीच भी (पमुच्चंति) छोड़ दिये जाते हैं (य) एवं (अमित्तमज्झाहि) दुश्मनों के बीच से (सच्चवादी) सत्यवादी (अणहा) निर्दोष—सही सलामत (निइंति) निकल जाते हैं (य) और (देवयाओ) देवता (सच्चवयणे रताणं) सत्य वचन में तत्पर लोगों का (सादेव्वाणि करेंति) सान्निध्य करते हैं—पास चले आते हैं। (तं) वह (तित्थंकरसुभासियं) तीर्थंकरों द्वारा भलीभांति प्रतिपादित—कथित (सच्चं भगवं) सत्य भगवान् (दसविहं) दस प्रकार का है। (चोद्दसपुव्वीहिं) चतुर्दश पूर्वों के ज्ञाताओं ने (पाहुडत्थविदितं) प्राभृतों—पूर्वगत भाग विशेषों से जाना है। (य) और (महरिसीण) महर्षियों के (समयप्पदिन्नं) सिद्धान्तों से प्रदत्त या प्रज्ञप्त—दिया या जाना गया है अथवा (महरिसिसमयपइन्नचिन्नं) महर्षियों ने इसे सिद्धान्तरूप से जाना है और इसका आचरण किया है। (देविंदनरिंदभासियत्थं) देवेन्द्रों और नरेन्द्रों ने जिन वचनों के रूप में जीवादि अर्थों—तत्वों को बताया है। (वेमाणियसाहियं) वैमानिक देवों के लिए जिनेन्द्रादि द्वारा इसका उपादेय रूप से निरूपण किया गया है अथवा वैमानिक देवों ने इसकी साधना की है या इसे सिद्ध किया है। (महत्थं) यह महान् गम्भीर अर्थ वाला है अथवा विशाल प्रयोजन वाला है, (मंतोसहिविज्जासाहणत्थं) मंत्रों, औषधियों और विद्याओं की साधना करना : इन्हें सिद्ध करना ही जिसका प्रयोजन है, (चारणगणसमणसिद्धविज्जं) जिससे चारणलब्धिधारकों की आकाशचारिणी विद्या तथा श्रमणों की विद्या सिद्ध होती है, (मणुयगणाणं वंदणिज्जं) यह मानवगणों से वन्दनीय-स्तुत्य है, (च) और (अमरगणाणं अच्चणिज्जं) व्यन्तर-ज्योतिष्क देवगणों द्वारा अर्चनीय है, (असुरगणाणं पूयणिज्जं) भवनपति आदि असुरगणों द्वारा पूजनीय है, (अणेगपासंडिपरिग्गहितं) अनेक प्रकार के व्रत या वेष धारण करने वाले साधुओं ने इसे अंगीकार किया है। (जं) ऐसा जो सत्य है, (तं) वही (लोगंमि सारभूयं) लोक में सारभूत है। यह (महासमुद्दाओ) महासमुद्रों से भी (गंभीरतरं) बढ़कर गंभीर है, (मेरुपव्वयाओ) मेरुपर्वत से भी (थिरतरगं) अधिक स्थिर—अचल है, (चंदमंडलाओ) चन्द्रमंडल से भी (सोमतरगं) बढ़कर सौम्य-शान्तिदायक है, (सूरमंडलाओ) सूर्यमण्डल से भी (दित्ततरं) अधिक दीप्त है—प्रकाशमान—तेजस्वी है, (सरयनहयलाओ) शरदृऋतु के गगनतल से भी (विमलतरं) बढ़कर निर्मल है, (गंधमादणाओ) गंधमादनपर्वत—गजदन्तपर्वत विशेष से भी (सुरभितरं) अधिक सुगन्धयुक्त है, (च) और, (जे वि) जो भी (लोगंमि) लोक में (अपरिसेसा) समस्त (मंतजोगा) मंत्र और वशीकरणादि प्रयोग हैं, (य) तथा (जवा) जप हैं, (य) और (विज्जा) विद्याएँ हैं, (जंभका य) तिर्यग्लोकवासी दस प्रकार के जृम्भक देव विशेष हैं, (य) और

(अत्थाणि) बाण आदि फेंके जाने वाले अस्त्र हैं, (य) तथा (सत्थाणि) प्रहार किये जाने वाले तलवार आदि शस्त्र हैं अथवा जितने भी लौकिक शास्त्र हैं, (य) तथा (सिक्खाओ) कलाओं आदि की शिक्षाएँ हैं, (य) तथा (आगमा) सिद्धान्तशास्त्र हैं, (ताइं सव्वाणि वि) वे सभी (सच्चे) सत्य पर (पइट्ठियाइं) प्रतिष्ठित—स्थित हैं। (सच्चं वि) और सत्य भी जो (संजमस्स उवरोहकारकं) संयम का बाधक हो, वैसा (किंचि न वत्तव्वं) जरा-सा भी नहीं बोलना चाहिये। (हिंसासावज्जसंपउत्तं) जो हिंसा और पाप से युक्त हो, (भेयविकहाकारकं) फूट डालने वाला, झूठी बात उड़ाने वाला या चारित्रनाशक स्त्री आदि से सम्बन्धित विकथाकारक, (अणत्थवायकलहकारकं) निष्प्रयोजन व्यर्थ का वादविवाद—बकवास और कलह पैदा करने वाला, (अणज्जं) अनार्य—अनाड़ी आदमियों से बोला जाने वाला वचन या अन्याययुक्त वचन, (अववायविवायसंपउत्तं) दूसरों के दोषकथन एवं विवाद से संयुक्त (वेलंबं) दूसरों की विडम्बना-फजीहत करने वाला; (ओजधेज्जबहुलं) विवेकरहित पूरे जोश और धृष्टता से भरा हुआ, (निल्लज्जं) लज्जारहित, (लोकगरहणिज्जं) लोक—संसार में या सज्जन लोगों में निन्दनीय (दुद्दिट्ठं) जो बात भलीभांति न देख ली हो, उसे, (दुस्सुयं) जो बात अच्छी तरह सुनी न हो, उसे तथा (अमुणिय) जो बात अच्छी तरह जान न ली हो, उसे नहीं बोलना चाहिए। इसी प्रकार (अप्पणो थवणा, परेसु निंदा) अपनी स्तुति और दूसरों की निन्दा, जैसे—(न तंसि मेहावी) तू बुद्धिमान नहीं है, (ण तंसि धन्नो) तू धन्य · धनवान् नहीं, है, (न तंसि पियधम्मो) तू धर्मप्रेमी नहीं है, (न तंसि कुलीणो) तू कुलीन नहीं है, (न तंसि दाणपती) तू दानेश्वरी नहीं है, (न तंसि सूरो) न तू शूरवीर है, (न तंसि पडिरूवो) तू सुन्दर नहीं है, (न तंसि लट्ठो) न तू भाग्यशाली है,(न पंडिओ,न बहुस्सुओ) न तू पंडित है,न तू बहुश्रुत—अनेक शास्त्रों का जानकार है, (य) और (न वि तंसि तवस्सी) तू तपस्वी भी नहीं है, (ण यावि परलोगणिच्छियमतीऽसि) तुझमें परलोक का निश्चय करने की बुद्धि भी नहीं है, ऐसा वचन, (वा) अथवा (जं) जो सत्य (सव्वकालं) आजीवन—सदा सर्वदा, (जातिकुलरूववाहिरोगेण) जाति—मातृपक्ष, कुल—पितृपक्ष, रूप—सौन्दर्य, व्याधि—कोढ़ आदि बीमारी, रोग—ज्वरादि रोग, इनसे सम्बन्धित (वज्जणिज्जं) पीड़ाकारी निन्दनीय या वर्जनीय वचन हो, (वि) पुनः (दुहओ) द्रोहकारी अथवा द्रव्य-भाव से द्विधा में डालने वाला, (उवयारमतिक्कंतं) औपचारिकता—व्यावहारिकता—व्यवहार से शिष्टाचार अथवा उपकार का भी उल्लंघन करने वाला हो, (एवंविहं) इस प्रकार का (सच्चंपि) यथार्थ—सद्भूतार्थ सत्य भी

(नवत्तव्वं) नहीं कहना चाहिए। (अथ) प्रश्न होता है,(तु पुणाइ) तो फिर (केरिसगं) कैसा (सच्चं) सत्य (भासियव्वं) बोलना चाहिये ? (तं) वह सत्य बोलने योग्य है, (जं) जो (दव्वेहिं) त्रिकालवर्ती पुद्‌गलादि द्रव्यों से, (पज्जवेहिं) नये-पुराने आदि वस्तु के क्रमवर्ती पर्यायों से (य) तथा (गुणेहिं) वर्णादि सहभावी गुणों से (कम्मेहिं) कृषि आदि कर्मों से अथवा उठाने-रखने आदि कर्मों से (बहुविहेहिं सिप्पेहिं) अनेक प्रकार के चित्रकला, वस्तुकला आदि शिल्पों से (य) तथा (आगमेहि) सिद्धान्त—सम्मत अर्थों से युक्त हो, (नामक्खायनिवाउवसग्गतद्धियसमाससंधिपदहेउजोगियउणादिकिरियाविहाणधातुसरविभत्तिवन्नजुत्तं) व्युत्पन्न या अव्युत्पन्न नाम-संज्ञापद, आख्यात—त्रिकालात्मक क्रियापद, निपात—अव्यय, प्र परा आदि उपसर्ग, तद्धितपद-अर्थाभिधायक प्रत्यय, समासपद, सन्धिपद, सुबन्ततिङन्त विभक्‌त्यन्तपद, हेतु, यौगिकपद, उणादि—प्रत्ययान्तपद, क्रियाविधान—सिद्धक्रियापद, भू आदि धातु, अकारादि स्वर, अथवा षड्‌ज इत्यादि गीतस्वर, अथवा ह्रस्वदीर्घप्लुतरूप मात्रोच्चारणकालसूचक स्वर, कहीं 'रस' पाठ है, वहाँ शृंगार आदि ६ रस, प्रथमा आदि विभक्ति, स्वरव्यंजनात्मक वर्णमाला, इन सबसे युक्त हो, वह सत्य है। (तिकल्लं) त्रिकालविषयक (सच्चं) सत्य (दसविहंपि) दस प्रकार का भी होता है। वह सत्य (जह) जैसे (भणियं) मुंह से कहा जाता है, (तह) वैसे ही (कम्मुणा) कर्म—लेखन, हाथ पैर और आँख की चेष्टा, इंगित, आकृति आदि क्रिया से भी अथवा जैसा बोला है, वैसा ही करके बताने से, वचन के अनुसार अमल करने से ही सत्य, (होइ) होता है। (य) तथा (दुवालसविहा) बारह प्रकार की (भासा होइ) भाषा होती है, (य) और (वयणंपि सोलसविहं होइ) वचन भी १६ प्रकार का होता है। (एवं) अरहंतमणुन्नायं) अर्हन्त भगवान द्वारा अनुज्ञात—आदिष्ट (य) तथा (समिक्खियं) भलीभांति सोचा विचारा हुआ सत्यवचन (कालंमि) अवसर आने पर (संजएण) संयमी साधु को (वत्तव्वं) बोलना चाहिए।

मूलार्थ—श्री गणधर सुधर्मास्वामी अपने प्रधान शिष्य श्री जम्बूस्वामी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं जम्बू ! यह सत्य नाम का दूसरा संवरद्वार है, जो सत्पुरुषों, या गुणिजनों मुनिजनों के लिए हितकर है, निर्दोष है, पवित्र है, मोक्ष तथा सुख का कारण है, शुभ बोलने की इच्छा से उत्पन्न होता है, सुन्दर सुस्पष्ट वचनरूप है, सुन्दर व्रतरूप है, इससे पदार्थ का भलीभांति कथन किया जाता है, सर्वज्ञ देवों द्वारा यह भलीभांति देखा परखा हुआ है, यह सब प्रमाणों से सिद्ध है, इसका यश भी निराबाध है, तथा उत्तम देवों,

चक्रवर्ती आदि श्रेष्ठ मनुष्यों, उत्कृष्ट शक्ति के धारक वासुदेव-बलदेव आदि पुरुषों तथा शास्त्र विहित आचरण करने वाले महापुरुषों के द्वारा यह बहुमान्य है, यह उत्कृष्टसाधुओं का धर्माचरण है तथा तप और नियमसे अंगीकार किया जाता है, अर्थात् सत्यवादी के ही सच्चे माने में तप और नियम होते हैं। यह सद्गति का पथ निर्देशक है तथा लोक में उत्तम व्रत माना गया है। यह सत्य विद्याधरों की आकाशगामिनी विद्याओं का साधक है तथा स्वर्गमार्ग और मोक्षमार्ग का प्रवर्तक है, यह मिथ्याभाव से रहित है। यह सरलभावों से युक्त, कुटिलता से रहित है, यह विद्यमान सद्भूत अर्थ को ही विषय करता है, विशुद्ध अर्थ वाला है, वस्तुतत्त्व का प्रकाशक है, जीवलोक में समस्त पदार्थों का अविसंवादी-पूर्वापरसंगत रूप से प्रतिपादक है। पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को कहने वाला होने से मधुर है। मनुष्यों की भिन्न-भिन्न अनेक कष्टकर अवस्थाओं में वह साक्षात् देवता के समान आश्चर्यजनक कार्य करने वाला है। सत्य के कारण महासागर के बीच दिग्भ्रान्त बने हुए नाविक सैनिकों की नौकाएँ स्थिर रहती है, डूबती नहीं हैं। सत्य के प्रभाव से चक्करदार जल-प्रवाह में भी मनुष्य बहते नहीं, न मरते हैं, किन्तु वे थाह पा लेते हैं। अर्थात् किनारे लग जाते हैं। सत्य के प्रभाव से चारों ओर आग की लपटों से घिर जाने पर भी जलते नहीं। सरलस्वभावी मनुष्य सत्य के प्रताप से खौलते हुए गर्मागर्म तेल, रांगे, लोहे और सीसे को भी छू लेते हैं, हथेली पर रख लेते हैं, लेकिन जलते नहीं। सत्य को धारण किये हुए मनुष्य पर्वतशिखरों से गिरा दिये जाने पर भी मरते नहीं हैं, और नंगी तलवारों के घेरे में घिरे हुए सत्यवादी मनुष्य समरांगण में से घायल हुए बिना निकल आते है, बालबाल बच जाते हैं। सत्यवादी मनुष्य लाठियों की मार, रस्सी आदि के बन्धन, बलात्कार और घोर वैरविरोध से छूट जाते हैं, और शत्रुओं के बीच से वे निर्दोष निकल जाते हैं। देवता भी सत्यवचन में तत्पर मनुष्यों के सान्निध्य में आते है अथवा देवता भी सत्यप्रतिज्ञ पुरुषों के दुर्घट कार्यों में सहायक बनते हैं। भगवान् तीर्थंकरों द्वारा भलीभांति वर्णित वह सत्य भगवान् दस प्रकार का है।

चतुर्दशपूर्वधारकों ने इसे पूर्वगत अंशों—प्राभृतों से विशेषरूप से जाना है, तथा यह महर्षियों के सिद्धान्तों द्वारा प्रदत्त है या प्रज्ञप्त है—वर्णित है, अथवा महर्षियों ने इसे सिद्धान्त रूप में जाना है और इसका आचरण

(न वत्तव्वं) नहीं कहना चाहिए। (अथ) प्रश्न होता है,(तु पुणाइ) तो
कैसा (सच्चं) सत्य (भासियव्वं) बोलना चाहिये ? (तं) वह सत्य
(जं) जो (दव्वेहिं) त्रिकालवर्ती पुद्गलादि द्रव्यों से, (पज्जवेहिं) नये
वस्तु के क्रमवर्ती पर्यायों से (य) तथा (गुणेहिं) वर्णादि सहभावी गुणों
कृषि आदि कर्मों से अथवा उठाने-रखने आदि कर्मों से (बहुविहेहिं सि
प्रकार के चित्रकला, वस्तुकला आदि शिल्पों से (य) तथा (आगमेहिं)
सम्मत अर्थों से युक्त हो, (नामक्खायनिवाउवसग्गतद्धियसमाससंधि
उणादिकिरियाविहाणधातुसरविभत्तिवन्नजुत्तं) व्युत्पन्न या अव्युत्पन्न
आख्यात—त्रिकालात्मक क्रियापद, निपात—अव्यय, प्र परा आदि उपस
अर्थाभिधायक प्रत्यय, समासपद, सन्धिपद, सुबन्ततिङन्त विभक्त्य
यौगिकपद, उणादि—प्रत्ययान्तपद, क्रियाविधान—सिद्धक्रियापद, भू
अकारादि स्वर, अथवा षड्ज इत्यादि गीतस्वर, अथवा ह्रस्वदीर्घप्लु
च्चारणकालसूचक स्वर, कहीं 'रस' पाठ है, वहां शृंगार आदि ६
आदि विभक्ति, स्वरव्यंजनात्मक वर्णमाला, इन सबसे युक्त हो, व
(तिकल्लं) त्रिकालविषयक (सच्चं) सत्य (दसविहंपि) दस प्रकार का भी
यह सत्य (जह) जैसे (भणियं) मुंह से कहा जाता है, (तह) वैसे ही
कर्म—लेखन, हाथ पैर और आंख की चेष्टा, इंगित, आकृति आदि
अथवा जैसा बोला है, वैसा ही करके बताने से, वचन के अनुसार अमल
सत्य, (होइ) होता है। (य) तथा (दुवालसविहा) बारह प्रकार की (
भाषा होती है, (य) और (वयणंपि सोलसविहं होइ) वचन भी १६ प्रकार
हैं। (एवं) अरहंतमणुन्नाय) अर्हन्त भगवान द्वारा अनुज्ञात—आदिष्ट
(समिक्खियं) भलीभांति सोचा विचारा हुआ सत्यवचन (कालंमि) अवसर
(संजएण) संयमी साधु को (वत्तव्वं) बोलना चाहिए।

मूलार्थ—श्री गणधर सुधर्मास्वामी अपने प्रधान शिष्य श्री ज
को सम्बोधित करते हुए कहते हैं जम्बू ! यह सत्य नाम का दूसरा
है, जो सत्पुरुषों, या गुणिजनों मुनिजनों के लिए हितकर है, निर्दोष
है, मोक्ष तथा सुख का कारण है, शुभ बोलने की इच्छा से उत्पन्न
सुन्दर सुस्पष्ट वचनरूप है, सुन्दर व्रतरूप है, इससे पदार्थ का

चक्रवर्ती आदि श्रेष्ठ मनुष्यों, उत्कृष्ट शक्ति के धारक वासुदेव-बलदेव आदि पुरुषों तथा शास्त्र विहित आचरण करने वाले महापुरुषों के द्वारा यह बहुमान्य है, यह उत्कृष्ट साधुओं का धर्माचरण है तथा तप और नियमसे अंगीकार किया जाता है, अर्थात् सत्यवादी के ही सच्चे माने में तप और नियम होते हैं। यह सद्गति का पथ निर्देशक है तथा लोक में उत्तम व्रत माना गया है। यह सत्य विद्याधरों की आकाशगामिनी विद्याओं का साधक है तथा स्वर्गमार्ग और मोक्षमार्ग का प्रवर्तक है, यह मिथ्याभाव से रहित है। यह सरलभावों से युक्त, कुटिलता से रहित है, यह विद्यमान सद्भूत अर्थ को ही विषय करता है, विशुद्ध अर्थ वाला है, वस्तुतत्त्व का प्रकाशक है, जीवलोक में समस्त पदार्थों का अविसंवादी-पूर्वापरसंगत रूप से प्रतिपादक है। पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को कहने वाला होने से मधुर है। मनुष्यों की भिन्न-भिन्न अनेक कष्टकर अवस्थाओं में वह साक्षात् देवता के समान आश्चर्यजनक कार्य करने वाला है। सत्य के कारण महासागर के बीच दिग्भ्रान्त बने हुए नाविक सैनिकों की नौकाएँ स्थिर रहती हैं, डूबती नहीं हैं। सत्य के प्रभाव से चक्करदार जल-प्रवाह में भी मनुष्य बहते नहीं, न मरते हैं, किन्तु वे थाह पा लेते हैं। अर्थात् किनारे लग जाते है। सत्य के प्रभाव से चारों ओर आग की लपटों से घिर जाने पर भी जलते नहीं। सरलस्वभावी मनुष्य सत्य के प्रताप से खौलते हुए गर्मागर्म तेल, रांगे, लोहे और सीसे को भी छू लेते हैं. हथेली पर रख लेते हैं, लेकिन जलते नहीं। सत्य को धारण किये हुए मनुष्य पर्वतशिखरों से गिरा दिये जाने पर भी मरते नहीं हैं, और नंगी तलवारों के घेरे में घिरे हुए सत्यवादी मनुष्य समरांगण में से घायल हुए बिना निकल आते हैं, बालबाल बच जाते है। सत्यवादी मनुष्य लाठियों की मार, रस्सी आदि के बन्धन, बलात्कार और घोर वैरविरोध से छूट जाते हैं, और शत्रुओं के बीच से वे निर्दोष निकल जाते हैं। देवता भी सत्यवचन में तत्पर मनुष्यों के सान्निध्य में आते है अथवा देवता भी सत्यप्रतिज्ञ पुरुषों के दुर्घट कार्यों में सहायक बनते हैं। भगवान् तीर्थंकरों द्वारा भलीभांति वर्णित वह सत्य भगवान् दस प्रकार का है।

चतुर्दशपूर्वधारकों ने इसे पूर्वगत अंशों—प्राभृतों से विशेषरूप से जाना है, तथा यह महर्षियों के सिद्धान्तों द्वारा प्रदत्त है या प्रज्ञप्त है—वर्णित है, अथवा महर्षियों ने इसे सिद्धान्त रूप में जाना है और इसका आचरण

किया है। देवेन्द्रों और नरेन्द्रों ने इसका प्रयोजन समझ लिया है, अथवा इसके द्वारा ही देवेन्द्रों और नरेन्द्रों को जीवादि पदार्थों का सत्य—तत्त्व बताया गया है, अथवा देवेन्द्रों और नरेन्द्रों ने मनुष्यों को इस सत्य का साध्य अर्थ बतलाया है। वैमानिक देवों को भी तीर्थंकर आदि ने उपादेय के रूप में इसे प्रतिपादन किया है, अथवा वैमानिकों ने इसी सत्य की साधना की है—इसका सेवन किया है। यह महाप्रयोजन वाला अथवा गम्भीर अर्थ वाला है। मंत्रों, औषधियों और विद्याओं के सिद्ध करने में इसका प्रयोजन—इसका सार्थकत्व रहता है। चारणगणों और श्रमणों की विद्या इसी से सिद्ध होती है,यह मानवगणों का वन्दनीय स्तुत्य है,व्यंतर—ज्योतिष्क आदि देवगणों का यह अर्चनीय है तथा भवनपति आदि असुरगणों का यह पूजनीय है, नाना प्रकार के व्रत या वेश धारण करने वाले साधुओं ने इसे अङ्गीकार किया है। ऐसा वह सत्य लोक में सारभूत है, यानी संसार के समस्त पदार्थों में प्रधान है, क्षोभरहित होने से यह महासमुद्र से भी गंभीरता में बढ़ाचढ़ा है। प्रण पर अटल होने से यह मेरुपर्वत से भी बढ़कर स्थिर है। संताप को शान्त करने में बेजोड़ होने से यह चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य है। वस्तु के कण-कण को यथार्थ रूप से प्रकाशित करने वाला होने से यह सूर्य मण्डल से भी बढ़कर प्रकाशमान है अथवा कोई भी तेजस्वी इसका तिरस्कार नहीं कर सकता, इसलिए शूर-समूह से भी यह अधिक तेजस्वी है। निर्दोष होने से यह शरत्कालीन गगनतल से भी अधिक निर्मल है। सहृदय लोगों के हृदय को प्रफुल्लित करने वाला होने से यह गन्धमादन (चन्दनवृक्षों के वन वाले गजदन्त) पर्वत से भी अधिक सुगन्धित है। संसार में जितने भी हरिणगमेषी-आवाहन आदि मंत्र हैं, वशीकरण आदि मंत्र है, वशीकरण आदि प्रयोजनों के लिए योग हैं, मन्त्र तथा विद्या के जप है, प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ है, तिर्यग्लोकवासी जृम्भक जाति के देव हैं, फेंक कर चलाए जाने वाले बाण आदि के अस्त्र हैं, सीधे प्रहार किए जाने वाले शस्त्र हैं अथवा अर्थनीति आदि लौकिक शास्त्र हैं, चित्र आदि कलाओं की शिक्षाएँ हैं, सिद्धान्त-आगम-धर्म-शास्त्र है, वे सब के सब सत्य से प्रतिष्ठत है—अर्थात् ये सब सत्य से ही उपलब्ध या सिद्ध होते हैं।

वस्तु को यथार्थरूप से प्रगट करने वाला वह सत्य भी यदि संयम का का बाधक हो तो उसे जरा-सा भी नहीं कहना चाहिए, जो हिंसा और पाप

से मिश्रित हो, चारित्रनाशक तथा स्त्री आदि विकथाओं को प्रगट करने वाला हो अथवा फूट डालने वाला तथा व्यर्थ की डींगे हांकने वाला हो, जो बिना मतलब की बकवास और कलह पैदा करने वाला हो, जो अनार्यों—पापकर्म में प्रवृत्त म्लेच्छों द्वारा बोलने योग्य वचन हो, अथवा अन्याय का पोषक हो, दूसरों पर मिथ्या दोषारोपण करने वाला तथा विवाद पैदा करने करने वाला हो, दूसरों की बिडम्बना—झूठी आलोचना करके फजीहत करने वाला हो, अनुचित जोश और धृष्टता से भरा हुआ हो, लज्जारहित—अपशब्द हो, लोकनिन्दनीय हो, तथा जिसे अच्छी तरह न देखा हो, अच्छी तरह न सुना हो व अच्छी तरह न जाना हो अथवा जो हकीकत के विपरीत रूप में देखा हो, सुना हो या जाना हो, उस विषय में किञ्चित् मात्र भी नहीं कहना चाहिए। अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करना भी असत्य है। जैसे किसी से कहना कि 'तू उत्तम स्मरणशक्ति वाला—मेधावी नहीं है, भुलक्कड़ है, तू धनिक नहीं है, दरिद्र है, धर्मप्रेमी नहीं है,अधर्मी है, तू कुलीन नहीं है, अकुलीन है, तू दाता नही है, कंजूस है, तू शूरवीर नहीं, डरपोक है, तू सुन्दर नहीं, कुरूप है, तू भाग्यशाली नही, भाग्यहीन है, तू पंडित नही, मूर्ख है, तू बहुश्रुत नहीं,अल्पज्ञ है, तू तपस्वी नहीं है, भोजन-भट्ट है, परलोक के विषय में तेरी बुद्धि संशयरहित नहीं है, अर्थात् तू संशयग्रस्त-नास्तिक है, अथवा जाति (मातृपक्ष), कुल (पितृपक्ष), रूप, व्याधि (कोढ़ आदि दुःसाध्य रोग) तथा रोग (बुखार आदि रोग) के निमित्त से भी परपीड़ाकारी निन्दनीय वचन यदि सत्य हों तो भी असत्य होने से सदा के लिए वर्जनीय समझने चाहिएँ। तथा जो वचन द्रोहयुक्त है, अथवा द्विधा से भरे हैं,अथवा द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से दूसरे से शिष्टाचार अथवा उपकार का उल्लंघन करने वाले हैं, वे सत्य हों तो भी नही बोलने चाहिएँ। प्रश्न होता है कि तब फिर किस प्रकार का सत्य बोलना चाहिए ? (उत्तर में कहते हैं) 'जो त्रिकालवर्ती पुद्‌गलादि द्रव्यों से, द्रव्य की नई-पुरानी क्रमवर्ती पर्यायों से, उनके सहभावी वर्ण आदि गुणों से, कृषि आदि कर्मों से या उठाने-रखने आदि चेष्टाओं से, चित्रकला आदि अनेक शिल्पों से तथा आगमों के सैद्धान्तिक अर्थों से युक्त हो, तथा व्युत्पन्न या अव्युत्पन्न नाम, तीनों काल के वाचक क्रियापदों, अव्यय, प्र, परा आदि (जिनके जुड़ जाने पर धात्वर्थ बदल जाता है) उपसर्गों, प्रत्यय लगाने पर नये अर्थ के बोधक तद्धितपद समासपद,

सुबन्त—तिगन्त विभक्त्यन्त पद, हेतु, यौगिकपद, उणादि प्रत्ययान्त पद, सिद्ध क्रिया बताने वाले पद, भू आदि धातु, अकारादि स्वर या षड्ज आदि संगीत-स्वर अथवा ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतरूप मात्रोच्चारणकालसूचक स्वर अथवा कहीं स्वर के बदले 'रस' शब्द मिलता है, वहां अर्थ होगा—शृंगार आदि नौरस, प्रथमा आदि विभक्ति, स्वरव्यंजनात्मक वर्ण, इन सबसे युक्त हो वह सत्य है। ऐसा त्रिकालविषयक सत्य दस प्रकार का होता है। वह सत्य जैसे मुंह से कहा जाता है, वैसे ही कर्म— लेखन, हाथ-पैर, आंख आदि की चेष्टा, इंगित, आकृति आदि क्रिया से भी होता है अथवा जैसा बोला है, वैसा ही करके बताने से यानी कथन के अनुसार अमल करने से ही सत्य होता है। संस्कृत प्राकृत आदि भेद से बारह प्रकार की भाषा होती है तथा एकवचन द्विवचन आदि भेद से सोलह प्रकार का वचन होता है। इन नाम आदि से संगत वचन ही बोलने योग्य होता है। वही सत्य कहलाता है।

इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् द्वारा अनुज्ञात—आदिष्ट तथा भलीभांति सोचा-विचारा हुआ सत्यवचन समय—अवसर आने पर संयमी साधु को बोलना चाहिए।

व्याख्या

प्रथम अहिंसा संवरद्वार का वर्णन कर चुकने के पश्चात् शास्त्रकार द्वितीय संवरद्वार का वर्णन करते हैं। इस विस्तृत सूत्रपाठ में शास्त्रकार ने सत्य की महिमा बताई है उसके पश्चात् सत्यपालन से होने वाले आश्चर्यजनक चमत्कारों का निरूपण किया है। उसके बाद सत्य के दस प्रकार बता कर उस सत्य को जानने वालों, सत्य के द्वारा अपनी विद्या, मंत्र, योग, औषधि आदि सिद्ध करने वालों तथा सत्य की वन्दना अर्चा—पूजा करने वालों का उल्लेख किया है, इसके अनन्तर सत्य की गरिमा बताने के लिए कतिपय उपमाएँ दी हैं। उसके बाद यह बताया गया है कि कौन-कौन से वचन सत्य होते हुए भी नहीं बोलने चाहिए? और सत्य वचन कौन-सा होता है और किस प्रकार से बोला जाना चाहिए? इस विषय पर प्रकाश डाला गया है।

यद्यपि इस सूत्रपाठ का अर्थ पदान्वयार्थ एवं मूलार्थ में काफी स्पष्ट है, फिर भी कुछ स्थलों पर व्याख्या करना आवश्यक समझ कर नीचे हम कुछ स्थलों पर व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

सत्य का अर्थ—सत्य के अर्थों पर विचार करते समय हमें उसके प्रचलित,

प्रयोग को ध्यान मे रखना होगा। इस दृष्टि से देखने पर 'सत्य' मुख्यतया तीन अर्थों में व्यवहृत होता है—(१) तत्त्व अर्थ में, (२) तथ्य अर्थ मे और (३) वृत्ति-प्रवृत्ति-व्यवहार अर्थ में। किसी वस्तु का निष्कर्ष, निचोड, साराश या तत्त्व पा लेना भी सत्य कहलाता है। जैसे—अग्नि में सत्य उष्णता है,पानी मे सत्य शीतलता है,घी में सत्य स्निग्धता है। इसप्रकार वस्तु के असाधारण धर्म को भी सत्य कहा जाता है। स्वयं शास्त्रकार कहते है—'जं तं लोगंमि सारभूयं' जगत् में जितने भी पदार्थ हैं, उन सब में जो सारभूत वस्तु है, वह सत्य है। इसी प्रकार वर्तमान दार्शनिक भाषा में कहा जाता है—इसने सत्य पा लिया। इससे यही अर्थ सूचित होता है कि अमुक व्यक्ति ने वस्तु तत्त्व का ज्ञान कर लिया, रहस्य पा लिया। जैसे शास्त्रकार ने भी कहा है—'चोद्दसपुव्वीहिं पाहुडत्थविदितं, महरिसिसमयपइण्णचिन्नं देविंदनरिंदभासियत्थं।' आशय यह है कि चतुर्दशपूर्वधारियों ने प्राभृतों के द्वारा सत्य का अर्थ—रहस्य पा लिया है, महर्षियों ने सत्य (सिद्धान्त) को जान लिया है और आचरण किया है,देवेन्द्रों को सत्य का प्रयोजन प्रतिभासित हो गया अथवा जीवादि ९ तत्वों का अर्थ सत्य रूप में प्रतिभासित होने लगा है। इससे यह भी फलित होता है कि जीवादि तत्वों का ज्ञान प्राप्त कर लेना भी सत्य-सम्यक्त्व पा लेना है। इसीलिए किसी ने लक्षण किया है—'कालत्रये तिष्ठतीति सत् तदेव सत्यम्' तीनों कालों में जो रहता है, वह सत् है, वही सत्य है। यही बात शास्त्रकार ने आगे चल कर कही है—"पभासकं भवति सव्वभावाण जीवलोके।" अर्थात् सत्य जीवलोक में सभी पदार्थों के वस्तुतत्त्व का कथन कर देता है—प्रतिभासित कर देता है।

सत्य जहाँ तथ्य अर्थ में प्रयुक्त होता है, वहाँ यथार्थ बोलने के रूप में होता है।[1] जो वस्तु जैसी देखी है, सुनी है, सोची है, समझी है, जैसा उसके बारे में अनुमान किया है, प्राणियो के हित के अनुरूप वैसा ही वचन द्वारा प्रगट करना सत्य है।

इसके लिए शास्त्रकार ने कुछ शब्द दिये हैं—'भूयत्थं अत्थतो अविसंवादि जहत्थमधुरं' अर्थात् वह सत्य है,जो अर्थ से भूतार्थ—सद्भूत अर्थ वाला हो और अविसंवादी हो,यथार्थ हो,मधुर हो। इसके साथ ही उस सत्य-यथातथ्य अर्थ को प्रगट करने पर भी जिसके पीछे दुष्ट आशय हो,जो प्राणिघात का कारण हो या जिसके पीछे अन्य

१. सत्य का यही लक्षण योगदर्शन व्यासभाष्य में किया है—'सत्यं, यथार्थ, वाङ्-मनसी यथादृष्टं यथाश्रुतं तथैव परत्र क्रान्तये भवति।

—सम्पादक

किसी प्रकार का छल, द्रोह, दम्भ आदि संयमविघातक कारण हो, वह सत्य वचन असत्य ही समझा जायगा। जैसे कि कहा है—"सच्चं पि य संजमस्स उवरोहकारकं न किं चि वत्तव्वं"" ""एवंविहं सच्चंपि न वत्तव्वं।

जहाँ वृत्ति-प्रवृत्ति या सद्व्यहार अर्थ में सत्य प्रयुक्त होता है, वहां सत्य वचन के साथ-साथ तदनुसार आचरण होना चाहिए। जैसे कोई वचन देता है कि तुम्हारा अमुक कार्य कर दूंगा या अमुक प्रतिज्ञा या नियम लेता हूं, तो तदनुसार प्रवृत्ति, चेष्टा या आचरण भी होना चाहिए तभी वह सत्य कहलाएगा। सत्यहरिश्चन्द्र का सत्य इसी अर्थ में था कि उन्होंने जो वचन मुंह से कहा था, उसका तदनुसार पालन किया। इसी प्रकार जहां वचन के अलावा स्वर, आकृति, कृति, चेष्टा लेखन आदि से भी वह सत्य वैसा ही प्रगट हो,तो वहां सत्य वृत्ति-प्रवृत्ति अर्थ में समझना चाहिए। मुंह से यथार्थ बोलने पर भी यदि चेष्टा, कृति, आकृति, लेखन या स्वर और तरह का हो तो वह बोला हुआ सत्य भी असत्य ही समझा जाएगा।

जैसे कि शास्त्रकार ने कहा है—सच्चं जह भणियं तह य कम्मुणा होइ" मुहओ उवयारमतिक्कंतं एवंविहं सच्चंपिनवत्तव्वं'—इसका तात्पर्य यह है कि जैसा कहा है,तदनुसार कर्म-क्रिया वगैरह से भी वह प्रगट हो, वह सत्य तभी सत्य है। जहाँ द्व्यर्थक शब्द का प्रयोग हो या उपकार एवं सत्कार आदि का भी द्रव्य-भाव दोनों में से किसी भी एक से उल्लंघन हो, तो वहाँ वह असत्य है।

इन तीनों अर्थों में जो सत्य बताया गया है, उसके पीछे मूल आशय प्राणिहित होना चाहिए। जैसा कि महाभारतकार ने कहा है—यद्भूतहितमत्यन्तं तद्धि सत्यं मतं मम।' अर्थात्—जिस बोलने, लिखने, सोचने, या किसी भी प्रकार की चेष्टा आदि करने में एकान्त प्राणिहित हो, वही सत्य माना गया है। सत्य का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी यही होता है—'सद्भ्यो हितम्' जो प्राणिमात्र के लिए हितकर हो, वह सत्य है। इसी का स्पष्टीकरण अर्धगाथा में इस प्रकार प्रगट किया गया है—

'सच्चं हियं सयामिह संतो मुणओ गुणा पयत्था वा' अर्थात्—'जो प्राणियों लिए हितकारक हो, वह सत्य है। इसी सत्शब्द में से तीन अर्थ और फलित होते हैं—मुनि—संत, गुण और पदार्थ। जिससे उक्त तीनों का हित प्रगट होता हो,वही सत्य है।'

तीनों की एकरूपता हो, वहीं सत्य है—सत्य के पूर्वोक्त अर्थों को देखते हुए निष्कर्ष यह निकलता है कि केवल वाणी से उच्चारण किया हुआ सत्य ही सत्य नहीं होता। वचन के साथ मन और काया की एकरूपता होनी चाहिए। मन से भी सत्य सोचे, वचन से भी सत्य बोले और काया से भी सत्य चेष्टा प्रगट करे, तभी सच्चे

माने में सत्य होता है।[1] यही कारण है कि सत्य महाव्रती साधु मन, वचन, काया तीनों योगों से सत्य का आचरण करने की प्रतिज्ञा लेता है। वह वचन से तो ठीक कहता हो, पर मन में कुछ और बात हो, शरीर से आचरण और ही तरह का हो, वहाँ दम्भ, छल या असत्य है; सत्य नहीं। साधु के गुणों में इसीलिए तीन विशेषण प्रयुक्त किये जाते हैं—'भावसच्चे, करणच्चे, जोगसच्चे'—यानी वह भावों से भी सत्य का आराधक हो, कृतादि करण से भी और मन-वचन-काय की प्रवृत्तिरूप योग से भी सत्याचरणी हो। अगर ऐसा न होता तो शास्त्रकार इस सूत्र पाठ में केवल वाणी से प्रगट किये हुए तथ्य को ही 'सत्य' कह देते, सत्य के स्वरूप पर इतना स्पष्ट व विस्तृत निरूपण नहीं करते। किन्तु उन्होंने पूर्वोक्त तीनों अर्थों में तथा मन-वचन-काय की एकरूपता के रूप में घटित होने वाले सत्य को ही सत्य कहा है और उसी को बोल कर प्रगट करने का निर्देश किया है।

यद्यपि सत्य का प्रकटीकरण खासतौर से वाणी से ही होता है, बोल कर ही होता है। बोल कर ही मनुष्य अपनी बात या अपने भावों को प्रगट करता है। परन्तु यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वाणी तो भावों को परोसने या प्रगट करने का एक साधन है; पर वही सब कुछ नहीं है। अगर वचन का सत्य ही एकान्तरूप से सत्य समझा जाय; तब तो अव्यक्त भाषा बोलने वाले द्वीन्द्रिय से ले कर पञ्चेन्द्रिय तक के तिर्यञ्च प्राणी भी महासत्यवादी कहलाएँगे, अथवा एकेन्द्रिय स्थावरजीव; जिनके रसनेन्द्रिय नहीं होती; वे भी सत्यवादी ही कहलाएँगे। लेकिन शास्त्रकार ने उन्हें सत्याचरणी या सत्यपालक नहीं बताया है। छोटा बच्चा, जो अभी बोलना भी नहीं सीखा है, वह भी सत्यवादी की कोटि में आजाएगा। अथवा कोई मन्दमति मनुष्य आजीवन मौन धारण कर ले, वह भी सत्यवादी की कोटि में माना जाएगा। मगर ये सत्यवादी की कोटि में नहीं माने जाते; क्योंकि इनके भावों में अभी तक समझबूझपूर्वक सत्यता नहीं आई है।[2] ओघसंज्ञा से कोई मिथ्यात्वी या अव्रती सत्य बोलता है तो उसका वह वचन भी सत्यव्रताचरणी की कोटि में नहीं माना जाता। सत्य के उच्चारण—वचन पर जो जोर दिया गया है, उसका भी रहस्य यही है कि

---

१ स्थानांग सूत्र में बताया है –'काउज्जुयए, भासुज्जुयए भावुज्जुयए अविसंवायणाजोगे' काया की सरलता, भाषा की सरलता, भावों की सरलता और मन-वचन कायरूप योग की अविसंवादिता—एकरूपता ही सत्य है।

२ तत्त्वार्थसूत्र में यही बात प्रगट की गई है—'सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्।'

—संपादक

स्थूलदृष्टि वाले लोग सत्य को उसकी अभिव्यक्ति से ही पकड़ पाते हैं ; भावों और चेष्टाओं (लेखन, इशारा, आकृति, स्वर आदि) से सत्य को पकड़ना हर एक मनुष्य के वश की बात नहीं। मनुष्य के बाह्यव्यवहार से भी सत्य को पकड़ना आसान नहीं होता। इसलिए सत्य की अधिकांश अभिव्यक्ति वचन के द्वारा होने से सत्यभाषण पर ही शास्त्रकारों या आचार्यों ने जोर दिया है। किन्तु यह कथन बहुलता की अपेक्षा से समझना चाहिए। सत्यवचन से उपलक्षणतया सर्वत्र सत्य-आचरण ही समझना चाहिए।

सत्य की इतनी महिमा क्यों ?—प्रश्न यह होता है कि अगर सत्य न बोला जाय तो क्या हो जायगा ? इसका इतना माहात्म्यवर्णन शास्त्रकार क्यों करते हैं ? इसका समाधान यह है कि सारा संसार सत्य के आधार पर चलता है। सूर्य, चन्द्र, ऋतु, ग्रह, नक्षत्र, तारे, समुद्र हवा आदि सब सत्य के आधार पर चलते हैं। सूर्य चन्द्र अपने नियमानुसार समय पर उदित होते है, ऋतुएँ अपने-अपने समय पर आती हैं, हवा बहती रहती है, समुद्र अपनी मर्यादा में रहता है, आकाश सबको अवकाश देता है, अग्नि जलाती है। ये सब पदार्थ अगर अपना-अपना कार्य न करते तो संसार मे प्रलय हो जाता। इसी प्रकार जितने भी व्यवहार है, वे सब सत्य के आधार पर चलते हैं। अगर दुनिया मे सत्य का व्यवहार न हो तो सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच जाय। जहाँ सत्य के व्यवहार में गड़बड़ होती है, वही अशान्ति, अव्यवस्था या विषमता फैलती है। सत्य के आधार पर सभी काम संतुलितरूप से होते जाते हैं। इसलिए शास्त्रकार क्या, दुनिया के तमाम बुद्धिमान मनुष्य, सत्य को मानवजीवन के लिए ही नहीं, प्राणि मात्र के जीवन के लिए आवश्यक मानते हैं। कहा भी है—

'सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥'

अर्थात्—सत्य के आधार पर ही पृथ्वी ठहरी हुई है, सत्य के कारण ही सूर्य तपता है, सत्य के कारण ही हवा चलती है। संसार में सभी कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है।

इसी बात की साक्षी शास्त्रकार निम्नोक्त शब्दों से देते हैं—

'जे वि य लोग मि अपरिसेसा मंतजोगा सव्वाणि वि ताइं सच्चे पइट्ठियाइं"
इस पंक्ति का अर्थ मूलार्थ में हम स्पष्ट कर चुके हैं।

सारा संसार या संसार के सभी शुभभाव या पदार्थ आदि जिसके आधार पर टिके हों, भला उस सत्य की महिमा का वर्णन कौन नहीं करेगा ?

सत्य क्या है ?—सत्य को 'शुद्ध' कहा गया है। जिसका अर्थ है—अविकारी। जिसमें मिलावट, बनावट, दिखावट या सजावट होगी ; वह विकारी होगा। सत्य में मिलावट, बनावट, दिखावट, या सजावट नही होती और न उसमे इसकी जरूरत ही

होती है। महाभारत में कहा गया है—"निर्विकारितमं सत्यं सर्ववर्णेषु भारत !" "हे अर्जुन ! ब्राह्मण आदि सभी वर्णों में सत्य को अतिशय निर्विकारी माना गया है।" सत्य की पैरवी के लिए किसी वकील की जरूरत नहीं होती। इसलिए इसे 'सुद्धं' कहा है। सत्य की अभिव्यक्ति भी शुद्ध-सरल मन,शुद्ध-सरल वचन,और शुद्ध-सरलकर्म से होती है। इसी प्रकार इसे 'सुचियं' भी कहा है। शुचि का अर्थ होता है—पवित्र। सत्य में किसी प्रकार की गदगी, मन की मलिनता, कुटिलता आदि दोषों की गुंजाइश नहीं है। वह स्वयं पवित्र होता है। पवित्र आत्मा ही इसका आचरण करता है।

सुभासियं—सत्य का उच्चारण स्पष्ट और सुन्दर होता है, इससे इसे सुभाषित कहा है। वास्तव में सत्य कहने वाले का उच्चारण अस्पष्ट नहीं होता। अस्पष्ट उच्चारण तो उस व्यक्ति का होता है, जो किसी न किसी दोष से युक्त होता है, वह कहने से हिचकिचाता है। मगर सत्यवादी बेखटके साफ-साफ और प्रिय व सुन्दर-सुहावने शब्दों में अपनी बात को कहता है।

सुव्वयं—सुव्रत का मतलब है—उत्तम व्रत। सत्य अपने आप में एक व्रत है—प्रतिज्ञारूप है। व्रत तप को भी कहते हैं,नियम को भी। कहा भी है—'सत्यं चेत्तपसा च किम् ?'—यदि किसी के पास सत्य है तो उसे तपस्या से क्या मतलब है ? सत्य अपने आपमें एक महान् तप है। किसी कवि ने कहा है—

> 'सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
> जाके हिरदे सांच है, ताके हिरदे आप॥'

मतलब यह कि जहाँ सत्य नहीं, वहा तप, नियम, व्रत आदि सब निष्फल हो जाते हैं। नियम या प्रतिज्ञा भी सत्य के ही अंग है।

सुकहियं—राग और द्वेष दोनों से रहित जो न्याययुक्त उचित संतुलित कथन होता है, उसे सुकथित कहते हैं। सत्य भी ऐसा होने से सुकथित है।

सुदिट्ठं सुपतिट्ठियं—जो बात अच्छी तरह से सोच विचार कर कही हुई,अच्छी तरह देखी-सुनी हुई होती है या दिलदिमाग में भलीभाति जमी हुई होती है, वही सुकथित, सुदृष्ट एवं सुप्रतिष्ठित होती है, वही सत्य है। बिना विचारे सहसा किसी के लिए कही गई बात झूठ होती है। कई बार आंखों से स्पष्ट देखी हुई बात भी सही नहीं होती, जैसे धुंधले प्रकाश में रस्सी भी साप जैसी दिखती है, रेगिस्तान में रेतीली जमीन में पानी भरा हुआ दिखाई देता है, इसी प्रकार कई बार ऊपर-ऊपर से देखी हुई बात में भी सत्य का अंश कम होता है। इसी प्रकार कानों से सुनी हुई बात भी झूठी निकल जाती है। उस पर सहसा विश्वास या निर्णय करने से धोखा खाना पड़ता है। इसी प्रकार कोई बात दिलदिमाग में जब तक भलीभांति जमी नहीं है, तब तक उसे एकदम सही मान लेने से भी पछताना पड़ता है। इसलिए शास्त्रकार इन तीन

शब्दों द्वारा ध्वनित करते है, जो बात बिना सोचे-विचारे सहसा उतावलेपन मे कह दी गई हो, जो भलीभांति देखी-सुनी न हो, और जो बात दिलदिमाग मे अच्छी तरह जम न गई हो उसे कहना 'असत्य' है। इसीलिए शास्त्रकार ने इस सूत्रपाठ के अन्त में कहा है—'समिक्खियं संजएण कालंमि य वत्तव्वं'—अर्थात्—भलीभांति सोचविचार करके संयमी पुरुष को अवसर पर ही बोलना चाहिए। वृत्तिकार भी कहते हैं –

बुद्धीए निएउणं भासेज्जा उभयलोयपरिसुद्धं।
सपरोभयाणं जं खलु न सव्वहा पीडजणगं तु ॥'

'बुद्धि से भलीभांति विचार कर जो स्व, पर और दोनों के लिए सर्वथा पीड़ाजनक न हो, दोनों लोकों में शुद्ध हो, वही वचन बोलना चाहिए।'

सुपइट्ठियजसं—इसका अर्थ यही है कि सत्य को जीवन में निष्ठापूर्वक स्थान देने वालों का यश स्वतः ही फैल जाता है। असत्यवादी की तो पद-पद पर अप्रतिष्ठा-अपकीर्ति होती है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि सत्य अपने पालन करने वालों का यश संसार में फैला देता है। सत्यवादी सत्य के प्रभाव से उत्कृष्ट पद पर पहुंचता देखा गया है।

विभिन्न कोटि के सत्य के उपासक —विभिन्न कोटि के महान् सत्योपासक व्यक्ति सत्य को अपने मन, वचन, साधना एवं जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों में स्थान देते हैं, उसको आदर देते हैं, उसका आचरण करते हैं; तपस्या और नियमों में उस सत्य को केन्द्र में रख कर चलते हैं, विद्याओं और कलाओं में पारंगत होने वाले भी उसी सत्य की साधना करते हैं; शास्त्रीय सिद्धान्तों का गहन अध्ययन करके वे सत्य का रहस्य पा लेते हैं,सत्य की महिमा और सत्य सिद्धान्तों को भलीभांति जानकर जनता को उसकी गरिमा से अवगत कराते हैं, सत्य के जिज्ञासु जीवादितत्वों का ज्ञान करके सत्य की साधना करते है, सत्य की सार्थकता और उपयोगिता को हृदयंगम कर लेते हैं, सत्य के द्वारा अपनी विद्या सिद्ध करते हैं और सत्य की स्तुति, अर्चा एवं पूजा करते हैं। शास्त्रकार की दृष्टि में वे क्रमशः ये हैं—सुसंयमी पुरुष, उत्तम देव, उत्तम मनुष्य, बलशाली मनुष्य, शास्त्रोक्त विधि से आचरण करने वाले सुविहित साधुजन, उत्कृष्ट साधुजन, तपस्वी, नियमधारी, विद्याधर, चतुर्दशपूर्वधर, महर्षिगण, देवेन्द्र, नरेन्द्र, वैमानिक देव, चारणमुनि, सत्य की अर्चा और पूजा करने वाले देव और असुरगण।

सुगतिपहदेसकं सग्गमग्गसिद्धिपहदेसकं—इन दोनों पदों का आशय यह है कि सत्य मनुष्यगति और देवगति इन दोनों सुगतियों का पथप्रदर्शक, तथा अनुत्तर-विमानस्वर्ग तक के मार्ग का तथा सिद्धिमार्ग का प्रवर्तक है। क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र के 'अल्पारम्भपरिग्रहत्वं च मानुषस्य' 'सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि

देवस्य, इन दो सूत्रों के अनुसार अल्पारम्भ और अल्प-परिग्रह मनुष्यगति के तथा सरागसयम, सयमासयम, अकामनिर्जरा तथा बालतप, ये देवगति के कारण है। इसलिए सत्य का पालन मनुष्यगति एव देवगति का कारण तो है ही, स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग का भी प्रवर्त्तक है।

उज्जुयं अकुडिलं—इन दोनो पदों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।ऋजु कहते है, सरल को। सरल मन से जो बोला जाता है,वह ऋजुक होता है, वही सत्य होता है। जो मायाचारपूर्वक बोला जाता है,वह वचन असत्य होता है। सरलचित्त से उच्चारण किया हुआ वचन कुटिल नही होता है, वही सत्य है। सरलमन की सरलता को पहिचानने मे अकुटिल वचन हेतु बनता है। जिसके वचन में सरलता नही होती, वह सीधी-सादी या सरल-सी लगती बात को भी घुमाफिरा कर कहता है। समझना चाहिए उसके मन मे कलुषितता है। इसलिए इन दोनों पदों को साध्य-साधनभाव से परस्पर सम्बन्धित बताने के लिए साथ-साथ रखा है।

भूयत्थं अत्थतो विसुद्धं—जो चीज है ही नही, उसके विषय मे कल्पना करना सद्भूतार्थ कथन नही होता। वास्तविक (विद्यमान या घटित) अर्थ को कहने वाला वचन ही सत्य है।

परन्तु कई दृष्टान्त या कथाएँ काल्पनिक होती हैं, वे वर्तमान में या भूतकाल में भी हूबहू घटित नही होतीं, फिर भी वक्ता का आशय लोगों को किसी सत्य (तत्त्व या सिद्धान्त) को समझाना है या हृदय में उतारना है तो उसे असत्य नहीं समझना चाहिए, क्योंकि उसके पीछे प्रयोजन (अर्थ) विशुद्ध है।

इसलिए विशुद्ध प्रयोजन से बोला गया वचन अर्थतः विशुद्ध होने के कारण सत्य है। अथवा किसी वक्ता का प्रयोजन लोगों को धोखा देने का नही था, किन्तु वाणीस्खलना के कारण एक शब्द के बजाय दूसरा शब्द मुंह से निकल गया। चूंकि वह अर्थतः शुद्ध है, इसलिए सत्य माना जाता है। उत्तम प्रयोजन (आशय या अर्थ) को ले कर कही जाने वाली बात अर्थतः विशुद्ध—सत्य है।

जहत्थमधुरं—कई लोग बातें बड़ी मीठी-मीठी करते है, लेकिन वे यथार्थ नही होती, वे कानो को प्रिय लगती है, परन्तु वक्ता के मन मे चापलूसी या मायाचार का भाव होने के कारण उनका परिणाम स्वार्थसिद्धि या धोखेबाजी होने के कारण वे यथार्थ—मधुर नही होती। इसलिए शास्त्रकार ने बताया कि केवल मधुरवचन पूर्वोक्त प्रकार के स्वार्थ या माया से लिपटा हुआ हो तो वह असत्य है, किन्तु मधुरता के साथ जिस वचन में यथार्थता हो, वह वचन सत्य है।

सत्य के चमत्कार—शास्त्रकार ने इस सूत्रपाठ में सत्य के प्रभाव से होने वाले प्रत्यक्ष और परोक्ष चमत्कारो का वर्णन किया है। सत्य अपने आराधको को अनेक

विपद्ग्रस्त अवस्थाओं में देवता की तरह प्रत्यक्ष आश्चर्यजनक चमत्कार दिखाता है। यह बात तो अनुभव सिद्ध है कि सत्य से असंभव दिखाई देने वाले काम संभव हो जाने है। कई बार तो मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता, इस प्रकार से संकटापन्न दशा में पड़े हुए सत्यवादी को सहसा कोई न कोई सहायता मिल जाती है। नीतिकार कहते हैं—

'सत्येनाग्निर्भवेच्छीतोऽगाधाम्बुधिरपि स्थलम्।
नासिश्छिनत्ति सत्येन, सत्याद्रज्जूयते फणी ॥'

'सत्य के प्रभाव से अग्नि ठंडी हो जाती है, अगाध समुद्र जल के बदले स्थल बन जाता है। सत्य के प्रभाव से तलवार काट नहीं सकती, और फणधारी सांप सत्य के कारण रस्सी बन जाता है।' सत्य हरिश्चन्द्र और महासती सीता आदि के उदाहरण तो प्रसिद्ध है ही। आधुनिक उदाहरणों की भी कमी नहीं है। सत्यवादी के वचन में सिद्धि होती है। देव उसके वचन को सफल बनाने के लिए तत्पर रहते है। उसके मुख से निकले हुए वाक्य मंत्र का-सा चमत्कार दिखलाते हैं। दैवयोग से प्राप्त आपत्ति सत्य के प्रभाव से दूर हो जाती है। देव उसकी सेवा में तैनात रहते हैं। इसीलिए इस सूत्र पाठ में बताया है कि महासमुद्र में दिशामूढ़ बने हुए सैनिक नाविकों की नौकाएँ सत्य के प्रताप से समुद्र में स्थिर हो जाती हैं,डूबतीं नहीं। बड़े-बड़े तूफानों के बीच भी समुद्र-यात्री सत्य के प्रभाव से बहते नहीं, मरते भी नहीं, अपितु किनारा पा लेते है; आग की लपलपाती भयंकर लपटों में भी सत्याराधक जलते नहीं, खौलता हुआ गर्मागर्म तेल, रांगा, लोहा और सीसा भी सत्यवादी को सत्य के प्रभाव से कुछ आंच नहीं आने देता, वे गर्मागर्म पदार्थ को हाथ में पकड़ लेते हैं, लेकिन जलते नहीं। ऊँचे से ऊँचे पर्वत की चोटी से गिरा देने पर भी सत्यधारी व्यक्ति का बाल भी बांका नहीं होता। बड़े-बड़े भयंकर युद्धों मे चारों ओर नंगी तलवारों से घिरे हुए सत्यवादी का कुछ भी नहीं बिगड़ता, वे उसमें से सहीसलामत निकल जाते हैं। लाठियों आदि की मारों, रस्सी आदि के बंधनों, बलपूर्वक जबर्दस्त प्रहारों और घोर वैरविरोधों के बीच भी सत्यवादी बाल-बाल बच जाते हैं, शत्रुओं के बीच में भी वे निर्दोष निकल जाते हैं, क्योंकि सत्यवादी के आत्मबल के सामने पाशविकबल निस्तेज और परास्त हो जाता है। यही कारण है कि सत्य के प्रभाव से मारने-पीटने और बदला लेने को उद्यत भयंकर शत्रुओं के भी परिणाम बदल जाते हैं। जिस सत्यवादी को पहले वे अपना अहितकर शत्रु समझते थे, उसे ही देख कर वे स्नेहार्द्र हो जाते है और उसे मित्रवत् समझने लगते हैं। जो सत्यवादी नरपुंगव सत्य में ही रमण करते हैं, मरणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी असत्य का आश्रय नहीं लेते, लेने का विचार तक नहीं करते हैं, ऐसे

मनुष्यों के चरणों में देवता उपस्थित होते है। और उन्हें अभीष्ट फल प्रदान करते हैं। कहा भी है—

'प्रियं सत्यं वाक्यं हरति हृदयं कस्य न भुवि ?
गिरं सत्यां लोकः प्रतिपदमिमामर्थयति च।
सुराः सत्याद् वाक्याद् ददति मुदिताः कामितफलम्,
अतः सत्याद् वाक्याद् व्रतमभिमतं नास्ति भुवने ॥'

अर्थात्—'इस पृथ्वी पर कौन-सा ऐसा मनुष्य है, जिसके हृदय को प्रिय सत्यवचन नही हर लेता ? अर्थात् यह सबके चित्त को आकर्षित करने वाला मंत्र है। संसार का प्रत्येक प्राणी पद-पद पर (प्रतिक्षण) इस सत्यवचन की आकांक्षा करता रहता है। देवता भी सत्यवचन से प्रसन्न हो कर अभीष्ट फल प्रदान करते है। अतः तीनों लोको मे सत्य से बढकर कोई भी व्रत नही माना गया है।'

इसी का शास्त्रकार ने मूलपाठ में निरूपण किया है—

' पच्चक्खं दयिवयं व करेंति सच्चवयणे रताणं।'

सत्य की महिमा - आगे चल कर शास्त्रकार ने सत्य की महिमा पर विशद निरूपण किया है—वह सत्य भगवान् है।' वास्तव में सत्य मे असीम गुणो का समावेश होने से उसे भगवान् की कोटि में माना जा सकता है, देवगण सत्य को भगवान् की तरह अर्चनीय मानते हैं, असुरगुण उसे भगवान् की तरह पूजते हैं, मानवगण उसकी स्तुति करते हैं। भगवान् तीर्थंकर आदि तक सत्य के सर्वांगीण आचरण से भगवान् बने हैं। 'भग' शब्द ऐश्वर्य के अतिरिक्त धर्म, यश, श्री, वैराग्य. मोक्ष, आदि अनेक अर्थों मे भी प्रयुक्त होता है। इसलिए सत्य परम धर्म है,वैराग्य का कारण है, मोक्ष का साधन है, परम्परा से यश, ऐश्वर्य और श्री का भी दिलाने वाला है। इसलिए इसे भगवान् कहना अनुचित नही। महात्मा गांधीजी ने भी सत्य को भगवान् कहा है। उपनिषदों मे बताया है –

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

अर्थात्—'सत्य ज्ञानरूप और अनन्त ब्रह्मस्वरूप है।'

इसी प्रकार यह सत्य महासमुद्र से भी बढ़ कर गंभीर है। समुद्र में अथाह जल होता है। उसकी थाह पाना दुष्कर होता है। तथापि देव चाहें तो, समुद्र की थाह पा सकते हैं ; किन्तु सत्य की असीम शक्ति की थाह पाना उनके भी वश की बात नहीं। केवलज्ञानी के सिवाय और कोई भी व्यक्ति सत्य का पूर्ण स्वरूप स्पष्ट नही जान सकता।

चतुर्दशपूर्वधारियों[1] के पास श्रुतज्ञान की अगाधराशि होती है, मगर वे भी इसका रहस्य सत्यप्रवाद प्राभृत नामक छठे पूर्व से जान पाते है। दूसरे महर्षिगण भी दशवैकालिक आदि शास्त्रों से इस सत्य को जान कर आचरण करते हैं। देवेन्द्रों, नरेन्द्रों, वैमानिक देवों, मंत्रविदों औषधिविशारदों, विद्यासाधकों और चारणमुनियों ने तथा श्रमणो ने सत्य के माध्यम से अपनी-अपनी इष्ट साधनाएँ की हैं। जो मनुष्य अज्ञान या कषाय के वश सांसारिक सिद्धि या इन्द्रियविषयों के पोषण में ही सुख और कर्तव्य समझते है; वे वास्तविक धर्म से विमुख विविध वेषधारी मतावलंबी भी आखिर सत्य की ही साधना करते हैं। ऐसे अनेक पाखंडियों ने भी सत्य की साधना द्वारा अभीष्ट फल प्राप्त किया है। सत्य की पूर्ण सीमा प्राप्त करना तो इन सब की शक्ति से परे की बात है। इसलिए सत्य को महासमुद्र से भी बढ़कर गम्भीर बताया गया है।

दूसरे पहलू से देखे तो महासमुद्र प्रलयकाल की वायु से क्षुब्ध हो जाता है, अपनी मर्यादा को लांघ देता है, लेकिन सत्य और दृढ़ सत्यवादी को क्षुब्ध करने में संसार की कोई भी वस्तु समर्थ नहीं है। इसलिए यह महासागर से भी अत्यधिक गंभीर है। मेरुपर्वत की जड़ एक हजार योजन गहरी है; प्रलयकालिक वायु भी उसे कम्पायमान नहीं कर सकती। इतना अडोल मेरुपर्वत है। फिर भी इन्द्र मे इतनी शक्ति है कि वह चाहे तो जम्बूद्वीप को पलट सकता है, तो मेरुपर्वत को हिलाना उसके लिए क्या बड़ी बात है? लेकिन वही इन्द्र सत्य और सत्यवादी के सामने नतमस्तक हो जाता है; उसके स्थैर्यगुण की स्तुति करता है।

देवता या इन्द्र सत्यमहाव्रत को स्वीकार नही कर सकते, क्योंकि उनके शरीर और बाह्य निमित्त इसके लिए अनुकूल नहीं होते। इसलिए वे उस सत्य गुण और सत्यधारी महापुरुषों की वन्दना, पूजा, अर्चा, हार्दिक सत्कार, सम्मान और शारीरिक सेवा करके ही भविष्य के लिए अपनी आत्मा को उस गुण के योग्य बनाते हैं।

चन्द्रमण्डल में तीन गुण है— शान्ति करना, आह्लाद पैदा करना और अन्धकार मिटाना। चन्द्रमण्डल का उदय होने से उसकी चांदनी से सारे संसार को शान्ति

---

१ चौदह पूर्व ये है—१ उत्पाद, २ आग्रायणी, ३ वीर्यप्रवाद, ४ अस्ति-नास्तिप्रवाद, ५ ज्ञानप्रवाद, ६ सत्यप्रवाद, ७ आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद ९ प्रत्याख्यान, १० वीर्यानुवाद, ११ कल्याण, १२ प्राणवाद, १३ क्रियाविशाल और १४ लोकबिन्दुसार। इनके सांगोपांग अध्येता चतुर्दश पूर्वधारी कहलाते हैं।

—संपादक

मिलती है, आनन्द की अनुभूति होती है। परन्तु यह शान्ति क्षणिक, परिमित, बाह्य और पौद्गलिक है। सत्य चन्द्रमण्डल से अनेक गुनी अधिक आत्मिक शान्ति जीवों को प्रदान करता है तथा नित्य (अनन्तकाल) आत्मा के साथ रहने वाला है। इस लिए चन्द्रमंडल की सौम्यता सत्य के सामने तुच्छ है।

सूर्यमण्डल से भी सत्य की दीप्ति अत्यधिक है। इसका आशय यह है कि सूर्य की दीप्ति (प्रकाश) तो बाह्य अन्धकार का ही नाश करती है, साथ में संताप भी देती है। लेकिन सत्य की दीप्ति अन्तरंग के मिथ्यात्वरूप सघन अन्धकार को छिन्न भिन्न कर देती है और जीवों के सांसारिक संताप को शान्त करती है। इसलिए सूर्यमंडल से सत्य की दीप्ति (प्रकाश या तेजस्विता) कहीं अधिक है।

शरत्काल का आकाशतल स्वच्छ और निर्मल होता है; लेकिन सत्य उससे भी बढ़कर निर्मल है। क्योंकि शरत्काल में मेघ तथा रज आदि के न होने से गगनतल साफ प्रतीत होता है, लेकिन उसकी वह स्वच्छता कुछ समय के लिए रहती है। कभी-कभी उस पर कोहरा धुंध छा जाता है, बादल भी उमड़ कर आ जाते हैं, जबकि सत्य सम्पूर्ण दोषों तथा मिथ्यात्व, अज्ञान आदि के कोहरे से रहित होने के कारण अत्यन्त स्वच्छ रहता है। और शुद्ध आत्मा का गुण होने से यह अविनाशी भी है। इसलिए इसकी निर्मलता शरत्कालीन गगनतल से कहीं अधिक है।

गन्धमादनपर्वत चन्दन के वृक्षों के कारण सदा सुगन्धित रहता है, मगर सत्य तो उससे भी बढ़ कर सुरभित होता है, क्योंकि यह सहृदय मनुष्यों के हृदय को अपने गुणों के आकर्षण से खींच लेता है, उनके मन को आह्लादित कर देता है।

सत्य में आश्चर्योत्पादक शक्ति निहित है। जितने भी मंत्र, तंत्र, विद्या आदि के चमत्कार है, वे सब सत्य से अनुप्राणित होते है। सत्य के बिना वे सब पक्षहीन पक्षी की तरह निरर्थक हैं। जगत् में हम जितने भी मंत्रादिप्रयोगों के चमत्कार देखते हैं, जप से अनिष्टादिनिवारण देखते है, अनेक विद्याओ की सिद्धि का अनुभव करते है अस्त्र-शस्त्र के चमत्कार सुनते हैं, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि का अद्वितीय वस्तुविवेचन पढ़ते है, अत्यन्त मनोरंजक ललित कलाओं, शिल्पो आदि का कौशल देखते हैं; ये सब सत्य पर आश्रित हैं। सत्यवादी मनुष्य इन्हें अतिशीघ्र प्राप्त कर लेता है, इनकी पराकाष्ठा तक पहुंच जाता है। लेकिन असत्यवादी को मंत्र विद्या आदि सिद्ध नही होती। उसे कला आदि का ज्ञान भलीभांति नही हो पाता। कदाचित् गुरुकृपा से हो भी जाय तो वह अधूरा ही रहता है या बिजली के समान अपनी क्षणिक चमक दिखा कर अस्त हो जाता है। सत्यवादी को पा कर ये सब दिनोंदिन बढ़ते जाते है, स्वपर-उपकारक भी बनते है। मूलहीन वृक्ष की तरह सत्यहीन मंत्रादि या विद्याकलादि टिक नही सकते। अतः ये सब सत्य पर अवलम्बित हैं। सत्य की इसी गरिमा एवं महिमा को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—

'तं सच्चं भगवं ······ 'जं तं लोकंमि सारभूयं, गंभीरतरं महासमुद्दाओ' सव्वाणि वि ताइं सच्चे पइट्ठियाइं।'

सत्य के दस भेद—शास्त्रकार ने मूलपाठ में कहा है—'तं सच्चं दस अर्थात् वह सत्य दस प्रकार का है। दशवैकालिक सूत्र की हारिभद्रीवृत्ति में उल्लि गाथा इसके लिए प्रस्तुत है—

"जणवय-सम्मय-ठवणा नाम-रूवे पडुच्चसच्चे य।
ववहार-भाव-जोगे दसमें उवम्मसच्चे य॥"[1]

अर्थात्—'(१) जनपदसत्य, (२) सम्मतसत्य, (३) स्थापनासत्य, नामसत्य, (५) रूपसत्य, (६) प्रतीत्यसत्य, (७) व्यवहारसत्य, (८) भावस (९) योगसत्य और (१०) उपमासत्य, ये दस सत्य के भेद हैं।'

जनपदसत्य—जिस देश के लिए जो शब्द जिस अर्थ में रूढ़ होता है, उस मे उस अर्थ के लिए उसी शब्द का प्रयोग करना जनपदसत्य कहलाता है। जैसे दक्षि देश में चावल को भात या कुलु कहते हैं,अतः वहाँ उन शब्दों का प्रयोग जनपद सत्य पंजाबप्रान्त में नाई को राजा कहते है, जबकि अन्य प्रान्तों में नृप को राजा कहा जा है। अतः पंजाब में नाई के लिए राजा शब्द का प्रयोग जनपदसत्य है।

सम्मतसत्य—बहुत-से मनुष्यों की सम्मति से जो शब्द जिस अर्थ का वाच मान लिया जाता है, उसे सम्मतसत्य कहते हैं। जैसे 'देवी' शब्द का पटरानी अ बहुजनसम्मत है। वैसे देवी देवांगना के अर्थ में प्रयुक्त होती है।

स्थापनासत्य—किसी मूर्ति आदि में किसी व्यक्ति विशेष की, सिक्के नोट आदि मे रुपयों की या एक आदि अंक के आगे एक बिन्दु होने पर दस की, द बिन्दु होने पर सौ की कल्पना कर ली जाती है, या शतरंज के पासो में हाथी-घोड़ आदि की कल्पना कर ली जाती है, इसे स्थापनासत्य कहते है।

नामसत्य—गुण हो चाहे न हो, किसी व्यक्ति या पदार्थ का कोई नाम रख लेना नामसत्य है। जैसे कुल की वृद्धि न करने पर भी लड़के का नाम रख दिया जात है—कुलवर्द्धन।

रूपसत्य - पुद्गल के रूप आदि अनेक गुणों में से रूप की प्रधानता से जो वचन कहा जाय, उसे रूपसत्य कहते हैं। जैसे किसी आदमी को गोरा (श्वेत) कहना। उस मनुष्य में रूप के अलावा रस, गन्ध आदि अनेक गुण है; तथापि रूप की अपेक्षा मे

---

१ निम्नोक्त गाथा भी सत्य के १० भेदों के सम्बन्ध में मिलती है—

"जणपदसम्मतिठवणा णामे रूवे पडुच्च-ववहारे।
संभावणे य भावे उवमाए दसविहं सच्चं॥'

—सम्पादक

उसका नाम गोरा रखा गया। अथवा दम्भ से व्रत ग्रहण करने पर भी केवल साधु का रूप—वेप देख कर उसे 'साधु' कहना।

प्रतीत्य सत्य—किसी विवक्षित पदार्थ की अपेक्षा से किसी दूसरे पदार्थ का स्वरूप बताना प्रतीत्यसत्य है। जैसे किसी व्यक्ति को 'लम्बा' या स्थूल' कहना। वह अपने से ठिगने या पतले की अपेक्षा से तो लम्बा या स्थूल है; परन्तु अपने से लम्बे या मोटे की अपेक्षा से नही।

व्यवहारसत्य—नैगमनय या व्यवहार मे प्रचलित अर्थ की अपेक्षा से जो वचन बोला जाय, वह व्यवहारसत्य है। जैसे रसोई की तैयारी करते हुए किसी ने कहा—'मैं रसोई बना रहा हू, भात बना रहा हूं।' यद्यपि वह अभी पानी, लकड़ी आदि सामग्री इकठ्ठी कर रहा है,रसोई बनानी शुरू भी नही की है। अथवा लोकव्यवहार में प्रचलित अर्थ की अपेक्षा से जो वाक्य बोला जाय,वह भी व्यवहारसत्य माना जाता है। जैसे—गाँव के कही न जाने-आने पर भी कहा जाता है—गाँव आ गया। घड़े से पानी के चूने पर भी कहना कि घड़ा चूता है इत्यादि।

भावसत्य—किसी मे कोई वर्ण आदि उत्कट मात्रा मे हो, उस अपेक्षा से जो सत्य माना जाय, उसे भावसत्य कहते है। जैसे तोते मे अन्य रंग होते हुए भी तोते को हरा कहना, यह भावसत्य है। अथवा आगमोक्त विधि - निषेध के अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थों मे माने गए परिणामों को भाव कहते हैं। उस भाव का कथन करने वाला वचन भावसत्य है। जैसे सूखे,पके या अग्नि मे तपाए हुए या नमक,मिर्च आदि से मिश्रित किये हुए बीजरहित फल आदि द्रव्य प्रासुक कहलाते हैं। यद्यपि इन फलादि के सूक्ष्म जीवों को चक्षुरिन्द्रिय से नहीं देखा जा सकता,तथापि आगम में पूर्वोक्त प्रकार से परिणत को प्रासुक मानने का उल्लेख होने से प्रासुक मानना, भावसत्य है।

योगसत्य—किसी वस्तु के संयोग सम्बन्ध से उसका नाम रख देना, योग सत्य है। जैसे दण्ड के योग से किसी व्यक्ति को दंडी कहना योग्यसत्य है।

उपमासत्य—जहाँ किसी प्रसिद्ध पदार्थ की सदृशता से किसी पदार्थ के बारे में कथन किया जाय अथवा किसी पदार्थ की सिद्धि की जाय वहाँ उपमासत्य होता है। जैसे यह तालाव समुद्र की तरह है, मुख चन्द्रमा के समान है,आदि। पल्योपमकाल में पल्य शब्द गड्ढे का वाचक है काल को गड्ढे की उपमा देकर बताया गया कि एक योजन लंबे-चौडे यौगलिकों के बालों से ठसाठस भरे हुए गड्ढे के समान काल पल्योपम है।

सम्भावनासत्य—कही-कही योगसत्य के बदले सम्भावनासत्य मिलता है। सम्भावनासत्य का अर्थ है—जहां असंभवता का परिहार करते हुए वस्तु के किसी एक धर्म का निरूपण करने वाला वचन बोला जाय, वहां सम्भावनासत्य है। जैसे—इन्द्र में जम्बूद्वीप को उथल देने की शक्ति है।

असत्यभाषा के दस प्रकार—प्रसंगवश असत्यभाषा के भी दश भेदों के लिए दशवैकालिक की हारिभद्रीवृत्ति की एक गाथा उद्धृत करते हैं—

कोहे माणे माया लोभे, पेज्जे तहेव दोसे य।
हास-भय-अक्खाइय-उवग्घाइय-णिस्सिहा दसहा ॥

क्रोध के वश निकली हुई भाषा क्रोधनिःसृता कहलाती है। मान के वश अपनी बड़ाई करने के हेतु से निःसृतभाषा—माननिःसृता, माया के वश दूसरों को धोखा देने के अभिप्राय से निकली हुई भाषा मायानिःसृता, और लोभ के वशीभूत हो कर झूठी कसमें खाकर या झूठा नापतोल करके धोखा देने वाला वचन बोलना, लोभनिःसृता भाषा है। राग के वशीभूत हो कर बोलना प्रेमनिःसृता भाषा कहलाती है, जैसे—मैं तो आपका दास हूं, आप तो मेरे पिता हो। द्वेष से आविष्ट होकर किसी के लिए कोई अवर्णवाद बोलना द्वेषनिःसृता भाषा कहलाती है। जैसे तीर्थंकरों में क्या रखा है? इस प्रकार का कथन द्वेषनिःसृता भाषा का है। हास्यरस या क्रीड़ारस के वशीभूत होकर कोई उद्‌गार निकालना हास्यनिःसृता भाषा है। कथाओं में असंभव कपोलकल्पित नाम आदि रख लेना, आख्यायिकानिःसृता भाषा कहलाती है, जैसे—धूर्ताख्यान, आदि। तू चोर है, तू लुच्चा है, इस प्रकार के दिल को चोट पहुंचाने वाले वचन बोलना उपघात-निःसृता भाषा है। उक्त दसों प्रकार की भाषाओं में कुछ भाषाएं सत्य या तथ्य होने पर भी असत्य ही कहलाती हैं। क्योंकि इनके पीछे आशय गलत—दुष्ट होता है।

सत्यामृषा भाषा के दस भेद—इसी प्रकार सत्यामृषा भाषा भी दश प्रकार की होती है। निम्नोक्त गाथा प्रस्तुत है—

'उप्पन्नमिस्सिया १ विगय २ तदुभय ३ जीवा ४ ऽजीव ५ उभयमिस्सा ६।
अणंत ७ परित्ता ८ अद्धा ९ अद्धद्धामिस्सिया १० दसमा ॥'

अर्थात्—१ उत्पन्नमिश्रिता, २ विगतमिश्रिता, ३ उत्पन्नविगतमिश्रिता, ४ जीवमिश्रिता, ५ अजीवमिश्रिता, ६ जीवाजीवमिश्रिता, ७ अनन्तमिश्रिता, ८ प्रत्येक-मिश्रिता, ९ अद्धामिश्रिता, १० अद्धाद्धामिश्रिता, इस प्रकार सत्यामृषा भाषा के १० भेद हैं।

किसी नगर में कम या ज्यादा बालक पैदा हुए, लेकिन अदाजे से कह दिया कि आज इस नगर में १० बालक पैदा हुए हैं, यह उत्पन्नमिश्रिता भाषा है। इसी प्रकार मरे हुए बालकों की संख्या १० बता दी तो वहां विगतमिश्रिता भाषा है। जन्मे हुए या मरे हुए दोनों प्रकार के बालकों की संख्या अनुमान से बता दी तो वहाँ उत्पन्न-विगतमिश्रिता भाषा है। बहुत से जीवों को इकट्ठे देख कर कह देना—'अहो! कितनी बड़ी जीवराशि है!' यह जीवमिश्रिता भाषा है। मृत जीवों के ढेर को देख कर

भी कह देना—'कितनी बड़ी जीवराशि मर गई; अजीवमिश्रिता है। मृत और जीवित दोनों के ढेर को देख कर अन्दा जिया एक साथ कह देना—इन जीवों के ढेर मे इतने मरे है, इतने जिंदा हैं,यह जीवाजीवमिश्रिता भाषा है। हरे पत्ते या प्रत्येक वनस्पति के साथ अनन्तकाय का अधिक पिंड देख कर कहना—'सभी अनन्तकायिक है,यह अनन्तमिश्रिता भाषा है। तथा अनन्त काय के साथ प्रत्येक वनस्पतियो को अधिक मिश्रित देख कर कहना—ये सभी प्रत्येक वनस्पतिकायिक है, यह प्रत्येकमिश्रिता भाषा है। इसी प्रकार जहां कोई किसी को जल्दी-जल्दी काम करने के लिए प्रेरित करने हेतु दिन रहते—सूर्य चमकते हुए भी कहता है—उठ जल्दी, रात हो गई है, अथवा रात रहते भी कहे,—उठ, सूरज निकल आया। यह अद्धामिश्रिता भाषा है। दिन का एक भाग अभी बीता नही है, फिर भी जल्दी मचाता है—'उठ, चल जल्दी, दोपहर हो गया है, यह अद्धाद्धामिश्रिता भाषा है।

असत्यामृषा के बारह भेद—बारह प्रकार की भाषा ऐसी होती है, जो न तो सत्य कही जा सकती है, न असत्य ही। इसलिए उसे असत्यामृषा भाषा कहते हैं। उसके बारह भेद यो है—(१) **आमंत्रणी**—हे देवदत्त !' इस प्रकार सम्बोधित करके बुलाने वाली, (२) **आज्ञापनिकी**—'यह करो' इस प्रकार दूसरों को कार्य में प्रवृत्त करने के लिए आज्ञारूप भाषा, (३) **याचनी**—किसी वस्तु की याचनारूप भाषा जैसे—'दस रुपये दो।' (४) **पृच्छनी**—किसी विषय में पूछने के लिए प्रयुक्त की जाने वाली भाषा, जैसे—'राम कहां है ?' इस प्रकार पूछना, (५) **प्रज्ञापनी**—विनीत शिष्य को उपदेश देना। जैसे—'प्राणिवध से निवृत्त जीव आगामी भव मे दीर्घायु होते हैं।' (६) **प्रत्याख्यानी**—याचना करने वाले को इन्कार करने के रूप मे या प्रत्याख्यान कराने के रूप मे प्रयुक्त भाषा। जैसे—'तुम्हे हम नही देते।' अथवा 'शराब पीने का त्याग करो' इस प्रकार की भाषा प्रत्याख्यानी भाषा है। (७) **इच्छानुलोमा**—कोई किसी कार्य को शुरू करने से पहले किसी से पूछे तब यह कहना कि 'आप इसे करिए, मुझे भी यही पसन्द है' यह इच्छानुलोमा भाषा है। (८) **अनभिगृहीता**—एक साथ अनेक कार्य उपस्थित होने पर कोई किसी से पूछे कि—'इस समय कौन-सा काम करूँ ?' तब वह कहे कि 'जो तुम्हे सुन्दर मालूम हो,उसे करो', यह अनभिगृहीता भाषा है। (९) **अभिगृहीता**—'इस समय इसे करो इसे मत करो,इस प्रकार की भाषा अभिगृहीता है, (१०) **संशयकरणी**—अनेक अर्थो को प्रगट करने वाला एक शब्द कह देना सशयकरणी है, जैसे कोई कहे कि सैन्धव ले आओ। सैन्धव शब्द नमक, घोड़ा, वस्त्र आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, इसलिए ऐसी अनिर्धारित वाणी सशय करणी है। (११) **व्याकृता**—जिसका अर्थ स्पष्ट हो, ऐसी भाषा, (१२) **अव्याकृता**—जिसका अर्थ अतिगम्भीर हो, ऐसी गूढ या अव्यक्त भाषा।

---

१ भाषा के विषय मे विशेष जानकारी के लिए प्रज्ञापनासूत्रके भाषापद का अवलोकन करें। —सपादक

बारह भाषाएँ—बोलियों की दृष्टि से उस समय भारत में प्रचलित भाषाएं १२ मानी जाती थीं। इसीलिए शास्त्रकार कहते है—दुवालसविहा होइ भासा— अर्थात्—भाषा १२ प्रकार की हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) प्राकृत, (२) संस्कृत, (३) मागधी, (४) पैशाची, (५) शौरसेनी, और (६) अपभ्रंश, ये ६ भाषाएँ। गद्य और पद्यभेद से कुल मिला कर १२ होती हैं। इनमें छठी जो अपभ्रंश भाषा है, भिन्न-भिन्न देशों की अपेक्षा से उसके अनेक भेद हो जाते हैं।

सोलह वचन—बोलते समय एकवचन आदि वचनों, स्त्री-पुरुष आदि तीन लिंगों, प्रत्यक्ष-परोक्ष आदि तीनों कालो का तथा अपनीतवचन और अध्यात्मवचन आदि का विवेक सत्यवादी को होना चाहिए। इसी हेतु से १६ प्रकार के वचनों का उल्लेख शास्त्रकार ने किया है—'वयणं पि य होइ सोलसविहं' अर्थात्—वचन भी १६ प्रकार का होता है। निम्नोक्त गाथा इस सम्बन्ध मे प्रस्तुत की जा रही है—

"वयणतियं लिंगतियं कालतियं तह परोक्ख-पच्चक्खं।
अवणीयाइ चउक्कं अज्झत्थं चेव सोलसमं॥"

अर्थात्—'एकवचन, द्विवचन और बहुवचन, ये तीन वचन; स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग, ये तीन लिंग; भूत,भविष्य और वर्तमान, ये तीन काल; प्रत्यक्ष तथा परोक्ष वचन;अपनीतादि वचनचतुष्टय, जैसे—(१) किसी में एकाध कोई गुण होने पर भी ज्यादा तादाद में अमुक दुर्गुण होने से कहना—यह दुःशील है,यह दुर्भाषी है, इस प्रकार का कथन अपनीत वचन है,(२) एकाध गुण बता कर बाद मे दुर्गुणों का उल्लेख करना,जैसे—यह रूपवान तो है,किन्तु दुःशील है, इस प्रकार का कथन उपनीत-अपनीत वचन है,(३) इसके ठीक विपरीत पहले दुर्गुण बता कर बाद में एकाध गुण बताना,जैसे—'यह दुःशील है,परन्तु है रूपवान,ऐसा कथन अपनीत-उपनीत वचन है,(४) केवल गुण ही गुण का कथन करना, दुर्गुण का नहीं,जैसे—यह रूपवान और बुद्धिमान है,इस प्रकार का वचन उपनीतवचन है। तथा अभीष्ट अर्थ को छिपाना चाहने वाले व्यक्ति के मुख से सहसा वही सत्य निकल जाने वाला वचन अध्यात्मवचन है जैसे—'मैं दुःखित हूं', अथवा आत्मा को लेकर अध्यात्मभावना से वचनयोजना करना, अध्यात्मवचन है। ये सब मिलकर १६ प्रकार के वचन हैं।

सत्यादि के स्वरूप को जान कर भाषावचनादि के विचार के साथ इन सब वचनो को बोलने की भगवान की आज्ञा है।

---

१ भाषा के सम्बन्ध में देखिए यह श्लोक—
प्राकृतसंस्कृतभाषा मागधपैशाचशौरसेनी च।
पाठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥

—संपादक

किस प्रकार का सत्य बोला जाय ?—सत्य के विषय में पूर्वोक्त सब झमेलों को देख कर साधक संशय में पड़ जाता है कि वास्तव मे सत्य क्या है ? कौनसा सत्य बोलना चाहिए ? पूर्वोक्त सूत्रपाठ के विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि दस प्रकार की असत्याभाषा और दस प्रकार की सत्यामृषा भाषा को छोड़कर १२ प्रकार की असत्यामृषा और १२ ही प्रकार की प्राकृत आदि भाषाओं एवं १६ वचनभेदों का विवेक करके दश प्रकार का सत्य बोला जाय तो वह वचन सत्यवचन कहलाएगा। इतने पर भी और स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—'जं त दव्वेहि विभत्ति वन्नजुत्तं' इसका आशय यह है कि जो वचन[1] द्रव्यों से संगत हो, [2]गुणो से सम्बन्धित हो,[3] पर्यायों से सम्बद्ध हो, कर्म (असिमसिकृषि आदि कर्म या उठाना रखना आदि कर्म) से,तथा विविध कलाओं से जिसका सम्बन्ध हो,जो सिद्धान्तो से संगत हो,वह सब सत्यवचन है। तथा नाम, आख्यात, निपात, तद्धितपद, समासपद, सन्धिपद, हेतु, यौगिक, उणादिपद, क्रियाविधान,धातु, स्वर या रस,विभक्ति और वर्ण, इन सबसे युक्त पूर्वापर संगत वचन भी सत्यवचन है।

नाम आदि पदों का संक्षेप में स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। वह इस प्रकार है—

नामपद—किसी वस्तु को पहिचानने के लिए व्यवहार में कोई नाम दे दिया जाता है, या संज्ञा दे दी जाती है, उसे नाम कहते है। नाम दो प्रकार का होता है—व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न। राम, देवदत्त आदि प्रकृति और प्रत्यय से सिद्ध व्युत्पन्न नाम हैं, और डित्थ, डवित्थ आदि प्रकृति प्रत्यय से असिद्ध अव्युत्पन्न नाम हैं।

१—द्रव्य का लक्षण है—'उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्, सद् द्रव्यस्य लक्षणम्' (जो उत्पत्ति, नाश और स्थिरता से युक्त हो, वह सत् है। और यह सत् द्रव्य का लक्षण है) अथवा 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' (गुण और पर्याय वाला द्रव्य है) २. गुण का लक्षण 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' (जो द्रव्य के आश्रित रहते हों और निर्गुण हों, वे गुण है) अथवा 'सहभाविनो गुणाः' (द्रव्य के साथ सदा रहने वाले गुण होते हैं ३. पर्याय का लक्षण—'क्रमभाविनः पर्यायाः' (जो द्रव्य के साथ क्रम से होते हैं, एक साथ नहीं रहते हैं, वे पर्याय कहलाते है। जीव, पुद्गल, धर्माधर्मादि ६ द्रव्य हैं, इनके अलग-अलग गुण हैं, जैसे जीव के ज्ञानादि गुण है, पुद्गल के रूपादि गुण हैं, तथा रूपादि गुण के काला, पीला,नीला आदि पर्याय हैं। इन सबके विषय मे पच्चीस बोल का थोकड़ा, बृहद्द्रव्यसंग्रह, पंचाध्यायी आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिए।

—संपादक

आख्यातपद—आत्मने पद, परस्मैपद, और उभयपदरूप तथा भूत—भविष्य-वर्तमानकालात्मक आदि अर्थविशेष को प्रगट करने के लिए जो साध्य क्रियापद होता है, उसे आख्यातपद कहते है। जैसे भवति, भविष्यति, अभवत् इत्यादि क्रियापद।

निपातपद—अमुक-अमुक अर्थो को व्यक्त करने के लिए जो सिद्ध पद स्वीकार कर लिए जाते है, जिनके साथ विभक्ति-प्रत्यय नहीं लगते, जिनके रूप नहीं बनते; ऐसे अव्यय निपातपद कहलाते हैं। जैसे च, वा, ह, अह, खलु आदि।

उपसर्गपद—धातुओं के समीप (पहले) जिन्हें जोडा जाता है तथा जिनके लगाने से धातु का अर्थ बलात् बदल जाता है, उसे उपसर्ग कहते हैं। ऐसे प्र, परा अप, सम आदि उपसर्ग होते है।

तद्धितपद—उन-उन अर्थों के हित—प्रयोजन के लिए सुवन्तपद के आगे प्रत्यय लग कर जिनका निर्माण होता है वे तद्धितपद कहलाते हैं। जैसे नाभि महाराजा के पुत्र, इस अर्थ मे नाभि शब्द के आगे 'एय्' प्रत्यय लग कर 'नाभेय' (ऋषभदेव) शब्द बना है।

समासपद—अनेक पद मिल कर जो एक पद बन जाता है उसे समास कहते है। समासपद तत्पुरुष, कर्मधारय, द्वन्द्व, द्विगु, बहुव्रीहि इत्यादि रूप होता है। जैसे—राजा का पुरुष = राजपुरुष, यह तत्पुरुषसमासान्त पद हुआ।

सन्धिपद—वर्णों की अत्यन्त निकटता होना सन्धि है; जैसे दधि + इदं यहाँ दोनों 'इ' कारो के स्थान मे एक दीर्घ 'ई' कार हो कर दधीदम् शब्द बनता है।

हेतु—जो साध्य के साथ अविनाभाव से रहता हो उसे हेतु कहते हैं। जैसे किसी ने कहा—"पर्वत अग्नि वाला है, धूआ होने से।' यहाँ साध्यरूप अग्नि की अनुमिति में अविनाभावसम्बन्ध होने से धुंआ हेतु है।

यौगिक पद—दो या तीन आदि पदों से योग से जो बनता है, उसे यौगिक पद कहते हैं। जैसे उप + करोति, इन दोनों पदों से उपकरोति यौगिक शब्द बन जाता हैं।

उणादिपद उण् आदि प्रत्यय जिसके अन्त मे होते है, उसे उणादिपद कहते हैं। जैसे आशु, स्वादु आदि शब्द।

क्रियाविधान—कृत्प्रत्यय जिसके अन्त में हों, वे कृदन्त क्रिया विधान कहलाते हैं। जैसे—कुम्भं करोति इति कुम्भकारः, पचति इति पाकः, करोति इति कारकः आदि।

धातु—क्रियावाचक शब्द धातु कहलाते है। जैसे भू, अस्, कृ इत्यादि।

स्वर—अ आ इ ई आदि स्वर कहलाते है। अथवा षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद, ये संगीत के स्वर भी स्वर कहलाते है। अथवा उच्चारणकालसूचक ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भी स्वर कहलाते हैं। यहाँ पर 'रस' पाठ

भी मिलता है; वहां शृंगार, रौद्र, बीभत्स, वीर, करुणा, हास्य, भयानक, अद्भुत और शान्त, ये साहित्यशास्त्रप्रसिद्ध नौ रस समझने चाहिए।

विभक्ति— प्रथमा, द्वितीया,आदि व्याकरण शास्त्र प्रसिद्ध सात विभक्तियाँहैं,जो कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदाय, अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण के नाम से प्रसिद्ध हैं।

वर्ण क, ख आदि तैंतीस व्यञ्जन तथा अयोगवाह अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय आदि वर्ण कहलाते है।

नाम से ले कर वर्ण पर्यन्त यथाप्रसंग विवेकयुक्त वचन सत्यवचन हैं।

सत्यवचन भी संयमघातक हो तो वह असत्य है—शास्त्रकार ने सत्यवादियो को सावधान करते हुए कहा है कि जो सत्यवचन सयमघातक हो, पीड़ाजनक हो, भेद- विकथाकारक हो. निरर्थक विवादयुक्त हो,कलह पैदा करने वाला हो, असभ्यो— अनार्यों द्वारा बोला जाने वाला अपशब्द हो, अन्यायपोषक हो, अवर्णवाद या विवाद से युक्त हो, दूसरो की विडम्बना करने वाला हो, झूठे जोश और धृष्टता से भरा हो, लज्जाहीन हो, लोकनिन्द्य हो, अथवा जो बात खूब अच्छी तरह देखी, सुनी या जानी हुई न हो, जिस वचन मे अपनी प्रशसा और दूसरो की निंदा की झलक हो; ऐसे वचन सच्चे होते हुए भी दुष्ट आशय—खोटे इरादे से कहे जाने के कारण संयम घातक होने से असत्य मे ही शुमार है। ऐसे वचनो का जरा-भी प्रयोग नही करना चाहिए।

इस प्रकार शास्त्रकार ने सत्य का विविध पहलुओ से माहात्म्य और स्वरूप समझाया है और सत्य के आराधक को सावधानीपूर्वक उसका आचरण करने का निर्देश किया है।

सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ

जब साधक के सामने सत्य संवर का महाव्रत के रूप में पालन करने का सवाल आता है तो उसके मन मे सतत दृढता, उत्साह, तीव्रता, स्फूर्ति और श्रद्धा बनी रहे, इसके लिए प्रेरणा देने वाली भावनाएँ होनी चाहिए। अतः अहिंसामहाव्रत की तरह सत्यमहाव्रत के लिए भी शास्त्रकार पांच भावनाएँ तथा उनके चिन्तन और प्रयोग का तरीका अब आगे के सूत्रपाठ में बतलाते है—

मूलपाठ

इमं च अलिय-पिसुण-फरुस-कडुय-चवलवयणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं, अत्तहियं, पेच्चाभाविकं, आगमेसिभद्दं, सुद्धं, नेयाउयं, अकुडिलं. अणुत्तरं, सव्वदुक्खपावाणं विओसमणं। तस्स इमा पंच भावणाओ बितियस्स वयस्स

अलियवयणस्स वेरमणपरिरक्खणट्ठयाए—(१) पढमं सोऊण संवरट्ठं परमट्ठं सुद्धं जाणिऊण न वेगियं, न तुरियं, न चवलं, न कडुयं, न फरुसं, न साहसं, न य परस्स पीलाकरं, सावज्जं सच्चं च हियं च मियं च, गाहगं च सुद्धं संगयमकाहलं च समिक्खितं संजतेण कालंमि य वत्तव्वं। एवं अणुवीइ (ति)-समितिजोगेण भाविओ भवति अंतरप्पा संजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसंपन्नो। (२) बितियं कोहो ण सेवियव्वो, कुद्धो चंडिक्किओ मणूसो अलियं भणेज्ज, पिसुणं भणेज्ज, फरुसं भणेज्ज, अलियं पिसुणं फरुसं भणेज्ज; कलहं करेज्जा, वेरं करेज्जा, विकहं करेज्जा, कलहं वेरं विकहं करेज्जा; सच्चं हणेज्ज, सीलं हणेज्ज, विणयं हणेज्ज, सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज; वेसो हवेज्ज, वत्थुं भवेज्ज, गम्मो भवेज्ज,वेसो वत्थुं गम्मो भवेज्ज,एयं अन्नं च एव-मादियं भणेज्ज कोहग्गिसंपलित्तो, तम्हा कोहो न सेवियव्वो। एवं खंतीइ भाविओ भवति अंतरप्पा संजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसंपन्नो। (३) ततियं लोहो न सेवियव्वो; लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं खेत्तस्स व वत्थुस्स व कतेण १, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं कित्तीए लोभस्स व कएण २, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं रिद्धीए[1] (य) व सोक्खस्स व कएण ३, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं भत्तस्स व पाणस्स व कएण ४, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, पीढस्स व फलगस्स व कएण५, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, सेज्जाए व संथारकस्स व कएण ६, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं वत्थस्स व पत्तस्स व कएण७, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं कंबलस्स व पायपुंछणस्स व कएण८, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं सीसस्स व सिस्सीणीए व कएण९, लुद्धो

---

१. कहीं कहीं 'इड्ढीए' पाठ भी मिलता है।

—संपादक

लोलो भणेज्ज अलियं, अन्नेसु य एवमादिसु बहुसु कारणसतेसु लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं। तम्हा लोभो न सेवियव्वो। एवं मुत्तीए (य) भाविओ भवति अंतरप्पा संजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसंपन्नो। (४) चउत्थं न भाइयव्वं। भीतं खु भया अइंति लहुयं, भीतो अवितिज्जओ मणूसो, भीतो भूतेहिं घिप्पइ, भीतो अन्नंपि हु भेसेज्जा, भीतो तवसंजमंपि हु मुएज्जा, भीतो य भरं न नित्थरेज्जा, सप्पुरिसनिसेवियं च मग्गं भीतो न समत्थो अणुचरिउं, तम्हा न भाइ(ति)यव्वं, भयस्स वा वाहिस्स वा रोगस्स वा जराए वा मच्चुस्स वा अन्नस्स वा एवमादियस्स एवं धेज्जेण भाविओ भवति अंतरप्पा संजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसंपन्नो। (५) पंचमकं हासं न सेवियव्वं, अलियाइं असंतकाइं जंपति हासइत्ता, परपरिभवकारणं च हासं परपरिवायप्पियं च हासं, परपीलाकारगं च हासं, भेदविमुत्तिकारकं च हासं, अन्नोन्नजणियं च होज्ज हासं, अन्नोन्नगमणं च होज्ज मम्मं, अन्नोन्नगमणं च होज्ज कम्मं, कंदप्पाभियोगगमणं च होज्ज हासं, आसुरियं किब्बिसत्तणं च जणेज्ज हासं। तम्हा हासं न सेवियव्वं। एवं मोणेण भाविओ भवइ अंतरप्पा संजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसंपन्नो।

एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होइ सुपणिहियं इमेहिं पंचहिं वि कारणेहिं मणवयणकायपरिरक्खिएहिं, निच्चं आमरणंतं च एस जोगो णेयव्वो धितिमया मतिमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सव्वजिणमणुन्नाओ।

एवं बितियं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं अणुपालियं आणाए आराहियं भवति। एवं नायमुणिणा भगवया पन्नवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघ-

वितं सुदेसियं पसत्थं बितियं संवरदारं समत्तं ति बेमि ॥२॥ (सू० २५)।

संस्कृतच्छाया

इमं च अलीक-पिशुन-परुष-कटुक-चपल-वचनपरिरक्षणार्थताय प्रवचनं भगवता सुकथितमात्महितं प्रेत्यभाविकमागमिष्यद्भद्रं शुद्धं नैयायिकमकुटिलमनुत्तरं सर्वदुःखपापानां व्युपशमनम्। तस्येमाः पंचभावना द्वितीयस्य व्रतस्यालीकवचनस्य विरमणपरिरक्षणार्थाय (१) प्रथमं श्रुत्वा संवरार्थं परमार्थं सुष्ठु ज्ञात्वा न वेगितं, न त्वरितं, न चपलं, न कटुक, न परुषं, न साहसं, न च परस्य पीड़ाकरं, सावद्यं, सत्यं च हितं च मित च ग्राहकं च शुद्धं संगतमकाहलं च समीक्षितं संयतेन काले च वक्तव्यमेवं अनुवीचि-(अनुचिन्त्य), समितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा सयतकरचरणनयनवदनः शूरः सत्यार्जवसम्पन्नः (२) द्वितीयं क्रोधो न सेवितव्यः, क्रुद्धश्चाण्डिक्यितो मनुष्योऽलीकं भणेत्, पिशुनं भणेत्, परुषं भणेत्, अलीकं पिशुनं परुष भणेत्; फलहं कुर्यात्, वैरं कुर्यात्, विकथां कुर्यात्, कलहं वैरं विकथां कुर्यात्, सत्यं हन्यात्, शीलं हन्यात्, विनयं हन्यात्, सत्य शीलं विनयं हन्यात्; द्वेष्यो भवेत्, वस्तु भवेत्, गम्योभवेत्, द्वेष्यो वस्तु गम्यो भवेत्, एतद् अन्यं चैवमादिकं भणेत् क्रोधाग्निसंप्रदीप्तः, तस्मात् क्रोधो न सेवितव्यः, एव क्षान्त्या भावितो भवत्यन्तरात्मा सयतकरचरणनयनवदनः शूरः सत्यार्जवसम्पन्नः। (३) तृतीयं लोभो न सेवितव्यः,लुब्धो लोलो भणेदलीकं क्षेत्रस्य वा वस्तुनो वा कृते १, लुब्धो लोलो भणेदलीकं कीर्तेर् लोभस्य वा कृते २,लुब्धो लोलो भणेदलीकं ऋद्धेर्वा सौख्यस्य वा कृते३, लुब्धो लोलो भणेदलीकं भक्तस्य वा पानस्य वा कृते ४, लुब्धो लोलो भणेदलीकं पीठस्य वा फलकस्य वा कृते ५, लुब्धो लोलो भणेदलीकं शय्याया वा सस्तारकस्य वा कृते ६, लुब्धो लोलो भणेदलीकं वस्त्रस्य वा पात्रस्य वा कृते ७, लुब्धो लोलो भणेदलीकं कम्बलस्य वा पादप्रोञ्छनस्य वा कृते ८, लुब्धो लोलो भणेदलीकं शिष्यस्य वा शिष्याया वा कृते ९, लुब्धो लोलो भणेदलीकमन्येषु चैवमादिकेषु बहुषु कारणशतेषु, लुब्धो लोलो भणेदलीक तस्मात् लोभो न सेवितव्यः। एव मुक्त्या भावितो भवत्यन्तरात्मा संयतकरचरणनयनवदन. शूरः सत्यार्जवसम्पन्नः। (४) चतुर्थं न भेतव्यम्। भीतं खलु भयानि आयान्ति लघुकं, भीतोऽद्वितीयो मनुष्यो, भीतो भूतैर्गृह्यते,

भीतोऽन्यमपि खलु भेषयेत्, भीतस्तपःसंयममपि खलु मुञ्चेत्,भीतश्च भरं न निस्तरेत्,सत्पुरुषनिषेवितं च मार्गं भीतो न समर्थोऽनुचरितुम्,तस्माद् न भेतव्यम् भयाद्वा व्याधेर्वा रोगाद् वा जराया वा मृत्योर्वाऽन्यस्माद् वा एवमादिकात् । एवं धैर्येण भावितो भवत्यन्तरात्मा संयतकरचरणनयनवदनः शूरः सत्यार्जवसम्पन्नः। (५) पञ्चमकं हास्य न सेवितव्यम् । अलीकानि असत्कानि (अशान्तकानि) जल्पन्ति हा नवन्तः । परपरिभवकारण च हास्यम्, परपरिवादप्रिय च हास्यम्, परपीड़ाकारक च हास्यम्, भेद वमूर्ति (विमुक्ति) कारक च हास्यम्, अन्योऽन्यजनितं च भवेद् हास्यम्, अन्योऽन्यगमन च भवेद् मर्म, अन्योऽन्यगमनं च भवेत् कर्म, कन्दर्पाभियोगगमन च भवेद् हास्यम्, आसुरिकं किल्विषत्वं च जनयेद् हास्यम् । तस्माद् हास्यं न सेवितव्यम् । एव मौनेन भावितो भवत्यन्तरात्मा सयतकरचरणनयनवदनः शूरः सत्यार्जवसम्पन्नः । एवमिद सवरस्य द्वार सम्यक् सवृतं भवति सुप्रणिहितं एभिः पञ्चभिः कारणैर्मनोवचनकायपरिरक्षितं नित्यमामरणान्तं च एष योगो नेतव्यो धृतिमता मतिमता अनाश्रवोऽकलुषोऽच्छिद्रोऽपरिस्रावी असंक्लिष्टः सर्वजिनानुज्ञातः ।

एवं द्वितीय संवरद्वारं स्पृष्टं पालितं शोधितं (शोभितं) तीरितं कीर्तितमनुपालितमाज्ञयाऽऽराधितं भवति । एवं ज्ञातमुनिना भगवता प्रज्ञापितं प्ररूपितं प्रसिद्धं सिद्धवरशासनमिदमाख्यातं सुदेशितं प्रशस्तं द्वितीयं संवरद्वारं समाप्तम्, इति ब्रवीमि ॥२॥ (सू० २५)

पदान्वयार्थ—(भगवया) भगवान् ने (इमं) इस (पावयणं) प्रवचन—सत्य-सिद्धान्त को, (अलिय-पिसुण-फरुस-कडुय-चवल-वयणपरिरक्खणट्ठयाए) मिथ्यावचन, पैशुन्य—चुगली,कठोर वचन, कटुवचन,चंचल वचन—बिना सोचे-समझे चपलतापूर्वक सहसा कहे हुए वचन से आत्मा की रक्षा के लिए (सुकहियं) अच्छी तरह से कहा है, जो कि (अत्तहियं) आत्मा के हित के लिए है, (पेच्चाभावियं) जन्मान्तर में शुभभावना से युक्त है, (आगमेसिभद्दं) भविष्य के लिए श्रेयस्कर है,(सुद्धं) शुद्ध—निर्दोष है, (नेयाउय) न्यायसगत है, (अकुडिलं) मोक्ष के लिए सीधा-सरल मार्ग है, (अणुत्तरं) सर्वोत्कृष्ट है, अतएव (सव्वदुक्खपावाणं) सब दुःखों और पापों का विशेष रूप से उपशमन करने वाला है । (तस्स) उस (बितियस्स वयस्स) द्वितीय व्रत—सत्यमहाव्रत की (इमा पच भावणाओ) आगे कही जाने वाली ये पांच भावनाएँ, (अलियं-

वयणस्स वेरमण-परिरक्खणट्ठयाए) मिथ्यावचन से विरति की पूर्ण सुरक्षा के लिए हैं, इन पर चिन्तन करना चाहिए। (१) (पढमं) प्रथम भावना अनुचिन्त्यसमितिरूप है, जिसे (संवरट्ठं) सद्गुरु से मृषावादविरमण—सत्यवचन प्रवृत्तिरूप संवर के प्रयोजन को (सोऊण) सुन कर, उसके (परमट्ठं) उत्कृष्ट परम अर्थ को (सुट्ठु) भलीभांति (सुद्धं) निर्दोषरूप से (जाणिऊण) जानकर, (न वेगियं वत्तव्वं) वेग—विकल की तरह संशययुक्त या हड़बड़ा कर न बोले, (न तुरियं) जल्दी-जल्दी उतावली में सोचे विचारे बिना न बोले, (न कडुयं) कड़वा वचन न बोले, (न चवलं) क्षणभर पहले कुछ और एक क्षण बाद कुछ और, इस प्रकार सनक में आ कर चंचलता से न बोले, (न फरुसं) कठोर वचन न बोले, (न साहसं) बिना विचारे सहसा न बोले (य) और (न परस्स पीलाकरं सावज्जं) दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाला, पाप से युक्त वचन न बोले। किन्तु (सच्चं) सत्य (च) और (हियं) हितकर (मियं च) तथा परिमित-थोड़ा (गाहगं) विवक्षित अर्थ का ग्राहक—प्रतीति कराने वाला, (सुद्धं) वचन के दोषों से रहित, (संगयं) युक्तिसंगत—पूर्वापर अबाधित (च) और (अकाहलं) स्पष्ट (च) तथा (समिक्खितं) पहले बुद्धि से सम्यक् प्रकार से पर्यालोचित—सोचाविचारा हुआ वचन, (कालंमि) अवसर आने पर, (संजतेण) संयमी पुरुष को (वत्तव्वं) बोलना चाहिए। (एवं) इस प्रकार (अणुवीइसमितिजोगेण) पूर्वापर सोच कर बोलने की समिति—सम्यक् प्रवृत्ति के योग से (भावितो) संस्कारयुक्त हुआ (अंतरप्पा) अन्तरात्मा-जीव, (संजयकरचरणनयणवयणो) हाथ, पैर, नेत्र और मुख पर संयम करने वाला हो कर (सूरो) पराक्रमी तथा (सच्चज्जवसंपन्नो) सत्य और आर्जव—सरलता से सम्पन्न—परिपूर्ण (भवति) हो जाता है। (२) (बितियं) द्वितीया भावना—क्रोधनिग्रह—क्षान्तिरूप है। वह इस प्रकार है (कोहो ण सेवियव्वो) क्रोध का सेवन नहीं करना चाहिए। (कुद्धो मणूसो) क्रोधी मनुष्य (चंडिक्किओ) रौद्ररूप हो कर या रौद्रपरिणाम से युक्त होकर (अलियं) मिथ्या, (भणेज्ज) बोलता है, (पिसुणंभणेज्ज) चुगली के वचन बोलता है, (फरुसं) कठोर वचन बोलता है, तथा (अलिय पिसुणं फरुसं भणेज्ज) झूठ, चुगली के वचन व कठोरवचन (तीनों एक साथ) बोलता है, (कलहं करेज्जा) लड़ाई कर बैठता है, (वेरं करेज्जा) वैरविरोध कर लेता है, (विकहं करेज्जा) विकथा—अटसंट—बकवास करता है, (कलहं वेरं विकहं करेज्जा) तथा कलह, वैर और विकथा तीनों एक साथ कर बैठता है, (सच्चं हणेज्ज) सत्य का गला घोट देता है, (सीलं हणेज्ज) शील सदाचार का नाश कर देता है, (विणयं हणेज्ज) विनय—नम्रता का सत्यानाश कर देता है, (सच्चसीलविणयं हणेज्ज) सत्य, शील

और विनय का एक साथ घात कर देता है, क्रोधी मनुष्य (वेसो हवेज्ज) अप्रिय—द्वेष का भाजन बन जाता है, (वत्थुं भवेज्ज) दोषों का घर बन जाता है, (गम्मो हवेज्ज) तिरस्कार का पात्र बन जाता है,तथा,(वेसं वत्थुं गम्मोभवेज्ज) द्वेष का कारण—अप्रिय, दोषों का आधार तथा परिभव का पात्र बन जाता है। (एयं) इस मिथ्या आदि को (च) तथा (एवमादियं) इत्यादि प्रकार के (अन्नं) अन्य असत्य को (कोहग्गिसंपलित्तो) क्रोधाग्नि से प्रज्वलित व्यक्ति (भणेज्जा) बोलता है। (तम्हा) इसलिए (कोहो न सेवियव्वो) क्रोध का सेवन नहीं करना चाहिए। (एवं) इस प्रकार (खंतीए) क्रोध-निग्रहरूप क्षमाभाव से, (भावितो) सुसंस्कृत हुआ (अंतरप्पा) अन्तरात्मा (संजयकर-चरणनयणवयणो) अपने हाथ, पैर, आंख और मुंह को संयमित—नियन्त्रित करने वाला, (सूरो) पराक्रमी तथा (सच्चज्जवसंपन्नो) सत्य और सरलता से सम्पन्न (भवति) हो जाता है। (३) (ततियं) तृतीय भावना लोभ-संयमरूप निर्लोभतायुक्त है, वह इस प्रकार है—(लोभो न सेवियव्वो) लोभ का सेवन नहीं करना चाहिए। लुद्धो लोलो) लोभी मनुष्य व्रत से चलायमान—सत्य से डांवाडोल हो कर (खेत्तस्स वा) या तो खेत के—खुली जमीन के लिए,(वत्थुस्स वा कतेण) अथवा वस्तु-मकान—दुकान,घर, हवेली आदि—के लिए (अलियं भणेज्ज) झूठ बोलता है, (लुद्धो लोलो) लुब्ध व्रत से डिग कर (कित्तीए) कीर्ति—प्रतिष्ठा के लिए, (लोभस्स वा कएण) या लोभ—धन के लोभ के निमित्त से (अलियं भणेज्ज) मिथ्या बोलता है, (लुद्धो) लालची आदमी (लोलो) सत्यव्रत से विचलित हो कर (रिद्धीए व) या तो ऋद्धि—सम्पत्ति के लिए (सोक्खस्स व कएण) अथवा ऐश-आराम आदि के रूप में इन्द्रिय-सुख के लिए (अलियं भणेज्ज) मृषावचन बोलता है, (लुद्धो) लोभग्रस्त मनुष्य (लोलो) सत्यव्रत में अस्थिर हो कर (भत्तस्स व पाणस्स व कएण) या तो भोजन के लिए या पेय वस्तु के लिए (अलियं भणेज्ज) असत्य बोलता है; (लुद्धो) लोभी पुरुष (लोलो) व्रत से डगमगा कर (पीढस्स व फलगस्स व कएण) या तो पीठ-आसन-चौकी के अथवा पट्टे के हेतु (अलियं भणेज्ज) असत्य बोलता है, (लुद्धो लोलो) लोभ के वशीभूत व्रत से चंचल हुआ मनुष्य (सेज्जाए व) या तो शय्या—वसति के लिए (संथारगस्स वा कएण) अथवा साढ़े तीन हाथ लंबे बिछौने के लिए (अलियं भणेज्ज) झूठ बोलता है, (लुद्धो लोलो) लोभी मनुष्य व्रत से डिगकर (वत्थस्स व पत्तस्स व कएण) या तो कपड़े के लिए या पात्र-बर्तन के लिए (अलियं भणेज्ज) मिथ्यावचन कहता है, (लुद्धो लोलो) लोभी नर व्रत से चलायमान हो कर (कंबलस्स व पायपुंछणस्स व कएण) या तो कम्बल के

लिए या पैर पोंछने के काम में आने वाले वस्त्रखण्ड के निमित्त से, (अलियं भणेज्ज) मिथ्या बोल देता है,(लुद्धो) लोभग्रस्त (लोलो) व्रत में अस्थिर हुआ साधक,(सीससत्थ) या तो शिष्य के लिए, (सिस्सणीए व कएण) अथवा शिष्या के निमित्त (अलियं) झूठ (भणेज्ज) बोल उठता है, (लुद्धो) लोभी (लोलो) सत्यव्रत से विचलित हो कर वे (य) और (एवमादिसु बहुसु कारणसतेसु) इस प्रकार के बहुत-से सैकड़ों कारणों को ले कर (अलियं भणेज्ज) मिथ्या बोल देता है, क्योंकि (लुद्धो) लोभ के विकार से घिरा हुआ साधक (लोलो) सत्यव्रत से डगमगा कर (अलियं भणेज्ज) झूठ बोलता ही है। (तम्हा) इस कारण (लोभो न सेवियव्वो) लोभ का सेवन नहीं करना चाहिए। (एवं) इस प्रकार के चिन्तन से (मुत्तीए) निर्लोभता से (भावितो) संस्कारित (अंतरप्पा) अन्तरात्मा (संजयकरचरणनयणवयणो) अपने हाथ, पैर, आंख और मुख पर अंकुश रखने वाला, इन्हें वश में करने वाला, (सूर) धर्मवीर साधक (सच्चज्जव-संपन्नो) सत्यता और सरलता से परिपूर्ण (भवति) हो जाता है। (४) (चउत्थं) चतुर्थभावना भयविजय—धैर्यप्रवृत्तिरूप है, वह इस प्रकार है—(न भाइयव्वं) भय नहीं करना चाहिए। (भीतं) भयभीत मनुष्य पर (खु) अवश्य ही, (भया) अनेकों भय (लहुयं) शीघ्र (अइंति) आ कर हमला कर देते हैं। (भीतो) डरपोक (मणूसो) आदमी सदा (अबितिज्जओ) अद्वितीय—अकेला—असहाय होता है। (भीतो) भय-भीत मनुष्य (भूतेहिं) भूत-प्रेतों से (घिप्पइ) पकड़ लिया जाता है। (भीतो) डरपोक आदमी (हु) निश्चय ही, (अन्नंपि) दूसरे को भी (भेसेज्जा) डरा देता है, भयभीत करता है, (भीतो) डरने वाला साधक (तवसंजमंपि) तप और संयम को भी (हु) अवश्य (मुएज्जा) छोड़ बैठता है, (य) तथा (भीतो) भय करने वाला साधक (भरं) महत्वपूर्ण कार्य का भार—उत्तरदायित्व, अथवा संयम के भार को (न नित्थरेज्जा) नहीं निभा सकता, अन्त तक पार नहीं लगा सकता, (च) और (भीतो) भीरु साधक (सप्पुरिसनिसेवियं) सत्पुरुषों के द्वारा सेवन किए हुए—आचरित (मग्गं) मार्ग का (अणुचरिउं) अनुसरण—अनुगमन करने में (न समत्थो) समर्थ नहीं होता। (तम्हा) इसलिए (भयस्स) दुष्ट मनुष्य, दुष्ट तिर्यञ्च तथा दुष्टदेव के निमित्त से उत्पन्न हुए बाह्यभय से एवं आत्मा में उत्पन्न हुए अन्तरंगभय से (वा) अथवा (वाहिस्स) प्राण-घातक कुष्ट, क्षय आदि बीमारी से (वा) या (रोगस्स) ज्वर आदि रोग से, (वा) अथवा (जराए) बुढ़ापे से (वा) या (मच्चुस्स) मृत्यु से (वा) अथवा (अन्नस्स एव-मादियस्स) इसी प्रकार के इष्टवियोग—अनिष्टसंयोग आदि भय के अन्यान्य कारणों से (न भाइयव्वं) डरना नहीं चाहिए। (एवं) इस प्रकार का चिन्तन करके (धेज्जेण)

धैर्य—चित्त में स्थिरता से (भावितो) संस्कारदृढ़ (अंतरप्पा) अन्तरात्मा (संजयकर-चरणनयणवयणो) हाथ, पैर, आंख और मुंह पर संयम करने वाला सुसंयमी साधु (सूर) सत्यव्रत पालन में बहादुर तथा (सच्चज्जवसंपन्नो) सत्यता और निष्कपटता से युक्त (भवति) हो जाता है। (५) (पंचमकं) पांचवीं हास्यसंयम वचनसंयमरूप भावना इस प्रकार है—(हासं न सेवियव्वं) हास्य का सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि (हासइत्ता) हंसी या ठट्ठामश्करी करने वाले लोग (अलियाइं दूसरे में विद्यमान सद्‌गुणों को छिपाने के रूप में झूठ तथा (असंतकाइं) अविद्यमान या असत् वस्तु को प्रकट करने वाले वचन अथवा अशोभनीय या अशान्ति पैदा करने वाले वचन (जंपंति) बोल देते हैं, (च) तथा (हासं) हंसी-मजाक (परपरिभवकारणं) दूसरों के तिरस्कार का कारण बन जाती है, (च) और (हासं) हंसी को (परपरिवायप्पियं) दूसरों की निन्दा ही प्यारी लगती है। (च) तथा (हासं) मजाक (परपीलाकारगं) दूसरों को तकलीफ पहुँचाने वाली होती है, (च, और (हासं) हंसी (भेदविमुत्तिकारकं) चारित्रनाश या मोक्षमार्ग का उच्छेद तथा शरीर की आकृति विकृत कर देने वाली है, अथवा फूट डलवाने वाली तथा विमुक्ति—प्रियजनों से अलगाव पैदा कराने वाली है। (च) तथा (हासं) हंसीमजाक (अन्नोन्नजणियं होज्ज) परस्पर एक दूसरे से होता है। (च) और (मम्मं) हंसी में बोला गया मर्मकारी वचन—ताना (अन्नोन्नगमणं होज्ज) परस्पर एक दूसरे को चुभने वाला होता है। (च) और हंसी (अन्नोन्नगमणं होज्ज कम्मं) पारस्परिक कुचेष्टा या गुप्त परदारादि के रहस्य को खोलने वाला कर्म हो जाता है, (च) तथा (हासं) हास्य (कंदप्पाभियोगगमणं) हंसाने वाले विदूषकों या भांडों तथा तमाशे दिखाने वालों के निर्देशकर्ताओं के निकट पहुंचने की बुद्धि पैदा करता है, अथवा हास्यकारी कांदर्पिक देवों तथा अभियोग्य जाति के देवों में गमन का कारण है, (च) तथा (हासं) हास्य (आसुरियं) असुरजाति के देवपर्याय को (च) और (किव्विसत्तणं) किल्बिषदेवपर्याय को (जणेज्जा) प्राप्त कराता है। (तम्हा) इसलिए (हासं) हास्य का (न सेवियव्वं) सेवन नहीं करना चाहिए। (एवं) इस प्रकार के चिन्तन से (मोणेण) वचनसंयम—मौन द्वारा (भावित) भावनायुक्त बना हुआ (अंतरप्पा) अन्तरात्मा साधक (संजयकरचरणनयणवयणो) अपने हाथ, पैर, नेत्र और मुख पर नियंत्रण करने वाला संयमी (सूरो, दृढ़ पराक्रमी तथा (सच्चज्जव-संपन्नो) सत्य और अमायिकभाव से संपन्न (भवति) हो जाता है।

(एवं) इस प्रकार (इणं) यह (संवरस्स दारं) संवर का सत्यरूप द्वार—उपाय, (मणवयणकायपरिरक्खिएहिं) मन, वचन और काया तीनों की सब प्रकार से रक्षा करने वाली (इमेहिं पंचहि वि कारणेहिं) इन पांच कारणरूप भावनाओं से (सम्मं)

सम्यक् प्रकार से (संवरियं) संवृत-सुरक्षित अथवा (संचरियं) भलीभांति आचरित (सुप्पणिहियं) अच्छी तरह दिलदिमाग में स्थापित (होइ) हो जाता है। (धितिमया) धैर्य धारण करने वाले (मतिमया) बुद्धिमान् साधक को (अणासवो) कर्मों को आने से रोकने वाला संवररूप, (अकलुसो) दोषरहित, (अच्छिद्दो) कर्मजल के प्रवाह के प्रवेश को रोकने में निश्छिद्र, (अपरिस्सावी) कर्मबन्ध के प्रवाह से रहित (असंकिलिट्ठो) संक्लिष्टपरिणामों से रहित, (सव्वजिणमणुन्नाओ) समस्त तीर्थंकरों के द्वारा आज्ञापित (एस) यह (जोगो)—प्रशान्त योग अथवा चिन्तन के साथ प्रयोग, (निच्चं) सदा (आमरणंतं) मृत्युपर्यन्त (णेयव्वो) अमल में लाना चाहिए।

(एवं) इस प्रकार (बितियं) द्वितीय (संवरदारं) सत्यरूप संवरद्वार (फासियं) उचित समय पर स्वीकार किया हुआ, (पालियं) पालन किया गया, (सोहियं) अतिचाररहित आचरण किया गया अथवा जीवन के लिए शोभादायक, (तीरियं) अन्त तक पार लगाया गया, (किट्टियं) दूसरे लोगों के सामने आदरपूर्वक कहा गया, (अणुपालियं) लगातार पालन किया गया, (आणाए आराहियं) भगवान की आज्ञापूर्वक आराधित-सेवित (भवति) है। (एवं) इस प्रकार (नायमुणिणा) ज्ञातवंश में उत्पन्न हुए मुनीश्वर (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने (इणं) इस (सिद्धवरसासणं) सिद्धों के श्रेष्ठ शासन का (पन्नवियं) सामान्यरूप से कथन किया है, (परूवियं) विशेष रूप से विवेचन किया है, (पसिद्धं) प्रमाणों और नयों से सिद्ध (आघवियं) सर्वत्र प्रतिष्ठित किया गया, (सुदेसियं) भव्यजीवों को अच्छी तरह से उपदिष्ट (पसत्थं) श्रेष्ठ—मंगलमय यह (बितियं) दूसरा (संवरदारं) संवरद्वार (समत्तं) समाप्त हुआ, (ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूं।

मूलार्थ—भगवान् महावीर ने इस प्रवचन—सत्य सिद्धान्त को मिथ्यावचन, चुगलखोरी, कठोर शब्द, कटुवाणी एवं बिना सोचे-विचारे उतावली में कहे हुए वचन से आत्मा की सुरक्षा के लिए अच्छी तरह कहा है; जो आत्मा के हित के लिए है, जन्मान्तर में शुभभावना से युक्त है, भविष्य के लिए कल्याणकारी है, निर्दोष है, न्यायसंगत है, मोक्ष के लिए सीधा—सरल मार्ग है, सर्वोत्कृष्ट है, अतएव समस्त दुःखों और पापों को विशेषरूप से उपशान्त करने वाला है। उस द्वितीय महाव्रत—सत्यसंवर की आगे कही जाने वाली ये पांच भावनाएँ हैं; जो असत्यवचन से विरति की पूर्ण सुरक्षा के लिए हैं; इनका चिन्तन और प्रयोग करना चाहिए।

पहली अनुचिन्त्यसमिति रूप भावना है। सद्गुरु से मृषावाद विरमण

सत्यवचनप्रवृत्तिरूप उस संवर के प्रयोजन को सुन कर तथा उसके परम अर्थ रहस्य को जान कर विकल्प की तरह संशययुक्त या हड़बड़ा कर न बोले, उतावली में जल्दी-जल्दी न बोले, कड़वा वचन न बोले, एक क्षण पहले कुछ कहना, क्षणभर बाद कुछ और ही कह देना, इस प्रकार सनक में आकर चचलता से न बोले,तथा दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले सावद्यवचन न कहे; किन्तु सत्य तथा हितकर एवं युक्तिसंगत—पूर्वापर-अबाधित और स्पष्ट तथा पहले से भलीभांति सोचा-विचारा हुआ वचन अवसर आने पर संयमी पुरुष को बोलना चाहिए। इस प्रकार पूर्वापर सोच कर बोलने की समिति—सम्यक् प्रवृत्ति के योग से संस्कारित अन्तरात्मा साधक हाथ, पैर, नेत्र और मुंह पर संयम करने वाला हो कर पराक्रमी तथा सत्य और सरलता से सम्पन्न—परिपूर्ण हो जाता है। दूसरी भावना क्रोधनिग्रह क्षान्तिरूप है, वह इस प्रकार है- क्रोध का सेवन न करे; क्योंकि क्रोधी मनुष्य रौद्रपरिणामों के वशीभूत हो कर मिथ्या बोलता है,चुगलखोरी के वचन बोलता है,कठोर वचन कहता है, एक साथ मिथ्यावचन,चुगली और कठोरता से युक्त वचन कह डालता है। वह बात बात में झगड़ा कर बैठता है,वैरविरोध पैदा कर लेता है,और अटसंट बकवास करने लगता है; एकसाथ कलह,वैर औरउटपटांगबकवासकरता है। वह सत्य का गला घोंट देता है, शील-सदाचार का नाश कर देता है, विनय—नम्रता को भी हत्या कर बैठता है; वह सत्य, शील और विनय तीनों का एक साथ घात कर बैठता है। क्रोधी मनुष्य अप्रिय—द्वेषभाजन बन जाता है, दोषों का घर बन जाता है, तिरस्कार का पात्र बन जाता है; वह एक साथ अप्रिय, दोषों का आधार और तिरस्कार का पात्र बन जाता है। वह इस मिथ्यावचन आदि को एवं इसी प्रकार के अन्य असत्य को क्रोधाग्नि से प्रज्वलित हो कर बोलता है। इसलिए क्रोध का सेवन नहीं करना चाहिए। इस तरह क्रोधनिग्रहरूप क्षमाभाव से सुसंस्कृत हुआ अन्तरात्मा अपने हाथ, पैर, नेत्र और मुख को नियंत्रित करने वाला, शूरवीर और सत्यता तथा सरलता के गुणों से परिपूर्ण हो जाता है।

तीसरी भावना लोभसंयम—निर्लोभता से युक्त है। वह इस प्रकार है—लोभ का सेवन नहीं करना चाहिए। क्योंकि लोभी मनुष्य व्रत से चलायमान हो कर या तो खेत के लिए झूठ बोलेगा या मकान के लिए। लोभी व्रत से डिग कर या तो कीर्ति के लिए असत्य बोलेगा या लोभवश परिवार आदि के पोषण के लिए। लुब्ध मनुष्य सत्यव्रत से विचलित हो कर या तो सम्पत्ति

के लिए मिथ्या बोलेगा या फिर इन्द्रियसुखों की प्राप्ति के लिए झूठ बोलेगा। लोभग्रस्त मानव सत्य से डगमगा कर या तो भोजन के लिए असत्य बात कहेगा या पेयपदार्थ के लिए असत्यभाषण करेगा। लोभी साधक सत्यव्रत में अस्थिर हो कर या तो पीठ—चौकी के लिए असत्य बोलेगा, अथवा पट्टे के लिए झूठी बात कहेगा। लोभ के वशीभूत साधक व्रत से चलित हो कर या तो शय्या (शयनस्थान) के लिए के लिए झूठ बोलेगा या फिर संस्तारक—बिछौने के लिए झूठ बोलेगा। लुब्ध साधक व्रत से डांवाडोल हो कर या तो वस्त्र के लिए मिथ्या बोलेगा या पात्र-बर्तन के लिए। लोभग्रस्त साधक सत्य से डिग कर या तो कंबल के लिए झूठ बोलने को उद्यत होगा या पैर पोंछने के कपड़े के लिए। लोभी साधक सत्यव्रत से विचलित हो कर या तो शिष्य के लिए झूठी बात कहेगा या शिष्या के लिए। लोभी मानव झूठ बोलता ही है। और भी इस प्रकार के अनेकों सैकड़ों कारणों से लोभग्रस्त मानव सत्यव्रत से डांवाडोल हो कर झूठ बोलता है। इसलिए लोभ का हर्गिज सेवन नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार लोभसंयमरूप निर्लोभता की भावना से भावित अन्तरात्मा अपने हाथ, पैर, आंख और मुंह पर संयमशील बन कर धर्मवीर तथा सत्यता और सरलता से सम्पन्न हो जाता है।

चौथी भयमुक्ति—धैर्यप्रवृत्तिरूप भावना है। वह इस प्रकार है—भय नहीं करना चाहिए। भयभीत मनुष्य पर अनेकों भय आ कर झटपट हमला कर देते हैं। डरपोक आदमी सदा अद्वितीय—असहाय (अकेला) होता है। भयभीत मनुष्य ही भूत-प्रेतों ग्रस्त होते हैं। डरने वाला अवश्य ही दूसरे को डराता है, भय में डालता है। भयभीत साधक तप और संयम अथवा तपस्याप्रधान संयम को भी तिलांजलि दे देता है। भयभीत मनुष्य किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के दायित्व को निभा नहीं पाता अथवा संयम का भार नहीं निभा सकता। और न ही डरपोक साधक सत्पुरुषों द्वारा आचरित मार्ग पर ही चलने में समर्थ होता है। इसलिए दुष्ट देव, दुष्ट मनुष्य या दुष्ट तिर्यञ्च के निमित्त से पैदा हुए बाह्य भय से एवं आत्मा में उत्पन्न हुए आन्तरिक भय से अथवा किसी प्राणघातक कुष्ट आदि व्याधि से या ज्वर आदि रोग से अथवा बुढ़ापे से या मौत से अथवा इसी प्रकार के इष्टवियोग-अनिष्टसंयोगरूप वगैरह भय के अन्यान्य कारणों से नहीं डरना चाहिए।

इस प्रकार का चिन्तन करके चित्त में स्थिरता—धीरता से संस्कार-दृढ हुआ अन्तरात्मा हाथ, पैर, आँख एवं मुख पर संयमशील साधु सत्यव्रत पालन में बहादुर तथा सत्य और आर्जव से सम्पन्न हो जाता है।

पांचवी हास्यसंयम—वचनसंयमरूप भावना इस प्रकार है– हास्य का सेवन नहीं करना चाहिए। क्योंकि हंसी करने वाले लोग वास्तविक बात को छिपाने वाले मिथ्यावचन तथा अविद्यमान बातों को प्रगट करने वाले असद्वचन या अशोभनीय वचन बोल देते हैं। तथा हंसी-मजाक दूसरों के तिरस्कार का कारण बन जाती है, हंसी को दूसरों की निन्दा ही प्यारी लगती है। हंसी दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाली है। हंसी-मश्करी चारित्र का नाश या मोक्षमार्ग का उच्छेद और शरीर की आकृति को विकृत कर देती है। अथवा हंसी परस्पर भेद-फूट डाल देती है और प्रियजनों में अलगाव पैदा कर देती है। हंसी-मजाक हमेशा परस्पर एक दूसरे के सम्पर्क से होती है। हंसी-मजाक में बोला गया मर्मकारी वचन एक दूसरे को परस्पर चुभने वाला होता है। हास्य पारस्परिक कुचेष्टा को या परदारादि के गुप्त रहस्य को खोलने वाला कर्म है। हास्य विदूषकों, भांडों तथा तमाशों के निर्देश करने वालों के पास पहुंचाने का कारण है अथवा हास्य हंसी-मजाक करने वाले कान्दर्पिक देवों तथा भार ढोने वाले आभियोग्य देवों में—निकृष्ट देवयोनियों में ले जाने वाला है। हास्य असुरजाति के भवनवासी देवों को पर्याय में तथा किल्विष देवों की पर्याय में उत्पन्न कराता है। इसलिए हास्य कदापि न करना चाहिए। इस प्रकार हास्यसंयम—वचनसंयमरूप मौनभावना द्वारा संस्कारप्राप्त अन्तरात्मा हाथ, पैर, आँख और मुंह को अपने काबू में रखता है; वह संयम में पराक्रमी वीर अन्त में सत्य और निष्कपटभाव से सम्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार मन, वचन और काया को चारों ओर से सुरक्षित रखने में कारणभूत इन पांचों भावनाओं के चिन्तन और प्रयोग से साधु-जीवन में सम्यक् प्रकार से आचरित सत्यमहाव्रतरूप संवर का यह द्वार अच्छी तरह परिनिष्ठित—संस्कारों में बद्ध हो जाता है।

धैर्यवान् तथा बुद्धिमान साधक को कर्मों के आगमन के विरोधी, कलुषता से रहित, कर्मजलप्रवाह के निरोध के लिए छिद्ररहित, कर्मबन्धन के प्रवाह से रहित, संक्लिष्ट परिणामों से दूर, समस्त देवाधिदेव तीर्थंकरों द्वारा

अनुज्ञात—अनुमत इस प्रशान्तयोग—भावनाओं के प्रयोग को जीवन के अन्त तक नित्य आचरण में लाना चाहिए।

इस प्रकार यह द्वितीय सत्यमहाव्रतरूप उचित समय पर स्वीकृत, सामान्यरूप से पालित, अतिचाररहित शुद्धरूप में आचरित; जीवन के अन्त तक पार लगाया हुआ, महापुरुषों द्वारा कथित और लगातार अनुपालित वीत-राग की आज्ञा से आराधित होता है।

इस प्रकार सिद्धों के प्रधान शासनरूप इस द्वितीय संवरद्वार का ज्ञातवंश में उत्पन्न हुए भगवान् महावीर स्वामी ने सामान्यरूप से निरूपण किया है, विशेषरूप से भेद-प्रभेदसहित विश्लेषण किया है, प्रमाणों और नयों से इसे सिद्ध किया है, प्रतिष्ठित किया है, भव्यजीवों को इसका उपदेश दिया है; यह प्रशस्त—मंगलमय है। ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ।

व्याख्या

प्रस्तुत सूत्रपाठ में शास्त्रकार ने अहिंसा-संवर की तरह सत्य-संवर की भी सर्वतोमुखी सुरक्षा के लिए चिन्तनात्मक तथा प्रयोगात्मक पांच भावनाएँ बताई है। यह निर्विवाद है कि ये भावनाएँ साधक की आत्मा में इतने मजबूत संस्कार जमा सकती है, जिन्हें फिर कोई हिला नहीं सकता।

सत्यमहाव्रती साधक यदि इन्हें अपने साधनाकाल के प्रारम्भ से ही अपना लेता है तो उसके जीवन के अन्तिम क्षणों तक ये संस्कार अमिट हो जाते हैं।

इन पांच शत्रुओं से बचने का निर्देश—लोकव्यवहार में हम यह अनुभव करते हैं कि जो जिस संस्था की स्थापना करता है, या व्रत आदि नई चीज का आविष्कार करता है, वह पद-पद पर उसकी सुरक्षा का स्वयं ध्यान रखता है, अपने अनुगामियों को भी सुरक्षा का ध्यान दिलाता है। भ० महावीर ने भी इसी दृष्टि से सत्य की सैद्धान्तिक पहलू से विवेचना की और यह स्पष्ट निर्देश भी किया कि साधक को किन-किन विनाशक और विस्फोटक क्रिया कलापों से बचाना चाहिए?

पाठ के प्रारम्भ में शास्त्रकार ने इसी बात को स्पष्ट किया है—'इमं च अलिय-पिसुणफरस······वयणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।' शास्त्रकार का इस कथन के पीछे आशय यह है कि भगवान् महावीर ने सत्यसिद्धान्तरूप प्रवचन का भलीभांति निरूपण किया है; वह इसलिए कि सत्यार्थी साधक अपने सत्यमहाव्रत की अलीकवचन आदि शत्रुओं से रक्षा कर सके। वे शत्रु इस प्रकार हैं—सत्य महाव्रत का प्रथम शत्रु—अलीकवचन है, जो अविद्यमान असद्भूत बात का प्रतिपादन करता है; वह हर चीज को बढ़ाचढ़ा कर कहने का आदी होता है। ऐसा मिथ्यावचन सत्यार्थी

साधक को सत्य से पतित कर देता है और मायाचार से दूषित कर देता है। दूसरा शत्रु है—पिशुन। पिशुन का अर्थ है—चुगलखोरी। चुगली खाने की आदत जिस साधक में हो जाती है, वह इधर की बात उधर भिड़ाता रहता है। वह लोगों के परस्पर सिर फुड़वा देता है। चुगलखोरी भी साधक को सत्यमहाव्रत से नीचे गिरा देती है। चुगलखोरी अविश्वास, अनादर, और अधःपतन का कारण है। इसलिए इस शत्रु से भी बचना जरूरी है। तीसरा शत्रु कठोरवचन है। कठोर वचन बोलने वाले का अन्तःकरण भी कठोर हो जाता है। कठोरभाषी स्वपर के भावप्राणों की हिंसा कर बैठता है। वह अकारण ही लोगों में अप्रिय,अनादरणीय और शत्रु बन जाता है। कठोर वचन बोलने वाले के यहां आपत्ति के समय कोई भी पास नहीं फटकता। कठोरभाषण मर्मघातक होने से कई बार इसे सुनने वाले आत्महत्या तक कर बैठते है। अतएव सत्य के इस शत्रु से भी बचना आवश्यक है। इसके बाद चौथा शत्रु है—कटुवचन। हितकर वचन भी यदि कड़वे हो तो वे सुनने वाले के दिल में तीखे कांटे की तरह चुभ जाते है। तलवार का घाव फिर भी भर जाता है, लेकिन कटुवचनों का घाव जिंदगी भर नही भरता। कटुवचन मनुष्य को अकारण शत्रु बना देता है। कटुवचन यथार्थ हो तो भी परपीड़ाजनक होने से वह असत्य की कोटि में ही आता है। साधक कई बार इस भुलावे में रहता है कि कटुवचन कहने से मेरा प्रभाव श्रोता पर जल्दी और अचूक होगा। लेकिन होता इससे उलटा है। कटुवाक्य क्षणिक प्रभाव चाहे डाल दे, मगर वह स्थायी और शुभपरिणामी नहीं होता। सत्य महाव्रत का इससे नाश हो जाता है। इसलिए सत्यार्थी साधक को इस शत्रु से भी बचते रहना चाहिए। पांचवा शत्रु है—चपल वचन। मन की व्याकुलता या व्यग्रता के कारण सत्यार्थी साधक भी उतावल में आ कर कुछ का कुछ बोल जाता है। उसे उतावली में अपने कहे हुए वचनों का भान भी नही रहता है। चंचलवचन वाला साधक कुछ ही देर पहले एक बात की हाँ भर लेता है और कुछ ही मिनटों के बाद एकदम बदल जाता है; उसके वचनों का कोई मूल्य नहीं होता। कोई उसके वचनों पर विश्वास करके उसे किसी जिम्मेदारी का काम नहीं सौंप सकता। इसलिए चचलवचन भी सत्य का सर्वथा विरोधी है। इससे भी बचना चाहिए।

सत्यसिद्धान्त का प्रयोजन और महत्त्व—पूर्वोक्त सूत्रपंक्ति में भगवान् महावीर द्वारा भलीभांति निरूपित सत्यसिद्धान्तरूप प्रवचन का मुख्य प्रयोजन बताया गया है; इसके बाद आगे की पंक्तियों में बताए गए इसके प्रयोजन और स्वरूप पर क्रमशः विश्लेषण करते हैं—

अत्तहियं—सत्य सैद्धान्तिक दृष्टि से आत्मा का स्वभाव है। इसलिए स्वाभा-

विकतया वह आत्मा का हितकर्ता है। सत्य से आत्मा में मायाचार आदि नही पनप पाते। विकारों के अभाव मे आत्मा में शान्ति और परमानन्द की लहरें उठा करती हैं और आत्मा उनमें मग्न हो कर अद्वितीय आनन्दरूप शुद्धस्वरूप का अनुभव करता है। इसलिए यह आत्मा के लिए हितकर है।

पेच्चाभावियं—सत्य परभव में आत्मा का सहायक होता है। चूंकि सत्यप्रतिज्ञ साधक माया, कपट से रहित होता है। माया के अभाव के कारण वह नरकगति और तिर्यंचगति तथा नरकायु और तिर्यंचायु का बन्ध नहीं करता। यदि सत्यवादी सम्यक्त्व प्राप्त होने के पहले मिथ्यात्वअवस्था में ही गति और आयु का बन्ध करता है तो मनुष्यगति और मनुष्यायु का बन्ध करता है और अगर सम्यक्त्व-अवस्था में उसने बन्ध किया तो वह देवगति और देवायु का बन्ध करता है। शास्त्रीय दृष्टि से यह बात निश्चित है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि सत्य आगामी जन्मों में भी सद्गति दिलाने में सहायक होता है।

आगमेसिभद्दं—सत्य भविष्य में कल्याण का कारण होता है। इसका आशय यह है कि यदि सत्यवादी मनुष्य-जन्मग्रहण करता है तो वहाँ भी उसे उत्तमधर्म और उत्कृष्टगुरु का संयोग मिलता है और वह उचित समय में ही सद्गुरु की कृपा से संयम का आराधन करके आत्मकल्याण कर लेता है। यदि उस सत्यार्थी मानव ने दर्शन-विशुद्धि आदि तीर्थंकरत्व के कारणरूप भावनाओं की सम्यक् आराधना कर ली तो वह तीर्थंकर नामगोत्र का बन्ध कर लेता है और तीसरे भव में तीर्थंकर होता है। और उसके जन्म, गर्भ, तप, ज्ञान और मोक्ष ये पाच कल्याण होते हैं। यदि महाविदेह क्षेत्र से कोई मनुष्य इन भावनाओं का आराधन करता है तो वह उसी भव में तप, ज्ञान और मोक्ष; इन तीन कल्याणों को प्राप्त कर सकता है। इसीलिए यह ठीक ही कहा है कि सत्य आत्मा का भविष्य में कल्याण करने वाला है।

सुद्धं—सत्य निर्दोष है, विकाररहित है। सत्य आत्मा का निजी स्वभाव है। यह कर्म के निमित्त से प्राप्त नहीं होता; बल्कि कर्मों या कर्मजनक कषायों के क्षय, उपशम या क्षयोपशम के होने से प्रकट होता है। आत्मा का शुद्धस्वरूप होने से यह शुद्ध है। सत्यवादी का अन्तःकरण भी पवित्र होता है। उसके अन्तःकरण में निकले हुए विकल्प-प्रवाह भी पवित्र होते हैं। इसलिए सत्य पवित्रता का कारण होने से पवित्र है।

नेयाउयं—सत्य न्याय की प्रवृत्ति करने वाला और अन्याय का विरोधी है। सत्यवादी प्राणों की आहुति दे कर भी न्याय की रक्षा करता है। बल्कि सामाजिक सत्य न्याय के रूप में ही व्यक्त होता है; सम्पूर्ण न्याय सत्य पर ही अवलम्बित है।

जिसके हृदय में जितने अंश में सत्य रहता है; वह न्यायाधीश उतने ही अंशों मे न्याय पर आरूढ रहता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि न्याय का पिता और माता सत्य ही है। सत्य की भूमि पर ही न्याय का वृक्ष पैदा होता है, फलता-फूलता है। असत्य की जरा-सी आंच भी उसे भस्म कर देती है। इसलिए सत्य को न्याययुक्त कहना ठीक है।

अकुडिलं—सरलचित्त व्यक्ति के हृदय में सत्य का निवास होता है। टेढ़ी म्यान मे जैसे सीधी तलवार प्रवेश नही कर सकती, वैसे ही कुटिल हृदय में सत्य नही ठहर सकता। कुटिलता और सत्यता का परस्पर विरोध है। कुटिल या मायाचारी व्यक्ति सत्य से दूर रहता है। इसलिए सत्य को अकुटिल कहा है।

अणुत्तरं– सत्य सब गुणो में श्रेष्ठ है। सत्य अनेक गुणों का आधार है। अहिंसा, अचौर्य आदि भी सत्य पर निर्भर है। सत्य ससार में शान्ति का साम्राज्य स्थापित करता है। सत्यगुण से भ्रष्ट व्यक्ति सभी गुणों से भ्रष्ट माना जाता है। तप, त्याग, प्रत्याख्यान, नियम, संयम आदि सब साधनाएँ सत्य पर ही प्रतिष्ठित हैं। इसलिए सत्य को सर्वोत्कृष्ट गुण कहा है।

सव्वदुक्खपावाणं विउसमणं—सत्य ऐसी अग्नि है, जिसमे सभी पाप और दु:ख स्वाहा हो जाते हैं। जिस आत्मा में सत्य की ज्योति एवं ज्वाला जग उठती है,वह अपने पिछले पापो का भी प्रायश्चित्त और तप के द्वारा क्षय कर देता है, नये पाप उसके जीवन में रुक जाते हैं। जब पाप नही होंगे तो दु:ख कहा से होंगे ? 'दुःखं हयं जस्स न होइ मोहो'—इस सूत्रवाक्य के अनुसार जिसके मोह नही होता, उसका दु:ख नष्ट हो जाता है। सत्यार्थी साधक मोह के मल को साफ कर डालता है,सम्यक्त्व की गंगा में वह स्नान करता है,तब मोह उसे कहां रहेगा ? जब आदमी सचाई समझ लेता है तो उसे मानसिक और कायिक क्लेश होते ही नही। पूर्वकर्मवश कायिक क्लेश आते भी हैं तो वह प्रसन्नता से उन्हें सह लेता है। इसलिए सत्य समस्त दु:खो और पापों को शान्त करने वाला है।

पांच भावनाएँ और उनका उद्देश्य—पहले कहा जा चुका है कि सत्य की सुरक्षा के लिए भगवान् ने अलीक आदि से बचने का निर्देश किया है। परन्तु सत्य की सुरक्षा के सस्कार जब तक साधक के मन मे दृढीभूत नहीं हो जायेंगे, तब तक वह किसी भी निमित्त के मिलते ही सत्य से डांवाडोल हो उठेगा। इसीलिए साधक को दृढ़संस्कारों से ओतप्रोत करने हेतु शास्त्रकार ने मिथ्यावचन से विरतिरूप सत्य महाव्रत की रक्षा के लिए पांच भावनाएँ बताई हैं। वे इस प्रकार है—(१) अनुचिन्त्य-समितिभावना, (२) क्रोधनिग्रहरूप क्षमाभावना, (३) लोभविजयरूप निर्लोभता-

भावना, ४ भयमुक्तिरूप निर्भयताभावना या धैर्यभावना, और ५ हास्यत्यागरूप वचनसंयम-मौनभावना।

उक्त पांच भावनाओं का उद्देश्य सत्यव्रत की पूर्णरूपेण रक्षा करना है, जिसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—'तस्स इमा पंचभावणाओ परिरक्खणट्ठयाए'। इसका आशय यह है कि सत्यमहाव्रती साधु सब प्रकार से असत्य का त्यागी होता है, बारह-व्रत या पांच अणुव्रत धारण करने वाला देशविरतिश्रावक स्थूल-असत्य का आंशिक त्यागी होता है तथा व्रतहीन सम्यक्त्वी या मार्गानुसारी भी नैतिकरूप से स्थूल असत्य का त्याग करते हैं। इन सब कोटि के असत्यत्यागियों के असत्यत्यागरूप व्रत और नियम की रक्षा के लिए ये ५ भावनाएँ बताई हैं। लेकिन इन भावनाओं का उद्देश्य तभी पूर्ण हो सकता है, जब इनका बार-बार मनोयोगपूर्वक चिन्तन और जीवन में प्रयोग किया जाय। क्योंकि भावना का अर्थ ही प्रत्येक अवस्था में निरन्तर पुनः पुनः चिन्तन करना है। मनोयोगपूर्वक जीवनपर्यन्त और निरन्तर इनका चिन्तन-मनन-निदिध्यासन करने पर तथा तदनुसार प्रयोग—अमल करने पर आत्मा में पवित्र और उत्तम संस्कार बद्धमूल हो जाते हैं। सुदृढ संस्कारी साधक इतना वीर और पराक्रमी हो जाता है कि असत्य के बड़े से बड़े भय और लोभ के झंझावात से वह डिगता नहीं, कष्टों के दल के आगे वह झुकता नहीं, उपसर्गों और परिषहों की सेना के खिलाफ जूझता रहता है। देव मानव या तिर्यञ्च कोई भी उसे सत्यव्रत से विचलित नहीं कर सकता। उसके सामने सत्य ध्रुवतारे की तरह चमकता रहता है; वह कदापि कैसी भी स्थिति में सत्य को अपने मन-मस्तिष्क से ओझल नहीं होने देता। इसलिए सत्यता और सरलता उस साधक के जीवन के अंग बन जाते हैं। वह सत्य में परिपक्व हो जाता है। उसके हाथ, पैर, आंख और मुख सत्य से इतने सध जाते हैं, कि उनसे असत्य-आचरण की चेष्टा स्वप्न में भी नहीं हो सकती। हाथ-पैर ही क्या, शरीर के सभी अंगोपांग, मन और वाणी, बुद्धि और हृदय उसके आज्ञाधीन सेवक-से बन जाते हैं। वे सत्य के विरुद्ध जरा भी प्रवृत्ति नहीं कर सकते। इसी बात को शास्त्रकार मूलपाठ में द्योतित करते हैं—' भाविओ भवति अंतरप्पा संजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसंपन्नो; इमेहिं पंचहिं वि कारणेहिं मण-वयणकायपरिरक्खिएहिं निच्चं आमरणंतं च एस जोगो णेयव्वो।'

अनुचिन्त्यसमितिभावना का चिन्तन और प्रयोग—सत्यव्रत की इन पांच भावनाओं में से सर्वप्रथम अनुचिन्त्यसमितिभावना है। इसका अर्थ है - सत्य पर बार-बार चिन्तन करके भाषण में सम्यक् प्रवृत्ति करना। सत्यमहाव्रत ग्रहण कर लेने मात्र से जीवन में सत्य नहीं आ जाता। उसके पालन के लिए बार-बार सत्य के पहलुओं पर चिन्तन करना चाहिए तथा विश्लेषण करना चाहिए कि असत्य क्यों-

कहाँ से किस-किस रूप में आ सकता है ? उससे कैसे बचना चाहिए ? कदाचित् पूर्व-संस्कारवश आने लगे तो उसे कैसे दूर भगाना चाहिए ? सत्यसंवर को रखने का उद्देश्य क्या है ? सत्य का रहस्य क्या है ? मगर इस प्रकार का सूक्ष्मविश्लेपण प्रत्येक साधु कर नहीं सकता। इसलिए शास्त्रकार इस भावना पर चिन्तन से पहले पूर्व तैयारी के रूप में निर्देश करते है—'' 'सोऊण संवरट्ठ परमट्ठ सुद्ध जाणिऊण''''
इसका आशय यह है कि सत्यार्थी साधक को सर्वप्रथम सद्‌गुरु के मुख से आगम के माध्यम से यह भलीभांति श्रवण करना चाहिए कि सत्यसंवर का पालन भगवान् ने क्यों और किसलिए आवश्यक बताया है ? इसका वास्तविक प्रयोजन क्या है ? साधक-जीवन के साथ इसका क्या सम्बन्ध है ? आदि। उसके पश्चात् यदि जैन सिद्धान्तों के रहस्य को ग्रहण करने की प्रतिभा हो जो ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है, तो उसके बल पर उसे स्वय सत्यसिद्धान्तप्रतिपादक शास्त्रों और ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए और उसके द्वारा विविध पहलुओं से सत्य को जानना चाहिए; विभिन्न तर्कवितर्कों द्वारा उसके रहस्य को हृदयंगम कर लेना चाहिए।

उसके पश्चात् उसे सत्यमहाव्रत की प्रथम भावना का चिन्तन-मनन और तदनुसार उसी का रटन करना चाहिए, ताकि वह उसके संस्कारों में जम जाय और उसकी समग्र प्रवृत्ति सत्यमय हो जाय। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं **'न वेगियं, न तुरियं ' संजतेण कालम्मि य वत्तव्वं।'** इसका आशय यह है कि संयमी साधक बोलने से पहले अपने हृदय में इस बात को दृढ़ कर ले कि 'मुझे हड़बड़ा कर व्यग्रता से कभी नहीं बोलना है, उतावली में जल्दी-जल्दी भी नहीं बोलना है, न चंचलता से बोलना है न कड़वा बोलना है, न कठोर बोलना है, न सहसा किसी पर दोषारोपण करना है, न परपीडाकारी सावद्यवचन बोलना है। मुझे जब भी बोलना है, तब सत्य, हित, मित, शुद्ध, ग्रहणीय, सगत, स्पष्ट और सोच-विचार कर बोलना है।'

सत्यार्थी साधक यदि मन की व्याकुल और व्यग्र अवस्था में बोलेगा तो, उससे वह अपनी अभीष्ट बात को व्यक्त करने मे असफल होगा। चित्त में जब एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा, इस प्रकार लगातार अनेक विकल्प उठते रहते हैं, तब मनुष्य अपने सिद्धान्त को स्थिर नही कर पाता। उस समय वह झुंझला कर, हड़बड़ा कर या व्यग्रतापूर्वक जो कुछ भी कहेगा, उससे सुनने वाले को विपरीत अर्थ का भान होना सभव है। इसलिए सत्य के पुजारी को मन की व्याकुल अवस्था में वेग से कोई वचन व्यक्त नही करना चाहिए। उसे अपने मन को विकल्पजालों से मुक्त कर, अव्याकुल स्थिति में ही अपनी बात प्रगट करनी चाहिए।

कई लोगों को यह आदत होती है कि वे बहुत जल्दी-जल्दी बोलते हैं। जल्दी में बोलते समय अपने वचनों पर काबू नहीं रहता। वे अपने सिद्धान्त से विपरीत बातें

भावना, ४ भयमुक्तिरूप निर्भयताभावना या धैर्यभावना, और ५ हास्यत्यागरूप वचनसंयम-मौनभावना।

उक्त पांच भावनाओं का उद्देश्य सत्यव्रत की पूर्णरूपेण रक्षा करना है, जिसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—'तस्स इमा पंचभावणाओ परिरक्खणट्ठयाए'। इसका आशय यह है कि सत्यमहाव्रती साधु सब प्रकार से असत्य का त्यागी होता है, बारह-व्रत या पांच अणुव्रत धारण करने वाला देशविरतिश्रावक स्थूल-असत्य का आंशिक त्यागी होता है तथा व्रतहीन सम्यक्त्वी या मार्गानुसारी भी नैतिकरूप से स्थूल असत्य का त्याग करते हैं। इन सब कोटि के असत्यत्यागियों के असत्यत्यागरूप व्रत और नियम की रक्षा के लिए ये ५ भावनाएँ बताई हैं। लेकिन इन भावनाओं का उद्देश्य तभी पूर्ण हो सकता है, जब इनका बार-बार मनोयोगपूर्वक चिन्तन और जीवन में प्रयोग किया जाय। क्योंकि भावना का अर्थ ही प्रत्येक अवस्था में निरन्तर पुनः पुनः चिन्तन करना है। मनोयोगपूर्वक जीवनपर्यन्त और निरन्तर इनका चिन्तन-मनन-निदिध्यासन करने पर तथा तदनुसार प्रयोग—अमल करने पर आत्मा में पवित्र और उत्तम संस्कार बद्धमूल हो जाते हैं। सुदृढ संस्कारी साधक इतना वीर और पराक्रमी हो जाता है कि असत्य के बड़े से बड़े भय और लोभ के झंझावात से वह डिगता नहीं, कष्टों के दल के आगे वह झुकता नहीं, उपसर्गों और परिषहों की सेना के खिलाफ जूझता रहता है। देव मानव या तिर्यञ्च कोई भी उसे सत्यव्रत से विचलित नहीं कर सकता। उसके सामने सत्य ध्रुवतारे की तरह चमकता रहता है; वह कदापि कैसी भी स्थिति में सत्य को अपने मन-मस्तिष्क से ओझल नहीं होने देता। इसलिए सत्यता और सरलता उस साधक के जीवन के अंग बन जाते हैं। वह सत्य में परिपक्व हो जाता है। उसके हाथ, पैर, आंख और मुख सत्य से इतने सध जाते हैं, कि उससे असत्य-आचरण की चेष्टा स्वप्न में भी नहीं हो सकती। हाथ-पैर ही क्या, शरीर के सभी अंगोपांग, मन और वाणी, बुद्धि और हृदय उसके आज्ञाधीन सेवक-से बन जाते हैं। वे सत्य के विरुद्ध जरा भी प्रवृत्ति नहीं कर सकते। इसी बात को शास्त्रकार मूलपाठ में द्योतित करते हैं—' भाविओ भवति अंतरप्पा संजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसंपन्नो; इमेहिं पंचहिवि कारणेहिं मण-वयणकायपरिरक्खिएहिं निच्चं आमरणंतं च एस जोगो णेयव्वो।'

अनुचिन्त्यसमितिभावना का चिन्तन और प्रयोग—सत्यव्रत की इन पांच भावनाओं में से सर्वप्रथम अनुचिन्त्यसमितिभावना है। इसका अर्थ है – सत्य पर बार-बार चिन्तन करके भाषण में सम्यक् प्रवृत्ति करना। सत्यमहाव्रत ग्रहण कर लेने मात्र से जीवन में सत्य नहीं आ जाता। उसके पालन के लिए बार-बार सत्य के पहलुओं पर चिन्तन करना चाहिए; यह विश्लेषण करना चाहिए कि असत्य कहाँ-

कहाँ से किस-किस रूप म आ सकता है ? उससे कैसे बचना चाहिए ? कदाचित् पूर्व-संस्कारवश आने लगे तो उसे कैसे दूर भगाना चाहिए ? सत्यसंवर को रखने का उद्देश्य क्या है ? सत्य का रहस्य क्या है ? मगर इस प्रकार का सूक्ष्मविश्लेषण प्रत्येक साधु कर नही सकता । इसलिए शास्त्रकार इस भावना पर चिन्तन से पहले पूर्व तैयारी के रूप में निर्देश करते है—'''' सोऊण संवरट्ठं परमट्ठं सुद्ध जाणिऊण····' इसका आशय यह है कि सत्यार्थी साधक को सर्वप्रथम सद्गुरु के मुख से आगम के माध्यम से यह भलीभाति श्रवण करना चाहिए कि सत्यसंवर का पालन भगवान् ने क्यो और किसलिए आवश्यक बताया है ? इसका वास्तविक प्रयोजन क्या है ? साधक-जीवन के साथ इसका क्या सम्बन्ध है ? आदि । उसके पश्चात् यदि जैन सिद्धान्तो के रहस्य को ग्रहण करने की प्रतिभा हो जो ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है, तो उसके बल पर उसे स्वयं सत्यसिद्धान्तप्रतिपादक शास्त्रों और ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए और उसके द्वारा विविध पहलुओं से सत्य को जानना चाहिए; विभिन्न तर्कवितर्कों द्वारा उसके रहस्य को हृदयगम कर लेना चाहिए ।

उसके पश्चात् उसे सत्यमहाव्रत को प्रथम भावना का चिन्तन-मनन और तदनुसार उसी का रटन करना चाहिए, ताकि वह उसके संस्कारों में जम जाय और उसकी समग्र प्रवृत्ति सत्यमय हो जाय। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं 'न वेगियं, न तुरियं ··संजतेण कालम्मि य वत्तव्वं ।' इसका आशय यह है कि संयमी साधक बोलने से पहले अपने हृदय में इस बात को दृढ कर ले कि 'मुझे हड़बडा कर व्यग्रता से कभी नही बोलना है, उतावली में जल्दी-जल्दी भी नही बोलना है, न चंचलता से बोलना है, न कड़वा बोलना है, न कठोर बोलना है, न सहसा किसी पर दोषारोपण करना है, न परपीड़ाकारी सावद्यवचन बोलना है। मुझे जब भी बोलना है, तब सत्य हित, मित, शुद्ध, ग्रहणीय, संगत, स्पष्ट और सोच-विचार कर बोलना है ।'

सत्यार्थी साधक यदि मन की व्याकुल और व्यग्र अवस्था में बोलेगा तो, उससे वह अपनी अभीष्ट बात को व्यक्त करने में असफल होगा । चित्त में जब एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा, इस प्रकार लगातार अनेक विकल्प उठते रहते हैं, तब मनुष्य अपने सिद्धान्त को स्थिर नही कर पाता । उस समय वह झुंझला कर, हडबड़ा कर या व्यग्रतापूर्वक जो कुछ भी कहेगा, उससे सुनने वाले को विपरीत अर्थ का भान होना सभव है । इसलिए सत्य के पुजारी को मन की व्याकुल अवस्था में वेग से कोई वचन व्यक्त नही करना चाहिए । उसे अपने मन को विकल्पजालो से मुक्त कर, अव्याकुल स्थिति में ही अपनी बात प्रगट करनी चाहिए ।

कई लोगो को यह आदत होती है कि वे बहुत जल्दी-जल्दी बोलते हैं । जल्दी में बोलते समय अपने वचनों पर काबू नही रहता । वे अपने सिद्धान्त से विपरीत बाते

भी उतावली में आ कर कह देते हैं। जिनका परिणाम कभी-कभी भयंकर होता है; अथवा कई बार सुनने वाले को उसकी बातें पूरी तरह से समझ में नहीं आतीं। कई लोग अपनी विद्वत्ता की छाप दूसरों के हृदय पर अंकित करने के हेतु से भी ऐसा करते हैं; लेकिन परिणाम उलटा ही आता है। कई दफा उतावल में बिना विचारे बोलने के बाद उसका परिणाम अहितकर निकलता है और उससे बोलने वाले को बाद में पछताना पड़ता है। इसलिए सत्यवादी को शीघ्रता से बोलने का परित्याग करना चाहिए।

साथ ही चपलतापूर्वक बोलना भी हितावह नही है। चंचलता मे कोई भी व्यक्ति अपनी बात पर स्थिर नहीं रह सकता। वह कभी कुछ कहेगा, कभी कुछ, अतः उसकी बातों पर किसी को भरोसा नहीं होगा। वाणीचपल मनुष्य किसी को वचन देकर बदलते देर नही लगाएगा। इसलिए चपलतापूर्वक बोलने से सत्य को खतरा पहुंचेगा। कड़वी और कठोर वाणी भी साधक के जीवन को कटु और कठोर बना देती है। उसका हृदय कटु व कठोर हो जाने से उसमें सबके प्रति घृणा, द्वेष, निर्दयता और क्रूरता भर जाती है। सबसे नफरत करने वाला व्यक्ति सबमें दोषदर्शन करेगा, ईर्ष्या, करेगा, वैमनस्य करेगा। इस तरह कड़वी और कठोर वाणी मनुष्य को सत्य से विचलित कर देती है। उसके मुंह से निकले हुए यथार्थवचन भी दूसरों को चुभते हैं, मर्मस्पर्शी होने से पीड़ा पहुंचाते हैं,इसलिए शास्त्रज्ञो की दृष्टि मे वे असत्य ही हैं। उनका परित्याग करना चाहिए। कई साधक अपना रौब या प्रभाव दूसरों पर जमाने के लिए कटु या कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं; लेकिन कटु या कठोर शब्दों का प्रभाव प्रायः उलटा पड़ता है। यदि कभी अनुकूल भी पड़ता है तो वह स्थायी नही रहता। यथार्थ बात भी मृदु एवं प्रिय शब्दों में कहने पर ही अधिक प्रभावशाली बनती है।

साहसपूर्वक बोला गया वचन भी सहसा बिना विचारे बोला जाता है, वह भी स्वपरकल्याण का विरोधी है। दुःसाहसपूर्वक बोले गए वचनों के पीछे धृष्टता, बड़प्पन का गर्व, उद्धतता, अपनी ही हांके जाने का अविवेक, व्यर्थ गाल बजाने की और अपने मुंह मियामिट्ठू बनने की आदत होती है। ऐसे वचनों मे असत्यांश अधिक होता है, इसलिए त्याज्य समझना चाहिए। परपीड़ाकारी वचन तथ्यपूर्ण होते हुए भी हिंसाजनक होने से असत्य की कोटि में आते हैं। काने को काना, अंधे को अंधा कहना यद्यपि तथ्ययुक्त है,तथापि उसके पीछे बोलने वाले की भावना उसे पीड़ा पहुँचाने की या चिढ़ाने की होने से ऐसे वचन सत्य भी असत्य हो जाते है। किसी को मर्मस्पर्शी वचन कहना, ताने मारना, अथवा इसे मारो, पीटो, इसे कत्ल करो, इत्यादि वचन परपीड़ाकारी होने से त्याज्य समझने चाहिएं।

सावद्य—पापयुक्तवचन भी सत्यार्थी के जीवन के लिए हानिकारक है। जिन

वचनों से पापकार्यों का पोषण होता हो, ऐसे वचन सावद्य कहलाते हैं। जैसे किसी को चोरी, जारी, वेश्यागमन, मद्यपान आदि निन्द्यकर्मों की सलाह देना, उनमे प्रोत्साहित करना सावद्य है।

सावद्यवचन तो हर्गिज भी नही बोलना चाहिए। पूर्वोक्त दोषों से रहित शुद्ध-निर्दोष, सत्य, हितकर, परिमित, ग्रहणीय, स्पष्ट, पूर्वापरसंगत एवं बोलने से पहले भलीभांति सोचा-विचारा हुआ वचन अवसर पर बोलना चाहिए।

यह अनुचिन्त्यभाषासमितिभावना का आशय है। इसे भलीभांति हृदयंगम करके चिन्तन-मननपूर्वक वाणीप्रयोग करना ही सत्यार्थी के लिए प्रथम भावना का उद्देश्य है।

क्रोधनिग्रहरूप क्षमाभावना का चिन्तन और प्रयोग—पहली भावना मे वार-बार चिन्तन और पर्यालोचन करने के बाद अमुक प्रकार से बोलने और अमुक प्रकार से न बोलने का निर्देश किया, इसी पर से यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य जब बोलता है तो उतावल मे झुंझला कर, चपलता से, कठोर, कटु, परपीड़ाकारी सावद्य वचन सहसा क्यों बोल देता है? वह उस समय अपनी जबान पर लगाम क्यों नही रख पाता? इसी के उत्तर में शास्त्रकार दूसरी भावना का चिन्तन और प्रयोग बताते हैं। उनका आशय यह है कि सहसा बिना-विचारे बोलने के पीछे क्रोध भी एक जबर्दस्त कारण है। जब मनुष्य पर क्रोध का भूत सवार होता है तो उसे अपने आपे का भान नही रहता। वह क्या बोल रहा है?, क्या चेष्टा कर रहा है? किससे क्या कहना चाहिए,और क्या नही? इसका ज्ञान उसे क्रोधावेश में नही रहता। क्रोध के वश मनुष्य झुंझला कर बोलता है, जल्दी जल्दी भी बोलता है. चंचलतापूर्वक बात कहता है, कड़वा और कठोर वचन भी कह डालता है, बिना विचारे किसी पर सहसा दोषारोपण भी कर डालता है, परपीड़ाकारी वचन और मारो-पीटो आदि सावद्य वचन तो कोपकांड के समय प्रगट होते ही हैं। क्रोधी मनुष्य परनिन्दा, गालीगलौज, मारपीट, हाथापाई और मुकद्दमेबाजी पर भी उतर आता है। क्रोधी मनुष्य अपने माता-पिता व गुरुजनो का विनय करना भूल जाता है, अपनी मा-बहनों की इज्जत का भी उसे भान नही रहता। क्रोध के वशीभूत हुआ मनुष्य अपनी आत्मा में तो अशान्ति उत्पन्न करता ही है, अपनी समाधि (शील) का भंग तो कर ही बैठता है, अपने परिवार,समाज और देश में भी वह भयंकर अशान्ति मचा देता है। कई बार क्रोधी नेता अपने क्रोधावेश में आ कर ऐसे वचन बोल देता है, जिससे सारा समाज या देश विनाश के मुंह में चला जाता है, उसके क्रोध का शिकार सारे देश या समाज को होना पड़ता है। इसलिए क्रोधी मनुष्य सब का अकारण शत्रु बन जाता है, झूठ,धोखा, हिंसा, अन्याय, अत्याचार आदि कई दोषों का घर बन जाता है; पद-पद पर अप-

मानित होता है, उसके साथ लोगों का वैरविरोध बढ़ता जाता है। इसलिए क्रोध हर्गिज नहीं करना चाहिए। इस प्रकार दूसरी भावना में क्रोधनिग्रह करके क्षमाभाव —क्षान्ति—सहिष्णुता रखने का निर्देश किया है। क्रोध से सर्वतोमुखी हानि और क्षमा-सहिष्णुता से सत्य के पालक उत्तम लाभ का चित्र सत्यार्थी साधक के मनमस्तिष्क में अंकित हो जाना चाहिए। इसी बात को शास्त्रकार स्पष्ट द्योतित करते हैं—'कोहो न सेवियव्वो एवं खंतीए भाविओ भवति।' इसी का भावार्थ ऊपर स्पष्ट किया गया है।

लोभविजयरूप निर्लोभतासमिति का चिन्तन और प्रयोग—क्रोध के बाद सत्यमहाव्रत के पालन में बाधक लोभ है। लोभवृत्ति से मनुष्य का चित्त चंचल हो उठता है। किसी भी पदार्थ का लोभ दिमाग में सवार होते ही वह येन-केन-प्रकारेण उसकी पूर्ति के लिए उतारू हो जाता है। उस समय वह सत्य को भी ताक में रख देता है, अपने श्रावकत्व और साधुत्व की मर्यादाओं को भी भूल जाता है, परिग्रह की सीमा और अपरिग्रहवृत्ति को भी ओझल कर देता है। उसका चित्त लोभवृत्ति के कारण सत्यव्रत से विचलित हो जाता है, उसकी वाणी लुब्धता के कारण सत्यवचन से हट जाती है, उसकी शारीरिक चेष्टाएँ भी लोभ सवार होने पर सत्यप्रवृत्ति से डगमगा जाती है। और वह चाहे सीमितपरिग्रही गृहस्थ श्रावक हो या अपरिग्रहवृत्ति महाव्रती साधु हो, लोभग्रस्त होने पर खेत, जमीन, मकान, सुख के साधन, खानपान, चौकी, पट्टा, शय्या-निवास योग्य वस्ती, बिछौना, कपड़े, पात्र, कंबल या पैर पोंछने के कपड़े, शिष्य या शिष्या, ये और इस प्रकार की हजारों चीजों के निमित्त मन, वचन और काया से असत्य का सहारा लेता है, दूसरों से असत्य आचरण कराता है और असत्याचरण करके इन सब साधनों को जुटाने वाले लोगों का अनुमोदन भी करता है। जब सत्यव्रती साधक इस प्रकार करता है तो उसकी सत्य की साधना धूल में मिल जाती है। इसलिए असत्य में बलात् प्रवृत्त करने और अन्तर् वृत्ति को लुभायमान करके असत्य वचन की ओर मोड़ने वाले लोभ से सत्यमहाव्रत या सत्य-अणुव्रत की रक्षा के लिए शास्त्रकार ने इस भावना के चिन्तन-मनन और तदनुसार मनोयोगपूर्वक प्रवृत्त होने का निर्देश निम्नोक्त सूत्रपंक्तियों द्वारा किया है—'लोभो न सेवियव्वो, लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं······ य कएण न सेवियव्वो।' इसका आशय यह है कि पूर्णसत्य की प्रतिज्ञा वाले महाव्रती और स्थूलसत्यव्रत धारण करने वाले अणुव्रती श्रावक लोभ के वशीभूत हो कर अपनी सत्यप्रतिज्ञा से गिर जाते हैं। गृहस्थ श्रावक पर जब लोभ सवार होता है तो वह खेत, बाग, जमीन, मकान, सोना, चांदी, धन, धान्य, दासी-दास, लोहा, तांबा आदि अन्य (कुप्य) धातु, और बर्तन आदि घर का सामान ज्यादा से ज्यादा बढ़ाने पर आमादा हो जाता है। वह क्षेत्रादि दस प्रकार के परिग्रह की की हुई

अपनी मर्यादा की प्रतिज्ञा को ताक में रख देता है और लोभ पिशाच की प्रेरणा के अनुसार झटपट असत्य के संगी-साथी छल, कपट, झूठ, फरेब, बेईमानी, अन्याय, अत्याचार आदि का सहारा ले कर उन क्षेत्रादि को प्राप्त करने या प्राप्त क्षेत्रादि की वृद्धि करने में जुट जाता है। कई वार वह अपने नाम से उनकी प्राप्ति और वृद्धि में न लग कर अपने लड़के, दामाद, भानजे और भतीजे आदि के नाम से उक्त परिग्रह जुटाता है। इस प्रकार वह स्व-पर-वंचना करता है, जो असत्य की ही बहिन है। क्षेत्र और वास्तु इन दो पदों के द्वारा शास्त्रकार ने शेष आठ प्रकार के परिग्रहो (जो गृहस्थ के परिग्रहपरिमाण के अन्तर्गत हैं) को भी उपलक्षण से सूचित कर दिया है।

कीर्ति का लोभ तथा परिवार के पोषण का लोभ गृहस्थों को तो क्या, बड़े-बड़े साधुओं को भी हैरान कर डालता है। गृहस्थ का अपना परिवार होता है,वैसे ही साधु का भी अपना शिष्य-शिष्याओं का परिवार होता है, और वह भी अपने शिष्य-शिष्या-परिवार के पोषण के लिए नानाविध वस्तुओं को जुटाने के लोभ में असत्य का सेवन कर लेता है। अपनी कीर्ति के लोभ में आकर भरतचक्रवर्ती ने जैसे अपने प्रियभ्राता बाहुबलि को मारने के लिए चक्र चलाया था, वैसे ही गृहस्थ अपनी कीर्ति बढ़ाने के लोभ में झूठफरेब का सहारा ले कर मंत्री आदि पद, सत्ता या अन्य कोई ओहदा प्राप्त करता है। कीर्ति का चस्का लगने पर वे साधु भी सत्ताधारियों और धनाढ्यो से मिलने और अपने नाम का प्रचार करने के लिए तिकड़मबाजी करते हैं। इसी प्रकार ऋद्धि-वैभव या सत्ता की प्राप्ति के या सुख-साधनो के लोभ के वशीभूत हो कर भी साधक सत्य से डिग जाता है। इसलिए सत्यार्थी साधक के लिए शास्त्रकार का दिशानिर्देश है कि जब भी क्षेत्र, मकान, कीर्ति, परिवारपोषण, ऋद्धि, सत्ता, इन्द्रिय सुख या वस्त्र पात्र, शिष्य-शिष्या आदि का लोभ सताने लगे, तब वह इस भावना के प्रकाश मे चिन्तन करे कि जिन पर मैं लुब्ध हो रहा हूं, या जिनके लोभ का ज्वार मेरे में उमड रहा है, ये सब वस्तुएँ क्षणिक हैं, नाशवान हैं, सत्य मे डिगाने वाली है, मनुष्य को अपने संयम के रास्ते से भटकाने वाली हैं, चिंता के चक्कर मे डाल कर तंग करने वाली है। आत्मसम्पत्ति ही वास्तविक सम्पत्ति है, आत्मा में रमण करने में ही वास्तविक सुख है, सत्य का आचरण करने में ही जीवन की सफलता है। जब आत्मा में सत्य का सागर उमड़ने लगेगा, सत्य पालन की तीव्रता जागेगी, तब पदार्थों के प्रति स्वयमेव विरक्ति हो जायगी, लोभ कपूर के समान उड जायगा। वस्त्र, पात्र, औषधि, शिष्य, शिष्या, दंड, कंबल, उपाश्रय, शय्या, संस्तारक आदि अन्त तक उपकारक नही है, ये तो सिर्फ औपधि के समान हैं।

मनुष्य औषधि का सहारा तभी तक लेता है, जब तक उसके शरीर में रोग रहता है ये सब उपकरण वास्तव में अशक्त आत्मा को संयम-पालन करने में सहायता देने वाले हैं। जब आत्मा जिनकल्पी के समान सबल हो जाती है, तब इन उपकरणों का भी त्याग करके पूर्ण शान्ति का अनुभव करती है। इसलिए इनका लोभ न करना ही सत्यव्रती के लिए श्रेयस्कर है।

इसी प्रकार की निर्लोभता-भावना का पुनः पुनः चिन्तन-मनन करने से और तदनुसार लोभवृत्ति को कम करते रहने से आत्मा में निर्लोभवृत्ति के संस्कार सुदृढ़ हो जायेंगे और तब ऐसे संयमी अन्तरात्मा के हाथ लुभायमान करने वाली वस्तुओं को लेने के लिए नहीं बढ़ेंगे, पैर उन मनोज्ञ पदार्थों को ग्रहण करने के लिए चंचल व गतिशील नहीं बनेंगे, आंखें उन पदार्थों को देखने के लिए उत्सुकतापूर्वक ऊपर नहीं उठेंगी, और न मुंह ही उन पदार्थों की मांग के लिए खुलेगा। वह सत्यवीर सुसाधु सत्य का पूर्ण उपासक हो कर मोक्षनिधि को प्राप्त कर लेता है।

भयमुक्तिरूप धैर्ययुक्तनिर्भयताभावना का चिन्तन और प्रयोग—सत्य की पूर्ण उपलब्धि या साधना के लिए लोभ के बाद भय बहुत बड़ा बाधक तत्त्व है। लोभ साधक के जीवन में मीठा ठग बन कर आता है, और चुपके-चुपके साधक के जीवन में घुस जाता है; जबकि भय कड़वा बन कर साधक को आतंकित करता हुआ, तथा उसके प्राण, प्रतिष्ठा और परिगृहीत वस्तुओं के अस्तित्व को चुनौती देता हुआ आता है। इसलिए लोभ मधुर शत्रु है और भय कठोर शत्रु है। परन्तु साधक के लिए क्या कोमल, क्या कठोर दोनों प्रकार के शत्रुओं से जूझना है। जीवन में कभी-कभी ऐसे क्षण आते हैं और साधक के सामने ऐसा इहलौकिक भय उपस्थित हो जाता है कि इस संसार में मेरा कौन है? अथवा मेरा क्या होगा? मेरे पास कौन होगा? मेरे पास साधन नहीं होंगे तो क्या करूँगा? कभी अपनी साधना पर अविश्वास के कारण या शास्त्रों की आध्यात्मिक बातों पर शंका के कारण यह पारलौकिक भय उसके सामने आकर खड़ा होता है कि इतनी कष्टकर साधना के बाद भी परलोक में कुछ भी सुख न मिला तो? ये स्वर्ग-मोक्ष की बातें कोरी गप्पें निकलीं तो मेरा वहाँ क्या होगा? मरने के बाद पता नहीं मुझे सुख मिलेगा या दुःख? इसी प्रकार कभी-कभी उसके मन में अपनी या अपनी माने जाने वाली वस्तु की सुरक्षा का भय सवार हो जाता है। उसी भय के मारे व्याकुल हो कर वह संयम छोड़ने को तैयार हो जाता है। कभी-कभी उसके मन में काल्पनिक भीति पैदा हो जाती है कि मुझ पर अकस्मात् यह वृक्ष टूट पड़ा तो? यह मकान ढह पड़ा तो? मेरी टांग टूट गई तो? अचानक कोई दुर्घटना हो गई और अंगभंग हो गया तो? ये आकस्मिक भय भी साधक को बहुत सताते हैं। किसी समय अपनी जीविका—भोजन,

वस्त्रादि जीवन चलाने योग्य चीजों की प्राप्ति का भय साधक के मन को कुरेदता है। साधक इस भय की कल्पना के कारण सिहर उठता है। जरा-सी शारीरिक पीड़ा या बीमारी होते ही इस भय के मारे अधीर हो जाता है। अपकीर्ति का भय तो साधक की नस-नस में घुस जाता है। कोई क्रिया-काण्ड चाहे निष्प्राण ही हो गया हो, संयम का पोषक न रहा हो, विकासघातक एवं युगबाह्य हो गया हो, केवल दम्भवर्द्धक रह गया हो, लेकिन समाज में अपकीर्ति हो जाने के डर से उसे बदलने या उसमें संशोधन करने से वह हिचकिचाता है। अपयश के डर के मारे साधु सत्य को ठुकराते संकोच नहीं करता। मृत्यु का भय तो क्या श्रावक, क्या साधु सबके पीछे लगा हुआ है। वह मृत्यु की कल्पना से ही कांप उठता है। मृत्यु की छाया पड़ते ही भयभीत हो उठता है। और मौत का खतरा उपस्थित होने पर सत्य को छोड़ कर असत्य को भी सलाम कर लेता है। इसीलिए शास्त्रकार सत्य की सुरक्षा के लिए साधकों से स्पष्ट निर्देश करते हैं—'न भाइयव्वं भीतो····भयस्स वा ···एवं धेज्जेण भाविओ भवति अंतरप्पा ···· सूरो सच्चज्जवसंपन्नो।' इसका आशय यह है कि सत्यार्थी साधक को किसी भी प्रकार के भय से विचलित नहीं होना चाहिए। भय तो उसको लगता है, जिसके जीवन में कुछ दुर्बलताएँ हों, किसी वस्तु का ममत्व और मोह घेरा डाले बैठे हों; किसी का कर्ज चुकाना हो, या किसी से किसी वस्तु को पाने की आशा या लालसा हो। जब साधक इन सब बातों से परे है तो उसे भय किस बात का ? साथ ही भय आत्मा को तभी तक ज्यादा सताता है, जब तक उसे स्वपर का भेदविज्ञान नहीं हो जाता, स्वपर के स्वरूप को हृदयगम नहीं कर लेता। जब साधक के दिल में यह बात जम जाती है कि मैं अपने आप में आत्मा हूं, शरीर नहीं; शरीर मेरा स्वरूप नहीं है। वह प्रतिक्षण विनाशशील और अनित्य है, जब कि आत्मा अविनाशी है, नित्य है। अग्नि शरीर को ही जला सकती है, आत्मा को नहीं; पानी शरीर को ही गला सकता है, आत्मा को नहीं; शस्त्र शरीर को ही काट सकते हैं, आत्मा को नहीं; हवा शरीर को ही सूखा सकती है, आत्मा को नहीं; भूत-प्रेतादि की बाधा इस शरीर को ही हो सकती है, आत्मा तक उनकी पहुँच नहीं है; रोग-व्याधियां शरीर को ही हानि पहुंचा सकती है, आत्मा को नहीं; बुढ़ापा शरीर को ही जीर्ण-शीर्ण कर सकता है, आत्मा को नहीं; आहार-पानी आदि पुद्गलों की अप्राप्ति शरीर को ही कमजोर कर सकती है, आत्मा को नहीं। मौत शरीर का वियोग कर सकती है, आत्मा का नहीं। मेरी आत्मा तो स्वयं मेरे पास ही है। फिर मुझे डर किस बात

का ? कोई भी बाह्य पदार्थ मेरा जरा भी नुकसान नहीं कर सकते, तब मैं किस से भय करूं ? यदि मैं अकारण ही मन में काल्पनिक भय पैदा करके डरता रहूं तो मिथ्यादृष्टि मे और मुझ में क्या अन्तर रहा ? मैंने जैनशास्त्रों का अध्ययन-मनन किया, वह सब व्यर्थ हुआ ! भय के कारण मैं अपनी मानसिक—भावहिंसा क्यों करूं ? यदि मैं भय करूंगा तो मुझे असत्य का सहारा लेना पड़ेगा, आत्मिक दुर्बलता के कारण पदार्थों के मालिकों की गुलामी करनी पड़ेगी या उनसे आशा या अपेक्षा रखनी पड़ेगी। अतः हिंसा, असत्य आदि पापों के परिणामों से बचना हो तो मुझे निर्भयता धारण करनी चाहिए। जो भयभीत होता है, उस पर अनेकों भय आ कर सवार हो जाते है। यदि मैं किसी से भय करूंगा तो चारों ओर से दबाया, सताया जाऊंगा। ज्ञातादि मित्र मेरी कोई सहायता नहीं करेंगे, मेरा संयमरत्न लुट जायगा। क्योंकि जो भयभीत या डरपोक होता है, वह तप और संयम को भी भय से घबरा कर छोड़ देता है। भीरु साधक संयम के या महान् कार्य के भार को वहन नहीं कर सकता। वह सत्पुरुषों द्वारा आचरित मार्ग का अन्त तक अनुसरण नहीं करता। अतः मुझे पापकर्म के सिवा और किसी का भी भय नहीं करना चाहिए। इस प्रकार भयमुक्तिरूप निर्भयताभावना का धैर्यपूर्वक चिन्तन-मनन एवं ध्यान करने से और तदनुसार दृढ़तापूर्वक आचरण से अन्तरात्मा निर्भयता के संस्कारों से ओतप्रोत हो जाती है। फिर तो उस सुसाधु का संयम इतना बढ़ जाता है कि स्वप्न में उसके हाथपैर भय से नहीं कांपते, उसकी आँखें भय के मारे चौंधियाती नहीं, न बंद होती है, और न उसका मुंह भय के मारे असत्य बोलने के लिए खुलता है। और तब वह सत्यवीर सत्यता और सरलता की पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है।

हास्यमुक्ति वचनसंयमरूप भावना का चिन्तन और प्रयोग—सत्यमहाव्रत और सत्य-अणुव्रत दोनो के लिए हास्य बाधक है। हास्य के वशीभूत हो कर साधक कई बार मजाक मे, बात-बात में झूठ बोल देता है, अतिशयोक्ति कर बैठता है। हंसी-मजाक में कई बार वह यह भूल जाता है कि इससे दूसरों को—जिनकी हंसी उड़ा रहा हूं, उनको—कितनी पीड़ा होगी ? कई बार वह विदूषक की तरह भांड-कुचेष्टा भी कर बैठता है. उस समय वह यही सोचता है कि 'इससे लोग मेरी ओर ज्यादा आकर्षित होंगे, लोग मुझे चाहेंगे और मैं उनसे कुछ मनोज्ञ पदार्थों को भी प्राप्त कर लूंगा।' पर इसकी यह धारणा भ्रान्तिजनक सिद्ध होती है, वह हास्य के आवेश में अपनी मर्यादाओं को भी ताक में रख देता है, कामचेष्टादि भी कर बैठता है, जो कि संयम के विपरीत है। मन-वचन-काया से असंयम का आचरण करना भी भगवदाज्ञा के विपरीत होने से असत्याचरण के समान है। इसलिए परस्पर हास्य

होता है, तब वह इस प्रकार के सत्याचरण को भी ताक में रख देता है। इसलिए शास्त्रकार कहते—'''' अलियाइं असंतकाइं जंपंति हासइत्ता '' तम्हा हासं न सेवियव्वं ।' इसका आशय यह है कि वह हास्य,जिससे रागद्वेष पैदा होता है, वह परपीड़ाजनक होता है, दूसरों की मजाक करते रहने से लोग उस साधक से खीज जाते हैं और उसका भी अपमान कर बैठते है। कभी-कभी तो हसी-मजाक से भयंकर लडाई हो जाती है, क्षणभर मे पुरानी गाढ़ मैत्री खत्म हो जाती है। एक दूसरे के खून के प्यासे बन जाते हैं। कभी-कभी साधक मजाक-मजाक मे ही आपस में फूट डाल देता है, उसके साधु-समुदाय के स्वजन भी उसके मजाकिये स्वभाव के कारण असतुप्ट हो कर उससे किनाराकसी करने लगते हैं। कभी-कभी हास्य मर्मोद्घाटन करने वाला होने के कारण परस्पर वैरविरोध पैदा कर देता है। ऐसे हास्य के कारण असत्याचरण को बढ़ावा मिलता है। तथा इस प्रकार के हास्य का कटुफल भी उसे भोगना पड़ता है। यद्यपि संयम साधना के कारण वह देवगति का अधिकारी हो जाता है, लेकिन सयमी साधना मे हास्यविकार के कारण उसे नीच देवयोनि मिलती है। यानी निरतर हंसी-मजाक करने वाले भांडसरीखे साधु उस अनर्थ के कारण कांदर्पिकदेवों एवं आभियोग्य देवों मे उत्पन्न होते हैं, अथवा ये असुरजाति के व किल्विपिक देवों में पैदा होते है, वहां उन्हें नीच काम करना पड़ता है। वे वहां तिरस्कार के पात्र बनते है। कहा भी है—

'जो संजओ वि एयासु अप्पसत्थासु वट्टइ कहिंचि।
सो तव्विहेसु गच्छइ नियमा भइओ चरणविहोणो ॥'

भावार्थ—"जो साधु हो कर अनर्थकारक, लोकनिन्द्य एवं चारित्र में बाधक हसी-मजाक आदि क्रियाओं मे जरा-सी भी प्रवृत्ति करता है, वह चारित्र से भ्रष्ट हो कर आभियोग्य, कान्दर्पिक या आसुर-किल्विप आदि नीच देवों में निश्चय ही जन्म लेता है। यदि उस समय आयुबन्ध करता है तो भांड आदि अधम मनुष्यों में भी उत्पन्न होता है।"

इन सब दुष्परिणामो एवं अनिष्ट कारणों को देखते हुए सत्यमहाव्रती या सत्याणुव्रती साधक को हास्य का सर्वथा परित्याग करना चाहिए।

साधु को इस प्रकार का चिन्तन करना चाहिए कि "हास्य संसारवर्द्धक और चारित्रनाशक चेष्टा है। इससे मेरी आत्मा को कोई लाभ नही है; बल्कि इतने शुद्ध संयमपालन के साथ-साथ हास्यक्रिया करना दूध के लोटे में एक बूंद जहर डालने के समान है। मैं हास्य के वश हो कर क्यों अपने सत्य और संयम को दूषित करूं! यह तो घाटे का सौदा होगा कि मैं इतना कठोर चारित्रपालन करके भी हास्यक्रिया करके उसे सस्ती प्रतिष्ठा या प्रशंसा के भ्रम से खो दूं।" इस प्रकार

हास्यमुक्ति और वचनसंयमरूप चिन्तन के संस्कार जब अन्तरात्मा में बद्धमूल हो जायेंगे तो उस संयमी आत्मा के हाथ-पैर हास्य के लिए कोई चेष्टा नहीं करेंगे, उसके नेत्र हास्यवर्द्धक क्रिया नहीं करेंगे, उसका मुंह हास्यकारक वचन के लिए नहीं खुलेगा। वह सत्यवीर साधक सत्यता और सरलता से सम्पन्न होकर अपने साधु जीवन को सार्थक कर लेगा।

पंचभावनाओं से आत्मा को सुसंस्कृत करने का निर्देश—शास्त्रकार सत्य के पूर्ण परिपालन के लिए पूर्वोक्त पांचों भावनाओं के प्रकाश में अपने मन, वचन और काया को चारों ओर से सुरक्षित रखने पर जोर दे रहे हैं। उनका कहना है कि इन पांचों भावनाओं के प्रकाश में मन-वचन-काया को सुरक्षित रखने से यह सत्यसंवरद्वार सम्यक्‌रूप से संस्कारों में परिनिष्ठित और आचरित हो जाता है। सत्यार्थी धृतिमान् व बुद्धिमान् साधक को इन पांचभावनाओं का चिन्तनपूर्वक प्रयोग, जो कि कर्म के आगमन को रोकने वाला, कर्मप्रवाह के प्रवेश के लिए निश्छिद्र, पवित्र, असंक्लिष्ट, और समस्त जिनवरों द्वारा अनुज्ञात है; जीवन के अन्त तक सतत करना चाहिए। ऐसा करने से ही सत्यसंवर का भलीभांति आचरण, पालन, शोधन, पारण, कीर्तन, अनुपालन और आज्ञाराधन होता है।

उपसंहार—यह सारा वक्तव्य शास्त्रकार ने अपनी बुद्धि से कल्पना करके नहीं दिया है, चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर ने इसका सामान्य-विशेषरूप से निरूपण किया है, इसे सर्वप्रमाणों से सिद्ध किया है, सिद्ध भगवन्तों के शासनरूप इस प्रवचन का उन्होंने भलीभांति उपदेश दिया है, इसे मंगलमय बताया है। इसका सम्यक् पालन करने से मोक्षपद प्राप्त होता है।

इस प्रकार सुबोधिनी व्याख्यासहित श्रीप्रश्नव्याकरणसूत्र के सप्तम अध्ययन के रूप में द्वितीय संवरद्वार समाप्त हुआ।

●●

आठवां अध्ययन : अचौर्यसंवर

अचौर्यसंवर का स्वरूप

सत्यसंवरद्वार के विविध पहलुओं पर निरूपण करने के बाद अब शास्त्रकार अचौर्यसंवरद्वार पर निरूपण करते हैं, क्योंकि असत्य का त्याग चोरी (अदत्तादान) का त्याग करने पर ही सम्यक् प्रकार से हो सकता है। शास्त्रकार सर्वप्रथम सूत्रपाठ द्वारा अचौर्य का स्वरूप बताते हैं—

मूलपाठ

जंबू ! दत्तमणुण्णायसंवरो नाम होति ततियं सुव्वता ! महव्वतं गुणव्वतं परदव्वहरणपडिविरइकरणजुत्तं अपरिमियमणंत-तण्हाणुगयमहिच्छमणवयणकलुसआयाणसुनिग्गहियं,सुसंजमियमण-हत्थपायनिभि(हु)यं, निग्गंथं, णेट्ठिकं, निरुत्तं, निरासवं, निब्भयं, विमुत्तं, उत्तमनरवसभ-पवरबलवग-सुविहितजणसंमतं, परमसाहु-धम्मचरणं, जत्थ य गामागर-नगर-निगम-खेड-कव्वड-मडंब-दोणमुह-संवाह-पट्टणासमगयं च किंचि दव्वं मणिमुत्तसिलप्पवाल-कंसदूसरययवरकणगरयणमादिं पडियं पम्हुट्ठं विप्पणट्ठं न कप्पति कस्सइ (ति)कहेउं वा गेण्हिउं वा अहिरन्नसुवन्निकेण समलेट्ठुकंचणेणं अपरिग्गहसंवुडेणं लोगंमि विरहियव्वं, जंपि य होज्जाहि दव्वजातं खलगतं खेत्तगतं रन्नमंतरगतं वा किंचि पुप्फ-फल-तयप्पवाल-कंद-मूल-तण-कट्ठ-सक्करादि अप्पं च बहुं च अणुं च थूलगं वा न कप्पति उग्गहंमि अदिण्णंमि गिण्हिउं जे, हणिहणि उग्गहं अणुन्नविय गेण्हियव्वं, वज्जेयव्वो सव्वकालं

अचियत्तघरपवेसो, अचियत्तभत्तपाणं, अचियत्त - पीढ़ - फलग-सेज्जा- संथारग- वत्थ- पत्त - कंबल- दंडग - रयहरण- निसेज्ज - चोलपट्टग - मुहपोत्तिय-पायपुंछणाइभायणभंडोवहि - उवकरणं, परपरिवाओ, परस्स दोसो परववएसेणं जं च गेण्हइ, परस्स नासेइ जं च सुकयं, दाणस्स य अंतराइ(ति)यं दाणविप्पणासो, पेसुन्नं चेव मच्छरित्तं च. जेवि य पीढ-फलग-सेज्जा-संथारग- वत्थ- पाय-कंबल- मुहपोत्तिय-पायपुंछणादि(इ)-भायण-भंडोवहिउवकरणं असंविभागी असंगहरुई(ती) तवतेणे य वइ-तेणे य रूवतेणे य आयारे चेव भावतेणे य, सद्दकरे, झंझकरे, कलहकरे, वेरकरे,विकहकरे,असमाहिकरे सया अप्पमाणभोई (ती) सततं अणुबद्धवेरे य निच्चरोसी से तारिसए नाराहए वयमिणं।

अह केरिसए पुणाइं आराहए वयमिणं ? जे से उवहिभत्त-पाणसंगहणदाणकुसले, अच्चंतबालदुब्बलगिलाणवुड्ढखमके, (खवग)-पवत्ति-आयरिय-उवज्झाए, सेहे, साहम्मिके, तवस्सी-कुलगणसंघचेइयट्ठे निज्जरट्ठी वेयावच्चं अणिस्सियं बहुविहं दसविहं करेति, न य अचियत्तस्स गिहं पविसइ, न य अचियत्तस्स गेण्हइ भत्तपाणं, न य अचियत्तस्स सेवइ पीढफलगसेज्जा-संथारगवत्थपायकंबलडंडगरयहरण- निस्सेज्जचोलपट्टयमुहपोत्तिय-पायपुंछणाइ-भायणभंडोवहि-उवगरणं, न य परिवायं परस्स जंपति, ण यावि दोसे परस्स गेण्हति, परववएसेण वि न किंचि गेण्हति, न य विपरिणामेति किंचि जणं न यावि णासेति, दिन्न-सुकयं दाऊण य न होइ पच्छाताविए संविभागसीले संगहोव-ग्गहकुसले से तारिसए(ते) आराहेति वयमिणं।

संस्कृतच्छाया

जम्बू ! दत्तानुज्ञातसंवरो नाम भवति तृतीयं सुव्रत ! महाव्रतं, गुणव्रतं, परद्रव्यहरणप्रतिविरतिकरणयुक्तं, अपरिमितानन्ततृष्णानुगत-

महेच्छमनोवचनकलुषादानसुनिगृहीतं, सुसंयमितमनोहस्तपादनिभृतं,निर्ग्रन्थं, नैष्ठिकं, निरुक्तं, निराश्रवं, निर्भयं, विमुक्तं, उत्तमनरवृषभ-प्रवरबलवत्-सुविहितजनसम्मतं, प्रवरसाधुधर्मचरणं ; यत्र च ग्रामाकरनगर-निगम-खेट कर्बट-मडम्ब-द्रोणमुख-संवाह-पत्तनाश्रमगतं च किंचिद् द्रव्यं मणिमुक्ताशिला-प्रवालकांस्यदूष्यरजतवरकनकरत्नादि पतितं विस्मृतं विप्रणष्टं न कल्पते कस्यचित् कथयितुं वा गृहीतुं वाऽहिरण्यसुवर्णिकेन समलेष्टुकांचनेन अपरिग्रहसंवृतेन लोके विहर्तव्यम्। यदपि च भवेद् द्रव्यजातं खलगतं क्षेत्रगतं अरण्यान्तरगतं वा किंचित् पुष्प-फल-त्वक्-प्रवाल-कन्द-मूल-तृण-काष्ठ-शर्करादि, अल्प च बहु चाणु च स्थूलकं वा न कल्पतेऽवग्रहेऽदत्ते गृहीतुं यत्किञ्चित् ; अहन्यहनि अवग्रहमनुज्ञाप्य गृहीतव्यम्। वर्जयितव्यः सर्वकालमप्रीतगृहप्रवेशोऽप्रीतभक्तपानमप्रीतपीठ - फलक - शय्या - संस्तारक-वस्त्र-पात्र-कंबल-दंडक-रजोहरण-निषद्या - चोलपट्ट- मुखपोतिका-पादप्रोंछ-नादि भाजनभांडोपध्युपकरणं, परपरिवादो, परस्य दोषः, परव्यपदेशेन यच्च गृह्णाति परस्य नाशयति, यच्च सुकृतं दानस्य चान्तरायिकं दानविप्रणाशः, पैशुन्यं चैव मात्सरिकं च, योऽपि च पीठ- फलक- शय्या- संस्तारक- वस्त्र-पात्र - कम्बल - मुखपोतिका - पादप्रोंछनादि भाजनभाण्डोपध्युकरणं असंविभागी, असंग्रहरुचिस्तपस्तेनश्च वाक्स्तेनश्च रूपस्तेनश्चाचारे चैव भावस्तेनश्च शब्दकरः झंझाकरः कलहकरो वैरकरो विकथाकरोऽसमाधिकरः सदाऽप्रमाणभोजी सततमनुबद्धवैरश्च नित्यरोषी स तादृशो नाराधयति व्रतमिदम्। अथ कीदृशः पुनराधयति व्रतमिदम् ? यः स उपधिभक्तपानसंग्र-हणदानकुशलः, अत्यन्तबालदुर्बलग्लानवृद्धक्षपके प्रवर्त्याचार्योपाध्याये शैक्षे साधर्मिके तपस्विकुलगणसंघचैत्यार्थे च निर्जरार्थी वैयावृत्यमनिश्रितं बहुविधं दशविधं करोति, न चाप्रीतस्य गृहं प्रविशति, न चाप्रीतस्य गृह्णाति भक्तपानं, न चाप्रीतस्य सेवते पीठफलकशय्यासंस्तारकवस्त्रपात्रकम्बलदण्डकरजोहरण-निषद्याचोलपट्ट - मुखपोतिकापादप्रोञ्छनादि - भाजनभाण्डोपध्युपकरणम्, न च परिवादं परस्य जल्पति, न चापि दोषान् परस्य गृह्णाति. परव्यप-देशेनापि न किञ्चिद् गृह्णाति, न च विपरिणमयति कंचिज्जनम्, न चापि नाशयति दत्तसुकृतम्, दत्वा च न भवति पश्चात्तापिकः, संविभागशीलः संग्रहोपग्रहकुशलः स तादृश आराधयति व्रतमिदम्।

भत्तपाणसंगहणदाणकुसले) वस्त्रपात्र आदि धर्मोपकरण, भोजन व पेय पदार्थ आदि का संग्रह करने और परस्पर बांटने में कुशल है ; और (अच्चंतबाल-दुब्बल-गिलाण-वुड्ढ-खमके) अत्यन्त बालक, दुर्बल, चिरकाल के रोगी, वृद्ध तथा मासक्षपण-मासिक उपवास आदि विकट तप करने वाले तपस्वी साधु की तथा (पवत्ति-आयरिय-उवज्झाए) प्रवर्त्तक, आचार्य और उपाध्याय की (सेहे) नवदीक्षित साधु की,(य)तथा(साहम्मिके) साधर्मी साधु की, (तवस्सी-कुल-गण-संघ-चेइयट्ठे) तपस्वी, आचार्यकुल—आचार्य के शिष्य-प्रशिष्य का समुदाय, गण-गच्छ एवं संघ—चतुर्विध संघ का चैत्यार्थी—चित्त की प्रसन्नता के प्रयोजन से सेवा करने वाला,(निज्जरट्ठी) कर्मक्षय करने का अभिलाषी,(अणिस्सियं) यश.कीर्ति,सत्ता,धन आदि किसी वस्तु की कामना किये बिना किसी पर निर्भर रहे बिना (दसविहं) दस प्रकार की,(वेयावच्चं) सेवा-वैयावृत्य, बहुविहं) अनेक प्रकार से, (करेइ) करता है,(य) तथा (अचियत्तस्स) अप्रीति रखने वाले के,(गिहं) घर में,(न पविसइ) प्रवेश नहीं करता (य) और (न) नहीं,(अचियत्तस्स) अप्रीति रखने वाले का,(भत्तपाणं) आहार-पानी, (गेण्हइ) ग्रहण करता है, (य) तथा, (अचियत्तस्स) अप्रीति रखने वाले गृहस्थ के, (पीढ-फलग-सेज्जा-संथारग-वत्थ-पाय-कंबल-डंडग-रयहरण-निसेज्ज-चोलपट्टय-मुहपोत्तिय-पादपुंछणाइ-भायण-भंडोवहि-उवगरणं) चौकी, पट्टा, शय्या-मकान, तृणादि का बिछौना, वस्त्र, पात्र, कंबल, दंड, रजोहरण, आसन, चोलपट्टा, मुखवस्त्रिका, और पैर पोंछने के कपड़े आदि सामग्री, मिट्टी आदि के भाजन, पात्रादि भांड, वस्त्र मकान आदि उपधिरूप धर्मोपकरणों का (न सेवइ)सेवन नहीं करता। (य, इसी प्रकार (परस्स) दूसरे की (परिवायं) निन्दा रूप-अवगुणरूप वचन या चापलूसी के वचन (न जंपति) नहीं बोलता। (य) और (परस्स दोसे वि) दूसरों के दोषों को भी (न गेण्हइ) ग्रहण नहीं करता—देखता-ढूंढ़ता नहीं फिरता। (परववएसेण वि) वृद्ध, रोगी, चिररोगी, आचार्य आदि के बहाने से—दूसरों का नाम लेकर या दूसरों की ओट में, (न किंचि गेण्हइ) कोई भी पदार्थ ग्रहण नहीं करता—नहीं लेता। (न य) और न ही (किंचिजणं) किसी व्यक्ति का चित्त (विपरिणामेति) दानादि धर्म से विमुख करता है—यानी धर्माचरण के परिणामों से डिगाता है, (य) तथा (न वि) न ही (दिन्नसुकयं) किसी के द्वारा दिये गए दान या किये गए सुकृत-पुण्यकार्य का (णासेति) अपलाप-खण्डन करके नाश नहीं करता। (य) एवं (दाऊण) वैयावृत्यादि द्वारा योगदान करके भी (पच्छाताविए) पश्चात्ताप करने वाला (न होइ) नहीं होता। और (संविभागसीले) उपधि आदि १२ प्रकार की सामग्री का साधर्मियों को यथोचित सम्यक् विभाजन करने के स्वभाव वाला, (संगहोवग्गहकुसले) गच्छ के लिए वस्तुओं या शिष्यादि का

संग्रह करने में तथा भोजन-अध्ययन आदि अवलम्बनों से उनका उपकार करने में कुशल (तारिसए) इसी प्रकार का (से) वह योग्य साधक (इणं वयं) इस व्रत का (आराहते) आराधन-सेवन कर सकता है।

मूलार्थ—श्री गणधर सुधर्मास्वामी अपने प्रधान शिष्य श्री जम्बू स्वामी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—'हे उत्तमव्रत के धारक जम्बू! तीसरा दत्तानुज्ञात नामक संवरद्वार है। यह महाव्रतरूप है, अनेक गुणों का कारणभूत व्रत है, दूसरों के द्रव्य-पदार्थ का हरण- बिना दिये ग्रहण करने – उड़ा लेने के त्यागरूप क्रिया से युक्त है, असीम तथा अनन्त तृष्णा के पीछे-पीछे चलने वाली मन की बड़ी-बड़ी इच्छाओं से कलुषित-दूषित मन और वचन से दूसरों की चीज को बुरे इरादे से ग्रहण करने का इससे भलीभांति निग्रह-नियंत्रण हो जाता है। इस संवर द्वारा मन को भलीभांति काबू में— अंकुश में किए जाने से हाथ-पैर परधनहरण करने, हड़पने आदि अकार्यों से रुक कर निश्चल हो जाते हैं। यह संवर धनादि बाह्य परिग्रह एवं ममत्व कषाय आदि अन्तरंग परिग्रह की गांठ से रहित है। यह समस्त धर्मों की पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ है अथवा अहिंसादि सब धर्मों में निष्ठा जमाने वाला है, सर्वज्ञदेव ने उपादेयरूप से इसका निरूपण किया है। यह आते हुए कर्मों को रोकने वाला है, राजादि का भय इसमें नहीं होता, यह लोभ-दोष से मुक्त है। सर्वोत्तम मनुष्यों, अत्यन्त बलशाली पुरुषों एवं शास्त्रोक्त विधिपूर्वक आचरण करने वाले साधुओं द्वारा यह सम्मत है, या सम्मानित है, उत्कृष्ट मुनिजनों का यह धर्माचरण है।

इस (अचौर्य संवरव्रत) में गांव, खान, शहर, व्यापारी मंडी, धूल के कोटवाली बस्ती, कस्बे, चारों ओर ढाई-ढाई कोस तक बस्ती से शून्य नगर या गांव, बंदरगाह, दुर्ग, महानगर (पट्टन) और आश्रम में पड़ी हुई मणि, मोती, शिला, मूंगा, कांसा, वस्त्र, चांदी, सोना और रत्न आदि कोई वस्तु गिरी हुई, भूली हुई या खोई गई हो, उसे किसी असंयमी को बताना या बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करना चोरी है, इस लिहाज से उसे स्वयं उठा लेना साधु के तृतीय महाव्रत की दृष्टि से उचित नहीं है। संयमी साधु के पास सोना-चांदी नहीं होता है, इसलिए वह पत्थर और सोने को समान समझते हुए तथा अपरिग्रही होने से अपनी इन्द्रियों को नियंत्रण में रखते हुए लोक में विचरण करे। संयमी के लिए खलिहान में पड़े हुए, खेत में

पड़े हुए किसी द्रव्य का तथा जंगल में रहे हुए फूल, फल, छाल, कोमल पत्ते, कंद, मूल, तिनका, लकड़ी तथा कंकर-पत्थर आदि किसी भी वस्तु का चाहे वह थोड़ी हो या ज्यादा, छोटी हो या बड़ी, किसी भी स्थान पर हो बिना दिये या उसके स्वामी की आज्ञा लिये बिना ग्रहण करना सर्वथा निषिद्ध है।

अचौर्य महाव्रती साधु को उपाश्रय—धर्मस्थान में रही हुई वस्तु का ग्रहण या उपयोग भी वहां के स्वामी या अधिकारी की प्रतिदिन आज्ञा लिए बिना नहीं करना चाहिए। साधुओं के प्रति अप्रीति रखने वाले घर में कदापि प्रवेश नहीं करना चाहिए। अप्रीति रखने वाले के यहां से आहार-पानी या अप्रीतिकारी की चौकी, पट्टा, शय्या-उपाश्रय या धर्मस्थान, तृणादि का बिछौना, वस्त्र, पात्र, कंबल, दंड, रजोहरण, आसन, चोलपट्टा, मुख-वस्त्रिका, पैर पोंछने का कपड़ा आदि भाजन-भांड-उपधिरूप धर्मोपकरण-सामग्री लेना भी योग्य नहीं है। जो साधु दूसरों की निन्दा करता है या दूसरों के सामने मिथ्या डींगें हांकता है, दूसरे के दोष देखता है या दोषों की चर्चा करता रहता है, आचार्य, चिररोगी, वृद्ध आदि दूसरे साधुओं के बहाने से या दूसरे साधुओं की ओट में जो साधु मनोज्ञ वस्तु खुद ले लेता है, या परस्पर सम्बन्ध का नाश करा देता है, कोई सुकृत दूसरे ने किया है, उसका अपलाप करके जो साधु उसे नष्ट करा देता है, दान देने में अन्तराय डालता है तथा दान का अपलाप करके या उसका निषेध करके उसका लोप करता है, दूसरे की चुगली खाता है, डाह से जलता रहता है और जो चौकी, पट्टा, शय्या, बिछौना, वस्त्र, पात्र, कंबल, मुखवस्त्रिका, पादप्रोंछन आदि धर्मोपकरण सामग्री का साधुओं को यथोचित विभाजन नहीं करता है, जो गच्छ के लिए उपकारक के रूप में प्राप्त वस्तुओं का संग्रह करने में कुशल नहीं है, जो तपस्या का चोर है, वचन का चोर है, रूप का चोर है तथा आचार का चोर है और भाव का चोर है, जो रात को जोर-जोर से चिल्लाता है अथवा गृहस्थों की-सी भाषा बोलता है, संघ या व्यक्तियों में आपस में फूट डाल देता है, कलह करता है, वैर-विरोध करता है या वैर पैदा करने वाला उपदेश देता है, जो स्त्री आदि की चटपटी कामोत्तेजक विकथाएं करता है, चित्त में असमाधि-उद्वेग पैदा करता है या

स्वयं कर लेता है, जो सदा प्रमाण से अधिक भोजन करता है, जो परम्परागत वैरभाव निरन्तर बनाये रखता है, तीव्र क्रोधी है, ऐसा जो साधु है, वह इस अचौर्यव्रत का आराधक नही है। यानी ऐसा साधक इस अचौर्यव्रत का आराधन-पालन नही कर सकता।

तब फिर कौन-सा साधक इस व्रत की आराधना कर सकता है? वही साधु, इस व्रत की आराधना कर सकता है, जो वस्त्र-पात्र आदि उपकरण और भोजन-पान आदि का सग्रह करने और उन्हें यथोचितरूप से साधुओं को बांटने मे कुशल है। अत्यन्त बालक, दुर्बल, चिररोगी, वृद्ध एवं मासक्षपण आदि घोर तपश्चरण करने वाले तपस्वी की, प्रवर्त्तक, आचार्य और उपाध्याय की, नवदीक्षित साधु की, साधर्मी साधुओं की तथा तपस्वी, आचार्यकुल, वृद्ध साधु की शिष्य परम्परा के साधु-साध्वीगण, संघ (साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ) की चित्त की प्रसन्नता के लिए कर्मों की निर्जरा का अभिलाषी जो साधु यश आदि की कामना से रहित होकर दस प्रकार की सेवा-वैयावृत्य अनेक प्रकार से करता है, तथा अप्रीति रखने वाले घर में प्रवेश नही करता, तथा अप्रीति रखने वाले की चौकी, पट्टा, मकान, तृणादि का बिछौना, वस्त्र, पात्र, कंबल, दंड, रजोहरण, आसन, चोलपट्टा, मुखवस्त्रिका, पैर पोंछने का कपड़ा आदि विविध उपकरण सामग्री का सेवन-उपभोग नहीं करता, जो दूसरे की निन्दा के वचन या अपनी मिथ्या प्रशंसा के वचन नहीं बोलता, जो दूसरे के दोष नही देखता या नहीं प्रगट करता, जो आचार्य, रोगी, वृद्ध आदि दूसरे साधुओं के बहाने से (नाम ले कर) कोई वस्तु ग्रहण नही करता, किसी को धर्मभावना से विमुख नहीं करता, किसी के द्वारा दिये गये दान या किये गए सुकृत का अपलाप करके जो उसका नाश नहीं करता, बल्कि दूसरे के गुणों को तथा दान-धर्म आदि सुकृत्य के गुणों को प्रगट करता है, अपने द्वारा किये गए उपकार-सेवा आदि के रूप में दिये गए योगदान का पश्चात्ताप नहीं करता, तथा जो साधुओं को आहारादि वस्तुओं का यथोचित संविभाग करने के स्वभाव का है, जो गच्छ के लिए उपकारी वस्तुओं का या शिष्यों का संग्रह करने तथा उन्हें भोजन-वस्त्र या अध्ययन आदि उपकार से संतुष्ट करने में दक्ष है, ऐसा साधु ही इस अचौर्य महाव्रत का आराधक हो सकता है।

व्याख्या

सातवें अध्ययन में सत्यसंवरद्वार का वर्णन कर चुकने के पश्चात् अब आठवें अध्ययन के प्रारम्भ में अचौर्यसंवरद्वार का स्वरूप, अचौर्य के पालनकर्ताओं एवं पूर्ण आराधकों को मन, वचन और काया से भी चौर्यवृत्ति से कैसे निवृत्त होना चाहिए ? अचौर्यसंवर के पूर्ण साधक को मौका आने पर किसी भी वस्तु के लेने की इच्छा होने पर हाथ और पैरों को कैसे संयम में रखना चाहिए ? इन और ऐसे ही विभिन्न पहलुओं से अचौर्यसंवर पर विशद वर्णन शास्त्रकार ने किया है। यद्यपि मूलार्थ और पदान्वयार्थ से इस सूत्रपाठ का अर्थ तो स्पष्ट हो जाता है, लेकिन कतिपय स्थलों पर शास्त्रकार का आशय स्पष्ट करना आवश्यक समझ कर नीचे उन स्थलों पर हम विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

अचौर्य के विभिन्न पर्यायवाची शब्द और उनके अर्थ—अचौर्य शब्द के इसके अलावा तीन और पर्यायवाचक नाम मिलते हैं—(१) अदत्तादानविरमण, (२) अस्तेय या अस्तेनक, (३) दत्तानुज्ञात।

अचौर्य—का अर्थ सामान्यतया चोरी न करना ही होता है, परन्तु यह तो इसका स्थूलरूप से अर्थ है। क्योंकि ऐसी चोरी, जिसमें पकड़े जाने पर चोरी करने वाला सरकार द्वारा दण्डित होता है, जनता में निन्दित होता है, उसका त्याग तो गृहस्थ श्रावक क्या, मार्गानुसारी भी करता है। सात कुव्यसनों के त्याग में चोरी करने का त्याग तो आ ही जाता है। इसलिए पंचमहाव्रती साधु के लिए जब अचौर्य-महाव्रत का विधान है तो वहां प्रसंगवशात् उसका अर्थ इस प्रकार हो जाता है—मन, वचन, काया से चोरी करना नहीं, चोरी कराना नहीं और चोरी करने वाले का अनुमोदन न करना। मन से चोरी तब होती है, जब साधक अपने मन के भावों को छिपाता है, अथवा दूसरे के विचारों पर अपनी छाप लगा देता है कि ये विचार सर्वप्रथम मेरे मन में स्फुरित हुए थे। अथवा मन में भी वीतराग देवाधिदेव शासन-पति तीर्थंकर महावीर या गुरुदेव की सर्वहितकारी आज्ञा के विपरीत चलने की भावना प्रस्फुटित हुई हो या मन में किसी वस्तु को अपनी बनाने की भावना पैदा हुई हो। मन से कृत की तरह कारित और अनुमोदित चोरी का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। वचन से चोरी [illegible] है—जब [illegible] को प्रगट न करके छिपाया जाता है, [illegible] या अच्छाई [illegible] जाता है, केवल दूसरों के दोष ही [illegible], अथवा किसी [illegible] वचन में घुमा-फिरा कर इस प्रकार [illegible] भी न प्रगट [illegible] बात को भी छिपा [illegible] जाए। जैसे [illegible] ने पर कि [illegible]

हैं ?' चट से उत्तर में इस प्रकार कहे कि 'साधु तो क्षपणक तपस्वी ही होते हैं।' इसी प्रकार वचन से उच्च आचारी या क्रियारुचि होने के बारे में किसी से पूछे जाने पर गोलमोल जवाब दे,जिससे असत्य भी साबित न हो और असली बात भी छिपा ली जाय , तो वहाँ भी वचनचौर्य है। इसी प्रकार वचन से दान, शील, तप आदि धर्मों या सुकृत्यों के बारे मे निषेध करे, खण्डन करे, या 'इनमें क्या रखा है ?' इस प्रकार से उपेक्षापूर्वक बोले, या सिद्धान्त के विपरीत जानबूझ कर किसी बात की प्ररूपणा करे। यह सब शासनाधीश भगवान महावीर के सिद्धान्तों का अपलाप होने से वाक्-चोरी माना जाता है। कृत और कारित वाक्चोरी तो स्पष्ट ही है। कायिक चोरी तो संसार मे प्रसिद्ध है। किसी की गिरी हुई, विस्मृत या खोई हुई या कही रखी हुई वस्तु को अपने कब्जे मे करना, अपने अधिकार की बताना, या अपने उपयोग मे ले लेना, दूसरों के लिखे हुए लेख-कविता या ग्रन्थ आदि तथा दूसरों के किये हुए कार्य या उपकार पर अपने नाम की छाप लगाना, किसी के द्वारा किये गए उपकार को भूल जाना, उसका नाम छिपाना भी कायिक चोरी ही है।

इस प्रकार मन, वचन और काया से चोरी का सर्वथा त्याग करना अचौर्य है।

अदत्तादान विरमण का अर्थ भी यही है कि किसी के अधिकार या स्वामित्व की चीज को उसके द्वारा स्वयं दिये बिना, स्वीकृति या अनुमति दिये बिना ग्रहण कर लेना या अपने उपयोग में ले लेना, अथवा अपने अधिकार या कब्जे में कर लेना ; अदत्तादान है और ऐसे अदत्तादान से मन, वचन, काया से विरत होना अदत्तादान विरमण है। शास्त्र में ऐसे अदत्त मुख्यतया ५ (पाँच) बताए हैं—देव-अदत्त, गुरु-अदत्त, राज-अदत्त, गृहपति-अदत्त, और सहधर्मी-अदत्त। देव से यहाँ देवाधिदेव अर्थ विवक्षित है। देवाधिदेव तीर्थंकरों की ओर से साधु के लिए ऐसा विधान है कि मिट्टी, कंकर, पत्थर, तिनका आदि चीजें जंगल में पड़ी हों; शौच या पेशाब-परिष्ठापन के लिए किसी की मालिकी से अज्ञात भूमि हो ; उक्त चीजों की साधुसाध्वी को जरूरत हो तो वहाँ शक्रेन्द्र देव की आज्ञा लेकर उसका ग्रहण या उपयोग करना चाहिए। किसी के मकान में साधु को निवास करना हो या कहीं बैठ कर उस जगह का, या उस जगह में पड़े हुए पट्टे, चौकी आदि साधु के योग्य चीजों का उसे उपयोग करना हो तो उसके मालिक की या मालिक ने जिसे वह जगह संभालने या देख रेख करने के लिए सौंप रखी हो, उसकी आज्ञा लेनी चाहिए। इसके विपरीत आचरण देवअदत्त है।

गुरु-अदत्त से मतलब है, गुरु के दिये बिना या गुरु ने जिस चीज की मनाही

कर रखी हो, उसके बारे मे उनकी अनुमति लिए बिना उस चीज का ग्रहण या सेवन करना।

जिस राष्ट्र में साधु विचरण कर रहा है, या वहाँ से नये किसी राष्ट्र में विचरण करना चाहता है, तो वहाँ की सरकार या शासक की सहमति के बगैर विचरण करना राजा-अदत्त है। गृहपति-अदत्त का अर्थ तो स्पष्ट ही है। सहधर्मी अदत्त भी स्पष्ट है कि जो अपने समानधर्मी साधु हों, उनकी भी किसी चीज को अपने उपयोग या सेवन के लिए अनुमति के बगैर ले लेना या सेवन करना। किसी साधु के शिष्य को बहका कर उसकी अनुमति या सहमति के बगैर अपना शिष्य बना लेना भी सहधर्मी अदत्त है।

मतलब यह है कि इन सब प्रकार के अदत्तों से मन-वचन-काया से कृत, कारित अनुमोदनरूप से सर्वथा विरत होना अदत्ता-दान विरमण है।

यद्यपि दत्तानुज्ञात में,अदत्तादान विरमण के सभी अर्थ समाविष्ट हो जाते हैं। तथापि यहाँ मूलपाठ में 'दत्तानुज्ञात' शब्द ही प्रयुक्त किया है, इसलिए इसमें कुछ विशेष अर्थ शास्त्रकार ने ध्वनित किया है। इसमें दो शब्द हैं—दत्त और अनुज्ञात। दत्त शब्द में गृहस्थ के द्वारा भक्तिभावपूर्वक दिये गए उन पदार्थों का समावेश हो जाता है, जिनका सेवन या उपभोग एक ही बार किया जा सके, जैसे—रोटी, साग, मिठाई, दूध-दही,घी आदि। और अनुज्ञात शब्द उन पदार्थों के लिए ग्रहण किया गया है, जिनका उपयोग बार-बार किया जा सकता है, ऐसी चीजों के उपयोग करने की गृहस्थ द्वारा भक्तिपूर्वक अनुज्ञा या अनुमति दी गई हो, जैसे—पट्टा, चौकी, मकान आदि। मतलब यह है कि दाता के द्वारा दत्त और अनुज्ञात साधु जीवन के योग्य पदार्थों का ग्रहण या सेवन करना दत्तानुज्ञात संवर कहा जाता है। इसी अर्थ को शास्त्रकार ने स्पष्ट किया है—'जत्थ य गामागरनगर ⋯ पडियं पम्हुट्ठं विप्पणट्ठं न कप्पति कस्सइ कहेउं वा ⋯ जंपि य दव्वजातं ⋯ न कप्पति उग्गहंमि अदिण्णंमि गिण्हिउं जे ⋯⋯ अणुन्नविय गेण्हियव्वं।' इन सब पंक्तियों का अर्थ पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

अस्तेय और अस्तेनक के अर्थ भी अचौर्य के समान ही हैं।

अप्रीति रखने वाले से ग्रहण का निषेध क्यों?—पहले यह बताया गया है कि साधु दत्त और अनुज्ञात वस्तुओं का ही ग्रहण या सेवन करे; लेकिन आगे शास्त्रकार कहते हैं कि अप्रीति रखने वाले से तो दत्त और अनुज्ञात पदार्थ भी न ले और न उपभोग करे। प्रश्न होता है, ऐसा विधान क्यों? इसका समाधान यह है कि साधु प्रीति और श्रद्धा से दिये हुए रूखे-सूखे आहारादि को ही सर्वोत्तम मानते हैं। अश्रद्धा और अप्रीति-पूर्वक दिये गए [illegible] को तुच्छातितुच्छ समझते हैं।

इसलिए अप्रीतिपूर्वक देना वास्तव में देना नहीं है, फेंकना है। अगर अप्रीतिवाला दाता शर्माशर्मी या किसी के दबाव से दे भी दे, पर बाद में निन्दा करने या कभी कोई झूठा इलजाम किसी साधु पर लगा देने अथवा साम्प्रदायिक द्वेषवश श्रमणों को जहर मिलाकर भोजन देने आदि की भी संभावना है। इससे धर्म की अपभ्राजना होने या साधु के पथभ्रष्ट होने की भी सभावना है। चौकी, पट्टे, मकान आदि किसी गाँव में प्रेमपूर्वक किसी के द्वारा न मिलने पर साधु को कुछ शारीरिक कष्ट जरूर सहना पड़ेगा, लेकिन अप्रीति रखने वाले गृहस्थ के पास जाकर याचना करने से तो साधु की खुद की आत्मा में ग्लानि पैदा होगी ; दीनभावना पैदा होगी। आत्मा का भी पतन होने की संभावना है। इसी उद्देश्य को लेकर शास्त्रकार स्पष्ट कहते हैं— 'वज्जेयव्वो सव्वकालं अचियत्तघरपवेसो अचियत्तभत्तपाणं ''' न य अचियत्तस्स गिहं पविसइ, न य अचियत्तस्स गेण्हई ''''''न य अचियत्तस्स सेवई ''' '''उवगरणं।' इसका अर्थ पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

अचौर्यव्रत का माहात्म्य—अचौर्यव्रत इतना महान् है कि इसे जीवनव्यवहार में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। इसका प्रभाव साधक जीवन के सभी व्यवहारों, आदतों, वृत्तियों और संस्कारों पर पड़े बिना नहीं रहता। साथ ही मानव जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक आदि सभी क्षेत्रों पर भी इस व्रत का प्रभाव पड़ता है। सर्वक्षेत्र-स्पर्शी होने के अतिरिक्त यह सर्वप्राणिव्यापी और सार्वभौम होने से बहुत ही व्यापक है। इसी कारण इसे 'महाव्रत' कहा है। साथ ही इहलौकिक और पारलौकिक गुणों में कारणभूत होने से इसे गुणव्रत भी बताया गया है। साथ ही यह व्रत सभी धर्मों के साथ सम्बद्ध होने से उनकी पराकाष्ठा तक को यह स्पर्श करता है। क्योंकि अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का भी तभी भलीभांति पालन होगा, जब साधु के जीवन में मन-वचन-काया से अचौर्यवृत्ति आ जाएगी, इसलिए इसे 'नैष्ठिकव्रत' भी कहा है। निराश्रव तो इसलिए है, कि जब अचौर्य का पालन होगा तो कर्मों के आगमन के मूल कारण अवरुद्ध हो जायेंगे। निर्ग्रन्थता का यह साकाररूप है। क्योंकि साधक के मन में उठने वाली असीम इच्छाएँ और अनन्त तृष्णाएँ मन और वचन दोनों को कलुषित बना देती हैं, और हाथ पैरों को भी मनोवांछित पदार्थ को लेने के लिए विक्षुब्ध बना देती है। परन्तु जब साधु के जीवन में अचौर्य महाव्रत आ जाता है, तो उसकी असीम तृष्णाओं के पीछे-पीछे चलने वाली इच्छाओं का निग्रह हो जाता है, हाथ-पैर भी नियंत्रित और शान्त हो जाते हैं, मन और वचन भी शान्त होकर एकमात्र आत्मशान्ति और संतोष के साम्राज्य में तल्लीन हो जाता है। मनुष्य की इच्छाएँ जब बढ़ जाती हैं और वे तृष्णा का रूप ले लेती हैं तो उसका चित्त चंचल हो जाता है और हाथ-पैर उस चीज को पाने के लिए सचेष्ट हो

उठते हैं। जब न्याय-नीतियुक्त तरीके से मनोज्ञ पदार्थ नही मिलता तो वह अनैतिक उपाय अपनाता है उसी का नाम चोरी है। इसलिए इस महाव्रत को धारण करने पर तृष्णाओं और इच्छाओं पर रोक लग जाती है; मन, वचन,हाथ,पैर आदि सब नियंत्रित हो जाते हैं। तब स्वाभाविक है कि साधक बाह्य और आभ्यन्तर रूप से निर्ग्रन्थ बन जाता है। आत्मा जब परिग्रह के बोझ से हलका हो जाता है, तब वह अपने चारित्र धर्म की चरमसीमा में स्थित हो जाता है। तब वह साधक परद्रव्यग्रहण से विमुख हो जाने से लोभमुक्त और राजा आदि के भय से भी मुक्त बन जाता है। इसी बात की साक्षी शास्त्रकार देते हैं—"महव्वतं गुणव्वतं परदव्व ··· विमुत्तं।"

कुछ शंकाएँ और उनका समाधान—यह ठीक है कि बिना दिया हुआ या दूसरे के स्वामित्व का पदार्थ उसकी इच्छा, अनुमति या आज्ञा के बिना लेने या उसका उपभोग करने से चोरी का दोष लगता है, किन्तु दूसरों की निन्दा करने से, दूसरों के दोष प्रगट करने से, चुगली खाने से, ईर्ष्या करने से या दान में अन्तराय डालने या दान या सुकृत का अपलाप करने से कैसे चोरी का दोष लग जाता है?

इन सबका समाधान वृत्तिकार निम्नोक्त गाथा द्वारा करते हैं—

"सामी जीवादत्तं तित्थयरेणं तहेव य गुरुहिंति"

अर्थात्—'जो वस्तु उसके स्वामी से प्राप्त नहीं हुई है तथा जिसकी आज्ञा तीर्थंकरों ने और गुरुओं ने नही दी है, उसका उपयोग करना चोरी है।'

किसी की निन्दा करना, किसी के दोष देखना या प्रगट करना, चुगली खाना, ईर्ष्या-डाह करना या दान में अन्तराय डालना या भगवत्प्ररूपित सिद्धान्तों का अपलाप करना तथा तीर्थंकर भगवान्, गुरु आदि की आज्ञा या अनुमति के विपरीत आचरण करना, इन सबको चोरी कहा है। यह द्रव्यचोरी नही, भावचोरी है।

एक और पहलू से इस पर सोचा जाय तो यह प्रतीत हो जायगा कि वास्तव में ये बातें चोरी के अन्तर्गत हैं। चोरी का एक अर्थ दूसरे के अधिकारों का अपहरण करना भी होता है। यद्यपि दान में अन्तराय डालने वाले ने वर्तमान में किसी प्रकार का अपहरण नहीं किया, लेकिन भविष्य में जिसे वह वस्तु मिलने वाली थी, उसके अधिकार का अपहरण तो करता ही है। चूंकि साधु चोरी करने, कराने तथा अनुमोदन करने का सर्वथा त्याग करता है। इस दृष्टि से दान देते हुए को बहकाकर रोकने वाला साधु, भविष्य में जिसे दान मिलने वाला था, उसके अधिकार का अपहरण करने वाला होने से चोरी का भागी माना जाता है। अथवा दाता सुपात्र को दान देकर स्वर्गादि के कारणभूत, जिस अपूर्व पुण्य को प्राप्त करने वाला था, उसमें

अपहरण का कारण होने से चोरी का भागी होता है। इसी प्रकार दान का अपलाप करने वाला भी इस दान से दाता को प्राप्त होने वाले यश का अपहरण करता है।

निःस्वार्थ सेवा से अनायास अचौर्य की आराधना अचौर्यव्रत की आराधना करने वाले को अपनी उद्दाम इच्छाओं, आशाओं, स्पृहाओं या बदले में कुछ चाहने की वृत्ति को तिलाञ्जलि देनी पड़ती है। इस प्रकार की अचौर्य की आराधना सहज, सरल और आनन्दपूर्वक हो जाती है। शास्त्रकार ने अचौर्य-आराधना को सरलतम बनाने के लिए वैयावृत्य—सेवा करने का उल्लेख किया है—"अच्चंत बाल-दुब्बल-गिलाण-बुड्ढ ··· निज्जरट्ठी वेयावच्चं अणिस्सियं बहुविहं दसविहं करेति।" इसका अर्थ स्पष्ट है। केवल कुछ पदो का स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

प्रवृत्ति या प्रवर्ती—प्रवर्तक[1] उसे कहते है—जो सघ का हितैषी अनुभवी साधु हो। प्रवर्तक साधु साधुओ की योग्यता देखकर उन्हे तप, सयम और योग मे प्रवृत्त करता है, और अयोग्य जान कर कुछ को तप आदि से निवृत्त करता है।

जो स्वयं व्रताचरण करते हैं, दूसरों से व्रत का आचरण करवाते है, संघ का संचालन, रक्षण आदि करने मे जो समर्थ हैं तथा आगम के रहस्यज्ञ होते हैं, वे साधुश्रेष्ठ आचार्य कहलाते हैं।

आगम के अर्थ का जो गुरुमुख से अध्ययन करते हैं, उसके असली रहस्य को समझते हैं, दूसरों को अध्ययन करवाते हैं, वे समाहितचित्त साधुरत्न उपाध्याय कहलाते हैं।

नवदीक्षित को शैक्ष, समान वेष और समान धर्मानुयायी को साधर्मी, बेला-तेला आदि तथा आतापन योग आदि तप करने वाले को तपस्वी कहते हैं। गच्छ के समुदाय को या एक आचार्य की शिष्य परम्परा को कुल कहते हैं। कुलसमूह को या वृद्ध साधुओं की शिष्य परम्परा को गण कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि निर्जरा—कर्मक्षय का कारण एवं अपना कर्तव्य समझकर बदले में कीर्ति,पद या किसी वस्तु की आकांक्षा न रखकर आहार-पानी,वस्त्र-पात्र आदि तथा अन्य अनेक तरह से इन अलग-अलग कोटि के साधुओं की अम्लान भाव से सेवा करने वाला साधु अनायास ही अचौर्यव्रत की आराधना कर लेता है। क्योंकि अहर्निश सेवा में रत रहने वाले साधु की अपनी ख्वाहिशें या इच्छाएँ स्वतः ही कम हो जाती हैं।

---

१. 'तव संजमजोगेसु जो जोगो तत्थ तं पवत्तेइ।
असहं च नियत्तेइ गणतत्तिलोपवित्ती उ ॥१॥'
प्रवर्ती या प्रवर्तक का लक्षण इस गाथा से स्पष्ट है।

—संपादक

अचौर्य संवर का अनाराधक कौन व आराधक कौन ?—शास्त्रकार ने एक बात का स्पष्ट निर्देश किया है कि किस प्रकार का साधु अचौर्य का सम्यक् आराधक हो सकता है ? और कौन इसका विराधक बनता है। वास्तव में आराधना-विराधना का दारोमदार वस्तु के ग्रहण करने या न करने पर निर्भर नहीं है। जहाँ साधक की दृष्टि और वृत्ति निर्लोभी और परोपकारी, पर-हितैषिणी, निःस्वार्थ सेवा एवं दूसरों को दान देने की बन जाती है, वहाँ व्यक्ति को अपने लिए नहीं, अपितु साधु-समूह के लिए संग्रह करना और साधुओं को यथोचित व भली-भाँति वितरित करना, दोष नहीं, गुण बन जाता है। यही अचौर्य की आराधकता है। अचौर्य वृत्ति वाला साधु अपने आपको संघ और गुरु के चरणों में जब समर्पण कर देता है तो उसे अपने लिए खाने, पीने तथा वस्त्र-पात्र आदि चीजों की कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती। वह आत्मसंतुष्ट, आत्मतृप्त और अलमस्त बन जाता है। और किसी प्रशंसा आदि के बदले की भावना के बिना निःस्वार्थ भाव से रोगी, वृद्ध, आचार्य आदि की विविध प्रकार से सेवा करता है। कोई वस्तु न मिले तो उसे प्राप्त करने की चिन्ता नहीं होती और मिल जाय तो उसे अधिकाधिक संग्रह की भी इच्छा नहीं होती। उसका जीवन सहज-भाव में चलता रहता है। वह किसी चीज के न मिलने पर किसी दाता या अन्य साधक की निन्दा नहीं करता और मनोज्ञ वस्तु के मिल जाने पर अपने भाग्य का बखान नहीं करता। साथ ही उसकी निर्लोभता इतनी बढ़ जाती है कि वह अपने लिए किसी अप्रीतिकर घर से या व्यक्ति से आहार, पानी या वस्त्रपात्रादि उपकरणों की याचना करने नहीं जाता, न कभी आचार्य, उपाध्याय, ग्लान, चिररोगी आदि के नाम से या इनके बहाने से कोई भी वस्तु ग्रहण ही करता है, न किसी को दानादि धर्म के आचरण से विमुख करता है, दान और सुकृत का अपलाप भी नहीं करता। न ही अपने साधर्मियों की सेवा आदि करने के बाद उसे कोई पश्चात्ताप होता है। उसे कभी अकेले अपने लिए किसी चीज को अलग रखने का कोई मोह नहीं होता। वह किसी भी चीज पर आसक्ति रख कर अपने लिए संग्रह नहीं करता। वह तो साधुओं में से जिस साधु को भी साधु-योग्य किसी चीज की जरूरत हो, उस साधु को उदारता पूर्वक दे देता है। उसके स्वभाव में ही अपने लिए संग्रह करना नहीं होता। वह यथोचित वस्तुओं का संग्रह करने एवं उपकार करने में कुशल होता है। यही अचौर्य व्रत के आराधक की निशानी है। अचौर्य व्रत की मस्ती उसके मन, चेहरे और शरीर पर झलकती रहती है।

परन्तु अचौर्य के अनाराधक में ठीक इससे उलटी वृत्ति और चेष्टा मिलती है। वह किसी साधु की सेवा किये बिना ही, आचार का सम्यक् पालन किये बिना ही, दीर्घ तपस्या किये बिना ही नाम लूटना चाहता है। उसके मन में यही भावना बनी रहती है कि आज कहाँ से, कौन-सी चीज लाऊँ ? वह तपस्या, आचार, वचन, रूप

और भाव का चोर बन जाता है। वेश बदल कर या अच्छे कपड़े पहिन कर, बन ठन कर तथा वचन से लोगों को चकमे मे डाल देता है। लोगों को क्रियाकाण्ड बता कर धूर्तता करता रहता है। जो लोग क्रिया-पूजक या वेषपूजक होते है, वे प्रभावित होकर उसे अच्छी-अच्छी खाने-पीने की चीजे दे देते है। वह अपने लिए तो अच्छी-अच्छी चीजें खूब बटोर कर ले आता है, लेकिन संघ के साधुओ के लिए जरूरत के अनुसार सग्रह करने और उन्हें बांटने की उसकी रुचि नही होती। सविभाग भी वह ठीक से नहीं करता। वह अपना बड़प्पन जमाने के लिए दूसरे साधुओ की अथवा दाताओ की निन्दा करता है। दूसरे साधुओ के दोष गृहस्थो के सामने प्रगट करके वह अपनी उत्कृष्टता का सिक्का जमा कर लोगों से अच्छी-अच्छी वस्तुएँ प्राप्त करना चाहता है। और जब इस प्रकार से अच्छी वस्तुएँ ज्यादा तादाद मे नही मिलती तो वह रोगी, वृद्ध, आचार्य, गुरु या उपाध्याय आदि के नाम से अच्छी-अच्छी चीजें लाकर स्वयं उनका उपभोग या सेवन करता है। बल्कि कभी-कभी लोगों को वह दूसरों को दान देते देखता है, या किसी सत्कार्य या धर्म कार्य को करते देखता है तो ईर्ष्या या द्वेष के मारे दान की निन्दा करने लगता है, न देने को कहता है, दूसरों को दान देने में विघ्न डालता है। साथ ही वह ईर्ष्या से जल-भुन कर साधुओं की चुगली खाता है,डाह करता है, परनिन्दा का प्रकरण छेड देता है, अथवा दूसरे के गुणों को, उपकारों को ढक कर चुन-चुन कर उनके दोषों को ही प्रगट करता है। वह भी इसलिए कि मुझे ही गृहस्थों से बढ़िया चीजे मिला करें। इस प्रकार वह चिल्लाता बहुत है, अपनी डींग हांक कर शोर बहुत मचाता है, आपस मे लड़ाने और फूट डालने का प्रयत्न करता है, ताकि दोनो में से किसी से तो कुछ मिल ही जाय। न देने पर झगड़ा कर बैठता है, गृहस्थो से बैर बांध लेता है, उन्हें स्त्री आदि की चटपटी बातें सुना कर विकथा किया करता है। ऐसे साधक का चित्त सदा असमाधि में रहता है। संग्रह वृत्ति या लोभ वृत्ति होने के कारण वह सदा प्रमाण से रहित भोजन करता है, लगातार दूसरों के साथ बैर बांधे रहता है। तीव्र रोष में आग बबूला बन जाता है। ऐसे साधक में कोई संतोष, शान्ति, मस्ती या अलोभवृत्ति नही होती। इसी बात को शास्त्रकार मूलपाठ द्वारा सूचित करते हैं—"परिपरिवाओ ··· तिव्वरोसी, से तारिसए नाराहए वयमिणं ····· जे से उवहिभत्त·······से तारिसते आराहते वयमिणं।" इनका अर्थ स्पष्ट कर चुके हैं।

अचौर्य संवर की पांच भावनाएँ

पूर्व सूत्रपाठ मे शास्त्रकार अचौर्य व्रत का माहात्म्य, उसका स्वरूप एवं अचौर्य के विराधक-आराधक के सम्बन्ध में स्पष्ट निरूपण कर चुके हैं। अब अचौर्य संवर की चारों ओर से सुरक्षा के लिए साधक के मन-वचन-काया में बसे संस्कारों को बद्धमूल करने हेतु पाच भावनाओं का निरूपण निम्नोक्त सूत्रपाठ द्वारा करते हैं—

मूलपाठ

इमं च परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभाविय आगमेसिभद्दं सुद्धं नेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाण विओवसमणं।

तस्स इमा पंच भावणाओ ततियस्स होंति, परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए। (१) पढमं देवकुल-सभप्पवा-ऽऽवसह-रुक्खमूल-आराम- कंदरागर-गिरिगुहा - कम्मउज्जाण-जाणसाला-कुवितसाला-मंडव-सुन्नघर-सुसाण-लेण-आवणे अन्नंमि य एवमादियंमि दग-मट्टिय- बीज- हरित-तस- पाण- असंसत्ते अहाकडे फासुए विवित्ते पसत्थे उवस्सए होइ विहरियव्वं आहाकम्मबहुले य जे से आसित्त-संमज्जिओवलित्त - सोहिय-छायण-दूमण-लिंपण-अणुलिंपण-जलण-भंडचालणं अंतो बहिं च असंजमो जत्थ वट्टई (वड्ढती) संजयाण अट्ठा वज्जेयव्वो हु उवस्सओ से तारिसए सुत्तपडि(रि) कुट्ठे। एवं विवित्तवासवसहिसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा निच्चं अहिकरणकरण-कारावण (कारणा)-पावकम्मविरतो दत्तमणुन्नायओग्गहरुई। (२) बितीयं आरामुज्जाण-काणण-वणप्पदेसभागे जं किंचि इक्कडं व कठिणगं च जंतुगं (जवगं) च परामेरकुच्चकुसडब्भपलालमूयगवल्लय-पुप्फफलतय-प्पवालकंदमूलतणकट्ठसक्करादी गेण्हइ सेज्जोवहिस्स अट्ठा न कप्पए उग्गहे अदिन्नंमि गिण्हेउं जे हणि हणि उग्गहं अणुन्नविय गेण्हियव्वं। एवं उग्गहसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा निच्चं अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरते दत्तमणुन्नायओग्गहरुई। (३) ततीयं पीढफलगसेज्जासंथारगट्ठयाए रुक्खा न छिंदियव्वा, न छेदणेण भेदणेण सेज्जा कारेयव्वा, जस्सेव उवस्सए वसेज्ज सेज्जं तत्थेव गवेसेज्जा, न य विसमं समं करेज्जा, न निवाय-

पवाय उस्सुगत्तं, न डंसमसगेसु खुभियव्वं, अग्गी धूमो य न कायव्वो, एवं संजमबहुले संवरबहुले संवुडबहुले समाहिबहुले धीरे काएण फासयंतो सययं अज्झप्पज्झाणजुत्ते समिए एगे चरेज्ज धम्मं, एवं सेज्जासमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा निच्चं अहिकरणकरणकारावण - पावकम्मविरते दत्तमणुन्नायउग्गहरुई । (४) चउत्थं साहारणपिंडपातलाभे भोत्तव्वं संजएणसमियं न साय-सूपाहिकं, न खद्धं, ण वेगियं, न तुरियं, न चवलं, न साहसं, न य परस्स पीलाकरसावज्जं तह भोत्तव्वं जह से ततियवयं न सीदति साहारणपिंडपायलाभे सुहुमं अदिन्नादाणवयनियमवेरमणं । एवं साहारणपिंडवायलाभे समितिजोगेण भावितो भवति अतरप्पा निच्चं अहिकरणकरणकारावण (कारणा) पावकम्मविरते दत्तमणुन्नायउग्गहरुई । (५) पंचमगं साहम्मिएसु विणओ पउंजियव्वो, उवगरणपारणासु विणओ पउंजियव्वो,वायणपरियट्टणासु विणओ पउंजियव्वो, दाणगहणपुच्छणासु विणओ पउंजियव्वो, निक्खमणपवेसणासु विणओ पउंजियव्वो,अन्नेसु य एवमादिसु बहुसु कारणसएसु विणओ पउंजियव्वो, विणओवि तवो, तवोवि धम्मो, तम्हा विणओ पउंजियव्वो,गुरुसु साहूसु तवस्सीसु य विणओ पउं-जियव्वो । एवं विणएण भाविओ भवइ अंतरप्पा णिच्चं अहिकरण-करणकारावण (कारणा) पावकम्मविरते दत्तमणुन्नायउग्गहरुई ।

एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संच (व) रियं हाइ सुपणि-हियं एवं जाव आघवियं सुदेसितं पसत्थं ॥ (सू० २६) ततियं संवरदारं समत्तं तिबेमि ॥३॥

संस्कृतच्छाया

इदं च परद्रव्यहरणविरमणपरिरक्षणार्थताये प्रावचनं भगवता-सुकथितम्, आत्महितम्, प्रेत्याभाविकम्, आगमिष्यद्भद्रम्, शुद्धम्, नैयायि-कम्, अकुटिलम्, अनुत्तरम्, सर्वदुःखपापानां व्युपशमनम् ।

तस्येमाः पंचभावनास्तृतीयस्य भवन्ति परद्रव्यहरणविरमणपरिरक्षणार्थतायै, (१) प्रथमं देवकुलसभाप्रपाऽवसथ-वृक्षमूलाऽऽरामकन्दराकरगिरि-गुहाकर्मोद्यानयानशालाकुपितशालामंडपशून्यगृहश्मशानलयनापणे अन्यस्मिश्चैवमादिके उदकमृत्तिकाबीजहरितत्रसप्राणासंसक्ते यथाकृते प्रासुके विविक्ते प्रशस्ते उपाश्रये भवति विहर्त्तव्यम्, आधाकर्मबहुलश्च यः स आसिक्तसम्मार्जितोत्सिक्तशोभितछादनधवलनलेपनाऽनुलेपनज्वलनभाण्डचालनम्, अन्तर्बहिश्चाऽसंयमो यत्र वर्त्तते संयतानामर्थाय वर्जितव्यः खलु उपाश्रयः स तादृशः सूत्रप्रतिकृष्टः, एवं विविक्तवासवसतिसमितियोगेन भावितो भवति अन्तरात्मा नित्यमधिकरणकरणकारापणपापकर्मविरतो दत्तानुज्ञाताऽवग्रहरुचिः। (२) द्वितीयं आरामोद्यानकाननवनप्रदेशभागे यत्किंचिद् इक्कडं (इक्कुडं) वा कठि (थि)-नकं च जन्तुकं च परामेराकूर्चकुशदर्भपलालमूयकवल्वजपुष्पफलत्वक्प्रवालकन्दमूलतृणकाष्ठशर्करादि गृह्णाति, शय्योपधेरर्थाय न कल्पतेऽवग्रहेऽदत्ते गृहीतुं। अहन्यहनि अवग्रहमनुज्ञाप्य गृहीतव्यमेवमवग्रहसमितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा नित्यमधिकरण-करणकारापणपापकर्मविरतो दत्तानुज्ञातावग्रहरुचिः। (३) तृतीयं पीठ-फलक-शय्या-संस्तारकार्थाय वृक्षा न छेत्तव्याः,न छेदनेन भेदनेन शय्या कारयितव्या, यस्यैवोपाश्रये वसेत् शय्यां तत्रैव गवेषयेत्, न च विषमां समां कुर्यात्, न निवातप्रवातोत्सुकत्वं, न दंशमशकेषु क्षुभितव्यम्, अग्निर्धूमश्च न कर्त्तव्यः। एवं संयमबहुलः, संवरबहुलः, संवृतबहुल, समाधिबहुलो धीरः कायेन स्पृशन् सततमध्यात्मध्यानयुक्त समित एकश्चरेद् धर्मम्। एवं शय्यासमितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा नित्यमधिकरण-करण-कारापणपापकर्मविरतो दत्तानुज्ञातावग्रहरुचि। ४) चतुर्थं साधारणपिंडपात(प्र)लाभे भोक्तव्यं संयतेन सम्यक्, न शाकसूपाधिकं, न प्रचुरं, न वेगितं,न त्वरितं, न चपलं, न साहसं, न च परस्य पीडाकरसावद्यं तथा भोक्तव्यम् यथा तृतीयव्रतं न सीदति, साधारणपिंडपात प्र)लाभे सूक्ष्ममदत्तादानव्रतनियमविरमणएवं साधारणपिंडपात(प्र)लाभे समितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा नित्यमधिकरण-करण-कारापणपापकर्म विरतो दत्तानुज्ञातावग्रहरुचिः। (५) पंचमकं साधर्मिकेषु विनयः प्रयोक्तव्य, उपकरणपारणयोर्विनयः प्रयोक्तव्यः, वाचनापरिवर्तनयोर्विनयः प्रयोक्तव्यो,दानग्रहणपृच्छनासु विनयः प्रयोक्तव्यो,निष्क्रमणप्रवेशन-

योविनयः प्रयोक्तव्यः, अन्येषु चैवमादिषु बहुषु कारणशतेषु विनयः प्रयोक्तव्यः। विनयोऽपि तपस्तपोऽपि धर्मस्तस्माद् विनयः प्रयोक्तव्यो गुरुषु साधुषु तपस्विषु च। एव विनयेन भावितो भवत्यन्तरात्मा नित्यमधिकरणकरण-कारापण (कारणा) पापकर्मविरतो दत्तानुज्ञातावग्रहरुचिः।

एवमिदं संवरस्य द्वारं सम्यक् संवृतं भवति सुप्रणिहितमेवं यावद् आख्यातं सुदेशितं प्रशस्तम्॥ (सू० २६) तृतीयं संवरद्वारं समाप्तमिति ब्रवीमि।

पदान्वयार्थ—(च) और (इमं) यह (पावयणं) अचौर्यव्रत के सिद्धान्तरूप प्रवचन (भगवया) भगवान् ने (परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए) पराये द्रव्य की चोरी के त्याग रूप व्रत की रक्षा के लिए (सुकहियं) अच्छी तरह कहा है,जोकि (अत्तहियं) आत्मा के लिए हितकर है, (पेच्चाभावियं) जन्मान्तर में सहायक है, (आगमेसिभद्दं) आगामीकाल में कल्याणकारी है, (सुद्धं) शुद्ध है – निर्दोष है, (नेआउयं) न्यायसंगत है, (अकुडिलं) कुटिलता से रहित है और (अणुत्तरं) सर्वोत्कृष्ट है, (सव्वदुक्खपावाणविओवसमणं) समस्त दुःखों और पापों का क्षय करने वाला है, (तस्स ततीयस्स) उस तीसरे दत्तानुज्ञातव्रत की (इमा) ये निम्नोक्त (पंच भावणाओ) पांच भावनाएँ (परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए) परद्रव्यहरण से विरति की सुरक्षा के लिए (होंति) हैं। (पढमं) पहली विविक्तवासवसतिसमिति भावना का स्वरूप इस प्रकार है—(देवकुल-सभ-प्पवा-वसह-रुक्खमूल-आराम-कंदरा-गर-गिरिगुहा-कम्मउज्जाण-जाणसाला-कुवितसाला-मंडव,सुन्नघर सुसाण-लेण-आवणे) देवालय, सभा, प्याऊ, संन्यासियों का मठ, वृक्ष का मूल, वाटिकाएँ, कन्दराएँ, लोहे आदि की खानें, पर्वत की गुफाएँ, चूने आदि के पीसने के घर, बागबगीचे, रथ आदि रखने की वाहनशालाएँ, घर की सामग्री रखने के भंडार, यज्ञादि के मंडप, सूने घर, श्मशान, पर्वतीय गृह और दूकानें (य) तथा (एवमादियंमि) इसी प्रकार के (अन्नंमि) अन्य (दग-मट्टिय-बीज हरित-तस-पाण-असंसत्ते) पानी, मिट्टी, बीज, हरी वनस्पति और त्रसजीवों से असंपृक्त-रहित, (अहाकडे) गृहस्थ द्वारा अपने लिए बनाए हुए (फासुए) जीवजन्तु-रहित, (विवित्ते) स्त्री आदि के रात्रिनिवास से रहित, अतएव (पसत्थे) प्रशस्त - योग्य, (उवस्सए) उपाश्रय —स्थान में (विहरियव्वं होइ) निवास करना योग्य है, (य) और (जे) जो (आहाकम्मबहुले) आधाकर्म दोष से परिपूर्ण है, (से) वह तथा (आसित-समज्जि-ओवलित्त-सोहिय-छायण-दूमण - लिपण-अणुलिपण-जलण-भंडचालण) जलका छिड़काव किया हुआ, कूड़ाकर्कट निकालकर झाड़बुहार कर साफ किया हुआ,

जल से सींचा हुआ, वंदनवार लगा,चौक पूरकर इत्यादि प्रकार से सजाया हुआ, दर्भ-घास आदि से छाया हुआ, खड़िया मिट्टी आदि से सफेद पोता हुआ, गोबर आदि से लीपा हुआ, बार-बार लीपा हुआ, ठंड मिटाने के लिए प्रज्वलित अग्नि से युक्त, प्रकाश आदि के लिए बर्तन-भांड आदि साधु के निमित्त इधर-उधर लाये-लेजाये जाते हों (च) तथा (जत्थ) जहाँ, (अंतोबहिं च) अन्दर और बाहर (असंजमो) जीवविराधना (संजयाण अट्ठा) संयमी साधुओं के प्रयोजन-निमित्त से होती हो, (से तारिसए) ऐसा वह (सुत्तपडिकुट्ठे) शास्त्र में निषिद्ध (उवस्सओ) उपाश्रय – स्थान (हु) अवश्य (वज्जेयव्वो) छोड़ देना चाहिए अथवा ऐसा उपाश्रय त्याज्य समझना चाहिए। (एवं) इस प्रकार (विवित्तवासवसहिसमितिजोगेण) एकान्त निर्दोष स्थान में निवास रूप विविक्तवासवसति समिति भावना के योग से (भावितो) भावनायुक्त-संस्कारित (अंतरप्पा) अन्तरात्मा, (निच्चं) नित्य (अहिकरण-करण-कारावणपावकम्मविरतो) दोषयुक्त आचरण करने और करवाने रूप पापकर्म से विरक्त हुआ साधु (दत्तमणुन्नाय ओग्गहरुई) वस्तु के स्वामी आदि द्वारा दत्त—दिया हुआ तथा अनुज्ञात—आज्ञाप्राप्त पदार्थ ग्रहण करने की रुचि वाला (भवति) होता है।

(बितीयं) दूसरी अवग्रह समिति भावना इस प्रकार है—(आरामुज्जाण-काणणवणप्पदेसभागे) वाटिका, बाग, बगीचे, नगर के निकटवर्ती जंगल, वन के एक प्रदेश भाग में (जं) जो कुछ (इक्कडं) तृणविशेष, (व) अथवा (कठिणगं) हरी घास (जंतुगं) तालाब आदि में पैदा होने वाली घास, (परा-मेर-कुच्च-कुस-डब्भ-पलाल-मूयग-वल्लय-पुप्फ-फल-तय-प्पवाल-कंद-मूल-तण-कट्ठ-सक्कराती) परा नामक तृण, मूंज का तृण, ऐसा घास जिससे जुलाहे कूंचियाँ बनाते हैं, कुश, दर्भ, भूसा, मेवाड़ देश में होने वाला तृण विशेष, पर्वतीय तृण विशेष, पुष्प, फल, छाल, नये पत्ते, कंद, मूल, घास, लकड़ी और कंकड़ आदि (सेज्जोवहिस्स अट्ठा) शय्यासंस्तारक-बिछौनेरूप उपधि—सामग्री के लिए (गेण्हइ) ग्रहण करना तथा (उग्गहे) उपाश्रय में रही हुई वस्तु भी (अदिन्नंमि गिण्हेउं) बिना दिये—या आज्ञा दिये बिना लेना (न कप्पए) योग्य नहीं है। उपाश्रय की आज्ञा उसके मालिक द्वारा दे दिये जाने पर भी (हणि हणि) प्रतिदिन (उग्गहं) उपाश्रय में स्थित ग्रहण करने योग्य वस्तु के लेने व सेवन करने की (अणुन्नविय) आज्ञा मिलने पर ही (गेण्हियव्वं) ग्रहण करना चाहिए। (एवं) इस प्रकार (उग्गहसमितिजोगेण) अवग्रहसमिति के योग से (भावितो) संस्कारयुक्त (अंतरप्पा) साधु की अन्तरात्मा (निच्चं) सदा (अहिकरण-करण-कारावण-पाव-

कम्म-विरते) दोषयुक्त आचरण के करने तथा कराने की पाप क्रियाओं से विरक्त (दत्तमणुन्नायओग्गहरुई) दत्तानुज्ञात वस्तु को ग्रहण करना ही पसंद करती है।

(ततीयं) तीसरी शय्यापरिकर्मवर्जनासमितिभावना इस प्रकार है—(पीढ फलग'सेज्जासंथारगट्ठयाए) चौकी, पट्टे, शय्या-मकान और तृणादि के बिछौने—संस्तारक के निमित्त से (रुक्खा) वृक्ष (न छिंदियव्वा) नहीं काटने चाहिए, (छेदणेण भेदणेण सेज्जा न कारेयव्वा) वृक्षों का छेदन भेदन करके शय्या नहीं बनवानी चाहिए। (जस्सेव उवस्सए वसेज्ज) जिस गृहस्थ के उपाश्रय—धर्मस्थान में ठहरे निवास करे, (तत्थेव सेज्जं गवेसेज्जा) वहीं शय्या की गवेषणा करे—विधिपूर्वक याचना करे (च) और (विसमं) विषम—ऊबड़खाबड़ शयनीय स्थान या तख्त वगैरह को (समं न करेज्जा) सम-एक सरीखा न करे (न निवायपवायउस्सुगत्तं) हवा के न आने के लिए बंद द्वार की या वायु को आने के लिए खिड़की या बारी की उत्सुकता न करे (डंसमसगेसु) डांस और मच्छरों के होने पर (न खुभियव्वं) क्षुब्ध न हो, झुंझलाए नहीं, (अग्गी धूमो न कायव्वो) मच्छर आदि भगाने के लिए आग या धुंआ नहीं करना चाहिए।

(एवं) इस प्रकार (संजमबहुले) पृथ्वीकायिक आदि जीवों की यतनारूप संयम में प्रवीण, (संवरबहुले) प्राणातिपात आदि आश्रवों के निरोधरूप संवर से प्रवर (संवुडबहुले) कषाय एवं इन्द्रियों को संवृत्त करने वाला (समाहियबहुले) चित्त की शान्ति-समाधि से युक्त, (धीरे) परिषहों से विचलित न होने वाला धैर्यशाली साधक (काएण फासयंतो) केवल मन में विचार करके ही नहीं, अपितु काया से भी तृतीय संवर का आचरण करता हुआ (सययं) निरन्तर (अज्झप्पज्झाणजुत्ते) आत्मावलम्बी - अध्यात्म ध्यान में तल्लीन हुआ (समिए) सम्यक् प्रवृत्ति से युक्त साधु (एगे धम्मं चरेज्ज) अकेला ही सूत्रचारित्रधर्म का आचरण करे। (एवं) इस प्रकार (सेज्जा समितिजोगेण) शय्या के विषय में निर्दोष सम्यक् प्रवृत्तिरूप योग - चिन्तनयुक्त प्रयोग से (भावितो) संस्कारित (अंतरप्पा) साधु की अन्तरात्मा (निच्चं) नित्य (अहिकरण-करण-कारावण-पावकम्म विरतो) दोषयुक्त प्रपंच करने-कराने के पापकर्म से विरक्त होकर (दत्तमणुन्नाय उग्गहरुई भवइ) दत्तानुज्ञात वस्तु को ग्रहण करना ही पसंद करती है। (चउत्थं) चौथी अनुज्ञातभक्तादि भोजन लक्षणा साधारण पिंडपात्रलाभसमिति भावना इस प्रकार है (साहारण पिंडपात-लाभे सति) संघ के सर्वसाधारण साधुओं के लिए—सामूहिकरूप से—पिण्डपात भोजन प्राप्त होने पर या भोजन-पात्रादि वस्तु मिलने पर, (संजएण) साधु को (समियं)

जल से सींचा हुआ, वंदनवार लगा, चौक पूरकर इत्यादि प्रकार से सजाया हुआ, दर्भ-घास आदि से छाया हुआ, खड़िया मिट्टी आदि से सफेद पोता हुआ, गोबर आदि से लीपा हुआ, बार-बार लीपा हुआ, ठंड मिटाने के लिए प्रज्वलित अग्नि से युक्त, प्रकाश आदि के लिए बर्तन-मांड आदि साधु के निमित्त इधर-उधर लाये-लेजाये जाते हों (च) तथा (जत्थ) जहाँ, (अंतोबहिं च) अन्दर और बाहर (असंजओ) जीवविराधना (संजयाण अट्ठा) संयमी साधुओं के प्रयोजन-निमित्त से होती हो, (से तारिसए) ऐसा वह (सुत्तपडिकुट्ठे) शास्त्र में निषिद्ध (उवस्सओ) उपाश्रय—स्थान (हु) अवश्य (वज्जेयव्वो) छोड़ देना चाहिए अथवा ऐसा उपाश्रय त्याज्य समझना चाहिए। (एवं) इस प्रकार (विवित्तवासवसहिसमितिजोगेण) एकान्त निर्दोष स्थान में निवास रूप विविक्तवासवसति समिति भावना के योग से (भावितो) भावनायुक्त-संस्कारित (अंतरप्पा) अन्तरात्मा, (निच्चं) नित्य (अहिकरण-करण-कारावणपावकम्मविरतो) दोषयुक्त आचरण करने और करवाने रूप पापकर्म से विरक्त हुआ साधु (दत्तमणुन्नाय ओग्गहरुई) वस्तु के स्वामी आदि द्वारा दत्त—दिया हुआ तथा अनुज्ञात—आज्ञाप्राप्त पदार्थ ग्रहण करने की रुचि वाला (भवति) होता है।

(बितीयं) दूसरी अवग्रह समिति भावना इस प्रकार है—(आरामुज्जाण-काणणवणप्पदेसभागे) वाटिका, बाग, बगीचे, नगर के निकटवर्ती जंगल, वन के एक प्रदेश भाग में (जं) जो कुछ (इक्कडं) तृणविशेष, (व) अथवा (कठिणकं) हरी घड़-घास (जंतुगं) तालाब आदि में पैदा होने वाली घास, (परा-मेर-कुच्च-कुस-डब्भ-पलाल-मूयग-वल्लय-पुप्फ-फल-तय-प्पवाल-कंद-मूल-तण-कट्ठ-सक्करादी) परा नामक तृण, मूंज का तृण, ऐसा घास जिससे जुलाहे कूंचियां बनाते हैं, कुश, दर्भ, भूसा, मेवाड़ देश में होने वाला तृण विशेष, पर्वतीय तृण विशेष, पुष्प, फल, छाल, नये पत्ते, कंद, मूल, घास, लकड़ी और कंकड़ आदि (सेज्जोवहिस्स अट्ठा) शय्यासंस्तारक-बिछौनेरूप उपधि—सामग्री के लिए (गेण्हइ) ग्रहण करना तथा (उग्गहे) उपाश्रय में रही हुई वस्तु भी (अदिन्नंमि गिण्हउं) बिना दिये—या आज्ञा दिये बिना लेना (न कप्पए) योग्य नहीं है। उपाश्रय की आज्ञा उसके मालिक द्वारा दे दिये जाने पर भी (हणि हणि) प्रतिदिन (उग्गहं) उपाश्रय में स्थित ग्रहण करने योग्य वस्तु के लेने व सेवन करने की (अणुन्नविय) आज्ञा मिलने पर ही (गेण्हियव्वं) ग्रहण करना चाहिए। (एवं) इस प्रकार (उग्गहसमितिजोगेण) अवग्रहसमिति के योग से (भावितो) संस्कार-युक्त (अंतरप्पा) साधु की अन्तरात्मा (निच्चं) सदा (अहिकरण-करण-कारावण-पाव-

कम्म-विरते) दोषयुक्त आचरण के करने तथा कराने की पाप क्रियाओं से विरक्त (दत्तमणुन्नायओग्गहरुई) दत्तानुज्ञात वस्तु को ग्रहण करना ही पसंद करतो है।

(ततीयं) तीसरी शय्यापरिकर्मवर्जनासमितिभावना इस प्रकार है— (पीढ फलग'सेज्जासंथारगट्ठयाए) चौकी, पट्टे, शय्या-मकान और तृणादि के बिछौने—संस्तारक के निमित्त से (रुक्खा) वृक्ष (न छिंदियव्वा) नहीं काटने चाहिए, (छेदणेण भेदणेण सेज्जा न कारेयव्वा) वृक्षों का छेदन भेदन करके शय्या नहीं बनवानी चाहिए। (जस्सेव उवस्सए वसेज्ज) जिस गृहस्थ के उपाश्रय—धर्मस्थान में ठहरे निवास करे, (तत्थेव सेज्जं गवेसेज्जा) वहीं शय्या की गवेषणा करे—विधिपूर्वक याचना करे (च) और (विसमं) विषम—ऊबड़खाबड़ शयनीय स्थान या तख्त वगैरह को (समं न करेज्जा) सम-एक सरीखा न करे (न निवायपवायउस्सुगत्तं) हवा के न आने के लिए बंद द्वार की या वायु को आने के लिए खिड़की या बारी की उत्सुकता न करे (डंसमसगेसु) डांस और मच्छरों के होने पर (न खुभियव्वं) क्षुब्ध न हो, झुंझलाए नहीं, (अग्गी धूमो न कायव्वो) मच्छर आदि भगाने के लिए आग या धुंआ नहीं करना चाहिए।

(एवं) इस प्रकार (संजमबहुले) पृथ्वीकायिक आदि जीवों की यतनारूप संयम में प्रवीण, (संवरबहुले) प्राणातिपात आदि आश्रवों के निरोधरूप संवर मे प्रवर (संवुडबहुले) कषाय एवं इन्द्रियों को संवृत्त करने वाला (समाहिबहुले) चित्त की शान्ति-समाधि से युक्त, (धीरे) परिषहों से विचलित न होने वाला धैर्यशाली साधक (काएण फासयंतो) केवल मन में विचार करके ही नहीं, अपितु काया से भी तृतीय संवर का आचरण करता हुआ (सययं) निरन्तर (अज्झप्पज्झाणजुत्ते) आत्मावलम्बी - अध्यात्म ध्यान में तल्लीन हुआ (समिए) सम्यक् प्रवृत्ति से युक्त साधु (एगे धम्मं चरेज्ज) अकेला ही सूत्रचारित्रधर्म का आचरण करे। (एवं) इस प्रकार (सेज्जा समितिजोगेण) शय्या के विषय में निर्दोष सम्यक् प्रवृत्तिरूप योग - चिन्तनयुक्त प्रयोग से (भावितो) संस्कारित (अंतरप्पा) साधु की अन्तरात्मा (निच्चं) नित्य (अहिकरण-करण-कारावण-पावकम्म विरतो) दोषयुक्त प्रपंच करने-कराने के पापकर्म से विरक्त होकर (दत्तमणुन्नाय उग्गहरुई भवइ) दत्तानुज्ञात वस्तु को ग्रहण करना ही पसंद करता है। (चउत्थं) चौथी अनुज्ञातभक्तादि भोजन लक्षणा साधारण पिंडपात्रलाभसमिति भावना इस प्रकार है (साहारण पिंडपातलाभे सति) संघ के सर्वसाधारण साधुओं के लिए—सामूहिकरूप से—पिण्डपात भोजन प्राप्त होने पर या भोजन-पात्रादि वस्तु मिलने पर, (संजएण) साधु को (समियं)

सम्यक् प्रकार—या समिति से युक्त (भोतव्वं) उसका उपभोग करना चाहिए, (न सायसूपाहिकं) साग, दाल अधिक न खाए, (न खद्धं) अच्छे-अच्छे खाद्य-पदार्थों को पहले न खाए, (ण वेगियं) कौर को जल्दी-जल्दी न निगले, (न तुरियं) ग्रास को झटपट मुँह में न डाले, (न चपलं) हाथ, गर्दन आदि बहुत हिला-डुलाकर भोजन न करे, (न साहसं) बिना विचारे सहसा-एकदम भोजन पर टूट न पड़े, (परस्स य) और दूसरे को (पीलाकर सावज्जं) पीड़ा करने वाला तथा सावद्य-पापयुक्त (न) भोजनादि न करे। (तह भोतव्वं जह से ततियवयं) उस प्रकार से भोजनादि करे, जिससे उस साधु का तृतीयव्रत (साधारणपिंडपायलाभे) साधारण—सर्वसामान्यरूप में सांघाटिक—सबका इकट्ठा आहार पानी उपधिवस्त्रादि का लाभ—प्राप्त होने पर जो साधु का (सुहुमं) सूक्ष्म (अदिन्नादाणवेरमणं) अदत्तादानविरमण रूप महाव्रत है यह (न सीदति) जरा भी भंग न हो। (एवं) इस प्रकार (साहारण पिंडपायलाभे समितिजोगेण) सर्व साधारण रूप से सांघाटिक भोजनपात्रादि का लाभ होने पर इस सम्यक् प्रवृत्ति—समिति के योग-प्रयोग से (भावितो) संस्कारयुक्त (अंतरप्पा) साधु का अन्तरात्मा (निच्चं) सदा (अहिकरण-करण-कारावणपावकम्मविरते) दूषित आचरण करने-करवाने की पापक्रिया से विरक्त संयमी (दत्तमणुन्नायउग्गहरुई) दत्तानुज्ञात वस्तु के ग्रहण करने की रुचिवाला (भवइ) होता है।

(पंचमगं) पांचवीं साधर्मिक विनयकरण भावना का स्वरूप इस प्रकार है—(साहम्मिएसु विणओ पउंजियव्वो) साधर्मी साधुओं के प्रति विनय का प्रयोग करना चाहिए। (उवकरण पारणासु) रुग्ण, अशक्त, वृद्ध आदि अवस्थाओं में दूसरे साधर्मिक-साधुओं का उपकार-वैयावृत्यव्यवहार में तथा तपस्या के पारणा में (विणओ) इच्छाकारादिरूप में विनय का (पउंजियव्वो) व्यवहार करना चाहिए। (वायणा-परियट्टणासु) सूत्र आदि का पाठ पढ़ने में तथा पढ़े हुए पाठ की आवृत्ति करने के सम्बन्ध में (विणओ) वन्दनादि के रूप में विनय का (पउंजियव्वो) प्रयोग करना चाहिये। (दाण-गहण-पुच्छणासु) भिक्षा में प्राप्त आहारादि का ग्लान आदि साधुओं को वितरण करने, दूसरे साधुओं द्वारा दिये हुए पदार्थ का ग्रहण करने तथा भूले हुए सूत्रार्थ के विषय में पूछने के समय (विणओ पउंजियव्वो) विनय-प्रयोग करना चाहिए। (य) और (एवमादिसु) ये और इत्यादि प्रकार के (बहुसु कारणसतेसु) दूसरे सैकड़ों कारणों को लेकर (विणओ पउंजियव्वो) विनय का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि (विणओवि) विनय भी (तवो) तप है, और (तवोवि धम्मो) तप भी धर्म है, धर्म का

एक अंग है। (तम्हा) इसलिए (गुरुसु) गुरुओं का, (साहुसु) साधुओं का (य) एवं (तवस्सीसु) तपस्वियों का (विणओ पउंजियव्वो) विनय-व्यवहार करना चाहिए। (एवं) इस प्रकार (विणएण) विनय भावना से (भाविओ) भावित—संस्कारित (अंतरप्पा) अन्तरात्मा (निच्चं) हमेशा (अहिकरण-करण-कारावणपावकम्मविरते) दोषयुक्त आचरण करने-कराने के पापकर्म से विरत साधु (दत्तमणुन्नाय उग्गहरुइ) दत्तानुज्ञात पदार्थ को ग्रहण करने में रुचिवाला (भवइ) हो जाता है।

(एवमिण) इस प्रकार यह (संवरस्स दार) दत्तानुज्ञातरूप तीसरे संवर का द्वार (सम्मं) सम्यक् प्रकार से (संचरियं) आचरित (होइ) हो जाता है, (सुपणिहियं) भलीभांति दिल-दिमाग में स्थिर हो जाता है। (एव) इस प्रकार पूर्वोक्त पांच भावनाओं से मनवचन काया की सुरक्षा कर लेने पर इस तीसरे संवरद्वार—अचौर्य महाव्रत का भलीभांति पालन हो जाता है। (जाव) यावत् (आघवियं) भगवान् महावीर द्वारा कथित हैं, (यहां तक पूर्वसूत्रोक्त पाठ की तरह समझ लेना चाहिए) तथा यह तृतीय संवरद्वार (सुदेसियं) भगवान् द्वारा सम्पुदिष्ट है, (पसत्थं) प्रशस्त - उत्तम है (ततियं) तीसरा (संवरदारं) संवर द्वार (समत्तं) समाप्त हुआ। (तिबेमि) इस प्रकार मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूं।

मूलार्थ—इस अचौर्यव्रत पर सिद्धान्त-प्रवचन भगवान् महावीर ने परद्रव्यहरण से विरतिरूप व्रत की रक्षा के हेतु भलीभाँति फरमाया है, जो कि आत्मा के लिए हितकारी है, जन्मान्तर में सहायक है, भविष्य में आत्मा के लिए कल्याणकर है, निर्दोष और न्यायसंगत है। यह कुटिलता से रहित है, सर्वश्रेष्ठ है और सम्पूर्ण दुःखों और पापों को विशेष रूप से शान्त करने वाला है।

इस तीसरे दत्तानुज्ञात नामक संवरद्वार की पांच भावनाएँ परद्रव्यहरण से विरतिरूप अचौर्यव्रत की चारों ओर से रक्षा के लिए हैं।

पहली विविक्तवासवसतिसमिति भावना है, जो इस प्रकार है—साधु को देवालय, सभा, प्याऊ, संन्यासियों के मठ, वृक्ष के मूलप्रदेश, वाटिका, कन्दराएँ, लोह आदि की खानें, पर्वत की गुफाएँ, लुहार, बढ़ई आदि के काम करने के स्थान या चूना आदि पीसने के घर, बाग-बगीचे, रथ आदि सवारियाँ रखने की यानशालाएँ, घर का सामान रखने के भंडार आदि गृह, यज्ञादि के मंडप, सूने घर, श्मशान, पर्वतीय गृह, दूकानों या इसी प्रकार के अन्य स्थान, जो पृथ्वी, जल, बीज, हरी दूब, घास आदि वनस्पति एवं

सम्यक् प्रकार—या समिति से युक्त (भोतव्वं) उसका उपभोग करना चाहिए, (न सायसूपाहिकं) साग, दाल अधिक न खाए, (न खद्धं) अच्छे-अच्छे खाद्य पदार्थों को पहले न खाए, (ण वेगियं) कौर को जल्दी-जल्दी न निगले, (न तुरियं) ग्रास को झटपट मुंह में न डाले, (न चपलं) हाथ, गर्दन आदि बहुत हिला-डुलाकर भोजन न करे, (न साहसं) बिना विचारे सहसा-एकदम भोजन पर टूट न पड़े, (परस्स य) और दूसरे को (पीलाकर सावज्जं) पीड़ा करने वाला तथा सावद्य-पापयुक्त (न) भोजनादि न करे। (तह भोतव्वं जह से ततियवयं) उस प्रकार से भोजनादि करे, जिससे उस साधु का तृतीयव्रत (साधारणपिंडपायलाभे) साधारण—सर्वसामान्यरूप में सांघाटिक—सबका इकट्ठा आहार पानी उपधिवस्त्रादि का लाभ—प्राप्त होने पर जो साधु का (सुहुमं) सूक्ष्म (अदिन्नादाणवेरमणं) अदत्तादानविरमण रूप महाव्रत है वह (न सीदति) जरा भी भंग न हो। (एवं) इस प्रकार (साहारणं पिंडवायलाभे समितिजोगेण) सर्व साधारण रूप से सांघाटिक भोजनपात्रादि का लाभ होने पर इस सम्यक् प्रवृत्ति—समिति के योग-प्रयोग से (भावितो) संस्कारयुक्त (अंतरप्पा) साधु का अन्तरात्मा (निच्चं) सदा (अहिकरण-करण-कारावणपावकम्मविरते) दूषित आचरण करने-करवाने की पापक्रिया से विरक्त संयमी (दत्तमणुन्नायउग्गहरुई) दत्तानुज्ञात वस्तु के ग्रहण करने की रुचिवाला (भवइ) होता है।

(पंचमगं) पांचवीं साधर्मिक विनयकरण भावना का स्वरूप इस प्रकार है—(साहम्मिएसु विणओ पउंजियव्वो) साधर्मी साधुओं के प्रति विनय का प्रयोग करना चाहिए। (उवकरण पारणासु) रुग्ण, अशक्त, वृद्ध आदि अवस्थाओं में दूसरे साधर्मिक-साधुओं का उपकार-वैयावृत्यव्यवहार में तथा तपस्या के पारणा में (विणओ) इच्छाकारादिरूप में विनय का (पउंजियव्वो) व्यवहार करना चाहिए। (वायणा-परियट्टणासु) सूत्र आदि का पाठ पढ़ने में तथा पढ़े हुए पाठ की आवृत्ति करने के सम्बन्ध में (विणओ) वन्दनादि के रूप में विनय का (पउंजियव्वो) प्रयोग करना चाहिये। (दाण-गहण-पुच्छणासु) भिक्षा में प्राप्त आहारादि का ग्लान आदि साधुओं को वितरण करने, दूसरे साधुओं द्वारा दिये हुए पदार्थ का ग्रहण करने तथा भूले हुए सूत्रार्थ के विषय में पूछने के समय (विणओ पउंजियव्वो) विनय-प्रयोग करना चाहिए। (य) और (एवमादिसु) ये और इत्यादि प्रकार के (अन्नेसु कारणसतेसु) दूसरे सैकड़ों कारणों को लेकर (विणओ पउंजियव्वो) विनय का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि (विणओवि) विनय भी (तवो) तप है, और (तवोवि धम्मो) तप भी धर्म है, धर्म का

एक अंग है । (तम्हा) इसलिए (गुरुसु) गुरुओं का, (साहुसु) साधुओं का (य) एवं (तवस्सीसु) तपस्वियों का (विणओ पउंजियव्वो) विनय-व्यवहार करना चाहिए। (एवं) इस प्रकार (विणएण) विनय भावना से (भाविओ) भावित—संस्कारित (अंतरप्पा) अन्तरात्मा (निच्चं) हमेशा (अहिकरण-करण-कारावणपावकम्मविरते) दोषयुक्त आचरण करने-कराने के पापकर्म से विरत साधु (दत्तमणुन्नाय उग्गहरुइ) दत्तानुज्ञात पदार्थ को ग्रहण करने में रुचिवाला (भवइ) हो जाता है।

(एवमिण) इस प्रकार यह (संवरस्स दारं) दत्तानुज्ञातरूप तीसरे संवर का द्वार (सम्मं) सम्यक् प्रकार से (संचरियं) आचरित (होइ) हो जाता है, (सुपणिहियं) भलीभांति दिल-दिमाग में स्थिर हो जाता है । (एवं) इस प्रकार पूर्वोक्त पांच भावनाओं से मनवचन काया की सुरक्षा कर लेने पर इस तीसरे संवरद्वार—अचौर्य महाव्रत का भलीभांति पालन हो जाता है । (जाव) यावत् (आघवियं) भगवान् महावीर द्वारा कथित है, (यहां तक पूर्वसूत्रोक्त पाठ की तरह समझ लेना चाहिए) तथा यह तृतीय संवरद्वार (सुदेसियं) भगवान् द्वारा समुपदिष्ट है, (पसत्थं) प्रशस्त - उत्तम है (तत्तियं) तीसरा (संवरदारं) संवर द्वार (समत्तं) समाप्त हुआ। (तिबेमि) इस प्रकार मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूं।

मूलार्थ—इस अचौर्यव्रत पर सिद्धान्त-प्रवचन भगवान् महावीर ने परद्रव्यहरण से विरतिरूप व्रत की रक्षा के हेतु भलीभाँति फरमाया है, जो कि आत्मा के लिए हितकारी है, जन्मान्तर में सहायक है, भविष्य में आत्मा के लिए कल्याणकर है, निर्दोष और न्यायसंगत है । यह कुटिलता से रहित है, सर्वश्रेष्ठ है और सम्पूर्ण दुःखों और पापों को विशेष रूप से शान्त करने वाला है।

इस तीसरे दत्तानुज्ञात नामक संवरद्वार की पांच भावनाएँ परद्रव्यहरण से विरतिरूप अचौर्यव्रत की चारों ओर से रक्षा के लिए है।

पहली विविक्तवासवसतिसमिति भावना है, जो इस प्रकार है—साधु को देवालय, सभा, प्याऊ, संन्यासियों के मठ, वृक्ष के मूलप्रदेश, वाटिका, कन्दराएँ, लोह आदि की खानें, पर्वत की गुफाएँ, लुहार, बढ़ई आदि के काम करने के स्थान या चूना आदि पीसने के घर, बाग-बगीचे, रथ आदि सवारियाँ रखने की यानशालाएँ, घर का सामान रखने के भंडार आदि गृह, यज्ञादि के मंडप, सूने घर, श्मशान, पर्वतीय गृह, दूकानें या इसी प्रकार के अन्य स्थान, जो पृथ्वी, जल, बीज, हरी दूब, घास आदि वनस्पति एवं

त्रसजीवों से रहित हों, जिन्हें गृहस्थ ने अपने लिए बनवाया हो, ऐसे प्रासुक (जीवजन्तुरहित), स्त्री आदि के निवास से रहित, एकान्त शान्त प्रशस्त उपाश्रय– स्थान में निवास करना ही योग्य है। जो स्थान आधाकर्मदोष से परिपूर्ण हो, जहाँ पानी छींटा गया हो, हरी घास आदि उखाड़ कर झाड़-बुहार कर साफ किया गया हो, वंदनवार, चौक-पूरण आदि से सजाया गया हो, दर्भ आदि से ऊपर छाया गया हो, खड़िया से पोता गया हो, गोबर आदि से लीपा गया हो, एक बार लीपी हुई भूमि को बार-बार लीपा गया हो, ठंड मिटाने के लिए आग जलाई गई हो, रोशनी के लिए बर्तन भांडे व घर का सामान एक जगह से उठाकर दूसरी जगह जमाये गए हों, तथा जहाँ पर अंदर और बाहर जीवों की असंयमरूप विराधना साधुओं के निमित्त हो, ऐसे शास्त्रनिषिद्ध उपाश्रय को साधु वर्जनीय समझे। यानी ऐसे आरम्भदोष से निर्मित स्थान में साधु न ठहरे। इस प्रकार विविक्तवासवसति (निर्दोष-स्थान में निवास) रूप समिति (सम्यक् प्रवृत्ति) के योग—चिन्तनयुक्त प्रयोग से संस्कारित साधु का अन्तरात्मा सदा दोषयुक्त आचरण स्वयं करने-कराने के पापजनक कर्मों से विरक्त हो जाता है। और वह दत्तानुज्ञात वस्तु का ग्रहण करना ही पसंद करता है।

दूसरी अनुज्ञातसंस्तारकग्रहणरूप अवग्रहसमिति भावना है। वह इस प्रकार है—साधु को फूलवाड़ी, बागबगीचे, नगर के निकटवर्ती जंगल या वनप्रदेश में इक्कड़ (तृणविशेष), कठिनक (विशेष प्रकार का तृण), जन्तुक (जलाशय में पैदा होने वाला घास), परा (तृण विशेष), मूंज का तृण, जिसकी कूचियाँ बनाई जाती हैं—ऐसा तृण विशेष, कुश, दूब, चावलों का पलाल, मेवाड़प्रदेश में पैदा होने वाला तृण विशेष, पर्वज तृणविशेष, फूल, फल, छाल, कोमल पत्ते, कंद, मूल, घास, लकड़ी और कंकड़ आदि वस्तुएँ शय्या या अन्य उपधि बनाने के लिए ग्रहण करना योग्य नहीं है, उपाश्रय में भी साधु के ग्रहण करने योग्य कोई चीजें पहले से भी पड़ी हों, तो भी मालिक के बिना दिये या आज्ञा लिये बिना ग्रहण करना उचित नहीं। उपाश्रय—स्थान की आज्ञा उसके मालिक द्वारा दे देने पर भी वहाँ मौजूद अन्य वस्तुओं में से ग्रहण करने योग्य वस्तु प्रतिदिन उसके मालिक की आज्ञा लेकर ही ग्रहण करनी चाहिए। इस प्रकार अवग्रह समिति के योग से यानी ग्रहण करने योग्य वस्तु के सम्बन्ध में शास्त्रविहितप्रवृत्ति करने से संस्कारित हुई साधु की आत्मा

सर्वदा पापानुष्ठान स्वयं करने और दूसरों से करवाने की पापक्रियाओं से निवृत्त होकर दत्तानुज्ञात वस्तु को ग्रहण करना ही पसंद करती है।

तीसरी शय्यापरिकर्मवर्जनरूप शय्यासमितिभावना है, जो इस प्रकार है—साधु को चौकी, पट्टे, शय्या-मकान और तृणादि के बिछौने के निमित्त स्वयं वृक्ष नहीं काटने चाहिए और न वृक्षों का छेदन-भेदन करवा कर शय्या मकान तैयार करवाना चाहिए। साधु जिस गृहस्थ के उपाश्रय—स्थान में निवास करे, वहीं पर शय्या की गवेषणा करे। शय्या के लिए ऊबड़खाबड़ विषम जगह को समतल न करे। हवा को बंद करने और उसके आने के लिए उत्सुकता न बताए, न डांस और मच्छरों के उपद्रव से घबराए, डांस, मच्छर आदि को भगाने के लिए आग न जलाए, न धुंआ करे। इस प्रकार पृथ्वीकायादि जीवों की यतना करने में प्रवीण, प्राणतिपात आदि आश्रवद्वारों के निरोधरूप संवर में प्रवर, कषायों पर विजय और इन्द्रियों के दमन से सम्पन्न, चित में स्वस्थता—समाधि से युक्त एवं परिषह, उपसर्ग आदि के सहन करने में धीर साधु केवल मन में मनोरथ करके ही नहीं, अपितु काया से भी इस समिति का स्पर्श -आचरण करता हुआ सतत आत्मावलम्बी-अध्यात्म-ध्यान में तल्लीन व समितियुक्त होकर अकेला चारित्रधर्म का आचरण करे। इस प्रकार शय्यासमिति के योग से अर्थात् शय्या के बारे में निर्दोष प्रवृत्ति करने से संस्कारसम्पन्न हुई साधु को अन्तरात्मा नित्य दोषदुष्ट आचरण के स्वयं करने-कराने से जनित पापकर्म से मुक्त होकर दत्तानुज्ञात वस्तु को ग्रहण करने को रुचि वाली होती है।

चौथी भावना अनुज्ञातभक्तादि भोजनलक्षणा साधारणपिंडपात(त्र)लाभ-समिति भावना है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—संघ के सर्वसाधारण साधुओं के लिए सांघाटिक—सामूहिक भोजन-वस्त्र-पात्र आदि वस्तुएँ विधिपूर्वक प्राप्त होने पर साधु को उनका उपभोग सम्यक्विधिपूर्वक करना चाहिए। प्राप्त सामूहिक भोजन में से साग और दाल ही अधिक न खाए, बढ़िया स्वादिष्ट चीज भी पहले न खाए, कौर आदि को जल्दी-जल्दी न निगले और न कौर को जल्दी-जल्दी मुँह में डाले, चंचलतापूर्वक शरीर के अवयवों को हिलाते-डुलाते हुए भोजन न करे, एकदम भोजन पर टूट न पड़े, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले एवं सावद्य-पापयुक्त भोजनादि का सेवन न करे। साधारण अर्थात् सामूहिक

भोजन-पान आदि के प्राप्त हो जाने पर साधु को उनका इस प्रकार उपभोग करना चाहिए, जिससे सूक्ष्मरूप से जरा-सा भी अदत्तादानत्यागव्रत के नियम का भंग न हो। इस प्रकार साधारण पिंडपात या पिंड पात्र के लाभ के विषय में पूर्वोक्त समिति-योग से—सम्यक्प्रवृत्ति के योग से संस्कारित बनी हुई साधु की अन्तरात्मा सदा दोषयुक्त अनुष्ठान के स्वयं करने व दूसरों से कराने से उत्पन्न पापजनक कर्म से विरक्त होकर दत्तानुज्ञातवस्तु का ग्रहण ही पसंद करती है।

पांचवीं साधर्मिकविनयकारण भावना है, जो इस प्रकार है—साधर्मिक साधुओं के प्रति विनय का प्रयोग करना चाहिए। रोगादि अवस्था में सेवा द्वारा साधु का उपकार करने में तथा तपस्या के पारणे में इच्छाकारादिरूप विनय करना चाहिए। सूत्रादि का पाठ पढ़ने में तथा पढ़े हुए पाठ की आवृत्ति करने में वन्दनादिरूप विनय का आचरण करना चाहिए। भिक्षा में प्राप्त भोजनादि का अन्य साधुओं को वितरण करने में, दूसरे साधुओं द्वारा दिये गए पदार्थ को ग्रहण करने में तथा विस्मृत सूत्रार्थ के बारे में पूछने के समय वन्दनादि रूप विनय का प्रयोग करना चाहिए। अपने उपाश्रय से निकलते और प्रवेश करते समय भी आवश्यकीय एवं नैषधिकी क्रिया द्वारा विनय करना चाहिए। ये और इसी तरह के बहुत से सैकड़ों दूसरे कारणों को लेकर यथायोग्य विनय व्यवहार साधर्मिक साधुओं के साथ करना चाहिए। क्योंकि विनय भी तप है और तप भी धर्म है। इसलिए गुरुओं,साधुओं व तपस्वियों के प्रति विनय का प्रयोग करना हर्गिज नहीं भूलना चाहिए। इस प्रकार विनय के आचरण से संस्कारयुक्त बनी हुई साधु की अन्तरात्मा नित्य सावद्य आचरण स्वयं करने और दूसरों से करवाने की पापक्रियाओं से निवृत्त हो कर दत्तानुज्ञात वस्तु को ही ग्रहण करना पसन्द करती है।

इस प्रकार यह दत्तानुज्ञात नामक तृतीय संवरद्वार मनवचनकाया द्वारा पांच भावना के चिन्तन प्रयोग से सुरक्षित होकर साधु के दिल-दिमाग में संस्काररूप से अच्छी तरह जम जाता है। तभी यह महाव्रत पूर्णतया आचरण में आता है। इस प्रकार पूर्वोक्त सूत्र पाठ में बताए अनुसार इन पांचों भावनाओं का चिन्तनप्रयोग जीवन के अन्त तक सदा करना चाहिए। यह भावनायोग समस्त जिनेन्द्रों द्वारा अनुज्ञात है, शुद्ध है, अनाश्रवरूप है, कालुष्यरहित अच्छिद्र, अपरिस्रावी एवं असंक्लिष्ट है।

इस प्रकार इस तीसरे संवरद्वार का कथन श्री भगवान् महावीर ने किया है, इस प्रकार निरूपण किया है, उपदेश दिया है, यावत् (पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त) यह संवरद्वार प्रशस्त है।

यह तीसरा संवरद्वार समाप्त हुआ, ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ।

व्याख्या

साधु के लिए तीसरा महाव्रत अदत्तादान विरमण संवर है। साधु जो भी महाव्रत ग्रहण करता है, वह मन, वचन और काया से, कृत, कारित और अनुमोदित रूप से निषेधात्मक तथा विधेयात्मक दोनों रूपों से करता है। इस दृष्टि से अदत्तादान विरमण का निषेधात्मक रूप होता है—मन-वचन-काया से परद्रव्य हरण न करना, न करवाना और न करने वाले का अनुमोदन करना। इसी प्रकार विधेयात्मक रूप होता है—अपने हिस्से की वस्तु का अपने साधर्मिकों मे वितरण करना, स्वेच्छा से स्वनिश्रित वस्तु का त्याग करना, नि.स्वार्थ भाव से सेवा करना, सर्वस्व समर्पण करके जो भी बचीखुची चीज मिल जाय उसी मे सतुष्ट रहना; अपने शरीर की भी कम से कम आवश्यकताएँ रखना, यहाँ तक कि अपनी मालिकी की वस्तु भी न रखना। विधेयात्मक रूप में अचौर्य का भी मन, वचन, काया से और कृत, कारित, अनुमोदन रूप से पालन करना होता है।

अचौर्य महाव्रत पर जब हम इन दोनो रूपो की दृष्टि से विचार करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि यह महाव्रत भी अहिंसा और सत्य से कम गहन नही है। अतः उतनी ही कठिन है—इस व्रत की सुरक्षा भी। इसीलिए अचौर्य महाव्रत की सुरक्षा करने और सैद्धान्तिक दृष्टि से इसकी उपयोगिता समझाकर साधक के दिल दिमाग मे इसका महत्त्व जमा देने के हेतु शास्त्रकार नपे-तुले शब्दो में इसकी गुण गाथा और सैद्धान्तिक महिमा प्रगट करते हैं—"इमं च परदव्वहरण वेरमण परिरक्खणट्ठयाए पावयणं...... सव्वदुक्ख पावाण विओवसमणं।" इसका अर्थ पहले स्पष्ट कर चुके हैं।

अचौर्यव्रत की पांच भावनाओं की उपयोगिता—यों देखा जाय तो अचौर्य महाव्रत ही अपने आप मे पूर्ण व्यावहारिक है। अचौर्य का लक्षण हम पहले बता आए हैं। उसमें यह बता दिया गया है कि अर्थहरण के समान ही किसी के अधिकारों का, उपकारों का एवं वस्तु तथा शरीरादि के उपयोग का हरण कर लेना भी चोरी है। जब ये सब चोरी में शुमार हैं तो साधु को यह सोचना पड़ेगा कि मैं अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए किसी छोटे या बड़े साधु के अधिकार पर तो छापा नही मार रहा हूँ? वृद्ध, रोगी या अशक्त साधु को स्वस्थ एवं युवक साधु से सेवा लेने का अधिकार है। अगर वह नही करता है तो एक प्रकार से चोरी करता है। इसी प्रकार किसी के उपकारों को भूल जाना या कृतघ्न होकर उसकी निन्दा करना उपकार की चोरी है।

उपकारी का नाम छिपाना भी इसी के अन्तर्गत है। इसी प्रकार किसी वस्तु का आ
श्यकता से अधिक उपयोग, ग्रहण या उपभोग करना; या जहाँ जरूरत हों, व
उस वस्तु का उपयोग न करना, इसी प्रकार सशक्त, स्वस्थ शरीर होते हुए भी उ
शास्त्रीय अध्ययन, सेवा या उपकार आदि के कार्य न करना, अपनी शक्ति को छिपा
समाज को अपनी उर्वरा बुद्धि से स्वस्थ चिन्तन न देना, यह भी एक प्रकार से उ
कार की चोरी है।

इसी प्रकार आहारादि वस्तुओं का साधर्मिकों में ठीक ढंग से वितरण
करना, अपने हिस्से में ज्यादा ले लेना या अच्छी चीज ले लेना, वितरण में पक्षप
करना, किसी को वास्तविक आवश्यकता के अनुसार न देकर अन्याय करना, उस
अधिकारों का हरण करना, ये सब विभाग चोरी के प्रकार अधिकारहरणरूप चो
के अन्तर्गत आ जाते हैं। इन सब प्रकार की चोरियों से सर्वथा मुक्त होने पर
अचौर्य महाव्रत की पूर्णतया आराधना या साधना हो सकती है। सवाल यह होता
पूर्वोक्त चौर्य-प्रकारों से बचने के लिए तथा इस महाव्रत की पूर्णतया सुरक्षा के लि
तथा साधक में इस महाव्रत को प्राणप्रण से पालन करने की श्रद्धा, रुचि, उत्साह
तीव्रता और दृढ़ता की लौ जीवन के अन्त तक सतत जलाए रखने के लिए कौन-स
उपाय है? इसके उत्तर में शास्त्रकार इसी उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए पांच भावनाए
हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं—'तस्स इमा पंच भावणाओ ततियस्स होंति परदव्वहरण
वेरमणपरिरक्खणट्ठयाए ''''' पंचहिं कारणेहिं मण-वयण-कायपरिरक्खिएहिं णिच्चं
आमरणंतं च एस जोगो णेयव्वो।' इन पंक्तियों का अर्थ पहले स्पष्ट किया जा चुका
है। तात्पर्य यही है कि ये पांच भावनाएँ साधु में ऐसी स्फूर्ति, प्रेरणा, उत्साह, रुचि, और
तीव्रता के संस्कार भर देती हैं कि वह जीवन की अन्तिम घड़ी तक इस महाव्रत की
रक्षा में मन-वचन-काय से प्राणप्रण से जुटा रहता है। साधुजीवन की मूलभूत
आवश्यकताओं की पूर्ति का विशुद्ध और स्वावलम्बी उपाय भिक्षाचर्या बताया है;
उसके बारे में शास्त्रकार ने छठे अध्ययन में उस भिक्षा-विधि के निर्दोष आचरण की
विशद चर्चा की है। परन्तु इस पूर्ति के उपरान्त भी साधुजीवन में कुछ और शरीर
एवं मन से सम्बन्धित आवश्यकताएँ हैं, जिनसे सर्वथा इन्कार नहीं किया जा
सकता। नीचे हम उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन करा रहे हैं—आहार वस्त्रादि के बाद
साधु की आवश्यकता निवास-स्थान की है। प्राचीनकाल में लोग साधुओं को
गुप्तचर समझते थे या अपने सम्प्रदाय से भिन्न सम्प्रदाय का देखकर उनसे घृणा, द्वेष,
वैर-विरोध आदि करते थे। कई बार ठहरने के लिए स्थान नहीं देते थे। और दूसरी
समस्या साधु के सामने यह भी रहती है कि उसे अपने रहने के लिए उसी स्थान को
खोजना होता है, जिसमें किसी प्रकार का आरम्भसमारम्भ अंदर बाहर न होता हो, या

साधु के निमित्त से ही वह न बनाया गया हो, साधु के निमित्त किसी स्थान को बनाने में षड्जीव-निकायों में से किसी जीव की विराधना अनिवार्य है। स्थान के अतिरिक्त साधु को कई बार गृहस्थ ठहरने के लिए ऊबड़खाबड़,अनेक जगह खड्डे पड़े हुए, टूटे फूटे या गंदे मकान बता देता है, उस समय साधु अपना आत्मध्यान छोड़ कर उसे दुरस्त कराने, उसका परिकर्म-संस्कार कराने की चिन्ता करता है। साधु सोचने लगता है कि यहाँ किसी से मांगेगे या मरम्मत कराने को कहेंगे तो उसे साधुओं के प्रति अश्रद्धा पैदा होगी, क्यों न जंगल या बगीचे से घास फूस आदि ले आएँ या मगा लें। जंगल तो किसी का नहीं है,वहा कौन मना करेगा या कौन-सा दोष लगेगा ? क्यों नही इन सार्वजनिक पेडों को काट लें या कटवा लें। गृहस्थ ने भी तो इसी तरह यह मकान बनाया है। शरीर से सम्बन्धित इन तीनों आवश्यकताओं के हेतु उठने वाले इन और ऐसे ही अन्य विकल्पजालों को रोककर साधुजीवन को सही दिशा में मोडने वाली और अचौर्य महाव्रत के अनुरूप सही चिन्तन तथा तदनुसार प्रयोग करने की प्रेरणा देने वाली अचौर्यव्रत की क्रमशः पहली, दूसरी और तीसरी भावना है।

इसके बाद साधुजीवन में मुख्यतया न्याय और सम्मान की इच्छाएँ होती हैं। ये दोनों मन से सम्बन्धित हैं। जब साधु यह देखता है कि मैं साधुजीवन में चारित्र एवं मौलिक नियम मर्यादाओं का अच्छी तरह पालन कर रहा हूँ, फिर भी मेरे गुरु, बड़े साधु, या अन्य कोई साधु आहारादि आवश्यक वस्तुओं का वितरण करने में उसके साथ पक्षपात करते हैं, स्वयं सरस और बढिया चीजें लेकर उसे रद्दीसद्दी या तुच्छ चीजें दे देते है अथवा अपना बड़प्पन जताकर उससे जबरन सेवा लेने, या काम कराने का प्रयत्न करते हैं। रुग्ण,या वृद्ध साधुओं का सशक्त युवक साधुओं से सेवा लेने का अधिकार है, मगर जब सशक्त युवक साधु उनकी सेवा नहीं करते तो वह अपने को अन्यायपीड़ित समझकर मन में व्यथित होता रहता है,अंदर ही अंदर घुटता रहता है। ऐसी अवस्था मे वह या तो छलकपट करता है या अपने प्रति अप्रीति उत्पन्न हो जाने पर साधु जीवन का त्याग कर देता है। साधर्मिक के साथ प्रीति का तथा पक्षपातवश अधिकार का हरण तथा समान वितरण न करने से वह साधु तृतीय महाव्रत से भ्रष्ट हो जाता है। इन सब विकल्पों को शान्त करके साधक को धैर्य बँधाकर तृतीयमहाव्रत की रक्षा के लिए प्रोत्साहित करने वाली चौथी साधारण-पिंडपात्रलाभ समिति भावना है।

मन से सम्बन्धित दूसरी आवश्यकता है—आदर सम्मान की। साधु भी प्रीति और सत्कार चाहता है, वृद्ध और बुजुर्ग साधु अपने से छोटे साधु का सिर झुका हुआ और हाथ जुड़े हुए देखना चाहते हैं,उनका विनय पाने का अधिकार भी है। मगर छोटे से छोटा नवदीक्षित साधु भी परस्पर नम्र व्यवहार की अपेक्षा तो अपने से बड़े से भी करता

है, और चाहता है अपने विकास और चारित्रपालन में बड़ों का प्रेमपूर्वक सहयोग। मन की इस आवश्यकता—विनयव्यवहार की पारस्परिक पूर्ति जब नहीं होती तो साधु पराधिकारहरण करने के कारण अपने तृतीय महाव्रत से भ्रष्ट हो जाता है। अतः इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु एवं तृतीय महाव्रत की रक्षा करने हेतु पांचवी साधर्मिक विनयकरणभावना नियत की गई है।

निष्कर्ष यह है कि साधु जीवन की शरीर और मन से सम्बन्धित इन पूर्वोक्त पांचों प्रकार की मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति करके अचौर्य महाव्रत की सुरक्षा को प्रेरणा देने वाली एवं संस्कारित करने वाली पांचों भावनाएँ हैं। यही इन भावनाओं की उपयोगिता और उपादेयता है। वे पांच भावनाएँ इस प्रकार हैं—(१) विविक्त-वासवसतिसमितिभावना (२) अनुज्ञातसंस्तारकग्रहणरूप अवग्रह समिति भावना (३) शय्यापरिकर्मवर्जनारूप शय्यासमिति भावना (४) अनुज्ञात भक्तादिभोजनलक्षण साधारणपिंडपात्रलाभ समिति भावना, और (५) साधर्मिक विनयकरण भावना।

यद्यपि इनके सम्बन्ध में जितना मूलपाठ है, उसका अर्थ हम पहले स्पष्ट कर आए हैं। फिर भी कुछ स्थलों पर विश्लेषण करना और शास्त्रकार का आशय खोलना बहुत जरूरी है, यह समझ कर संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं—

विविक्तवासवसतिसमितिभावना का चिन्तन और प्रयोग—साधु के लिए अहिंसा की दृष्टि से वह स्थान निवासयोग्य नहीं है, जो उसके निमित्त या उसकी प्रेरणा से बना हो, जो उसके लिए खरीदा गया हो, जिसमें अन्दर-बाहर मकान को ठीक कराने के लिए किसी प्रकार का आरम्भ-समारम्भ होता हो, या जहाँ स्त्री, पशु, नपुंसक रात्रि को उसी कक्ष में निवास करते हों,जहाँ साधु रहता हो। इसके विपरीत जो गृहस्थ ने अपने लिए बनाया हो,त्रसस्थावरजीवों से असंसक्त हो,प्रासुक—जीवजन्तु रहित हो,विविक्त, एकान्त हो, वही स्थान साधु के योग्य है। शास्त्र द्वारा निषिद्ध उपाश्रय वही है,जिसके लिए शास्त्रकार ने मूलपाठ में संकेत किया है—'आहाकम्मबहुले""संजयाण अट्ठा वज्जेयव्वो " सुत्तपडिकुट्ठे'। इसका अर्थ पहले स्पष्ट कर चुके हैं। इस भावना को रखने का तात्पर्य यह है कि अपने ठहरने के लिए स्थान की आवश्यकता की पूर्ति के लिए साधु को ऐसा चिन्तन करना चाहिए—"जब इतने सारे बने-बनाए मकान पड़े हैं तो नये मकान बनवाने या स्वयं बनाने और उसकी चिन्ता में पड़कर क्यों मैं अपना संयम खोऊं। और मकान बनाने में छहों काया के जीवों की हिंसा होने की संभावना है। तब अहिंसा महाव्रत की विराधना होगी। साथ ही अपनी प्रेरणा से कोई स्थान बन जाने पर उस स्थान में उस साधु की ममता चिपक जाने की भी और दूसरे साधुओं को उसमें ठहराने के लिए आनाकानी की भी संभावना है। यह पराधिकारहरण-रूप चोरी होगी तथा ये दोनों बातें भगवदाज्ञा के विरुद्ध होने से चोरी में शुमार हैं। इसलिए निवास के लिए स्थान की आवश्यकता की पूर्ति साधु को अपना तृतीय

महाव्रत उज्ज्वल रखते हुए ही करनी है। साधु को ठहरने के लिए देवमंदिर आदि कई स्थान शास्त्रकार ने गिनाए हैं। अगर साधु अपने निमित्त से ठहरने के लिए स्थान बनवाएगा तो उसके टूटने-फूटने पर मरम्मत की चिन्ता करनी पड़ेगी, जो उस मकान में रहेंगे, उनके साथ किसी बात पर झगड़ा भी होने की संभावना है। इस कारण शास्त्रकार ने अपरिग्रही साधु के लिए गृहस्थ के द्वारा बनाए गए मकान में ठहरने का विधान है। तथा उस मकान से सम्बन्धित अन्य चिन्ताएँ साधु को नही करनी पड़ेंगी। वह ठीक तरह अपनी महाव्रत साधना कर सकेगा। साधु का अपना मकान न होने पर साधु को किसी जगह ठहरने के स्थान की दिक्कत पड सकती है, लोग मकान देने से कदाचित् आनाकानी कर सकते हैं,परन्तु गर्मियों में साधु पेड़ के नीचे भी या बाग-बगीचे या जंगल मे कही भी आसानी से ठहर सकता है, सर्दियों में थोड़ा कष्ट पड़ सकता है, परन्तु अपने निमित्त से या अपना मकान बन जाने पर उसे जो रातदिन चिन्ता होगी, खटपट करनी पड़ेगी या मकान के खराब हो जाने पर मरम्मत वगैरह का प्रपंच करना पड़ेगा, ये सब कष्ट तो सर्दीगर्मी के कष्टों से भी भयंकर होगे। अत. सब ओर से नापतौल करने के बाद साधु को मन में दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए कि जैसे सांप खुद बिल नही बनाता, वह चूहों आदि के द्वारा बनाए हुए बिल में ही घुस जाता है, वैसे ही साधु अपने लिए खुद मकान नही बनवाकर गृहस्थों द्वारा अपने लिए बनाए हुए किसी प्रासुक स्थान में ही ठहरेगा। इस प्रकार के चिन्तन,मनन और दृढ़ निश्चय से मन को दृढ़ संस्कारी बनाकर साधु अचौर्यव्रत का पूर्ण पालन कर सकेगा।

अनुज्ञात संस्तारक भावना का चिन्तन और प्रयोग—साधु अपने बिछौने में रुई तो भरता नही, वह घास-फूस आदि भरता है। परन्तु घासफूस का आज तो कुछ मूल्य है, लेकिन उस जमाने में क्या मूल्य था? कोई भी गृहस्थ कहीं से भी घास, फूस उठाकर इकट्ठा कर सकता था। अतः साधु कही अपने तीसरे महाव्रत को मन से ओझल करके यह सोचने लगे कि घास फूस तो जंगल आदि में यों ही खडा रहता है, उसे कोई पूछता नहीं है। अतः मैं इस सूखे घास को जंगल आदि में से बिछौने के लिए ले आऊं तो क्या हर्ज है? किन्तु वह यहाँ भूल जाता है कि साधु के लिए 'सव्वं से जाइयं होइ' सभी चीजें याचना करके ही प्राप्त होती हैं, इस दृष्टि से घास आदि भी किसी नागरिक की मालिकी का नहीं है, तो भी वह उस राजा या सरकार का है, जिसकी यह वनभूमि है। इसलिए जरूरत पड़ने पर अपने ग्रहण करने योग्य सूखी घास, सूखी दूब आदि उसके स्वामी से या सरकार या शासक से मांगकर या उसकी अनुमति लेकर उस चीज का ग्रहण करे। जिस उपाश्रय (स्थान) मे साधु अभी रह रहा है वहाँ साधु को अपने योग्य पड़ी हुई किसी चीज की आवश्यकता हो तो प्रतिदिन या उसदिन उसके स्वामी से अनुमति लेकर उसे ले। इसी बात को

शास्त्रकार यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं—'आरामुज्जाण ...... जं किंचि इक्कडं वा ...... सवकरादी गेण्हइ सेज्जोवहिस्स अट्ठा न कप्पए उग्गहे ;......गेण्हियव्वं ।'

यहाँ एक सवाल यह उठ सकता है कि जैन साधु कंदमूल, फल, पत्ते, फूल आदि पदार्थ सचित्त होने के कारण कभी ग्रहण नहीं करते, फिर उन्हें आज्ञा बिना लेने का निषेध क्यों किया गया ? इससे यह ध्वनित हो जाता है कि यदि उसका स्वामी आज्ञा दे दे, तो ये लिए जा सकते है ? इसका समाधान यह है कि वैसे तो जैन साधु तिनका, मिट्टी का ढेला आदि कोई भी चीज बिना आज्ञा के ग्रहण नहीं करता। दूसरे धर्म-सम्प्रदाय के गृहस्थ या साधु लोग जंगल आदि में पड़े हुए कन्दमूल आदि लेने में दोष नहीं समझते। मगर जैन साधु के लिए तो बिना अनुमति या बिना पूछे तिनका भी लेने का विधान नहीं है। इसलिए साधु को सावधान करने के लिए कहा है,किसी के स्वामित्व की चीज न होने पर भी कोई वस्तु साधु के लिए तब तक ग्राह्य नहीं होती, जब तक उसके स्वामी की अनुमति न मिले। सूखे अचित्त पदार्थों के लिए यही बात समझ लेनी चाहिए। यहां प्रसंग शय्या संस्तारक का है। इसलिए कन्दमूल फल की क्या जरूरत थी ? इसका समाधान यों है कि साधु जिस स्थान में ठहरा हो, वह ऊबड़खाबड़ हो तो उसे समतल बनाने के लिए अगर साधु को अचित्त कंदमूल आदि की जरूरत उन खड्डों या छिद्रों को बन्द करने के हेतु पड़ जाय तो अचित्त कंदमूल आदि अनुमति प्राप्त करके लिए जा सकते हैं।

निष्कर्ष यह है कि साधु को मामूली से मामूली अल्पातिअल्प मूल्य की या बिना मूल्य की चीज भी उसके स्वामी के द्वारा दिये जाने पर या उसके द्वारा अनुमति दिये जाने पर ग्रहण करनी है। अन्यथा अदत्तादान—चोरी का दोष लगेगा और व्रतभंग होगा। इस प्रकार की भावना के चिन्तन के प्रकाश में चल कर साधु अपने अचौर्य महाव्रत की रक्षा कर सकता है।

शय्यासंस्तारकादि परिकर्म वर्जना भावना का चिन्तन—साधु कई दफा ऐसा सोच लेता है कि "दूसरों के स्थान में ठहरने पर हमेशा उनकी इजाजत लेनी पड़ती है, अगर अपना खुद का स्थान बन जाय तो फिर किसी से किसी बात की इजाजत की झंझट में पड़ने की जरूरत ही नहीं रहेगी और न ही किसी वस्तु का अभाव खटकेगा। साधु होने पर भी दूसरों से इजाजत की यह परतंत्रता क्यों ? अतः स्वतन्त्रता इसी मे है कि अपना निजी स्थान बनवा लिया जाय। इसके लिए पेड़ अमुक भक्त दे ही रहा है तो मैं क्यों न काट लूं या दूसरों से कटवा-छिलवा लूं।"

परन्तु यह निरी भ्रान्ति है कि इजाजत लेने में परतंत्रता है। वास्तव में देखा जाय तो इजाजत ले कर किसी स्थान पर ठहर जाने से अपनी स्वतन्त्रतापूर्वक चाहे जब तक ठहर सकता है, चाहे जब चला जा सकता है, मगर अपने निजी मकान में तो रोज ही रहना पड़ेगा। रहे चाहे न रहे, सफाई का प्रबन्ध तो करना ही होगा।

और वृक्षों के स्वयं काटने—कटवाने पर आरम्भादि पापकर्म के अलावा वृक्षादि को काटने के लिए वृक्ष का जीव साधु को आज्ञा नहीं देता, अपने शरीर को काटने की। तब वृक्ष के जीव की आज्ञा न होने से बिना आज्ञा के वृक्ष को काटना चोरी है। कहीं मकान या ठहरने का स्थान प्रतिकूल मिलने पर भले ही थोडा कष्ट सहन कर लेना पड़े परन्तु ऊबड़-खाबड़ स्थान को स्वयं समतल न करे और न हवा वगैरह के बन्द करने या आने के लिए बारी या कपाट की उत्सुकता प्रगट करे। मच्छर आदि को भगाने के लिए न अग्नि जलाए और न धूप आदि से धुंआ करे। साधु अपने संवर, संयम, कषायविजय, इन्द्रियनिग्रह आदि उत्तम बातों में समाधिस्थ हो जाय, अपने मन को आत्मध्यान में एकाग्र कर ले, चाहे अकेला ही हो, धर्माचरण करे, किन्तु इन बाह्य प्रपंचों में न पड़े। इस प्रकार की शय्यासमिति के चिन्तन के प्रकाश में अपना जीवन सुवासित करे।

साधारण पिंडपात्र लाभ समिति भावना का चिन्तन—साधु यह चिन्तन करे कि मैं तो अपना जीवन अपने गुरु के चरणो मे समर्पण कर चुका, तब मेरा अपना तो कुछ भी नहीं रहा। यह शरीर भी गुरु, संघ आदि की सेवा के लिए है। सभी साधर्मिको के साथ प्रीति तभी उत्पन्न हो सकती है जब सांघाटिक भोजन की मर्यादाओ का पालन करूंगा। अतः मुझे जो भी आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि भिक्षा विधि से प्राप्त हुए हैं उनका उपभोक्ता मैं अकेला ही नही हूं, न मुझे अपने-पराये का भेदभाव करके वितरण में पक्षपात करना है और न ही अच्छा-अच्छा माल झटपट-गले उतारना है, न कोई चीज अपने हिस्से में अधिक ले कर अधिक खानी है, न भोजन आते ही विना भिक्षा विधि का चिन्तन किए एकदम भोजन पर टूट पड़ना है, न चंचलतापूर्वक खड़े-खड़े या चलते-फिरते ही खाना है, दूसरों को पीड़ा देने वाला सावद्य भोजनादि वस्तु का भी उपभोग नही करना है। मुझे इस सामूहिक प्राप्त आहारादि में से इस प्रकार ग्रहण करना या सेवन करना है, जिससे मेरा अचौर्य महाव्रत भंग न हो। मैं अकेला ज्यादा खाऊंगा, पक्षपात करूंगा या अन्य दोष सेवन करूंगा तो पराधिकारहरण होने से चोरी का भागी बनूंगा। इस प्रकार का चिन्तनसर्वस्व ही इस भावना का प्राण है, जिसके प्रकाश मे चल कर साधक धन्य हो उठता है।

साधर्मिक विनयकरण भावना का चिन्तन—साधर्मिक उसे कहते हैं, जो समान आचार या धर्म वाला साधु हो। साधर्मिक साधुओं में परस्पर नैतिक व्यवहार विनय से ही हो सकता है। छोटा साधु बड़े साधु के प्रति विनय करे और बड़ा साधु छोटों के प्रति नम्र और स्नेहिल रहे। अन्यथा विनय-व्यवहार न होने से कोई भी अपने से बड़े साधु की आज्ञा के बिना ही किसी समय कोई अच्छी चीज गृहस्थ के यहाँ से लाकर अकेला ही खा जाएगा या अकेला ही वस्त्रादि का उपभोग कर लेगा।

मत्थिय-चुन्निय-कुसल्लिय-पव्वयपडिय-खंडिय-परिसडिय-विणासियं, विणयसीलतवनियमगुणसमूहं तं बंभं भगवंतं गहगणनक्खत्ततारगाणं वा जहा उडुपत्ती, मणिमुत्तसिलप्पवालरत्तरयणागराणं च जहा समुद्दो, वेरुलिओ चेव जहा मणीणं, जहा मउडो चेव भूसणाणं, वत्थाणं चेव खोमजुयलं, अरविंदं चेव पुप्फजेट्ठं, गोसीसं चेव चंदणाणं, हिमवंतो चेव ओसहीणं, सीतोदा चेव निन्नगाणं, उदहीसु जहा सयंभुरमणो, रुयगवरे चेव मंडलिकपव्वयाणं, पवरो एरावण इव कुंजराणं, सीहोव्व जहा मिगाणं, पवरे पवकाणं चेव वेणुदेवे, धरणो जह पण्णगइंदराया, कप्पाणं चेव बंभलोए, सभासु य जहा भवे सोहम्मा, ठितिसु लवसत्तमव्व पवरा, दाणाणं चेव अभयदाणं, किमिराओ(उ) चेव कंबलाणं, संघयणे चेव वज्जरिसभे, संठाणे चेव समचउरंसे, झाणेसु य परमसुक्कज्झाणं, णाणे सु य परमकेवलं तु सिद्धं, लेसासु य परमसुक्कलेस्सा, तित्थंकरे जहा चेव मुणीणं, वासेसु जहा महाविदेहे, गिरिराया चेव मंदरवरे, वणेसु जह नंदणवणं पवरं, दुमेसु जहा जंबू सुदंसणा वि(वी)-सुयजसा जीए नामेण य अयं दीवो। तुरगवती, गयवती, रहवती, नरवती जह वीसुए चेव राया, रहिए चेव जहा महारहगते। एवमणेगा गुणा अहीणा भवंति एक्कंमि बंभचेरे जंमि य आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं, सीलं तवो य, विणओ य, संजमो य, खंती, गुत्ती, मुत्ती, तहेव इहलोइयपारलोइयजसे य, कित्ती य, पच्चओ य। तम्हा निहुएण बंभचेरं चरियव्वं, सव्वओ विसुद्धं जावज्जीवाए जाव सेयट्ठिसंजउत्ति, एवं भणियं वयं भगवया। तं च इमं——

पंचमहव्वयसुव्वयमूलं, समणमणाइलसाहुसुचिन्नं।
वेरविरामणपज्जवसाणं, सव्वसमुद्दमहोदधितित्थं ॥१॥

तित्थकरेहि सुदेसियमग्गं, नरयतिरिच्छविवज्जियमग्गं ।
सव्वपवित्तसुनिम्मियसारं, सिद्धिविमाणअवंगुयदारं ॥२॥
देवनरिंदनमंसियपूयं, सव्वजगुत्तममंगलमग्गं ।
दुद्धरिसं गुणनायकमेक्कं, मोक्खपहस्सवडिंसकभूयं ॥३॥

जेण सुद्धचरिएण भवइ सुबंभणो सुसमणो सुसाहू सुइसी सुमुणी स संजए स एव भिक्खू जो सुद्धं चरति बंभचेरं ।

इमं च रतिरागदोसमोहपवड्ढणकरं किमज्झ-पमाय-दोस पासत्थ-सीलकरणं अब्भगणाणि य तेल्लमज्जणाणि य अभिक्खणं कक्ख-सीस-कर-चरण-वदण - धोवण-संबाहण-गायकम्म-परिमद्दणाणुलेवण- चुन्नवास- धूवण- सरीरपरिमंडण-वाउसिकं, हसिय-भणिय-नट्ट-गीय-वाइय-नड-नट्टक-जल्ल-मल्ल-पेच्छण-वेलंबका जाणि य सिंगारागाराणि य अन्नाणि य एवमादियाणि तवसंजमबंभचेर-घातोवघातियाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं वज्जेयव्वाइं सव्वकालं । भावेयव्वो भवइ य अंतरप्पा इमेहिं तवनियमसीलजोगेहिं निच्च-कालं ! किं ते ? अण्हाणक-अदंतधावण-सेयमलजल्लधारणं मूणवय-केसलोए य खम-दम-अचेलग-खुप्पिवास-लाघव-सितोसिण-कट्ठ-सेज्जा-भूमिनिसेज्जा-परघरपवेस-लद्धावलद्ध-माणावमाण- निंदण-दंसमसग-फास-नियम-तव-गुण-विणयमादिएहिं जहा से थिरतरकं होइ बंभचेरं ।

इमं च अबंभचेरविरमणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं, पेच्चाभाविकं, आगमेसिभद्दं, सुद्धं, नेयाउयं, अकुडिलं, अणुत्तरं, सव्वदुक्खपावाण विउसवणं ।

संस्कृतच्छाया

जम्बू ! इतश्च ब्रह्मचर्यम् उत्तमतपोनियमज्ञानदर्शनचारित्र-सम्यक्त्व-विनयमूलम्, यमनियमगुणप्रधानयुक्तम्, हिमवन्महत्तेजस्वि, प्रशस्तगम्भीर-

स्तिमितमध्यम्, आर्जवसाधुजनाचरितम्, मोक्षमार्गम्, विशुद्धसिद्धिगतिनिलयम्, शाश्वतम, अव्याबाधम्, अपुनर्भवम्, प्रशस्तम्, सौम्यम्,शुभम् (सुखम्), शिवम्, अचलम्, अक्षयकरम्, यतिवरसंरक्षितम्, सुचरितम्, सुसाधितम्, केवल मुनिवरैर् महापुरुषधीरशूरधार्मिकधृतिमतां च सदा विशुद्धम्, भव्यम्, सर्वभव्यजनानुचरितम्, निःशंकितम्, निर्भयम्, निस्तुषम्, निरायासम्, निरुपलेपम्, निर्वृतिगृहम्, नियमनिष्प्रकम्पम्, तप संयममूलदलिकनिभम्, पंचमहाव्रतसुरक्षितम्, समितिगुप्तिगुप्तम्, ध्यानवरकपाटसुकृतम्, अध्यात्मदत्तपरिघम्,सन्नद्धाच्छादित दुर्गतिपथम्,सुगतिपथदेशकम् च लोकोत्तम च व्रतमिदम्, पद्मसरस्तडागपालिभूतम्, महाशकटारकतुम्बभूतम्, महाविटपवृक्षस्कन्धभूतम्, महानगरप्राकारकपाटपरिघभूतम्, रज्जुपिनद्ध इवेन्द्रकेतुर्विशुद्धानेकगुणसम्पिनद्धम् यस्मिश्च भग्ने भवति सभग्न-मर्दित-मथित-चूर्णित-कुशल्यित-पर्वतपतित (पर्यस्तपतित)-खडित-परिशटित-विनाशितम्, विनय-शील-तपो-नियमगुणसमूहः तद्ब्रह्म भगवद् ग्रहगणनक्षत्रताराकाणां वा यथोडुपतिः, मणि-मुक्ता-शिला-प्रवाल-रक्तरत्नाकराणां यथा समुद्र, वैडूर्यं चैव यथा मणीनाम्, यथा मुकुटं चैव भूषणानाम्, वस्त्राणामिव क्षौम-युगलम्, अरविन्दमिव पुष्पज्येष्ठम्, गोशीर्षमिव चन्दनानाम्, हिमवान् इवौषधीनाम्, सीतोदा इव निम्नगानाम्, उदधिषु यथा स्वयम्भूरमणः, रुचकवर इव मांडलिकपर्वतानाम्, प्रवर ऐरावण इव कुंजराणाम्, सिंह इव यथा मृगाणाम्, प्रवरः पवकानां चैव वेणुदेवः, धरणो यथा पन्नगेन्द्र-राजा, कल्पानामिव ब्रह्मलोकः, सभासु च यथा भवेत् सुधर्मा, स्थितिषु लवसप्तमेव प्रवरा, दानानामिव अभयदानम्, कृमिराग इव कम्बलानाम्, संहननमिव वज्रर्षभम्, संस्थानमिव समचतुरस्रम्, ध्यानेषु च परमशुक्ल-ध्यानम्, ज्ञानेषु च परमकेवलं तु सिद्धम्, लेश्यासु च परमशुक्ललेश्या, तीर्थङ्करो यथैव मुनीनाम्, वर्षेषु यथा महाविदेहः, गिरिराज इव मन्दरवरः, वनेषु यथा नन्दनवन प्रवरम्, द्रुमेषु यथा जम्बूः, सुदर्शना विश्रुतयशा यस्या नाम्ना चायं द्वीपः, तुरगपतिः, गजपतिः, रथपतिः, नरपतिः विश्रुतइव राजा, रथिक इव यथा महारथगतः, एवमनेके गुणा अहीना भवन्त्येकस्मिन् ब्रह्मचर्ये यस्मिश्चाराधिते आराधितं व्रतमिदं सर्वम्, शीलम्, तपश्च, विनयश्च, संयमश्च, क्षान्तिर्गुप्तिः मुक्तिस्तथैव ऐहलौकिकपारलौकिकयशांसि च

कीर्तयश्च, प्रत्ययश्च, तस्माद् निभृतेन ब्रह्मचर्यं चरितव्यं सर्वतोविशुद्धं यावज्जीवतया (यावज्जीवम्) यावत् श्वेतास्थि: (श्रेयोऽर्थी) संयतः इत्येवं भणितं व्रतं भगवता। तच्चेदम्—

पंचमहाव्रतसुव्रतमूलम्, सभावमनाविलसाधुसुचरितम्।
वैरविरमणपर्यवसानम्, सर्वसमुद्रमहोदधितीर्थम् ॥१॥
तीर्थंकरैः सुदेशितमार्गम्, नरकतिर्यग्विवर्जितमार्गम्।
सर्वपवित्रसुनिर्मितसारम्, सिद्धिविमानाऽपावृतद्वारम् ।२॥
देवनरेन्द्रनमस्यितपूतम्, सर्वजगदुत्तममंगलमार्गम्।
दुर्धर्षं गुणनायकमेकम्, मोक्षपथस्यावतंसकभूतम् ॥३॥

येन शुद्धचरितेन भवति सुब्राह्मणः सुश्रमण सुसाधुः सुऋषिः सुमुनिः स संयत. स एव भिक्षुर् यः शुद्धं चरति ब्रह्मचर्यम्।

इदं च रतिरागद्वेषमोहप्रवर्द्धनकरम्, किमध्यप्रमाददोषपार्श्वस्थशीलकरणम् अभ्यगनानि च तैलमज्जनानि च अभीक्ष्णं कक्ष-शीर्ष-कर-चरण-वदन-धावन-संवाहन - गात्रकर्म - परिमर्दनाऽनुलेप। - चूर्णवास-धूपन-शरीरपरिमंडनबाकुशिकम्, हसित-भणित-नाट्य-गीत-वादित-नट-नर्त्तक-जल्लमल्लप्रेक्षणविडम्बकाः, यानि च शृंगारागाराणि चान्यानि चैवमादिकानि तपःसंयमब्रह्मचर्यघातोपघातिकानि अनुचरता ब्रह्मचर्यं वर्जयितव्यानि सर्वकालम्। भावयितव्यो भवति चान्तरात्मा एभिस्तपोनियमशीलयोगैर्नित्यकालम्। किं तत्? अस्नानकाऽदन्तधावनस्वेदमलजल्लधारण मौनव्रतकेशलोचौ च क्षमादमाऽचेलकक्षुत्पिपासालाघवशीतोष्णकाष्ठशय्याभूमिनिपद्यापरगृहप्रवेशलब्धाऽपलब्धमानाऽपमाननिन्दनदंशमशकस्पर्शनियम - तपोगुणविनयादिकैर् यथा तस्य स्थिरतरकं भवति ब्रह्मचर्यम्।

इदं चाब्रह्मचर्यविरमणपरिरक्षणार्थतायै प्रवचनं भगवता सुकथितम्, प्रेत्यभाविकम्, आगमिष्यद्भद्रम्, शुद्धम् नैयायिकम्, अकुटिलम्, सर्वदुःखपापानां व्युपशमनम्।

पदान्वयार्थ—श्री सुधर्मास्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं—(जंबू!) हे जम्बू! (एत्तो य) इस अदत्तादानविरमणसंवर के बाद, (बंभचेरं) ब्रह्मचर्यसंवर के सम्बन्ध में कहता हूँ, जो (उत्तमतव-नियम-नाण-दंसण-चरित्त-सम्मत्त-विणयमूलं) उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व, और विनय का मूल है (यम-नियम-गुणप्पहाणजुत्तं) अहिंसा सत्यआदिव्रत, अभिग्रह आदि नियम, जो प्रधा-

गुण हैं, उनसे युक्त है, (हिमवंतमहंततेयमंयं) हिमवान् पर्वत से भी महातेजस्वी है, (पसत्थगंभीरथिमितमज्झं) जिसके पालन करने से साधकों का मध्य-अन्तःकरण प्रशस्त-उदार, गम्भीर और स्थिर होता है, (अज्जवसाहुजणाचरियं) सरलता से सम्पन्न साधुजनों द्वारा आचरित है, (मोक्खमग्गं) मोक्ष का मार्ग है, (विसुद्धसिद्धिगतिनिलयं) रागद्वेषकालुष्य से रहित-विशुद्ध सिद्धिरूपगति का स्थान है, (सासयं) शाश्वत -नित्य हैं, (अव्वाबाहं) क्षुधा आदि बाधा - पीड़ाओं से रहित है, (अपुणब्भवं) इसके पालने से से पुनः लौटना, जन्म लेना— नहीं होता; (पसत्थं) यह प्रशस्त—मंगलमय है, (सोमं) सौम्यरूप है, (सुभं) शुभ है अथवा (सुखं) सुखरूप है, (सिवं) उपद्रवरहित या कल्याण रूप है, (अचलं) स्थिर है, (अक्खयकरं) पूर्णिमा के चन्द्र की तरह अक्षत है, अतएव आह्लादकर है अथवा अक्षय-मोक्षपद का कारण है,(जतिवरसारक्खितं) उत्तम साधुओं द्वारा इसकी सुरक्षा की गई है, (सुचरियं) यह श्रेष्ठ आचरण है, (नवरि) केवल (मुणिवरेहिं) प्रधान मुनिवरों द्वारा (सुसाहियं) इसकी अच्छी तरह साधना की गई है, (महापुरिसधीर-सूरधम्मियधितिमंताण) उत्तम गुणों से युक्त महापुरुषों, धैर्यधारियों में अत्यन्त महासत्वशाली पुरुषों, धार्मिकों एवं धृतिमान् पुरुषों का (य) ही यह व्रत (सयाविसुद्धं) सदा विशुद्ध—दोषों से रहित होता है,यह (भव्वं) कल्याण-रूप है, (सव्वभव्वजणाणुचिन्नं) समस्त भव्यजनों द्वारा आचरित है। (निस्संकियं) यह शंकारहित है, इसमें शंका को कोई स्थान नहीं, (निब्भयं) इसमें भय को भी अवकाश नहीं, (नित्तुसं) तुषरहित चावल के समान सारयुक्त है, (निरायासं) इसके पालन में कोई श्रम या खेद नहीं होता, (निरुवलेवं) यह आसक्ति या मलिनता के लेप से रहित है, (निव्वुतिघरं) यह चित्त की शान्ति का घर है, (नियमनिप्पकंपं) यह निश्चय से निष्कम्प अपवाद—अतिचाररहित है अथवा इसका नियम अटल होता है, अतः अविचल है, (तपसंजममूलदलियणेम्मं) यह तप और संयम के मूलद्रव्य के समान है, (पंचमहव्वयसुरक्खियं) पांच महाव्रतों में इसका अच्छी तरह रक्षण-जतन अत्यन्त आवश्यक है, (समितिगुत्तिगुत्तं) यह पांच समितियों तथा तीन गुप्तियों से सुरक्षित है, (झाणवरकवाडसुकयं) उत्तम ध्यानरूपी कपाट से इसका भलीभांति जतन किया जाता है, (अज्झप्पदिण्णफलिहं) ध्यानरूपी कपाट को सुदृढ़ करने के लिए दूसरी अध्यात्म की अनुभूतिरूपी अर्गला है। (संनद्धोच्छइयदुग्गइपहं) जिसके द्वारा दुर्गति का पथ बांधा और रोका जाता है। (सुगतिपहदेसगं) यह सुगति का पथ-प्रदर्शक है, (च) और (लोगुत्तमं) लोक में उत्तम, (इणं वयं) यह व्रत (पउमसरतलाग-पालिभूयं) खिले हुए कमलों वाले पद्मसरोवर और तड़ागरूपी धर्म की रक्षा के लिए

यह पाल के समान है (महासगडअरगतुंबभूयं) बड़े गाड़े के आरों के लिए आधारभूत धुरी की तरह यह भी क्षमा आदि गुणों के लिए धुरी रूप है, (महाविडिमरुक्खक्खंधभूयं) आश्रितों के लिए परम उपकारी विशाल वृक्ष के स्कन्ध की तरह यह भी परमोपकारी धर्म रूप वृक्ष के स्कन्ध के समान है; (महानगरपागारकवाडफालिहभूयं) विविध सुख के कारणभूत धर्मरूपी महानगर के परकोटे के कपाट की अर्गला के समान यह भी रक्षक है, (रज्जुपिनद्ध इव इंदकेतू) रस्सी से बंधी हुई इन्द्रकेतु-महोत्सव की ध्वजा के समान यह ब्रह्मचर्य है। (विसुद्धणेगगुणसंपिणद्धं) धैर्य आदि अनेक विशुद्ध गुणों से यह अनुस्यूत है, (जंमि य भग्गंमि) जिस (ब्रह्मचर्य) के भंग होने पर (सहसा) अचानक (सव्वं) समस्त (विणयसीलतव-नियम गुण-समूहं) विनय, शील, तप, नियम आदि गुणसमूह, (संभग्ग-मद्दिय - मथियय-चुन्निय-कुसल्लिय-पव्वयपडिय-खंडिय-परिसडिय-विणासियं) घड़े के समान फूट जाते हैं, दही की तरह मथ जाते हैं, चने की तरह पिस जाते हैं, बाण से बींधे हुए शरीर की तरह बींधे जाते हैं, पर्वत से गिरे हुए पाषाण की तरह चूर-चूर हो जाते हैं, महल के शिखर से गिरे हुए कलश आदि की तरह नीचे गिर जाते हैं, लकड़ी के डंडे के समान टूट जाते हैं, कोढ़ आदि से सड़े हुए शरीर के समान सड़ जाते हैं, अग्नि से भस्म हुई लकड़ी की राख के समान वे अपने अस्तित्व को खो बैठते हैं, (तं) इस प्रकार का वह (भगवंतं) भगवान् (बंभं) ब्रह्मचर्य (गहगणनक्खत्त-तारगाणं) ग्रहगणों, नक्षत्रों और तारों के बीच में (जहा उडुपती वा) जैसे चन्द्रमा शोभायमान होता है, वैसे ही दूसरे व्रतों, नियमों आदि में ब्रह्मचर्य शोभायमान होता है। (मणिमुत्तसिलप्पवालरत्तरयणागराणं च जहा समुद्दो) मणि, मोती, शिला, मूंगा, पद्मराज आदि लाल रत्नों की उत्पत्ति का स्थानभूत जैसे समुद्र है, वैसे ही ब्रह्मचर्य अनेक गुणरत्नों का समुद्र है। तथा (वेरुलियो चेव जहा मणीण) मणियों में जैसे वैडूर्यमणि श्रेष्ठ होती है वैसे ही ब्रह्मचर्य व्रत है; (भूसणाणं) आभूषणों में (मउडो चेव) मुकुट की तरह यह है (वत्थाणं चेव खोमजुयलं) इसी प्रकार वस्त्रों में बारीक चिकने रुई के बने वस्त्र उत्तम होते हैं वैसे ही ब्रह्मचर्य भी है, (अरविंदं चेव पुप्फजेट्ठं) फूलों में ज्येष्ठ जैसे अरविन्द फूल है, वैसे ही ब्रह्मचर्य भी सब में ज्येष्ठव्रत है; (गोसीसं चेव चंदणाणं) चन्दनों में गोशीर्ष चन्दन की तरह प्रधान यह ब्रह्मचर्य है, (हिम-वंतो चेव ओसहीणं) औषधियों के लिए हिमवान् पर्वत की तरह यह ब्रह्मचर्य है,

(सीतोदा चेव निन्नगाणं) नदियों में सीतोदा नदी की तरह प्रवर है ब्रह्मचर्य, (उदहीसु जहा सयंभूरमणो) समुद्रों में जैसे स्वयंभूरमण समुद्र श्रेष्ठ है वैसे ही ब्रह्मचर्य सबमें श्रेष्ठ है। (रुयगवरे चेव मंडलिकपव्वयाणं मांडलीक पर्वतोंमें जैसे रुचकवर पर्वत श्रेष्ठ है वैसे ही ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है; (पयरो एरावण इव कुंजराणं) हाथियों में इन्द्र के श्रेष्ठ ऐरावत हाथी की तरह महान् ब्रह्मव्रत है। (सीहोव्व जहा मिगाणं) सब पशुओं में सिंह की तरह ब्रह्मचर्य सब में प्रधान है; (पवरे पवकाणं चेव वेणुदेवे) श्रेष्ठ सुपर्णकुमार देवों में वेणुदेव के समान (धरणो जह पण्णगइंदराया) नागकुमार देवों में श्रेष्ठ धरणेन्द्र के समान है, (कप्पाणं बंभलोए चेव) कल्प देवलोकों में उत्तम पांचवें ब्रह्मलोक के समान यह श्रेष्ठ है। (य) तथा (सभासु जहा सुहम्मा) सभाओं में श्रेष्ठ जैसे सुधर्मा सभा है, वैसे ही ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ है (ठितिसु लवसत्तमव्व) आयुष्य में अनुत्तर-विमान वासी देवों की ७ लव आयु (पवरा) श्रेष्ठ है, (दाणाणं) आहारादि - दान में (अभयदाणं चेव) अभय दान के समान है, (किमिराओ चेव कंबलाणं) कंबलों में कृमिराग नामक रत्न कंबल श्रेष्ठ होता है, उसी तरह ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है, (संघयणे चेव वज्जरिसभे) यथा सहननों में वज्रऋषभ नाराच संहनन उत्तम होता है, तथैव ब्रह्मचर्य भी उत्तम है, (संठाणे चेव समचउरंसे) संस्थानो में समचतुरस्र संस्थान श्रेष्ठ है, वैसे ही ब्रह्मचर्य है, (झाणेसु य परमसुक्क ज्झाणं) ध्यानों में सर्वोत्तम परमशुक्लध्यान होता है, तथैव सभी व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रवर है (णाणेसु परमकेवलं सुसिद्धं) ज्ञानों में परम केवल ज्ञान के समान श्रेष्ठरूप में प्रसिद्ध ब्रह्मचर्य है। (लेस्सासु परमसुक्कलेस्सा) षट् लेश्याओं में सर्वोत्तम परमशुक्ललेश्या के समान ब्रह्मचर्य है, (मुणीणं चेव तित्थयरे जहा) मुनियों में तीर्थंकर के समान ब्रह्मचर्य उत्तम है। (वासेसु महाविदेहे जहा) सात क्षेत्रों में महाविदेह क्षेत्र के समान (गिरिराया मंदरवरे चेव) पर्वतों में मन्दराचल-सुमेरु पर्वत के समान, (वणेसु नंदणवणं जहा) वनो में नन्दन वन के समान, (पवरं) श्रेष्ठ है, (दुमेसु जंबू जहा) वृक्षों में जैसे जंबू वृक्ष श्रेष्ठ है, तथैव व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है, (सुदंसण वीसुयजसा) जंबू वृक्ष का प्रख्यातयशवाला दूसरा नाम सुदर्शन है (य) और (जिए) जिसके, (नामेण) नाम से (अयंदीवो) यह द्वीप जम्बू द्वीप कहलाता है। जहा जैसे (तुरगवती) अश्वपति, (गयवती) गजपति, (रहवती) रथपति (नरवती) नरपति (राया) राजा (वीसुए चेव) प्रख्यात होता है, वैसे ही व्रतों में यह विख्यात है। (जहा रहिए राया महारहगते चेव) महान् रथ पर

सवार होकर राजा जैसे अपने शत्रुओं को पराजित कर देता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य भी कर्मशत्रु की सेना को हरा देता है। (एवं) इस प्रकार (एकमि) एक (बंभचेरे) ब्रह्मचर्य के होने पर (अणेगा गुणा अहीना) अनेक गुण आत्मा के अधीन हो जाते हैं (य) तथा (जंमि आराहियंमि) जिसकी आराधना कर लेने पर (सव्वमिणं वयं आराहियं) इस सम्पूर्ण मुनिव्रत की आराधना हो जाती है (सीलं तवो विणओ य) तथा शील, तप, विनय (य) और (सजमो) संयम, (खंती गुत्ती मुत्ती) क्षान्ति, गुप्ति, और मुक्ति-निर्लोभता, (तहेव, इसी प्रकार (इहलोइय-पारलोइयजसे कित्ती य) इहलौकिक और पारलौकिक यश और कीर्ति, (य) और (पच्चाओ) प्रत्यय-यह सज्जनों में अग्रणी है, ऐसी प्रतीति, इन सब गुणों की उपलब्धि ब्रह्मचर्य की आराधना से हो जाती है। (तम्हा इसलिए (सव्वाओ) मन-वचन-काया से (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त (जाव सेवट्ठि संजउत्ति) जब तक संयमी साधक के सफेद हड्डियां रहें तब तक निहुएण सुद्धं बंभचेरं चरियव्वं) साधक को निश्चल होकर शुद्ध ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण करना चाहिए। (एवं) आगे कहे अनुसार (भगवया) भगवान् महावीर ने (वयं भणियं) ब्रह्मचर्यव्रत का स्वरूप बताया है (तं च इमं) वह ब्रह्मचर्यव्रत इस प्रकार है—(पंचमहव्वयसुव्वयमूल) यह पांच महाव्रतों और पांच अणुव्रतों का मूल है, अथवा पंच महाव्रत रूप उत्तम व्रतों की जड़ है, या पंच महाव्रतधारी श्रमणों के उत्तम नियमों का मूल है। (समणमणाइलसाहुसुचिन्नं) निर्दोष श्रमणों ने इसका अच्छी तरह निष्ठापूर्वक आचरण किया है। (वेरविरामणपज्जवसाणं) वैर की निवृत्ति करना ही इसका अन्तिम फल है। (सव्वसमुद्दमहोदधितित्थं) सब समुद्रों में महान् समुद्र-स्वयंभूरमण सागर के समान दुस्तर है, अतएव पवित्रता के कारण यह तीर्थ के तुल्य है। (तित्थकरेहि सुदेसियमग्गं) तीर्थंकरों ने इसके पालन का गुप्ति आदि मार्ग-उपाय बताया है। (नरयतिरिच्छ विवज्जियमग्गं) यह नरक और तिर्यंचगति के मार्ग का निवारण करता है। (सव्वपवित्त सुनिम्मियसारं) समस्त पवित्र कार्यों को यह सारवान् बनाने वाला है (सिद्धि विमाण अवंगुयदारं) जिसने सिद्धि-मोक्ष और स्वर्ग के द्वारों को खोल दिया है, (देव नरिंदनमंसिय पूयं) यह देवेन्द्रों और नरेन्द्रों से नमस्कृत तथा गणधरादि से पूज्य है। (सव्वजगुत्तममंगलमग्गं) सारे संसार के उत्तम मंगलकार्यों का यहमार्ग रूप है। (दुद्धरिसं) दूसरों से इसका पराभव नहीं हो सकता, (एक्कं) यह अद्वितीय गुण है, (गुणनायकं) गुणो का नेता है अथवा गुणों को प्राप्त कराने वाला है, (मोक्खपहस्स वडिंसकभूयं) सम्यग्दर्शन

आदि मोक्ष मार्गके शेखर के समान हैं। (जेण सुद्धचरिएण) जिसके शुद्ध रूप में आचरण करने से मनुष्य (सुबंभणो) उत्तम ब्राह्मण, (सुसमणो) उत्तम श्रमण, (सुसाहू) अच्छा साधु (सुइसी) श्रेष्ठ ऋषि, (सुमुणी) उत्कृष्ट मुनि (भवति, हो जाता है। (स संजए) वही संयमी है, (स एव भिक्खू) वही भिक्षु है, (जो बंभचेरं सुद्धं चरति) जो ब्रह्मचर्य का शुद्ध पालन करता है।

(इमंच) तथा आगे कहे जाने वाले (रति राग दोस मोह-पवड्ढणकरं) विषयराग, स्नेहराग, द्वेष और मोह की वृद्धि करने वाले (किमज्झ - पमाय-दोस पासत्थसीलकरणं) निःसार-कुत्सित मध्यमप्रमाद या प्रमाद ही मध्य हैं, उस प्रमाद दोष के कारण बने हुए पार्श्वस्थ-साध्याभासों के शील-आचार का सर्वथा त्याग करे (य अब्भंगणाणि) और घी, तेल आदि से मर्दन, (तेल्ल मज्जणाणि य) तथा तेल लगाकर स्नान करना, (अभिक्खणं) बारबार (कक्ख-सीस कर चरण वदण-धोवण-संवाहण-गायकम्म-परिमद्दणाणुलेवण-चुन्नवास-धूवण-सरीरपरिमंडण - बाउसिकं) कांख, सिर, हाथ, पैर, मुंह धोना, इनको दबवाना-दबाना, शरीर को पगचंपी कराने के रूप में गात्रपरिकर्म, सम्पूर्ण शरीर मलना, चंदनादि का लेप करना, सुगन्धित चूर्ण-पाउडर लगाना, अगरबत्ती आदि से धूप देना, शरीर को सजाना, शृंगार करना, नख, केश वस्त्रादि का संवारना आदि बाकुशिक कर्म, तथा (हसिय भणियं नट्टगीय-वाइय-नडनट्टकजल्लमल्लपेच्छणवेलंबक) हंसना, विकारयुक्त बोलना, नृत्य देखना, गीत गाना, बाजे बजाना, नट, नर्तक-नाचने वाले, रस्सी पर खेल दिखाने वाले, तथा पहलवानों और भांडों के खेल तमाशे या कुश्ती आदि देखना (य) और (जाणि) जो (सिंगारा-गाराणि) शृंगार रस के एक तरह से घर हैं (अन्नाणि य एवमाइयाणि) दूसरी भी इसी प्रकार की जो बातें हैं, (तवसंजमबंभचेरघातोवघातियाइं) जो तपस्या, संयम और ब्रह्मचर्य का थोड़ा घात या बारबार अधिक उपघात करने वाली हैं, (बंभचेरं अणुचर-माणेणं सव्वकालं वज्जेयव्वाइं) ब्रह्मचर्य के पालन करने वाले को ये सब बातें सदासर्वदा छोड़ देनी चाहिए, इन्हें वर्जनीय समझना चाहिए। (य) तथा (इमेहिं) आगे कहे जाने वाले (तव नियमसील जोगेहिं) तप, नियम, और शील के व्यापारों-प्रवृत्तियों द्वारा (निच्चकालं) नित्य निरंतर (अंतरप्पा भावेयव्वो) अन्तरात्मा भावित-संस्कारित करना चाहिए। (कि ते ?) वे व्यापार या प्रवृत्तियां कौन-कौन-सी हैं ? (अण्हाणक-दंतधावण-सेयमल-जल्लधारणं मूणवय केसलोए य खमदमअचेलग-खुप्पिवास-लाघव-सीतोसिणकट्ठसेज्जा भूमिनिसेज्जा-परघरपवेस-लद्धावलद्ध-माणावमाण - निंदण-दंसमसगफास-नियम-तव-गुण-विणय-मादिएहिं) स्नान न करना, दांत साफ न करना, पसीना, मैल या शरीर

के मैल विशेष को धारण करना, मौनव्रत रखना, केशलोच करना, क्षमा, दम, अचेलकतता-वस्त्ररहिता या अल्पजीर्ण वस्त्र धारण करना,क्षुधा और पिपासा सहन करना, लघुता धारण करना, सर्दी-गर्मी सहना, काष्ठ की शय्या पर सोना, भूमि पर बैठना, भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर जाना, भिक्षा आदि के मिलने पर अभिमान तथा न मिलने पर या कम मिलने पर अपमान-दैन्य न दिखाना, निन्दा सहन करना, डांस व मच्छर के स्पर्श सहना, नियम-उत्तर गुण, तपस्या, मूलगुणादि और विनय इत्यादि में अन्तरात्मा को सम्यक् प्रकार से भावनायुक्त-संस्कारसम्पन्न बनाना चाहिए। (जहा) जिससे इन सब के योग से (यं) उस ब्रह्मचारी का (बंभचेरं) ब्रह्मचर्य (थिरतरकं होइ) अत्यन्त स्थिर हो जाता है।

(च) तथा (इमं) यह (पावयणं) ब्रह्मचर्यरूप सिद्धान्त प्रवचन (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने, (अबंभचेर विरमण परिरक्खणट्ठयाए) अब्रह्मचर्य से विरति एवं ब्रह्मचर्य संवर की परिरक्षा के लिए (सुकहियं) सुन्दर ढंग से कहा है; जो (पेच्चाभावियं) जन्मान्तर में सहायक (आगमेसिभद्दं) भविष्य में कल्याणकर (सुद्धं) निर्दोष, (नेआउयं) न्यायसंगत, (अकुडिलं) कुटिलता से रहित (अणुत्तरं) श्रेष्ठ और (सव्वदुक्खपावाणं) सभी दुःखों और पापों को (विउसवणं) शान्त करने वाला है।

मूलार्थ—श्री सुधर्मास्वामी अपने प्रधान शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं—हे जम्बू ! अदत्तादान त्याग व्रत के अनन्तर ब्रह्मचर्यव्रत का वर्णन करता हूँ। यह ब्रह्मचर्यव्रत उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है, अहिंसा एवं सत्यादि पंचमहाव्रतरूप यम तथा अभिग्रहादिरूप नियम के प्रधान गुणों से युक्त है। यह हिमवान पर्वत से भी महा तेजस्वी है। इसका पालन करने वाले साधकों का अन्तःकरण विशाल, उदार, गम्भीर और स्थिर हो जाता है। सरलस्वभावी साधुमहात्माओं ने इसका आचरण किया है, यह मोक्ष का मार्ग है, रागद्वेषादि से रहित विशुद्ध सिद्धिगति का आश्रय है। यह शाश्वत-नित्य, बाधारहित, पुनः उत्पत्ति न होने का कारण है, यह श्रेष्ठ है, सौम्य है, शुभ या सुख का कारण है, कल्याणकर्ता है, स्थिरता का कारण है, अक्षय—मोक्ष का कारण है, उत्तम साधुजनों ने इसकी सुरक्षा की है, यह श्रेष्ठ आचरण है, केवली मुनिवरों ने इसका सरहस्य निरूपण किया है। जाति, कुल आदि गुणों से उत्तम महापुरुषों एवं धैर्यधारियों में महासत्व पराक्रमी पुरुषों, धर्मप्राण एवं धैर्यवान् पुरुषों का ही यह व्रत सब अवस्थाओं में विशुद्ध निर्मल रहता है। यह भव्य व्रत है, समस्त भव्यजन

आदि मोक्ष मार्गके शेखर के समान है। (जेण सुद्धचरिएण) जिसके शुद्ध रूप में आचरण करने से मनुष्य (सुबंभणो) उत्तम ब्राह्मण, (सुसमणो) उत्तम श्रमण, (सुसाहू) अच्छा साधु (सुइसी) श्रेष्ठ ऋषि, (सुमुणी) उत्कृष्ट मुनि (भवति, हो जाता है। (स संजए) वही संयमी है, (स एव भिक्खू) वही भिक्षु है, (जो बंभचेरं सुद्धं चरति) जो ब्रह्मचर्य का शुद्ध पालन करता है।

(इमंच) तथा आगे कहे जाने वाले (रति राग दोस मोह-पवड्ढणकरं) विषयराग, स्नेहराग, द्वेष और मोह की वृद्धि करने वाले (किमज्झ - पमाय-दोस पासत्थसीलकरणं) निःसार-कुत्सित मध्यमप्रमाद या प्रमाद ही मध्य है, उस प्रमाद दोष के कारण बने हुए पार्श्वस्थ-साध्वाभासों के शील-आचार का सर्वथा त्याग करे (य अब्भंगणाणि) और घी, तेल आदि से मर्दन, (तेल्ल मज्जणाणि य) तथा तेल लगाकर स्नान करना, (अभिक्खणं) बारबार (कक्ख-सीस कर चरण वदण-धोवण-संवाहण-गायकम्म-परिमद्दणाणुलेवण-चुन्नवास-धूवण-सरीरपरिमंडण - बाउसिकं) कांख, सिर, हाथ, पैर, मुंह धोना, इनको दबवाना-दबाना, शरीर को पगचंपी कराने के रूप में गात्रपरिकर्म, सम्पूर्ण शरीर मलना, चंदनादि का लेप करना, सुगन्धित चूर्ण-पाउडर लगाना, अगरबत्ती आदि से धूप देना, शरीर को सजाना, शृंगार करना, नख, केश वस्त्रादि का संवारना आदि बाकुशिक कर्म, तथा (हसिय भणियं नट्टगीय-वाइय-नडनट्टकजल्लमल्लपेच्छणवेलंबक) हंसना, विकारयुक्त बोलना, नृत्य देखना, गीत गाना, बाजे बजाना, नट, नर्तक-नाचने वाले, रस्सी पर खेल दिखाने वाले, तथा पहलवानों और भांडों के खेल तमाशे या कुश्ती आदि देखना (य) और (जाणि) जो (सिंगारा-गाराणि) शृंगार रस के एक तरह से घर हैं (अन्नाणि य एवमादियाणि) दूसरी भी इसी प्रकार की जो बातें हैं, (तवसंजमबंभचेरघातोवघातियाइं) जो तपस्या, संयम और ब्रह्मचर्य का थोड़ा घात या बारबार अधिक उपघात करने वाली हैं, (बंभचेरं अणुचर-माणेणं सव्वकालं वज्जेयव्वाइं) ब्रह्मचर्य के पालन करने वाले को ये सब बातें सदासर्वदा छोड़ देनी चाहिए, इन्हें वर्जनीय समझना चाहिए। (य) तथा (इमेहिं) आगे कहे जाने वाले (तव नियमसील जोगेहिं) तप, नियम, और शील के व्यापारों-प्रवृत्तियों द्वारा (निच्चकालं) नित्य निरंतर (अंतरप्पा भावेयव्वो) अन्तरात्मा भावित-संस्कारित करना चाहिए। (किं ते ?) ये व्यापार या प्रवृत्तियाँ कौन-कौन-सी हैं ? (अण्हाणक-दंतधावण-सेयमल-जल्लधारणं मूणवय केसलोए य खमदमअचेलग-खुप्पिवास-लाघव-सीतोसिणकट्ठसेज्जा भूमिनिसेज्जा-परघरपवेस-लद्धावलद्ध-माणावमाण - निंदण-दंसमसगफास-नियम-तव-गुण-विणय-मादिएहिं) स्नान न करना, दांत साफ न करना, पसीना, मैल या शरीर

के मल विशेष को धारण करना, मौनव्रत रखना, केशलोच करना, क्षमा, दम, अचेलकतता-वस्त्ररहिता या अल्पजीर्ण वस्त्र धारण करना,क्षुधा और पिपासा सहन करना, लघुता धारण करना, सर्दी-गर्मी सहना, काष्ठ की शय्या पर सोना, भूमि पर बैठना, भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर जाना, भिक्षा आदि के मिलने पर अभिमान तथा न मिलने पर या कम मिलने पर अपमान-दैन्य न दिखाना, निन्दा सहन करना, डांस व मच्छर के स्पर्श सहना, नियम-उत्तर गुण, तपस्या, मूलगुणादि और विनय इत्यादि में अन्तरात्मा को सम्यक् प्रकार से भावनायुक्त-संस्कारसम्पन्न बनाना चाहिए। (जहा) जिससे इन सब के योग से (यं) उस ब्रह्मचारी का (बंभचेरं) ब्रह्मचर्य (थिरतरकं होइ) अत्यन्त स्थिर हो जाता है।

(च) तथा (इमं) यह (पावयणं) ब्रह्मचर्यरूप सिद्धान्त प्रवचन (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने, (अबंभचेर विरमण परिरक्खणट्ठयाए) अब्रह्मचर्य से विरति एवं ब्रह्मचर्य संवर की परिरक्षा के लिए (सुकहियं) सुन्दर ढग से कहा है; जो (पेच्चाभावियं) जन्मान्तर में सहायक (आगमेसिभद्दं) भविष्य में कल्याणकर (सुद्धं) निर्दोष, (नेआउयं) न्यायसंगत, (अकुडिलं) कुटिलता से रहित (अणुत्तरं) श्रेष्ठ और (सव्वदुक्खपावाणं) सभी दु:खों और पापों को (विउसवणं) शान्त करने वाला है।

मूलार्थ—श्री सुधर्मास्वामी अपने प्रधान शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं—हे जम्बू! अदत्तादान त्याग व्रत के अनन्तर ब्रह्मचर्यव्रत का वर्णन करता हूँ। यह ब्रह्मचर्यव्रत उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है, अहिंसा एवं सत्यादि पंचमहाव्रतरूप यम तथा अभिग्रहादिरूप नियम के प्रधान गुणों से युक्त है। यह हिमवान पर्वत से भी महा तेजस्वी है। इसका पालन करने वाले साधकों का अन्तःकरण विशाल, उदार, गम्भीर और स्थिर हो जाता है। सरलस्वभावी साधुमहात्माओं ने इसका आचरण किया है, यह मोक्ष का मार्ग है, रागद्वेषादि से रहित विशुद्ध सिद्धिगति का आश्रय है। यह शाश्वत-नित्य, बाधारहित, पुनः उत्पत्ति न होने का कारण है, यह श्रेष्ठ है, सौम्य है, शुभ या सुख का कारण है, कल्याणकर्ता है, स्थिरता का कारण है, अक्षय—मोक्ष का कारण है, उत्तम साधुजनों ने इसकी सुरक्षा की है, यह श्रेष्ठ आचरण है, केवली मुनिवरों ने इसका सरहस्य निरूपण किया है। जाति, कुल आदि गुणों से उत्तम महापुरुषों एवं धैर्यधारियों में महासत्व पराक्रमी पुरुषो, धर्मप्राण एवं धैर्यवान् पुरुषों का ही यह व्रत सब अवस्थाओं में विशुद्ध निर्मल रहता है। यह भव्य व्रत है, समस्त भव्यजन

इसका आचरण करते हैं, यह शंका से रहित है, इसमें भय को कोई स्थान नहीं है, यह तुपरहित चावल के समान सारयुक्त वस्तु है, इसमें किसी प्रकार के खेद को अवकाश नहीं है, मालिन्य के लेप की गुंजाइश नहीं है, यह चित्त की परमशान्ति—निवृत्ति का घर है, इसका नियम अचल है, यानी अतिचार—अपवाद को इसमें स्थान नहीं है, तप और संयम का यही (ब्रह्मचर्य ही) मूल है, पांचों महाव्रत इससे सुरक्षित रहते हैं अथवा पंचमहाव्रतों में इसका रक्षण-जतन अत्यन्त आवश्यक है। यह पाँच समितियों और तीन गुप्तियों से सुरक्षित है, उत्तम ध्यान रूपी कपाट से इसकी भलीभांति रक्षा की जाती है और ध्यानरूपी कपाट को सुदृढ़ करने के लिए अध्यात्म-अनुभव ज्ञानरूप उपयोग की अर्गला लगाई जाती है। इसके जरिये दुर्गति का मार्ग बांधा और रोका जाता है, यह उत्तमगति का पथप्रदर्शक है, पद्मसरोवर एवं तालाब के समान शुद्ध धर्म की रक्षा के लिए यह लोकोत्तम व्रत पाल है, बड़ी गाड़ी (महाशकट) के पहिये में लगे हुए आरों का आधार जैसे उसकी धुरी (नाभि) होती है वैसे ही जीवन रूपी गाड़ी के गुण रूपी आरों के आधारभूत धुरी के समान ब्रह्मचर्य है। बड़ी शाखाओं वाले धर्म रूपी महावृक्ष का यह स्कन्ध (तना) है। धर्मरूपी महानगर के कोट के कपाटों के लिए यह लोहदंड – आगल के समान विपत्ति से रक्षा करने वाला है, रस्सी से परिवेष्टित महोत्सवध्वज-इन्द्र ध्वज के समान सुशोभित है, यह धैर्य आदि अनेक निर्मल गुणों से परिवेष्टित है। इस व्रत का भंग होने पर विनय, शील, तप आदि सब गुणसमूह मिट्टी के घड़े के समान एक दम नष्ट हो जाते है, दही के समान मथ जाते हैं – मर्दित हो जाते है, चने के समान पिस जाते है, बाण से बींधे हुए शरीर के समान बिंध जाते हैं, महल के शिखर से गिरे हुए कलश के समान नीचे गिर जाते हैं लकड़ी के दण्ड के समान टूट जाते हैं, कोढ़ आदि से गड़े हुए शरीर के समान सड़ जाते हैं और अग्नि में जलकर भस्म हुई लकड़ी की राख के के समान अपना अस्तित्व खो बैठते हैं। इस प्रकार प्रशस्त लक्षणों से युक्त वह भगवान् ब्रह्मचर्य ग्रहगणों, नक्षत्रों और तारों के बीच में चन्द्रमा के समान सब व्रतों के बीच में सुशोभित है। जैसे समुद्र चन्द्रकान्त आदि मणि, मोती, शिला, मूंगा और पद्मरागादि रक्त रत्नों की खान है, वैसे ही ब्रह्मचर्य भी अनेक गुणरूप रत्नों की खान है। मणियों में वैडूर्य मणि जैसे श्रेष्ठ है,

वैसे ही व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है। आभूषणों में जैसे मुकुट प्रधान आभूषण है, वैसे ही व्रतों में ब्रह्मचर्य प्रधान है। सब वस्त्रों में बारीक चिकने रूई के बने हुए वस्त्र उत्तम होते हैं, वैसे ही ब्रह्मचर्य सबमें उत्तम है। सब पुष्पों में प्रधान कमल के समान व्रतों में प्रधान ब्रह्मचर्य है, समस्त चन्दनों में गोशीर्षचन्दन के समान श्लाघनीय है। सब औषधियों के जनक हिमवान् पर्वत की तरह यह भी सब व्रतों का जनक है, समस्त नदियों में सीतोदा नदी के समान विशाल है। सब समुद्रों में स्वयम्भूरमण समुद्र के समान महान् है, वलयाकार—गोल चक्राकार पर्वतों के बीच में तेरहवें द्वीप में स्थित रुचकवर पर्वत के समान यह सबसे श्रेष्ठ है। समस्त हाथियों मे ऐरावन हाथी के समान प्रशस्त है। सब पशुओं पर सिंह के आधिपत्य के समान यह समग्र व्रतों पर आधिपत्य रखने वाला है। सुपर्ण कुमार देवों में वेणुदेव इन्द्र के समान ब्रह्मचर्य प्रधान है। असुरजाति के नागकुमार देवों में धरणेन्द्र के समान प्रभुताशालो है, कल्पवासी देवलोकों में ब्रह्मलोक के समान प्रशस्त है, समस्त सभाओं में सुधर्मा सभा के समान आदरणीय है। सब स्थितियों में अनुत्तर वैमानिक देवों की सात लव-रूप उत्कृष्ट स्थिति के समान यह सब व्रतों में उत्कृष्ट है, आहारादि सब दानों में अभय दान की तरह उत्तम व्रत है, समस्त कंबलों में किरमिची रंग के विशेष कंबल के समान यह सब व्रतों में विशिष्ट है। छह संहननों में वज्रऋषभनाराच संहनन के समान यह परमोत्कृष्ट है। छह संस्थानों में समचतुरस्र संस्थान के समान यह व्रतों में प्रधान है। मति, श्रुत आदि पांच ज्ञानों में क्षायिक केवलज्ञान के समान यह श्रेष्ठ और सिद्ध-सम्पूर्ण है अथवा परमपूज्य व प्रसिद्ध है। छह लेश्याओं में परमशुक्ल लेश्या के समान यह पवित्र व्रत है। इसी प्रकार मुनियों में जैसे तीर्थंकर जगद्वंद्य है वैसे ही यह जगद्वंद्य व्रत है। भरतादि क्षेत्रों में महाविदेह के समान यह प्रशस्त है, सब पर्वतों में गिरिराज मन्दराचल के समान यह सर्वोच्च है, सब वनों में नंदनवन के समान यह मनोहर है। सभी वृक्षों में जम्बूवृक्ष के समान श्रेष्ठ है। जम्बूद्वीप में इस जम्बूवृक्ष का दूसरा नाम और यश सुदर्शन के नाम से भी प्रसिद्ध है, इसी वृक्ष के नाम पर इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पड़ा है। जैसे अश्वपति, गजपति, रथपति और नरपति राजा विख्यात होता है, वैसे ही यह ब्रह्मचर्य भी विख्यात है। रथ पर सवार होकर युद्ध करने वाला जैसे राजा महान् रथ पर सवार होकर शत्रुओं

को पराजित कर देता है वैसे ही इस व्रत का धारण करने वाला साधु कर्मशत्रुओं की सेना को पराजित कर देता है, अथवा उपद्रवों को परास्त कर देता है। इस प्रकार सिर्फ एक ब्रह्मचर्य व्रत के होने पर अनेक गुण आत्मा के अधीन हो जाते है। इस ब्रह्मचर्य की आराधना करने पर सम्पूर्ण मुनिव्रतों का आराधन हो जाता है, तथा शील, तप, विनय, संयम, क्षमा, गुप्ति मन-वचन-काया का नियंत्रण), मुक्ति निर्लोभता, तथा इहलोक और परलोक सम्बन्धी यश (एक देश व्यापी), कीर्ति (सर्व देशव्यापिनी) और प्रतीति का पालन इस एक व्रत से हो जाता है। इस लिए जीवन पर्यन्त जब तक संयमी साधु के शरीर में सफेद हड्डियाँ शेष रहें तब तक स्थिरचित्त होकर मन, वचन, काया से सर्वतो विशुद्ध ब्रह्मचर्य का आचरण करना चाहिए। भगवान् महावीर प्रभु ने ब्रह्मचर्य व्रत का स्वरूप इस (आगे कहे जाने वाले) प्रकार से बताया है—

यह ब्रह्मचर्य महाव्रत पंचमहाव्रत रूप जो उत्तमव्रत हैं, उनका मूल है, अथवा पांच महाव्रतों और पांच अणुव्रतों का मूल है। निर्दोष साधुओं ने भावपूर्वक सम्यक् प्रकार से इसका आचरण किया है, वैर को शांत-निवृत्त करना ही इसका अन्तिमफल है। समस्त समुद्रों में महान् स्वयम्भूरमण समुद्र के समान दुस्तर है, पवित्रता के कारणभूत तीर्थ के समान परमपवित्र है। अथवा स्वयम्भूरमण समुद्र के समान विस्तीर्ण संसार सागर से पार करने वाला तीर्थ है ॥१॥

तीर्थकरों ने समिति, गुप्ति आदि से इसके पालन करने का उपाय बताया है। यह नरक और तिर्यग्गति के मार्ग का निवारण करने वाला है। यह संपूर्ण पवित्र कार्यों को सारवान् बनाने वाला है। इसने सिद्धि-मुक्ति तथा स्वर्ग विमानों का मार्ग खोल दिया है ॥२॥

यह देवेन्द्रों और नरेन्द्रों द्वारा नमस्कृत एवं गणधरादि द्वारा पूजित है। यह सारे जगत् के मंगलमय कार्यों का मार्ग है। इसका कोई पराभव नहीं कर सकता, यह दुर्धर्ष है। यह समस्त गुणों का एकमात्र नायक है, यह सम्यग्दर्शन आदि मोक्ष मार्ग का शेखर (शिरोभूषण) है, प्रधान है ॥३॥

इसका शुद्ध रूप में आचरण करने से ही मनुष्य उत्तम ब्राह्मण होता है, सुश्रमण होता है, स्व-पर कल्याण को साधने वाला साधु होता है, श्रेष्ठ ऋषि—परमार्थद्रष्टा होता है, जगत् के तत्त्वों पर मनन करने वाला सुमुनि होता है। वही संयमी है, वही भिक्षु है, जो ब्रह्मचर्य का शुद्ध पालन करता है।

यह तो इन्द्रिय विषयों के प्रति रति-प्रीति, पिता आदि के प्रति आसक्ति (राग), द्वेष, मोह-मूढ़ता को बढ़ाने वाले तथा कुत्सित हृदय बना देने वाले प्रमाद दोष अथवा साधु के लिए आचरणीय हर प्रवृत्ति के लिए इस प्रकार कहना कि 'इसमें क्या रखा है ?' इस प्रकार के प्रमाददोषयुक्त ज्ञानाचारादि से बहिर्वर्ती पार्श्वस्थों—साध्वाभासों के आचरण जैसा आचरण बना लेना, घी, तैल आदि की मालिश करना, तेल लगा कर स्नान करना, निरन्तर कांख, सिर, हाथ, पैर और मुंह धोना, हाथ पैर आदि को दबवाना, शरीर के अवयवों को संवारना, शरीर का अच्छी तरह मर्दन करना, चदन आदि का लेप करना, सुगन्धित चूर्ण (पाउडर) से शरीर तथा वस्त्रादि को सुगन्धित करना, अगरबत्ती आदि से धूप देना, शरीर को सजाना तथा नख केश एवं वस्त्रादि का संवारना—ये सब बाकुशिक (बकुश-चितकबरे चारित्र वाले) कर्म करना तथा ठहाका मार कर हंसना, विकारसहित बोलना, नाच देखना, अश्लील गीत गाना या सुनना, वाद्य बजाना या सुनना, नटों के खेल तमाशे, नर्तकों के नाच, कलाबाजों की विविध कलाबाजियां और पहलवानो की कुश्तियां देखना तथा विदूषकों के तमाशे देखकर तदनुकूल हास्य चेष्टाएँ करना, तथा जो वस्तुएँ शृंगार रस की घर हैं, इस प्रकार की दूसरी बातें भी जो संयमी साधु के तप, संयम और ब्रह्मचर्य की घातक और उपघातक हैं, वे ब्रह्मचर्य का निरन्तर आचरण करने वाले के लिए सदा-सर्वदा वर्जनीय हैं, यानी ब्रह्मचर्य का साधक इन सब अब्रह्मचर्यवर्द्धक—कामोत्तेजक बातों से दूर रहे। इन आगे कहे जाने वाले तप, नियम और शील के प्रवृत्ति योगों से ब्रह्मचर्यसाधक अन्तरात्मा को नित्य-निरन्तर भावित करे, यानी इन संस्कारों से जीवन को सुदृढ़ करे वे कौन-कौन से प्रवृत्तियोग हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं —स्नान न करना, दंत-धावन न करना, पसीने का मैल और शरीर के अन्य मैल विशेषों का धारण करना, मौनव्रत रखना, केशलोच करना, क्षमा, (कष्ट सहिष्णुता या तितिक्षा), इन्द्रियदमन, आचेलक्य-वस्त्राभाव या कमवस्त्र रखना, क्षुधा-पिपासा सहन करना, लघुता-द्रव्य से अल्प उपकरण रखना और भाव से नम्रता रखना, सर्दी-गर्मी सहना, श्रेष्ठ शय्या या भूमि पर बैठना, तमाम आवश्यक वस्तुओं की याचना के लिए दूसरे के घर में प्रवेश करना, अभीष्ट आहार आदि के मिलने पर मान और न मिलने पर दैन्य न करना, निन्दा सहन करना, डांस-मच्छर आदि का

और मनोबल सर्वप्रथम आवश्यक है। बिना मनोबल के वह क्या खाक तप करेगा और बिना शरीरबल के वह उसे कहाँ तक पार लगाएगा ? और जितनी भी शक्तियाँ हैं, वे सब ब्रह्मचर्य से प्राप्त होती हैं। इसलिए ब्रह्मचर्य को तप का मूल बताया है। सूत्रकृतांगसूत्र में वीरस्तुति करते हुए कहा है—

'तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं'।

अर्थात्—'तपस्याओं में सबसे उत्तम तप ब्रह्मचर्य है।'

आभ्यन्तर तप के लिए भी मनोबल और आत्मबल दोनों की आवश्यकता है।

अब लीजिए नियम को। अमुक काल की मर्यादापूर्वक जो प्रतिज्ञा ली जाती है; उसे नियम कहते है। अभिग्रह, पिंड-विशुद्धि, पौरुषी आदि के प्रत्याख्यान या किसी भी वस्तु का त्याग करना, नियम कहलाता है। किसी भी नियम के पालन करने के लिए मनोबल और शरीरबल सबसे पहले आवश्यक है। अन्यथा, वह नियम टूट जायगा या नियम में से छिटकने के लिए व्यक्ति कोई रास्ता ढूंढेगा।

इसी प्रकार ज्ञान (वस्तु का साकार प्रतिभास विशेष बोध) और दर्शन (निराकार प्रतिभास–सामान्य बोध) के उपार्जन के लिए भी स्मरणशक्ति की आवश्यकता है, बौद्धिक प्रतिभा की जरूरत है। ये दोनों उपलब्ध होती हैं—ब्रह्मचर्य से ही। इसलिए इन दोनों के मूल में भी ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है।

चारित्र पालन के लिए मन-वचन-काया की विशुद्धि आवश्यक है। मन, वचन या काया में जरा भी विकार भाव आ जाता है, तो चारित्र खतम हो जाता है। अतः चारित्र को टिकाए रखने में मूल कारण ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य से ही मन, वचन तथा काया की पवित्रता या शुद्धि रह सकती है।

सम्यग्दर्शन भी वास्तव में आत्मिकबल पर निर्भर है, निरीक्षण-परीक्षणशक्ति पर ही टिका हुआ है। हेय और उपादेय का, सत्यासत्य का, कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन के अभाव में व्यक्ति सांसारिक पदार्थों तथा स्त्रीपुत्रादि सम्बन्धों के प्रति ज्यादा से ज्यादा गाढ़ आसक्ति रखता है; जिससे मिथ्यादर्शन हो जाता है, जिसके कारण आत्मा नरकतिर्यंचगति में गमन करता है। ब्रह्मचर्य से ही आत्मिक, बौद्धिक, हार्दिक, विवेकीय एवं परीक्षण-निरीक्षणीय शक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। इसलिए सम्यक्त्व का भी मूल ब्रह्मचर्य है।

अब रहा विनय। विनय का आचरण करने के लिए भी शरीरादि का बल अपेक्षित है, जो ब्रह्मचर्य के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए विनय का मूल भी ब्रह्मचर्य ही है।

निष्कर्ष यह है कि ब्रह्मचर्य के होने पर ही उत्तम तप, नियम आदि का अस्तित्व है, अन्यथा नहीं।

यमनियमगुणप्पहाणजुत्तं—अहिंसा सत्य आदि पाच महाव्रत या पाच अणुव्रत यम कहलाते हैं। जिनकी प्रतिज्ञा जीवन भर के लिए ली जाय, उन्हें यम कहते हैं और जिनके लिए काल की अमुक अवधि नियत की जाय, उन्हें नियम कहते हैं। इसलिए ब्रह्मचर्य गुणो में प्रधान यमनियमरूप गुणों से युक्त रहता है। मतलब यह है कि यम और नियम जहां होंगे, वहां ब्रह्मचर्य अवश्य ही रहेगा। अब्रह्मचारी यमनियम का पालन करने में सर्वथा असमर्थ होगा ; क्योकि अब्रह्मचर्य का सेवन करने वाले प्रायः हिंसा झूठ चोरी आदि पापों का आश्रय लेते हैं। वे हिंसादि पापो से बच नही सकते और नियमादि का पालन करने में सर्वथा उदासीन रहते हैं।

हिमवंतमहंततेयमंतं—यह ब्रह्मचर्य हिमवान् पर्वत से भी अधिक तेजस्वी है। हिमवान् पर्वत लंबाई, चौड़ाई, ऊँचाई आदि में तमाम पहाड़ो से बड़ा है। परन्तु ब्रह्मचर्य उससे भी बढकर है। ब्रह्मचारी की तेजस्विता और कान्तिके सामने हिमवान् की कान्ति और तेजस्विता फीकी लगती है। ब्रह्मचर्य की गरिमा बताते हुए एक आचार्य कहते हैं—

> व्रतानां ब्रह्मचर्यं हि, विशिष्टं गुरुकं व्रतम्।
> तज्जन्यपुण्यसम्भारसंयोगाद् गुरुरुच्यते ॥

अर्थात्—'ब्रह्मचर्य सभी व्रतो में विशिष्ट और बड़ा माना गया है।

गुरु अर्थात् बड़ा या महान् तो इसे इसलिए माना जाता है कि इसके पालन से होने वाले पुण्यों का पुंज इकट्ठा हो जाता है।'

अन्य मतावलम्बी भी ब्रह्मचर्य की महत्ता स्वीकार करते हैं—

> एकतश्चतुरो वेदा ब्रह्मचर्यं च एकतः।
> एकतः सर्वपापानि मद्यं मांस च एकतः ॥

तराजू के एक पलड़े में चारो वेद रखे जांय और दूसरे में ब्रह्मचर्य रखा जाय, इसी तरह एक ओर सभी पाप रखे जांय और दूसरे मे मद्य-मास जन्य पाप को चढाया जाय, तो भी इनमें समानता नहीं प्रतीत होती है। तात्पर्य यह है कि चारों वेदों से ब्रह्मचर्य का पलड़ा ही सबसे भारी रहता है। क्योंकि पुण्य की राशि ब्रह्मचर्य के पास ही होती है, और पुण्यराशि वाला ही सदा महान् होता है।

पसत्थगंभीरथिमितमज्झं—इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य के पालन करने से ही अन्तःकरण उदार, गम्भीर और स्थिर हो सकता है। जो कामी-भोगी व्यक्ति है, उसके हृदय में एकाग्रता नही होगी ? उसका चित्त चंचल रहेगा। ऐसे हृदय में कहां गम्भीरता और स्थिरता होगी ? कामी पुरुषों का हृदय छिछला होने के कारण स्वार्थी ही होता है, उदार नहीं। ब्रह्मर्य से व्यक्ति में गम्भीरता, उदारता और स्थिरता आती है, यह बात निश्चित है।

अज्जवसाहुजणाचरितं—जो वक्र या कुटिल साधक होते हैं, वे प्रायः तर्क-वितर्क किया करते है, कि ब्रह्मचर्य के पालन मे क्या आनन्द आता है ? इसे भंग कर दिया जाय तो क्या हानि है ? इसलिए ऐसे वक्र या कुटिल साधक ब्रह्मचर्य का पालन करते भी है, तो शर्माशर्मी से ही, मन से नही । इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि जो सरलता से सम्पन्न साधुजन है, वे ही दृढ़ता से इसका आचरण करते हैं ।

मोक्खमग्गं विसुद्धसिद्धिगतिनिलयं—इन दोनों पदों में अन्तरंग ब्रह्मचर्य को ही सूचित किया गया है । ब्रह्म यानी आत्मा में विचरण करना ही अन्तरंग ब्रह्मचर्य है, जो प्रत्यक्ष मोक्षमार्ग है । वीर्यरक्षा या मैथुनत्याग तो बाह्य ब्रह्मचर्य है, जो परम्परा से मोक्ष का मार्ग है । चूंकि धर्मध्यान और शुक्लध्यान से ही शुद्ध आत्मा में रमण होता है । और ध्यान मोक्ष का साक्षात् कारण है । इसलिए मोक्ष का साक्षात्मार्ग अन्तरंग ब्रह्मचर्य है । आत्मा के शुद्ध स्वरूप में रमण करने से ही विशुद्ध सिद्धिगति मिल सकती है । आत्मा के शुद्ध स्वरूप में रमण करने का ही दूसरा नाम ब्रह्मचर्य है । इसलिए ब्रह्मचर्य को 'विशुद्ध सिद्धिगति का घर' कहा है ।

सासयमव्वाबाहमपुणब्भवं पसत्थं सोमं ...... मक्खयकरं—इन सबका अर्थ स्पष्ट है । ब्रह्मचर्य का फल कभी नष्ट नहीं होता, इसलिए यह शाश्वत है । इसके पालन मे कोई रोकटोक या अड़चन नहीं होती, इसलिए यह अव्याबाध, प्रशस्त-मंगलमय, सौम्य, शुभ, शिव, अचल और अक्षय है । इसके पालन करने से किसी तरह का भी खटका नही और न कोई क्षति ही होती है ।

ब्रह्मचर्य के शुद्ध पालनकर्ता—ब्रह्मचर्य का पालन दुष्कर होने हुए भी संसार मे उसका निष्ठापूर्वक शुद्ध पालन करने वाले अतीत में हुए हैं, भविष्य में होंगे और वर्तमान मे हैं । परन्तु मुख्यतया इसके शुद्ध पालनकर्ता कौन-कौन होते हैं ? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—'जतिवर सारक्खितं सुचरियं सुसाहियं नवरि मुणिवरेहिं महापुरिस " तथा विसुद्ध"इन पदों का शब्दार्थ तो स्पष्ट किया जा चुका है । इसका आशय बड़ा ही गंभीर है । वह यह कि ब्रह्मचर्य-पालन करना बहुत ही कठिन है । बड़े-बड़े योगी तक ब्रह्मचर्य से डिग जाते हैं, महान् से महान् तपस्वी भी ब्रह्मचर्य से विचलित होते देखे-सुने गये हैं, औरों का तो कहना ही क्या ? इसी दृष्टि से शास्त्रकार कहते हैं कि संयमियों में जो श्रेष्ठ होते हैं, वे ही ब्रह्मचर्य की सम्यक् प्रकार से सुरक्षा करते हैं । कैसा भी प्रसंग क्यों न हो, वे ब्रह्मचर्य से जरा भी डिगते नही । साथ ही आत्मा और जड शरीर, कामसुख और मोक्षसुख, ब्रह्मचर्य और अब्रह्मचर्य का भलीभांति मनन करने वाले महा-मुनिवर ही ब्रह्मचर्य का सुचारुरूप से आचरण करते हैं, इसकी सम्यक् साधना करते हैं । वे काम विकार के कारण उपस्थित होने पर भी चट्टान की तरह अडोल रहते हैं ।

सुन्दर से सुन्दर नवयौवना भी आकर उन्हें प्रार्थना करे, तो भी वह चलायमान नहीं होते । साथ ही ब्रह्मचर्य उन्हीं का दागरहित विशुद्ध रहता है, या वे ही ब्रह्मचर्य का शुद्ध रूप से पालन करते हैं, जो जाति कुल आदि गुणों से सम्पन्न महापुरुष होते है । कुलीन और उत्तम जाति के साधक मरना पसन्द कर लेगें, लेकिन ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट कदापि नही होगे । वे मन से भी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने को सदा उद्यत रहेंगे । नीच जाति और नीच कुल के व्यक्तियो मे प्रायः उत्तम संस्कार न होने से वे ब्रह्मचर्य भग को हेय एव घृणित नही समझते । उनको संतान भी परम्परा से ब्रह्मचर्य के सुसस्कारो से शून्य होती है । उत्तम कुलीन महापुरुष शुद्ध ब्रह्मचर्य से सम्पन्न होते हैं, जो धीरों मे भी महासत्वशाली हैं। बड़े-बड़े अवसरो पर भी उनकी धीरता अटल रहती है, उनकी ब्रह्मचर्य निष्ठा को स्वर्ग की नृत्य करती हुई या कटाक्ष के द्वारा कामबाण फेंकती हुई सुन्दर अप्सराएँ भी डिगाने मे असमर्थ हैं । तीसरे वे पुरुष ब्रह्मचर्य मे अविचल रहते हैं, जिनके रोम-रोम में धर्म रमा रहता है। जो धर्म के रहस्य को समझकर तदनुकूल आचरण करते हैं, ब्रह्मचर्य धर्म जिनके रगरग में भरा है; उनके धर्म संस्कार इतने परिपक्व होगे कि वह प्राण जाने पर भी अब्रह्मचर्य सेवन नहीं करेंगे। और चौथे धृतिमान् व्यक्ति भी ब्रह्मचर्य के आग्नेय पथ पर अविचल रहते हैं । उन्हे कोई भी शक्ति ब्रह्मचर्य के पथ से हटा नहीं सकती । समाज की कुलपरम्पराएँ या रूढ़ियां भी उन्हें ब्रह्मचर्य से डिगाने में असमर्थ रहती हैं। परन्तु जो व्यक्ति धृतिमान नही होता, वह समाज की परम्पराओं एवं कुल की रीति रिवाजों के सामने झुक जाता है । प्राचीन काल में एक रिवाज था कि पुत्रोत्पत्ति के बिना वंश परम्परा का उच्छेद हो जायगा, फलत. स्वर्ग नही मिलेगा, इसलिए वंश परम्परा की सुरक्षा और स्वर्ग के लिए विवाह करना चाहिए और संतानोत्पत्ति करनी चाहिए । जैसा कि वे कहते थे –

"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च, नैव च ।
तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा, पश्चाद् धर्ममाचरेत् ॥"

अर्थात् 'पुत्रहीन की गति नही होती । फलतः उसे स्वर्ग नही मिलता, कदापि नहीं मिलता । इसलिए पुत्र का मुख देखकर ही बाद मे चारित्र धर्म (मुनिधर्म) अंगीकार करना चाहिए ।'

परन्तु धृतिमान और धर्मज्ञ पुरुष इस रीति को नही मानते । वे प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

"अनेकानि सहस्राणि, कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिवंगतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥"

अर्थात्—'हजारों बाल ब्रह्मचारी ब्राह्मण संतान उत्पन्न किये बिना ही स्वर्ग में चले गये, ऐसा धर्मशास्त्र कहते हैं।'

इसलिए शुद्ध रूप से ब्रह्मचर्य का पालन प्रायः कुलीन, संस्कारी, धीर, धर्मवीर और धृतिमान व्यक्ति ही करते हैं।

सव्वभव्वजणाणुचिण्णं ब्रह्मचर्य का आचरण सामान्य रूप से सभी भव्यजन करते हैं। भव्य विचारों से सम्पन्न व्यक्ति ही भव्य भावनाओं से ओत-प्रोत होगा, और वही कल्याण योग्य होने से ब्रह्मचर्य को कल्याणकरी समझेगा, एवं उसका आचरण करेगा। अभव्य व्यक्ति के हृदय में ब्रह्मचर्य पालन के प्रति श्रद्धा, रुचि और प्रतीति ही नहीं होगी।

निस्संकियं निब्भयं नित्तुसं निरायासं निरुवलेवं निव्वुतिघरं—इन पदों का आशय यह है कि ब्रह्मचर्यपालन का फल इस लोक में प्रत्यक्ष मिलता है, क्योंकि ब्रह्मचर्य पालन करने वाले का शरीर भी सुडोल, सुरूप, सशक्त और सुदृढ़ बनता है, मन भी बलवान बनता है, उसकी स्मरण शक्ति भी तीव्र होती है, इसलिए ब्रह्मचर्य-पालन के विषय में किसी को कोई भी शंका नहीं होती, न होनी चाहिए। अथवा ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है कि ब्रह्मचारी किसी भी शंका का विषय नहीं होता। ब्रह्मचर्य पालक सदा निर्भय होता है, उसमें साहसिकता और निर्भयता तो कूट-कूट कर भरी होती है। ब्रह्मचारी किसी भी अच्छे कार्य को करने में हिचकिचाता नहीं और न ही उसे किसी से भय होता है। तुषरहित शुद्ध चावल के समान ब्रह्मचारी विकार रहित शुद्ध ब्रह्मचर्य से सम्पन्न होता है, अतएव वह सारवान्-बलवान् होता है। ब्रह्मचर्यसम्पन्न साधक को ब्रह्मचर्य पालन में कोई परिश्रम नहीं पड़ता, अनायास ही पालन हो जाता है। अब्रह्मचर्य सेवन आयासयुक्त है, उसमें कई खटपटें करनी पड़ती हैं। दूसरा अर्थ यों भी हो सकता है कि "ब्रह्मचर्य पालन का ऐसा कोई खेद-पश्चात्ताप ब्रह्मचारी को नहीं होता कि हाय! मैं व्यर्थ ही ब्रह्मचर्य-पालन करके निःसंतान रहा या स्त्री प्रसंग से दूर रहा!" ब्रह्मचारी सांसारिक आसक्ति से बहुत दूर रहता है। जो अब्रह्मचारी होता है, वह सांसारिक मोह माया में फंसा रहता है। उसी में अपने को सुखी मानता है, लेकिन बाद में उसका नतीजा भयंकर दुःखद होता है। ब्रह्मचर्य से चित्त में स्वस्थता, शान्ति और समाधि रहती है, इसलिए इसे निर्वृति का घर कहा है। क्योंकि ब्रह्मचर्यविहीन व्यक्ति अधिकाधिक राग और मोह में फंसा रहता है, जिससे उसका चित्त सदा व्याकुल रहता है। रागी पुरुष के अशान्तियुक्त मन के ये उद्गार हैं—

> 'क्व यामः कुत्र तिष्ठामः, किं कुर्मः किं च कुर्महे।
> रागिणश्चिन्तयन्त्येवं, नीरागाः सुखमासते॥'

अर्थात्—'कहाँ जाएँ ?, कहाँ रहें ?, क्या कहें ?, क्या करें, इस प्रकार की उधेड़बुन में विषयों के रागी रात दिन चिन्तित रहते है, लेकिन रागरहित ब्रह्मचारी सुखपूर्वक रहते है ।' उन्हे दुनियाँ का राग नही सताता ।

इसलिए ब्रह्मचर्य शंका, भय, आयास, लिप्तता एवं अशान्ति से दूर है ।

नियम निष्पकंप— ब्रह्मचारी नियम मे हमेशा निश्चल रहता है । प्रतिकूल वातावरण में भी ब्रह्मचारी निरतिचार रहता है । बाह्य कारण उस पर प्रभाव नहीं डाल सकते । इसका एक अर्थ यह भी है कि ब्रह्मचर्यव्रत निरपवाद होता है । बाकी के अहिंसा आदि व्रतो मे कदाचित् अपवादवश छूट भी दी जाती है, लेकिन ब्रह्मचर्य में जरा-सी भी छूट नही मिलती । किसी भी हालत में इसका खण्डन विहित नही है । जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—

'न वि किंचि अणुन्नायं, पडिसिद्धं वा जिणवरिंदेहिं ।
मोत्तुं मेहुणभावं, ण तं विणा रागदोसेहिं ॥'

अर्थात—जिनेन्द्रदेवों ने मैथुनभाव-अब्रह्मचर्य को छोड कर अन्य व्रतों का निरपवाद रूप से न तो एकात निषेध ही किया है और न आज्ञा दी है । सिर्फ मैथुनभाव का ही निरपवाद रूप से त्याग बताया है; क्योंकि मैथुनभाव रागद्वेष के बिना होता ही नही ।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय—ब्रह्मचर्य[1] जितना महान् और मूल्यवान है, उतनी ही कठिन और साहसपूर्ण उसकी सुरक्षा है । संसार में रत्न जैसी कीमती चीजो की रक्षा और जतन के लिए लोग बहुत ही सावधानी रखते हैं और साहसपूर्ण कदम उठाते हैं । यहाँ ब्रह्मचर्य की सुरक्षा एक अर्थ में आत्मा की ही सुरक्षा है । इसी दृष्टि से शास्त्रकार ब्रह्मचर्य की महिमा के अन्तर्गत ही उसकी सुरक्षा का निर्देश करते हैं—'तवसंजम मूलदलियणेम्मं पंचमहव्वयसुरक्खियं . ....झाणवर .. .. मज्झप्पदिन्नफलिहं' । इन पंक्तियों का अर्थ तो पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है । इनका रहस्यार्थ यह है कि तप और संयम दोनों मिलकर ब्रह्मचर्य की मूल पूँजी के समान हैं । ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए तप-संयम की मूल पूँजी को सर्वप्रथम सुरक्षित रखना जरूरी है । बाह्य और आभ्यन्तर तप, ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं । यह बात सुनिश्चित है कि जिसके जीवन में ये दोनों प्रकार के तप होंगे, वह ब्रह्मचर्य धन की लुभावने इन्द्रिय-विषयों, कठोर

१. ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के विस्तृत उपायों के बारे मे उत्तराध्ययन सूत्र का १६ वाँ अध्ययन पढ़ें । —संपादक

कषाय आदि चोरों-लुटेरों से रक्षा कर सकेगा। जब भी स्वादिष्ट तथा गरिष्ठ पदार्थों के स्वाद के चक्कर में मन या इन्द्रियाँ भटकने लगेंगी, वह तुरन्त उपवास आदि तप से उन्हें रोकेगा। या प्रतिसंलीनता तप से इन्द्रियों का संगोपन करेगा। बढ़ती हुई इच्छाओं के कारण अब्रह्म (आत्मबाह्य भाव) में भटकती हुई आत्मा को वैयावृत्य, कायोत्सर्ग और व्युत्सर्ग तथा ध्यान आदि के द्वारा रोकेगा। इस प्रकार तप के द्वारा ब्रह्मचर्यरूपी धन की सुरक्षा हो सकेगी। फिर तप का दूसरा साथी संयम है, जो इन्द्रियों और मन को विषयों के बीहड़ में भटकने से रोकेगा। साधक को ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त महाव्रतों से पहिले ब्रह्मचर्य की सुरक्षा पर ध्यान देना है। जहाँ एक ओर ब्रह्मचर्य ध्वस्त हो रहा हो, परन्तु दूसरी ओर अहिंसा, अस्तेय आदि की रक्षा हो रही हो, वहाँ सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य की सुरक्षा अत्यन्त आवश्यक होगी। इसका मतलब यह नहीं कि शेष महाव्रतों के प्रति उपेक्षा की जाय, परन्तु शास्त्रकार का आशय यह है कि ब्रह्मचर्य निरपवाद होने के कारण उसकी रक्षा अनिवार्य है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन अत्यावश्यक है। ईर्यासमिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदानभांडमात्रनिक्षेपणासमिति, उच्चारप्रस्रवणखेलजल्लसिंघाणपरिष्ठापनिकासमिति—ये पाँच समितियाँ हैं। ये साधक को अपने जीवन में शुद्ध सम्यक् प्रवृत्ति करने के लिए सहायक हैं तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, ये तीन गुप्तियाँ हैं, जो मन, वचन, काया को संयम से विपरीत प्रवृत्ति करने से रोकने में सहायक हैं। अथवा पाँच समितियाँ और विविक्त शय्यासन आदि ९ ब्रह्मचर्य गुप्तियाँ ब्रह्मचर्य की सुरक्षक होती हैं। ये ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए बहुत ही आवश्यक है। इसके अलावा उत्तम ध्यानरूपी कपाट भी ब्रह्मचर्य रत्न की रक्षा के लिए उत्तम उपाय है। इसका आशय यह है कि घर में रखे गए द्रव्य की रक्षा के लिए जैसे उस पर कपाट लगाना आवश्यक होता है, वैसे ही आत्मा के गृह में रहे हुए ब्रह्मचर्य धन की रक्षा के लिए श्रेष्ठ ध्यान-धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान की आवश्यकता है। जिस जगह चोरों का भय होता है, वहाँ सुदृढ़ किला बनाकर लोग उसमें रखे हुए रत्नादि की सुरक्षा करते हैं। किन्तु उस किले के दरवाजे पर किवाड़ न लगे हों तो चोर किसी भी समय अन्दर घुस कर चिरसंचित धन का हरण कर लेंगे। इसी प्रकार यहाँ भी आत्मा ने ब्रह्मचर्यरूपी रत्न का बहुत प्रयत्न से संचय किया है; इसके लिए मानव-जीवन रूपी दुर्ग बनाया है, परन्तु केवल दुर्ग बनाने से ही ब्रह्मचर्य रत्न की रक्षा नहीं हो जायगी। अन्दर में रहे हुए ब्रह्मचर्य रत्न की सुरक्षा के लिए मनरूपी दरवाजे पर किवाड़ का होना अत्यावश्यक है, इसीलिए शास्त्रकार ने जीवनदुर्ग में रखे हुए ब्रह्मचर्य रत्न की भली भाँति रक्षा के हेतु मनरूप द्वार पर उत्तम ध्यानरूपी कपाट लगाने का निर्देश किया है। चूँकि कामरूपी चोर मनोद्वार से ही होकर आता है।

अतः मनोद्वार पर सुध्यानरूपी सुदृढ कपाट लगा दिया जाय तो वह अन्दर नहीं घुस सकेगा। किन्तु इसके साथ ही एक बात और जरूरी है। वह यह है कि उस सुध्यान-रूपी कपाट के मजबूत अर्गला (आगल) लगानी चाहिए। अतः उस कपाट पर अध्यात्म-आत्मानुभव के उपयोग की अर्गला लगाये जाने का संकेत शास्त्रकार ने किया है। इस प्रकार यहाँ तक ब्रह्मचर्य धन की सुरक्षा के लिए सभी उपाय बताए गए हैं। अगर साधक सुरक्षा के इन उपायों को जीवन में आजमाए तो ब्रह्मचर्य की सुरक्षा में कोई संदेह नहीं रह जाता।

ब्रह्मचर्य का महत्त्व ब्रह्मचर्य का मानव जीवन में क्या स्थान है? इस बात को जान लेने पर भी साधु जीवन में ब्रह्मचर्य कितना महत्त्वपूर्ण है? उसके बिना साधु जीवन की कितनी हानि है? इस बात को आगे शास्त्रकार निम्नोक्त पंक्तियों द्वारा व्यक्त करते है—"**सन्नद्धबद्धो ...... विणयसीलतव नियम गुणसमूहं।.... एवमणेगा गुणा अहीणा पच्चओ य।**" इन पंक्तियों का अर्थ भी हम पहले स्पष्ट कर आए हैं। इनका रहस्यार्थ खोलना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य का एक महत्त्व यह है कि यह दुर्गति के मार्ग को अवरुद्ध अर्थात् रोक देने वाला है और प्रगति का मार्ग-दर्शक है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचारी की आत्म-परिणति प्रायः शुभ या शुद्ध रहती है। इन परिणामों से दुर्गति (नरक या तिर्यंचगति) का बन्ध कदापि नहीं होता, प्रत्युत सुगति (मनुष्यगति या देवगति) का बन्ध होता है, अथवा सिद्ध-गति की प्राप्ति होती है। इसलिए इसे दुर्गतिपथ का अवरोधक और सुगति पथ का प्रदर्शक बताया है। दूसरा महत्त्व यह है कि यह ब्रह्मचर्यव्रत 'लोकोत्तम' है। संसार में सबसे उत्तम वस्तु होने के कारण ब्रह्मचर्य की सुरक्षा का ध्यान रखना आवश्यक है। क्योंकि ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यन्त दुष्कर है। कहा भी है—

> देवदाणवगंधव्वा जक्खरक्खसकिनरा।
> **बंभयारिं नमंसंति दुक्करं जे करेंति तं॥**

अर्थात्—देव दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी उस ब्रह्मचारी को नमस्कार करते है; जो उस दुष्करव्रत का आचरण करता है।

तीसरा महत्त्व यह है कि ब्रह्मचर्य धर्मरूपी पद्मसरोवर या धर्मरूपी तालाब की सुरक्षा के लिए पाल के समान है। जैसे पाल के टूट जाने पर सुशोभित तालाब या पद्म सरोवर नष्टभ्रष्ट हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मचर्यरूपी पाल के टूटते ही सत्यादि चारित्र-धर्म के अंग भी नष्टभ्रष्ट हो जाते हैं। साथ ही यह ब्रह्मचर्य बड़ी गाड़ी के पहिए के आरों को टिकाए रखने वाली नाभि के समान है। नाभि पहिये के बीच में लकड़ी की एक गोल चीज होती है, जिस पर पहिये के आरे टिके होते हैं। जिस प्रकार नाभि की रक्षा से आरों की रक्षा और नाभि के नाश से आरों का नाश

अवश्यम्भावी है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्यरूपी नाभि की रक्षा से चारित्र धर्मरूपी आरों की रक्षा और ब्रह्मचर्य के नाश से चारित्र धर्म का नाश अवश्यम्भावी है। इसी तरह ब्रह्मचर्य धर्मरूपी वृक्ष को धारण करने में स्कन्धरूप है। जैसे बड़ी बड़ी शाखाओं वाले वृक्ष का आधार स्कन्ध होता है, स्कन्ध के नष्ट होते ही वृक्ष नष्ट हो जाता है; उसी प्रकार ब्रह्मचर्यरूपी स्कन्ध के नष्ट होते ही अनेक अंगों (शाखाओं) वाले धर्मरूपी वृक्ष का टिकना भी असंभव है। तथा ब्रह्मचर्य महानगररूपी धर्म की रक्षा के लिए उसके कोट और आगल के समान है। इन्द्रध्वज जैसे चारों ओर रस्सी से बंधा होने पर ही मजबूत रहता है, वैसे ही धर्मरूपी इन्द्रध्वज भी अनेक विशुद्ध गुणों से युक्त ब्रह्मचर्यरूपी रस्सी से बंधा हुआ होने से ही मजबूत है। ब्रह्मचर्य के भंग होने पर विनय, शील, तप, नियम आदि समस्त गुणसमूह उसी तरह चूर-चूर हो जाते हैं, जैसे मिट्टी का घड़ा ऊपर से गिरने पर चूर-चूर हो जाता है, उसी तरह मसल जाते हैं, जैसे मथने से दही मसला जाता है, उसी तरह पिस जाते हैं, जैसे चना पिस जाता है, उसी तरह बिंध जाते हैं, जैसे अन्दर घुसे हुए बाण से शरीर बिंध जाता है; पर्वत से गिरी हुई चट्टान की तरह वे चकनाचूर हो जाते हैं, महल से गिरे कलश के समान वे एक दम नीचे आ गिरते हैं, लकड़ी के डंडे के समान तड़ातड़ टूट जाते हैं, कोढ़ आदि व्याधि से सड़े हुए शरीर के समान वे गुण समूह सड़ जाते हैं, आग में स्वाहा हुए लक्कड़ के समान वे गुणगण अस्तित्वहीन हो जाते हैं।

अधिक क्या कहें! एक ब्रह्मचर्यव्रत के होने पर सभी गुण उसके अधीन हो जाते हैं। इस ब्रह्मचर्यव्रत की आराधना करने पर निर्ग्रन्थ प्रव्रज्यारूप मुनिधर्म के सभी व्रतों की आराधना हो जाती है; क्या शील, क्या तप, क्या विनय, क्या संयम; यहाँ तक कि क्षमा, मुक्ति-निर्लोभता, गुप्ति, इहलौकिक तथा पारलौकिक यश, कीर्ति और जनविश्वास सब आराधित-अर्जित हो जाते हैं। इतना महत्व है, इस ब्रह्मचर्य महाव्रत का!

विविध उपमाओं से ब्रह्मचर्य की गरिमा— ब्रह्मचर्य की गरिमा बताने के लिए शास्त्रकार विविध उपमाएँ देते हैं 'तं बंभं भगवंतं गहगण""महारहगते।' इन सबका आशय यह है कि—'यह ब्रह्मचर्य विभूतिशाली भगवान है। वह ग्रहों, नक्षत्रों और ताराओं के बीच में चन्द्रमा के समान देदीप्यमान है। जैसे चन्द्रकान्तादि मणियों, मोतियों, मूंगों और पद्मरागादि लाल रत्नों की खान समुद्र है, वैसे ही समस्त गुण रत्नों की खान ब्रह्मचर्य है। जैसे सब मणियों में वैडूर्यमणि उत्कृष्ट है, वैसे ही व्रतादि में ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट है। जैसे सब आभूषणों में मुकुट प्रधान माना गया है, सब प्रकार के वस्त्रों में बारीक और मुलायम कपास का वस्त्र उत्तम

माना जाता है, वैसे ही सब व्रतादि में ब्रह्मचर्य उत्तम माना गया है। कमलपुष्प जैसे सब पुष्पों में श्रेष्ठ होता है, वैसे ही यह सब में श्रेष्ठ है। समस्त चन्दनों में गोशीर्ष चन्दन की तरह सब व्रतादि में यह श्लाघ्य है। हिमवान् पर्वत जैसे समस्त औषधियों का उत्पत्तिस्थान है, वैसे ही यह समस्त गुणों का उत्पत्तिस्थान है। जैसे सब नदियो में सीतोदा नदी बड़ी है, वैसे ही सब व्रतादि में यह बड़ा है। जैसे स्वयम्भूरमण समुद्र सब समुद्रो मे विशाल है, वैसे ही ब्रह्मचर्य सब में विशाल है। जैसे वलयाकार (गोल) माण्डलिक पर्वतों मे रुचकवर पर्वत महान् है, वैसे ही सब व्रतादि मे यह महान् है। यह हाथियों मे ऐरावत हाथी के समान प्रशस्त, वन्यपशुओं मे सिंह के समान तेजस्वी, सुपर्णकुमारो में वेणुदेव इन्द्र के समान सर्वोपरि, नागकुमार देवों में धरणेन्द्र देव के समान प्रभावशाली, देवलोक मे ब्रह्मलोक के समान महत्त्वपूर्ण, भवनपति और वैमानिक देवो की सभाओ मे सुधर्मा सभा की तरह उत्कृष्ट, स्थितियों में लवसप्तम नामक अनुत्तर विमानवासी देवों की स्थिति की तरह प्रवर; आहार, औषध, ज्ञान, धर्मोपकरण एव अभयदान, इन पाचो प्रकार के दानों में अभयदान के समान प्रधान वह ब्रह्मचर्य महाव्रत है। कंबलों मे किरमची रंग के कम्बल की तरह व्रतो मे ब्रह्मचर्य उत्तम है। वज्र-ऋषभनाराच आदि[1] संहननों में वज्र-ऋषभनाराच सहनन की तरह, सब व्रतों मे ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट माना गया है। इसी प्रकार समचतुरस्र आदि [2]संस्थानो में जैसे समचतुरस्र संस्थान उत्तम

१—शरीर के अस्थि आदि के बन्धनविशेष को सहनन कहते हैं। वह ६ प्रकार का है—(१) वज्रऋषभनाराच, (२) ऋषभनाराच, (३) नाराच, (४) अर्धनाराच, (५) कीलिक और (६) असप्राप्त सृपाटिका संहनन। जिसमें हड्डी और उसका वेष्टन वज्रमय होता है, वह वज्रऋषभनाराच है। जिसमें अस्थि ही वज्रमय हो, वेष्टन साधारण हो, वह वज्रनाराच है। जिसमें शरीर की सन्धियों में हड्डी की कील हो; वह नाराच है। जिसमें आधी हड्डी की कील हो, वह अर्धनाराच है। जिसमे संधि की हड्डियां नसों से ढंकी हुई हो, वह कीलिक है। और जिसमे सब हड्डिया अलग-अलग हों, नसों से बंधी हुई न हो, उसे असंप्राप्त सृपाटिका संहनन कहते हैं।

२—शरीर की आकृति को संस्थान कहते हैं। वे ६ हैं—(१) समचतुरस्र, (२) स्वाति, (३) न्यग्रोधपरिमंडल, (४) कुब्जक, (५) वामन और (६) हुडक संस्थान। यथायोग्य सुन्दर समचोरस आकार को समचतुरस्र, ऊपर से पतले और नीचे से मोटे शरीराकार को स्वाति, बड़ के पेड़ के समान शरीर के ऊपर के अवयव मोटे, नीचे के पतले हों उसे न्यग्रोधपरिमंडल, कुबड़े शरीर के आकार को कुब्जक, बौने कदके शरीर को वामन और शरीर के हाथ पैर आदि सब अवयव बेडौल बदसूरत हों उस संस्थान को हुंडक संस्थान कहते हैं।

होता है, वैसे ही सब व्रतादि में ब्रह्मचर्य उत्तम है। आर्त, रौद्र आदि[1] ध्यानों में परमशुक्ल ध्यान सर्वोत्कृष्ट ध्यान है; वैसे ही व्रतादि में ब्रह्मचर्य सर्वोत्कृष्ट है। मतिश्रुत आदि पांच ज्ञानों[2] में परम केवल ज्ञान की तरह सिद्ध श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य व्रत है। छह लेश्याओं में परमशुक्ल लेश्या के समान ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है। मुनियों में सर्वश्रेष्ठ मुनि तीर्थंकर माने जाते हैं, वैसे ही व्रतों में सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मचर्य है। क्षेत्रों में महाविदेह क्षेत्र की तरह उत्तम, पर्वतों में गिरिराज मेरुपर्वत की तरह सर्वोत्तम, वनों में नन्दनवन की तरह रमणीयतर, वृक्षों में जम्बू वृक्ष की तरह श्रेष्ठ यह ब्रह्मचर्य व्रत है। सुदर्शन नाम से भी इसका यश प्रसिद्ध है, इसी जम्बू के नाम पर से ही इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पड़ा है। जैसे अश्वपति, गजपति, रथपति और नरपति; इस प्रकार चतुरंगिणी सेना से युक्त राजा प्रसिद्ध है, वैसे ही ब्रह्मचर्य व्रत चारों कोनों में प्रसिद्ध है। जैसे कोई रथिक साधारण रथ को छोड़कर बड़े रथ में बैठकर युद्ध करे तो कोई उसे पराजित नहीं कर सकता, वैसे ही ब्रह्मचर्य महाव्रत रूपी महारथ में आरूढ़ होकर साधक कर्म शत्रुओं से जूझे तो वे उसे पराजित नहीं कर सकते।'

ब्रह्मचर्य की महनीयता—शास्त्रकार आगे चलकर ब्रह्मचर्य की महनीयता तीन गाथाओं[3] द्वारा प्रगट करते हैं—'पंचमहव्वय ··· वडिसकभूयं।' इनका आशय यह है कि पंचमहाव्रत नामक उत्तम व्रतों का ब्रह्मचर्य मूल है, अथवा पांचमहाव्रतों और पांच अणुव्रतों का यह मूल है, या पंचमहाव्रती साधुओं के उत्तम नियमों का

१–ध्यान चार हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्लध्यान। इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग से जहां आत्मा में शोकादि रूप परिणामधारा होती है, उसे आर्तध्यान कहते हैं। इसके चार भेद हैं—इष्टवियोग जन्य, अनिष्ट संयोगजन्य, पीड़ाचिन्तन और निदान। हिंसादि क्रूर और निंदनीय कार्यों का चिंतन करना रौद्रध्यान है। इसके भी ४ भेद हैं—हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द रौद्रध्यान। जीवों के कल्याण आदि के उपाय का या ऐसे दूसरे शुभ कार्यों का चिन्तन करना धर्मध्यान है। इसके चार भेद हैं—आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय। केवल आत्मा और आत्मगुणों का ही चिन्तन करना शुक्लध्यान है। इसके भी चार भेद हैं—(१) पृथक्त्ववितर्क विचार (२) एकत्ववितर्क विचार (३) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती और (४) व्युपरत क्रियानिवर्ती।

२–ज्ञान ५ हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान।

३–ये तीनों गाथाएँ पाठान्तर में हैं। —सम्पादक

यह मूल है। निष्कर्ष यह है कि व्रतों के मूल में ब्रह्मचर्य न हो तो सारे व्रत बेकार हैं, मूल्यहीन है। इस ब्रह्मचर्य का पालन दोषरहित साधुओ ने भावसहित किया है, या करते हैं। इसके पीछे भी आशय यही है, कि मुनिदीक्षा लेने पर भी जब तक ब्रह्मचर्यपालन भावसहित नही करता, तब तक वह मुनि पद के योग्य नहीं होता। इसलिए साधुगण अपनी साधुता की रक्षा और सिद्धि के लिए ब्रह्मचर्य का भावसहित निर्दोष पालन करते हैं। ब्रह्मचर्य समस्त वैर विरोधो को शान्त करने वाला है। क्योंकि 'मेहुणप्पभवं वेरं वेरप्पभवा दुग्गई – मैथुन-सेवन से वैर की उत्पत्ति होती है, वैर की उत्पत्ति से दुर्गति होती है। इस उक्ति के अनुसार ब्रह्मचारी जब मैथुन-सेवन या बाह्य विषयों से विरत हो जाता है, तब वैर होने का कोई कारण ही नहीं रहता। जब वह स्वत. ही वैर से विरक्त हो जाता है, तब उसके हृदय में वैर की समाप्ति अवश्यम्भावी है। जैसे लवणसमुद्र आदि समग्र समुद्रों से बड़ा एवं महादुस्तर स्वयंभूरमणसमुद्र है, वैसे ही ब्रह्मचर्य सब व्रतों में महादुस्तर है तथा संसार समुद्र से पार करने वाला तीर्थ भी है। इसका तात्पर्य यह है कि जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है. वह अत्यन्त दुस्तर संसार समुद्र को अनायास ही पार कर लेता है। तीर्थंकरों ने नौ गुप्ति आदि के द्वारा इसके पालन करने का उपाय बताया है। मतलब यह है कि ब्रह्मचर्य रक्षा के साधन गुप्ति, भावना आदि हैं। तीर्थंकरनिर्दिष्ट उन उपायो का आलम्बन नही लिए जाने पर ब्रह्मचर्य का पालन अत्यन्त दुष्कर है। ब्रह्मचर्य नरक और तिर्यंचगति के बन्ध के मार्ग को रोकने वाला है, क्योंकि ब्रह्मचारी के सदा पवित्र लेश्याएँ रहती हैं, इसलिए मनुष्यगति या देवगति (उत्तमगति) का ही वह बन्ध करता है, नरकगति और तिर्यंचगति (दुर्गति) का नही। ब्रह्मचर्य समस्त सारभूत पवित्र कार्यों का निर्माण करने वाला है। ब्रह्मचर्य के द्वारा आत्मा में अपूर्व शक्ति प्रगट होती है, जिसके जरिए आत्मा आश्चर्यजनक सारभूत कार्यों को कर लेता है। अनेक प्रकार की ऋद्धियां, विद्याएँ या मत्र आदि ब्रह्मचारी के सिद्ध होते हैं, इसलिए ब्रह्मचर्य ही प्रधानकार्यों का साधक होता है। ब्रह्मचर्य सिद्धि (मोक्ष) तथा स्वर्ग-विमानों के द्वार खोलने वाला है। इसका आशय यह है कि जैन सिद्धान्त की दृष्टि से अन्तरंग ब्रह्मचर्य (आत्मध्यान) साक्षात् सिद्धि (मोक्ष) का कारण है और बाह्य ब्रह्मचर्य साक्षात् स्वर्ग का कारण और परम्परा से मोक्ष का कारण होता है। यदि मिथ्या दृष्टि भी ब्रह्मचर्य का पालन करता है, तो वह स्वर्गलोक मे जन्म लेता है, और वहा उसे अनुपम इन्द्रियसुख प्राप्त होते हैं। फिर सम्यग्दर्शनपूर्वक पालन किए गए ब्रह्मचर्य का तो कहना ही क्या ? वह तो स्वर्ग मे अवश्य ही उच्चदेवत्व का कारण होता है और परम्परा से मोक्ष का जनक। इसीलिए कहा है— 'सीलव्वयधरो न दुग्गइगमणसीलो'। ब्रह्मचर्य देवेन्द्रों और नरेन्द्रों के द्वारा नमस्करणीय गणधरों से भी पूजनीय है। साधारण लोग इन्द्र आदि की सेवा-पूजा करते हैं,

होता है, वैसे ही सब व्रतादि में ब्रह्मचर्य उत्तम है।, आर्त, रौद्र आदि[1] ध्यानों में परमशुक्ल ध्यान सर्वोत्कृष्ट ध्यान है, वैसे ही व्रतादि में ब्रह्मचर्य सर्वोत्कृष्ट है। मतिश्रुत आदि पांच ज्ञानों[2] मे परम केवल ज्ञान की तरह सिद्ध श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य व्रत है। छह लेश्याओं में परमशुक्ल लेश्या के समान ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है। मुनियों में सर्वश्रेष्ठ मुनि तीर्थंकर माने जाते हैं, वैसे ही व्रतो में सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मचर्य है। क्षेत्रों मे महाविदेह क्षेत्र की तरह उत्तम, पर्वतों में गिरिराज मेरुपर्वत की तरह सर्वोच्च, वनो में नन्दनवन की तरह रमणीयतर, वृक्षों में जम्बू वृक्ष की तरह श्रेष्ठ यह ब्रह्मचर्य व्रत है। सुदर्शन नाम से भी इसका यश प्रसिद्ध है, इसी जम्बू के नाम पर से ही इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पड़ा है। जैसे अश्वपति, गजपति, रथपति और नरपति; इस प्रकार चतुरंगिणी सेना से युक्त राजा प्रसिद्ध है, वैसे ही ब्रह्मचर्य व्रत चारों कोनों में प्रसिद्ध है। जैसे कोई रथिक साधारण रथ को छोड़कर बड़े रथ में बैठकर युद्ध करे तो कोई उसे पराजित नहीं कर सकता, वैसे ही ब्रह्मचर्य महाव्रत रूपी महारथ में आरूढ़ होकर साधक कर्म शत्रुओं से जूझे तो वे उसे पराजित नहीं कर सकते।

ब्रह्मचर्य की महनीयता—शास्त्रकार आगे चलकर ब्रह्मचर्य की महनीयता तीन गाथाओं[3] द्वारा प्रगट करते हैं—'पंचमहव्वय ··· वडिसकभूयं।' इनका आशय यह है कि पंचमहाव्रत नामक उत्तम व्रतों का ब्रह्मचर्य मूल है, अथवा पांचमहाव्रतों और पांच अणुव्रतों का यह मूल है, या पंचमहाव्रती साधुओं के उत्तम नियमों का

१–ध्यान चार हैं–आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्लध्यान। इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग से जहा आत्मा में शोकादि रूप परिणामधारा होती है, उसे आर्त्तध्यान कहते है। इसके चार भेद हैं–इष्टवियोग जन्य, अनिष्ट संयोगजन्य, पीड़ाचिन्तन और निदान। हिंसाआदि क्रूर और निंदनीय कार्यों का चिंतन करना रौद्रध्यान है। इसके भी ४ भेद हैं– हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द रौद्रध्यान। जीवों के कल्याण आदि के उपाय का या ऐसे दूसरे शुभ कार्यो का चिन्तन करना धर्मध्यान है। इसके चार भेद है—आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय। केवल आत्मा और आत्मगुणों का ही चिन्तन करना शुक्लध्यान है। इसके भी चार भेद हैं—(१) पृथक्त्ववितर्क विचार (२) एकत्ववितर्क विचार (३) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती और (४) व्युपरत क्रियानिवर्ती।

२–ज्ञान ५ हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान।

३–ये तीनों गाथाएँ श्लोकछंद में हैं। —सम्पादक

मुनिरपि वियति विततनानाद्भुतविभ्रमदर्शकोऽपि हि।
स्फुटमिह जगति तदपि न स कोऽपि हि यदि नाक्षाणि रक्षति ॥"

अर्थात्—कोई सकल विश्व की कलाओं में पारंगत कवि भी क्यो न हो, पण्डित भी क्यों न हो ? चाहे वह समस्त शास्त्रो के गहन तत्त्वों का ज्ञाता विद्वान् हो, चाहे वेदविशारद हो; अथवा आकाश में विद्यामन्त्र आदि के चमत्कारों को दिखाने वाला हो, परन्तु यदि वह इन्द्रियो का विजेता (ब्रह्मचारी) नही है तो वह कुछ भी नही है। अर्थात् न तो वह कवि है, न पण्डित है और न मुनि ही है। इसलिए प्रत्येक साधक को साधना के साथ-साथ और बाद में भी ब्रह्मचर्य का शुद्ध आचरण करना जरूरी है। यही ब्रह्मचर्य की महनीयता है।

ब्रह्मचर्य का लक्षण—ब्रह्मचर्य शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है—ब्रह्म और चर्य। इसका स्पष्ट अर्थ होता है–'ब्रह्म मे विचरण करना।' ब्रह्म का अर्थ आत्मा भी है, परमात्मा भी है, विद्याध्ययन भी है, सेवा और योग साधना आदि भी है। केवल वीर्यरक्षा या सिर्फ जननेन्द्रियसंयम ब्रह्मचर्य का अधूरा अर्थ है। इन्द्रिय-विषयो एवं कामवासनाको उत्तेजित करने वाले जितने भी कारण है, उन सबसे दूर रहना, ब्रह्मचर्य का निषेधात्मक रूप है। यानी किसी भी स्त्री या अन्य में आसक्त होकर वीर्यपात न करना, मैथुन सेवन न करना, अब्रह्मचर्य से विरत रहना, यह भी ब्रह्मचर्य का निषेधात्मक रूप है। ब्रह्मचर्य का विधेयात्मक रूप तो अपनी आत्मा या परमात्मा की उपासना में लगना है। वीर्य रक्षा करना, योगसाधना करना, विद्याध्ययन करना, किसी विशाल ध्येय (राष्ट्रसेवा, समाज सेवा, विश्व सेवा, बालक सेवा आदि) को सामने रखकर या निश्चित करके तदनुसार आचरण करना और संचित वीर्य शक्ति को विश्व के प्राणियो के प्रति मातृवत् वात्सल्य भाव रख कर उनके जीवन निर्माण मे लगाना—ये सब आत्मोपासना के लिए सहायक ब्रह्मचर्य के विधेयात्मक रूप है। इन दोनों विधेयात्मक-निषेधात्मक रूपों से ब्रह्मचर्य के बाह्य और आभ्यन्तर ये दो-दो भेद हैं। जब आत्मा अपने स्वरूप मे रमण करता है, तब विधेयात्मक अभ्यन्तर ब्रह्मचर्य होता है। परमात्मा (शुद्ध आत्मा) की उपासना, जगत् के समस्त प्राणियो के प्रति सर्वभूतात्मभूत बनकर वात्सल्य भाव से ओतप्रोत होकर विश्वात्मभावमे रमण करना, ये सब आत्मरमणता के ही आभ्यन्तर ब्रह्मचर्य के विधेयात्मक अंग हैं। इसी प्रकार रागद्वेष से रहित होना, आत्मसेवा या आत्मरमणता से विमुख करने वाले मन या इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति या द्वेष से दूर रहना, कषाय, मोह, अज्ञान, मिथ्यात्व, कामवासना आदि आत्मगुणों के विरोधी तत्त्वों से दूर रहना, निषेधात्मक आभ्यन्तर ब्रह्मचर्य है। वीर्य रक्षा करना, जननेन्द्रिय का संयम करना, राष्ट्र सेवा, समाज सेवा या विश्व के जीवन निर्माण, या कल्याण आदि के

देवेन्द्र आदि लोकपूज्य व्यक्ति तीर्थंकर एवं गणधर आदि पूजा करते हैं, और गणधर आदि महापुरुष ब्रह्मचर्य की अर्चना करते हैं, भक्तिपूर्वक वे आराधना-साधना करते हैं। अतः ब्रह्मचर्य पूज्यों का भी पूज्य है। ब्रह्मचर्य संसार के समस्त उत्तम मंगलों का मार्ग-उपाय है। इसका आशय यह है कि मंगल का अर्थ होता है —मं-पाप को, गलं —गालने वाला, अथवा मगं-सुख को लं—देने वाला। संसार में अर्हद्भक्ति आदि जितने भी मंगलमय कार्य हैं, उन सबका मार्ग ब्रह्मचर्य है। क्योंकि ब्रह्मचर्य पालन करने से आत्मा विषयराग आदि से निवृत्त होकर अर्हद्भक्ति एवं व्रतधारण आदि मांगलिक कार्यों में प्रवृत्त होती है। अतः संसार के समस्त उत्तम मंगलभूत कार्यों का उपाय ब्रह्मचर्य को माना गया है। फिर यह ब्रह्मचर्य दुर्धर्ष, अजेय, अपराभवनीय है। अतः यह अकेला ही ऐसा गुण है, जो सब गुणों का नेतृत्व करता है। मतलब यह है कि ब्रह्मचारी का कोई तिरस्कार नहीं कर सकता। कदाचित् कर भी दे तो वह शीघ्र ही उससे प्रभावित होकर उसके चरणों में नतमस्तक हो जाता है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से सर्प हार के समान, विष अमृत के समान और शत्रु मित्र के समान हो जाता है। इसमे ऐसी अद्भुत शक्ति है। क्षमा आदि सभी लोकोत्तरगुण इसकी ओर स्वतः खिंचे चले आते हैं। इस एक गुण के प्राप्त होने पर अन्य सब गुण स्वतः प्राप्त हो जाते हैं, धीरता, क्षमा, गम्भीरता, तितिक्षा, सरलता, आदि गुण ब्रह्मचर्य के अनुचर बन जाते हैं। ब्रह्मचर्य मोक्षमार्ग का अलंकार है। इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण कर्मों का सर्वथा आत्मा से पृथक् होना मोक्ष है। उसका मार्ग (उपाय) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। इनको भूषित करने वाला ब्रह्मचर्य है। क्योंकि ब्रह्मचर्य के बिना ये सम्यग्दर्शनादि अपने कार्य में सफल नहीं हो सकते। ब्रह्मचर्य की सहायता से ही ये कृतकार्य होते हैं। इसलिए इसे मोक्षमार्ग को अलंकृत करने वाला माना गया है। ब्रह्मचर्य उत्तम रसायन है, जिसका शुद्ध रूप से सेवन करने पर जीवन में नई चमक दमक आ जाती है। शास्त्रकार कहते हैं कि इसका शुद्ध आचरण करने पर मामूली ब्राह्मण भी उत्तम ब्राह्मण बन जाता है, साधारण श्रमण भी सुश्रमण या सामान्य तपस्वी भी सुतपस्वी बन जाता है; सामान्य साधु भी स्वपरकल्याण-साधक उत्तम साधु बन जाता है, अप्रसिद्ध ऋषि भी षट्कायरक्षक सुऋषि बन जाता है, मुनि भी सुमुनि बन जाता है। वही वास्तव में संयमी है, वही वास्तव में भिक्षु है, जो ब्रह्मचर्य का शुद्ध आचरण करता है। सचमुच, ब्रह्मचर्य के शुद्ध पालन से रहित ब्राह्मण, श्रमण आदि केवल नामधारी ही ब्राह्मण, श्रमण आदि है। अब्रह्मचर्य-सेवी श्रमण, साधु आदि केवल वेषधारी है। कहा भी है—

> "सकलकलाकलापकलितोऽपि कविरपि पण्डितोऽपि हि।
> प्रकटितसर्वशास्त्रतत्त्वज्ञोऽपि हि वेदविशारदोऽपि हि॥

को आहार पानी देगा, शरीर शुद्ध भी करेगा, इन्द्रियों से अलग-अलग काम भी लेगा; लेकिन इन सब प्रवृत्तियों को अनासक्त भाव से करने के कारण ये सब प्रवृत्तियाँ ब्रह्मचर्यपोषक ही होंगी, ब्रह्मचर्य विघातक नहीं। जब उसका जीवन सहजभाव से आत्मरमणता या आत्मोपासना की ओर झुक जायगा, तब उसे कहाँ फुरसत मिलेगी, शरीर-शुश्रूषा के बारे में इतस्ततः सोचने की ? तब उसे कहाँ समय मिलेगा शरीर के परिमंडन करने का या अन्य कामोत्तेजक बातें सोचने का ? जब वह षट्काय (प्राणिमात्र) का माता-पिता बनकर विश्व की समस्त आत्माओं की सेवा में, उनका जीवन निर्माण करने-कराने में अपनी आत्मसाधना करते हुए अहर्निश लगा रहेगा; तब कहाँ उसके मन को विषयवासनाओं की ओर दौड़ने का अवकाश मिलेगा ? ब्रह्मचर्य पालन में स्थिर होने के लिए इसी दृष्टि से शास्त्रकार ब्रह्मचर्य का निर्देश करते हैं – 'भावेयव्वो भवइ य अंतरप्पा इमेहिं तवनियमसीलजोगेहिं निच्चकालं ... ... अण्हाणक . ... जहा से थिरतरकं होइ बंभचेरं।' सूत्रपाठ की इन सब पंक्तियों का अर्थ भी पहले स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ ब्रह्मचर्यपोषक जिन बातों की ओर शास्त्रकार ने निर्देश किया है, उनमें की कुछ बातें मानसिक ब्रह्मचर्य से सम्बन्धित हैं, कुछ में आत्मा की उपासना को छोड़ कर शरीरशुश्रूषा के निषेध का संकेत है। जैसे–मान-अपमान या लाभालाभ, सुखदुःख आदि मन से उत्पन्न होने वाली बातें हैं। कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा को मान-अपमान, लाभ-अलाभ आदि कुछ भी नही होता। यह तो शरीर का धर्म है। परन्तु यह गलत है। राग या आसक्ति के वशीभूत होकर ही किसी दूसरे के शरीर या अवयव पर कामकुदृष्टि या कामचिन्तना होती है। जब साधक आत्मा के निजी गुणो, परमात्मा (सिद्ध और अर्हन्त, के गुणो का चिन्तन करेगा; शरीर के प्रति आसक्ति, मोह, वासना आदि की दृष्टि छोड़ कर शरीर को सिर्फ संयम पालन में सहायक कारण समझेगा, तब इन सब बातो की ओर न तो उसका मन जायेगा, न इन्द्रियां और शरीर जायेंगे और न ही वचनादि अन्य साधन ही जाएँगे ! किन्तु साधक के संस्कार में यह सब तभी रमेगा, जब वह तपस्या, नियम, शील और मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों के औचित्य पर ब्रह्मचर्य को केन्द्र में रख कर चिन्तन-मनन करेगा, इन पवित्रभावों में ओतप्रोत हो जायगा। तभी उसका ब्रह्मचर्य अत्यन्त स्थिर होगा, उसके संस्कार सुदृढ हो जाएंगे।

—ब्रह्मचर्य रक्षा के लिए ५ भावनाएँ

पूर्वोक्त सूत्रपाठ में शास्त्रकार ने ब्रह्मचर्य के माहात्म्य, गौरव, स्वरूप, तथा ब्रह्मचर्य पालन के बारे में सावधानी एव सुरक्षा के बारे में विशद निरूपण किया है। अब इस सूत्रपाठ में ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए दूसरे पहलू से पाँच भावनाओं का निरूपण शास्त्रकार करते हैं।

स्वनिश्चित वृहद्ध्येय में जुट जाना, बाह्य ब्रह्मचर्य का विधेयात्मक रूप है। विद्याध्ययन, शास्त्राध्ययन या योगसाधना आदि भी उसी के सहायक अंग है। इसी प्रकार मैथुन सेवन न करना, किसी स्त्री या अन्य में कामासक्ति न रखना, मैथुन के [1]आठ अंगों से दूर रहना, कामोत्तेजक खान पान, रहन सहन, वेशभूषा आदि तथा अश्लील दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, खाद्य, पाठ्य, लेख्य आदि तमाम बातों से दूर रहना, निषेधात्मक रूप से बाह्य ब्रह्मचर्य है। फिर साधु जीवन में इन दोनों रूपों का मन, वचन, काया से तथा कृत कारित और अनुमोदित रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना ही ब्रह्मचर्य का पूर्ण शुद्ध रूप है।

ब्रह्मचर्य विघातक बातों से सावधानी—शास्त्रकार ने ब्रह्मचर्य के निषेधात्मक रूप को लेकर कुछ ऐसी बातों से बचते रहने का संकेत किया है, जो ब्रह्मचर्य-नाशक हैं—"इमं च रतिरागदोसमोहपवड्ढणकरं...... तव - संजम - बंभचेरघातोवघातियाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं वज्जेयव्वाइं सव्वकालं।" सूत्रपाठ की इन सब पंक्तियों का अर्थ मूलार्थ एवं पदान्वयार्थ से काफी स्पष्ट हो जाता है। इसका आशय यही है कि ब्रह्मचर्य का लक्षण आत्मसेवा, आत्मरमणता, वीर्यरक्षा आदि है, तो आत्मा से भिन्न जो शरीर, इन्द्रिय या विषय-कषायादि पर पदार्थ हैं, उनमें रमण करना, उसी में आसक्ति रखकर शरीर या इन्द्रियों को ही पालना-पोसना, मन को विविध कामोत्तेजक बातों में भटकाना, शरीर या इन्द्रियों की ही सेवा शुश्रूषा में लग जाना तथा आसक्ति, राग, द्वेष और मोह को बढ़ाने वाली, आत्मा के प्रति लापरवाही या प्रमाद के कारण कामोत्तेजक दोषों की ओर झुकने वाली प्रवृत्तियों में लग जाना अब्रह्मचर्य है। और ऐसे अब्रह्मचर्य से शरीर, मन, इन्द्रिय आदि को बचाना ही वास्तव में ब्रह्मचर्य है। अतः ब्रह्मचर्यघातक एवं शरीरेन्द्रियपोषक तमाम प्रवृत्तियों से पूर्ण ब्रह्मचारी साधक को सदा दूर रहना चाहिए।

ब्रह्मचर्य-पोषक बातों का निर्देश ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए या ब्रह्मचर्य में स्थिर होने के लिए साधु के सामने अपना ध्येय स्पष्ट होना चाहिए। जब साधक आत्मा में या आत्मगुणसाधक प्रवृत्तियों में सतत रमण करेगा, तब स्वतः ही शरीर-शुश्रूषा को, इन्द्रियपोषण की एवं आसक्ति, मोह तथा काम को बढ़ाने की बातों से वह दूर रहेगा। अपने सामने वृहद्ध्येय को रख कर जब वह प्रवृत्ति करेगा तो शरीर या इन्द्रियों पर आसक्ति या मोह रख कर नहीं चलेगा। सहज भाव से वह शरीर

१　मैथुन के ८ अंग—स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
　　संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
　　एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः।
　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　—संपादक

मणसा, न वयसा पत्थेयव्वाइं पावकम्माइं। एवं इत्थीरूव-विरतिसमितिजोगेणं भावितो भवति अन्तरप्पा आरतमण-विरयगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते । (४) पुव्वरय-पुव्व कोलिय-पुव्वसंगंथगंथसंथुया जे ते आवाह - विवाह - चोल्लकेसु य तिथिसु जन्नेसु उस्सवेसु य सिंगारागारचारुवेसाहिं हाव-भाव-पललिय-विक्खेव-विलाससालिणीहिं अणुकूल-पेम्मिकाहिं सद्धिं अणुभूया सयणसंपओगा उदुसुहवरकुसुम-सुरभिचंदणसुगन्धिवरवास - धूव-सुहफरिसवत्थ - भूसणगुणो - ववेया रमणिज्जाउज्जगेयपउरनडनट्टकजल्लमल्लमुट्ठिक-वेलंबग-कहग - पवग-लासग - आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंबवीणिय-तालायर-पकरणाणि य बहूणि महुरसर-गीतसुस्सराइं अन्नाणि य एवमादियाणि तवसंजमबंभचेरघातोवघातियाइं अणुचर-माणेणं बंभचेरं न ताइं समणेण लब्भा दट्ठुं, न कहेउं, न वि सुमरिउ जे । एव पुव्वरय-पुव्वकोलियविरतिसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा आरयमणविरतगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते। (५) पंचमं आहार - पणीय-निद्धभोयणविवज्जए संजए सुसाहू ववगयखीर-दहि-सप्पि-नवनीय-तेल्ल-गुल-खंड-मच्छंडिक-महु-मज्ज-मंस-खज्जक-विगतिपरिचत्तकयाहारे ण दप्पणं, न वहुसो, न नितिकं, न सायसूपाहिकं, न खद्धं, तहा भोतव्वं जह से जायामाताए (य) भवति, न य भवति विब्भमो, न भंसणा य धम्मस्स, एवं पणीयाहारविरतिसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा आरयमणविरतगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते।

एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होइ सुपणिहित इमेहिं पंचहिंवि कारणेहिं मणवयणकायपरिरक्खिएहिं णिच्चं

मूलपाठ

तस्स इमा पंच भावणाओ चउत्थयस्स होंति अबंभचेर-वेरमणपरिरक्खणट्ठयाए, (१) पढमं सयणासण-घर-दुवार-अंगण-आगास-गवक्ख-साल-अभिलोयण-पच्छवत्थुक-पसाहणक - ण्हाणि-कावकासा, अवकासा जे य वेसियाणं अच्छंति य जत्थ इत्थिकाओ अभिक्खणं मोहदोसरतिरागवड्ढणीओ कहिंति य कहाओ बहुविहाओ, तेऽवि हु वज्जणिज्जा, इत्थि-संसत्तसंकिलिट्ठा अन्नेऽवि एवमादी अवकासा ते हु वज्जणिज्जा जत्थ मणोवि-ब्भमो वा, भंगो वा, भंसणा वा, अट्टं रुद्दं च हुज्ज झाणं, तं तं वज्जेज्जऽवज्जभीरू अणायतणं अंतपंतवासी । एवमसंसत्त-वासवसहीसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा, आरतमण-विरयगामधम्मे जितेंदिए बंभचेरगुत्ते (२) बितियं नारीजणस्स मज्झे न कहेयव्वा कहा विचित्ता विव्वोयविलाससंपउत्ता हास-सिंगारलोइयकहव्व मोहजणणी न आवाह-विवाह-वर-कहा विव इत्थीणं वा सुभग-दुभगकहा चउसट्ठी च महिलागुणा न वन्न-देस-जाति-कुल-रूव-नाम-नेवत्थ-परिजणकहा वि इत्थि-याणं अन्नावि य एवमादियाओ कहाओ सिंगारकलुणाओ तवसंजमबंभचेरघातोवघातियाओ अणुचरमाणेणं बंभचेरं न कहेयव्वा, न सुणेयव्वा, न चिंतेयव्वा । एवं इत्थीकहविरति-समितिजोगेणं भावितो भवति अंतरप्पा आरतमणविरय-गामधम्मे जितिंदिए बंभचेरगुत्ते । (३) ततीयं नारीणं हसित-भणितं चेट्ठिय-विप्पेक्खित-गइ-विलास-कीलियं विव्वोइ(ति) य-नट्ट - गीत-वादिय-सरीरसंठाण-वन्न-कर-चरण-नयण-लावन्न - रूव-जोव्वण-पयोहराधर-वत्थालंकारभूसणाणि य गुज्झो-वकासियाइं अन्नाणि य एवमादियाइं तवसंजमबंभचेर-घातोवघातियाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं न चक्खुसा, न

न चक्षुषा, न मनसा, न वचसा प्रार्थयितव्यानि पापकर्माणि । एवं स्त्रीरूपविरतिसमितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा आरतमनोविरतग्रामधर्मो जितेन्द्रियो ब्रह्मचर्यगुप्तः । (४) चतुर्थं पूर्वरत-पूर्वक्रीडितपूर्वसंग्रंथग्रंथसंस्तुता ये ते आवाहविवाहचोलकेषु च तिथिषु यज्ञेषु उत्सवेषु च शृंगारागारचारुवेषाभिर्हावभावप्रललितविक्षेपविलासशालिनीभिरनुकूल - प्रेमिकाभिः सार्द्धमनुभूताः शयनसम्प्रयोगा ऋतुसुख (शुभ) वरकुसुमसुरभिचन्दनसुगन्धिवरवासधूपसुख - (शुभ) - स्पर्शवस्त्रभूषणगुणोपपेता रमणीयाऽऽतोद्यगेयप्रचुरनटनर्त्तकजल्ल - मल्लमौष्टिकविडम्बककथकप्लवकलासकाख्यायकलखमंखतूणवत्तुम्बवीणिकतालाचरप्रकरणानि च बहूनि मधुरस्वरगीतसुस्वराणि अन्यानि चैवमादिकानि तपःसंयमब्रह्मचर्यघातोपघातिकानि अनुचरता ब्रह्मचर्यं न तानि श्रमणेन लभ्यानि द्रष्टुं, न कथयितुं, नाऽपि च स्मर्तुम् । एव पूर्वरतपूर्वक्रीडितविरतिसमितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा आरतमनोविरतग्रामधर्मो जितेन्द्रियो ब्रह्मचर्यगुप्तः । (५) पंचमकं आहारप्रणीतस्निग्धभोजनविवर्जकः संयतः सुसाधुर्व्यपगतक्षीरदधिसर्पिर्नवनीततैलगुडखण्डमत्स्यण्डिकामधुमद्यमांसखाद्यकविकृतिपरित्यक्तकृताहारो न दर्पणं, न बहुशो, न नैत्यिकं, न शाकसूपाधिकं, न प्रभूतं तथा भोक्तव्यं यथा तस्य यात्रामात्राय भवति, न च भवति विभ्रमो, न भ्रंशना च धर्मस्य, एवं प्रणीताहारविरतिसमितियोगेन भावितो भवति अन्तरात्मा आरतमनोविरतग्रामधर्मो जितेन्द्रियो ब्रह्मचर्यगुप्तः।

एवमिद संवरस्य द्वारं सम्यक् संवृतं भवति सुप्रणिहित एभिः पंचभिः कारणैर्मनोवचनकायपरिरक्षितैर्नित्यमामरणान्तं चैष योगो नेतव्यो धृतिमता मतिमताऽनास्रवोऽकलुषोऽच्छिद्रोऽपरिस्रावी असंक्लिष्टः शुद्धः सर्वजिनानुज्ञातः। एवं चतुर्थं संवरद्वारं स्पृष्टं पालितं शोधितं (शोभितं) तीरितं कीर्तितमाज्ञयाऽनुपालितं भवति । एव ज्ञातमुनिना भगवता प्रज्ञप्तं प्ररूपितं प्रसिद्धं सिद्धवरशासनमिदमाख्यातं सुदेशितं प्रशस्तम् । (सू० २७) चतुर्थं संवरद्वारं समाप्तमिति ब्रवीमि ॥४॥

पदान्वयार्थ—(तस्स चउत्थयस्स) उस चतुर्थसंवर द्वार ब्रह्मचर्यव्रत की (इमा पंच भावणाओ) ये आगे कही जाने वाली पांच भावनाएं, (अबंभचेरवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए) अब्रह्मचर्य से विरतिरूप ब्रह्मचर्य की चारों ओर से सुरक्षा के लिए (होंति) हैं। (पढमं) पहली असंसक्तवासवसतिसमिति भावना इस प्रकार है—(सयणासण-

आमरणंतं च एओ जोगो णेयव्वो धितिमया मतिमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुन्नातो । एव चउत्थं संवरदारं फासियं पालितं सोहितं तीरितं किट्टितं आणाए अणुपालितं भवति । एवं नायमुणिणा भगवया पन्नवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसित पसत्थं । (सू० २७) चउत्थं संवरदारं समत्तं तिबेमि ॥ ४ ॥

संस्कृतच्छाया

तस्येमाः पंच भावनाश्चतुर्थकस्य भवन्ति अब्रह्मचर्यविरमणपरिरक्षणार्थाय (रक्षणा यतायं),(१) प्रथमं शयनासनगृहद्वारांगणाकाशगवाक्षशालाभिलोकन-पश्चाद्वास्तुकप्रसाधनकस्नानिकावकाशाः, अवकाशा ये च वेश्यानामासते च यत्र स्त्रियोऽभीक्ष्णं मोहदोषरतिरागवर्द्धनाः कथयन्ति च कथा बहुविधास्तेऽपि खलु वर्जनीयाः, स्त्रीसंसक्तसंक्लिष्टा अन्येऽपि चैवमाद्योव-काशास्ते खलु वर्जनीया यत्र मनोविभ्रमो वा भंगो वा भ्रंशना वाऽऽर्त्तं रौद्रं च भवेद् ध्यानं तत्तद् वर्जयेदवद्य (वर्ज्य-वज्र) भीरुरनायतनमन्तप्रान्तवासी। एवमसंसक्तवासवसतिसमितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्मा आरतमनोविरत-ग्रामधर्मा जितेन्द्रियो ब्रह्मचर्यगुप्तः ।

(२) द्वितीयं नारीजनस्य मध्ये न कथनीया कथा विचित्रा विब्बोक-विलाससम्प्रयुक्ता हास्यशृंगारलौकिककथा वा मोहजननी न आवाहविवाह-वरकथा इव स्त्रीणां वा सुभगदुर्भगकथा चतुःषष्टिश्च महिलागुणा न वर्ण-देश-जाति - कुल - रूप - नाम - नेपथ्यपरिजनकथा स्त्रीणामन्याऽपि चैवमादिकाः कथाः शृंगारकरुणाः तपःसंयम - ब्रह्मचर्यघातोपघातिका अनुचरता ब्रह्मचर्यं न कथयितव्या, न श्रोतव्या, न चिन्तयितव्याः । एवं स्त्रीकथाविरतिसमितियोगेन भावितो भवत्यन्तरात्माऽऽरतमनोविरतग्रामधर्मो जितेन्द्रियो ब्रह्मचर्यगुप्त । (३) तृतीय नारीणां हसितभणितं चेष्टितविप्रेक्षित-गतिविलासक्रीडितं विब्बोकितनाट्यगीतवादित शरीरसंस्थानवर्ण करचरण-नयनलावण्यरूपयौवनपयोधराधरवस्त्रालंकार भूषणानि च गुह्यावकाशिकानि अन्यानि चैवमादिकानि तपःसंयमब्रह्मचर्यघातोपघातिकानि अनुचरता ब्रह्मचर्यं

चाहिए (व) अथवा (हासंसिंगारलोइयकहा) हास्यरस और शृंगाररस प्रधान लौकिक कथा (व) तथा (मोहजणणी) मोह पैदा करने वाली (आवाह-विवाहकहा) नव-विवाहित वर-वधू को बुलाने की या विवाह की कथा (अवि) भी (न) नहीं कहनी चाहिए (या) अथवा (इत्थीणं) स्त्रियों की (सुभग - दुभगकहा) सुन्दरता और कुरूपता से संबन्धित कथा अथवा सुहागिन होगी या विधवा ? इस प्रकार की या भाग्य-शालिनी होगी या अभागिनी ? इससे सम्बन्धित बात भी (च) और (चउसट्ठी महिलागुणा न) महिलाओं के आलिंगन आदि ८ कर्मों के प्रत्येक के ८-८ भेद होने से कुल ६४ गुणों का, अथवा गीत, नृत्य औचित्य आदि महिलाओं के ६४ गुणों का, या वात्स्यायनकामशास्त्र आदि में प्रसिद्ध आसनादि ६४ भेदों का वर्णन भी नहीं करना चाहिए । (य) अथवा (इत्थियाणं) स्त्रियों से सम्बन्धित (वन्न-देस-जाति-कुल-रूव-नाम-नेवत्थपरिजणकहा वि) वर्ण, देश, जाति, कुल, रूप, नाम, नेपथ्य-पोशाक और परिवार की कथा भी (न) नहीं करनी चाहिए । (य) तथा (एवमादियाओ) इसी प्रकार की (अन्नाथि) और भी (सिंगारकलुणाओ) शृंगाररस द्वारा करुणा पैदा करने वाली (तवसंजम-बंभचेरघातोवघातियाओ) तप, संयम, और ब्रह्मचर्य का आंशिक रूप से तथा पूर्णरूप से घात करने वाली (कहाओ) कथाएँ (बंभचेरं) ब्रह्मचर्य का (अणुचरमाणेणं) आचरण करने वाले साधु को (न कहेयव्वा) नहीं कहनी चाहिए तथा (न सुणेयव्वा) न दूसरे से सुननी चाहिए और (न चिंतेयव्वा) न ही मन में उनका चिन्तन करना चाहिए । (एवं) इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से (इत्थीकहविरति-समितिजोगेणं) स्त्री कथा से विरक्तिरूप समिति का प्रयोग-आचरण करने से (अंतरप्पा) साधु का अन्तरात्मा (भावितो) ब्रह्मचर्य के संस्कार से सुवासित (भवति) हो जाता है; (आरतमणविरयगामधम्मे) उसका हृदय ब्रह्मचर्य में मग्न हो जाता है और उसकी इन्द्रियाँ विषयों से पराङ्मुख हो जाती हैं; (जितेंदिए) ऐसा इन्द्रियविजेता साधु ही (बंभचेरगुत्ते) ब्रह्मचर्य का पूर्ण रक्षक बन जाता है । (ततीयं) तीसरी स्त्रीरूपविरतिसमिति भावना है, वह इस प्रकार है—(नारीणं) स्त्रियों के (हसित-भणितं) मधुर हास्य तथा विकारयुक्त कथन, (चेट्ठिय-विपेक्खित-गइ-विलास-कीलियं) हाथ आदि की चेष्टाएँ-लटके, कटाक्ष आदि या भौंहों की चेष्टा करके निरीक्षण, गति-चालढाल, हावभावादि रूप विलास और कामोत्तेजक क्रीड़ा, (य) तथा (बिब्बोइय-नट्ट-गीत-वादिय-सरीरसंठाण-वन्न-कर-चरण-नयण-लावन्न-रूव-जोव्वण-पयोहराहर-वत्थालंकारभूसणाणि) कामोत्पादक संभाषण, नाट्य, नृत्य, गीत, वीणादिवादन तथा मोटी,

घर - दुवार-अंगण-आगास-गवक्ख-साल-अभिलोयण-पच्छवत्थुक-पसाहणक-ण्हाणिकाव-कासा) शय्या, आसन, घर, द्वार, आंगन, खुला स्थान-अनाच्छादित स्थान, खिड़की-झरोखा, सामग्री रखने का स्थान, बहुत ऊँचा स्थान, जहाँ से सब दिखाई देता है, घर का पिछला भाग, स्नान और शृंगार करने का स्थान (य) तथा (वेसियाणं) वेश्याओं के (अवकासा) स्थान (य) और (जत्थ) जहाँ पर (इत्थिकाओ) स्त्रियाँ (अभिक्खणं) बारबार (अच्छंति) आकर बैठती हैं (य) एवं (मोहदोसरतिराग-वड्ढणीओ बहुविहाओ कहाओ) मोह, द्वेष, कामराग एवं स्नेहराग आसक्ति को बढ़ाने वाली अनेक प्रकार की कथाएँ (कहिंति) कहा करती हैं; (तेवि इत्थिसंसत्त-संकिलिट्ठा) वे स्त्रियों के संसर्ग से चित्त में कामविकार पैदा करने वाले स्थान भी (हु) निश्चय ही (वज्जणिज्जा) त्यागने योग्य हैं। (य) तथा (अन्नेवि) और भी (एवमादी) इसी प्रकार के कामविकारवर्द्धक स्थान हों तो (ते) उन्हें भी (हु) अवश्य (वज्जणिज्जा) वर्जनीय समझें, अधिक क्या कहें (जत्थ) जहाँ जहाँ (मणो-विब्भमो वा) चित्तवृत्ति में व्यग्रता या कामविह्वलता या 'ब्रह्मचर्य का पालन करूँ या नहीं ?' इस प्रकार की चित्त में भ्रान्ति, (भंगो वा) या ब्रह्मचर्य का सर्वथा भंग (भंसणा वा) अथवा ब्रह्मचर्य का आंशिक भंग (अट्टं) आर्तध्यान (च, तथा (रुद्दं झाणं) रौद्रध्यान (हुज्ज) पैदा हो, (अवज्जभीरू) पाप से डरने वाला (अंतपंतवासी) इन्द्रियों के प्रतिकूल, किन्तु साधुओं के अनुरूप विविक्त स्थान में निवास करने वाला साधु (तं तं) उस उस (अणायतणं) साधुओं के निवास के अयोग्य स्थान का (वज्जेज्ज) त्याग करे। (एवं) इस प्रकार (असंसत्तवासवसही-समितिजोगेण) स्त्री-सम्पर्क से रहित वसति – स्थान में निवास के विषय में सम्यक् प्रवृत्ति-समिति-प्रयोग से (अंतरप्पा) साधु की अन्तरात्मा (भावितो) ब्रह्मचर्य के सुसंस्कारों से संस्कृत (भवति) हो जाती है; (आरतमणविरयगामधम्मे) उसका मन ब्रह्मचर्य में तल्लीन हो जाता है, और इन्द्रियाँ आसक्तिपूर्वक विषय-ग्रहण करने के स्वभाव से निवृत्त हो जाती हैं (जितेंदिए) इन्द्रिय-विजेता वह साधु (बंभचेरगुत्ते) ब्रह्मचर्य की सुरक्षा कर लेता है। (बितियं) दूसरी स्त्रीकथाविरतिरूपसमिति भावना इस प्रकार है— (नारीजणस्स) केवल स्त्रियों की ही सभा के (मज्झे) बीच में (विचित्ता) ज्ञान, चारित्रादि की वृद्धि को रोकने वाली कोरी वाणीविलासरूप विचित्र (विब्बोय-विलास संपउत्ता) स्त्रियों की अभिमानजन्य अनादरपूर्ण चेष्टाओं तथा भौंह, नेत्र आदि के विकाररूप विलास से संयुक्त (कहा) कथा (न) नहीं (कहेयव्वा) कहनी

में किया है, उन्हें (य) तथा (रमणिज्जाउज्ज गेयपउर-नड-नट्टक-जल्ल-मल्ल-मुट्ठि कवेलंबग-कहग-पवगलासग - आइक्खग - लंख-मंख - तूणइल्ल - तुंबवीणिय - तालायर-पकरणाणि) रमणीय बाजों और गायनों से संपन्न नट, नाचने वाले, रस्सी पर चढ़कर खेल दिखानेवाले, पहलवान, मुष्टियुद्ध करनेवाले मुक्केबाज, विदूषक या भांड, कथक्कड़, ऊपर से नदी आदि में कूदने वाले या ऊंचे उछलने वाले, रासलीला करने वाले, शुभाशुभ फल बताने वाले, लंबे बांसों पर खेल करने वाले, चित्रपट हाथ में लेकर भीख मांगने वाले डाकौत, तूण नाम का बाजा बजाने वाले, वीणा बजाने वाले, और बाजीगर या ताल बजाने वाले, इन सबकी क्रियाएँ (य) एवं (बहूणि) बहुत से (महुरसर गीत सुस्सराइं) मधुरस्वर में गाने वालों के गीतों की सुरीली आवाजें (य) तथा (एवमादियाणि) इसी प्रकार के, (अन्नाणि) अन्यान्य जो (बंभचेर घातोव-घातियाइं) ब्रह्मचर्य का आंशिक रूप से या पूर्णरूप से घात करने वाले हैं, (ताइं) वे (बंभचेरं) ब्रह्मचर्य (अणुचरमाणेणं) पालन करने वाले साधु के द्वारा (न दट्ठुं) न देखने, (न कहेउं) न कहने (न वि सुमरिउं) और न स्मरण करने (लब्भा जे) योग्य हैं। (एवं) इस प्रकार (पुव्वरय-पुव्वकीलिय-विरतिसमितिजोगेण) पूर्वगृहस्थावस्था की कामरति, द्यूतादि क्रीड़ा के कामोदय दृष्टि से प्रेक्षण-कथन-स्मरण के त्यागरूप समिति के चिन्तन एवं प्रयोग से (अंतरप्पा) साधु का अन्तरात्मा, (भावितो) ब्रह्मचर्य के संस्कार से युक्त (भवति) हो जाता है, (आरयमण-विरतगामधम्मे) उसका मन ब्रह्मचर्य में ओतप्रोत हो जाता है, और उसकी इन्द्रियां विषयों से विरक्त हो जाती हैं। और तब वह (जिइंदिए) इन्द्रियविजेता साधु (बंभचेरगुत्ते) ब्रह्मचर्य की पूर्णरूपेण सुरक्षा कर लेता है। (पंचमगं) पांचवीं प्रणीताहारविरति-समिति भावना है, जो इस प्रकार है—(आहारपणीयनिद्धभोयण-विवज्जते) स्वादिष्ट और गरिष्ठ एवं स्निग्ध भोजन का त्याग करने वाला, (ववगयखीरदहिसप्पि-नवनीय-तेल्लगुलखंडमच्छंडिय-महुमज्जमंस-खज्जक विगतिपरिचत्त कयाहारे) दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, गुड़, शक्कर, मिश्री, मधु-शहद, मद्य, मांस आदि विकृतिजनक-विकृतिक खाद्य पदार्थों का, आहार के रूप में त्याग किया हुआ (संजते सुसाहू) संयमी सुसाधु (ण दप्पणं) इन्द्रिय दर्पकारक पदार्थ का सेवन न करे, (न बहुसो) न दिन में कई बार खाए, (न नितिकं) न प्रतिदिन खाए, (न सायसूपाहिकं) साग-दाल अधिक न खाए, (न खद्धं) न ज्यादा खाए। (तहा) वैसा हित, मित और पथ्यकर (भोत्तव्वं) भोजन करे, (जह) जिससे (से) उस ब्रह्मचारी का वह भोजन (जायामाताए) संयम-यात्रा के निर्वाह-भर के लिए (भवति) हो (य) और जिससे (न विब्भमो) धर्म के प्रति मन को अस्थिरता न हो, (य) और

दुब्ली, ठिगनी आदि के रूप में शरीर का ढांचा डीलडौल, रंगरूप, हाथ, पैर और आंखों की रमणीयता, लावण्य आकृति, यौवन, स्तन, नीचे का ओठ, कपड़े, हार आदि अलंकार, वेषविन्यास या साज सज्जा या शृंगारप्रसाधन (य) तथा (गुज्झोवकासियाइं) गुप्तांगों के स्थान (य) और (एवमादियाइं अन्नाणि) इसी प्रकार के अन्य (तवसंजमबंभचेरघातोवघातियाइं) तप, संयम और ब्रह्मचर्य का अल्प या पूर्ण रूप से घात करने वाले (पावकम्माइं) पाप-कर्मों को (बंभचेरं) ब्रह्मचर्य का (अणुचरमाणेणं) पालन करने वाला साधु (न चक्खुसा) न आंखों से देखने की, (न मणसा) न मन से चिन्तन करने की (न वयसा) और न वचन से कहने की (पत्थेयव्वा) इच्छा करे। (एवं) इस प्रकार (इत्थीरूवविरतिसमितिजोगेण) स्त्रीरूप निरीक्षण से निवृत्तिरूप समिति के मन वचन काया के योग-प्रयोग से (भावितो) संस्कृत (भवति) हो जाता है। (आरतमणविरतगामधम्मे) ऐसे साधु का मन ब्रह्मचर्य में संलग्न हो जाता है और उसकी इन्द्रियां विषयों से विरक्त हो जाती हैं। यही (जिइंदिए) जितेन्द्रिय साधु (बंभचेरगुत्ते) ब्रह्मचर्य का पूर्ण सुरक्षक होता है। (चउत्थं) चौथी पूर्वरत पूर्वक्रीडितविरतिसमिति भावना है, जो इस प्रकार है–(पुव्वरय-पुव्वकीलिय-पुव्वसंगंथसंथुया) पूर्व-गृहस्थाश्रम में अनुभव की हुई कामरति तथा गृहस्थावस्था में की हुई द्यूतादिक्रीडा तथा पूर्वकालिक श्वसुरकुल के साले, साली, साले की पत्नी, पुत्री आदि सम्बन्ध के कारण परिचित, (जे ते) जो जो हों, उन्हें कामोदय दृष्टि से देखना, कहना और स्मरण करना योग्य नहीं है। (य) तथा (आवाह विवाह चोल्लकेसु) वधू के साथ वर को घर में लाने के समय, विवाह के समय तथा बालक के चूडाकर्म-चोटी रखने के—संस्कार के अवसर पर (तिथिसु) वसंतपंचमी आदि तिथियों पर, (जन्नेसु) यज्ञों-पूजाओं में (य) तथा (उस्सवेसु) उत्सवों में (सिंगारागार चारुवेसाहिं) शृंगार रस की गृहस्वरूप सुन्दर वेशभूषा वाली स्त्रियों के, (हाव-भाव-पललिय-विक्खेव-विलास-सालिणीहिं) हाव-मुखविकार, भाव-मानसिक विकार, हाथ-पैर आदि अंगों का कोमल न्यास-संचालन, चित्त की व्यग्रता के कारण लापरवाही से किया हुआ शृंगार विपर्यास तथा विलासयुक्त चाल से शोभायमान (अणुकूल पेम्मिकाहिं) अनुकूल प्रेम रखने वाली प्रेमिकाओं के (सद्धिं) साथ (उदुसुह-वरकुसुम-सुरभिचंदण-सुगंधिवर-वासधूव-सुहफरिस-वत्थभूसण-गुणोववेया) ऋतु के अनुकूल सुख देने वाले सुन्दर फूल, श्रेष्ठ सुगन्धित चन्दन, सुगन्धित उत्तम चूर्ण वास-पाउडर, धूप, शुभस्पर्श, वस्त्र, आभूषण आदि भोगों को बढ़ावा देने वाले पदार्थों के गुणों से युक्त (सयणसंपओगा) शयन-सहवास का (अणुभूया) अनुभव पूर्वकाल

में किया है, उन्हें (य) तथा (रमणिज्जाउज्ज गेयपउर-नड-नट्टक-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिक वेलंबग-कहग-पवगलासग - आइक्खग - लंख-मंख - तूणइल्ल - तुंबवीणिय - तालायर-पकरणाणि) रमणीय बाजों और गायनो से संपन्न नट, नाचने वाले, रस्सी पर चढ़कर खेल दिखानेवाले, पहलवान, मुष्टियुद्ध करनेवाले मुक्केबाज, विदूषक या भांड, कथक्कड़, ऊपर से नदी आदि में कूदने वाले या ऊंचे उछलने वाले, रासलीला करने वाले, शुभाशुभ फल बताने वाले, लंबे बांसों पर खेल करने वाले, चित्रपट हाथ में लेकर भीख मांगने वाले डाकोत, तूण नाम का बाजा बजाने वाले, वीणा बजाने वाले, और बाजीगर या ताल बजाने वाले, इन सबकी क्रियाएँ (य) एवं (बहूणि) बहुत से (महुरसर गीत सुस्सराइं) मधुरस्वर में गाने वालों के गीतों की सुरीली आवाजें (य) तथा (एवमादियाणि) इसी प्रकार के, (अन्नाणि) अन्यान्य जो (बंभचेर घातोव-घातियाइं) ब्रह्मचर्य का आंशिक रूप से या पूर्णरूप से घात करने वाले हैं, (ताइं) वे (बंभचेरं) ब्रह्मचर्य (अणुचरमाणेणं) पालन करने वाले साधु के द्वारा (न दट्ठुं) न देखने, (न कहेउं) न कहने (न वि सुमरिउं) और न स्मरण करने (लब्भा जे) योग्य हैं। (एवं) इस प्रकार (पुव्वरय-पुव्वकीलिय-विरतिसमितिजोगेण) पूर्वगृहस्थावस्था की कामरति, द्यूतादि क्रीड़ा के कामोदय दृष्टि से प्रेक्षण-कथन-स्मरण के त्यागरूप समिति के चिन्तन एवं प्रयोग से (अंतरप्पा) साधु का अन्तरात्मा, (भावितो) ब्रह्मचर्य के संस्कार से युक्त (भवति) हो जाता है, (आरयमण-विरतगामधम्मे) उसका मन ब्रह्मचर्य में ओतप्रोत हो जाता है, और उसकी इन्द्रियां विषयों से विरक्त हो जाती हैं। और तब वह (जिइंदिए) इन्द्रियविजेता साधु (बंभचेरगुत्ते) ब्रह्मचर्य की पूर्णरूपेण सुरक्षा कर लेता है। (पंचमगं) पांचवीं प्रणीताहारविरति-समिति भावना है, जो इस प्रकार है—(आहारपणीयनिद्धभोयण-विवज्जते) स्वादिष्ट और गरिष्ठ एवं स्निग्ध भोजन का त्याग करने वाला, (ववगयखीरदहिसप्पि-नवनीय-तेल्लगुलमच्छंडिय-महुमज्जमंस-खज्जक विगतिपरिचत्त कयाहारे) दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, गुड़, शक्कर, मिश्री, मधु-शहद, मद्य, मांस आदि विकृतिजनक-विकृतिक खाद्य पदार्थों का, आहार के रूप में त्याग किया हुआ (संजते सुसाहू) संयमी सुसाधु (ण दप्पणं) इन्द्रिय दर्पकारक पदार्थ का सेवन न करे, (न बहुसो) न दिन में कई बार खाए, (न नितिकं) न प्रतिदिन खाए, (न सायसूपाहिकं) साग-दाल अधिक न खाए, (न खद्धं) न ज्यादा खाए। (तहा) वैसा हित, मित और पथ्यकर (भोत्तव्वं) भोजन करे, (जह) जिससे (से) उस ब्रह्मचारी का वह भोजन (जायामाताए) संयम-यात्रा के निर्वाह-भर के लिए (भवति) हो (य) और जिससे (न विब्भमो) धर्म के प्रति मन की अस्थिरता न हो, (य) और

(न धम्मस्स भंसणा) न ब्रह्मचर्य धर्म से पतन ही हो, (एवं) पूर्वोक्त प्रकार से (पणीयाहारविरति समितिजोगेण) स्वादिष्ट एवं गरिष्ठ आहार से विरक्तिरूप समिति की चिन्तनपूर्वक प्रवृत्ति से (अन्तरप्पा भावितो भवति) ब्रह्मचारी की आत्मा ब्रह्मचर्य के दृढ़ सस्कारों से युक्त हो जाती है, (आरय-मण-विरतगामधम्मे) उसका मन ब्रह्मचर्य में तल्लीन हो जाता है और उसकी इन्द्रियां विषयों से विरक्त हो जाती हैं। फिर वह (जिइंदिए) जितेन्द्रिय होकर (बंभचेरगुत्ते) ब्रह्मचर्य का पूर्णतया सुरक्षक बन जाता है।

(एवं) इस प्रकार (इणं) इस (संवरस्स दारं) चतुर्थ संवर ब्रह्मचर्य संवर का द्वार (मणवयणकायपरिरक्खिएहिं) मन, वचन और काया से सुरक्षित (इमेहिं पचहि वि कारणेहिं) इन-पूर्वोक्त पांचकारणों–पंचभावनायोगों के द्वारा (सम्मं) सम्यक् रूप से (संवरियं) सुरक्षित (होई) हो जाता है और (सुप्पणिहियं) अच्छी तरह दिलदिमाग और संस्कारों में जम जाता है। (धितिमया मतिमया) धृतिमान् और बुद्धिमान् साधक को (एसो जोगो) यह पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य सुरक्षा के लिए पांच भावनाओं का चिन्तनसहित प्रयोग (निच्चं आमरणंतं) जीवन के अंत तक प्रतिदिन, (णेयव्वो) करना चाहिए, जो कि (अणासवो) आश्रवरहित है, (अकलुसो) निर्मल है, (अच्छिद्दो) कर्म प्रवेश के लिए छिद्र से रहित (अपरिस्सावी) कर्मबन्धन रहित और (असंकिलिट्ठो) संक्लिष्ट परिणामों से रहित है। (सुद्धो) यह पवित्र है, और (सव्वजिणमणुन्नातो) समस्त जिनवरों से अनुज्ञात है। (एवं) इस प्रकार (चउत्थं) चौथा (संवरदारं) ब्रह्मचर्य नामक संवरद्वार (फासियं) उचित काल में अंगीकार किया हुआ, (पालियं) पालन किया गया, (सोहितं) अतिचाररहित आचरण किया हुआ, (तीरितं) पूर्णरूप से अन्त तक पालन किया गया, (किट्टितं) दूसरों के लिए कथन किया गया (आणाए अणुपालियं) भगवान् की आज्ञापूर्वक निरन्तर पालन किया गया (भवति) होता है।

(एवं) उक्त प्रकार से (नायमुणिणा) ज्ञातवंश में उत्पन्न मुनि अर्थात् भगवान् महावीर स्वामीद्वारा (इणं) यह (सिद्धवरसासणं) सिद्धों का श्रेष्ठ शासन (पन्नवियं) सामान्य रूप से निरूपित है, (परूवियं) विशेष रूप से विवेचन किया गया है, (पसिद्धं) प्रमाणों और नयों द्वारा सिद्ध किया गया है, (आघवियं) भलीभांति हृदय में जमा दिया गया है, (सुदेसियं) भव्यजीवों के लिए समुपदिष्ट और (पसत्थं) मंगलस्वरूप (चउत्थं संवरदारं) चौथा ब्रह्मचर्य संवरद्वार (समत्तं) समाप्त हुआ। (इति) इस प्रकार (बेमि) मैं (सुधर्मा स्वामी) कहता हूँ।

मूलार्थ—अब्रह्मचर्य से विरतिरूप ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए ये आगे कही जाने वाली पांच भावनाएं हैं। पहली **असंसक्तवास-वसति समिति भावना** इस प्रकार है—शय्या, आसन, गृह, द्वार, घर का आंगन, खुला स्थान, खिड़की-झरोखा, घर का सामान रखने का स्थान, जहाँ से बाहर का दृश्य दिखाई देता है—ऐसा बहुत ऊँचा स्थान, घर का पिछला भाग, शृङ्गार और स्नान करने का स्थान, वेश्याओं के स्थान, जहां बार-बार औरतें बैठती या ठहरती है और मोह, कामराग व स्नेहराग-आसक्ति बढाने वाली अनेक प्रकार की कथाएं करती है, ऐसे स्त्री सम्पर्कसे चित्त में विकार उत्पन्न करने वाले सभी स्थान निश्चय ही ब्रह्मचारी साधु के लिए त्याज्य है। इसी प्रकार के अन्य स्थान भी वर्जनीय समझने चाहिए, जहां चित्तवृत्ति में कामविकलता होती हो, ब्रह्मचर्य का सर्वथा भंग होता हो या आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान पैदा होता हो। पापभीरु तथा इन्द्रियों के प्रतिकूल विविक्त स्थान में निवास करने वाले साधु के लिए उचित है कि वह साधु के निवास करने के लिए अयोग्य उन-उन स्थानों का परित्याग करे। इस प्रकार असंसक्तवास वसतिसमिति के चिन्तनयुक्त प्रयोग से साधु की अन्तरात्मा ब्रह्मचर्य के संस्कारों से पुष्ट हो जाती है, उसका मन ब्रह्मचर्य में लीन हो जाता है और उसकी इन्द्रियाँ विषयो से निवृत्त हो जातो हैं। वह इन्द्रियविजेता साधु ब्रह्मचर्य की पूर्णतया सुरक्षा कर लेता है।

दूसरी स्त्रीकथाविरति समिति भावना इस प्रकार है—एकांत स्त्रियों की-ही परिषद् में बैठ कर ज्ञानचारित्र भाव वर्द्धक बातों से रहित वाणी की प्रपञ्च-रचना से युक्त विचित्र एवं स्त्रियों की अभिमानजन्य अनादरपूर्ण चेष्टा तथा नेत्रादि विलास से युक्त कथा न करे। अथवा हास्यरस एवं शृंगाररस-प्रधान लौकिक कथा न करे। मोह उत्पन्न करने वाली नवविवाहित वर-वधू को बुलाने की तथा विवाहशादी की कथाएं भी न करे। इसी प्रकार स्त्रियों के सौभाग्यदुर्भाग्य के सम्बन्ध में भविष्यवाणी न करे अथवा महिलाओं की सुरूपता-कुरुपता के सम्बन्ध में भी चर्चा न करे, तथा महिलाओं के आलिंगन आदि ६४ गुणों अथवा नृत्य, गीत, औचित्यादि ६४ महिला गुणों, या वात्स्यायन सूत्र आदि में प्रसिद्ध ६४ महिलागुणों की चर्चा भी नहीं करनी चाहिए। और न ही स्त्रियों से सम्बन्धित देश, जाति, कुल रूप, नाम, पोशाक और परिवार की कथाएं करनी चाहिए। इसी प्रकार की और भी शृंगार-

रस द्वारा करुणा पैदा करने वाली तप, संयम और ब्रह्मचर्य का आंशिक या पूर्णरूप से घात करने वाली कथाएँ ब्रह्मचारी न करे, न सुने और न ही चिन्तन करे। इस प्रकार स्त्री कथा से विरक्तिरूप सम्यक् प्रवृत्ति-समिति का प्रयोग करने से ब्रह्मचारी की आत्मा ब्रह्मचर्य से सुसंस्कृत हो जाती है। उसका मन ब्रह्मचर्य में एकाग्र हो जाता है और इन्द्रियां विषयसेवन की ओर नहीं दौड़ती। अतः वह इन्द्रियविजेता साधु ब्रह्मचर्य की पूर्ण सुरक्षा कर लेता है।

स्त्रीरूप दर्शन विरतिसमिति नामक तीसरी भावना इस प्रकार है— स्त्रियों का मधुर हास्य, विकारयुक्त कथन, हाथ पैर आदि अंगों की चेष्टाएँ, कटाक्षआदि से या भ्रूचेष्टापूर्वक निरीक्षण, गति-चालढाल, विलास— नेत्रादि विकार, अभीष्टवस्तु की प्राप्ति से अभिमानजन्य अनादरपूर्ण चेष्टा, नृत्य, गीत, वीणावादन, शरीर की लम्बाई-चौड़ाई आदि के रूप में डीलडौल या ढांचा, रंगरूप, हाथ, पैर और नेत्र का लावण्य-सौन्दर्य, इन सबके प्रसाधन-प्रकार तथा शरीर के गुप्त (ढकने योग्य लज्जाजनक) अंग तथा ये और दूसरे भी इसी प्रकार के तप, संयम और ब्रह्मचर्य का पूर्ण या आंशिक रूप से घात करने वाले इन पापकर्मों को ब्रह्मचर्य का आचरण करने वाला साधु न आँखों से देखने की, न मन से चिन्तन करने की और न वाणी से कहने की इच्छा करे। इस प्रकार स्त्रीरूपविरतिसमिति के प्रयोग से ब्रह्मचारी की अन्तरात्मा ब्रह्मचर्य के संस्कारों से युक्त हो जाती है। उसका मन ब्रह्मचर्य में तल्लीन हो जाता है, उसकी इन्द्रियाँ विषयों से विमुख हो जाती हैं। वही जितेन्द्रिय साधु ब्रह्मचर्य की भलीभांति रक्षा कर लेता है। चौथी पूर्वरत-पूर्वक्रीड़ित विरतिसमिति भावना है। वह इस प्रकार है—पहले गृहस्थ अवस्था में अनुभव की गई कामक्रीड़ा या पूर्वअनुभूत द्यूतादि क्रीड़ा, श्वसुर-कुल के साले-साली या साले के स्त्रीपुत्रादि परिवार के पूर्वपरिचित व्यक्तियों को देखने, उनके सम्बन्ध में कहने और स्मरण करने का त्याग करे। नवविवाहित वर वधू के घर में प्रवेश के समय, विवाह के समय, चूड़ाकर्म-संस्कार के अवसर पर तथा वसंत पंचमी आदि तिथियों पर, यज्ञों-पूजाओं तथा उत्सवों के मौके पर शृङ्गाररस के गृहरूप सुन्दर वेशभूषा से सुसज्जित स्त्रियों के हाव (मुखविकार), भाव (मनोविकार), हाथ-पैर आदि का कोमल विन्यास-संचालन, चित्त की व्यग्रता से यानी लापरवाही से ढीलाढाला वस्त्र-

परिधान, विलासपूर्वक मस्तानी चाल से सुशोभित, अनुकूल प्रेमवाली प्रेमिकाओं के साथ ऋतु के अनुकूल सुखद सुन्दर फूल, महकते उत्तम चन्दन, महकते हुए उत्तम चूर्ण (पाउडर), इत्र आदि की मस्त सुगन्ध, धूप, सुखस्पर्श, मुलायम कपड़े, इन सब कामभोग-वर्द्धक गुणों से युक्त जिन शयनसम्पर्कों का सुखानुभव गृहस्थावस्था में किया था, उन्हें न देखे, न उनका वर्णन करे, और न ही मन में उनका चिन्तन करे। तथा रमणीय बाजों और गायनों के सहित नट का तमाशा करने वालों, नृत्य करने वालों, रस्सी पर चढ़ कर खेल करने वालों, कुश्ती करने वाले पहलवानों, मुष्टि-युद्ध करने वाले मल्लों, कथा करने वाले कथकों, ऊपर से पानी में कूदने वालों, रासलीला करने वालों, शुभाशुभ फल बताने वालों, लंबे बांस पर चढ़ कर तमाशा दिखाने वालों, चित्रपट हाथ में लेकर भिक्षा मांगने वालों (डाकौत आदि), तूण नामक बाजा बजाने वालों तथा बाजीगरों की विशेष क्रिया तथा मधुर स्वर से गाने वालों के सुरीले स्वर तथा इसी प्रकार की अन्य विविध क्रियाएँ, जिनसे तप, संयम और ब्रह्मचर्य का सर्वथा या आंशिक रूप से नाश होता है, इन सबको ब्रह्मचारी साधु न आंखों से देखे, न वचन से उनके बारे में चर्चा करे, और न ही मन से उन पर चिन्तन करे। इस प्रकार पहले आश्रम (गृहस्थ अवस्था) की कामक्रीड़ा या द्यूतादि-क्रीड़ा का दर्शन, उच्चारण व स्मरण के त्याग में सम्यक् प्रवृत्ति करने से ब्रह्मचारी की अन्तरात्मा ब्रह्मचर्य के संस्कारों से ओतप्रोत हो जाती है। उसका मन ब्रह्मचर्य में ही निमग्न हो जाता है,उस की इन्द्रियाँ विषयों से विमुख हो जाती है। वह जितेन्द्रिय साधु ही ब्रह्मचर्य का पूर्ण सुरक्षक बनता है।

पांचवीं प्रणीत-आहारत्याग समिति भावना इस प्रकार है गरिष्ठ, स्वादिष्ट और स्निग्ध आहार को छोड़ने वाला तथा दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, गुड़, शक्कर, मिश्री, मधु-शहद, मद्य, मांस आदि खाद्य-विकृतियों से रहित आहार करने वाला संयमी सुसाधू इन्द्रियदर्प-कारक पदार्थ न खाए, न दिन में कई बार खाए, न प्रतिदिन भोजन करे, न ही दाल-साग अधिक खाए, न बहुत ठूंस-ठूंसकर ही खाए। उतना ही और वैसा ही हितकर और परिमित भोजन करे, जिससे वह भोजन उस ब्रह्मचारी साधू की संयम यात्रा के लिए पर्याप्त निर्वाहक हो। उस आहार से मन में उद्विग्नता न पैदा हो, न ब्रह्मचर्य का सर्वथा भंग हो और न ही धर्म से भ्रष्ट हो। इस प्रकार

रस द्वारा करुणा पैदा करने वाली तप, संयम और ब्रह्मचर्य का आंशिक या पूर्णरूप से घात करने वाली कथाएँ ब्रह्मचारी न करे, न सुने और न ही चिन्तन करे। इस प्रकार स्त्री कथा से विरक्तिरूप सम्यक् प्रवृति-समिति का प्रयोग करने से ब्रह्मचारी की आत्मा ब्रह्मचर्य से सुसंस्कृत हो जाती है। उसका मन ब्रह्मचर्य में एकाग्र हो जाता है और इन्द्रियां विषयसेवन की ओर नहीं दौड़ती। अतः वह इन्द्रियविजेता साधु ब्रह्मचर्य की पूर्ण सुरक्षा कर लेता है।

स्त्रीरूप दर्शन विरतिसमिति नामक तीसरी भावना इस प्रकार है—स्त्रियों का मधुर हास्य, विकारयुक्त कथन, हाथ पैर आदि अंगों की चेष्टाएँ, कटाक्षआदि से या भ्रू चेष्टापूर्वक निरीक्षण, गति-चालढाल, विलास—नेत्रादि विकार, अभीष्टवस्तु की प्राप्ति से अभिमानजन्य अनादरपूर्ण चेष्टा, नृत्य, गीत, वीणावादन, शरीर की लम्बाई-चौड़ाई आदि के रूप में डीलडौल या ढांचा, रंगरूप, हाथ, पैर और नेत्र का लावण्य-सौन्दर्य, इन सबके प्रसाधन-प्रकार तथा शरीर के गुप्त (ढकने योग्य लज्जाजनक) अंग तथा ये और दूसरे भी इसी प्रकार के तप, संयम और ब्रह्मचर्य का पूर्ण या आंशिक रूप से घात करने वाले इन पापकर्मों को ब्रह्मचर्य का आचरण करने वाला साधु न आंखों से देखने की, न मन से चिन्तन करने की और न वाणी से कहने की इच्छा करे। इस प्रकार स्त्रीरूपविरतिसमिति के प्रयोग से ब्रह्मचारी की अन्तरात्मा ब्रह्मचर्य के संस्कारों से युक्त हो जाती है। उसका मन ब्रह्मचर्य में तल्लीन हो जाता है, उसकी इन्द्रियां विषयों से विमुख हो जाती हैं। वही जितेन्द्रिय साधु ब्रह्मचर्य की भलीभांति रक्षा कर लेता है। चौथी पूर्वरत-पूर्वक्रीड़ित विरतिसमिति भावना है। वह इस प्रकार है—पहले गृहस्थ अवस्था में अनुभव की गई कामक्रीड़ा या पूर्वअनुभूत द्यूतादि क्रीड़ा, श्वसुर-कुल के साले-साली या साले के स्त्रीपुत्रादि परिवार के पूर्वपरिचित व्यक्तियों को देखने, उनके सम्बन्ध में कहने और स्मरण करने का त्याग करे। नवविवाहित वर वधू के घर में प्रवेश के समय, विवाह के समय, चूड़ाकर्म-संस्कार के अवसर पर तथा बसंत पंचमी आदि तिथियों पर, यज्ञों-पूजाओं तथा उत्सवों के मौके पर शृङ्गाररस के गृहरूप सुन्दर वेशभूषा से सुसज्जित स्त्रियों के हाव (मुखविकार), भाव (मनोविकार), हाथ-पैर आदि का कोमल विन्यास-संचालन, चित्त की व्यग्रता से यानी लापरवाही से ढीलाढाला वस्त्र-

परिधान, विलासपूर्वक मस्तानी चाल से सुशोभित, अनुकूल प्रेमवाली प्रेमिकाओं के साथ ऋतु के अनुकूल सुखद सुन्दर फूल, महकते उत्तम चन्दन, महकते हुए उत्तम चूर्ण (पाउडर), इत्र आदि की मस्त सुगन्ध, धूप, सुखस्पर्श, मुलायम कपड़े, इन सब कामभोग-वर्द्धक गुणों से युक्त जिन शयनसम्पर्कों का सुखानुभव गृहस्थावस्था मे किया था, उन्हे न देखे, न उनका वर्णन करे, और न ही मन में उनका चिन्तन करे। तथा रमणीय वाजों और गायनों के सहित नट का तमाशा करने वालों, नृत्य करने वालों, रस्सी पर चढ़ कर खेल करने वालों, कुश्ती करने वाले पहलवानों, मुष्टि-युद्ध करने वाले मल्लो, कथा करने वाले कथकों, ऊपर से पानी में कूदने वालों, रासलीला करने वालों, शुभाशुभ फल बताने वालों, लंबे बांस पर चढ़ कर तमाशा दिखाने वालों, चित्रपट हाथ में लेकर भिक्षा मांगने वालों (डाकौत आदि), तूण नामक बाजा बजाने वालो तथा बाजीगरों की विशेष क्रिया तथा मधुर स्वर से गाने वालों के सुरीले स्वर तथा इसी प्रकार की अन्य विविध क्रियाएँ, जिनसे तप, संयम और ब्रह्मचर्य का सर्वथा या आंशिक रूप से नाश होता है, इन सबको ब्रह्मचारी साधु न आंखों से देखे, न वचन से उनके बारे में चर्चा करे, और न ही मन से उन पर चिन्तन करे। इस प्रकार पहले आश्रम (गृहस्थ अवस्था) की कामक्रीड़ा या द्यूतादि-क्रीड़ा का दर्शन, उच्चारण व स्मरण के त्याग में सम्यक् प्रवृत्ति करने से ब्रह्म-चारी की अन्तरात्मा ब्रह्मचर्य के संस्कारों से ओतप्रोत हो जाती है। उसका मन ब्रह्मचर्य में ही निमग्न हो जाता है,उस की इन्द्रियाँ विषयों से विमुख हो जाती है। वह जितेन्द्रिय साधु ही ब्रह्मचर्य का पूर्ण सुरक्षक बनता है।

पांचवीं प्रणीत-आहारत्याग समिति भावना इस प्रकार है गरिष्ठ, स्वादिष्ट और स्निग्ध आहार को छोड़ने वाला तथा दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, गुड़, शक्कर, मिश्री, मधु-शहद, मद्य, मांस आदि खाद्य-विकृतियों से रहित आहार करने वाला संयमी सुसाधु इन्द्रियदर्प-कारक पदार्थ न खाए, न दिन में कई बार खाए, न प्रतिदिन भोजन करे, न ही दाल-साग अधिक खाए, न बहुत ठूंस-ठूंसकर ही खाए। उतना ही और वैसा ही हितकर और परिमित भोजन करे, जिससे वह भोजन उस ब्रह्मचारी साधु को संयम यात्रा के लिए पर्याप्त निर्वाहक हो। उस आहार से मन में उद्विग्नता न पैदा हो, न ब्रह्मचर्य का सर्वथा भंग हो और न ही धर्म से भ्रष्ट हो। इस प्रकार

गरिष्ठ स्वादिष्ट रसीले आहार का त्याग करने में सम्यक् प्रवृत्ति (समिति) करने से ब्रह्मचारी का अन्तरात्मा ब्रह्मचर्य के सुसंस्कारों से वासित हो जाता है। उसका अन्तःकरण ब्रह्मचर्य में रम जाता है, उसकी इन्द्रियाँ विषयों में आसक्तिपूर्वक प्रवृत्त नहीं होती। वह जितेन्द्रिय साधु ब्रह्मचर्य को पूर्णतया सुरक्षित कर लेता है।

इस प्रकार इन पांचों ही कारणों—ब्रह्मचर्य रक्षण के उपायों से मन, वचन और काया चारों ओर से सुरक्षित हो जाने से ब्रह्मचर्य संवर का यह द्वार भलीभांति रक्षित हो जाता है, दिल-दिमाग में अच्छी तरह स्थापित हो जाता है। धृतिमान और बुद्धिमान साधू को यह चिन्तनयुक्त प्रयोग जीवन के अन्त तक प्रतिदिन करना चाहिए जो आश्रवरहित है, दोषरहित है, कर्मबन्ध के स्रोत से रहित है, संक्लिष्ट परिणामों से रहित है, शुद्ध है, सर्वतीर्थंकरों ने इसकी अनुज्ञा दी है। इस प्रकार चौथा संवर द्वार उचितकाल पर स्वीकार किया हुआ, पालन किया गया, अतिचाररहित आचरण किया गया, पूर्ण रूप से पालन किया गया, अन्य भव्यजीवों के लिए उपदिष्ट है, और भगवान् की आज्ञानुसार आराधित है।

इस प्रकार ज्ञातवंश में उत्पन्न मुनि अर्थात् भगवान् महावीर ने इस चतुर्थ संवरद्वार का सामान्य रूप से प्रतिपादन किया है, विशेष रूप से इस का निरूपण किया है, प्रमाणों से सिद्ध किया है, प्रतिष्ठापित किया है, भव्य जीवों को इसका उपदेश दिया है, ऐसा मंगलरूप एवं सिद्धों का उत्तम-शासन रूप यह चतुर्थ ब्रह्मचर्य संवर द्वार समाप्त हुआ। ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ।

व्याख्या

पूर्व सूत्रपाठ में जिस ब्रह्मचर्य की इतनी गौरव गाथाएँ शास्त्रकार ने गाई थी, उस महामूल्यवान, अनेक तपस्याओं से प्राप्त ब्रह्मचर्यरत्न की सुरक्षा के लिए साधारणरूप से उपाय भी बताए थे, किन्तु ये उपाय तब तक ही कृतकार्य होते हैं, जब तक साधक के सामने प्रतिकूल वातावरण न हो। वातावरण भी तभी बनता है, जब ब्रह्मचर्य के सुसंस्कार इतने मजबूत हों कि रोम-रोम में वे रम जांय, रग-रग में प्रविष्ट हो जांय, साधक के जीवन का कण-कण ब्रह्मचर्य के संस्कारों से ओतप्रोत हो जांय। इसी उद्देश्य से शास्त्रकार ने अब्रह्मचर्य के विविध स्थानों से साधक की आत्मा को बचाने तथा ब्रह्मचर्यपालन के संस्कारों को बद्धमूल करने हेतु

निम्नोक्त पांच भावनाएँ बताई हैं—(१) स्त्रीसंसक्त निवासस्थान - त्याग समिति भावना, (२) स्त्रीकथाविरतिसमिति भावना, (३) स्त्रीरूपविरतिसमिति भावना, (४) पूर्वरतपूर्वक्रीड़ित दर्शन-उच्चारण-स्मरण-त्यागसमिति भावना और (५) कामोत्पादक-आहारत्याग समिति भावना। यद्यपि इन पांचों भावनाओं के सम्बन्ध मे बताए मूलपाठ का अर्थ हम काफी स्पष्ट कर चुके है, तथापि इन पर विशेष विवेचन करना आवश्यक है। अतः हम क्रमश. इन पर विवेचन करेंगे।

पांच भावनाओं की उपयोगिता—पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्मचर्यव्रत की रक्षा साधु के लिए अनिवार्य है। और व्रतों में अपवाद और रियायत हैं, लेकिन ब्रह्मचर्य मे कोई अपवाद और रियायत नही। बल्कि शास्त्र में यहां तक कहा गया है कि प्राणत्याग स्वीकार कर ले, यानी आत्महत्या करले, लेकिन ब्रह्मचर्य व्रत खंडित न करे। इसलिए ब्रह्मचर्य की सुरक्षा जब प्राणप्रण से करना अनिवार्य है तो साधक को यह देखना पड़ेगा कि अब्रह्मचर्य के अड्डे कहां-कहा हैं? अथवा विघातक तत्त्वों के मोर्चे कहां-कहा हैं? काम का चक्रव्यूह कहां-कहां और किस-किस प्रकार से साधक को फँसा लेता है और परास्त कर देता है? उनसे कैसे बचना चाहिए?

इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए विहित ये पांच भावनाएँ साधक के सामने प्रस्तुत हैं। ये पाच भावनाएँ साधक को अब्रह्मचर्य के अड्डों या ब्रह्मचर्य विघातक मोर्चों की जानकारी देकर उनसे बचने का बार-बार अभ्यास करने का संकेत देती है।

स्त्री-असंसक्तस्थान समितिभावना का प्रयोग—सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य के विघातक तत्त्वो का मोर्चा लगता है—स्त्रीसंसर्ग युक्त स्थानों पर। साधुजीवन मे धर्मपालन करने के लिए जैसे भोजन पानी आवश्यक है, वैसे ही धर्मपालन करने तथा सर्दी-गर्मी, वर्षा आदि से तथा उपद्रवी लोगों से बचने के लिए कोई न कोई स्थान जरूरी है, जहां पर टिक कर साधु ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सम्यक् आराधना कर सके और अपने शरीर को धर्मपालनार्थ टिका सके। स्थानप्राप्ति के लिए तो भिक्षाविधि में बताया ही गया था कि साधु उस स्थान के मालिक से या उसका कोई एक मालिक न हो तो शासक आदि से या कोई भी प्रत्यक्ष मालिक न हो तो शक्रेन्द्र देव से अनुज्ञा ले कर ही उस स्थान का उपयोग करे। इस प्रकार साधु के लिए स्थान की समस्या हल हो जाने पर भी उसे वहां यह विवेक करना पड़ेगा कि वह जहां निवास करना चाहता है, वहां उसका संयम-पालन ठीक तरह से हो जायगा? वहाँ उसके ज्ञान-दर्शन चारित्र में बाधक वातावरण तो नही है? वहां आसपास संयम-विघातक तत्त्व तो अपना मोर्चा नही लगाए हुए हैं? अन्यथा, जिस साधु धर्म अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सुरक्षा के लिए वह किसी स्थान को पा कर भी अपना

साधुजीवन खो बैठेगा। साधुजीवन का सर्वस्व-ब्रह्मचर्य गँवा देगा। अब्रह्मचर्य के चंगुल में फंसकर अपनी की-कराई साधना की कमाई को मिट्टी में मिला देगा। एक बार अनमोल ब्रह्मचर्यरत्न को खो देने पर फिर वह हाथ आना अत्यन्त दुष्कर है। इसलिए ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए स्थानत्यागसमिति भावना बताई गई है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए साधु को ऐसे स्थानों में नहीं रहना चाहिए, जहाँ स्त्रियाँ सोती हों, बैठती हों, घर के द्वार मे बार-बार उनका आवागमन होता हो, घर के आंगन में जहां उनका पड़ाव हो, ऐसा झरोखा-जहां से स्त्रियों पर बार-बार दृष्टि पड़ती हो, या ऐसा ऊँचा स्थान, जहा से बहुत दूर तक गृहस्थ के घर की चीजें तथा सांसारिक प्रवृत्तियां दिखाई देती हों, घर का पिछला हिस्सा, जहां पर स्त्रियों पर दृष्टि पड़ती हो, या स्नानघर, शृङ्गारघर आदि स्त्रियों के आवागमन के स्थान, तथा वेश्याओं का स्थान हो अथवा आसपास वेश्याओं का मोहल्ला हो, या जहा स्त्रियां बार-बार बैठ कर मोह, द्वेष एवं रतिराग बढ़ाने वाली अनेक प्रकार की गप्पें लड़ाती हों, ऐसे स्थान साधु के निवास के लिए वर्जनीय हैं। इसके अलावा स्त्रीसंसर्ग से युक्त ऐसे अन्य स्थान, जहां रहने से स्त्रियों का स्वच्छन्द विलास आदि देखकर चित्त में भ्रान्ति पैदा हो जाय कि मैं ब्रह्मचर्य का पालन करूँ या न करूँ? अथवा जहां ब्रह्मचर्य का सर्वथा भंग मन-वचन-काया से होना संभव हो, अथवा जहां ब्रह्मचर्य से मानसिक या वाचिकरूप से भ्रष्टता का होना संभव हो या जहां का वातावरण शृङ्गाररसपूर्ण देखकर साधक को ब्रह्मचर्य के बारे में पश्चात्ताप हो, मैथुन-प्रवृत्ति के लिए तीव्रचिन्तन रूप आर्तध्यान या रौद्रध्यान हो, ऐसे स्थानों पर भी साधु का निवास करना योग्य नहीं है। चाहे साधु को थोड़ा कष्ट भी होता हो, रद्दी और जीर्णशीर्ण प्रतिकूल स्थान ही मिलता हो, लेकिन ब्रह्मचर्य रत्न की सुरक्षा के लिए वहां रहना अभीष्ट हो तो पाप भीरु एवं जैसे-तैसे स्थान में रहने के अभ्यासी साधु को वैसे स्थान में रहने के लिए अपने मन को तैयार कर लेना चाहिए, मगर स्त्रीसंसर्गयुक्त अयोग्य, किन्तु बढ़िया स्थान में साधु को हर्गिज नहीं ठहरना चाहिए। यही इस भावना का प्रयोग है।

इस प्रकार के चिन्तन के प्रकाश में जो साधु अपनी अन्तरात्मा को स्त्रीसंसक्त स्थानत्याग समिति की भावना से सुसंस्कृत कर लेता है, उसका मन अभ्यास से ब्रह्मचर्य में लीन हो जाता है, फिर उसकी इन्द्रियां विषयों के बीहड़वन में नहीं भटकती। वह जितेन्द्रिय और गुप्तब्रह्मचारी हो जाता है।

स्त्री कथाविरतिसमिति भावना का प्रयोग—ब्रह्मचर्य विघातक तत्त्वों का दूसरा मोर्चा लगता है—स्त्रियों के सम्बन्ध में विविध प्रकार की कामोत्तेजक कथा का। साधु के पास शास्त्रीय ज्ञान और अनुभवज्ञान होता है, वही उसके दर्शन और

ारित्र की वृद्धि में या इनके ह्रास को रोकने में सहायक बनता है। किन्तु अगर
प्स ज्ञान का प्रयोग दूसरों के कल्याण का कारण न होकर अपने चारित्र का ही
वेनाश करने वाला हो जाय तो वहां साधु को जरा रुक कर आत्मचिन्तन और
निरीक्षण-परीक्षण करना चाहिए। साधु का उपदेश सबके लिए है, किन्तु साधु काम
ा.मोह से प्रेरित होकर अपना उपदेश एकान्त में—केवल स्त्रियों के बीच बैठ कर
ा करने लगे और वैराग्य के उपदेश के बदले कामवर्द्धक विचित्र बातें न सुनाने लगे
ा स्त्रियों के हाव, भाव, विब्बोक[1] या [2]विलास से युक्त कहानियां ही न छेड़ बैठे
अथवा स्त्रियों के मधुर हास्यरस या शृङ्गाररस के लौकिक किस्से न कहने लगे या
मोहजनक बातें न बताने लगे अथवा नवविवाहित वर वधू के चरित्र एवं विवाह की
चर्चा न छेड़ बैठे, या स्त्रियों के सौभाग्य-दुर्भाग्य की भविष्यवाणी न करे अथवा
स्त्रियों के आलिंगन चुंबन आदि ६४ गुणों या उनके नृत्यगीत आदि ६४ गुणों का
वर्णन न करने लगे, या फिर विभिन्न देश[3] की, [4]जाति की व कुल[5] की स्त्रियों की
चर्चा न छेड़े, या फिर स्त्रियों के रूप और वेशभूषा का वर्णन न करे या उनके
[6]नाम ले लेकर भी वर्णन न करे या स्त्रियों के परिवार वालों की राम कहानी न छेड़
बैठे। कहां तक कहें ? ये और इस प्रकार की दूसरी जो भी स्त्रियों के शृङ्गारादि से
सम्बन्धित कामवर्द्धक एवं तप-संयम-ब्रह्मचर्य विघातक कथाएँ हों, उन्हें ब्रह्मचर्य के
आराधक साधु को न तो कहनी चाहिए, न ऐसी बातें सुननी चाहिए। अन्यथा ज्ञान के
बदले अज्ञान, मोह और कुशील बढ़ेगा। ब्रह्मचर्य भ्रष्ट साधु का मन फिर अस्त व्यस्त
ही रहेगा, वह धर्म से सर्वथा पतित हो जायगा। यही इस भावना का प्रयोग है, जो
साधक को ब्रह्मचर्यनिष्ठ एवं इन्द्रियविजेता बना देता है। निष्कर्ष यह है कि मोह

---

१. इष्टानामर्थानां प्राप्तावभिमानगर्वसम्भूतः।
स्त्रीणामनादरकृतो बिब्बोको नाम विज्ञेयः॥

अर्थ—इच्छानुकूल पदार्थों के मिल जाने पर अत्यन्त गर्व से उत्पन्न हुआ स्त्रियों का अनादरपूर्ण व्यवहार बिब्बोक कहलाता है।

२. स्थानासनगमनानां हस्तभ्रूनेत्रकर्मणां चैव।
उत्पद्यते विशेषो य श्लिष्टः स तु विलासः स्यात्॥

अर्थ—स्त्रियों के ठहरने, बैठने, चलने के तथा हाथ, भौंह और नेत्र के स्नेहयुक्त क्रियाविशेष को विलास कहते हैं।

३. देशकथा—लाटी कोमल वचना व रतिनिपुणा होती है इत्यादि।
४ जातिकथा—ब्राह्मणियां विधवा होने पर मृतवत् हैं। ५. कुलकथा—पति मरने के बाद चौलुक्यपुत्रियाँ आग में कूद पड़ती हैं। ६. नामकथा—सुन्दरी वास्तव में अत्यन्त सुन्दरी ही है।

एवं कामराग बढ़ाने वाली जितनी भी बातें हैं, उनका भी न उच्चारण करे, न दूसरे से सुने और न मन में चिन्तन करे। तभी ब्रह्मचर्य के बारे में साधु अडोल रह सकता है।

स्त्रीरूपनिरीक्षणत्यागसमिति भावना का प्रयोग—इसके बाद ब्रह्मचर्य-घातक तत्त्वों का मोर्चा है—नारी के रूप से सम्बन्धित दर्शन, चिन्तन और कथन। ब्रह्मचारी साधक अपनी ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा, विद्वत्ता या स्त्रीसंसक्त स्थानत्याग की मर्यादा-पालन के भ्रम में रहता है कि मैं मर्यादा में चल रहा हूँ; विद्वान् हूँ और मर्यादा का पालन करता हूँ, फिर ब्रह्मचर्य-भ्रष्ट कैसे हो सकूंगा? पर कामवासना का उद्भव तो मन से होता है और मन की प्रेरणा से साधक नारी के रूप-सौन्दर्य, लावण्य-वेशभूषा, यौवन, चालढाल, डीलडौल, शृंगार, आकृति, अंगप्रत्यंगों, अलंकारों; गुप्तांगों तथा अंगचेष्टाओं को कामविकार की दृष्टि देखने में लग जाता है; फिर विकृत मन से उन पर चिन्तन करता है और विकारी वाणी से उनका वर्णन करता है। अतः ब्रह्मचर्य घातक तत्त्व साधक को ऐसा पछाड़ देते हैं कि फिर ब्रह्मचर्य की भूमिका पर उसका उठना कठिन हो जाता है, वह एकदम निम्न भूमिका पर गिर जाता है। अतः अब्रह्मचर्य के इस प्रहार से बचने के लिए स्त्रियों की मधुर मुस्कराहट, विकारयुक्त वचन, हाथ-पैर आदि की चेष्टाएँ, भ्रूचेष्टा—कटाक्षादि पूर्वक निरीक्षण, मस्तानी चाल, आँखों का विलास[1] और क्रीड़ा तथा नारियों के कामोत्तेजक संभाषण, नृत्य, गीत, वीणादि वाद्यवादन, शरीर की लंबाई, मोटाई आदि संस्थान, रंग, हाथ-पैर व नेत्र का लावण्य, रूप, यौवन, स्तन, अधर, वस्त्र, अलंकार, शृंगार प्रसाधन और गुप्तांग आदि ये और इसी प्रकार के अन्य स्त्री सम्बन्धी कामोत्तेजक एवं पाप-कर्मवर्द्धक बातें; जो कि तप, संयम और ब्रह्मचर्य का नाश और पतन करने वाली हों, उन्हें ब्रह्मचर्य का पूर्ण आराधक साधु आँखों से न तो देखने की इच्छा करे, न मन से उनका चिन्तन करने की अभिलाषा करे और न ही वाणी से उनका वर्णन करने की कामना करे। मतलब यह है कि कामविकार पैदा करने वाली जितनी भी चीजें हैं, उनके दर्शन, चिन्तन और वर्णन से ब्रह्मचारी साधक सर्वथा बचे। इस प्रकार की भावना के चिन्तन और प्रयोग से साधक की अन्तरात्मा में ब्रह्मचर्य के सुदृढ़ संस्कार जम जायेंगे और उसका मन ब्रह्मचर्य में संलग्न हो जायगा और तब वह ब्रह्मचर्य का पूर्ण सुरक्षक बनेगा।

१— 'हावो मुखविकारः स्यात्, भावश् चित्तसमुद्भवः।
विलासो नेत्रजो ज्ञेयो:, विभ्रमो भ्रूयुगान्तयोः॥

अर्थ—'हाव मुखविकार होता है, भाव चित्त से उत्पन्न होता है, विलास नेत्र-जन्य विकार है और विभ्रम दोनों भौहों से होता है।' —संपादक

पूर्वरतपूर्वक्रीड़ितविरति समिति भावना का प्रयोग—कई बार साधक के सामने न तो स्त्री होती है और न ही कोई कामोत्तेजक पदार्थ। वह मन में यों सोचता रहता है कि मैं ब्रह्मचर्य की बाह्य मर्यादाएँ पाल रहा हूं; कायिक रूप से ब्रह्मचर्य का खण्डन नही कर रहा हूँ, किन्तु उस अवस्था में भ्रान्तिवश या मोहवश वह स्त्री या कामोत्तेजक पदार्थो के विद्यमान न होते हुए भी अपनी पूर्व (गृहस्थ) अवस्था की कामक्रीडाओं एव कामसेवन की बातों का स्मरण करके मन को विकारी बना लेता है; कभी-कभी खेल तमाशे या नटो, भाडों, तमाश बीनों, गानेबजाने वालों, चित्रकारों, खेल तमाशे दिखाने वालो आदि के अश्लील दृश्य देखकर, अश्लील श्रव्य वस्तुओं का श्रवण करके तथा पूर्व दृष्ट या अनुभूत वस्तुओं का स्मरण करके मन को बहलाता है। परन्तु वह अश्लील मनोरंजन साधु के लिए बहुत मंहगा पड़ता है। उसकी वर्षों की की-कराई ब्रह्मचर्य साधना को वह गंदा मनोरंजन कुछ ही क्षणों में मटियामेट कर देता है; उसकी ब्रह्मचर्यनिष्ठा को उखाड़ फेंकता है, उसकी ब्रह्मचर्य-साधना के सुफल को भी चौपट कर देता है। इसी उद्देश्य से शास्त्रकार इस भावना के चिन्तनयुक्त प्रयोग की ओर दिशानिर्देश करते हैं—"पहले गृहस्थावस्था में अनुभूत कामक्रीड़ा, द्यूत आदि क्रीड़ा तथा श्वसुरकुल के साले-साली आदि से हुए परिचय तथा हास-परिहास आदि साधु को देखना, कहना या स्मरण करना हर्गिज उचित नहीं। इसी प्रकार पूर्वजीवन में नवविवाहित मिलन के समय, विवाह के समय, वसंतपंचमी आदि तिथियों, यज्ञों और उत्सवों के अवसर पर शृंगाररस की गृहस्वरूप सुन्दर वेशभूषा से सुसज्जित, हाव, भाव, अंगों के ललित न्यास और विलासपूर्ण गति से सुशोभित, अनुकूल प्रेमवाली प्रेमिकाओं के साथ जो शयन-सहवास अनुभव किया था, तथा ऋतु के अनुकूल सुख देने वाले सुगन्धित श्रेष्ठ फूल, सुगन्धित उत्तमचन्दन, खुशबूदार श्रेष्ठ चूर्ण, वास, धूप, सुखस्पर्श, कोमल वस्त्र, आभूषण आदि पूर्वानुभूत एवं भोग में वृद्धि करने वाले गुणो से युक्त स्त्रियों का तथा रमणीय बाजो और श्रुति-मधुर गानों से भरपूर नट, नर्तक, पहलवान, विदूषक, तैराक, रास लीला करने वाले, खेलतमाशा दिखाने वाले, शुभाशुभ बताने वाले, लंबे बांस पर खेल दिखाने वाले, सुरीले राग से गाने वाले गवैया, वादक, कथक्कड बाजीगर, मधुर स्वर के गीतों की आवाज—ये और ऐसी ही अश्लील मनोरंजक सामग्री प्रस्तुत करने वाले लोगों की क्रियाएँ, जो तप, संयम और ब्रह्मचर्य का आंशिक एवं पूर्णरूप से भंग करने वाली हों, उन्हें पूर्ण ब्रह्मचर्य-साधक श्रमण को देखना, कहना और याद करना कथमपि उचित नहीं है।

इस प्रकार की चिन्तन प्रक्रिया से युक्त भावना के प्रकाश में साधक का अन्तरात्मा ब्रह्मचर्य के संस्कारों से सुसंस्कृत बनेगी और तब उसका मन ब्रह्मचर्यनिष्ठा में ओत-

प्रोत हो जायगा, उसकी इन्द्रियाँ विषयविमुख हो जाएँगी और वह जितेन्द्रिय साधु ब्रह्मचर्य का सुरक्षक बन जाएगा।

प्रणीताहारविरतिसमिति भावना का प्रयोग—ब्रह्मचर्य पर जैसे अश्लील वातावरण और बाह्य पदार्थों का प्रभाव पड़ता है, वैसे भोजन का भी प्रभाव पड़ता है। अन्य इन्द्रियों को जीतना फिर भी आसान है, मगर जिह्वेन्द्रिय को जीतना बड़ा कठिन है। इसीलिए भागवत पुराण में कहा है—'जितं सर्वं रसे जिते।' अर्थात्-स्वाद को जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है। बड़े-बड़े साधक स्वाद के चक्कर मे पड़ कर इस रसनेन्द्रिय के गुलाम बने हुए हैं। उत्तेजक, तामसी, चटपटा और स्वादिष्ट गरिष्ठ भोजन रोजाना ठूंस-ठूंस कर खाए और ब्रह्मचर्य का मन-वचन काया से पूर्णतः पालन करना चाहे; यह दुष्कर बात है। केवल जिह्वेन्द्रिय का भोजन ही क्यों, अन्य इन्द्रियों के आहार में भी सावधान न रहने पर साधक ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हो सकता है। पांचों इन्द्रियों के विषयों पर राग-द्वेष करना वर्जित है, वैसे ही राग-द्वेषरहित वीतराग भावना के नाम पर विषयो का अत्यधिक उपभोग भी बुरा है। महर्षियों का अनुभवयुक्त कथन है—

'जहा दवग्गी पउरिंधणो वणे समारुओ नोवसमं उवेइ।
एवेंदियग्गी वि पगामभोइणो, न बंभयारिस्स हियाय कस्स वि॥

अर्थात्—'प्रचुर इन्धन से युक्त वन में आग लगी हो और साथ में हवा चल रही है, तो जैसे वह आग बुझती नही है, वैसे ही अतिभोजी या अत्यन्त विषयभोग की ओर झुके हुए, ब्रह्मचारी साधक की इन्द्रियाग्नि प्रज्वलित होने पर विषयरूपी इन्धन मिलते रहने से बुझती नही है; सचमुच विषयाग्नि किसी के लिए भी हितकर नही होती।'

कभी-कभी साधु यह सोचता है कि 'जीभ का क्या है ? मैं जब चाहूं, तब उसे वश में कर लूंगा।' परन्तु उसकी यह धारणा आगे चलकर गलत साबित होती है। एक बार जीभ को किसी वस्तु की चाट लग गई तो वह बार-बार उसे लेने के लिए दौड़ेगी। जिस दिन यह मनोज्ञ एवं स्वादिष्ट वस्तु नहीं मिलेगी, साधक का चित्त बेचैन हो उठेगा। जीभ का गुलाम बना हुआ वह साधक किसी भी प्रकार से उस चीज को पाने का प्रयत्न करेगा। परन्तु स्वादिष्ट वस्तु के बारबार, प्रतिदिन और अत्यधिक मात्रा में खा लेने पर एक तो स्वास्थ्य पर उसका असर पड़ता है; दूसरे ब्रह्मचर्य पर उसका अचूक असर होता है। स्वादिष्ट और गरिष्ठ मसालेदार पदार्थ खाने से इन्द्रियाँ पुष्ट होकर मन को कामवासना के बीहड़ वन में भटका देती हैं। ब्रह्मचर्य से पतित होने के अलावा साधक का चित्त कई बार विक्षिप्त और व्याकुल भी हो जाता है, जब कि कामोद्रेक के समय उसे मनचाहा भोग नही मिलता। इसलिए

शास्त्रकार अपने अनुभव के आधार पर कुछ विकृतिकारक चीजों के नाम गिनाकर उनके प्रतिदिन अतिमात्रा में तथा अपथ्य रूप में सेवन करने से बचने का निर्देश किया है। दूध, दही, घी, नवनीत, तेल, गुड़ शक्कर, मिश्री, शहद, मांस, मद्य, या गरिष्ठ खाद्य पदार्थों को विकृति जनक समझकर जो दर्पकारक या मदकारक तामसिक खानपान हैं, उन्हें सेवन न करे, न प्रतिदिन ही सेवन करे, न दिन में अनेक बार सेवन करे, न अतिमात्रा में सेवन करे, न साग-दाल स्वादिष्ट हो तो अधिक मात्रा में सेवन करे। साधु का आहार संयमयात्रा के निर्वाह के लिए होना चाहिए, केवल भोजन-भट्ट बनकर अटसट खाने के लिए नहीं। संयमी जीवन जीने के लिए ही साधु को आहार करना है, न कि खाने के लिए ही जीना है। वह ऐसा तामसी या राजसी खानपान न करे, जिस से ब्रह्मचर्य पालन में भ्रान्ति हो जाए कि मैं अब ब्रह्मचर्य पालन करूं या नहीं? अथवा ब्रह्मचर्य के प्रति उपेक्षा हो जाए कि क्या रखा है ब्रह्मचर्य में? रूखे-सूखे, नीरस, एकाकी जीवन में क्या आनन्द है? स्त्री-बच्चों-सहित जीवन रसमय और आनन्दमय होता है, उसी में चहल-पहल होती है! इस प्रकार कामोन्मादवश साधक उलटे चिन्तन के चक्कर में पड़कर अपने ब्रह्मचर्य धन को लुटा देता है। कई बार वह तामसिक एवं मादक भोजन के कारण कामोद्रेकवश किसी सुन्दरी के पीछे पागल बना फिरता है अथवा ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट होने के साथ-साथ वह साधु धर्म के प्रति भी अश्रद्धालु बन कर धर्मभ्रष्ट हो जाता है। अतः साधु को ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि साधु को आहार तो केवल संयम के भार का निर्वाह करने के लिए करना है? गाड़ी की धुरी में तेल देने के समान या घाव पर मरहम लगाने के समान परिमित मात्रा में ही करना है।[1]

इस प्रकार के चिन्तन से युक्त भावना के प्रकाश में सम्यक् प्रवृत्ति करने पर साधक का अन्तरात्मा ब्रह्मचर्य के संस्कारों से जगमगा उठता है। उसका अन्तः करण ब्रह्मचर्य रूप चन्द्र के प्रकाश में चकोर की तरह लीन हो जाता है, उसकी इन्द्रियां ब्रह्मचर्य-विघातक विषयों की ओर नहीं दौड़ती। इस प्रकार पांचों इन्द्रियों को तदनुकूल विषय-भोजन न मिलने पर जितेन्द्रिय बना हुआ साधु ब्रह्मचर्य में समाधिस्थ हो जाता है।

कुछ शंका-कुछ समाधान—यहाँ शंका होती है कि मूलपाठ में 'ववगय'' मज्जमंस' इन दो पदों को भी लिया है, जिनका सेवन साधुओं के लिए सर्वथा वर्जित

---

१ इसी विषय की गाथा यह है, जिसका अर्थ ऊपर आ चुका है—

'एवमक्खंगणलेवो सगडक्खणाण जत्तिओ होइ।
इअ संजमभरवहणट्ठयाए साहूणमाहारो॥' —संपादक

है। अतः मालूम होता है "दूध-दही आदि की तरह मद्य-मांस का सेवन साधुओं के लिए सर्वथा त्याज्य नहीं है!" इसका समाधान यह है कि मद्य-मांस वैसे तो साधुओं के लिए सर्वथा वर्जनीय हैं। साधुओं के लिए शास्त्र में 'अमज्जमंसासिणो' (मद्यमांस का सेवन न करने वाले) विशेषण प्रयुक्त किया गया है। अतः साधु के लिए मद्य-मांस-सेवन का तो सवाल ही नहीं उठता। किन्तु कदाचित् साधु को पता न हो और किसी दवा में मांस, रक्त या मद्यसार मिला हो, उसे साधु सेवन कर ले; अथवा कोई व्यक्ति गाढ़ रागवश साधु को मद्यमांसादि-मिश्रित आहार देने लगे और वह भूल से ग्रहण करले या सेवन कर ले। इस बात को स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर मद्य-मांस का निषेध किया है।

दूसरा समाधान वृत्तिकार देते हैं कि विगइम (विकृतिक-विकृति-जनक) पदार्थों का नाम गिनाया है। इसलिए शास्त्रकार ने प्रसंगवश विकृतिकों के साथ-साथ मद्य-मांस को भी विकृतिक रूप से बताने के लिए, इन दोनों पदों का ग्रहण किया है।

अथवा इसका समाधान यों भी किया जा सकता है, कोई साधु अपनी गृहस्थावस्था में कदाचित् मद्य-मांस का सेवन करता रहा हो, फलतः दोनों को या दोनों में से एक को देखकर उसे पूर्वकालसेवित मद्य-मांस की याद आ जाय और वह किसी गाढ़-भक्त के यहाँ से ले आवे। इसी के निषेध के लिए शास्त्रकार मद्यमांस दोनों को किसी भी हालत में सेवन करने का सर्वथा निषेध करते हैं। मदिरा निषेध के लिए निम्नोक्त शास्त्रीय प्रमाण देखिए—

'सुरं वा मेरगं वावि, अन्नं वा मज्जगं रसं।
ससक्खं न पिबे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो॥'

अर्थात्—'भिक्षु जौ के आटे आदि से बनी हुई सुरा (शराब), अंगूर आदि से बनी हुई प्रसन्ना नाम की मदिरा और महुड़ा आदि से बने हुए मद्य-विशेष का कदापि पान न करे। भगवान् केवली द्वारा मद्य का सदा सर्वथा निषेध है, अथवा मैंने सदा के लिए मद्य का सर्वथा त्याग केवली की साक्षी से किया है, यह विचारकर मद्य-पान कदापि न करे। आत्मा की रक्षा करने में ही साधु की यशकीर्ति-प्रतिष्ठा की सुरक्षा है।'

इसलिए भिक्षा के ४२ दोषों से रहित शुद्ध आहार के रूप में प्राप्त होने पर भी भिक्षु मद्य-मांस का सेवन कतई न करे। क्योंकि ये दोनों त्रसजीवों को अत्यन्त पीड़ित एवं वध करके निष्पन्न होते हैं, और बाद में भी इसमें कई सम्मूर्च्छिम रसज जीव पैदा होते हैं। इस दृष्टि से इन दोनों को बिलकुल त्याज्य समझना चाहिए।

उपसंहार—इन पाचों भावनाओं से मन-वचन-काया को परिरक्षित करने पर यह चतुर्थ सवरद्वार-ब्रह्मचर्य सम्यक् प्रकार से सुरक्षित हो जाता है और साधक के दिल दिमाग मे ब्रह्मचर्यनिष्ठा जम जाती है। परन्तु इस पंचभावना प्रयोग को सिर्फ एक ही दिन करके न रह जाना चाहिए, अपितु धैर्य सम्पन्न बुद्धिशाली साधु इसे जिन्दगी भर प्रतिदिन करे। शेष सारे पाठ की व्याख्या पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए।

इस प्रकार सुबोधिनी व्याख्या सहित नौवें अध्ययन के रूप में चतुर्थ ब्रह्मचर्य संवरद्वार सम्पूर्ण हुआ।





दसवाँ अध्ययन : पंचम अपरिग्रह स

अन्तरंगपरि

शास्त्रकार ने चतुर्थ संवरद्वार अब्रह्मचर्यविरमण
किन्तु सर्वथा अब्रह्मचर्य विरमणरूप ब्रह्मचर्य का पालन परिग्रह-विर
हो सकता है। अतः अब क्रमप्राप्त परिग्रह-विरतिरूप अपरिग्रह
का निरूपण शास्त्रकार करते हैं। इस सम्बन्ध में अन्तरंग परिग्रह
एक बोल से लेकर ३३ बोल तक प्रतिपादित विषय को अन्तरं
उसी को मूलपाठ द्वारा सूचित करते है—

मूलपाठ

जंबू ! अपरिग्गहसंवुडे य समणे आरं
विरते, विरते कोह-माण-माया-लोभा—१-एगे असंज
रागदोसा, (३) तिन्नि य दंड-गारवा य गुत्तीओ ति
विराहणाओ, (४) चत्तारि कसाया झाण-सन्ना-विक
चउरो, (५) पंच य किरियाओ समिति-इंदिय-महव्व
छज्जीवनिकाया छच्च लेसाओ, (७) सत्त भया, (८)
(९) नव चेव य बंभचेरवयगुत्ती, (१०) दसप्पकारे
(११) एक्कारस य उवासकाणं, (१२) बारस य
(१३) किरियाठाणा य, (१४) भूयगामा, (१५) प
(१६) गाहासोलसया, (१७) असंजम - (१८) अ
णाय - (२०) असमाहिठाणा, (२१) सबला, (२
(२३) सुयगडज्झयण- (२४) देव- (२५) भावण- (

तणा सुरिंदा आदि एक्कादियं करेत्ता एक्कुत्तरियाए वड्ढिए तीसातो जाव उ भवे, तिकाहिका विरतिपणिहीसु, अविरतीसु य एवमादिसु बहुसु ठाणेसु जिणपसाहिएसु अवितहेसु सासयभावेसु अवट्ठिएसु संकं कंखं निराकरेत्ता सद्दहते सासणं भगवतो अणियाणे, अगारवे, अलुद्धे, अमूढमणवयणकायगुत्ते। (सू. २८)

संस्कृतच्छाया

जम्बू ! अपरिग्रहसंवृतश्च श्रमण आरम्भपरिग्रहाद् विरतो, विरतः क्रोध-मान-माया-लोभात्—(१) एक असंयमः, (२) द्वौ चैव रागद्वेषौ, (३) त्रीणि च दण्ड-गौरवाणि च गुप्तयस्तिस्रस्तिस्रश्च विराधनाः, (४) चत्वारः कषाया ध्यान-संज्ञा-कथास्तथा च भवन्ति चतस्रः, (५) पंच च क्रियाः, समितीन्द्रियमहाव्रतानि च, (६) षड्जीवनिकायाः षट् लेश्याः, (.) सप्त भयानि, (८) अष्टच मदाः, (९) नव चैव ब्रह्मचर्यव्रतगुप्तयः, (१०) दशप्रकाराश्च श्रमणधर्माः,(११) एकादश चोपासकानाम्, (१२) द्वादश च भिक्षुप्रतिमाः, (१३) क्रियास्थानानि च, (१४) भूतग्रामाः, (१५) परमाधार्मिकाः, (१६) गाथाषोड़शकानि, (१७) असंयम—(१८) अब्रह्म—(१९) ज्ञाता-(२०) ऽसमाधिस्थानानि, (२१) शबलाः, (२२) परिषहाः, (२३) सूत्रकृताध्ययन,—(२४) देव—(२५) भावना—(२६) उद्देश—(२७) गुण—(२८) प्रकल्प—(२९) पापश्रुत—(३०) मोहनीयानि, (३१) सिद्धाति (दि) गुणाश्च, (३२) योगसंग्रहाः (३३) त्रयस्त्रिंशदाशातनाः सुरेन्द्रा आदिमेकादिकं कृत्वा एकोत्तरिकया वृद्ध्या त्रिंशद् यावत् तु भवेत् त्रिकाधिका विरतिप्रणिधिषु अविरतिषु चैवमादिषु बहुषु स्थानेषु जिनप्रसाधितेषु अवितथेषु शाश्वतभावेषु अवस्थितेषु शंकां कांक्षां निराकृत्य श्रद्धत्ते शासनं भगवतोऽ निदानोऽ गौरवोऽ लुब्धोऽ मूढमनवचनकायगुप्तः। (सू० २८)

पदान्वयार्थ—(जम्बू) हे जम्बू ! (आरंभपरिग्गहातो) जो आरम्भ और परिग्रह से (विरते) निवृत्त है (य) और (कोहमाणमायालोभा) क्रोध, मान, माया और लोभ से (विरते) निवृत्त तथा (अपरिग्गहसंवुडे) परिग्रह से रहित और इन्द्रिय तथा कषाय के संवरसहित है, वह (समणो) श्रमण-साधु होता है। (एगे) परिग्रह का एक भेद (असंजमे) असंयम है, (दोच्चेव) दो प्रकार (रागदोसा) रागद्वेष नामक हैं, (य)

और (तिन्नि) तीन (दंडगारवा) दण्ड और गौरव, (य) तथा (तिन्नि गुत्तीओ) तीन गुप्तियां (य) और (तिन्नि) तीन (विराहणाओ) विराधनाएँ हैं, (चत्तारि) चार (कसाया) कषाय, (तहाय) तथा (चउरो झाण-सन्ना-विगहा) चार ध्यान, चार संज्ञाएँ और क्रमशः चार विकथाएँ (हुंति) होती हैं। (य) तथा (पंच) पांच (समिति इंदिय महव्वयाइं) समितियां, पांच इन्द्रियां और पांच महाव्रत होते हैं, (य) तथा (छज्जीवनिकाया) षट् जीवनिकाय और (छच्च लेसाओ) छह लेश्याएँ होती हैं। (सत्तभया) सात प्रकार के भय, (अट्ठ मया) आठ प्रकार के मद (य) और (नव चेव बंभचेर-वयगुत्तीओ) ब्रह्मचर्यव्रत की रक्षा के लिए नौ गुप्तियां हैं, (य) (दसप्पकारे) दस प्रकार का (समणधम्मे) श्रमणधर्म (य) और (एकादस य उवासकाणं) श्रावकों की ११ प्रतिमाएँ हैं, (बारस य भिक्खुपडिमा) बारह प्रकार की भिक्षुप्रतिमाएं हैं, (य) तथा तेरह (किरियाठाणा) क्रिया के खास स्थान हैं, (भूयगामा) चौदह जीवसमूह हैं, (परमाधम्मिया) पन्द्रह परमाधार्मिक असुरकुमार देवों के भेद हैं, (गाहासोलसया) जिसमें गाथा नाम का १६ वां अध्ययन है, सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध (असंजय-अबंभ-णाय-असमाहिठाणा) सत्रह प्रकार का असंयम, अठारह प्रकार का अब्रह्मचर्य, ज्ञातासूत्र के १९ अध्ययन और बीस असमाधिस्थान हैं, (सवला) इक्कीस शबल, चारित्र को मलिन करने वाले कर्म, (परिसहा) बाईस परिषह (सुयगडज्झयण-देव-भावण-उद्देश-गुण-पकप्प-पावसुत-मोहणिज्जे) सूत्रकृतांगसूत्र के २३ अध्ययन, चौबीस प्रकार के देव, पांच-महाव्रत की २५ भावनाएँ, २६ प्रकार के उद्देशनकाल, २७ प्रकार के अनगारगुण, २८ प्रकार का आचारप्रकल्प हैं, २९ प्रकार के पापश्रुत, ३० प्रकार के मोहनीयकर्म के स्थान हैं, (य) तथा (सिद्धातिगुणा) सिद्धों के ३१ अतिगुण अर्थात् प्रधान गुण हैं, अथवा आदि से होने वाले गुण हैं (जोगसंगह) ३२ योगसंग्रह (सुरिंदा आदि) ३२ देवेन्द्र हैं, तथा (तित्तीसा आसातणा) ३३ प्रकार की आशातना है, (आदि) इनमें से प्रारम्भ की (एकादियं) एक आदि संख्या कही है, उस पर (एकुत्तरियाए) एक-एक आगे (वद्धियाए) बढ़ाने पर (तिकाहिका तीसातो) तीन अधिक तीस यानी तेंतीस संख्या (जाव उ भवे) तक हो जाती है। उन स्थानों में (विरतिपणिहीसु) हिंसा आदि से निवृत्ति तथा विशिष्ट एकाग्रता में (य) तथा (अविरतीसु) अविरतियों में (एवमादिसु बहूसु) इन को आदि करके बहुत से (जिणपसाहिएसु) जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित (सासयभावेसु) नित्यरूप, अतएव (अवट्ठिएसु) अवस्थित (अवितहेसु) सत्यभूतपदार्थों में (संकं) शंका-संदेह, और (कंखं) आकांक्षा का (निराकरेत्ता) निराकरण करके

(अणियाणे) जो देवेन्द्र आदि के सुख एवं ऐश्वर्य आदि का निदान न करने वाला, (अगारवे) ऋद्धि आदि के गौरव से रहित है, (अलुद्धे) लम्पटतारहित है, (अमूढमणवयणकायगुत्ते) मूढतारहित मन-वचन-काया से अपनी आत्मा को सुरक्षित रखता हुआ (भगवतो सासणं) भगवान के शासन—आज्ञा पर (सद्दहते) श्रद्धा करता है, वह साधु होता है।

मूलार्थ—श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी को सम्बोधित करते हुए कहते है—हे जम्बू ! जो आरम्भ और परिग्रह से निवृत्त होता है तथा क्रोध, मान, माया और लोभ से विरत होता है, तथा परिग्रह से रहित और इन्द्रियों तथा कषायों का संवर-संयम करने वाला है, वही साधु कहलाता है। अन्तरंग परिग्रह का एक भेद असंयम है। दो भेद राग और द्वेष हैं, पापजनक मन-वचन-काया के भेद से तीन दण्ड हैं, तथा ऋद्धि, रस और साता गौरव के भेद से तीन गौरव हैं। तीन गुप्तियां हैं—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायागुप्ति। तीन विराधनाएं हैं- ज्ञान की, दर्शन की और चारित्र की। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं। आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल-ये चार ध्यान हैं। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञाएं हैं। स्त्री, भक्त, राज तथा देश के भेद से ४ विकथाएं हैं। ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानभांडमात्रनिक्षेपणासमिति और उच्चार-प्रस्रवण-खेलजलसिंघाण-परिष्ठापनिका समिति, ये ५ समितियाँ हैं। स्पर्शनादि ५ इन्द्रियां हैं। अहिंसा आदि ५ महाव्रत हैं। पृथ्वीकायादि ५ स्थावरकाय और एक त्रसकाय मिलकर ६ जीवनिकाय हैं। कृष्णादि ६ लेश्याएं है। इहलोक भय आदि ७ भय है। जातिमद आदि ८ मद हैं। ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियां हैं। उत्तम क्षमा आदि दस श्रमण धर्म है। श्रावक की ११ प्रतिमाएं हैं। भिक्षु की १२ प्रतिमाएं हैं। क्रियास्थान तेरह हैं। चौदह जीवसमूह (जीवसमास) हैं। १५ प्रकार के परमाधार्मिक असुरजाति के देव हैं। जिसमें गाथा नाम का १६ वां अध्ययन है, ऐसे सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययन हैं। सत्तरह प्रकार के असंयमस्थान हैं। १८ प्रकार का अब्रह्मचर्य है। ज्ञातासूत्र के १९ अध्ययन हैं। बीस प्रकार के असमाधि स्थान हैं। चारित्र को मलिन करने वाले २१ शबल दोष है। २२ प्रकार के परिषह हैं। सूत्रकृतांगसूत्र के २३ अध्ययन है। २४ प्रकार के

देव हैं। पांच महाव्रतों की २५ भावनाएँ हैं। २६ उद्देशनकाल हैं। अनगारों के २७ गुण हैं। २८ प्रकार का आचार प्रकल्प है। २६ प्रकार के पापश्रुत हैं। महामोहनीय कर्म के ३० स्थान-कारण हैं। सिद्धों के प्रधान अथवा आदि से ही ३१ गुण हैं। ३२ योग संग्रह हैं। और बत्तीस देवेन्द्र हैं। तेतीस प्रकार की आशातनाएँ हैं। इनमें से प्रारम्भ को जो एक आदि संख्या बढ़ाते जाने से तीन अधिक तीस यानी ३३ संख्या पर्यंत के स्थानों में, हिंसा आदि महा पापों से निवृत्ति तथा विशिष्ट एकाग्रता में, अविरतियों में तथा ऐसे ही और भी बहुत-से जिनेन्द्रदेवों द्वारा उपदिष्ट नित्यस्वरूप, अतएव अवस्थित और सत्यभूत पदार्थों में शंका और कांक्षा न करके जो देवेन्द्रों आदि के भोगों या ऐश्वर्य सुखों का निदान—वांछा नहीं करता, ऋद्धि आदि के गौरव (गर्व) से रहित है, लम्पटता से मुक्त है, मूढ़ता से रहित है तथा मन-वचन-काया को वश में रखता हुआ भगवान् महावीर के शासन (आज्ञा या आगम) पर श्रद्धा करता है, वही साधु परिग्रत्यागी होता है।

व्याख्या

नौवें अध्ययन में ब्रह्मचर्य का सांगोपांग निरूपण करने के बाद अब दसवें अध्ययन में परिग्रह विरमणरूप अपरिग्रह संवर के सम्बन्ध में शास्त्रकार निरूपण करते हैं।

अन्तरंग परिग्रह का ही सर्वप्रथम वर्णन क्यों ?

पहले बताया जा चुका है, कि परिग्रह केवल सोना-चांदी, मकान, वस्त्र, पात्र आदि बाह्यरूप ही नहीं है, अपितु परिग्रह का एक अंतरंग रूप भी है, जो बाह्य परिग्रह से कई गुना भयंकर है। वस्तुतः परिग्रह का जन्म ही अन्तर्मन से होता है। इसलिए बाह्य परिग्रह तो अन्तरंग परिग्रह का निमित्त कारण होने से ही परिग्रह कहा गया है। साधु जब मुनिदीक्षा लेते समय अपरिग्रह महाव्रत धारण करता है तब घरबार, कुटुम्ब-कबीला और जमीनजायदाद को तो छोड़ ही देता है। बाह्यपरिग्रह तो उसके पास नाम मात्र का भी नहीं रहता, संयमयात्रा के लिए जो धर्मोपकरण, शास्त्र आदि होते हैं, वह भी केवल उसके निश्राय की वस्तुएँ है, जिनका वह मूर्च्छारहित होकर उपयोग करता है। शास्त्रविहित धर्मोपकरण यदि अममत्वभाव से रखे जाएँ, तो वे परिग्रह की कोटि में नहीं आते। अतः बाह्यरूप से अपरिग्रही बना हुआ साधु यह सोचता है कि मेरे पास परिग्रह तो कुछ भी है नहीं, मैं तो हलका फुलका हूं और त्यागी हूं, लेकिन ज्ञानी महापुरुषों की आंखों में वह अन्दर ही अन्दर अन्तरंगपरिग्रह के कारण बोझिल बना रहता है। उसके जीवन में क्रोध की ज्वाला जलती रहती है, अहंकार का सांप उसके अतर्मानस में

बैठा फुफकारता रहता है, माया रूपी राक्षसी उसके अन्तःकरण के रंगमंच पर तांडव नृत्य करती रहती है, लोभरूपी पिशाच उसके चित्तरूपी मैदान में खुलकर खेलता रहता है, मोहरूपी अजगर उसके सम्यक्त्व और चारित्ररूपी दो फेफड़ों को निगलता रहता है, राग और द्वेषरूपी असुर उसके आत्मगुणरूपी रक्त को पीते रहते हैं, आसक्ति और मूर्च्छारूपी व्याघ्री जीभ लपलपाती उसकी अपरिग्रह-वृत्ति रूपी देह को खाने के लिए तैयार बैठी रहती है, मिथ्यात्वरूपी शत्रु उसके सम्यक्त्व पर हमला करने को उद्यत रहता है और हेय, ज्ञेय एवं उपादेय का भान भुला देता है, हास्यरूपी कुत्ता उसके वचनसंयमरूपी अंग पर झपटने को तैयार रहता है, भयरूपी बाज उसकी निर्भयतारूपी बुद्धि पर झपट्टा मारता रहता है, रति-अरतिरूपी दो चुहियाँ उसकी मेधाशक्ति को काटने के लिए प्रयत्नशील रहती हैं, शोकरूपी बिडाल उसके अन्तर में हाहाकार मचाता रहता है, त्रिवेदरूपी तीन कामदानव साधक के मनवचनकायारूप त्रियोगों पर धावा बोलते रहते हैं। विषयरूपी धीमा विष उसकी जीवनीशक्ति का ह्रास करता रहता है। मतलब यह है कि साधु बाहर से अपरिग्रही दिखता हुआ भी अगर असावधान रहता है तो वह अन्दर में १४ प्रकार के अंतरंग परिग्रहों से घिरा रहता है। कई बार उसे पता भी नहीं होता कि ये अंतरंगपरिग्रह किस प्रकार उसके संयमधन का हरण करते रहते हैं। इसलिए साधक को इस बात से भली भांति सावधान करने के लिए शास्त्रकार विस्तार से एक बोल से लेकर तेतीस बोल तक के अंदर निहित तत्त्वों को स्पष्ट करते हैं, जिसे वे अन्तरंगपरिग्रह का ही विस्तृतरूप मानते हैं। और इन तेतीस बोलों में से हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक करके साधक को ज्ञपरिज्ञा से आभ्यन्तरपरिग्रह को जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उसका त्याग करना चाहिए और अपने अपरिग्रहीरूप को बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार से परिपूर्ण बनाना चाहिए। इसीलिए सर्वप्रथम शास्त्रकार अपरिग्रही साधु का लक्षण संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं—'अपरिग्गहसंवुडे य समणे आरंभपरिग्गहातो विरते, विरते कोहमाणमायालोभा।' इसका आशय यह है कि आरम्भ और बाह्यपरिग्रह से सर्वथा मुक्त होने पर भी जब भिक्षु क्रोध, मान, माया और लोभरूपी आन्तरिक परिग्रह को मन से त्याग देता है, इन्द्रियविषयों और कषायों को रोक देता है, तभी वह पूर्णरूप से अपरिग्रहनिष्ठ साधु कहलाता है।

वैसे देखा जाय तो साधुओं के लिए बाह्यपरिग्रह के साथ-साथ आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना भी अनिवार्य बताया है। परिवार-गृह-धनत्यागी साधु ज्ञान-दर्शनचारित्ररूप धर्म के पालन के लिए शास्त्र में बताए हुए धर्मोपकरणों के सिवाय शेष दस प्रकार के बाह्यपरिग्रह का तो सर्वथा त्याग करते हैं, मगर पूर्वोक्त १४ अंतरंग-परिग्रहों में से मिथ्यात्व आदि कुछ का तो सर्वथा ही त्याग करते हैं, किन्तु मोहोदय-

वश कुछ का सर्वांशतः त्याग न होने पर भी वे उसके मुनिपद में बाधक नहीं बनते। शास्त्रीय दृष्टि से अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणीय तथा प्रत्याख्यानावरणीय क्रोधादि कषाय का मुनिजीवन में सर्वथा अभाव होने पर भी संज्वलनक्रोधादि का उदय रहता है। यानी संज्वलन क्रोध, मान और माया अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान तक रहते हैं तथा संज्वलनलोभ दसवें गुणस्थान तक रहता है।

दूसरी दृष्टि से विचार करें तो अन्तरंग परिग्रह के ५ भेद भी हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, ३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) अशुभयोग—मनवचनकाया की दुष्प्रवृत्ति। इन्हें आभ्यन्तर परिग्रह इसलिए माना गया कि ये पांचों कर्मबन्ध के कारण हैं, और कर्म भी एक प्रकार से परिग्रह है। इसलिए ये पाचों अन्तरंग-परिग्रहरूप हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में कर्मग्रहण करने को परिग्रह और बंध बताया है—

'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते, स बन्धः।'

अर्थात्—'कषायसहित होने से जीव परिणामों के अनुसार तद्योग्य कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है और वही बन्ध है।'

दोनों प्रकार के परिग्रहों का विश्लेषण करने वाली निम्नोक्त गाथा भी प्रमाणरूप में प्रस्तुत है—

'पुढवाइसु आरंभो परिग्गहो धम्मसाहणं मोत्तुं।
मुच्छा य तत्थ बज्झो इयरो मिच्छत्तमाइयो॥'

अर्थात्—पृथ्वीकायादि जीवों का आरम्भ (हिंसा) करना परिग्रह है। धर्म के साधनभूत (ज्ञानोपकरण और संयमोपकरण) पदार्थों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों को मूर्च्छा-ममतावश रखना बाह्यपरिग्रह है, जबकि मिथ्यात्व आदि अन्तरंग परिग्रह हैं।

चूंकि साधु बाह्यपरिग्रह तो त्याग चुका है, इसलिए उसके सामने अन्तरंग परिग्रह का त्याग करने की ही बात मुख्यतया रहती है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार ने सर्वप्रथम आभ्यन्तर परिग्रह के त्याग की चर्चा छेड़ी है। और आभ्यन्तर परिग्रह के लिए असंयम नामक प्रथम बोल से लेकर ३३ तक के बोलों का विवेक करना साधु के लिए अतीव आवश्यक बताया है। उसी आभ्यन्तर परिग्रह को शास्त्रकार विस्तृत रूप में प्रस्तुत करते हैं—'एगे असंजमे ···तित्तीसा आसातणा सुरिंदा आदि।' नीचे हम इन सब बोलों का क्रमशः विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

एगे असंजमे—इसका आशय यह है कि संयम आत्मा का स्वभाव है। यह पांचों इन्द्रियों एवं मन को वश में करने पर तथा षट्काय के जीवों की हिंसा का त्याग करने पर होता है। इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयम इन दोनों प्रकार के संयम के अभाव रूप असंयम से आत्मा प्रतिसमय कर्मपरिग्रह का ग्रहण करता रहता है।

इसलिए शास्त्रकार ने असंयम को अन्तरंग परिग्रह कहा है। अथवा दूसरी दृष्टि से देखें तो आत्मा का अपने शुद्धस्वरूप में लीन रहना संयम है और अपने शुद्धस्वरूप से पृथक् होकर बाह्य पदार्थों में प्रवृत्ति करना असंयम है। इस प्रकार असंयम का लक्षण करने से समस्त अन्तरंग परिग्रहों का समावेश असंयम में हो जाता है। अतः असंयम की अपेक्षा से परिग्रह एक प्रकार का सिद्ध होता है।

दो चेव रागदोसा—इसका तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्वादि जितने भी अन्तरंग परिग्रह के भेद बताये गये हैं, वे सब राग और द्वेष के ही परिवार हैं। रागद्वेष के क्षय हो जाने पर उन सबका क्षय हो जाता है। और रागद्वेष के होने पर उनकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार रागद्वेष कारण हैं और मिथ्यात्व आदि सब अन्तरंग परिग्रह उसके कार्य हैं। इसी बात को ध्वनित करने के लिए राग और द्वेष के रूप में परिग्रह के दो भेद बताये हैं।

तिन्नि य दंडगारवा य गुत्तीओ तिन्नि तिन्नि य विराहणाओ—तीन दण्ड हैं—मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड। जिन (मन वचनकाया) की दुष्प्रवृत्ति के कारण आत्मा दण्डित होती हो, उसे दण्ड कहते हैं। तीनो दंड भी परिग्रहरूप इसलिए हैं कि मन-वचन-काया की दुष्प्रवृत्ति का ग्रहण परिग्रह के कारण होता है, इसलिए दंड भी अन्तरंग परिग्रह का कार्य है। इसी प्रकार गौरव अर्थात् गर्व भी तीन हैं—ऋद्धिगर्व, रसगर्व और सातागर्व। इन्द्रियों के अनुकूल भोजनपान तथा अन्य सुख वैभव-सामग्री मिलने पर आत्मा में बड़प्पन का भान होना गौरव या गर्व कहलाता है। इस प्रकार का गर्व भी अन्तरंग परिग्रह के कारण होता है, इसलिए गर्व भी अन्तरंग परिग्रह है। मनवचनकाया को पापजनक क्रियाओं से बचाना-रोककर रखना गुप्ति है; जो तीन प्रकार की है। अगुप्ति अन्तरंग परिग्रह है और गुप्ति उससे बचने का साधन है। इसी प्रकार तीन विराधनाएँ है ज्ञानविराधना, दर्शन विराधना और चारित्र विराधना। ये तीनों विराधनाएँ भी मिथ्यात्व आदि अन्तरंग-परिग्रह के कारण होती हैं, इसलिए ये भी अन्तरंग परिग्रह के रूप हैं।

चत्तारि कसाया झाण-सन्ना-विकहा तहा य हुंति चउरो—चार कषाय हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों कषाय तो अन्तरंग परिग्रह में हैं ही, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। चार प्रकार के ध्यान हैं—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान। इन चार ध्यानो में से आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान, ये दो ध्यान अन्तरंग परिग्रह रूप और हेय (त्याज्य) हैं; तथा धर्म ध्यान और शुक्लध्यान ये दोनों आत्मा को अन्तरंग परिग्रह के चिन्तन से हटाकर निजस्वरूप या आत्मगुणचिन्तन रूप अपरिग्रह वृत्ति में स्थिर करने वाले हैं। इसलिए उपादेय हैं। आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा; ये चार सज्ञाएँ—वासनाएं हैं; जो प्रमाद, कषाय, नोक-

पाय और अशुभयोग से पैदा होती हैं। इसलिए ये चारों अन्तरंग परिग्रह के कारण होने से एक प्रकार से अन्तरंग परिग्रह रूप ही हैं। इसी प्रकार स्त्रीविकथा, भक्त-विकथा, राजविकथा और देशविकथा; ये चारों विकथाएं वेदादिरूप नोकषाय के उदय से होती हैं; इसलिए अन्तरंग परिग्रह के ही अन्तर्गत हैं।

पंच य किरियाओ समितिइंदियमहव्वयाइं च – पांच क्रियाएं हैं—कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी। जीव की प्रवृत्ति-विशेष को क्रिया कहते हैं। क्रिया से कर्मों का ग्रहण होता है और कर्मों का ग्रहण अन्तरंग परिग्रह है। इसलिए क्रियाएँ भी अन्तरंग परिग्रह की कार्यरूप हैं। सम्यक् प्रकार से निरवद्य प्रवृत्ति करना समिति है। वह भी पांच प्रकार की है ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति आदान निक्षेपसमिति और पारिष्ठापनिका समिति। ये पांचों समितियां अविरति या प्रमादरूप अन्तरंग परिग्रह को मिटाने तथा अपरिग्रहत्व भाव में प्रवृत्त करने की कारण होने से उपादेय हैं। पांच इन्द्रियां है—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इन पांचों का निग्रह न करना अन्तरंग परिग्रह है। इसी प्रकार पांच महाव्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये पांचों अव्रतरूप अन्तरंग परिग्रह को रोकने मे मूलभूत कारण हैं, इसलिए ये अपरिग्रहत्व के लिए उपादेय हैं। महाव्रतों का अभाव या दोष परिग्रह है।

छज्जीवनिकाया छच्च लेसाओ छह जीवनिकाय हैं—पृथ्वी काय आदि। ये अपने आप मे ज्ञेय है। इनका असंयम करना अन्तरंग परिग्रह है तथा इन पर संयम करना आन्तरिक परिग्रह का निरोध-अपरिग्रह है। इसी प्रकार ६ लेश्याएँ हैं – कृष्ण-लेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या। कषायोदयसहित जो मन-वचन-काया की प्रवृत्ति होती है, उसे लेश्या कहते हैं। इनमें से प्रथम की तीन लेश्याएँ अप्रशस्त हैं और बाद की तीन लेश्या प्रशस्त हैं। लेश्याएँ कषाय रूप अन्तरंग परिग्रह के कारण होने से अन्तरंग परिग्रह में ही शुमार हैं।

सत्त भया - सातभय हैं—इहलोकभय, परलोकभय, आदानभय, अकस्माद्भय, आजीविकाभय, मरणभय और अपयशभय। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है। भय नोकषाय मोहनीय के उदय से होता है, जो कि अन्तरंग परिग्रह का ही एक अंग है।

अट्ठ य मया—[1]मद आठ हैं—जाति का मद, कुल का मद, बल का मद, रूप का मद, तप का मद, ऐश्वर्य (प्रभुता) का मद, ज्ञान का मद और लाभ का मद। मानकषाय के अन्तर्गत होने से अन्तरंग परिग्रह के ही अंग हैं।

१—मद के विषय में यह गाथा प्रस्तुत है—
'जाईकुल बलरूवे, तवईसरिए सुए लाभे।' —संपादक

नवचेव य बंभचेरवयगुत्ती—खेत की वाड़ के समान ब्रह्मचर्य की रक्षा करने वाली ये नौ गुप्तियां हैं। एक गाथा के द्वारा इन्हें प्रस्तुत करते हैं—

'वसहि-कह-निसिज्जिंदिय कुड्डंतर पुव्वकीलिए।
पणीए अइमायाहार विभूसणा य णव बंभगुत्तीओ॥'

अर्थात्—१—स्त्री-पशु-नपुंसक के संसर्ग से रहित एकान्त स्थान में निवास करना, २—स्त्री आदि की कथावार्ता न करना, ३—एकान्त में स्त्री के साथ न उठना-बैठना, ४—इन्द्रिय निग्रह करना, ५—दीवार की ओट में रहकर ब्रह्मचर्य घातक कामक्रीडा आदि क्रियाओं का न देखना, न सुनना ६—गृहस्थ (पूर्व) अवस्था में अनुभूत कामक्रीड़ा आदि का स्मरण न करना, ७—इन्द्रिय दर्पकारक स्वादिष्ट गरिष्ठ पदार्थों का सेवन न करना, ८—अतिमात्रा में आहार न करना, ९—शरीर को विभूषित न करना। ये ब्रह्मचर्य की रक्षा करने वाली गुप्तियां (बाड़ें) हैं। वेदोदय से समुद्भूत अब्रह्मचर्य रूप अन्तरंग परिग्रह को रोकने में ये नौ गुप्तियां सहायक हैं, इसलिए अपरिग्रहवृत्ति के लिए उपादेय हैं।

दसप्पकारे य समणधम्मे—दस प्रकार का श्रमणधर्म है। निम्नोक्त गाथा इसके लिए प्रस्तुत है—

'खंती मद्दव अज्जव मुत्ति तव-संजमे य बोधव्वे।
सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं च जइधम्मो॥'

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम मुक्ति (त्याग-निर्लोभता), उत्तम तप, उत्तम संयम, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम आकिञ्चन्य(लाघव)और उत्तम ब्रह्मचर्य। इन दस धर्मों के साथ लगाया गया उत्तम शब्द यह सूचित करता है कि जो क्षमा आदि सम्यग्दर्शनसहित हैं और उत्कृष्ट हैं, वे ही श्रमणधर्मस्वरूप हैं और वे ही परम्परा से मोक्ष के साधक होते हैं।

एक्कारस य उवासकाणं—श्रमणोपासकों की ११ प्रतिमाएँ हैं। निम्नोक्त शास्त्रीय पाठ इसके लिए प्रस्तुत है—

'एक्कारस उवासगपडिमाओ पन्नत्ताओ, तंजहा १ दंसण सावए, २ कयव्वयकम्मे, (३) सामाइयकडे, (४) पोसहोववासनिरए, (५) दियाबंभयारी रत्तिपरिमाणकडे, (६) दिया वि राओ वि बंभयारी असिणाई, (अनिसाई) वियडभोई मोलिकडे (७) सचित्तपरिण्णाए, (८) आरंभपरिण्णाए, (९) पेसपरिण्णाए, (१०) उद्दिट्ठभत्तपरिण्णाए, (११) समणभूए यावि भवइ।'

दर्शन प्रतिमा—सम्यग्दर्शन का निरतिचार पालन करना। यह प्रतिमा एक मास की होती है। व्रतप्रतिमा—सम्यक्त्वसहित अणुव्रतों का ग्रहण करके तदनुसार

आचरण करना । इस प्रतिमा की अवधि दो मास की है । सामायिकप्रतिमा-एक देश से सावद्ययोग का त्याग करके दोनों सन्ध्याकाल मे समत्वसाधना करना सामायिक प्रतिमा है । इस प्रतिमा की अवधि तीन मास की है । पौषधोपवासनिरतप्रतिमा-अष्टमी, चतुर्दशी आदि तिथियों या पर्वों पर पौषधसहित उपवास करना । इस प्रतिमा की अवधि चार मास की है । दिन में ब्रह्मचर्य तथा रात्रि में अब्रह्मचर्य के परिमाण की प्रतिमा—दिन मे ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना तथा रात्रि मे भी मैथुन-सेवन का परिमाण करना । इस प्रतिमा की अवधि ५ मास की है । दिन में और रात्रि में पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन, अस्नान या रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा—दिन और रात्रि मे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना, स्नान का त्याग करना अथवा रात्रिभोजन का सर्वथा त्याग करना । इस प्रतिमा का धारक ब्रह्मचारी की तरह खुल्ली लाग की धोती पहनता है, दिन मे भी प्रकाशयुक्त स्थान में आहार करता है । इस प्रतिमा की अवधि ६ मास की है । सचित्ताहारपरिज्ञात-त्याग प्रतिमा-सचित्त (अप्रासुक) आहार का त्याग करना । इस प्रतिमा की अवधि ७ मास की है । आरम्भत्यागप्रतिमा-सब प्रकार के आरम्भों का त्याग करना चाहिए । इस प्रतिमा की अवधि ८ मास की है । प्रेष्यत्याग-प्रतिमा-आरंभजनक कार्यों को दूसरो (नौकरों आदि) से भी करवाने का त्याग करना । इस प्रतिमा के पालन की अवधि नो मास है । उद्दिष्टत्याग प्रतिमा-अपने उद्देश्य से बने हुए आहारादि का भी त्याग करना । इस प्रतिमा का धारक श्रमणोपासक अपने निमित्त से बने हुए आहारादि को भी ग्रहण नही करता । उस्तरे से सिरमुण्डन करता है या चोटी रखता है । इस प्रतिमा का कालमान १० मास है । श्रमणभूतः प्रतिमा-इस प्रतिमा का साधक श्रावक श्रमण की तरह रहता है, साधु की तरह सभी क्रियाएँ करता है, चोलपट्टा बांधता है, चादर रखता है, सिरमुंडन करता है या लोच करता है । इस प्रतिमा का कालपरिमाण जघन्य एक, दो या तीन दिन का है, तथा उत्कृष्ट ११ मास है ।

इन ग्यारह श्रावकप्रतिमाओं को उत्तरोत्तर धारण करने वाले श्रमणोपासक को पूर्व-पूर्व प्रतिमाओं में गृहीत नियमों एवं क्रियाओं का सर्वथा पालन करना अनिवार्य है ।

बारस य भिक्खुपडिमा—भिक्षुओं की बारह प्रतिमाएँ हैं, जिनका वर्णन हम अहिंसा संवरद्वार मे कर आए हैं । ११ उपासक प्रतिमाएँ और १२ भिक्षु प्रतिमाएँ अन्तरंगपरिग्रह के त्याग में सहायक होने से उपादेय हैं ।

किरियाठाणा य—तेरह क्रिया स्थान हैं। कर्मबन्धन की कारणभूत चेष्टा क्रिया कहलाती है। क्रियाओं के स्थान यानी भेदों को क्रियास्थान कहते हैं। निम्नलिखित गाथा इस सम्बन्ध में प्रस्तुत है—

'अट्ठाऽ णट्ठा हिंसाऽ कम्हा दिट्ठी य मोसऽ दिन्ने य।
अज्झप्पमाणऽमित्ते मायालोभेरियावहिया॥'

अर्थात्—'१ अर्थक्रिया, २ अनर्थक्रिया, ३ हिंसाक्रिया, ४ अकस्मात्‌क्रिया, ५ दृष्टि विपर्यासा क्रिया, ६ मृषावादक्रिया, ७ अदत्तादानक्रिया, ८ अध्यात्मक्रिया, ९ मानक्रिया, १० अमित्रक्रिया, ११ मायाक्रिया, १२ लोभक्रिया और १३ ईर्यापथिकी क्रिया।'

अब हम क्रमशः इनका लक्षण स्पष्ट करते हैं—

अर्थ दण्ड क्रिया—अपने शरीर, स्वजन, स्वजाति या राज्याभियोग आदि के लिए त्रस-स्थावर प्राणियों में से किसी को प्रयोजनवश हिंसारूप दण्ड देना अर्थदण्ड क्रिया है। अनर्थ दण्ड क्रिया—बिना ही प्रयोजन के अज्ञान, मोह या द्वेषवश बिच्छू, चूहे, आदि किसी भी त्रस या स्थावर प्राणी को हिंसारूप दण्ड देना अनर्थ दण्ड क्रिया है। हिंसा दण्ड क्रिया—यह सांप आदि दुष्ट है या यह व्यक्ति दुष्ट या वैरी है; इसने मुझे या मेरे अमुक सम्बन्धी को मारा था, मारता है या भविष्य में मारेगा-इस इरादे से हिंसा रूप में दण्ड देना हिंसादण्ड है। अकस्माद् दण्ड क्रिया—मृग, पक्षी या सांप आदि किसी दूसरे प्राणी को मारने के इरादे से लाठी, डंडा, बाण या पत्थर फेंका, लेकिन वह बीच में ही किसी दूसरे के लग गया और उसकी मृत्यु हो गई या उसे चोट पहुंची; तो वहां अकस्माद् दण्ड क्रिया होती है। दृष्टि विपर्यासा क्रिया—किसी मित्र, स्नेही या निर्दोष को शत्रु, द्वेषी या दोषी समझ कर मार डालना दृष्टिविपर्यासा क्रिया है। मृषा दण्ड क्रिया—अपने लिए, दूसरों के लिए या दोनों के लिए जहां असत्य बोलने से हिंसा होती है, वहां मृषा दण्ड क्रिया होती है। अदत्तादान दण्ड क्रिया स्व, पर या उभय के लिए की गई चोरी के निमित्त से हिंसा होती है, वहां अदत्तादान दण्ड क्रिया होती है। अध्यात्म क्रिया—किसी भी बाह्य निमित्त के बिना अकारण ही मन में किसी के प्रति क्रोध, द्वेष, घृणा, अहंकार, माया या शोक आदि भाव उत्पन्न होने से जो भावहिंसा होती है, उसे अध्यात्म दण्ड क्रिया कहते हैं। मान प्रत्यय क्रिया—जाति, कुल, बल, रूप, ज्ञान, तप, ऐश्वर्य और लाभ आदि के मद-अहंकार से मत्त होकर दूसरों की निन्दा करना, झिड़कना, लोगों के सामने नीचा दिखाना, ऐसी क्रिया मान प्रत्यय क्रिया कहलाती है। मित्र द्वेष प्रत्यय क्रिया—अपने माता-पिता, भाई, मित्र आदि स्वजनों के जरा से अपराध पर बहुत बड़ा तीव्र दण्ड

देना मिश्र द्वेष प्रत्यय क्रिया है। मायाप्रत्यय क्रिया—मन में कुछ और रखे, वचन से कुछ और बोले और शरीर से चेष्टा या आचरण कुछ और करे या दूसरों से छिपाकर क्रिया करे, वहां मायाप्रत्यय क्रिया होती है। लोभ प्रत्यय क्रिया—लोभ के वशीभूत होकर अनापसनाप सावद्य आरम्भ करे, परिग्रह मे गाढ़ आसक्ति रखे, स्त्रियों व काम भोगों में अत्यन्त आसक्त रहे तथा अपने शरीर को बहुत जतन से रखते हुए दूसरे प्राणियों को काम लेने के लिए मारे, पीटे, भूखा रखे, वहां लोभ प्रत्यय क्रिया होती है। ईर्यापथिकी क्रिया—ग्यारवें उपशान्त मोह गुण स्थान से लेकर तेरहवें सयोगी केवली गुण स्थान तक के साधुओं को समिति-गुप्तियुक्त गमनागमन करते समय केवल त्रियोग के निमित्त से जो मात्र एक सामयिकी सातावन्धलक्षणा क्रिया लगती है, उसे ईर्यापथिकी क्रिया कहते है।

ये १३ क्रियाएँ अन्तरंग परिग्रह से सम्बन्धित हैं।

भूयगामा—जीवो के चौदह समास-समूह हैं—(१) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक, (२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक, (३-४) वादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक (५-६) द्वीन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, (७-८) त्रीन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक; (९-१०) चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक, (११-१२) पंचेन्द्रिय असंज्ञी पर्याप्तक, अपर्याप्तक, (१३-१४) पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक, अपर्याप्तक। इस प्रकार कुल १४ जीवसमूह होते हैं। ये ज्ञेय हैं। इनके प्रति हिंसादि के भाव से अन्तरग परिग्रह होता है. उससे बचना चाहिए।

परमाधम्मिया—नारकी जीवों को नरक की तीसरी पृथ्वी तक जाकर दुःख देने वाले असुर कुमारविशेष परमाधार्मिक कहलाते हैं। ये १५ प्रकार के हैं—(१) अम्ब, (२) अम्बरीप, (३) श्याम, (४) शबल, (५) रौद्र (६) उपरौद्र, (७) काल, (८) महाकाल, (९) असिपत्र, (१०) धनु (११) कुम्भ, (१२) वालुक, (१३) वैतरणिक, (१४) खरस्वर और (१५) महाघोप। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—अम्ब—जो परमाधार्मिक नारकियों को आकाश में ऊपर ले जाकर मारता है, उछालता है, गिराता है, या निःशंक छोड़ देता है, उसे अम्ब कहते हैं। अम्बरीप—जो नारकों को मारकर कैंची से भाड़ मे भूनने योग्य छोटे-छोटे टुकड़े करता है, उसे अम्बरीप कहते हैं। श्याम—जो काला कलूटा परमाधार्मिक रस्सी, हाथ आदि के प्रहार से नारकों को मारता है, उसे श्याम कहते हैं। शबल—जो नारकों की आंतें, चर्बी, कलेजा आदि को नोचता और निकालता है, उस चितकबरे रंग वाले असुर को शबल कहते हैं। रौद्र—जो रुद्रपरिणामी असुर भाले, त्रिशूल (शक्ति) आदि में नारकों को पिरोकर काटता है. उसे रौद्र कहते हैं। उपरौद्र—जो अत्यन्त रौद्रपरिणामी असुर

नारकों के अंगोपांग मुद्गर से भंग करता है, उसे उपरौद्र कहते हैं। काल—जो मृत्यु के समान भयंकर एवं काला असुर नारकों को कड़ाही, चूल्हे आदि में पकाता है, उसे काल कहते है। महाकाल—जो नारकों के तीक्ष्ण मांस के टुकड़े-टुकड़े करके स्वयं खाता है या उन्हें जबरन खिलाता है, उसे महाकाल कहते हैं। असिपत्र—जो असुर असि यानी तलवार के आकार के पत्तों वाला वन वैक्रियशक्ति से बनाकर वहां छाया के हेतु उन वृक्षो के नीचे आये नारकों पर वे खड्ग के समान तेज धार वाले पत्ते गिरा कर उनके तिल-तिल टुकड़े कर डालते हैं, वे असिपत्र कहलाते हैं। धनुष्—जो देव धनुष् से छोड़े गए अर्धचन्द्र आदि बाणों से नारकीयों के नाक, कान आदि छिन्नभिन्न करता है, उसे धनुष् कहते हैं। कुम्भ—जो असुर नारकों को घड़े आदि में पकाता है, वह कुम्भ है। वालुक—जो असुर कदम्बपुष्पाकार वाली वज्र की तरह कठोर तप-तपाती बालू (रेत) की विक्रिया करके उस पर चने की तरह नारकीय जीवों को भूनता है, उसे वालुक कहते हैं। वैतरणिक—जो परमाधार्मिक तपाने से पिघले हुए सीसा, तांबा आदि धातुओं के खौलते हुए गर्मागर्म रस से भरी हुई वैतरणी नदी विक्रिया से बनाता है और उसमे नारकीयों को जबरन डालता है, उसे वैतरणिक कहते हैं। खरस्वर—जो असुर वज्र के समान तीर के कांटे वाले सेमर के पेड़ पर नारकी को चढ़ाकर कर्कश आवाज करता हुआ उसे उलटा खींचता है, उसे खरस्वर कहते हैं। महाघोष—जो असुर डर के मारे कांपते हुए लाचार नारकों को पशुओं की तरह जबरन बाड़ों में भर कर जोर-जोर से चिल्लाता हुआ बंद कर देता है, वह महाघोष है। ये १५ परमाधार्मिक असुर यहां ज्ञेय हैं और इस पाठ का यहाँ देने का उद्देश्य भी पूर्वोक्त अन्तरंग परिग्रह से बचने के लिए दिया गया है।

गाहा सोलसमा - जिसमें गाथा नामक १६ वां अध्ययन है, ऐसे सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं, जिन्हें जानना तथा उनमें से हेय, ज्ञेय, उपादेय का विवेक करना साधु के लिए जरूरी है। इन सोलह अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं—१ समय, २ वैतालीय, ३ उपसर्ग परिज्ञा, ४ स्त्रीपरिज्ञा, ५ निरय विभक्ति, ६ महावीरस्तुति, ७ कुशील परिभाषित, ८ वीर्य ९ धर्म, १० समाधि, ११ मार्ग, १२ समवसरण, १३ यथातथिक, १४ ग्रन्थ, १५ यमकीय और १६ गाथा।

असंजम—असंयम के १७ भेद हैं। वे इस प्रकार हैं -(१) पृथ्वीकाय-असंयम, (२) अप्काय-असंयम, (३) तेजस्काय-असंयम, (४) वायुकाय-असंयम, (५) वनस्पति काय-असंयम, (६) द्वीन्द्रिय-असंयम (७) त्रीन्द्रिय-असंयम, (८) चतुरिन्द्रिय-असंयम, (९) पंचेन्द्रिय-असंयम, (१०) अजीव-असंयम, (११) प्रेक्षा-असंयम, (१२) उपेक्षा-असंयम, (१३) अपहृत्य (प्रतिष्ठापन) असंयम, (१४) अप्रमार्जन-असंयम, (१५) मन-असंयम, (१६) वचन-असंयम और (१७) काय-असंयम।

(१ से ९) पृथ्वीकायादि पाच स्थावर जीवों तथा द्वीन्द्रियादि चार त्रस-जीवों की हिंसा या आरम्भ करना पृथ्वीकायादि-असयम है। अजीवकाय-असंयम वह है, जहाँ बहुमूल्य वस्त्र, पात्र, पुस्तकादि का ग्रहण किया जाता है। प्रेक्षा-असंयम—धर्मस्थान, उपकरण आदि की प्रतिलेखन न करना या अविधिपूर्वक प्रतिलेखन करना प्रेक्षा-असयम है। उपेक्षा-असंयम - सयमयुक्त कार्यों मे प्रवृत्ति न करना, असंयम-युक्त कार्यो मे प्रवृत्ति करना उपेक्षा असंयम है। अपहृत्य-असंयम (प्रतिष्ठापन असंयम)—विधिपूर्वक मलमूत्रादि त्याग न करने से यह असयम होता है। अप्रमार्जन असंयम—वस्त्रपात्रादि का प्रमार्जन न करने से या अविधिपूर्वक प्रमार्जन से यह असंयम होता है। मन, वचन और काया को पापजनक कार्यों मे प्रवृत्त करना क्रमश. मन असंयम, वचन-असंयम और काय-असंयम है। दूसरी तरह से भी असंयम के १७ भेद होते हैं—पांच आश्रवों से विरत न होना, पाच इन्द्रियों का निग्रह न करना, तथा चार कषायों का त्याग न करना, तीन दण्ड से अविरति—इस प्रकार १७ प्रकार के असयम है, जिन्हें अन्तरंग परिग्रह जानकर उनसे बचना जरूरी है।

अबंभ—१८ प्रकार का अब्रह्मचर्य होता है। निम्नोक्त गाथा प्रस्तुत है इसके लिए—

'ओरालियं च दिव्वं मणवयकायाण करणजोगेहिं।
अणुमोयण—कारावण—करणेणऽट्ठारसाऽबंभं ति॥'

औदारिक कामभोगों को मन, वचन, काया से भोगना, भुगवाना और भोगते हुए का अनुमोदन करना; ये ९ औदारिक काम भोग हैं। इसी प्रकार दिव्य काम-भोगों को मन, वचन, काया से भोगना, भुगवाना और भोगते हुए का अनुमोदन करना, ये ९ दिव्य कामभोग हैं। औदारिक और दिव्य दोनों मिलाकर १८ भेद अब्रह्म-चर्य के हुए। इन्हें अंतरंग परिग्रह समझ कर साधु को इनसे बचना चाहिए।

णाय—ज्ञातासूत्र के १९ अध्ययन हैं। वे इस प्रकार हैं—

१—उत्क्षिप्त—मेघकुमारवर्णन, २—संघाट-धन्यसार्थवाह और विजय चोर का दृष्टान्त, ३ अंड—मोर के अंडो का दृष्टान्त, ४ कूर्म—कछुए का दृष्टान्त, ५ शैलक—राजर्षिशैलक का दृष्टान्त, ६ तुम्ब—तुम्बे का दृष्टान्त, ७ रोहिणी—रोहिणी आदि का वर्णन, ८ मल्ली—भगवती मल्लिनाथ तीर्थंकरी का दृष्टान्त, ९ माकंदी—जिनरक्षित और जिनपाल का दृष्टान्त, १० चन्द्रिका—चांदनी का वर्णन, ११ दावदव—दावदव वृक्ष का दृष्टान्त, १२ उदक १३ मंडूक - नन्दन मणिहार का दृष्टान्त, १४ तैतली—तैतलीपुत्र कुमार का दृष्टान्त, १५ नंदिफल,

१६ अपरकंका—द्रौपदी के हरण का वर्णन, १७ आकीर्ण—आकीर्णक अश्व का दृष्टान्त, १८ सुसमा—चिलातीपुत्र चोर का दृष्टान्त, १९ पुण्डरीक—पुण्डरीक कुंडरीक का दृष्टान्त। इन अध्ययनों से हेय, ज्ञेय, उपादेय का विवेक प्राप्त करके यथायोग्य करना चाहिए।

असमाहिठाणा—२० असमाधि स्थान हैं—(१) द्रुतचारित्व—संयम की परवाह न करके जल्दी-जल्दी चलना। (२) अप्रमार्जित-चारित्व—भूमि आदि का प्रमार्जन किये विना चलना, उठना, बैठना आदि। (३) दुष्प्रमार्जितचारित्व—विधि पूर्वक भूमि आदि का प्रमार्जन न करने से होने वाली असमाधि। (४) अतिरिक्त शय्यासनिकत्व—मर्यादा से अधिक आसन तथा शय्या—स्थान रखना। (५) रात्निक (आचार्यादि) परिभाषित्व—अपने से बड़े या आचार्य आदि के सामने बोलना, उनका अविनय करना। (६) स्थविरोपघातित्व—आचार्यादि वृद्ध पुरुषों का आचारदोष, शीलदोष या अवज्ञा आदि से पीड़ा पहुंचाना। (७) भूतोपघातित्व—एकेन्द्रिय आदि जीवों का घात करना; (८) संज्वलनत्व—प्रतिक्षण रोष करने या मन मे दाह आदि से जलते रहना। (९) क्रोधनत्व—अत्यन्त क्रोध करते रहना। (१०) पृष्ठिमांसकत्व—अपने विरोधी या किसी की भी पीठ पीछे निन्दा करना। (११) अभीक्ष्णमवधारकत्व या अपहारकत्व—संदेह युक्त बात को भी निःसदेह बताना। अथवा दूसरे के गुणों का अपलाप करना भी अभीक्ष्ण अपहारकत्वहै। (१२) नये-नये (अनुत्पन्न) अधिकरणोंका उत्पादन—पहले उत्पन्न न हुये नये-नये कलह खड़े करना अथवा यंत्रादि नये-नये उत्पन्न करना। (१३) पुरातनाधिकरण की उदीरणा—पुराने शान्त हुए झगड़ो को हवा दे कर ताजे करना या बढ़ाना। (१४) सरजस्कपाणिपादत्व—सचित्त रज से भरे हुए हाथ-पैर वाले दाता से आहार ग्रहण करना। (१५) अकाल स्वाध्यायकरण—निषिद्ध काल मे स्वाध्याय करना। (१६) कलहकरत्व—कलह के कारणभूत कार्यों का करना या उनमें भाग लेना। (१७) शब्दकरत्व—रात्रि में जोर-जोर से स्वाध्याय आदि करना (१८) झंझाकरत्व—गण या संघ मे फूट पैदा करने या संघ के मन में पीड़ा पैदा करने वाले वचन बोलना, (१९) सूरप्रमाणभोजित्व—सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक भोजन करते ही रहना। (२०) एषणा मे असमितत्व—एषणासमिति पूर्वक आहार की गवेषणा न करना, दोष बताने पर झगड़ा करना आदि।

ये सब दोष अन्तरंग परिग्रह से सम्बन्धित होने के कारण इन्हें त्याज्य ही समझना चाहिए।

सबला—चारित्र की मलिनता के कारणों को शबल कहते हैं, वे २१ हैं—(१) हस्तकर्म करना, (२) अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार से मैथुन सेवन करना,

(३) अतिक्रमादि पूर्वक रात्रि भोजन करना, (४) आधाकर्म (५) सागारिक-शय्यातर का आहार ग्रहण करना, (६) औद्देशिक एव क्रीतादि भोजन करना, (७) वार-वार प्रत्याख्यात (त्यागे हुए) अशनादि का ग्रहण करना। (८) ६-६ महीने के अन्दर एक गण को छोडकर दूसरे गण मे जाना। (९) महीने मे ३ बार नाभि तक गहरे पानी मे उतरना, (१०) महीने में ३ बार मायाचार करना (११) राजपिंड ग्रहण करना, (१२) आकुटिट—इरादे से पृथ्वी कायादि प्राणियो की हिंसा करना (१३) आकुट्टि-इरादे से मृषावाद बोलना, (१४) आकुट्टि से अदत्तादान ग्रहण करना (१५) ज्ञात रूप से सचित्त भूमि पर कायोत्सर्ग आदि करना। (१६) इरादापूर्वक गीली, रजसहित भूमि पर, सचित्त शिला या पत्थर या घुन लगे हुए काष्ठ पर सोना-उठना। (१७) अन्य किसी बीजादि प्राणी पर बैठना, उठना, सोना आदि। (१८) जानबूझ कर कन्दमूल आदि खाना। (१९) वर्ष मे १० वार नाभिप्रमाण जल में उतरना (२०) एक साल में १० वार मायाचार करना (२१) पुनःपुनः सचित्त जल से भीगे हुए हाथ आदि से आहार आदि ग्रहण करना। ये सब दोष अन्तरंग परिग्रह के कारण होने से इन्हें अन्तरग परिग्रह कहने में कोई आपत्ति नही।

परिसहा—धर्म और मोक्ष के पथ से भ्रष्ट न होते हुए कर्मो की निर्जरा (क्षय) के लिए जिन्हें समभाव पूर्वक सहा जाय, उन्हे परिषह कहते हैं। वे २२ हैं—(१) क्षुधापरिषह, (२) पिपासा परिषह, (३) शीत परिषह, (४) उष्ण परिषह, (५) दंशमशक परिषह, (६) अचेल परिषह, (७) अरति परिषह, (८) स्त्री परिषह, (९) चर्या परिषह, (१०) निषद्या परिषह, (११) शय्या परिषह, (१२) आक्रोश परिषह, (१३) वध परिषह, (१४) याचना परिषह, (१५) अलाभ परिषह, (१६) रोग परिषह, (१७) तृणस्पर्श परिषह, (१८) जल्ल (मल) परिषह, (१९) सत्कार-पुरस्कार परिषह, (२०) प्रज्ञा परिषह (२१) अज्ञान परिषह और (२२) अदर्शन परिषह। इनका अर्थ इनके नाम से ही स्पष्ट है। ये बाईस परिषह कर्मरूप अन्तरंग परिग्रह की निर्जरा के लिए होने से उपादेय हैं।

सूयगडज्झयण सूत्रकृतांग सूत्र में कुल २३ अध्ययन हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं, जिनके नामों का उल्लेख हम पहले कर चुके है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ७ अध्ययन हैं; जिनके नाम इस प्रकार हैं—१—पुण्डरीक, २—क्रियास्थान ३—आहार परिज्ञा, ४—प्रत्याख्यान क्रिया, ५—अनगारश्रुत ६—आर्द्रककुमार और ७—नालंद।

देवा—देवों के मुख्यतया २४ भेद होते हैं— १० भवनवासी, ८ वाणव्यन्तर, ५ ज्योतिष्क और १ वैमानिक। परिग्रह त्याग रूप साधना की प्रेरणा देने वाले होने

से ये ज्ञेय है। कई आचार्य इसके बदले २४ देवाधि देव तीर्थंकर मानते हैं। कहा भी है—चउवीस देवा केइ पुण बिंति अरिहंता। अपरिग्रह साधना के लिए अत्यन्त प्रेरणा दायक होने से अरिहन्त देव ज्ञेय और उपादेय हैं।

भावणा—पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएं होती हैं। वे इस प्रकार हैं—५ अहिंसा महाव्रत की, ५ सत्य महाव्रत की, ५ अचौर्य महाव्रत की, ५ ब्रह्मचर्य महाव्रत की और ५ अपरिग्रह महाव्रत की। इन पच्चीस भावनाओं का उल्लेख इसी शास्त्र में प्रसंग वश किया गया है, इसलिए विशिष्ट स्पष्टी करण करने की आवश्यकता नहीं। ये पच्चीसों भावनाएं अन्तरंग और बाह्य दोनों प्रकार के परिग्रहों से साधक की रक्षा करने में उपयोगी होने से उपादेय हैं।

उद्देसा—दशा कल्प और व्यवहार के कुल मिलाकर २६ उद्देश या उद्देशन काल हैं। अर्थात् १० उद्देश दशाश्रुत स्कन्ध के हैं, ६ उद्देश बृहत्कल्प के हैं और १० उद्देश व्यवहार सूत्र के हैं। इन तीनों के उद्देश कुल मिलाकर २६ होते हैं। ये अन्तरंग परिग्रह की निवृत्ति में सहायक हैं। इसके प्रमाण के लिए निम्नोक्त गाथा प्रस्तुत है—

'दस उद्देसणकाला दसाण, छच्चेव होंति कप्पस्स।
दस चेव य ववहारस्स, होंति सव्वेवि छव्वीसं॥

गुणा—अनगार (साधु) के २७ गुण होते हैं—५ महाव्रत, ५ इन्द्रियों का निग्रह, ४ कषायों का त्याग, भावसत्य, करण सत्य, योग सत्य (मन-वचन-काया की एकरूपता सत्यता), क्षमा, वैराग्य (आसक्ति का अभाव), मनवचन काया का निरोध, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सम्पन्नता, वेदनादि का सहन करना और मारणान्तिक कष्ट (उपसर्ग) समभाव से सहना। ये २७ गुण अन्तरंग परिग्रह से साधुजीवन की रक्षा के लिए उपयोगी होने से उपादेय हैं।

पकप्पा—आचार प्रकल्प २८ प्रकार का होता है। यहां आचार और प्रकल्प दो शब्द हैं। आचार से आचारांग सूत्र के दोनों श्रुत स्कन्धों के २५ अध्ययन तथा प्रकल्प से निशीथकल्प के ३ अध्ययन ग्रहण किये गए हैं। आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुत-स्कन्ध के ९ अध्ययन इस प्रकार हैं—(१) शस्त्रपरिज्ञा, (२) लोक विजय, (३) शीतोष्णीय, (४) सम्यक्त्व, (५) आवंति (६) ध्रुव, (७) विमोह, ८) उपधान श्रुत और (९) महापरिज्ञा। द्वितीय श्रुत स्कन्ध के १६ अध्ययन इस प्रकार हैं—(१) पिंडैषणा, (२) शय्या, (३) ईर्या, (४) भाषा, (५) वस्त्रैषणा (६) पात्रैषणा, (७) अवग्रह प्रतिमा (८ से १४) सात सप्तिकाएं, (१५) भावना और (१६) विमुक्ति। निशीथकल्प के तीन अध्ययन हैं—(१) उद्घातिक, (२) अनुद्घातिक और

आरोपणा। जिसमे लघुमासादि प्रायश्चित का वर्णन है, वह उद्घातिक निशी है जिसमें गुरु मासादि का वर्णन है, वह अनुद्घातिक निशीथ, और ज किसी एक प्रायश्चित्त में अन्य प्रायश्चित्त का आरोपण करने का वर्णन वह आरोपणानिशीथ है। इस प्रकार कुल मिलाकर २८ भेद आचार प्रकल्प के ह हैं। ये आचार प्रकल्प साधु के जीवन मे अन्तरग-बाह्य-परिग्रह का दोष लग जाने उसकी शुद्धि तथा अपरिग्रह वृत्ति की प्रेरणा के लिए उपयोगी होने से उपादेय है

पावसुत्त—२६ प्रकार के पापश्रुत[1] है। वे इस प्रकार है—(१) भं (२) उत्पात, (३) स्वप्न, (४) अन्तरिक्ष, (५) अंग, (६) स्वर, (७) लक्षण अ (८) व्यञ्जन। इन आठ निमित्त शास्त्रो के सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के भेद से भेद हो जाते है। विकथानुयोग, विद्यानुयोग, मन्त्रानुयोग, योगानुयोग और अन्यतीर्थि प्रवृत्तानुयोग—ये ५ पूर्वोक्त २४ भेदो के साथ मिलाने से २६ भेद पापश्रुत के होते है सक्षेप मे इनके लक्षण इस प्रकार है (१) भौमशास्त्र—जिसमे भूगर्भ एव भूविका भूकम्प आदि का वर्णन है। (२) उत्पात शास्त्र—रुधिरवृष्टि आदि उत्पात के फ का निरूपण करने वाला शास्त्र। (३) स्वप्न शास्त्र—जिसमे स्वप्नफलों का वर्णन है (४) अन्तरिक्ष शास्त्र—आकाश में होने वाले ग्रहण आदि के फल का वर्णन कर वाल शास्त्र। (५) अंग शास्त्र—शरीर के अवयवप्रमाण तथा अंगस्फुरण (फड़कन आदि के फल का जिसमें विवेचन है। ६) स्वरशास्त्र जीव-अजीव के द्वारा हो वाली आवाज पर से फल का निरूपण करने वाला शास्त्र। (७) लक्षण शास्त्र शरीर के लांछनों-लक्षणों (चिह्नों) को देखकर फल का निरूपण करने वाला शास्त्र (८) व्यंजन शास्त्र—तिल, मस आदि व्यंजनों के फल का कथन करने वाला शास्त्र इन ८ निमित्त शास्त्रों के सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के भेद से २४ भेद हो जाते हैं (२५) विकथानुयोग—अर्थ और काम-पुरुषार्थ के प्रतिपादक कामन्दक और वात्स्याय आदि शास्त्रों को विकथानुयोग कहते हैं। (२६) विद्यानुयोग – रोहिणी आदि विद्या के साधने का विधान करने वाला शास्त्र विद्यानुयोग है। (२७) मंत्रानुयोग—वेटा

१— कहीं-कहीं २६ पापश्रुतो के सम्बन्ध में निम्नोक्त गाथा मिलती है—

"अट्ठंगनिमित्ताइं दिव्वु१ प्पायं२ तलिक्ख३ भोमं४ च।
सुमिण५ सर६ वंजण७ लक्खणे,८ एक्कियं पुण तिविहं२४॥
गंधव्व२५ नट्ट२६ वत्थु२७ तिगिच्छ२८ धणुवेयसंजुत्त२९।"

पूर्वोक्त २४ के अतिरिक्त गान्धर्व, नाट्य, वास्तु, चिकित्सा और धनुर्वेद, ये और हैं।

—सम्पादक

सर्पमंत्र आदि के साधने के उपाय बताने वाला शास्त्र मंत्रानुयोग है। (२८) योगानुयोग वशीकरण, मोहन, मारण, उच्चाटन आदि योगों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र योगानुयोग है। (२९) अन्यतीर्थिक प्रवृत्तानुयोग—कपिलादि अन्यतीर्थिकों द्वारा प्रवृत्त किया हुआ स्वसिद्धान्तानुरूप आचार-विचार का प्रकट करने वाला शास्त्र अन्यतीर्थिक-प्रवृत्तानुयोग है।

मोहणिज्जे—महामोहनीय कर्मबन्धन के ३० स्थान (कारण) हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) जल में डुबोकर त्रसजीवों को मारना। (२) हाथ आदि के द्वारा प्राणियों के मुंह आदि को ढक कर (श्वास रोक कर) मारना। (३) चमड़े की गीली रस्सी कस कर सिर पर बांध कर प्राणी को मारना (४) मस्तक पर मुद्गर आदि से प्रहार करके प्राणी को मारना (५) संसार समुद्र में डूबते हुए प्राणियों के उद्धार के लिए द्वीप के समान श्रेष्ठ मनुष्य को मारना। (६) शक्ति होते हुए भी दुष्ट परिणामवश रोगी की सेवा शुश्रूषा न करना। (७) तपस्वी को बलात् धर्म-भ्रष्ट करना। (८) दूसरों के सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग के शुद्ध परिणामों को विपरीत परिणत करके अपकार करना। (९) जिनेन्द्र देवों की निन्दा करना। (१०) आचार्य उपाध्याय आदि का अवर्णवाद (निन्दा) करना। (११) ज्ञानदान आदि से उपकारी आचार्य आदि के उपकार को न मानना तथा उनका सम्मान आदि न करना। (१२) राजा के प्रयाण करने के दिन आदि का पुन-पुनः कथन करना। (१३) वशीकरण आदि का प्रयोग करना (१४) त्याग किये हुए भोग आदि की अभिलाषा करना (१५) बहुश्रुत न होने पर भी अपने को बहुश्रुत कहना। (१६) तपस्वी न होने पर भी खुद को तपस्वी नाम से प्रसिद्ध करना, (१७) बहुत से प्राणियों को बाड़े आदि में बंद करके आग जलाकर धुंए से दम घोटकर मार डालना। (१८) अपने द्वारा किये गए दुष्कृत्य को दूसरे के सिर पर मढ़ना, (१९) विविध प्रकार से मायाजाल रचकर लोगों को ठगना। (२०) अशुभ परिणामवश सत्य बात को भी सभा में झूठी बताना। (२१) बार-बार लड़ाई छेड़ते रहना। (२२) विश्वास में लेकर दूसरे का धन हड़प जाना। (२३) विश्वास पैदा करके दूसरे की स्त्री को बहकाना। (२४) कुंआरा (अविवाहित) न होने पर भी खुद को कुंआरा कहना। (२५) ब्रह्मचारी न होने पर भी स्वयं को ब्रह्मचारी कहना। (२६) जिस व्यक्ति के द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त किया है, उसी के माल पर हाथ साफ करने का मनोरथ करना। (२७) जिस व्यक्ति के द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त की, उसी के काम में रोड़े अटकाना। (२८) राजा, सेनापति तथा राष्ट्रहितैषी आदि बहुजनमान्य नेता की हत्या करना। (२९) देव आदि को प्रत्यक्ष न देखने पर भी मायापूर्वक कहना कि 'मुझे तो अमुक देव दिखाई देते हैं।' (३०) देवों के प्रति अवज्ञा करते हुए कहना कि 'मैं ही देव हूं'। ये तीस मोहनीय

कर्म-बन्धन के कारण हैं। ये सब अन्तरंग परिग्रह के ही रूप हैं, इसलिए हेय समझ कर इनका त्याग करना चाहिए।

सिद्धातिगुणा—सिद्धों के प्रथम समय में ही उत्पन्न होने वाले या आत्यन्तिक ३१ गुण होते हैं - (१) मतिज्ञानावरणीय का क्षय, (२) श्रुतज्ञानावरणीय का क्षय, (३) अवधिज्ञानावरणीय का क्षय, (४) मनः पर्यायज्ञानावरणीय का क्षय, (५) केवलज्ञानावरणीय का क्षय, (६) चक्षुदर्शनावरण का क्षय, (७) अचक्षु दर्शनावरण का क्षय (८) अवधिदर्शनावरण का क्षय (९) केवलदर्शनावरण का क्षय (१० से १४) निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि—इन पाचों निद्राओं का क्षय, (१५) सातावेदनीय का क्षय, (१६) असातावेदनीय का क्षय, (१७) दर्शन मोहनीय का क्षय, (१८) चारित्रमोहनीय का क्षय, (१९ से २२) नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु का क्षय, (२३-२४) उच्चगोत्र और नीचगोत्र का क्षय, (२५-२६) शुभनाम और अशुभनाम का क्षय, (२७-से ३१) दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय का क्षय। इस प्रकार ८ कर्मों की मुख्य ३१ प्रकृतियों के क्षय रूप गुण सिद्धों को प्रथम समय में ही उपलब्ध हो जाते हैं। अथवा सिद्धों के ३१ गुण इस प्रकार भी होते है—५ संस्थान (परिमंडल, वृत्त, त्र्यंस, चतुरस्र और आयत, ५ वर्ण, ५ रस, २ गन्ध, ८ स्पर्श, ३ वेद, इन २८ बातों से रहित तथा अकाय, असग और अरूप ये तीन मिलाकर कुल ३१ गुण हुए। ये गुण भी अशरीरी होते ही सिद्धों में प्रगट हो जाते हैं। परिग्रहमुक्ति के लिए ये गुण प्रेरणादायक होने से उपादेय हैं।

जोगसंगहे - योग का अर्थ है—मन, वचन और काया के व्यापारों का सग्रह, यानी प्रशस्त मन वचन और काया की प्रवृत्तियो का संग्रह योगसंग्रह कहलाता है। मोक्ष साधक साधुओं के लिए ३२ प्रकार की शुभ प्रवृत्तियों की शिक्षाओं का यहां सग्रह है। वह इस प्रकार है—१ आलोचना मोक्ष साधक योग के लिए शिष्य को आचार्य के सामने अपने दोषों को भलीभांति यथातथ्य रूप में प्रगट करना चाहिए, २ निरपलाप—आचार्य को भी मोक्ष-साधनायोग के लिए शिष्य द्वारा कृत आलोचना दूसरा सुने नही, इस प्रकार से सुननी चाहिए और दूसरों को कहनी नहीं चाहिए। ३—आपत्ति आने पर स्वयं धर्म पर दृढ़ रहना और दूसरों को धर्म में दृढ़ करना, ४—दूसरों का सहारा लिये बिना ही उपधान आदि तप करना। (५) आचार्य आदि द्वारा दी गई सूत्रार्थ ग्रहण रूप तथा प्रत्युपेक्षाद्यासेवना रूप शिक्षा ग्रहण करना। (६) शरीर का शृंगारादि की दृष्टि से संस्कार न करना। (७) अपनी तपस्या या क्रिया का ढिंढोरा नहीं पीटना, प्रगट न करना। (८) निर्लोभी रहना।

(६) तितिक्षा-कष्ट सहिष्णुता का होना, परिषह जीतना (१०) धर्म पालन में सरलता रखना, (११) शुचिता-सत्यता या पवित्रता का आचरण करना, (१२) सम्यग्दर्शन शुद्ध रखना, (१३) चित्त को स्वस्थ समाधि से युक्त रखना, (१४) ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्याचार, इन पांच आचारों का किसी के सामने अपनी प्रसिद्धि किये बिना मौनपूर्वक पालन करना। (१५) विनय का आचरण करना, किसी भी प्रकार का अभिमान न करना, (१६) धैर्यवान् बनना, धर्म के पालने में दैन्य न दिखाना। (१७) संवेगयुक्त बनना, अर्थात् मुमुक्षु बनकर सांसारिक बातों से डरना—दूर रहना। (१८) प्रणिधि—माया न करना। (१६) अपना आचरण उत्तम और शुद्ध रखना, (२०) संवर का प्रयोग करना, आते हुए कर्मों—आश्रवों को रोकना। (२१) अपने अन्दर आते हुए दोषों को रोकना। (२२) समस्त कामों — विषयों से विरक्त रहना। (२३) मूल गुणों से सम्बन्धित प्रत्याख्यान (त्याग) ग्रहण करना। (२४) उत्तर गुण सम्बन्धी प्रत्याख्यान—त्याग, नियम लेना। (२५) शरीर, उपधि साधन तथा कषाय आदि का द्रव्यभाव रूप से व्युत्सर्ग करना। (२६) प्रमाद का त्याग करना। (२७) प्रतिक्षण समाचारी के अनुसार कार्य करना—निकम्मा न रहना। (२८) ध्यान रूप संवर की साधना करना। (२६) मारणान्तिक वेदना होने पर भी क्षोभ न करना। (३०) विषयों की आसक्ति का स्वरूप ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसे छोड़ना, (३१) गृहीत प्रायश्चित्त का पालन करना अथवा प्रायश्चित्त लेना, (३२) जीवन की अन्तिम घड़ियों के समय संलेखना करके आराधक बनना।

तित्तिसा आसातणा—आय यानी ज्ञानादि का लाभ, उसकी शातना अर्थात् खंडना आशातना कहलाती है। इसके तेतीस भेद हैं– (१) गुरु या बड़ों के पास-पास शिष्य का सट कर चलना। (२) गुरु या बड़ों के आगे-आगे अविनयपूर्वक चलना। (३) गुरु या बड़ों के पीछे शिष्य का अविनयपूर्वक चलना। (४-५-६) शिष्य का गुरु या बड़े साधुओं के आगे, पीछे या बराबर में सटकर खड़े रहना। (७-८-६) गुरु या बड़े साधुओं के आगे, पीछे या बराबर में सटकर शिष्य का बैठना। (१०) बड़े साधुओं के साथ स्थंडिल भूमि (शौचक्रियार्थ) जाने पर शुचि करके उनसे पहले आ जाना। (११) बड़े साधुओं के साथ स्थंडिलभूमि (शौचक्रिया) जाने पर उनसे पहले वहां से लौट कर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण कर लेना। (१२) मिलने या दर्शन के लिए आए हुये किसी व्यक्ति को बड़े साधुओं द्वारा बुलाने से पहले ही शिष्य द्वारा बुला लेना। (१३) रात को बड़े साधुजन आवाज दें कि कौन जागता है, कौन सो रहा है ?, तब जागते हुए भी उनके वचनों को सुने-अनसुने करके चुप रहना। (१४) भिक्षा में लाया हुआ आहार पहले दूसरे शिष्यादि को बता कर

फिर गुरु आदि को बताना। (१५) भिक्षा में लाया हुआ आहार का कथन पहले दूसरे शिष्यादि के आगे करके बाद में गुरुजनों के आगे करना। (१६) लाये हुये आहार के लिए पहले शिष्यादि को आमन्त्रित करना, तत्पश्चात् बड़े साधुओं या गुरु को आमन्त्रित करना। (१७) भिक्षा में प्राप्त आहार लाकर पहले बड़े या वृद्ध साधुओं को पूछे बिना अपने प्रियपात्र साधुओं को दे देना। (१८) बड़ों के साथ में भोजन करते हुए खुद जल्दी-जल्दी बढ़िया चीजों पर हाथ साफ कर देना। (१९) किसी प्रयोजनवश बड़ों के बुलाने पर उनका जवाब न देना। (२०) बड़ों के बुलाने पर आसन पर बैठे-बैठे ही उत्तर देना—हाँ, बोलिए क्या कहते हैं? अथवा कार्य करने के आलस्य से बड़ों के पास ही न फटकना। (२१) बड़ों के द्वारा कोई बात पूछने पर उनके सामने अविनयपूर्वक बोलना या उटपटांग बड़बड़ाना। (२२) गुरुजन या बड़े साधु शिष्य या छोटे साधु से कहें—वत्स! यह काम करो, तुम्हें लाभ होगा। तब अविनय-पूर्वक जवाब देना—आप ही इसे कर लीजिए, आपको लाभ हो जायगा। अथवा बड़े साधु कहें कि आर्य! रुग्ण साधु की सेवा नहीं करते? तब उत्तर देना कि रुग्ण की सेवा आप ही क्यों नहीं कर लेते? (२३) बड़ों के प्रति कठोर भाषा का प्रयोग करना। (२४) बड़े जिन-जिन शब्दों का प्रयोग करें, उनके सामने उन्हीं शब्दों को दोहरा कर प्रत्युत्तर देना, अथवा गुरु द्वारा धर्मशिक्षा देने पर अन्यमनस्क होकर बैठ जाना, उनकी बातों का समर्थन न करना। (२५) गुरुजनों के व्याख्यान में अविनयपूर्वक प्रश्न करना और गुरु द्वारा उसका जवाब देने पर कहना कि—"आपको याद ही नहीं है।" (२६) बड़ों के व्याख्यान में उनकी भूल प्रगट करके सभा-भंग करना या धर्मकथा की प्रवचनधारा को तोड़ देना। (२७) बड़े व्याख्यान दे रहे हों, उस समय अपने लिए हितकर बात को अहितकर समझ कर अरुचि दिखाना। (२८) बड़ों के द्वारा व्याख्यान करते समय बीच में ही सभा में विक्षेप डाल देना कि अब तो भिक्षा का समय हो गया है! कब तक कहे जाओगे? इस प्रकार बोलकर सभा को क्षुब्ध कर देना। (२९) गुरुजनों का व्याख्यान पूरा हुआ नहीं, उससे पहले ही अपनी दक्षता बताने के लिए स्वयं व्याख्यान शुरू कर देना। (३०) गुरु की शय्या पर बैठ जाना। (३१) उनकी शय्या पर पैर लगाना या ठोकर मारना, (३२) बड़ों के आसन से ऊँचे आसन पर बैठना, खड़ा रहना या सोना। (३३) गुरुदेव के आसन के बराबर आसन पर खड़े होना, बैठना या सोना। इस प्रकार कुल ३३ आशातनाएँ हैं, जो अभिमानरूप अन्तरंग परिग्रह से जनित होती हैं, इसलिए इन्हें हेय समझ कर छोड़ना चाहिए।

सुरिंदा—देवों में ३३ इन्द्र हैं। वे इस प्रकार हैं—भवनपति देवों के २० इन्द्र। ज्योतिष्क देवों के २ इन्द्र, वैमानिक देवों के १० इन्द्र, राजा नृदेव (मनुष्यों

(९) तितिक्षा-कष्ट सहिष्णुता का होना, परिषह जीतना (१०) धर्म पालन में सरलता रखना, (११) शुचिता-सत्यता या पवित्रता का आचरण करना, (१२) सम्यग्दर्शन शुद्ध रखना, (१३) चित्त को स्वस्थ समाधि से युक्त रखना, (१४) ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्याचार, इन पांच आचारों का किसी के सामने अपनी प्रसिद्धि किये बिना मौनपूर्वक पालन करना। (१५) विनय का आचरण करना, किसी भी प्रकार का अभिमान न करना, (१६) धैर्यवान् बनना, धर्म के पालने में दैन्य न दिखाना। (१७) संवेगयुक्त बनना, अर्थात् मुमुक्षु बनकर सांसारिक बातों से डरना—दूर रहना। (१८) प्रणिधि—माया न करना। (१९) अपना आचरण उत्तम और शुद्ध रखना, (२०) संवर का प्रयोग करना, आते हुए कर्मों—आश्रवों को रोकना। (२१) अपने अन्दर आते हुए दोषों को रोकना। (२२) समस्त कामों—विषयों से विरक्त रहना। (२३) मूल गुणों से सम्बन्धित प्रत्याख्यान (त्याग) ग्रहण करना। (२४) उत्तर गुण सम्बन्धी प्रत्याख्यान—त्याग, नियम लेना। (२५) शरीर, उपधि साधन तथा कषाय आदि का द्रव्यभाव रूप से व्युत्सर्ग करना। (२६) प्रमाद का त्याग करना। (२७) प्रतिक्षण समाचारी के अनुसार कार्य करना—निकम्मा न रहना। (२८) ध्यान रूप संवर की साधना करना। (२९) मारणान्तिक वेदना होने पर भी क्षोभ न करना। (३०) विषयों की आसक्ति का स्वरूप ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसे छोड़ना, (३१) गृहीत प्रायश्चित्त का पालन करना अथवा प्रायश्चित्त लेना, (३२) जीवन की अन्तिम घड़ियों के समय संलेखना करके आराधक बनना।

तित्तिसा आसातणा—आय यानी ज्ञानादि का लाभ, उसकी शातना अर्थात् खंडना आशातना कहलाती है। इसके तेतीस भेद हैं— (१) गुरु या बड़ों के पास-पास शिष्य का सट कर चलना। (२) गुरु या बड़ों के आगे-आगे अविनयपूर्वक चलना। (३) गुरु या बड़ों के पीछे शिष्य का अविनयपूर्वक चलना। (४-५-६) शिष्य का गुरु या बड़े साधुओं के आगे, पीछे या बराबर में सटकर खड़े रहना। (७-८-९) गुरु या बड़े साधुओं के आगे, पीछे या बराबर में सटकर शिष्य का बैठना। (१०) बड़े साधुओं के साथ स्थण्डिल भूमि (शौचक्रियार्थ) जाने पर शुचि करके उनसे पहले आ जाना। (११) बड़े साधुओं के साथ स्थण्डिलभूमि (शौचक्रिया) जाने पर उनसे पहले वहां से लौट कर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण कर लेना। (१२) मिलने या दर्शन के लिए आए हुये किसी व्यक्ति को बड़े साधुओं द्वारा बुलाने से पहले ही शिष्य द्वारा बुला लेना। (१३) रात को बड़े साधुजन आवाज दें कि कौन जागता है, कौन सो रहा है ?; तब जागते हुए भी उनके वचनों को सुने-अनसुने करके चुप रहना। (१४) भिक्षा में लाया हुआ आहार पहले दूसरे शिष्यादि को बता कर

फिर गुरु आदि को बताना। (१५) भिक्षा में लाया हुआ आहार का कथन पहले दूसरे शिष्यादि के आगे करके बाद में गुरुजनों के आगे करना। (१६) लाये हुये आहार के लिए पहले शिष्यादि को आमंत्रित करना, तत्पश्चात् बड़े साधुओं या गुरु को आमंत्रित करना। (१७) भिक्षा में प्राप्त आहार लाकर पहले बड़े या वृद्ध साधुओं को पूछे बिना अपने प्रियपात्र साधुओं को दे देना। (१८) बड़ों के साथ में भोजन करते हुए गुरु जल्दी-जल्दी बढ़िया चीजों पर हाथ साफ कर देना। (१९) किसी प्रयोजनवश बड़ों के बुलाने पर उनका जवाब न देना। (२०) बड़ों के बुलाने पर आसन पर बैठे-बैठे ही उत्तर देना—हां, बोलिए, क्या कहते हैं? अथवा कार्य करने के आलस्य से बड़ों के पास ही न फटकना। (२१) बड़ों के द्वारा कोई बात पूछने पर उनके सामने अविनयपूर्वक बोलना या उटपटांग बड़बड़ाना। (२२) गुरुजन या बड़े साधु शिष्य या छोटे साधु से कहें—वत्स! यह काम करो, तुम्हें लाभ होगा। तब अविनय-पूर्वक जवाब देना—आप ही इसे कर लीजिए, आपको लाभ हो जायगा। अथवा बड़े साधु कहें कि आर्य! रुग्ण साधु की सेवा नहीं करते? तब उत्तर देना कि रुग्ण की सेवा आप ही क्यों नहीं कर लेते? (२३) बड़ों के प्रति कठोर भाषा का प्रयोग करना। (२४) बड़े जिन-जिन शब्दों का प्रयोग करें, उनके सामने उन्हीं शब्दों को दोहरा कर प्रत्युत्तर देना, अथवा गुरु द्वारा धर्मशिक्षा देने पर अन्यमनस्क होकर बैठ जाना, उनकी बातों का समर्थन न करना। (२५) गुरुजनों के व्याख्यान में अविनयपूर्वक प्रश्न करना और गुरु द्वारा उसका जवाब देने पर कहना कि—"आपको याद ही नहीं है।" (२६) बड़ों के व्याख्यान में उनकी भूल प्रगट करके सभा-भंग करना या धर्मकथा की प्रवचनधारा को तोड़ देना। (२७) बड़े व्याख्यान दे रहे हों, उस समय अपने लिए हितकर बात को अहितकर समझ कर अरुचि दिखाना। (२८) बड़ों के द्वारा व्याख्यान करते समय बीच में ही सभा में विक्षेप डाल देना कि अब तो भिक्षा का समय हो गया है! कब तक कहे जाओगे? इस प्रकार बोलकर सभा को क्षुब्ध कर देना। (२९) गुरुजनों का व्याख्यान पूरा हुआ नहीं, उससे पहले ही अपनी दक्षता बताने के लिए स्वयं व्याख्यान शुरू कर देना। (३०) गुरु की शय्या पर बैठ जाना। (३१) उनकी शय्या पर पैर लगाना या ठोकर मारना, (३२) बड़ों के आसन से ऊँचे आसन पर बैठना, खड़ा रहना या सोना। (३३) गुरुदेव के आसन के बराबर आसन पर खड़े होना, बैठना या सोना। इस प्रकार कुल ३३ आशातनाएँ हैं, जो अभिमानरूप अन्तरंग परिग्रह से जनित होती हैं, इसलिए इन्हें हेय समझ कर छोड़ना चाहिए।

सुरिंदा—देवों में ३३ इन्द्र हैं। वे इस प्रकार हैं—भवनपति देवों के २० इन्द्र। ज्योतिष्क देवों के २ इन्द्र, वैमानिक देवों के १० इन्द्र, राजा नृदेव (मनुष्यों

(६) तितिक्षा-कष्ट सहिष्णुता का होना, परिषह जीतना (१०) धर्म पालन में सरलता रखना, (११) शुचिता-सत्यता या पवित्रता का आचरण करना, (१२) सम्यग्दर्शन शुद्ध रखना, (१३) चित्त को स्वस्थ समाधि मे युक्त रखना, (१४) ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्याचार, इन पांच आचारों का किसी के सामने अपनी प्रसिद्धि किये बिना मौनपूर्वक पालन करना। (१५) विनय का आचरण करना, किसी भी प्रकार का अभिमान न करना, (१६) धैर्यवान् बनना, धर्म के पालने में दैन्य न दिखाना। (१७) संवेगयुक्त बनना, अर्थात् मुमुक्षु बनकर सांसारिक बातों से डरना—दूर रहना। (१८) प्रणिधि—माया न करना। (१९) अपना आचरण उत्तम और शुद्ध रखना, (२०) संवर का प्रयोग करना, आते हुए कर्मों—आश्रवों को रोकना। (२१) अपने अन्दर आते हुए दोषों को रोकना। (२२) समस्त कामों—विषयों से विरक्त रहना। (२३) मूल गुणों से सम्बन्धित प्रत्याख्यान (त्याग) ग्रहण करना। (२४) उत्तर गुण सम्बन्धी प्रत्याख्यान—त्याग, नियम लेना। (२५) शरीर, उपधि साधन तथा कषाय आदि का द्रव्यभाव रूप से व्युत्सर्ग करना। (२६) प्रमाद का त्याग करना। (२७) प्रतिक्षण समाचारी के अनुसार कार्य करना—निकम्मा न रहना। (२८) ध्यान रूप संवर की साधना करना। (२९) मारणान्तिक वेदना होने पर भी क्षोभ न करना। (३०) विषयों की आसक्ति का स्वरूप ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसे छोड़ना, (३१) गृहीत प्रायश्चित्त का पालन करना अथवा प्रायश्चित्त लेना, (३२) जीवन की अन्तिम घड़ियों के समय संलेखना करके आराधक बनना।

तित्तिसा आसातणा—आय यानी ज्ञानादि का लाभ, उसकी शातना अर्थात् खंडना आशातना कहलाती है। इसके तेतीस भेद हैं— (१) गुरु या बड़ों के पास-पास शिष्य का सट कर चलना। (२) गुरु या बड़ों के आगे-आगे अविनयपूर्वक चलना। (३) गुरु या बड़ों के पीछे शिष्य का अविनयपूर्वक चलना। (४-५-६) शिष्य का गुरु या बड़े साधुओं के आगे, पीछे या बराबर में सटकर खड़े रहना। (७-८-९) गुरु या बड़े साधुओं के आगे, पीछे या बराबर में सटकर शिष्य का बैटना। (१०) बड़े साधुओं के साथ स्थंडिल भूमि (शौचक्रियार्थ) जाने पर शुचि करके उनसे पहले आ जाना। (११) बड़े साधुओं के साथ स्थण्डिलभूमि (शौचक्रिया) जाने पर उनसे पहले वहां से लौट कर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण कर लेना। (१२) मिलने या दर्शन के लिए आए हुये किसी व्यक्ति को बड़े साधुओं द्वारा बुलाने से पहले ही शिष्य द्वारा बुला लेना। (१३) रात को बड़े साधुजन आवाज दें कि कौन जागता है, कौन सो रहा है ?; तब जागते हुए भी उनके वचनों को सुने-अनसुने करके चुप रहना। (१४) भिक्षा में लाया हुआ आहार पहले दूसरे शिष्यादि को बता कर

कामनाओं) को दूर करके उन पर महर्दिन से श्रद्धा करता है, भगवान् के इस प्रवचन पर 'तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं' इस वाक्य के अनुसार पूरी श्रद्धा करता है, इसका आचरण देवेन्द्र आदि के ऐश्वर्य की अभिलाषारूप निदान से रहित, गर्व (गौरव) से रहित, लोभ से रहित और मोह से विरक्त होकर करता है, वह श्रमण अपने मन, वचन और काया को परिग्रह वृत्ति से सर्वाकार पूर्णतया सुरक्षित कर लेता है। और अपरिग्रह वृत्ति में स्थिर हो जाता है।

तेतीस बोलों के निरूपण के पीछे उद्देश्य—परिग्रह त्याग के प्रकरण में इन तेतीस बोलों के कथन करने का आशय यह है कि अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करने पर ही अपरिग्रह महाव्रत की परिपूर्ण रूप से आराधना हो सकती है। चूंकि परिग्रह में ग्रहण होता है और अपरिग्रह में त्याग। इसलिए साधक को कई बार पता ही नहीं होता कि मुझे किन-किन चीजों का साधना के लिए ग्रहण करना है, और किनका त्याग करना है? वह एक के बदले दूसरे पदार्थ को पकड़ लेता है। इसलिए साधक के सामने अपने जीवन में साधक, बाधक तथा न बाधक न साधक-इन तीनों प्रकार की जो जो खास वस्तुएँ आती हैं, उनकी एक सूची (३३ बोल तक की) यहाँ दे दी है। साधु को परिग्रह त्याग के लिए इनका ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। ज्ञान होने पर ही वह साधक बातों को उपादेय, बाधक बातों को हेय और न बाधक न साधक बातों को ज्ञेय समझ सकता है। उसके बाद धर्मध्यान शुक्ल ध्यान आदि जो बातें उपादेय हैं, उन्हें वह ग्रहण करता है; असंयम, राग-द्वेष आदि जो वस्तुएँ हेय हैं, उनका वह त्याग करता है और देवेन्द्र, परमाधार्मिक आदि जो बातें ज्ञेय हैं उनकी वह जानकारी कर लेता है। इन हेय-ज्ञेय-उपादेय रूप बातों का यथायोग्य आचरण ही परिग्रह त्याग और अपरिग्रह वृत्ति के स्वीकार का कारण है। यही इन तेतीस बोलों के निरूपण का उद्देश्य है।

अपरिग्रहसंवर का माहात्म्य और स्वरूप

पूर्व सूत्रपाठ में मिथ्यात्व आदि अन्तरंगपरिग्रह के रूप में साधु जीवन में सहसा घुस जाने वाले महापाप से साधु को सावधान करने हेतु एक बोल से लेकर ३३ बोलों का शास्त्रकार ने विशद निरूपण किया है। अब शास्त्रकार अपरिग्रह संवरद्वार का माहात्म्य, तथा स्वरूप निम्नोक्त सूत्रपाठ द्वारा बताते हैं—

मूलपाठ

जो सो वीरवरवयण-विरतिपवित्थर-बहुविहप्पकारो, सम्मतविसुद्धमूलो, धितिकंदो, विणयवेति (इ) ओ (तो),

में देवतुल्य) कहलाता है, उन राजाओं का चक्रवर्ती इन्द्र कहलाता है। इस दृ
से एक 'नृदेवेन्द्र'—चक्रवर्ती मिलकर कुल ३३ देवेन्द्र हुए।

भवनपतियों के २० देवेन्द्रों के नाम इस प्रकार हैं—(१) चमरेन्द्र, (
बलेन्द्र, (३) धरणेन्द्र, (४) भूतानन्द, (५) वेणुदेव, (६) वेणुताल, (७) हरिकान
(८) हरिसह, (९) अग्निसिंह, (१०) अग्निमाणव, (११) पूर्ण, (१२) वशिष्
(१३) जलकान्त, (१४) जलप्रभ, (१५) अमितगति, (१६) अमितवाहन (१
वेलम्ब, (१८) प्रभजन, (१९) घोष और (२०) महाघोष। ज्योतिष्क देवेन्द्र
हैं—सूर्य और चन्द्र। वैमानिक देवेन्द्रों के १० नाम इस प्रकार हैं—१—शक्रेन्द्र
२—ईशानेन्द्र, ३—सानत्कुमार, ४—माहेन्द्र, ५ ब्रह्म, ६—लान्तक, ७—शुक्र
८—सहस्रार, ९ प्राणत और १०—अच्युत।

इस प्रकार एक बोल से लेकर तेतीस बोल[1] तक का वर्णन समाप्त हुआ।

*तेतीस बोलों की आराधना करने वाले श्रमण की उपलब्धि—ये तेतीस बोल
साधु जीवन के प्राण हैं। इनकी आराधना-साधना जो श्रमण कर लेता है, वह अपने
जीवन में किन-किन विशिष्ट गुणों की उपलब्धि कर लेता है—इसी बात का संकेत*
शास्त्रकार इन पंक्तियों द्वारा करते हैं—'विरतोपणिहीसु……संकं कंखं निराकरेत्त
सद्दहते सासणं भगवतो अणियाणे अमूढमणवयणकायगुत्ते।' इन पंक्तियों का
आशय यह है कि जो साधक अन्तरंग और बाह्यरूप से परिग्रह से सर्वथा निर्लिप्त,
मुक्त और निरपेक्ष होना चाहता है, उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है कि वह एक बोल
से लेकर ३३ बोलों तक में बताई हुई बातों में से ज्ञेय को जाने, हेय को त्यागे और
उपादेय को जीवन में उतारे। इन तेतीस बोलों में से प्राणातिपात आदि जिन-जिन
पदार्थों से विरत होना है; उन्हें हेय समझ कर उनकी विरति में विशिष्ट एकाग्रता
प्राप्त करे, तथा दूसरी जिन-जिन बातों से विरत नहीं होना है उन्हें ज्ञेय या उपादेय
समझ कर उनमें प्रवृत्त हो जाय, तथा इन और इस प्रकार के बहुत-से मोक्षसाधक
स्थानों—बातों में, जो कि जिन भगवान् द्वारा प्रणीत समवायांगादि शास्त्रों में
प्रतिपादित हैं, सत्य हैं, शाश्वत हैं - त्रिकालसिद्ध सिद्धान्त रूप है, तथा द्रव्य भाव
रूप से अवस्थित हैं, उनमें शंका और कांक्षा (इहलौकिक पारलौकिक आदि से सम्बन्धित

---

[1]—इन ३३ बोलों का निरूपण समवायांग सूत्र, स्थानांगसूत्र (स्थान ९ सूत्र ३९३), उत्तराध्ययन सूत्र (अध्ययन ३१) तथा श्रमणसूत्र में भी है। समवायांग सूत्र में इन पर विस्तृत विवेचन भी मिलता है। जिज्ञासुजन वहीं से विस्तृत विवेचन अवगत करलें।

—संपादक

कीयकडपाहुडं च दाणट्ठ-पुन्नपगडं, समणवणीमगट्ठयाए वा कयं, पच्छाकम्मं, पुरेकम्मं, नितिकम्मं, मक्खियं, अतिरित्तं, मोहरं चेव सयग्गहमाहडं, मट्टिउवलित्त, अच्छेज्जं चेव अणिसट्ठं जं तं तिहोसु जन्नेसु ऊसवेसु य अंतो य बहिं व होज्ज समणट्ठयाए ठवियं, हिंसासावज्जसंपउत्तं न कप्पती तं पि य परिघेत्तुं ।

अह केरिसयं पुणाइ कप्पइ ? ज तं एक्कारसपिंडवायसुद्ध, किणण-हणण-पयण-कयकारियाणुमोयण-णवकोडीहिं सुपरिसुद्धं, दसहिं य दोसेहिं विप्पमुक्कं, उग्गम-उप्पायणेसणाए सुद्धं, ववगय-चुय-चविय-चत्तदेहं च फासुयं ववगयसंजोगमणिंगालं विगयधूमं छट्ठाणनिमित्तं छक्कायपरिरक्खणट्ठा हणि हणि फासुकेण भिक्खेण वट्टियव्वं । जं पि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायंके बहुप्पकारंमि समुप्पन्ने वाताहिकपित्तसिभअइरित्तकुविय तह सन्निवातजाते व उदयपत्ते उज्जलबलविउलकक्खड-पगाढदुक्खे असुह-कडुयफरुसे, चंडफलविवागे महब्भए जीवियंत-करणे, सव्वसरीरपरितावणकरे न कप्पइ तारिसे वि तह अप्पणो परस्स वा ओसहभेसज्ज भत्तपाणं च तंपि सन्निहिकयं, जंपि य समणस्स सुविहियस्स तु पडिग्गहधारिस्स भवति भायण-भंडोवहि-उवगरणं पडिग्गहो पादबंधण पादकेसरिया पादठवणं च पडलाइं तिन्नेव रयत्ताणं च गोच्छओ तिन्नेव य पच्छादा रयोहरण-चोलपट्टक-मुहणंतकमादीयं एयं पि य संजमस्स उववूहणट्ठयाए वायायवदंसमसगसीयपरिरक्खणट्ठयाए उवगरणं रागदोसरहियं परिहरियव्वं संजएण णिच्चं पडिलेहण-पप्फोडण-पमज्जणाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण होइ सततं निक्खिवियव्वं च गिण्हियव्वं च भायणभंडोवहिउवगरणं ।

संस्कृतच्छाया

यः स वीरवरवचनविरतिप्रविस्तरबहुविधप्रकारः, सम्यक्त्वविशुद्धमूलो, धृतिकंदो, विनयवेदिकस्त्रैलोक्य-निर्गतविपुलयशोनिविडपीनप्रवरसुजातस्कन्धः, पञ्चमहाव्रतविशालशालो, भावनात्वगन्तर्-ध्यानशुभयोगज्ञानपल्लववरांकुरधरो, बहुगुणकुसुमसमृद्धः, शीलसुगन्धोऽनाश्रवफलः पुनश्च मोक्षवरबीजसारो, मन्दरगिरिशिखरचूलिकेवा-स्य मोक्षवरमुक्तिमार्गस्य शिखरभूतः संवरवरपादपश्चरमं संवरद्वारम्।

यत्र न कल्पते ग्रामाकर-नगर-खेट-कर्बट-मडम्ब-द्रोणमुख-पत्तनाश्रमगतं च किंचिदल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा त्रसस्थावरकायद्रव्यजातं मनसाऽपि परिगृहीतुं, न हिरण्यसुवर्णक्षेत्रवास्तु, न दासीदासभृतकप्रेष्यहयगजगवेलकं च, न यानयुग्यशयनानि, न छत्रकं, न कुंडिका, न उपानहौ, न पेहुण (मयूर पिच्छ) व्यजन (वीजन) तालवृन्तकानि, न चापि अयस्त्रपुकताम्र-सीसक-कांस्य-रजत-जातरूप-मणि-मुक्ताधार पुटक शंखदन्तमणि शृंगशैलकाचवरचेलचर्मपात्राणि महार्हाणि, परस्याऽध्युपपातलोभजननानि परिकर्षयितुं (परिवर्द्धयितुं) गुणवतो, न चापि पुष्पफलकन्दमूलादिकानि सनसप्तदशकानि सर्वधान्यानि त्रिभिरपि योगैः परिगृहीतुं औषधभैषज्यभोजनार्थाय संयतेन। किं कारणम्? अपरिमितज्ञानदर्शनधरैः शीलगुणविनयतपःसंयमनायकैस्तीर्थङ्करैः सर्वजगज्जीववत्सलैस्त्रिलोकमहितैर्जिनवरेन्द्रैरेषा योनिः जङ्गमानां दृष्टा, न कल्पते योनिसमुच्छेद इति तेन वर्जयन्ति श्रमणसिंहाः, यदपि च ओदन-कुल्माष-गंज-तर्पण-मंथु-भ्रष्ट (धाने)-पललसूप - शष्कुलीवेष्टिमवरसरकचूर्णकोशकपिंडशिखरिणीवर्तक - (घनतोमन) मोदकक्षीरदधिसर्पिर्नवनीततैलगुडखण्डमत्स्यंडिकामधुमद्यमांसखाद्यव्यंजनविध्यादिकं प्रणीतं उपाश्रये परगृहे वाऽरण्ये न कल्पते तदपि सन्निधीकर्तुं सुविहितानाम्, यदपि चोद्दिष्टस्थापितरचितपर्यवजातं प्रकीर्णप्रादुष्करणापमित्यकं मिश्रकजातं क्रीतकृतप्राभृतं दानार्थपुण्यप्रकृतं, श्रमणवनीपकार्थतया वा कृतं पश्चात्कर्म पुरःकर्म नैत्यिकं म्रक्षितमतिरिक्तं मौखरं चैव स्वयंग्राहं आहृतं मृत्तिकोपलिप्तमाच्छेद्यं चैवानिसृष्टं यत्तत् तिथिषु यज्ञेषु उत्सवेषु चान्तर्बहिर्वा भवेत् श्रमणार्थं स्थापितं हिंसासावद्यसम्प्रयुक्तं न कल्पते तदपि च परिगृहीतुम्।

अथ कीदृशं पुन कल्पते ? यत्तद् एकादशपिंडपातशुद्धं क्रयण-हनन-पचन कृत-कारिताऽनुमोदन-नवकोटिभिः सुपरिशुद्धं, दशभिश्च दोषैर्विप्रमुक्तं, उद्गमोत्पादनैषणया शुद्धं व्यपगत-च्युत-च्यावित-त्यक्तदेहं च प्रासुकं, व्यपगतसंयोगमनंगारं विगतधूमं षट्स्थाननिमित्तं षट्कायपरि-रक्षणार्थं अहन्यहनि प्रासुकेन भैक्ष्येण वर्तितव्यम्, यदपि च श्रमणस्य सुविहितस्य तु रोगातंके बहुप्रकारे समुत्पन्ने वाताधिकपित्तश्लेष्माति-रिक्तकुपिते तथा सन्निपातजाते चोदयप्राप्ते उज्ज्वलबलविपुलकर्कशप्रगाढ़-दुःखेऽशुभकटुकपरुषे चण्डफलविपाके महाभये जीवितान्तकरणे सर्वशरीर-परितापनकरे न कल्पते तादृशेऽपि तथाऽऽत्मने परस्मै वा औषधभैषज्यं भक्तपानं च तदपि सन्निधीकृतम्। यदपि च श्रमणस्य सुविहितस्य तु पतद्ग्रहधारिणो भवति भाजन भांडोपध्युपकरणं पतद्ग्रहः पात्रबन्धनं पात्रकेसरिका पात्रस्थापनं पटलानि त्रीण्येव रजस्त्राणं च गोच्छकस्त्रय एव च प्रच्छादा रजोहरण-चोलपट्टकमुखानन्तकादिकं एतदपि च संयमस्योपबृंहणार्थं वातातप-दंशमशकशीतपरिरक्षणार्थतया उपकरणं रागद्वेषरहितं परिधर्तव्यं संयतेन नित्यम्, प्रतिलेखन (प्रत्युपेक्षण, प्रस्फोटन-प्रमार्जनायां अहोरात्रं अप्रमत्तेन भवति सततं निक्षेप्तव्यं च गृहीतव्यं च भाजनभांडोपध्युपकरणम्।

पदान्वयार्थ—(जो सो यह आगे कहा जाने वाला जो (चरिमं संवरदारं) अन्तिम—परिग्रहविरति अपरिग्रहवृत्तिरूप-संवरद्वार है, वह (संवरवरपादवो) संवर के रूप में श्रेष्ठ वृक्ष है। वह (वीरवरवयणविरतिपवित्थरबहुविहप्पकारो) श्री भगवान् महावीर स्वामी के श्रेष्ठ वचनों से कही गई परिग्रहनिवृत्ति ही उसका विस्तार (फैलाव) है तथा अनेक प्रकार के भेदों से युक्त है। (सम्मत्तविसुद्धमूलो) सम्यग्दर्शन ही उस अपरिग्रह वृक्ष की विशुद्ध जड़ है। (धितिकंदो) धैर्य—चित्त-स्वास्थ्य ही उसका कन्द है, स्कन्ध से नीचे का भाग है। (विणयवेइओ) विनय-नम्रता ही उसकी पार्श्ववेदिका चला है। (निग्गततिलोक्क विपुल-जसनिविड-पीण-पवर-सुजातखंधो) अपरिग्रह का तीनों लोकों में व्याप्त विस्तीर्ण यश ही उसका घना, स्थूल, महान् और सुनिष्पन्न स्कन्ध-तना है। (पंचमहव्वयविसालसालो) उसकी पंचम महाव्रत-रूप विशाल शाखायें हैं। (भावणतयंतज्झाण सुभजोगनाण पल्लववरं-कुरधरो) अनित्यत्वादि भावना ही उस अपरिग्रह वृक्ष की अन्तिम त्वचा—छाल है, तथा वह धर्मादि ध्यान, शुभयोग और ज्ञानरूप पत्तों और श्रेष्ठ अंकुरों को धारण

करने वाला है। (बहुगुण-कुसुम समिद्धो) निर्लोभता आदि शुभफलप्रद अनेक गुणों रूपी फूलों से यह अपरिग्रहवृक्ष समृद्ध है। (सीलसुगन्धो) शील—इहलौकिक फल-निरपेक्ष सदाचार या सत्प्रवृत्ति ही उसकी सुगन्ध है। (अणण्हयफलो) अनाश्रव – नये कर्मों का ग्रहण न करना—या आते हुए नव कर्मों का निरोधरूप संवर ही उसका फल है अथवा भगवद्वचन में स्थिति होना—आज्ञा पालन करना ही उसका फल है। (पुणो य) और फिर (मोक्खवरबीजसारो) उस अपरिग्रह वृक्ष का बीज मोक्ष के बीज—बोधिबीज रूप है, वही उसका मिंजारूप सार है, (मंदरगिरिसिहर-चूलिका इव इमस्स मोक्खवरमुत्तिमग्गस्स सिहरभूओ) मेरुपर्वत के शिखर की चोटी के समान उत्तम संपूर्णकर्मक्षयरूप भावमोक्ष पर जाने के लिए जो यह निर्लोभता (मुक्ति) रूप श्रेष्ठ मार्ग है, उसका शेखर भूत है।

(जत्थ) परिग्रह त्यागरूप अन्तिम संवरद्वार में (गामागर-नगर-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासमगयं) गांव, खान, नगर, धूल के कोट वाली बस्ती, कस्बा, मडम्ब—जिसके चारों ओर ढाई-ढाई योजन तक बस्ती न हो, बंदरगाह, महानगर या आश्रम में रखा हुआ (किंचि) कोई भी पदार्थ (अप्पं व) अल्पमूल्य अथवा (बहुं) बहुमूल्य (अणुं व थूलं) थोड़ा हो या ज्यादा, अथवा छोटा हो या बड़ा (तसथावर-काय दव्वजायं) शंखादि त्रसकायरूप तथा रत्नादि स्थावररूप सचेतन या अचेतन द्रव्यसमूह (मणसावि परिघेत्तुं) शरीर से तो दूर रहा, मन से भी ग्रहण करना (न कप्पई) उचित नहीं है। (हिरन्नसुवन्नखेत्तवत्थु) चांदी-सोना, क्षेत्र-खुली जमीन और मकान (ण) ग्रहण करना योग्य नहीं; (च) तथा (दासीदास भयकपेसहय-गय-गवेलगं) दासी-दास, नौकर-चाकर, घोड़ा, हाथी, सेना-रखना भी (न) योग्य नहीं (च) और (जाणजुग्गसयणाइ) गाड़ी, रथ आदि सवारियां, अथवा गोल्लदेश प्रसिद्ध जंपान विशेष तथा शयनीय पदार्थ लेना (न) योग्य नहीं है, (छत्तकं) छाता भी (न) लेना ठीक नहीं, (न कुंडिया) कमंडलु भी लेना उचित नहीं; (न पेहुणवीयण-तालियंटका) न मोरपिच्छ एवं बांस आदि का बना पंखा या ताड़ का पंखा लेना ठीक है। (ण यावि अय-तउय-तंब-सीसक-कंस-रयत-जातरूव-मणि-मुत्ताधार-पुडक-संख-दंत-मणि-सिंग-सेल-कायवरचेलचम्मपत्ताइं) और न ही लोहा, वंग, तांबा, सीसा, कांसा, चांदी, सोना, चन्द्रकान्तादि मणि, मोतियों का आधार पुटक—सीप, शंख, हाथीदांत, या हाथीदांत की बनी हुई मणि, सींग, पाषाण, उत्तम कांच-शीशा, कपड़ा और चमड़ा तथा इनके बने हुए पात्र—बर्तन ग्रहण करना ठीक है। तथा (महारिहाइं) बहुमूल्य वस्तुएं; जो (परस्स) दूसरे के (अज्झोववायलोभजणणाइं)

चित्त में ग्रहण करने की आतुरता तथा लोभ पैदा करने वाली हों, उन्हें (परिघट्टेउं) खींचना अपनी ओर झपटना, बढ़ाना या जतन से रखना (गुणवओ) मूलगुणादि से युक्त भिक्षु के लिए (न) उचित नहीं है। (न यावि) और न ही (संजएण) संयमी साधु को (ओसहभेसज्जभोयणट्ठाए) औषध, अनेक वस्तुओं से बनी हुई दवा-भेषज तथा भोजन के लिए (पुप्फफलकंदमूलादियाइं) फूल, फल, कंद और मूल, आदि को तथा (सणसत्तरसाइं सव्वधन्नाइं) जिनमें १७ वां धान्य सन है, ऐसे १७ प्रकार के सभी धान्यों -अनाजों का (तिहिंवि जोगेहिं) तीन योगों —मन वचन काया से (परिघेत्तुं) ग्रहण करना। (न) ठीक नहीं है। (किं कारणं ?) इसमें क्या कारण है ? (अपरिमियणाणदंसणधरेहिं) अनन्तज्ञान और अनन्त दर्शन के धारण करने वाले, (सीलगुण-विणय तवसंजमनायगेहिं) शील -समाधि, मूलगुण आदि, विनय, तप और संयम के नायक—मार्गदर्शक (सव्वजगज्जीव-वच्छलेहिं) सारे जगत् के जीवों के प्रति वात्सल्य से ओतप्रोत, (तिलोयमहिएहिं) तीनों लोकों के पूजनीय (जिणवरिन्देहिं) वीतरागों में श्रेष्ठ केवल ज्ञानियों के इन्द्र यानी तीर्थंकरों ने (एस) फूल, फल, धान्य आदि को (जगमाणं) त्रस जीवों की (जोणी) योनि —उत्पत्ति स्थान के रूप में (दिट्ठा) जाना—देखा है; (न कप्पइ जोणिसमुच्छेदोत्ति) अतः योनि का नाश करना उचित नहीं है, (तेण) इसी कारण से (समणसीहा) मुनिपुंगव (वज्जंति) पूर्वोक्त पुष्प आदि का ग्रहण करने का त्याग करते हैं। (य) और (ओवणकुम्मास-गंज- तप्पण-मंथु-भुज्जिय-पलल-सूप - सक्कुलिवेढिम-वरसरक-पिंड-सिह-रिणि-वट्ट-मोयग-खीर-दहि-सप्पि-नवनीत-तेल्ल-गुल-खंड-मच्छंडिय-मधु-मज्ज-मंस-खज्जक--वंजण-विधिमादिकं) भात—पके हुये चावल, उड़द अथवा लोभिया-चवला, गंज नामक भोज्य पदार्थ, सत्तू, बेर आदि की कुट्टी, भुने हुये या सेके हुये चने आदि अनाज, तिल की पिट्ठी अथवा तिलपपड़ी, मूंग आदि की दालें, पूड़ी अथवा तिल सांकली, वेढमी—एक प्रकार की मोटी चोकोर बनाई हुई रोटी, शक्कर के रस से भरे हुये गुलाबजामुन रसगुल्ला आदि; कचौरी, समोसा आदि --जिनमें दाल की पिट्ठी आदि भरी जाती है, गुड़ आदि का पिंड या शक्करमिला हुआ दही -श्रीखंड, दाल के बड़े, लड्डू, दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, गुड़, खांड, मिश्री, मधु, मद्य, मांस, खाजा, अनेक प्रकार के साग, चटनी, अचार, रायता आदि व्यंजन तथा पाकविधि से बने हुये सब भोज्य पदार्थ तथा (पणीयं, रसीले पौष्टिक भोज्य (जंपि) यद्यपि कुछ ग्रहण करने योग्य हैं, (तंपि) तथापि (उवस्सए) उपाश्रय—स्थानक में (परघरे व) या दूसरे घर में, (रन्नेव) अथवा जंगल में (सुविहियाणं) परिग्रहत्यागी

उत्तम साधुओं को (सन्निहि काउं) संग्रह करना या अपने पास संचित करके रखना (न कप्पति) उचित नहीं है। (जं पि य) तथा जो (उद्दिट्ठ-ठविय-रचियग-पज्जवजातं) साधु के उद्देश्य-निमित से गृहस्थ द्वारा बनाया गया, साधु के लिए मन में संकल्प करके अलग से रखा हुआ, लड्डू आदि के चूरे को आग में गर्म करके फिर से लड्डू आदि के रूप में बनाया गया, उद्दिष्ट वस्तु में दूसरी वस्तुएँ मिलाकर बनाया गया और भी कोई पदार्थ तथा (पकिण्ण-पाउकरण-पामिच्चं) भूमि पर बिखरते हुए लाया गया, दीपक जलाकर दिया गया, या उधार लेकर तैयार किया गया भोज्य पदार्थ, (मीसकजातं) साधु और गृहस्थ दोनों के मिलेजुले उद्देश्य से तैयार किया हुआ, (कीयकडपाहुडं) साधु के लिए खरीदा गया, साधु को भेंट रूप में दिया गया (व) अथवा (दाणट्ठ-पुन्न-पगडं) दान के लिए या पुण्य के लिए बनाया हुआ (समणवणीमगट्ठयाए वा कयं) निर्ग्रन्थ, बौद्ध, तापस, गैरिक और आजीविक इन पांचों में से किन्हीं श्रमणों के लिए तथा याचकों-भिखारियों के लिए बनाया गया भोज्य पदार्थ तथा(पच्छाकम्मं) भिक्षा देने के बाद सचित्त पानी से जगह, हाथ या बर्तन वगैरह धोना, (पुरेकम्मं) आहार देने से पहले जगह, हाथ या बर्तन आदि सचित्त पानी से धोना (नितिकम्मं) सदा एक ही घर से लिया जाने वाला आहार, (मक्खियं) सचित्त पानी के संसर्ग से युक्त दिया गया आहार, (अतिरित्तं) परिमाण से अधिक आहार (मोहरं चेव) भिक्षा लेने के पहले या पीछे दाता की प्रशंसा करने से या बहुत कहा सुनी करने पर प्राप्त आहार, (सयग्गहं) दाता के अभाव में इधर-उधर की बात करके या धर्माशीष देकर स्वयं लिया हुआ आहार (आहडं) साधु के सम्मुख लाया हुआ आहार, (मट्टिउवलित्तं) मिट्टी, गोबर आदि से लिप्त हाथ से दिया गया आहार, (अच्छेज्जं) नौकर आदि से जबरन छीनकर दिया गया आहार, (अणीसट्ठं) दाता का अपने अधिकार का न हो, ऐसा अनेक व्यक्तियों के अधिकार का दिया हुआ आहार और (जं तं) यदि यह आहारादि पदार्थ (तिहीसु) मदन-त्रयोदशी आदि तिथियों के मौके पर (जन्नेसु) यज्ञों के अवसर पर, (ऊसवेसु) उत्सवों के समय पर बनाया गया, (अंतो या बहिं य) उपाश्रय के अंदर या बाहर (समणट्ठयाए) साधु के लिए (ठवियं) रखा गया, (हिंसासावज्जसंपउत्तं) हिंसा तथा सावद्यकर्म से युक्त (होज्ज) हो, तो (तंपिय) वह सब आहारादि पदार्थ भी (परिघेत्तुं) साधु के ग्रहण करने (न कप्पति) योग्य नहीं है।

(अह पुणाइ) तो फिर (केरिसयं) कैसा आहारादि (कप्पति) साधु के ग्रहण करने योग्य है? (जं तं) जो आहारादि (एक्कारस पिंडवायसुद्धं) आचारांग सूत्र के

ीय श्रुत स्कन्ध के पिंडैषणा नामक प्रथम अध्ययन के ग्यारह उद्देशों में वर्णित
ों से रहित-शुद्ध हो, (किणण-हणण-पयण-कारियाणुमोयणनवकोडीहिं
रिसुद्धं) मूल्यादि से खरीदना, शस्त्रादि से छेदन द्वारा प्राणिहिंसा से उत्पन्न करना,
ग्न से पकाना, इन तीनों कार्यों का करना, कराना और अनुमोदन करना, इस
ार ९ कोटियों से रहित-विशुद्ध हो, (य) तथा (दसहि दोसेहिं विप्पमुक्कं) शंकित
दि दस दोषों से रहित हो, (उग्गमउप्पायणेसणाए सुद्धं) आधाकर्म आदि १६
गम के, धात्री आदि १६ उत्पादना के दोषों से, आहारादि की गवेषणा से शुद्ध हो
) तथा (ववगयचयचावियचत्तदेहं) चेतनपर्याय से अचेतनत्व को प्राप्त आयुक्षय होने
कारण जीवनादि क्रिया से रहित किया गया, स्वयं जीवों के द्वारा छोड़ दिया गया,
ासुयं) प्रासुक आहार तथा (ववगयसंजोगं, विगयधूमं) संयोजना के दोष से रहित,
 दोष से रहित आहार (छट्ठाणनिमित्तं) क्षुधावेदनानिवृत्ति व वैयावृत्य आदि के छह
मित्त से (छक्कायपरिरक्खणट्ठा) छह काय के जीवों की रक्षा के लिए साधु को
णिहणि) प्रतिदिन (फासुकेण भिक्खेण वट्टियव्वं) प्रासुक भिक्षान्न पर निर्वाह
ना चाहिए। (जं पिय) और जो (सुविहियस्स समणस्स) शास्त्रविहित आचरण
ने वाले साधु के, (बहुप्पकारम्मि रोगायंके) बहुत प्रकार के अत्यन्त कष्टप्रद रोग के
पन्न होने पर (वाताहिकपित्तसिभअतिरित्तकुविय,तहसन्निपातजाते) वायु की अधिकता से,
त तथा कफ के अत्यन्त कुपित हो जाने से तथा वात-पित्त-कफ तीनों के संयोग से उत्पन्न
न्निपातजन्य रोग के (समुप्पन्ने) उत्पन्न हो जाने पर (व) अथवा (असुभकडुयफरुसे
डफलविवागे) अशुभ, कटुक और कठोर प्रचंड-भयंकर फलभोगरूप विपाक वाले
उज्जल-बल-विउल-कक्खड-पगाढ-दुक्खे) सुख के लेश से रहित, प्रबल, चिरकाल तक
दन किये जाने वाले, अतएव कर्कश द्रव्य की तरह चुभने वाले प्रगाढ दु.ख के (उदय
ते) उदय में आने पर (जीवियंतकरणे) जीवन का अन्त करने वाले (सव्वसरीर-
रितावणकरे) सारे शरीर में सन्ताप उत्पन्न करने वाले (तारिसे महब्भए अवि)
से महान् भय के उपस्थित होने पर भी (तह) तथा (अप्पणो परस्स वा) अपने
 दूसरे के लिए (ओसहभेसज्जं) औषध और भैषज (च) और (भत्तपाणं) भोजनपान
ंपि) वह भी साधु को (सन्निहि-कयं) अपने पास संग्रह करके रखना (न कप्पइ)
ोग्य नहीं है। (जंपिय) और जो कि (सुविहियस्स पडिग्गहधारिस्स समणस्स)
ास्त्रविहित आचरण करने वाले पात्रधारी श्रमण के (भायणभंडोवहिउवकरणं)
ाठ के पात्र, मिट्टी के पात्र—वर्तन, रजोहरण आदि उपकरण जैसे कि—(पडिग्गहो) पात्र,
ादबंधणं) पात्र बांधने की झोली, (पादकेसरिया) पात्रकेसरी - पात्र प्रमार्जनी

पोत्तिका, (पायठवणं) जिस कंबल के टुकड़े में पात्र रखे जाते हैं, वह पात्रस्थापन, (च) और (पडलाइं) भिक्षा के समय पात्रों को ढकने के वस्त्रखण्ड—पल्ले, (तिन्नेव) कम-से-कम तीन तो होते ही हैं, (च) और (रयत्ताणं) पात्रों की धूल से रक्षा करने के लिए पात्रों पर लपेटने का रजस्त्राण नामक वस्त्रखण्ड, (गोच्छओ) पात्र और वस्त्र प्रमार्जन करने का गोच्छक नाम का कंबलखंड (च) तथा (तिन्नेव) तीन ही (पच्छावा) शरीर पर ओढने के वस्त्र-चादरें, दो सूती एक ऊनी; (रयोहरण-चोल-पट्टक-मुहणंतकमादीयं) रजोहरण, चोलपट्टा एवं मुखवस्त्रिका इत्यादि (उवगरणं) उपकरण हैं। (एयंपि) ये सभी (संजमस्स उववूहणट्ठयाए संयम की वृद्धि-रक्षा के लिए (वायायवदेस-मसग-सीय-परिरक्खणट्ठयाए) हवा, धूप, डांस, मच्छर और ठंड से शरीर की रक्षा करने के लिए (संजएणं) साधु को (णिच्चं) प्रतिदिन (रागदोस-रहियं) राग-द्वेष से रहित होकर (परिहरियव्वं) धारण करने चाहिए। (च) तथा उनके (पडिलेहण-पप्फोडण-पमज्जणाए) प्रतिलेखन करने, झटकने एवं प्रमार्जन करने में (अहो य राओ य) दिन और रात (अप्पमत्तेण) प्रमाद से रहित होकर साधु को (भायण-भंडोवहि - उवगरणं) काष्ठ पात्र, मिट्टी आदि के बर्तन तथा अन्य उपकरण (सततं) निरन्तर (निक्खियव्वं) रखना, (च) और (गिण्हियव्वं) ग्रहण करना (भवति) होता है।

मूलार्थ—जो यह आगे कहा जाएगा, वह अन्तिम-परिग्रहनिवृत्ति-अपरिग्रहवृत्तिरूप संवरद्वार—संवर श्रेष्ठ वृक्ष है। श्री भगवान् महावीर के श्रेष्ठ वचनों से कही हुई अनेक प्रकार से परिग्रहनिवृत्ति ही उस अपरिग्रह वृक्ष का विस्तार-फैलाव है। सम्यक्त्व ही उस वृक्ष का मूल है, धृति ही उसका कन्द यानी स्कन्ध से नीचे का भाग है, विनय ही उसकी वेदिका है। तीनों लोकों में व्याप्त विस्तीर्ण यश ही उसका घना, स्थूल महान् और सुनिष्पन्न स्कन्ध-तना है। पांच महाव्रत ही उसकी विशाल शाखाएँ हैं, अनित्यत्व आदि भावनाएँ ही उस अपरिग्रह वृक्ष की त्वचा-छाल है। वह अपरिग्रह वृक्ष धर्मादि शुभध्यान, प्रशस्त योगत्रय और ज्ञानरूप पत्तों एवं अंकुरों को धारण करने वाला है। शील ही उसकी शोभा है। आश्रव का अभाव अर्थात् संवरण ही उसका फल है, मोक्ष का बीज बोधि ही उस वृक्ष का बीजसार है—बीज के अन्दर की मींगी है। मेरुपर्वत के शिखर की चोटी के समान यह मोक्ष के निर्लोभतारूपी श्रेष्ठ मार्ग का शिखर है।

जिस परिग्रहत्यागरूप अन्तिम संवर द्वार में गांव, खान, नगर, खेट (धूल के कोट) वाली बस्ती, कस्बा, मडम्ब, बन्दरगाह, विशाल नगर या आश्रम में प्राप्त हुए किसी भी अल्पमूल्य या बहुमूल्य, छोटे या बड़े, सचेतन या अचेतन, दांत आदि त्रस काय के तथा रत्नादि स्थावर काय के सामान्य द्रव्यसमूह तथा सोना, चांदी, खेत और मकान ग्रहण करना योग्य नहीं है। दासी, दास, नौकर चाकर, घोड़ा, हाथी, बकरा तथा रथादि वाहन अथवा गोल्लदेश प्रसिद्ध जम्पान (पालकीविशेष) तथा शय्या का ग्रहण करना भी ठीक नहीं है। न छाता ग्रहण करना चाहिए, न कमंडलु। न जूते खड़ाऊं आदि ग्रहण करने चाहिएं और न ही मोरपिच्छ, बांस आदि का पंखा तथा ताड़ का पंखा ही ग्रहण करना उचित है। तथा न ही लोहा, बंग, तांबा, सीसा, कांसा, चांदी, सोना, मणि, मोती या मोती का आधार-पुटक-सीप, शंख, हाथीदांत, हाथीदांत का बना हुआ मणि, सींग, पाषाण, उत्तम कांच, कपड़ा, चमड़ा अथवा इन सबके बने हुए पात्र तथा दूसरों के चित्त में लेने की उत्कण्ठा और लोभ पैदा करने वाली इसी तरह की अन्य बहुमूल्य वस्तुओं का ग्रहण करना, झपट लेना अथवा उसकी वृद्धि या रक्षा करना मूल गुण आदि से विभूषित अपरिग्रही साधु के लिए उचित नहीं है। संयमी साधु को औषध, भैषज्य (अनेक वस्तुओं के संयोग से बनी हुई दवा) तथा भोजन के लिए फूल, फल, कंद, मूल आदि तथा जिनमें सन नामक धान्य सतरहवां है, ऐसे सभी प्रकार के अनाजों का मन-वचन-कायरूप तीनों योगों से ग्रहण करना ठीक नहीं है।

प्रश्न होता है कि ऐसा न करने का क्या कारण है? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—अनन्तज्ञान और अनन्त-दर्शन के धारक, शील (सदाचार या समाधि), मूल गुणादि, विनय, तप और संयम के नायक—मार्गदर्शक, सारे जगत् के प्रति वात्सल्य रखने वाले, त्रिलोकपूज्य, केवल ज्ञानियों के इन्द्र तीर्थंकरों ने उक्त फूल, फल, धान्य आदि को त्रसजीवों की योनि के रूप में देखा है; *योनि का नाश करना उचित नहीं है,* इसी कारण श्रमणसिंह उन फल-फूल आदि का त्याग करते हैं। और जो भात, उड़द या लोभिया (चंवला), अथवा खिले हुए मूंग आदि, गंज नामक भोज्यविशेष, सत्तू, बेर आदि की कुट्टी-चूर्ण, भुने हुए या सेके हुए चने आदि अनाज, तिल की कुट्टी-

पिट्ठी, मूंग आदि की दाल, पूड़ी या तिल पपड़ी, वेढ़मी नामक चोकोर रोटी या मिस्सी रोटी, शक्कर के रस से भरे हुए गुलाब-जामुन, रसगुल्ला आदि, जिनके अन्दर बेसन आदि भरा जाता है, ऐसे कचौरी, समोसे आदि पदार्थ, गुड़ आदि का पिंड, शक्कर मिला हुआ दही—श्रीखंड, दाल के बड़े, लड्डू, खीर, दही, घी, मक्खन, तेल, गुड, खांड़, मिश्री, शहद, मद्य, मांस, खाजे, अनेक प्रकार के साग, चटनी, रायता, अचार आदि व्यंजन तथा स्वादिष्ट पौष्टिक पदार्थ; विधिपूर्वक बढ़िया तरीके से बनाए हुए कुछ भोज्य पदार्थ उचित होने से ग्राह्य हैं; तथापि उपाश्रय-स्थानक में या दूसरे मकान में अथवा जंगल में शास्त्रविहित आचरण करने वाले साधुओं को इन्हें अपने पास संग्रह करके रखना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त जो आहार साधु को उद्देश्य करके बनाया गया है, साधु के लिए ही अलग से रखा गया है, मोदक के चूरे से लड्डू बांधकर साधु के लिए तैयार किया गया है, उद्दिष्ट भोजन या भात आदि एक चीज को दही आदि दूसरी चीज के साथ मिलाकर रूपान्तर किया हुआ, भूमि पर बिखरता हुआ, दीपक जलाकर दिया जाने वाला, उधार लेकर तैयार किया गया, साधु और गृहस्थ दोनों के लिए संयुक्त रूप में तैयार किया गया, साधु के निमित्त खरीदा गया, साधु को भेंट के रूप में दिया जाने वाला अथवा दान के लिए, पुण्य के लिए बनाया गया, अथवा बौद्ध आदि श्रमणों तथा याचकों के लिए बनाया गया भोजन तथा जिस आहार के देने के बाद सचित्त पानी से हाथ या बर्तन धोने पड़ें, या दान देने के पूर्व हाथ आदि सचित्त पानी से धोने पड़ें, जो आहार नित्य एक ही घर से लिया जाता हो, सचित्त पानी आदि के संसर्ग से युक्त भोजन, मात्रा से अधिक भोजन, आहार लेने के पूर्व या पश्चात् दाता की प्रसंसा करके या बहुत कहासुनी करके प्राप्त किया गया आहार, मिट्टी तथा गोबर आदि से लिप्त हाथों से दिया गया आहार, तथा नौकर आदि दुर्बल से छीनकर दिया गया आहार, एक व्यक्ति द्वारा अनेक व्यक्तियों के अधिकार का दिया जाने वाला आहार, तथा मदनत्रयोदशी आदि तिथियों में, यज्ञों में, उत्सवों में–खुशियों के मौकों पर या यात्राओं में–मेलों ठेलों में उपाश्रय के अंदर या कहीं बाहर साधु के लिए रखा गया हिंसा तथा सावद्य कर्मों से युक्त आहारादि हो, उसे भी ग्रहण करना साधु के लिए वर्जनीय है।

प्रश्न होता है, तो फिर कौन-सा आहारादि पदार्थ साधु को लेना

अपेक्षित है ? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—जो आहारादि पदार्थ आधाकर्मादि उद्गमादि उत्पादनादि के निरीक्षण सहित प्रथम अध्ययन में बताए गए उद्गम के सोलह दोषों से रहित होने से शुद्ध हो, वह साधु के लिए ग्राह्य है, तथा बालक का पालन, दूती बनकर सन्देश ले जाना, अग्नि में पकाना; इन तीनों कार्यों को स्वयं करना, दूसरों से करवाना और करते हुए को अनुमोदन करना, इस प्रकार नौ कोटि के दोषों से रहित जो शुद्ध आहार हो, तथा शंकित आदि दस दोषों से युक्त न हो तथा कर्मी आदि सोलह उद्गम के तथा धात्री आदि सोलह उत्पादन के दोषों से रहित आहार की गवेषणा से प्राप्त विशुद्ध भोजन ही साधु के लिए ग्राह्य है। तथा जो आहार अग्नि से अचित्त हो चुका है, जीव के संसर्ग से रहित है, अपरिणत होने से जीवों के द्वारा छुआ है या छुआया हुआ है, या जीवों ने जिसे छोड़ दिया है, ऐसा प्रासुक आहार साधु के ग्रहण करने योग्य है। जो आहार संयोजनादोष से रहित हो, अंगार दोष से निर्मुक्त हो, धूमदोष से रहित हो, वह भी साधु के लिए ग्राह्य होता है। क्षुधावेदना को मिटाने तथा वैयावृत्य आदि छह कारणों के होने से षट्काय के जीवों की रक्षा के लिए साधु को परिमित प्रासुक भिक्षान्न पर ही निर्वाह करना चाहिए।

शास्त्रोक्तविधिपूर्वक आचरण करने वाले श्रमण के शरीर में अनेक प्रकार का ज्वर आदि भयानक कष्टप्रद रोग उत्पन्न हो जाने पर, वात की अधिकता से, पित्त और कफ के अत्यन्त कुपित हो जाने पर तथा वात-पित्त-कफ, तीनों के संयोग से सन्निपातजन्य व्याधि के उत्पन्न होने पर, तथा सुख के लेश से दूर, प्रबल-वचन से बोलने योग्य, विस्तार एवं अनुभव किये जाने वाले, अत एव कर्कश शब्द के समान अनिष्ट गाढ़ दुःख के उदय होने पर अशुभ, कटु और कठोर, भयंकर दारुण फल को भुगाने वाले, जीवन का अन्त करने वाले तथा सारे शरीर में असह्य संताप पैदा करने वाले महान् भय के उपस्थित होने पर भी अचित्त बना हुआ औषध, भैषज्य, आहार-पानी हो, तो भी अपने या दूसरे के लिए संचित करके पात्र में रखना शास्त्रीय विधि से युक्त नहीं है। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार चलने वाले पात्रधारी साधु के लिए जो काष्ठ पात्र, मिट्टी के बर्तन या रजोहरण, वस्त्र आदि उपकरण विहित है, जैसे कि—

पिट्ठी, मूंग आदि की दाल, पूड़ी या तिल पपड़ी, वेढ़मी नामक चोकोर रोटी या मिस्सी रोटी, शक्कर के रस से भरे हुए गुलाब-जामुन, रसगुल्ला आदि, जिनके अन्दर वेसन आदि भरा जाता है, ऐसे कचौरी, समोसे आदि पदार्थ, गुड़ आदि का पिंड, शक्कर मिला हुआ दही—श्रीखंड, दाल के वड़े, लड्डू खीर, दही, घी, मक्खन, तेल, गुड, खांड, मिश्री, शहद, मद्य, मांस, खाजे, अनेक प्रकार के साग, चटनी, रायता, अचार आदि व्यंजन तथा स्वादिष्ट पौष्टिक पदार्थ; विधिपूर्वक बढ़िया तरीके से बनाए हुए कुछ भोज्य पदार्थ उचित होने से ग्राह्य हैं; तथापि उपाश्रय-स्थानक में या दूसरे मकान में अथवा जंगल में शास्त्रविहित आचरण करने वाले साधुओं को इन्हें अपने पास संग्रह करके रखना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त जो आहार साधु को उद्देश्य करके बनाया गया है, साधु के लिए ही अलग से रखा गया है, मोदक के चूरे से लड्डू बांधकर साधु के लिए तैयार किया गया है, उद्दिष्ट भोजन या भात आदि एक चीज को दही आदि दूसरी चीज के साथ मिलाकर रूपान्तर किया हुआ, भूमि पर बिखरता हुआ, दीपक जलाकर दिया जाने वाला, उधार लेकर तैयार किया गया, साधु और गृहस्थ दोनों के लिए संयुक्त रूप में तैयार किया गया, साधु के निमित्त खरीदा गया, साधु को भेंट के रूप में दिया जाने वाला अथवा दान के लिए, पुण्य के लिए बनाया गया, अथवा बौद्ध आदि श्रमणों तथा याचकों के लिए बनाया गया भोजन तथा जिस आहार के देने के बाद सचित्त पानी से हाथ या बर्तन धोने पड़ें, या दान देने के पूर्व हाथ आदि सचित्त पानी से धोने पड़ें, जो आहार नित्य एक ही घर से लिया जाता हो, सचित्त पानी आदि के संसर्ग से युक्त भोजन, मात्रा से अधिक भोजन, आहार लेने के पूर्व या पश्चात् दाता की प्रसंसा करके या बहुत कहासुनी करके प्राप्त किया गया आहार, मिट्टी तथा गोवर आदि से लिप्त हाथों से दिया गया आहार, तथा नौकर आदि दुर्बल से छीनकर दिया गया आहार, एक व्यक्ति द्वारा अनेक व्यक्तियों के अधिकार का दिया जाने वाला आहार, तथा मदनत्रयोदशी आदि तिथियों में, यज्ञों में, उत्सवों में—खुशियों के मौकों पर या यात्राओं में—मेलों ठेलों में उपाश्रय के अंदर या कहीं बाहर साधु के लिए रखा गया हिंसा तथा सावद्य कर्मों से युक्त आहारादि हो, उसे भी ग्रहण करना साधु के लिए वर्जनीय है।

प्रश्न होता है, तो फिर कौन-सा आहारादि पदार्थ साधु को लेना

शोधन है ? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—जो आहारादि पदार्थ आधाकर्म कृत, औद्देशिक, पूतिकर्म से मिश्रजात आदि प्रथम अनन्तर के उद्गम के दोषों से वर्जित दोषों से रहित होने से शुद्ध हो, वह साधु के लिए ग्राह्य है. जैसे सचित्त का त्याग, अग्नि दिशा में तैयार करना, अग्नि में पकाना; इन दोषों आदि को स्वयं करना, दूसरों से करवाना और करते हुए को अनुमोदन करना. इस प्रकार जो कोटि के दोषों से रहित जो शुद्ध आहार हो, तथा शंकित आदि दस दोषों से युक्त एवं अगार धर्म आदि सोलह उद्गम के तथा धात्री आदि सोलह उत्पादन के दोषों से रहित आहार की गवेषणा से प्राप्त विशुद्ध भोजन ही साधु के लिए ग्राह्य है। तथा जो आहार शस्त्र से अचित्त हो चुका है, जीवन के लक्षणों से रहित है, आयुष्य क्षय होने से जीवों के द्वारा च्युत है या च्यावित हुआ है, या जीवों ने जिसे स्वयं छोड़ दिया है, ऐसा प्रासुक आहार साधु के ग्रहण करने योग्य है। जो आहार संयोजनादोष से रहित हो, अंगार दोष से निर्मुक्त हो, धूमदोष से रहित हो, वह भी साधु के लिए ग्राह्य होता है। क्षुधावेदना की निवृत्ति तथा वैयावृत्य आदि छह कारणों के योग से छह काय के जीवों की रक्षा के लिए साधु को प्रतिदिन प्रासुक भिक्षा पर ही निर्वाह करना चाहिए।

शास्त्रोक्तविधिपूर्वक आचरण करने वाले श्रमण के शरीर में अनेक प्रकार का ज्वर आदि भयंकर कष्टप्रद रोग उत्पन्न हो जाने पर, वात की अधिकता से, पित्त और कफ के अत्यन्त कुपित हो जाने पर तथा वात-पित्त-कफ तीनों के संयोग से सन्निपातजन्य व्याधि के उत्पन्न होने पर, तथा सुख के लेश से शून्य, प्रबल कष्ट से भोगने योग्य, निरन्तर कष्ट अनुभव किये जाने वाले, अत एव कर्कश द्रव्य के समान अनिष्ट महादुःख के उदय होने पर अशुभ, कटु और कठोर अत्यन्त दारुण फल को भुगाने वाले, जीवन का अन्त करने वाले तथा सारे शरीर में अत्यन्त संताप पैदा करने वाले महान् भय के उपस्थित होने पर भी अभिमंत्रित बना हुआ औषध, भेषज, आहार-पानी हो, तो भी अपने या दूसरे के लिए संचित करके पास में रखना शास्त्रीय विधि से युक्त नहीं है। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार चलने वाले पात्रधारी साधु के लिए जो काष्ठ पात्र, मिट्टी के पात्र या रजोहरण, वस्त्र आदि उपकरण विहित हैं, जैसे कि—

पात्र, पात्र बांधने की झोली, पात्र केसरिका—पात्रप्रमार्जनी पोत्तिका, पात्र रखने का कम्बल का टुकड़ा, भिक्षा के अवसर पर पात्रों के ढकने के तीन वस्त्र खण्ड—पल्ले, पात्रों को धूल से बचाने के लिए उनके चारों ओर लपेटा जाने वाला वस्त्र, पात्र प्रमार्जन करने का कम्बलखण्ड, दो सूती और एक ऊनी—यों तीन चादरें शरीर पर ओढ़ने के लिए, रजोहरण, चोल पट्टा और मुखवस्त्र इत्यादि उपकरण हैं। ये सब उपकरण भी संयम की वृद्धि या पुष्टि के लिए तथा हवा, धूप, डांस, मच्छर और ठंड से अपनी रक्षा के लिए हैं। संयमी साधु को इन्हें रागद्वेष से रहित होकर धारण करना चाहिए। साधु को प्रतिदिन इनका प्रतिलेखन, प्रस्फोटन—(झटकना) तथा प्रमार्जन करते हुए इन पात्र, भाण्ड तथा उपकरणों को रातदिन सतत अप्रमत्त (सावधान) होकर रखना और लेना—उठाना चाहिए।

व्याख्या

पूर्वोक्त सूत्रपाठ में खासतौर से अन्तरंग परिग्रह से निवृत्ति के लिए एक बोल से लेकर तेतीस बोल तक के शिक्षावचनों का प्रतिपादन शास्त्रकार ने किया था। अब इस सूत्रपाठ में अपरिग्रहवृत्ति का माहात्म्य एवं उसकी साधना के लिए सहायक गुणों का निरूपण करते हुए अपरिग्रह वृत्ति की साधना के लिए किन-किन कल्पनीय वस्तुओं को ग्रहण करना योग्य है तथा किन-किन कल्पनीय वस्तुओं को भी किस हालत में ग्रहण करना उचित नहीं है और किस हालत में उचित है? इस प्रकार बाह्यपरिग्रह भाव से मुक्त या निर्लिप्त रहने का स्पष्ट विवेक बताया है।

जब तक साधक के दिल-दिमाग में यह बात भली भांति जम न जाय कि अपरिग्रह वृत्ति से साधुजीवन कितना शान्त, निश्चिन्त, भाररहित, स्वपरकल्याण-साधना में उपयोगी, आत्मिकसुख सम्पन्न, निरपेक्ष, निःस्पृह, आकांक्षारहित एवं निर्द्वन्द्व बन जाता है; तब तक वह सहसा अपरिग्रहसंवर के उपाय में प्रवृत्त नहीं होगा। यदि श्रद्धावश प्रवृत्त हो भी गया तो आगे चल कर संसार के विविध लुभावने प्रलोभनों, आकर्षणों या इन्द्रियविषयों के मायाजाल में फंस कर बाहर से अपरिग्रही वेष रखकर भी अन्दर ही अन्दर परिग्रही बना रहेगा, दम्भ करके स्वपरवंचना करता रहेगा। इसी हेतु से शास्त्रकार ने सर्वप्रथम अपरिग्रहसंवरद्वार के पांचों प्रकार के संवरों में श्रेष्ठ वृक्ष की सांगोपांग उपमा दी है।

अपरिग्रहसंवर : श्रेष्ठ संवरवृक्ष—संसार में वृक्ष ही एक ऐसा पदार्थ है, जो जीवों की जीवनशक्ति का पोषण करता हुआ, समस्त इन्द्रियविषयों की पूर्ति

करता है। साथ ही स्वयं सर्दी, गर्मी, वर्षा और आफतें सहकर पथिकों को छाया देने वाला, पक्षियों को बसेरा देने वाला, अपने फल, फूल, पत्तों आदि से तथा अपने जीवनरस से अनेकों प्राणियों को जीवनदान देने वाला उपकारी वृक्ष ही होता है। वह मान-अपमान में भी सहिष्णु बना रहता है। इसी कारण शास्त्रकार ने अपरिग्रह-संवर को भी संवर के महावृक्ष की उपमा दी है।

अपरिग्रहसंवर रूपी श्रेष्ठ वृक्ष के अंगोपांग तथा उसका क्रियाकलाप इस प्रकार है—

जिस वृक्ष का जितना अधिक विस्तार—फैलाव होता है, वह उतना ही अधिक छायादार एवं शान्तिदायक बनता है—इस दृष्टि से अपरिग्रहसंवरवृक्ष के फैलाव का कथन किया है। भगवान् महावीर के प्रवचनों से उत्पन्न होने वाले विविध क्षयोपशम आदि अनेक भावों से मन में परिग्रह से विरक्ति हो जाती है तो साधक के मन में अनेक प्रकार के त्याग, नियम, प्रत्याख्यान और तप के शुभ विचार उठते हैं। यही अपरिग्रहवृक्ष का फैलाव है। अपरिग्रहवृक्ष की जड़ है—सम्यग्दर्शन। क्योंकि वीतराग अपरिग्रही देव, मार्गदर्शक गुरु और धर्म इन तीनो के प्रति दृढ़ श्रद्धा हुए बिना अपरिग्रहवृक्ष टिक नही सकता। अतः सम्यक्त्व पर ही अपरिग्रहवृक्ष अपनी जड़ जमाए हुए है। धैर्य—चित्त की स्वस्थता ही इसका कन्द है, स्कन्ध का अधोभाग है। चित्त की स्वस्थता के बिना अपरिग्रहवृत्ति स्थायी रूप से पनप नही सकती। वृक्ष के चारों ओर वेदिका–थला बना देने से उसकी सुरक्षा बढ़ जाती है। यहाँ अपरिग्रहवृक्ष की वेदिका विनय है। विनय के बिना अर्थात् अपरिग्रहवृत्ति रूप आचार के प्रति घृणा और अनादर-बुद्धि या उपेक्षा पैदा होगी, तो उस वृक्ष की सुरक्षा नहीं हो सकेगी। इसलिए अपरिग्रहवृक्ष की सुरक्षा के लिए विनयवेदिका अनिवार्य है। अपरिग्रहसंवर दिलोजान से अपनी साधना करने वाले साधक को सर्वत्र प्रसिद्ध कर देता है, उसके नाम और कार्यों का डंका भूमण्डल में बज जाता है। इसलिए तीनों लोकों में व्याप्त विस्तीर्ण यश ही अपरिग्रहवृक्ष का विशाल, घना, स्थूल और सुन्दर स्कन्ध है। पांचों महाव्रत इसकी विशाल शाखाएँ हैं। वास्तव में अपरिग्रहवृत्ति आ जाने पर अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य सहजरूप से जीवन में आ जाते हैं। इसलिए ये शाखाएँ बन कर अपरिग्रहवृक्ष को मजबूत बनाते हैं। अनित्यत्व आदि १२ भावनाएँ इस अपरि-ग्रहवृक्ष की छाल है। जैसे छाल वृक्ष के शरीर की रक्षा करती है, सर्दी गर्मी आदि से बचाव करती है, वैसे ही अनित्यादि भावनाएँ साधक के अपरिग्रही-जीवन में उत्साह, स्फूर्ति, श्रद्धा, रुचि और तीव्रता भरकर कठिन कष्टकर प्रसंगों के

पात्र, पात्र बांधने की झोली, पात्र केसरिका—पात्रप्रमार्जनी पोत्तिका, पात्र रखने का कम्बल का टुकड़ा, भिक्षा के अवसर पर पात्रों के ढकने के तीन वस्त्र खण्ड—पल्ले, पात्रों को धूल से बचाने के लिए उनके चारों ओर लपेटा जाने वाला वस्त्र, पात्र प्रमार्जन करने का कम्बलखण्ड, दो सूती और एक ऊनी—यों तीन चादरें शरीर पर ओढ़ने के लिए, रजोहरण, चोल पट्टा और मुखवस्त्र इत्यादि उपकरण हैं। ये सब उपकरण भी संयम की वृद्धि या पुष्टि के लिए तथा हवा, धूप, डांस, मच्छर और ठंड से अपनी रक्षा के लिए हैं। संयमी साधु को इन्हें रागद्वेष से रहित होकर धारण करना चाहिए। साधु को प्रतिदिन इनका प्रतिलेखन, प्रस्फोटन—(झटकना) तथा प्रमार्जन करते हुए इन पात्र, भाण्ड तथा उपकरणों को रातदिन सतत अप्रमत्त (सावधान) होकर रखना और लेना—उठाना चाहिए।

व्याख्या

पूर्वोक्त सूत्रपाठ में खासतौर से अन्तरंग परिग्रह से निवृत्ति के लिए एक बोल से लेकर तेतीस बोल तक के शिक्षावचनों का प्रतिपादन शास्त्रकार ने किया था। अब इस सूत्रपाठ में अपरिग्रहवृत्ति का माहात्म्य एवं उसकी साधना के लिए सहायक गुणों का निरूपण करते हुए अपरिग्रह वृत्ति की साधना के लिए किन-किन कल्पनीय वस्तुओं को ग्रहण करना योग्य है तथा किन-किन कल्पनीय वस्तुओं को भी किस हालत में ग्रहण करना उचित नहीं है और किस हालत में उचित है ? इस प्रकार बाह्यपरिग्रह भाव से मुक्त या निर्लिप्त रहने का स्पष्ट विवेक बताया है।

जब तक साधक के दिल-दिमाग में यह बात भली भांति जम न जाय कि अपरिग्रह वृत्ति से साधुजीवन कितना शान्त, निश्चिन्त, भाररहित, स्वपरकल्याण-साधना में उपयोगी, आत्मिकसुख सम्पन्न, निरपेक्ष, निःस्पृह, आकांक्षारहित एवं निर्द्वन्द्व बन जाता है ; तब तक वह सहसा अपरिग्रहसंवर के उपाय में प्रवृत्त नहीं होगा। यदि श्रद्धावश प्रवृत्त हो भी गया तो आगे चल कर संसार के विविध लुभावने प्रलोभनों, आकर्षणों या इन्द्रियविषयों के मायाजाल में फंस कर बाहर से अपरिग्रही वेष रखकर भी अन्दर ही अन्दर परिग्रही बना रहेगा, दम्भ करके स्वपरवंचना करता रहेगा। इसी हेतु से शास्त्रकार ने सर्वप्रथम अपरिग्रहसंवरद्वार के पांचों प्रकार के संवरों में श्रेष्ठ वृक्ष की सांगोपांग उपमा दी है।

अपरिग्रहसंवर : श्रेष्ठ संवरवृक्ष—संसार में वृक्ष ही एक ऐसा पदार्थ है, जो जीवों की जीवनशक्ति का पोषण करता हुआ, समस्त इन्द्रियविषयों की पूर्ति

करता है। साथ ही स्वयं सर्दी, गर्मी, वर्षा और आफतें सहकर पथिकों को छाया देने वाला, पक्षियों को बसेरा देने वाला, अपने फल, फूल, पत्तों आदि से तथा अपने जीवनरस से अनेकों प्राणियों को जीवनदान देने वाला उपकारी वृक्ष ही होता है। वह मान-अपमान में भी सहिष्णु बना रहता है। इसी कारण शास्त्रकार ने अपरिग्रह-संवर को भी संवर के महावृक्ष की उपमा दी है।

अपरिग्रहसंवर रूपी श्रेष्ठ वृक्ष के अंगोपांग तथा उसका क्रियाकलाप इस प्रकार है—

जिस वृक्ष का जितना अधिक विस्तार—फैलाव होता है, वह उतना ही अधिक छायादार एवं शान्तिदायक बनता है—इस दृष्टि से अपरिग्रहसंवरवृक्ष के फैलाव का कथन किया है। भगवान् महावीर के प्रवचनों से उत्पन्न होने वाले विविध क्षयोपशम आदि अनेक भावों से मन में परिग्रह से विरक्ति हो जाती है तो साधक के मन में अनेक प्रकार के त्याग, नियम, प्रत्याख्यान और तप के शुभ विचार उठते हैं। यही अपरिग्रहवृक्ष का फैलाव है। अपरिग्रहवृक्ष की जड़ है—सम्यग्दर्शन। क्योंकि वीतराग अपरिग्रही देव, मार्गदर्शक गुरु और धर्म इन तीनों के प्रति दृढ़ श्रद्धा हुए बिना अपरिग्रहवृक्ष टिक नहीं सकता। अतः सम्यक्त्व पर ही अपरिग्रहवृक्ष अपनी जड़ जमाए हुए है। धैर्य—चित्त की स्वस्थता ही इसका कन्द है, स्कन्ध का अधोभाग है। चित्त की स्वस्थता के बिना अपरिग्रहवृत्ति स्थायी रूप से पनप नहीं सकती। वृक्ष के चारों ओर वेदिका—थला बना देने से उसकी सुरक्षा बढ़ जाती है। यहां अपरिग्रहवृक्ष की वेदिका विनय है। विनय के बिना अर्थात् अपरिग्रहवृत्ति रूप आचार के प्रति घृणा और अनादर-बुद्धि या उपेक्षा पैदा होगी, तो उस वृक्ष की सुरक्षा नहीं हो सकेगी। इसलिए अपरिग्रहवृक्ष की सुरक्षा के लिए विनयवेदिका अनिवार्य है। अपरिग्रहसंवर दिलोजान से अपनी साधना करने वाले साधक को सर्वत्र प्रसिद्ध कर देता है, उसके नाम और कार्यों का डंका भूमण्डल में बज जाता है। इसलिए तीनों लोकों में व्याप्त विस्तीर्ण यश ही अपरिग्रहवृक्ष का विशाल, घना, स्थूल और सुन्दर स्कन्ध है। पांचों महाव्रत इसकी विशाल शाखाएँ हैं। वास्तव में अपरिग्रहवृत्ति आ जाने पर अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य सहजरूप से जीवन में आ जाते हैं। इसलिए ये शाखाएँ बन कर अपरिग्रहवृक्ष को मजबूत बनाते हैं। अनित्यत्व आदि १२ भावनाएँ इस अपरिग्रहवृक्ष की छाल है। जैसे छाल वृक्ष के शरीर की रक्षा करती है, सर्दी गर्मी आदि से बचाव करती है, वैसे ही अनित्यादि भावनाएँ साधक के अपरिग्रही-जीवन में उत्साह, स्फूर्ति, श्रद्धा, रुचि और तीव्रता भरकर कठिन कष्टकर प्रसंगों के

समय में भी अपरिग्रहवृत्ति में स्थिर रखती हैं और लोभ, अभिमान, मोह, काम आदि बाधाओं से साधक के अपरिग्रही जीवन को बचाती हैं। ये बार-बार साधक को प्रेरणा देती हैं कि "जिन वस्तुओं को ग्रहण करने या पाने के लिए तुम आतुर हो रहे हो, वे सब अनित्य हैं, नाशवान हैं, तुम्हें शरण देने वाली नहीं हैं। तुम्हारे साथ जाने वाली नहीं हैं, तुम्हारी आत्मा से भिन्न हैं, शरीर में जाकर वे गंदगी बढ़ाती हैं अथवा लड़ाई-झगड़े आदि की गंदगी बढ़ाती हैं, कर्मबन्धन की कारण हैं, तुम पर आधिपत्य जमा कर तुम्हें गुलाम बनाकर तुम्हारी स्वतंत्रता का हरण करने वाली हैं, धर्मविमुख करने वाली हैं।" इसके अलावा धर्म आदि शुभ ध्यान, शुभयोग और ज्ञानविशेष इस वृक्ष के अंकुर और श्रेष्ठ पत्ते हैं। मूलगुण, उत्तरगुण आदि या धैर्य, *समता, सहिष्णुता, अनासक्ति आदि बहुत-से गुण ही इस अपरिग्रहवृक्ष के फूल हैं*, जो इसके वैभव को बढ़ाते हैं। इहलौकिक फल की निरपेक्षतारूप समाधि या निःस्पृह प्रवृत्तिरूप सदाचार ही इस महावृक्ष की सुगन्ध है। अनाश्रव -कर्मों के आगमन का निरोध ही इसके फल हैं। वास्तव में अपरिग्रहवृत्ति परिपक्व हो जाने पर कर्मों का आगमन प्रायः कम हो जाता है। मोक्ष के लिए जो बोधिबीज है, वही इसका बीजसार है—बीज का सारभूत तत्त्व मिजा है। मेरुपर्वत के शिखर के समान समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष का मार्गभूत निर्लोभत्व इसका शिखर है। अपरिग्रहवृत्ति में निर्लोभता ही परले सिरे पर रहती है। वही जीवन की हर प्रवृत्ति में ऊपर-ऊपर थिरकती रहती है। *साधनापथ में निर्लोभतारूप सर्वोच्च शिखर के नजर पड़ते ही*, साधक परिग्रहवृत्ति से सावधान हो जाता है। इस प्रकार अन्तिम संवरद्वार एक श्रेष्ठ संवरवृक्ष है, जो अपरिग्रही के जीवन के लिए आधार है।

अपरिग्रही के लिए क्या ग्राह्य है, क्या अग्राह्य ?—चूंकि अपरिग्रहशब्द में कुछ भी ग्रहण न करने का भाव आ जाता है; इसलिए सामान्य साधक चक्कर में पड़ जाता है कि जब सभी चीजें सर्वथा ग्रहण करने का निषेध अपरिग्रह-संवर में आ जाता है तो फिर साधक का जीवन कैसे चलेगा ? शरीर के लिए कुछ चीजें अनिवार्य होती हैं, कुछ चीजें संयम पालन के लिए भी आवश्यक होती हैं। उन्हें ग्रहण किये बिना साधक का शरीर नहीं टिक सकता और शरीर नहीं टिक सकता तो उसकी धर्मसाधना कैसे होगी ? इस गुत्थी को सुलझाने के लिए शास्त्रकार मध्यममार्ग बताते हैं, जिससे साधक के जीवन में संयम का भी पालन हो जाय और शरीर भी टिका रह सके, परिग्रह से होने वाले दोष भी न लगें और अपरिग्रहवृत्ति का भी पालन हो जाय।

अपरिग्रही साधक के लिए संग्रह करके रखना परिग्रहवृत्ति है—यद्यपि परिग्रह के लक्षणों के अवसर पर हम पूर्णतया स्पष्ट कर चुके हैं कि वस्तुओं के केवल

ग्रहण करने भर से परिग्रह नहीं हो जाता और बाहर से वस्तुओं को बिना सोचे-समझे अज्ञानवश छोड़ देने से या न रखने से कोई अपरिग्रही भी नहीं बन जाता।

इसीलिए शास्त्रकार ने अपरिग्रही साधु के लिए साफ-साफ कहा है 'न कप्पई ··· अप्पं व बहुं व अणुं व थूलं व मणसावि परिघेत्तुं ··· परस्स अज्झोववायलोभ-जणणाइं परियड्ढेउं ··· तिहिवि जोगेहिं परिघेत्तुं।'

साधु कई दफा यह सोच लेता है कि कोई चीज जंगल में पड़ी है, वह किसी की मालिकी की नहीं है, और न वह किसी के अधीन है, प्रकृति का भंडार खुला है, पानी, फल, वनस्पति, अनाज आदि यों ही पड़े हैं, साधु उसमें से जरूरत के अनुसार ले ले और उपयोग करले तो क्या हर्ज है ? मगर अपरिग्रही साधु के लिए शास्त्रकार उपर्युक्त पंक्तियों में साफ-साफ निषेध कर रहे हैं कि ऐसी कोई भी चीज चाहे वह फालतू ही पड़ी हो, या कम कीमत की हो, परन्तु साधु के लिए लेना उचित नहीं है। इसके पीछे दो कारण हैं। एक तो यह है कि सोना, चांदी, खेत, मकान, दासी-दास, नौकरचाकर, हाथी-घोड़ा, रथ, पालकी, सवारी, छाता, जूता, पंखा, तावा, लोहा, रांगा, जस्ता, कांसा, मणि, मोती, सीप, शख, हाथीदांत, कांच, सींग, पत्थर, चमड़ा या कीमती रेशमी कपड़ा या अन्यान्य कीमती रंग बिरंगी व फैशनेबल वस्तुएँ, जिनको देखकर दूसरों का जी लेने के लिए ललचाए या जिनके लिए हत्या आदि करे, ऐसी बेशकीमती चीज साधु के संयमपालन के लिए कतई उपयोगी नहीं है। इन्हें ममत्वपूर्वक रखने से अन्य अनेक दोषों के बढ़ने की सम्भावना है। क्योंकि जमीनजायदाद, धन दौलत और मकान आदि के लिए दुनिया में सगे भाइयों, पिता-पुत्र एवं ससुरदामाद आदि में भी परस्पर भयंकर झगड़े, युद्ध मुकद्दमेबाजी, हत्या, मारपीट, दंगाफिसाद आदि हुए हैं। साधु इन चीजों में से किसी भी चीज को लेकर व्यर्थ ही एक नई आफत मोल ले लेगा। फिर इन चीजों को लेकर साधर्मी साधुओं में भी परस्पर कलह और मनोमालिन्य बढ़ेंगे, आत्मशान्ति स्वाहा हो जायगी, जीवन की उत्तम साधना खटाई में पड़ जाएगी।

इनके निषेध करने का दूसरा कारण यह है कि साधु यदि इन चीजों को रखने लगेगा तो उसे मन ही मन इन चीजों को अपने भक्तों से लेने की चाह बढ़ेगी, उसके लिए वह यंत्र, मंत्र, चमत्कार, ज्योतिष आदि के प्रयोग लोगों को बताएगा। आखिर उसे धनाढ्यों या सत्ताधीशों की गुलामी, खुशामद या जीहजूरी करनी पड़ेगी। उसकी स्वाधीनता लुट जाएगी, वह धनवानों के हाथों में बिक जाएगा और उन्हीं की हां में हां मिलाएगा। उनके गलत कारनामों का भी समर्थन करता रहेगा। उनके गलत कामों को भी आशीर्वाद देने लगेगा। कदाचित् कोई साधु गुलामी न करे तो भी उसकी आत्मा तो इस अनावश्यक परिग्रह के बोझ से दब ही जायगी,

उसकी तेजस्विता और सत्यवादिता खत्म हो जायगी। इन चीजों के ग्रहण करने के पीछे निषेध का तीसरा कारण यह है कि एक बार साधु को इन चीजों के रखने की आदत पड़ जायगी तो फिर उसे उन चीजों को बढ़ाने की धुन सवार होगी। इस प्रकार करने पर उसकी साधना मिट्टी में मिल जाएगी।

इनके ग्रहण करने के निषेध के पीछे चौथा कारण यह है कि साधु की अपरिग्रहवृत्ति फिर खत्म हो जाएगी। उसमें वह दृढ़ता नहीं रहेगी, वह त्याग नहीं रहेगा, जिसे देखकर नरेन्द्र और देवेन्द्र तक भी उसके चरणों में झुकते हैं। स्वपर-कल्याण की साधना भला इस झंझट में पड़ जाने पर कैसे हो सकेगी ?

इसलिए शास्त्रकार ने उपर्युक्त सूत्रपाठ में स्पष्ट कर दिया है कि चीज चाहे थोड़ी हो या ज्यादा हो, कम कीमती हो, या बेशकीमती हो, प्रत्यक्ष में किसी की मालिकी की हो या न हो, जंगल में पड़ी हो, खेत में पड़ी हो, घर में रखी हो या किसी गांव, नगर, खान आदि में रखी हो, अथवा उस वस्तु का मालिक खुशी से साधु को भेंट दे रहा हो, अथवा प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करने की अनुमति दे रहा हो, किन्तु साधु को उसे हाथ से छूना तो दूर रहा, मन से भी ग्रहण करने का विचार नहीं करना चाहिए। क्योंकि साधु ने मोह का त्याग किया है। अतः मोह की वृद्धि करने वाले इन पदार्थों से उसे मन, वचन और काया से सदा दूर रहना चाहिए। अन्यथा उनके उपार्जन में अनेक हिंसादि पापकर्म करने पड़ेंगे, उनकी रक्षा के लिए 'बाबाजी की लंगोटी' वाली कहावत की तरह सतत चिन्तित रहना पड़ेगा और उनके वियोग हो जाने पर हृदय में अत्यन्त दुःख होगा। मोही जीव ही इन पदार्थों के अर्जन, रक्षण और और वर्द्धन में सदा दत्तचित्त रहता है। साधु को ऐसे प्रपंच में पड़ने की क्या जरूरत है ?

फिर साधु तो स्वावलम्बन पर आरूढ़ हुआ है। अपनी तमाम क्रियाएँ प्रायः वह स्वयं अपने हाथ से ही कर लेता है। इसी कारण वह साधु जीवन अंगीकार करने से पूर्व ही दासी, नौकर-चाकर आदि सेवक, हाथी-घोड़े, रथ, पालकी आदि सवारियों का त्याग कर चुका है। तब से ही वह आत्मावलम्बी हो कर विचरण कर रहा है। उसे अब इन परावलम्बी बनाने वाले साधनों की क्या जरूरत है ? क्योंकि परावलम्बी व्यक्ति सदा संक्लेश पाता है। निर्बल आत्मा ही सदा दूसरों का सहारा ढूंढा करता है। फिर परावलम्बी हो जाने पर राग द्वेषादि बन्धन बार-बार आते हैं। इसी कारण मोक्षपद का अभिलाषी साधु इन सब पराश्रयों का त्याग कर अपने सब काम प्रायः अपने हाथ से ही करके सुखी रहता है। शास्त्रकार ने इसीलिए दास दासी, नौकर चाकर तथा समस्त प्रकार के वाहनों से निषेध के उपरान्त छाता,

-जूता, पंखा, आदि पराश्रित बनाने वाले साधनों को ग्रहण करने का भी निषेध किया है। निर्ग्रन्थ श्रमण न तो छाता रखता है, न पंखा ही रखता है, और न जूते पहनता है। जबकि अन्य धर्मसम्प्रदायों के साधु उक्त सब चीजें रखते है और इनका यथासमय उपयोग भी करते हैं। जैनश्रमण मोहादि कर्म शत्रुओ से लड़ने के लिए उद्यत रहता है। वह मोहजनक या राजसी ठाठबाठ के दिखावे की चीजों से दूर रहता है। इसी प्रकार वह अन्तरंग में मोहोत्पादक एवं बाह्यरूप में हिंसादि पापों के जनक लोहा, तांबा, सीसा, रांगा, कासा, चांदी, सोना, मणि, सीप, मोती, शंख, हाथीदांत, सींग, उत्तम काच, रेशमी वस्त्र और चमड़ा तथा इनमें से किसी चीजके बने हुए बहुमूल्य बर्तन आदि का ग्रहण और संग्रह करना तो दूर रहा, मन से भी उन्हें अपने निश्राय (अधीन) में रखने का नही सोच सकता। इसीलिए ये सब उसके लिए निषिद्ध बताए हैं।

अब रही ऐसी चीजें जो जंगल, बगीचे या खेत में पैदा होती हैं, जिनका कोई मूल्य नही है, जिनका जगल में कोई मालिक भी नही होता, प्रकृति के भंडार में यों ही पड़ी रहती हैं, जैसे कि—फूल, फल, कंद, मूल, (जड़ी-बूटी, औषधि) तथा १७ प्रकार के अनाजों मे से कोई अनाज आदि। पूर्वोक्त निषेधवचन से तथा वैसे भी सचित्त वस्तु ग्रहण करने का साधु के लिए निषेध होने से साधु को इन चीजों के ग्रहण करने की कतई मनाही है। किन्तु उसके सामने एक विकल्प तो यह बना ही रहता है कि मानलो, कभी रोग, बीमारी या भोजन न मिलने का संकट उपस्थित हो गया तो वह क्या करे? क्या वह इन प्रकृतिदत्त चीजों को ले ले या संग्रह करके अपने पास रखले? न रखे तो ऐसे समय में शारीरिक संकट को दूर करने का क्या उपाय है? इन सब विकल्पों का योग्य समाधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि ये फल, फूल, अनाज आदि सचित्त है, तथापि यदि ये सूख कर अचित्त हो जांय, इनमें से बीज आदि निकल कर अलग हो जांय अथवा बीज में उगने की शक्ति नष्ट हो जाय, तब भी इन्हें ग्रहण करना उचित नही है। इसका समाधान वे यों करते हैं कि विश्ववत्सल, विश्ववन्द्य, अनन्तज्ञानदर्शन के धारक, शील गुण विनय तपः संयमादि के मार्ग दर्शक तीर्थंकरों ने अपने ज्ञान से जान-देखकर इन्हें (कन्द आदि तथा व्रीहि आदि धान्यों को) त्रसजीवों की योनि (उत्पत्ति स्थान) बताया है। यानी कंदमूलादि तथा व्रीहि आदि धान्य हरित अवस्था में स्थावर एकेन्द्रिय वनस्पति कायिक जीवों के आश्रयभूत हैं, लेकिन सूख जाने के बाद उनके केवल शरीर मात्र रह जाते हैं। वनस्पतिकाय के जीव उनमें से च्युत हो जाते हैं। किन्तु वायुविशेष तथा अन्य निमित्तों के मिलने पर उन सूखे कन्दादि या धान्य आदि में त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसी कारण षड्जीव निकाय के रक्षक साधुओं के लिए हिंसा दोष के भय से उनको ग्रहण करना वर्जित बताया है।

रोग, बीमारी, आतंक या आकस्मिक भोजन का अभाव आदि के संकट की समस्या के समाधान के लिए सीधा मार्ग भिक्षावृत्ति का महापुरुषों ने बताया ही है। ऐसे समय में तो कोई न कोई श्रद्धालु श्रावक औषध या पथ्ययुक्त आहार के दान से साधु की सेवा करके अपने को धन्य मानता है। फिर भी कोई आकस्मिक संकट आजाए तो साधु को धीरता पूर्वक उसका सामना तपोबल से करना चाहिए। परिषह सहन करने में ही उसकी वीरता है। विधि पूर्वक भिक्षा के द्वारा जो भी वस्तु प्राप्त हो जाय, उसी में संतुष्ट रहने में ही साधु जीवन की शोभा है।

अब रही ऐसी चीजें, जो गृहस्थ ने अपने लिए बनाई हैं, अचित्त हैं, साधु के लिए आहार के रूप में ग्राह्य हैं और उन्हें कोई श्रद्धालु गृहस्थ साधु के उपाश्रय (धर्म स्थान) में या धर्मस्थान के सिवाय किसी दूसरे मकान में या कहीं जंगल में साधु के लिए रखना चाहता है या रखने के लिए देना चाहता है, जैसे कि भात, दाल, सत्तू, तिलपिट्ठी, बेर आदि का आटा, सेके या भुने हुए चने आदि अनाज, पूड़ी, दहीबड़े, श्रीखण्ड, खीर, दूध, दही, घी, तेल, गुड़, खांड, मिश्री, शहद आदि चीजें। क्या साधु इन चीजों को ले ले या अपने पास संग्रह करके रख ले? इसका स्पष्ट निषेध करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'न कप्पति तंपि सन्निहिं काउं सुविहियाणं' यानी ये अचित्त और कल्पनीय चीजें भी सुविहित साधुओं को संग्रह करके अपने पास रखनी या रखानी कल्पनीय—उचित नहीं हैं। इस निषेध के पीछे एक कारण तो यह है कि साधु रात्रि को खाने-पीने की कोई भी चीज अपने पास नहीं रख सकता है और न कहीं अपने लिए रखवा सकता है। इसलिए संग्रह करके रखने पर उसे परिग्रह दोष लगेगा। दूसरा कारण यह है कि साधु परिव्राजक है, उसे कहीं एक जगह जम कर रहना भी नहीं है, इसलिए वहाँ से अन्यत्र विहार करने पर उन संगृहीत चीजों की चिन्ता उसे करनी पड़ेगी। या मान लो, कोई अत्यन्त वृद्ध या अशक्त होने से एक जगह स्थिरवास हो जाय तो भी उसे उन संगृहीत चीजों की बार-बार चिन्ता और देखभाल करनी होगी तथा उनमें कोई जीवजन्तु पड़ जायेंगे तो उनकी विराधना भी होगी। फिर संग्रह करने की वृत्ति होने पर साधु उसी जगह मोहवश कोई न कोई बहाना बना कर रहने लगेगा। उसकी संयमशील वृत्ति में मोह भयंकर बाधा पहुंचाएगा। तीसरा कारण यह भी है कि फिर वह आलस्यवश भिक्षा के लिए नहीं जाएगा और रात्रिभोजन का त्याग होते हुए भी मोहवश उन चीजों में से कदाचित् कुछ सेवन भी करलेगा। यह भी उसके लिए व्रतभंग का दोष होगा। चौथा कारण यह भी है कि फिर साधु अपने किसी श्रद्धालु भक्त को उसमें से देने भी लगजाए या विक्रय करने की वृत्ति आजाय। यह भी बहुत बड़ा खतरा है, उसके साधु जीवन के लिए। एक कारण यह भी है कि साधु के जीवन में फिर अपरिग्रह वृत्ति या

आकाशवृत्ति—निसर्ग निर्भरता नही रहेगी । वह बात-बात मे संग्रह करने को लालायित हो जायगा। उसे यह विश्वास नही रहेगा कि कल मुझे आहार मिलेगा या नही ? इस प्रकार अपरिग्रहवृत्ति पर उसका विश्वास डगमगा जाएगा ।

इन सब कारणों को लेकर साधु को कल्पनीय अचित्त वस्तुओं का भी दूसरे दिन के लिए संग्रह करने का निषेध किया है। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र मे अपरिग्रही साधु के लिए ऐसा स्पष्ट विधान है—

> विडमुब्भेइमं लोणं तिल्लं सप्पि च फाणियं ।
> ण ते सन्निहिमिच्छंति नायपुत्तवओरया ॥'

अर्थात्—जो ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के वचनों के श्रद्धालु अपरिग्रही साधु हैं, वे दोनो प्रकार के नमक, तिल, घी, तिलपपडी आदि अचित्त वस्तुएं भी संग्रह करना नही चाहते ।

उद्दिष्ट, स्थापित आदि दोषयुक्त आहार भी श्रमण के लिए वर्जित—अब सवाल यह होता है कि जब साधु को आपत्काल के लिए भी अचित्त भोज्य पदार्थों के संग्रह करने से इन्कार कर दिया है, तब वह ऐसे मौके पर जबकि आहार सुलभ न हो, तब श्रद्धालु भक्त द्वारा साधु के लिए बनाया हुआ, उसी के निमित्त रखा हुआ, खरीदा हुआ या पहले या पीछे दाता की प्रशंसा करने से प्राप्त होने वाला या अपनी विशेषताओं की अधिक डींगें हांकने से प्राप्त होने वाला अथवा किसी से जबर्दस्ती छीनकर दिया गया, या दूसरे के अधिकार का उसकी अनुमति के बिना किसी दूसरे से दिया गया, या सामने लाकर दिया गया, अथवा उधार लेकर दिया जाने वाला, दीपक जलाकर दिया गया, भेंट के रूप में दिया गया, बौद्धभिक्षुओं या याचकों के लिए बनाए गए आहार मे से दिया जाने वाला, या दान-पुण्य की दृष्टि से बनाया गया आहार, अथवा एक ही श्रद्धालु दाता के घर से रोजाना लिया जाने वाला आहार या गृहस्थ के यहाँ रखे हुए आहार में से स्वयमेव ग्रहण किया हुआ आहार अथवा तिथियों, यज्ञों, उत्सवों, पर्वों पर उपाश्रय के अन्दर या बाहर साधु के लिए खास तौर से रखा गया आहार ले या नहीं ? इसके उत्तर में शास्त्रकार स्पष्ट इन्कार करते हैं—'जंपिय उद्दिट्ठ-ठविय-रचिय ······ठवियं हिंसासावज्जसंपउत्तं न कप्पति तं पि य परिघेत्तुं ।' संक्षेप में आशय यह है कि पूर्वोक्त दोषों से युक्त दिया गया आहार भी हिंसा और सावद्यकर्मों से लिप्त होने के कारण अपरिग्रही श्रमण को लेना उचित नहीं है । इसके आगे संग्रह करने का पुनः स्पष्ट निषेध शास्त्रकार करते हैं—'जंपि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायंके ······सव्वसरीरपरितावणकरे

रोग, बीमारी, आतंक या आकस्मिक भोजन का अभाव आदि के संकट की समस्या के समाधान के लिए सीधा मार्ग भिक्षावृत्ति का महापुरुषों ने बताया ही है। ऐसे समय में तो कोई न कोई श्रद्धालु श्रावक औषध या पथ्ययुक्त आहार के दान से साधु की सेवा करके अपने को धन्य मानता है। फिर भी कोई आकस्मिक संकट आजाए तो साधु को धीरता पूर्वक उसका सामना तपोबल से करना चाहिए। परिषह सहन करने में ही उसकी वीरता है। विधि पूर्वक भिक्षा के द्वारा जो भी वस्तु प्राप्त हो जाय, उसी में संतुष्ट रहने में ही साधु जीवन की शोभा है।

अब रही ऐसी चीजें, जो गृहस्थ ने अपने लिए बनाई हैं, अचित्त हैं, साधु के लिए आहार के रूप में ग्राह्य हैं और उन्हें कोई श्रद्धालु गृहस्थ साधु के उपाश्रय (धर्म स्थान) में या धर्मस्थान के सिवाय किसी दूसरे मकान में या कहीं जंगल में साधु के लिए रखना चाहता है या रखने के लिए देना चाहता है, जैसे कि भात, दाल, सत्तू, तिलपिट्ठी, बेर आदि का आटा, सेके या भुने हुए चने आदि अनाज, पूड़ी, दहीवड़े, श्रीखंड, खीर, दूध, दही, घी, तेल, गुड, खांड, मिश्री, शहद आदि चीजें। क्या साधु इन चीजों को ले ले या अपने पास संग्रह करके रख ले ? इसका स्पष्ट निषेध करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'*न कप्पति तंपि सन्निहिं काउं सुविहियाणं*' यानी ये अचित्त और कल्पनीय चीजें भी सुविहित साधुओं को संग्रह करके अपने पास रखनी या रखानी कल्पनीय—उचित नहीं हैं। इस निषेध के पीछे एक कारण तो यह है कि साधु रात्रि को खाने-पीने की कोई भी चीज अपने पास नहीं रख सकता है और न कहीं अपने लिए रखवा सकता है। इसलिए संग्रह करके रखने पर उसे परिग्रह दोष लगेगा। दूसरा कारण यह है कि साधु परिव्राजक हैं, उसे कहीं एक जगह जम कर रहना भी नहीं है, इसलिए वहाँ से अन्यत्र विहार करने पर उन संगृहीत चीजों की चिन्ता उसे करनी पड़ेगी। या मान लो, कोई अत्यन्त वृद्ध या अशक्त होने से एक जगह स्थिरवास हो जाय तो भी उसे उन संगृहीत चीजों की बार-बार चिन्ता और देखभाल करनी होगी तथा उनमें कोई जीवजन्तु पड़ जायेंगे तो उनकी विराधना भी होगी। फिर संग्रह करने की वृत्ति होने पर साधु उसी जगह मोहवश कोई न कोई बहाना बना कर रहने लगेगा। उसकी संयमशील वृत्ति में मोह भयंकर बाधा पहुंचाएगा। तीसरा कारण यह भी है कि फिर वह आलस्यवश भिक्षा के लिए नहीं जाएगा और रात्रिभोजन का त्याग होते हुए भी मोहवश उन चीजों में से कदाचित् कुछ सेवन भी करलेगा। यह भी उसके लिए व्रतभंग का दोष होगा। चौथा कारण यह भी है कि फिर साधु अपने किसी श्रद्धालु भक्त को उसमें से देने भी लगजाय या विक्रय करने की वृत्ति आजाय। यह भी बहुत बड़ा खतरा है, उसके साधु जीवन के लिए। एक कारण यह भी है कि साधु के जीवन में फिर अपरिग्रह वृत्ति या

आकाशवृत्ति—निसर्ग निर्भरता नहीं रहेगी। वह बात-बात मे संग्रह करने को लालायित हो जायगा। उसे यह विश्वास नहीं रहेगा कि कल मुझे आहार मिलेगा या नही ? इस प्रकार अपरिग्रहवृत्ति पर उसका विश्वास डगमगा जाएगा।

इन सब कारणों को लेकर साधु को कल्पनीय अचित्त वस्तुओं का भी दूसरे दिन के लिए संग्रह करने का निषेध किया है। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में अपरिग्रही साधु के लिए ऐसा स्पष्ट विधान है—

विडमुब्भेइमं लोणं तिल्लं सप्पि च फाणियं।
ण ते सन्निहिमिच्छंति नायपुत्तवओरया ॥'

अर्थात्—जो ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के वचनों के श्रद्धालु अपरिग्रही साधु हैं, वे दोनो प्रकार के नमक, तिल, घी, तिलपपडी आदि अचित्त वस्तुएं भी संग्रह करना नही चाहते।

उद्दिष्ट, स्थापित आदि दोषयुक्त आहार भी श्रमण के लिए वर्जित—अब सवाल यह होता है कि जब साधु को आपत्काल के लिए भी अचित्त भोज्य पदार्थों के सग्रह करने से इन्कार कर दिया है, तब वह ऐसे मौके पर जबकि आहार सुलभ न हो, तब श्रद्धालु भक्त द्वारा साधु के लिए बनाया हुआ, उसी के निमित्त रखा हुआ, खरीदा हुआ या पहले या पीछे दाता की प्रशंसा करने से प्राप्त होने वाला या अपनी विशेषताओं की अधिक डीगें हाकने से प्राप्त होने वाला अथवा किसी से जबर्दस्ती छीनकर दिया गया, या दूसरे के अधिकार का उसकी अनुमति के बिना किसी दूसरे से दिया गया, या सामने लाकर दिया गया, अथवा उधार लेकर दिया जाने वाला, दीपक जलाकर दिया गया, भेट के रूप में दिया गया, बौद्धभिक्षुओं या याचकों के लिए बनाए गए आहार मे से दिया जाने वाला, या दान-पुण्य की दृष्टि से बनाया गया आहार, अथवा एक ही श्रद्धालु दाता के घर से रोजाना लिया जाने वाला आहार या गृहस्थ के यहाँ रखे हुए आहार में से स्वयमेव ग्रहण किया हुआ आहार अथवा तिथियों, यज्ञो, उत्सवों, पर्वों पर उपाश्रय के अन्दर या बाहर साधु के लिए खास तौर से रखा गया आहार ले या नही ? इसके उत्तर में शास्त्रकार स्पष्ट इन्कार करते हैं—'जंपिय उद्दिट्ठ-ठविय-रचिय ······ठवियं हिंसासावज्जसंपउत्तं न कप्पति तं पि य परिघेत्तुं।' संक्षेप मे आशय यह है कि पूर्वोक्त दोषों से युक्त दिया गया आहार भी हिंसा और सावद्यकर्मों से लिप्त होने के कारण अपरिग्रही श्रमण को लेना उचित नहीं है। इसके आगे संग्रह करने का पुनः स्पष्ट निषेध शास्त्रकार करते हैं—'जंपि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायंके ······सव्वसरीरपरितावणकरे

न कप्पति तारिसे वि तह अप्पणो परस्स वा·······तंपि संनिहिकयं ।' इसका आशय भी यह है कि कैसी भी रोगातंक की या मरणासन्नता की स्थिति हो, वातपित्त कफादि प्रकोप से अनेक रोग, यहाँ तक कि सन्निपात भी हो जाय या सारे शरीर में असह्य पीड़ा पैदा हो जाय, कर्मों के तीव्र उदय से मरणान्त कष्ट पैदा हो जाय, तो भी साधु को अपने या दूसरे के लिए औषध, भैषज्य या भोजनपान का संचय करके रखना उचित नहीं है।

अपरिग्रही के लिए कैसा आहार ग्राह्य है ? अन्त में, शास्त्रकार स्वयं इस गुत्थी को सुलझाने के लिए निम्नोक्त पंक्तियाँ देते हैं—'जं तं एक्कारसपिंडवायसुद्धं ······नवकोडीहिं सुपरिसुद्धं ······फासुकेण भिक्खेण वट्टियव्वं ।' इन सूत्र पंक्तियों का अर्थ पदान्वयार्थ तथा मूलार्थ में हम स्पष्ट कर चुके हैं। तात्पर्य यह है कि भिक्षा-विधि के या आहार-ग्रहण सेवन के जो दोष पहले अहिंसासंवर के प्रकरण में बता चुके हैं, उन तमाम दोषों से रहित, नवकोटिशुद्ध तथा अंगार-धूम-संयोजनादि दोषों से मुक्त, प्रासुक, एषणीय तथा छह काय के जीवों की रक्षा के लिए शास्त्रोक्त ६ कारणों से लिया गया शुद्ध आहार ही साधु के लिए ग्राह्य है। प्रासुक भिक्षा पर ही साधु को जीवन निर्वाह करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि साधु का जीवन सर्वसंपत्करी भिक्षा पर निर्भर है। भिक्षा की जो विधि शास्त्र में बताई गई है, उसी के अनुसार निर्दोष आहारादि ग्रहण करने पर अहिंसा की भी रक्षा हो जाती है, अपरिग्रह व्रत की भी रक्षा हो जाती है और संयम का भी शुद्ध रूप से पालन हो जाता है, शरीर भी टिकाया जा सकता है। शास्त्र में साधु के लिए ६ कारणों से आहार-सेवन करना विहित है—[1]'क्षुधावेदना को मिटाने के लिए, सेवा (वैयावृत्य) कर सके, इसके लिए, ईर्या-शोधन कर सकने के लिए, संयम पालन करने के लिए, प्राणों की रक्षा के लिए और धर्माराधना या धर्म चिन्तन के लिए।' अतः धर्मवीर साधु को सदा यह चिन्तन करना चाहिए कि मुझे केवल अपने शरीर को पुष्ट करने के लिए ही आहार नहीं लेना है, न इन्द्रिय विषयों के आसक्ति पूर्वक सेवन के लिए लेना है और न ही जिह्वालालसा को शान्त करने के लिए आहारादि लेना है। अपरिग्रह की दृष्टि से न तो मुनि को सचित्त वस्तुएँ ग्रहण करना है और न अचित्त वस्तुओं को भी संग्रह करके अपने पास रखना है।

---

१ देखिये वह गाथा—

'वेयण-वेयावच्चे ईरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥'

—संपादक

हाँ, यदि बीमारी आदि में किसी दवा आदि की जरूरत पड़ जाय तो वह दिन में गृहस्थ के घर से ला कर दिन-दिन रख सकता है; रात्रि को नहीं।

कुछ शंका-समाधान—यहाँ 'जंपिय ओदण ... विधिमादिकं पणीयं'—इस सूत्रपाठ में 'मज्ज-मंस' शब्द आया है; साधु तो मद्य-मांस-सेवन के पूर्ण त्यागी होते हैं; वे सेवन करना तो दूर रहा, इन्हें ग्रहण भी नहीं करते। फिर यहाँ इस निषेधात्मक सूत्रपाठ में मद्य-मांस के संग्रह का निषेध करने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि साधु मद्यमांस का त्यागी होता है, लेकिन भिक्षाटन करते-करते कदाचित् ऐसे गृहस्थ के यहाँ अजाने पहुंच जाय, जो मांसादि अभक्ष्य पदार्थ सेवन करता हो; वह गृहस्थ भक्तिवश अन्य भक्ष्य पदार्थ की भांति उक्त पदार्थ को भी साधु के पात्र मे डाल दे; तब साधु अन्य पदार्थ की भांति उनका उपाश्रय आदि में संग्रह न करे, अपि तु तत्काल दाता गृहस्थ को लौटा दे, यदि वह न ले तो परिष्ठापन कर दे। इसे स्पष्ट करने के लिए यहाँ मद्यमांस का उल्लेख किया है।

वैसे साधु के लिए तो क्या, प्रत्येक मनुष्य के लिए, खासतौर से आर्य पुरुषों के लिए जैनशास्त्र में मद्य और मांस के सेवन का सर्वथा निषेध है। नीचे हम कुछ शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

ज्ञातासूत्र के १६ वें अध्याय में समस्त प्राणियों का आहार ७ प्रकार का बताया है—'विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च मज्जं च मंसं च।' उनमें से मनुष्यों का आहार सिर्फ चार प्रकार का बताया है—

'मणुस्साणं चउव्विहे आहारे पण्णत्ते, तं० असणे जाव खातिमे।

(—ठाणांग सूत्र ठा-४ उ-४)

अर्थात्—'मनुष्यों का आहार चार प्रकार का बताया है—अशन, पान, स्वादिम और खादिम।'

इससे स्पष्ट है कि आगम में मद्यमांस को मनुष्यों का आहार नहीं बताया है। मनुष्य मात्र के लिए उनके सेवन का निषेध है। फिर मांसभक्षण करने से नरकायु का बंध होना स्थानांग सूत्र के चौथे स्थान में बताया है—

'चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरतियत्ताए कम्मं पकरेंति, तं जहा—'महारंभताते, महापरिग्गहत्ताए, पंचिदिय-वहेणं, कुणिमाहारेणं।'

अर्थात्—चार कारणों से मनुष्य नारक बनने के लिए आयुष्यकर्म का बन्ध करता

है—महारम्भ करने से, महापरिग्रह रखने से, पंचेन्द्रिय जीवों का वध करने से और मांसाहार से।

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र शतक ८ उ० ९ में तथा औपपातिक सूत्र वीरदेशना मे भी 'कुणिम' शब्द का मांस अर्थ ही किया गया है। जैसे—'कुणिमाहारेणं इति—मांस-भोजनेनेति' 'कुणिमं मांसमिति।'

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में मनुष्यों द्वारा सभ्यमर्यादा की प्रतिज्ञा के समय सर्वप्रथम मांसाहार आदि अशुभ पदार्थ का सेवन करने वाले की छाया भी शरीर पर नही पड़ने देने का यानी एक पंक्ति में बैठ कर मांसाहारी के साथ भोजन न करने का स्पष्ट उल्लेख है। देखिये वह पाठ—

'अम्हं केइ अज्जपभिई असुभं कुणिमं आहारं आहारिस्सइ, से णं अणेगाहिं छायाहिं वज्जणिज्जेत्ति कट्टु संठिइं ठवेस्संति।'

उपासकदशांगसूत्र के प्रथम अध्ययन में आनन्द श्रमणोपासक के सातवें *उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत के ग्रहण करने के समय उपयोग्य और परिभोग्य* वस्तुओ में मद्य और मांस का जरा भी उल्लेख नहीं है। अगर श्रमणोपासक के लिए ये दोनों चीजें सेवनीय होती तो यहां आहार वगैरह की मर्यादा के समय इन दोनों का भी नामोल्लेख जरूर होता। परन्तु यहां नामोल्लेख न होने से स्पष्ट है कि गृहस्थ श्रावक की मर्यादा में भी ये दोनो चीजें वर्जित है।

उत्तराध्ययन सूत्र के ७ वें अध्ययन मे मद्य-मांस-सेवनकर्ता को नरकायु का बन्ध बताया है। वह पाठ यह है—

> "इत्थी - विसयगिद्धे य महारंभ - परिग्गहे।
> भुंजमाणे सुरं मंसं परिवूढे परंदमे ॥६॥
> अयकक्करभोई य तुंडिल्ले चियलोहिए।
> आउयं नरए कंखे जहाएसं व एलए ॥७॥

इन सब प्रमाणों के अतिरिक्त समवायांगसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र अ० ३१, स्थानांगसूत्र स्थान ९, श्रमणसूत्र आदि अनेक सूत्रों में मांस-मद्यसेवन के निषेधक अनेक प्रमाण मिलते हैं। इन सबसे स्पष्ट हो जाता है कि साधु के लिए ही क्यों, श्रमणोपासक एवं आर्य, सभ्य गृहस्थ तक के लिए मांसमद्य सर्वथा निषिद्ध है।

साधु के लिए ग्राह्य धर्मोपकरण – अब सवाल यह होता है कि जब साधु अपरिग्रही होने के नाते अपने पास संग्रह करके भोजन, औषध, भैषज्य आदि नहीं रख सकता; तब क्या अपने संयमी जीवन के लिए उपयोगी एवं अनिवार्य वस्त्र-पात्र भी नही रख सकता? इसके उत्तर में शास्त्रकार स्वयं समाधान करते है—'जंपि समं-

णस्स सुविहियस्स तु पडिग्गहधारिस्स भवति भायण - भंडोवहिउवगरणं……… परिहरियव्वं'— इन सब सूत्र पंक्तियों का अर्थ तो मूलार्थ एव पदान्वयार्थ मे स्पष्ट किया जा चुका है; सिर्फ इनके पीछे शास्त्रकार का आशय स्पष्ट करना शेष है।

यद्यपि यहाँ जो भी उपकरण विहित बताये गए हैं, वे स्थूलदृष्टि से देखने वाले को परिग्रह ही लगेंगे, किन्तु शास्त्रकार की दृष्टि परिग्रह के वास्तविक अर्थ की ओर है। इसलिए वे इन सब उपकरणो के माथ परिग्रहदोष एवं हिंसादोष को टालने एवं इन्हें अपरिग्रही के लिए ग्राह्य और रखने योग्य मानने पर ही जोर देते है। इसके लिए दशवैकालिकसूत्र का प्रमाण हम परिग्रह-आश्रव के प्रकरण मे प्रस्तुत कर चुके हैं। वहाँ 'संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य' (संयमपालन और लज्जा-निवारण के लिए धारण करते हैं, और पहनते है) कह कर उन सब वस्त्रपात्रादि धर्मोपकरणों को 'न सो परिग्गहो वुत्तो' कह कर परिग्रह मानने से सर्वथा इन्कार किया है। यहाँ भी इनको परिग्रहत्वदोष से रहित बताने के लिए वे कहते हैं— 'एयं पि य संजमस्स उववूहणट्ठयाए वायायव-दंसमसगसीयपरिरक्खणट्ठयाए उवग-रणं रागदोसरहियं परिहरियव्वं।'

अर्थात्—ये सब परिगणित उपकरण भी सयम की वृद्धि या सहायता के लिए, हवा, धूप, डांस, मच्छर और सर्दी से रक्षा के लिए हैं, इन्हें राग-द्वेपरहित हो कर रखना चाहिए। और साथ ही इनके पास में रखने से, उनके उठाने-रखने में या देखभाल न होने की स्थिति में जीवों की हिंसा होने की संभावना है; अतः उक्त हिंसादोष से बचने के लिए शास्त्रकार ने इस सूत्रपाठ के साथ ही स्पष्ट कर दिया है—'संजएण णिच्चं पडिलेहणपप्फोडण - पमज्जणाए………अप्पमत्तेण……सततं निक्खियव्वं च गिण्हियव्वं च………' इसका आशय यह है कि संयमी साधु को इन उपकरणों के रखने के साथ-साथ सदा अप्रमत्त हो कर इनकी देखभाल (प्रतिलेखनादि द्वारा) रखना जरूरी है, इन्हें उठाते-रखते समय भी यतना रखना आवश्यक है। कहा भी है—

'अज्झत्यविसोहिए उवगरणं बाहिरं परिहरंतो।
अपरिग्गहो त्ति भणिओ जिणेहिं तिलुक्कदंसीहिं॥'

अर्थात्—"अध्यात्म-विशुद्धिपूर्वक बाह्य उपकरण रखने वाले साधु को त्रैलोक्य-दर्शी तीर्थंकरों ने अपरिग्रही ही कहा है।" वास्तव में शास्त्रकार ने इस पाठ के द्वारा संयमी साधु के संयम एवं जीवन दोनों की रक्षा की समस्या सुन्दर ढंग से हल कर दी है।

अपरिग्रही की पहिचान

पूर्व सूत्रपाठ में बाह्य परिग्रह की दृष्टि से कहाँ परिग्रह है, कहाँ अपरिग्रह है ? कौन सी वस्तु किस रूप में ग्राह्य है, कौन-सी वस्तु सर्वथा अग्राह्य है या अमुक रूप में अग्राह्य है ? इसका सुन्दर विश्लेपण किया है। अब उस अपरिग्रही साधु को किन-किन लक्षणों से पहिचाना जा सकता है, इस पर शास्त्रकार सूत्रपाठ द्वारा निरूपण करते हैं—

मूलपाठ

एवं से संजते, विमुत्ते, निस्संगे, निप्परिग्गहरुई, निम्ममे, निन्नेहबंधणे, सव्वपावविरते, वासीचंदणसमाणकप्पे, समतिण-मणिमुत्तालेट्ठुकंचणे, समे य माणावमाणणाए, समियरते, समित-रागदोसे, समिए समितीसु, सम्मदिट्ठी, समे य जे सव्वपाणभूतेसु, से हु समणे, सुयधारए, उज्जुते, संजते, सुसाहू, सरणं सव्व-भूयाणं, सव्वजगवच्छले सच्चभासके य संसारंतट्ठिते, य संसार-समुच्छिन्ने, सततं मरणाण पारए (ते), पारगे य सव्वेसिं संसयाणं, पवयणमायाहिं अट्ठहिं अट्ठकम्म-गंठीविमोयके, अट्ठ-मयमहणे, ससमयकुसले य भवति सुहदुक्खनिव्विसेसे, अब्भितर-बाहिरंमि सया तवोवहाणंमि य सुट्ठुज्जुत्ते, खंते, दंते य, हिय-निरते, ईरियासमिते, भासासमिते, एसणासमिते, आयाणभंडमत्त-निक्खेवणासमिते, उच्चारपासवण-खेलसिंघाणजल्लपरिट्ठावणिया-समिते, मणगुत्ते, वयगुत्ते, कायगुत्ते, गुत्तिदिए, गुत्तबंभयारी, चाई, लज्जू, धन्ने, तवस्सी, खंतिखमे, जिंतिदिए, सोहिए, अणियाणे, अवहिल्लेसे, अममे, अकिंचणे, छिन्नगंथे, निरुवलेवे, सुविमलवरकंसभायणं व मुक्कतोए, संखेविव निरंजणे, विगय-रागदोसमोहे, कुम्मो इव इंदिएसु गुत्ते, जच्चकंचणगं व जायरूवे, पोक्खरपत्तं व निरुवलेवे, चंदो इव सोमभावयाए, सूरोव्व दित्ततेए, अचले जह मंदरे गिरिवरे, अक्खोभे सागरोव्व थिमिए,

पुढवी व सव्वफास-विसहे, तवसा विय भासरासिछन्निव्व जाततेए, जलिय-हुयासणो विव तेयसा जलंते, गोसीसचंदणं पि व सोयले, सुगंधे य, हरयो विव समियभावे, उग्घोसियसुनिम्मलं व, आयंसमंडलतलं व पागडभावेण सुद्धभावे, सोंडीरे कुंजरो व्व, वसभेव्व जायथामे, सीहे वा जहा मिगाहिवे होति दुप्पधरिसे, सारयसलिलं व सुद्धहियए, भारंडे चेव अप्पमत्ते, खग्गिविसाणं व एगजाते, खाणुं चेव उड्ढकाए, सुन्नागारेव्व अप्पडिकम्मे, सुन्नागारावणस्संतो निवाय-सरणप्पदीवज्झाणमिव निप्पकंपे, जहा खुरो चेव एगधारे, जहा अही चेव एगदिट्ठी, आगासं चेव निरालवे, विहगे विव सव्वओ विप्पमुक्के. कयपरनिलए जहा चेव उरए, अप्पडिबद्धे अनिलोव्व, जीवोव्व अप्पडिहयगती, गामे गामे एकरायं, नगरे नगरे य पंचरायं दुइज्जंते य जिंतिदिए जितपरीसहे निब्भओ विऊ (विसुद्धो) सचित्ताचित्तमीसकेहिं दव्वेहिं विरायं गते, संचयातो विरए, मुत्ते, लहुके, निरवकंखे, जीवियमरणासविप्पमुक्के, निस्संधं निव्वणं चरित्तं धीरे काएण फासयंते, अज्झप्पज्झाणजुत्ते, निहुए, एगे चरेज्ज धम्मं ।

इमं च परिग्गहवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं, अत्तहियं, पेच्चाभाविकं, आगमेसिभद्दं, सुद्धं, नेयाउयं अकुडिलं, अणुत्तरं, सव्वदुक्खपावाण विओसमणं ।

संस्कृतच्छाया

एवं स संयतो, विमुक्तो, निःसंगो, निष्परिग्रहरुचिः, निर्ममो, निःस्नेहबन्धनः, सर्वपापविरतो, वासीचन्दनसमानकल्पः, समतृणमणिमुक्तालेष्टुकांचनः, समश्च मानापमानतायां, शमितरजः (रतः अथवा रयः), शमितरागद्वेषः, समितः समितिषु, सम्यग्दृष्टिः, समश्च यः सर्वप्राणभूतेषु, स खलु श्रमणः श्रुतधारकः, ऋजुकः, (उद्युक्तः उद्यतोवा) संयतः, सुसाधुः, शरणं सर्वभूतानां, सर्वजगद्वत्सलः सत्यभाषकश्च, संसारान्तस्थितश्च, समुच्छिन्न-

संसारः, सततं मरणानां पारगः, पारगश्च सर्वेषां संशयानां, प्रवचनमातृभि-रष्टाभिरष्टकर्मग्रन्थिविमोचकः, अष्टमदमथनः, स्वसमयकुशलश्च भवति सुखदुःखनिर्विशेषः, आभ्यन्तरबाह्ये सदा तपउपधाने च सुष्ठूद्युक्तः, क्षान्तो, दान्तश्च, हितनिरतः, ईर्यासमितो, भाषासमित, एषणासमितः, आदानभाण्डा-मत्रनिक्षेपणासमित, उच्चारप्रस्रवणखेलसिंघानजल्लपरिष्ठापनिकासमितो, मनोगुप्तो, वचोगुप्त, कायगुप्तो, गुप्तेन्द्रियो, गुप्तब्रह्मचारी, त्यागी, लज्जुः (लज्जालुः रज्जुर्वा), धन्यः, तपस्वी, क्षान्तिक्षमो, जितेन्द्रियः शोभितः (शोधितः शोधिदो वा) अनिदानः, अबहिर्लेश्यः, अममः, अकिंचनः, छिन्न-ग्रन्थो, निरुपलेपः, सुविमलवरकांस्यभाजनमिव मुक्ततोयः, शंख इव निरजनो, विगतरागद्वेषमोहः, कुर्म्म इवेन्द्रियेषु गुप्तो, जात्यकांचनकमिव जातरूपः, पुष्करपत्रमिव निरुपलेपः, चन्द्र इव सौम्यभावतया, सूर इव दीप्ततेजा, अचलो यथा मन्दरो गिरिवरोऽक्षोभः सागर इव स्तिमितः, पृथ्वीव सर्वस्पर्शसहः, तपसाऽपि च भस्मराशिच्छन्न इव जाततेजाः ज्वलितहुताशन इव तेजसा ज्वलन्, गोशीर्षचन्दनमिव शीतलः सुगन्धश्च, ह्लदक (द्रह) इव समिकभावः, उद्घृष्ट-(उद्घर्षित) सुनिर्मलं वा आदर्शमंड-लतलं वा प्रकटभावेन शुद्धभावः, शौण्डीरः कुंजर इव, वृषभ इव जातस्थामा, सिंहो वा यथा मृगाधिपो भवति दुष्प्रधर्ष्यः, शारदसलिलमिव शुद्धहृदयः, भारंड इवाप्रमत्तः, खड्गिविषाणमिव एकजातः, स्थाणुरिवो-र्द्ध्वकायः, शून्यागारमिवाप्रतिकर्मा, शून्यागारापणस्यान्तर् निर्वातशरण-प्रदीपध्यानमिव निष्प्रकम्पः, यथा क्षुरश्चेव एकधारो, यथाऽहिश्चेव एक दृष्टिः, आकाशं चेव निरालम्बः विहग इव सर्वतो विप्रमुक्तः, कृतपरनिलयो यथा चेवोरगः, अप्रतिबद्ध अनिल इव, जीव इवाप्रतिहतगतिः, ग्रामे ग्रामे एकरात्रं, नगरे नगरे च पंचरात्रं व्रजन् (विचरन्) च जितेन्द्रियो जितपरिषहो निर्भयो विद्वान् (विशुद्धो अथवा अद्विकः) सचित्ताचित्तमिश्रकेषु द्रव्येषु वैराग्यं गतः, संचयाद् विरतो मुक्तो लघुको निरवकांक्षो जीवित-मरणाशाविप्रमुक्तो निःसन्धं निर्व्रणं चारित्रं धीरः कायेन स्पृशन् सततम् ध्यात्मध्यानयुक्तो निभृत एकश्चरेद् धर्मम् ।

इदं च परिग्रहविरमणपरिरक्षणार्थं प्रवचनं भगवता सुकथितमात्महितं प्रेत्यभाविकम् आगमिष्यद्भद्रं शुद्धं, नैयायिकम्, अकुटिलमनुत्तरं, सर्वदुःख-पापानां व्युपशमनम् ।

पदान्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (से) पूर्वोक्त अपरिग्रहव्रती (संजते) संयमी साधु (विमुत्ते) धनादि से मुक्त (निस्संगे, आसक्तिरहित, (निप्परिग्गहरुई) जिसकी परिग्रह में कोई रुचि नहीं रही है, (निम्ममे) धर्मोपकरणों पर भी जो ममत्वरहित है, (निन्नेहबंधणे) स्नेह-बन्धन से भी जो मुक्त है, (सव्वपावविरते) ऐसा सर्वपापों से विरत साधु (वासीचंदणसमाणकप्पे) वसूले से काटकर अपकार करने वाले तथा चंदन के समान उपकार करने वाले दोनों पर समान कल्पना-बुद्धि वाला, (समतिण-मणिमुत्तालेट्ठुकंचणे) जिसकी दृष्टि में तिनका और मणि-मोती तथा ढेला और सोना दोनों समान हैं, (समे य माणावमाणणाए) जो सम्मान और अपमान दोनों अवस्थाओं में सम है, (समियरते) जिसने पापकर्मरूप रज या विषयों में रय-उत्सुकता को शान्त कर दिया है, (समितरागदोसे) जो राग-द्वेष का शमन करने वाला है; (समितीसु समिए) पांचों समितियों—सम्यक् प्रवृत्तियों में समित-युक्त है; (सम्मदिट्ठी) जो सम्यग्दृष्टि है (य) तथा (जे) जो (सव्वपाणभूतेसु समे) समस्त त्रस और स्थावर जीवों पर समभावी है, (से हु समणे) वही श्रमण तपस्वी है, सम मन वाला है अथवा शमन-शान्तकषाय है, (सुयधारए) वही श्रुत-शास्त्र का धारक-जानकार है, (उज्जुते) वह संयम में उद्यत या उद्यमशील है अथवा ऋजु-सरल है। (स साहू) वही सच्चा साधु है (सव्वभूयाणं सरणं) वह समस्त प्राणियों को शरण देने वाला—रक्षक है; (सव्व-जगवच्छले) समस्त विश्व के प्रति वात्सल्यभाव से ओतप्रोत विश्ववत्सल है; निःस्वार्थ हितैषी है; (सच्चभासके) सत्यभाषी है; (य) तथा (संसारतट्ठिते) वह संसार के अन्त-किनारे पर स्थित है; (य) तथा (संसारसमुच्छिन्ने) उसने संसार-परिभ्रमण को छिन्न-नष्ट कर दिया है, (सततं) निरन्तर होने वाले (मरणाणं) बाल-अज्ञानी जीवों के भावमरणों से (पारए) पार पहुंच गया है; (सव्वेसिं संसयाणं च पारगे) और वह समस्त संशयों से अतीत यानी परे हो गया है; (अट्ठहिं पवयणमायाहिं) पांच समिति और तीन गुप्तिरूप ८ प्रवचनमाताओं के द्वारा (अट्ठकम्मगंठीविमोयके) आठ कर्मों रूपी गांठ को खोलने वाला हो गया है, (अट्ठमयमहणे) जाति, कुल आदि के आठ मदों-अहंकारों का मथन-नाश करने वाला है, (य) और (ससमयकुसले) स्वकीय सिद्धान्त या आचार अथवा प्रतिज्ञा में कुशल (भवति) है। (सुहदुक्खनिव्विसेसे) वह सुख और दुःख में एक-सा रहता है; (य) और (तथा) सदा (अब्भितरबाहिरंमि तवोवहाणंमि) आभ्यन्तर और बाह्य तपरूप गुण के उपधान—निकट पहुंचने में (सुट्ठुज्जुते) अत्यन्त उद्यमशील-पुरुषार्थी है; (खंते) क्षमावान या कष्टसहिष्णु है, (दंते) इन्द्रियों का दमन करने वाला है (य) तथा

(हियनिरते) स्वपरहित में निरत-संलग्न रहता है; (ईरियासमिते) द्रव्य और भाव रूप से ईर्या-गति करने में सम्यक्प्रवृत्तिरूपसमिति से युक्त है, (भासासमिते) भाषा में यतनावान् है, (एसणासमिते) आहार - पानी आदि की एषणा करने में—गोचरी में, यतनाशील है, (आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिते) भाजन, पात्र आदि उपकरणों को सम्यक् प्रकार से लेने-उठाने और रखने की समिति-सम्यक् प्रवृत्ति से युक्त है, (उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्लपारिट्ठावणियासमिते) मल, मूत्र, कफ, लींट-नाक का मैल, पसीना आदि शरीर का मैल आदि मलों को जीव-जन्तु की बाधा से रहित सुस्थल में परिष्ठापन करने-डालने की समिति का आचरण करने वाला है; (मणगुत्ते) मनोगुप्ति सहित है, (वयगुत्ते) वचनगुप्ति से युक्त है, (कायगुत्ते) कायगुप्ति का पालक है, (गुत्तिदिए) इन्द्रियों को विषयों में भटकने से गुप्ति-रक्षा करने वाला है (गुत्तबंभयारी) ब्रह्मचर्य की सुरक्षा करने वाला है; (चाई) समस्त परिग्रह का त्याग करने वाला है, (लज्जू) अतिशय लज्जावान है—पापों से शर्माने वाला है, अथवा रज्जू-रस्सी के समान सरल है। (धन्ने) धन्य है, (तवस्सी) तपस्या करने वाला है, (खंतिखमे) कष्ट सहिष्णुता-तितिक्षा में क्षम-समर्थ है, (जितिंदिए) जितेन्द्रिय है, (सोहिए) गुणों से सुशोभित है, अथवा आत्मशोधक है, या सर्वप्राणियों का सुहृद् मित्र है, (अणियाणे) निदान-आगामी भोगों की वांछा से रहित है; (अबहिल्लेसे) जिसकी लेश्याएँ, अन्तःकरण की विचार-तरंगें संयम से बाहर नहीं जातीं, (अममे) जो 'मैं' और 'मेरा' के अभिमानसूचक शब्दों से रहित है; (अकिंचणे) जिसके अपने स्वामित्व का कुछ भी नहीं है, (छिन्नगंथे) बाह्य और आभ्यन्तर गांठें जिसने तोड़ दी हैं, (निरुवलेवे) जो कर्म के या आसक्ति के लेप से रहित है, (सुविमलवरकंसभायणं व मुक्कतोए) अतिनिर्मल उत्तम कांसे का बर्तन जैसे पानी के सम्पर्क से मुक्त रहता है, वैसे ही आसक्तिपूर्ण सम्बन्ध से मुक्त है (संखेविव निरंजणे) शंख के समान रागादि के अंजन-कालिमा से रहित है, (विगयरागदोसमोहे) जो राग, द्वेष और मोह से रहित है, (कुम्मो इव इंदिएसु गुत्ते) कछुए की तरह जो इन्द्रियों को संगोपन करके रखता है; (जच्चकंचणगं व जायरूवे) उत्तम शुद्ध सोना जैसे छविमान होता है, वैसे ही साधु भी आत्मा के शुद्ध स्वरूप की छवि प्राप्त कर लेता है, (पोक्खरपत्तं व निरुवलेवे) कमल के पत्ते की तरह निर्लेप है, (सोमभावयाए) अपने सौम्य स्वभाव के कारण (चंदो इव) चन्द्रमा की तरह है (सूरोव्व दित्ततेए) सूर्य की ... संयम के तेज से देदीप्यमान है (अचले जह मंदरे गिरिवरे) पर्वतों में प्रधान मे[illegible] सिद्धान्त पर जो अ-टलहै, (अक्खोभे ... [illegible] स्थिर है, (पुढवी व

सव्वफासस्सहे) पृथ्वी की तरह सब प्रकार के शुभ-अशुभ स्पर्शों को सहने वाला है, (तवसा वि य भासरासि-छन्निव्व जाततेए) तपस्या से अन्तरंग में ऐसा देदीप्यमान लगता है, मानो भस्मराशि से ढकी हुई आग हो; (जलियहुयासणो विव तेयसा जलंते) जलती हुई आग के समान तेज से जाज्वल्यमान है, (गोसीसचंदणमिव सीयले) गोशीर्ष चन्दन के तुल्य शीतल (य) और (सुगंध य) अपने शील से सुगन्धित है, (हरयोविव समियभावो) ह्रद-बड़े तालाब के समान शान्त स्वभावी है, (उग्घोसियसुनिम्मलं व आयंसमंडलतलं) अच्छी तरह घिस कर चमकाए हुए निर्मल दर्पणमंडल के तल के समान (पागडभावेण) सहज स्वभाव से मायारहित होने के कारण अत्यन्त प्रमार्जित व निर्मल जीवन वाला है, (सुद्धभावे) शुद्ध परिणाम वाला है, (कुंजरोव्व सोंडीरे) कर्म-शत्रुओं की सेना को पराजित करने में हाथी की तरह शूरवीर है, (वसभोव्व जायथामे) वृषभ की तरह अंगीकृत व्रतों का भार धारण करने में समर्थ है, (सीहे वा जहा मिगाहिवे होति दुप्पधरिसे) जैसे मृगाधिपति सिंह अकेला ही अजेय होता है, वैसा ही अजय; (सारयसलिलं व सुद्धहियए) शरद्‌ऋतु के पानी की तरह स्वच्छ हृदय वाला, (भारंडे चेव अप्पमत्ते) भारंड पक्षी की तरह अप्रमत्त, (खग्गियिसाणं व एगजाते) गेंडे के सींग की तरह अकेला, अन्य सहायक से रहित (खाणुं चेव उड्ढकाए) ठूंठ की तरह ऊर्ध्वकाय—कायोत्सर्गस्थित रहने वाला, (सुन्नागारेव्व अप्पडिकम्मे) सूने घर के समान शरीरसंस्कारों से रहित (सुन्नागारावणस्संतो) सूने घर तथा सूनी दूकान के अंदर (निवायसरणप्पदीपज्झाणमिव निप्पकंपे) वायुरहित स्थान में रखे हुए दीपक के समान तथा शुभध्यान के समान दिव्यादि उपसर्ग के समय भी कम्पनरहित, (जहा खुरो चेव एगधारे) छुरे या उस्तरे की जैसे एक सरीखी धार होती है, वैसे ही मुनि भी उत्सर्गमार्ग में एक धारा-अखंड प्रवृत्ति वाला (जहा अही चेव एगदिट्ठी) जैसे सांप की दृष्टि एक लक्ष्य की ओर होती है, वैसे ही मोक्षमार्ग की साधना पर एकमात्र दृष्टिवाला साधु, (आगासं चेव निरालंबे) आकाश की तरह आलम्बनरहित, (विहगेविव सव्वओ विप्पमुक्के) पक्षी की तरह सब तरह से परिग्रहमुक्त (कयपरनिलए जहा चेव उरगे) सर्प के समान दूसरे के बनाए स्थान में निवास करने वाला; (अनिलोव्व अपडिबद्धे) वायु की तरह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रतिबन्ध से रहित, (जीवोव्व अप्पडिहयगती) देहरहित जीव की तरह स्वतंत्र अप्रतिहत-बेरोकटोक गतिवाला—निरंतर विहार करने वाला मुनि (गामे गामे एगरायं) प्रत्येक गांव में एक रात (य, तथा (नगरे नगरे पंचरायं) प्रत्येक नगर में पांच रात (दुइज्जंतो) विचरण करता हुआ (य) और (जिंतिदिए) इन्द्रियविजयी, (जितपरिसहे) परिषह-

विजेता (निब्भओ) निर्भय, (विऊ) विद्वान्-गीतार्थ (सचित्ताचित्तमीसकेहिं) सचित्त हो, अचित्त हो या मिश्र हो, (दव्वेहिं) सभी द्रव्यों में (विरायं गते) वैराग्ययुक्त, (संचयातो विरते) वस्तु का संचय करने से विरत, (मुत्ते) लोभरहित (लहुके) तीनों प्रकार के गर्व के भार से रहित अथवा परिग्रह के बोझ से हलका, (निरवकंखे) आकांक्षारहित, (जीवियमरणासविप्पमुक्के) जीने और मरने की आशा से विमुक्त, (निस्संधं) चारित्र-परिणाम के विच्छेद से रहित, (निव्वणं) निरतिचार (चरित्तं) चारित्र का (धीरे) क्षोभरहित धीर या स्थितप्रज्ञ साधु (कायेण फासयंते) शारीरिक क्रिया द्वारा पालन करता हुआ (संततं) निरन्तर (अज्झप्पज्झाणजुत्ते) अध्यात्मध्यान में संलग्न (निहुए) उपशान्त साधु (एगे) रागादि की सहायता से अथवा सहायक से रहित एकाकी (धम्मं चरेज्ज) चारित्र धर्म का आचरण करे।

मूलार्थ—इस प्रकार वह अपरिग्रही संयमी साधु धनादि के लोभ से मुक्त होता है, जमीनजायदाद, धनसम्पत्ति का त्यागी होता है। आसक्ति-रहित होता है। परिग्रह में उसकी जरा भी रुचि नहीं होती। धर्मोपकरणों पर भी ममत्व से रहित होता है। वह स्नेहबन्धन से रहित, सर्वपापों से विरक्त है। वसूले से काट कर अपकार करने वाले और चन्दन के समान उपकार करने वाले दोनों पर समबुद्धि रखता है। उसकी दृष्टि में तिनका और मणि या मोती तथा ढेला और सोना दोनों समान है। वह सम्मान और अपमान दोनों अवस्थाओं में सम रहता है। उसने पापकर्मरूपी रज या विषयों में रय-उत्सुकता को शान्त कर दिया है। वह रागद्वेष का शमन करने वाला है। जो पांचसमितियों से समित-युक्त, सम्यग्दृष्टि तथा समस्त त्रस-स्थावर जीवों पर समभावी होता है, वह श्रमण-तपस्वी है या सम मन वाला है अथवा शमन-शान्तकषाय है, वही श्रुतधर-शास्त्रज्ञ है, संयम में उद्यत या उद्यमी है, वही स्वपर-कल्याण का साधक है, समस्त प्राणियों का आश्रयरूप है, वह समस्त विश्व के प्राणियों के प्रति वात्सल्य से ओतप्रोत है, सत्यभाषी है, तथा संसार के अन्त-किनारे पर स्थित है। उसने संसार परिभ्रमण को नष्ट कर दिया है। वह अज्ञानी जीवों को सतत होने वाले भावमरणों से पार पहुँच गया है, समस्त संशयों से परे हो गया है। वह पांच समिति-तीन गुप्ति रूपी आठ प्रवचनमाताओं के द्वारा आठ कर्मों की गांठ खोलता है, आठ मदों-अहंकारों का उसने मर्दन कर दिया है, वह अपने सिद्धांत, आचार या प्रतिज्ञा के पालन में कुशल होता है। सुख और दुःख उसके

लिए समान हैं, और वह सदा अभ्यन्तर और बाह्य तपस्या के उपधान में अत्यन्त पुरुषार्थ करता रहता है। वह क्षमाशील या कष्टसहिष्णु, इन्द्रियों का दमन करने वाला तथा स्वपरहित में रत रहता है। वह ईर्यासमिति से युक्त, भाषासमिति से युक्त, एषणासमिति का पालक, आदानभांडामत्र-निक्षेपणासमिति से युक्त, उच्चारप्रस्रवणखेलसिंघाणजल्लपरिष्ठापनिका-समिति से संपन्न, मनोगुप्तिसहित, वचनगुप्तियुक्त तथा कायगुप्ति का पालक है। वह इन्द्रियों को विषयों में भटकने से बचाता है, ब्रह्मचर्य की सुरक्षा करता है, समस्त परिग्रह का त्यागी, पापाचरण में लज्जाशील या रस्सी के समान सरल, धन्य, तपस्वी, कष्ट-सहिष्णुता में समर्थ और जितेन्द्रिय होता है। वह गुणों से सुशोभित या आत्मशोधक अथवा समस्त प्राणियों का मित्र, आगामी सुखभोगों की निदान—कामना से रहित है। उसकी लेश्याएँ यानी चित्त की तरंगें संयम से बाहर नहीं जातीं, वह 'मैं' और 'मेरा' के अभिमानसूचक शब्दों से रहित है। जिसके पास अपना कहने को कुछ नहीं है, जिसने बाह्य और आभ्यन्तर गाँठें तोड़ दी हैं, वह कर्म या आसक्ति के लेप से रहित है, अति निर्मल उत्तम कांसे का बर्तन जैसे पानी के संपर्क से मुक्त रहता है, वैसे ही आसक्तिपूर्ण सम्बन्ध से मुक्त, शंख की तरह रागादि के अंजन कालिमा से रहित, तथा राग, द्वेष और मोह से विरक्त है। कछुए के समान इन्द्रियों का गोपन करने वाला, शुद्ध सोने के समान शुद्ध आत्म-स्वरूप का द्रष्टा, कमल के पत्ते की तरह निर्लेप है। अपने सौम्य स्वभाव के कारण चन्द्रमा की तरह सौम्य, सूर्य के समान संयम के तेज से देदीप्यमान, पर्वतों में प्रधान मेरुपर्वत की तरह सिद्धान्त पर अविचल, समुद्र के समान क्षोभरहित एवं स्थिर, पृथ्वी की तरह शुभाशुभ सभी प्रकार के स्पर्शों को सहने वाला है, तपस्या से वह अन्तरंग में ऐसा देदीप्यमान लगता है, मानो भस्मराशि से ढकी हुई आग हो। तेज से जलती हुई आग के समान जाज्वल्यमान है। गोशीर्षचन्दन के तुल्य शीतल और शील से सुगन्धित तथा बड़े ह्रद के समान शान्तस्वभावी है। अच्छी तरह घिस कर चमकाये गए निर्मल दर्पणमंडल के तल के समान सहजस्वभाव से मायारहित होने के कारण अत्यन्त प्रमार्जित व निर्मल जीवन वाला है, शुद्ध परिणाम वाला है, कर्मशत्रुओं की सेना को पराजित करने में हाथी की तरह शूर-वीर है, वृषभ की तरह उठाए हुए भार को धारण करने में समर्थ है,

मृगाधिपति सिंह की तरह अकेला ही अपराजेय, शरद्ऋतु के पानी के समान स्वच्छ हृदय वाला, भारंडपक्षी की तरह अप्रमत्त, गेंडे के सींग की तरह अकेला - अन्य सहायक से रहित, ठूंठ की तरह ऊर्ध्वकाय—कायोत्सर्ग में स्थिर रहने वाला, सूने घर के समान शरीर संस्कारों से दूर है। वह सूने घर व सूनी दुकान के अन्दर निर्वातस्थान में रखे हुए दीपक के समान तथा शुभध्यान के समान दिव्यादि उपसर्ग के समय भी निष्कम्प है। छुरे या उस्तरे की एक सरीखी धार के समान उत्सर्गमार्ग में एक धारा-अखंड प्रवृत्ति वाला, सांप की तरह एकमात्र मोक्षमार्ग-रूप लक्ष्य की ओर दृष्टि रखने वाला, आकाश की तरह आलम्बनरहित, पक्षी की तरह सब प्रकार से परिग्रह-मुक्त, सर्प के समान दूसरे के बनाए हुए स्थान में निवास करने वाला, वायु की तरह द्रव्यक्षेत्रकालभाव के प्रतिबन्ध से रहित, देहमुक्त चेतन की तरह स्वतंत्र अप्रतिहत—बेरोकटोक गति अर्थात् विहार करने वाला मुनि हर एक गांव में एक रात्रि तथा हर एक नगर में पांच रात्रि विचरण करता हुआ इन्द्रिय-विजेता, परिषहजयी, निर्भय, विद्वान्—गीतार्थ, सचित्त, अचित्त और मिश्र सभी द्रव्यों में वैराग्ययुक्त, संग्रहवृत्ति से दूर, निर्लोभी, तीनों प्रकार के गर्व के भार से रहित अथवा परिग्रह के बोझ से हलका, आकांक्षारहित, जीवन और मरण की आशा से विमुक्त, चारित्रपरिणामों को खंडित करने से विरक्त होता है। ऐसा धीर स्थितप्रज्ञ साधु निरतिचार चारित्र का शारीरिक क्रिया अर्थात् जीवन से स्पर्श करता हुआ निरन्तर अध्यात्मध्यान में संलग्न उपशान्त साधु रागादि की सहायता से अथवा किसी सहायक से रहित एकाकी चारित्र-धर्म का आचरण करे।

व्याख्या

इस लम्बे सूत्रपाठ में शास्त्रकार ने अपरिग्रही साधु की ही विस्तृतरूप से परिभाषा दी है, ताकि आम आदमी अपरिग्रही साधक को पहिचान सके। कई व्यक्ति घरबार, जमीन जायदाद, कुटुम्ब-कबीला आदि सब छोड़ कर एकांत जंगल में जा बैठते हैं; परन्तु वहां भी उनके मन में विविध सांसारिक वस्तुओं को ग्रहण करने और उनका उपभोग करने की प्रबल लालसा उठती रहती है। वे मन ही मन उन मनोज्ञ वस्तुओं को पाने के लिए अनेक प्रकार की उधेड़बुन करते रहते हैं, मन में विविध कामनायें संजोते रहते हैं, अनेक देवी-देवों की स्तुति, जाप, मनौती आदि करते रहते हैं। स्थूलदृष्टि से देखने वाले को वे बिलकुल अपरिग्रहमूर्तिसे लगेंगे; एक लंगोटी भी

मुश्किल से उनके पास होगी; मगर उनके अन्तर मे परिग्रह की जो धमाचौकड़ी मचती रहती है, उसे देखते हुए वे कदापि अपरिग्रही नहीं माने जा सकते। इसी कारण दशवैकालिक सूत्र के द्वितीय अध्ययन मे इस विषय में स्पष्ट निर्देश किया गया है—

'वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चइ ॥'

अर्थात्—वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, स्त्रियाँ, शयनीय पदार्थ आदि जिसके अधीन नही हैं, न वह किसी तरह उन्हें उपभोग के लिए अधिकार में कर ही पाता है, किन्तु मन ही मन उनके पाने के लिए लालायित रहता है तो उसे परिग्रह-त्यागी नही कहा जा सकता।

यह तो एक प्रकार का दम्भाचार-सा है कि बाहर से लोगों को दिखाने के लिए पास में कुछ नहीं है; लेकिन अन्दर ही अन्दर प्रकारान्तर से उन त्यक्त पदार्थो को पुनः प्राप्त करने की, पद, प्रतिष्ठा और सम्मान पाने की साधक में धुन सवार है। भगवद्गीता में ऐसे साधको को मिथ्याचारी कहा है। देखिये वह श्लोक—

'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥'

जो बाहर से इन्द्रियों को रोक कर निश्चेष्ट बैठ जाता है, लेकिन वह मूढ़ात्मा मन ही मन इन्द्रियों के विविध विषयों का या विषयसाधनों का चिन्तन करता रहता है तो वास्तव में वह मिथ्याचारी—ढोंगी कहलाता है।

दूसरी ओर कई प्रसिद्ध साधक अपने को बहुत पहुंचे हुए समझ कर जनक-विदेही या सम्राट् भरत की दुहाई दे कर खुद को उनके समान अनासक्त बतलाते हैं और 'मूर्च्छा परिग्रहः' मूर्च्छा-आसक्ति ही परिग्रह है, इस परिग्रह की परिभाषा की आड़ में बढ़िया से बढ़िया पदार्थों का संग्रह करते जाते हैं या अपने भक्तों के पास संग्रह करवाते जाते हैं। पूछने पर यों ही कहते हैं—'अजी! यह हमारा थोड़े ही है; हमारी इन पर आसक्ति या ममता थोड़े ही है।' अथवा वह गृहस्थ, जिसके पास किसी मन्दिर या भगवान के नाम से धन या विविध पदार्थ इकट्ठे किए गये हैं, पूछने पर तपाक से कहेगा—"अजी! ये तो मन्दिरजी के हैं, यह तो भगवान् का मुकुट है, छत्र है या अमुक पदार्थ है; हमारा तो इसमें कुछ भी नहीं है।" इस प्रकार जो अपने-आप को भरतचक्रवर्ती या जनक विदेही के समान निर्लेप और अनासक्त बता कर या अनासक्ति की भ्रान्ति में पड़ कर प्रकारान्तर से बहुत संग्रह

करते जाते हैं, वे लोग प्रायः उस परिग्रह के कारण चरित्रभ्रष्ट और पतित होते देखे-सुने गये हैं। इसलिए साधारण साधक परिग्रह-अपरिग्रह की इस उलझन में पड़ कर यह स्पष्ट नहीं समझ पाता कि अपरिग्रही किसे कहा जाय? उसकी क्या पहिचान है? वह कैसे बोलता है, कैसे चलता है, कैसा व्यवहार करता है? क्या और कैसे खाता-पीता है? कैसे और कहाँ रहता है? कहाँ और किस प्रकार विचरण करता है? क्या और किस ढंग से सोचता है? जगत के विषयों व पदार्थों को किस दृष्टि से देखता है? उसकी किस विषय में रुचि या अरुचि होती है? संकटों, कष्टों और परिषहों-उपसर्गों के समय वह क्या रुख अपनाता है? रागादिवर्धक या द्वेषादिवर्धक बाह्य पदार्थों का उसके मन पर क्या असर होता है? अन्तरंग परिग्रहों के प्रति उसका दृष्टिकोण कैसा और क्या रहता है? अनिवार्य उपकरणों को अपनाने के बारे में उसकी भावना क्या रहती है? इन सब बातों से ही अपरिग्रही का पूरा परिचय हो सकता है। आभ्यन्तर-परिग्रह-त्याग की प्रतिज्ञा ले लेने और बाह्यपरिग्रह का त्याग कर देने मात्र से किसी भी साधक के अन्तर की गहराई का पता नहीं लग सकता। अन्तर की वृत्तियां इतनी सूक्ष्म हैं कि उनमें काम, क्रोध, अहंकार (मद), मोह, लोभ आदि चीजें बहुत ही सूक्ष्म-रूप में पड़ी रहती हैं। इसलिए व्यवहारों से ही प्रायः उसके जीवन का पता लग सकता है। बहुधा अन्तर की वृत्तियां या सूक्ष्म वासनाएँ ही बाहर के व्यवहार में, बोल-चाल में, चेष्टाओं में, प्रवृत्तियों में उभर कर आती हैं। यही कारण है कि शास्त्रकार ने अपरिग्रही के व्यक्तित्व के पूर्ण परिचय के बारे में उठाए गए उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर इस विस्तृत सूत्रपाठ में दे दिया है। इसमें अपरिग्रही का सांगोपांग परिचय आ जाता है। अब हम क्रमशः प्रत्येक पद का संक्षेप में विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे—

संजते—अपरिग्रही साधु मनवचनकाया की अपनी प्रवृत्तियों पर संयम रखता है। वह कोई ऐसी प्रवृत्ति नहीं करता, जो संयम से विपरीत हो, उच्छृंखल हो।

विमुत्ते—वह जमीन-जायदाद, धन-सम्पत्ति आदि से मुक्त होता है। जिन वस्तुओं को उसने छोड़ दिया है, उन्हें अब वह अपनाना वमन किये हुए को चाटने के समान समझता है।

निस्संगे—वह परिग्रह में बिलकुल आसक्ति नहीं रखता। वह यही समझता है कि किसी वस्तु के पीछे मोहवश चिपटना ही दुःख-वृद्धि का कारण है।

निप्परिग्गहरुई—उस की रुचि परिग्रह के बारे में बिलकुल नहीं होती। उसे सदा परिग्रह से अरुचि रहती है। वह धर्मोपकरण के सिवाय किसी भी चीज को लेना या संग्रह करके रखना पसन्द नहीं करता।

निम्ममे—धर्मोपकरण के रूप मे रखी हुई चीजों पर भी उसकी ममता नही होती। वह उन्हें भी आवश्यकतावश ही रखता है।

निन्नेहबंधने—अपने पूर्वाश्रम के सम्बन्धियों या साधु जीवन मे परिचय में आने वाले भक्त-भक्ताओं या शिष्य-शिष्याओं के साथ भी उसका स्नेहबन्धन—मोहबन्धन नही होता। सिर्फ धर्मस्नेह का प्रशस्त बन्धन होता है या कर्त्तव्यबन्धन होता है।

सव्वपावविरते—हिंसा आदि समस्त पापो से वह विरक्त रहता है। वह किसी भी पापकर्म मे प्रवृत्त होने से हिचकिचाता है।

वासीचंदणसमाणकप्पे कुल्हाडी चलाने वाले अपकारी और चंदन लगाने वाले उपकारी दोनों के प्रति मन, वचन, काया से उसका समान विकल्प रहता है। यह स्थिति वडी कठिन है। परन्तु अपरिग्रही के जीवन में यह बखूबी देखी जा सकती है। शत्रु और मित्र दोनों के प्रति वह समदर्शी रहता है।

समतिणमणिमुत्तालेट्ठुकंचणे—तिनका हो, चाहे मणि हो या मोती, ढेला हो या सोना हो, दोनो के प्रति अपरिग्रही सम रहता है। उसे प्रिय वस्तु में हर्ष और अप्रिय वस्तु मे विषाद नही होता।

समे य माणावमाणणाए—सम्मान मिले, चाहे अपमान मिले, स्तुति-प्रशसा हो, चाहे निन्दा—आलोचना, दोनों अवस्थाओं में उसके मन में प्रीति-अप्रीति नहीं पैदा होती। और न ही वह संम्मान प्रतिष्ठा-पाने के लिए दौड़धूप करता है और न अपमान या निन्दा के निवारण के लिए वह खास प्रयत्न करता है।

समियरते—पापकर्मरूपी रज को या विषयो में रय-उत्सुकता को उसने समाप्त कर दिया है। पांचों इन्द्रियों के विषयो के सेवन मे उसका उत्साह नहीं होता; बल्कि वह उनसे कम से कम परिचय करना चाहता है।

समिए समितीसु पांचों समितियों को वह अपरिग्रहवृत्ति में सहायक मानता है और इसी कारण वह पांचों समितियों के पालन में दत्तचित्त रहता है।

सम्मदिट्ठी—अपरिग्रही साधक के लिए सम्यग्दृष्टि होना तो मुख्य और मूल बात है। ज्ञानादि किसी भी साधना मे वह सम्यग्दर्शन को मुख्य केन्द्र मान कर चलता है। इसी कारण वह अपरिग्रह-परिग्रहत्याग को भी केवल भौतिक दृष्टि से नही, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से अपनाता है।

समे य सव्वपाणभूतेसु—अपरिग्रही किसी भी प्राणी के जीवन का मूल्य कम नही आंकता। प्राणी चाहे छोटा हो या बड़ा, वह ऊपर के चोले को न देख कर उसके अन्दर विराजमान शुद्ध आतमा की दृष्टि से उसे देखता है। बाह्य आवरणों को चीर

कर उसकी पारदर्शी दृष्टि विशुद्ध आत्मतत्त्व को देख पाती है। इसलिए वह त्रस और स्थावर सभी जीवों के प्रति समभाव रखता है।

से हु समणे—अपरिग्रही ही वास्तव में श्रमण होता है। श्रमण का अर्थ तपस्वी भी होता है, आत्मगुणों की या आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए श्रम करने वाला भी होता है, सममन (समचित्त) भी होता है और शमन अर्थात् शान्तकषाय भी होता है। अपरिग्रही में ये गुण स्वाभाविक रूप से होते हैं।

सुयधारए—वह वास्तव में श्रुतधारक या शास्त्रज्ञ भी होता है। शास्त्र या सिद्धान्त को अपरिग्रही ही पचा सकता है। जो परिग्रह के प्रपंच में पड़ा रहता है, वह भला शास्त्र की बातों को जीवन में कैसे उतार पाएगा? अतः अपरिग्रही का अन्त:करण आगम के तत्त्वज्ञान से ओतप्रोत रहता है।

उज्जुते—वह हमेशा अपरिग्रह की साधना में उद्यत रहता है। अथवा माया-कपट से रहित हो कर जैसी बात होगी, वैसी बात सरलता से कहेगा। झूठफरेब या प्रपंच से वह दूर रहता है।

स साहू—वही स्वपरकल्याण का साधक होता है। क्योंकि निष्परिग्रही बनने पर ही साधक अपना कल्याण कर सकता है और वही दूसरों को कल्याण का रास्ता बता सकता है।

सरणं सव्वभूयाणं—वह सभी प्राणियो के लिए आश्रय-स्थल होता है। क्योंकि उसके हृदय में सभी प्राणियों के एकान्तहित की भावना होती है। उसका दिल प्राणियों को अपने कर्मों के कारण कष्ट पाते देखकर द्रवित हो उठता है। इस कारण सभी को वह प्रिय और अपना लगता है और सभी प्राणी उसकी शरण में आकर मन का सही समाधान पाते हैं, शान्ति पाते हैं।

सव्वजगवच्छले—वह सारे विश्व के प्राणियों के प्रति वात्सल्य भाव से ओत-प्रोत रहता है। सब प्राणियो को वह अपना आत्मीय मानता है, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना उसके हृदय में लबालब भरी रहती है।

सच्चभासके—जब सारे ही जगत् को वह अपना मानेगा तो किसी के साथ असत्य बोलने का तो सवाल ही नहीं उठता। इसलिए वह सत्यवादी होगा। कभी असत्य का सहारा नही लेगा।

संसारंतट्ठिते, संसारसमुच्छिन्ने, सततं मरणाण पारए—ये तीनों विशेषण अपरिग्रही को व्रतपालन से होने वाली उपलब्धि के बारे में हैं। अपरिग्रहव्रती संसार के अन्तिम तट पर स्थित हो जाता है, जन्ममरण का चक्र काट देता है और

अज्ञानियों की तरह क्षण-क्षण में जो आत्मा की भावमृत्यु होती रहती है, उसको भी पार कर लेता है।

पारगे य सव्वेसिं संसयाणं—अपरिग्रही जब निष्ठापूर्वक साधना करता है तो उसे किसी अतीन्द्रिय ज्ञान—(अवधि, मनःपर्याय या केवलज्ञान) की उपलब्धि हो जाती है, जिससे वह समस्त संशयों का पारगामी बन जाता है। यानी उसके सब संशय छिन्नभिन्न हो जाते हैं। आत्मा में दृढ़ निश्चय का भाव पैदा हो जाता है।

पवयणमायाहिं अट्ठहिं अट्ठकम्मगंठीविमोयके—वह आठ प्रवचन माताओं (५ समिति, तीन गुप्ति) के दृढ़तापूर्वक पालन से आठ कर्म की गांठों को खोल देता है। यानी कर्मग्रन्थि का भेदन कर लेता है। यह भी उसके जीवन की महती उपलब्धि है।

अट्ठमयमहणे—अहंकार-मद, फिर वह चाहे जाति का हो या कुल का, बल का हो या रूप का, तप का हो या लाभ का, ज्ञान का हो या ऐश्वर्य का; अपरिग्रही के जीवन मे स्थान नहीं पाता। अपरिग्रही अहंकार को महापरिग्रह मानता है।

ससमयकुसले—अपरिग्रही अपने सिद्धान्त, आचार या प्रतिज्ञा के पालन में निपुण होता है। वह सिद्धान्त, आचार या प्रतिज्ञा के विरुद्ध किसी भी बात को जीवन में स्थान नहीं दे सकता। सिद्धान्त के मामले मे वह किसी से समझौता नहीं करता।

सुहदुक्खनिव्विसेसे—उसके लिए सुख हो या दुःख सब एक समान है। सुख में वह फूलता नही, दुःख में घबराता नहीं। दोनो ही अवस्थाओं में वह समानभाव से रहता है। यही अपरिग्रही के जीवन की विशेषता है।

अब्भंतरबाहिरंमि सया तवोवहाणंमि य सुट्ठुज्जुते - वह सदा आभ्यन्तर या बाह्य किसी न किसी तपस्या मे भलीभांति पुरुषार्थ करता रहता है। तप ही अपरिग्रही के जीवन का संबल है।

खंते दंते हियनिरते—अपरिग्रही का बहिरंग परिचय यह है कि वह सदा क्षमाशील एवं कष्टसहिष्णु, इन्द्रियों का दमन करने वाला एवं स्वपरहित में तत्पर रहता है। वह अकर्मण्य बन कर बैठा नहीं रहता, अपितु स्वपरहित के कार्य में संलग्न रहता है, ताकि मन परिग्रह की किसी भी भूलभुलैया में न फंसे।

ईरियासमिते''''समिते मणगुत्ते'''' कायगुत्ते—वह पांच समितियों और तीन गुप्तियों के पालन में सदा उद्यत रहता है।

गुत्तिदिए गुत्तबंभयारी—वह अपनी इन्द्रियों को अशुभ विषयों के बीहड़ में जाने से सदा बचाता है, ब्रह्मचर्य की भी पूर्ण सुरक्षा करता है। क्योंकि विषय और काम (वेद) इन दोनों को अपरिग्रही अन्तरंग परिग्रह मानता है।

घाई, लज्जू, धन्ने, तवस्सी – वह परिग्रह का सर्वथा त्यागी होता है। पाप कर्म करते हुए शर्माता है, वह अपने जीवन में संयम का धनी या धन्य है, तपस्वी भी है।

खंतिखमे, जिइंदिए, सोहिए, अणियाणे, अबहिल्लेसे, अममे, अकिंचणे, छिन्नगंथे, निरुवलेवे—ये अपरिग्रही की वाह्य पहिचान के चिह्न हैं। वह क्षमा करने या कष्ट सहने में समर्थ होगा, इन्द्रियजेता होगा, गुणों से शोभित, निदान से रहित, संयम से बाहर विचरण करने वाली लेश्याओं से रहित, मैं और मेरा के भेदमूलक व्यवहारों से पृथक्, अकिंचन, आसक्ति की गाठें तोड़ने वाला और निर्लेप होता है।

सुविमलवरकंसभायणं व मुक्कतोए ····· जीवोव्व अप्पडिहयगती—इन सब पंक्तियों में अपरिग्रही साधु को विभिन्न उपमाएँ दे कर उसकी विशेषता बताई है। वह कांसी के बर्तन के समान जलसंसर्ग से रहित, शंख की तरह निरंजन, रागद्वेष व मोह से विरक्त, कछुए के समान इन्द्रियगोप्ता, शुद्ध सोने के समान शुद्ध आत्मस्वरूपपरायण, कमलपत्र की तरह निर्लेप, चन्द्रमा की तरह सौम्यस्वभावी, सूर्य की तरह तेजस्वी, सुमेरु की तरह अटल, समुद्र की तरह अक्षोभ्य एवं स्थिर, पृथ्वी की तरह सर्वस्पर्शसहिष्णु, राख से ढकी अग्नि के समान तपरूप अन्तस्तेज से देदीप्यमान, तेज से जलती हुई आग के समान, गोशीर्ष चन्दन के समान शीतल, शील की सुगन्ध से पूर्ण, सरोवर की तरह शान्त, दर्पणतल की तरह निर्मल, सहज स्वभाव से शुद्धस्वभावी, हाथी के समान शूरवीर, वृषभ के समान लिये हुए संयम भार को उठाने में समर्थ, सिंह की तरह अपराजेय, शरदृऋतु के जल के समान स्वच्छहृदय, भारंडपक्षीवत् अप्रमादी, गेंडे के सींग के तुल्य एकाकी, ठूंठ की तरह कायोत्सर्ग में स्थिर, शून्यगृह के समान शरीर की विभूषा से दूर, सूने घर में या निर्वात स्थान में रखे हुए दीपक की तरह ध्यान में निष्कम्प, छुरे की तरह एक धारा रूप प्रवृत्ति वाला, सांप की तरह एकमात्र लक्ष्य की ओर दृष्टि रखने वाला, आकाश की तरह निरालम्ब, पक्षी की तरह से निरपेक्ष, सांप की तरह दूसरे के द्वारा बनाए हुए घर में निवास करने वाला, हवा की तरह अप्रतिबद्धविहारी, देह छोड़े हुए चेतन प्राणी की तरह निराबाध स्वतंत्रगतिशील होता है। ये सारे विशेषण अपरिग्रही के जीवन की विशेषताओं को प्रगट करते हैं।

गामे गामे एगरायं, नगरे नगरे य पंचरायं दूइज्जंते—अपरिग्रही किसी गाँव या नगर में भी बंध कर, जम कर या आसक्त बन कर नहीं रहता। जहाँ अच्छी-अच्छी स्वादिष्ट वस्तुएँ खाने-पीने को मिलती हों, लोगों की भावभक्ति हो, प्रतिष्ठा भी मिलती हो; वहाँ कच्चे साधक का मन अधिक दिन रहने को ललचाता है और अप्रिय, अनिष्ट ग्राम-नगर मिलने पर वहाँ से जल्दी भागने का जी करता है; पर अपरिग्रह

की दीक्षा में पारंगत साधु उपर्युक्त[1] नियम के अनुसार हर गांव मे एक रात और हर नगर मे पांच रात रहेगा। जिससे जनता का ममत्व न बढ़े, आहारादि में भी आसक्ति न बढ़े।

जितिदिए जितपरिसहे निब्भओ विऊ—ये चारों विशेषण अपरिग्रही के जीवन की पराकाष्ठा के हैं। वह जितेन्द्रिय होगा, परिषहविजेता भी होगा, निर्भय होगा, वह सच बात कहने में घबराएगा नही, निर्भयतापूर्वक अपनी बात जनता के सामने रखेगा। गीतार्थ—विद्वान् होगा।

सच्चित्ताचित्तमीसकेहिं दव्वेहिं विराय गते, संचयाओ विरते, मुत्ते, लहुके, निरवकंखे—ये सब विशेषण अपरिग्रही के जीवन में बाह्य परिग्रहों से विरक्ति के मापदड हैं। इन गुणो के द्वारा बाह्यरूप से अपरिग्रही का जीवन नापा जा सकता है। उसके जीवन के संस्कारों मे वैराग्य तो जन्मघुट्टी की तरह रहता है। द्रव्य चाहे सचित्त हो, अचित्त हो या मिश्र, कम हो या ज्यादा, छोटा हो या बड़ा, कीमती हो अथवा अल्पमूल्य, वह इतना विरक्त होगा कि उसकी तरफ झांकेगा भी नही, उठाना तो दूर रहा, छुएगा भी नहीं। किसी भी चीज के संचय से तो वह दूर ही रहेगा। वह निर्लोभी, अल्पोपकरण के कारण हलका अथवा गर्वभार से हीन एवं निष्कांक्ष होगा।

जीवियमरणासविप्पमुक्के—जीने और मरने की आशा से वह मुक्त होता है। प्रशंसा मिलने पर वह अधिक दिन जीने की इच्छा नही करता और कष्ट या रोग से घबरा कर जल्दी मर जाने की भी कामना नही करता। मृत्यु किसी भी समय आ जाए वह हंसते-हंसते उसका स्वागत करेगा, असंयमी जीवन मे वह एक दिन भी जीना नहीं चाहेगा।

निस्संधं निव्वणं चरित्तं धीरे काएण फासयंते—चारित्र के परिणाम से युक्त वह धीर निरतिचार चारित्र को काया से स्पर्श करता हुआ चलेगा। मतलब यह है कि उसका चारित्र पालन केवल मन के लड्डू नही, परन्तु मुंह में डाली हुई मिश्री के समान प्रत्यक्ष अनुभूतिरूप होगा। वह भी निर्दोष होगा, अखड परिणामों की धारा से युक्त होगा।

अज्झप्पज्झाणजुत्ते निहुए—इन दोनों विशेषणों द्वारा अपरिग्रही की अन्तरंग विधेयात्मक प्रवृत्ति सूचित की है। वह निरन्तर अध्ययन वगैरह से आत्मध्यान में

१—यह नियम भिक्षुप्रतिमा स्वीकृत साधु की दृष्टि से लिखा गया है।
—संपादक

गंठिमवेढिमपूरिमसंघातिमाणि य मल्लाइं बहुविहाणि य अहियं नयणमणसुहकराइं, वणसंडे पव्वते य गामागर-नगराणि य खुद्दिय-पुक्खरिणि-वावी-दीहिय-गुंजालिय-सरसरपंतिय - सागर-विलपंतिय-खादिय-नदी-सर-तलाग - वप्पिणोफुल्लुप्पलपउमपरिमंडियाभिरामे, अणेगसउणगण-मिहुणविचरिए, वरमंडव-विविह-भवण-तोरण-चेतिय-देवकुल-सभ-प्पवा-वसह-सुकयसयणासण-सीय-रह-सयड-जाण-जुग्ग-संदण-नरनारिगणे य, सोमपडिरूवदरिसणिज्जे, अलंकितविभूसिते, पुव्वकयतवप्पभावसोहग्ग-संपउत्ते, नड-नत्तग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंबग-कहग-पवग-लासग-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंववीणिय-तालायरपकरणाणि य वहूणि सुकरणाणि, अन्नेसु य एवमादिएसु रूवेसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्वं, न रजियव्वं जाव न सइं च मइं च तत्थ कुज्जा। पुणरवि चक्खिदिएण पासिय रूवाइं अमणुन्नपावकाइं, किं ते ? गंडि-कोढिक-कुणि-उदरि - कच्छुल्ल-पइल्ल-कुज्ज-पंगुल-वामण-अंधिल्लग-एगचक्खु-विणिहय-सप्पि-सल्लग-वाहिरोग-पीलियं, विगयाणि य मयककलेवराणि, सकिमिणकुहियं च दव्वरासिं, अन्नेसु य एवमादिएसु अमणुन्नपावकेसु न तेसु समणेण रूसियव्वं जाव न दुगुंछावत्तियावि लब्भा उप्पातेउं, एवं चक्खिदियभावणाभावितो भवति अंतरप्पा जाव चरेज्ज धम्मं ॥ २ ॥

ततियं घाणिदिएण अग्घाइय गंधाति मणुन्नभद्दगाइं, किं ते ? जलय-थलय-सरस-पुप्फ-फल-पाण-भोयण-कुट्ठ-तगर-पत्त-चोय-दमणक-मरुय-एलारस-पक्कमंसि - गोसीस-सरसचंदण-कप्पूर-लवंग-अगर-कुंकुम-कक्कोल-उसीर-सेयचंदण-सुगन्ध-सारंग-जुत्तिवर- धूववासे उउयपिंडिम-णिहारिमगंधिएसु अन्नेसु य एवमादिएसु गंधेसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्वं जाव न सतिं च मइं

च तत्थ कुज्जा। पुणरवि घाणिंदिएण अग्घातिय गंधाणि अमणुन्नपावकाइं, किं ते ? अहिमड-अस्समड-हत्थिमड-गोमड-विग-सुणग-सियाल-मणुय-मज्जार-सीह-दीविय-मयकुहिय-विणट्ठकिविण-बहुदुरभिगंधेसु अन्नेसु य एवमादिएसु गंधेसु अमणुन्नपावएसु न तेसु समणेण रूसियव्वं, न हीलियव्वं जाव [1]पणिहियपंचेंदिए चरेज्ज धम्मं ॥ ३ ॥

चउत्थं जिब्भिदिएण साइय रसाणि उ मणुन्नभद्दकाइं, किं ते ? उग्गाहिम - विविहपाण-भोयण-गुलकय-खंडकय-तेल्ल-घयकय-भक्खेसु बहुविहेसु लवणरससंजुत्तेसु महुमंसबहुप्पगारमज्जिय-निट्ठाणग-दालियंब-सेहंब-दुद्ध-दहि-सरय-मज्ज-वरवारुणी-सीहु-काविसायण-सायट्ठारसबहुप्पगारेसु भोयणेसु य मणुन्न-वन्नगंधरसफास-बहुदव्वसंभितेसु अन्नेसु य एवमादिएसु रसेसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्वं जाव न सइं च मतिं च तत्थ कुज्जा। पुणरवि जिब्भिंदिएण सायिय रसातिं अमणुन्नपावगाइं, किं ते ? अरस-विरस-सीय-लुक्ख-णिज्जप्पपाणभोयणाइं दोसीणवावन्न-कुहिय-पूइय-अमणुन्न-विणट्ठ-पसूय-बहुदुब्भिगंधियाइं तित्तकडुयकसाय-अंबिलरस लिंडनीरसाइं, अन्नेसु य एवमातिएसु रसेसु अमणुन्नपावएसु न तेसु समणेण रूसियव्वं जाव चरेज्ज धम्मं ॥ ४ ॥

पंचमगं पुण फासिंदिएण फासिय फासाइं मणुन्न-भद्दकाइं किं ते ? दग-मंडव-हीर-सेयचंदण सीयलविमलजल विविहकुसुम-सत्थर-ओसीर-मुत्तिय - मुणाल - दोसिणा - पेहुण - उक्खेवग-तालियंट-वीयणगजणिय-सुहसीयले य पवणे गिम्हकाले सुहफासाणि य बहूणि सयणाणि आसणाणि य पाउरणगुणे य सिसिर-

१. इसके बदले कहीं कहीं 'पिहियपाणिंदिय' पाठ मिलता है।
—संपादक

काले अंगार-पतावणा य आयवनिद्धमउय-सीय-उसिणलहुया य जे उउसुहफासा अंगसुहनिव्वुइकरा ते, अन्नेसु य एवमादिएसु फासेसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्वं, न रज्जियव्वं, न गिज्झियव्वं, न मुज्झियव्वं, न विणिग्घायं आवज्जियव्वं, न लुभियव्वं, न अज्झोववज्जियव्वं, न तूसियव्वं, न हसियव्वं, न सतिं च मतिं च तत्थ कुज्जा। पुणरवि फासिंदिएण फासिय फासाति अमणुन्नपावकाइं, किं ते? अणेगवध-बंध-तालणंकण-अतिभारारोवण-अंगभंजण-सूतीनखप्पवेस - गायपच्छणण-लक्खारस-खारतेल्लकलकलंत-तउअ-सीसक-काललोहसिंचण-हडि-बंधण-रज्जुनिगल-संकल-हत्थंडुय-कुंभिपाकदहण-सीहपुच्छण-उब्बंधण-सूलभेय-गय-चलण मलण-करचरणकन्ननासोट्ठसीसछेयण-जिब्भच्छेयण-वसणनयणहिययदंत-भंजण-जोत्तलयकसप्पहार-पादपण्हि-जाणुपत्थरनिवायपीलण- कविकच्छु-अगणि-विच्छुयडक्क-वायातवदंसमसकनिवाते दुट्ठणिसज्ज-दुन्निसीहिया-दुब्भि-कक्खड गुरुसीयउसिणलुक्खेसु बहुविहेसु अन्नेसु य एवमाइएसु फासेसु अमणुन्नपावकेसु न तेसु समणेण रूसियव्वं, न हीलियव्वं, न निंदियव्वं, न गरहियव्वं, न खिंसियव्वं, न छिंदियव्वं, न भिंदियव्वं, न वहेयव्वं, न दुगुंछावत्तिया य लब्भा उप्पाएउं, एवं फासिंदियभावणाभावितो भवति अंतरप्पा मणुन्नामणुन्नसुब्भिदुब्भिराग-दोसपणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते संवुडेणं पणिहितिंदिए चरेज्ज धम्मं ॥ ५ ॥

एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होइ सुप्पणिहियं इमेहिं पंचहिं वि कारणेहिं, मणवयकायपरिरक्खिएहिं निच्चं आमरणंतं च एस जोगो नेयव्वो धितिमया मतिमया अणासवो, अकलुसो, अच्छिद्दो, अपरिस्सावो, असंकिलिट्ठो, सुद्धो, सव्व-

जिणमणुन्नातो। एवं पंचमं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं अणुपालियं आणाए आराहियं भवति। एवं नायमुणिणा भगवया पन्नवियं, परूवियं पसिद्धं सिद्धं सिद्धवर-सासणमिणं आघवियं, सुदेसियं पसत्थं पंचमं संवरदारं समत्तं ति वेमि।

[1]एयाइं वयाइं पंचवि सुव्वयमहव्वयाइं हेउसयविचित्त-पुक्खलाइं कहियाइं अरहंतसासणे पंच समासेण संवरा वित्थरेण उ पणवीसति समियसहियसंवुडे सया जयण-घडण-सुविसुद्धदंसणे एए अणुचरिय संजते चरमसरीरधरे भविस्सतीति ॥ (सू० २९)

संस्कृतच्छाया

तस्येमाः पंचभावनाश्चरमस्य व्रतस्य भवन्ति परिग्रहविरमणपरि-रक्षणार्थं, प्रथमं श्रोत्रेन्द्रियेण श्रुत्वा शब्दान् मनोज्ञभद्रकान्, के ते ? वरमुरज-मृदंग-पणव-दर्दु रक-कच्छभी-वीणा-विपंची-वल्लकी-वद्धीसक - सुघोषा-नन्दी सूसर (सुस्वर) परिवादिनी-वंश-तूणक-पर्वक-तंत्री-तल-तालतूर्यनिर्घोष-गीत-वादितानि नट-नर्त्तक-जल्ल-मल्ल-मौष्टिक-विडम्बक-कथक-प्लवक-लासकाख्यायक-लंख-मंख तूणइल्ल-तुम्बवीणिक-तालाचरप्रकरणानि च बहूनि मधुरस्वर-गीतसुस्वराणि वा कांची-मेखला-कलाप-प्रतरक-प्रहेरक-पादजालक-घंटिका-किंकिणी-रत्नोरुजालिका-क्षुद्रिका- नूपुर-चालनमालिका-कनकनिगलजालभूषणशब्दान्, लीलाचंक्रम्यमाणोदीरितान् तरुणीजनहसित-भणित-कलरिभितमंजुलानि गुणवचनानि च बहूनि मधुर-जनभाषितानि

---

१. दूसरी वाचना में इस प्रकार का पाठ मिलता है—

'एयाणि पंचावि सुव्वयमहव्वयाणि, लोकधिइकराणि, सुयसागर-देसियाणि, संजमसीलव्वयसच्चज्जवमयाणि नरयतिरियदेवमणुय-गइविवज्जियाणि सव्वजिण-सासणाणि, कम्मरयवियारकाणि, भवसयविमोयणाणि, दुक्खसयविणासकाणि, सुक्ख-सयपवत्तयाणि, कापुरिसदुरुत्तराणि सप्पुरिसजणतीरियाणि निव्वाणगमणजाणाणि कहियाणि सग्गपयायकाणि पंचावि महव्वयाणि कहियाणि।, —सम्पादक

अन्येषु चैवमादिकेषु शब्देषु मनोज्ञ-भद्रकेषु न तेषु श्रमणेन सक्तव्यं, न रक्तव्यं, न गर्द्धितव्यं, न हसितव्यं, न मोहितव्यं, न विनिघातमापत्तव्यं, न लोब्धव्यं, न तोष्टव्यं, न स्मृतिं च मतिं च तत्र कुर्यात्। पुनरपि श्रोत्रेन्द्रियेण श्रुत्वा शब्दान् अमनोज्ञपापकान्, के ते ? आक्रोश-परुष-खिसनाऽवमानन-तर्जन-निर्भर्त्सन-दीप्तवचन-त्रासनोत्कूजित - रुदित - रटित-क्रन्दित - निर्घुष्ट-रसित - करुण-विलपितानि अन्येषु चैवमादिकेषु शब्देषु अमनोज्ञपापकेषु न तेषु श्रमणेन रोषितव्यं, न हीलितव्यं, न निन्दितव्यं, न खिसितव्यं, न छेत्तव्यं, न भेत्तव्यं, न हन्तव्यं, न जुगुप्सावृत्तिका लभ्योत्पादयितुम्। एवं श्रोत्रेन्द्रिय-भावनाभावितो भवत्यन्तरात्मा मनोज्ञामनोज्ञ-शुभाशुभ-रागद्वेष - प्रणिहितात्मा साधुर्मनोवचनकायगुप्तः संवृतः प्रणिहितेन्द्रियश्चरेद् धर्मम् ॥ १ ॥

द्वितीयं चक्षुरिन्द्रियेण दृष्ट्वा रूपाणि मनोज्ञानि, भद्रकाणि सचित्ताचित्तमिश्रकाणि काष्ठे च पुस्ते च चित्रकर्मणि लेप्य-कर्मणि शैले च दन्त-कर्मणि च पंचभिर्वर्णैरनेकसंस्थान-संस्थितानि ग्रन्थिमवेष्टिमपूरिमसंघातिमानि च माल्यानि बहुविधानि चाधिकं नयनमनःसुखकराणि वनषण्डान् पर्वतांश्च ग्रामाकरनगराणि च क्षुद्रिका-पुष्करिणी-वापी-दीर्घिका-गुंजालिका-सरःसरःपंक्तिका-सागरबिलपंक्तिका खातिका-नदी-सरस्तडागवप्रान् फुल्लोत्पल-पद्मपरिमंडिताभिरामान् अनेकशकुनिगणमिथुनविरचितान् वरमंडप-विविधभवन-तोरण-चैत्य-देवकुल-सभा-प्रपाऽवसथ-सुकृतशयनासन-शिबिका - रथ-शकट-यान-युग्य-स्यन्दन - नरनारीगणान् च सौम्यप्रतिरूपदर्शनीयान् अलंकृत-विभूषितान् पूर्वकृततपःप्रभावसौभाग्यसंप्रयुक्तान् नट-नर्तक-जल्ल-मल्ल-मौष्टिक - विडम्बक-कथक - प्लवक - लासकाख्यायकलंखमंखतूणइल्ल-तुम्बवीणिकतालाचरप्रकरणानि च बहूनि सुकरणानि अन्येषु चैवमादिकेषु रूपेषु मनोज्ञभद्रकेषु न तेषु श्रमणेन सक्तव्यं, न रक्तव्यं यावत् न स्मृतिं च मतिं च तत्र कुर्यात्। पुनरपि चक्षुरिन्द्रियेण दृष्ट्वा रूपाणि अमनोज्ञपापकानि, कानि तानि ? गण्डि-कुष्ठिक-कुणि-उदरि-कण्डूतिमत्-पद्मवत्-कुब्ज-पंगुल-वामना-ऽन्धैकचक्षु विनिहतसपिशाचक (सर्पिशल्यक) व्याधिरोगपीडितं, विकृतानि च मृतककलेवराणि सकृमिकुथितं च द्रव्यराशिम्, अन्येषु चैवमादिकेषु न तेषु श्रमणेन रोषितव्यं यावन्न जुगुप्सावृत्तिकाऽपि लभ्योत्पादयितुम्; एवं चक्षुरिन्द्रिय भावनाभावितो भवत्यन्तरात्मा यावच्चरेद् धर्मम् ॥ २ ॥

तृतीयं घ्राणेन्द्रियेणाऽऽघ्राय गन्धान् मनोज्ञ-भद्रकान्, के ते ? जलज-स्थलज - सरस-पुष्प-फल- पानभोजन-कुष्ठ-तगर-पत्र-त्वग्दमनक-मरुदैलारस-पक्वमांसी - गोशीर्षसरसचन्दनकर्पूरलवंगागुरुकुंकुमकक्कोलोशीरश्वेत-चन्दन-सुगन्धसारंगयुक्तिवरधूपवासान् ऋतुजपिंडिम-निर्हारिमगन्धेषु अन्येषु चैवमादिकेषु गन्धेषु मनोज्ञभद्रकेषु न तेषु श्रमणेन सक्तव्यं यावत् न स्मृतिं च मतिं च तत्र कुर्यात्। पुनरपि घ्राणेन्द्रियेणाऽऽघ्राय गन्धान् अमनोज्ञ-पापकान्। के ते ?मृताहि-मृताश्व-मृतहस्ति-मृतगोवृकशुनकश्रृगालमनुजमार्जार-सिंह-द्वीपिक-मृत-कुथित-विनष्टकृमिवद् बहुदुरभिगन्धेषु अन्येषु चैवमादिकेषु गन्धेषु अमनोज्ञपापकेषु न तेषु श्रमणेन रोषितव्यं, न हीलितव्यं यावत् प्रणिहितपंचेन्द्रियश्चरेद धर्मम् ॥ ३ ॥

चतुर्थं जिह्वेन्द्रियेणास्वाद्य रसांस्तु मनोज्ञभद्रकान्, के ते ? अवगा-हिमविविधपान-भोजनगुडकृत-खंडकृत-तैलघृतकृतभक्ष्येषु बहुविधेषु लवण-रससंयुक्तेषु मधुमांसबहुप्रकारमज्जिका - निष्ठानक-दालिकाम्ल - सैन्धाम्ल-दुग्धदधिसरकमद्यवरवारुणीसीधुकापिशायनशाकाष्टदशप्रबहुकारेषु भोजनेषु च मनोज्ञवर्णगन्धरसस्पर्शबहुद्रव्यसंभृतेषु रसेषु अन्येषु चैवमादिकेषु रसेषु मनोज्ञभद्रकेषु न तेषु श्रमणेन सक्तव्यं यावत् न स्मृतिं च मतिं च तत्र कुर्यात् । पुनरपि जिह्वेन्द्रियेणास्वाद्य रसान् अमनोज्ञपापकान्, के ते ? अरसविरस-शीतरूक्षनिर्याप्यपानभोजनानि दोषान्न-व्यापन्न-कुथित-पूतिकाऽ-मनोज्ञविनष्टप्रसूतबहुदुरभिगन्धिकानि तिक्तकटुककषायाम्लरसलिन्द्र-नीरसानि, अन्येषु चैवमादिकेषु रसेष्वमनोज्ञपापकेषु न तेषु श्रमणेन रोषितव्यं यावत् चरेद् धर्मम् ॥ ४ ॥

पंचमं स्पर्शेन्द्रियेण स्पृष्ट्वा मनोज्ञभद्रकान्, के ते ? दक-मंडप-हीर-श्वेतचन्दन - शीतलविमलजलविविधकुसुमस्रस्तरोशीर - मौक्तिक - मृणाल-चन्द्रिका-पेहुण (मयूरांग) उत्क्षेपकतालवृन्तवीजनकजनितसुखशीतलांश्च पवनान् ग्रीष्मकाले सुखस्पर्शानि च बहूनि शयनान्यासनानि च प्रावरण-गुणांश्च, शिशिरकाले अंगारप्रतापनाश्चातपस्निग्धमृदुशीतोष्णलघुकाश्च ऋतुसुखस्पर्शा अंगसुखनिर्वृतिकरास्तेऽन्येषु चैवमादिकेषु स्पर्शेषु मनोज्ञ-भद्रकेषु न तेषु श्रमणेन सक्तव्यं, न रक्तव्यं, न गर्द्धितव्यं, न मोहितव्यं, न विनिर्घातं आपत्तव्यं, न लोब्धव्यं - नाध्यात्मोपपत्तव्यं, न तोष्टव्यं, न

हसितव्यं, न स्मृतिं च मतिं च तत्र कुर्यात् । पुनरपि स्पर्शनेन्द्रियेण स्पृष्ट्वा स्पर्शान् अमनोज्ञपापकान्, के ते ? अनेकवधबन्धताड़नांऽकनाऽतिभारारोपणाऽङ्गभंजननखसूचीप्रवेश - गात्रप्रक्षरण - लाक्षारस- क्षार-तैल-कलकल-त्रपुषसीसक-काललोह - सेचन - हडीबंधन - रज्जुनिगडश्रृङ्खला(संकलना) - हस्तांडुक - कुम्भीपाकदहन - सिंहपुच्छनोद्बन्धन - शूलभेद- गजचरणमलन-करचरणकर्णनासोष्ठशीर्षच्छेदन-जिह्वाकर्षण-वृषणनयन-हृदयान्त्रदन्तभंजन - योक्त्रलताकषप्रहारपादपार्ष्णिजानुप्रस्तरनिपातपीड़नकपिकच्छ्वग्नि - वृश्चिकदंशवातातप-दंशमशकनिपातान् दुष्टनिषद्या-दुर्निषीधिका - कर्कश-गुरुशीतोष्णरूक्षेषु बहुविधेष्वन्येषु चैवमादिकेषु स्पर्शेषु अमनोज्ञपापकेषु न तेषु श्रमणेन रोषितव्यं, न हीलितव्यं, न निन्दितव्यं, न गर्हितव्यं, न खिंसितव्यं, न छेत्तव्यं, न भेत्तव्यं,न हन्तव्यं, न जुगुप्सावृत्तिका च लभ्योत्पादयितुम् ।

एवं स्पर्शनेन्द्रियभावनाभावितो भवत्यन्तरात्मा मनोज्ञामनोज्ञ-शुभाशुभ-रागद्वेषप्रणिहितात्मा साधुर्मनोवचनकायगुप्तः संवृतः प्रणिहितेन्द्रियश्चरेद् धर्मम् ।। ५ ।।

एवमिदं संवरस्य द्वारं सम्यक् संवृतं भवति सुप्रणिहितमेभिः पंचभिरपि कारणैर्मनोवचः कायपरिरक्षितैर्नित्यमामरणान्तं चैष योगो नेतव्यो धृतिमता मतिमताऽनाश्रवोऽकलुषोऽच्छिद्रोऽपरिस्रावी असंक्लिष्टः शुद्धः सर्वजिनानुज्ञातः ।

एवं पंचमं संवरद्वारं स्पृष्टं पालितं शोधितं तीरितं कीर्तितमनुपालितमाज्ञयाऽऽराधितं भवति। एवं ज्ञातमुनिना भगवता प्रज्ञापितं, प्ररूपितं, प्रसिद्धं सिद्धं सिद्धवरशासनमिदमाख्यातं सुदेशितं प्रशस्तं पंचमं संवरद्वारं समाप्तमिति ब्रवीमि ।

एतानि व्रतानि पंचापि सुव्रत - महाव्रतानि हेतुशत - विविक्त-पुष्कलानि कथितानि अर्हच्छासने पंच समासेन संवरा विस्तरेण तु पंचविंशतिः समितसहितसंवृतः सदा यतनघटनसुविशुद्धदर्शनः एताननुचर्य संयतश्चरमशरीरधरो भविष्यतीति ।। (सू० २६)

पदान्वयार्थ—(तस्स) उस पूर्वोक्त (चरिमस्स वयस्स) अन्तिम परिग्रहत्यागरूप व्रत-अपरिग्रहसंवरद्वार की (पंच भावणाओ) पांच भावनाएँ (परिग्गहवेरमण-परिरक्खणट्ठयाए) परिग्रहत्यागरूप अपरिग्रहमहाव्रत की सुरक्षा के लिए (होंति) हैं। (पढमं) प्रथम भावनावस्तु इस प्रकार है—(सोइंदिएण) कर्णेन्द्रिय से (मणुन्नभद्दगाइं)

मनोज्ञ और अच्छे कर्णप्रिय (सद्दाइं) शब्द (सोच्चा) सुन कर उनमें रागादि नहीं करना चाहिये । (किं ते ?) वे शब्द कौन-से हैं ? (वरमुरय-मुइंग-पणव दद्दुर-कच्छभि-वीणा-विपंची-वल्लयि-वद्धीसक-सुघोस-नंदि-सूसर-परवादिणि-वंस-तूणक-पव्वक-तंती-तल-ताल-तुडिय-निग्घोस-गीयवाइयाइं) बड़ा मृदंग, छोटा मृदंग-पखावज, छोटा ढोलक, चमड़े से मढ़े हुए मुख वाला कलश, वद्धीसक नामक बाजा, वीणा, विपंची और वल्लकी नाम की वीणा, सुघोषा नामक घंटा, बारह बाजों का निनाद, वीणा-विशेष, करताल, कांसे का ताल, इन सब बाजों की ध्वनि तथा गीत और सामान्य बाजे सुनकर (य) तथा (नड-नट्टक-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिक-वेलंबक-कहक-पवक-लासक-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तालायरपकरणाणि य बहूणि महुरसरगीतसुस्सराइं) नट, नर्त्तक-नाचने वाले, बाजा बजाने वाले, पहलवान, मुक्केबाज-मुष्टि युद्ध करने वाले, भांड-विदूषक, कथाकार, तैराक, रासलीला करने वाले, शुभाशुभ फल बतानेवाले, बांस पर चढ़ कर खेल दिखाने वाले, चित्रपट दिखाने वाले, तूण (तुनतुनी) बजाने वाले, तुंबी की वीणा बजाने वाले, ताल-मंजीरे बजानेवाले, व्यक्तियों की विविध क्रियाओं तथा अनेक मधुर स्वर में गायन गाने वालों के गीतों के मनोज्ञ स्वर तथा (कंची-मेहला-कलाव-पत्तरक-पहेरक-पायजालग-घंटिय-खिंखिणि-रयणोरुजालिय - छुद्दिय-नेउर-चलण-मालिय-कणगनियल-जालभूसणसद्दाणि) कांची-करधनी और मेखला-कटिआभूषण, गले का आभूषण-ग्रैवेयक या हंसली, प्रतरक तथा पहेरक नामक गहने, झांझर-पैरों का आभूषण, घुंघरू, छोटी घुंघरियाँ, जांघों में पहनने का रत्नों का आभूषण, लघु किंकणी, नेउर, चरणमालिका, सोने के लंगर, जाल नामक आभूषणविशेष, इन सभी आभूषणों के शब्द, (लीलाचंकम्ममाणाण) लीलापूर्वक मस्त चाल से चलती हुई कामिनियों के (उदीरियाइं) मुंह से निकली हुई ध्वनि(तरुणीजण-हसिय-भणिय-कल-रीभित-मंजुलाइं) युवतियों की परस्पर हंसीमजाक, आपस में वार्तालाप की मधुर गुंजित ध्वनि, तथा रतिक्रीड़ा की आवाज (य) और (गुणवयणाणि) स्तुतिभरे वचन (य) अथवा (बहूणि महुरजणभासियाइं) बहुत-से मधुर लोगों द्वारा निकाले गए इष्ट उद्गार (य) और (अन्नेसु एवमादिएसु मणुन्नभद्दएसु तेसु सद्देसु) और भी इसी प्रकार के अन्य मनोज्ञ एवं प्रिय उन-उन शब्दों में (संजएण न सज्जियव्वं) संयमी को आसक्ति नहीं करनी चाहिए (न रज्जियव्वं) राग नहीं करना चाहिए, (न गिज्झियव्वं) गृद्धि नहीं करनी चाहिए, (न मुज्झियव्वं) मोह नहीं करना चाहिए, (न विनिग्घायं आवज्जियव्वं) और न ही उन पर फिदा होकर उनके लिए अपने को या दूसरे को न्योछावर करना चाहिए (न लुभियव्वं) न उनके पाने के लिए ललचाना चाहिए, (न तुसियव्वं) न उनके प्राप्त होने पर प्रसन्नता व्यक्त करनी चाहिए, न खुशी के मारे उछलना चाहिए; (न हसियव्वं) न विस्मयपूर्वक हंसना ही चाहिए (य) तथा (न सइं च मइं च

तस्य कुज्जा) न उन मनोज्ञ शब्दों का स्मरण करना चाहिए और न उनमें बुद्धि ही लगानी चाहिए। (पुणरवि) प्रकारान्तर से और भी कहते हैं—(सोइंदिएण) श्रोत्रेन्द्रिय से (अमणुन्नपावकाइं सद्दाइं सोच्चा) अमनोज्ञ एवं पापजनक-अशुभ शब्दों को सुन कर भी रोषादि नहीं करना चाहिये। (किं ते ?, वे शब्द कौन-कौन-से हैं ? (अक्कोस-फरुस-खिंसण-अवमाणण-तज्जण-निब्भंछण-दित्तवयण - तासण-उक्कूजिय-रुन्न-रडिय-कंदिय - निग्घुट्ठ - रसिय - कलुण - विलवियाइं) आक्रोशवचन, कठोरवचन, निन्दाकारी वचन, अपमानभरे शब्द, डांट-फटकार, धिक्कार, कोपवचन, त्रासजनक बोल, अव्यक्त चिल्लयों की कर्कश आवाज, रोने, चिल्लाने, बड़बड़ाने या सियार आदि के बोलने की आवाज, करुणस्वर, आर्त्तस्वर और विलाप करने का शब्द, (य) तथा (अन्नेसु एवमादिएसु अमणुण्णपावएसु तेसु सद्देसु) ये और इस प्रकार के अमनोज्ञ एवं अशुभ उन-उन शब्दों पर (समणेण) साधु को (न रुसियव्वं) रोष नहीं करना चाहिए, (न हीलियव्वं) कहने वाले की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए, (न निंदियव्वं) न लोगों में उसकी निन्दा ही करनी चाहिए, (न खिंसियव्वं) न उस पर खीजना चाहिए, न जनता के सामने उसे 'नालायक' आदि अपशब्द कहने चाहिए, (न छिंदियव्वं) न उस वस्तु या व्यक्ति को तोड़ना-फोड़ना चाहिए, न वृत्तिच्छेद ही कराना चाहिए (न भिंदियव्वं) न तो ऐसे भयावने या धमकी भरे वचनों से डरना चाहिए और न उसको डराना चाहिए, न हड्डी या मुंह तोड़ना चाहिए, (न वहेयव्वं) न उसे मारना-पीटना चाहिए, (न दुगुंछावत्तिया उप्पाएउं लब्भा) ऐसे वचन बोलने वाले के प्रति लोगों में इशारे आदि करके जुगुप्सा-घृणावृत्ति-नफरत पैदा करना भी ठीक नहीं है। (एवं) उक्त प्रकार से (सोतिंदियभावणाभावितो अंतरप्पा) श्रोत्रेन्द्रियभावना से साधु का अन्तरात्मा संस्कारित-वासित (भवति) हो जाता है और तब (मणुन्नामणुन्नसुब्भिदुब्भिरागदोसप्पणिहियप्पा) मनोज्ञ और अमनोज्ञ, शुभ और अशुभ शब्दों में क्रमशः राग और द्वेष के संवरण को प्राप्त (साहू) साधु (मणवयणकायगुत्ते) मन, वचन और काया का गोपन करने वाला (संवुडे) संवरयुक्त और (पणिहितेंदिए) संयम के विषय में इन्द्रियों को निश्चल रखता हुआ अथवा (पिहितेंदिए) इन्द्रियों को विषयों में दौड़ने से रोक कर रखता हुआ (धम्मं चरेज्ज) संवरधर्म का आचरण करता है।

(बितियं) द्वितीय भावनावस्तु इस प्रकार है—(चक्खिदिएण) नेत्रेन्द्रिय द्वारा (कट्ठे) काष्ठ सम्बन्धी पुतली आदि (य) (पोत्थे) पुस्तकसम्बन्धी या वस्त्रसम्बन्धी,

(चित्तकम्मे) चित्रकर्मसम्बन्धी (लेप्पकम्मे) मिट्टी आदि से दीवार आदि पर लेपनकर्मसम्बन्धी, (य) तथा (सेले) पत्थरसम्बन्धी, (य) (दंतकम्मे) हाथीदांत आदि के कर्मसम्बन्धी (पंचहिं) पांचों (वण्णेहिं) रंगों से युक्त (मणुन्नभद्दकाइं) मनोज्ञ तथा आंखों को प्रिय (सचित्ताचित्तमीसकाइं) सचित्त, अचित्त और मिश्र (रूवाणि) रूपों को (पासिय) देख कर (अणेगसंठाणसंठियाइं) अनेक संस्थान—आकार के रचे हुए, (गंठिम-वेढिम-पूरिम-संघातिमाणि) गूंथे हुए, वेढ़ कर कसीदा निकाले हुए, पिरोए हुए, माला की तरह इकट्ठे जोड़े हुए (अहियं) अधिक (नयण-मणसुहकराइं) आंखों और मन को सुख देने वाले (बहुविहाणि) अनेक प्रकार के (मल्लाइं) मालाओं में लगाये हुए फूलों को तथा (वणसंडे) वनखण्ड, (पव्वते) पर्वत, (गामागरनगराणि) गांव,खान एव नगर, (य) तथा (फुल्लुप्पलपउम-परिमंडियाभिरामे) खिले हुए नील कमलों और श्वेत कमलों से सुशोभित और नयनाभिराम, (अणेग-सउणिगणमिहुणविचरिए) जिनमें अनेक हंस, सारस आदि पक्षियों के जोड़े विचरण कर रहे हैं, ऐसे (खुड्डिय-पुक्खरिणी-वावी-दीहिय-गुंजालिय-सरसरपंतिय-सागर-बिलपंतिय-खादिय-नदी-सर-तलाव-वप्पिणी) छोटा जलाशय, कमलयुक्त गोल बावड़ी, लम्बी बावड़ी, टेढ़ीमेढ़ी नहर, खोदे हुए या बिना खोदे सरोवरों की पंक्ति, समुद्र, सोना चांदी आदि धातु की खान का मार्ग, खाई, नदी, स्वाभाविक सरोवर, कृत्रिम तालाब, क्यारियों से शोभायमान बगीचों को, (य) तथा (सोमपडिरूवदरिसणिज्जे) सौम्य, सुन्दर और दर्शनीय (अलंकितविभूसिते) मुकुट आदि से अलंकृत तथा वस्त्रादि से सुसज्जित, (पुव्वकयतवप्पभाव-सोहग्गसंपउत्ते) पूर्वकृत-तपस्या के प्रभाव से प्राप्त सौभाग्य से युक्त (वरमंडवविविहभवणतोरणचेतियदेवकुलसभप्पवावसह-सुकयसयणा-सण-सीय-रह-सयड-जाण-जुग्ग-संदण-नरनारिगणे) उत्तम मंडप, अनेक प्रकार के भवन, तोरण, चैत्य-यक्षादि की प्रतिमा, देवीदेवों के मन्दिर, सभा, प्याऊ, संन्यासियों के मठ, सुरचित शयन एवं आसन, पालकी, रथ, गाड़ी, यान, टमटम वाहनविशेष, रथविशेष तथा नर-नारियों के झुण्ड को, (य) तथा (नड-नट्टक-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंबक-कहग-पवग-लासग-आइक्खग-लंख-मंख—तूणइल्ल-तुंबवीणिय—तालायर—पकरणाणि) नट, नृत्य करने वाले, बाजा बजाने वाले, पहलवान, मुष्टिमल्ल-मुक्केबाज, भांड-विदूषक, कथाकार, तैराक, रास करने वाले, शुभाशुभ फल बताने वाले, बांस पर चढ़ कर खेल करने वाले, चित्रपट दिखाने वाले, तूण (तुनतुनी) नामक बाजा बजाने वाले, तुम्बी की वीणा बजाने वाले, तालमजीरे बजाने वाले व्यक्तियों के कार्यों—आश्चर्यजनक करतबों को तथा (बहूणि सुकरणाणि) बहुत-सी सुन्दर-सुन्दर क्रियाओं

को देख कर (य) और (एवमादिएसु अन्नेसु मणुन्नभद्दएसु तेसु रूवेसु) ये तथा इसी प्रकार के अन्य चक्षुग्राह्य, मनपसन्द एवं सुहावने सलोने उन-उन प्रसिद्ध रूपों में—दृश्यमान वस्तुओं में, (समणेण) संयमी साधु को (न सज्जियव्वं) आसक्त नहीं होना चाहिए, (न रज्जियव्वं) राग नहीं करना चाहिए (जाव) यावत् पहले की तरह गृद्धि, मोह, लोभ, हास्य, न्योछावर या प्रसन्नता आदि नहीं करना चाहिए; (तत्थ य) और उनको (न सइं च मइं च कुज्जा) न तो याद ही करना चाहिए और न उनमें बुद्धि लगानी चाहिए। (पुणरवि) और दूसरी तरह से (चक्खिदिएण) चक्षुइन्द्रिय से (अमणुन्नपावकाइं रूवाइं) अमनोज्ञ एवं पापजन्य अशुभ—असुन्दर रूपों को (पासिय) देख कर द्वेषादि नहीं करना चाहिए। (किं ते?) वे रूप कौन-कौन से हैं? (गंडि-कोढिक-कुणि-उदरि-कच्छुल्ल-पइल्ल-कुज्ज-पंगुल-वामण-अंधिल्लग-एगचक्खु-विणिहय-सप्पिसल्लग-वाहिरोगपीलियं) गंडमाला के रोगी, कोढ़ी, लूले या टोंटे, जलोदर के रोगी, खुजली के रोगी, हाथीपगा या कठिन पैर वाले, कुबड़े, लंगड़े या अपाहिज, बौने, अन्धे, काने, जन्मान्ध, भूत या पिशाच से ग्रस्त, अथवा पीढ़े के बल चलने वाले अथवा कमर झुका कर लाठी लिये चलने वाले, विशेष पीड़ा या चिरस्थायी बीमारी से अथवा तत्काल मिट जाने वाले रोग से पीड़ित (य) तथा (विगयाणि मयककलेवराणि) भोंडे भद्दे विकृत—बिगड़े हुये मुर्दों की लाशों को (च) तथा (सकिमिणकुहियं) कीड़ों से भरे हुए, सड़े हुये (दव्वरासिं) पदार्थों के ढेर को देख कर (य) तथा (एवमादिएसु अन्नेसु तेसु अमणुन्नपावकेसु) इसी प्रकार के अन्य उन-उन प्रसिद्ध अमनोज्ञ, पापकर्मजनित अशोभनीय बुरे रूपों में (समणेण) अपरिग्रही श्रमण को (न रूसियव्वं) रोष नहीं करना चाहिये। (जाव) यावत् अवहेलना, तिरस्कार, निन्दा, फटकार, धिक्कार, मारपीट, उस वस्तु को तोड़ना फोड़ना आदि नहीं करना चाहिये। (दुगुंछावत्तिया वि) उनके प्रति घृणा या जुगुप्सा का बर्ताव भी (उप्पातेउं) उत्पन्न करना (न लब्भा) उचित नहीं है। (एवं) इस प्रकार (चक्खिदियभावणा-भावितो) चक्षुरिन्द्रियभावना से संस्कारित (अंतरप्पा) अन्तरात्मा साधु (भवति) होता है, (जाव) यावत् वह स्वपरकल्याणसाधक साधु मनोज्ञ-अमनोज्ञ, शुभाशुभ वस्तुओं या दृश्यों को देख कर राग और द्वेष को आने से रोक लेता है और अपने मन, वचन एवं शरीर को उन-उन दृश्यों से होने वाले रागद्वेषादि से बचा कर रखता है, वही सुसंवृतेन्द्रिय अपरिग्रही साधक (चरिज्ज धम्मं) धर्म का यथार्थरूप से आचरण करता है।

(ततियं) तीसरी भावनावस्तु इस प्रकार है—(घाणिंदिएण) घ्राणेन्द्रिय-नाक से (मणुन्नभद्दगाइं) सूंघने योग्य मनोज्ञ और घ्राणप्रिय (गंधाइं) गन्धों को (अग्घाइय) सूंघ कर रागादि न करे। (किं ते) वे गन्ध कौन-कौन-से हैं ? (जलय-थलय-सरस-पुप्फ-फल-पाण-भोयण-कुट्ठ-तगर-पत्त-चोय-दमणक-मरुय-एलारस-पक्क मंसि-गोसीस-सरसचंदण-कप्पूर-लवंग - अगर-कुंकुम-कक्कोल - उसीर-सेयचदण-सुगंध-सारंग-जुत्ति वरधूववासे, जलजन्य, स्थलजन्य सरस फूल, फल, पान-पेयद्रव्य, भोजन, सुगन्धित कमलकुष्ठ नामक पदार्थ, तगर, तमालपत्र या अन्य कोई सर्वसुगन्धित द्रव्यविशेष, सुगन्धित छाल, दमनक नामक फूल, मरुए का फूल, इलायची का रस, जटामांसी, गोशीर्ष नामक सरस चन्दन, कपूर, लौंग, अगर, केसर, कक्कोल नामक खुशबूदार फल, खसखस, सफेद चन्दन, सुगन्धित कमल आदि पदार्थों के संयोग से बनी हुई श्रेष्ठ धूप की सुवास को सूंघ कर (तेसु) उनमें (य) तथा (उउय-पिंडिम-णिहारिमगंधिएसु) विभिन्न ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले कालोचित, बहुत-सी इकट्ठी सुगन्ध वाले एवं बहुत दूर तक फैलने वाली घनी सुगन्ध से युक्त द्रव्यों (य) तथा (अन्नेसु एवमादिएसु मणुन्नभद्दएसु तेसु गंधेसु) इसी प्रकार की मनोहर नासिकाप्रिय उन-उन सुगन्धों के विषय में (समणेण) अपरिग्रही श्रमण को (न सज्जियव्वं) आसक्ति नहीं करनी चाहिए, (जाव) यावत् उनके बारे में राग, मोह, लोभ, गृद्धि, हास्य, प्रसन्नता, न्यौछावर आदि करना योग्य नहीं है। (न सइं च मइं च तत्थ कुज्जा) न उनके सम्बन्ध में बार-बार स्मरण करना चाहिए और न ही उनमें बुद्धि लगानी चाहिए। (पुणरवि) और तरह से भी (घाणिंदिएण) घ्राणेन्द्रिय-नासिका से (अमणुन्नपावकाइं) अमनोज्ञ-मन के प्रतिकूल एवं पापजनित अशुभ-बुरे (गंधाणि) गन्धों को (अग्घातिय) सूंघ कर रोष आदि न करे। (किंते) ? वे दुर्गन्ध कौन-कौन-से हैं ? (*अहिमड-अस्समड-हत्थिमड-गोमड-विग - सुणग - मणुय-मज्जार-सीयाल - दीविय-*मयकुहियविणट्ठकिविणबहुदुरभिगंधेसु) मरे हुए सांप, मृत घोड़े, मृत हाथी, मृत गाय, तथा भेड़िया, कुत्ता, मनुष्य, बिल्ली, सियार, सिंह एवं चीता आदि के मरे हुए सड़े-गले शवों की, कीड़ों से कुलबुलाते हुए बहुत दूर-दूर तक बदबू फैलाने वाले दुर्गन्धों में (य) तथा (एवमादिएसु अन्नेसु अमणुन्नपावएसु तेसु गंधेसु) इस प्रकार के और भी अमनोज्ञ एवं पापजनित अशुभ उन-उन दुर्गन्धों के विषय में (समणेण) अपरिग्रही साधु को (न रूसियव्वं) रोष नहीं करना चाहिए (न हीलियव्व) न नाक-भौं सिकोड़ना या निन्दा करना चाहिए; (जाव) यावत् उपेक्षा, निन्दा, तिरस्कार, तोड़-फोड़, मारपीट, घृणा-

नफरत आदि नहीं करना चाहिए। इस प्रकार की घ्राणेन्द्रियभावना से भा
अन्तरात्मा साधु मन के अनुकूल या प्रतिकूल शुभ या अशुभ गंध के मिलने पर
और द्वेष को तुरन्त रोक लेता है, अपने मन, वचन और शरीर को उनके जाल में फं
बचाता है। इस प्रकार संवरयुक्त साधु (पणिहितिंदिए) अपनी इन्द्रियों को सुसि
करके (धम्मं चरेज्ज) धर्म का शुद्ध आचरण करता है।

(चउत्थं) चौथी भावनावस्तु इस प्रकार है-- (जिब्भिदिएण) रसनेन्द्रिय
द्वारा (मणुन्नभद्दकाइं) मनोहर एवं जिह्वा को प्रिय (रसाणि उ) रसों को (साइ
स्वाद ले कर-चख कर उनमें आसक्ति आदि नहीं करना चाहिये। (किं ते ?) वे
कौन-कौन से हैं ? (उग्गाहिम-विविहपाण-भोयण-गुलकय-खंडकय-तेल्लघयकय-भक्खे
रसपूर्ण पक्वान्न, विविध पेय पदार्थ, भोजन तथा गुड़, शक्कर, तेल और घी से बना
हुए भोज्य पदार्थ (य) तथा (बहुविहेसु) अनेक प्रकार के (लवणरस-संजुत्तेसु) लवण
रसों—मिर्चमसालों से संस्कारित (महुमंस-बहुप्पगार-मज्जिय-निट्ठाणग-दालियंब-सेहंब
दुद्ध-दहि-सरय-मज्ज-वरवारुणी-सीहु-काविसायण-सायट्ठारस-बहुप्पगारेसु) मधु, मांस
अनेक प्रकार की मज्जिका, बहुत मूल्य से बनाया हुआ भोजन द्रव्य, खटाई, मिर्च
जीरे आदि से छौंकी हुई स्वादिष्ट दाल, सेंधानमक, खटाई आदि डाल कर बनाय
अंचार-अथाणा, दूध, दही, गुड़ तथा धातकीपुष्प आदि से बना हुआ सरक नामक
पेयपदार्थ, जौ आदि के आटे से बना हुआ मद्य, गुड़ तथा महुए आदि से बनी हुई
वारुणी मदिरा, सीधु और कापिशायन नामक मद्यविशेष, तथा १८ प्रकार के साग
तथा अनेक प्रकार के (मणुन्नवण्णगंधरस-फास बहुदव्वसंभितेसु तेसु भोयणेसु) मनोज्ञ
वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से निष्पन्न एवं बहुत से द्रव्यों से उपस्कृत उन-उन भोज्य
पदार्थों में (य) और (एवमादिएसु अन्नेसु मणुन्नभद्दएसु रसेसु) इस प्रकार के मनोज्ञ
और रसनेन्द्रिय प्रिय रसों—स्वादिष्ट पदार्थों में (समणेण) अपरिग्रही श्रमण को (न
सज्जियव्वं) आसक्त नहीं होना चाहिए, (जाव) यावत् उनमें राग, मोह, लोभ, गृद्धि,
लोलुपता एवं उनपर फिदा होकर अपने को न्योछावर न करना चाहिए; न प्रसन्नता प्रगट
करनी चाहिए। (न सइं च मइं च तत्थ कुज्जा) और न उनकी याद करनी चाहिए, न
उनमें बुद्धि लगानी चाहिए। (पुणरवि) फिर दूसरी तरह से भी (जिब्भिदिएण)
जिह्वेन्द्रिय के द्वारा (अमणुन्नपावगाइं) अमनोज्ञ एवं पापजनित अशुभ (रसाइं) रसों
को (साविय) चख कर रोष आदि नहीं करना चाहिए। (किं ते ?) वे विपरीत रस
कौन-कौन से हैं ?

(अरस-विरस-सीय-लुक्खणिज्जप्पपाणभोयणाइं) रसहीन, चलित रस वाले या विकृत, ठंडे, रूखे, बासी, सत्त्वहीन (अपोषक) पेय पदार्थ और भोजन (दोसीणवावन्नकुहिय-पूइय अमणुन्नविणट्ठ-पसूयबहुदुब्भिगंधाइं) रातबासी, रंग बदला हुआ, सड़ी हुई बदबू वाला, दुर्गन्धयुक्त, अमनोज्ञ, विनष्ट, काई तथा फूलन से युक्त, अतएव अत्यन्त बदबूदार (तित्तकडुयकसायअंबिलरससलिंडनीरसाइं) तीखे, कड़वे, कसैले, खट्टे, शेवाल अर्थात्—काई के सहित गन्दे जल के समान सड़े हुए जो दुर्गन्धमय एवं नीरस पदार्थ हैं, (तेसु) उनमें तथा (एवमादिएसु अन्नेसु अमणुन्नपावकेसु रसेसु) इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ एवं पापजन्य अशुभ रसों के सम्बन्ध में (समणेण) अपरिग्रही श्रमण को (न रूसियव्वं) रोष नहीं करना चाहिए, (जाव) यावत् उनमें द्वेष, निन्दा, घृणा, उपेक्षा, मारपीट, डाट-फटकार, तोड़फोड़ या नफरत नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार जिह्वेन्द्रियभावना से संस्कारित साधु की अंतरात्मा मनोज्ञ-अमनोज्ञ तथा शुभाशुभ रसों में राग और द्वेष को रोक लेती है तथा वह अपरिग्रहयुक्त साधु मनवचनकाया का संगोपन करके संवृत और सुरक्षितेन्द्रिय बन कर (धम्मं चरेज्ज) चारित्रधर्म का आचरण करता है।

(पंचमगं पुण) इसके बाद पांचवीं भावनावस्तु इस प्रकार है—(फासिंदिएण) स्पर्शनेन्द्रिय से (मणुन्नभद्दकाइं) मनोज्ञ और स्पर्शनेन्द्रियप्रिय, सुहावने (फासाइं) स्पर्शों को (फासिय) स्पर्श करके रागादि नहीं करना चाहिए। (किं ते ?) वे स्पर्श कौन-कौन से हैं ? (दगमंडवहाररसेयचंदणसीयलविमलजलविविह - कुसुमसत्थर-ओसीर-मुत्तिय - मुणाल-दोसिणा - पेहुण-उक्खेवग - तालियंटवीयणगजणियसुहसीयले) जिनमें जल के फव्वारे चलते रहते हैं, ऐसे मंडप, झरने, हीरकहार, श्वेतचन्दन, ठंडा स्वच्छ जल, विविध प्रकार के फूलों की शय्याएँ, खसखस, मोती, कमल की डंडी, रात को छिटकने वाली चांदनी तथा मोर की पांखों के चन्दवे के पंखों एवं ताड़ के बनाये हुए पंखों से उत्पन्न सुखद शीतल (पवणे) हवा (य) तथा (गिम्हकाले सुहफासाणि बहूणि सयणाणि) ग्रीष्मकाल में सुखस्पर्श वाली बहुत-सी शय्याएँ (य) तथा (सिसिरकाले) शीतकाल में (पाउरणगुणे) ठंड मिटाने वाले गुणकारी ओढ़ने के कपड़े (य) तथा (अंगार-पतावणा) अंगारों से तापना—हाथ वगैरह सेकना; (य) तथा (आयवनिद्ध-मउय-सीयउसिणलहुया) सूरज की धूप, चिकने कोमल शीतल, गर्म और हलके (अंगसुह-निव्वुइकरा) अंगों को सुख और मन को शान्ति-स्वस्थता देने वाले (य) तथा (जे उउसुहफासा) जो हेमन्त आदि ऋतु काल के अनुसार सुखद स्पर्श हैं (य)

नफरत आदि नहीं करना चाहिए। इस प्रकार की घ्राणेन्द्रियभावना से भावित अन्तरात्मा साधु मन के अनुकूल या प्रतिकूल शुभ या अशुभ गंध के मिलने पर राग और द्वेष को तुरन्त रोक लेता है, अपने मन, वचन और शरीर को उनके जाल में फंसने बचाता है। इस प्रकार संवरयुक्त साधु (पणिहितिंदिए) अपनी इन्द्रियों को सुस्थित करके (धम्मं चरेज्ज) धर्म का शुद्ध आचरण करता है।

(चउत्थं) चौथी भावनावस्तु इस प्रकार है-- (जिब्भिदिएण) रसनेन्द्रिय के द्वारा (मणुन्नभद्दकाइ) मनोहर एवं जिह्वा को प्रिय (रसाणि उ) रसों को (साइय) स्वाद ले कर-चख कर उनमें आसक्ति आदि नहीं करना चाहिये। (किं ते ?) वे रस कौन-कौन से हैं ? (उग्गाहिम-विविहपाण-भोयण-गुलकय-खंडकय-तेल्लघयकय-भक्खेसु) रसपूर्ण पकवान, विविध पेय पदार्थ, भोजन तथा गुड़, शक्कर, तेल और घी से बनाए हुए भोज्य पदार्थ (य) तथा (बहुविहेसु) अनेक प्रकार के (लवणरस-संजुत्तेसु) लवण-रसों—मिर्चमसालों से संस्कारित (महुमंस-बहुप्पगार-मज्जिय-निट्ठाणग-दालियंब-सेहंब-दुद्ध-दहि-सरय-मज्ज-वरवारुणी-सीहु-काविसायण-सायट्ठारस-बहुप्पगारेसु) मधु, मांस, अनेक प्रकार की मज्जिका, बहुत मूल्य से बनाया हुआ भोजन द्रव्य, खटाई, मिर्च, जीरे आदि से छौंकी हुई स्वादिष्ट दाल, सेंधानमक, खटाई आदि डाल कर बनाया अंचार-अथाणा, दूध, दही, गुड़ तथा धातकीपुष्प आदि से बना हुआ सरक नामक पेयपदार्थ, जौ आदि के आटे से बना हुआ मद्य, गुड़ तथा महुए आदि से बनी हुई वारुणी मदिरा, सीधु और कापिशायन नामक मद्यविशेष, तथा १८ प्रकार के साग तथा अनेक प्रकार के (मणुन्नवन्नगंधरस-फास बहुदव्वसंभितेसु तेसु भोयणेसु) मनोज्ञ वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से निष्पन्न एवं बहुत से द्रव्यों से उपस्कृत उन-उन भोज्य पदार्थों में (य) और (एवमादिएसु अन्नेसु मणुन्नभद्दएसु रसेसु) इस प्रकार के मनोज्ञ और रसनेन्द्रिय प्रिय रसों—स्वादिष्ट पदार्थों में (समणेण) अपरिग्रही श्रमण को (न सज्जियव्वं) आसक्त नहीं होना चाहिए, (जाव) यावत् उनमें राग, मोह, लोभ, गृद्धि, लोलुपता एवं उनपर फिदा होकर अपने को न्योछावर न करना चाहिए; न प्रसन्नता प्रगट करनी चाहिए। (न सइं च मइं च तत्थ कुज्जा) और न उनकी याद करनी चाहिए, न उनमें बुद्धि लगानी चाहिए। (पुणरवि) फिर दूसरी तरह से भी (जिब्भिदिएण) जिह्वेन्द्रिय के द्वारा (अमणुन्नपावगाइं) अमनोज्ञ एवं पापजनित अशुभ (रसाइं) रसों को (साइय) चख कर रोष आदि नहीं करना चाहिए। (किं ते ?) वे विपरीत रस कौन-कौन से हैं ?

(अरस-विरस-सीय-लुक्ख-णिज्जप्पपाणभोयणाइं) रसहीन, चलित रस वाले या विकृत, ठंडे, रूखे, बासी, सत्त्वहीन (अपोषक) पेय पदार्थ और भोजन (दोसीणवावन्नकुहिय-पूइय अमणुन्नविणट्ठ-पसूयबहुदुब्भिगंधाइं) रातवासी, रंग बदला हुआ, सड़ी हुई बदबू वाला, दुर्गन्धयुक्त, अमनोज्ञ, विनष्ट, काई तथा फूलन से युक्त, अतएव अत्यन्त बदबूदार (तित्तकडुयकसायअंबिलरसलिंडनीरसाइं) तीखे, कड़वे, कसैले, खट्टे, शैवाल अर्थात्—काई के सहित गन्दे जल के समान सड़े हुए जो दुर्गन्धमय एवं नीरस पदार्थ हैं, (तेसु) उनमें तथा (एवमादिएसु अन्नेसु अमणुन्नपावकेसु रसेसु) इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ एवं पापजन्य अशुभ रसों के सम्बन्ध में (समणेण) अपरिग्रही श्रमण को (न रूसियव्वं) रोष नहीं करना चाहिए, (जाव) यावत् उनमें द्वेष, निन्दा, घृणा, उपेक्षा, मारपीट, डांट-फटकार, तोड़फोड़ या नफरत नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार जिह्वेन्द्रियभावना से संस्कारित साधु की अन्तरात्मा मनोज्ञ-अमनोज्ञ तथा शुभाशुभ रसों में राग और द्वेष को रोक लेती है तथा वह अपरिग्रहयुक्त साधु मनवचनकाया का संगोपन करके संवृत और गुप्तितेन्द्रिय बन कर (धम्मं चरेज्ज) चारित्रधर्म का आचरण करता है।

(पंचमगं पुण) इसके बाद पांचवीं भावनावस्तु इस प्रकार है—(फासिंदिएण) स्पर्शनेन्द्रिय से (मणुन्नभद्दकाइं) मनोज्ञ और स्पर्शनेन्द्रियप्रिय, सुहावने (फासाइं) स्पर्शों को (फासिय) स्पर्श करके रागादि नहीं करना चाहिए। (किं ते ?) वे स्पर्श कौन-कौन से हैं ? (दगमंडवहारसेयचंदणसीयलविमलजलविविह - कुसुमसत्थर-ओसीर-मुत्तिय - मुणाल-दोसिणा - पेहुण-उक्खेवग - तालियंटवीयणगजणियसुहसीयले) जिनमें जल के फव्वारे चलते रहते हैं, ऐसे मंडप, हार, हीरकहार, श्वेतचंदन, ठंडा स्वच्छ जल, विविध प्रकार के फूलों की शय्याएँ, खसखस, मोती, कमल की डंडी, रात को छिटकने वाली चांदनी तथा मोर की पांखों के पंखा के पंखों एवं ताड़ के बनाये हुए पंखों से उत्पन्न सुखद शीतल (पवणे) हवा (य) तथा (गिम्हकाले सुहफासाणि बहूणि सयणाणि) ग्रीष्मकाल में सुखस्पर्श वाली बहुत-सी शय्याएँ (य) तथा (सिसिरकाले) शीतकाल में (पाउरणगुणे) ठंड मिटाने वाले गुणकारी ओढ़ने के कपड़े (य) तथा (अंगार-पयावणा) अंगारों से तापना—हाथ वगैरह सेकना; (य) तथा (आयवनिद्ध-मउय-सीयउसिणलहुया) सूरज की धूप, चिकने कोमल शीतल, गर्म और हलके (अंगसुह-निव्वुइकरा) अंगों को सुख और मन को शान्ति-स्वस्थता देने वाले (य) तथा (जे उउसुहफासा) जो हेमन्त आदि ऋतु काल के अनुसार सुखद स्पर्श हैं (य)

और (एयमादिएसु अन्नेसु मणुन्नभद्दएसु तेसु फासेसु) ये तथा इसी प्रकार के दूसरे मनोहर एवं स्पर्शनेन्द्रियप्रिय स्पर्शों में (समणेण) परिग्रहत्यागी श्रमण को (न सज्जियव्वं) आसक्ति नहीं करनी चाहिए, (न रज्जियव्वं) अनुरक्त नहीं होना चाहिए, (न गिज्झियव्वं) गृद्धि—मनोज्ञ के पाने की सतत लालसा भी नहीं करनी चाहिए, (न मुज्झियव्वं) न मोह करना चाहिए, (न विणिग्घायं आवज्जियव्वं) उन पर फिदा हो कर अपने आप को न्योछावर नहीं करना चाहिए या पतंगे की तरह उस पर टूट नहीं पड़ना चाहिए, (न लुभियव्वं) न ही लोभ करना चाहिए, (न अज्झोववज्जियव्वं) बार-बार आकांक्षा करके आत्मा में उसी बात को घोलते नहीं रहना चाहिए, (न तूसियव्वं) न मनोज्ञवस्तु प्राप्त होने पर मन में प्रसन्न होना चाहिए, (न हसियव्वं) न ही हंसना चाहिए। न सत्य सतिं च मतिं च कुज्जा) न उनका बार-बार स्मरण तथा मनन करना चाहिए। (पुणरवि) पुनश्च (फासिदिएण) स्पर्शनेन्द्रिय से (अमणुन्न पावकाइं) अमनोज्ञ—अरुचिकर एवं पापजनित अशुभ (फासाइं) स्पर्शों को (फासिय) स्पर्श करके क्रोधादि नहीं करना चाहिए। (किं ते?) वे अमनोज्ञ स्पर्श कौन-कौन-से हैं? (अणेगवधबंधतालणंकण-अतिभारारोपण-अंगभंजण-सुईनखप्पवेस-गायपच्छणण-लक्खारस-खारतेल्ल - कलकलंत—तउसीसककाललोहसिंचण-हडिबंधण-रज्जु-निगल-संकल-हत्थंडुय-कुंभीपाक-दहण-सीहपुच्छण-उब्बंधण-सूलभेय-गयचलणमलण-करचरणकन्ननासोट्ठसीसछेयण-जिब्भछेयण-वसण-नयण-हियय-दंतभंजण-जोत्तलयकसप्पहार-पादपण्हि-जाणु-पत्थरनिवाय-पीलण-कविकच्छु-अगणि- विच्छुयडक्क-वायातवदंसमसकनिवाते) अनेक प्रकार के रस्सी आदि के बन्धन, वध-लाठी आदि से मारपीट, थप्पड़, या मुक्के आदि मारना, तपी हुई गर्मागर्म लोहे की सलाई से शरीर पर डाम देना—अंकित कर देना, अत्यन्त बोझा लाद देना, अंगभंग करना, या अंगों को मोड़ना, नखों में सूइयाँ घुसेड़ना, शरीर में छेद करना, गर्म लाख का रस, खार, तेल, तपे हुए सीसे व काले लोहे का सिंचन-सेक करना, खोड़े में डाल देना, रस्सी की बेड़ी से बांध देना, लोहे की जंजीर तथा हथकड़ियाँ डालना, कड़ाही में डाल कर पकाना, आग में जलाना, सिंह की पूछ से बांध कर घसीटना, पेड़ आदि से उलटा बांध देना, शूली में पिरो देना, हाथी के पैर के नीचे कुचलवा देना; हाथ, पैर, कान, नाक, ओठ और सिर का छेदन करना, जीभ खींच लेना, अंडकोश, नेत्र, हृदय और दांतों को तोड़फोड़ कर निकलवाना, बेंत और चाबुक से पीटना, पैरों के पिछले भाग और घुटनों पर पत्थर गिराना, कोल्हू में पीलना, कौंच की फली, अग्नि, बिच्छू का डंक, हवा, गर्मी, डांस

और मच्छरों के उपद्रव; इन सब दुःखद स्पर्श एवं (दुट्ठणिसज्ज-दुन्निसीहिया-दुम्मिवकक्खड-गुरुसीयउसिणलुक्खेसु) बैठने की खराब जगह, कष्टकर स्वाध्यायभूमि-निषीधिका का स्पर्श तथा अत्यन्त कठोर, अत्यन्त वजनदार, अत्यन्त ठंडा, बहुत ही गर्म, एकदम रूखा, (य) तथा (एवमादिएसु अन्नेसु अमणुन्नपावकेसु बहुविहेसु) इसी प्रकार के अनेक किस्म के अन्यान्य अमनोज्ञ तथा पापकर्मजन्य अशुभ उन-उन स्पर्शों के प्राप्त होने पर (समणेण) संयमी श्रमण को, (न रुसियव्वं) उन पर या उनके किसी निमित्त पर रोष नहीं करना चाहिए, (न हीलियव्वं) न तिरस्कार करना चाहिए, (न निंदियव्वं) न वस्तु या उसके निमित्त रूप बने व्यक्ति की निन्दा ही करनी चाहिए, (न गरहियव्वं) न लोगों के सामने उसके दोषों का भंडा फोड़ना चाहिए, (न खिंसियव्वं) न खीजना-चिढ़ना चाहिए, (न छिंदियव्वं) उस वस्तु या तन्निमित्त व्यक्ति को तोड़ना-फोड़ना न चाहिए, (न भिंदियव्वं) न उस वस्तु या व्यक्ति का भेदन करना चाहिए; (न वहेयव्वं) न वध-मारपीट करना चाहिए, (य) और (न दुगुंछावत्तिया उप्पाएउं लब्भा) उस वस्तु या व्यक्ति के प्रति घृणा, नफरत या जुगुप्सा की भावना पैदा करना भी उचित नहीं है। (एवं) इस प्रकार (फासिंदियभावणाभावितो) स्पर्शेन्द्रिय भावना से (अंतरप्पा) साधक की अन्तरात्मा सुसंस्कृत (भवति) होती है। (मणुन्नामणुन्नसुब्भिदुब्भिरागदोसपणिहियप्पा) मनोज्ञ या अमनोज्ञ, शुभ या अशुभ स्पर्शों के प्राप्त होने पर राग और द्वेष को रोक कर आत्मा में सुस्थिर हो कर (साहू) स्वपरकल्याणसाधक साधु (मणवयकायगुत्ते) मन, वचन और काया को संगोपन करता हुआ, (संवुडे) संवरभावना से युक्त होकर (पणिहिइंदिए) इन्द्रियों को समाधिस्थ करके यानी विषयों से हटा कर नियंत्रण करके (धम्मं चरेज्ज) सद्धर्म का आचरण करता है।

(एव) इस प्रकार (इणं संवरस्स दारं) यह अपरिग्रह नामक संवर का द्वार (इमेहिं पंचहिं वि कारणेहिं) इन पांचों भावनारूप कारणों से (मणवयणकाय-परिरक्खिएहिं) मन, वचन और काया को विविध पहलुओं से बचा कर सुरक्षित रखने से (सम्मं सुप्पणिहियं) साधक के संस्कारों में अच्छी तरह जम जाता, निहित हो जाता (होइ) है (संवरियं) संवर से ओतप्रोत हो जाता है। (धिइमया) धैर्यवान एवं (मइमया) बुद्धिमान साधक को (आमरणंतं) जीवन के अन्त तक (निच्चं) प्रतिदिन (एस जोगो णेयव्वो) पांच भावनाओं के चिन्तनरूप इस योग का प्रयोग करना चाहिए; जो (अणासवो) आस्रवरहित है, (अकलुसो) निर्मल है, (अच्छिद्दो) किसी दोष को घुसने के अवकाश से रहित, (अपरिस्सावी) पापजलों के रिसने, टपक कर आने से

और (एवमाविएसु अन्नेसु मणुन्नभद्दएसु तेसु फासेसु) ये तथा इसी प्रकार के दूसरे मनोहर एवं स्पर्शनेन्द्रियप्रिय स्पर्शों में (समणेण) परिग्रहत्यागी श्रमण को (न सज्जियव्वं) आसक्ति नहीं करनी चाहिए, (न रज्जियव्वं) अनुरक्त नहीं होना चाहिए, (न गिज्झियव्वं) गृद्धि—मनोज्ञ के पाने की सतत लालसा भी नहीं करनी चाहिए, (न मुज्झियव्वं) न मोह करना चाहिए, (न विणिग्घायं आवज्जियव्वं) उन पर फिदा हो कर अपने आप को न्योछावर नहीं करना चाहिए या पतंगे की तरह उस पर टूट नहीं पड़ना चाहिए, (न लुभियव्वं) न ही लोभ करना चाहिए, (न अज्झोववज्जियव्वं) बार-बार आकांक्षा करके आत्मा में उसी बात को घोलते नहीं रहना चाहिए, (न तुसियव्वं) न मनोज्ञवस्तु प्राप्त होने पर मन में प्रसन्न होना चाहिए, (न हसियव्वं) न ही हंसना चाहिए। न तत्य सति च मति च कुज्जा) न उनका बार-बार स्मरण तथा मनन करना चाहिए। (पुणरवि) पुनश्च (फासिदिएण) स्पर्शनेन्द्रिय से (अमणुन्न पावकाइं) अमनोज्ञ—अरुचिकर एवं पापजनित अशुभ (फासाइं) स्पर्शों को (फासिय) स्पर्श करके क्रोधादि नहीं करना चाहिए। (किं ते ?) वे अमनोज्ञ स्पर्श कौन-कौन से हैं ? (अणेगवधबंधतालणंकण-अतिभारारोपण-अंगभंजण-सूईनखप्पवेस-गायपच्छणण-लक्खारस-खारतेल्ल - कलकलंत—तउसीसककालल्लोहसिंचण-हडिबंधण-रज्जु-निगल-संकल-हत्थंडुय-कुंभीपाक-दहण-सीहपुच्छण-उब्बंधण-सूलभेय- गयचलणमलण-कर-चरणकन्ननासोट्ठसीसछेयण-जिब्भछेयण-वसण-नयण-हियय-दंतभंजण-जोत्तलयकसप्पहार-पादपण्हि-जाणु-पत्थरनिवाय-पीलण-कविकच्छु-अगणि- विच्छुयडक्क-वायातवदंसमसकनिवाते)अनेक प्रकार के रस्सी आदि के बन्धन, वध-लाठी आदि से मारपीट, थप्पड़, या मुक्के आदि मारना,तपी हुई गर्मागर्म लोहे की सलाई से शरीर पर डाम देना—अंकित कर देना, अत्यन्त बोझ लाद देना, अंगभंग करना, या अंगों को मोड़ना, नखों में सुइयां घुसेड़ना, शरीर में छेद करना, गर्म लाख का रस, खार, तेल, तपे हुए सीसे व काले लोहे का सिंचन-सेक करना, खोड़े में डाल देना, रस्सी की बेड़ी से बांध देना, लोहे की जंजीर तथा हथकड़ियां डालना, कड़ाही में डाल कर पकाना, आग में जलाना, सिंह की पूंछ से बांध कर घसीटना, पेड़ आदि से उलटा बांध देना, सूली में पिरो देना, हाथी के पैर के नीचे कुचलवा देना; हाथ, पैर, कान, नाक, ओठ और सिर का छेदन करना, जीभ खींच लेना, अंडकोश, नेत्र, हृदय और दांतों को तोड़फोड़ कर निकलवाना, बेंत और चाबुक से पीटना, पैरों के पिछले भाग और घुटनों पर पत्थर गिराना, कोल्हू में पीलना, कौंच की फली, अग्नि, बिच्छू का डंक, हवा, गर्मी, डांस

और मच्छरों के उपद्रव; इन सब दुःखद स्पर्श एवं (दुट्ठणिसज्ज-दुन्निसीहिया-दुक्खिकक्खड-गुरुसीयउसिणलुक्खेसु) बैठने की खराब जगह, कष्टकर स्वाध्यायभूमि-निषीधिका का स्पर्श तथा अत्यन्त कठोर, अत्यन्त वजनदार, अत्यन्त ठंडा, बहुत ही गर्म, एकदम रूखा, (य) तथा (एवमादिएसु अन्नेसु अमणुन्नपावकेसु बहुविहेसु) इसी प्रकार के अनेक किस्म के अन्यान्य अमनोज्ञ तथा पापकर्मजन्य अशुभ उन-उन स्पर्शों के प्राप्त होने पर (समणेण) संयमी श्रमण को, (न रूसियव्व) उन पर या उनके किसी निमित्त पर क्रोध नहीं करना चाहिए, (न हीलियव्वं) न तिरस्कार करना चाहिए, (न निंदियव्वं) न वस्तु या उसके निमित्त रूप बने व्यक्ति की निन्दा ही करनी चाहिए, (न गरहियव्वं) न लोगों के सामने उसके दोषों का भंडा फोड़ना चाहिए, (न खिसियव्वं) न खीजना-चिढ़ना चाहिए, (न छिंदियव्वं) उस वस्तु या तन्निमित्त व्यक्ति को तोड़ना-फोड़ना न चाहिए, (न भिंदियव्वं) न उस वस्तु या व्यक्ति का भेदन करना चाहिए; (न वहेयव्वं) न वध-मारपीट करना चाहिए, (च) और (न दुगुंछावत्तिया उप्पाएउं लब्भा) उस वस्तु या व्यक्ति के प्रति घृणा, नफरत या जुगुप्सा की भावना पैदा करना भी उचित नहीं है। (एवं) इस प्रकार (फासिंदियभावणाभावितो) स्पर्शेन्द्रिय भावना से (अंतरप्पा) साधक की अन्तरात्मा सुसंस्कृत (भवति) होती है। (मणुन्नामणुन्नसुब्भिदुब्भिरागदोसपणिहियप्पा) मनोज्ञ या अमनोज्ञ, शुभ या अशुभ स्पर्शों के प्राप्त होने पर राग और द्वेष को रोक कर आत्मा में सुस्थित हो कर (साहू) स्वपरकल्याणसाधक साधु (मणवयकायगुत्ते) मन, वचन और काया को संगोपन करता हुआ, (संवुडे) संवरभावना से युक्त होकर (पणिहितेंदिए) इन्द्रियों को समाधिस्थ करके यानी विषयों से हटा कर निश्चल करके (धम्मं चरेज्ज) शुद्धधर्म का आचरण करता है।

(एवं) इस प्रकार (इणं संवरस्स दारं) यह अपरिग्रह नामक संवर का द्वार (इमेहिं पंचहिं वि कारणेहिं) इन पांचों भावनारूप कारणों से (मणवयकाय-परिरक्खिएहिं) मन, वचन और काया को विविध परिग्रहों से बचा कर सुरक्षित रखने से (सम्मं सुप्पणिहियं) साधक के संस्कारों में अच्छी तरह जम जाता, निष्ठित हो जाता (होइ) है, (संवरियं) संवर से ओतप्रोत हो जाता है। (धितिमया) धैर्यवान् एवं (मतिमया) बुद्धिमान साधक को (आमरणंतं) जीवन के अन्त तक (निच्चं) प्रतिदिन (एस जोगो नेयव्वो) पांच भावनाओं के चिन्तनरूप यह प्रयोग करना चाहिए; जो (अणासवो) आश्रवरहित है, (अकलुसो) निर्मल है, (अच्छिद्दो) किसी दोष को घुसने के अवकाश से रहित, (अपरिस्सावी) पापस्रोतों से रहित, सकल गुणधारी होने से

(असंकिलिट्ठो) संक्लेशकर परिणामों से रहित, (सुद्धो) शुद्ध, (सव्वजिणमणुन्नातो) समस्त तीर्थंकरों द्वारा अनुज्ञात है मान्य है।

(एवं) पूर्वोक्त प्रकार से (पंचमं) पांचवां (संवरदारं) परिग्रहविरमण-अपरिग्रह-रूप संवरद्वार (फासियं) शरीर से क्रियान्वित किया हुआ—अमल में लाया हुआ, (पालियं) पालन किया हुआ, (सोहियं) अतिचार दूर करके शोधन किया गया, (तीरियं) अन्त तक पार लगाया हुआ, (किट्टियं) दूसरों को आदरपूर्वक बताया हुआ ही (आणाए आराहियं) भगवदाज्ञा या शास्त्राज्ञानुसार आराधित (भयति) होता है। एवं) इस तरह से (नायमुणिणा भगवया) ज्ञातवंश में उत्पन्न श्री भगवान् महावीर द्वारा (पन्नवियं) हितोपदेशरूप में बताया गया, (परूवियं) भव्यजनों के सामने अर्थतः प्ररूपण किया गया (पसिद्ध) जगत में प्रसिद्ध किया हुआ, (सिद्ध) नयों और प्रमाणों से सिद्ध (सिद्धवरसासणं) सिद्धों की श्रेष्ठ आज्ञारूप है, (आघविय) मर्यादाओं की रक्षा के लिए कहा गया है, (सुदेसियं) भलीभांति उपदिष्ट है, (पसत्थं) प्रशस्त मंगलमय, (इणं पंचमं संवरदारं समत्तं) यह पांचवां संवरद्वार समाप्त हुआ। (ति बेमि) इस प्रकार मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूं।

[1](सुव्वय!) हे सुव्रत! (एयाइं) ये (पंचवि) पांचों ही (महव्वयाइं) महाव्रत (हेउसयविवित्तपुक्खलाइं) सैकड़ों निर्दोष हेतुओं से विस्तीर्ण, (अरिहंतसासणे) अरिहंतप्रभु के शासन में (समासेण) संक्षेप में (कहियाइं) कहे गये हैं। (वित्थ-रेण उ) विस्तार से तो (पणवीसई) पच्चीस (संवरा) संवर बताए गए हैं। (समिय-

---

१—पाठान्तर का पदान्वयार्थ—(सुव्रत) हे सुव्रत! (एतानि पंचापि महाव्रतानि) ये पांचों ही महाव्रत, (लोकधृतिकराणि) लोक को धारण करने वाले या जगत् को धैर्य बंधाने वाले, (श्रुतसागरदेशितानि) आगमसागर में उपदिष्ट हैं, (संयमशीलव्रतसत्यार्जवमयानि) संयम, शील, व्रत, सत्य और सरलता आदि गुणमय हैं, (नरकतिर्यग्देवमनुजगतिविवर्जकानि) शुद्धरूप से पालन करने पर नरक, तिर्यंच, देव और मनुष्यगति से छुड़ाने वाले हैं, (सर्वजिनशासनानि) समस्त तीर्थंकरों की आज्ञारूप हैं, (कर्मरजोविदारकाणि) कर्मरज को मिटाने वाले हैं, (भवशतविमोचकानि) सैकड़ों भवों से छुटकारा दिलाते हैं, (दुःखशतविनाशकानि) सैकड़ों दुःखों का नाश करने वाले हैं, (सुखशतप्रवर्तकानि) सैकड़ों सुखों के प्रवर्तक हैं, (कापुरुषदुरुत्तराणि) कायरों के लिए दुस्तर हैं, (सत्पुरुषतीर्णानि) सत्पुरुषों द्वारा पार लगाए हुए हैं। (निर्वाणगमनमार्गाणि) निर्वाणगमन के लिए मार्गरूप हैं, (स्वर्गप्रयाणकानि) स्वर्ग में पहुंचाने वाले (कथितानि) कहे हैं। सम्पादक

सहियसंवुडे) ईर्या आदि समितियों से युक्त, ज्ञानदर्शनसहित और संवर से सम्पन्न (सया जयणघडणसुविसुद्धदंसणे) प्राप्त संयमयोग की रक्षा तथा अप्राप्त संयमयोग की प्राप्ति के लिए सदा यतना-पूर्वक चेष्टा-प्रवृत्ति करने से निर्मल दर्शन-सम्यग्दृष्टि वाला (संजते) संयमी साधु (एए) उक्त संवरों का (अणुचरिय) पालन करके (चरमसरीरधरे) चरमशरीरी-इसी अन्तिम शरीर को धारण करने वाला, (भविस्संतीति) होगा। वाचनान्तर के अनुसार 'कार्मणशरीर का ग्रहण फिर नहीं करेगा' ऐसा अर्थ होता है।

मूलार्थ—इन पूर्वोक्त परिग्रहत्यागरूप अन्तिम अपरिग्रह व्रत की पांच भावनाएँ होती है, जो परिग्रह से विरति अथवा अपरिग्रहनिष्ठा की सर्वथा सुरक्षा के लिए होती है। प्रथम भावनावस्तु इस प्रकार है—श्रोत्रेन्द्रिय से मनोज्ञ और कर्णप्रिय शब्दों को सुन कर उनमें रागादि नहीं करना चाहिए। वे मनोज्ञ शब्द कौन-कौन-से हैं? इसके उत्तर में कहते हैं बड़ा मृदंग, छोटा मृदंग-पखावज, छोटी ढोलक, चमड़े से मढ़े हुए मुंह वाला कलश नामक बाजा, कच्छभी नामक बाजा, वीणा, विपंची और वल्लकी (वीणा विशेष), बद्धीसक वाद्य, सुघोषा घंटा, भेरी आदि १२ बाजों की ध्वनि, वीणाविशेष, बांसुरी, तुनतुनी, पर्वक वाद्य, तन्त्री, करताल, कांस्यताल, इन सब बाजों के शब्द, गीत तथा सामान्य बाजों को सुन कर तथा नट, नर्त्तक, बाजा बजाने वाले, पहलवान, मुक्केबाज, भांड, कथाकार, तैराक, रास करने वाले, शुभाशुभ फल बताने वाले, बांस पर चढ़ कर खेल दिखाने वाले, चित्रपट दिखाने वाले, तूण—(तुनतुनी) नामक बाजा बजाने वाले, तुम्बी की वीणा बजाने वाले, करताल, कांस्यताल, मजीरे बजाने वाले व्यक्तियों के विविध करतबों, अनेक सुरीले स्वर में गायकों के गीतों के मधुर स्वर, कांची और मेखला दोनों स्त्रियों के कमर के आभूषण, गले का आभूषण, प्रतरक व पहेरक नाम के गहने, झांझर या पायल, घुंघरू, घुंघरियां, जांघों पर पहनने का जालीदार रत्नजटित आभूषण, मुद्रिका, नेउर, चरणमालिका, सोने के लंगर, इन सब आभूषणों की सामूहिक आवाज, लीलापूर्वक मस्तानी चाल से चलती हुई ललनाओं के उद्गार, तरुणियों में परस्पर होने वाला हंसी मजाक, मधुर स्वर में बातचीत, मधुर कंठ में रतिस्वर घोल देने वाली मंजुल बोली तथा बहुत से प्रशंसात्मक गुण-वचन, मधुर लोगों द्वारा किया गया कथन; इन तथा

दूसरे इसी प्रकार के मनोज्ञ और भद्रशब्दों को सुन कर उनमें श्रमण को आसक्त नहीं होना चाहिए, न उनमें अनुरक्त-रागयुक्त होना चाहिए, न गृद्धि करनी चाहिए, न मोह ही करना चाहिए, न हंसना चाहिए, न उसके लिए अपनी आत्मा को न्योछावर करना चाहिए, न लोभ करना चाहिए, न मन में प्रसन्न होना चाहिए और न ही उनका स्मरण तथा मनन करना उचित है। फिर दूसरी तरह से भी श्रोत्रेन्द्रिय से अमनोज्ञ तथा पापजन्य अशुभ शब्दों को सुन कर रोष-द्वेषादि नहीं करना चाहिए। वे कौन-कौन से अशुभ शब्द हैं? इसके उत्तर में कहते हैं आक्रोशवचन, कठोरवचन, निन्दात्मकवचन, अपमानवचन, डांटफटकार के वचन, धिक्कार के वचन, रूठने के वचन, भयजनक त्रासोत्पादक वचन, अस्पष्टरूप से बहुत बड़ा शोर, रोने-चिल्लाने की आवाज, इष्ट के वियोगादि से जन्य शोकवचन, गंभीर नाद तथा करुणाजनक विलाप सुन कर तथा इसी प्रकार के अमनोज्ञ व पापजनित अशुभ शब्द कान में पड़ने पर अपरिग्रही श्रमण को उन पर या उनके कहने वालों पर रोष नहीं करना चाहिए, न अवज्ञा ही करनी चाहिए, न निन्दा करनी चाहिए, न दूसरे लोगों के सामने उनकी बुराई करनी चाहिए, न बुरी आवाज करने वाले उन पदार्थों या व्यक्तियों के तोड़फोड़ या छेदन-भेदन में प्रवृत्त होना चाहिए, न मारपीट ही करनी चाहिए और न किसी के प्रति घृणा, नफरत या जुगुप्सा पैदा करना ही उचित है। इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रियभावना से भावित साधु का अन्तरात्मा मनोज्ञ-अमनोज्ञ या शुभाशुभ शब्दों पर राग और द्वेष को सर्वथा रोक लेता है, वह मनवचन-काया का गोप्ता साधु ही संवर भाव से युक्त होकर इन्द्रियों पर नियंत्रण करता हुआ चारित्रधर्म का पालन करता है।

दूसरी भावनावस्तु इस प्रकार है—नेत्रेन्द्रिय से काष्ठसम्बन्धी, पुस्तकसम्बन्धी या वस्त्रसम्बन्धी, चित्रसम्बन्धी, मिट्टीआदि के लेप कर्म से सम्बन्धित पुतली आदि, पत्थर से बनी हुई मूर्तिआदि सम्बन्धी, हाथीदांत आदि से बनी हुई वस्तुसम्बन्धी, पांच रंगों से युक्त रंग-बिरंगे, मनपसंद एवं आंखों को प्रिय रुचिर, अचित्त या मिश्र दृश्यमान वस्तु के रूप को देखकर तथा विभिन्न आकार वाले गूंथ कर बनाए हुए, वेढ कर कसीदा निकाले हुए, पिरो कर तैयार किए हुए, जोड़ कर इकट्ठे किए हुए, नेत्र और मन को अत्यन्त सुख देने वाले बहुत-से माल्य-मालाओं तथा वनखंडों, पर्वतों, गांवों, आकरों नगरों, विकसित नीलकमलों तथा श्वेतकमलों से परिमंडित, मनोहर तथा

जिसमें हंस, सारस आदि अनेक प्रकार के पक्षियों के जोड़े विचरण कर रहे हैं, ऐसे छोटे जलाशयों, कमल से सुशोभित गोल बावड़ियों, चोकोर बावड़ियों, लंबी बावड़ियों, टेढ़ीमेढ़ी नहरों; एक सरोवर के बाद दूसरी सरोवर पंक्ति, समुद्र, सोना, चांदी आदि धातु की खानों के मार्गों, खाइयों, नदियों, प्राकृतिक भीलों, कृत्रिम तालावों तथा क्यारियों से सुशोभित बाग-बगीचों तथा सौम्य, सुन्दर एवं दर्शनीय मुकुट आदि अलंकारों तथा वस्त्रादि से विभूषित, पूर्वजन्मकृत तपस्या के प्रभाव से प्राप्त एवं सौभाग्य से युक्त उत्तम मंडप, विविध भवन, तोरण, चैत्य, देवालय, सभा, प्याऊ, मठ, सुरचित शय्या और आसन, रथ, गाड़ी, यान- टमटम, वाहनविशेष, स्यंदन-रथविशेष तथा नरनारियों के झुंड को देख कर तथा नट, नर्तक, वादक, पहलवान, मुक्केबाज, भांड-विदूषक, कथक, तैराक, रास करने वाले, शुभाशुभ फल बताने वाले, बांस पर चढ़ कर तमाशा दिखाने वाले, चित्रपट दिखाने वाले, तूण नामक बाजा (तुनतुनिया) बजाने वाले, तुंबी की वीणा बजाने वाले, करताल-कांस्यताल-मजीरे बजाने वाले व्यक्तियों के करतबों और उनकी कलाबाजियों को देखकर तथा इसी प्रकार के अन्य मनोज्ञ एवं सुहावने प्रसिद्ध रूप या सुन्दर वस्तुओं में अपरिग्रही श्रमण को न राग करना चाहिए और न आसक्ति, लोभ, मोह या गृद्धि आदि करना चाहिए, यावत् उनका स्मरण और मनन भी नहीं करना चाहिए। प्रकारान्तर से फिर चक्षुरिन्द्रिय के अमनोज्ञ एवं पापजनित अशुभ रूपों को देख कर रोषद्वेषादि न करना चाहिए। वे अशुभरूप कौन-कौन-से हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं—गंडमाला के रोगी, कोढ़ी, लूले, जलोदर रोग वाले, खुजली के रोग से पीड़ित, कठोर पैर या हाथीपगा के रोग वाले, कुबड़े, लंगड़े-अपाहिज, पैरों से हीन, बौने, अंधे, काने, जन्मान्ध, भूतपिशाच-ग्रस्त, अथवा पीठ झुका कर हाथ में लकड़ी लेकर चलने वाले, अनेक चिरस्थायी व्याधियों तथा अल्पसमयसाध्य रोगों से पीड़ितों तथा मनुष्यों के बिगड़े हुए भौंडे भद्दे चेहरों को तथा मुर्दों के विकृत कलेवरों व कीड़ों से भरे सड़े हुए पदार्थों के ढेर को देख कर तथा इसी प्रकार के अन्यान्य प्रसिद्ध अमनोज्ञ एवं पापजन्य अशुभ रूपों के दृष्टिगोचर होने पर साधु को न तो रोष करना चाहिए और न द्वेष, घृणा, निन्दा, अवज्ञा, तिरस्कार, छेदन-भेदन, मारपीट या जुगुप्सा करना ही योग्य है। इस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय-भावनाओं से युक्त साधु पहले बताए हुए की तरह इन्द्रियों एवं मनवचन

काया पर पूर्ण संयम रखने वाला सुस्थितेन्द्रिय हो कर चारित्र-धर्म का भली-भांति आचरण करता है।

तीसरी घ्राणेन्द्रियभावना इस प्रकार है—घ्राणेन्द्रिय से मनोज्ञ और घ्राणप्रिय गन्धों को सूंघ कर साधक रागादि न करे। वे मनोज्ञ गन्ध कौन-कौन-से है ? इसके उत्तर में कहते हैं—जल में उत्पन्न हुए तथा स्थल में उत्पन्न हुए सरस पुष्प, फल, पेयपदार्थ तथा भोजन, कमलकुष्ठ, तगर, सुगन्धित तमालपत्र, सुगन्धित छाल-दालचीनी आदि, दमनक नामक फूल, मरुए का फूल, इलायची का रस, जटामांसी, गोशीर्ष नामक सरस चन्दन, कपूर, लौंग, अगर, केसर, कक्कोल नामक सुगन्धित फल, खसखस,सफेद चन्दन, खुशबूदार पत्तों व अन्य सुगन्धित द्रव्यों के संयोग से बनी हुई धूप की सौरभ में तथा अपनी-अपनी ऋतु में पैदा हुए कालोचित अत्यन्त घनीभूत सुगन्ध से युक्त द्रव्यों तथा दूर-दूर तक खुशबू फैलाने वाले सुगन्धित पदार्थ से युक्त द्रव्यों में तथा इसी प्रकार की मनोज्ञ एवं घ्राणप्रिय अन्यान्य सुगन्धों के विषय में अपरिग्रही साधु को आसक्ति नहीं करनी चाहिए, न उनके बारे में राग, मोह, लोभ, गृद्धि, तथा अपने आपको न्योछावर ही करना उचित है। यावत् उनके बारे में स्मरण और मनन भी न करे। पुनरपि इस प्रकार की भावना करे—घ्राणेन्द्रिय से अमनोज्ञ तथा पापजन्य अशुभ गन्धों को सूंघ कर रोष-द्वेषादि नहीं करना चाहिए। वे अशुभ गन्ध कौन कौन-से हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं – मरे हुए सांप, मृत घोड़े, मरे हुए हाथी, मरे हुए गाय-बैल, भेड़िये, कुत्ते, सियार, मनुष्य, बिलाव, सिंह और चीते के सड़ेगले कृमि से भरे बहुत ही बदबूदार कलेवरों में, पूर्वोक्त दुर्गन्धमय पदार्थों में तथा इसी प्रकार के अमनोज्ञ एवं पापजन्य अशुभ अन्यान्य दुर्गन्धों के विषय में निष्परिग्रही श्रमण को क्रोध-द्वेषादि नहीं करना चाहिए। उन वस्तुओं के या दुर्गन्ध फैलाने वालों के प्रति अवज्ञा, घृणा, तिरस्कार, धिक्कार, डांटफटकार तथा जुगुप्सा-नफरत करना उचित नहीं है। इस प्रकार घ्राणेन्द्रियभावना से भावित साधु की अन्तरात्मा चिन्तनयुक्त प्रयोग से मनोज्ञ और अमनोज्ञ में तथा शुभ और अशुभ में राग-द्वेष को रोक लेती है, मन, वचन, काया को संवर कर संवरित कर लेती है और यावत् अपनी इन्द्रियों को अन्त में सुस्थित करके वह चारित्रधर्म का आचरण करता है।

चौथी भावनावस्तु इस प्रकार है—जिह्वेन्द्रिय (जीभ) से मनोज्ञ तथा जिह्वा को प्रिय रसों को चख कर उनमें आसक्ति आदि नही करना चाहिए। वे शुभरस कौन-कौन-से है ? इसके उत्तर में कहते है कि घी और चासनी में डूबो कर बनाए हुए विविध पक्वान्न, विविध पेय पदार्थ, भोग्य पदार्थ तथा गुड़, खांड, तेल और घी से बनाए हुए भोज्य पदार्थ एवं अनेकप्रकार के मिर्च-मसालों-लवणरसों से युक्त, तथा मधु, मांस, कई तरह की मज्जिका, बहुत कीमत से बना हुआ भोज्य पदार्थ, खटाई, मिर्च, जीरा आदि का छौंक दे कर बनाई हुई स्वादिष्ट दाल तथा खटाई, सेंधानमक आदि डाल कर बनाया हुआ अचार,—अथाणा, दूध, दही, गुड़ व धातकी पुष्प आदि से बना हुआ सरक नामक पेय पदार्थ, जौ आदि के आटे से बना हुआ श्रेष्ठ मद्य, वारुणी, सीधु एवं कापिशायन नामक मदिराविशेष, अठारह प्रकार का शाक, अनेक प्रकार के मनोज्ञ वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले बहुत-से द्रव्यों के मिश्रण से उपस्कृत-छौंक आदि दे कर संस्कारित करके बनाए हुए भोजनों में तथा ऐसे ही अन्य मनोज्ञ स्वादिष्ट रसों में साधु आसक्ति न करे। उनमें राग, मोह, गृद्धि, लोभ, खुशी तथा अपनी आत्मा को उन पर न्योछावर करना साधु के लिए उचित नहीं है। यावत् उनके बारे में स्मरण तथा मनन भी न करना चाहिए। फिर दूसरे पहलू को देखें—जिह्वेन्द्रिय (जीभ) से अमनोज्ञ और पापजन्य अशुभ रसों को चख कर रोष-द्वेषादि न करे। अशुभ रस कौन-कौन से है ? इसके उत्तर में कहते है—रसहीन, चलितरस या बिगड़े रस से युक्त ठंडा, रूखा, निःसत्त्व पेय पदार्थ एवं भोज्यपदार्थ तथा रातवासी, विनष्ट वर्ण वाले, सड़े बदबूदार, मनके प्रतिकूल, कीड़ों की उत्पत्ति से युक्त, नीलन (काई) तथा फूलन से युक्त, विकृत-अवस्था-प्राप्त, अतएव बहुत ही दुर्गन्ध से भरे हुए, अत्यन्त तीखे, कड़वे, कसैले, खट्टे रस वाले एव कई दिनों तक पड़े हुए शैवालयुक्त जल के समान दुर्गन्धमय तथा नीरस पदार्थों में तथा इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ एवं पापजन्य अशुभ रसों के विषय में निष्परिग्रही साधु को कोप, द्वेष आदि नही करना चाहिए। यावत् उन अमनोज्ञ रस वाले पदार्थों या पदार्थ लाने वालों पर अवज्ञा, द्वेष, निन्दा, तिरस्कार, धिक्कार, डांटफटकार, जुगुप्सा—घृणा या नफरत नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार जिह्वेन्द्रियभावना से ओतप्रोत साधु की

काया पर पूर्ण संयम रखने वाला सुस्थितेन्द्रिय हो कर चारित्र-धर्म का भली-भांति आचरण करता है।

तीसरी घ्राणेन्द्रियभावना इस प्रकार है—घ्राणेन्द्रिय से मनोज्ञ और घ्राणप्रिय गन्धों को सूंघ कर साधक रागादि न करे। वे मनोज्ञ गन्ध कौन-कौन-से हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं—जल में उत्पन्न हुए तथा स्थल में उत्पन्न हुए सरस पुष्प, फल, पेयपदार्थ तथा भोजन, कमलकुष्ठ, तगर, सुगन्धित तमालपत्र, सुगन्धित छाल-दालचीनी आदि, दमनक नामक फूल, मरुए का फूल, इलायची का रस, जटामांसी, गोशीर्ष नामक सरस चन्दन, कपूर, लौंग, अगर, केसर, कक्कोल नामक सुगन्धित फल, खसखस सफेद चन्दन, खुशबूदार पत्तों व अन्य सुगन्धित द्रव्यों के संयोग से बनी हुई धूप की सौरभ में तथा अपनी-अपनी ऋतु में पैदा हुए कालोचित अत्यन्त घनीभूत सुगन्ध से युक्त द्रव्यों तथा दूर-दूर तक खुशबू फैलाने वाले सुगन्धित पदार्थ से युक्त द्रव्यों में तथा इसी प्रकार की मनोज्ञ एवं घ्राणप्रिय अन्यान्य सुगन्धों के विषय में अपरिग्रही साधु को आसक्ति नहीं करनी चाहिए, न उनके बारे में राग, मोह, लोभ, गृद्धि, तथा अपने आपको न्योछावर ही करना उचित है। यावत् उनके बारे में स्मरण और मनन भी न करे। पुनरपि इस प्रकार की भावना करे—घ्राणेन्द्रिय से अमनोज्ञ तथा पापजन्य अशुभ गन्धों को सूंघ कर रोष-द्वेषादि नहीं करना चाहिए। वे अशुभ गन्ध कौन कौन-से हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं— मरे हुए सांप, मृत घोड़े, मरे हुए हाथी, मरे हुए गाय-बैल, भेड़िये, कुत्ते, सियार, मनुष्य, बिलाव, सिंह और चीते के सड़ेगले कृमि से भरे बहुत ही बदबूदार कलेवरों में, पूर्वोक्त दुर्गन्धमय पदार्थों में तथा इसी प्रकार के अमनोज्ञ एवं पापजन्य अशुभ अन्यान्य दुर्गन्धों के विषय में निष्परिग्रही श्रमण को क्रोध-द्वेषादि नहीं करना चाहिए। उन वस्तुओं के या दुर्गन्ध फैलाने वालों के प्रति अवज्ञा, घृणा, तिरस्कार, धिक्कार, डांटफटकार तथा जुगुप्सा-नफरत करना उचित नहीं है। इस प्रकार घ्राणेन्द्रियभावना से भावित साधु की अन्तरात्मा चिन्तनयुक्त प्रयोग से मनोज्ञ और अमनोज्ञ में तथा शुभ और अशुभ मे राग-द्वेष को रोक लेती है, मन, वचन, काया को समेट कर संवरित कर लेती है और यावत् अपनी इन्द्रियों को अन्त में सुस्थित करके वह चारित्रधर्म का आचरण करता है।

चौथी भावनावस्तु इस प्रकार है—जिह्वेन्द्रिय (जीभ) से मनोज्ञ तथा जिह्वा को प्रिय रसों को चख कर उनमें आसक्ति आदि नहीं करना चाहिए। वे शुभरस कौन-कौन-से है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि घी और चासनी मे डूबो कर बनाए हुए विविध पक्वान्न, विविध पेय पदार्थ, भोज्य पदार्थ तथा गुड़, खांड, तेल और घी से बनाए हुए भोज्य पदार्थ एवं अनेकप्रकार के मिर्च-मसालों-लवणरसों से युक्त, तथा मधु, मांस, कई तरह की मज्जिका, बहुत कीमत से बना हुआ भोज्य पदार्थ, खटाई, मिर्च, जीरा आदि का छौंक दे कर बनाई हुई स्वादिष्ट दाल तथा खटाई, सैंधानमक आदि डाल कर बनाया हुआ अचार,—अथाणा, दूध, दही, गुड़ व धातकी पुष्प आदि से बना हुआ सरक नामक पेय पदार्थ, जौ आदि के आटे से बना हुआ श्रेष्ठ मद्य, वारुणी, सीधु एवं कापिशायन नामक मदिराविशेष, अठारह प्रकार का शाक, अनेक प्रकार के मनोज्ञ वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले बहुत-से द्रव्यों के मिश्रण से उपस्कृत-छौंक आदि दे कर संस्कारित करके बनाए हुए भोजनों में तथा ऐसे ही अन्य मनोज्ञ स्वादिष्ट रसों में साधु आसक्ति न करे। उनमें राग, मोह, गृद्धि, लोभ, खुशी तथा अपनी आत्मा को उन पर न्योछावर करना साधु के लिए उचित नहीं है। यावत् उनके बारे में स्मरण तथा मनन भी न करना चाहिए। फिर दूसरे पहलू को देखें—जिह्वेन्द्रिय (जीभ) से अमनोज्ञ और पापजन्य अशुभ रसों को चख कर रोष-द्वेषादि न करे। अशुभ रस कौन-कौन से हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं—रसहीन, चलितरस या बिगड़े रस से युक्त ठंडा, रूखा, निःसत्त्व पेय पदार्थ एवं भोज्यपदार्थ तथा रातबासी, विनष्ट वर्ण वाले, सड़े बदबूदार, मनके प्रतिकूल, कीड़ों की उत्पत्ति से युक्त, नीलन (काई) तथा फूलन से युक्त, विकृत-अवस्था-प्राप्त, अतएव बहुत ही दुर्गन्ध से भरे हुए, अत्यन्त तीखे, कड़वे, कसैले, खट्टे रस वाले एव कई दिनों तक पड़े हुए शैवालयुक्त जल के समान दुर्गन्धमय तथा नीरस पदार्थों में तथा इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ एवं पापजन्य अशुभ रसों के विषय में निष्परिग्रही साधु को कोप, द्वेष आदि नही करना चाहिए। यावत् उन अमनोज्ञ रस वाले पदार्थों या पदार्थ लाने वालों पर अवज्ञा, द्वेष, निन्दा, तिरस्कार, धिक्कार, डांटफटकार, जुगुप्सा—घृणा या नफरत नही करना चाहिए। इसी प्रकार जिह्वेन्द्रियभावना से ओतप्रोत साधु की

अन्तरात्मा वस्तुस्वभाव में स्थिर रहे । इस प्रकार मनोज्ञ-अमनोज्ञ या शुभाशुभ रस वाले पदार्थों पर राग और द्वेष से रहित साधु अपने मन-वचन काया को इन अनिष्टभावों से बचा कर पंचेन्द्रियों का संवर करके चारित्रधर्म का आचरण करे ।

पांचवीं भावनावस्तु इस प्रकार है स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा मनोज्ञ और स्पर्शनेन्द्रियप्रिय सुखद स्पर्शों को छू कर आसक्ति-रागादि नहीं करना चाहिए। वे शुभ स्पर्श कौन-कौन-से हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं—जिनमें पानी के फव्वारे चलते रहते हैं, ऐसे जलमंडप, झरने, श्वेतचन्दन, ठंडा स्वच्छ पानी, अनेक प्रकार के फूलों की शय्याएँ, खस-खस, मोती, कमल की डंडी, रात्रि को छिटकने वाली चन्द्रमा की चांदनी, मयूरपिच्छ के चन्द्रकों से बने हुए पंखों तथा ताड़ के पंखों से उत्पन्न सुखकर शीतल हवा तथा ग्रीष्मकाल में सुखद शीतस्पर्श वाली बहुत-सी शय्याएँ, आसन तथा शीतकाल में ठंड मिटाने वाले गुणकारी ओढ़ने के वस्त्र, अंगारों से तापना - हाथ आदि सेकना एवं सूर्य की किरणों की धूप, इसी प्रकार स्निग्ध-चिकने, कोमल, ठंडे-गर्म और हलके हेमन्त आदि ऋतुओं के सुखकर स्पर्श तथा अंगों को सुख और मन को शान्ति-स्वस्थता देने वाले जो स्पर्श हैं, उनमें तथा स्पर्शनेन्द्रिय को अच्छे लगने वाले सुखद स्पर्शों में निष्परिग्रही श्रमण को न तो आसक्ति करनी चाहिए न राग करना चाहिए, न गृद्धि करनी चाहिए, न मोह करना चाहिए, न उनके लिए अपनी आत्मा का पतन करना चाहिए, यानी अपने आपको न्योछावर या कुर्बान न करना चाहिए, न ही लोभ करना चाहिए, न आत्मा में उसी बात की बार बार रट लगाना चाहिए, न प्रसन्नता व्यक्त करनी चाहिए, न हँसना चाहिए और न ही उनके बारे में स्मरण और मनन करना चाहिए । फिर इसका दूसरा पहलू यह है स्पर्शेन्द्रिय द्वारा अमनोज्ञ एवं पापजन्य अशुभ दुःखद स्पर्शों को पा कर रोष-द्वेष आदि नहीं करना चाहिए । अमनोज्ञ स्पर्श कौन-कौन से हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं—अनेक प्रकार के रस्सी आदि के बन्धन, लाठी आदि से वध, थप्पड़ आदि से मारपीट, तपी हुई लोहे की सलाइयों से दाग देना, बूते से बाहर बोझ लाद देना, शरीर के अंगों को मरोड़ देना, नखों में सूइयां घुसेड़ देना, शरीर में सूइयां चुभो कर छेद डालना, लाख का गर्मागर्म रस चमड़ी पर डाल कर चमड़ी उधेड़

डालना, खार, कलकल करता हुआ अत्यन्त तपा हुआ तेल डालना, खोलते हुए सीसे व काले लोहे का सेक करना, खोड़े में पैर डालना, रस्सी या बेड़ियां से पैर बांधना, हाथों में हथकड़ियां डाल देना, कड़ाही में पकाना, आग से जलाना, सिंह की पूंछ के साथ बांध कर घसीटवाना अथवा पीठ तोड़ देना, वृक्ष आदि के साथ उलटे बांध कर लटका देना, शूली में पिरो देना, हाथी के पैरों तले रौंदवा डालना, हाथ-पैर, कान, नाक, ओठ और सिर कटवा देना, जीभ खींच लेना, अंडकोश, आंख, हृदय और दांत तोड़ना, बैलों की तरह खूंटे से बांध देना, बेंत और चाबुक से प्रहार करना, पैरों के पिछले भाग और घुटनों पर पत्थर पटकना, कोल्हू मे पीलना, अत्यन्त खाज चलाने वाली कौंच की फली अग्नि, बिच्छू का डंक, सनसनाती तेज हवा, तवे की तरह तपतपाती धूप, या लू, डांस और मच्छरों के उपद्रव, दुःखद और खराब आसन या बैठने की जगह एवं दुःखप्रद स्वाध्यायभूमि की प्राप्ति—इन सभी पदार्थों के कारण जो भी कठोर, भारी, ठंडे, गर्म और रूखे दुःखद स्पर्श होते हैं, उनमें तथा इसी प्रकार के अन्यान्य अमनोज्ञ एवं पापजन्य अशुभ स्पर्शों के मिलने पर या वैसी वस्तुओ या वस्तुओं के देने वालों पर अनासक्त श्रमण को न रोष करना चाहिए, न उनकी अवज्ञा करना उन्हें ठुकरा चाहिए, न निंदा और गर्हा करनी चाहिए, न खीजना या चिढ़ना ही चाहिए, न उन वस्तुओं को फेंक कर तोड़ना-फोड़ना चाहिए, या उन वस्तुओं के लाने वाले का अंगभंग न करना चाहिए, न मारपीट करनी चाहिए और न ही उन पर जुगुप्सा, घृणा या नफरत करनी चाहिए।

इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रियभावना से जब साधु की अन्तरात्मा ओतप्रोत हो जाती है, तब वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ, शुभ या अशुभ स्पर्श पर न तो राग करता है, न द्वेष ही। वह अपनी आत्मा में आते हुए राग-द्वेष आदि अशुभ विचारों को रोक लेता है, वह स्वपरहितसाधक मन-वचन-काया को भी उनसे बचा कर सुरक्षित कर लेता है, और अपनी आत्मा को संवर से संवृत और इन्द्रियों को वश में करता हुआ चारित्रधर्म का आचरण करता है।

इस प्रकार साधक के मन, वचन और काया को पूर्ण सुरक्षित रखने वाले, इन (पूर्वोक्त भावनारूप) पांच कारणों से यह पांचवें अपरिग्रहसंवर का द्वार सम्यक्रूप से संवृत हो जाता है और साधक के दिलदिमाग में

भलीभांति यह संवर परिनिष्ठित हो जाता है—जम जाता है। धैर्यशाली बुद्धिमान् अपरिग्रही साधक को जीवन के अन्त तक नित्य इस भावना-योग का चिन्तन और प्रयोग करना चाहिए, जो आश्रवरहित है, निर्दोष है, पाप-छिद्र को जिसमें प्रवेश का अवकाश नहीं है, पापों के स्रोत से विहीन है, संक्लिष्ट परिणामों से शून्य है, शुद्ध है, समस्त तीर्थंकरों द्वारा अनुमत है।

इस तरह यह पांचवां परिग्रहविरमणरूप संवरद्वार उचित समय पर काया से स्पर्श किया हुआ—अमल में लाया हुआ, पालन किया हुआ, अतिचारों को दूर करके शोधन किया हुआ, अन्त तक पार लगाया हुआ, दूसरों को आदरपूर्वक बताया हुआ या गुणानुवादपूर्वक उपदिष्ट, लगातार पालन किया हुआ ही भगवान् की या शास्त्र की आज्ञानुसार आराधित होता है।

इस प्रकार ज्ञातकुलोत्पन्न श्रमणशिरोमणि भगवान् महावीर प्रभु के द्वारा हितोपदेशक के रूप में बताया गया, भव्यों के सामने अर्थरूप से प्ररूपित, लोक में प्रसिद्ध किया गया, समस्त नयों और प्रमाणों से सिद्ध, उत्तम सिद्धों की आज्ञारूप, मर्यादाओं की सुरक्षा के लिए बतलाया हुआ, भलीभांति उपदिष्ट, मंगलमय यह पांचवा संवरद्वार समाप्त हुआ; ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ।

हे सुव्रत ! ये पांचों संवरद्वार (महाव्रत) सैकड़ों निर्दोष-शुद्ध हेतुओं के कारण विस्तीर्ण होते हुए भी अरिहंत भगवान् के शासन में संक्षेप में पाँच ही बताए हैं, विस्तार से तो ये पच्चीस होते हैं, पांच समितियों से युक्त, पांच महाव्रतों की पूर्वोक्त २५ भावनाओं के सहित तथा ज्ञान और दर्शन के द्वारा मन-वचन-काया से सुसंवृत तथा सदा प्रयत्न से प्राप्त संयमयोग की रक्षा एवं अप्राप्त संयमयोग की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करने से सुविशुद्धदृष्टिवाला संयमी, स्वपरकल्याणसाधक साधु इन पांचों संवरद्वारों की लगातार आराधना करके भविष्य में चरमशरीरी होता है, अथवा पाठान्तर की दृष्टि से अर्थ होता है—भविष्य में वह कार्माणशरीर का ग्रहण नहीं करता।

व्याख्या

पूर्वसूत्रपाठ में अपरिग्रही के लक्षण के सम्बन्ध में विस्तृत निरूपण करने के बाद उस अपरिग्रही की आवश्यकतानुसार पाचों इन्द्रियों के विविध विषयो को ग्रहण करते समय क्या दृष्टि, क्या भावना और कैसी साधना होनी चाहिए; जिससे वह अपरिग्रहव्रत का भलीभांति निर्वाह एव संरक्षण कर सके ? इस सम्बन्ध मे शास्त्रकार ने इस सूत्रपाठ मे अपरिग्रहव्रत की सर्वथा सुरक्षा के लिए पाच भावनाओं का विशद निरूपण किया है।

पांच भावनाओं की उपयोगिता—पूर्व सूत्रपाठ में साधुजीवन मे अन्तरग परिग्रह के त्याग के लिए एक बोल से ले कर तेतीस बोल तक की शिक्षात्मक सूची दी गई थी। वास्तव मे साधुजीवन मे अन्तरग परिग्रह पर विचार करने के लिए और उससे मुक्त होने के लिए एवं उनमें से हेय, ज्ञेय और उपादेय का विचार करके परिग्रह-मुक्ति के यथायोग्य मार्ग पर चलने के लिए साधक को प्रेरणा मिलती है; परन्तु उस प्रेरणा के बावजूद भी साधक कई बार ग्रहण और अग्रहण के चक्कर में पड़ कर एक के बदले दूसरे को उचित पथ मान बैठता है। बाह्यपरिग्रह का त्याग करके परिग्रहत्याग के लिए साधुजीवन के जो नियम है, त्यागप्रत्याख्यान हैं, मर्यादाएँ हैं या समाचारी है, अथवा बाह्यक्रियाएँ हैं, उनके शाब्दिक भंवरजाल में फंस कर अपने को बहुत बड़ा परिग्रहत्यागी मान बैठता है। परन्तु अन्तरग जीवननद में अहकार, क्रोध, विषयो के प्रति आसक्ति, वासना-कामना, प्रतिष्ठा की भूख, अथवा प्रतिकूल विषय मिलने पर अशान्ति, असन्तोष, द्वेष, घृणा, विरोध एवं संघर्ष की भावना आदि हिलोरें लेते रहते हैं। और उक्त अहंकारादि सब एक या दूसरे रूप में अन्तरंग परिग्रह के ही रूप हैं। इसलिए जिस चीज का मुख्यरूप से त्याग-अग्रहण करना था, उसे ग्रहण करता रहता है और शान्ति, समता, वत्सलता, क्षमा, निर्लोभता, सरलता मृदुता, सत्यता आदि जिन चीजों का ग्रहण करना था, उन्हें छोड़ता जाता है। ऐसी आपाधापी में अपरिग्रह की रक्षा के लिए ये पांच भावनाएँ संसारसमुद्र में अन्तरंग परिग्रहरूपी तूफान के कारण डगमगाती हुई उसकी जीवननैया के लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम करती हैं। साधक फिर सही रास्ता पकड़ लेता है। इसलिए इन पांचों भावनाओं का बहुत बडा स्थान है, अपरिग्रही साधक के जीवन में।

विषयों का ग्रहण कब परिग्रह है, कब अपरिग्रह ?—परिग्रह का अर्थ मोटेतौर पर ग्रहण करना ही होता है। परन्तु जब तक शरीर है तब तक पांचों इन्द्रियों और मन के विषयों को ग्रहण किये बिना साधक का काम नहीं चल सकता। इन्द्रियों को कदाचित् वह निश्चेष्ट करके बैठ जाएगा, लेकिन मन को गठरी बांध कर कहाँ डालेगा ? वह तो एक क्षण भी मनन-चिन्तन किए बिना रह नहीं सकता। मन अपने

कार्यकाल में किसी न किसी इन्द्रिय के विषय का ही चिन्तन-मनन करेगा। तब सवाल यह उठता है कि इधर इन्द्रियों या मन के जरिये साधक के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले विविध विषय परिग्रह कहलाएँगे और उधर अपरिग्रह के प्रति कृतप्रतिज्ञ साधु को परिग्रह का त्याग करना अनिवार्य है। तब यह गुत्थी कैसे सुलझे ? इसके लिए भगवान महावीर ने एक सुलभ और सीधा रास्ता बताया है कि साधक को अपने जीवन में अनिवार्य विषयों का ग्रहण तो करना ही होगा, लेकिन उस समय दो तरह का विवेक उसे करना होगा —

पहला यह कि जो विषय या विषय के अनुरूप साधन साधुजीवन के लिए अनिवार्य आवश्यक नहीं है, उन्हें चला कर ग्रहण न करना। दूसरा विवेक यह करना होगा कि न चाहते हुए भी साधु के सामने जब मनोज्ञ विषय या विषय के अनुकूल मनोज्ञ पदार्थ अनायास ही सामने आ जांय या प्राप्त हो जांय तो वह उनके प्रति राग, मोह, लालसा, गृद्धि, कामना, स्मरण, मनन, या आकांक्षा न करे। और जब अमनोज्ञ विषय या विषयानुरूप अमनोज्ञ बुरे पदार्थ अनायास ही सामने आ जांय या प्राप्त हों जांय तो उस समय रोष, द्वेष, विरोध, डांट-फटकार, तिरस्कार, अवज्ञा, घृणा, जुगुप्सा आदि दुर्भाव मन में न लाए। बस, यही विषयों को ग्रहण करते हुए भी अपरिग्रही रहने की कुंजी है। उत्तराध्ययन सूत्र के ३२ वें अध्ययन में इस विषय में बहुत ही सुन्दररूप से मार्गदर्शन मिलता है। देखिये, एक गाथा में उसका निचोड़—

> 'जे सद्द-रूव-रस-गंधमागए, फासे य संपप्प मणुण्णपावए।
> गेही पओसं न करेज्ज पंडिए, स होति दंते विरए अकिंचणे ॥'

अर्थात्—जो साधु अनायासप्राप्त मनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को पा कर गृद्धि (आसक्ति) नहीं करता; और अमनोज्ञ पापजन्य अशुभ शब्दादि को पा कर प्रद्वेष नहीं करता; वही वास्तव में विरत है, पण्डित है, दान्त है और अकिंचन (अपरिग्रही) है। यह है, अपरिग्रह और परिग्रह के विवेक की कुंजी। यदि साधक परिग्रहरूप विषयों को मन से ग्रहण करता है तो वह अन्तरंग परिग्रही बन जाता है, और यदि वह ग्रहण नहीं करता है तो उसका जीवन चल नहीं सकता। ऐसी दशा में शास्त्रकार कहते हैं कि विषय अपने-आप में अच्छे या बुरे नहीं हैं। साधक की दृष्टि में ही जब राग और द्वेष का जहर होता है तो वे विषय अनुकूल हों या प्रतिकूल, साधक के लिए आवश्यक हों या अनावश्यक, उसके लिए अन्तरंग परिग्रह बन जाते हैं। इसलिए विषयों को छोड़ना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना विषयों के साथ लगे हुए राग और द्वेष को छोड़ना जरूरी है, महत्त्वपूर्ण है। भगवद्गीता में भी इसी बात की पुष्टि की है—

'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥'

अर्थात् - 'प्रत्येक इन्द्रिय के अर्थ के साथ राग और द्वेष जुड़े हुए है। साधक उन राग और द्वेष के वशीभूत न हो। ये दोनों ही साधक के अनासक्त-अपरिग्रही जीवन के शत्रु हैं।'

साथ ही यह भी समझ लेना जरूरी है कि साधु अनायासप्राप्त इन्द्रियविषय को टाल नही सकता। जैसे, एक साधु भिक्षा के लिए जा रहा है, बाजार में अत्तार की दूकान में सजी हुई इत्र की शीशियों से भीनी-भीनी मधुर महक आ रही है, किसी दूकान पर रखे हुए रेडियो से कर्णप्रिय सुरीले गायन की ध्वनि आ रही है, सामने से एक सुन्दर युवती सोलह शृंगार से सजी-धजी आ रही है, हलवाई की दूकान पर स्वादिष्ट सुगन्धित मिष्टान्न सजे हुए हैं, इसी प्रकार किसी गृहस्थ ने अपनी कोमल करांगुली से उसके चरणो को छू लिया; अब क्या वह इन पांचों इन्द्रियों के विषयों को टालने के लिए क्रमशः नाक, कान, आंख, जीभ या स्पर्शन-इन्द्रिय बंद कर लेगा या निश्चेष्ट कर लेगा? नही, ऐसा करना कदापि सम्भव नही है। अतः विषयों का पांचों इन्द्रियो से ग्रहण तो होता है; लेकिन विवेकी धीर साधक उन अनायासप्राप्त विषयों से न घबड़ा कर अथवा उक्त पाचों से विपरीत अमनोज्ञ विषयो के अनायास प्राप्त होने पर न झुंझला या झल्ला कर अपने मन पर राग और द्वेष के भाव अंकित नही होने देगा। अर्थात् वह मन से पांचो इन्द्रियों के अनुकूल प्राप्त विषयों या विषयानुरूप साधनो पर राग नहीं करेगा और पांचों इन्द्रियों के प्रतिकूल प्राप्त विषयों या विषयानुरूप साधनों पर द्वेष नहीं करेगा।

राग और द्वेष न करने का कोई साधक इतना ही अर्थ न लगा ले कि राग तो करना नही है, मोह, लालसा, लोभ, गृद्धि, आसक्ति, कामना, वासना, स्मरण, मनन करने में हर्ज ही क्या है? इसी प्रकार द्वेष न करने का इतना ही अर्थ न लगा बैठे कि द्वेष तो करना नही है; रोष, घृणा, विद्रोह, मारपीट, ताडनतर्जन, डांट-फटकार, धिक्कार, अपमान, नफरत आदि करने में क्या हर्ज है? ऐसा करना गलत होगा। उससे अन्तरंग परिग्रह सर्वथा रुकेगा नहीं। एक जहर के बदले दूसरा जहर ले लिया जाय तो उससे जहर का असर कम नही होता। राग और द्वेष ये दोनों प्रधान विष हैं, ये दोनों अन्तरग परिग्रह के नायक हैं, सेनापति हैं। इनकी फौज बहुत बड़ी है, इनका परिवार बहुत ही लम्बा-चौड़ा है। यही कारण है कि शास्त्रकार ने 'न रज्जियव्वं' के साथ-साथ 'न सज्जियव्वं' आदि राग के अन्य साथियों या परिवार

वालों के भी नाम गिना कर उनका निषेध किया है, इसी प्रकार 'न हसियव्वं' के साथ-साथ 'न हीलियव्वं' आदि द्वेष के साथियों या परिवार वालों को अपनाने से भी इन्कार किया है। हां, तो निष्कर्ष यह हुआ कि पांचों इन्द्रियों के विषयों के आगमन के समय साधक को परिवारसहित रागद्वेषरूपी इन शत्रुओं से सावधान रहना चाहिए; इन्ही का ग्रहण करना अन्तरंग परिग्रह है और इन्ही को छोड़ना अपरिग्रह है। केवल विषयों का ग्रहण करना अपने आप मे परिग्रह नहीं है। इसके लिए अपरिग्रही साधक को प्रतिक्षण अप्रमत्त हो कर रहना है, अन्यथा साधक पर कब ये हमला कर बैठेंगे, कोई पता नही है। साधक की जरा-सी असावधानी से राग और द्वेष अपने आक्रमण को सफल कर बैठेंगे। उसकी जरा-सी गफलत से साधक बाह्य परिग्रह का त्याग होने के बावजूद भी अपरिग्रही के बदले अन्तरंग परिग्रही बन बैठेगा। इन दोनों शत्रुओं में से एक लुभावना है, दूसरा डरावना है। हैं दोनों ही खतरनाक! अगर साधक इनके बहकावे मे आ जाता है तो ये बहुत शीघ्र ही प्रसन्नचन्द्र राजर्षि सरीखे उच्चभूमिकारूढ बड़े-से-बड़े साधक को भी पछाड़ते देर नही लगाते। यही कारण है कि अपरिग्रहसंवर के प्रसंग मे उक्त अन्तरंग परिग्रह से साधक की रक्षा के हेतु शास्त्रकार पांच भावनाओं को चिन्तनात्मक प्रयोग के रूप में बताते हैं, जिनका मनन-चिन्तन करके साधु अपनी अन्तरात्मा को पवित्र और निर्दोष बना लेता है। इन भावनाओं का जिन्दगी-भर तक सतत अप्रमत्त हो कर प्रयोग करने पर ही ये फलदायिनी एवं दृढ़ संस्कारामृत-पायिनी होती हैं। और तभी वह अन्तरंग परिग्रह का सर्वथा त्यागी और जितेन्द्रिय बन सकेगा। इसी बात को शास्त्रकार प्रत्येक भावना के अन्त में कहते हैं '……भावणाभावितो भवति अंतरप्पा मणुन्नामणुन्न-सुब्भिदुब्भि-रागदोस-पणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते संवुडे पणिहितिंदिए चरेज्ज धम्मं।' इसका अर्थ मूलार्थ एवं पदान्वयार्थ में स्पष्ट किया जा चुका है। अब हम क्रमशः प्रत्येक भावनावस्तु का संक्षेप मे विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

श्रोत्रेन्द्रियसंवररूप शब्दनिःस्पृहभावना का चिन्तन, प्रयोग और फल—परिग्रह का अन्तरग और बहिरंगरूप से परमत्यागी साधु जब अपनी कोई भी प्रवृत्ति करता है तो उसके कानो में कई प्रकार के शब्द आ कर टकराते हैं। उनमें से कई कर्णप्रिय होते हैं, कई कर्णकटु भी। कई शब्द ऐसे सुहावने लगते हैं कि साधक का मन वहाँ ठिठक कर सुनने को हो जाता है, वह मन ही मन चाहता है कि ये मधुर गीत होते ही रहें। इसके उपरान्त जब वह उस संगीतस्थल से आगे चल देता है, तब भी कान में बार-बार उस सुने हुए मनोमोहक संगीत की स्मृति ताजा हो उठती है, उसी को पुनः पुनः सुनने के लिए मन लालायित हो उठता है। ये सारे ही राग के प्रकार हैं, जो साधक के जीवन को अन्तरंग परिग्रह के गर्त में डाल देते हैं। इसीलिए शास्त्रकार

ने कुछ खास-खास मनोज्ञ शब्दों के नाम गिना कर अन्त में उन्ही प्रकार के शब्दो के कर्णगोचर होने पर उनके प्रति राग, आसक्ति, गृद्धि, लोभ, मोह, न्योछावर, तुष्टि, स्मरण, और मनन से इस श्रोत्रेन्द्रियसंवरभावना के प्रकाश में शीघ्र बचने का निर्देश किया है—"पढमं सोइंदिएण सोच्चा सद्दाइं मणुन्नभद्दाइं ···· वरमुरय ··· सद्दाइं ····· गुणवयणाणि ·· महुरजणभासियाइं ·· ····न तेसु····रज्जियव्वं न सइं च मइं च तत्थ कुज्जा।" इन सब सूत्रपक्तियों का अर्थ हम मूलार्थ एवं पदान्वयार्थ में स्पष्ट कर चुके हैं। इसी प्रकार इस तरह के मनोज्ञ और कर्णप्रिय शब्दों से ठीक विपरीत शब्द अमनोज्ञ, कर्कश, कर्णकटु, कठोर, असह्य और मर्मच्छेदी लगते हैं कि यदि साधक उन्हें सुन कर झल्ला उठता है, झुंझला कर उन शब्दों को या सुनाने वाले को गाली देने लगता है, भला-बुरा कहने लगता है, उसे डांटता-फटकारता है या वहाँ से उसे हटाने के लिए पत्थर या ढेले मारता है, अथवा उसके थप्पड़ या मुक्का जमा देता है, या उन अप्रिय शब्दों की या कहने वाले की निन्दा या भर्त्सना करने लगता है, अथवा प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की तरह मन ही मन घमासान युद्ध छेड़ बैठता है, अथवा मुंह से, शाप, आक्रोश, या अपशब्द निकालता है, द्वेषवश हो कर लोगों में उसे नीचा दिखाने का उपक्रम करता है, लोगो मे उन शब्दों या उन शब्दों के कहने वाले के के प्रति नफरत पैदा करता है तो वही साधक की हार हो जाती है। वही साधक अन्तरंग परिग्रह की पकड़ में आ जाता है और द्वेषनामक शत्रु से पराजित हो जाता है। ये सारे ही द्वेष के प्रकार हैं, जो साधक के जीवन को अन्तरंग परिग्रह की खाई में धकेल देते हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने कुछ खास-खास अमनोज्ञ शब्दों के नाम गिना कर अन्त में उन्हीं की तरह के कर्णकटु शब्दों के कर्णगोचर होने पर उनके प्रति रोष, अवज्ञा, निन्दा, खीज या चिढ़, छेदन, भेदन, ताड़न-तर्जन, वध, द्वेष, घृणा आदि से श्रोत्रेन्द्रियसंवरभावना के प्रकाश में झटपट बचने का निर्देश किया है। शास्त्रकार ने अमनोज्ञ कर्णकटु शब्दों के कान में पड़ते ही इस भावना को प्रयोग करने का इन सूत्रपंक्तियों द्वारा सकेत किया है—'सोइंदिएण सोच्चा सद्दाइं अमणुन्नपावकाइं ·······अक्कोस-फरुस ··· ·· समणेण न रूसियव्वं ···न यहेयव्वं, न दुगुंछावत्तियाए लब्भा उप्पाएउं।' इन सूत्रपंक्तियो का अर्थ मूलार्थ एवं पदान्वयार्थ में हम स्पष्ट कर चुके हैं।

निष्कर्ष यह है कि साधु को अपने मन को इस भावना की ऐसी तालीम देनी चाहिए; ताकि कर्णप्रिय शब्द कान में पड़ते ही वह बहक न जाय और कर्णकटु शब्द कान मे पड़ते ही वह बौखला न उठे। यानी उसे मनोज्ञ या अमनोज्ञ, कर्णप्रिय या कर्णकटु, शुभ या अशुभ शब्दों को भाषावर्गणा के पुद्गल मान कर उनके श्रवण का अपने मन पर जरा भी असर नही होने देना है। अगर साधक कर्णकटु अमनोज्ञ शब्दों

को सुन कर जरा-सा भी द्वेषभाव के चक्कर में आ गया तो उसकी अन्तरंग परिग्रह के त्याग की साधना चौपट हो जायगी। इसलिए उस समय इस भावना के प्रकाश में यही विचार करना है कि ये अमंगलकर शब्द तेरा क्या बिगाड़ेंगे? अगर इन भाषावर्गणा के पुद्गलों का प्रभाव तू अपनी आत्मा पर पड़ने देगा, तो इससे तेरी आत्मा की हार ही होगी; जीत नहीं। अतः जीत इसी में है कि इन शुभ या अशुभ शब्दों को कानों से सुन कर भी मन पर असर न होने दे; वचन से भी उन शब्दों की प्रतिक्रिया प्रगट न करे तथा शरीर की चेष्टा से भी उन शब्दों का प्रभाव व्यक्त न होने पाए। अर्थात्—किसी भी प्रिय और अप्रिय शब्द को सुन कर मन को निश्चेष्ट बना दे, वाणी को उसकी प्रतिक्रिया प्रगट करने से मूक बना दे, और काया की चेष्टाओं को उसके प्रभाव से शून्य बना दे। तभी अपरिग्रही साधु समभाव में स्थिर हो कर जितेन्द्रिय और संयतेन्द्रिय बनेगा। और अन्तरंग परिग्रह से सर्वथा दूर रह कर अपनी आत्मा में स्थित हो सकेगा।

वीतरागतापोषक शब्दश्रवण में अभिरुचि परिग्रह नहीं—पूर्वोक्त सूत्रपाठ से यह ध्वनित हो जाता है कि जो शब्द राग, आसक्ति या मोहादि बढ़ाने वाले हैं, अथवा इसके विपरीत जो शब्द द्वेष आदि के पोषक हैं, उन दोनों को राग और द्वेष से अभिभूत हुए मन से ग्रहण करना ही अन्तरंग परिग्रह है। परन्तु जो शब्द वीतरागता की पुष्टि करने वाले हैं, किसी के सुरीले स्वर में वीतरागतापोषक भजनादि के श्रुति-मधुर शब्द कानों में पड़ रहे हैं, तो वहाँ सुनने, अभिरुचि दिखाने और उनके बारे मे बार-बार स्मरण-मनन करने का निषेध नहीं किया गया है। जो शब्द राग-मोह-कामादिवर्द्धक हैं, उन्हीं से सावधान रहने का निर्देश है। वीतरागतावर्द्धक शब्दो से तो परिग्रह में अभिरुचि के बदले परिग्रह से विरक्ति ही पैदा होती है।

'अक्कोसफरुसखिसणअवमाणणतज्जणनिब्भंछणदित्तवयणं'—इत्यादि शब्दों का स्पष्टीकरण—'चुल्लूभर पानी में डूब मर' इस प्रकार के असुहावने वचन आक्रोशवचन हैं; 'अरे मुंड!' इस प्रकार के वचन परुषवचन है; 'तू कुशील है, दुराचारी है' इत्यादि वचन खिसन— (निन्दा) वचन है; 'रे तू' आदि अनादरसूचक शब्द अपमानवचन हैं; 'तुझे देख लूंगा' इत्यादि फटकार के वचन तर्जनावचन कहलाते हैं; 'मुझे अपना मुंह मत दिखा', 'हट जा मेरे सामने से' इत्यादि निर्भर्त्सनवचन हैं; रोष में झल्ला कर बोलना दीप्तवचन है, दूसरे को डराने, धमकाने, उद्विग्न करने के वचन त्रासनवचन हैं; गाड़ी, मोटर, जहाज, विमान, बम फटने, गोली छूटने तथा मशीनों आदि के चलने की अव्यक्त कर्कश ध्वनि 'उत्कूजित कहलाती है; आंसू गिराते हुए बोलना रुदित है, 'लगातार एक ही शब्द की रट लगाना रटित है,

इष्टवियोगादि होने पर रोना-पीटना आक्रन्दन है, सूअर आदि के समान चीचीं, चिल्लपों आदि आवाज को 'रसित' कहते हैं; दयनीय वचनों को करुणवचन कहते हैं, आर्त्तस्वर को विलपित कहते हैं। ये सब अमनोज्ञ शब्द हैं, इन्हें सुन कर मन में द्वेषादि नहीं करना चाहिए।

चक्षुरिन्द्रियसंवररूप रूपनिःस्पृहभावना का चिन्तन, प्रयोग और फल—अपरिग्रहव्रती साधु जब अपनी दैनिक दिनचर्या में प्रवृत्त होता है तो कई रूप आंखों के सामने आते हैं, उनमें कुछ सचेतन प्राणी के भी होते हैं, कुछ अचेतन पदार्थों के भी। जैसे मनोज्ञ और नेत्रप्रिय सुहावने रूपों में सुन्दरी युवती, सुन्दर बच्चे, कुत्ते आदि के सलौने बच्चे, मृगशिशु, मोर, इसी प्रकार रंगबिरंगे चित्र, सुन्दर सफेद या अन्यरंग की खाने-पीने की चीजें, बढ़िया वस्त्र या पात्र अथवा और कोई भी चेतन या जड़ सुन्दर एवं आंखों को रुचिकर तथा मनोमोहक पदार्थ सामने आए, तो उस समय यदि साधु उस सुन्दररूप या चेहरे आदि को देख कर मन में रागभाव या मोह लाता है, उस सुन्दर रूप को टकटकी लगा कर देखने के लिए ललचाता है, बार-बार उसे देखने का लोभ करता है, उस रूप को आसक्तिपूर्वक देखने के लिए ठिठक जाता है, अथवा वहाँ से आगे चलने पर भी मन में बार-बार उसी रूप का स्मरण और मनन करता है, या पुनः पुनः उस रूप को देखने के लिए लालायित होता है; तो यहीं साधक की हार है। ये सारे ही रागभाव के प्रकार हैं, जो साधक को अन्तरंग परिग्रह के जाल में फंसा देते हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने कुछ खास-खास मनोज्ञ रूपों के नाम गिना कर अन्त में उसी प्रकार के अन्यान्य रूपों के दृष्टिगोचर होने पर उन पर आसक्ति अनुराग, गृद्धि, लोभ, मोह, न्योछावर, तुष्टि, स्मरण और मनन से शीघ्र बचने का चक्षुरिन्द्रिय-संवरभावना के प्रकाश में निर्देश किया है—'बितियं चक्खिदिएण पासिय रूवाणि मणुन्नाइं भद्दकाइं ··· रूवेसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्वं ······ न सइं च मइं च तत्थ कुज्जा।' इन सूत्रपंक्तियों का अर्थ पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

इसी प्रकार इनके ठीक विपरीत अमनोज्ञ, आंखों को खटकने वाले, अप्रिय, पापकर्म के उदय से अशुभ कालेकलूटे, भौंडे, भद्दे, घिनौने, बीमार आदि के दयनीय रूपों को देख कर यदि साधक एकदम रुष्ट हो जाता है, क्रोध से झल्ला उठता है, उन कद्रूप व्यक्तियों या जड़ पदार्थों पर टूट पड़ता है, उन्हें तोड़फोड़ देता है, डांटता-फटकारता है, उनकी निन्दा करता है, लोगों के सामने उन्हें धिक्कारता है, उनका अपमान करता है, उन्हें दुरदुराता है, ठुकराता है, उनके प्रति नफरत फैलाता है, उन्हें हिकारतभरी दृष्टि से देखता है या धक्का दे कर, मारपीट कर उन्हें निकाल देता है या वहाँ से भगा देता है तो यहीं साधक की पराजय है। यहीं वह अन्तरंग परिग्रह

की चपेट मे आ कर द्वेषरूपी शत्रु से दब जाता है। उसके मन पर द्वेषरूपी रिपु अधिकार जमा लेता है। ये सारे द्वेषभाव के ही परिवार हैं, जो साधक में बौखलाहट पैदा करके उसे अन्तरंग परिग्रह के गड्ढे में गिरा देते हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने कुछ खास-खास अमनोज्ञ रूपों के नाम गिना कर अन्त में, उसी प्रकार के अन्यान्य अमनोज्ञ रूपों के दृष्टिगोचर होने पर उनके या उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों या वस्तुओं के प्रति रोष, अवज्ञा द्वेष, घृणा, निन्दा, खीज या चिढ़, छेदन-भेदन (तोड़फोड़), ताड़न तर्जन, वध आदि से झटपट बचने का चक्षुरिन्द्रियसंवरभावना के प्रकाश में निर्देश किया है— 'चक्खिदिएण पासिय रूवाइं अमणुन्नपावकाइं .... एवमादिएसु अमणुन्नपावकेसु न तेसु समणेण रूसियव्वं ... लब्भा उप्पातेउं।' इन सूत्रपंक्तियों का अर्थ भी मूलार्थ तथा पदान्वयार्थ से स्पष्ट है। कुछ खास स्थलों पर प्रकाश डालना उचित समझ कर नीचे कुछ स्थलों पर प्रकाश डालते हैं—

गंडि-कोढिक-कुणि-उदरि-कच्छुल्ल......सप्पिसल्लग-वाहि-रोगपीलियं—जिसके गले में गंडमाला हो, उसे गंडी कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है - वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज। जिसके शरीर में १८ प्रकार के कुष्ट रोगों में से कोई-सा भी कुष्टरोग हो, उसे कोढी कहते है। वे १८ प्रकार ये हैं - (१) अरुण, (२) दुंबर, (३) स्पर्शजिह्व, (४) करकपाल, (५) काकन, (६) पौंडरीक, (७) दद्रु, (८) स्थूल मारुवक, (९) महाकुष्ठ, (१०) एककुष्ठ, (११) चर्मदल, (१२) विसर्प, (१३) परिसर्प, (१४) विचर्चिका, (१५) सिध्म, (१६) किट्टिभि, (१७) पामा (१८) शतारुक्। गर्भाधान के दोष से अथवा अन्य किसी कारण सेएक पैर छोटा हो, अथवा एक हाथ छोटा हो, उसे कुणी— टोंटा या लूला कहते हैं। जिसके भयंकर उदर-व्याधि हो, उसे जलोदरी कहते हैं। जलोदर रोग ८ प्रकार का होता है—(१) पृथक्, (२) समस्त, (३) अनिलौघ, (४) प्लीहोदर, (५) बद्धगुद, (६) आगन्तुक, (७) वेसर, (८) जलोदर। श्लीपदी—जिसके पैर कठोर हो गए हों, जकड़ गए हों, उसे श्लीपदी कहते हैं। इस रोगी के पैर धीरे-धीरे हाथी के पैर की तरह सूज जाते हैं। इसे हाथीपगा भी कहते हैं।

इन सब व्याधियों या रोगों से विकृत अंग वाले लोगों को देख कर मन में उनके प्रति घृणा, द्वेष, अरुचि, अप्रीति या द्वेष न लाना चाहिए। ऐसे विकृतांग या विकलांग व्यक्तियों को देख कर साधु को सोचना चाहिए— 'अहो ! कर्मों की कितनी विचित्रता है ! ये बेचारे अपने अशुभकर्मों के उदय से फल भोग रहे हैं। मुझे इन्हें चिढ़ा कर, व्यथित करके या घृणा रोष करके व्यर्थ ही और नये कर्म क्यों बांधने चाहिए ? यही साधक की समभाव की परीक्षा होती है। वह मनोज्ञ या अमनोज्ञ

दोनो में मध्यस्थ—सम रहे। न तो मन को मनोज्ञ रूपों में ललचाए और न अमनोज्ञ रूपों में बिगाड़े।

निष्कर्ष यह है कि अपरिग्रहव्रती साधु को अपने मन को इस भावना की ऐसी तालीम देनी होगी, जिससे वह मनोमोहक एव नेत्रप्रिय रूप आंखों के सामने आते ही उनके प्रवाह में न बह जाय, और अभद्र, असुहावने, अमनोज्ञ अशुभ रूप आंखो के सामने आते ही बौखला न उठे। शुभ या अशुभ रूपों को पुद्गल के खेल समझे। आखिर तो ये रंग या रूप वगैरह सभी नश्वर है, मिट्टी मे मिल जाने वाले हैं। फिर इन सुरूपों पर मोह या आसक्ति करके और कुरूपों पर घृणा या द्वेष करके अपने सयम को क्यो धूल में मिलाया जाय! अशुभ रूप साधक की आत्मा का क्या बिगाड़ेंगे? रूप अपने आप में न अच्छा है, न बुरा। उसका निर्णय तो अपनी प्रकृति के अनुसार व्यक्ति के विचार ही करते हैं न! अतः सुरूप या कुरूप का प्रभाव मन पर न पड़ने देना ही साधक की जीत है। अन्यथा, साधक की आत्मा की हार है। अतः विजय इसी में है कि इन शुभ या अशुभ रूपों को आंखों से देख कर भी मन पर असर न होने दें; वचन से भी उस रूपदर्शन की अच्छी या बुरी प्रतिक्रिया प्रगट न करे तथा शरीरचेष्टा से भी उन रूपों का प्रभाव व्यक्त न करे। अर्थात्—किसी भी प्रिय या अप्रिय रूप को देख कर मन को बिलकुल निश्चेष्ट बना दे, वचन को उसकी प्रतिक्रिया प्रगट करने से मूक बना ले तथा काया की चेष्टाओं को भी उसके प्रभाव से शून्य बना दे। यही अपरिग्रही साधु के द्वारा अन्तरंग-परिग्रह से सर्वथा मुक्त रहने की साधना है। इस प्रकार की भावना के चिन्तन व प्रयोग से साधक समभावी, जितेन्द्रिय एव स्थितप्रज्ञ बन सकता है।

घ्राणेन्द्रियसंवरभावना का चिन्तन, प्रयोग और फल—अपरिग्रही साधक जब अपने नित्यकृत्य में प्रवृत्त होता है तो कई मनोज्ञ भोज्य पदार्थों या कई अन्य सुगंधपूर्ण पदार्थों की सुगन्ध उसके नाक से आ कर टकराती है, उस समय उन भीनी-भीनी मधुर मनोमोहक सुगन्धों को पा कर यदि वह असावधान हो कर उन पर रागभाव लाता है, उन्हें सूंघने के लिए ललचाता है, उस सुगन्ध में आसक्त बनता है, उन्हें सूंघने के लिए ठिठक जाता है या वहां से दूर चले जाने पर भी मन में उनका पुनःपुनः स्मरण या चिन्तन करता है तो यही साधक फिसलता है। ये सारे ही रागभाव के विकार उसे घेर लेते हैं और अन्तरंग परिग्रह के जाल में फंसा देते हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने कुछ खास-खास मनोज्ञ गंधों के नाम गिना कर अन्त में उन्हीं की किस्म के विभिन्न सुगन्धों के घ्राणगोचर होने पर उन पर आसक्ति, राग, मोह, लोभ गृद्धि, न्योछावर, तुष्टि, स्मरण और मनन से उसे घ्राणेन्द्रियसंवरभावना के प्रकाश में सीख़ानिरोध

बचने का निर्देश सूत्रपंक्तियों द्वारा किया है—"घाणिदिएण अग्घाइय गंधाइं मणुन्नभद्दगाइं······ जलयथलयसरस······ गंधेसु मणुन्नभद्दएसु······ समणेण न रज्जियव्वं······ न सइं मइं च तत्थ कुज्जा" इन सूत्रपंक्तियों का अर्थ पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। वैसे ही यदि इन सुगन्धों से ठीक विपरीत मन को बुरे लगने वाले अमनोज्ञ दुर्गन्धों का नाक से स्पर्श होने पर क्रोध से तिलमिला उठता है, ठुकरा देता है, तोड़ता-फोड़ता है और उन्हें डांट-फटकार बताता है, उनकी निन्दा करता है, भर्त्सना करता है, या घृणा फैलाता है, दुरदुराता है, लोगों के सामने उन्हें धिक्कारता है या उन दुर्गन्धभरे व्यक्तियों को मारता-पीटता है, धमकाता है, या लड़ाई ठान बैठता है तो यही साधक की हार हो जाती है। यही वह *अन्तरंग परिग्रह* की चपेट में आकर द्वेषरूपी दुश्मन से दब जाता है। उसके मन पर द्वेषरूपी शत्रु कब्जा कर लेता है। ये सारे द्वेषभाव के ही परिवार हैं, जो साधक के मन में बौखलाहट पैदा करके उसे मनचाहा नचाते हैं और अन्तरंग परिग्रह के गर्त में धकेल देते हैं। इसीलिए शास्त्रकार अमनोज्ञ गन्धों के कुछ नामनिर्देश करके अन्त में, उसी प्रकार के विभिन्न अमनोज्ञ गन्धों के या उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों या साधनों के घ्राणगोचर होने पर उनके प्रति रोष, अवज्ञा, द्वेष, घृणा, निन्दा, खीज या चिढ़, छेदन-भेदन, ताड़नतर्जन या वध आदि के प्रयोग से बचने का घ्राणेन्द्रियसंवरभावना के चिन्तन के प्रकाश में निर्देश करते हैं—'घाणिदिएण गंधाइं अमणुन्नपावकाइं ··· एवमादिएसु अमणुन्नपावकेसु न तेसु समणेण रूसियव्वं ··· लब्भा उप्पातेउं।' इन सूत्र पंक्तियों का अर्थ हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं। तात्पर्य यह है कि उन अमनोज्ञ दुर्गन्धों से सम्पर्क होने पर साधक यह सोचे कि संसार में विभिन्न वस्तुओं का स्वभाव ही ऐसा है, इसमें हमें क्यों द्वेषभाव लाना चाहिए? ये सुगन्ध या दुर्गन्ध सभी एक दिन नष्ट होने वाले हैं। साधक को *अपना मन इतना प्रशिक्षित* कर लेना चाहिए कि घ्राणप्रिय मनोमोहक सुगन्ध के स्पर्श से वह बहक न उठे और अमनोज्ञ दुर्गन्ध के सम्पर्क से वह तिलमिलाए नहीं। इन्हें पुद्गलों का मेल समझे। इन नश्वर सुगन्धों या दुर्गन्धों के विषय में मन को राग-द्वेष के बीहड़ में भटका कर क्यों आत्मा को बिगाड़ा जाय? अतः साधक की जीत इसी में है कि वह इन शुभ या अशुभ गन्धों से नाक का संस्पर्श होने पर भी मन पर उनका असर न होने दे, वचन से भी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त न करे और न शरीर की चेष्टा को ही उनसे प्रभावित होने दे। अर्थात् किसी भी सुगन्धित या दुर्गन्धित पदार्थ या उसकी शुभाशुभ गन्ध को पा कर मन को बिलकुल स्थिर रखे, वचन को उसकी प्रतिक्रिया व्यक्त करने से मूक बना दे और काया की चेष्टा को उसके प्रभाव से शून्य बना दे। यही अपरिग्रही साधु की अन्तरंग परिग्रह से सर्वथा मुक्त होने की कुंजी है। इस प्रकार की भावना के चिन्तन और

प्रयोग से साधक स्वयं स्वस्थ, शान्त, समभावी, जितेन्द्रिय और स्थितप्रज्ञ बन जाएगा।

रसनेन्द्रियसंवरभावना का चिन्तन, प्रयोग और फल—परिग्रह से सर्वथा मुक्त होने वाला साधक जब अपनी दिनचर्या में, खासकर भिक्षाचर्या में प्रवृत्त होता है तो उसकी जीभ के सामने कई स्वादिष्ट मनोज्ञ रसीली चीजें या रस आते हैं अथवा उसे भिक्षा में भी कई मनोज्ञ चीजें प्राप्त होती हैं, वह उनका आस्वादन करने में प्रवृत्त होता है; यदि उस समय वह मनोज्ञ स्वादिष्ट रसयुक्त पदार्थों को देख कर मन में आसक्ति लाता है, रागभाव से खाता है, उन्हें पाने के लिए लालायित होता है, उन पर मुग्ध हो कर टूट पड़ता है, रातदिन उन्हीं का स्मरण और चिन्तन-मनन करता है तो यही वह अपने संयम को खो देता है। वह विविध मनोज्ञ रसों के मोहक जाल में फंस कर अपनी आत्मा को पतन के गहरे गड्ढे में गिरा देता है। इसीलिए शास्त्रकार ने कुछ खास-खास मनोज्ञ रसों या रसयुक्त पदार्थों के नाम गिना कर अन्त में उन्हीं की किस्म के विभिन्न रसों या पदार्थों के रसनेन्द्रियगोचर होने पर उन पर आसक्ति, राग, मोह, गृद्धि, लोभ, न्योछावर, तुष्टि, स्मरण और मनन से दूर रहने का तथा रसनेन्द्रिय-संवरभावना के चिन्तन के प्रकाश में अपने अपरिग्रहव्रत को सुरक्षित रखने का संकेत करते हैं—'जिब्भिदिएण साइय रसाणि उ मणुन्नभद्दकाइं ' उग्गाहिमविविह पाण-भोयण''''भोयणेसु '' रसेसु '''न सज्जियव्वं न सइं च मइं च तत्थ कुज्जा।' इन सूत्रपंक्तियों का अर्थ मूलार्थ एवं पदान्वयार्थ से स्पष्ट है।

इन शुभ मनोज्ञ रसों के ठीक विपरीत, जो अमनोज्ञ अशुभ रस हैं; उनका जीभ से स्पर्श होने पर यदि साधक रोष से तिलमिला उठता है, उन्हें ठुकरा देता है, तोड़-फोड़ देता है, फैंक देता है, ठंडे, बासी, रूखे, सूखे, नीरस, सत्त्वहीन, सड़े, गले पदार्थों को देख कर हाथ-पैर पछाड़ता है, देने के लिए उद्यत दाता से लड़ पड़ता है, उसकी निन्दा, अपमान, अवज्ञा या मारपीट करता है, उसके प्रति लोगों में घृणा फैलाता है, लोगों के सामने उस पदार्थ की या पदार्थ के देने वाले की निन्दा करता है, धिक्कारता है या डांटता-फटकारता है, तो समझ लो, वह साधक अन्तरंग परिग्रह की चपेट में आ कर द्वेषभाव से पराजित हो गया। साधक के निर्बल मन पर द्वेषभावरूपी शत्रु ने अधिकार जमा लिया। इसी लिए शास्त्रकार साधक को सूचित करते हैं कि वह अमनोज्ञ रसों या रसयुक्त पदार्थों से जिह्वेन्द्रिय का स्पर्श होने पर क्रोध से तमतमाए नहीं, आवेश में आ कर पात्र को न तोड़-फोड़ दे, हाथ-पैर न पछाड़े, मुंह न मचकोड़े, लड़ाई-झगड़ा न कर बैठे, दाता के यहाँ जा कर उसे भलाबुरा न कहे, न उस पर खीजे, न उसे डांट-फटकारे, और न ही उसे मारे-पीटे, न उसके प्रति लोगों में घृणा

फैलाए। यानी शास्त्रकार अशुभ पदार्थों के प्रति रोप करने, द्वेष करने, चिढ़ने या घृणा करने, ठुकराने या छेदन-भेदन करने आदि से आत्मा को बचाने का निर्देश करते हैं—'जिब्भिदिएण सायिय रसाइं अमणुन्नपावकाइं …… बहुदुब्भिगंधाइं तित्तकडुयकसाय-अंबिलरससलिङनीरसाइं ……अमणुन्नपावकेसु न तेसु समणेण रूसियव्वं ……।' इन सूत्रपंक्तियों का अर्थ पहले मूलार्थ एवं पदार्थान्वय में हम स्पष्ट कर आए हैं। यहाँ तो केवल उनका संक्षिप्त विश्लेषण ही पर्याप्त है, सो ऊपर किया जा चुका है।

निष्कर्ष यह है कि अपरिग्रही साधक जिह्वेन्द्रिय के साथ नीरस, रूक्ष, अमनोज्ञ पदार्थों का सम्पर्क होने पर यही सोचे कि ये सब वस्तुएँ या रस नाशवान हैं, पुद्गल के खेल हैं, इनके मिलने पर असंतोष या रोष व्यक्त करना ठीक नहीं। ये स्वादिष्ट पदार्थ भी पेट में जा कर तो विकृत बन जाते हैं। फिर इन विकृत पदार्थों से मुझे क्यों घबराना चाहिए!

मतलब यह है कि साधु को अपना मन इतना साध लेना होगा कि मनोज्ञ-सरस, स्वादिष्ट रस जीभ पर पड़ते ही वह बहक न जाय और अमनोज्ञ एवं नीरस पदार्थ के मिलते ही वह बौखला न उठे। विविध वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप जान कर उनकी सरसता या नीरसता का अपने मन पर अधिकार न होने दे; अपने मन को जरा भी उनसे प्रभावित न होने दे। इसी में उसकी जीत है। अन्यथा, साधक सरस स्वादिष्ट भोजन या पेय पदार्थ पा कर अपने मन पर रागभाव का असर होने देगा तो उसकी संयम-साधना चौपट हो जायगी। इसी प्रकार अमनोज्ञ नीरस भोज्य या पेय पदार्थ पा कर यदि वह मन को द्वेषभाव से लिप्त कर देगा तो भी उसका अन्तरंगपरिग्रहमुक्ति का अब तक का प्रयत्न नष्ट हो जाएगा। उसकी आत्मा की पुद्गलों से जबर्दस्त हार होगी। अतः जीत इसी में है कि शुभ या अशुभ रसों को जिह्वेन्द्रियगोचर होते ही या होने से पहले ही मन पर उनका असर न होने दे; वचन से उनकी प्रतिक्रिया व्यक्त न होने दे तथा शरीरचेष्टा से भी उन रसों का प्रभाव व्यक्त न होने दे। अर्थात् किसी भी प्रिय या अप्रिय रस को पा कर मन को निश्चेष्ट बना दे, वाणी को उसकी प्रतिक्रिया प्रगट करने में मूक बना दे और काया को भी उसके प्रभाव से शून्य बना दे। तभी अपरिग्रही साधक की विजय होगी। वह शुभ या अशुभ रसों के मिलने पर समभाव में स्थित होकर जितेन्द्रिय और स्थितप्रज्ञ बन जायगा। और अपनी आत्मा को अन्तरंगपरिग्रह से मुक्त रख कर आत्मा में स्थित हो जायगा।

स्पर्शनेन्द्रियसंवरभावना का चिन्तन, प्रयोग और फल—अपनी दिनचर्या में प्रवृत्त होते समय प्रतिदिन साधक की त्वचा से ठंडे, गर्म, हलके, भारी, खुरदरे, कोमल

रुक्ष और स्निग्ध अनेक पदार्थों का स्पर्श होता है। उसे सर्दियों में गर्म, गर्मियों में ठंडा, तथा चिकना, मुलायम, हलका, स्निग्ध पदार्थ रुचिकर लगता है। किन्तु उन रुचिकर मनोज्ञ पदार्थों का स्पर्श पा कर यदि साधु आसक्ति करता है, मोह करता है, उस स्पर्श को पाने के लिए लालायित हो उठता है, उसे पाने की ही धुन में रहता है, उसे पाने के लिए बेचैन हो उठता है, अपने आपको गुलाम बनाने के लिए भी तैयार हो जाता है, उसी शुभ स्पर्श का स्मरण, मनन और रटन करता है, तो समझना चाहिए कि साधक अभी साधना में कच्चा है। वह अभी पुद्गलासक्त बन कर अपनी संयमसाधना को मिट्टी में मिलाने पर उतारू हो रहा है। वह उन विविध अनुकूल स्पर्शों के मोहक जाल में फंस कर अपने आपको पतन की खाई में धकेल देता है। इसीलिए शास्त्रकार ने कुछ खास-खास स्पर्शों का उल्लेख करके अन्त में उन्हीं के जैसे विभिन्न मनोमोहक स्पर्शों या स्पर्शयोग्य पदार्थों के स्पर्शनेन्द्रियगोचर होने पर उनके सम्बन्ध में आसक्ति, राग, मोह, गृद्धि, लोभ, न्योछावर, तुष्टि, स्मरण और मनन से दूर रहने तथा स्पर्शनेन्द्रिय-संवरभावना के द्वारा अपने अपरिग्रहव्रत को सुरक्षित रखने का संकेत करते हैं "**फासिंदिएण फासिय फासाइं मणुण्णभद्दकाइं** " **दगमंडव.**"" **उउसुहफासा अंगसुहनिव्वुइकरा** ""**फासेसु मणुण्णभद्दएसु न**"""" **समणेण सज्जियव्वं**"" **तत्थ कुज्जा।**" इन सूत्रपंक्तियों का अर्थ हम पहले मूलार्थ एवं पदान्वयार्थ में स्पष्ट कर आए हैं। साथ ही, इन शुभ स्पर्शों के ठीक विरोधी अशुभ अमनोज्ञ स्पर्शों के शरीर से स्पर्श होने पर जो साधक रोष से झल्ला उठता है, आवेश में आ कर अवज्ञा कर बैठता है, या उक्त स्पर्शजन्य पदार्थों को तोड़ फैंकता है, उसके लिए लड़ता-झगड़ता है, दाता को भी भला-बुरा कहता है, उस वस्तु या व्यक्ति की निन्दा, अपमान, तिरस्कार, घृणा, उपेक्षा करता है; लोगों के सामने उसे धिक्कारता, डांटता-फटकारता और कोसता है; उसके प्रति नफरत की भावना फैलाता है; तो समझ लो, वह साधक अभी तक अन्तरंगपरिग्रह से मुक्ति की साधना का क-ख-ग भी सीख नहीं पाया है। उसके निर्बल मन पर द्वेषरूपी शत्रु ने घेरा डाल दिया है। द्वेषभाव के सामने उसके मन ने घुटने टेक दिये हैं। इसीलिए शास्त्रकार साधक को हिदायत देते हैं—अमनोज्ञ स्पर्शों या स्पर्शयुक्त पदार्थों का संयोग मिलने पर क्रोध से आगबबूला न हो, आवेश में आ कर उन पदार्थों को फैंके या तोड़फोड़े नहीं, अनिष्ट स्पर्शों का संयोग होने पर वह हाथपैर न पछाड़े, छटपटाए नहीं, किसी को भला-बुरा न कहे, न कोसे, न किसी को डांटे-फटकारे, न मारे-पीटे और न ही किसी के प्रति लोगों में घृणा फैलाए। यानी वह उन अशुभ स्पर्शों या स्पर्शयुक्त पदार्थों के प्रति मन में रोष, द्वेष, अवज्ञा, खीज, छेदन-भेदन, वध और घृणा आदि कतई न लाए। इसी बात को शास्त्रकार निम्नोक्त सूत्रपंक्तियों के द्वारा स्पष्ट

करते हैं—"फासिंदिएण फासिय फासाइं अमणुन्नपावकाइं अणेगवघबंधनतालणं-कण दुब्भिकखखड़ - गुरु-सीयउसिणलुक्खेसु फासेसु अमणुन्नपावकेसु न "समणेण रूसियव्वं लब्भा उप्पाएउं ।" इन सूत्रपंक्तियों का अर्थ भी पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

सारांश यह है कि अपरिग्रही साधक ठंडा, गर्म, हलका, भारी, रूखा, खुर्दरा आदि अमनोज्ञ अनिष्ट स्पर्शों का संयोग मिलने पर यह सोचे कि ये सब स्पर्श भी तो पुद्गलों को ही ले कर हैं। पुद्गलों का तो यह स्वभाव है। इनमें कोई क्या कर सकता है? मुझे इन बुरे स्पर्शों के मिलने पर असंतोष प्रगट करना ठीक नहीं। मैं तो विराट आत्मा हूँ, मुझे इन स्पर्शों का गुलाम बन कर या इनसे आत्मा को प्रभावित करके जीना ठीक नहीं। इन बुरे स्पर्शों से अनन्त शक्तिमान आत्मा को घबराना ही क्यों चाहिए?

मतलब यह है कि साधु अपने मन को इतनी शिक्षा दे दे कि जब मनोज्ञ स्पर्श या स्पर्शयुक्त पदार्थों का संयोग मिले, तब वह वहके नहीं और अमनोज्ञ स्पर्शों या पदार्थों का संयोग मिले तब बौखलाए नहीं। जीवन को समभाव की पगडंडी पर चलाए। दोनों ही *अवस्थाओं में समभाव न खोए। विविध वस्तुओं के स्वभाव का* यथार्थ चिन्तन करके मन को उनके प्रति होने वाले रागद्वेष से बचाए। अपने मन को इनसे बिलकुल प्रभावित न होने दे। अपनी आत्मा को सिर्फ ज्ञाता-द्रष्टा बना कर रखे। इसी मे उसकी विजय है। अन्यथा, यदि साधक सुखद मनोज्ञ स्पर्शों या स्पर्श-युक्त पदार्थों को पा कर अपने मन पर रागद्वेष का असर होने देगा तो उसकी जबर्दस्त हार होगी। इसी प्रकार अमनोज्ञ दुःखद स्पर्शों या तत्सम्बद्ध पदार्थों को पा कर यह अपने मन को उनसे प्रभावित होने देगा, तो भी वह अपनी साधना को चौपट करके इन स्पर्शों से हार खाएगा। आखिरकार वे स्पर्श यों तो पिंड छोड़ेंगे नहीं। सर्दियों में सर्दी का, गर्मियों मे गर्मी का, वर्षा में दोनों प्रकार का, इसी प्रकार खुर्दरा, हलका, भारी आदि बुरा स्पर्श तो रहेगा ही, उसे टाला नहीं जा सकेगा। तब फिर केवल बौखलाने से या उन दुःस्पर्शों से घबरा कर भागने से काम कैसे चलेगा? वीर बन कर संयमी-साधना के लिए कटिबद्ध होकर इन रागद्वेषरूप शत्रुओं से जूझना होगा। साधक की जीत निश्चित ही है। परन्तु यह तभी होगी, जब साधक शुभाशुभ स्पर्शों का संयोग होते ही मन पर उनका कोई असर नहीं होने देगा; वचन पर तो उसकी प्रतिक्रिया बिलकुल नहीं होने देगा और काया की चेष्टा से भी वह उन स्पर्शों का प्रभाव व्यक्त नहीं होने देगा। अर्थात्—प्रिय-अप्रिय स्पर्श का संयोग होते ही मन पर वह संयम का ताला लगा देगा, वचन को यह प्रतिक्रिया व्यक्त करने में मूक बना देगा और शरीरचेष्टा को भी उनके प्रभाव से मुक्त रखेगा। तभी अपरिग्रही

साधक की अन्तरात्मा इन रागद्वेषरूपी अन्तरंग परिग्रहों पर विजयी बनेगी; शुभाशुभ स्पर्शों के संयोग में वह समभाव में स्थिर हो कर जितेन्द्रिय और स्थितप्रज्ञ बन जाएगी और वह साधक भी आत्मस्थ बन जाएगा।

पंचम संवरद्वार का महत्त्व— एक दृष्टि से देखा जाय तो अन्य संवरों की अपेक्षा अपरिग्रहसंवर का दायरा बहुत विस्तृत है। क्योंकि परिग्रह में एक ओर सारा विश्व आ जाता है तो दूसरी ओर व्यक्ति का तमाम मनोलोक आ जाता है। विश्व की जड़ या चेतन, छोटी या बड़ी तमाम वस्तुएँ परिग्रह में आती है, तथा रागद्वेषजनक तमाम भाव भी परिग्रह में ही आते हैं। इसीलिए शास्त्रकार पहले की तरह इस परिग्रहविरमणरूप अपरिग्रह-संवरद्वार का माहात्म्य निम्नोक्त सूत्रपाठ द्वारा उपसंहार में व्यक्त करते हैं—"एवं पंचमं संवरदारं फासियं······ आराहियं भवति ··· एवं नायमुणिणा भगवया महावीरेण पन्नवियं·········पंचमं संवरदारं समत्तं ।" इन सब पंक्तियों का अर्थ पहले अनेकस्थलों पर स्पष्ट किया जा चुका है।

पांचों संवरों का माहात्म्य और फल—अब शास्त्रकार पांचों ही संवरों का माहात्म्य और उनकी आराधना करने का सुफल निम्नोक्त सूत्रपाठ द्वारा बताते हैं—"एयाइं वयाइं पंचवि ··· अणुचरिय संजते चरमसरीरधरे भविस्सतीति ।" इसका अर्थ तो हम मूलार्थ तथा पदान्वयार्थ में स्पष्ट कर आए हैं; किन्तु कुछ आशय स्पष्ट करना जरूरी है। ये पांचों महाव्रतरूप पांच संवर आस्तिक जगत् में प्रसिद्ध हैं। पातंजल योगदर्शन में इनके लिए कहा है—

'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा दिक्कालाद्यनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।'

अर्थात्—'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये ५ यम हैं। ये किसी खास देश, काल आदि से सम्बन्धित नहीं हो कर जब सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं तो सार्वभौम महाव्रत हो जाते हैं।' संसार में जो नियम या व्रत किसी एक देश या अमुक काल तक ही सीमित रहता है, वह उसके बाद अपना अस्तित्व खो बैठता है; निःसत्त्व बन जाता है। परन्तु ये पंच महाव्रत तो प्रायः सभी धर्मों और दर्शनों ने यम या व्रत के रूप में माने हैं। और सभी देश और सभी काल में ये पालनीय हैं। इनकी आराधना कहीं भी किसी भी स्थान या काल में की जा सकती हैं, ये सब जगह सुख देने वाले हैं। किसी भी धर्म, जाति, देश, वेष या काल का कोई भी पुरुष, स्त्री, बालक, वृद्ध, नपुंसक, इनकी भलीभांति आराधना-साधना करके सिद्धि-मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इसीलिए शास्त्रकार ने स्वयं कहा है कि इन पांच महाव्रतों रूप संवरों का ५ समितियों से युक्त, २५ भावनाओं सहित, ज्ञानदर्शन से मन वचन काया

से सुसंवृत तथा प्राप्त संयमयोग की वृद्धि और अप्राप्त संयमयोग की प्राप्ति के लिए अहर्निश प्रयत्नशील होने से सुविशुद्ध दृष्टि वाला सयमी इन पाचों महाव्रतों का लगातार पालन करके भविष्य मे चरमशरीरी हो जायगा ।

यही इन पाचों संवरों की आराधना का उत्तम फल है ।

वैसे तो सैकड़ों निर्दोष युक्तियों से इसका विस्तृत वर्णन मिलता है और शास्त्रों में विस्तार से भावनास्वरूप २५ संवरों का उल्लेख मिलता है, लेकिन आबाल-वृद्ध संसार में सर्वत्र यम, व्रत, महाव्रत आदि के नाम से प्रसिद्ध ये ५ ही सवर हैं। इसलिए इस शास्त्र में पांच ही संवरद्वारों का ग्रहण किया गया है ।

श्री सुबोधिनीव्याख्यासहित प्रश्नव्याकरणसूत्र का दसवां अध्ययन अपरि-ग्रहरूप पंचमसंवरद्वार समाप्त हुआ ।

● ●

उपसंहार

अब शास्त्रकार शास्त्र की पूर्णाहुति पर इस शास्त्र का निम्नोक्त परिचयात्मक सूत्रपाठ द्वारा उपसहार करते हैं—

मूलपाठ

पण्हावागरणे णं एगो सुयक्खंधो, दस अज्झयणा, एक्कसरगा, दससु चेव दिवसेसु उद्दिसिज्जंति। एगंतरेसु आयंबिलेसु निरुद्धेसु आउत्तभत्तपाणएणं अंगं जहा आयारस्स ॥ (सू० ३०)

संस्कृतच्छाया

प्रश्नव्याकरणे एकः श्रुतस्कन्धो दशाध्ययनानि एकस्वरकानि, दशसु चैव दिवसेसु उद्दिश्यन्ते एकान्तरेषु आचाम्लेषु आयुक्तभक्तपानकेन अंगं यथाऽऽचारस्य ॥ (सू० ३०)

पदान्वयार्थ—(पण्हावागरणे) इस प्रश्नव्याकरणसूत्र में (एगो) एक (सुयक्खंधो) श्रुतस्कन्ध है। (दस अज्झयणा) दस अध्ययन हैं, जो (एक्कसरगा) समान शैली के हैं। (आउत्त भत्तपाणएणं) उपयोग युक्त आहार पानी वाले साधु द्वारा (जहा आयारस्स अंगं) जैसे आचारांग का वाचन किया जाता है, वैसे ही (एगंतरेसु) एकान्तर (निरुद्धेसु आयंबिलेसु) लगातार बीच में रुकावट डाले बिना, आयंबिल तप से युक्त (दससु चेव दिवसेसु) दस ही दिनों में ये (उद्दिसिज्जंति) वाचन किये जाते हैं।

मूलार्थ- इस प्रश्नव्याकरणसूत्र में एक श्रुतस्कन्ध है, दस अध्ययन हैं, एक जैसे हैं, आचारांग सूत्र के व्याख्यान के समान उपयोगपूर्वक आहार पानी वाले साधु द्वारा लगातार (बीच में रोके बिना) एकान्तर आयंबिल (आचाम्ल) तप का आचरण करके दस ही दिनों में इनका वाचन किया जाता है।

व्याख्या

जैसी कि शास्त्रकार ने प्रतिज्ञा की थी, उसी प्रकार से उन्होंने प्रश्नव्याकरण सूत्र का दस अध्ययनो मे निरूपण पूर्ण किया है। वास्तव मे प्रश्नव्याकरण सूत्र का

जैसा नाम है, वैसे ही जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्नों की व्याख्या इसमें की गई है। सभी युगों में दुःख और सुख से सम्बन्धित प्रश्न ही जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्न रहे हैं। सभी धर्मगुरुओं ने इन्हीं मूलभूत प्रश्नों को ले कर अपने-अपने धर्म का निरूपण किया है। परन्तु प्रश्नव्याकरणसूत्र में कुछ ऐसी निराली खूबी है कि इसमें दुःख और सुख इन दोनों से सम्बन्धित प्रश्नों की ही व्याख्या की गई है। यद्यपि शास्त्रकार के कथनानुसार इनमें एक ही श्रुतस्कन्ध माना गया है। तथापि आश्रवद्वार और संवरद्वार नामक दो खंड अवश्य हैं। आश्रवद्वार के बदले अधर्मद्वार नाम भी प्रयुक्त हुआ है। यानी प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य (मैथुन) और परिग्रह इन पांच आश्रवों के क्रमशः पांच अध्ययन प्रथम खंड—आश्रवद्वार में हैं। इसके पश्चात् द्वितीय खंड—संवरद्वार में भी अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पांच अध्ययन छठे अध्ययन से ले कर दसवें अध्ययन तक हैं। ये पांचों संवरद्वार पंचमहाव्रतों के रूप में वर्णित हैं।

उत्तरोत्तर उत्कृष्ट—ये दसों अध्ययन एक ही शैली में हैं, फिर भी एक से एक बढ़कर हैं। वैसे तो शास्त्र रत्नाकर है। इसमें बहुत रत्न भरे पड़े हैं। कोई तुलना नहीं की जा सकती कि कौन-सा अध्ययन किस अध्ययन से बढ़कर है। परन्तु इन की वर्णनीय वस्तु को देखते हुए सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि इनका वर्णन बहुत ही विशद है।

व्याख्यानरीति—प्रश्नव्याकरणसूत्र या किसी भी आगम की वाचना या व्याख्यान बिना तप के निखर नहीं सकता। तपस्या के साथ वाचना हो तो वाचना में निखार भी आ जाता है; और ज्ञान के साथ दर्शन, चारित्र और तप की भी आराधना हो जाती है। धर्म तो आचारप्रधान ही होता है। शास्त्रज्ञान भी श्रुतधर्म है। उसका आचरण भी ज्ञान के अतिरिक्त दर्शन (देवगुरुधर्म पर श्रद्धा) चारित्र (श्रद्धापूर्वक धर्माचरण) और तप (चारित्रशुद्धि के हेतुतप) से ही परिपूर्ण होता है। इसीलिए यहाँ शास्त्रकार ने प्रश्नव्याकरण सूत्र की वाचना की अवधि १० दिन की बताई है, और उसके साथ लगातार एकान्तर (एक दिन बीच में पारणा करते हुए) आयंबिल के साथ करने का भी निर्देश किया है।

इस प्रकार श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र सुबोधिनीव्याख्यासहित सम्पूर्ण हुआ।

शुभं भूयात्

ॐ अर्हम्

प रि शि ष्ट





१

परिशिष्ट

सुभाषित

१ पाणवहो नाम एस निच्चं जिणेहिं भणिओ—पावो चंडो रुद्दो—
खुद्दो साहसिओ अणारिओ णिग्घिणो णिस्संसो महब्भओ ˙˙ अ. १ पृ० २२

२ मंदबुद्धी सवसा हणंति, अवसा हणंति˙˙˙˙
अत्था धम्मा कामा हणंति˙˙˙˙ „ १ „ ४५

३ पावस्स फलविवागं अयाणमाणा वड्ढंति महब्भयं—
अविस्सामवेयणं, दीहकालबहुदुक्खसंकडं नरयतिरिक्खजोणिं „ १ „ ६८

४ एसो सो पाणवहस्स फलविवागो—
इहलोइयो पारलोइयो अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भयो ˙˙˙ „ १ „ १०७

५ अलियवयणं लहुसग-लहुचवल भणियं भयंकरं दुहकरं
अयसकरं वेरकारगं ˙˙˙ अपच्चयकारकं ˙˙˙ „ २ „ १३१

६ बहवे धम्मकरणालसा परूवेंति धम्मविमंसएण मोसं˙˙˙˙ „ २ „ १५८

७ अलियवयणदच्छा परदोसुप्पायणपसत्ता वेढेंति—
अक्खतियबीएण अप्पाणं कम्मबंधणेण˙˙˙ „ २ „ १५९

८ मुहरी असमिक्खियप्पलावी˙˙˙˙ „ २ „ १५९

९ असच्चा अत्थालियं च कन्नालियं च भोमालियं च
तह गवालियं च गरुयं भणंति अहरगतिगमणं˙˙˙˙ „ २ „ १५९

१० अलियसंपउत्ता वयणं सावज्जमकुसलं साहुगरहणिज्जं—
अधम्मजणणं भणंति अणभिगयपुन्नपावा.... „ २ „ १५९

११ न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो˙˙˙˙ „ २ „ २१९

३२ अहिंसा जा सा सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स भवति— दीवो ताणं सरणं गती पइट्ठा ··	,, ६ ,, ५१७
३३ एसा सा भगवती अहिंसा ··सव्वभूयखेमकरी	,, ६ ,, ५३२
३४ सव्वभूयसंजमदयट्ठयाए सुद्धं उंछं गवेसियव्वं····	,, ६ ,, ५५६
३५ नवि वंदण-माणण-पूयणाते भिक्खं गवेसियव्वं···· नवि हीलण-निंदण-गरहणाते भिक्खं गवेसियव्वं···· नवि भेसण-तज्जण-तालणाते भिक्खं गवेसियव्वं ··	,, ६ ,, ५५६
३६ सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठाते पावयणं भगवया सुकहियं····	,, ६ ,, ५६०
३७ न कयावि मणेण पावएणं पावगं किंचि वि झायव्वं · वईए पावियाए पावगं न किंचिवि भासियव्वं···	,, ६ ,, ५७८
३८ संजमजायामाया निमित्तं संजमभारवहणट्ठयाए भुंजेज्जा पाणधारणट्ठयाए संजएणं····	,, ६ ,, ५७६
३९ संजमस्स उववूहणट्ठयाए वातातवदसमसग · सीयपरिरक्खणट्ठयाए उवगरणं रागदोसरहितं परिहरितव्वं	,, ६ ,, ५७६
४० तं सच्चं उज्जुयं अकुडिलं भूयत्थं अत्थतो विसुद्धं— उज्जोयकरं पभासकं भवति सव्वभावाण जीवलोगे अविसंवादि	,, ७ पृ. ६०५
४१ तं सच्चं भगवं	,, ७ ,, ६०६
४२ जं (सच्चं) लोगंमि सारभूयं	,, ७ ,, ६०६
४३ सत्थाणि य सत्थाणि य सिक्खाओ य आगमा य— सव्वाणि वि ताइं सच्चे पइट्ठियाइं	,, ७ ,, ६०६ ,, ७ ,, ६०६
४४ सच्चं पि य संजमस्स उवरोहकारकं किंचि न वत्त व	,, ७ ,, ६०६
४५ अरहंतमणुन्नायं समिविखयं संजएण कालंमि य वत्तव्वं ।	,, ७ ,, ६०७
४६ सच्चं च हियं च मियं च गाहगं च सुद्धं— संगयमकाहलं च समिक्खितं संजतेण कालंमि य वत्तव्वं	,, ७ ,, ६३६
४७ कुद्धो चंडिक्किओ मणूसो अलियं भणेज्ज, सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज	,, ७ ,, ६३७
४८ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं	,, ७ ,, ६३७

४६ न भाइयव्वं, भीतं खु भया अइंति लहुयं,
भीतो अवितिज्जओ मणूसो,
भीतो भूतेहिं घिप्पइ,
भीतो अन्नं पि हु भेसेज्जा,
भीतो तवसंजममपि हु मुएज्जा,
भीतो य भरं न नित्थरेज्जा,
सप्पुरिसनिसेवियं च मग्गं भीतो न समत्थो अणुचरिउं ,, ७ ,, ६३७

५० न भाइयव्वं⋯भयस्स वा, वाहिस्स वा, रोगस्स वा जराए वा मच्चुस्स वा ,, ७ ,, ६३७

५१ हासं न सेवियव्वं ,, ७ ,, ६३७

५२ अलियाइं असंतकाइं जंपति हासइत्ता ,, ७ ,, ६३७

५३ परपरिभवकारणं⋯ परपरिवायप्पियं⋯परपीलाकारगं भेदविमुत्तिकारकं⋯ अन्नोन्नजणियं च होज्ज हासं ,, ७ ,, ६३७

५४ मोणेण भाविओ भवइ अंतरप्पा संजयकरचरणवदणो सूरो सच्चज्जवसंपन्नो। ,, ७ ,, ६३७

५५ ततियं महव्वयं गुणव्वतं परदव्वहरणपडिविरइकरणजुत्तं सुसंजमियमण-हत्थ-पायनिहुयं⋯णेट्ठिकं⋯परमसाहुधम्मचरणं ,, ८ ,, ६६३

५६ उग्गहं अणुन्नवि य गेण्हियव्वं ,, ८ ,, ६६३

५७ वज्जेयव्वो सव्वकालं अचियत्तघरप्पवेसो अचियत्तभत्तपाणं⋯ अचियत्त⋯उवगरणं ,, ८ ,, ६६४

५८ परपरिवाओ, परस्स दोसो, परववएसेण जं च गेण्हइ, परस्स नासेइ जं च सुकयं ,, ८ ,, ६६४

५९ असंविभागी, असंगहरुई⋯अप्पमाणभोई से तारिसए नाराहए वयमिणं। ,, ८ ,, ६६४

६० संविभागसीले, संगहोवग्गहकुसले से तारिसए आराहेति वयमिणं। ,, ८ ,, ६६५

६१ संजमबहुले संवरबहुले संवुडबहुले समाहिबहुले
धीरे काएण फासयंतो सततं अज्झप्पज्झाणजुत्ते
समिए एगे चरेज्ज धम्मं। ,, ८ ,, ६८१

६२ विणओ वि तवो, तवो वि धम्मो,
तम्हा विणओ पउंजियव्वो ... गुरुसु साहूसु तवस्सीसु य ,, ८ ,, ६८१

६३ बंभचेरं उत्तम तवनियमणाणदंसणचरित्तसम्मत्तविणयमूलं
यमनियमगुणप्पहाणजुत्तं ... पंचमहव्वयसुरक्खियं ,, ९ ,, ६९९

६४ जंमि य भग्गंमि होइ सहसा सव्वं संभग्गं
जंमि य आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं ,, ९ ,, ७००

६५ अणेगा गुणा अहीणा भवंति एक्कंमि बंभचेरे ,, ९ ,, ७००

६६ जेण सुद्धचरिएण भवइ सुबंभणो सुसमणो सुसाहू सुइसी
मुमुणी स संजए स एव भिक्खू जो सुद्धं चरति बंभचेरं ,, ९ ,, ७०१

६७ तवसंजम-बंभचेर-घातोवघातियाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं
वज्जेयव्वाइ सव्वकालं ,, ९ ,, ७०१

६८ विणयसीलतवनियमगुणसमूहं तं बंभं भगवंतं ,, ९ ,, ७००

६९ दाणाणं चेव अभयदाणं ,, ९ ,, ७००

७० तहा भोतव्वं जह से जायामायाए भवति,
न य भवति विब्भमो, न भंसणा य धम्मस्स ,, ७ ,, ७३३

७१ इमस्स मोक्खवरमुत्तिमग्गस्स सिहरभूओ
संवरवरपादपो चरिमं संवरदारं ,, १० ,, ७८०

७२ संजमस्स उवबूहणट्ठयाए वायायवदंसमसगसीय—
परिरक्खणट्ठयाए उवगरणं रागदोसरहियं परिहरियव्वं
संजएण...... ,, १० ,, ७८१

७३ णिच्चं ...अहो य राओ य अपमत्तेण होइ
सततं निक्खियव्वं च गिण्हियव्वं च भायणभंडोवहिउवगरणं ,, १० ,, ७८१

७४ समे य जे सव्वपाणभूतेसु से हु समणे,
सुयधारए " सव्वजगवच्छल सच्चभासके य
संसारंतट्ठिते ,, १० ,, ८०४

७५ पोक्खरपत्तं व निरुवलेवे
आगासं चेव निरालंबे ,, १० ,, ८०४

७६ जीवियमरणासविप्पमुक्के निस्संधं निव्वणं
चरित्ते धीरे काएण फासयंते अज्झप्पज्झाणजुत्ते
निहुए एगे चरेज्ज धम्मं। ,, १० ,, ८०५

७७ मणुन्नभद्दएसु ण तेसु समणेण सज्जियव्वं,
न रज्जियव्वं, न गिज्झियव्वं, न हसियव्वं, न
मुज्झियव्वं, न विनिग्घायं आवज्जियव्वं, न
लुभियव्वं, न तुसियव्वं ,, १० ,, ८२१

७८ अमणुन्नपावएसु ण तेसु समणेण रूसियव्वं,
न हीलियव्वं, न निंदियव्वं, न खिंसियव्वं, न
छिंदियव्वं, न भिंदियव्वं, न वहेयव्वं। ,, १० ,, ८२१

२

परिशिष्ट

विशेष शब्द सूची

१३
विकलांग मनुष्य

१४
व्याधिग्रस्त मनुष्य

१५
विभिन्न देश

१६

नगर, वन, गृह आदि

२३

भक्ष्य एवं पेय पदार्थ

२८

शरीर के अंगोपांग

३७

विविध बन्धन

५०

मिक्षाचर्या

५१

श्रेष्ठपुरुषों के लक्षण

● ●

